मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीकृष्णः शरणं मम

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

जिनके कोमल हाथ मुरलीसे सुशोभित हो रहे हैं, दिव्य अङ्गोंकी आभा नूतन जलधरके समान साँवली है; तथा जिनके पीले वस्त्र, बिम्बफलके समान लाल-लाल ओठ, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश सुन्दर मुख और कमल-जैसे खिले हुए बड़े-बड़े नेत्र हैं—उन श्रीकृष्णसे बढ़कर मैं दूसरे किसी तत्त्वको नहीं जानता ।



पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

एकादश स्कन्ध

पुरूरवस उत्सृज्य गां पुत्राय गतो वनम् ॥४२॥

को राज्य दे दिया और स्वयं तपस्या करनेके लिये वनकी यात्रा की ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे इलोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

पृषध्र आदि मनुके पाँच पुत्रोंका वंश

श्रीशुक उवाच

एवं गतेऽथ सुद्युम्ने मनुर्वैवस्वतः सुते ।
पुत्रकामस्तपस्तेपे यमुनायां शतं समाः ॥ १ ॥
ततोऽयजन्मनुर्देवमपत्यार्थं हरिं प्रभुम् ।
इक्ष्वाकुपूर्वजान् पुत्राँल्लेभे स्वसदृशान् दश ॥ २ ॥
पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणा कृतः ।
पालयामास गा यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः ॥ ३ ॥
एकदा प्राविशद् गोष्ठं शार्दूलो निशि वर्षति ।
शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे ॥ ४ ॥
एकां जग्राह बलवान् सा चुक्रोश भयातुरा ।
तस्यास्तत् क्रन्दितं श्रुत्वा पृषध्रोऽभिससार ह ॥ ५ ॥
खड्गमादाय तरसा प्रलीनोडुगणे निशि ।
अजानन्नहनद् बभ्रोः शिरः शार्दूलशङ्कया ॥ ६ ॥
व्याघ्रोऽपि वृक्णश्रवणो निस्त्रिंशाग्राहतस्ततः ।
निश्चक्राम भृशं भीतो रक्तं पथि समुत्सृजन् ॥ ७ ॥
मन्यमानो हतं व्याघ्रं पृषध्रः परवीरहा ।
अद्राक्षीत् स्वहतां बभ्रुं व्युष्टायां निशि दुःखितः ॥८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार जब सुद्युम्न तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये, तब वैवस्वत मनुने पुत्रकी कामनासे यमुनाके तटपर सौ वर्षतक तपस्या की ॥ १ ॥ इसके बाद उन्होंने सन्तानके लिये सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिकी आराधना की और अपने ही समान दस पुत्र प्राप्त किये, जिनमें सबसे बड़े इक्ष्वाकु थे ॥ २ ॥ उन मनुपुत्रोंमेंसे एकका नाम था पृषध्र । गुरु वशिष्ठजीने उसे गायोंकी रक्षामें नियुक्त कर रक्खा था, अतः वह रात्रिके समय बड़ी सावधानीसे वीरासनसे बैठा रहता और गायोंकी रक्षा करता ॥ ३ ॥ एक दिन रातमें वर्षा हो रही थी । उस समय गायोंके झुंडमें एक बाघ घुस आया । उससे डरकर सोयी हुई गौएँ उठ खड़ी हुईं । वे गोशालामें ही इधर-उधर भागने लगीं ॥ ४ ॥ बलवान् बाघने एक गायको पकड़ लिया । वह अत्यन्त भयभीत होकर चिल्लाने लगी । उसका वह क्रन्दन सुनकर पृषध्र गायके पास दौड़ आया ॥ ५ ॥ एक तो रातका समय और दूसरे घनघोर घटाओंसे आच्छादित होनेके कारण तारे भी नहीं दीखते थे । उसने हाथमें तलवार उठाकर अनजानमें ही बड़े वेगसे गायका सिर काट दिया । वह समझ रहा था कि यही बाघ है ॥ ६ ॥ तलवारकी नोकसे बाघका भी कान कट गया, वह अत्यन्त भयभीत होकर रास्तेमें खून गिराता हुआ वहाँसे निकल भागा ॥ ७ ॥ शत्रुदमन पृषध्रने यह समझा कि बाघ मर गया । परन्तु रात बीतनेपर उसने देखा कि मैंने तो गायको ही मार डाला

१. ग्राम्हत० ।

तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः ।
न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भवितामुना ॥ ९ ॥
एवं शप्तस्तु गुरुणा प्रत्यगृह्णात् कृताञ्जलिः ।
अधारयद् व्रतं वीर ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम् ॥१०॥
वासुदेवे भगवति सर्वात्मनि परेऽमले ।
एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत् समः ॥११॥
विमुक्तसङ्गः शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः ।
यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन् वृत्तिमात्मनः ॥१२॥
आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्तः समाहितः ।
विचचार महीमेतां जडान्धबधिराकृतिः ॥१३॥
एवंवृत्तो वनं गत्वा दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम् ।
तेनोपयुक्तकरणो ब्रह्म प्राप परं मुनिः ॥१४॥

कविः कनीयान् विषयेषु निःस्पृहो
विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम् ।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषं
विवेश कैशोरवयाः परं गतः ॥१५॥

करूषान्मानवादासन् कारूषाः क्षत्रजातयः ।
उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः ॥१६॥
धृष्टाद् धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ ।
नृगस्य वंशः सुमतिर्भूतज्योतिस्ततो वसुः ॥१७॥
वसोः प्रतीकस्तत्पुत्र ओघवानोघवत्पिता ।
कन्या चौघवती नाम सुदर्शन उवाह ताम् ॥१८॥
चित्रसेनो नरिष्यन्तादृक्षस्तस्य सुतोऽभवत् ।

है, इससे उसे बड़ा दुःख हुआ ॥ ८ ॥ यद्यपि पृषध्रने जान-बूझकर अपराध नहीं किया था, फिर भी कुलपुरोहित वसिष्ठजीने उसे शाप दिया कि 'तुम इस कर्मसे क्षत्रिय नहीं रहोगे; जाओ, शूद्र हो जाओ' ॥ ९ ॥ पृषध्रने अपने गुरुदेवका यह शाप अञ्जलि बाँधकर स्वीकार किया और इसके बाद सदाके लिये मुनियोंको प्रिय लगनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण किया ॥ १० ॥ वह समस्त प्राणियों-का अहैतुक हितैषी एवं सबके प्रति समान भावसे युक्त होकर भक्तिके द्वारा परम विशुद्ध सर्वात्मा भगवान् वासुदेवका अनन्य प्रेमी हो गया ॥ ११ ॥ उसकी सारी आसक्तियाँ मिट गयीं । वृत्तियाँ शान्त हो गयीं । इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं । वह कभी किसी प्रकारका संग्रह-परिग्रह नहीं रखता था । जो कुछ दैववश प्राप्त हो जाता, उसीसे अपना जीवन-निर्वाह कर लेता ॥ १२ ॥ वह आत्मज्ञानसे सन्तुष्ट एवं अपने चित्तको परमात्मामें स्थित करके प्रायः समाधिस्थ रहता । कभी-कभी जड, अंधे और बहरेके समान पृथ्वीपर विचरण करता ॥ १३ ॥ इस प्रकारका जीवन व्यतीत करता हुआ वह एक दिन वनमें गया । वहाँ उसने देखा कि दावानल धधक रहा है । मननशील पृषध्र अपनी इन्द्रियोंको उसी अग्निमें भस्म करके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गया ॥ १४ ॥

मनुका सबसे छोटा पुत्र था कवि । विषयोंसे वह अत्यन्त निःस्पृह था । वह राज्य छोड़कर अपने बन्धुओं-के साथ वनमें चला गया और अपने हृदयमें स्वयंप्रकाश परमात्माको विराजमान कर किशोर अवस्थामें ही परम पदको प्राप्त हो गया ॥ १५ ॥

मनुपुत्र करूषसे कारूष नामक क्षत्रिय उत्पन्न हुए । वे बड़े ही ब्राह्मणभक्त, धर्मप्रेमी एवं उत्तरापथके रक्षक थे ॥ १६ ॥ धृष्टके धार्ष्ट नामक क्षत्रिय हुए । अन्तमें वे इस शरीरसे ही ब्राह्मण बन गये । नृगका पुत्र हुआ सुमति, उसका पुत्र भूतज्योति और भूतज्योति-का पुत्र वसु था ॥ १७ ॥ वसुका पुत्र प्रतीक और प्रतीकका पुत्र ओघवान् । ओघवान्के पुत्रका नाम भी ओघवान् ही था । उनके एक ओघवती नामकी कन्या भी थी, जिसका विवाह सुदर्शनसे हुआ ॥ १८ ॥ मनुपुत्र नरिष्यन्तसे चित्रसेन, उससे ऋक्ष, ऋक्ष-

१. ज्ञानदृष्टः । २. मयो ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

नवमः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

वैवस्वत मनुके पुत्र राजा सुद्युम्नकी कथा

राजोवाच

मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च ॥ १ ॥
योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः ।
ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया ॥ २ ॥
स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम् ।
त्वत्तस्तस्य सुताश्चोक्ता इक्ष्वाकुप्रमुखा नृपाः ॥ ३ ॥
तेषां वंशं पृथग् ब्रह्मन् वंश्यानुचरितानि च[1] ।
कीर्तयस्व महाभाग नित्यं शुश्रूषतां हि नः ॥ ४ ॥
ये भूता ये भविष्याश्च भवन्त्यद्यतनाश्च ये ।
तेषां नः पुण्यकीर्तीनां सर्वेषां वद विक्रमान् ॥ ५ ॥

सूत उवाच

एवं परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम् ।
पृष्टः प्रोवाच भगवाञ्छुकः परमधर्मवित् ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परंतप ।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! आपने सब मन्वन्तरों और उनमें अनन्त शक्तिशाली भगवान्‌के द्वारा किये हुए ऐश्वर्यपूर्ण चरित्रोंका वर्णन किया, और मैंने उनका श्रवण भी किया ॥ १ ॥ आपने कहा कि पिछले कल्पके अन्तमें द्रविड़ देशके स्वामी राजर्षि सत्यव्रतने भगवान्‌की सेवासे ज्ञान प्राप्त किया और वही इस कल्पमें वैवस्वत मनु हुए । आपने उनके इक्ष्वाकु आदि नरपति पुत्रोंका भी वर्णन किया ॥ २-३ ॥ ब्रह्मन् ! अब आप कृपा करके उनके वंश और वंशमें होनेवालोंका अलग-अलग चरित्र वर्णन कीजिये । महाभाग ! हमारे हृदयमें सर्वदा ही कथा सुननेकी उत्सुकता बनी रहती है ॥४॥ वैवस्वत मनुके वंशमें जो हो चुके हों, इस समय विद्यमान हों और आगे होनेवाले हों—उन सब पवित्रकीर्ति पुरुषोंके पराक्रमका वर्णन कीजिये ॥ ५ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि[2] ऋषियो ! ब्रह्मवादी ऋषियोंकी सभामें राजा परीक्षित्‌ने जब यह प्रश्न किया, तब धर्मके परम मर्मज्ञ भगवान् श्रीशुकदेवजीने कहा ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! तुम मनुवंशका वर्णन संक्षेपसे सुनो । विस्तारसे तो सैकड़ों वर्षोंमें भी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ७ ॥ जो परम

१. वंश्यादिचरि० । २. त्वमनुक्रमात् ।

परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः ।
स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन ॥ ८ ॥
तस्य नाभेः समभवत् पद्मकोशो हिरण्मयः ।
तस्मिञ्जज्ञे महाराज स्वयंभूश्चतुराननः ॥ ९ ॥
मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यपः ।
दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत् सुतः ॥१०॥
ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत ।
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान् ॥११॥
इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान् ।
नरिष्यन्तं पृषध्रं च नभगं च कविं विभुः ॥१२॥
अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान् किल ।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत् प्रभुः ॥१३॥
तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत ।
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता ॥१४॥
प्रेषितोऽध्वर्युणा होता ध्यायंस्तत् सुसमाहितः ।
हविषि व्यचरत् तेन वषट्कारं गृणन्द्विजः ॥१५॥
होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साभवत् ।
तां विलोक्य मनुः प्राह नातिहृष्टमना गुरुम् ॥१६॥
भगवन् किमिदं जातं कर्म वो ब्रह्मवादिनाम् ।
विपर्ययमहो कष्टं मैवं स्याद् ब्रह्मविक्रिया ॥१७॥
यूयं मन्त्रविदो युक्तास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
कुतः संकल्पवैषम्यमनृतं विबुधेष्विव ॥१८॥
तन्निशम्य वचस्तस्य भगवान् प्रपितामहः ।

पुरुष परमात्मा छोटे-बड़े सभी प्राणियोंके आत्मा हैं, प्रलयके समय केवल वही थे; यह विश्व तथा और कुछ भी नहीं था ॥ ८ ॥ महाराज ! उनकी नाभिसे एक सुवर्णमय कमलकोष प्रकट हुआ । उसीमें चतुर्मुख ब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ ॥ ९ ॥ ब्रह्माजीके मनसे मरीचि और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए । उनकी धर्मपत्नी दक्षनन्दिनी अदितिसे विवस्वान् (सूर्य) का जन्म हुआ ॥ १० ॥ विवस्वान्‌की संज्ञा नामक पत्नीसे श्राद्धदेव मनुका जन्म हुआ । परीक्षित् ! परम मनस्वी राजा श्राद्धदेवने अपनी पत्नी श्रद्धाके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न किये । उनके नाम थे—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि ॥ ११-१२ ॥

वैवस्वत मनु पहले सन्तानहीन थे । उस समय सर्वसमर्थ भगवान् वशिष्ठने उन्हें सन्तान प्राप्ति करानेके लिये मित्रावरुणका यज्ञ कराया था ॥ १३ ॥ यज्ञके आरम्भमें केवल दूध पीकर रहनेवाली वैवस्वत मनुकी धर्मपत्नी श्रद्धाने अपने होताके पास जाकर प्रणामपूर्वक याचना की कि मुझे कन्या ही प्राप्त हो ॥ १४ ॥ तब अध्वर्युकी प्रेरणासे होता बने हुए ब्राह्मणने श्रद्धाके कथनका स्मरण करके एकाग्र चित्तसे वषट्कारका उच्चारण करते हुए यज्ञकुण्डमें आहुति दी ॥ १५ ॥ जब होताने इस प्रकार विपरीत कर्म किया, तब यज्ञके फलस्वरूप पुत्रके स्थानपर इला नामकी कन्या हुई । उसे देखकर श्राद्धदेव मनुका मन कुछ विशेष प्रसन्न नहीं हुआ । उन्होंने अपने गुरु वसिष्ठजीसे कहा ॥ १६ ॥ 'भगवन् ! आपलोग तो ब्रह्मवादी हैं, आपका कर्म इस प्रकार विपरीत फल देनेवाला कैसे हो गया ? अरे, यह तो बड़े दुःखकी बात है । वैदिक कर्मका ऐसा विपरीत फल तो कभी नहीं होना चाहिये ॥ १७ ॥ आपलोगोंका मन्त्रज्ञान तो पूर्ण है ही; इसके अतिरिक्त आपलोग जितेन्द्रिय भी हैं, तथा तपस्याके कारण निष्पाप हो चुके हैं । देवताओंमें असत्यकी प्राप्तिके समान आपके सङ्कल्पका यह उलटा फल कैसे हुआ ?' ॥ १८ ॥ परीक्षित् ! हमारे वृद्ध-प्रपितामह भगवान् वसिष्ठने उनकी यह बात सुनकर

१. मात्मैव पु० । २. पृषधुं वस्वं नाभागं । ३. गृहीते हविषि वाचं वष० ।

तस्य क्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम् ॥१९॥
वीतिकल्पनैपर्म्यं होतुस्ते व्यभिचारतः ।
उरुसाधयिष्ये ते सुप्रजास्त्वं स्वतेजसा ॥२०॥
ततो वसितो राजन् भगवान् स महायशाः ।
कापीदादिपुरुपमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥२१॥
ततकामवरं तुष्टो भगवान् हरिरीश्वरः ।
नाविलाभवत् तेन सुद्युम्नः पुरुपर्षभः ॥२२॥

जान लिया कि होताने विपरीत सङ्कल्प किया है। इसलिये उन्होंने वैवस्वत मनुसे कहा ॥ १९ ॥ 'राजन्! तुम्हारे होताके विपरीत सङ्कल्पसे ही हमारा सङ्कल्प ठीक-ठीक पूरा नहीं हुआ। फिर भी अपने तपके प्रभावसे मैं तुम्हें श्रेष्ठ पुत्र दूँगा ॥ २० ॥ परीक्षित्! परम यशस्वी भगवान् वसिष्ठने ऐसा निश्चय करके उस इला नामकी कन्याको ही पुरुष बना देनेके लिये पुरुषोत्तम भगवान् नारायणकी स्तुति की ॥ २१ ॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने सन्तुष्ट होकर उन्हें मुँहमाँगा वर दिया, जिसके प्रभावसे वह कन्या ही सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुत्र बन गयी ॥ २२ ॥

एकदा महाराज विचरन् मृगयां वने ।
वृतः कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सैन्धवम् ॥२३॥
प्रगृह्य रुचिरं चापं शरांश्च परमाद्भुतान् ।
दंशितोऽनुमृगं वीरो जगाम दिशमुत्तराम् ॥२४॥
स कुमारो वनं मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह ।
यत्रास्ते भगवाञ्छर्वो रममाणः सहोमया ॥२५॥
तस्मिन् प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा ।
अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप ॥२६॥
तथा तदनुगाः सर्वे आत्मलिङ्गविपर्ययम् ।
दृष्ट्वा विमनसोऽभूवन् वीक्षमाणाः परस्परम् ॥२७॥

महाराज! एक बार राजा सुद्युम्न शिकार खेलनेके लिये सिन्धुदेशके घोड़ेपर सवार होकर कुछ मन्त्रियोंके साथ वनमें गये ॥ २३ ॥ वीर सुद्युम्न कवच पहनकर और हाथमें सुन्दर धनुष एवं अत्यन्त अद्भुत बाण लेकर हरिनोंका पीछा करते हुए उत्तर दिशामें बहुत आगे बढ़ गये ॥ २४ ॥ अन्तमें सुद्युम्न मेरुपर्वतकी तलहटीके एक वनमें चले गये। उस वनमें भगवान् शङ्कर पार्वतीके साथ विहार करते रहते हैं ॥ २५ ॥ उसमें प्रवेश करते ही वीरवर सुद्युम्नने देखा कि मैं स्त्री हो गया हूँ और घोड़ा घोड़ी हो गया है ॥ २६ ॥ परीक्षित्! साथ ही उनके सब अनुचरोंने भी अपनेको स्त्रीरूपमें देखा। वे सब एक-दूसरेका मुँह देखने लगे, उनका चित्त बहुत उदास हो गया ॥ २७ ॥

राजोवाच

कथमेवं गुणो देशः केन वा भगवन् कृतः ।
प्रश्नमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि नः ॥२८॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! उस भूखण्डमें ऐसा विचित्र गुण कैसे आ गया? किसने उसे ऐसा बना दिया था? आप कृपा कर हमारे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये; क्योंकि हमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ २८ ॥

श्रीशुक उवाच

एकदा गिरिशं द्रष्टुमृषयस्तत्र सुव्रताः ।
दिशो वितिमिराभासाः कुर्वन्तः समुपागमन् ॥२९॥
तान् विलोक्याम्बिका देवी विवासा व्रीडिता भृशम् ।

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! एक दिन भगवान् शङ्करका दर्शन करनेके लिये बड़े-बड़े व्रतधारी ऋषि अपने तेजसे दिशाओंका अन्धकार मिटाते हुए उस वनमें गये ॥ २९ ॥ उस समय अम्बिका देवी वस्त्रहीन थीं। ऋषियोंको सहसा आया देख वे अत्यन्त लज्जित हो

१. काम्य० । २. रथ० ।

भर्तुरङ्कात् समुत्थाय नीवीमाश्वथ पर्यधात् ॥३०॥
ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्य प्रसङ्गं रममाणयोः ।
निवृत्ताः प्रययुस्तस्मान्नरनारायणाश्रमम् ॥३१॥
तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया ।
स्थानं यः प्रविशेदेतत् स वै योषिद् भवेदिति ॥३२॥
तत ऊर्ध्वं वनं तद् वै पुरुषा वर्जयन्ति हि ।
सा चानुचरसंयुक्ता विचचार वनाद् वनम् ॥३३॥
अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम् ।
स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान् बुधः ॥३४॥
सापि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम् ।
स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम् ॥३५॥
एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः ।
सस्मार स्वकुलाचार्यं वसिष्ठमिति शुश्रुम ॥३६॥
स तस्य तां दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः ।
सुद्युम्नस्याशयन् पुंस्त्वमुपाधावत शङ्करम् ॥३७॥
तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रियमावहन् ।
स्वां च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह विशांपते ॥३८॥
मासं पुमान् स भविता मासं[1] स्त्री तव गोत्रजः ।
इत्थं व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम् ॥३९॥
आचार्यानुग्रहात् कामं लब्ध्वा पुंस्त्वं व्यवस्थया ।
पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन् स्म तं प्रजाः ॥४०॥
तस्योत्कलो गयो राजन् विमलश्च सुतास्त्रयः ।
दक्षिणापथराजानो बभूवुर्धर्मवत्सलाः ॥४१॥
ततः परिणते काले प्रतिष्ठानपतिः प्रभुः ।

गयीं । झटपट उन्होंने भगवान् शङ्करकी गोदसे [illegible] वस्त्र धारण कर लिया ॥ ३० ॥ ऋषियोंने भी [illegible] भगवान् गौरी-शङ्कर इस समय विहार कर रहे [illegible] लिये वहाँसे लौटकर वे भगवान् नर-नारायणके [illegible] चले गये ॥ ३१ ॥ उसी समय भगवान् शङ्करने [illegible] प्रिया भगवती अम्बिकाको प्रसन्न करनेके लिये कहा [illegible] 'मेरे सिवा जो भी पुरुष इस स्थानमें प्रवेश करेगा, [illegible] स्त्री हो जायगा, ॥ ३२ ॥ परीक्षित् ! तभीसे पुरुष [illegible] स्थानमें प्रवेश नहीं करते । अब सुद्युम्न स्त्री हो गये [illegible] इसलिये वे अपने स्त्री बने हुए अनुचरोंके साथ [illegible] वनसे दूसरे वनमें विचरने लगे ॥ ३३ ॥ उसी सम[illegible] शक्तिशाली बुधने देखा कि मेरे आश्रमके पास ही बहुत-सी स्त्रियोंसे घिरी हुई एक सुन्दरी स्त्री विचर रही है । उन्होंने इच्छा की कि यह मुझे प्राप्त हो जाय ॥ ३४ ॥ उस सुन्दरी स्त्रीने भी चन्द्रकुमार बुधको पति बनाना चाहा । इसपर बुधने उसके गर्भसे पुरूरवा नामका पुत्र उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥ इस प्रकार मनुपुत्र राजा सुद्युम्न स्त्री हो गये । ऐसा सुनते हैं कि उन्होंने उस अवस्थामें अपने कुलपुरोहित वसिष्ठजीका स्मरण किया ॥ ३६ ॥ सुद्युम्नकी यह दशा देखकर वसिष्ठजीके हृदयमें कृपावश अत्यन्त पीड़ा हुई । उन्होंने सुद्युम्नको पुनः पुरुष बना देनेके लिये भगवान् शङ्करकी आराधना की ॥ ३७ ॥ भगवान् शङ्कर वसिष्ठजीपर प्रसन्न हुए । परीक्षित् ! उन्होंने उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये अपनी वाणीको सत्य रखते हुए ही यह बात कही ॥ ३८ ॥ 'वसिष्ठ ! तुम्हारा यह यजमान एक महीनेतक पुरुष रहेगा और एक महीनेतक स्त्री । इस व्यवस्थासे सुद्युम्न इच्छानुसार पृथ्वीका पालन करे ॥ ३९ ॥ इस प्रकार वसिष्ठजीके अनुग्रहसे व्यवस्था-पूर्वक अभीष्ट पुरुषत्व लाभ करके सुद्युम्न पृथ्वीका पालन करने लगे । परन्तु प्रजा उनका अभिनन्दन नहीं करती थी ॥ ४० ॥ उनके तीन पुत्र हुए—उत्कल, गय और विमल । परीक्षित् ! वे सब दक्षिणापथके राजा हुए ॥ ४१ ॥ बहुत दिनोंके बाद वृद्धावस्था आनेपर प्रतिष्ठान नगरीके अधिपति सुद्युम्नने अपने पुत्र पुरूरवा-

१. स्त्री मासं ।

थ मीढ्वांस्ततः कूर्च इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः ॥१९॥
ीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात् तस्य सत्यश्रवा अभूत् ।
रुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत् ॥२०॥
तोऽग्निवेश्यो भगवानग्निः स्वयमभूत् सुतः ।
ानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महानृषिः॥२१॥
तो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप ।
रिष्यन्तान्वयः प्रोक्तो दिष्टवंशमतः शृणु ॥२२॥
ाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः ।
लन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥२३॥
त्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतं प्रमतिं विदुः ।
नित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः ॥२४॥
िविंशतिसुतो रम्भः खनिनेत्रोऽस्य धार्मिकः ।
करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप ॥२५॥
तस्यावीक्षित् सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत् ।
संवर्तोऽयाजयद् यं वै महायोग्यङ्गिरःसुतः ॥२६॥
मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्यस्य कश्चन ।
सर्वं हिरण्मयं त्वासीद् यत् किञ्चिच्चास्य शोभनम्॥२७॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
मरुतः परिवेष्टारो विश्वेदेवाः सभासदः ॥२८॥
मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्यासीद् राज्यवर्धनः ।
सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः ॥२९॥
तत्सुतः केवलस्तस्माद् बन्धुमान् वेगवांस्ततः ।
बन्धुस्तस्याभवद् यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः ॥३०॥
तं भेजेऽलम्बुषा देवी भजनीयगुणालयम् ।
वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेडविडाभवत् ॥३१॥
तस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं सुतम् ।

मीढ्वान्, मीढ्वान्से कूर्च और उससे इन्द्रसेनकी उत्पत्ति हुई ॥ १९ ॥ इन्द्रसेनसे वीतिहोत्र, उससे सत्यश्रवा, सत्यश्रवासे उरुश्रवा और उससे देवदत्तकी उत्पत्ति हुई ॥ २० ॥ देवदत्तके अग्निवेश्य नामक पुत्र हुए, जो स्वयं अग्निदेव ही थे । आगे चलकर वे ही कानीन एवं महर्षि जातूकर्ण्यके नामसे विख्यात हुए ॥ २१ ॥ परीक्षित् ! ब्राह्मणोंका 'आग्निवेश्यायन' गोत्र उन्हींसे चला है । इस प्रकार नरिष्यन्तके वंशका मैंने वर्णन किया, अब दिष्टका वंश सुनो ॥ २२ ॥

दिष्टके पुत्रका नाम था नाभाग । यह उस नाभाग-से अलग है, जिसका मैं आगे वर्णन करूँगा । वह अपने कर्मके कारण वैश्य हो गया । उसका पुत्र हुआ भलन्दन और उसका वत्सप्रीति ॥ २३ ॥ वत्सप्रीतिका प्रांशु और प्रांशुका पुत्र हुआ प्रमति । प्रमतिके खनित्र, खनित्रके चाक्षुष और उनके विविंशति हुए ॥ २४ ॥ विविंशतिके पुत्र रम्भ और रम्भके पुत्र खनिनेत्र—दोनों ही परम धार्मिक हुए । उनके पुत्र करन्धम और करन्धमके अवीक्षित् । महाराज परीक्षित् ! अवीक्षित्के पुत्र मरुत्त चक्रवर्ती राजा हुए । उनसे अङ्गिराके पुत्र महायोगी संवर्त्त ऋषिने यज्ञ कराया था ॥ २५-२६ ॥ मरुत्तका यज्ञ जैसा हुआ, वैसा और किसीका नहीं हुआ । उस यज्ञके समस्त छोटे-बड़े पात्र अत्यन्त सुन्दर एवं सोनेके बने हुए थे ॥ २७ ॥ उस यज्ञमें इन्द्र सोमपान करके मतवाले हो गये थे और दक्षिणाओंसे ब्राह्मण तृप्त हो गये थे । उसमें परसनेवाले थे मरुद्गण और विश्वेदेव सभासद् थे ॥ २८ ॥

मरुत्तके पुत्रका नाम था दम । दमसे राज्यवर्धन, उससे सुधृति और सुधृतिसे नर नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई ॥ २९ ॥ नरसे केवल, केवलसे बन्धुमान्, बन्धुमान्से वेगवान्, वेगवान्-से बन्धु और बन्धुसे राजा तृणबिन्दुका जन्म हुआ ॥ ३० ॥ तृणबिन्दु आदर्श गुणोंके भण्डार थे । अप्सराओंमें श्रेष्ठ अलम्बुषा देवीने उनको वरण किया, जिससे उनके कई पुत्र और इडविडा नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई ॥ ३१ ॥ मुनिवर विश्रवाने अपने योगेश्वर पिता पुलस्त्यजीसे उत्तम

१. च्चात्र । २. द्राजवध० । ३. यस्या० ।

आदाय विद्यां परमामृषिर्योगेश्वरात् पितुः ॥३२॥
विशालः शून्यबन्धुश्च धूम्रकेतुश्च[1] तत्सुताः ।
विशालो वंशकृद् राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम् ॥३३॥
हेमचन्द्रः सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चात्मजः ।
तत्पुत्रात् संयमादासीत् कृशाश्वः सहदेवजः ॥३४॥
कृशाश्वात् सोमदत्तोऽभूद् योऽश्वमेधैरिडस्पतिम् ।
इष्ट्वा पुरुषमापाग्र्यां गतिं योगेश्वराश्रितः ॥३५॥
सौमदत्तिस्तु सुमतिस्तत्सुतो जनमेजयः ।
एते वैशालभूपालास्तृणबिन्दोर्यशोधराः ॥३६॥

विद्या प्राप्त करके इडविडाके गर्भसे लोकपाल कुबेरको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥ महाराज तृणबिन्दुके अपनी धर्मपत्नीसे तीन पुत्र हुए—विशाल, शून्यबन्धु और धूम्रकेतु । उनमेंसे राजा विशाल वंशधर हुए और उन्होंने वैशाली नामकी नगरी बसायी ॥ ३३ ॥ विशालसे हेमचन्द्र, हेमचन्द्रसे धूम्राक्ष, धूम्राक्षसे संयम और संयमसे दो पुत्र हुए— कृशाश्व और देवज ॥ ३४ ॥ कृशाश्वके पुत्रका नाम था सोमदत्त । उसने अश्वमेध यज्ञोंके द्वारा यज्ञपति भगवान्‌की आराधना की और योगेश्वर संतोंका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त की ॥ ३५ ॥ सोमदत्त-का पुत्र हुआ सुमति और सुमतिसे जनमेजय । ये सब तृणबिन्दुकी कीर्तिको बढ़ानेवाले विशालवंशी राजा हुए ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

महर्षि च्यवन और सुकन्याका चरित्र, राजा शर्यातिका वंश

श्रीशुक उवाच

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव[2] ह ।
यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमह ऊचिवान् ॥ १ ॥
सुकन्या नाम तस्यासीत् कन्या कमललोचना ।
तया सार्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम् ॥ २ ॥
सा सखीभिः परिवृता विचिन्वत्यङ्घ्रिपान् वने ।
वल्मीकरन्ध्रे ददृशे खद्योते इव ज्योतिषी ॥ ३ ॥
ते दैवचोदिता बाला ज्योतिषी कण्टकेन वै ।
अविध्यन्मुग्धभावेन सुस्रावासृक् ततो बहु ॥ ४ ॥
शकृन्मूत्रनिरोधोऽभूत् सैनिकानां च तत्क्षणात् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! मनुपुत्र राजा शर्याति वेदोंका निष्ठावान् विद्वान् था । उसने अङ्गिरा-गोत्रके ऋषियोंके यज्ञमें दूसरे दिनका कर्म बतलाया था ॥ १ ॥ उसकी एक कमललोचना कन्या थी । उसका नाम था सुकन्या । एक दिन राजा शर्याति अपनी कन्याके साथ वनमें घूमते-घूमते च्यवन ऋषिके आश्रमपर जा पहुँचे ॥ २ ॥ सुकन्या अपनी सखियोंके साथ वनमें घूम-घूमकर वृक्षोंका सौन्दर्य देख रही थी । उसने एक स्थानपर देखा कि बाँबी (दीमकोंकी एकत्रित की हुई मिट्टी) के छेदमेंसे जुगनूकी तरह दो ज्योतियाँ दीख रही हैं ॥ ३ ॥ दैवकी कुछ ऐसी ही प्रेरणा थी, सुकन्याने बालसुलभ चपलतासे एक काँटेके द्वारा उन ज्योतियोंको बेध दिया । इससे उनमेंसे बहुत-सा खून बह चला ॥ ४ ॥ उसी समय राजा शर्यातिके सैनिकोंका मल-मूत्र रुक

१. धूम्रकेशश्च । २. संबभूव ।

राजर्षिस्तमुपालक्ष्य पुरुषान् विस्मितोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥
अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गवस्य विचेष्टितम् ।
व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणम् ॥ ६ ॥
सुकन्या प्राह पितरं भीता किञ्चित् कृतं मया ।
द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या निर्भिन्ने कण्टकेन वै ॥ ७ ॥
दुहितुस्तद् वचः श्रुत्वा शर्यातिर्जातसाध्वसः ।
मुनिं प्रसादयामास वल्मीकान्तर्हितं शनैः ॥ ८ ॥
तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद् दुहितरं मुनेः ।
कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात् समाहितः ॥ ९ ॥

गया। राजर्षि शर्यातिको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, उन्होंने अपने सैनिकोंसे कहा ॥ ५ ॥ 'अरे, तुमलोगोंने कहीं महर्षि च्यवनजीके प्रति कोई अनुचित व्यवहार तो नहीं कर दिया ? मुझे तो यह स्पष्ट जान पड़ता है कि हमलोगोंमेंसे किसी न-किसीने उनके आश्रममें कोई अनर्थ किया है ॥ ६ ॥ तब सुकन्याने अपने पितासे डरते-डरते कहा कि 'पिताजी ! मैंने कुछ अपराध अवश्य किया है। मैंने अनजानमें दो ज्योतियोंको काँटेसे छेद दिया है ॥ ७ ॥ अपनी कन्याकी यह बात सुनकर शर्याति घबरा गये। उन्होंने धीरे-धीरे स्तुति करके बाँबीमें छिपे हुए च्यवन मुनिको प्रसन्न किया ॥ ८ ॥ तदनन्तर च्यवन मुनिका अभिप्राय जानकर उन्होंने अपनी कन्या उन्हें समर्पित कर दी और इस सङ्कटसे छूटकर बड़ी सावधानीसे उनकी अनुमति लेकर वे अपनी राजधानीमें चले आये ॥ ९ ॥

सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम् ।
प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः ॥ १० ॥
कस्यचित् त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमागतौ ।
तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ ॥ ११ ॥
ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः ।
क्रियतां मे वयो रूपं प्रमदानां यदीप्सितम् ॥ १२ ॥
बाढमित्यूचतुर्विप्रमभिनन्द्य भिषक्तमौ ।
निमज्जतां भवानस्मिन् ह्रदे सिद्धविनिर्मिते ॥ १३ ॥
इत्युक्त्वा जरया ग्रस्तदेहो धमनिसन्ततः ।
ह्रदं प्रवेशितोऽश्विभ्यां वलीपलितविप्रियः ॥ १४ ॥

इधर सुकन्या परम क्रोधी च्यवन मुनिको अपने पतिके रूपमें प्राप्त करके बड़ी सावधानीसे उनकी सेवा करती हुई उन्हें प्रसन्न करने लगी। वह उनकी मनोवृत्तिको जानकर उसके अनुसार ही बर्ताव करती थी ॥ १० ॥ कुछ समय बीत जानेपर उनके आश्रमपर दोनों अश्विनीकुमार आये। च्यवन मुनिने उनका यथोचित सत्कार किया और कहा कि 'आप दोनों समर्थ हैं, इसलिये मुझे युवा अवस्था प्रदान कीजिये। मेरा रूप एवं अवस्था ऐसी कर दीजिये, जिसे युवती स्त्रियाँ चाहती हैं। मैं जानता हूँ कि आपलोग सोमपानके अधिकारी नहीं हैं, फिर भी मैं आपको यज्ञमें सोमरसका भाग दूँगा ॥ ११-१२ ॥ वैद्यशिरोमणि अश्विनीकुमारोंने महर्षि च्यवनका अभिनन्दन करके कहा, 'ठीक है।' और इसके बाद उनसे कहा कि—'यह सिद्धोंके द्वारा बनाया हुआ कुण्ड है, आप इसमें स्नान कीजिये ॥ १३ ॥ च्यवन मुनिके शरीरको बुढ़ापेने घेर रक्खा था। सब ओर नसें दीख रही थीं, झुर्रियाँ पड़ जाने एवं बाल पक जानेके कारण वे देखनेमें बहुत भद्दे लगते थे। अश्विनीकुमारोंने उन्हें अपने साथ

पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरपीच्या वनिताप्रिया: ।
पद्मस्रजः कुण्डलिनस्तुल्यरूपाः सुवाससः ॥१५॥
तान् निरीक्ष्य वरारोहा सरूपान् सूर्यवर्चसः ।
अजानती पतिं साध्वी अश्विनौ शरणं ययौ ॥१६॥
दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिव्रत्येन तोषितौ ।
ऋषिमामन्त्र्य ययतुर्विमानेन त्रिविष्टपम् ॥१७॥
यक्ष्यमाणोऽथ शर्यातिश्च्यवनस्याश्रमं गतः ।
ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम् ॥१८॥
राजा दुहितरं प्राह कृतपादाभिवन्दनाम् ।
आशिषश्चाप्रयुञ्जानो नातिप्रीतमना इव ॥१९॥
चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया
प्रलम्भितो लोकनमस्कृतो मुनिः ।
यत् त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं
विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम् ॥२०॥
कथं मतिस्तेऽवगतान्यथा सतां
कुलप्रसूते कुलदूषणं त्विदम् ।
बिभर्षि जारं यदपत्रपा कुलं
पितुश्च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः ॥२१॥
एवं ब्रुवाणं पितरं स्मयमाना शुचिस्मिता ।
उवाच तात जामाता तवैष भृगुनन्दनः ॥२२॥
शशंस पित्रे तत् सर्वं वयोरूपाभिलम्भनम् ।
विस्मितः परमप्रीतस्तनयां परिषस्वजे ॥२३॥
सोमेन याजयन् वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत् ।

लेकर कुण्डमें प्रवेश किया ॥ १४ ॥ उसी समय कुण्डसे तीन पुरुष बाहर निकले । वे तीनों ही कमलोंकी माला, कुण्डल और सुन्दर वस्त्र पहने एक-से मालूम होते थे । वे बड़े ही सुन्दर एवं स्त्रियोंको प्रिय लगनेवाले थे ॥ १५ ॥ परम साध्वी सुन्दरी सुकन्याने जब देखा कि ये तीनों ही एक आकृतिके तथा सूर्यके समान तेजस्वी हैं, तब अपने पतिको न पहचानकर उसने अश्विनीकुमारोंकी शरण ली ॥ १६ ॥ उसके पातिव्रत्यसे अश्विनीकुमार बहुत सन्तुष्ट हुए । उन्होंने उसके पतिको बतला दिया और फिर च्यवन मुनिसे आज्ञा लेकर विमानके द्वारा वे स्वर्गको चले गये ॥ १७ ॥

कुछ समयके बाद यज्ञ करनेकी इच्छासे राजा शर्याति च्यवन मुनिके आश्रमपर आये । वहाँ उन्होंने देखा कि उनकी कन्या सुकन्याके पास एक सूर्यके समान तेजस्वी पुरुष बैठा हुआ है ॥ १८ ॥ सुकन्याने उनके चरणोंकी वन्दना की । शर्यातिने उसे आशीर्वाद नहीं दिया और कुछ अप्रसन्न-से होकर बोले ॥ १९ ॥ 'दुष्टे ! यह तूने क्या किया ? क्या तूने सबके वन्दनीय च्यवन मुनिको धोखा दे दिया ? अवश्य ही तूने उनको बूढ़ा और अपने कामका न समझकर छोड़ दिया और अब तू इस राह चलते जार पुरुषकी सेवा कर रही है ॥ २० ॥ तेरा जन्म तो बड़े ऊँचे कुलमें हुआ था । यह उलटी बुद्धि तुझे कैसे प्राप्त हुई ? तेरा यह व्यवहार तो कुलमें कलङ्क लगानेवाला है । अरे राम-राम ! तू निर्लज्ज होकर जार पुरुषकी सेवा कर रही है और इस प्रकार अपने पिता और पति दोनोंके वंशको घोर नरकमें ले जा रही है' ॥ २१ ॥ राजा शर्यातिके इस प्रकार कहनेपर पवित्र मुसकानवाली सुकन्याने मुसकराकर कहा—'पिताजी ! ये आपके जामाता स्वयं भृगुनन्दन महर्षि च्यवन ही हैं' ॥ २२ ॥ इसके बाद उसने अपने पितासे महर्षि च्यवनके यौवन और सौन्दर्यकी प्राप्तिका सारा वृत्तान्त कह सुनाया । वह सब सुनकर राजा शर्याति अत्यन्त विस्मित हुए । उन्होंने बड़े प्रेमसे अपनी पुत्रीको गलेसे लगा लिया ॥ २३ ॥

महर्षि च्यवनने वीर शर्यातिसे सोमयज्ञका अनुष्ठान

१. रापीच्या । २. पुरुषान् सू० । ३. आशिषो न प्रयु० । ४. त्वं यज्ज० । ५. तातं ।

असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा ॥२४॥

हन्तुं तमाददे वज्रं सद्योमन्युरमर्षितः ।

सवज्रं स्तम्भयामास भुजमिन्द्रस्य भार्गवः ॥२५॥

अन्वजानंस्ततः सर्वे ग्रहं सोमस्य चाश्विनोः ।

भिषजाविति यत् पूर्वं सोमाहुत्या बहिष्कृतौ ॥२६॥

उत्तानबर्हिरानर्तो भूरिषेण इति त्रयः ।

शर्यातेरभवन् पुत्रा आनर्ताद् रेवतोऽभवत् ॥२७॥

सोऽन्तःसमुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशस्थलीम् ।

आस्थितोऽभुङ्क्त विषयानानर्तादीनरिन्दम ॥२८॥

तस्य पुत्रशतं जज्ञे ककुद्मिज्येष्ठमुत्तमम् ।

ककुद्मी रेवतीं कन्यां स्वामादाय विभुं गतः ॥२९॥

कन्यावरं परिप्रष्टुं ब्रह्मलोकमपावृतम् ।

आवर्तमाने गान्धर्वे स्थितोऽलब्धक्षणः क्षणम् ॥३०॥

तदन्त आद्यमानम्य स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् ।

तच्छ्रुत्वा भगवान् ब्रह्मा प्रहस्य तमुवाच ह ॥३१॥

अहो राजन् निरुद्धास्ते कालेन हृदि ये कृताः ।

तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणां गोत्राणि च न शृण्महे ॥३२॥

कालोऽभियातस्त्रिणवचतुर्युगविकल्पितः ।

तद् गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबलः ॥३३॥

कन्यारत्नमिदं राजन् नररत्नाय देहि भोः ।

भुवो भारावताराय भगवान् भूतभावनः ॥३४॥

अवतीर्णो निजांशेन पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

करवाया और सोमपानके अधिकारी न होनेपर भी अपने प्रभावसे अश्विनीकुमारोंको सोमपान कराया ॥ २४ ॥ इन्द्र बहुत जल्दी क्रोध कर बैठते हैं । इसलिये उनसे यह सहा न गया । उन्होंने चिढ़कर शर्यातिको मारनेके लिये वज्र उठाया । महर्षि च्यवनने वज्रके साथ उनके हाथको वहीं स्तम्भित कर दिया ॥ २५ ॥ तब सब देवताओंने अश्विनीकुमारोंको सोमका भाग देना स्वीकार कर लिया । उन लोगोंने वैद्य होनेके कारण पहले अश्विनीकुमारोंका सोमपानसे बहिष्कार कर रक्खा था ॥ २६ ॥

परीक्षित् ! शर्यातिके तीन पुत्र थे—उत्तानबर्हि, आनर्त और भूरिषेण । आनर्तसे रेवत हुए ॥ २७ ॥ महाराज ! रेवतने समुद्रके भीतर कुशस्थली नामकी एक नगरी बसायी थी । उसीमें रहकर वे आनर्त आदि देशोंका राज्य करते थे ॥ २८ ॥ उनके सौ श्रेष्ठ पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े थे ककुद्मी । ककुद्मी अपनी कन्या रेवतीको लेकर उसके लिये वर पूछनेके उद्देश्यसे ब्रह्माजीके पास गये । उस समय ब्रह्मलोकका रास्ता ऐसे लोगोंके लिये बेरोक-टोक था । ब्रह्मलोकमें गाने-बजानेकी धूम मची हुई थी । बातचीतके लिये अवसर न मिलनेके कारण वे कुछ क्षण वहीं ठहर गये ॥ २९-३० ॥ उत्सवके अन्तमें ब्रह्माजीको नमस्कार करके उन्होंने अपना अभिप्राय निवेदन किया । उनकी बात सुनकर भगवान् ब्रह्माजीने हँसकर उनसे कहा ॥ ३१ ॥ 'महाराज ! तुमने अपने मनमें जिन लोगोंके विषयमें सोच रक्खा था, वे सब तो कालके गालमें चले गये । अब उनके पुत्र, पौत्र अथवा नातियोंकी तो बात ही क्या है, गोत्रोंके नाम भी नहीं सुनायी पड़ते ॥ ३२ ॥ इस बीचमें सत्ताईस चतुर्युगीका समय बीत चुका है । इसलिये तुम जाओ । इस समय भगवान् नारायणके अंशावतार महाबली बलदेवजी पृथ्वीपर विद्यमान हैं ॥ ३३ ॥ राजन् ! उन्हीं नररत्नको यह कन्यारत्न तुम समर्पित कर दो । जिनके नाम, लीला आदिका श्रवण-कीर्तन बड़ा ही पवित्र है—वे ही प्राणियोंके जीवनसर्वस्व भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अपने अंशसे अवतीर्ण हुए हैं ।' राजा ककुद्मीने ब्रह्माजीका यह आदेश प्राप्त करके उनके

इत्यादिष्टोऽभिवन्द्याजं नृपः स्वपुरमागतः ।
त्यक्तं पुण्यजनत्रासाद् भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितैः ॥३५॥
सुतां दत्त्वानवद्याङ्गीं बलाय बलशालिने ।
बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नारायणाश्रमम् ॥३६॥

चरणोंकी वन्दना की और अपने नगरमें चले आये। उनके वंशजोंने यक्षोंके भयसे वह नगरी छोड़ दी थी और जहाँ-तहाँ यों ही निवास कर रहे थे ॥ ३४-३५॥ राजा ककुद्मीने अपनी सर्वाङ्गसुन्दरी पुत्री परम बलशाली बलरामजीको सौंप दी और स्वयं तपस्या करनेके लिये भगवान् नर-नारायणके आश्रम बदरीवनकी ओर चल दिये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

नाभाग और अम्बरीषकी कथा

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम् ।
यविष्ठं व्यभजन् दायं ब्रह्मचारिणमागतम् ॥ १ ॥
भ्रातरोऽभाङ्क्त किं मह्यं भजाम पितरं तव ।
त्वां ममार्यास्तताभाङ्क्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः ॥२॥
इमे अङ्गिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः ।
षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥ ३ ॥
तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः ।
ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः ॥ ४ ॥
दास्यन्ति तेऽथ तान् गच्छ तथा स कृतवान् यथा ।
तस्मै दत्त्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषितम् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! मनुपुत्र नभगका पुत्र था नाभाग। जब वह दीर्घकालतक ब्रह्मचर्यका पालन करके लौटा तब बड़े भाइयोंने अपनेसे छोटे किन्तु विद्वान् भाईको हिस्सेमें केवल पिताको ही दिया (सम्पत्ति तो उन्होंने पहले ही आपसमें बाँट ली थी) ॥ १ ॥ उसने अपने भाइयोंसे पूछा—'भाइयो ! आपलोगोंने मुझे हिस्सेमें क्या दिया है ?' तब उन्होंने उत्तर दिया कि 'हम तुम्हारे हिस्सेमें पिताजीको ही तुम्हें देते हैं।' उसने अपने पितासे जाकर कहा—'पिताजी ! मेरे बड़े भाइयोंने हिस्सेमें मेरे लिये आपको ही दिया है।' पिताने कहा—'बेटा ! तुम उनकी बात न मानो ॥ २ ॥ देखो, ये बड़े बुद्धिमान् आङ्गिरस-गोत्रके ब्राह्मण इस समय एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं। परन्तु मेरे विद्वान् पुत्र ! वे प्रत्येक छठे दिन अपने कर्ममें भूल कर बैठते हैं ॥ ३ ॥ तुम उन महात्माओंके पास जाकर उन्हें वैश्वदेवसम्बन्धी दो सूक्त बतला दो; जब वे स्वर्ग जाने लगेंगे, तब यज्ञसे बचा हुआ अपना सारा धन तुम्हें दे देंगे। इसलिये अब तुम उन्हींके पास चले जाओ।' उसने अपने पिताके आज्ञानुसार वैसा ही किया। उन आङ्गिरसगोत्री ब्राह्मणोंने भी यज्ञका बचा हुआ धन उसे दे दिया और वे स्वर्गमें चले गये ॥४-५॥

१. ययौ। २. शेषणम्।

तं कश्चित् स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः।
उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु॥ ६॥
ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः।
स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान् पितरं तथा॥ ७॥
यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित्।
चक्रुर्विभागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति॥ ८॥
नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम्।
इत्याह मे पिता ब्रह्मञ्छिरसा त्वां प्रसादये॥ ९॥
यत् ते पितावदद् धर्मं त्वं च सत्यं प्रभाषसे।
ददामि ते मन्त्रदृशे ज्ञानं ब्रह्म सनातनम्॥ १०॥
गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रे परिशेषितम्।
इत्युक्त्वान्तर्हितो रुद्रो भगवान् सत्यवत्सलः॥ ११॥
य एतत् संस्मरेत् प्रातः सायं च सुसमाहितः।
कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिं चैव तथाऽऽत्मनः॥ १२॥
नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती।
नास्पृशद् ब्रह्मशापोऽपि यं न प्रतिहतः[1] क्वचित्॥ १३॥

राजोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः।
न प्राभूद् यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः॥ १४॥

जब नाभाग उस धनको लेने लगा, तब उत्तर दिशासे एक काले रंगका पुरुष आया। उसने कहा—'इस यज्ञभूमिमें जो कुछ बचा हुआ है, वह सब धन मेरा है॥ ६॥

नाभागने कहा—'ऋषियोंने यह धन मुझे दिया है, इसलिये मेरा है।' इसपर उस पुरुषने कहा—'हमारे विवादके विषयमें तुम्हारे पितासे ही प्रश्न किया जाय।' तब नाभागने जाकर पितासे पूछा॥ ७॥ पिताने कहा—'एक बार दक्षप्रजापतिके यज्ञमें ऋषिलोग यह निश्चय कर चुके हैं, कि यज्ञभूमिमें जो कुछ बच रहता है, वह सब रुद्रदेवका हिस्सा है। इसलिये वह धन तो महादेवजीको ही मिलना चाहिये'॥ ८॥ नाभागने जाकर उन काले रंगके पुरुष रुद्रभगवान्‌को प्रणाम किया और कहा कि 'प्रभो! यज्ञभूमिकी सभी वस्तुएँ आपकी हैं, मेरे पिताने ऐसा ही कहा है।' भगवन्! मुझसे अपराध हुआ, मैं सिर झुकाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ'॥ ९॥ तब भगवान् रुद्रने कहा—'तुम्हारे पिताने धर्मके अनुकूल निर्णय दिया है और तुमने भी मुझसे सत्य ही कहा है। तुम वेदोंका अर्थ तो पहलेसे ही जानते हो। अब मैं तुम्हें सनातन ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान देता हूँ॥ १०॥ यहाँ यज्ञमें बचा हुआ मेरा जो अंश है, यह धन भी मैं तुम्हें ही दे रहा हूँ; तुम इसे स्वीकार करो।' इतना कहकर सत्यप्रेमी भगवान् रुद्र अन्तर्धान हो गये॥ ११॥ जो मनुष्य प्रातः और सायंकाल एकाग्रचित्तसे इस आख्यानका स्मरण करता है, वह प्रतिभाशाली एवं वेदज्ञ तो होता ही है, साथ ही अपने स्वरूपको भी जान लेता है॥ १२॥ नाभागके पुत्र हुए अम्बरीष। वे भगवान्‌के बड़े प्रेमी एवं उदार धर्मात्मा थे। जो ब्रह्मशाप कभी कहीं रोका नहीं जा सका, वह भी अम्बरीषका स्पर्श न कर सका॥ १३॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! मैं परमज्ञानी राजर्षि अम्बरीषका चरित्र सुनना चाहता हूँ। ब्राह्मणने क्रोधित होकर उन्हें ऐसा दण्ड दिया, जो किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता; परन्तु वह भी उनका कुछ न बिगाड़ सका॥ १४॥

१. न्तर्दधे।

श्रीशुक उवाच

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम्।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥१५॥
मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम्।
विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत् पुमान्॥१६॥
वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्टवत् स्मृतम् ॥१७॥
स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥१८॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥१९॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे[1]
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया[2] रतिः ॥२०॥
एवं सदा कर्मकलापमात्मनः
परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां
तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह ॥२१॥
ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं
महाविभूत्योपचिताङ्गदक्षिणैः।
ततैर्वसिष्ठासितगौतमादिभि-[3]
र्धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वतीम् ॥२२॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! अम्बरीष बड़े भाग्यवान् थे। पृथ्वीके सातों द्वीप, अचल सम्पत्ति और अतुलनीय ऐश्वर्य उनको प्राप्त था। यद्यपि ये सब साधारण मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ वस्तुएँ हैं, फिर भी वे इन्हें स्वप्नतुल्य समझते थे। क्योंकि वे जानते थे कि जिस धन-वैभवके लोभमें पड़कर मनुष्य घोर नरकमें जाता है, वह केवल चार दिनकी चाँदनी है। उसका दीपक तो बुझा-बुझाया है॥ १५-१६॥ भगवान् श्रीकृष्णमें और उनके प्रेमी साधुओंमें उनका परम प्रेम था। उस प्रेमके प्राप्त हो जानेपर तो यह सारा विश्व और इसकी समस्त सम्पत्तियाँ मिट्टीके ढेलेके समान जान पड़ती हैं॥ १७॥ उन्होंने अपने मनको श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्द युगलमें, वाणीको भगवद्गुणानुवर्णनमें, हाथोंको श्रीहरि-मन्दिरके मार्जन-सेचनमें और अपने कानोंको भगवान् अच्युतकी मङ्गलमयी कथाके श्रवणमें लगा रक्खा था॥ १८॥ उन्होंने अपने नेत्र मुकुन्दमूर्ति एवं मन्दिरोंके दर्शनोंमें, अङ्ग-सङ्ग भगवद्भक्तोंके शरीर-स्पर्शमें, नासिका उनके चरणकमलोंपर चढ़ी श्रीमती तुलसीके दिव्य गन्धमें और रसना (जिह्वा) को भगवान्‌के प्रति अर्पित नैवेद्य-प्रसादमें संलग्न कर दिया था॥ १९॥ अम्बरीषके पैर भगवान्‌के क्षेत्र आदिकी पैदल यात्रा करनेमें ही लगे रहते और वे सिरसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी वन्दना किया करते। राजा अम्बरीषने माला, चन्दन आदि भोग-सामग्रीको भगवान्‌की सेवामें समर्पित कर दिया था। भोगनेकी इच्छासे नहीं, बल्कि इसलिये कि इससे वह भगवत्प्रेम प्राप्त हो, जो पवित्रकीर्ति भगवान्‌के निज-जनोंमें ही निवास करता है॥ २०॥ इस प्रकार उन्होंने अपने सारे कर्म यज्ञपुरुष, इन्द्रियातीत भगवान्‌के प्रति उन्हें सर्वात्मा एवं सर्वस्वरूप समझकर समर्पित कर दिये थे और भगवद्भक्त ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अनुसार वे इस पृथ्वीका शासन करते थे॥ २१॥ उन्होंने 'धन्व' नामके निर्जल देशमें सरस्वती नदीके प्रवाहके सामने वसिष्ठ, असित, गौतम आदि भिन्न-भिन्न आचार्यों-द्वारा महान् ऐश्वर्यके कारण सर्वाङ्गपरिपूर्ण तथा बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके यज्ञाधिपति

१. पद्यानुसर्पणे। २. तथो०। ३. भिः स्वर्धुन्यभिस्रोतवर्ती सर०।

यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः ।

तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यन्त सुवाससः ॥२३॥

स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः ।

शृण्वद्भिरुपगायद्भिरुत्तमश्लोकचेष्टितम् ॥२४॥

समर्द्धयन्ति तान् कामाः स्वाराज्यपरिभाविताः ।

दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः ॥२५॥

स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः ।

स्वधर्मेण हरिं प्रीणन् सङ्गान् सर्वाञ्छनैर्जहौ ॥२६॥

गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु

द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिपत्तिषु ।

अक्षय्यरत्नाभरणायुधादि-

ष्वनन्तकोशेष्वकरोदसन्मतिम् ॥२७॥

तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम् ।

एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भृत्याभिरक्षणम् ॥२८॥

आरिराधयिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया ।

युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥२९॥

व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः ।

स्नातः कदाचित् कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥३०॥

भगवान्‌की आराधना की थी ॥ २२ ॥ उनके यज्ञोंमें देवताओंके साथ जब सदस्य और ऋत्विज बैठ जाते थे, तब उनकी पलकें नहीं पड़ती थीं और वे अपने सुन्दर वस्त्र और वैसे ही रूपके कारण देवताओंके समान दिखायी पड़ते थे ॥ २३ ॥ उनकी प्रजा महात्माओंके द्वारा गाये हुए भगवान्‌के उत्तम चरित्रोंका किसी समय बड़े प्रेमसे श्रवण करती और किसी समय उनका गान करती । इस प्रकार उनके राज्यके मनुष्य देवताओंके अत्यन्त प्यारे स्वर्गकी भी इच्छा नहीं करते ॥ २४ ॥ वे अपने हृदयमें अनन्त प्रेमका दान करनेवाले श्रीहरिका नित्य-निरन्तर दर्शन करते रहते थे । इसलिये उन लोगोंको वह भोग-सामग्री भी हर्षित नहीं कर पाती थी, जो बड़े-बड़े सिद्धोंको भी दुर्लभ है । वे वस्तुएँ उनके आत्मानन्दके सामने अत्यन्त तुच्छ और तिरस्कृत थीं ॥ २५ ॥ राजा अम्बरीष इस प्रकार तपस्यासे युक्त भक्तियोग और प्रजापालनरूप स्वधर्मके द्वारा भगवान्‌को प्रसन्न करने लगे और धीरे-धीरे उन्होंने सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्याग कर दिया ॥ २६ ॥ घर, स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, बड़े-बड़े हाथी, रथ, घोड़े एवं पैदलोंकी चतुरङ्गिणी सेना, अक्षय रत्न, आभूषण और आयुध आदि समस्त वस्तुओं तथा कभी समाप्त न होनेवाले कोशोंके सम्बन्धमें उनका ऐसा दृढ़ निश्चय था कि वे सब-के-सब असत्य हैं ॥ २७ ॥ उनकी अनन्य प्रेममयी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उनकी रक्षाके लिये सुदर्शन चक्रको नियुक्त कर दिया था, जो विरोधियोंको भयभीत करनेवाला एवं भगवद्भक्तोंकी रक्षा करनेवाला है ॥ २८ ॥

राजा अम्बरीषकी पत्नी भी उन्हींके समान धर्मशील, संसारसे विरक्त एवं भक्तिपरायण थीं । एक बार उन्होंने अपनी पत्नीके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करनेके लिये एक वर्षतक द्वादशीप्रधान एकादशी व्रत करनेका नियम ग्रहण किया ॥ २९ ॥ व्रतकी समाप्ति होनेपर कार्तिक महीनेमें उन्होंने तीन रातका उपवास किया और एक दिन यमुनाजीमें स्नान करके मधुवनमें भगवान्

१. वेष्टिताः । २. पश्यताम् । ३. जिवस्वषु । ४. भूताभि० । ५. पुर्विष्णुं ।

महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा ।
अभिषिच्याम्बराकल्पैर्गन्धमाल्यार्हणादिभिः ॥३१॥
तद्गतान्तरभावेन पूजयामास केशवम् ।
ब्राह्मणांश्च महाभागान् सिद्धार्थानपि भक्तितः ॥३२॥
गवां रुक्मविषाणीनां रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम् ।
पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम् ॥३३॥
प्राहिणोत् साधु विप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानिषट् ।
भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं गुणवत्तमम् ॥३४॥
लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे ।
तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षाद् दुर्वासा भगवानभूत् ॥३५॥
तमानर्चातिथिं भूपः प्रत्युत्थानासनार्हणैः ।
ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः ॥३६॥
प्रतिनन्द्य स तैद्याच्ञां कर्तुमावश्यकं गतः ।
निंममज्ज बृहद् ध्यायन् कालिन्दीसलिले शुभे॥३७॥
मुहूर्तार्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति ।
चिन्तयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटे ॥३८॥
ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यां यदपारणे ।
यत् कृत्वा साधु मे भूयादधर्मो वा न मां स्पृशेत्॥३९॥

श्रीकृष्णकी पूजा की ॥ ३० ॥ उन्होंने महाभिषेककी विधिसे सब प्रकारकी सामग्री और सम्पत्तिद्वारा भगवान्‌का अभिषेक किया और हृदयसे तन्मय होकर वस्त्र, आभूषण, चन्दन, माला एवं अर्घ्य आदिके द्वारा उनकी पूजा की । यद्यपि महाभाग्यवान् ब्राह्मणोंको इस पूजाकी कोई आवश्यकता नहीं थी, स्वयं ही उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी थीं—वे सिद्ध थे—तथापि राजा अम्बरीषने भक्तिभावसे उनका पूजन किया । तत्पश्चात् पहले ब्राह्मणोंको स्वादिष्ट और अत्यन्त गुणकारी भोजन कराकर उन लोगोंके घर साठ करोड़ गौएँ सुसज्जित करके भेज दीं । उन गौओंके सींग सुवर्णसे और खुर चाँदीसे मढ़े हुए थे । सुन्दर-सुन्दर वस्त्र उन्हें ओढ़ा दिये गये थे । वे गौएँ बड़ी सुशील, छोटी अवस्थाकी, देखनेमें सुन्दर, बछड़ेवाली और खूब दूध देनेवाली थीं । उनके साथ दुहनेकी उपयुक्त सामग्री भी उन्होंने भेजवा दी थी ॥ ३१—३४ ॥ जब ब्राह्मणोंको सब कुछ मिल चुका, तब राजाने उन लोगोंसे आज्ञा लेकर व्रतका पारण करनेकी तैयारी की । उसी समय शाप और वरदान देनेमें समर्थ स्वयं दुर्वासाजी भी उनके यहाँ अतिथिके रूपमें पधारे ॥ ३५ ॥

राजा अम्बरीष उन्हें देखते ही उठकर खड़े हो गये, आसन देकर बैठाया और विविध सामग्रियोंसे अतिथिके रूपमें आये हुए दुर्वासाजीकी पूजा की । उनके चरणोंमें प्रणाम करके अम्बरीषने भोजनके लिये प्रार्थना की ॥ ३६ ॥ दुर्वासाजीने अम्बरीषकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और इसके बाद आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये वे नदीतटपर चले गये । वे ब्रह्मका ध्यान करते हुए यमुनाके पवित्र जलमें स्नान करने लगे ॥ ३७ ॥ इधर द्वादशी केवल घड़ीभर शेष रह गयी थी । धर्मज्ञ अम्बरीषने धर्म सङ्कटमें पड़कर ब्राह्मणोंके साथ परामर्श किया ॥ ३८ ॥ उन्होंने कहा—'ब्राह्मणदेवताओ ! ब्राह्मणको बिना भोजन कराये स्वयं खा लेना और द्वादशी रहते पारण न करना—दोनों ही दोष हैं । इसलिये इस समय जैसा करनेसे मेरी भलाई हो और मुझे पाप न लगे, ऐसा काम करना चाहिये ॥ ३९ ॥

१. र्लब्ध० । २. गुणवन्मधु । ३. तद्वाक्यं । ४. निर्म० । ५. शुचौ ।

अम्भसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम् ।
प्राहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितं च तत् ॥४०॥
इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन् मनसाच्युतम् ।
प्रत्यचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः ॥४१॥
दुर्वासा यमुनाकूलात् कृतावश्यक आगतः ।
राज्ञाभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया ॥४२॥
मन्युना प्रचलद्गात्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः ।
बुभुक्षितश्च सुतरां कृताञ्जलिमभाषत ॥४३॥
अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य[1] पश्यत ।
धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः[2] ॥४४॥
यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च ।
अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ॥४५॥
एवं ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषविदीपितः ।
तया[3] स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम् ॥४६॥
तामापतन्तीं ज्वलन्तीमसिहस्तां[4] पदा भुवम् ।
वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचाल पदान्नृपः ॥४७॥
प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना ।

तब ब्राह्मणोंके साथ विचार करके उन्होंने कहा—'ब्राह्मणो! श्रुतियोंमें ऐसा कहा गया है कि जल पी लेना भोजन करना भी है, नहीं भी करना है। इसलिये इस समय केवल जलसे पारण किये लेता हूँ' ॥ ४० ॥ ऐसा निश्चय करके मन-ही-मन भगवान्‌का चिन्तन करते हुए राजर्षि अम्बरीषने जल पी लिया और परीक्षित्! वे केवल दुर्वासाजीके आनेकी बाट देखने लगे ॥ ४१ ॥ दुर्वासाजी आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होकर यमुनातटसे लौट आये। जब राजाने आगे बढ़कर उनका अभिनन्दन किया तब उन्होंने अनुमानसे ही समझ लिया कि राजाने पारण कर लिया है ॥ ४२ ॥ उस समय दुर्वासाजी बहुत भूखे थे। इसलिये यह जानकर कि राजाने पारण कर लिया है, वे क्रोधसे थर-थर काँपने लगे। भौंहोंके चढ़ जानेसे उनका मुँह विकट हो गया। उन्होंने हाथ जोड़कर खड़े अम्बरीषसे डाँटकर कहा ॥ ४३ ॥ 'अहो! देखो तो सही, यह कितना क्रूर है! यह धनके मदमें मतवाला हो रहा है। भगवान्‌की भक्ति तो इसे छूतक नहीं गयी और यह अपनेको बड़ा समर्थ मानता है। आज इसने धर्मका उल्लङ्घन करके बड़ा अन्याय किया है ॥ ४४ ॥ देखो, मैं इसका अतिथि होकर आया हूँ। इसने अतिथिसत्कार करनेके लिये मुझे निमन्त्रण भी दिया है, किन्तु फिर भी मुझे खिलाये बिना ही खा लिया है। अच्छा देख, तुझे अभी इसका फल चखाता हूँ' ॥ ४५ ॥ यों कहते-कहते वे क्रोधसे जल उठे। उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़ी और उससे अम्बरीषको मार डालनेके लिये एक कृत्या उत्पन्न की। वह प्रलयकालकी आगके समान दहक रही थी ॥ ४६ ॥ वह आगके समान जलती हुई, हाथमें तलवार लेकर राजा अम्बरीषपर टूट पड़ी। उस समय उसके पैरोंकी धमकसे पृथ्वी काँप रही थी। परन्तु राजा अम्बरीष देखकर उससे तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे एक पग भी नहीं हटे, ज्यों-के-त्यों खड़े रहे ॥ ४७ ॥ परमपुरुष परमात्माने अपने सेवककी रक्षाके लिये पहलेसे ही सुदर्शनचक्रको नियुक्त कर रक्खा था। जैसे आग क्रोधसे

१. श्रिया मत्तस्य। २. स्येष्टमानिनः। ३. तपसा नि०। ४. लन्तीमसि०।

ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः ॥४८॥
तदभिद्रवदुद्वीक्ष्य स्वप्रयासं च निष्फलम् ।
दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया ॥४९॥
तमन्वधावद् भगवद्रथाङ्गं
दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाहिम् ।
तथानुषक्तं मुनिरीक्षमाणो
गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः ॥५०॥
दिशो नभः क्ष्मां विवरान् समुद्रॉं-
ल्लोकान् सपालांस्त्रिदिवं गतः सः ।
यतो यतो धावति तत्र तत्र
सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥५१॥
अलब्धनाथः स यदा कुतश्चित्
संत्रस्तचित्तोऽरणमेषमाणः ।
देवं विरिञ्चं समगाद् विधात-
स्त्राह्यात्मयोनेऽजिततेजसो माम् ॥५२॥

ब्रह्मोवाच

स्थानं मदीयं सहविश्वमेतत्
क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे ।
भ्रूभङ्गमात्रेण हि संदिधक्षोः
कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति ॥५३॥
अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः
प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ।
सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना
मूर्ध्न्यर्पितं लोकहितं वहामः ॥५४॥
प्रत्याख्यातो विरिञ्चेन विष्णुचक्रोपतापितः ।
दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलासवासिनम् ॥५५॥

श्रीरुद्र उवाच

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि
यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः ।

गुर्राते हुए साँपको भस्म कर देती है, वैसे ही चक्रने दुर्वासाजीकी कृत्याको जलाकर राखका ढेर कर दिया ॥ ४८ ॥ जब दुर्वासाजीने देखा कि मेरी बनायी हुई कृत्या तो जल रही है और चक्र मेरी ओर आ रहा है, तब वे भयभीत हो अपने प्राण बचानेके लिये जी छोड़कर एकाएक भाग निकले ॥ ४९ ॥ जैसे ऊँची-ऊँची लपटोंवाला दावानल साँपके पीछे दौड़ता है, वैसे ही भगवान्‌का चक्र उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। जब दुर्वासाजीने देखा कि चक्र तो मेरे पीछे लग गया है, तब सुमेरु पर्वतकी गुफामें प्रवेश करनेके लिये वे उसी ओर दौड़ पड़े ॥ ५० ॥ दुर्वासाजी दिशा, आकाश, पृथ्वी, अतल-वितल आदि नीचेके लोक, समुद्र, लोकपाल और उनके द्वारा सुरक्षित लोक एवं स्वर्गतकमें गये; परन्तु जहाँ-जहाँ वे गये, वहीं-वहीं उन्होंने असह्य तेजवाले सुदर्शन चक्रको अपने पीछे लगा देखा ॥ ५१ ॥ जब उन्हें कहीं भी कोई रक्षक न मिला, तब तो वे और भी डर गये। अपने लिये त्राण ढूँढ़ते हुए वे देवशिरोमणि ब्रह्माजीके पास गये और बोले—'ब्रह्माजी! आप स्वयम्भू हैं। भगवान्‌के इस तेजोमय चक्रसे मेरी रक्षा कीजिये ॥ ५२ ॥

ब्रह्माजीने कहा—'जब मेरी दो परार्धकी आयु समाप्त होगी और कालस्वरूप भगवान् अपनी यह सृष्टि-लीला समेटने लगेंगे और इस जगत्‌को जलाना चाहेंगे उस समय उनके भ्रूभङ्गमात्रसे यह सारा संसार और मेरा यह लोक भी लीन हो जायगा ॥ ५३ ॥ मैं, शङ्करजी, दक्ष-भृगु आदि प्रजापति, भूतेश्वर, देवेश्वर आदि सब जिनके बनाये नियमोंमें बँधे हैं तथा जिनकी आज्ञा शिरोधार्य करके हमलोग संसारका हित करते हैं, (उनके भक्तके द्रोहीको बचानेके लिये हम समर्थ नहीं हैं)' ॥५४॥ जब ब्रह्माजीने इस प्रकार दुर्वासाको निराश कर दिया, तब भगवान्‌के चक्रसे सन्तप्त होकर वे कैलासवासी भगवान् शङ्करकी शरणमें गये ॥ ५५ ॥

श्रीमहादेवजीने कहा—'दुर्वासाजी! जिन अनन्त परमेश्वरमें ब्रह्मा-जैसे जीव और उनके उपाधिभूत कोश, इस ब्रह्माण्डके समान ही अनेकों ब्रह्माण्ड समयपर पैदा होते हैं

१. द्रवमुद्वी० । २. दवाग्नि० । ३. थावसक्तं ।

भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः
सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः ॥५६॥

अहं सनत्कुमारश्च नारदो भगवानजः।
कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः ॥५७॥
मरीचिप्रमुखाश्चान्ये सिद्धेशाः पारदर्शनाः।
विदाम न वयं सर्वे यन्मायां माययाऽऽवृताः ॥५८॥
तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः।
तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति ॥५९॥
ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ।
वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह॥६०॥

संदह्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना
तत्पादमूले पतितः सवेपथुः।
आहाच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो
कृतागसं मांव हि विश्वभावन ॥६१॥

अजानता ते परमानुभावं
कृतं मयाघं भवतः प्रियाणाम्।
विधेहि तस्यापचितिं विधात-
र्मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि ॥६२॥

श्रीभगवानुवाच

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥६३॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥६४॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥६५॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।

और समय आनेपर फिर उनका पता भी नहीं चलता, जिनमें हमारे-जैसे हजारों चक्कर काटते रहते हैं—उन प्रभुके सम्बन्धमें हम कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं रखते ॥५६॥ मैं, सनत्कुमार, नारद, भगवान् ब्रह्मा, कपिलदेव, अपान्तरतम, देवल, धर्म, आसुरि तथा मरीचि आदि दूसरे सर्वज्ञ सिद्धेश्वर—ये हम सभी भगवान्‌की मायाको नहीं जान सकते। क्योंकि हम उसी मायाके घेरेमें हैं॥ ५७-५८ ॥ यह चक्र उन विश्वेश्वरका शस्त्र है। यह हमलोगोंके लिये असह्य है। तुम उन्हींकी शरणमें जाओ। वे भगवान् ही तुम्हारा मङ्गल करेंगे' ॥ ५९ ॥

वहाँसे भी निराश होकर दुर्वासा भगवान्‌के परमधाम वैकुण्ठमें गये। लक्ष्मीपति भगवान् लक्ष्मीके साथ वहीं निवास करते हैं ॥ ६० ॥ दुर्वासाजी भगवान्‌के चक्रकी आगसे जल रहे थे। वे काँपते हुए भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े। उन्होंने कहा—'हे अच्युत! हे अनन्त! आप संतोंके एकमात्र वाञ्छनीय हैं। प्रभो! विश्वके जीवनदाता! मैं अपराधी हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ ६१ ॥ आपका परम प्रभाव न जाननेके कारण ही मैंने आपके प्यारे भक्तका अपराध किया है। प्रभो! आप मुझे उससे बचाइये। आपके तो नामका ही उच्चारण करनेसे नारकी जीव भी मुक्त हो जाता है' ॥ ६२ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे सीधे-सादे सरल भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रक्खा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे ॥ ६३ ॥ ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। इसलिये अपने साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाशरहित लक्ष्मीको ॥ ६४ ॥ जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका सङ्कल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ? ॥ ६५ ॥ जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम-

१. मामव विश्व। २. दर्शिनः।

वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥६६॥

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।

नेच्छन्तिसेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥६७॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।

मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥६८॥

उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत्।

अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं यातु वै भवान्।

साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम्॥६९॥

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे।

ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा॥७०॥

ब्रह्मंस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।

क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥७१॥

बन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं॥ ६६॥ मेरे अनन्यप्रेमी भक्त सेवासे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है॥ ६७॥ दुर्वासाजी! मैं आपसे और क्या कहूँ, मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता॥ ६८॥ दुर्वासाजी! सुनिये, मैं आपको एक उपाय बताता हूँ। जिसका अनिष्ट करनेसे आपको इस विपत्तिमें पड़ना पड़ा है, आप उसीके पास जाइये। निरपराध साधुओंके अनिष्टकी चेष्टासे अनिष्ट करनेवालेका ही अमङ्गल होता है॥ ६९॥ इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणोंके लिये तपस्या और विद्या परम कल्याणके साधन हैं। परन्तु यदि ब्राह्मण उद्दण्ड और अन्यायी हो जाय, तो वे ही दोनों उलटा फल देने लगते हैं॥७०॥ दुर्वासाजी! आपका कल्याण हो। आप नाभागनन्दन परम भाग्यशाली राजा अम्बरीषके पास जाइये और उनसे क्षमा माँगिये। तब आपको शान्ति मिलेगी॥ ७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे-
ऽम्बरीषचरिते चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

दुर्वासाजीकी दुःखनिवृत्ति

श्रीशुक उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः।

अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत्॥ १॥

तस्य[2] सोद्यमनं वीक्ष्य पादस्पर्श[3]विलज्जितः।

अस्तावीत् तद्धरेरस्त्रं कृपया पीडितो भृशम्॥ २॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान्‌ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब सुदर्शन चक्रकी ज्वालासे जलते हुए दुर्वासा लौटकर राजा अम्बरीषके पास आये और उन्होंने अत्यन्त दुखी होकर राजाके पैर पकड़ लिये॥ १॥ दुर्वासाजीकी यह चेष्टा देखकर और उनके चरण पकड़नेसे लज्जित होकर राजा अम्बरीष भगवान्‌के चक्रकी स्तुति करने लगे। उस समय उनका हृदय दयावश अत्यन्त पीडित हो रहा था॥ २॥

१. ह्यहम्। २. तद्व्यसनं। ३. स्पर्शेन लज्जि०।

अम्बरीष उवाच

त्वमग्निर्भगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः।
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च॥ ३ ॥
सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय।
सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते॥ ४ ॥
त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक्।
त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम्॥ ५ ॥
नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे
ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे।
त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे
मनोजवायाद्भुतकर्मणे गृणे॥ ६ ॥
त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं
तमः प्रकाशश्च धृतो[1] महात्मनाम्।
दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते
त्वद्रूपमेतत् सदसत् परावरम्॥ ७ ॥
यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै
बलं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम्।
बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि
वृक्णन्नजस्रं प्रधने विराजसे॥ ८ ॥
स त्वं जगत्त्राण खलप्रहाणये
निरूपितः सर्वसहो गदाभृता।
विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे
विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः॥ ९ ॥
यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः।

अम्बरीषने कहा—प्रभो सुदर्शन! आप अग्निस्वरूप हैं। आप ही परम समर्थ सूर्य हैं। समस्त नक्षत्रमण्डलके अधिपति चन्द्रमा भी आपके स्वरूप हैं। जल, पृथ्वी, आकाश, वायु, पञ्चतन्मात्रा और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके रूपमें भी आप ही हैं॥ ३ ॥ भगवान्‌के प्यारे, हजार दाँतवाले चक्रदेव! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको नष्ट कर देनेवाले एवं पृथ्वीके रक्षक! आप इन ब्राह्मणकी रक्षा कीजिये॥ ४ ॥ आप ही धर्म हैं, मधुर एवं सत्य वाणी हैं; आप ही समस्त यज्ञोंके अधिपति और स्वयं यज्ञ भी हैं। आप समस्त लोकोंके रक्षक एवं सर्वलोकस्वरूप भी हैं। आप परमपुरुष परमात्माके श्रेष्ठ तेज हैं॥ ५ ॥ सुनाभ! आप समस्त धर्मोंकी मर्यादाके रक्षक हैं। अधर्मका आचरण करनेवाले असुरोंको भस्म करनेके लिये आप साक्षात् अग्नि हैं। आप ही तीनों लोकोंके रक्षक एवं विशुद्ध तेजोमय हैं। आपकी गति मनके वेगके समान है और आपके कर्म अद्भुत हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आपकी स्तुति करता हूँ॥ ६ ॥ वेदवाणीके अधीश्वर! आपके धर्ममय तेजसे अन्धकारका नाश होता है और सूर्य आदि महापुरुषोंके प्रकाशकी रक्षा होती है। आपकी महिमाका पार पाना अत्यन्त कठिन है। ऊँचे-नीचे और छोटे-बड़ेके भेद-भावसे युक्त यह समस्त कार्यकारणात्मक संसार आपका ही स्वरूप है॥ ७ ॥ सुदर्शन चक्र! आपपर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता। जिस समय निरंजन भगवान् आपको चलाते हैं और आप दैत्य एवं दानवोंकी सेनामें प्रवेश करते हैं, उस समय युद्धभूमिमें उनकी भुजा, उदर, जंघा, चरण और गरदन आदि निरन्तर काटते हुए आप अत्यन्त शोभायमान होते हैं॥ ८ ॥ विश्वके रक्षक! आप रणभूमिमें सबका प्रहार सह लेते हैं, आपका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। गदाधारी भगवान्‌ने दुष्टोंके नाशके लिये ही आपको नियुक्त किया है। आप कृपा करके हमारे कुलके भाग्योदयके लिये दुर्वासाजीका कल्याण कीजिये। हमारे ऊपर यह आपका महान् अनुग्रह होगा॥ ९ ॥ यदि मैंने कुछ भी दान किया हो, यज्ञ किया हो अथवा अपने धर्मका पालन

१. भृतो।

कुलं नो विप्रदैवं चेद् द्विजो भवतु विज्वरः ॥१०॥

यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः ।

सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः ॥११॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ।

अशाम्यत् सर्वतो विप्रं प्रदहद् राजयाच्ञया ॥१२॥

स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः ।

प्रशशंस तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः ॥१३॥

दुर्वासा उवाच

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे ।

कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे ॥१४॥

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् ।

यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः ॥१५॥

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः ।

तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥१६॥

राजन्ननुगृहीतोऽहं[1] त्वयातिकरुणात्मना ।

मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः ॥१७॥

राजा तमकृताहारः प्रत्यागमनकाङ्क्षया ।

चरणावुपसंगृह्य प्रसाद्य समभोजयत् ॥ १८ ॥

सोऽशित्वाऽऽदृतमानीतमातिथ्यं सार्वकामिकम् ।

तृप्तात्मा नृपतिं प्राह भुज्यतामिति सादरम् ॥१९॥

किया हो, यदि हमारे वंशके लोग ब्राह्मणोंको ही अपना आराध्यदेव समझते रहे हों, तो दुर्वासाजीकी जलन मिट जाय ॥ १० ॥ भगवान् समस्त गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं । यदि मैंने समस्त प्राणियोंके आत्माके रूपमें उन्हें देखा हो और वे मुझपर प्रसन्न हों, तो दुर्वासाजीके हृदयकी सारी जलन मिट जाय ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब राजा अम्बरीषने दुर्वासाजीको सब ओरसे जलानेवाले भगवान्‌के सुदर्शन चक्रकी इस प्रकार स्तुति की, तब उनकी प्रार्थनासे चक्र शान्त हो गया ॥ १२ ॥ जब दुर्वासा चक्रकी आगसे मुक्त हो गये और उनका चित्त स्वस्थ हो गया, तब वे राजा अम्बरीषको अनेकानेक उत्तम आशीर्वाद देते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १३ ॥

दुर्वासाजीने कहा—धन्य है ! आज मैंने भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका महत्त्व देखा । राजन् ! मैंने आपका अपराध किया, फिर भी आप मेरे लिये मङ्गल-कामना ही कर रहे हैं ॥ १४ ॥ जिन्होंने भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरिके चरणकमलोंको दृढ़ प्रेमभावसे पकड़ लिया है—उन साधुपुरुषोंके लिये कौन-सा कार्य कठिन है ? जिनका हृदय उदार है, वे महात्मा भला, किस वस्तुका परित्याग नहीं कर सकते ? ॥ १५ ॥ जिनके मङ्गलमय नामोंके श्रवणमात्रसे जीव निर्मल हो जाता है—उन्हीं तीर्थपाद भगवान्‌के चरणकमलोंके जो दास हैं, उनके लिये कौन-सा कर्तव्य शेष रह जाता है ? ॥ १६ ॥ महाराज अम्बरीष ! आपका हृदय करुणाभावसे परिपूर्ण है । आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रह किया । अहो, आपने मेरे अपराधको भुलाकर मेरे प्राणोंकी रक्षा की है ! ॥ १७ ॥

परीक्षित् ! जबसे दुर्वासाजी भागे थे, तबसे अबतक राजा अम्बरीषने भोजन नहीं किया था । वे उनके लौटनेकी बाट देख रहे थे । अब उन्होंने दुर्वासाजीके चरण पकड़ लिये और उन्हें प्रसन्न करके विधिपूर्वक भोजन कराया ॥ १८ ॥ राजा अम्बरीष बड़े आदरसे अतिथिके योग्य सब प्रकारकी भोजन-सामग्री ले आये । दुर्वासाजी भोजन करके तृप्त हो गये । अब उन्होंने आदरसे कहा—'राजन् ! अब आप भी भोजन कीजिये ॥१९॥

[1] तोऽस्मि ।

प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै ।
दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनात्ममेधसा ॥२०॥

कर्मावदातमेतत् ते गायन्ति स्वः स्त्रियो मुहुः ।
कीर्तिं[1] परमपुण्यां च कीर्तयिष्यति भूरियम् ॥२१॥

अम्बरीष ! आप भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त हैं । आपके दर्शन, स्पर्श, बातचीत और मनको भगवान्‌की ओर प्रवृत्त करनेवाले आतिथ्यसे मैं अत्यन्त प्रसन्न और अनुगृहीत हुआ हूँ ॥ २० ॥ स्वर्गकी देवाङ्गनाएँ बार-बार आपके इस उज्ज्वल चरित्रका गान करेंगी । यह पृथ्वी भी आपकी परम पुण्यमयी कीर्तिका संकीर्तन करती रहेगी' ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं संकीर्त्य राजानं दुर्वासाः परितोषितः ।
ययौ विहायसाऽऽमन्त्र्य ब्रह्मलोकमहैतुकम् ॥२२॥

संवत्सरोऽत्यगात् तावद् यावता नागतो गतः ।
मुनिस्तद्दर्शनाकाङ्क्षो राजाऽब्भक्षो बभूव ह ॥२३॥

गते[2] च दुर्वाससि सोऽम्बरीषो
द्विजोपयोगातिपवित्रमाहरत्[3] ।
ऋषेर्विमोक्षं व्यसनं च बुद्‍ध्वा
मेने स्ववीर्यं च परानुभावम्[4] ॥२४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—दुर्वासाजीने बहुत ही सन्तुष्ट होकर राजा अम्बरीषके गुणोंकी प्रशंसा की और उसके बाद उनसे अनुमति लेकर आकाशमार्गसे उस ब्रह्मलोककी यात्रा की, जो केवल निष्काम कर्मसे ही प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ परीक्षित् ! जब सुदर्शन चक्रसे भयभीत होकर दुर्वासाजी भगे थे, तबसे लेकर उनके लौटनेतक एक वर्षका समय बीत गया । इतने दिनोंतक राजा अम्बरीष उनके दर्शनकी आकाङ्क्षासे केवल जल पीकर ही रहे ॥ २३ ॥ जब दुर्वासाजी चले गये, तब उनके भोजनसे बचे हुए अत्यन्त पवित्र अन्नका उन्होंने भोजन किया । अपने कारण दुर्वासाजीका दुःखमें पड़ना और फिर अपनी ही प्रार्थनासे उनका छूटना—इन दोनों बातोंको उन्होंने अपनेद्वारा होनेपर भी भगवान्‌की ही महिमा समझा ॥ २४ ॥

एवंविधानेकगुणः स राजा
परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे ।
क्रियाकलापैः समुवाह भक्तिं
ययाऽऽविरिञ्च्यान् निरयांश्चकार ॥२५॥

राजा अम्बरीषमें ऐसे-ऐसे अनेकों गुण थे । अपने समस्त कर्मोंके द्वारा वे परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान्‌में भक्तिभावकी अभिवृद्धि करते रहते थे । उस भक्तिके प्रभावसे उन्होंने ब्रह्मलोकतकके समस्त भोगोंको नरकके समान समझा ॥ २५ ॥

अथाम्बरीषस्तनयेषु राज्यं
समानशीलेषु विसृज्य धीरः[5] ।
वनं विवेशात्मनि वासुदेवे
मनो दधद् ध्वस्तगुणप्रवाहः ॥२६॥

तदनन्तर राजा अम्बरीषने अपने ही समान भक्त पुत्रोंपर राज्यका भार छोड़ दिया और स्वयं वे वनमें चले गये । वहाँ वे बड़ी धीरताके साथ आत्मस्वरूप भगवान्‌में अपना मन लगाकर गुणोंके प्रवाहरूप संसारसे मुक्त हो गये ॥ २६ ॥

इत्येतत् पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः ।
संकीर्तयन्ननुध्यायन् भक्तो भगवतो भवेत् ॥२७॥

परीक्षित् ! महाराज अम्बरीषका यह परम पवित्र आख्यान है । जो इसका सङ्कीर्तन और स्मरण करता है, वह भगवान्‌का भक्त हो जाता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धेऽम्बरीषचरितं[6] नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

१. कीर्तिं तां परमां पुण्यां कीर्त० । २. गतेऽथ । ३. गाभिपवि० । ४. महानुभावम् । ५. वीरः । ६. चरिते ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

इक्ष्वाकुके वंशका वर्णन, मान्धाता और सौभरि ऋषिकी कथा

श्रीशुक उवाच

विरूपः केतुमाञ्छम्भुरम्बरीषसुतास्त्रयः ।
विरूपात् पृषदश्वोऽभूत् तत्पुत्रस्तु रथीतरः ॥ १ ॥
रथीतरस्याप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्थितः ।
अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ॥ २ ॥
एते क्षेत्रे प्रसूता वै पुनस्त्वाङ्गिरसाः स्मृताः ।
रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अम्बरीषके तीन पुत्र थे—विरूप, केतुमान् और शम्भु । विरूपसे पृषदश्व और उसका पुत्र रथीतर हुआ ॥ १ ॥ रथीतर सन्तानहीन था । वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये उसने अङ्गिरा ऋषिसे प्रार्थना की, उन्होंने उसकी पत्नीसे ब्रह्मतेजसे सम्पन्न कई पुत्र उत्पन्न किये ॥ २ ॥ यद्यपि ये सब रथीतरकी भार्यासे उत्पन्न हुए थे, इसलिये इनका गोत्र वही होना चाहिये था जो रथीतरका था, फिर भी वे आङ्गिरस ही कहलाये । ये ही रथीतर वंशियोंके प्रवर (कुलमें सर्वश्रेष्ठ पुरुष) कहलाये । क्योंकि ये क्षत्रोपेत ब्राह्मण थे—क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों गोत्रोंसे इनका सम्बन्ध था ॥ ३ ॥

क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः ।
तस्य पुत्रशतज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः ॥ ४ ॥
तेषां पुरस्तादभवन्नार्यावर्ते नृपा नृप ।
पञ्चविंशतिः पश्चाच्च त्रयो मध्ये परेऽन्यतः ॥ ५ ॥
स एकदाष्टकाश्राद्धे इक्ष्वाकुः सुतमादिशत् ।
मांसमानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छ माचिरम् ॥ ६ ॥
तथेति सवनं गत्वा मृगान् हत्वा क्रियार्हणान् ।
श्रान्तो बुभुक्षितो वीरः शशं चाददपस्मृतिः ॥ ७ ॥
शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः ।
चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम् ॥ ८ ॥

परीक्षित् ! एक बार मनुजीके छींकनेपर उनकी नासिकासे इक्ष्वाकु नामका पुत्र उत्पन्न हुआ । इक्ष्वाकुके सौ पुत्र थे । उनमें सबसे बड़े तीन थे—विकुक्षि, निमि और दण्डक ॥ ४ ॥ परीक्षित् ! उनसे छोटे पचीस पुत्र आर्यावर्तके पूर्वभागके और पचीस पश्चिमभागके तथा उपर्युक्त तीन मध्यभागके अधिपति हुए । शेष सैंतालीस दक्षिण आदि अन्य प्रान्तोंके अधिपति हुए ॥ ५ ॥ एक बार राजा इक्ष्वाकुने अष्टका-श्राद्धके समय अपने बड़े पुत्रको आज्ञा दी—'विकुक्षे ! शीघ्र ही जाकर श्राद्धके योग्य पवित्र पशुओंका मांस लाओ' ॥ ६ ॥ वीर विकुक्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर वनकी यात्रा की । वहाँ उसने श्राद्धके योग्य बहुत-से पशुओंका शिकार किया । वह थक तो गया ही था, भूख भी लग आयी थी इसलिये यह बात भूल गया कि श्राद्धके लिये मारे हुए पशुको स्वयं न खाना चाहिये । उसने एक खरगोश खा लिया ॥ ७ ॥ विकुक्षिने बचा हुआ मांस लाकर अपने पिताको दिया । इक्ष्वाकुने अब अपने गुरुसे उसे प्रोक्षण करनेके लिये कहा, तब गुरुजीने बताया कि यह मांस तो दूषित एवं श्राद्धके अयोग्य

१. क्षेत्रप्रसू० । २. शपाहरत् ।

ज्ञात्वा पुत्रस्य तत् कर्म गुरुणाभिहितं नृपः ।
देशान्निःसारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा ॥९॥
स तु विप्रेण संवादं जापकेन समाचरन् ।
त्यक्त्वा कलेवरं योगी स तेनावाप यत् परम् ॥१०॥
पितर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम् ।
शासदीजे हरिं यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः ॥११॥
पुरञ्जयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरितः ।
ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः शृणु नामानि कर्मभिः ॥१२॥
कृतान्त आसीत् समरो देवानां सह दानवैः ।
पार्ष्णिग्राहो वृतो वीरो देवैर्दैत्यपराजितैः ॥१३॥
वचनाद् देवदेवस्य विष्णोर्विश्वात्मनः प्रभोः ।
वाहनत्वे वृतस्तस्य बभूवेन्द्रो महावृषः ॥१४॥
स संनद्धो धनुर्दिव्यमादाय विशिखाञ्छितान् ।
स्तूयमानः समारुह्य युयुत्सुः ककुदि स्थितः ॥१५॥
तेजसाऽऽप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य परात्मनः ।
प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां न्यरुणत् त्रिदशैः पुरम् ॥१६॥
तैस्तस्य चाभूत् प्रधनं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
यमाय भल्लैरनयद् दैत्यान् येऽभियर्युमृधे ॥१७॥
तस्येषुपाताभिमुखं युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ।

है ॥ ८ ॥ परीक्षित् ! गुरुजीके कहनेपर राजा इक्ष्वाकुको अपने पुत्रकी करतूतका पता चल गया । उन्होंने शास्त्रीय विधिका उल्लङ्घन करनेवाले पुत्रको क्रोधवश अपने देशसे निकाल दिया ॥ ९ ॥ तदनन्तर राजा इक्ष्वाकुने अपने गुरुदेव वशिष्ठसे ज्ञानविषयक चर्चा की । फिर योगके द्वारा शरीरका परित्याग करके उन्होंने परम पद प्राप्त किया ॥ १० ॥ पिताका देहान्त हो जानेपर विकुक्षि अपनी राजधानीमें लौट आया और इस पृथ्वीका शासन करने लगा । उसने बड़े-बड़े यज्ञोंसे भगवान्‌की आराधना की, और संसारमें शशादके नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ११ ॥ विकुक्षिके पुत्रका नाम था पुरञ्जय । उसीको कोई 'इन्द्रवाह' और कोई 'ककुत्स्थ' कहते हैं । जिन कर्मोंके कारण उसके ये नाम पड़े थे, उन्हें सुनो ॥ १२ ॥

सत्ययुगके अन्तमें देवताओंका दानवोंके साथ घोर संग्राम हुआ था । उसमें सब-के-सब देवता दैत्योंसे हार गये । तब उन्होंने वीर पुरञ्जयको सहायताके लिये अपना मित्र बनाया ॥ १३ ॥ पुरञ्जयने कहा कि 'यदि देवराज इन्द्र मेरे वाहन बनें, तो मैं युद्ध कर सकता हूँ ।' पहले तो इन्द्रने अस्वीकार कर दिया, परन्तु देवताओंके आराध्यदेव सर्वशक्तिमान् विश्वात्मा भगवान्‌की बात मानकर पीछे वे एक बड़े भारी बैल बन गये ॥ १४ ॥ सर्वान्तर्यामी भगवान् विष्णुने अपनी शक्तिसे पुरञ्जयको भर दिया । उन्होंने कवच पहनकर दिव्य धनुष और तीखे बाण ग्रहण किये । इसके बाद बैलपर चढ़कर वे उसके ककुद (डील) के पास बैठ गये । जब इस प्रकार वे युद्धके लिये तत्पर हुए, तब देवता उनकी स्तुति करने लगे । देवताओंको साथ लेकर उन्होंने पश्चिमकी ओरसे दैत्योंका नगर घेर लिया ॥ १५-१६ ॥ वीर पुरञ्जयका दैत्योंके साथ अत्यन्त रोमाञ्चकारी घोर संग्राम हुआ । युद्धमें जो-जो दैत्य उनके सामने आये, पुरञ्जयने बाणोंके द्वारा उन्हें यमराजके हवाले कर दिया ॥ १७ ॥ उनके बाणोंकी वर्षा क्या थी, प्रलयकालकी धधकती हुई आग थी । जो भी उसके सामने आता, छिन्न-भिन्न हो जाता । दैत्योंका

१. च प्रोक्तः । २. स गन्धर्वैः । ३. भूत्सुमहद् ।

विसृज्य दुद्रुवुर्दैत्या हन्यमानाः स्वमालयम् ॥१८॥

जित्वा पुरं धनं सर्वं सश्रीकं वज्रपाणये ।

प्रत्ययच्छत् स राजर्षिरिति नामभिराहृतः ॥१९॥

पुरञ्जयस्य पुत्रोऽभूदनेनास्तत्सुतः पृथुः ।
विश्वरन्धिस्ततश्चन्द्रो युवनाश्वश्च तत्सुतः ॥२०॥
शावस्तस्तत्सुतो येन शावस्ती निर्ममे[1] पुरी ।
बृहदश्वस्तु शावस्तिस्ततः कुवलयाश्वकः ॥२१॥
यः प्रियार्थमुतङ्कस्य धुन्धुनामासुरं बली ।
सुतानामेकविंशत्या सहस्रैरहनद् वृतः ॥२२॥
धुन्धुमार इति ख्यातस्तत्सुतास्ते च जज्वलुः ।
धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवावशेषिताः ॥२३॥
दृढाश्वः कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत ।
दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वो निकुम्भस्तत्सुतः स्मृतः ॥२४॥
[2]बर्हणाश्वो निकुम्भस्य कृशाश्वो[3]ऽथास्य सेनजित् ।
युवनाश्वोऽभवत् तस्य सोऽनपत्यो वनं गतः ॥२५॥
भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः ।
इष्टिं स्म वर्तयाञ्चक्रुरैन्द्रीं ते सुसमाहिताः ॥२६॥
राजा तद् यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः ।
दृष्ट्वा शयानान् विप्रांस्तान् पपौ मन्त्रजलं स्वयम् ॥२७॥
उत्थितास्ते निशाम्याथ व्युदकं कलशं प्रभो ।
पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं पुंसवनं जलम् ॥२८॥
राज्ञा पीतं विदित्वाथ ईश्वरप्रहितेन ते ।

साहस जाता रहा । वे रणभूमि छोड़कर अपने-अपने घरोंमें घुस गये ॥ १८ ॥ पुरञ्जयने उनका नगर, धन और ऐश्वर्य—सब कुछ जीतकर इन्द्रको दे दिया । इसीसे उन राजर्षिको पुर जीतनेके कारण 'पुरञ्जय', इन्द्रको वाहन बनानेके कारण 'इन्द्रवाह' और बैलके ककुदपर बैठनेके कारण 'ककुत्स्थ' कहा जाता है ॥ १९ ॥

पुरञ्जयका पुत्र था अनेना । उसका पुत्र पृथु हुआ । पृथुके विश्वरन्धि, उसके चन्द्र और चन्द्रके युवनाश्व । २० । युवनाश्वके पुत्र हुए शावस्त, जिन्होंने शावस्तीपुरी बसायी । शावस्तके बृहदश्व और उसके कुवलयाश्व हुए ॥ २१ ॥ ये बड़े बली थे । इन्होंने उतङ्क ऋषिको प्रसन्न करनेके लिये अपने इक्कीस हजार पुत्रोंको साथ लेकर धुन्धु नामक दैत्यका वध किया ॥ २२ ॥ इसीसे उनका नाम हुआ 'धुन्धुमार' । धुन्धु दैत्यके मुखकी आगसे उनके सब पुत्र जल गये । केवल तीन ही बच रहे थे ।२३। परीक्षित् ! बचे हुए पुत्रोंके नाम थे—दृढाश्व, कपिलाश्व और भद्राश्व । दृढाश्वसे हर्यश्व और उससे निकुम्भका जन्म हुआ ॥ २४ ॥ निकुम्भके बर्हणाश्व, उसके कृशाश्व, कृशाश्वके सेनजित् और सेनजित्के युवनाश्व नामक पुत्र हुआ । युवनाश्व सन्तानहीन था, इसलिये वह बहुत दुखी होकर अपनी सौ स्त्रियोंके साथ वनमें चला गया । वहाँ ऋषियोंने बड़ी कृपा करके युवनाश्वसे पुत्र-प्राप्तिके लिये बड़ी एकाग्रताके साथ इन्द्रदेवताका यज्ञ कराया ॥ २५-२६ ॥ एक दिन राजा युवनाश्वको रात्रि-के समय बड़ी प्यास लगी । वह यज्ञशालामें गया, किन्तु वहाँ देखा कि ऋषिलोग तो सो रहे हैं । तब जल मिलनेका और कोई उपाय न देख उसने वह मन्त्रसे अभिमन्त्रित जल ही पी लिया ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! जब प्रातःकाल ऋषिलोग सोकर उठे और उन्होंने देखा कि कलशमें तो जल ही नहीं है, तब उन लोगोंने पूछा कि 'यह किसका काम है ? पुत्र उत्पन्न करनेवाला जल किसने पी लिया ?' ॥ २८ ॥ अन्तमें जब उन्हें यह मालूम हुआ कि भगवान्‌की प्रेरणासे राजा युवनाश्वने ही उस जलको पी लिया है, तो उन लोगोंने भगवान्‌के

१. निर्मिता । २. बार्हश्वाशो । ३. शाश्वश्वास्य ।

ईश्वराय नमश्चक्रुरहो दैवबलं बलम् ॥२९॥

ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम् ।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान ह ॥३०॥

कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्यं रोरूयते भृशम् ।
मां धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात् ॥३१॥

न ममार पिता तस्य विप्रदेवप्रसादतः ।
युवनाश्वोऽथ तत्रैव तपसा सिद्धिमन्वगात् ॥३२॥

त्रसद्दस्युरितीन्द्रोऽङ्ग विदधे नाम तस्य वै ।
यस्मात् त्रसन्ति ह्युद्विग्ना दस्यवो रावणादयः ॥३३॥

यौवनाश्वोऽथ मान्धाता चक्रवर्त्यवनीं प्रभुः ।
सप्तद्वीपवतीमेकः शशासाच्युततेजसा ॥३४॥

ईजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविद् भूरिदक्षिणैः ।
सर्वदेवमयं देवं सर्वात्मकमतीन्द्रियम् ॥३५॥

द्रव्यं मन्त्रो विधिर्यज्ञो यजमानस्तथर्त्विजः ।
धर्मो देशश्च कालश्च सर्वमेतद् यदात्मकम् ॥३६॥

यावत् सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति ।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥३७॥

शशबिन्दोर्दुहितरि बिन्दुमत्यामधान्नृपः ।
पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दं च योगिनम् ।
तेषां स्वसारः पञ्चाशत् सौभरिं वव्रिरे पतिम् ॥३८॥

यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः परंतपः ।
निर्वृतिं मीनराजस्य वीक्ष्य मैथुनधर्मिणः ॥३९॥

चरणोंमें नमस्कार किया और कहा—'धन्य है ! भगवान्‌का बल ही वास्तवमें बल है' ॥ २९ ॥ इसके बाद प्रसवका समय आनेपर युवनाश्वकी दाहिनी कोख फाड़कर उसके एक चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३० ॥ उसे रोते देख ऋषियोंने कहा—'यह बालक दूधके लिये बहुत रो रहा है; अतः किसका दूध पियेगा ?' तब इन्द्रने कहा, 'मेरा पियेगा (मां धाता)' 'बेटा ! तू रो मत !' यह कहकर इन्द्रने अपनी तर्जनी अँगुली उसके मुँहमें डाल दी ॥ ३१ ॥ ब्राह्मण और देवताओंके प्रसादसे उस बालकके पिता युवनाश्वकी भी मृत्यु नहीं हुई । वह वहीं तपस्या करके मुक्त हो गया ॥ ३२ ॥ परीक्षित् ! इन्द्रने उस बालकका नाम रक्खा त्रसद्दस्यु, क्योंकि रावण आदि दस्यु (लुटेरे) उससे उद्विग्न एवं भयभीत रहते थे ॥ ३३ ॥ युवनाश्वके पुत्र मान्धाता (त्रसद्दस्यु) चक्रवर्ती राजा हुए । भगवान्‌के तेजसे तेजस्वी होकर उन्होंने अकेले ही सातों द्वीपवाली पृथ्वीका शासन किया ॥ ३४ ॥ वे यद्यपि आत्मज्ञानी थे, उन्हें कर्मकाण्डकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी—फिर भी उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे उन यज्ञस्वरूप प्रभुकी आराधना की जो स्वयंप्रकाश, सर्वदेवस्वरूप, सर्वात्मा एवं इन्द्रियातीत हैं ॥ ३५ ॥ भगवान्‌के अतिरिक्त और है ही क्या ? यज्ञकी सामग्री, मन्त्र, विधि-विधान, यज्ञ, यजमान, ऋत्विज, धर्म, देश और काल—यह सब-का-सब भगवान्‌का ही स्वरूप तो है ॥ ३६ ॥ परीक्षित् ! जहाँसे सूर्यका उदय होता है और जहाँ वे अस्त होते हैं, वह सारा-का-सारा भूभाग युवनाश्वके पुत्र मान्धाताके ही अधिकारमें था ॥ ३७ ॥

राजा मान्धाताकी पत्नी शशबिन्दुकी पुत्री बिन्दुमती थी । उसके गर्भसे उनके तीन पुत्र हुए—पुरुकुत्स, अम्बरीष (ये दूसरे अम्बरीष हैं) और योगी मुचुकुन्द । इनकी पचास बहनें थीं । उन पचासोंने अकेले सौभरि ऋषिको पतिके रूपमें वरण किया ॥ ३८ ॥ परम तपस्वी सौभरिजी एक बार यमुनाजलमें डुबकी लगाकर तपस्या कर रहे थे । वहाँ उन्होंने देखा कि एक मत्स्यराज अपनी पत्नियोंके साथ बहुत सुखी हो रहा है ॥ ३९ ॥

१. ह्यजायत । २. यस्य । ३. मजीजनत् ।

जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेकामयाचत ।
सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन् कामं कन्या स्वयंवरे ॥४०॥

उसके इस सुखको देखकर ब्राह्मण सौभरिके मनमें भी विवाह करनेकी इच्छा जग उठी और उन्होंने राजा मान्धाताके पास आकर उनकी पचास कन्याओंमेंसे एक कन्या माँगी। राजाने कहा—'ब्रह्मन्! कन्या स्वयंवरमें आपको चुन ले, तो आप उसे ले लीजिये' ॥ ४० ॥

स विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽयमसंमतः ।
वलीपलित एजत्क इत्यहं प्रत्युदाहृतः ॥४१॥

सौभरि ऋषि राजा मान्धाताका अभिप्राय समझ गये। उन्होंने सोचा कि 'राजाने इस लिये मुझे ऐसा सूखा जवाब दिया है कि अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, बाल पक गये हैं और सिर काँपने लगा है। अब कोई स्त्री मुझसे प्रेम नहीं कर सकती ॥ ४१ ॥

साधयिष्ये तथाऽऽत्मानं सुरस्त्रीणामपीप्सितम् ।
किं पुनर्मनुजेन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः ॥४२॥

अच्छी बात है। मैं अपनेको ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि राजकन्याएँ तो क्या, देवाङ्गनाएँ भी मेरे लिये लालायित हो जायँगी।' ऐसा सोचकर समर्थ सौभरिजीने वैसा ही किया ॥ ४२ ॥

मुनिः प्रवेशितः क्षत्त्रा कन्यान्तःपुरमृद्धिमत् ।
वृतश्च[1] राजकन्याभिरेकः पञ्चाशता वरः ॥४३॥
तासां कलिरभूद् भूयांस्तदर्थेऽपोह्य सौहृदम् ।
ममानुरूपो नायं व इति तद्गतचेतसाम् ॥४४॥
स बह्वृचस्ताभिरपारणीय-
तपःश्रियानर्घ्यपरिच्छदेषु ।
गृहेषु नानोपवनामलाम्भः-
सरस्सु सौगन्धिककाननेषु ॥४५॥
महार्हशय्यासनवस्त्रभूषण-
स्नानानुलेपाभ्यवहारमाल्यकैः ।
स्वलङ्कृतस्त्रीपुरुषेषु नित्यदा
रेमेऽनुगायद्द्विजभृङ्गवन्दिषु ॥४६॥

फिर क्या था, अन्तःपुरके रक्षकने सौभरि मुनिको कन्याओंके सजे-सजाये महलमें पहुँचा दिया। फिर तो उन पचासों राजकन्याओंने एक सौभरिको ही अपना पति चुन लिया ॥ ४३ ॥ उन कन्याओंका मन सौभरिजीमें इस प्रकार आसक्त हो गया कि वे उनके लिये आपसके प्रेमभावको तिलाञ्जलि देकर परस्पर कलह करने लगीं और एक-दूसरीसे कहने लगीं कि 'ये तुम्हारे योग्य नहीं, मेरे योग्य हैं' ॥ ४४ ॥ ऋग्वेदी सौभरिने उन सभीका पाणिग्रहण कर लिया। वे अपनी अपार तपस्याके प्रभावसे बहुमूल्य सामग्रियोंसे सुसज्जित, अनेकों उपवनों और निर्मल जलसे परिपूर्ण सरोवरोंसे युक्त एवं सौगन्धिक पुष्पोंके बगीचोंसे घिरे महलोंमें बहुमूल्य शय्या, आसन, वस्त्र, आभूषण, स्नान, अनुलेपन, सुस्वादु भोजन और पुष्पमालाओंके द्वारा अपनी पत्नियोंके साथ विहार करने लगे। सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये स्त्री-पुरुष सर्वदा उनकी सेवामें लगे रहते। कहीं पक्षी चहकते रहते, तो कहीं भौंरे गुंजार करते रहते। और कहीं-कहीं वन्दीजन उनकी विरदावलीका बखान करते रहते ॥ ४५-४६ ॥

यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्तद्वीपवतीपतिः ।

सप्तद्वीपवती पृथ्वीके स्वामी मान्धाता सौभरिजीकी इस गृहस्थीका सुख देखकर

[1] वृतः स ।

विस्मितः स्तम्भमजहात् सार्वभौमश्रियान्वितम् ।४७।

एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैः सुखैः ।

सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥४८॥

स कदाचिदुपासीन आत्मापह्नवमात्मनः ।

ददर्श बह्वृचाचार्यो मीनसङ्गसमुत्थितम् ॥४९॥

अहो इमं पश्यत मे विनाशं

तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।

अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्

प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥५०॥

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः

सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि ।

एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे

युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः ॥५१॥

एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसङ्गात्

पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्रसर्गः ।

नान्तं व्रजाम्युभयकृत्यमनोरथानां

मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः ॥५२॥

एवं वसन् गृहे कालं विरक्तो न्यासमास्थितः ।

वनं जगामानुययुस्तत्पत्न्यः पतिदेवताः ॥५३॥

तत्र तप्त्वा तपस्तीक्ष्णमात्मकर्शनमात्मवान् ।

आश्चर्यचकित हो गये । उनका यह गर्व कि, मैं सार्वभौम सम्पत्तिका स्वामी हूँ, जाता रहा ॥ ४७ ॥ इस प्रकार सौभरिजी गृहस्थीके सुखमें रम गये और अपनी नीरोग इन्द्रियोंसे अनेकों विषयोंका सेवन करते रहे । फिर भी जैसे घीकी बूँदोंसे आग तृप्त नहीं होती, वैसे ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ ॥ ४८ ॥

ऋग्वेदाचार्य सौभरिजी एक दिन स्वस्थ चित्तसे बैठे हुए थे । उस समय उन्होंने देखा कि मत्स्यराजके क्षणभरके सङ्गसे मैं किस प्रकार अपनी तपस्या तथा अपना आपा तक खो बैठा ॥ ४९ ॥ वे सोचने लगे—'अरे, मैं तो बड़ा तपस्वी था । मैंने भलीभाँति अपने व्रतोंका अनुष्ठान भी किया था । मेरा यह अधःपतन तो देखो ! मैंने दीर्घकालसे अपने ब्रह्मतेजको अक्षुण्ण रक्खा था, परन्तु जलके भीतर विहार करती हुई एक मछलीके संसर्गसे मेरा वह ब्रह्मतेज नष्ट हो गया ॥ ५० ॥ अतः जिसे मोक्षकी इच्छा है, उस पुरुषको चाहिये कि वह भोगी प्राणियोंका सङ्ग सर्वथा छोड़ दे और एक क्षणके लिये भी अपनी इन्द्रियोंको बहिर्मुख न होने दे । अकेला ही रहे और एकान्तमें अपने चित्तको सर्वशक्तिमान् भगवान्‌में ही लगा दे । यदि सङ्ग करनेकी आवश्यकता ही हो, तो भगवान्‌के अनन्य प्रेमी निष्ठावान् महात्माओंका ही सङ्ग करे ॥ ५१ ॥ मैं पहले एकान्तमें अकेला ही तपस्यामें संलग्न था । फिर जलमें मछलीका सङ्ग होनेसे विवाह करके पचास हो गया और फिर सन्तानोंके रूपमें पाँच हजार । विषयोंमें सत्यबुद्धि होनेसे मायाके गुणोंने मेरी बुद्धि हर ली । अब तो लोक और परलोकके सम्बन्धमें मेरा मन इतनी लालसाओंसे भर गया है कि मैं किसी तरह उनका पार ही नहीं पाता ॥ ५२ ॥ इस प्रकार विचार करते हुए वे कुछ दिनोंतक तो घरमें ही रहे । फिर विरक्त होकर उन्होंने संन्यास ले लिया और वे वनमें चले गये । अपने पतिको ही सर्वस्व माननेवाली उनकी पत्नियोंने भी उनके साथ ही वनकी यात्रा की ॥ ५३ ॥ वहाँ जाकर परम संयमी सौभरिजीने बड़ी घोर तपस्या की, शरीरको सुखा दिया

१. सङ्गदोषं । २. कामं । ३. तीव्र० । ४. वित् ।

सहैवाग्निभिरात्मानं युयोज परमात्मनि ॥५४॥

तथा आहवनीय आदि अग्नियोंके साथ ही अपने-आपको परमात्मामें लीन कर दिया ॥ ५४ ॥

ताः स्वपत्युर्महाराज निरीक्ष्याध्यात्मिकीं गतिम् ।
अन्वीयुस्तत्प्रभावेण अग्निं शान्तमिवार्चिषः ॥५५॥

परीक्षित् ! उनकी पत्नियोंने जब अपने पति सौभरि मुनिकी आध्यात्मिक गति देखी, तब जैसे ज्वालाएँ शान्त अग्निमें लीन हो जाती हैं—वैसे ही वे उनके प्रभावसे सती होकर उन्हींमें लीन हो गयीं, उन्हींकी गतिको प्राप्त हुईं ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे सौभर्याख्याने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

राजा त्रिशङ्कु और हरिश्चन्द्रकी कथा

श्रीशुक उवाच

मान्धातुः पुत्रप्रवरो योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः ।
पितामहेन प्रवृतो यौवनाश्वश्च तत्सुतः ।
हारीतस्तस्य पुत्रोऽभून्मान्धातृप्रवरा इमे ॥ १ ॥
नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकुत्साय योरगैः ।
तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया ॥ २ ॥
गन्धर्वानवधीत् तत्र वध्यान् वै विष्णुशक्तिधृक् ।
नागाल्लब्धवरः सर्पादभयं स्मरतामिदम् ॥ ३ ॥
त्रसद्दस्युः पौरुकुत्सो योऽनरण्यस्य देहकृत् ।
हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मादरुणोऽथ त्रिबन्धनः ॥ ४ ॥
तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः ।
प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद् गुरोः कौशिकतेजसा॥ ५ ॥
सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते ।
पातितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात्॥६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! मैं वर्णन कर चुका हूँ कि मान्धाताके पुत्रोंमें सबसे श्रेष्ठ अम्बरीष थे । उनके दादा युवनाश्वने उन्हें पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया । उनका पुत्र हुआ यौवनाश्व और यौवनाश्वका हारीत । मान्धाताके वंशमें ये तीन अवान्तर गोत्रोंके प्रवर्तक हुए ॥ १ ॥ नागोंने अपनी बहिन नर्मदाका विवाह पुरुकुत्ससे कर दिया था । नागराज वासुकिकी आज्ञासे नर्मदा अपने पतिको रसातलमें ले गयी ॥ २ ॥ वहाँ भगवान्‌की शक्तिसे सम्पन्न होकर पुरुकुत्सने वध करनेयोग्य गन्धर्वोंको मार डाला । इसपर नागराजने प्रसन्न होकर पुरुकुत्सको वर दिया कि जो इस प्रसङ्गका स्मरण करेगा, वह सर्पोंसे निर्भय हो जायगा ॥ ३ ॥ राजा पुरुकुत्सका पुत्र त्रसद्दस्यु था । उसके पुत्र हुए अनरण्य । अनरण्यके हर्यश्व, उसके अरुण और अरुणके त्रिबन्धन हुए ॥ ४ ॥ त्रिबन्धनके पुत्र सत्यव्रत हुए । यही सत्यव्रत त्रिशङ्कुके नामसे विख्यात हुए । यद्यपि त्रिशङ्कु अपने पिता और गुरुके शापसे चाण्डाल हो गये थे, परन्तु विश्वामित्रजीके प्रभावसे वे सशरीर स्वर्गमें चले गये । देवताओंने उन्हें वहाँसे ढकेल दिया और वे नीचेको सिर किये हुए गिर पड़े; परन्तु विश्वामित्रजीने अपने तपोबलसे उन्हें आकाशमें ही स्थिर कर दिया । वे अब भी आकाशमें लटके हुए दीखते हैं ॥ ५-६ ॥

---

१. युव० । २. हरीत० । ३. क्तिभृत् ।

त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
यन्निमित्तमभूद् युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम् ॥ ७ ॥
सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशतः ।
वरुणं शरणं यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो ॥ ८ ॥
यदि वीरो महाराज तेनैव त्वां यजे इति ।
तथेति वरुणेनास्य पुत्रो जातस्तु रोहितः ॥ ९ ॥
जातः सुतो ह्यनेनाङ्ग मां यजस्वेति सोऽब्रवीत् ।
यदा पशुर्निर्दशः स्यादथ मेध्यो भवेदिति ॥ १० ॥
निर्दशे च स आगत्य यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत् ।
दन्ताः पशोर्यज्जायेरन्नथ मेध्यो भवेदिति ॥ ११ ॥
जाता दन्ता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत् ।
यदा पतन्त्यस्य दन्ता अथ मेध्यो भवेदिति ॥ १२ ॥
पशोर्निपतिता दन्ता यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत् ।
यदा पशोः पुनर्दन्ता जायन्तेऽथ पशुः शुचिः ॥ १३ ॥
पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत् ।
सान्नाहिको यदा राजन् राजन्योऽथ पशुः शुचिः ॥ १४ ॥
इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितचेतसा ।
कालं वञ्चयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत ॥ १५ ॥
रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म चिकीर्षितम् ।
प्राणप्रेप्सुर्धनुष्पाणिररण्यं प्रत्यपद्यत ॥ १६ ॥

त्रिशङ्कुके पुत्र थे हरिश्चन्द्र । उनके लिये विश्वामित्र और वशिष्ठ एक दूसरेको शाप देकर पक्षी हो गये और बहुत वर्षोंतक लड़ते रहे ॥ ७ ॥ हरिश्चन्द्रके कोई सन्तान न थी । इससे वे बहुत उदास रहा करते थे । नारदके उपदेशसे वे वरुण देवताकी शरणमें गये और उनसे प्रार्थना की कि प्रभो ! मुझे पुत्र प्राप्त हो ॥ ८ ॥ महाराज ! यदि मेरे वीर पुत्र होगा तो मैं उसीसे आपका यजन करूँगा ।' वरुणने कहा—'ठीक है ।' तब वरुणकी कृपासे हरिश्चन्द्रके रोहित नामका पुत्र हुआ ॥ ९ ॥ पुत्र होते ही वरुणने आकर कहा—'हरिश्चन्द्र ! तुम्हें पुत्र प्राप्त हो गया । अब इसके द्वारा मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब आपका यह यज्ञपशु (रोहित) दस दिनसे अधिकका हो जायगा, तब यज्ञके योग्य होगा' ॥ १० ॥ दस दिन बीतनेपर वरुणने आकर फिर कहा—'अब मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब आपके यज्ञपशुके मुँहमें दाँत निकल आयँगे, तब वह यज्ञके योग्य होगा ॥ ११ ॥ दाँत उग आनेपर वरुणने कहा—'अब इसके दाँत निकल आये, मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसके दूधके दाँत गिर जायँगे, तब यह यज्ञके योग्य होगा ॥ १२ ॥ दूधके दाँत गिर जानेपर वरुणने कहा—'अब इस यज्ञपशुके दाँत गिर गये, मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसके दुबारा दाँत आ जायँगे, तब यह पशु यज्ञके योग्य हो जायगा' ॥ १३ ॥ दाँतोंके फिर उग आनेपर वरुणने कहा—'अब मेरा यज्ञ करो ।' हरिश्चन्द्रने कहा—'वरुणजी महाराज ! क्षत्रिय पशु तब यज्ञके योग्य होता है, जब वह कवच धारण करने लगे' ॥ १४ ॥ परीक्षित् ! इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र पुत्रके प्रेमसे हीला-हवाला करके समय टालते रहे । इसका कारण यह था कि पुत्र-स्नेहकी फाँसीने उनके हृदयको जकड़ लिया था । वे जो-जो समय बताते, वरुण देवता उसीकी बाट देखते ॥ १५ ॥ जब रोहितको इस बातका पता चला कि पिताजी तो मेरा बलिदान करना चाहते हैं, तब वह अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये हाथमें धनुष लेकर

पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा जातमहोदरम् ।
रोहितो ग्राममेयाय तमिन्द्रः प्रत्यषेधत ॥१७॥
भूमेः पर्यटनं पुण्यं तीर्थक्षेत्रनिषेवणैः ।
रोहितायादिशच्छक्रः[1] सोऽप्यरण्येऽवसत्[2] समाम् ॥१८॥
एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे तथा ।
अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरो विप्रो भूत्वाऽऽह वृत्रहा ॥१९॥
षष्ठं संवत्सरं तत्र चरित्वा रोहितः पुरीम् ।
उपव्रजन्नजीगर्तादक्रीणान्मध्यमं सुतम् ॥२०॥
शुनःशेपं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत ।
ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः ॥२१॥
मुक्तोदरोऽयजद्देवान् वरुणादीन् महत्कथः ।
विश्वामित्रोऽभवत् तस्मिन् होता चाध्वर्युरात्मवान् ॥२२॥
जमदग्निरभूद् ब्रह्मा वसिष्ठोऽयास्य सामगः ।
तस्मै तुष्टो ददाविन्द्रः शातकौम्भमयं रथम् ॥२३॥
शुनःशेपस्य माहात्म्यमुपरिष्टात् प्रचक्ष्यते ।
सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ॥२४॥
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम् ।
मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसापोऽनिलेन तत् ॥२५॥
खे वायुं धारयंस्तच्च भूतादौ तं महात्मनि ।
तस्मिञ्ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाज्ञानं विनिर्दहन् ॥२६॥
हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा ।

वनमें चला गया ॥ १६ ॥ कुछ दिनके बाद उसे मालूम हुआ कि वरुणदेवताने रुष्ट होकर मेरे पिताजीपर आक्रमण किया है—जिसके कारण वे महोदर रोगसे पीड़ित हो रहे हैं, तब रोहित अपने नगरकी ओर चल पड़ा । परन्तु इन्द्रने आकर उसे रोक दिया ॥ १७ ॥ उन्होंने कहा—'बेटा रोहित ! यज्ञपशु बनकर मरनेकी अपेक्षा तो पवित्र तीर्थ और क्षेत्रोंका सेवन करते हुए पृथ्वीमें विचरना ही अच्छा है ।' इन्द्रकी बात मानकर वह एक वर्षतक और वनमें ही रहा ॥ १८ ॥ इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें वर्ष भी रोहितने अपने पिताके पास जानेका विचार किया; परन्तु बूढ़े ब्राह्मणका वेष धारणकर हर बार इन्द्र आते और उसे रोक देते ॥ १९ ॥ इस प्रकार छः वर्षतक रोहित वनमें ही रहा । सातवें वर्ष जब वह अपने नगरको लौटने लगा, तब उसने अजीगर्तसे उनके मझले पुत्र शुनः-शेपको मोल ले लिया और उसे यज्ञपशु बनानेके लिये अपने पिताको सौंपकर उनके चरणोंमें नमस्कार किया । तब परम यशस्वी एवं श्रेष्ठ चरित्रवाले राजा हरिश्चन्द्रने महोदर रोगसे छूटकर पुरुषमेध यज्ञद्वारा वरुण आदि देवताओंका यजन किया । उस यज्ञमें विश्वामित्रजी होता हुए । परम संयमी जमदग्निने अध्वर्युका काम किया । वसिष्ठजी ब्रह्मा बने और अयास्य मुनि सामगान करनेवाले उद्गाता बने । उस समय इन्द्रने प्रसन्न होकर हरिश्चन्द्रको एक सोनेका रथ दिया था ॥ २०—२३ ॥

परीक्षित् ! आगे चलकर मैं शुनःशेपका माहात्म्य वर्णन करूँगा । हरिश्चन्द्रको अपनी पत्नीके साथ सत्यमें दृढ़तापूर्वक स्थित देखकर विश्वामित्रजी बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उन्हें उस ज्ञानका उपदेश किया, जिसका कभी नाश नहीं होता । उसके अनुसार राजा हरिश्चन्द्रने अपने मनको पृथ्वीमें, पृथ्वीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें और वायुको आकाशमें स्थिर करके, आकाशको अहङ्कारमें लीन कर दिया । फिर अहङ्कारको महत्तत्त्वमें लीन करके उसमें ज्ञान-कलाका ध्यान किया और उससे अज्ञानको भस्म कर दिया ॥ २४—२६ ॥ इसके बाद निर्वाण-सुखकी अनुभूतिसे उस ज्ञान-कलाका भी परित्याग कर दिया और समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर

१. रोहितं त्वदिश० । २. ऽचरत् ।

अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धनः ॥२७॥

वे अपने उस स्वरूपमें स्थित हो गये, जो न तो किसी प्रकार बतलाया जा सकता है और न उसके सम्बन्धमें किसी प्रकारका अनुमान ही किया जा सकता है ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे हरिश्चन्द्रोपाख्यानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

सगर-चरित्र

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्तस्माद् विनिर्मिता ।
चम्पापुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥ १ ॥
भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तस्यापि बाहुकः ।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥ २ ॥
वृद्धं तं पञ्चतां प्राप्तं महिष्यनु मरिष्यती ।
और्वेण जानताऽऽत्मानं प्रजावन्तं निवारिता ॥ ३ ॥
आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह ।
सह तेनैव संजातः सगराख्यो महायशाः ॥ ४ ॥
सगरश्चक्रवर्त्यासीत् सागरो यत्सुतैः कृतः ।
यस्तालजङ्घान् यवनाञ्छकान् हैहयबर्बरान् ॥ ५ ॥
नावधीद् गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिणः ।
मुण्डाञ्छ्मश्रुधरान् कांश्चिन्मुक्तकेशार्धमुण्डितान् ।६।
अनन्तर्वाससः कांश्चिदबहिर्वाससोऽपरान् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—रोहितका पुत्र था हरित। हरितसे चम्प हुआ। उसीने चम्पापुरी बसायी थी। चम्पसे सुदेव और उसका पुत्र विजय हुआ ॥ १ ॥ विजयका भरुक, भरुकका वृक और वृकका पुत्र हुआ बाहुक। शत्रुओंने बाहुकसे राज्य छीन लिया, तब वह अपनी पत्नीके साथ वनमें चला गया ॥ २ ॥ वनमें जानेपर बुढ़ापेके कारण जब बाहुककी मृत्यु हो गयी, तब उसकी पत्नी भी उसके साथ सती होनेको उद्यत हुई। परन्तु महर्षि और्वको यह मालूम था कि इसे गर्भ है। इसलिये उन्होंने उसे सती होनेसे रोक दिया ॥ ३ ॥ जब उसकी सौतोंको यह बात मालूम हुई, तो उन्होंने उसे भोजनके साथ गर (विष) दे दिया। परन्तु गर्भपर उस विषका कोई प्रभाव नहीं पड़ा; बल्कि उस विषको लिये हुए ही एक बालकका जन्म हुआ, जो गरके साथ पैदा होनेके कारण 'सगर' कहलाया। सगर बड़े यशस्वी राजा हुए ॥ ४ ॥

सगर चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्हींके पुत्रोंने पृथ्वी खोद्कर समुद्र बना दिया था। सगरने अपने गुरुदेव और्वकी आज्ञा मानकर तालजङ्घ, यवन, शक, हैहय और बर्बर जातिके लोगोंका वध नहीं किया, बल्कि उन्हें विरूप बना दिया। उनमेंसे कुछके सिर मुँड़वा दिये, कुछके मूँछ-दाढ़ी रखवा दी, कुछको खुले बालोंवाला बना दिया तो कुछको आधा मुँड़वा दिया ॥५-६॥ कुछ लोगोंको सगरने केवल वस्त्र ओढ़नेकी ही आज्ञा दी, पहननेकी नहीं। और

१. बादरायणिरुवाच। २. मनस्तेन। ३. करुक०। ४. महतस्तेन।

सोऽश्वमेधैरयजत सर्ववेदसुरात्मकम् ॥ ७ ॥
और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् ।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥ ८ ॥
सुमत्यास्तनया दृप्ताः पितुरादेशकारिणः ।
हयमन्वेषमाणास्ते समन्तान्न्यखनन् महीम् ॥ ९ ॥
प्रागुदीच्यां दिशि हयं ददृशुः कपिलान्तिके ।
एष वाजिहरश्चौर आस्ते मीलितलोचनः ॥१०॥
हन्यतां हन्यतां पाप इति षष्टिसहस्रिणः ।
उदायुधा अभिययुरुन्मिमेष तदा मुनिः ॥११॥
स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहृतचेतसः ।
महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन् क्षणात् ॥१२॥
न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि ।
कथं तमो रोषमयं विभाव्यते
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥१३॥
यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौ-
र्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम् ।
भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चितः
परात्मभूतस्य कथं पृथङ्मतिः ॥१४॥

कुछको केवल लँगोटी पहननेको ही कहा, ओढ़नेको नहीं। इसके बाद राजा सगरने और्व ऋषिके उपदेशानुसार अश्वमेध यज्ञके द्वारा सम्पूर्ण वेद एवं देवतामय, आत्मस्वरूप, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आराधना की। उसके यज्ञमें जो घोड़ा छोड़ा गया था, उसे इन्द्रने चुरा लिया ॥ ७-८ ॥ उस समय महारानी सुमतिके गर्भसे उत्पन्न सगरके पुत्रोंने अपने पिताके आज्ञानुसार घोड़ेके लिये सारी पृथ्वी छान डाली। जब उन्हें कहीं घोड़ा न मिला, तब उन्होंने बड़े घमंडसे सब ओरसे पृथ्वीको खोद डाला ॥ ९ ॥ खोदते-खोदते उन्हें पूर्व और उत्तरके कोनेपर कपिल मुनिके पास अपना घोड़ा दिखायी दिया। घोड़ेको देखकर वे साठ हजार राजकुमार शस्त्र उठाकर यह कहते हुए उनकी ओर दौड़ पड़े कि 'यही हमारे घोड़ेको चुरानेवाला चोर है। देखो तो सही, इसने इस समय कैसे आँखें मूँद रक्खी हैं! यह पापी है। इसको मार डालो, मार डालो!' उसी समय कपिल मुनिने अपनी पलकें खोलीं ॥ १०-११ ॥ इन्द्रने राजकुमारोंकी बुद्धि हर ली थी, इसीसे उन्होंने कपिलमुनि-जैसे महापुरुषका तिरस्कार किया। इस तिरस्कारके फलस्वरूप उनके शरीरमें ही आग जल उठी, जिससे क्षणभरमें ही वे सब-के-सब जलकर खाक हो गये ॥ १२ ॥ परीक्षित्! सगरके लड़के कपिलमुनिके क्रोधसे जल गये, ऐसा कहना उचित नहीं है। वे तो शुद्धसत्त्वगुणके परम आश्रय हैं। उनका शरीर तो जगत्‌को पवित्र करता रहता है। उनमें भला, क्रोधरूप तमोगुणकी सम्भावना कैसे की जा सकती है। भला, कहीं पृथ्वीकी धूलका भी आकाशसे सम्बन्ध होता है?॥ १३ ॥ यह संसार-सागर एक मृत्युमय पथ है। इसके पार जाना अत्यन्त कठिन है। परन्तु कपिलमुनिने इस जगत्‌में सांख्यशास्त्रकी एक ऐसी दृढ़ नाव बना दी है, जिससे मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला कोई भी व्यक्ति उस समुद्रके पार जा सकता है। वे केवल परम ज्ञानी ही नहीं, स्वयं परमात्मा हैं। उनमें भला, यह शत्रु है और यह मित्र—इस प्रकारकी भेद-बुद्धि कैसे हो सकती है? ॥ १४ ॥

योऽसमञ्जस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः ।
तस्य पुत्रोंऽशुमान् नाम पितामहहिते रतः ॥१५॥
असमञ्जस आत्मानं दर्शयन्नसमञ्जसम् ।
जातिस्मरः पुरा सङ्गाद् योगी योगाद् विचालितः॥१६॥
आचरन् गर्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम् ।
सरय्वां क्रीडतो बालान् प्रास्यदुद्वेजयञ्जनम् ॥१७॥
एवंवृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै ।
योगैश्वर्येण बालांस्तान् दर्शयित्वा ततो ययौ ॥१८॥
अयोध्यावासिनः सर्वे बालकान् पुनरागतान् ।
दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन् राजा चाप्यन्वतप्यत ॥१९॥
अंशुमांश्चोदितो राज्ञा तुरङ्गान्वेषणे ययौ ।
पितृव्यखातानुपथं भस्मान्ति ददृशे हयम् ॥२०॥
तत्रासीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलाख्यमधोक्षजम् ।
अस्तौत् समाहितमनाः प्राञ्जलिःप्रणतो महान्॥२१॥

अंशुमानुवाच

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो
न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः ।
कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधी-
विसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः ॥२२॥

सगरकी दूसरी पत्नीका नाम था केशिनी । उसके गर्भसे उन्हें असमञ्जस नामका पुत्र हुआ था । असमञ्जसके पुत्रका नाम था अंशुमान् । वह अपने दादा सगरकी आज्ञाओंके पालन तथा उन्हींकी सेवामें लगा रहता ॥१५॥ असमञ्जस पहले जन्ममें योगी थे । सङ्गके कारण वे योगसे विचलित हो गये थे, परन्तु अब भी उन्हें अपने पूर्वजन्मका स्मरण बना हुआ था । इसलिये वे ऐसे काम किया करते थे, जिनसे भाई-बन्धु उन्हें प्रिय न समझें । वे कभी-कभी तो अत्यन्त निन्दित कर्म कर बैठते और अपनेको पागल-सा दिखलाते—यहाँतक कि खेलते हुए बच्चोंको सरयूमें डाल देते । इस प्रकार उन्होंने लोगोंको उद्विग्न कर दिया था ॥ १६-१७ ॥ अन्तमें उनकी ऐसी करतूत देखकर पिताने पुत्रस्नेहको तिलाञ्जलि दे दी और उन्हें त्याग दिया । तदनन्तर असमञ्जसने अपने योगबलसे उन सब बालकोंको जीवित कर दिया और अपने पिताको दिखाकर वे वनमें चले गये ॥ १८ ॥ अयोध्याके नागरिकोंने जब देखा कि हमारे बालक तो फिर लौट आये, तब उन्हें असीम आश्चर्य हुआ और राजा सगरको भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥ १९ ॥ इसके बाद राजा सगरकी आज्ञासे अंशुमान् घोड़ेको ढूँढ़नेके लिये निकले । उन्होंने अपने चाचाओंके द्वारा खोदे हुए समुद्रके किनारे-किनारे चलकर उनके शरीरके भस्मके पास ही घोड़ेको देखा ॥ २० ॥ वहीं भगवान्‌के अवतार कपिल मुनि बैठे हुए थे । उनको देखकर उदारहृदय अंशुमान्‌ने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर एकाग्र मनसे उनकी स्तुति की ॥ २१ ॥

अंशुमान्‌ने कहा—भगवन् ! आप अजन्मा ब्रह्माजीसे भी परे हैं । इसीलिये वे आपको प्रत्यक्ष नहीं देख पाते । देखनेकी बात तो अलग रही—वे समाधि करते-करते एवं युक्ति लड़ाते-लड़ाते हार गये, किन्तु आजतक आपको समझ भी नहीं पाये । हमलोग तो उनके मन, शरीर और बुद्धिसे होनेवाली सृष्टिके द्वारा बने हुए अज्ञानी जीव हैं । तब भला, हम आपको कैसे समझ

१. चाथान्व० । २. सृष्टावयवप्रकाशकाः ।

ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना
गुणान् विपश्यन्त्युत वा तमश्च ।
यन्मायया मोहितचेतसस्ते
विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः ॥२३॥
तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव-
प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः[2] ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं
कथं हि मूढः परिभावयामि ॥२४॥
प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्ग-
मनामरूपं सदसद्विमुक्तम्[3] ।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं[4]
नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥२५॥
त्वन्मायारचिते[5] लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु ।
भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः ॥२६॥
अद्य नः सर्वभूतात्मन् कामकर्मेन्द्रियाशयः ।
मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात् ॥२७॥

सकते हैं ॥२२॥ संसारके शरीरधारी सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुणप्रधान हैं। वे जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें केवल गुणमय पदार्थों, विषयोंको और सुषुप्ति-अवस्थामें केवल अज्ञान-ही-अज्ञान देखते हैं। इसका कारण यह है कि वे आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं। वे बहिर्मुख होनेके कारण बाहरकी वस्तुओंको तो देखते हैं, पर अपने ही हृदयमें स्थित आपको नहीं देख पाते ॥ २३ ॥ आप एकरस, ज्ञानघन हैं। सनन्दन आदि मुनि, जो आत्म-स्वरूपके अनुभवसे मायाके गुणोंके द्वारा होनेवाले भेदभावको और उसके कारण अज्ञानको नष्ट कर चुके हैं, आपका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं। मायाके गुणोंमें ही भूला हुआ मैं मूढ़ किस प्रकार आपका चिन्तन करूँ? ॥ २४ ॥ माया, उसके गुण और गुणोंके कारण होनेवाले कर्म एवं कर्मोंके संस्कारसे बना हुआ लिङ्गशरीर आपमें है ही नहीं। न तो आपका नाम है और न तो रूप। आपमें न कार्य है और न तो कारण। आप सनातन आत्मा हैं। ज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही आपने यह शरीर धारण कर रक्खा है। हम आपको नमस्कार करते हैं ॥२५॥ प्रभो! यह संसार आपकी मायाकी करामात है। इसको सत्य समझकर काम, लोभ, ईर्ष्या और मोहसे लोगोंका चित्त शरीर तथा घर आदिमें भटकने लगता है। लोग इसीके चक्करमें फँस जाते हैं ॥ २६ ॥ समस्त प्राणियोंके आत्मा प्रभो! आज आपके दर्शनसे मेरे मोहकी वह दृढ़ फाँसी कट गयी जो कामना, कर्म और इन्द्रियोंको जीवन-दान देती है ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्थंगीतानुभावस्तं भगवान् कपिलो मुनिः ।
अंशुमन्तमुवाचेदमनुगृह्य धिया नृप ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब अंशुमान्‌ने भगवान् कपिलमुनिके प्रभावका इस प्रकार गान किया, तब उन्होंने मन-ही-मन अंशुमान्‌पर बड़ा अनुग्रह किया और कहा— ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अश्वोऽयं नीयतां वत्स पितामहपशुस्तव ।
इमे च पितरो दग्धा गङ्गाम्भोऽर्हन्ति नेतरत् ॥२९॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—'बेटा! यह घोड़ा तुम्हारे पितामहका यज्ञपशु है। इसे तुम ले जाओ। तुम्हारे जले हुए चाचाओंका उद्धार केवल गङ्गाजलसे होगा,

१. प्रपश्य० । २. मयमोहभेदैः । ३. द्वियुक्तम् । ४. तल्लिङ्गं । ५. यत्त्वया रचि० ।

तं परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत् ।
सगरस्तेन पशुना क्रतुशेषं समापयत् ॥३०॥
राज्यमंशुमति न्यस्य निःस्पृहो मुक्तबन्धनः ।
और्वोपदिष्टमार्गेण लेभे गतिमनुत्तमाम् ॥३१॥

और कोई उपाय नहीं है' ॥ २९ ॥ अंशुमान्‌ने बड़ी नम्रतासे उन्हें प्रसन्न करके उनकी परिक्रमा की और वे घोड़ेको ले आये । सगरने उस यज्ञपशुके द्वारा यज्ञकी शेष क्रिया समाप्त की ॥ ३० ॥ तब राजा सगरने अंशुमान्‌को राज्यका भार सौंप दिया और वे स्वयं विषयोंसे निःस्पृह एवं बन्धनमुक्त हो गये । उन्होंने महर्षि और्वके बतलाये हुए मार्गसे परमपदकी प्राप्ति की ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे
सगरोपाख्यानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

भगीरथ-चरित्र और गङ्गावतरण

श्रीशुक उवाच

अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया ।
कालं महान्तं नाशक्नोत् ततः कालेन संस्थितः ॥ १ ॥
दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान् ।
भगीरथस्तस्य पुत्रस्तेपे स सुमहत् तपः ॥ २ ॥
दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते ।
इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः ॥ ३ ॥
कोऽपि धारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले ।
अन्यथा भूतलं भित्त्वा नृप यास्ये रसातलम् ॥ ४ ॥
किं चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम् ।
मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यताम् ॥ ५ ॥

भगीरथ उवाच

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अंशुमान्‌ने गङ्गाजीको लानेकी कामनासे बहुत वर्षोंतक घोर तपस्या की । परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली, समय आनेपर उनकी मृत्यु हो गयी ॥ १ ॥ अंशुमान्‌के पुत्र दिलीपने भी वैसी ही तपस्या की । परन्तु वे भी असफल ही रहे, समयपर उनकी भी मृत्यु हो गयी । दिलीपके पुत्र थे भगीरथ । उन्होंने बहुत बड़ी तपस्या की ॥२॥ उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवती गङ्गाने उन्हें दर्शन दिया और कहा कि—'मैं तुम्हें वर देनेके लिये आयी हूँ ।' उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने बड़ी नम्रतासे अपना अभिप्राय प्रकट किया कि 'आप मर्त्यलोकमें चलिये' ॥ ३ ॥

[गङ्गाजीने कहा—] 'जिस समय मैं स्वर्गसे पृथ्वी-तलपर गिरूँ, उस समय मेरे वेगको कोई धारण करने-वाला होना चाहिये । भगीरथ ! ऐसा न होनेपर मैं पृथ्वीको फोड़कर रसातलमें चली जाऊँगी ॥ ४ ॥ इसके अतिरिक्त इस कारणसे भी मैं पृथ्वीपर नहीं जाऊँगी कि लोग मुझमें अपने पाप धोयेंगे । फिर मैं उस पापको कहाँ धोऊँगी ? भगीरथ ! इस विषयमें तुम स्वयं विचार कर लो' ॥ ५ ॥

भगीरथने कहा—'माता ! जिन्होंने लोक परलोक, धन-सम्पत्ति और स्त्री-पुत्रकी कामनाका संन्यास कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने आपमें शान्त

हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥ ६ ॥
धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम् ।
यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु ॥ ७ ॥
इत्युक्त्वा स नृपो देवं तपसातोषयच्छिवम् ।
कालेनाल्पीयसा राजंस्तस्येशः समतुष्यत ॥ ८ ॥
तथेति राज्ञाभिहितं सर्वलोकहितः शिवः ।
दधारावहितो गङ्गां पादपूतजलां हरेः ॥ ९ ॥
भगीरथः स राजर्षिर्निन्ये भुवनपावनीम् ।
यत्र स्वपितॄणां देहा भस्मीभूताः स्म शेरते ॥१०॥
रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती ।
देशान् पुनन्ती निर्दग्धानासिञ्चत्सगरात्मजान्॥११॥
यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि ।
सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः ॥१२॥
भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्याताः सगरात्मजाः ।
किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः ॥१३॥
न ह्येतत् परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम् ।
अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः ॥१४॥
संनिवेश्य मनो यस्मिञ्छ्रद्धया मुनयोऽमलाः ।

हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले परोपकारी सज्जन हैं—वे अपने अङ्गस्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट कर देंगे। क्योंकि उनके हृदयमें अघरूप अघासुरको मारनेवाले भगवान् सर्वदा निवास करते हैं ॥ ६ ॥ समस्त प्राणियोंके आत्मा रुद्रदेव तुम्हारा वेग धारण कर लेंगे। क्योंकि जैसे साड़ी सूतोंमें ओतप्रोत है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान् रुद्रमें ही ओतप्रोत है' ॥ ७ ॥ परीक्षित्! गङ्गाजीसे इस प्रकार कहकर राजा भगीरथने तपस्याके द्वारा भगवान् शङ्करको प्रसन्न किया। थोड़े ही दिनोंमें महादेवजी उनपर प्रसन्न हो गये ॥ ८ ॥ भगवान् शङ्कर तो सम्पूर्ण विश्वके हितैषी हैं, राजाकी बात उन्होंने 'तथास्तु' कहकर स्वीकार कर ली। फिर शिवजीने सावधान होकर गङ्गाजीको अपने सिरपर धारण किया। क्यों न हो, भगवान्‌के चरणोंका सम्पर्क होनेके कारण गङ्गाजीका जल परम पवित्र जो है ॥९॥ इसके बाद राजर्षि भगीरथ त्रिभुवनपावनी गङ्गाजीको वहाँ ले गये, जहाँ उनके पितरोंके शरीर राखके ढेर बने पड़े थे ॥१०॥ वे वायुके समान वेगसे चलनेवाले रथपर सवार होकर आगे-आगे चल रहे थे और उनके पीछे-पीछे मार्गमें पड़नेवाले देशोंको पवित्र करती हुई गङ्गाजी दौड़ रही थीं। इस प्रकार गङ्गासागर-सङ्गमपर पहुँचकर उन्होंने सगरके जले हुए पुत्रोंको अपने जलमें डुबा दिया ॥ ११ ॥ यद्यपि सगरके पुत्र ब्राह्मणके तिरस्कारके कारण भस्म हो गये थे, इसलिये उनके उद्धारका कोई उपाय न था—फिर भी केवल शरीरकी राखके साथ गङ्गाजलका स्पर्श हो जानेसे ही वे स्वर्गमें चले गये ॥ १२ ॥ परीक्षित्! जब गङ्गाजलसे शरीरकी राखका स्पर्श हो जानेसे सगरके पुत्रोंको स्वर्गकी प्राप्ति हो गयी, तब जो लोग श्रद्धाके साथ नियम लेकर श्रीगङ्गाजीका सेवन करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥ १३ ॥ मैंने गङ्गाजीकी महिमाके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। क्योंकि गङ्गाजी भगवान्‌के उन चरणकमलोंसे निकली हैं, जिनका श्रद्धाके साथ चिन्तन करके बड़े-बड़े मुनि निर्मल हो जाते हैं और तीनों गुणोंके कठिन

१. दाश्वानुतु० । २. रथोऽथ रा० । ३. ते जल० ।

त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम् ॥१५॥

श्रुतो भगीरथाज्जज्ञे तस्य नाभोऽपरोऽभवत् ।
सिन्धुद्वीपस्ततस्तस्मादयुतायुस्ततोऽभवत् ॥१६॥

ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात् ।
दत्त्वाक्षहृदयं चास्मै[1] सर्वकामस्तु तत्सुतः ॥१७॥

ततः सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृप ।
आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित् ।
वसिष्ठशापाद् रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा ॥१८॥

राजोवाच

किं निमित्तो गुरोः शापः सौदासस्य महात्मनः ।
एतद् वेदितुमिच्छामः कथ्यतां न रहो यदि ॥१९॥

श्रीशुक उवाच

सौदासो मृगयां किञ्चिच्चरन् रक्षो जघान ह ।
मुमोच भ्रातरं सोऽथ गतः प्रतिचिकीर्षया ॥२०॥

स चिन्तयन्नघं राज्ञः सूदरूपधरो गृहे ।
गुरवे भोक्तुकामाय पक्त्वा निन्ये नरामिषम् ॥२१॥

परिवेक्ष्यमाणं भगवान् विलोक्याभक्ष्यमञ्जसा ।
राजानमशपत् क्रुद्धो रक्षो ह्येवं भविष्यसि ॥२२॥

रक्षःकृतं तद् विदित्वा चक्रे द्वादशवार्षिकम् ।

बन्धनको काटकर तुरंत भगवत्स्वरूप बन जाते हैं। फिर गङ्गाजी संसारका बन्धन काट दें, इसमें कौन बड़ी बात है ॥ १४-१५ ॥

भगीरथका पुत्र था श्रुत, श्रुतका नाभ। यह नाभ पूर्वोक्त नाभसे भिन्न है। नाभका पुत्र था सिन्धुद्वीप और सिन्धुद्वीपका अयुतायु। अयुतायुके पुत्रका नाम था ऋतुपर्ण। वह नलका मित्र था। उसने नलको पासा फेंकनेकी विद्याका रहस्य बतलाया था और बदलेमें उससे अश्वविद्या सीखी थी। ऋतुपर्णका पुत्र सर्वकाम हुआ ॥ १६-१७ ॥ परीक्षित्! सर्वकामके पुत्रका नाम था सुदास। सुदासके पुत्रका नाम था सौदास और सौदासकी पत्नीका नाम था मदयन्ती। सौदासको ही कोई-कोई मित्रसह कहते हैं और कहीं-कहीं उसे कल्माषपाद भी कहा गया है। वह वसिष्ठके शापसे राक्षस हो गया था और फिर अपने कर्मोंके कारण सन्तानहीन हुआ ॥ १८ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! हम यह जानना चाहते हैं कि महात्मा सौदासको गुरु वसिष्ठजीने शाप क्यों दिया। यदि कोई गोपनीय बात न हो तो कृपया बतलाइये ॥ १९ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! एक बार राजा सौदास शिकार खेलने गये हुए थे। वहाँ उन्होंने किसी राक्षसको मार डाला और उसके भाईको छोड़ दिया। उसने राजाके इस कामको अन्याय समझा और उनसे भाईकी मृत्युका बदला लेनेके लिये वह रसोइयेका रूप धारण करके उनके घर गया। जब एक दिन भोजन करनेके लिये गुरु वसिष्ठजी राजाके यहाँ आये, तब उसने मनुष्यका मांस राँधकर उन्हें परस दिया ॥ २०-२१ ॥ जब सर्वसमर्थ वसिष्ठजीने देखा कि परोसी जानेवाली वस्तु तो नितान्त अभक्ष्य है, तब उन्होंने क्रोधित होकर राजाको शाप दिया कि 'जा, इस कामसे तू राक्षस हो जायगा' ॥ २२ ॥ जब उन्हें यह बात मालूम हुई कि यह काम तो राक्षसका है—राजाका नहीं, तब उन्होंने उस शापको केवल

[1] तस्मै।

सोऽप्यपोऽञ्जलिनाऽऽदाय गुरुं शप्तुं समुद्यतः ॥२३॥
वारितो मदयन्त्यापो रुशतीः पादयोर्जहौ ।
दिशः खमवनीं सर्वं पश्यञ्जीवमयं नृपः ॥२४॥
राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्माषतां गतः ।
व्यवायकाले ददृशे वनौकोदम्पती द्विजौ ॥२५॥
क्षुधार्तो जगृहे विप्रं तत्पत्न्याहाकृतार्थवत् ।
न भवान् राक्षसः साक्षादिक्ष्वाकूणां महारथः ॥२६॥
मदयन्त्याः पतिर्वीर नाधर्मं कर्तुमर्हसि ।
देहि मेऽपत्यकामाया अकृतार्थं पतिं द्विजम् ॥२७॥
देहोऽयं मानुषो राजन् पुरुषस्याखिलार्थदः ।
तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थवध उच्यते ॥२८॥
एष हि ब्राह्मणो विद्वांस्तपःशीलगुणान्वितः ।
आरिराधयिषुर्ब्रह्म महापुरुषसंज्ञितम् ।
सर्वभूतात्मभावेन भूतेष्वन्तर्हितं गुणैः ॥२९॥
सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते राजर्षिप्रवराद् विभो ।
कथमर्हति धर्मज्ञ वधं पितुरिवात्मजः ॥३०॥
तस्य साधोरपापस्य भ्रूणस्य ब्रह्मवादिनः ।
कथं वधं यथा बभ्रोर्मन्यते सन्मतो भवान् ॥३१॥

बारह वर्षके लिये कर दिया । उस समय राजा सौदास भी अपनी अञ्जलिमें जल लेकर गुरु वसिष्ठको शाप देनेके लिये उद्यत हुए ॥ २३ ॥ परन्तु उनकी पत्नी मदयन्तीने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया । इसपर सौदासने विचार किया कि 'दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी—सब-के-सब तो जीवमय ही हैं । तब यह तीक्ष्ण जल कहाँ छोड़ूँ ?' अन्तमें उन्होंने उस जलको अपने पैरोंपर डाल लिया । [इसीसे उनका नाम 'मित्रसह' हुआ] ॥ २४ ॥ उस जलसे उनके पैर काले पड़ गये थे, इसलिये उनका नाम 'कल्माषपाद' भी हुआ । अब वे राक्षस हो चुके थे । एक दिन राक्षस बने हुए राजा कल्माषपादने एक वनवासी ब्राह्मण-दम्पतिको सहवासके समय देख लिया ॥ २५ ॥ कल्माषपादको भूख तो लगी ही थी, उसने ब्राह्मणको पकड़ लिया । ब्राह्मण-पत्नीकी कामना अभी पूर्ण नहीं हुई थी । उसने कहा—'राजन् ! आप राक्षस नहीं हैं । आप महारानी मदयन्ती-के पति और इक्ष्वाकुवंशके वीर महारथी हैं । आपको ऐसा अधर्म नहीं करना चाहिये । मुझे सन्तानकी कामना है और इस ब्राह्मणकी भी कामनाएँ अभी पूर्ण नहीं हुई हैं । इसलिये आप मुझे मेरा यह ब्राह्मण पति दे दीजिये ॥२६-२७॥ राजन् ! यह मनुष्यशरीर जीवको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करानेवाला है । इसलिये वीर ! इस शरीरको नष्ट कर देना सभी पुरुषार्थोंकी हत्या कही जाती है ॥ २८ ॥ फिर यह ब्राह्मण तो विद्वान् है । तपस्या, शील और बड़े-बड़े गुणोंसे सम्पन्न है । यह उन पुरुषोत्तम परब्रह्मकी समस्त प्राणियोंके आत्माके रूपमें आराधना करना चाहता है, जो समस्त पदार्थोंमें विद्यमान रहते हुए भी उनके पृथक्-पृथक् गुणोंसे छिपे हुए हैं ॥ २९ ॥ राजन् ! आप शक्तिशाली हैं । आप धर्मका मर्म भलीभाँति जानते हैं । जैसे पिताके हाथों पुत्रकी मृत्यु उचित नहीं, वैसे ही आप-जैसे श्रेष्ठ राजर्षिके हाथों मेरे श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि पतिका वध किसी प्रकार उचित नहीं है ॥ ३० ॥ आपका साधु-समाजमें बड़ा सम्मान है । भला आप मेरे परोपकारी, निरपराध, श्रोत्रिय एवं ब्रह्मवादी पतिका वध कैसे ठीक समझ रहे

१. ति । २. बभ्रोर्धर्मज्ञो मन्यते भवान् ।

यद्ययं क्रियते भक्षस्तर्हि मां खाद पूर्वतः ।
न जीविष्ये विना येन क्षणं च मृतकं यथा ॥३२॥
एवं करुणभाषिण्या विलपन्त्या अनाथवत् ।
व्याघ्रः पशुमिवाखादत् सौदासः शापमोहितः॥३३॥
ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषुं पुरुषादेन भक्षितम् ।
शोचन्त्यात्मानमुर्वीशमशपत् कुपिता सती ॥३४॥
यस्मान्मे भक्षितः पाप कामार्तायाः पतिस्त्वया।
तवापि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञ दर्शितः ॥३५॥
एवं मित्रसहं शप्त्वा पतिलोकपरायणा ।
तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ प्रास्य भर्तुर्गतिं गता ॥३६॥

हैं ? ये तो गौके समान निरीह हैं ॥ ३१ ॥ फिर भी यदि आप इन्हें खा ही डालना चाहते हैं तो पहले मुझे खा डालिये । क्योंकि अपने पतिके बिना मैं मुर्देके समान हो जाऊँगी और एक क्षण भी जीवित न रह सकूँगी ।३२। ब्राह्मणपत्नी बड़ी ही करुणापूर्ण वाणीमें इस प्रकार कहकर अनाथकी भाँति रोने लगी । परन्तु सौदासने शापसे मोहित होनेके कारण उसकी प्रार्थनापर कुछ भी ध्यान न दिया और वह उस ब्राह्मणको वैसे ही खा गया, जैसे बाघ किसी पशुको खा जाय ॥ ३३ ॥ जब ब्राह्मणीने देखा कि राक्षसने मेरे गर्भाधानके लिये उद्यत पतिको खा लिया तब उसे बड़ा शोक हुआ । सती ब्राह्मणीने क्रोध करके राजाको शाप दे दिया ॥ ३४ ॥ 'रे पापी ! मैं अभी कामसे पीड़ित हो रही थी । ऐसी अवस्थामें तूने मेरे पतिको खा डाला है । इसलिये मूर्ख ! जब तू स्त्रीसे सहवास करना चाहेगा, तभी तेरी मृत्यु हो जायगी, यह बात मैं तुझे सुझाये देती हूँ' ॥ ३५ ॥ इस प्रकार मित्रसहको शाप देकर ब्राह्मणी अपने पतिकी अस्थियों-को धधकती हुई चितामें डालकर स्वयं भी सती हो गयी और उसने वही गति प्राप्त की, जो उसके पतिदेवको मिली थी । क्यों न हो, वह अपने पतिको छोड़कर और किसी लोकमें जाना भी तो नहीं चाहती थी ॥ ३६ ॥

विशापो द्वादशाब्दान्ते मैथुनाय समुद्यतः ।
विज्ञाय ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारितः ॥३७॥
तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः ।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥३८॥
सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत ।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥३९॥
अश्मकान्मूलको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः ।

बारह वर्ष बीतनेपर राजा सौदास शापसे मुक्त हो गये । जब वे सहवासके लिये अपनी पत्नीके पास गये, तब उसने इन्हें रोक दिया । क्योंकि उसे उस ब्राह्मणीके शापका पता था ॥ ३७ ॥ इसके बाद उन्होंने स्त्री-सुख-का बिल्कुल परित्याग ही कर दिया । इस प्रकार अपने कर्मके फलस्वरूप वे सन्तानहीन हो गये । तब वसिष्ठजी-ने उनके कहनेसे मदयन्तीको गर्भाधान कराया ॥ ३८ ॥ मदयन्ती सात वर्षतक गर्भ धारण किये रही, परन्तु बच्चा पैदा नहीं हुआ । तब वसिष्ठजीने पत्थरसे उसके पेटपर आघात किया । इससे जो बालक हुआ, वह अश्म (पत्थर) की चोटसे पैदा होनेके कारण 'अश्मक' कहलाया ।३९। अश्मकसे मूलकका जन्म हुआ । जब परशुरामजी पृथ्वी-को क्षत्रियहीन कर रहे थे, तब स्त्रियोंने उसे छिपाकर

१. भर्तृगतिं । २. विशाप्य । ३. प्रजाः ।

नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत् ॥४०॥
ततो दशरथस्तस्मात् पुत्र ऐडविडस्ततः।
राजा विश्वसहो यस्य खट्वाङ्गश्चक्रवर्त्यभूत् ॥४१॥
यो देवैरर्थितो दैत्यानवधीद् युधि दुर्जयः।
मुहूर्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं संदधे मनः ॥४२॥
न मे ब्रह्मकुलात् प्राणाः कुलदैवान्न चात्मजाः।
न श्रियो न मही राज्यं न दाराश्चातिवल्लभाः ॥४३॥
न बाल्येऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित्।
नापश्यमुत्तमश्लोकादन्यत् किञ्चन वस्त्वहम् ॥४४॥
देवैः कामवरो दत्तो मह्यं त्रिभुवनेश्वरैः।
न वृणे तमहं कामं भूतभावनभावनः ॥४५॥
ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो देवास्ते स्वहृदि स्थितम्।
न विन्दन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुतापरे ॥४६॥
अथेशमायारचितेषु सङ्गं
गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु।
रूढं प्रकृत्याऽऽत्मनि विश्वकर्तु-
र्भावेन हित्वा तमहं प्रपद्ये ॥४७॥
इति व्यवसितो बुद्ध्या नारायणगृहीतया।

रख लिया था। इसीसे उसका एक नाम 'नारीकवच' भी हुआ। उसे मूलक इसलिये कहते हैं कि वह पृथ्वीके क्षत्रियहीन हो जानेपर उस वंशका मूल (प्रवर्तक) बना ॥ ४० ॥ मूलकके पुत्र हुए दशरथ, दशरथके ऐडविड और ऐडविडके राजा विश्वसह। विश्वसहके पुत्र ही चक्रवर्ती सम्राट् खट्वाङ्ग हुए ॥ ४१ ॥ युद्धमें उन्हें कोई जीत नहीं सकता था। उन्होंने देवताओंकी प्रार्थनासे दैत्योंका वध किया था। जब उन्हें देवताओंसे यह मालूम हुआ कि अब मेरी आयु केवल दो ही घड़ी बाकी है, तब वे अपनी राजधानी लौट आये और अपने मनको उन्होंने भगवान्में लगा दिया ॥ ४२ ॥ वे मन-ही-मन सोचने लगे कि मेरे कुलके इष्ट देवता हैं ब्राह्मण! उनसे बढ़कर मेरा प्रेम अपने प्राणोंपर भी नहीं है। पत्नी, पुत्र, लक्ष्मी, राज्य और पृथ्वी भी मुझे उतने प्यारे नहीं लगते ॥ ४३ ॥ मेरा मन बचपनमें भी कभी अधर्मकी ओर नहीं गया। मैंने पवित्रकीर्ति भगवान्के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु कहीं नहीं देखी ॥ ४४ ॥ तीनों लोकोंके स्वामी देवताओंने मुझे मुँहमाँगा वर देनेको कहा। परन्तु मैंने उन भोगोंकी लालसा बिल्कुल नहीं की। क्योंकि समस्त प्राणियोंके जीवनदाता श्रीहरिकी भावनामें ही मैं मग्न हो रहा था ॥ ४५ ॥ जिन देवताओंकी इन्द्रियाँ और मन विषयोंमें भटक रहे हैं, वे सत्त्वगुणप्रधान होनेपर भी अपने हृदयमें विराजमान, सदा-सर्वदा प्रियतमके रूपमें रहनेवाले अपने आत्मस्वरूप भगवान्को नहीं जानते। फिर भला जो रजोगुणी और तमोगुणी हैं, वे तो जान ही कैसे सकते हैं ॥४६॥ इसलिये अब इन विषयोंमें मैं नहीं रमता। ये तो मायाके खेल हैं। आकाशमें झूठमूठ प्रतीत होनेवाले गन्धर्वनगरोंसे बढ़कर इनकी सत्ता नहीं है। ये तो अज्ञानवश चित्तपर चढ़ गये थे। संसारके सच्चे रचयिता भगवान्की भावनामें लीन होकर मैं विषयोंको छोड़ रहा हूँ और केवल उन्हींकी शरण ले रहा हूँ ॥ ४७ ॥ परीक्षित्! भगवान्ने राजा खट्वाङ्गकी बुद्धिको पहलेसे ही अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। इसीसे वे अन्तसमयमें ऐसा निश्चय कर सके। अब उन्होंने शरीर आदि

१. ऐलिविलः। २. सिद्धेषु गन्धर्वपुरोगणेषु।

हित्वान्यभावमज्ञानं ततः स्वं भावमाश्रितः ॥४८॥
यत् तद् ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितम्।
भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः ॥४९॥

अनात्म पदार्थोंमें जो अज्ञानमूलक आत्मभाव था, उसका परित्याग कर दिया और अपने वास्तविक आत्मस्वरूपमें स्थित हो गये ॥ ४८ ॥ वह स्वरूप साक्षात् परब्रह्म है। वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, शून्यके समान ही है। परन्तु वह शून्य नहीं, परम सत्य है। भक्तजन उसी वस्तुको 'भगवान् वासुदेव' इस नामसे वर्णन करते हैं ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे
सूर्यवंशानुवर्णने[1] नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामकी लीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

खट्वाङ्गाद् दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात् पृथुश्रवाः।
अजस्ततो महाराजस्तस्माद् दशरथोऽभवत् ॥ १ ॥
तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः।
अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया ॥ २ ॥
तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥ ३ ॥
गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं
पद्मपद्भ्यां प्रियायाः
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो
यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।
वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषा-
ऽऽरोपितभ्रूविजृम्भ-
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः
कोसलेन्द्रोऽवतान्नः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! खट्वाङ्गके पुत्र दीर्घबाहु और दीर्घबाहुके परम यशस्वी पुत्र रघु हुए। रघुके अज और अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए ॥ १ ॥ देवताओंकी प्रार्थनासे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीहरि ही अपने अंशांशसे चार रूप धारण करके राजा दशरथके पुत्र हुए। उनके नाम थे—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ॥ २ ॥ परीक्षित्! सीतापति भगवान् श्रीरामका चरित्र तो तत्त्वदर्शी ऋषियोंने बहुत कुछ वर्णन किया है और तुमने अनेक बार उसे सुना भी है ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीरामने अपने पिता राजा दशरथके सत्यकी रक्षाके लिये राजपाट छोड़ दिया और वे वन-वनमें फिरते रहे। उनके चरणकमल इतने सुकुमार थे कि परम सुकुमारी श्रीजानकीजीके करकमलोंका स्पर्श भी उनसे सहन नहीं होता था। वे ही चरण जब वनमें चलते-चलते थक जाते, तब हनूमान् और लक्ष्मण उन्हें दबा-दबाकर उनकी थकावट मिटाते। शूर्पणखाको नाक-कान काटकर विरूप कर देनेके कारण उन्हें अपनी प्रियतमा श्रीजानकीजीका वियोग भी सहना पड़ा। इस वियोगके कारण क्रोधवश उनकी भौंहें तन गयीं, जिन्हें देखकर समुद्रतक भयभीत हो गया। इसके बाद उन्होंने समुद्रपर पुल बाँधा और लङ्कामें जाकर दुष्ट राक्षसोंके जंगलको दावाग्निके समान दग्ध कर दिया। वे कोसल-नरेश हमारी रक्षा करें ॥ ४ ॥

[1] नं नाम।

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः ।
पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुङ्गवाः ॥ ५ ॥
यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं
सीतास्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम् ।
आदाय बालगजलील इवेक्षुयष्टिं
सज्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये ॥ ६ ॥
जित्वानुरूपगुणशीलवयोऽङ्गरूपां[1]
सीताभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानाम् ।
मार्गे व्रजन् भृगुपतेर्व्यनयत् प्ररूढं
दर्पं महीमकृत यस्त्रिरराजबीजाम् ॥ ७ ॥
यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं
स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः ।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं
त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः ॥ ८ ॥
रक्षःस्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धे-
स्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून् ।
जघ्ने चतुर्दशसहस्रमपारणीय-
कोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम् ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीरामने विश्वामित्रके यज्ञमें लक्ष्मणके सामने ही मारीच आदि राक्षसोंको मार डाला । वे सब बड़े-बड़े राक्षसोंकी गिनतीमें थे ॥ ५ ॥ परीक्षित् ! जनकपुरमें सीताजीका स्वयंवर हो रहा था । संसारके चुने हुए वीरोंकी सभामें भगवान् शङ्करका वह भयङ्कर धनुष रक्खा हुआ था । वह इतना भारी था कि तीन सौ वीर बड़ी कठिनाईसे उसे स्वयंवरसभामें ला सके थे । भगवान् श्रीरामने उस धनुषको बात-की-बातमें उठाकर उसपर डोरी चढ़ा दी और खींचकर बीचोबीचसे उसके दो टुकड़े कर दिये—ठीक वैसे ही, जैसे हाथीका बच्चा खेलते-खेलते ईख तोड़ डाले ॥ ६ ॥ भगवान्ने जिन्हें अपने वक्षःस्थलपर स्थान देकर सम्मानित किया है, वे श्रीलक्ष्मीजी ही सीताके नामसे जनकपुरमें अवतीर्ण हुई थीं । वे गुण, शील, अवस्था, शरीरकी गठन और सौन्दर्यमें सर्वथा भगवान् श्रीरामके अनुरूप थीं । भगवान्ने धनुष तोड़कर उन्हें प्राप्त कर लिया । अयोध्याको लौटते समय मार्गमें उन परशुरामजीसे भेंट हुई, जिन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको राजवंशके बीजसे भी रहित कर दिया था । भगवान्ने उनके बढ़े हुए गर्वको नष्ट कर दिया ॥ ७ ॥ इसके बाद पिताके वचनको सत्य करनेके लिये उन्होंने वनवास स्वीकार किया । यद्यपि महाराज दशरथने अपनी पत्नीके अधीन होकर ही उसे वैसा वचन दिया था, फिर भी वे सत्यके बन्धनमें बँध गये थे । इसलिये भगवान्ने अपने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की । उन्होंने प्राणोंके समान प्यारे राज्य, लक्ष्मी, प्रेमी, हितैषी मित्र और महलोंको छोड़कर अपनी पत्नीके साथ वनकी यात्रा की; क्योंकि उन्हें किसीके प्रति कोई आसक्ति न थी ॥ ८ ॥ वनमें पहुँचकर भगवान्ने राक्षसराज रावणकी बहिन शूर्पणखाको विरूप कर दिया । क्योंकि उसकी बुद्धि बहुत ही कलुषित, कामवासनाके कारण अशुद्ध थी । उसके पक्षपाती खर, दूषण, त्रिशिरा आदि प्रधान-प्रधान भाइयोंको—जो संख्यामें चौदह हजार थे—हाथमें महान् धनुष लेकर भगवान् श्रीरामने नष्ट कर डाला; और अनेक प्रकारकी कठिनाइयोंसे परिपूर्ण वनमें वे इधर-उधर विचरते

१. ऽनुरू० ।

सीताकथाश्रवणदीपितहृच्छयेन
सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण ।
जघ्नेऽद्भुतैणवपुषाऽऽश्रमतोऽपकृष्टो
मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः ॥१०॥

रक्षोऽधमेन वृकवद् विपिनेऽसमक्षं
वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् ।
भ्रात्रा वने कृपणवत् प्रियया वियुक्तः
स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार ॥११॥

दग्ध्वाऽऽत्मकृत्यहतकृत्यमहन् कबन्धं
सख्यं विधाय कपिभिर्दयिता गतिं तैः ।
बुद्ध्वाथवालिनि हते प्लवगेन्द्र सैन्यै-
र्वेलामगात् स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः ॥१२॥

यद्रोषविभ्रमविवृत्तकटाक्षपात-
सम्भ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोषः ।
सिन्धुः शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी
पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतत् ॥१३॥

न त्वां वयं जडधियो नु विदाम भूमन्
कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम् ।

हुए निवास करते रहे ॥ ९ ॥ परीक्षित् ! जब रावणने सीताजीके रूप, गुण, सौन्दर्य आदिकी बात सुनी तो उसका हृदय काम-वासनासे आतुर हो गया । उसने अद्भुत हरिनके वेषमें मारीचको उनकी पर्णकुटीके पास भेजा । वह धीरे-धीरे भगवान्‌को वहाँसे दूर ले गया । अन्तमें भगवान्‌ने अपने बाणसे उसे बात-की-बातमें वैसे ही मार डाला, जैसे दक्षप्रजापतिको वीरभद्रने मारा था ॥१०॥ जब भगवान् श्रीराम जंगलमें दूर निकल गये, तब (लक्ष्मणकी अनुपस्थितिमें) नीच राक्षस रावणने भेड़ियेके समान विदेहनन्दिनी सुकुमारी श्रीसीताजीको हर लिया । तदनन्तर वे अपनी प्राणप्रिया सीताजीसे बिछुड़कर अपने भाई लक्ष्मणके साथ वन-वनमें दीनकी भाँति घूमने लगे । और इस प्रकार उन्होंने यह शिक्षा दी कि जो स्त्रियोंमें आसक्ति रखते हैं, उनकी यही गति होती है ॥ ११ ॥ इसके बाद भगवान्‌ने उस जटायुका दाह-संस्कार किया, जिसके सारे कर्मबन्धन भगवत्सेवारूप कर्मसे पहले ही भस्म हो चुके थे । फिर भगवान्‌ने कबन्धका संहार किया और इसके अनन्तर सुग्रीव आदि वानरोंसे मित्रता करके बालिका वध किया, तदनन्तर वानरोंके द्वारा अपनी प्राणप्रियाका पता लगवाया । ब्रह्मा और शङ्कर जिनके चरणोंकी वन्दना करते हैं, वे भगवान् श्रीराम मनुष्यकी-सी लीला करते हुए बंदरोंकी सेनाके साथ समुद्रतटपर पहुँचे ॥ १२ ॥ (वहाँ उपवास और प्रार्थनासे जब समुद्रपर कोई प्रभाव न पड़ा तब) भगवान् क्रोधकी लीला करते हुए अपनी उग्र एवं टेढ़ी नजर समुद्रपर डाली । उसी समय समुद्रके बड़े-बड़े मगर और कच्छ खलबला उठे । डर जानेके कारण समुद्रकी सारी गर्जना शान्त हो गयी । तब समुद्र शरीरधारी बनकर और अपने सिरपर बहुत-सी भेंटें लेकर भगवान्‌के चरणकमलोंकी शरणमें आया और इस प्रकार कहने लगा ॥ १३ ॥ अनन्त ! हम मूर्ख हैं; इसलिये आपके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते । जानें भी कैसे ! आप समस्त जगत्‌के एकमात्र स्वामी, आदिकारण एवं जगत्‌के समस्त परिवर्तनोंमें एकरस रहनेवाले हैं । आप समस्त गुणोंके स्वामी

१. च । २. मकटाक्षविटङ्कपात० । ३. नूनं ।

यत्सत्त्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा
मन्योश्च भूतपतयः स भवान् गुणेशः ॥१४॥

हैं । इसलिये जब आप सत्त्वगुणको स्वीकार कर लेते हैं तब देवताओंकी, रजोगुणको स्वीकार कर लेते हैं तब प्रजापतियोंकी और तमोगुणको स्वीकार कर लेते हैं तब आपके क्रोधसे रुद्रगणकी उत्पत्ति होती है ॥१४॥

कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं
त्रैलोक्यरावणमवाप्नुहि वीर पत्नीम् ।
बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै
गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः॥१५॥

वीरशिरोमणे ! आप अपनी इच्छाके अनुसार मुझे पार कर जाइये और त्रिलोकीको रुलानेवाले विश्रवाके कुपूत रावणको मारकर अपनी पत्नीको फिरसे प्राप्त कीजिये । परन्तु आपसे मेरी एक प्रार्थना है । आप यहाँ मुझपर एक पुल बाँध दीजिये । इससे आपके यशका विस्तार होगा और आगे चलकर जब बड़े-बड़े नरपति दिग्विजय करते हुए यहाँ आयेंगे, तब वे आपके यशका गान करेंगे ॥ १५ ॥

बद्ध्वोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः
सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्गैः ।
सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकै-
र्लङ्कां विभीषणदृशाऽऽविशदग्रदग्धाम् ॥१६॥

भगवान् श्रीरामजीने अनेकानेक पर्वतोंके शिखरोंसे समुद्रपर पुल बाँधा । जब बड़े-बड़े बंदर अपने हाथोंसे पर्वत उठा-उठाकर लाते थे, तब उनके वृक्ष और बड़ी-बड़ी चट्टानें थर-थर काँपने लगती थीं । इसके बाद विभीषण-की सलाहसे भगवान्ने सुग्रीव, नील, हनूमान् आदि प्रमुख वीरों और वानरीसेनाके साथ लङ्कामें प्रवेश किया । वह तो श्रीहनूमान्जीके द्वारा पहले ही जलायी जा चुकी थी ॥ १६ ॥

सा वानरेन्द्रबलरुद्धविहारकोष्ठ-[2]
श्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटङ्का ।
निर्भज्यमानधिषणध्वजहेमकुम्भ-
शृङ्गाटका गजकुलैर्ह्रदिनीव घूर्णा ॥१७॥

उस समय वानरराजकी सेनाने लङ्काके सैर करने और खेलनेके स्थान, अन्नके गोदाम, खजाने, दरवाजे, फाटक, सभाभवन, छज्जे और पक्षियों-के रहनेके स्थानतकको घेर लिया । उन्होंने वहाँकी वेदी, ध्वजाएँ, सोनेके कलश और चौराहे तोड़-फोड़ डाले । उस समय लङ्का ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे झुंड-के-झुंड हाथियोंने किसी नदीको मथ डाला हो ॥ १७ ॥

रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भ-
धूम्राक्षदुर्मुखसुरान्तनरान्तकादीन् ।
पुत्रं प्रहस्तमतिकायविकम्पनादीन्
सर्वानुगान् समहिनोदथ कुम्भकर्णम् ॥१८॥

यह देखकर राक्षसराज रावणने निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक, प्रहस्त, अतिकाय, विकम्पन आदि अपने सब अनुचरों, पुत्र मेघनाद और अन्तमें भाई कुम्भकर्णको भी युद्ध करनेके लिये भेजा ॥ १८ ॥

तां यातुधानपृतनामसिशूलचाप-
प्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखड्गदुर्गाम् ।
सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमाद-
नीलाङ्गदर्क्षपनसादिभिरन्वितोऽगात् ॥१९॥

राक्षसोंकी वह विशाल सेना तलवार, त्रिशूल, धनुष, प्रास, ऋष्टि, शक्ति, बाण, भाले, खड्ग आदि शस्त्र-अस्त्रसे सुरक्षित और अत्यन्त दुर्गम थी । भगवान् श्रीरामने सुग्रीव, लक्ष्मण, हनूमान्, गन्ध-मादन, नील, अङ्गद, जाम्बवान् और पनस आदि वीरोंको अपने साथ लेकर राक्षसोंकी सेनाका सामना किया ॥ १९ ॥

१. रनेकै० । २. कोष० ।

तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे
द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधैः ।
जघ्नुर्द्रुमैर्गिरिगदेषुभिरङ्गदाद्याः
सीताभिमर्शहतमङ्गलरावणेशान् ॥२०॥

रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामके अङ्गद आदि सब सेनापति राक्षसोंकी चतुरङ्गिणी सेना—हाथी, रथ, घुड़सवार और पैदलोंके साथ द्वन्द्वयुद्धकी रीतिसे भिड़ गये और राक्षसोंको वृक्ष, पर्वतशिखर, गदा और बाणोंसे मारने लगे। उनका मारा जाना तो स्वाभाविक ही था। क्योंकि वे उसी रावणके अनुचर थे, जिसका मङ्गल श्रीसीताजीको स्पर्श करनेके कारण पहले ही नष्ट हो चुका था ॥ २० ॥

रक्षःपतिः स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट
आरुह्य यानकमथाभिससार रामम् ।
स्वःस्यन्दने द्युमति मातलिनोपनीते
विभ्राजमानमहनन्निशितैः क्षुरप्रैः ॥२१॥

जब राक्षसराज रावणने देखा कि मेरी सेनाका तो नाश हुआ जा रहा है, तब वह क्रोधमें भरकर पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो भगवान् श्रीरामके सामने आया। उस समय इन्द्रका सारथि मातलि बड़ा ही तेजस्वी दिव्य रथ लेकर आया और उसपर भगवान् श्रीरामजी विराजमान हुए। रावण अपने तीखे बाणोंसे उनपर प्रहार करने लगा ॥ २१ ॥

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः
कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत् ते ।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य
यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः ॥२२॥

भगवान् श्रीरामजीने रावणसे कहा—'नीच राक्षस! तुम कुत्तेकी तरह हमारी अनुपस्थितिमें हमारी प्राणप्रिया पत्नीको हर लाये! तुमने दुष्टताकी हद कर दी! तुम्हारे-जैसा निर्लज्ज तथा निन्दनीय और कौन होगा। जैसे कालको कोई टाल नहीं सकता—कर्तापनके अभिमानीको वह फल दिये बिना रह नहीं सकता, वैसे ही आज मैं तुम्हें तुम्हारी करनीका फल चखाता हूँ' ॥२२॥

एवं क्षिपन् धनुषि संधितमुत्ससर्ज
बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद ।
सोऽसृग् वमन् दशमुखैर्न्यपतद् विमाना-
द्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः ॥२३॥

इस प्रकार रावणको फटकारते हुए भगवान् श्रीरामने अपने धनुषपर चढ़ाया हुआ बाण उसपर छोड़ा। उस बाणने वज्रके समान उसके हृदयको विदीर्ण कर दिया। वह अपने दसों मुखोंसे खून उगलता हुआ विमानसे गिर पड़ा—ठीक वैसे ही, जैसे पुण्यात्मालोग भोग समाप्त होनेपर स्वर्गसे गिर पड़ते हैं। उस समय उसके पुरजन-परिजन 'हाय-हाय' करके चिल्लाने लगे ॥ २३ ॥

ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्यः सहस्रशः ।
मन्दोदर्या समं तस्मिन् प्ररुदत्य उपाद्रवन् ॥२४॥

तदनन्तर हजारों राक्षसियाँ मन्दोदरीके साथ रोती हुई लङ्कासे निकल पड़ीं और रणभूमिमें आयीं ॥ २४ ॥

स्वान् स्वान् बन्धून् परिष्वज्य लक्ष्मणेषुभिरर्दितान् ।
रुरुदुः सुस्वरं दीना घ्नन्त्य आत्मानमात्मना ॥२५॥

उन्होंने देखा कि उनके स्वजन-सम्बन्धी लक्ष्मणजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर पड़े हुए हैं। वे अपने हाथों अपनी छाती पीट-पीटकर और अपने सगे-सम्बन्धियोंको हृदयसे लगा-लगाकर ऊँचे स्वरसे विलाप करने लगीं ॥२५॥

१. पा०क० । २. महति । ३. स्वयन्ते । ४. रुदत्यस्ता० ।

हा हताः स्म वयं नाथ लोकरावण रावण ।
कं यायाच्छरणं लङ्का त्वद्विहीना परार्दिता ॥२६॥

हाय हाय ! स्वामी ! आज हम सब बेमौत मारी गयीं । एक दिन वह था, जब आपके भयसे समस्त लोकोंमें त्राहि-त्राहि मच जाती थी । आज वह दिन आ पहुँचा कि आपके न रहनेसे हमारे शत्रु लङ्काकी दुर्दशा कर रहे हैं और यह प्रश्न उठ रहा है कि अब लङ्का किसके अधीन रहेगी ॥ २६ ॥

नैवं वेद महाभाग भवान् कामवशं गतः ।
तेजोऽनुभावं सीताया येन नीतो दशामिमाम् ॥२७॥

आप सब प्रकारसे सम्पन्न थे, किसी भी बातकी कमी न थी । परन्तु आप कामके वश हो गये और यह नहीं सोचा कि सीताजी कितनी तेजस्विनी हैं और उनका कितना प्रभाव है । आपकी यही भूल आपकी इस दुर्दशाका कारण बन गयी ॥ २७ ॥

कृतैषा विधवा लङ्का वयं च कुलनन्दन ।
देहः कृतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे ॥२८॥

कभी आपके कामोंसे हम सब और समस्त राक्षसवंश आनन्दित होता था और आज हम सब तथा यह सारी लङ्का नगरी विधवा हो गयी । आपका वह शरीर, जिसके लिये आपने सब कुछ कर डाला, आज गीधोंका आहार बन रहा है और अपने आत्माको आपने नरकका अधिकारी बना डाला । यह सब आपकी ही नासमझी और कामुकताका फल है ॥ २८ ॥

श्रीशुक उवाच

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोसलेन्द्रानुमोदितः ।
पितृमेधविधानेन यदुक्तं साम्परायिकम्[1] ॥२९॥
ततो ददर्श भगवानशोकवनिकाश्रमे ।
क्षामां स्वविरहव्याधिं शिंशपामूलमास्थिताम् ॥३०॥
रामः प्रियतमां भार्यां दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत ।
आत्मसंदर्शनाह्लादविकसन्मुखपङ्कजाम् ॥३१॥
आरोप्यारुरुहे यानं भ्रातृभ्यां हनुमद्युतः ।
विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम् ॥३२॥
लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम् ।
अवकीर्यमाणः कुसुमैर्लोकपालार्पितैः पथि ॥३३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! कोसलाधीश भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे विभीषणने अपने स्वजन-सम्बन्धियोंका पितृयज्ञकी विधिसे शास्त्रके अनुसार अन्त्येष्टिकर्म किया ॥ २९ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीरामने अशोकवाटिकाके आश्रममें अशोक वृक्षके नीचे बैठी हुई श्रीसीताजीको देखा । वे उन्हींके विरहकी व्याधिसे पीड़ित एवं अत्यन्त दुर्बल हो रही थीं ॥ ३० ॥ अपनी प्राणप्रिया अर्धाङ्गिनी श्रीसीताजीको अत्यन्त दीन अवस्थामें देखकर श्रीरामका हृदय प्रेम और कृपासे भर आया । इधर भगवान्‌का दर्शन पाकर सीताजीका हृदय प्रेम और आनन्दसे परिपूर्ण हो गया, उनका मुखकमल खिल उठा ॥ ३१ ॥ भगवान्‌ने विभीषणको राक्षसोंका स्वामित्व, लङ्कापुरीका राज्य और एक कल्पकी आयु दी और इसके बाद पहले सीताजीको विमानपर बैठाकर अपने दोनों भाई लक्ष्मण तथा सुग्रीव एवं सेवक हनूमान्‌जीके साथ स्वयं भी विमानपर सवार हुए । इस प्रकार चौदह वर्षका व्रत पूरा हो जानेपर उन्होंने अपने नगरकी यात्रा की । उस समय मार्गमें ब्रह्मा आदि लोकपालगण उनपर बड़े प्रेमसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ३२-३३ ॥

[1] १. कावने ।

उपगीयमानचरितः शतधृत्यादिभिर्मुदा ।
गोमूत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वल्कलाम्बरम् ॥३४॥
महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम् ।
भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः ॥३५॥
पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम्[1] ।
नन्दिग्रामात् स्वशिविराद् गीतवादित्रनिःस्वनैः ॥३६॥
ब्रह्मघोषेण च मुहुः पठद्भिर्ब्रह्मवादिभिः[2] ।
स्वर्णकक्षपताकाभिर्हैमैश्चित्रध्वजै रथैः ॥३७॥
सदश्वै रुक्मसन्नाहैर्भटैः पुरटवर्मभिः ।
श्रेणीभिर्वारमुख्याभिर्भृत्यैश्चैव पदानुगैः ॥३८॥
पारमेष्ठ्यान्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च ।
पादयोर्न्यपतत्[3] प्रेम्णा प्रक्लिन्नहृदयेक्षणः ॥३९॥
पादुके न्यस्य पुरतः प्राञ्जलिर्बाष्पलोचनः ।
तमाश्लिष्य चिरं दोर्भ्यां स्नापयन् नेत्रजैर्जलैः ॥४०॥
रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्यो येऽर्हसत्तमाः[4] ।
तेभ्यः स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिश्च नमस्कृतः ॥४१॥
धुन्वन्त उत्तरासङ्गान् पतिं वीक्ष्य चिरागतम् ।

इधर तो ब्रह्मा आदि बड़े आनन्दसे भगवान्‌की लीलाओंका गान कर रहे थे और उधर जब भगवान्‌को यह मालूम हुआ कि भरतजी केवल गोमूत्रमें पकाया हुआ जौका दलिया खाते हैं, वल्कल पहनते हैं और पृथ्वीपर डाभ बिछाकर सोते हैं, एवं उन्होंने जटाएँ बढ़ा रक्खी हैं, तब वे बहुत दुखी हुए । उनकी दशाका स्मरण कर परम करुणाशील भगवान्‌का हृदय भर आया । जब भरतको मालूम हुआ कि मेरे बड़े भाई भगवान् श्रीरामजी आ रहे हैं तब वे पुरवासी, मन्त्री और पुरोहितोंको साथ लेकर एवं भगवान्‌की पादुकाएँ सिरपर रखकर उनकी अगवानीके लिये चले । जब भरतजी अपने रहनेके स्थान नन्दिग्रामसे चले, तब लोग उनके साथ-साथ मङ्गलगान करते, बाजे बजाते चलने लगे । वेदवादी ब्राह्मण बार-बार वेदमन्त्रोंका उच्चारण करने लगे और उसकी ध्वनि चारों ओर गूँजने लगी । सुनहरी कामदार पताकाएँ फहराने लगीं । सोनेसे मढ़े हुए तथा रंग-बिरंगी ध्वजाओंसे सजे हुए रथ, सुनहले साजसे सजाये हुए सुन्दर घोड़े तथा सोनेके कवच पहने हुए सैनिक उनके साथ-साथ चलने लगे । सेठ-साहूकार, श्रेष्ठ वाराङ्गनाएँ, पैदल चलनेवाले सेवक और महाराजाओंके योग्य छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ उनके साथ चल रही थीं । भगवान्‌को देखते ही प्रेमके उद्रेकसे भरतजीका हृदय गद्गद हो गया, नेत्रोंमें आँसू छलक आये, वे भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े ॥ ३४-३९ ॥ उन्होंने प्रभुके सामने उनकी पादुकाएँ रख दीं और हाथ जोड़कर खड़े हो गये । नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहती जा रही थी । भगवान्‌ने अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर बहुत देरतक भरतजीको हृदयसे लगाये रक्खा । भगवान्‌के नेत्रजलसे भरतजीका स्नान हो गया ॥ ४० ॥ इसके बाद सीताजी और लक्ष्मणजीके साथ भगवान् श्रीरामजीने ब्राह्मण और पूजनीय गुरुजनोंको नमस्कार किया । तथा सारी प्रजाने बड़े प्रेमसे सिर झुकाकर भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ४१ ॥ उस समय उत्तरकोसल देशकी रहनेवाली समस्त प्रजा अपने स्वामी भगवान्‌को बहुत

१. प्रत्युद्गतो । २. ग्रंथद्भि० । ३. तन्मूर्ध्ना । ४. ऽर्हत्तमाः ।

उत्तराः कोसलाः माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा ॥४२॥

पादुके भरतोऽगृह्णाच्चामरव्यजनोत्तमे ।

विभीषणः ससुग्रीवः श्वेतच्छत्रं मरुत्सुतः ॥४३॥

धनुर्निषङ्गाञ्छत्रुघ्नः सीता तीर्थकमण्डलुम् ।

अबिभ्रदङ्गदः खड्गं हैमं चर्मर्क्षराण् नृप ॥४४॥

पुष्पकस्थोऽन्वितः स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ।

विरेजे भगवान् राजन् ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः ॥४५॥

भ्रातृभिर्नन्दितः सोऽपि सोत्सवां प्राविशत् पुरीम् ।

प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः स्वमातरम् ॥४६॥

गुरून् वयस्यावरजान् पूजितः प्रत्यपूजयत् ।

वैदेही लक्ष्मणश्चैव यथावत् समुपेयतुः ॥४७॥

पुत्रान् स्वमातरस्तास्तु प्राणांस्तन्व इवोत्थिताः ।

आरोप्याङ्केऽभिषिञ्चन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः ॥४८॥

जटा निर्मुच्य विधिवत् कुलवृद्धैः समं गुरुः ।

अभ्यषिञ्चद् यथैवेन्द्रं चतुःसिन्धुजलादिभिः ॥४९॥

एवं कृतशिरःस्नानः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः ।

स्वलङ्कृतैः सुवासोभिर्भ्रातृभिर्भार्यया बभौ ॥५०॥

अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः ।

दिनोंके बाद आये देख अपने दुपट्टे हिला-हिलाकर पुष्पोंकी वर्षा करती हुई आनन्दसे नाचने लगी ॥४२॥ भरतजीने भगवान्‌की पादुकाएँ लीं, विभीषणने श्रेष्ठ चँवर, सुग्रीवने पंखा और श्रीहनूमान्‌जीने श्वेत छत्र ग्रहण किया ॥ ४३ ॥ परीक्षित्! शत्रुघ्नजीने धनुष और तरकस, सीताजीने तीर्थोंके जलसे भरा कमण्डलु, अङ्गदने सोनेका खड्ग और जाम्बवान्‌ने ढाल ले ली ॥ ४४ ॥ इन लोगोंके साथ भगवान् पुष्पक विमानपर विराजमान हो गये, चारों तरफ यथास्थान स्त्रियाँ बैठ गयीं, वन्दीजन स्तुति करने लगे। उस समय पुष्पक विमानपर भगवान् श्रीरामकी ऐसी शोभा हुई, मानो ग्रहोंके साथ चन्द्रमा उदय हो रहे हों ॥ ४५ ॥

इस प्रकार भगवान्‌ने भाइयोंका अभिनन्दन स्वीकार करके उनके साथ अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया। उस समय वह पुरी आनन्दोत्सवसे परिपूर्ण हो रही थी। राजमहलमें प्रवेश करके उन्होंने अपनी माता कौसल्या, अन्य माताओं, गुरुजनों, बराबरके मित्रों और छोटोंका यथायोग्य सम्मान किया तथा उनके द्वारा किया हुआ सम्मान स्वीकार किया। श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीने भी भगवान्‌के साथ-साथ सबके प्रति यथायोग्य व्यवहार किया ॥ ४६-४७ ॥ उस समय जैसे मृतकशरीरमें प्राणोंका सञ्चार हो जाय, वैसे ही माताएँ अपने पुत्रोंके आगमनसे हर्षित हो उठीं। उन्होंने उनको अपनी गोदमें बैठा लिया और अपने आँसुओंसे उनका अभिषेक किया। उस समय उनका सारा शोक मिट गया ॥ ४८ ॥ इसके बाद वसिष्ठजीने दूसरे गुरुजनोंके साथ विधिपूर्वक भगवान्‌की जटा उतरवायी और बृहस्पतिने जैसे इन्द्रका अभिषेक किया था, वैसे ही चारों समुद्रोंके जल आदिसे उनका अभिषेक किया ॥ ४९ ॥ इस प्रकार सिरसे स्नान करके भगवान् श्रीरामने सुन्दर वस्त्र, पुष्पमालाएँ और अलङ्कार धारण किये। सभी भाइयों और श्रीजानकीजीने भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और अलङ्कार धारण किये। उनके साथ भगवान् श्रीरामजी अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ ५० ॥ भरतजीने उनके चरणोंमें गिरकर उन्हें प्रसन्न किया और उनके आग्रह करनेपर भगवान् श्रीरामने राजसिंहासन

१. प्रा० मनु०। २. प्रा० गृतः। ३. पर्णा। ४. चतुर्भिः सागराम्बुभिः।

प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ।
जुगोप पितृवद् रामो मेनिरे पितरं च तम् ॥५१॥
त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत् ।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे ॥५२॥
वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः ।
सर्वे कामदुघा आसन् प्रजानां भरतर्षभ ॥५३॥
नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः[1] ।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे ॥५४॥
एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः ।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत् ॥५५॥
प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती ।
धिया ह्रिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः ॥५६॥

स्वीकार किया । इसके बाद वे अपने-अपने धर्ममें तत्पर तथा वर्णाश्रमके आचारको निभानेवाली प्रजाका पिताके समान पालन करने लगे । उनकी प्रजा भी उन्हें अपना पिता ही मानती थी ॥ ५१ ॥ परीक्षित् ! जब समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाले परम धर्मज्ञ भगवान् श्रीराम राजा हुए तब था तो त्रेतायुग, परन्तु मालूम होता था मानो सत्ययुग ही है ॥ ५२ ॥ परीक्षित् ! उस समय वन, नदी, पर्वत, वर्ष, द्वीप और समुद्र—सब-के-सब प्रजाके लिये कामधेनुके समान समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले बन रहे थे ॥ ५३ ॥ इन्द्रियातीत भगवान् श्रीरामके राज्य करते समय किसीको मानसिक चिन्ता या शारीरिक रोग नहीं होते थे । बुढ़ापा, दुर्बलता, दुःख, शोक, भय और थकावट नाममात्रके लिये भी नहीं थे । यहाँतक कि जो मरना नहीं चाहते थे, उनकी मृत्यु भी नहीं होती थी ॥ ५४ ॥ भगवान् श्रीरामने एकपत्नीका व्रत धारण कर रक्खा था, उनके चरित्र अत्यन्त पवित्र एवं राजर्षियोंके-से थे । वे गृहस्थोचित स्वधर्मकी शिक्षा देनेके लिये स्वयं उस धर्मका आचरण करते थे ॥५५॥ सतीशिरोमणि सीताजी अपने पतिके हृदयका भाव जानती रहतीं । वे प्रेमसे, सेवासे, शीलसे, अत्यन्त विनयसे तथा अपनी बुद्धि और लज्जा आदि गुणोंसे अपने पति भगवान् श्रीरामजीका चित्त चुराती रहती थीं ॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे रामचरिते[2] दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामकी शेष लीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

भगवानात्मनाऽऽत्मानं राम उत्तमकल्पकैः[3] ।
सर्वदेवमयं[4] देवमीज आचार्यवान् मखैः ॥ १ ॥
होत्रेऽददाद्[5] दिशं प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभुः ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं च उदीचीं सामगाय सः ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीरामने गुरु वसिष्ठजीको अपना आचार्य बनाकर उत्तम सामग्रियोंसे युक्त यज्ञोंके द्वारा अपने-आप ही अपने सर्वदेवस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्माका यजन किया ॥ १ ॥ उन्होंने होताको पूर्व दिशा, ब्रह्माको दक्षिण, अध्वर्युको पश्चिम और उद्गाताको उत्तर दिशा दे दी ॥ २ ॥

१. नाधिर्व्याधिर्जरा ग्लानिर्दुःख० । २. रामानुचरितं नाम । ३. कल्पकः । ४. मयो । ५. होत्रे तदादिशत्प्राचीं ।

आचार्याय ददौ शेषां यावती भूस्तदन्तरा ।
मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निःस्पृहः ॥ ३ ॥
इत्ययं तदलङ्कारवासोभ्यामवशेषितः ।
तथा राज्ञ्यपि वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता ॥ ४ ॥
ते तु ब्रह्मण्यदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतम् ।
प्रीताः क्लिन्नधियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं बभाषिरे ॥ ५ ॥
अप्रत्तं नस्त्वया किं नु भगवन् भुवनेश्वर ।
यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा ॥ ६ ॥
नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥ ७ ॥
कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः ।
चरन् वाचोऽशृणोद् रामो भार्यामुद्दिश्य कस्यचित् ॥८॥
नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतीं परवेश्मगाम् ।
स्त्रीलोभी बिभृयात् सीतां रामो नाहं भजे पुनः ॥ ९ ॥
इति लोकाद् बहुमुखाद् दुराराध्यादसंविदः ।
पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम् ॥१०॥
अन्तर्वत्न्यागते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ ।

उनके बीचमें जितनी भूमि बच रही थी, वह उन्होंने आचार्यको दे दी। उनका यह निश्चय था कि सम्पूर्ण भूमण्डलका एकमात्र अधिकारी निःस्पृह ब्राह्मण ही है ॥ ३ ॥ इस प्रकार सारे भूमण्डलका दान करके उन्होंने अपने शरीरके वस्त्र और अलङ्कार ही अपने पास रक्खे। इसी प्रकार महारानी सीताजीके पास भी केवल माङ्गलिक वस्त्र और आभूषण ही बच रहे ॥ ४ ॥ जब आचार्य आदि ब्राह्मणोंने देखा कि भगवान् श्रीराम तो ब्राह्मणोंको ही अपना इष्टदेव मानते हैं, उनके हृदयमें ब्राह्मणोंके प्रति अनन्त स्नेह है, तब उनका हृदय प्रेमसे द्रवित हो गया। उन्होंने प्रसन्न होकर सारी पृथ्वी भगवान्‌को लौटा दी और कहा ॥ ५ ॥ 'प्रभो! आप सब लोकोंके एकमात्र स्वामी हैं। आप तो हमारे हृदयके भीतर रहकर अपनी ज्योतिसे अज्ञानान्धकारका नाश कर रहे हैं। ऐसी स्थितिमें भला, आपने हमें क्या नहीं दे रक्खा है ॥ ६ ॥ आपका ज्ञान अनन्त है। पवित्र कीर्तिवाले पुरुषोंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं। उन महात्माओंको, जो किसीको किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं पहुँचाते, आपने अपने चरणकमल दे रक्खे हैं। ऐसा होनेपर भी आप ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव मानते हैं। भगवन्! आपके इस रामरूपको हम नमस्कार करते हैं' ॥ ७ ॥

परीक्षित्! एक बार अपनी प्रजाकी स्थिति जाननेके लिये भगवान् श्रीरामजी रातके समय छिपकर बिना किसीको बतलाये घूम रहे थे। उस समय उन्होंने किसीकी यह बात सुनी। वह अपनी पत्नीसे कह रहा था ॥ ८ ॥ 'अरी! तू दुष्ट और कुलटा है। तू पराये घरमें रह आयी है। स्त्री-लोभी राम भले ही सीताको रख लें, परन्तु मैं तुझे फिर नहीं रख सकता' ॥ ९ ॥ सचमुच सब लोगोंको प्रसन्न रखना टेढ़ी खीर है। क्योंकि मूर्खोंकी तो कमी नहीं है। जब भगवान् श्रीरामने बहुतोंके मुँहसे ऐसी बात सुनी, तो वे लोकापवादसे कुछ भयभीत-से हो गये। उन्होंने श्रीसीताजीका परित्याग कर दिया और वे वाल्मीकि मुनिके आश्रममें रहने लगीं ॥ १० ॥ सीताजी उस समय गर्भवती थीं। समय आनेपर उन्होंने एक साथ ही दो पुत्र उत्पन्न किये। उनके नाम हुए—कुश

१. ब्राह्मणदेवस्य। २. वचो०। ३. स्त्रैणो हि वि०।

कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया मुनिः ॥११॥
अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ ।
तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते ॥१२॥
सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः ।
गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम् ॥१३॥
तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत् ।
शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम् ।
हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम् ॥१४॥
मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता ।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः ।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद् रोद्धुमीश्वरः ॥१६॥
स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक्सर्वत्र[3] त्रासमावहः ।
अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः ॥१७॥
तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः ।
त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥१८॥
स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः ।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥१९॥
नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयाऽऽत्त-
लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः ।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः
किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः ॥२०॥

और लव। वाल्मीकि मुनिने उनके जातकर्मादि संस्कार किये। ११। लक्ष्मणजीके दो पुत्र हुए—अङ्गद और चित्रकेतु। परीक्षित्! इसी प्रकार भरतजीके भी दो ही पुत्र थे—तक्ष और पुष्कल॥ १२॥ तथा शत्रुघ्नके भी दो पुत्र हुए—सुबाहु और श्रुतसेन। भरतजीने दिग्विजयमें करोड़ों गन्धर्वोंका संहार किया॥ १३॥ उन्होंने उनका सब धन लाकर अपने बड़े भाई भगवान् श्रीरामकी सेवामें निवेदन किया। शत्रुघ्नजीने मधुवनमें मधुके पुत्र लवण नामक राक्षसको मारकर वहाँ मथुरा नामकी पुरी बसायी॥ १४॥ भगवान् श्रीरामके द्वारा निर्वासित सीताजीने अपने पुत्रोंको वाल्मीकिजीके हाथोंमें सौंप दिया और भगवान् श्रीरामके चरणकमलोंका ध्यान करती हुई वे पृथ्वीदेवीके लोकमें चली गयीं॥ १५॥ यह समाचार सुनकर भगवान् श्रीरामने अपने शोकावेशको बुद्धिके द्वारा रोकना चाहा, परन्तु परम समर्थ होनेपर भी वे उसे रोक न सके। क्योंकि उन्हें जानकीजीके पवित्र गुण बार-बार स्मरण हो आया करते थे॥ १६॥ परीक्षित्! यह स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध सब कहीं इसी प्रकार दुःखका कारण है। यह बात बड़े-बड़े समर्थ लोगोंके विषयमें भी ऐसी ही है, फिर गृहासक्त विषयी पुरुषके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है॥ १७॥

इसके बाद भगवान् श्रीरामने ब्रह्मचर्य धारण करके तेरह हजार वर्षतक अखण्डरूपसे अग्निहोत्र किया॥ १८॥ तदनन्तर अपना स्मरण करनेवाले भक्तोंके हृदयमें अपने उन चरणकमलोंको स्थापित करके, जो दण्डकवनके काँटोंसे बिंध गये थे, अपने स्वयंप्रकाश परम ज्योतिर्मय धाममें चले गये॥ १९॥

परीक्षित्! भगवान्‌के समान प्रतापशाली और कोई नहीं है, फिर उनसे बढ़कर तो हो ही कैसे सकता है। उन्होंने देवताओंकी प्रार्थनासे ही यह लीला-विग्रह धारण किया था। ऐसी स्थितिमें रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामके लिये यह कोई बड़े गौरवकी बात नहीं है कि उन्होंने अस्त्र-शस्त्रोंसे राक्षसोंको मार डाला या समुद्रपर पुल बाँध दिया। भला, उन्हें शत्रुओंको मारनेके लिये बंदरोंकी सहायताकी भी आवश्यकता थी क्या? यह सब उनकी लीला ही है॥ २०॥

१. दक्षश्चन्द्रके०। २. भर्तृविवा०। ३ सर्वत्रोत्तापमावहत्। ४. स्वगाणेः।

यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम् ।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

भगवान् श्रीरामका निर्मल यश समस्त पापोंको नष्ट कर देनेवाला है । वह इतना फैल गया है कि दिग्गजोंका श्यामल शरीर भी उसकी उज्ज्वलतासे चमक उठता है । आज भी बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि राजाओंकी सभामें उसका गान करते रहते हैं । स्वर्गके देवता और पृथ्वीके नरपति अपने कमनीय किरीटोंसे उनके चरणकमलोंकी सेवा करते रहते हैं । मैं उन्हीं रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥२१॥

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥२२॥

जिन्होंने भगवान् श्रीरामका दर्शन और स्पर्श किया, उनका सहवास अथवा अनुगमन किया—वे सब-के-सब तथा कोसलदेशके निवासी भी उसी लोकमें गये, जहाँ बड़े-बड़े योगी योगसाधनाके द्वारा जाते हैं ॥ २२ ॥

पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन् ।
आनृशंस्यपरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥२३॥

जो पुरुष अपने कानोंसे भगवान् श्रीरामका चरित्र सुनता है—उसे सरलता, कोमलता आदि गुणोंकी प्राप्ति होती है । परीक्षित् ! केवल इतना ही नहीं, वह समस्त कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

राजोवाच

कथं स भगवान् रामो भ्रातॄन् वा स्वयमात्मनः ।
तस्मिन् वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजाः पौराश्च ईश्वरे ॥२४॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवान् श्रीराम स्वयं अपने भाइयोंके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते थे ? तथा भरत आदि भाई, प्रजाजन और अयोध्यावासी भगवान् श्रीरामके प्रति कैसा बर्ताव करते थे ? ॥ २४ ॥

श्रीशुक[2] उवाच

अथादिशद् दिग्विजये भ्रातॄंस्त्रिभुवनेश्वरः ।
आत्मानं दर्शयन् स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः ॥२५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—त्रिभुवनपति महाराज श्रीरामने राजसिंहासन स्वीकार करनेके बाद अपने भाइयोंको दिग्विजयकी आज्ञा दी और स्वयं अपने निजजनोंको दर्शन देते हुए अपने अनुचरोंके साथ वे पुरीकी देखरेख करने लगे ॥ २५ ॥

आसिक्तमार्गा गन्धोदैः करिणां मदशीकरैः ।
स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्ता वा सुतरामिव ॥२६॥

उस समय अयोध्यापुरीके मार्ग सुगन्धित जल और हाथियोंके मदकणों से सिंचे रहते । ऐसा जान पड़ता, मानो यह नगरी अपने स्वामी भगवान् श्रीरामको देखकर अत्यन्त मतवाली हो रही है ॥२६॥

प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेवगृहादिषु[3] ।
विन्यस्तहेमकलशैः पताकाभिश्च मण्डिताम् ॥२७॥

उसके महल, फाटक, सभाभवन, विहार और देवालय आदिमें सुवर्णके कलश रक्खे हुए थे और स्थान-स्थानपर पताकाएँ फहरा रही थीं ॥ २७ ॥

पूगैः सवृन्तै रम्भाभिः पट्टिकाभिः सुवाससाम् ।
आदर्शैरंशुकैः स्रग्भिः कृतकौतुकतोरणाम् ॥२८॥

वह डंठलसमेत सुपारी, केलेके खंभे और सुन्दर वस्त्रोंके पट्टोंसे सजायी हुई थी । दर्पण, वस्त्र और पुष्पमालाओंसे तथा माङ्गलिक चित्रकारियों और बंदनवारोंसे सारी नगरी जगमगा रही थी।२८।

तमुपेयुस्तत्र तत्र पौरा अर्हणपाणयः ।

नगरवासी अपने हाथोंमें तरह-तरहकी भेंटें लेकर भगवान्‌के पास आते और उनसे प्रार्थना करते कि 'देव ! पहले

१. सद्वंतो । २. बादरायणिरुवाच । ३. सदस्सभाचैत्यगृहादिषु । ४. युस्तत्तत्र ।

आशिषो युयुजुर्देव पाहीमां प्राक् त्वयोद्धृताम्[1] ॥२९॥

ततः प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतं
दिदृक्षयोत्सृष्टगृहाः स्त्रियो नराः ।
आरुह्य हर्म्याण्यरविन्दलोचन-
मतृप्तनेत्राः[2] कुसुमैरवाकिरन् ॥३०॥

अथ प्रविष्टः स्वगृहं जुष्टं स्वैः पूर्वराजभिः ।
अनन्ताखिलकोशाढ्यमनर्घ्योरुपरिच्छदम् ॥३१॥

विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभिः ।
स्थलैर्मारकतैः[3] स्वच्छैर्भ्राजत्स्फटिकभित्तिभिः ॥३२॥

चित्रस्रग्भिः पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकैः ।
मुक्ताफलैश्चिदुल्लासैः कान्तकामोपपत्तिभिः ॥३३॥

धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनैः[4] ।
स्त्रीपुम्भिः सुरसंकाशैर्जुष्टं भूषणभूषणैः ॥३४॥

तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया ।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल ॥३५॥

बुभुजे[5] च यथाकालं कामान् धर्ममपीडयन् ।
वर्षपूगान् बहून् नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः ॥३६॥

आपने ही वराहरूपसे पृथ्वीका उद्धार किया था, अब आप ही इसका पालन कीजिये ॥ २९ ॥ परीक्षित् ! उस समय जब प्रजाको मालूम होता कि बहुत दिनोंके बाद भगवान् श्रीरामजी इधर पधारे हैं, तब सभी स्त्री-पुरुष उनके दर्शनकी लालसासे घर-द्वार छोड़कर दौड़ पड़ते । वे ऊँची-ऊँची अटारियोंपर चढ़ जाते और अतृप्त नेत्रोंसे कमलनयन भगवान्को देखते हुए उनपर पुष्पोंकी वर्षा करते ॥ ३० ॥

इस प्रकार प्रजाका निरीक्षण करके भगवान् फिर अपने महलोंमें आ जाते । उनके वे महल पूर्ववर्ती राजाओंके द्वारा सेवित थे । उनमें इतने बड़े-बड़े सब प्रकारके खजाने थे, जो कभी समाप्त नहीं होते थे । वे बड़ी-बड़ी बहुमूल्य बहुत-सी सामग्रियोंसे सुसज्जित थे ॥ ३१ ॥ महलोंके द्वार तथा देहलियाँ मूँगेकी बनी हुई थीं । उनमें जो खंभे थे, वे वैदूर्यमणिके थे । मरकतमणिके बड़े सुन्दर-सुन्दर फर्श थे, तथा स्फटिकमणिकी दीवारें चमकती रहती थीं ॥ ३२ ॥ रंग-बिरंगी मालाओं, पताकाओं, मणियोंकी चमक, शुद्ध चेतनके समान उज्ज्वल मोती, सुन्दर-सुन्दर भोग-सामग्री, सुगन्धित धूप-दीप तथा फूलोंके गहनोंसे वे महल खूब सजाये हुए थे । आभूषणोंको भी भूषित करनेवाले देवताओंके समान स्त्री-पुरुष उसकी सेवामें लगे रहते थे ॥ ३३-३४ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीरामजी आत्माराम जितेन्द्रिय पुरुषोंके शिरोमणि थे । उसी महलमें वे अपनी प्राणप्रिया प्रेममयी पत्नी श्रीसीताजीके साथ विहार करते थे ॥ ३५ ॥ सभी स्त्री-पुरुष जिनके चरणकमलोंका ध्यान करते रहते हैं, वे ही भगवान् श्रीराम बहुत वर्षोंतक धर्मकी मर्यादाका पालन करते हुए समयानुसार भोगोंका उपभोग करते रहे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे श्रीरामोपाख्याने[6]
एकादशोऽध्यायः ॥११॥

१. त्वयाऽऽहृताम् । २. चनं न तृप्त० । ३. तथा स्थलैर्मारकतैर्भ्रात० । ४. मण्डलैः । ५. बुभुजे स कामानन्यानपीडयन् । ६. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीरामोपाख्याने' इतना अंश नहीं है ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

इक्ष्वाकुवंशके शेष राजाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच

कुशस्य चातिथिस्तस्मान्निषधस्तत्सुतो नभः ।
पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्रः क्षेमधन्वाभवत्ततः ॥ १ ॥
देवानीकस्ततोऽनीहः पारियात्रोऽथ तत्सुतः ।
ततो बलस्थलस्तस्माद् वज्रनाभोऽर्कसम्भवः ॥ २ ॥
खगणस्तत्सुतस्तस्माद् विधृतिश्चाभवत् सुतः ।
ततो हिरण्यनाभोऽभूद् योगाचार्यस्तु जैमिनेः ॥ ३ ॥
शिष्यः कौसल्य आध्यात्मं याज्ञवल्क्योऽध्यगाद् यतः ।
योगं महोदयमृषिर्हृदयग्रन्थिभेदकम् ॥ ४ ॥
पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत् ।
सुदर्शनोऽथाग्निवर्णः शीघ्रस्तस्य मरुः सुतः ॥ ५ ॥
योऽसावास्ते योगसिद्धः कलापग्राममाश्रितः ।
कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः ॥ ६ ॥
तस्मात् प्रसुश्रुतस्तस्य सन्धिस्तस्याप्यमर्षणः ।
महस्वांस्तत्सुतस्तस्माद् विश्वसाह्वोऽन्वजायत ॥ ७ ॥
ततः प्रसेनजित् तस्मात् तक्षको भविता पुनः ।
ततो बृहद्बलो यस्तु पित्रा ते समरे हतः ॥ ८ ॥
एते हीक्ष्वाकुभूपाला अतीताः शृण्वनागतान् ।
बृहद्बलस्य भविता पुत्रो नाम बृहद्रणः ॥ ९ ॥
उरुक्रियस्ततस्तस्य वत्सवृद्धो भविष्यति ।
प्रतिव्योमस्ततो भानुर्दिवाको वाहिनीपतिः ॥ १० ॥
सहदेवस्ततो वीरो बृहदश्वोऽथ भानुमान् ।
प्रतीकाश्वो भानुमतः सुप्रतीकोऽथ तत्सुतः ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! कुशका पुत्र हुआ अतिथि, उसका निषध, निषधका नभ, नभका पुण्डरीक और पुण्डरीकका क्षेमधन्वा ॥ १ ॥ क्षेमधन्वाका देवानीक, देवानीकका अनीह, अनीहका पारियात्र, पारियात्रका बलस्थल और बलस्थलका पुत्र हुआ वज्रनाभ। यह सूर्यका अंश था ॥ २ ॥ वज्रनाभसे खगण, खगणसे विधृति और विधृतिसे हिरण्यनाभकी उत्पत्ति हुई । वह जैमिनिका शिष्य और योगाचार्य था ॥ ३ ॥ कोसलदेशवासी याज्ञवल्क्य ऋषिने उसकी शिष्यता स्वीकार करके उससे अध्यात्मयोगकी शिक्षा ग्रहण की थी । वह योग हृदयकी गाँठ काट देनेवाला तथा परम सिद्धि देनेवाला है ॥ ४ ॥ हिरण्यनाभका पुष्य, पुष्यका ध्रुवसन्धि, ध्रुवसन्धिका सुदर्शन, सुदर्शनका अग्निवर्ण, अग्निवर्णका शीघ्र और शीघ्रका पुत्र हुआ मरु ॥ ५ ॥ मरुने योगसाधनासे सिद्धि प्राप्त कर ली और वह इस समय भी कलाप नामक ग्राममें रहता है । कलियुगके अन्तमें सूर्यवंशके नष्ट हो जानेपर वह उसे फिरसे चलायेगा ॥ ६ ॥ मरुसे प्रसुश्रुत, उससे सन्धि और सन्धिसे अमर्षणका जन्म हुआ । अमर्षणका महस्वान्, और महस्वान्का विश्वसाह्व ॥ ७ ॥ विश्वसाह्वका प्रसेनजित्, प्रसेनजित्का तक्षक और तक्षकका पुत्र बृहद्बल हुआ । परीक्षित् ! इसी बृहद्बलको तुम्हारे पिता अभिमन्युने युद्धमें मार डाला था ॥ ८ ॥

परीक्षित् ! इक्ष्वाकुवंशके इतने नरपति हो चुके हैं । अब आनेवालोंके विषयमें सुनो । बृहद्बलका पुत्र होगा बृहद्रण ॥ ९ ॥ बृहद्रणका उरुक्रिय, उसका वत्सवृद्ध, वत्सवृद्धका प्रतिव्योम, प्रतिव्योमका भानु और भानुका पुत्र होगा सेनापति दिवाक ॥ १० ॥ दिवाकका वीर सहदेव, सहदेवका बृहदश्व, बृहदश्वका भानुमान्, भानुमान्का प्रतीकाश्व और प्रतीकाश्वका पुत्र होगा

१. हीनः । २. विसृष्टिश्चाभवत्ततः । ३. दनम् । ४. तस्मात् प्रश्रुतपुत्रस्तु सन्धि० । ५. प्राचीन प्रतिमें 'तत ··· पुनः' यह पूर्वार्ध नहीं है, इसके स्थानपर वर्तमान प्रतिमें आया हुआ 'भविता ··· मित्रजित्' यह बारहवाँ श्लोक दिया है, इसमें भी 'मरुदेवो' के स्थानमें 'मनुदेवो' पाठ है ।

भविता मरुदेवोऽथ सुनक्षत्रोऽथ पुष्करः ।
तस्यान्तरिक्षस्तत्पुत्रः सुतपास्तदमित्रजित् ॥१२॥
बृहद्राजस्तु तस्यापि बर्हिस्तस्मात् कृतञ्जयः ।
रणञ्जयस्तस्य सुतः सञ्जयो भविता ततः ॥१३॥
तस्माच्छाक्योऽथ शुद्धोदो लाङ्गलस्तत्सुतः स्मृतः ।
ततः प्रसेनजित् तस्मात् क्षुद्रको भविता ततः ॥१४॥
रणको भविता तस्मात् सुरथस्तनयस्ततः ।
सुमित्रो नाम निष्ठान्त एते बार्हद्बलान्वयाः ॥१५॥
इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥१६॥

सुप्रतीक ॥ ११ ॥ सुप्रतीकका मरुदेव, मरुदेवका सुनक्षत्र, सुनक्षत्रका पुष्कर, पुष्करका अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षका सुतपा और उसका पुत्र होगा अमित्रजित् ॥ १२ ॥ अमित्रजित्से बृहद्राज, बृहद्राजसे बर्हि, बर्हिसे कृतञ्जय, कृतञ्जयसे रणञ्जय और उससे सञ्जय होगा ॥ १३ ॥ सञ्जयका शाक्य, उसका शुद्धोद और शुद्धोदका लाङ्गल, लाङ्गलका प्रसेनजित् और प्रसेनजित्का पुत्र क्षुद्रक होगा ॥ १४ ॥ क्षुद्रकसे रणक, रणकसे सुरथ और सुरथसे इस वंशके अन्तिम राजा सुमित्रका जन्म होगा । ये सब बृहद्बलके वंशधर होंगे ॥ १५ ॥ इक्ष्वाकुका यह वंश सुमित्रतक ही रहेगा । क्योंकि सुमित्रके राजा होनेपर कलियुगमें यह वंश समाप्त हो जायगा ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे इक्ष्वाकुवंशवर्णनं[4] नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

राजा निमिके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वसिष्ठमवृतर्त्विजम् ।
आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः ॥१॥
निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय ।
तूष्णीमासीद् गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम् ॥२॥
निमिश्चलमिदं विद्वान् सत्रमारभतात्मवान् ।
ऋत्विग्भिरपरैस्तावन्नागमद् यावता गुरुः ॥ ३ ॥
शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुरागतः ।
अशपत् पतताद् देहो निमेः पण्डितमानिनः ॥ ४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इक्ष्वाकुके पुत्र थे निमि । उन्होंने यज्ञ आरम्भ करके महर्षि वसिष्ठको ऋत्विजके रूपमें वरण किया । वसिष्ठजीने कहा कि 'राजन् ! इन्द्र अपने यज्ञके लिये मुझे पहले ही वरण कर चुके हैं ॥ १ ॥ उनका यज्ञ पूरा करके मैं तुम्हारे पास आऊँगा । तबतक तुम मेरी प्रतीक्षा करना ।' यह बात सुनकर राजा निमि चुप हो रहे और वसिष्ठजी इन्द्रका यज्ञ कराने चले गये ॥ २ ॥ विचारवान् निमिने यह सोचकर कि जीवन तो क्षणभङ्गुर है, विलम्ब करना उचित न समझा और यज्ञ प्रारम्भ कर दिया । जबतक गुरु वसिष्ठजी न लौटें, तबतकके लिये उन्होंने दूसरे ऋत्विजोंको वरण कर लिया ॥ ३ ॥ गुरु वसिष्ठजी जब इन्द्रका यज्ञ सम्पन्न करके लौटे, तो उन्होंने देखा कि उनके शिष्य निमिने तो उनकी बात न मानकर यज्ञ प्रारम्भ कर दिया है । उस समय उन्होंने शाप दिया कि 'निमिको अपनी विचारशीलता और पाण्डित्यका बड़ा घमंड है, इसलिये इसका शरीरपात हो जाय' ॥ ४ ॥

१. बृहद्भुजस्तु । २. तस्मात्शाक्योऽथ । ३. लाः स्मृताः । ४. वंशानुकथने श्रीरामचरिते ।

निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने ।
तवापि पतताद् देहो लोभाद् धर्ममजानतः ॥ ५ ॥
इत्युत्ससर्ज स्वं देहं निमिरध्यात्मकोविदः ।
मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः ॥ ६ ॥
गन्धवस्तुषु तद्देहं निधाय मुनिसत्तमाः ।
समाप्ते सत्रयागेऽथ देवानूचुः समागतान् ॥ ७ ॥
राज्ञो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि ।
तथेत्युक्ते निमिः प्राह मा भून्मे देहबन्धनम् ॥ ८ ॥
यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः ।
भजन्ति चरणाम्भोजं मुनयो हरिमेधसः ॥ ९ ॥
देहं नावरुरुत्सेऽहं दुःखशोकभयावहम् ।
सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्मत्स्यानामुदके यथा ॥१०॥

देवा ऊचुः

विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम् ।
उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः॥११॥
अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः ।
देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत ॥१२॥
जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः ।

निमिकी दृष्टिमें गुरु वसिष्ठका यह शाप धर्मके अनुकूल नहीं, प्रतिकूल था । इसलिये उन्होंने भी शाप दिया कि 'आपने लोभवश अपने धर्मका आदर नहीं किया, इसलिये आपका शरीर भी गिर जाय' ॥ ५ ॥ यह कहकर आत्मविद्यामें निपुण निमिने अपने शरीरका त्याग कर दिया। परीक्षित् ! इधर हमारे वृद्ध प्रपितामह वसिष्ठजीने भी अपना शरीर त्याग कर मित्रावरुणके द्वारा उर्वशीके गर्भसे जन्म ग्रहण किया ॥ ६ ॥ राजा निमिके यज्ञमें आये हुए श्रेष्ठ मुनियोंने राजाके शरीरको सुगन्धित वस्तुओंमें रख दिया । जब सत्रयागकी समाप्ति हुई और देवतालोग आये, तब उन लोगोंने उनसे प्रार्थना की ॥ ७ ॥ 'महानुभावो ! आपलोग समर्थ हैं । यदि आप प्रसन्न हैं तो राजा निमिका यह शरीर पुनः जीवित हो उठे । देवताओंने कहा—'ऐसा ही हो ।' उस समय निमिने कहा—'मुझे देहका बन्धन नहीं चाहिये ॥ ८ ॥ विचारशील मुनिजन अपनी बुद्धिको पूर्णरूपसे श्रीभगवान्में ही लगा देते हैं और उन्हींके चरणकमलोंका भजन करते हैं । एक-न-एक दिन यह शरीर अवश्य ही छूटेगा—इस भयसे भीत होनेके कारण वे इस शरीरका भी संयोग ही नहीं चाहते; वे तो मुक्त ही होना चाहते हैं ॥ ९ ॥ अतः मैं अब दुःख, शोक और भयके मूल कारण इस शरीरको धारण करना नहीं चाहता । जैसे जलमें मछलीके लिये सर्वत्र ही मृत्युके अवसर हैं, वैसे ही इस शरीरके लिये भी सब कहीं मृत्यु-ही-मृत्यु है' ॥ १० ॥

देवताओंने कहा—मुनियो ! राजा निमि बिना शरीरके ही प्राणियोंके नेत्रोंमें अपनी इच्छाके अनुसार निवास करें । वे वहाँ रहकर सूक्ष्मशरीरसे भगवान्का चिन्तन करते रहें । पलक उठने और गिरनेसे उनके अस्तित्वका पता चलता रहेगा ॥ ११ ॥ इसके बाद महर्षियोंने यह सोचकर कि राजाके न रहनेपर लोगोंमें अराजकता फैल जायगी, निमिके शरीरका मन्थन किया । उस मन्थनसे एक कुमार उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥ जन्म लेनेके कारण उसका नाम हुआ जनक । विदेहसे उत्पन्न

१. तं देहं । २. याश्रयात् ।

मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥१३॥

होनेके कारण 'वैदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण उसी बालकका नाम 'मिथिल' हुआ। उसीने मिथिलापुरी बसायी ॥ १३ ॥

तस्मादुदावसुस्तस्य पुत्रोऽभून्नन्दिवर्धनः ।
ततः सुकेतुस्तस्यापि देवरातो महीपते ॥१४॥
तस्माद् बृहद्रथस्तस्य महावीर्यः सुधृत्पिता ।
सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै हर्यश्वोऽथ मरुस्ततः ॥१५॥
मरोः प्रतीपकस्तस्माज्जातः कृतिरथो यतः ।
देवमीढस्तस्य सुतो विश्रुतोऽथ महाधृतिः ॥१६॥
कृतिरातस्ततस्तस्मान्महारोमाथ तत्सुतः ।
स्वर्णरोमा सुतस्तस्य ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥१७॥
ततः सीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम् ।
सीता सीराग्रतो जाता तस्मात् सीरध्वजः स्मृतः ॥१८॥
कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः ।
धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ ॥१९॥
कृतध्वजात् केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात् ।
कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः ॥२०॥
खाण्डिक्यः कर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजाद् द्रुतः ।
भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः ॥२१॥
शुचिस्तत्तनयस्तस्मात् सनद्वाजस्ततोऽभवत् ।
ऊर्ध्वकेतुः सनद्वाजादजोऽथ पुरुजित्सुतः ॥२२॥
अरिष्टनेमिस्तस्यापि श्रुतायुस्तत्सुपार्श्वकः ।
ततश्चित्ररथो यस्य क्षेमधिर्मिथिलाधिपः ॥२३॥
तस्मात् समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः ।
आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसंभवः ॥२४॥
वस्वनन्तोऽथ तत्पुत्रो युयुधो यत् सुभाषणः ।
श्रुतस्ततो जयस्तस्माद् विजयोऽस्मादृतः सुतः ॥२५॥
शुनकस्तत्सुतो जज्ञे वीतहव्यो धृतिस्ततः ।
बहुलाश्वो धृतेस्तस्य कृतिरस्य महावशी ॥२६॥

परीक्षित्! जनकका उदावसु, उसका नन्दिवर्द्धन, नन्दिवर्द्धनका सुकेतु, उसका देवरात, देवरातका बृहद्रथ, बृहद्रथका महावीर्य, महावीर्यका सुधृति, सुधृतिका धृष्टकेतु, धृष्टकेतुका हर्यश्व और उसका मरु नामक पुत्र हुआ ॥ १४-१५ ॥ मरुसे प्रतीपक, प्रतीपकसे कृतिरथ, कृतिरथसे देवमीढ, देवमीढसे विश्रुत और विश्रुतसे महाधृतिका जन्म हुआ ॥ १६ ॥ महाधृतिका कृतिरात, कृतिरातका महारोमा, महारोमाका स्वर्णरोमा और स्वर्णरोमाका पुत्र हुआ ह्रस्वरोमा ॥ १७ ॥ इसी ह्रस्वरोमाके पुत्र महाराज सीरध्वज थे। वे जब यज्ञके लिये धरती जोत रहे थे, तब उनके सीर (हल) के अग्रभाग (फाल) से सीताजीकी उत्पत्ति हुई। इसीसे उनका नाम 'सीरध्वज' पड़ा ॥ १८ ॥ सीरध्वजके कुशध्वज, कुशध्वजके धर्मध्वज और धर्मध्वजके दो पुत्र हुए—कृतध्वज और मितध्वज ॥ १९ ॥ कृतध्वजके केशिध्वज और मितध्वजके खाण्डिक्य हुए। केशिध्वज आत्मविद्यामें बड़ा प्रवीण था ॥ २० ॥ खाण्डिक्य था कर्मकाण्डका मर्मज्ञ। वह केशिध्वजसे भयभीत होकर भाग गया। केशिध्वजका पुत्र भानुमान् और भानुमान्‌का शतद्युम्न था ॥ २१ ॥ शतद्युम्नसे शुचि, शुचिसे सनद्वाज, सनद्वाजसे ऊर्ध्वकेतु, ऊर्ध्वकेतुसे अज, अजसे पुरुजित्, पुरुजित्से अरिष्टनेमि, अरिष्टनेमिसे श्रुतायु, श्रुतायुसे सुपार्श्वक, सुपार्श्वकसे चित्ररथ और चित्ररथसे मिथिलापति क्षेमधिका जन्म हुआ ॥ २२-२३ ॥ क्षेमधिसे समरथ, समरथसे सत्यरथ, सत्यरथसे उपगुरु और उपगुरुसे उपगुप्त नामक पुत्र हुआ। यह अग्निका अंश था ॥ २४ ॥ उपगुप्तका वस्वनन्त, वस्वनन्तका युयुध, युयुधका सुभाषण, सुभाषणका श्रुत, श्रुतका जय, जयका विजय और विजयका ऋत नामक पुत्र हुआ ॥ २५ ॥ ऋतका शुनक, शुनकका वीतहव्य, वीतहव्यका धृति, धृतिका बहुलाश्व, बहुलाश्वका कृति और कृतिका पुत्र हुआ महावशी ॥ २६ ॥

१. रीथो। २. प्रतिरथस्त०। ३. कृत०। ४. विश्वनाथो मरुत्कृतिः। ५. विदतस्तत्सुतस्तस्मा०। ६. तस्मात्। ७. सीरध्वजस्ततो राजन् यज्ञार्थं। ८. स्याभूत्। ९. गुरुस्त्वग्नि०। १०. वीतिहव्यो। ११. बहुलाख्यो।

एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः ।
योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ।।२७।।

परीक्षित् ! ये मिथिलके वंशमें उत्पन्न सभी नरपति 'मैथिल' कहलाते हैं । ये सब-के-सब आत्मज्ञानसे सम्पन्न एवं गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त थे । क्यों न हो, याज्ञवल्क्य आदि बड़े-बड़े योगेश्वरोंकी इनपर महान् कृपा जो थी ।। २७ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे निमिवंशानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

चन्द्रवंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

अथातः श्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः ।
यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः ।। १ ।।
सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात् ।
जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः ।। २ ।।
तस्य दृग्भ्योऽभवत् पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल ।
विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः ।। ३ ।।
सोऽयजद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम् ।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारां नामाहरद् बलात् ।। ४ ।।
यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात् ।
नात्यजत् तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः ।। ५ ।।
शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत्[1] सासुरोडुपम्[2] ।
हरो गुरुसुतं स्नेहात् सर्वभूतगणावृतः ।। ६ ।।
सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वयात् ।
सुरासुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः ।। ७ ।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब मैं तुम्हें चन्द्रमाके पावन वंशका वर्णन सुनाता हूँ । इस वंशमें पुरूरवा आदि बड़े-बड़े पवित्रकीर्ति राजाओंका कीर्तन किया जाता है ।। १ ।। सहस्रों सिरवाले विराट् पुरुष नारायणके नाभि-सरोवरके कमलसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई । ब्रह्माजीके पुत्र हुए अत्रि । वे अपने गुणोंके कारण ब्रह्माजीके समान ही थे ।। २ ।। उन्हीं अत्रिके नेत्रोंसे अमृतमय चन्द्रमाका जन्म हुआ । ब्रह्माजीने चन्द्रमाको ब्राह्मण, ओषधि और नक्षत्रोंका अधिपति बना दिया ।।३।। उन्होंने तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त की और राजसूय यज्ञ किया । इससे उनका घमंड बढ़ गया और उन्होंने बलपूर्वक बृहस्पतिकी पत्नी ताराको हर लिया ।। ४ ।। देवगुरु बृहस्पतिने अपनी पत्नीको लौटा देनेके लिये उनसे बार-बार याचना की, परन्तु वे इतने मतवाले हो गये थे कि उन्होंने किसी प्रकार उनकी पत्नीको नहीं लौटाया । ऐसी परिस्थितिमें उसके लिये देवता और दानवोंमें घोर संग्राम छिड़ गया ।। ५ ।। शुक्राचार्यजीने बृहस्पतिजीके द्वेषसे असुरोंके साथ चन्द्रमाका पक्ष ले लिया और महादेवजीने स्नेहवश समस्त भूतगणोंके साथ अपने विद्यागुरु अङ्गिराजीके पुत्र बृहस्पतिका पक्ष लिया ।। ६ ।। देवराज इन्द्रने भी समस्त देवताओंके साथ अपने गुरु बृहस्पतिजीका ही पक्ष लिया । इस प्रकार ताराके निमित्तसे देवता और असुरोंका संहार करनेवाला घोर संग्राम हुआ ।। ७ ।।

१. जनकवंशत्रयो० । २. ह्रीदसुरोदयम् ।

निवेदितोऽथाङ्गिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत्[1]।
तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत् पतिः ॥ ८ ॥
त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः।
नाहं त्वां भस्मसात् कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकः सति ॥ ९ ॥
तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम्।
स्पृहामाङ्गिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च ॥ १० ॥
ममायं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन् विवदमानयोः।
पप्रच्छुर्ऋषयो देवा नैवोचे व्रीडिता तु सा ॥ ११ ॥
कुमारो मातरं प्राह कुपितोऽलीकलज्जया।
किं न वोचस्यसद्वृत्ते आत्मावद्यं वदाशु मे ॥ १२ ॥
ब्रह्मा तां रह आहूय[2] समप्राक्षीच्च सान्त्वयन्।
सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्रहीत् ॥ १३ ॥
तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप।
बुद्ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण्मुदम् ॥ १४ ॥
ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः।
तस्य रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान् ॥ १५ ॥
श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान् सुरर्षिणा।
तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता ॥ १६ ॥

तदनन्तर अङ्गिरा ऋषिने ब्रह्माजीके पास जाकर यह युद्ध बंद करानेकी प्रार्थना की। इसपर ब्रह्माजीने चन्द्रमाको बहुत डाँटा-फटकारा और ताराको उसके पति बृहस्पतिजीके हवाले कर दिया। जब बृहस्पतिजीको यह मालूम हुआ कि तारा तो गर्भवती है, तब उन्होंने कहा—॥ ८ ॥ 'दुष्टे! मेरे क्षेत्रमें यह तो किसी दूसरेका गर्भ है। इसे तू अभी त्याग दे, तुरंत त्याग दे। डर मत, मैं तुझे जलाऊँगा नहीं। क्योंकि एक तो तू स्त्री है और दूसरे मुझे भी सन्तानकी कामना है। देवी होनेके कारण तू निर्दोष भी है ही' ॥ ९ ॥ अपने पतिकी बात सुनकर तारा अत्यन्त लज्जित हुई। उसने सोनेके समान चमकता हुआ एक बालक अपने गर्भसे अलग कर दिया। उस बालकको देखकर बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों ही मोहित हो गये और चाहने लगे कि यह हमें मिल जाय ॥ १० ॥ अब वे एक दूसरेसे इस प्रकार जोर-जोरसे झगड़ा करने लगे कि 'यह तुम्हारा नहीं मेरा है।' ऋषियों और देवताओंने तारासे पूछा कि 'यह किसका लड़का है।' परन्तु ताराने लज्जावश कोई उत्तर न दिया ॥ ११ ॥ बालकने अपनी माताकी झूठी लज्जासे क्रोधित होकर कहा—'दुष्टे! तू बतलाती क्यों नहीं? तू अपना कुकर्म मुझे शीघ्र-से-शीघ्र बतला दे' ॥ १२ ॥ उसी समय ब्रह्माजीने ताराको एकान्तमें बुलाकर बहुत कुछ समझा-बुझाकर पूछा। तब ताराने धीरेसे कहा कि 'चन्द्रमाका।' इसलिये चन्द्रमाने उस बालकको ले लिया ॥ १३ ॥ परीक्षित्! ब्रह्माजीने उस बालकका नाम रक्खा 'बुध', क्योंकि उसकी बुद्धि बड़ी गम्भीर थी। ऐसा पुत्र प्राप्त करके चन्द्रमाको बहुत आनन्द हुआ ॥ १४ ॥

परीक्षित्! बुधके द्वारा इलाके गर्भसे पुरूरवाका जन्म हुआ। इसका वर्णन मैं पहले ही कर चुका हूँ। एक दिन इन्द्रकी सभामें देवर्षि नारदजी पुरूरवाके रूप, गुण, उदारता, शील-स्वभाव, धन-सम्पत्ति और पराक्रमका गान कर रहे थे। उन्हें सुनकर उर्वशीके हृदयमें कामभावका उदय हो आया और उससे पीडित होकर वह देवाङ्गना पुरूरवाके पास चली आयी ॥ १५-१६ ॥

१. विश्वराट्। २. तारां समाहूय।

मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम् ।
निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम् ।
धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके ॥१७॥
स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनूरुहः ॥१८॥

राजोवाच

स्वागतं ते वरारोहे आस्यतां करवाम किम् ।
संरमस्व मया साकं रतिर्नौ शाश्वतीः समाः ॥१९॥

उर्वश्युवाच

कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर ।
यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते ह रिरंसया ॥२०॥
एतावुरणकौ राजन् न्यासौ रक्षस्व मानद ।
संरंस्ये भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः ॥२१॥
घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात् ।
विवाससं तत् तथेति प्रतिपेदे महामनाः ॥२२॥
अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम् ।
को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम् ॥२३॥
तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः ।
रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु ॥२४॥
रममाणस्तया देव्या पद्मकिञ्जल्कगन्धया ।

यद्यपि उर्वशीको मित्रावरुणके शापसे ही मृत्युलोकमें आना पड़ा था, फिर भी पुरुषशिरोमणि पुरूरवा मूर्तिमान् कामदेवके समान सुन्दर हैं—यह सुनकर सुर-सुन्दरी उर्वशीने धैर्य धारण किया और वह उनके पास चली आयी ॥ १७ ॥ देवाङ्गना उर्वशीको देखकर राजा पुरूरवाके नेत्र हर्षसे खिल उठे। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने बड़ी मीठी वाणीसे कहा—॥ १८ ॥

राजा पुरूरवाने कहा—सुन्दरी! तुम्हारा स्वागत है। बैठो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ? तुम मेरे साथ विहार करो और हम दोनोंका यह विहार अनन्त कालतक चलता रहे ॥ १९ ॥

उर्वशीने कहा—'राजन्! आप सौन्दर्यके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। भला, ऐसी कौन कामिनी है जिसकी दृष्टि और मन आपमें आसक्त न हो जाय? क्योंकि आपके समीप आकर मेरा मन रमणकी इच्छासे अपना धैर्य खो बैठा है ॥ २० ॥ राजन्! जो पुरुष रूप-गुण आदिके कारण प्रशंसनीय होता है, वही स्त्रियोंको अभीष्ट होता है। अतः मैं आपके साथ अवश्य विहार करूँगी। परन्तु मेरे प्रेमी महाराज! मेरी एक शर्त है। मैं आपको धरोहरके रूपमें भेड़के दो बच्चे सौंपती हूँ। आप इनकी रक्षा करना ॥ २१ ॥ वीरशिरोमणे! मैं केवल घी खाऊँगी और मैथुनके अतिरिक्त और किसी भी समय आपको वस्त्रहीन न देख सकूँगी।' परम मनस्वी पुरूरवाने 'ठीक है'—ऐसा कहकर उसकी शर्त स्वीकार कर ली ॥ २२ ॥ और फिर उर्वशीसे कहा—तुम्हारा यह सौन्दर्य अद्भुत है। तुम्हारा भाव अलौकिक है। यह तो सारी मनुष्यसृष्टिको मोहित करनेवाला है। और देवि! कृपा करके तुम स्वयं यहाँ आयी हो। फिर कौन ऐसा मनुष्य है, जो तुम्हारा सेवन न करेगा? ॥ २३ ॥

परीक्षित्! तब उर्वशी कामशास्त्रोक्त पद्धतिसे पुरुषश्रेष्ठ पुरूरवाके साथ विहार करने लगी। वे भी देवताओंकी विहारस्थली चैत्ररथ, नन्दनवन आदि उपवनोंमें उसके साथ स्वच्छन्द विहार करने लगे ॥ २४ ॥ देवी उर्वशीके शरीरसे कमलकेसरकी-सी सुगन्ध निकला करती थी। उसके साथ राजा पुरूरवाने बहुत वर्षोंतक

१. शा०। २. सार्द्धं सुरतिः शा०। ३. ता शश्वच्छ्लाघ्यः। ४. तथा वेति।

तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽहर्गणान् बहून् ॥२५॥
अपश्यन्नुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान् समचोदयत् ।
उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते ॥२६॥
ते उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते ।
उर्वश्या उरणौ जह्रुर्न्यस्तौ राजनि जायया ॥२७॥
निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः ।
हतास्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना ॥२८॥
यद्विश्रम्भादहं नष्टा हृतापत्या च दस्युभिः ।
यः शेते निशि संत्रस्तो यथा नारी दिवा पुमान् ॥२९॥
इति वाक्सायकैर्विद्धः प्रतोत्त्रैरिव कुञ्जरः ।
निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोऽभ्यद्रवद् रुषा ॥३०॥
ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त स्म विद्युतः ।
आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिम् ॥३१॥
ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन् विमना इव ।
तच्चित्तो विह्वलः शोचन् बभ्रामोन्मत्तवन्महीम् ॥३२॥
स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यां च तत्सखीः ।
पञ्च प्रहृष्टवदनाः प्राह सूक्तं पुरूरवाः ॥३३॥
अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि ।

आनन्द-विहार किया । वे उसके मुखकी सुरभिसे अपनी सुध-बुध खो बैठते थे ॥२५॥ इधर जब इन्द्रने उर्वशीको नहीं देखा, तब उन्होंने गन्धर्वोंको उसे लानेके लिये भेजा और कहा—'उर्वशीके बिना मुझे यह स्वर्ग फीका जान पड़ता है' ॥ २६ ॥ वे गन्धर्व आधी रातके समय घोर अन्धकारमें वहाँ गये और उर्वशीके दोनों भेड़ोंको, जिन्हें उसने राजाके पास धरोहर रक्खा था, चुराकर चलते बने ॥२७॥ उर्वशीने जब गन्धर्वोंके द्वारा ले जाये जाते हुए अपने पुत्रके समान प्यारे भेड़ोंकी 'बें-बें' सुनी, तब वह कह उठी कि 'अरे, इस कायरको अपना स्वामी बनाकर मैं तो मारी गयी । यह नपुंसक अपनेको बड़ा वीर मानता है यह मेरे भेड़ोंको भी न बचा सका ॥ २८ ॥ इसीपर विश्वास करनेके कारण लुटेरे मेरे बच्चोंको लूटकर लिये जा रहे हैं । मैं तो मर गयी । देखो तो सही, यह दिनमें तो मर्द बनता है और रातमें स्त्रियोंकी तरह डरकर सोया रहता है' ॥२९॥ परीक्षित् ! जैसे कोई हाथीको अंकुशसे बेध डाले, वैसे ही उर्वशीने अपने वचन-बाणोंसे राजाको बींध दिया । राजा पुरूरवाको बड़ा क्रोध आया और हाथमें तलवार लेकर वस्त्रहीन-अवस्थामें ही वे उस ओर दौड़ पड़े ॥ ३० ॥ गन्धर्वोंने उनके झपटते ही भेड़ोंको तो वहीं छोड़ दिया और स्वयं बिजलीकी तरह चमकने लगे । जब राजा पुरूरवा भेड़ोंको लेकर लौटे, तब उर्वशीने उस प्रकाशमें उन्हें वस्त्रहीन-अवस्थामें देख लिया । (बस, वह उसी समय उन्हें छोड़कर चली गयी) ॥ ३१ ॥

परीक्षित् ! राजा पुरूरवाने जब अपने शयनागारमें अपनी प्रियतमा उर्वशीको नहीं देखा, तो वे अनमने हो गये । उनका चित्त उर्वशीमें ही बसा हुआ था । वे उसके लिये शोकसे विह्वल हो गये और उन्मत्तकी भाँति पृथ्वीमें इधर-उधर भटकने लगे ॥ ३२ ॥ एक दिन कुरुक्षेत्रमें सरस्वती नदीके तटपर उन्होंने उर्वशी और उसकी पाँच प्रसन्नमुखी सखियोंको देखा और बड़ी मीठी वाणीसे कहा— ॥ ३३ ॥ 'प्रिये ! तनिक ठहर जाओ । एक बार मेरी बात मान लो । निष्ठुरे ! अब आज तो मुझे सुखी

१. विक्षताः । २. विक्लवः ।

मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै ॥३४॥

सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया[1] ।

खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम् ॥३५॥

उर्वश्युवाच

मा मृथा पुरुषोऽसि त्वं मा स्म त्वाद्युर्वृका इमे ।

क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा ॥३६॥

स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः[2] प्रियसाहसाः ।

घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत ॥३७॥

विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः ।

नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः ॥३८॥

संवत्सरान्ते हि भवानेकरात्रं मयेश्वर ।

वत्स्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि भोः ॥३९॥

अन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य देवीं स प्रययौ पुरम् ।

पुनस्तत्र गतोऽब्दान्ते उर्वशीं वीरमातरम् ॥४०॥

उपलभ्य मुदा युक्तः समुवास[3] तया निशाम् ।

अथैनमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम् ॥४१॥

गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति ।

तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप ।

उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन् वने ॥४२॥

किये बिना मत जाओ। क्षणभर ठहरो; आओ हम दोनों कुछ बातें तो कर लें॥ ३४॥ देवि! अब इस शरीरपर तुम्हारा कृपा-प्रसाद नहीं रहा, इसीसे तुमने इसे दूर फेंक दिया है। अतः मेरा यह सुन्दर शरीर अभी ढेर हुआ जाता है और तुम्हारे देखते-देखते इसे भेड़िये और गीध खा जायँगे'॥ ३५॥

उर्वशीने कहा—राजन्! तुम पुरुष हो। इस प्रकार मत मरो। देखो, सचमुच ये भेड़िये तुम्हें खा न जायँ! स्त्रियोंकी किसीके साथ मित्रता नहीं हुआ करती। स्त्रियोंका हृदय और भेड़ियोंका हृदय बिल्कुल एक-जैसा होता है॥ ३६॥ स्त्रियाँ निर्दय होती हैं। क्रूरता तो उनमें स्वाभाविक ही रहती है। तनिक-सी बातमें चिढ़ जाती हैं और अपने सुखके लिये बड़े-बड़े साहसके काम कर बैठती हैं, थोड़े-से स्वार्थके लिये विश्वास दिलाकर अपने पति और भाईतकको मार डालती हैं॥ ३७॥ इनके हृदयमें सौहार्द तो है ही नहीं। भोले-भाले लोगोंको झूठ-मूठका विश्वास दिलाकर फाँस लेती हैं और नये-नये पुरुषकी चाटसे कुलटा और स्वच्छन्दचारिणी बन जाती हैं॥ ३८॥ तो फिर तुम धीरज धरो। तुम राजराजेश्वर हो। घबराओ मत। प्रति एक वर्षके बाद एक रात तुम मेरे साथ रहोगे। तब तुम्हारे और भी सन्तानें होंगी॥ ३९॥

राजा पुरूरवाने देखा कि उर्वशी गर्भवती है, इसलिये वे अपनी राजधानीमें लौट आये। एक वर्षके बाद फिर वहाँ गये। तबतक उर्वशी एक वीर पुत्रकी माता हो चुकी थी॥ ४०॥ उर्वशीके मिलनेसे पुरूरवाको बड़ा सुख मिला और वे एक रात उसीके साथ रहे। प्रातःकाल जब वे विदा होने लगे, तब विरहके दुःखसे वे अत्यन्त दीन हो गये। उर्वशीने उनसे कहा—॥ ४१॥ 'तुम इन गन्धर्वोंकी स्तुति करो, ये चाहें तो तुम्हें मुझे दे सकते हैं।' तब राजा पुरूरवाने गन्धर्वोंकी स्तुति की। परीक्षित्! राजा पुरूरवाकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर गन्धर्वोंने उन्हें एक अग्निस्थाली (अग्निस्थापन करनेका पात्र) दी। राजाने समझा यही उर्वशी है, इसलिये उसको हृदयसे लगाकर वे एक वनसे दूसरे वनमें घूमते

१. त्वया हृतः। २. दुर्मुखाः। ३. स उवा०।

स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि।
त्रेतायां संप्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत ॥४३॥

रहे॥ ४२ ॥ जब उन्हें होश हुआ, तब वे स्थालीको वनमें छोड़कर अपने महलमें लौट आये एवं रातके समय उर्वशीका ध्यान करते रहे। इस प्रकार जब त्रेतायुगका प्रारम्भ हुआ, तब उनके हृदयमें तीनों वेद प्रकट हुए॥ ४३॥

स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य[1] सः।
तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया ॥४४॥
उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम्।
आत्मानमुभयोर्मध्ये यत् तत् प्रजननं प्रभुः ॥४५॥

फिर वे उस स्थानपर गये, जहाँ उन्होंने वह अग्निस्थाली छोड़ी थी। अब उस स्थानपर शमीवृक्षके गर्भमें एक पीपलका वृक्ष उग आया था, उसे देखकर उन्होंने उससे दो अरणियाँ (मन्थनकाष्ठ) बनायीं। फिर उन्होंने उर्वशीलोककी कामनासे नीचेकी अरणिको उर्वशी, ऊपरकी अरणिको पुरूरवा और बीचके काष्ठको पुत्ररूपसे चिन्तन करते हुए अग्नि प्रज्वलित करनेवाले मन्त्रोंसे मन्थन किया॥ ४४-४५॥

तस्य निर्मन्थनाज्जातो जातवेदा विभावसुः।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥४६॥

उनके मन्थनसे 'जातवेदा' नामका अग्नि प्रकट हुआ। राजा पुरूरवाने अग्निदेवताको त्रयीविद्याके द्वारा आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन तीनों भागोंमें विभक्त करके पुत्ररूपसे स्वीकार कर लिया॥ ४६॥

तेनायजत यज्ञेशं[2] भगवन्तमधोक्षजम्।
उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम् ॥४७॥

फिर उर्वशीलोककी इच्छासे पुरूरवाने उन तीनों अग्नियोंद्वारा सर्वदेवस्वरूप इन्द्रियातीत यज्ञपति भगवान् श्रीहरिका यजन किया॥ ४७॥

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥४८॥

परीक्षित्! त्रेताके पूर्व सत्ययुगमें एकमात्र प्रणव (ॐकार) ही वेद था। सारे वेद-शास्त्र उसीके अन्तर्भूत थे। देवता थे एकमात्र नारायण; और कोई न था। अग्नि भी तीन नहीं, केवल एक था और वर्ण भी केवल एक 'हंस' ही था॥४८॥

पुरूरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥४९॥

परीक्षित्! त्रेताके प्रारम्भमें पुरूरवासे ही वेदत्रयी और अग्नित्रयीका आविर्भाव हुआ। राजा पुरूरवाने अग्निको सन्तानरूपसे स्वीकार करके गन्धर्वलोककी प्राप्ति की॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे[3] ऐलोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

ऋचीक, जमदग्नि और परशुरामजीका चरित्र

श्रीशुक उवाच[4]

ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् षडासन्नात्मजा नृप।
आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! उर्वशीके गर्भसे पुरूरवाके छः पुत्र हुए—आयु, श्रुतायु, सत्यायु,

१. विलोक्य। २. देवेशं। ३. प्राचीन प्रतिमें इसके पहले 'सोमवंशे' यह पाठ अधिक है। ४. बादरायणिरुवाच।

श्रुतायोर्वसुमान् पुत्रः सत्यायोश्च श्रुतञ्जयः ।
रयस्य सुत एकश्च जयस्य तनयोऽमितः ॥ २ ॥
भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः ।
तस्य जह्नुः सुतो गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत् ।
जह्नोस्तु पूरुस्तत्पुत्रो बलाकश्चात्मजोऽजकः ॥ ३ ॥
ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुस्तनयो वसुः ।
कुशनाभश्च चत्वारो गाधिरासीत् कुशाम्बुजः ॥ ४ ॥

रय, विजय और जय ॥ १ ॥ श्रुतायुका पुत्र था वसुमान्, सत्यायुका श्रुतञ्जय, रयका एक और जयका अमित ॥ २ ॥ विजयका भीम, भीमका काञ्चन, काञ्चनका होत्र और होत्रका पुत्र था जह्नु । ये जह्नु वही थे, जो गङ्गाजीको अपनी अञ्जलिमें लेकर पी गये थे । जह्नुका पुत्र था पूरु, पूरुका बलाक और बलाकका अजक ॥ ३ ॥ अजकका कुश था । कुशके चार पुत्र थे—कुशाम्बु, तनय, वसु और कुशनाम । इनमेंसे कुशाम्बुके पुत्र गाधि हुए ॥ ४ ॥

तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः ।
वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत् ॥ ५ ॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम् ॥ ६ ॥
इत्युक्तस्तन्मतं ज्ञात्वा गतः स वरुणान्तिकम् ।
आनीय दत्त्वा तानश्वानुपयेमे वराननाम् ॥ ७ ॥
स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया ।
श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः ॥ ८ ॥
तावत् सत्यवती मात्रा स्वंचरुं याचिता सती ।
श्रेष्ठं मत्वा तयायच्छन्मात्रे मातुरदत् स्वयम् ॥ ९ ॥
तद् विज्ञाय मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः ।
घोरो दण्डधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः ॥ १० ॥
प्रसादितः सत्यवत्या मैवं भूदिति भार्गवः ।
अथ तर्हि भवेत् पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥ ११ ॥

परीक्षित् ! गाधिकी कन्याका नाम था सत्यवती । ऋचीक ऋषिने गाधिसे उनकी कन्या माँगी । गाधिने यह समझकर कि ये कन्याके योग्य वर नहीं हैं, ऋचीकसे कहा—॥ ५ ॥ 'मुनिवर ! हमलोग कुशिक वंशके हैं । हमारी कन्या मिलनी कठिन है । इसलिये आप एक हजार ऐसे घोड़े लाकर मुझे शुल्करूपमें दीजिये, जिनका सारा शरीर तो श्वेत हो, परन्तु एक-एक कान श्याम वर्णका हो ॥ ६ ॥ जब गाधिने यह बात कही, तब ऋचीक मुनि उनका आशय समझ गये और वरुणके पास जाकर वैसे ही घोड़े ले आये तथा उन्हें देकर सुन्दरी सत्यवतीसे विवाह कर लिया ॥ ७ ॥ एक बार महर्षि ऋचीकसे उनकी पत्नी और सास दोनोंने ही पुत्रप्राप्तिके लिये प्रार्थना की । महर्षि ऋचीकने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके दोनोंके लिये अलग-अलग मन्त्रोंसे चरु पकाया और स्नान करनेके लिये चले गये ॥ ८ ॥ सत्यवतीकी माने यह समझकर कि ऋषिने अपनी पत्नीके लिये श्रेष्ठ चरु पकाया होगा, उससे वह चरु माँग लिया । इसपर सत्यवतीने अपना चरु तो माको दे दिया और माका चरु वह स्वयं खा गयी ॥ ९ ॥ जब ऋचीक मुनिको इस बातका पता चला, तब उन्होंने अपनी पत्नी सत्यवतीसे कहा कि 'तुमने बड़ा अनर्थ कर डाला । अब तुम्हारा पुत्र तो लोगोंको दण्ड देनेवाला घोर प्रकृतिका होगा और तुम्हारा भाई होगा एक श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता ॥ १० ॥ सत्यवतीने ऋचीक मुनिको प्रसन्न किया और प्रार्थना की कि 'स्वामी ! ऐसा नहीं होना चाहिये ।' तब उन्होंने कहा—'अच्छी बात है । पुत्रके बदले तुम्हारा पौत्र

१. ग्राम्बुर्मूर्तरयो । २. स्वा चरुं । ३. तु सा य० ।

सा चाभूत् सुमहापुण्या कौशिकी लोकपावनी ।
रेणोः सुतां रेणुकां वै जमदग्निरुवाह याम् ॥१२॥
तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः ।
यवीयाञ्जज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः ॥१३॥
यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम् ।
त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ॥१४॥
दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनशत् ।
रजस्तमोवृतमहन् फल्गुन्यपि कृतेंऽहसि ॥१५॥

राजोवाच

किं तदंहो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः ।
कृतं येन कुलं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्ष्णशः ॥१६॥

श्रीशुक उवाच[2]

हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः ।
दत्तं नारायणस्यांशमाराध्य परिकर्मभिः ॥१७॥
बाहून्[3] दशशतं लेभे दुर्धर्षत्वमरातिषु ।
अव्याहतेन्द्रियौजःश्रीतेजोवीर्ययशोबलम्[4] ॥१८॥
योगेश्वरत्वमैश्वर्यं गुणा यत्राणिमादयः ।
चचाराव्याहतगतिर्लोकेषु पवनो यथा ॥१९॥

वैसा (घोर प्रकृतिका) होगा।' समयपर सत्यवतीके गर्भसे जमदग्निका जन्म हुआ ॥ ११ ॥ सत्यवती समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली परम पुण्यमयी 'कौशिकी' नदी बन गयी। रेणु ऋषिकी कन्या थी रेणुका। जमदग्निने उसका पाणिग्रहण किया ॥ १२ ॥ रेणुकाके गर्भसे जमदग्नि ऋषिके वसुमान् आदि कई पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे परशुरामजी थे। उनका यश सारे संसारमें प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥ कहते हैं कि हैहयवंशका अन्त करनेके लिये स्वयं भगवान्‌ने ही परशुरामके रूपमें अंशावतार ग्रहण किया था। उन्होंने इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियहीन कर दिया ॥ १४ ॥ यद्यपि क्षत्रियोंने उनका थोड़ा-सा ही अपराध किया था—फिर भी वे लोग बड़े दुष्ट, ब्राह्मणोंके अभक्त, रजोगुणी और विशेष करके तमोगुणी हो रहे थे। यही कारण था कि वे पृथ्वीके भार हो गये थे और इसीके फलस्वरूप भगवान् परशुराम‌ने उनका नाश करके पृथ्वीका भार उतार दिया ॥ १५ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! अवश्य ही उस समयके क्षत्रिय विषयलोलुप हो गये थे; परन्तु उन्होंने परशुरामजीका ऐसा कौन-सा अपराध कर दिया, जिसके कारण उन्होंने बार-बार क्षत्रियोंके वंशका संहार किया? ॥ १६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहने लगे—परीक्षित्! उन दिनों हैहयवंशका अधिपति था अर्जुन। वह एक श्रेष्ठ क्षत्रिय था। उसने अनेकों प्रकारकी सेवा-शुश्रूषा करके भगवान् नारायणके अंशावतार दत्तात्रेयजीको प्रसन्न कर लिया और उनसे एक हजार भुजाएँ तथा कोई भी शत्रु युद्धमें पराजित न कर सके—यह वरदान प्राप्त कर लिया। साथ ही इन्द्रियोंका अबाध बल, अतुल सम्पत्ति, तेजस्विता, वीरता, कीर्ति और शारीरिक बल भी उसने उनकी कृपासे प्राप्त कर लिये थे ॥ १७-१८ ॥ वह योगेश्वर हो गया था। उसमें ऐसा ऐश्वर्य था कि वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, स्थूल-से-स्थूल रूप धारण कर लेता। सभी सिद्धियाँ उसे प्राप्त थीं। वह संसारमें वायुकी तरह सब जगह बेरोक-टोक विचरा करता ॥ १९ ॥

१. मुपाहरत्। २. बादरायणिरुवाच। ३. बाहोर्द०। ४. शोऽतुलम्।

स्त्रीरत्नैरावृतः क्रीडन् रेवाम्भसि मदोत्कटः ।
वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रद् रुरोध सरितं भुजैः ॥२०॥

विप्लावितं स्वशिबिरं प्रतिस्रोतःसरिज्जलैः ।
नामृष्यत् तस्य तद् वीर्यं वीरमानी दशाननः ॥२१॥

गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः ।
माहिष्मत्यां संनिरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा ॥२२॥

एक बार गलेमें वैजयन्ती माला पहने सहस्रबाहु अर्जुन बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियोंके साथ नर्मदा नदीमें जल-विहार कर रहा था। उस समय मदोन्मत्त सहस्रबाहुने अपनी बाँहोंसे नदीका प्रवाह रोक दिया ॥ २० ॥ दशमुख रावणका शिविर भी वहीं कहीं पासमें ही था। नदीकी धारा उलटी बहने लगी, जिससे उसका शिविर डूबने लगा। रावण अपनेको बहुत बड़ा वीर तो मानता ही था, इसलिये सहस्रार्जुनका यह पराक्रम उससे सहन नहीं हुआ ॥ २१ ॥ जब रावण सहस्रबाहु अर्जुनके पास जाकर बुरा-भला कहने लगा, तब उसने स्त्रियोंके सामने ही खेल-खेलमें रावणको पकड़ लिया और अपनी राजधानी माहिष्मतीमें ले जाकर बंदरके समान कैद कर लिया। पीछे पुलस्त्यजीके कहनेसे सहस्रबाहुने रावणको छोड़ दिया ॥ २२ ॥

स एकदा तु मृगयां विचरन् विपिने[1] वने ।
यदृच्छयाऽऽश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत् ॥२३॥
तस्मै स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत् ।
ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या तपोधनः ॥२४॥
स[2] वीरस्तत्र तद् दृष्ट्वा आत्मैश्वर्यातिशायनम् ।
तन्नाद्रियताग्निहोत्र्यां साभिलाषः स हैहयः ॥२५॥
हविर्धानीमृषेर्दर्पान्नरान्[3] हर्तुमचोदयत् ।
ते च माहिष्मतीं निन्युःसवत्सां क्रन्दतीं बलात् ।२६।
अथ राजनि निर्याते राम आश्रम आगतः ।
श्रुत्वा तत् तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः ॥२७॥
घोरमादाय[4] परशुं सतूणं चर्म कार्मुकम् ।
अन्वधावत दुर्धर्षो[5] मृगेन्द्र इव यूथपम् ॥२८॥

एक दिन सहस्रबाहु अर्जुन शिकार खेलनेके लिये बड़े घोर जंगलमें निकल गया था। दैववश वह जमदग्नि मुनिके आश्रमपर जा पहुँचा ॥ २३ ॥ परम तपस्वी जमदग्नि मुनिके आश्रममें कामधेनु रहती थी। उसके प्रतापसे उन्होंने सेना, मन्त्री और वाहनोंके साथ हैहयाधिपतिका खूब स्वागत-सत्कार किया ॥ २४ ॥ वीर हैहयाधिपतिने देखा कि जमदग्नि मुनिका ऐश्वर्य तो मुझसे भी बढ़ा-चढ़ा है। इसलिये उसने उनके स्वागत-सत्कारको कुछ भी आदर न देकर कामधेनुको ही ले लेना चाहा ॥ २५ ॥ उसने अभिमानवश जमदग्नि मुनिसे माँगा भी नहीं, अपने सेवकोंको आज्ञा दी कि कामधेनुको छीन ले चलो। उसकी आज्ञासे उसके सेवक बछड़ेके साथ 'बाँ-बाँ' डकराती हुई कामधेनुको बलपूर्वक माहिष्मतीपुरी ले गये ॥ २६ ॥ जब वे सब चले गये, तब परशुरामजी आश्रमपर आये और उसकी दुष्टताका वृत्तान्त सुनकर चोट खाये हुए साँपकी तरह क्रोधसे तिलमिला उठे ॥ २७ ॥ वे अपना भयङ्कर फरसा, तरकस, ढाल एवं धनुष लेकर बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़े—जैसे कोई किसीसे न दबनेवाला सिंह हाथीपर टूट पड़े ॥ २८ ॥

१. विजने । २. स चैश्वर्यं तु त० । ३. स तस्य । ४. परशुं घोरमादाय स क्षणाद्वर्मकार्मुकम् । ५. दुर्मर्षो ।

तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा
धनुर्धरं बाणपरश्वधायुधम् ।
ऐणेयचर्माम्बरमर्कधामभि-
र्युतं जटाभिर्ददृशे पुरीं विशन् ॥२९॥
अचोदयद्धस्तिरथाश्वपत्तिभि-
र्गदासिबाणर्ष्टिशतघ्निशक्तिभिः ।
अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणा-
स्ता राम एको भगवानसूदयत् ॥३०॥
यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वधो
मनोऽनिलौजाः परचक्रसूदनः ।
ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकन्धरा
निपेतुरुर्व्यां हतसूतवाहनाः ॥३१॥
दृष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्दमे
रणाजिरे रामकुठारसायकैः ।
विवृक्णचर्मध्वजचापविग्रहं
निपातितं हैहय आपतद् रुषा ॥३२॥
अथार्जुनः पञ्चशतेषु बाहुभि-
र्धनुःषु बाणान् युगपत् स सन्दधे ।
रामाय रामोऽस्त्रभृतां समग्रणी-
स्तान्येकधन्वेषुभिरा[1]च्छिनत् समम् ॥३३॥
पुनः स्वहस्तैरचलान् मृधे[2]ऽङ्घ्रिपा-
नुत्क्षिप्य वेगादभिधावतो युधि ।
भुजान् कुठारेण कठोरनेमिना
चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहेरिव ॥३४॥
कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृङ्गमिवाहरत् ।
हते पितरि तत्पुत्रा अयुतं दुद्रुवुर्भयात् ॥३५॥

सहस्रबाहु अर्जुन अभी अपने नगरमें प्रवेश कर ही रहा था कि उसने देखा परशुरामजी महाराज बड़े वेगसे उसीकी ओर झपटे आ रहे हैं। उनकी बड़ी विलक्षण झाँकी थी। वे हाथमें धनुष-बाण और फरसा लिये हुए थे, शरीरपर काला मृगचर्म धारण किये हुए थे और उनकी जटाएँ सूर्यकी किरणोंके समान चमक रही थीं॥ २९॥ उन्हें देखते ही उसने गदा, खड्ग, बाण, ऋष्टि, शतघ्नी और शक्ति आदि आयुधोंसे सुसज्जित एवं हाथी, घोड़े, रथ तथा पदातियोंसे युक्त अत्यन्त भयङ्कर सत्रह अक्षौहिणी सेना भेजी। भगवान् परशुरामने बात-की-बातमें अकेले ही उस सारी सेनाको नष्ट कर दिया॥ ३०॥ भगवान् परशुरामजीकी गति मन और वायुके समान थी। बस, वे शत्रुकी सेना काटते ही जा रहे थे। जहाँ-जहाँ वे अपने फरसेका प्रहार करते, वहाँ-वहाँ सारथि और वाहनोंके साथ बड़े-बड़े वीरोंकी बाँहें, जाँघें, कंधे कट-कटकर पृथ्वीपर गिरते जाते थे॥ ३१॥ हैहयाधिपति अर्जुनने देखा कि मेरी सेनाके सैनिक, उनके धनुष, ध्वजाएँ और ढाल भगवान् परशुरामके फरसे और बाणोंसे कट-कटकर खूनसे लथपथ रणभूमिमें गिर गये हैं तब उसे बड़ा क्रोध आया और वह स्वयं भिड़नेके लिये आ धमका॥ ३२॥ उसने एक साथ ही अपनी हजार भुजाओंसे पाँच सौ धनुषोंपर बाण चढ़ाये और परशुरामजीपर छोड़े। परन्तु परशुरामजी तो समस्त शस्त्रधारियोंके शिरोमणि ठहरे। उन्होंने अपने एक धनुषपर छोड़े हुए बाणोंसे ही एक साथ सबको काट डाला॥ ३३॥ अब हैहयाधिपति अपने हाथोंसे पहाड़ और पेड़ उखाड़कर बड़े वेगसे युद्धभूमिमें परशुरामजीकी ओर झपटा। परन्तु परशुरामजीने अपनी तीखी धारवाले फरसेसे बड़ी फुर्तीके साथ उसकी साँपोंके समान भुजाओंको काट डाला॥ ३४॥ जब उसकी बाँहें कट गयीं, तब उन्होंने पहाड़की चोटीकी तरह उसका ऊँचा सिर धड़से अलग कर दिया। पिताके मर जानेपर उसके दस हजार लड़के डरकर भग गये॥ ३५॥

१. रच्छिनत्करात्। २. मृधे।

अग्निहोत्रीमुपावर्त्य सवत्सां परवीरहा ।
समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत् ॥३६॥
स्वकर्म तत्कृतं रामः पित्रे भ्रातृभ्य एव च ।
वर्णयामास तच्छ्रुत्वा जमदग्निरभाषत ॥३७॥
राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत् ।
अवधीन्नरदेवं यत् सर्वदेवमयं वृथा ॥३८॥
वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः ।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात् पदम् ॥३९॥
क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा ।
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः ॥४०॥
राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद् गुरुः ।
तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः ॥४१॥

परीक्षित् ! विपक्षी वीरोंके नाशक परशुरामजीने बछड़ेके साथ कामधेनु लौटा ली । वह बहुत ही दुखी हो रही थी । उन्होंने उसे अपने आश्रमपर लाकर पिताजीको सौंप दिया ॥ ३६ ॥ और माहिष्मतीमें सहस्रबाहुने तथा उन्होंने जो कुछ किया था, सब अपने पिताजी तथा भाइयोंको कह सुनाया । सब कुछ सुनकर जमदग्नि मुनिने कहा— ॥ ३७ ॥ 'हाय, हाय, परशुराम ! तुमने बड़ा पाप किया । राम, राम ! तुम बड़े वीर हो; परन्तु सर्वदेवमय नरदेवका तुमने व्यर्थ ही वध किया ॥ ३८ ॥ बेटा ! हमलोग ब्राह्मण हैं । क्षमाके प्रभावसे ही हम संसारमें पूजनीय हुए हैं । और तो क्या, सबके दादा ब्रह्माजी भी क्षमाके बलसे ही ब्रह्मपदको प्राप्त हुए हैं ॥ ३९ ॥ ब्राह्मणोंकी शोभा क्षमाके द्वारा ही सूर्यकी प्रभाके समान चमक उठती है । सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि भी क्षमावानोंपर ही शीघ्र प्रसन्न होते हैं ॥ ४० ॥ बेटा ! सार्वभौम राजाका वध ब्राह्मणकी हत्यासे भी बढ़कर है । जाओ, भगवान्‌का स्मरण करते हुए तीर्थोंका सेवन करके अपने पापोंको धो डालो' ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

परशुरामजीके द्वारा क्षत्रियसंहार और विश्वामित्रजीके वंशकी कथा

श्रीशुक उवाच

पित्रोपशिक्षितो रामस्तथेति कुरुनन्दन ।
संवत्सरं तीर्थयात्रां चरित्वाऽऽश्रममाव्रजत् ॥ १ ॥
कदाचिद् रेणुका याता गङ्गायां पद्ममालिनम् ।
गन्धर्वराजं क्रीडन्तमप्सरोभिरपश्यत ॥ २ ॥
विलोकयन्ती क्रीडन्तमुदकार्थं नदीं गता ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अपने पिताकी यह शिक्षा भगवान् परशुरामने 'जो आज्ञा' कहकर स्वीकार की । इसके बाद वे एक वर्षतक तीर्थयात्रा करके अपने आश्रमपर लौट आये ॥ १ ॥ एक दिनकी बात है, परशुरामजीकी माता रेणुका गङ्गातटपर गयी हुई थीं । वहाँ उन्होंने देखा कि गन्धर्वराज चित्ररथ कमलोंकी माला पहने अप्सराओंके साथ विहार कर रहा है ॥ २ ॥ वे जल लानेके लिये नदीतटपर गयी थीं परन्तु वहाँ जलक्रीडा करते हुए गन्धर्वको देखने लगीं

१. प्राचीन प्रतिमें इसके पहले 'रामचरिते हैहयार्जुनवधे' यह अधिक पाठ है । २. चर्या ।

होमवेलां न सस्मार किञ्चिच्चित्ररथस्पृहा ॥ ३ ॥

कालात्ययं तं विलोक्य मुनेः शापविशङ्किता ।

आगत्य कलशं तस्थौ पुरोधाय कृताञ्जलिः ॥ ४ ॥

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीत् ।

घ्नतैनां[1] पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥ ५ ॥

रामः सञ्चोदितः पित्रा भ्रातॄन् मात्रा सहावधीत्[2] ।

प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधेस्तपसश्च सः ॥ ६ ॥

वरेणच्छन्दयामास प्रीतः सत्यवतीसुतः ।

वव्रे हतानां रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वधे ॥ ७ ॥

उत्तस्थुस्ते कुशलिनो निद्रापाय इवाञ्जसा ।

पितुर्विद्वांस्तपोवीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम् ॥ ८ ॥

येऽर्जुनस्य[3] सुता राजन् स्मरन्तः[4] स्वपितुर्वधम् ।

रामवीर्यपराभूता लेभिरे शर्म न क्वचित् ॥ ९ ॥

एकदाऽऽश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते ।

वैरं सिसाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन् ॥१०॥

दृष्ट्वाग्न्यगार आसीनमावेशितधियं मुनिम् ।

भगवत्युत्तमश्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः ॥११॥

और पतिदेवके हवनका समय हो गया है—इस बातको भूल गयीं। उनका मन कुछ-कुछ चित्ररथकी ओर खिंच भी गया था ॥ ३ ॥ हवनका समय बीत गया, यह जानकर वे महर्षि जमदग्निके शापसे भयभीत हो गयीं और तुरंत वहाँसे आश्रमपर चली आयीं। वहाँ जलका कलश महर्षिके सामने रखकर हाथ जोड़ खड़ी हो गयीं ॥ ४ ॥ जमदग्नि मुनिने अपनी पत्नीका मानसिक व्यभिचार जान लिया और क्रोध करके कहा—'मेरे पुत्रो! इस पापिनीको मार डालो।' परन्तु उनके किसी भी पुत्रने उनकी वह आज्ञा स्वीकार नहीं की ॥ ५ ॥ इसके बाद पिताकी आज्ञासे परशुरामजीने माताके साथ सब भाइयोंको भी मार डाला। इसका कारण था। वे अपने पिताजीके योग और तपस्याका प्रभाव भलीभाँति जानते थे ॥ ६ ॥ परशुरामजीके इस कामसे सत्यवतीनन्दन महर्षि जमदग्नि बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—'बेटा! तुम्हारी जो इच्छा हो, वर माँग लो।' परशुरामजीने कहा—'पिताजी! मेरी माता और सब भाई जीवित हो जायँ तथा उन्हें इस बातकी याद न रहे कि मैंने उन्हें मारा था' ॥ ७ ॥ परशुरामजीके इस प्रकार कहते ही जैसे कोई सोकर उठे, सब-के-सब अनायास ही सकुशल उठ बैठे। परशुरामजीने अपने पिताजीका तपोबल जानकर ही तो अपने सुहृदोंका वध किया था ॥ ८ ॥

परीक्षित्! सहस्रबाहु अर्जुनके जो लड़के परशुरामजीसे हारकर भाग गये थे, उन्हें अपने पिताके वधकी याद निरन्तर बनी रहती थी। कहीं एक क्षणके लिये भी उन्हें चैन नहीं मिलता था ॥ ९ ॥ एक दिनकी बात है, परशुरामजी अपने भाइयोंके साथ आश्रमसे बाहर वनकी ओर गये हुए थे। यह अवसर पाकर वैर साधनेके लिये सहस्रबाहुके लड़के वहाँ आ पहुँचे ॥ १० ॥ उस समय महर्षि जमदग्नि अग्निशालामें बैठे हुए थे और अपनी समस्त वृत्तियोंसे पवित्रकीर्ति भगवान्के ही चिन्तनमें मग्न हो रहे थे। उन्हें बाहरकी कोई सुध न थी। उसी समय उन पापियोंने जमदग्नि ऋषिको मार डाला। उन्होंने पहलेसे ही ऐसा पापपूर्ण निश्चय कर

१. तेनोक्ताः पुत्रकाः पापा हन्यतां वै न । २. सः सुतः । ३. अर्जुनस्य । ४. न्तश्च पि० ।

याच्यमानाः कृपणया राममात्रातिदारुणाः ।
प्रसह्य शिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः ॥१२॥
रेणुका दुःखशोकार्ता निघ्नन्त्याऽऽत्मानमात्मना ।
राम रामेहि तातेति विचुक्रोशोच्चकैः सती ॥१३॥
तदुपश्रुत्य दूरस्थो हा रामेत्यार्तवत्स्वनम् ।
त्वरयाऽऽश्रममासाद्य ददृशे पितरं हतम् ॥१४॥
तद् दुःखरोषामर्षार्तिशोकवेगविमोहितः ।
हा तात साधो धर्मिष्ठ त्यक्त्वास्मान् स्वर्गतो भवान् ॥१५॥
विलप्यैवं पितुर्देहं निधाय भ्रातृषु स्वयम् ।
प्रगृह्य परशुं रामः क्षत्रान्ताय मनो दधे ॥१६॥
गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्मघ्नविहतश्रियम् ।
तेषां[3] स शीर्षभी राजन् मध्ये चक्रे महागिरिम् ॥१७॥
तद्रक्तेन नदीं घोरामब्रह्मण्यभयावहाम् ।
हेतुं कृत्वा पितृवधं क्षत्रेऽमङ्गलकारिणि ॥१८॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नृप ॥१९॥
पितुः कायेन सन्धाय शिर आदाय बर्हिषि ।
सर्वदेवमयं देवमात्मानमयजन्मखैः ॥२०॥
ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम् ॥२१॥
अन्येभ्योऽवान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः ।

रक्खा था ॥ ११ ॥ परशुरामकी माता रेणुका बड़ी दीनतासे उनसे प्रार्थना कर रही थीं, परन्तु उन सबोंने उनकी एक न सुनी । वे बलपूर्वक महर्षि जमदग्निका सिर काटकर ले गये । परीक्षित् ! वास्तवमें वे नीच क्षत्रिय अत्यन्त क्रूर थे ॥ १२ ॥ सती रेणुका दुःख और शोकसे आतुर हो गयीं । वे अपने हाथों अपनी छाती और सिर पीट-पीटकर जोर-जोरसे रोने लगीं—'परशुराम ! बेटा परशुराम ! शीघ्र आओ' ॥ १३ ॥ परशुरामजीने बहुत दूरसे माताका 'हा राम !' यह करुण-क्रन्दन सुन लिया । वे बड़ी शीघ्रतासे आश्रमपर आये और वहाँ आकर देखा कि पिताजी मार डाले गये हैं ॥ १४ ॥ परीक्षित् ! उस समय परशुरामजीको बड़ा दुःख हुआ । साथ ही क्रोध, असहिष्णुता, मानसिक पीडा और शोकके वेगसे वे अत्यन्त मोहित हो गये । 'हाय, पिताजी ! आप तो बड़े महात्मा थे । पिताजी ! आप तो धर्मके सच्चे पुजारी थे । आप हमलोगोंको छोड़कर स्वर्ग चले गये' ॥ १५ ॥ इस प्रकार विलापकर उन्होंने पिताका शरीर तो भाइयोंको सौंप दिया और स्वयं हाथमें फरसा उठाकर क्षत्रियोंका संहार कर डालनेका निश्चय किया ॥ १६ ॥

परीक्षित् ! परशुरामजीने माहिष्मती नगरीमें जाकर सहस्रबाहु अर्जुनके पुत्रोंके सिरोंसे नगरके बीचों-बीच एक बड़ा भारी पर्वत खड़ा कर दिया । उस नगरकी शोभा तो उन ब्रह्मघाती नीच क्षत्रियोंके कारण ही नष्ट हो चुकी थी ॥ १७ ॥ उनके रक्तसे एक बड़ी भयङ्कर नदी बह निकली, जिसे देखकर ब्राह्मणद्रोहियोंका हृदय भयसे काँप उठता था । भगवान्‌ने देखा कि वर्तमान क्षत्रिय अत्याचारी हो गये हैं । इसलिये राजन् ! उन्होंने अपने पिताके वधको निमित्त बनाकर इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर दिया और कुरुक्षेत्रके समन्तपञ्चकमें ऐसे-ऐसे पाँच तालाब बना दिये, जो रक्तके जलसे भरे हुए थे ॥ १८-१९ ॥ परशुरामजीने अपने पिताजीका सिर लाकर उनके धड़से जोड़ दिया और यज्ञोंद्वारा सर्वदेवमय आत्मस्वरूप भगवान्‌का यजन किया ॥ २० ॥ यज्ञोंमें उन्होंने पूर्व दिशा होताको, दक्षिण दिशा

१. बन्धवाः । २. स्वरम् । ३. तस्यां । ४. राज्ञां ।

आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम् ॥२२॥
ततश्चावभृथस्नानविधूताशेषकिल्बिषः ।
सरस्वत्यां ब्रह्मनद्यां रेजे व्यभ्र इवांशुमान् ॥२३॥
स्वदेहं जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम् ।
ऋषीणां मण्डले सोऽभूत् सप्तमो रामपूजितः ॥२४॥
जामदग्न्योऽपि भगवान् रामः कमललोचनः ।
आगामिन्यन्तरे राजन् वर्तयिष्यति वै बृहत् ॥२५॥
आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः ।
उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥२६॥
एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः[1] ।
अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन् बहुशो नृपान् ॥२७॥
गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः ।
तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम् ॥२८॥
विश्वामित्रस्य चैवासन् पुत्रा एकशतं नृप ।
मध्यमस्तु मधुच्छन्दा मधुच्छन्दस एव ते ॥२९॥
पुत्रं कृत्वा शुनःशेपं देवरातं च भार्गवम् ।
आजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम् ॥३०॥
यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीतः पुरुषः पशुः ।
स्तुत्वा देवान् प्रजेशादीन् मुमुचे पाशबन्धनात् ॥३१॥
यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः ।

ब्रह्माको, पश्चिम दिशा अध्वर्युको और उत्तर दिशा साम-गान करनेवाले उद्गाताको दे दी ॥ २१ ॥ इसी प्रकार अग्निकोण आदि विदिशाएँ ऋत्विजोंको दीं, कश्यपजीको मध्यभूमि दी, उपद्रष्टाको आर्यावर्त दिया तथा दूसरे सदस्योंको अन्यान्य दिशाएँ प्रदान कर दीं ॥ २२ ॥ इसके बाद यज्ञान्त-स्नान करके वे समस्त पापोंसे मुक्त हो गये और ब्रह्मनदी सरस्वतीके तटपर मेघरहित सूर्यके समान शोभायमान हुए ॥ २३ ॥ महर्षि जमदग्निको स्मृतिरूप सङ्कल्पमय शरीरकी प्राप्ति हो गयी। परशुरामजी-से सम्मानित होकर वे सप्तर्षियोंके मण्डलमें सातवें ऋषि हो गये ॥ २४ ॥ परीक्षित्! कमललोचन जमदग्नि-नन्दन भगवान् परशुराम आगामी मन्वन्तरमें सप्तर्षियोंके मण्डलमें रहकर वेदोंका विस्तार करेंगे ॥ २५ ॥ वे आज भी किसीको किसी प्रकारका दण्ड न देते हुए शान्त चित्तसे महेन्द्र पर्वतपर निवास करते हैं। वहाँ सिद्ध, गन्धर्व और चारण उनके चरित्रका मधुर स्वरसे गान करते रहते हैं ॥ २६ ॥ सर्वशक्तिमान् विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिने इस प्रकार भृगुवंशियोंमें अवतार ग्रहण करके पृथ्वीके भारभूत राजाओंका बहुत बार वध किया ॥ २७ ॥

महाराज गाधिके पुत्र हुए प्रज्वलित अग्निके समान परम तेजस्वी विश्वामित्रजी। इन्होंने अपने तपोबलसे क्षत्रियत्वका त्याग करके ब्रह्मतेज प्राप्त कर लिया ॥२८॥ परीक्षित्! विश्वामित्रजीके सौ पुत्र थे। उनमें बिचले पुत्रका नाम था मधुच्छन्दा। इसलिये सभी पुत्र 'मधुच्छन्दा' के ही नामसे विख्यात हुए ॥ २९ ॥ विश्वामित्रजीने भृगुवंशी अजीगर्तके पुत्र अपने भानजे शुनःशेपको, जिसका एक नाम देवरात भी था, पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया और अपने पुत्रोंसे कहा कि 'तुमलोग इसे अपना बड़ा भाई मानो ॥ ३० ॥ यह वही प्रसिद्ध भृगुवंशी शुनःशेप था, जो हरिश्चन्द्रके यज्ञमें यज्ञपशुके रूपमें मोल लेकर लाया गया था। विश्वामित्रजीने प्रजापति वरुण आदि देवताओंकी स्तुति करके उसे पाशबन्धनसे छुड़ा लिया था। देवताओंके यज्ञमें यही

१. हरिरव्ययः ।

देवरात इति ख्यातः शुनःशेपः स भार्गवः ॥३२॥

ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत्।

अशपत् तान्मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः॥३३॥

स होवाच मधुच्छन्दाः सार्धं पञ्चाशता ततः।

यन्नो भवान् संजानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम् ॥३४॥

ज्येष्ठं मन्त्रदृशं चक्रुस्त्वामन्वञ्चो वयं स्म हि।

विश्वामित्रः सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ।

ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त माम् ॥३५॥

एष वः कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित।

अन्ये चाष्टकहारीतजयक्रतुमदादयः ॥३६॥

एवं कौशिकगोत्रं तु विश्वामित्रैः पृथग्विधम्।

प्रवरान्तरमापन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितम् ॥३७॥

शुनःशेप देवताओंद्वारा विश्वामित्रजीको दिया गया था; अतः 'देवैः रातः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार गाधिवंशमें यह तपस्वी देवरातके नामसे विख्यात हुआ ॥३१-३२॥ विश्वामित्रजीके पुत्रोंमें जो बड़े थे, उन्हें शुनःशेपको बड़ा भाई माननेकी बात अच्छी न लगी। इसपर विश्वामित्रजी-ने क्रोधित होकर उन्हें शाप दे दिया कि 'दुष्टो! तुम सब म्लेच्छ हो जाओ' ॥ ३३ ॥ इस प्रकार जब उनचास भाई म्लेच्छ हो गये, तब विश्वामित्रजीके बिचले पुत्र मधुच्छन्दाने अपनेसे छोटे पचासों भाइयोंके साथ कहा—'पिताजी! आप हमलोगोंको जो आज्ञा करते हैं, हम उसका पालन करनेके लिये तैयार हैं ॥ ३४ ॥ यह कहकर मधुच्छन्दाने मन्त्रद्रष्टा शुनःशेपको बड़ा भाई स्वीकार कर लिया और कहा कि 'हम सब तुम्हारे अनुयायी—छोटे भाई हैं।' तब विश्वामित्रजीने अपने इन आज्ञाकारी पुत्रोंसे कहा- 'तुमलोगोंने मेरी बात मानकर मेरे सम्मानकी रक्षा की है, इसलिये तुमलोगों-जैसे सुपुत्र प्राप्त करके मैं धन्य हुआ। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें भी सुपुत्र प्राप्त होंगे ॥ ३५ ॥ मेरे प्यारे पुत्रो! यह देवरात शुनःशेप भी तुम्हारे ही गोत्रका है। तुमलोग इसकी आज्ञामें रहना।' परीक्षित्! विश्वामित्रजीके अष्टक, हारीत, जय और क्रतुमान् आदि और भी पुत्र थे ॥ ३६ ॥ इस प्रकार विश्वामित्रजीकी सन्तानोंसे कौशिकगोत्रमें कई भेद हो गये और देवरात-को बड़ा भाई माननेके कारण उसका प्रवर ही दूसरा हो गया ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

क्षत्रवृद्ध, रजि आदि राजाओंके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन् सुताः।
नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी रम्भश्च वीर्यवान् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजेन्द्र पुरूरवाका एक पुत्र था आयु। उसके पाँच लड़के हुए—नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजि, शक्तिशाली रम्भ और अनेना। अब

१. पस्तु। २. त्वस्तु ताना०। ३. वीरभावकसत्तमाः। ४. प्राचीन प्रतिमें इससे आगे 'परशुरामचरितं नाम' इतना अधिक पाठ है। ५. बादरायणिरुवाच।

अनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रवृधोऽन्वयम् ।
क्षत्रवृद्धसुतस्यासन् सुहोत्रस्यात्मजास्त्रयः ॥ २ ॥
काश्यः कुशो गृत्समद इति गृत्समदादभूत् ।
शुनकः शौनको यस्य बह्वृचप्रवरो मुनिः ॥ ३ ॥
काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमःपिता ।
धन्वन्तरिर्दैर्घतम आयुर्वेदप्रवर्तकः ॥ ४ ॥
यज्ञभुग् वासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः ।
तत्पुत्रः केतुमानस्य जज्ञे भीमरथस्ततः ॥ ५ ॥
दिवोदासो द्युमांस्तस्मात् प्रतर्दन इति स्मृतः ।
स एव शत्रुजिद् वत्स ऋतध्वज इतीरितः ।
तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः । ६ ॥
षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च ।
नालर्कादपरो राजन् मेदिनीं बुभुजे युवा ॥ ७ ॥
अलर्कात् सन्ततिस्तस्मात् सुनीथोऽथ सुकेतनः ।
धर्मकेतुः सुतस्तस्मात् सत्यकेतुरजायत ॥ ८ ॥
धृष्टकेतुः सुतस्तस्मात् सुकुमारः क्षितीश्वरः ।
वीतिहोत्रस्य भर्गोऽतो भार्गभूमिरभून्नृपः ॥ ९ ॥

क्षत्रवृद्धका वंश सुनो । क्षत्रवृद्धके पुत्र थे सुहोत्र । सुहोत्रके तीन पुत्र हुए—काश्य, कुश और गृत्समद । गृत्समदका पुत्र हुआ शुनक । इसी शुनकके पुत्र ऋग्वेदियोंमें श्रेष्ठ मुनिवर शौनकजी हुए॥ १—३॥ काश्यका पुत्र काशि, काशिका राष्ट्र, राष्ट्रका दीर्घतमा और दीर्घतमाके धन्वन्तरि । यही आयुर्वेदके प्रवर्तक हैं ॥ ४॥ ये यज्ञभागके भोक्ता और भगवान् वासुदेवके अंश हैं । इनके स्मरणमात्रसे ही सब प्रकारके रोग दूर हो जाते हैं । धन्वन्तरिका पुत्र हुआ केतुमान् और केतुमान्का भीमरथ ॥ ५ ॥ भीमरथका दिवोदास और दिवोदासका द्युमान्—जिसका एक नाम प्रतर्दन भी है । यही द्युमान्, शत्रुजित्, वत्स, ऋतध्वज और कुवलयाश्वके नामसे भी प्रसिद्ध है । द्युमान्के ही पुत्र अलर्क आदि हुए ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! अलर्कके सिवा और किसी राजाने छाछठ हजार (६६०००) वर्षतक युवा रहकर पृथ्वीका राज्य नहीं भोगा ॥ ७ ॥ अलर्कका पुत्र हुआ सन्तति, सन्ततिका सुनीथ, सुनीथका सुकेतन, सुकेतनका धर्मकेतु और धर्मकेतुका सत्यकेतु ॥ ८ ॥ सत्यकेतुसे धृष्टकेतु, धृष्टकेतुसे राजा सुकुमार, सुकुमारसे वीतिहोत्र, वीतिहोत्रसे भर्ग और भर्गसे राजा भार्गभूमिका जन्म हुआ ॥ ९ ॥

इतीमे काशयो भूपाः क्षत्रवृद्धान्वयायिनः ।
रम्भस्य रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः ॥१०॥
तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे शृणु वंशमनेनसः ।
शुद्धस्ततः शुचिस्तस्मात् त्रिककुद् धर्मसारथिः ॥११॥
ततः शान्तरयो जज्ञे कृतकृत्यः स आत्मवान् ।
रजेः पञ्चशतान्यासन् पुत्राणाममितौजसाम् ॥१२॥
देवैरभ्यर्थितो दैत्यान् हत्वेन्द्रायाददाद् दिवम् ।
इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्त्वा गृहीत्वा चरणौ रजेः ॥१३॥
आत्मानमर्पयामास प्रह्रादाद्यरिशङ्कितः ।
पितर्युपरते पुत्रा याचमानाय नो ददुः ॥१४॥

ये सब-के-सब क्षत्रवृद्धके वंशमें काशिसे उत्पन्न नरपति हुए । रम्भके पुत्रका नाम था रभस, उससे गम्भीर और गम्भीरसे अक्रियका जन्म हुआ ॥ १० ॥ अक्रियकी पत्नीसे ब्राह्मणवंश चला । अब अनेनाका वंश सुनो । अनेनाका पुत्र था शुद्ध, शुद्धका शुचि, शुचिका त्रिककुद् और त्रिककुद्का धर्मसारथि ॥ ११ ॥ धर्मसारथिके पुत्र थे शान्तरय । शान्तरय आत्मज्ञानी होनेके कारण कृतकृत्य थे, उन्हें सन्तानकी आवश्यकता न थी । परीक्षित् ! आयुके पुत्र रजिके अत्यन्त तेजस्वी पाँच सौ पुत्र थे ॥ १२ ॥ देवताओंकी प्रार्थनासे रजिने दैत्योंका वध करके इन्द्रको स्वर्गका राज्य दिया । परन्तु वे अपने प्रह्लाद आदि शत्रुओंसे भयभीत रहते थे; इसलिये उन्होंने वह स्वर्ग फिर रजिको लौटा दिया और उनके चरण पकड़कर उन्हींको अपनी रक्षाका भार भी सौंप दिया । जब रजिकी मृत्यु हो गयी, तब इन्द्रके

१. राजा । २. सुतोत्तमः । ३. नाभस्य । ४. श्चाक्रकस्ततः । ५. शुद्धः शुचिस्ततस्तस्मा० । ६. द्यवि० ।

त्रिविष्टपं महेन्द्राय यज्ञभागान् समाददुः ।
गुरुणा हूयमानेऽग्नौ बलभित् तनयान् रजेः ॥१५॥
अवधीद् भ्रंशितान् मार्गान्न कश्चिदवशेषितः ।
कुशात् प्रतिः क्षात्रवृद्धात् सञ्जयस्तत्सुतो जयः॥१६॥
ततः कृतः कृतस्यापि जज्ञे हर्यवनो नृपः ।
सहदेवस्ततो हीनो जयसेनस्तु तत्सुतः ॥१७॥
सङ्कृतिस्तस्य च जयः क्षत्रधर्मा महारथः ।
क्षत्रवृद्धान्वया भूपाः शृणु वंशं च नाहुषात् ॥१८॥

माँगनेपर भी रजिके पुत्रोंने स्वर्ग नहीं लौटाया । वे स्वयं ही यज्ञोंका भाग भी ग्रहण करने लगे ! तब गुरु बृहस्पतिजीने इन्द्रकी प्रार्थनासे अभिचार-विधिसे हवन किया । इससे वे धर्मके मार्गसे भ्रष्ट हो गये । तब इन्द्रने अनायास ही उन सब रजिके पुत्रोंको मार डाला । उनमेंसे कोई भी न बचा । क्षत्रवृद्धके पौत्र कुशसे प्रति, प्रतिसे सञ्जय और सञ्जयसे जयका जन्म हुआ ।१३—१६। जयसे कृत, कृतसे राजा हर्यवन, हर्यवनसे सहदेव, सहदेवसे हीन और हीनसे जयसेन नामक पुत्र हुआ ॥ १७ ॥ जयसेनका संकृति, संकृतिका पुत्र हुआ महारथी वीरशिरोमणि जय । क्षत्रवृद्धकी वंश-परम्परामें इतने ही नरपति हुए । अब नहुषवंशका वर्णन सुनो ॥ १८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे चन्द्रवंशानुवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

ययाति-चरित्र

श्रीशुक उवाच

यतिर्ययातिः संयातिरायतिर्वियतिः कृतिः ।[3]
षडिमे नहुषस्यासन्निन्द्रियाणीव देहिनः ॥ १ ॥
राज्यं नैच्छद् यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित् ।
यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते ॥ २ ॥
पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणाद् द्विजैः ।
प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः ॥ ३ ॥
चतसृष्वादिशद् दिक्षु भ्रातॄन् भ्राता यवीयसः ।
कृतदारो जुगोपोर्वीं काव्यस्य वृषपर्वणः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जैसे शरीरधारियोंके छः इन्द्रियाँ होती हैं, वैसे ही नहुषके छः पुत्र थे । उनके नाम थे——यति, ययाति, संयाति, आयति, वियति और कृति ॥ १ ॥ नहुष अपने बड़े पुत्र यतिको राज्य देना चाहते थे । परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया । क्योंकि वह राज्य पानेका परिणाम जानता था । राज्य एक ऐसी वस्तु है कि जो उसके दाव-पेंच और प्रबन्ध आदिमें भीतर प्रवेश कर जाता है, वह अपने आत्मस्वरूपको नहीं समझ सकता ॥ २ ॥ जब इन्द्रपत्नी शचीसे सहवास करनेकी चेष्टा करनेके कारण नहुषको ब्राह्मणोंने इन्द्रपदसे गिरा दिया और अजगर बना दिया, तब राजाके पदपर ययाति बैठे ॥ ३ ॥ ययातिने अपने चार छोटे भाइयोंको चार दिशाओंमें नियुक्त कर दिया और स्वयं शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी और दैत्यराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाको पत्नीके रूपमें स्वीकार करके पृथ्वीकी रक्षा करने लगा ॥ ४ ॥

१. तनयः क्षत्र० । २. आयुर्वंशः सप्त० । ३. या० । ४. भ्राता भ्रातॄन् यवी० ।

राजोवाच

ब्रह्मर्षिर्भगवान् काव्यः क्षत्रबन्धुश्च नाहुषः ।
राजन्यविप्रयोः कस्माद् विवाहः प्रतिलोमकः ॥ ५ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! भगवान् शुक्राचार्यजी तो ब्राह्मण थे और ययाति क्षत्रिय । फिर ब्राह्मण-कन्या और क्षत्रिय-वरका प्रतिलोम (उलटा) विवाह कैसे हुआ ? ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

एकदा दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा नाम कन्यका ।
सखीसहस्रसंयुक्ता गुरुपुत्र्या च भामिनी ॥ ६ ॥
देवयान्या पुरोद्याने पुष्पितद्रुमसङ्कुले ।
व्यचरत् कलगीतालिनलिनीपुलिनेऽबला ॥ ७ ॥
ता जलाशयमासाद्य कन्याः कमललोचनाः ।
तीरे न्यस्य दुकूलानि विजह्रुः सिञ्चतीर्मिथः ॥ ८ ॥
वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं सह देव्या वृषस्थितम् ।
सहसोत्तीर्य वासांसि पर्यधुर्व्रीडिताः[1] स्त्रियः ॥ ९ ॥
शर्मिष्ठाजानती वासो गुरुपुत्र्याः समव्ययत् ।
स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत् ॥ १० ॥
अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसाम्प्रतम्[2] ।
अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे ॥ ११ ॥
यैरिदं तपसा सृष्टं मुखं पुंसः परस्य ये ।
धार्यते यैरिह ज्योतिः शिवः पन्थाश्च दर्शितः ॥ १२ ॥
यान् वन्दन्त्युपतिष्ठन्ते लोकनाथाः सुरेश्वराः ।
भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिकेतनः ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजन् ! दानवराज वृषपर्वाकी एक बड़ी मानिनी कन्या थी । उसका नाम था शर्मिष्ठा । वह एक दिन अपनी गुरुपुत्री देवयानी और हजारों सखियोंके साथ अपनी राजधानीके श्रेष्ठ उद्यानमें टहल रही थी । उस उद्यानमें सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंसे लदे हुए अनेकों वृक्ष थे । उसमें एक बड़ा ही सुन्दर सरोवर था । सरोवरमें कमल खिले हुए थे और उनपर बड़े ही मधुर स्वरसे भौंरे गुंजार कर रहे थे । उसकी ध्वनिसे सरोवर-का तट गूँज रहा था ॥ ६-७ ॥ जलाशयके पास पहुँचनेपर उन सुन्दरी कन्याओंने अपने-अपने वस्त्र तो घाटपर रख दिये और उस तालाबमें प्रवेश करके वे एक-दूसरेपर जल उलीच-उलीचकर क्रीडा करने लगीं ॥ ८ ॥ उसी समय उधरसे पार्वतीजीके साथ बैलपर चढ़े हुए भगवान् शङ्कर आ निकले । उनको देखकर सब-की-सब कन्याएँ सकुचा गयीं और उन्होंने झटपट सरोवरसे निकलकर अपने-अपने वस्त्र पहन लिये ॥ ९ ॥ शीघ्रता-के कारण शर्मिष्ठाने अनजानमें देवयानीके वस्त्रको अपना समझकर पहन लिया । इसपर देवयानी क्रोधके मारे आग-बबूला हो गयी । उसने कहा—॥ १० ॥ 'अरे, देखो तो सही, इस दासीने कितना अनुचित काम कर डाला ! राम-राम, जैसे कुतिया यज्ञका हविष्य उठा ले जाय, वैसे ही इसने मेरे वस्त्र पहन लिये हैं ॥ ११ ॥ जिन ब्राह्मणोंने अपने तपोबलसे इस संसारकी सृष्टि की है, जो परम पुरुष परमात्माके मुखरूप हैं, जो अपने हृदयमें निरन्तर ज्योतिर्मय परमात्माको धारण किये रहते हैं और जिन्होंने सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये वैदिक मार्गका निर्देश किया है, बड़े-बड़े लोकपाल तथा देवराज इन्द्र-ब्रह्मा आदि भी जिनके चरणोंकी वन्दना और सेवा करते हैं,—और तो क्या, लक्ष्मीजीके एक-मात्र आश्रय परम पावन विश्वात्मा भगवान् भी जिनकी

१. धुर्लज्जिताः । २. च साम्प्रतम् ।

वयं तत्रापि भृगवः शिष्योऽस्या नः पितासुरः ।
असद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवासती ॥१४॥
एवं शपन्तीं शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभाषत ।
रुषा श्वसन्त्युरङ्गीव धर्षिता दष्टदच्छदा ॥१५॥
आत्मवृत्तमविज्ञाय कत्थसे बहु भिक्षुकि ।
किं न प्रतीक्षसेऽस्माकं गृहान् बलिभुजो यथा ॥१६॥
एवंविधैः सुपरुषैः क्षिप्त्वाऽऽचार्यसुतां सतीम् ।
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे वासं आदाय मन्युना ॥१७॥
तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन् ।
प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह ॥१८॥
दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः ॥१९॥
तं वीरमाहौशनसी प्रेमनिर्भरया गिरा ।
राजंस्त्वया गृहीतो मे पाणिः परपुरञ्जय ॥२०॥
हस्तग्राहोऽपरो मा भूद् गृहीतायास्त्वया हि मे ।
एष ईशकृतो वीर सम्बन्धो नौ न पौरुषः ।
यदिदं कूपलग्नाया भवतो दर्शनं मम ॥२१॥
न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज ।
कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद् यमशपं पुरा ॥२२॥

वन्दना और स्तुति करते हैं—उन्हीं ब्राह्मणोंमें हम सबसे श्रेष्ठ भृगुवंशी हैं । और इसका पिता प्रथम तो असुर है, फिर हमारा शिष्य है । इसपर भी इस दुष्टाने जैसे शूद्र वेद पढ़ ले, उसी तरह हमारे कपड़ोंको पहन लिया है' ॥ १२—१४ ॥ जब देवयानी इस प्रकार गाली देने लगी, तब शर्मिष्ठा क्रोधसे तिलमिला उठी । वह चोट खायी हुई नागिनके समान लंबी साँस लेने लगी । उसने अपने दाँतोंसे होठ दबाकर कहा— ॥ १५ ॥ 'भिखारिन ! तू इतना बहक रही है । तुझे कुछ अपनी बातका भी पता है ? जैसे कौए और कुत्ते हमारे दरवाजे-पर रोटीके टुकड़ोंके लिये प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही क्या तुम भी हमारे घरोंकी ओर नहीं ताकती रहतीं' ।१६। शर्मिष्ठाने इस प्रकार कड़ी-कड़ी बात कहकर गुरु-पुत्री देवयानीका तिरस्कार किया और क्रोधवश उसके वस्त्र छीनकर उसे कुएँमें ढकेल दिया ॥ १७ ॥

शर्मिष्ठाके चले जानेके बाद संयोगवश शिकार खेलते हुए राजा ययाति उधर आ निकले । उन्हें जलकी आवश्यकता थी, इसलिये कूएँमें पड़ी हुई देवयानीको उन्होंने देख लिया ॥ १८ ॥ उस समय वह वस्त्रहीन थी । इसलिये उन्होंने अपना दुपट्टा उसे दे दिया और दया करके अपने हाथसे उसका हाथ पकड़कर उसे बाहर निकाल दिया ॥ १९ ॥ देवयानीने प्रेमभरी वाणी-से वीर ययातिसे कहा—'वीरशिरोमणे राजन् ! आज आपने मेरा हाथ पकड़ा है । अब जब आपने मेरा हाथ पकड़ लिया, तब कोई दूसरा इसे न पकड़े । वीरश्रेष्ठ ! कूएँमें गिर जानेपर मुझे जो आपका अचानक दर्शन हुआ है, यह भगवान्‌का ही किया हुआ सम्बन्ध समझना चाहिये । इसमें हमलोगोंकी या और किसी मनुष्य-की कोई चेष्टा नहीं है ॥ २०-२१ ॥ वीरश्रेष्ठ ! पहले मैंने बृहस्पतिके पुत्र कचको शाप दे दिया था, इसपर उसने भी मुझे शाप दे दिया । इसी कारण ब्राह्मण मेरा पाणिग्रहण नहीं कर सकता'* ॥ २२ ॥

१. वासश्चादा० ।

* बृहस्पतिजीका पुत्र कच शुक्राचार्यजीसे मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़ता था । अध्ययन समाप्त करके जब वह अपने घर जाने लगा तो देवयानीने उसे वरण करना चाहा । परन्तु गुरुपुत्री होनेके कारण कचने उसका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया । इसपर देवयानीने उसे शाप दे दिया कि 'तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या निष्फल हो जाय ।' कचने भी उसे शाप दिया कि 'कोई भी ब्राह्मण तुम्हें पत्नीरूपमें स्वीकार न करेगा ।'

ययातिरनभिप्रेतं दैवोपहृतमात्मनः ।
मनस्तु तद्गतं बुद्ध्वा प्रतिजग्राह तद्वचः ॥२३॥

ययातिको शास्त्रप्रतिकूल होनेके कारण यह सम्बन्ध अभीष्ट तो न था; परन्तु उन्होंने देखा कि प्रारब्धने स्वयं ही मुझे यह उपहार दिया है, और मेरा मन भी इसकी ओर खिंच रहा है। इसलिये ययातिने उसकी बात मान ली। २३।

गते राजनि सा वीरे तत्र स्म रुदती पितुः ।
न्यवेदयत् ततः सर्वमुक्तं शर्मिष्ठया कृतम् ॥२४॥
दुर्मना भगवान् काव्यः पौरोहित्यं विगर्हयन् ।
स्तुवन् वृत्तिं च कापोतीं दुहित्रा स ययौ पुरात् ॥२५॥
वृषपर्वा तमाज्ञाय प्रत्यनीकविवक्षितम् ।
गुरुं प्रसादयन् मूर्ध्ना पादयोः पतितः पथि ॥२६॥
क्षणार्धमन्युर्भगवान् शिष्यं व्याचष्ट भार्गवः ।
कामोऽस्याः क्रियतां राजन् नैनां त्यक्तुमिहोत्सहे ॥२७॥
तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम् ।
पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु ॥२८॥

वीर राजा ययाति जब चले गये, तब देवयानी रोती-पीटती अपने पिता शुक्राचार्यके पास पहुँची और शर्मिष्ठाने जो कुछ किया था, वह सब उन्हें कह सुनाया ॥ २४ ॥ शर्मिष्ठाके व्यवहारसे भगवान् शुक्राचार्यजीका भी मन उचट गया। वे पुरोहिताईकी निन्दा करने लगे। उन्होंने सोचा कि इसकी अपेक्षा तो खेत या बाजारमेंसे कबूतरकी तरह कुछ बीनकर खा लेना अच्छा है। अतः अपनी कन्या देवयानीको साथ लेकर वे नगरसे निकल पड़े ॥ २५ ॥ जब वृषपर्वाको यह मालूम हुआ, तो उनके मनमें यह शङ्का हुई कि गुरुजी कहीं शत्रुओंकी जीत न करा दें, अथवा मुझे शाप न दे दें। अतएव वे उनको प्रसन्न करनेके लिये पीछे-पीछे गये और रास्तेमें उनके चरणोंपर सिरके बल गिर गये ॥ २६ ॥ भगवान् शुक्राचार्यजीका क्रोध तो आधे ही क्षणका था। उन्होंने वृषपर्वासे कहा—'राजन्! मैं अपनी पुत्री देवयानीको नहीं छोड़ सकता। इसलिये इसकी जो इच्छा हो, तुम पूरी कर दो। फिर मुझे लौट चलनेमें कोई आपत्ति न होगी ॥ २७ ॥ जब वृषपर्वाने 'ठीक है' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली, तब देवयानीने अपने मनकी बात कही। उसने कहा—'पिताजी मुझे जिस किसीको दे दें और मैं जहाँ-कहीं जाऊँ, शर्मिष्ठा अपनी सहेलियोंके साथ मेरी सेवाके लिये वहीं चले' ॥ २८ ॥

स्वानां तत् सङ्कटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम् ।
देवयानीं पर्यचरत् स्त्रीसहस्रेण दासवत् ॥२९॥
नाहुषाय सुतां दत्त्वा सह शर्मिष्ठयोशना ।
तमाह राजञ्छर्मिष्ठामाधास्तल्पे न कर्हिचित् ॥३०॥

शर्मिष्ठाने अपने परिवारवालोंका सङ्कट और उसके कार्यका गौरव देखकर देवयानीकी बात स्वीकार कर ली। वह अपनी एक हजार सहेलियोंके साथ दासीके समान उसकी सेवा करने लगी ॥ २९ ॥ शुक्राचार्यजीने देवयानीका विवाह राजा ययातिके साथ कर दिया और शर्मिष्ठाको दासीके रूपमें देकर उनसे कह दिया—'राजन्! इसको अपनी सेजपर कभी न आने देना। ३०।

१. मानसः। २. मनश्च। ३. नैतां।

विलोक्यौशनसीं राजञ्छर्मिष्ठा सुप्रजां क्वचित्।
तमेव वव्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सती ॥३१॥
राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मं चावेक्ष्य धर्मवित्।
स्मरञ्छुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत ॥३२॥
यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥३३॥
गर्भसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय मानिनी।
देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्च्छिता ॥३४॥
प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन्।
न प्रसादयितुं शेके पादसंवाहनादिभिः ॥३५॥
शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष।
त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥३६॥

ययातिरुवाच

अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन् दुहितरि स्म ते।
व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति ॥३७॥
इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं ज्येष्ठमवोचत।
यदो तात प्रतीच्छेमां जरां देहि निजं वयः ॥३८॥
मातामहकृतां वत्स न तृप्तो विषयेष्वहम्।
वयसा भवदीयेन रंस्ये कतिपयाः समाः ॥३९॥

यदुरुवाच

नोत्सहे जरसा स्थातुमन्तरा प्राप्तया तव।

परीक्षित्! कुछ ही दिनों बाद देवयानी पुत्रवती हो गयी। उसको पुत्रवती देखकर एक दिन शर्मिष्ठाने भी अपने ऋतुकालमें देवयानीके पति ययातिसे एकान्तमें सहवासकी याचना की ॥ ३१ ॥ शर्मिष्ठाकी पुत्रके लिये प्रार्थना धर्मसंगत है—यह देखकर धर्मज्ञ राजा ययातिने शुक्राचार्यकी बात याद रहनेपर भी यही निश्चय किया कि समयपर प्रारब्धके अनुसार जो होना होगा, हो जायगा ॥ ३२ ॥ देवयानीके दो पुत्र हुए—यदु और तुर्वसु तथा वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके तीन पुत्र हुए—द्रुह्यु, अनु और पूरु ॥ ३३ ॥ जब मानिनी देवयानीको यह मालूम हुआ कि शर्मिष्ठाको भी मेरे पति-के द्वारा ही गर्भ रहा था, तब वह क्रोधसे बेसुध होकर अपने पिताके घर चली गयी ॥ ३४ ॥ कामी ययातिने मीठी-मीठी बातें, अनुनय-विनय और चरण दबाने आदिके द्वारा देवयानीको मनानेकी चेष्टा की, उसके पीछे-पीछे वहाँतक गये भी; परन्तु मना न सके । ३५ । शुक्राचार्यजीने भी क्रोधमें भरकर ययातिसे कहा—'तू अत्यन्त स्त्रीलम्पट, मन्दबुद्धि और झूठा है। जा, तेरे शरीरमें वह बुढ़ापा आ जाय, जो मनुष्योंको कुरूप कर देता है' ॥ ३६ ॥

ययातिने कहा—'ब्रह्मन्! आपकी पुत्रीके साथ विषय-भोग करते-करते अभी मेरी तृप्ति नहीं हुई है। इस शापसे तो आपकी पुत्रीका भी अनिष्ट ही है।' इसपर शुक्राचार्यजीने कहा—'अच्छा जाओ; जो प्रसन्नता-से तुम्हें अपनी जवानी दे दे, उससे अपना बुढ़ापा बदल लो' ॥ ३७ ॥ शुक्राचार्यजीने जब ऐसी व्यवस्था दे दी, तब अपनी राजधानीमें आकर ययातिने अपने बड़े पुत्र यदुसे कहा—'बेटा! तुम अपनी जवानी मुझे दे दो और अपने नानाका दिया हुआ यह बुढ़ापा तुम स्वीकार कर लो। क्योंकि मेरे प्यारे पुत्र! मैं अभी विषयोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ। इसलिये तुम्हारी आयु लेकर मैं कुछ वर्षोंतक और आनन्द भोगूँगा' ॥ ३८-३९ ॥

यदुने कहा—'पिताजी! बिना समयके ही प्राप्त हुआ आपका बुढ़ापा लेकर तो मैं जीना भी नहीं

१. सुप्रजां।

अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः ॥४०॥

तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चानुश्च भारत।

प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा ह्यनित्ये नित्यबुद्धयः ॥४१॥

अपृच्छत् तनयं पूरुं वयसोनं गुणाधिकम्।

न त्वमग्रजवद् वत्स मां प्रत्याख्यातुमर्हसि ॥४२॥

चाहता। क्योंकि कोई भी मनुष्य जबतक विषय-सुखको अनुभव नहीं कर लेता, तबतक उसे उससे वैराग्य नहीं होता' ॥ ४० ॥ परीक्षित्! इसी प्रकार तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुने भी पिताकी आज्ञा अस्वीकार कर दी। सच पूछो तो उन पुत्रोंको धर्मका तत्त्व मालूम नहीं था। वे इस अनित्य शरीरको ही नित्य माने बैठे थे॥ ४१ ॥ अब ययातिने अवस्थामें सबसे छोटे किन्तु गुणोंमें बड़े अपने पुत्र पूरुको बुलाकर पूछा और कहा—'बेटा! अपने बड़े भाइयोंके समान तुम्हें तो मेरी बात नहीं टालनी चाहिये' ॥ ४२ ॥

पूरुरुवाच

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।

प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद् विन्दते परम् ॥४३॥

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।

अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ॥४४॥

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः।

सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुजुषे नृप ॥४५॥

सप्तद्वीपपतिः सम्यक् पितृवत् पालयन् प्रजाः।

यथोपजोषं विषयाञ्जुजुषेऽव्याहतेन्द्रियः ॥४६॥

देवयान्यप्यनुदिनं मनोवाग्देहवस्तुभिः।

प्रेयसः परमां प्रीतिमुवाह प्रेयसी रहः ॥४७॥

अयजद् यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।

सर्वदेवमयं देवं सर्ववेदमयं हरिम् ॥४८॥

पूरुने कहा—'पिताजी! पिताकी कृपासे मनुष्यको परम पदकी प्राप्ति हो सकती है। वास्तवमें पुत्रका शरीर पिताका ही दिया हुआ है। ऐसी अवस्थामें ऐसा कौन है, जो इस संसारमें पिताके उपकारोंका बदला चुका सके? ॥ ४३ ॥ उत्तम पुत्र तो वह है, जो पिताके मन-की बात बिना कहे ही कर दे। कहनेपर श्रद्धाके साथ आज्ञापालन करनेवाले पुत्रको मध्यम कहते हैं। जो आज्ञा प्राप्त होनेपर भी अश्रद्धासे उसका पालन करे, वह अधम पुत्र है। और जो किसी प्रकार भी पिताकी आज्ञाका पालन नहीं करता, उसको तो पुत्र कहना ही भूल है। वह तो पिताका मल-मूत्र ही है॥ ४४ ॥ परीक्षित्! इस प्रकार कहकर पूरुने बड़े आनन्दसे अपने पिताका बुढ़ापा स्वीकार कर लिया। राजा ययाति भी उसकी जवानी लेकर पूर्ववत् विषयोंका सेवन करने लगे ॥ ४५ ॥ वे सातों द्वीपोंके एकछत्र सम्राट् थे। पिताके समान भलीभाँति प्रजाका पालन करते थे। उनकी इन्द्रियोंमें पूरी शक्ति थी और वे यथावसर यथा-प्राप्त विषयोंका यथेच्छ उपभोग करते थे ॥ ४६ ॥ देव-यानी उनकी प्रियतमा पत्नी थी। वह अपने प्रियतम ययातिको अपने मन, वाणी, शरीर और वस्तुओंके द्वारा दिन-दिन और भी प्रसन्न करने लगी। और एकान्तमें सुख देने लगी ॥ ४७ ॥ राजा ययातिने समस्त वेदोंके प्रतिपाद्य सर्वदेवस्वरूप यज्ञपुरुष भगवान् श्रीहरिका बहुत-से बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे यजन किया ॥ ४८ ॥

१. च्छत्स ततः। २. च। ३. वदबुभुजे। ४. वाग्गृहव०।

यस्मिन्निदं विरचितं व्योम्नीव जलदावलिः ।
नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः ॥४९॥

तस्मिन्नेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम् ।
नारायणमणीयांसं निराशीरयजत् प्रभुम् ॥५०॥

एवं वर्षसहस्राणि मनःषष्ठैर्मनःसुखम् ।
विदधानोऽपि नातृप्यत् सार्वभौमः कदिन्द्रियैः॥५१॥

जैसे आकाशमें दल-के-दल बादल दीखते हैं और कभी नहीं भी दीखते, वैसे ही परमात्माके स्वरूपमें यह जगत् स्वप्न, माया और मनोराज्यके समान कल्पित है। यह कभी अनेक नाम और रूपोंके रूपमें प्रतीत होता है, और कभी नहीं भी ॥ ४९ ॥ वे परमात्मा सबके हृदयमें विराजमान हैं। उनका स्वरूप सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। उन्हीं सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी भगवान् श्रीनारायणको अपने हृदयमें स्थापित करके राजा ययातिने निष्काम भावसे उनका यजन किया ॥ ५० ॥ इस प्रकार एक हजार वर्षतक उन्होंने अपनी उच्छृङ्खल इन्द्रियोंके साथ मनको जोड़कर उसके प्रिय विषयोंको भोगा। परन्तु इतनेपर भी चक्रवर्ती सम्राट् ययातिकी भोगोंसे तृप्ति न हो सकी ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

ययातिका गृहत्याग

श्रीशुक उवाच

स इत्थमाचरन् कामान् स्त्रैणोऽपह्नवमात्मनः ।
बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णो गाथामेतामगायत ॥ १ ॥

शृणु भार्गव्यमूं गाथां मद्विधाचरितां भुवि ।
धीरा यस्यानुशोचन्ति वने ग्रामनिवासिनः ॥ २ ॥

बस्त एको वने कश्चिद् विचिन्वन् प्रियमात्मनः।
ददर्श कूपे पतितां स्वकर्मवशगामजाम् ॥ ३ ॥

तस्या उद्धरणोपायं बस्तः कामी विचिन्तयन् ।
व्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य विषाणाग्रेण रोधसी ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजा ययाति इस प्रकार स्त्रीके वशमें होकर विषयोंका उपभोग करते रहे। एक दिन जब अपने अधःपतनपर दृष्टि गयी तब उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और उन्होंने अपनी प्रियपत्नी देवयानीसे इस गाथाका गान किया ॥ १ ॥ 'भृगुनन्दिनी! तुम यह गाथा सुनो। पृथ्वीमें मेरे ही समान विषयीका यह सत्य इतिहास है। ऐसे ही ग्रामवासी विषयी पुरुषोंके सम्बन्धमें वनवासी जितेन्द्रिय पुरुष दुःखके साथ विचार किया करते हैं कि इनका कल्याण कैसे होगा? ॥ २ ॥ एक था बकरा। वह वनमें अकेला ही अपनेको प्रिय लगनेवाली वस्तुएँ ढूँढ़ता हुआ घूम रहा था। उसने देखा कि अपने कर्मवश एक बकरी कूएँमें गिर पड़ी है ॥ ३ ॥ वह बकरा बड़ा कामी था। वह सोचने लगा कि इस बकरीको किस प्रकार कूएँसे निकाला जाय। उसने अपने सींगसे कूएँके पासकी धरती खोद डाली और रास्ता तैयार कर लिया ॥ ४ ॥

१. श्र० । २. प्राचीन प्रतिमें इससे आगे 'ययाते' इतना अंश अधिक है।

सोत्तीर्य कूपात् सुश्रोणी तमेव चकमे किल ।
तया वृतं समुद्वीक्ष्य बह्व्योऽजाः कान्तकामिनीः ॥५॥
पीवानं श्मश्रुलं प्रेष्ठं मीढ्वांसं याभकोविदम् ।
स एकोऽजवृषस्तासां बह्वीनां रतिवर्धनः ।
रेमे कामग्रहग्रस्त आत्मानं नावबुध्यत ॥ ६ ॥
तमेव प्रेष्ठतमया रममाणमजान्यया ।
विलोक्य कूपसंविग्ना नामृष्यद् बस्तकर्म तत् ॥ ७ ॥
तं दुर्हृदं सुहृद्रूपं कामिनं क्षणसौहृदम् ।
इन्द्रियाराममुत्सृज्य स्वामिनं दुःखिता ययौ ॥ ८ ॥
सोऽपि चानुगतः स्त्रैणः कृपणस्तां प्रसादितुम् ।
कुर्वन्निडविडाकारं नाशक्नोत् पथि संधितुम् ॥ ९ ॥
तस्यास्तत्र द्विजः कश्चिदजास्वाम्यच्छिनद् रुषा ।
लम्बन्तं वृषणं भूयः सन्दधेऽर्थाय योगवित् ॥१०॥
सम्बद्धवृषणः सोऽपि ह्यजया कूपलब्धया ।
कालं बहुतिथं भद्रे कामैर्नाद्यापि तुष्यति ॥११॥
तथाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः ।
आत्मानं नाभिजानामि मोहितस्तव मायया ॥१२॥
यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥१३॥

जब वह सुन्दरी बकरी कूएँसे निकली, तो उसने उस बकरेसे ही प्रेम करना चाहा। वह दाढ़ी-मूँछमण्डित बकरा हृष्ट-पुष्ट, जवान, बकरियोंको सुख देनेवाला, विहारकुशल और बहुत प्यारा था। जब दूसरी बकरियोंने देखा कि कूएँमें गिरी हुई बकरीने उसे अपना प्रेमपात्र चुन लिया है, तब उन्होंने भी उसीको अपना पति बना लिया। वे तो पहलेसे ही पतिकी तलाशमें थीं। उस बकरेके सिरपर कामरूप पिशाच सवार था। वह अकेला ही बहुत-सी बकरियोंके साथ विहार करने लगा और अपनी सब सुध-बुध खो बैठा ॥ ५-६ ॥ जब उसकी कूएँमेंसे निकाली हुई प्रियतमा बकरीने देखा कि मेरा पति तो अपनी दूसरी प्रियतमा बकरीसे विहार कर रहा है, तो उसे बकरेकी यह करतूत सहन न हुई ॥ ७ ॥ उसने देखा कि यह तो बड़ा कामी है, इसके प्रेमका कोई भरोसा नहीं है और यह मित्रके रूपमें शत्रुका काम कर रहा है। अतः वह बकरी उस इन्द्रियलोलुप बकरेको छोड़कर बड़े दुःखसे अपने पालनेवालेके पास चली गयी ॥ ८ ॥ वह दीन कामी बकरा उसे मनानेके लिये 'में-में' करता हुआ उसके पीछे-पीछे चला। परन्तु उसे मार्गमें मना न सका ॥ ९ ॥ उस बकरीका स्वामी एक ब्राह्मण था। उसने क्रोधमें आकर बकरेके लटकते हुए अण्डकोषको काट दिया। परन्तु फिर उस बकरीका ही भला करनेके लिये फिरसे उसे जोड़ भी दिया। उसे इस प्रकारके बहुत-से उपाय मालूम थे ॥ १० ॥ प्रिये! इस प्रकार अण्डकोष जुड़ जानेपर वह बकरा फिर कूएँसे निकली हुई बकरीके साथ बहुत दिनोंतक विषय-भोग करता रहा, परन्तु आजतक उसे सन्तोष न हुआ ॥ ११ ॥ सुन्दरी! मेरी भी यही दशा है। तुम्हारे प्रेमपाशमें बँधकर मैं भी अत्यन्त दीन हो गया। तुम्हारी मायासे मोहित होकर मैं अपने-आपको भी भूल गया हूँ ॥ १२ ॥

प्रिये! पृथ्वीमें जितने भी धान्य (चावल, जौ आदि), सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं—वे सब-के-सब मिलकर भी उस पुरुषके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जो कामनाओं-

१. घोरं। २. रक्तमजया। ३. कामसंवि०। ४. कुर्वन् विडविडा०।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम् ।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१५॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥१६॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१७॥

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत् ।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते ॥१८॥

तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् ।
निर्द्वन्द्वो निरहंकारश्चरिष्यामि मृगैः सह ॥१९॥

दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक् ॥२०॥

इत्युक्त्वा नाहुषो जायां तदीयं पूरवे वयः ।
दत्त्वा स्वां जरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः ॥२१॥

दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं दक्षिणतो यदुम् ।
प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्र उदीच्यामनुमीश्वरम् ॥२२॥

के प्रहारसे जर्जर हो रहा है ॥ १३ ॥ विषयोंके भोगनेसे भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती। बल्कि जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगवासनाएँ भी भोगोंसे प्रबल हो जाती हैं। १४। जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तुके साथ राग-द्वेषका भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है तथा उसके लिये सभी दिशाएँ सुखमयी बन जाती हैं ॥ १५ ॥ विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्‌गमस्थान है। मन्दबुद्धि लोग बड़ी कठिनाईसे उसका त्याग कर सकते हैं ! शरीर बूढ़ा हो जाता है पर तृष्णा नित्य नवीन ही होती जाती है । अतः जो अपना कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस तृष्णा (भोग-वासना) का त्याग कर देना चाहिये ॥ १६ ॥ और तो क्या— अपनी मा, बहिन और कन्याके साथ भी अकेले एक आसनपर सटकर नहीं बैठना चाहिये । इन्द्रियाँ इतनी बलवान् हैं कि वे बड़े-बड़े विद्वानोंको भी विचलित कर देती हैं ॥ १७ ॥ विषयोंका बार-बार सेवन करते-करते मेरे एक हजार वर्ष पूरे हो गये, फिर भी क्षण-प्रति-क्षण उन भोगोंकी लालसा बढ़ती ही जा रही है ॥ १८ ॥ इसलिये मैं अब भोगोंकी वासना-तृष्णाका परित्याग करके अपना अन्तःकरण परमात्माके प्रति समर्पित कर दूँगा और शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदिके भावोंसे ऊपर उठकर अहङ्कारसे मुक्त हो हरिनोंके साथ वनमें विचरूँगा। १९। लोक-परलोक दोनोंके ही भोग असत् हैं, ऐसा समझकर न तो उनका चिन्तन करना चाहिये और न भोग ही। समझना चाहिये कि उनके चिन्तनसे ही जन्ममृत्युरूप संसारकी प्राप्ति होती है और उनके भोगसे तो आत्मनाश ही हो जाता है । वास्तवमें इनके रहस्यको जानकर इनसे अलग रहनेवाला ही आत्मज्ञानी है' ॥ २० ॥

परीक्षित् ! ययातिने अपनी पत्नीसे इस प्रकार कहकर पूरुकी जवानी उसे लौटा दी और उससे अपना बुढ़ापा ले लिया। यह इसलिये कि अब उनके चित्तमें विषयोंकी वासना नहीं रह गयी थी ॥ २१ ॥ इसके बाद उन्होंने दक्षिण-पूर्व दिशामें द्रुह्यु, दक्षिणमें यदु, पश्चिममें तुर्वसु और उत्तरमें अनुको राज्य दे दिया॥ २२ ॥

१. च । २. वृदिवसं । ३. सद्विद्वान् ।

भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशाम् ।
अभिषिच्याग्रजांस्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ ॥२३॥
आसेवितं वर्षपूगान् षड्वर्गं विषयेषु सः ।
क्षणेन मुमुचे नीडं जातपक्ष इव द्विजः ॥२४॥
स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग
आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः ।
परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे
लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥२५॥

सारे भूमण्डलकी समस्त सम्पत्तियोंके योग्यतम पात्र पुरुको अपने राज्यपर अभिषिक्त करके तथा बड़े भाइयोंको उसके अधीन बनाकर वे वनमें चले गये ॥ २३ ॥ यद्यपि राजा ययातिने बहुत वर्षोंतक इन्द्रियोंसे विषयोंका सुख भोगा था—परन्तु जैसे पाँख निकल आनेपर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देता है, वैसे ही उन्होंने एक क्षणमें ही सब कुछ छोड़ दिया ॥ २४ ॥ वनमें जाकर राजा ययातिने समस्त आसक्तियोंसे छुट्टी पा ली । आत्म-साक्षात्कारके द्वारा उनका त्रिगुणमय लिङ्गशरीर नष्ट हो गया । उन्होंने माया-मलसे रहित परब्रह्म परमात्मा वासुदेवमें मिलकर वह भागवती गति प्राप्त की, जो बड़े-बड़े भगवान्‌के प्रेमी संतोंको प्राप्त होती है ॥ २५ ॥

श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः ।
स्त्रीपुंसोः स्नेहवैक्लव्यात् परिहासमिवेरितम्[1] ॥२६॥
सा संनिवासं सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम् ।
विज्ञायेश्वरतन्त्राणां मायाविरचितं प्रभोः[2] ॥२७॥
सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी ।
कृष्णे मनः समावेश्य व्यधुनोल्लिङ्गमात्मनः ॥२८॥
नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
सर्वभूताधिवासाय शान्ताय बृहते नमः ॥२९॥

जब देवयानीने वह गाथा सुनी, तो उसने समझा कि ये मुझे निवृत्तिमार्गके लिये प्रोत्साहित कर रहे हैं । क्योंकि स्त्री-पुरुषमें परस्पर प्रेमके कारण विरह होनेपर विकलता होती है, यह सोचकर ही इन्होंने यह बात हँसी-हँसीमें कही है ॥ २६ ॥ स्वजन-सम्बन्धियोंका—जो ईश्वरके अधीन हैं—एक स्थानपर इकट्ठा हो जाना वैसा ही है, जैसा प्याऊपर पथिकोंका । यह सब भगवान्‌की मायाका खेल और स्वप्नके सरीखा ही है । ऐसा समझकर देवयानीने सब पदार्थोंकी आसक्ति त्याग दी और अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय करके बन्धनके हेतु लिङ्गशरीरका परित्याग कर दिया—वह भगवान्‌को प्राप्त हो गयी ॥ २७-२८ ॥ उसने भगवान्‌को नमस्कार करके कहा—'समस्त जगत्‌के रचयिता, सर्वान्तर्यामी, सबके आश्रयस्वरूप सर्वशक्तिमान् भगवान् वासुदेवको नमस्कार है । जो परम शान्त और अनन्त तत्त्व है, उसे मैं नमस्कार करती हूँ' ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे[3] एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

पूरुके वंश, राजा दुष्यन्त और भरतके चरित्रका वर्णन

श्रीशुक उवाच[4]

पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब मैं राजा पूरुके वंशका वर्णन करूँगा । इसी वंशमें तुम्हारा जन्म

१. वेहितम् । २. विभोः । ३. प्राचीन प्रतिमें 'यायाते' इतना अधिक पाठ है । ४. बादरायणिरुवाच ।

यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥ १ ॥
जनमेजयो ह्यभूत् पूरोः प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः।
प्रवीरोऽथ नमस्युर्वै तस्माच्चारुपदोऽभवत् ॥ २ ॥
तस्य सुद्युरभूत् पुत्रस्तस्माद् बहुगवस्ततः ।
संयातिस्तस्याहंयाती रौद्राश्वस्तत्सुतः स्मृतः ॥ ३ ॥
ऋतेयुस्तस्य कुक्षेयुः स्थण्डिलेयुः कृतेयुकः ।
जलेयुः सन्ततेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयवः ॥ ४ ॥
दशैतेऽप्सरसः पुत्रा वनेयुश्चावमः स्मृतः ।
घृताच्यामिन्द्रियाणीव मुख्यस्य जगदात्मनः ॥ ५ ॥
ऋतेयो रन्तिभारोऽभूत्[1] त्रयस्तस्यात्मजा नृप ।
सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वोऽप्रतिरथात्मजः ॥ ६ ॥
तस्य मेधातिथिस्तस्मात् प्रस्कण्वाद्या द्विजातयः।
पुत्रोऽभूत् सुमते रैभ्यो[2] दुष्यन्तस्तत्सुतो मतः॥ ७ ॥
दुष्यन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपदं गतः ।
तत्रासीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव ॥ ८ ॥
विलोक्य सद्यो[3] मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम् ।
बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः ॥ ९ ॥
तद्दर्शनप्रमुदितः संनिवृत्तपरिश्रमः ।
पप्रच्छ कामसन्तप्तः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥१०॥
का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयङ्गमे ।
किं वा चिकीर्षितं त्वत्र भवत्या निर्जने वने ॥११॥
व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे ।
न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित् ॥१२॥

शकुन्तलोवाच

विश्वामित्रात्मजैवाहं त्यक्ता मेनकया वने ।

हुआ है । इसी वंशके वंशधर बहुत-से राजर्षि और ब्रह्मर्षि भी हुए हैं ॥ १ ॥ पूरुका पुत्र हुआ जनमेजय । जनमेजयका प्रचिन्वान्, प्रचिन्वान्‌का प्रवीर, प्रवीरका नमस्यु और नमस्युका पुत्र हुआ चारुपद ॥ २ ॥ चारुपदसे सुद्यु, सुद्युसे बहुगव, बहुगवसे संयाति, संयातिसे अहंयाति और अहंयातिसे रौद्राश्व हुआ ॥ ३ ॥ परीक्षित् ! जैसे विश्वात्मा प्रधान प्राणसे दस इन्द्रियाँ होती हैं, वैसे ही घृताची अप्सराके गर्भसे रौद्राश्वके दस पुत्र हुए—ऋतेयु, कुक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयु, जलेयु, सन्ततेयु, धर्मेयु, सत्येयु, व्रतेयु और सबसे छोटा वनेयु ॥ ४-५ ॥ परीक्षित् ! उनमेंसे ऋतेयुका पुत्र रन्तिभार हुआ और रन्तिभारके तीन पुत्र हुए—सुमति, ध्रुव और अप्रतिरथ । अप्रतिरथके पुत्रका नाम था कण्व ॥ ६ ॥ कण्वका पुत्र मेधातिथि हुआ । इसी मेधातिथिसे प्रस्कण्व आदि ब्राह्मण उत्पन्न हुए । सुमतिका पुत्र रैभ्य हुआ, इसी रैभ्यका पुत्र दुष्यन्त था ॥ ७ ॥

एक बार दुष्यन्त वनमें अपने कुछ सैनिकोंके साथ शिकार खेलनेके लिये गये हुए थे । उधर ही वे कण्व मुनिके आश्रमपर जा पहुँचे । उस आश्रमपर देवमायाके समान मनोहर एक स्त्री बैठी हुई थी । उसकी लक्ष्मीके समान अङ्गकान्तिसे वह आश्रम जगमगा रहा था । उस सुन्दरीको देखते ही दुष्यन्त मोहित हो गये और उससे बातचीत करने लगे ॥ ८-९ ॥ उसको देखनेसे उनको बड़ा आनन्द मिला । उनके मनमें काम-वासना जाग्रत् हो गयी । थकावट दूर करनेके बाद उन्होंने बड़ी मधुर वाणीसे मुसकराते हुए उससे पूछा—॥ १० ॥ 'कमलदलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली देवि ! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो ? मेरे हृदयको अपनी ओर आकर्षित करनेवाली सुन्दरी ! तुम इस निर्जन वनमें रहकर क्या करना चाहती हो ? ॥ ११ ॥ सुन्दरी ! मैं स्पष्ट समझ रहा हूँ कि तुम किसी क्षत्रियकी कन्या हो । क्योंकि पुरुवंशियोंका चित्त कभी अधर्मकी ओर नहीं झुकता' ॥ १२ ॥

शकुन्तलाने कहा—आपका कहना सत्य है । मैं विश्वामित्रजीकी पुत्री हूँ । मेनका अप्सराने मुझे वनमें

१. रतिनारो । २. । रैतिर्दुष्य० । ३. मुमुहे सद्यो ।

वेदैतद् भगवान् कण्वो वीर किं करवाम ते ॥१३॥

आस्यतां ह्यरविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणं च नः ।

भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते ॥१४॥

दुष्यन्त उवाच

उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये ।

स्वयं हि वृणते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥१५॥

ओमित्युक्ते[2] यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम् ।

गान्धर्वविधिना राजा देशकालविधानवित् ॥१६॥

अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे ।

श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम् ॥१७॥

कण्वः[3] कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः ।

बद्ध्वा मृगेन्द्रांस्तरसा क्रीडति स्म स बालकः ॥१८॥

तं दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा ।

हरेरंशांशसम्भूतं भर्तुरन्तिकमागमत् ॥१९॥

यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ ।

शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी ॥२०॥

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।

भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥२१॥

रेतोधाः पुत्रो नयति नरदेव यमक्षयात् ।

छोड़ दिया था । इस बातके साक्षी हैं मेरा पालन-पोषण करनेवाले महर्षि कण्व । वीरशिरोमणे ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १३ ॥ कमलनयन ! आप यहाँ बैठिये और हम जो कुछ आपका स्वागत-सत्कार करें, उसे स्वीकार कीजिये । आश्रममें कुछ नीवार (तिन्नीका भात) है । आपकी इच्छा हो तो भोजन कीजिये और जँचे तो यहीं ठहरिये' ॥ १४ ॥

दुष्यन्तने कहा—'सुन्दरी ! तुम कुशिकवंशमें उत्पन्न हुई हो, इसलिये इस प्रकारका आतिथ्य-सत्कार तुम्हारे योग्य ही है । क्योंकि राजकन्याएँ स्वयं ही अपने योग्य पतिको वरण कर लिया करती हैं ॥ १५ ॥ शकुन्तलाकी स्वीकृति मिल जानेपर देश, काल और शास्त्रकी आज्ञाको जाननेवाले राजा दुष्यन्तने गान्धर्व-विधिसे धर्मानुसार उसके साथ विवाह कर लिया ॥ १६ ॥ राजर्षि दुष्यन्तका वीर्य अमोघ था । रात्रिमें वहाँ रहकर दुष्यन्तने शकुन्तलाका सहवास किया और दूसरे दिन सवेरे वे अपनी राजधानीमें चले गये । समय आनेपर शकुन्तलाको एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १७ ॥ महर्षि कण्वने वनमें ही राजकुमारके जातकर्म आदि संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये । वह बालक बचपनमें ही इतना बलवान् था कि बड़े-बड़े सिंहोंको बलपूर्वक बाँध लेता और उनसे खेला करता ॥ १८ ॥

वह बालक भगवान्‌का अंशांशावतार था । उसका बल-विक्रम अपरिमित था । उसे अपने साथ लेकर रमणीरत्न शकुन्तला अपने पतिके पास गयी ॥ १९ ॥ जब राजा दुष्यन्तने अपनी निर्दोष पत्नी और पुत्रको स्वीकार नहीं किया, तब जिसका वक्ता नहीं दीख रहा था और जिसे सब लोगोंने सुना, ऐसी आकाशवाणी हुई ॥ २० ॥ 'पुत्र उत्पन्न करनेमें माता तो केवल धौंकनीके समान है । वास्तवमें पुत्र पिताका ही है । क्योंकि पिता ही पुत्रके रूपमें उत्पन्न होता है । इसलिये दुष्यन्त ! तुम शकुन्तलाका तिरस्कार न करो, अपने पुत्रका भरण-पोषण करो ॥ २१ ॥ राजन् ! वंशकी वृद्धि करनेवाला पुत्र अपने पिताको नरकसे उबार लेता

१. वाणि । २. क्तो । ३. कुमारस्य वने चक्रे सर्वाः समुदिताः । ४. गेन्द्रं तरसा क्रीडते स च बाल० ।

त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥२२॥

है। शकुन्तलाका कहना बिल्कुल ठीक है। इस गर्भको धारण करानेवाले तुम्हीं हो' ॥ २२ ॥

पितर्युपरते सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः।
महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि ॥२३॥
चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोशोऽस्य पादयोः।
ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड् विभुः ॥२४॥
पञ्चपञ्चाशता मेध्यैर्गङ्गायामनु वाजिभिः।
मामतेयं पुरोधाय यमुनायामनु प्रभुः ॥२५॥
अष्टसप्ततिमेध्याश्वान् बबन्ध प्रददद् वसु।
भरतस्य हि दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः।
सहस्रं बद्वशो यस्मिन् ब्राह्मणा गा विभेजिरे ॥२६॥
त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान् बद्ध्वा विस्मापयन् नृपान्।
दौष्यन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ ॥२७॥
मृगाञ्छुक्लदतः कृष्णान् हिरण्येन परीवृतान्।
अदात् कर्मणि मष्णारे नियुतानि चतुर्दश ॥२८॥
भरतस्य महत् कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा ॥२९॥
किरातहूणान् यवनानन्ध्रान् कङ्कान् खशाञ्छकान्।
अब्रह्मण्यान् नृपांश्चाहन् म्लेच्छान् दिग्विजयेऽखिलान् ॥३०॥

परीक्षित्! पिता दुष्यन्तकी मृत्यु हो जानेके बाद वह परम यशस्वी बालक चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। उसका जन्म भगवान्‌के अंशसे हुआ था। आज भी पृथ्वीपर उसकी महिमाका गान किया जाता है॥ २३ ॥ उसके दाहिने हाथमें चक्रका चिह्न था और पैरोंमें कमलकोषका। महाभिषेककी विधिसे राजाधिराजके पदपर उसका अभिषेक हुआ। भरत बड़ा शक्तिशाली राजा था॥ २४ ॥ भरतने ममताके पुत्र दीर्घतमा मुनिको पुरोहित बनाकर गङ्गातटपर गङ्गासागरसे लेकर गङ्गोत्रीपर्यन्त पचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये। और इसी प्रकार यमुनातटपर भी प्रयागसे लेकर यमुनोत्रीतक उन्होंने अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये। इन सभी यज्ञोंमें उन्होंने अपार धनराशिका दान किया था। दुष्यन्तकुमार भरतका यज्ञीय अग्नि-स्थापन बड़े ही उत्तम गुणवाले स्थानमें किया गया था। उस स्थानमें भरतने इतनी गौएँ दान दी थीं कि एक हजार ब्राह्मणोंमें प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक बद्व (१३०८४) गौएँ मिली थीं॥ २५-२६ ॥ इस प्रकार राजा भरतने उन यज्ञोंमें एक सौ तैंतीस (५५+७८) घोड़े बाँधकर (१३३ यज्ञ करके) समस्त नरपतियोंको असीम आश्चर्यमें डाल दिया। इन यज्ञोंके द्वारा इस लोकमें तो राजा भरतको परम यश मिला ही, अन्तमें उन्होंने मायापर भी विजय प्राप्त की और देवताओंके परमगुरु भगवान् श्रीहरिको प्राप्त कर लिया॥ २७ ॥ यज्ञमें एक कर्म होता है 'मष्णार'। उसमें भरतने सुवर्णसे विभूषित, श्वेत दाँतोंवाले तथा काले रंगके चौदह लाख हाथी दान किये॥ २८ ॥ भरतने जो महान् कर्म किया, वह न तो पहले कोई राजा कर सका था और न तो आगे ही कोई कर सकेगा। क्या कभी कोई हाथसे स्वर्गको छू सकता है? ॥ २९ ॥ भरतने दिग्विजयके समय किरात, हूण, यवन, अन्ध्र, कङ्क, खश, शक और म्लेच्छ आदि समस्त ब्राह्मणद्रोही राजाओंको मार डाला॥ ३० ॥

१. विराड्। २. गङ्गातोयं। ३. तु। ४. परिष्कृतान्। ५. मन्तारे।

जित्वा पुरासुरा देवान् ये रसौकांसि भेजिरे ।
देवस्त्रियो रसां नीताः प्राणिभिः पुनराहरत् ॥३१॥
सर्वकामान् दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी ।
समास्त्रिणवसाहस्रीर्दिक्षु चक्रमवर्तयत् ॥३२॥
स सम्राड् लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट् श्रियम् ।
चक्रं चास्खलितं प्राणान् मृषेत्युपरराम ह ॥३३॥
तस्यासन् नृप वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्रः सुसम्मताः ।
जघ्नुस्त्यागभयात् पुत्रान् नानुरूपा इतीरिते ॥३४॥
तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम् ।
मरुत्स्तोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः ॥३५॥
अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः ।
प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवासृजत् ॥३६॥
तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशङ्किताम् ।
नामनिर्वचनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः ॥३७॥
मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृहस्पते ।

पहले युगमें बलवान् असुरोंने देवताओंपर विजय प्राप्त कर ली थी और वे रसातलमें रहने लगे थे । उस समय वे बहुत-सी देवाङ्गनाओंको रसातलमें ले गये थे । राजा भरतने फिरसे उन्हें छुड़ा दिया ॥ ३१ ॥ उनके राज्यमें पृथ्वी और आकाश प्रजाकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण कर देते थे । भरतने सत्ताईस हजार वर्षतक समस्त दिशाओंका एकछत्र शासन किया ॥ ३२ ॥ अन्तमें सार्वभौम सम्राट् भरतने यही निश्चय किया कि लोकपालोंको भी चकित कर देनेवाला ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति, अखण्ड शासन और यह जीवन भी मिथ्या ही है । यह निश्चय करके वे संसारसे उदासीन हो गये ॥३३॥

परीक्षित् ! विदर्भराजकी तीन कन्याएँ सम्राट् भरतकी पत्नियाँ थीं । वे उनका बड़ा आदर भी करते थे । परन्तु जब भरतने उनसे कह दिया कि तुम्हारे पुत्र मेरे अनुरूप नहीं हैं, तब वे डर गयीं कि कहीं सम्राट् हमें त्याग न दें । इसलिये उन्होंने अपने बच्चोंको मार डाला ॥ ३४ ॥ इस प्रकार सम्राट् भरतका वंश वितथ अर्थात् विच्छिन्न होने लगा । तब उन्होंने सन्तानके लिये 'मरुत्स्तोम' नामका यज्ञ किया । इससे मरुद्गणोंने प्रसन्न होकर भरतको भरद्वाज नामका पुत्र दिया ॥३५॥ भरद्वाजकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग यह है कि एक बार बृहस्पतिजीने अपने भाई उतथ्यकी गर्भवती पत्नीसे मैथुन करना चाहा । उस समय गर्भमें जो बालक (दीर्घतमा) था, उसने मना किया । किन्तु बृहस्पतिजीने उसकी बातपर ध्यान न दिया और उसे 'तू अंधा हो जा' यह शाप देकर बलपूर्वक गर्भाधान कर दिया ॥ ३६ ॥ उतथ्यकी पत्नी ममता इस बातसे डर गयी कि कहीं मेरे पति मेरा त्याग न कर दें । इसलिये उसने बृहस्पतिजीके द्वारा होनेवाले लड़केको त्याग देना चाहा । उस समय देवताओंने गर्भस्थ शिशुके नामका निर्वचन करते हुए यह कहा ॥३७॥ 'बृहस्पतिजी कहते हैं कि अरी मूढे ! यह मेरा औरस और मेरे भाईका क्षेत्रज—इस प्रकार दोनोंका पुत्र (द्वाज) है; इसलिये तू डर मत, इसका भरण-पोषण कर (भर) ।' इसपर ममताने कहा—'बृहस्पते ! यह मेरे पतिका

१. पुंसां । २. त्रपि । ३. कमेकं ।

यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥३८॥

नहीं, हम दोनोंका ही पुत्र है; इसलिये तुम्हीं इसका भरण-पोषण करो ।' इस प्रकार आपसमें विवाद करते हुए माता-पिता दोनों ही इसको छोड़कर चले गये । इसलिये इस लड़केका नाम 'भरद्वाज' हुआ ॥ ३८ ॥

चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम् ।
व्यसृजन् मरुतोऽबिभ्रन् दत्तोऽयं वितथेऽन्वये॥३९॥

देवताओंके द्वारा नामका ऐसा निर्वचन होनेपर भी ममताने यही समझा कि मेरा यह पुत्र वितथ अर्थात् अन्यायसे पैदा हुआ है । अतः उसने उस बच्चेको छोड़ दिया । अब मरुद्गणोंने उसका पालन किया और जब राजा भरतका वंश नष्ट होने लगा, तब उसे लाकर उनको दे दिया । यही वितथ (भरद्वाज) भरतका दत्तक पुत्र हुआ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे[1]
विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

भरतवंशका वर्णन, राजा रन्तिदेवकी कथा

श्रीशुक उवाच

वितथस्य सुतो मन्युर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः ।
महावीर्यो नरो गर्गः सङ्कृतिस्तु नरात्मजः ॥ १ ॥
गुरुश्च रन्तिदेवश्च सङ्कृतेः पाण्डुनन्दन ।
रन्तिदेवस्य हि यश इहामुत्र च गीयते ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! वितथ अथवा भरद्वाजका पुत्र था मन्यु । मन्युके पाँच पुत्र हुए[2]— बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्ग । नरका पुत्र था संकृति ॥ १ ॥ संकृतिके दो पुत्र हुए—गुरु और रन्तिदेव । परीक्षित् ! रन्तिदेवका निर्मल यश इस लोक और परलोकमें सब जगह गाया जाता है ॥ २ ॥

वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः ।
निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः ॥ ३ ॥

रन्तिदेव आकाशके समान बिना उद्योगके ही दैववश प्राप्त वस्तुका उपभोग करते और दिनोंदिन उनकी पूँजी घटती जाती । जो कुछ मिल जाता उसे भी दे डालते और स्वयं भूखे रहते । वे संग्रह-परिग्रह, ममतासे रहित तथा बड़े धैर्यशाली थे और अपने कुटुम्बके साथ दुःख भोग रहे थे ॥ ३ ॥

व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल ।
घृतपायससंयावं तोयं प्रातरुपस्थितम् ॥ ४ ॥

एक बार तो लगातार अड़तालीस दिन ऐसे बीत गये कि उन्हें पानीतक पीनेको न मिला । उनचासवें दिन प्रातःकाल ही उन्हें कुछ घी, खीर, हलवा और जल मिला ॥ ४ ॥

कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः ।
अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत्॥ ५ ॥

उनका परिवार बड़े सङ्कटमें था । भूख और प्यासके मारे वे लोग काँप रहे थे । परन्तु ज्यों ही उन लोगोंने भोजन करना चाहा, त्यों ही एक ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आ

१. प्राचीन प्रतिमें 'पुरुवंशानुकीर्तनं' नाम इतना अंश अधिक है । २. सुतान् वक्ष्ये बृह० ।

तस्मै संव्यभजत् सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः ।
हरिं सर्वत्र संपश्यन् स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः ॥ ६ ॥

अथान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपते ।
विभक्तं व्यभजत् तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन् ॥ ७ ॥
याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः श्वभिरावृतः ।
राजन् मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते ॥ ८ ॥
स आदृत्यावशिष्टं यद् बहुमानपुरस्कृतम् ।
तच्च दत्त्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः ॥ ९ ॥
पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकपरितर्पणम् ।
पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्यशुभस्य मे ॥१०॥
तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम् ।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः ॥११॥
न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥१२॥
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥१३॥

गया ॥ ५ ॥ रन्तिदेव सबमें श्रीभगवान्‌के ही दर्शन करते थे । अतएव उन्होंने बड़ी श्रद्धासे आदरपूर्वक उसी अन्नमेंसे ब्राह्मणको भोजन कराया । ब्राह्मणदेवता भोजन करके चले गये ॥ ६ ॥

परीक्षित् ! अब बचे हुए अन्नको रन्तिदेवने आपसमें बाँट लिया और भोजन करना चाहा । उसी समय एक दूसरा शूद्र-अतिथि आ गया । रन्तिदेवने भगवान्‌का स्मरण करते हुए उस बचे हुए अन्नमेंसे भी कुछ भाग शूद्रके रूपमें आये अतिथिको खिला दिया ॥ ७ ॥ जब शूद्र खा-पीकर चला गया, तब कुत्तोंको लिये हुए एक और अतिथि आया । उसने कहा—'राजन् ! मैं और मेरे ये कुत्ते बहुत भूखे हैं । हमें कुछ खानेको दीजिये' ॥ ८ ॥ रन्तिदेवने अत्यन्त आदरभावसे, जो कुछ बच रहा था, सब-का-सब उसे दे दिया और भगवन्मय होकर उन्होंने कुत्ते और कुत्तोंके स्वामीके रूपमें आये हुए भगवान्‌को नमस्कार किया ॥ ९ ॥ अब केवल जल ही बच रहा था और वह भी केवल एक मनुष्यके पीनेभरका था । वे उसे आपसमें बाँटकर पीना ही चाहते थे कि एक चाण्डाल और आ पहुँचा । उसने कहा—'मैं अत्यन्त नीच हूँ । मुझे जल पिला दीजिये' ॥ १० ॥ चाण्डालकी वह करुणापूर्ण वाणी, जिसके उच्चारणमें भी वह अत्यन्त कष्ट पा रहा था, सुनकर रन्तिदेव दयासे अत्यन्त सन्तप्त हो उठे और ये अमृतमय वचन कहने लगे ॥ ११ ॥ 'मैं भगवान्‌से आठों सिद्धियोंसे युक्त परम गति नहीं चाहता । और तो क्या, मैं मोक्षकी भी कामना नहीं करता । मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे और किसी भी प्राणीको दुःख न हो ॥ १२ ॥ यह दीन प्राणी जल पी करके जीना चाहता था । जल दे देनेसे इसके जीवनकी रक्षा हो गयी । अब मेरी भूख-प्यासकी पीड़ा, शरीरकी शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद और मोह—ये सब-के-सब जाते रहे । मैं सुखी हो गया' ॥ १३ ॥

१. भाय मे । २. तस्येति करु० ।

इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया ।
पुल्कसायाददाद्धीरो[1] निसर्गकरुणो नृपः ॥१४॥
तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् ।
आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः ॥१५॥
स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निःसङ्गो विगतस्पृहः[2] ।
वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम् ॥१६॥
ईश्वरालम्बनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः ।
माया गुणमयी राजन् स्वप्नवत् प्रत्यलीयत ॥१७॥
तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः ।
अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः ॥१८॥

इस प्रकार कहकर रन्तिदेवने वह बचा हुआ जल भी उस चाण्डालको दे दिया । यद्यपि जलके बिना वे स्वयं मर रहे थे, फिर भी स्वभावसे ही उनका हृदय इतना करुणापूर्ण था कि वे अपनेको रोक न सके । उनके धैर्यकी भी कोई सीमा है ? ॥ १४ ॥ परीक्षित् ! ये अतिथि वास्तवमें भगवान्‌की रची हुई मायाके ही विभिन्न रूप थे । परीक्षा पूरी हो जानेपर अपने भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले त्रिभुवनस्वामी ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनों उनके सामने प्रकट हो गये ॥ १५ ॥ रन्तिदेवने उनके चरणोंमें नमस्कार किया । उन्हें कुछ लेना तो था नहीं । भगवान्‌की कृपासे वे आसक्ति और स्पृहासे भी रहित हो गये तथा परम प्रेममय भक्तिभावसे अपने मनको भगवान् वासुदेवमें तन्मय कर दिया । कुछ भी माँगा नहीं ॥ १६ ॥ परीक्षित् ! उन्हें भगवान्‌के सिवा और किसी भी वस्तुकी इच्छा तो थी नहीं; उन्होंने अपने मनको पूर्णरूपसे भगवान्‌में लगा दिया । इसलिये त्रिगुणमयी माया जागनेपर स्वप्न-दृश्यके समान नष्ट हो गयी ॥ १७ ॥ रन्तिदेवके अनुयायी भी उनके सङ्गके प्रभावसे योगी हो गये और सब भगवान्‌के ही आश्रित परम भक्त बन गये ॥ १८ ॥

गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद् ब्रह्म ह्यवर्तत[3] ।
दुरितक्षयो महावीर्यात्[4] तस्य त्रय्यारुणिः कविः ॥१९॥
पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः ।
बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरम् ॥२०॥
अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः ।
अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः ॥२१॥
अजमीढाद् बृहदिषुस्तस्य पुत्रो बृहद्धनुः ।
बृहत्कायस्ततस्तस्य पुत्र आसीज्जयद्रथः ॥२२॥
तत्सुतो विशदस्तस्य सेनजित् समजायत ।
रुचिराश्वो दृढहनुः काश्यो वत्सश्च तत्सुताः ॥२३॥
रुचिराश्वसुतः पारः पृथुसेनस्तदात्मजः ।
पारस्य तनयो नीपस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् ॥२४॥

मन्युपुत्र गर्गसे शिनि और शिनिसे गार्ग्यका जन्म हुआ । यद्यपि गार्ग्य क्षत्रिय था, फिर भी उससे ब्राह्मणवंश चला । महावीर्यका पुत्र था दुरितक्षय । दुरितक्षयके तीन पुत्र हुए—त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि । ये तीनों ब्राह्मण हो गये । बृहत्क्षत्रका पुत्र हुआ हस्ती, उसीने हस्तिनापुर बसाया था ॥ १९-२० ॥ हस्तीके तीन पुत्र थे—अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ । अजमीढके पुत्रोंमें प्रियमेध आदि ब्राह्मण हुए ॥ २१ ॥ इन्हीं अजमीढके एक पुत्रका नाम था बृहदिषु । बृहदिषुका पुत्र हुआ बृहद्धनु, बृहद्धनुका बृहत्काय और बृहत्कायका जयद्रथ हुआ ॥ २२ ॥ जयद्रथका पुत्र हुआ विशद और विशदका सेनजित् । सेनजित्‌के चार पुत्र हुए—रुचिराश्व, दृढहनु, काश्य और वत्स ॥ २३ ॥ रुचिराश्वका पुत्र पार था और पारका पृथुसेन । पारके दूसरे पुत्रका नाम नीप था । उसके

१. द्वीरो । २. तज्ज्वरः । ३. ब्रह्मण्यवर्तत । ४. वीर्यो यस्य त्र० ।

स कृत्व्यां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत् ।
स योगी गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात् सुतम्॥२५॥
जैगीषव्योपदेशेन योगतन्त्रं चकार ह ।
उदक्स्वनस्ततस्तस्माद् भल्लादो बार्हदीषवाः ॥२६॥
यवीनरो द्विमीढस्य कृतिमांस्तत्सुतः स्मृतः ।
नाम्ना सत्यधृतिर्यस्य दृढनेमिः सुपार्श्वकृत् ॥२७॥
सुपार्श्वात् सुमतिस्तस्य पुत्रः सन्नतिमांस्ततः ।
कृतिर्हिरण्यनाभाद् यो योगं प्राप्य जगौ स षट् ॥२८॥
संहिताः प्राच्यसाम्नां वै नीपो ह्युग्रायुधस्ततः ।
तस्य क्षेम्यः सुवीरोऽथ सुवीरस्य रिपुञ्जयः ॥२९॥
ततो बहुरथो नाम पुरमीढोऽप्रजोऽभवत् ।
नलिन्यामजमीढस्य नीलः शान्तिः सुतस्ततः ॥३०॥
शान्तेः सुशान्तिस्तत्पुत्रः पुरुजोऽर्कस्ततोऽभवत् ।
भर्म्याश्वस्तनयस्तस्य पञ्चासन्मुद्गलादयः ॥३१॥
यवीनरो बृहदिषुः काम्पिल्यः संजयः सुताः ।
भर्म्याश्वः प्राह पुत्रा मे पञ्चानां रक्षणाय हि ॥३२॥
विषयाणामलमिमे इति पञ्चालसंज्ञिताः ।
मुद्गलाद् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम् ॥३३॥
मिथुनं मुद्गलाद् भार्म्याद् दिवोदासः पुमानभूत् ।
अहल्या कन्यका यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात् ॥३४॥
तस्य सत्यधृतिः पुत्रो धनुर्वेदविशारदः ।
शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात् किल ॥३५॥

सौ पुत्र थे ॥ २४ ॥ इसी नीपने (छाया)*शुककी कन्या कृत्वीसे विवाह किया था । उससे ब्रह्मदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । ब्रह्मदत्त बड़ा योगी था । उसने अपनी पत्नी सरस्वतीके गर्भसे विष्वक्सेन नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ २५ ॥ इसी विष्वक्सेनने जैगीषव्यके उपदेशसे योगशास्त्रकी रचना की । विष्वक्सेनका पुत्र था उदक्स्वन और उदक्स्वनका भल्लाद । ये सब बृहदिषुके वंशज हुए ॥ २६ ॥

द्विमीढका पुत्र था यवीनर, यवीनरका कृतिमान्, कृतिमान्का सत्यधृति, सत्यधृतिका दृढनेमि और दृढनेमिका पुत्र सुपार्श्व हुआ ॥ २७ ॥ सुपार्श्वसे सुमति, सुमतिसे सन्नतिमान् और सन्नतिमान्से कृतिका जन्म हुआ । उसने हिरण्यनाभसे योगविद्या प्राप्त की थी और 'प्राच्यसाम' नामक ऋचाओंकी छः संहिताएँ कही थीं। कृतिका पुत्र नीप था, नीपका उग्रायुध, उग्रायुधका क्षेम्य, क्षेम्यका सुवीर और सुवीरका पुत्र था रिपुञ्जय ॥ २८-२९॥ रिपुञ्जयका पुत्र था बहुरथ । द्विमीढके भाई पुरुमीढको कोई सन्तान न हुई । अजमीढकी दूसरी पत्नीका नाम था नलिनी । उसके गर्भसे नीलका जन्म हुआ । नीलका शान्ति, शान्तिका सुशान्ति, सुशान्तिका पुरुज, पुरुजका अर्क और अर्कका पुत्र हुआ भर्म्याश्व । भर्म्याश्वके पाँच पुत्र थे—मुद्गल, यवीनर, बृहदिषु, काम्पिल्य और सृञ्जय भर्म्याश्वने कहा—'ये मेरे पुत्र पाँच देशोंका शासन करनेमें समर्थ (पञ्च अलम्) हैं ।' इसलिये ये 'पञ्चाल' नामसे प्रसिद्ध हुए । इनमें मुद्गलसे 'मौद्गल्य' नामक ब्राह्मण-गोत्रकी प्रवृत्ति हुई ॥ ३०—३३ ॥

भर्म्याश्वके पुत्र मुद्गलसे यमज (जुड़वाँ) सन्तान हुई । उनमें पुत्रका नाम था दिवोदास और कन्याका अहल्या । अहल्याका विवाह महर्षि गौतमसे हुआ । गौतमके पुत्र हुए शतानन्द ॥ ३४ ॥ शतानन्दका पुत्र सत्यधृति था, वह धनुर्विद्यामें अत्यन्त निपुण था । सत्यधृतिके पुत्रका नाम था शरद्वान् । एक दिन उर्वशीको देखनेसे शरद्वान्का वीर्य मूँजके झाड़पर गिर पड़ा, उससे एक शुभ लक्षणवाले पुत्र और पुत्रीका जन्म हुआ । महाराज

१. योगी स । २. न्तिस्ततः सुतः । ३. हर्यश्वः । ४. वै । ५. संवृ० ।

* शुकदेवजी असंग थे; पर वे वन जाते समय एक छाया-शुक रचकर छोड़ गये थे । उस छाया-शुकने ही गृहस्थोचित व्यवहार किये थे ।

शरस्तम्बेऽपतद् रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम्।
तद् दृष्ट्वा कृपयागृह्णाच्छन्तनुर्मृगयां चरन्।
कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत् कृपी॥३६॥

शन्तनुकी उसपर दृष्टि पड़ गयी, क्योंकि वे उधर शिकार खेलनेके लिये गये हुए थे। उन्होंने दयावश दोनोंको उठा लिया। उनमें जो पुत्र था, उसका नाम कृपाचार्य हुआ और जो कन्या थी, उसका नाम हुआ कृपी। यही कृपी द्रोणाचार्यकी पत्नी हुई॥ ३५-३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे
एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

पाञ्चाल, कौरव और मगधदेशीय राजाओंके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

मित्रेयुश्च दिवोदासाच्च्यवनस्तत्सुतो नृप।
सुदासः सहदेवोऽथ सोमको जन्तुजन्मकृत्॥ १॥
तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान् पृषतः सुतः।
द्रुपदो द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः॥ २॥
धृष्टद्युम्नाद् धृष्टकेतुर्भार्म्याः पञ्चालका इमे।
योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः॥ ३॥
तपत्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः।
परीक्षित् सुधनुर्जह्नुर्निषधाश्वः कुरोः सुताः॥ ४॥
सुहोत्रोऽभूत् सुधनुषश्च्यवनोऽथ ततः कृती।
वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः॥ ५॥
कुशाम्बमत्स्यप्रत्यग्रचेदिपाद्याश्च चेदिपाः।
बृहद्रथात् कुशाग्रोऽभूदृषभस्तस्य तत्सुतः॥ ६॥
जज्ञे सत्यहितोऽपत्यं पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः।
अन्यस्यां चापि भार्यायां शकले द्वे बृहद्रथात्॥ ७॥
ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते।
जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभवत् सुतः॥ ८॥
ततश्च सहदेवोऽभूत् सोमापिर्यच्छ्रुतश्रवाः।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! दिवोदासका पुत्र था मित्रेयु। मित्रेयुके चार पुत्र हुए—च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक। सोमकके सौ पुत्र थे, उनमें सबसे बड़ा जन्तु और सबसे छोटा पृषत था। पृषतके पुत्र द्रुपद थे, द्रुपदके द्रौपदी नामकी पुत्री और धृष्टद्युम्न आदि पुत्र हुए॥ १-२॥ धृष्टद्युम्नका पुत्र था धृष्टकेतु। भर्म्याश्वके वंशमें उत्पन्न हुए ये नरपति 'पाञ्चाल' कहलाये। अजमीढका दूसरा पुत्र था ऋक्ष। उनके पुत्र हुए संवरण॥ ३॥ संवरणका विवाह सूर्यकी कन्या तपती-से हुआ। उन्हींके गर्भसे कुरुक्षेत्रके स्वामी कुरुका जन्म हुआ। कुरुके चार पुत्र हुए—परीक्षित्, सुधन्वा, जह्नु और निषधाश्व॥ ४॥ सुधन्वासे सुहोत्र, सुहोत्रसे च्यवन, च्यवनसे कृती, कृतीसे उपरिचरवसु और उपरिचरवसुसे बृहद्रथ आदि कई पुत्र उत्पन्न हुए॥ ५॥ उनमें बृहद्रथ, कुशाम्ब, मत्स्य, प्रत्यग्र और चेदिप आदि चेदिदेशके राजा हुए। बृहद्रथका पुत्र था कुशाग्र, कुशाग्रका ऋषभ, ऋषभका सत्यहित, सत्यहितका पुष्पवान् और पुष्पवान्‌के जहु नामक पुत्र हुआ। बृहद्रथकी दूसरी पत्नीके गर्भसे एक शरीरके दो टुकड़े उत्पन्न हुए॥ ६-७॥ उन्हें माता-ने बाहर फेंकवा दिया। तब 'जरा' नामकी राक्षसीने 'जियो, जियो' इस प्रकार कहकर खेल-खेलमें उन दोनों टुकड़ोंको जोड़ दिया। उसी जोड़े हुए बालकका नाम हुआ जरासन्ध॥ ८॥ जरासन्धका सहदेव, सहदेवका

१. प्राचीन प्रतिमें 'भरतवंशानुकीर्तने' इतना अंश अधिक है। २. जातुकर्मकृत्।

परीक्षिदनपत्योऽभूत् सुरथो नाम जाह्नवः ॥ ९ ॥
ततो विदूरथस्तस्मात् सार्वभौमस्ततोऽभवत् ।
जयसेनस्तत्तनयो राधिकोऽतोऽयुतो ह्यभूत् ॥ १० ॥
ततश्च क्रोधनस्तस्माद् देवातिथिरमुष्य च ।
ऋष्यस्तस्य दिलीपोऽभूत् प्रतीपस्तस्य चात्मजः ॥ ११ ॥
देवापिः शन्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजाः ।
पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः ॥ १२ ॥
अभवच्छन्तनू राजा प्राङ्महाभिषसंज्ञितः ।
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः ॥ १३ ॥
शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शन्तनुः ।
समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥ १४ ॥
शन्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्तायमग्रभुक् ।
राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये ॥ १५ ॥
एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत् ।
तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद् विभ्रंशितो गिरा ॥ १६ ॥
वेदवादातिवादान् वै तदा देवो ववर्ष ह ।
देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः ॥ १७ ॥
सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति ।
बाह्लीकात् सोमदत्तोऽभूद् भूरिर्भूरिश्रवास्ततः ॥ १८ ॥

सोमापि और सोमापिका पुत्र हुआ श्रुतश्रवा। कुरुके ज्येष्ठ पुत्र परीक्षित्‌के कोई सन्तान न हुई। जह्नुका पुत्र था सुरथ ॥ ९ ॥ सुरथका विदूरथ, विदूरथका सार्वभौम, सार्वभौमका जयसेन, जयसेनका राधिक और राधिकका पुत्र हुआ अयुत ॥ १० ॥ अयुतका क्रोधन, क्रोधनका देवातिथि, देवातिथिका ऋष्य, ऋष्यका दिलीप और दिलीपका पुत्र प्रतीप हुआ ॥ ११ ॥ प्रतीपके तीन पुत्र थे—देवापि, शन्तनु और बाह्लीक। देवापि अपना पैतृक राज्य छोड़कर वनमें चला गया ॥ १२ ॥ इसलिये उसके छोटे भाई शन्तनु राजा हुए। पूर्वजन्ममें शन्तनुका नाम महाभिष था। इस जन्ममें भी वे अपने हाथोंसे जिसे छू देते थे, वह बूढ़ेसे जवान हो जाता था ॥ १३ ॥ उसे परम शान्ति मिल जाती थी। इसी करामातके कारण उनका नाम 'शन्तनु' हुआ। एक बार शन्तनुके राज्यमें बारह वर्षतक इन्द्रने वर्षा नहीं की। इसपर ब्राह्मणोंने शन्तनुसे कहा कि 'तुमने अपने बड़े भाई देवापिसे पहले ही विवाह, अग्निहोत्र और राजपदको स्वीकार कर लिया; अतः तुम परिवेत्ता* हो; इसीसे तुम्हारे राज्यमें वर्षा नहीं होती। अब यदि तुम अपने नगर और राष्ट्रकी उन्नति चाहते हो, तो शीघ्र-से-शीघ्र अपने बड़े भाईको राज्य लौटा दो' ॥ १४-१५ ॥ जब ब्राह्मणोंने शन्तनुसे इस प्रकार कहा, तब उन्होंने वनमें जाकर अपने बड़े भाई देवापिसे राज्य स्वीकार करनेका अनुरोध किया। परन्तु शन्तनुके मन्त्री अश्मरातने पहलेसे ही उनके पास कुछ ऐसे ब्राह्मण भेज दिये थे, जो वेदको दूषित करनेवाले वचनोंसे देवापिको वेदमार्गसे विचलित कर चुके थे। इसका फल यह हुआ कि देवापि वेदोंके अनुसार गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेकी जगह उनकी निन्दा करने लगे। इसलिये वे राज्यके अधिकारसे वञ्चित हो गये और तब शन्तनुके राज्यमें वर्षा हुई। देवापि इस समय भी योग-साधना कर रहे हैं और योगियोंके प्रसिद्ध निवासस्थान कलापग्राममें रहते हैं ॥ १६-१७ ॥ जब कलियुगमें चन्द्रवंशका नाश हो जायगा, तब सत्ययुगके प्रारम्भमें वे फिर उसकी स्थापना करेंगे। शन्तनुके छोटे भाई बाह्लीकका पुत्र हुआ सोमदत्त। सोमदत्तके तीन पुत्र

१. ऋक्ष०। २. समुत्सृज्य। ३. ततो।

* दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥

अर्थात् जो पुरुष अपने बड़े भाईके रहते हुए उससे पहले ही विवाह और अग्निहोत्रका संयोग करता है उसे परिवेत्ता जानना चाहिये, और उसका बड़ा भाई 'परिवित्ति' कहलाता है।

शलश्च शन्तनोरासीद् गङ्गायां भीष्म आत्मवान्।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः ॥१९॥
वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः।
शन्तनोर्दाशकन्यायां जज्ञे चित्राङ्गदः सुतः ॥२०॥
विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्राङ्गदो हतः।
यस्यां पराशरात् साक्षादवतीर्णो हरेः कला ॥२१॥
वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽहमिदमध्यगाम्।
हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः॥२२॥
मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ।
विचित्रवीर्योऽथोवाह काशिराजसुते बलात् ॥२३॥
स्वयंवरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके उभे।
तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः ॥२४॥
क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः।
धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥२५॥
गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशतं[1] नृप।
तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुःशला चापि कन्यका ॥२६॥
शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः।
जाता धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रयः ॥२७॥

हुए—भूरि, भूरिश्रवा और शल। शन्तनुके द्वारा गङ्गाजी-के गर्भसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्मका जन्म हुआ। वे समस्त धर्मज्ञोंके सिरमौर, भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त और परम ज्ञानी थे ॥ १८-१९ ॥ वे संसारके समस्त वीरोंके अग्रगण्य नेता थे। औरोंकी तो बात ही क्या, उन्होंने अपने गुरु भगवान् परशुरामको भी युद्धमें सन्तुष्ट कर दिया था। शन्तनुके द्वारा दाशराजकी कन्या*के गर्भसे दो पुत्र हुए—चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य। चित्राङ्गदको चित्राङ्गद नामक गन्धर्वने मार डाला। इसी दाशराजकी कन्या सत्यवतीसे पराशरजीके द्वारा मेरे पिता, भगवान्‌के कलावतार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने वेदोंकी रक्षा की। परीक्षित्! मैंने उन्हींसे इस श्रीमद्भागवतपुराणका अध्ययन किया था। यह पुराण परम गोपनीय—अत्यन्त रहस्यमय है। इसीसे मेरे पिता भगवान् व्यासजीने अपने पैल आदि शिष्योंको इसका अध्ययन नहीं कराया, मुझे ही इसके योग्य अधिकारी समझा! एक तो मैं उनका पुत्र था और दूसरे शान्ति आदि गुण भी मुझमें विशेषरूपसे थे। शन्तनुके दूसरे पुत्र विचित्र-वीर्यने काशिराजकी कन्या अम्बिका और अम्बालिकासे विवाह किया। उन दोनोंको भीष्मजी स्वयंवरसे बलपूर्वक ले आये थे। विचित्रवीर्य अपनी दोनों पत्नियोंमें इतना आसक्त हो गया कि उसे राजयक्ष्मा रोग हो गया और उसकी मृत्यु हो गयी ॥ २०–२४ ॥ माता सत्यवतीके कहनेसे भगवान् व्यासजीने अपने सन्तानहीन भाईकी स्त्रियोंसे धृतराष्ट्र और पाण्डु दो पुत्र उत्पन्न किये। उनकी दासीसे तीसरे पुत्र विदुरजी हुए ॥ २५ ॥

परीक्षित्! धृतराष्ट्रकी पत्नी थी गान्धारी। उसके गर्भसे सौ पुत्र हुए, उनमें सबसे बड़ा था दुर्योधन। कन्याका नाम था दुःशला ॥ २६ ॥ पाण्डुकी पत्नी थी कुन्ती। शापवश पाण्डु स्त्री-सहवास नहीं कर सकते थे। इसलिये उनकी पत्नी कुन्तीके गर्भसे धर्म, वायु और इन्द्र-के द्वारा क्रमशः युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन नामके तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये तीनों-के-तीनों महारथी थे ॥ २७ ॥

[1] सूनु०।

* यह कन्या वास्तवमें उपरिचर वसुके वीर्यसे मछलीके गर्भसे उत्पन्न हुई थी, किन्तु दाशों (केवटों) के द्वारा पालित होनेसे वह केवटोंकी कन्या कहलायी।

नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्रयोः ।
द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्यः पुत्रास्ते पितरोऽभवन् ॥ २८॥
युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥२९॥
सहदेवसुतो राजञ्छ्रुतकर्मा तथापरे ।
युधिष्ठिरात् तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः ॥३०॥
भीमसेनाद्धिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः ।
सहदेवात् सुहोत्रं तु विजयासूत पार्वती ॥३१॥
करेणुमत्यां नकुलो निरमित्रं तथार्जुनः ।
इरावन्तमुलूप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम् ।
मणिपूरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः ॥ ३२॥
तव तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत ।
सर्वातिरथजिद् वीर उत्तरायां ततो भवान् ॥ ३३॥
परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा ।
त्वं च कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात् ।३४।
तवेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः ।
श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ ३५॥
जनमेजयस्त्वां विदित्वा तक्षकान्निधनं गतम् ।
सर्पान् वै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुषान्वितः ॥ ३६॥
कावषेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधयाट् ।
समन्तात् पृथिवीं सर्वां जित्वा यक्ष्यति चाध्वरैः॥३७॥
तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन् ।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति ॥३८॥
सहस्रानीकस्तत्पुत्रस्ततश्चैवाश्वमेधजः ।

पाण्डुकी दूसरी पत्नीका नाम था माद्री । दोनों अश्विनीकुमारोंके द्वारा उसके गर्भसे नकुल और सहदेवका जन्म हुआ । परीक्षित् ! इन पाँच पाण्डवोंके द्वारा द्रौपदीके गर्भसे तुम्हारे पाँच चाचा उत्पन्न हुए॥ २८॥ इनमेंसे युधिष्ठिरके पुत्रका नाम था प्रतिविन्ध्य, भीमसेनका पुत्र था श्रुतसेन, अर्जुनका श्रुतकीर्ति, नकुलका शतानीक और सहदेवका श्रुतकर्मा । इनके सिवा युधिष्ठिरके पौरवी नामकी पत्नीसे देवक और भीमसेनके हिडिम्बासे घटोत्कच और कालीसे सर्वगत नामके पुत्र हुए । सहदेवके पर्वतकुमारी विजयासे सुहोत्र और नकुलके करेणुमतीसे नरमित्र हुआ । अर्जुनद्वारा नागकन्या उलूपीके गर्भसे इरावान् और मणिपूर नरेशकी कन्यासे बभ्रुवाहनका जन्म हुआ । बभ्रुवाहन अपने नानाका ही पुत्र माना गया । क्योंकि पहलेसे ही यह बात तै हो चुकी थी ॥ २९—३२॥ अर्जुनकी सुभद्रा नामकी पत्नीसे तुम्हारे पिता अभिमन्यु-का जन्म हुआ । वीर अभिमन्युने सभी अतिरथियोंको जीत लिया था । अभिमन्युके द्वारा उत्तराके गर्भसे तुम्हारा जन्म हुआ ॥ ३३ ॥ परीक्षित् ! उस समय कुरुवंशका नाश हो चुका था । अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे तुम भी जल ही चुके थे, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रभावसे तुम्हें उस मृत्युसे जीता-जागता बचा लिया ॥ ३४ ॥

परीक्षित् ! तुम्हारे पुत्र तो सामने ही बैठे हुए हैं—इनके नाम हैं—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन। ये सब-के-सब बड़े पराक्रमी हैं ॥ ३५ ॥ जब तक्षकके काटनेसे तुम्हारी मृत्यु हो जायगी, तब इस बातको जानकर जनमेजय बहुत क्रोधित होगा और यह सर्प-यज्ञकी आगमें सर्पोंका हवन करेगा ॥ ३६ ॥ यह कावषेय तुरको पुरोहित बनाकर अश्वमेध यज्ञ करेगा और सब ओरसे सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त करके यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की आराधना करेगा ॥ ३७॥ जनमेजयका पुत्र होगा शतानीक । वह याज्ञवल्क्य ऋषिसे तीनों वेद और कर्मकाण्डकी तथा कृपाचार्यसे अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त करेगा एवं शौनकजीसे आत्मज्ञानका सम्पादन करके परमात्माको प्राप्त होगा ॥३८॥ शतानीकका सहस्रानीक,

१. श्रुतकीर्तिस्तथा० । २. ग्रामं ।

अशीमकृष्णस्तस्यापि नेमिचक्रस्तु तत्सुतः ॥३९॥
गजाह्वये हृते नद्या कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति ।
उक्तस्ततश्चित्ररथस्तस्मात् कविरथः सुतः ॥४०॥
तस्माच्च वृष्टिमांस्तस्य सुषेणोऽथ महीपतिः ।
सुनीथस्तस्य भविता नृचक्षुर्यत् सुखीनलः ॥४१॥
परिप्लवः सुतस्तस्मान्मेधावी सुनयात्मजः ।
नृपञ्जयस्ततो दूर्वस्तिमिस्तस्माज्जनिष्यति ॥४२॥
तिमेर्बृहद्रथस्तस्माच्छतानीकः सुदासजः ।
शतानीकाद् दुर्दमनस्तस्यापत्यं वहीनरः ॥४३॥
दण्डपाणिर्निमिस्तस्य क्षेमको भविता नृपः ।
ब्रह्मक्षत्रस्य वै प्रोक्तो वंशो देवर्षिसत्कृतः ॥४४॥
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ।
अथ मागधराजानो भवितारो वदामि ते ॥४५॥
भविता सहदेवस्य मार्जारिर्यच्छ्रुतश्रवाः ।
ततोऽयुतायुस्तस्यापि निरमित्रोऽथ तत्सुतः ॥४६॥
सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद् बृहत्सेनोऽथ कर्मजित् ।
ततः सुतञ्जयाद् विप्रः शुचिस्तस्य भविष्यति ॥४७॥
क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्माद् धर्मसूत्रः शमस्ततः ।
द्युमत्सेनोऽथ सुमतिः सुबलो जनिता ततः ॥४८॥
सुनीथः सत्यजिदथ विश्वजिद् यद् रिपुञ्जयः ।
बार्हद्रथाश्च भूपाला भाव्याः साहस्रवत्सरम् ॥४९॥

सहस्रानीकका अश्वमेधज, अश्वमेधजका असीमकृष्ण और असीमकृष्णका पुत्र होगा नेमिचक्र ॥ ३९ ॥ जब हस्तिनापुर गङ्गाजीमें बह जायगा, तब वह कौशाम्बीपुरीमें सुखपूर्वक निवास करेगा। नेमिचक्रका पुत्र होगा चित्ररथ, चित्ररथका कविरथ, कविरथका वृष्टिमान्, वृष्टिमान्का राजा सुषेण, सुषेणका सुनीथ, सुनीथका नृचक्षु, नृचक्षुका सुखीनल, सुखीनलका परिप्लव, परिप्लवका सुनय, सुनयका मेधावी, मेधावीका नृपञ्जय, नृपञ्जयका दूर्व और दूर्वका पुत्र तिमि होगा ॥ ४०–४२ ॥ तिमिसे बृहद्रथ, बृहद्रथसे सुदास, सुदाससे शतानीक, शतानीकसे दुर्दमन, दुर्दमनसे वहीनर, वहीनरसे दण्डपाणि, दण्डपाणिसे निमि और निमिसे राजा क्षेमकका जन्म होगा। इस प्रकार मैंने तुम्हें ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंके उत्पत्तिस्थान सोमवंशका वर्णन सुनाया। बड़े-बड़े देवता और ऋषि इस वंशका सत्कार करते हैं ॥ ४३-४४ ॥ यह वंश कलियुगमें राजा क्षेमकके साथ ही समाप्त हो जायगा। अब मैं भविष्यमें होनेवाले मगधदेशके राजाओंका वर्णन सुनाता हूँ ॥ ४५ ॥

जरासन्धके पुत्र सहदेवसे मार्जारि, मार्जारिसे श्रुतश्रवा, श्रुतश्रवासे अयुतायु और अयुतायुसे निरमित्र नामक पुत्र होगा ॥ ४६ ॥ निरमित्रके सुनक्षत्र, सुनक्षत्रके बृहत्सेन, बृहत्सेनके कर्मजित्, कर्मजित्के सुतञ्जय, सुतञ्जयके विप्र और विप्रके पुत्रका नाम होगा शुचि ॥ ४७ ॥ शुचिसे क्षेम, क्षेमसे सुव्रत, सुव्रतसे धर्मसूत्र, धर्मसूत्रसे शम, शमसे द्युमत्सेन, द्युमत्सेनसे सुमति और सुमतिसे सुबलका जन्म होगा ॥४८॥ सुबलका सुनीथ, सुनीथका सत्यजित्, सत्यजित्का विश्वजित् और विश्वजित्का पुत्र रिपुञ्जय होगा। ये सब बृहद्रथवंशके राजा होंगे। इनका शासनकाल एक हजार वर्षके भीतर ही होगा ॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

१. विचक्रस्तत्सुतस्ततः । २. च्छविरथ० । ३. त्रिच० । ४. हस्ती निमिस्त० । ५. नि० । ६. योनिर्वंशो । ७. शमः सुतः । ८. तः । ९. यास्तु । १०. सोमवंशे द्वाविंशतितमो ।

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु और यदुके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

अनोः सभानरश्चक्षुः परोक्षश्च त्रयः सुताः ।
सभानरात् कालनरः सृञ्जयस्तत्सुतस्ततः ॥ १ ॥
जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशीलो महामनाः ।
उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ ॥ २ ॥
शिबिर्वनः शमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः ।
वृषादर्भः सुवीरश्च मद्रः कैकेय आत्मजाः ॥ ३ ॥
शिबेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुशद्रथः ।
ततो हेमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत् ॥ ४ ॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्याः सुह्मपुण्ड्रान्ध्रसंज्ञिताः ।
जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥ ५ ॥
चक्रुः स्वनाम्ना विषयान् षडिमान् प्राच्यकांश्च ते।
खनपानोऽङ्गतो जज्ञे तस्माद् दिविरथस्ततः ॥ ६ ॥
सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः ।
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा ॥ ७ ॥
शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग उवाह ताम् ।
देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम् ॥ ८ ॥
नाट्यसङ्गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनार्हणैः ।
स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरुत्वतः ॥ ९ ॥
प्रजामदाद् दशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः ।
चतुरङ्गो रोमपादात् पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः ॥१०॥
बृहद्रथो बृहत्कर्मा बृहद्भानुश्च तत्सुताः ।
आद्याद् बृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृतः ॥११॥
विजयस्तस्य सम्भूत्यां ततो धृतिरजायत ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! ययातिनन्दन अनुके तीन पुत्र हुए—सभानर, चक्षु और परोक्ष । सभानरका कालनर, कालनरका सृञ्जय, सृञ्जयका जनमेजय, जनमेजयका महाशील, महाशीलका पुत्र हुआ महामना । महामनाके दो पुत्र हुए—उशीनर एवं तितिक्षु ॥ १-२ ॥ उशीनरके चार पुत्र थे—शिबि, वन, शमी और दक्ष । शिबिके चार पुत्र हुए—वृषादर्भ, सुवीर, मद्र और कैकेय । उशीनरके भाई तितिक्षुके रुशद्रथ, रुशद्रथके हेम, हेमके सुतपा और सुतपाके बलि नामक पुत्र हुआ ॥ ३-४ ॥ राजा बलिकी पत्नीके गर्भसे दीर्घतमा मुनिने छः पुत्र उत्पन्न किये—अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र और अन्ध्र ॥५॥ इन लोगोंने अपने-अपने नामसे पूर्व दिशामें छः देश बसाये । अङ्गका पुत्र हुआ खनपान, खनपानका दिविरथ, दिविरथका धर्मरथ और धर्मरथका चित्ररथ । यह चित्ररथ ही रोमपादके नामसे प्रसिद्ध था । इसके मित्र थे अयोध्याधिपति महाराज दशरथ । रोमपादको कोई सन्तान न थी । इसलिये दशरथने उन्हें अपनी शान्ता नामकी कन्या गोद दे दी । शान्ताका विवाह ऋष्यशृङ्ग मुनिसे हुआ । ऋष्यशृङ्ग विभाण्डक ऋषिके द्वारा हरिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । एक बार राजा रोमपादके राज्यमें बहुत दिनोंतक वर्षा नहीं हुई । तब गणिकाएँ अपने नृत्य, संगीत, वाद्य, हाव-भाव, आलिङ्गन और विविध उपहारोंसे मोहित करके ऋष्यशृङ्गको वहाँ ले आयीं । उनके आते ही वर्षा हो गयी । उन्होंने ही इन्द्र देवताका यज्ञ कराया, तब सन्तानहीन राजा रोमपादको भी पुत्र हुआ और पुत्रहीन दशरथने भी उन्हींके प्रयत्नसे चार पुत्र प्राप्त किये । रोमपादका पुत्र हुआ चतुरङ्ग और चतुरङ्गका पृथुलाक्ष ॥ ६-१० ॥ पृथुलाक्षके बृहद्रथ, बृहत्कर्मा और बृहद्भानु—तीन पुत्र हुए । बृहद्रथका पुत्र हुआ बृहन्मना और बृहन्मनाका जयद्रथ ॥ ११ ॥ जयद्रथकी पत्नीका नाम था सम्भूति ।

१. तत्सुतः सञ्जयस्ततः । २. सुशिर्वनः क्षमिर्दक्षः । ३. आत्मवान् ।

ततो धृतव्रतस्तस्य सत्कर्माधिरथस्ततः ॥१२॥
योऽसौ गङ्गातटे क्रीडन् मञ्जूषान्तर्गतं शिशुम् ।
कुन्त्यापविद्धं कानीनमनपत्योऽकरोत् सुतम् ॥१३॥
वृषसेनः सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपते ।
द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः ॥१४॥
आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मस्ततो धृतः ।
धृतस्य दुर्मनास्तस्मात् प्रचेताः प्राचेतसं शतम् ॥१५॥
म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन्नुदीचीं दिशमाश्रिताः ।
तुर्वसोश्च सुतो वह्निर्वह्नेर्भर्गोऽथ भानुमान् ॥१६॥
त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि करन्धम उदारधीः ।
मरुतस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्रं पौरवमन्वभूत् ॥१७॥
दुष्यन्तः स पुनर्भेजे स्वं वंशं राज्यकामुकः ।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ ॥१८॥

उसके गर्भसे विजयका जन्म हुआ। विजयका धृति, धृतिका धृतव्रत, धृतव्रतका सत्कर्मा और सत्कर्माका पुत्र था अधिरथ ॥ १२ ॥ अधिरथको कोई सन्तान न थी। किसी दिन वह गङ्गातटपर क्रीडा कर रहा था कि देखा एक पिटारीमें नन्हा-सा शिशु बहा चला जा रहा है। वह बालक कर्ण था, जिसे कुन्तीने कन्यावस्थामें उत्पन्न होनेके कारण उस प्रकार बहा दिया था। अधिरथने उसीको अपना पुत्र बना लिया ॥ १३ ॥ परीक्षित्! राजा कर्णके पुत्रका नाम था वृषसेन। ययातिके पुत्र द्रुह्युसे बभ्रुका जन्म हुआ। बभ्रुका सेतु, सेतुका आरब्ध, आरब्धका गान्धार, गान्धारका धर्म, धर्मका धृत, धृतका दुर्मना और दुर्मनाका पुत्र प्रचेता हुआ। प्रचेताके सौ पुत्र हुए, ये उत्तर दिशामें म्लेच्छोंके राजा हुए। ययातिके पुत्र तुर्वसुका वह्नि, वह्निका भर्ग, भर्गका भानुमान्, भानुमान्का त्रिभानु, त्रिभानुका उदारबुद्धि करन्धम और करन्धमका पुत्र हुआ मरुत। मरुत सन्तानहीन था। इसलिये उसने पूरुवंशी दुष्यन्तको अपना पुत्र बनाकर रक्खा था ॥ १४—१७ ॥ परन्तु दुष्यन्त राज्यकी कामनासे अपने ही वंशमें लौट गये। परीक्षित्! अब मैं राजा ययातिके बड़े पुत्र यदुके वंशका वर्णन करता हूँ ॥ १८ ॥

वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम् ।
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१९॥
यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः ।
यदोः सहस्रजित्क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुताः ॥२०॥
चत्वारः सूनवस्तत्र शतजित् प्रथमात्मजः ।
महाहयो वेणुहयो हैहयश्चेति तत्सुताः ॥२१॥
धर्मस्तु हैहयसुतो नेत्रः कुन्तेः पिता ततः ।
सोहञ्जिरभवत् कुन्तेर्महिष्मान् भद्रसेनकः ॥२२॥
दुर्मदो भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यसूः ।
कृताग्निः कृतवर्मा च कृतौजा धनकात्मजाः ॥२३॥
अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् ।

परीक्षित्! महाराज यदुका वंश परम पवित्र और मनुष्योंके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है। जो मनुष्य इसका श्रवण करेगा, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ १९ ॥ इस वंशमें स्वयं भगवान् परब्रह्म श्रीकृष्णने मनुष्यके-से रूपमें अवतार लिया था। यदुके चार पुत्र थे—सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल और रिपु। सहस्रजित्से शतजित्का जन्म हुआ। शतजित्के तीन पुत्र थे—महाहय, वेणुहय और हैहय ॥ २०-२१ ॥ हैहयका धर्म, धर्मका नेत्र, नेत्रका कुन्ति, कुन्तिका सोहञ्जि, सोहञ्जिका महिष्मान् और महिष्मान्का पुत्र भद्रसेन हुआ ॥ २२ ॥ भद्रसेनके दो पुत्र थे—दुर्मद और धनक। धनकके चार पुत्र हुए—कृतवीर्य, कृताग्नि, कृतवर्मा और कृतौजा ॥ २३ ॥ कृतवीर्यका पुत्र अर्जुन था। वह सातों द्वीपका एकछत्र सम्राट् था। उसने

१. सुतम्। २. वह्निमान्। ३. सत्यजित्तत्सु०। ४. मंश्च। ५. कुन्तेस्ततः पिता। ६. दुर्दमो।

दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् प्राप्तयोगमहागुणः ॥२४॥
न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः ।
यज्ञदानतपोयोग[1]श्रुतवीर्यजयादिभिः ॥२५॥
पञ्चाशीतिसहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः ।
अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्यषड्वसु ॥२६॥
तस्य पुत्रसहस्रेषु[2] पञ्चैवोर्वरिता मृधे ।
जयध्वजः शूरसेनो वृषभो मधुरूर्जितः ॥२७॥
जयध्वजात् तालजङ्घस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् ।
क्षत्रं[3] यत् तालजङ्घाख्यमौर्वतेजोपसंहृतम्[4] ॥२८॥
तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो वृष्णिः पुत्रो मधोः स्मृतः ।
तस्य पुत्रशतं त्वासीद् वृष्णिज्येष्ठं यतः कुलम् ॥२९॥
माधवा वृष्णयो राजन् यादवाश्चेति संज्ञिताः ।
यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनवांस्ततः ॥३०॥
श्वाहिस्ततो रुशेकुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः ।
शशबिन्दुर्महायोगी महाभोजो महानभूत् ॥३१॥
चतुर्दशमहारत्नश्चक्रवर्त्यपराजितः ।
तस्य पत्नीसहस्राणां दशानां सुमहायशाः ॥३२॥
दशलक्षसहस्राणि पुत्राणां तास्वजीजनत् ।
तेषां तु षट्प्रधानानां पृथुश्रवस आत्मजः ॥३३॥
धर्मो नामोशना तस्य हयमेधशतस्य याट् ।

भगवान्‌के अंशावतार श्रीदत्तात्रेयजीसे योगविद्या और अणिमा-लघिमा आदि बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं ॥ २४ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि संसारका कोई भी सम्राट् यज्ञ, दान, तपस्या, योग, शास्त्रज्ञान, पराक्रम और विजय आदि गुणोंमें कार्तवीर्य अर्जुनकी बराबरी नहीं कर सकेगा ॥ २५ ॥ सहस्रबाहु अर्जुन पचासी हजार वर्षतक छहों इन्द्रियोंसे अक्षय विषयोंका भोग करता रहा । इस बीचमें न तो उसके शरीरका बल ही क्षीण हुआ और न तो कभी उसने यही स्मरण किया कि मेरे धनका नाश हो जायगा । उसके धनके नाशकी तो बात ही क्या है, उसका ऐसा प्रभाव था कि उसके स्मरणसे दूसरोंका खोया हुआ धन भी मिल जाता था ॥ २६ ॥ उसके हजारों पुत्रोंमेंसे केवल पाँच ही जीवित रहे । शेष सब परशुरामजीकी क्रोधाग्निमें भस्म हो गये । बचे हुए पुत्रोंके नाम थे—जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित ॥ २७ ॥

जयध्वजके पुत्रका नाम था तालजङ्घ । तालजङ्घके सौ पुत्र हुए । वे 'तालजङ्घ' नामक क्षत्रिय कहलाये । महर्षि और्वकी शक्तिसे राजा सगरने उनका संहार कर डाला ॥ २८ ॥ उन सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ा था वीतिहोत्र । वीतिहोत्रका पुत्र मधु हुआ । मधुके सौ पुत्र थे । उनमें सबसे बड़ा था वृष्णि ॥ २९ ॥ परीक्षित् ! इन्हीं मधु, वृष्णि और यदुके कारण यह वंश माधव, वार्ष्णेय और यादवके नामसे प्रसिद्ध हुआ । यदुनन्दन क्रोष्टुके पुत्रका नाम था वृजिनवान् ॥ ३० ॥ वृजिनवान्‌का पुत्र श्वाहि, श्वाहिका रुशेकु, रुशेकुका चित्ररथ और चित्ररथके पुत्रका नाम था शशबिन्दु । वह परम योगी, महान् भोगैश्वर्यसम्पन्न और अत्यन्त पराक्रमी था ॥ ३१ ॥ वह चौदह रत्नों*का स्वामी, चक्रवर्ती और युद्धमें अजेय था । परम यशस्वी शशबिन्दुके दस हजार पत्नियाँ थीं । उनमेंसे एक-एकके लाख-लाख सन्तान हुई थीं । इस प्रकार उसके सौ करोड़—एक अरब सन्तान उत्पन्न हुईं । उनमें पृथुश्रवा आदि छः पुत्र प्रधान थे । पृथुश्रवाके पुत्रका नाम था धर्म । धर्मका पुत्र उशना हुआ । उसने

१. योगैः श्रुत० । २. स्वस्य । ३. क्षात्रं । ४. वंशापोप० ।

* चौदह रत्न ये हैं—हाथी, घोड़ा, रथ, स्त्री, बाण, खजाना, माला, वस्त्र, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान ।

तत्सुतो रुचकस्तस्य पञ्चासन्नात्मजाः शृणु ॥३४॥
पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः ।
ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्यां शैब्यापतिर्भयात्॥३५॥
नाविन्दच्छत्रुभवनाद् भोज्यां कन्यामहारषीत्[1] ।
रथस्थां तां निरीक्ष्याह शैब्या पतिममर्षिता ॥३६॥
केयं कुहक मत्स्थानं रथमारोपितेति वै ।
स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत् ॥३७॥
अहं वन्ध्यासपत्नी च स्नुषा मे युज्यते कथम्[2] ।
जनयिष्यसि यं राज्ञि तस्येयमुपयुज्यते ॥३८॥
अन्वमोदन्त[3] तद्विश्वेदेवाः पितर एव च ।
शैब्या गर्भमधात् काले कुमारं सुषुवे शुभम् ।
स विदर्भ इति प्रोक्त उपयेमे स्नुषां सतीम् ॥३९॥

सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे। उशनाका पुत्र हुआ रुचक। रुचकके पाँच पुत्र हुए, उनके नाम सुनो ॥३२—३४॥ पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु और ज्यामघ। ज्यामघकी पत्नी-का नाम था शैब्या। ज्यामघके बहुत दिनोंतक कोई सन्तान न हुई। परन्तु उसने अपनी पत्नीके भयसे दूसरा विवाह नहीं किया। एक बार वह अपने शत्रुके घरसे भोज्या नामकी कन्या हर लाया। जब शैब्याने पतिके रथपर उस कन्याको देखा, तब वह चिढ़कर अपने पतिसे बोली—'कपटी! मेरे बैठनेकी जगहपर आज किसे बैठाकर लिये आ रहे हो?' ज्यामघने कहा—'यह तो तुम्हारी पुत्रवधू है।' शैब्याने मुसकराकर अपने पतिसे कहा॥ ३५—३७॥ 'मैं तो जन्मसे ही बाँझ हूँ और मेरी कोई सौत भी नहीं है! फिर यह मेरी पुत्रवधू कैसे हो सकती है?' ज्यामघने कहा—'रानी! तुमको जो पुत्र होगा, उसकी यह पत्नी बनेगी'॥ ३८॥ राजा ज्यामघके इस वचनका विश्वेदेव और पितरोंने अनुमोदन किया। फिर क्या था, समयपर शैब्याको गर्भ रहा और उसने बड़ा ही सुन्दर बालक उत्पन्न किया। उसका नाम हुआ विदर्भ। उसीने शैब्याकी साध्वी पुत्रवधू भोज्यासे विवाह किया॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे यदुवंशानुवर्णने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

विदर्भके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच

तस्यां विदर्भोऽजनयत् पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ ।
तृतीयं रोमपादं च विदर्भकुलनन्दनम् ॥ १ ॥
रोमपादसुतो बभ्रुर्बभ्रोः कृतिरजायत ।
उशिकस्तत्सुतस्तस्माच्चेदिश्चैद्यादयो नृप ॥ २ ॥
क्रथस्य कुन्तिः पुत्रोऽभूद् धृष्टिस्तस्याथ निर्वृतिः ।
ततो दशार्हो नाम्नाभूत् तस्य व्योमः सुतस्ततः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजा विदर्भ-की भोज्या नामक पत्नीसे तीन पुत्र हुए—कुश, क्रथ और रोमपाद। रोमपाद विदर्भवंशमें बहुत ही श्रेष्ठ पुरुष हुए॥ १॥ रोमपादका पुत्र बभ्रु, बभ्रुका कृति, कृति-का उशिक और उशिकका चेदि। राजन्! इस चेदिके वंशमें ही दमघोष एवं शिशुपाल आदि हुए॥ २॥ क्रथका पुत्र हुआ कुन्ति, कुन्तिका धृष्टि, धृष्टिका निर्वृति, निर्वृतिका दशार्ह और दशार्हका व्योम॥ ३॥

[1] नाद्धव्यां। [2] युज्येत मे कथम्। [3] प्रत्यमोदन्त। [4] नुकथने।

जीमूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथः सुतः ।
ततो नवरथः पुत्रो जातो दशरथस्ततः ॥ ४ ॥
करम्भिः शकुनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मजः ।
देवक्षत्रस्ततस्तस्य मधुः कुरुवशाद‍नुः ॥ ५ ॥
पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यायुः सात्वतस्ततः ।
भजमानो भजिर्दिव्यो वृष्णिर्देवावृधोऽन्धकः ॥ ६ ॥
सात्वतस्य सुताः सप्त महाभोजश्च मारिष ।
भजमानस्य निम्लोचिः किङ्किणो धृष्टिरेव च ॥ ७ ॥
एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्यां च त्रयः सुताः ।
शताजिच्च सहस्राजिदयुताजिदिति प्रभो ॥ ८ ॥
बभ्रुर्देवावृधसुतस्तयोः श्लोकौ पठन्त्यमू ।
यथैव शृणुमो दूरात् सम्पश्यामस्तथान्तिकात् ॥ ९ ॥
बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधः समः ।
पुरुषाः पञ्चषष्टिश्च षट् सहस्राणि चाष्ट च ॥१०॥
येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रोर्देवावृधादपि ।
महाभोजोऽपि धर्मात्मा भोजा आसंस्तदन्वये ॥११॥
वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोऽभूद् युधाजिच्च परंतप ।
शिनिस्तस्यानमित्रश्च निम्नोऽभूदनमित्रतः ॥१२॥
सत्राजितः प्रसेनश्च निम्नस्याप्यासतुः सुतौ ।
अनमित्रसुतो योऽन्यः शिनिस्तस्याथ सत्यकः ॥१३॥
युयुधानः सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणिस्ततः ।
युगन्धरोऽनमित्रस्य वृष्णिः पुत्रोऽपरस्ततः ॥१४॥
श्वफल्कश्चित्ररथश्च गान्दिन्यां च श्वफल्कतः ।
अक्रूरप्रमुखा आसन् पुत्रा द्वादश विश्रुताः ॥१५॥
आसङ्गः सारमेयश्च मृदुरो मृदुविद् गिरिः ।
धर्मवृद्धः सुकर्मा च क्षेत्रोपेक्षोऽरिमर्दनः ॥१६॥
शत्रुघ्नो गन्धमादश्च प्रतिबाहुश्च द्वादश ।
तेषां स्वसा सुचीराख्या द्वावक्रूरसुतावपि ॥१७॥

व्योमका जीमूत, जीमूतका विकृति, विकृतिका भीमरथ, भीमरथका नवरथ और नवरथका दशरथ हुआ ॥ ४ ॥ दशरथसे शकुनि, शकुनिसे करम्भि, करम्भिसे देवरात, देवरातसे देवक्षत्र, देवक्षत्रसे मधु, मधुसे कुरुवश और कुरुवशसे अनु हुए ॥ ५ ॥ अनुसे पुरुहोत्र, पुरुहोत्रसे आयु और आयुसे सात्वतका जन्म हुआ । परीक्षित् ! सात्वतके सात पुत्र हुए—भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक और महाभोज । भजमानकी दो पत्नियाँ थीं । एकसे तीन पुत्र हुए—निम्लोचि, किङ्किण और धृष्टि । दूसरी पत्नीसे भी तीन पुत्र हुए—शताजित्, सहस्राजित् और अयुताजित् ॥ ६–८ ॥ देवावृधके पुत्रका नाम था बभ्रु । देवावृध और बभ्रुके सम्बन्धमें यह बात कही जाती है—'हमने दूरसे जैसा सुन रक्खा था, अब वैसा ही निकटसे देखते भी हैं ॥ ९ ॥ बभ्रु मनुष्योंमें श्रेष्ठ है और देवावृध देवताओंके समान है । इसका कारण यह है कि बभ्रु और देवावृधसे उपदेश लेकर चौदह हजार पैंसठ मनुष्य परम पदको प्राप्त कर चुके हैं ।' सात्वतके पुत्रोंमें महाभोज भी बड़ा धर्मात्मा था । उसीके वंशमें भोजवंशी यादव हुए ॥ १०-११ ॥

परीक्षित् ! वृष्णिके दो पुत्र हुए—सुमित्र और युधाजित् । युधाजित्के शिनि और अनमित्र—ये दो पुत्र थे । अनमित्रसे निम्नका जन्म हुआ ॥ १२ ॥ सत्राजित् और प्रसेन नामसे प्रसिद्ध यदुवंशी निम्नके ही पुत्र थे । अनमित्रका एक और पुत्र था, जिसका नाम था शिनि । शिनिसे ही सत्यकका जन्म हुआ ॥ १३ ॥ इसी सत्यकके पुत्र युयुधान थे, जो सात्यकिके नामसे प्रसिद्ध हुए । सात्यकिका जय, जयका कुणि और कुणिका पुत्र युगन्धर हुआ । अनमित्रके तीसरे पुत्रका नाम वृष्णि था । वृष्णिके दो पुत्र हुए—श्वफल्क और चित्ररथ । श्वफल्ककी पत्नीका नाम था गान्दिनी । उनमें सबसे श्रेष्ठ अक्रूरके अतिरिक्त बारह पुत्र उत्पन्न हुए—आसङ्ग, सारमेय, मृदुर, मृदुविद्, गिरि, धर्मवृद्ध, सुकर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमादन और प्रतिबाहु । इनके एक बहिन भी थी, जिसका नाम था सुचीरा । अक्रूरके दो

१. शस्ततः । २. विम्लोचिः । ३. यथा च । ४. जोऽतिधर्मा० । ५. जाश्चासं० । ६. स्ताश्चासन्० ।

देववानुपदेवश्च तथा चित्ररथात्मजाः ।
पृथुर्विदूरथाद्याश्च बहवो वृष्णिनन्दनाः ॥१८॥
कुकुरो भजमानश्च शुचिः कम्बलबर्हिषः ।
कुकुरस्य सुतो वह्निर्विलोमा तनयस्ततः ॥१९॥
कपोतरोमा तस्यानुः सखा यस्य च तुम्बुरुः ।
अन्धको दुन्दुभिस्तस्मादरिद्योतः पुनर्वसुः ॥२०॥
तस्याहुकश्चाहुकी च कन्या चैवाहुकात्मजौ ।
देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः ॥२१॥
देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्धनः ।
तेषां स्वसारः सप्तासन् धृतदेवादयो नृप ॥२२॥
शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता ।
सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥२३॥
कंसः सुनामा न्यग्रोधः कङ्कः शङ्कुः सुहूस्तथा ।
राष्ट्रपालोऽथ सृष्टिश्च तुष्टिमानौग्रसेनयः ॥२४॥
कंसा कंसवती कङ्का शूरभू राष्ट्रपालिका ।
उग्रसेनदुहितरो वसुदेवानुजस्त्रियः ॥२५॥
शूरो विदूरथादासीद् भजमानः सुतस्ततः ।
शिनिस्तस्मात् स्वयम्भोजो हृदीकस्तत्सुतो मतः ॥२६॥
देवबाहुः शतधनुः कृतवर्मेति तत्सुताः ।
देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत् ॥२७॥
तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान् ।
वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम् ॥२८॥
सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम् ।
देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि ॥२९॥
वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम् ।
पृथा च श्रुतदेवा च श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवाः ॥३०॥
राजाधिदेवी चैतेषां भगिन्यः पञ्च कन्यकाः ।

पुत्र थे—देववान् और उपदेव । श्वफल्कके भाई चित्ररथके पृथु, विदूरथ आदि बहुत-से पुत्र हुए—जो वृष्णिवंशियोंमें श्रेष्ठ माने जाते हैं ।१४–१८। सात्वतके पुत्र अन्धकके चार पुत्र हुए—कुकुर, भजमान, शुचि और कम्बलबर्हि । उनमें कुकुरका पुत्र वह्नि, वह्निका विलोमा, विलोमाका कपोतरोमा और कपोतरोमाका अनु हुआ । तुम्बुरु गन्धर्वके साथ अनुकी बड़ी मित्रता थी । अनुका पुत्र अन्धक, अन्धकका दुन्दुभि, दुन्दुभिका अरिद्योत, अरिद्योतका पुनर्वसु और पुनर्वसुके आहुक नामका एक पुत्र तथा आहुकी नामकी एक कन्या हुई । आहुकके दो पुत्र हुए—देवक और उग्रसेन । देवकके चार पुत्र हुए ।१९–२१। देववान्, उपदेव, सुदेव और देववर्धन । इनकी सात बहिनें भी थीं—धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी । वसुदेवजीने इन सबके साथ विवाह किया था ॥ २२-२३ ॥ उग्रसेनके नौ लड़के थे—कंस, सुनामा, न्यग्रोध, कङ्क, शङ्कु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टि और तुष्टिमान् ॥ २४ ॥ उग्रसेनके पाँच कन्याएँ भी थीं—कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरभू और राष्ट्रपालिका । इनका विवाह देवभाग आदि वसुदेवजीके छोटे भाइयोंसे हुआ था ॥ २५ ॥

चित्ररथके पुत्र विदूरथसे शूर, शूरसे भजमान, भजमानसे शिनि, शिनिसे स्वयम्भोज और स्वयम्भोजसे हृदीक हुए ।२६। हृदीकसे तीन पुत्र हुए—देवबाहु, शतधन्वा और कृतवर्मा । देवमीढके पुत्र शूरकी पत्नीका नाम था मारिषा ॥ २७ ॥ उन्होंने उसके गर्भसे दस निष्पाप पुत्र उत्पन्न किये—वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कङ्क, शमीक, वत्सक और वृक । ये सब-के-सब बड़े पुण्यात्मा थे । वसुदेवजीके जन्मके समय देवताओंके नगारे और नौबत स्वयं ही बजने लगे थे । अतः वे 'आनकदुन्दुभि' भी कहलाये । वे ही भगवान् श्रीकृष्णके पिता हुए । वसुदेव आदिकी पाँच बहनें भी थीं—पृथा (कुन्ती), श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी । वसुदेवके पिता शूरसेनके एक मित्र थे—कुन्तिभोज । कुन्तिभोजके कोई सन्तान न थी ।

१. विप्रथुधन्याद्याः । २. धृष्टि० । ३. तु । ४. ह्वावा० । ५. वीत० । ६. देवी च श्रीदेवी । ७. नुग्रसेनजाः । ८. स्सुतोऽजोऽभूद् हृदी० । ९. वर्मे० ।

कुन्तेः सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात् ॥३१॥
साऽऽप दुर्वाससो विद्यां देवहूतीं प्रतोषितात् ।
तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिम् ॥३२॥
तदैवोपागतं देवं वीक्ष्य विस्मितमानसा ।
प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे याहि देव क्षमस्व मे ॥३३॥
अमोघं दर्शनं देवि आधित्से त्वयि चात्मजम् ।
योनिर्यथा न दुष्येत कर्ताहं ते सुमध्यमे ॥३४॥
इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवं गतः ।
सद्यः कुमारः संजज्ञे द्वितीय इव भास्करः ॥३५॥
तं सात्यजन्नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती ।
प्रपितामहस्तामुवाह पाण्डुर्वै सत्यविक्रमः ॥३६॥
श्रुतदेवां तु कारूषो वृद्धशर्मा समग्रहीत् ।
यस्यामभूद् दन्तवक्त्र ऋषिशप्तो दितेः सुतः ॥३७॥
कैकेयो धृष्टकेतुश्च श्रुतकीर्तिमविन्दत ।
सन्तर्दनादयस्तस्य पञ्चासन् कैकयाः सुताः ॥३८॥
राजाधिदेव्यामावन्त्यौ जयसेनोऽजनिष्ट ह ।
दमघोषश्चेदिराजः श्रुतश्रवसमग्रहीत् ॥३९॥
शिशुपालः सुतस्तस्याः कथितस्तस्य सम्भवः ।
देवभागस्य कंसायां चित्रकेतुबृहद्बलौ ॥४०॥

इसलिये शूरसेनने उन्हें पृथा नामकी अपनी सबसे बड़ी कन्या गोद दे दी ॥२८—३१॥ पृथाने दुर्वासा ऋषिको प्रसन्न करके उनसे देवताओंको बुलानेकी विद्या सीख ली। एक दिन उस विद्याके प्रभावकी परीक्षा लेनेके लिये पृथाने परम पवित्र भगवान् सूर्यका आवाहन किया ॥ ३२ ॥ उसी समय भगवान् सूर्य वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर कुन्तीका हृदय विस्मयसे भर गया। उसने कहा—'भगवन्! मुझे क्षमा कीजिये। मैंने तो परीक्षा करनेके लिये ही इस विद्याका प्रयोग किया था। अब आप पधार सकते हैं ॥ ३३ ॥ सूर्यदेवने कहा—देवि! मेरा दर्शन निष्फल नहीं हो सकता। इसलिये हे सुन्दरी! अब मैं तुमसे एक पुत्र उत्पन्न करना चाहता हूँ। हाँ, अवश्य ही तुम्हारी योनि दूषित न हो, इसका उपाय मैं कर दूँगा' ॥ ३४ ॥ यह कहकर भगवान् सूर्यने गर्भ स्थापित कर दिया और इसके बाद वे स्वर्ग चले गये। उसी समय उससे एक बड़ा सुन्दर एवं तेजस्वी शिशु उत्पन्न हुआ। वह देखनेमें दूसरे सूर्यके समान जान पड़ता था ॥ ३५ ॥ पृथा लोकनिन्दासे डर गयी। इसलिये उसने बड़े दुःखसे उस बालकको नदीके जलमें छोड़ दिया। परीक्षित्! उसी पृथाका विवाह तुम्हारे परदादा पाण्डुसे हुआ था, जो वास्तवमें बड़े सच्चे वीर थे ॥ ३६ ॥

परीक्षित्! पृथाकी छोटी बहिन श्रुतदेवाका विवाह करूष देशके अधिपति वृद्धशर्मासे हुआ था। उसके गर्भसे दन्तवक्त्रका जन्म हुआ। यह वही दन्तवक्त्र है, जो पूर्वजन्ममें सनकादि ऋषियोंके शापसे हिरण्याक्ष हुआ था ॥ ३७ ॥ केकय देशके राजा धृष्टकेतुने श्रुतकीर्तिसे विवाह किया था। उससे सन्तर्दन आदि पाँच कैकय राजकुमार हुए ॥ ३८ ॥ राजाधिदेवीका विवाह जयसेनसे हुआ था। उसके दो पुत्र हुए—विन्द और अनुविन्द। वे दोनों ही अवन्तीके राजा हुए। चेदिराज दमघोषने श्रुतश्रवाका पाणिग्रहण किया ॥ ३९ ॥ उसका पुत्र था शिशुपाल, जिसका वर्णन मैं पहले (सप्तम स्कन्धमें) कर चुका हूँ। वसुदेवजीके भाइयोंमेंसे देवभागकी पत्नी कंसाके गर्भसे दो पुत्र हुए—चित्रकेतु और

१. तया। २. प०। ३. आदिदेव क्षम०। ४. देवसंकाशमाधास्ये त्व०। ५. इतिशब्दो दि०। ६. जयत्सेनो।

कंसवत्यां देवश्रवसः सुवीर इषुमांस्तथा ।
कङ्कायामानकाज्जातः सत्यजित् पुरुजित् तथा ॥४१॥
सृञ्जयो राष्ट्रपाल्यां च वृषदुर्मर्षणादिकान् ।
हरिकेशहिरण्याक्षौ शूरभूम्यां च श्यामकः ॥४२॥
मिश्रकेश्यामप्सरसि वृकादीन् वत्सकस्तथा ।
तक्षपुष्करशालादीन् दुर्वाक्ष्यां वृक आदधे ॥४३॥
सुमित्रार्जुनपालादीञ्छमीकात्तु सुदामिनी ।
कङ्कश्च कर्णिकायां वै ऋतधामजयावपि ॥४४॥

बृहद्बल ॥ ४० ॥ देवश्रवाकी पत्नी कंसवतीसे सुवीर और इषुमान् नामके दो पुत्र हुए । आनककी पत्नी कङ्काके गर्भसे भी दो पुत्र हुए—शत्रुजित् और पुरुजित् ॥ ४१ ॥ सृञ्जयने अपनी पत्नी राष्ट्रपालिकाके गर्भसे वृष और दुर्मर्षण आदि कई पुत्र उत्पन्न किये । इसी प्रकार श्यामकने शूरभूमि (शूरभू) नामकी पत्नीसे हरिकेश और हिरण्याक्ष नामक दो पुत्र उत्पन्न किये।४२। मिश्रकेशी अप्सराके गर्भसे वत्सकके भी वृक आदि कई पुत्र हुए । वृकने दुर्वाक्षीके गर्भसे तक्ष, पुष्कर और शाल आदि कई पुत्र उत्पन्न किये ॥ ४३ ॥ शमीककी पत्नी सुदामिनीने भी सुमित्र और अर्जुनपाल आदि कई बालक उत्पन्न किये । कङ्ककी पत्नी कर्णिकाके गर्भसे दो पुत्र हुए—ऋतुधाम और जय ॥ ४४ ॥

पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला ।
देवकीप्रमुखा आसन् पत्न्य आनकदुन्दुभेः ॥४५॥
बलं गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् ।
वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत् ॥४६॥
... भद्रबाहश्च दुर्मदो भद्र एव च ।
पौरव्यास्तनया ह्येते भूताद्या द्वादशाभवन् ॥४७॥
नन्दोपनन्दकृतकशूराद्या मदिरात्मजाः ।
कौसल्या केशिनं त्वेकमसूत कुलनन्दनम् ॥४८॥
रोचनायामतो जाता हस्तहेमाङ्गदादयः ।
इलायामुरुवल्कादीन् यदुमुख्यानजीजनत् ॥४९॥
विपृष्ठो धृतदेवाया मेक आनकदुन्दुभेः ।
शान्तिदेवात्मजा राजञ्छ्रमप्रतिश्रुतादयः ॥५०॥
राजानः कल्पवर्षाद्या उपदेवासुता दश ।
वसुहंससुवंशाद्याः श्रीदेवायास्तु षट् सुताः ॥५१॥
देवरक्षितया लब्धा नव चात्र गदादयः ।
वसुदेवः सुतानष्टावादधे सहदेवया ॥५२॥
पुरुविश्रुतमुख्यांस्तु साक्षाद् धर्मो वसूनिव ।
वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत् ॥५३॥
कीर्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः ।
ऋजुं सम्मर्दनं भद्रं संकर्षणमहीश्वरम् ॥५४॥

आनकदुन्दुभि वसुदेवजीकी पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला और देवकी आदि बहुत-सी पत्नियाँ थीं ॥४५॥ रोहिणीके गर्भसे वसुदेवजीके बलराम, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और कृत आदि पुत्र हुए थे॥ ४६ ॥ पौरवीके गर्भसे उनके बारह पुत्र हुए—भूत, सुभद्र, भद्रबाह, दुर्मद और भद्र आदि ॥ ४७ ॥ नन्द, उपनन्द, कृतक, शूर आदि मदिराके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । कौसल्याने एक ही वंश-उजागर पुत्र उत्पन्न किया था । उसका नाम था केशी ॥ ४८ ॥ उसने रोचनासे हस्त और हेमाङ्गद आदि तथा इलासे उरुवल्क आदि प्रधान यदुवंशी पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ४९ ॥ परीक्षित ! वसुदेवजीके धृतदेवाके गर्भसे विपृष्ठ नामका एक ही पुत्र हुआ और शान्तिदेवासे श्रम और प्रतिश्रुत आदि कई पुत्र हुए ॥ ५० ॥ उपदेवाके पुत्र कल्पवर्ष आदि दस राजा हुए और श्रीदेवाके वसु, हंस, सुवंश आदि छः पुत्र हुए ॥ ५१ ॥ देवरक्षिताके गर्भसे गद आदि नौ पुत्र हुए तथा जैसे स्वयं धर्मने आठ वसुओंको उत्पन्न किया था, वैसे ही वसुदेवजीने सहदेवाके गर्भसे पुरुविश्रुत आदि आठ पुत्र उत्पन्न किये । परम उदार वसुदेवजीने देवकीके गर्भसे भी आठ पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें सातके नाम हैं—कीर्तिमान्, सुषेण, भद्रसेन, ऋजु, संमर्दन, भद्र और शेषावतार श्रीबलरामजी ॥५२—५४॥

अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल ।
सुभद्रा च महाभागा तव राजन् पितामही ॥५५॥

उन दोनोंके आठवें पुत्र स्वयं श्रीभगवान् ही थे । परीक्षित् ! तुम्हारी परम सौभाग्यवती दादी सुभद्रा भी देवकीजीकी ही कन्या थीं ॥ ५५ ॥

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥५६॥
न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते ।
आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः ॥५७॥
यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि ।
अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते ॥५८॥
अक्षौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनैः ।
भुव आक्रम्यमाणाया अभाराय कृतोद्यमः ॥५९॥
कर्माण्यपरिमेयाणि मनसापि सुरेश्वरैः ।
सहसंकर्षणश्चक्रे भगवान् मधुसूदनः ॥६०॥
कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम् ।
अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद् यशः ॥६१॥

जब-जब संसारमें धर्मका ह्रास और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि अवतार ग्रहण करते हैं॥५६॥ परीक्षित्! भगवान् सबके द्रष्टा और वास्तवमें असङ्ग आत्मा ही हैं।इसलिये उनकी आत्मस्वरूपिणी योगमायाके अतिरिक्त उनके जन्म अथवा कर्मका और कोई भी कारण नहीं है ॥ ५७ ॥ उनकी मायाका विलास ही जीवके जन्म, जीवन और मृत्युका कारण है। और उनका अनुग्रह ही मायाको अलग करके आत्मस्वरूपको प्राप्त करानेवाला है ॥ ५८ ॥ जब असुरोंने राजाओंका वेष धारण कर लिया और कई अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके वे सारी पृथ्वीको रौंदने लगे, तब पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान् मधुसूदन बलरामजीके साथ अवतीर्ण हुए। उन्होंने ऐसी-ऐसी लीलाएँ कीं, जिनके सम्बन्धमें बड़े-बड़े देवता मनसे अनुमान भी नहीं कर सकते—शरीरसे करनेकी बात तो अलग रही ॥ ५९-६० ॥ पृथ्वीका भार तो उतरा ही, साथ ही कलियुगमें पैदा होनेवाले भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये भगवान्ने ऐसे परम पवित्र यशका विस्तार किया, जिसका गान और श्रवण करनेसे ही उनके दुःख, शोक और अज्ञान सब-के-सब नष्ट हो जायँगे ॥ ६१ ॥

यस्मिन् सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत् ।
श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम् ॥६२॥
भोजवृष्ण्यन्धकमधुशूरसेनदशार्हकैः ।
श्लाघनीयेहितः शश्वत् कुरुसृञ्जयपाण्डुभिः ॥६३॥
स्निग्धस्मितेक्षितोदारैर्वाक्यैर्विक्रमलीलया ।
नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया ॥६४॥

उनका यश क्या है, लोगोंको पवित्र करनेवाला श्रेष्ठ तीर्थ है। संतोंके कानोंके लिये तो वह साक्षात् अमृत ही है। एक बार भी यदि कानकी अञ्जलियोंसे उसका आचमन कर लिया जाता है, तो कर्मकी वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं॥ ६२ ॥ परीक्षित्! भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु, शूरसेन, दशार्ह, कुरु, सृञ्जय और पाण्डुवंशी वीर निरन्तर भगवान्‌की लीलाओंकी आदरपूर्वक सराहना करते रहते थे॥ ६३॥ उनका श्यामल शरीर सर्वाङ्गसुन्दर था। उन्होंने उस मनोरम विग्रहसे तथा अपनी प्रेमभरी मुसकान, मधुर चितवन, प्रसादपूर्ण वचन और पराक्रमपूर्ण लीलाके द्वारा सारे मनुष्यलोकको आनन्दमें सराबोर कर दिया था ॥ ६४ ॥

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥६५॥

जातो गतः पितृगृहाद् व्रजमेधितार्थो
हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः ।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे
आत्मानमात्मनिगमं प्रथयञ्जनेषु ॥६६॥

पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन् कुरूणा-
मन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्वः ।
दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य
प्रोच्योद्धवाय च परं समगात् स्वधाम ॥६७॥

भगवान्के मुखकमलकी शोभा तो निराली ही थी। मकराकृत कुण्डलोंसे उनके कान बड़े कमनीय मालूम पड़ते थे। उनकी आभासे कपोलोंका सौन्दर्य और भी खिल उठता था। जब वे विलासके साथ हँस देते, तो उनके मुखपर निरन्तर रहनेवाले आनन्दमें मानो बाढ़-सी आ जाती। सभी नर-नारी अपने नेत्रोंके प्यालोंसे उनके मुखकी माधुरीका निरन्तर पान करते रहते, परन्तु तृप्त नहीं होते। वे उसका रस ले-लेकर आनन्दित तो होते ही, परन्तु पलकें गिरनेसे उनके गिरानेवाले निमिपर खीझते भी॥ ६५॥ लीलापुरुषोत्तम भगवान् अवतीर्ण हुए मथुरामें वसुदेवजीके घर, परन्तु वहाँ रहे नहीं; वहाँसे गोकुलमें नन्दबाबाके घर चले गये। वहाँ अपना प्रयोजन—जो ग्वाल, गोपी और गौओंको सुखी करना था—पूरा करके मथुरा लौट आये। व्रजमें, मथुरामें तथा द्वारकामें रहकर अनेकों शत्रुओंका संहार किया। बहुत-सी स्त्रियोंसे विवाह करके हजारों पुत्र उत्पन्न किये। साथ ही लोगोंमें अपने स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाली अपनी वाणीस्वरूप श्रुतियोंकी मर्यादा स्थापित करनेके लिये अनेक यज्ञोंके द्वारा स्वयं अपना ही यजन किया॥ ६६॥ कौरव और पाण्डवोंके बीच उत्पन्न हुए आपसके कलहसे उन्होंने पृथ्वीका बहुत-सा भार हल्का कर दिया तथा युद्धमें अपनी दृष्टिसे ही राजाओंकी बहुत-सी अक्षौहिणियोंको ध्वंस करके संसारमें अर्जुनकी जीतका डंका पिटवा दिया। फिर उद्धवको आत्मतत्त्वका उपदेश किया और इसके बाद वे अपने परम धामको सिधार गये॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे श्रीसूर्यसोमवंशानुकीर्तने यदुवंशानुकीर्तनं
नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

इति नवमः स्कन्धः सम्पूर्णः

हरिः ॐ तत्सत्

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(पूर्वार्धः)



देवक्या पालितो गर्भे लालितोऽङ्के यशोदया।
यशोदयायुतो बालो गोपालो रमतां हृदि॥



श्रीश्यामाश्यामकी झाँकी

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(पूर्वार्धः)

अथ प्रथमोऽध्यायः

भगवान्‌के द्वारा पृथ्वीको आश्वासन, वसुदेव-देवकीका विवाह और कंसके द्वारा देवकीके छः पुत्रोंकी हत्या

राजोवाच

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम।
तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ॥ २ ॥
अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः।
कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥ ३ ॥
निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥ ४ ॥
पितामहा मे समरेऽमरञ्जयै-
र्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! आपने चन्द्रवंश और सूर्यवंशके विस्तार तथा दोनों वंशोंके राजाओंका अत्यन्त अद्भुत चरित्र वर्णन किया। भगवान्‌के परम प्रेमी मुनिवर! आपने स्वभावसे ही धर्मप्रेमी यदुवंशका भी विशद वर्णन किया। अब कृपा करके उसी वंशमें अपने अंश श्रीबलरामजीके साथ अवतीर्ण हुए भगवान् श्रीकृष्णके परम पवित्र चरित्र भी हमें सुनाइये ॥ १-२ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके जीवनदाता एवं सर्वात्मा हैं। उन्होंने यदुवंशमें अवतार लेकर जो-जो लीलाएँ कीं, उनका विस्तारसे हमलोगोंको श्रवण कराइये ॥ ३ ॥ जिनकी तृष्णाकी प्यास सर्वदाके लिये बुझ चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष जिसका पूर्ण प्रेमसे अतृप्त रहकर गान किया करते हैं, मुमुक्षुजनोंके लिये जो भवरोगका रामबाण औषध है तथा विषयी लोगोंके लिये भी उनके कान और मनको परम आह्लाद देनेवाला है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे सुन्दर सुखद, रसीले, गुणानुवादसे पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्यके अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे? ॥ ४ ॥ (श्रीकृष्ण तो मेरे कुलदेव ही हैं।) जब कुरुक्षेत्रमें महाभारत-युद्ध हो रहा था और देवताओंको भी जीत लेनेवाले भीष्मपितामह आदि अतिरथियोंसे मेरे दादा पाण्डवोंका युद्ध हो रहा था, उस समय कौरवोंकी सेना उनके लिये अपार समुद्रके समान थी—जिसमें भीष्म आदि वीर बड़े-बड़े मच्छोंको भी निगल जानेवाले तिमिङ्गिल मच्छोंकी भाँति

दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं
कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥ ५ ॥
द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं
सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो
मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥ ६ ॥
वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा-
मन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च
मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥

भय उत्पन्न कर रहे थे। परन्तु मेरे स्वनाम-धन्य पितामह भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी नौकाका आश्रय लेकर उस समुद्रको अनायास ही पार कर गये—ठीक वैसे ही जैसे कोई मार्गमें चलता हुआ स्वभावसे ही बछड़ेके खुर-का गड्ढा पार कर जाय ॥ ५ ॥ महाराज ! मेरा यह शरीर—जो आपके सामने है तथा जो कौरव और पाण्डव दोनों ही वंशोंका एकमात्र सहारा था—अश्वत्थामा-के ब्रह्मास्त्रसे जल चुका था। उस समय मेरी माता जब भगवान्की शरणमें गयी, तब उन्होंने हाथमें चक्र लेकर मेरी माताके गर्भमें प्रवेश किया और मेरी रक्षा की।६। (केवल मेरी ही बात नहीं,) वे समस्त शरीरधारियोंके भीतर आत्मारूपसे रहकर अमृतत्वका दान कर रहे हैं और बाहर कालरूपसे रहकर मृत्युका *। मनुष्यके रूपमें प्रतीत होना, यह तो उनकी एक लीला है। आप उन्हींकी ऐश्वर्य और माधुर्यसे परिपूर्ण लीलाओंका वर्णन कीजिये ॥ ७ ॥

रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया ।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥ ८ ॥
कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहाद् व्रजं गतः ।
क्व वासं ज्ञातिभिः सार्धं कृतवान् सात्वतां पतिः ॥ ९ ॥
व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः ।
भ्रातरं चावधीत् कंसं मातुरद्धातदर्हणम् ॥ १० ॥
देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः ।

भगवन् ! आपने अभी बतलाया था कि बलरामजी रोहिणीके पुत्र थे। इसके बाद देवकीके पुत्रोंमें भी आपने उनकी गणना की। दूसरा शरीर धारण किये बिना दो माताओंका पुत्र होना कैसे सम्भव है ? ॥ ८ ॥ असुरों-को मुक्ति देनेवाले और भक्तोंको प्रेम वितरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने वात्सल्य-स्नेहसे भरे हुए पिताका घर छोड़कर व्रजमें क्यों चले गये ? यदुवंशशिरोमणि भक्तवत्सल प्रभुने नन्द आदि गोप-बन्धुओंके साथ कहाँ-कहाँ निवास किया ? ॥ ९ ॥ ब्रह्मा और शङ्करका भी शासन करनेवाले प्रभुने व्रजमें तथा मधुपुरीमें रहकर कौन-कौन-सी लीलाएँ कीं ? और महाराज ! उन्होंने अपनी माँके भाई मामा कंसको अपने हाथों क्यों मार डाला ? वह मामा होनेके कारण उनके द्वारा मारे जाने-योग्य तो नहीं था ॥ १० ॥ मनुष्याकार सच्चिदानन्दमय विग्रह प्रकट करके द्वारकापुरीमें यदुवंशियोंके साथ उन्होंने

१. साकं ।

* समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित भगवान् उनके जीवनके कारण हैं तथा बाहर कालरूपसे स्थित हुए वे ही उनका नाश करते हैं। अतः जो आत्मज्ञानीजन अन्तर्दृष्टिद्वारा उन अन्तर्यामीकी उपासना करते हैं, वे मोक्ष-रूप अमरपद पाते हैं और जो विषयपरायण अज्ञानी पुरुष बाह्यदृष्टिसे विषयचिन्तनमें ही लगे रहते हैं, वे जन्म-मरणरूप मृत्युके भागी होते हैं।

यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः ॥११॥

एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम् ।

वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ॥१२॥

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।

पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥१३॥

कितने वर्षोंतक निवास किया? और उन सर्वशक्तिमान् प्रभुकी पत्नियाँ कितनी थीं?॥ ११ ॥ मुने! मैंने श्रीकृष्णकी जितनी लीलाएँ पूछी हैं और जो नहीं पूछी हैं, वे सब आप मुझे विस्तारसे सुनाइये; क्योंकि आप सब कुछ जानते हैं और मैं बड़ी श्रद्धाके साथ उन्हें सुनना चाहता हूँ॥ १२ ॥ भगवन्! अन्नकी तो बात ही क्या, मैंने जलका भी परित्याग कर दिया है। फिर भी वह असह्य भूख-प्यास (जिसके कारण मैंने मुनिके गलेमें मृत सर्प डालनेका अन्याय किया था) मुझे तनिक भी नहीं सता रही है; क्योंकि मैं आपके मुखकमलसे झरती हुई भगवान्‌की सुधामयी लीला-कथाका पान कर रहा हूँ॥ १३ ॥

सूत उवाच

एवं[1] निशम्य भृगुनन्दनसाधुवादं
वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातम् ।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं
व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥१४॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी! भगवान्‌के प्रेमियोंमें अग्रगण्य एवं सर्वज्ञ श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षित्‌का ऐसा समीचीन प्रश्न सुनकर (जो संतोंकी सभामें भगवान्‌की लीलाके वर्णनका हेतु हुआ करता है) उनका अभिनन्दन किया और भगवान् श्रीकृष्णकी उन लीलाओंका वर्णन प्रारम्भ किया, जो समस्त कलिमलोंको सदाके लिये धो डालती हैं॥ १४ ॥

श्रीशुक उवाच

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम ।

वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः[2] ॥१५॥

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि ।

वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा ॥१६॥

भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।

आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥१७॥

गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः ।

श्रीशुकदेवजीने कहा—भगवान्‌के लीला-रसके रसिक राजर्षे! तुमने जो कुछ निश्चय किया है, वह बहुत ही सुन्दर और आदरणीय है; क्योंकि सबके हृदयाराध्य श्रीकृष्णकी लीला-कथा श्रवण करनेमें तुम्हें सहज एवं सुदृढ प्रीति प्राप्त हो गयी है॥ १५॥ भगवान् श्रीकृष्णकी कथाके सम्बन्धमें प्रश्न करनेसे ही वक्ता, प्रश्नकर्ता और श्रोता—तीनों ही पवित्र हो जाते हैं—जैसे गङ्गाजीका जल या भगवान् शालग्रामका चरणामृत सभीको पवित्र कर देता है॥ १६ ॥

परीक्षित्! उस समय लाखों दैत्योंके दलने घमंडी राजाओंका रूप धारण कर अपने भारी भारसे पृथ्वीको आक्रान्त कर रक्खा था। उससे त्राण पानेके लिये वह ब्रह्माजीकी शरणमें गयी॥ १७ ॥ पृथ्वीने उस समय गौका रूप धारण कर रक्खा था। उसके नेत्रोंसे आँसू बह-बहकर मुँहपर आ रहे थे। उसका मन तो खिन्न

१. एतं। २. मतिः।

उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचत[1] ॥१८॥

ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह ।

जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥१९॥

तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम् ।

पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥२०॥

गिरं समाधौ गगने समीरितां

निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह ।

गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-

र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥२१॥

पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो

भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।

स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः

स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि ॥२२॥

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः ।

जनिष्यते[2] तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः[3] ॥२३॥

वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् ।

अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥२४॥

विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत् ।

आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥२५॥

था ही, शरीर भी बहुत कृश हो गया था। वह बड़े करुण स्वरसे रँभा रही थी। ब्रह्माजीके पास जाकर उसने उन्हें अपनी पूरी कष्ट-कहानी सुनायी ॥ १८ ॥ ब्रह्माजीने बड़ी सहानुभूतिके साथ उसकी दुःख-गाथा सुनी। उसके बाद वे भगवान् शङ्कर, स्वर्गके अन्यान्य प्रमुख देवता तथा गौके रूपमें आयी हुई पृथ्वीको अपने साथ लेकर क्षीरसागरके तटपर गये ॥ १९ ॥ भगवान् देवताओंके भी आराध्यदेव हैं। वे अपने भक्तोंकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण करते और उनके समस्त क्लेशोंको नष्ट कर देते हैं। वे ही जगत्के एकमात्र स्वामी हैं। क्षीरसागरके तटपर पहुँचकर ब्रह्मा आदि देवताओंने 'पुरुषसूक्त' के द्वारा उन्हीं परम पुरुष सर्वान्तर्यामी प्रभुकी स्तुति की। स्तुति करते-करते ब्रह्माजी समाधिस्थ हो गये ॥ २० ॥ उन्होंने समाधि-अवस्थामें आकाशवाणी सुनी। इसके बाद जगत्के निर्माणकर्ता ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'देवताओ ! मैंने भगवान्‌की वाणी सुनी है। तुमलोग भी उसे मेरेद्वारा अभी सुन लो और फिर वैसा ही करो। उसके पालनमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ २१ ॥ भगवान्‌को पृथ्वीके कष्टका पहलेसे ही पता है। वे ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। अतः अपनी कालशक्तिके द्वारा पृथ्वीका भार हरण करते हुए वे जबतक पृथ्वीपर लीला करें, तबतक तुमलोग भी अपने-अपने अंशोंके साथ यदुकुलमें जन्म लेकर उनकी लीलामें सहयोग दो ॥ २२ ॥ वसुदेवजीके घर स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् प्रकट होंगे। उनकी और उनकी प्रियतमा (श्रीराधा)की सेवाके लिये देवाङ्गनाएँ जन्म ग्रहण करें।२३। स्वयंप्रकाश भगवान् शेष भी, जो भगवान्‌की कला होनेके कारण अनन्त हैं (अनन्तका अंश भी अनन्त ही होता है) और जिनके सहस्र मुख हैं, भगवान्‌के प्रिय कार्य करनेके लिये उनसे पहले ही उनके बड़े भाईके रूपमें अवतार ग्रहण करेंगे ॥ २४ ॥ भगवान्‌की वह ऐश्वर्य-शालिनी योगमाया भी, जिसने सारे जगत्‌को मोहित कर रक्खा है, उनकी आज्ञासे उनकी लीलाके कार्य सम्पन्न करनेके लिये अंशरूपसे अवतार ग्रहण करेगी' ॥ २५ ॥

१. समवोचत। २. ष्यति। ३. वन्त्वमरस्त्रियः।

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः ।
आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ॥२६॥
शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम् ।
माथुराञ्छूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा ॥२७॥
राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम् ।
मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः ॥२८॥
तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः ।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥२९॥
उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
रश्मीन् हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः ॥३०॥
चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम् ।
अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम् ॥३१॥
दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते ।
दुहित्रे देवकः प्रादाद् याने दुहितृवत्सलः ॥३२॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गाश्च नेदुर्दुन्दुभयः समम् ।
प्रयाणप्रक्रमे तावद् वरवध्वोः सुमङ्गलम् ॥३३॥
पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक् ।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध ॥३४॥
इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः ।
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत् ॥३५॥
तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम् ।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन् ॥३६॥

वसुदेव उवाच

श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! प्रजापतियोंके स्वामी भगवान् ब्रह्माजीने देवताओंको इस प्रकार आज्ञा दी और पृथ्वीको समझा-बुझाकर ढाढ़स बँधाया। इसके बाद वे अपने परम धामको चले गये॥ २६॥ प्राचीन कालमें यदुवंशी राजा थे शूरसेन। वे मथुरापुरीमें रहकर माथुरमण्डल और शूरसेनमण्डलका राज्यशासन करते थे ॥२७॥ उसी समयसे मथुरा ही समस्त यदुवंशी नरपतियोंकी राजधानी हो गयी थी। भगवान् श्रीहरि सर्वदा वहाँ विराजमान रहते हैं॥ २८॥ एक बार मथुरामें शूरके पुत्र वसुदेवजी विवाह करके अपनी नवविवाहिता पत्नी देवकीके साथ घर जानेके लिये रथपर सवार हुए ॥२९॥ उग्रसेनका लड़का था कंस। उसने अपनी चचेरी बहिन देवकीको प्रसन्न करनेके लिये उसके रथके घोड़ोंकी रास पकड़ ली। वह स्वयं ही रथ हाँकने लगा, यद्यपि उसके साथ सैकड़ों सोनेके बने हुए रथ चल रहे थे॥ ३०॥ देवकीके पिता थे देवक। अपनी पुत्रीपर उनका बड़ा प्रेम था। कन्याको बिदा करते समय उन्होंने उसे सोनेके हारोंसे अलङ्कृत चार सौ हाथी, पंद्रह हजार घोड़े, अठारह सौ रथ तथा सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित दो सौ सुकुमारी दासियाँ दहेजमें दीं॥ ३१-३२॥ विदाईके समय वर-वधूके मङ्गलके लिये एक ही साथ शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग और दुन्दुभियाँ बजने लगीं॥ ३३॥ मार्गमें जिस समय घोड़ोंकी रास पकड़कर कंस रथ हाँक रहा था, उस समय आकाशवाणीने उसे सम्बोधन करके कहा—'अरे मूर्ख! जिसको तू रथमें बैठाकर लिये जा रहा है, उसकी आठवें गर्भकी सन्तान तुझे मार डालेगी'॥ ३४॥ कंस बड़ा पापी था। उसकी दुष्टताकी सीमा नहीं थी। वह भोजवंशका कलङ्क ही था। आकाशवाणी सुनते ही उसने तलवार खींच ली और अपनी बहिनकी चोटी पकड़कर उसे मारनेके लिये तैयार हो गया॥ ३५॥ वह अत्यन्त क्रूर तो था ही, पाप-कर्म करते-करते निर्लज्ज भी हो गया था। उसका यह काम देखकर महात्मा वसुदेवजी उसको शान्त करते हुए बोले—॥ ३६॥

वसुदेवजीने कहा—राजकुमार! आप भोजवंशके होनहार वंशधर तथा अपने कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले

१. कंसो भगिन्याः प्रिय०। २. जगृहे।

स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि ॥३७॥
मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥३८॥
देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः ।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥३९॥
व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥४०॥
स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं
मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन्
प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः ॥४१॥
यतो यतो धावति दैवचोदितं
मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु ।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ
प्रपद्यमानः सह तेन जायते ॥४२॥
ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः
समीरवेगानुगतं विभाव्यते ।

हैं। बड़े-बड़े शूरवीर आपके गुणोंकी सराहना करते हैं। इधर यह एक तो स्त्री, दूसरे आपकी बहिन और तीसरे यह विवाहका शुभ अवसर! ऐसी स्थितिमें आप इसे कैसे मार सकते हैं? ॥ ३७ ॥ वीरवर! जो जन्म लेते हैं उनके शरीरके साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है। आज हो या सौ वर्षके बाद—जो प्राणी हैं, उसकी मृत्यु होगी ही ॥ ३८ ॥ जब शरीरका अन्त हो जाता है, तब जीव अपने कर्मके अनुसार दूसरे शरीरको ग्रहण करके अपने पहले शरीरको छोड़ देता है। उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ता है॥ ३९ ॥ जैसे चलते समय मनुष्य एक पैर जमा कर ही दूसरा पैर उठाता है और जैसे जोंक किसी अगले तिनकेको पकड़ लेती है, तब पहलेके पकड़े हुए तिनकेको छोड़ती है—वैसे जीव भी अपने कर्मके अनुसार किसी शरीरको प्राप्त करनेके बाद ही इस शरीरको छोड़ता है ॥ ४० ॥ जैसे कोई पुरुष जाग्रत्-अवस्थामें राजाके ऐश्वर्यको देखकर और इन्द्रादिके ऐश्वर्यको सुनकर उसकी अभिलाषा करने लगता है और उसका चिन्तन करते-करते उन्हीं बातोंमें घुल-मिलकर एक हो जाता है तथा स्वप्नमें अपनेको राजा या इन्द्रके रूपमें अनुभव करने लगता है, साथ ही अपने दरिद्रावस्थाके शरीरको भूल जाता है। कभी-कभी तो जाग्रत् अवस्थामें ही मन-ही-मन उन बातोंका चिन्तन करते-करते तन्मय हो जाता है और उसे स्थूल शरीरकी सुधि नहीं रहती। वैसे ही जीव कर्मकृत कामना और कामनाकृत कर्मके वश होकर दूसरे शरीरको प्राप्त हो जाता है और अपने पहले शरीरको भूल जाता है ॥ ४१ ॥ जीवका मन अनेक विकारोंका पुञ्ज है। देहान्तके समय वह अनेक जन्मोंके सञ्चित और प्रारब्ध कर्मोंकी वासनाओंके अधीन होकर मायाके द्वारा रचे हुए अनेक पाञ्चभौतिक शरीरोंमेंसे जिस किसी शरीरके चिन्तनमें तल्लीन हो जाता है और मान बैठता है कि यह मैं हूँ, उसे वही शरीर ग्रहण करके जन्म लेना पड़ता है ॥ ४२ ॥ जैसे सूर्य-चन्द्रमा आदि चमकीली वस्तुएँ जलसे भरे हुए घड़ोंमें या तेल आदि तरल पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होती हैं और हवाके झोंकेसे उनके जल आदिके हिलने-डोलनेपर उनमें प्रतिबिम्बित वस्तुएँ भी चञ्चल जान पड़ती हैं—वैसे ही

एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान्
गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति ॥४३॥

तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः ।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम् ॥४४॥

एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा ।
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः ॥४५॥

श्रीशुक उवाच

एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोऽपि[1] दारुणः ।
न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः ॥४६॥

निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः ।
प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत ॥४७॥

मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम् ।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः ॥४८॥

प्रदाय मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम् ।
सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेत चेत् ॥४९॥

विपर्ययो वा किं न स्याद् गतिर्धातुर्दुरत्यया ।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत् ॥५०॥

अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयो-
रदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति ।

जीव अपने स्वरूपके अज्ञानद्वारा रचे हुए शरीरोंमें राग करके उन्हें अपना आप मान बैठता है और मोहवश उनके आने-जानेको अपना आना-जाना मानने लगता है ॥ ४३ ॥ इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसे किसीसे द्रोह नहीं करना चाहिये; क्योंकि जीव कर्मके अधीन हो गया है और जो किसीसे भी द्रोह करेगा उसको इस जीवनमें शत्रुसे और जीवनके बाद परलोकसे भयभीत होना ही पड़ेगा ॥ ४४ ॥ कंस ! यह आपकी छोटी बहिन अभी बच्ची और बहुत दीन है । यह तो आपकी कन्याके समान है । इसपर, अभी-अभी इसका विवाह हुआ है, विवाहके मङ्गलचिह्न भी इसके शरीरपरसे नहीं उतारे हैं । ऐसी दशामें आप-जैसे दीनवत्सल पुरुषको इस बेचारीका वध करना उचित नहीं है ॥ ४५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस प्रकार वसुदेवजीने प्रशंसा आदि सामनीति और भय आदि भेदनीतिसे कंसको बहुत समझाया । परन्तु वह क्रूर तो राक्षसोंका अनुयायी हो रहा था; इसलिये उसने अपने घोर सङ्कल्पको नहीं छोड़ा ॥ ४६ ॥ वसुदेवजीने कंसका विकट हठ देखकर यह विचार किया कि किसी प्रकार यह समय तो टाल ही देना चाहिये । तब वे इस निश्चयपर पहुँचे ॥ ४७ ॥ 'बुद्धिमान् पुरुषको, जहाँतक उसकी बुद्धि और बल साथ दें, मृत्युको टालनेका प्रयत्न करना चाहिये । प्रयत्न करनेपर भी वह न टल सके, तो फिर प्रयत्न करनेवालेका कोई दोष नहीं रहता ॥ ४८ ॥ इसलिये इस मृत्युरूप कंसको अपने पुत्र दे देनेकी प्रतिज्ञा करके मैं इस दीन देवकीको बचा लूँ । यदि मेरे लड़के होंगे और तबतक यह कंस स्वयं नहीं मर जायगा, तब क्या होगा ? ॥ ४९ ॥ सम्भव है, उलटा ही हो । मेरा लड़का ही इसे मार डाले ! क्योंकि विधाताके विधानका पार पाना बहुत कठिन है । मृत्यु सामने आकर भी टल जाती है और टली हुई भी लौट आती है ॥ ५० ॥ जिस समय वनमें आग लगती है, उस समय कौन-सी लकड़ी जले और कौन-सी न जले, दूरकी जल जाय और पासकी बच रहे—इन सब बातोंमें अदृष्टके सिवा

[1] १. श्रोध्यमानो ।

एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः
शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥५१॥

एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम् ।
पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरःसरम् ॥५२॥

प्रसन्नवदनाम्भोजो नृशंसं निरपत्रपम् ।
मनसा दूयमानेन विहसन्निदमब्रवीत् ॥५३॥

वसुदेव उवाच

न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद् वागाहाशरीरिणी ।
पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम् ॥५४॥

श्रीशुक उवाच

स्वसुर्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित् ।
वसुदेवोऽपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद् गृहम् ॥५५॥

अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता ।
पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम् ॥५६॥

कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः ।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः ॥५७॥

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम् ।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ॥५८॥

दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम् ।
कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥५९॥

और कोई कारण नहीं होता। वैसे ही किस प्राणीका कौन-सा शरीर बना रहेगा और किस हेतुसे कौन-सा शरीर नष्ट हो जायगा—इस बातका पता लगा लेना बहुत ही कठिन है' ॥ ५१ ॥ अपनी बुद्धिके अनुसार ऐसा निश्चय करके वसुदेवजीने बहुत सम्मानके साथ पापी कंसकी बड़ी प्रशंसा की ॥ ५२ ॥ परीक्षित्! कंस बड़ा क्रूर और निर्लज्ज था; अतः ऐसा करते समय वसुदेवजी-के मनमें बड़ी पीड़ा भी हो रही थी। फिर भी उन्होंने ऊपरसे अपने मुख-कमलको प्रफुल्लित करके हँसते हुए कहा—॥ ५३ ॥

वसुदेवजीने कहा—सौम्य! आपको देवकीसे तो कोई भय है नहीं, जैसा कि आकाशवाणीने कहा है। भय है पुत्रोंसे, सो इसके पुत्र मैं आपको लाकर सौंप दूँगा ॥ ५४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कंस जानता था कि वसुदेवजीके वचन झूठे नहीं होते और इन्होंने जो कुछ कहा है, वह युक्तिसंगत भी है। इसलिये उसने अपनी बहिन देवकीको मारनेका विचार छोड़ दिया। इससे वसुदेवजी बहुत प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करके अपने घर चले आये ॥ ५५ ॥ देवकी बड़ी सती-साध्वी थी। सारे देवता उसके शरीरमें निवास करते थे। समय आनेपर देवकीके गर्भसे प्रतिवर्ष एक-एक करके आठ पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई ॥ ५६ ॥ पहले पुत्रका नाम था कीर्तिमान्। वसुदेवजीने उसे लाकर कंसको दे दिया। ऐसा करते समय उन्हें कष्ट तो अवश्य हुआ, परन्तु उससे भी बड़ा कष्ट उन्हें इस बातका था कि कहीं मेरे वचन झूठे न हो जायँ ॥ ५७ ॥ परीक्षित्! सत्यसन्ध पुरुष बड़े-से-बड़ा कष्ट भी सह लेते हैं, ज्ञानियों-को किसी बातकी अपेक्षा नहीं होती, नीच पुरुष बुरे-से-बुरा काम भी कर सकते हैं और जो जितेन्द्रिय हैं—जिन्होंने भगवान्‌को हृदयमें धारण कर रक्खा है, वे सब कुछ त्याग सकते हैं ॥ ५८ ॥ जब कंसने देखा कि वसुदेवजीका अपने पुत्रके जीवन और मृत्युमें समान भाव है एवं वे सत्यमें पूर्ण निष्ठावान् भी हैं, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ और उनसे हँसकर बोला ॥ ५९ ॥

१. सुहृद्वधा०।

प्रतियातु कुमारोऽयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम् ।
अष्टमाद् युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल ॥६०॥

वसुदेवजी! आप इस नन्हे-से सुकुमार बालकको ले जाइये। इससे मुझे कोई भय नहीं है। क्योंकि आकाशवाणीने तो ऐसा कहा था कि देवकीके आठवें गर्भसे उत्पन्न सन्तानके द्वारा मेरी मृत्यु होगी॥ ६०॥

तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः ।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मनः ॥६१॥

वसुदेवजीने कहा—'ठीक है' और उस बालकको लेकर वे लौट आये। परन्तु उन्हें मालूम था कि कंस बड़ा दुष्ट है और उसका मन उसके हाथमें नहीं है। वह किसी क्षण बदल सकता है। इसलिये उन्होंने उसकी बातपर विश्वास नहीं किया॥६१॥

नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः ।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ॥६२॥
सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत ।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥६३॥
एतत् कंसाय भगवाञ्छशंसाभ्येत्य नारदः ।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ॥६४॥

परीक्षित्! इधर भगवान् नारद कंसके पास आये और उससे बोले कि 'कंस! व्रजमें रहनेवाले नन्द आदि गोप, उनकी स्त्रियाँ, वसुदेव आदि वृष्णिवंशी यादव, देवकी आदि यदुवंशकी स्त्रियाँ और नन्द, वसुदेव दोनोंके सजातीय बन्धु-बान्धव और सगे-सम्बन्धी—सब-के-सब देवता हैं; जो इस समय तुम्हारी सेवा कर रहे हैं, वे भी देवता ही हैं।' उन्होंने यह भी बतलाया कि 'दैत्योंके कारण पृथ्वीका भार बढ़ गया है, इसलिये देवताओंकी ओरसे अब उनके वधकी तैयारी की जा रही है'॥ ६२—६४॥

ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति ।
देवक्या गर्भसम्भूतं विष्णुं च स्ववधं प्रति ॥६५॥
देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे ।
जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया ॥६६॥

जब देवर्षि नारद इतना कहकर चले गये, तब कंसको यह निश्चय हो गया कि यदुवंशी देवता हैं और देवकीके गर्भसे विष्णुभगवान् ही मुझे मारनेके लिये पैदा होनेवाले हैं। इसलिये उसने देवकी और वसुदेवको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर कैदमें डाल दिया और उन दोनोंसे जो-जो पुत्र होते गये, उन्हें वह मारता गया। उसे हर बार यह शंका बनी रहती कि कहीं विष्णु ही उस बालकके रूपमें न आ गया हो॥ ६५-६६॥

मातरं पितरं भ्रातॄन् सर्वांश्च सुहृदस्तथा ।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ॥६७॥

परीक्षित्! पृथ्वीमें यह बात प्रायः देखी जाती है कि अपने प्राणोंका ही पोषण करनेवाले लोभी राजा अपने स्वार्थके लिये माता-पिता, भाई-बन्धु और अपने अत्यन्त हितैषी इष्ट-मित्रोंकी भी हत्या कर डालते हैं॥ ६७॥

आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम् ।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ॥६८॥

कंस जानता था कि मैं पहले कालनेमि असुर था और विष्णुने मुझे मार डाला था। इससे उसने यदुवंशियोंसे घोर विरोध ठान लिया॥ ६८॥

उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम् ।

कंस बड़ा बलवान् था। उसने यदु, भोज और अन्धक-

१. यवीयांस्तु। २. योः पुत्रान्मृ०। ३. याबदानक०। ४. वान् श्रावयामास नार०। ५. सुहृदः सखीन्। ६. यदूनामन्धका०।

स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ॥६९॥

वंशके अधिनायक अपने पिता उग्रसेनको कैद कर लिया और शूरसेन-देशका राज्य वह स्वयं करने लगा ॥६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[1] श्रीकृष्णावतारोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भगवान्‌का गर्भ-प्रवेश और देवताओंद्वारा गर्भ-स्तुति

श्रीशुक उवाच

प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः[2] ।
मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ॥ १ ॥
अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः ।
यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः ॥ २ ॥
ते पीडिता निविविशुः कुरुपञ्चालकेकयान् ।
शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोसलानपि ॥३॥
एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते ।
हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥ ४ ॥
सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते ।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कंस एक तो स्वयं बड़ा बली था और दूसरे, मगधनरेश जरासन्धकी उसे बहुत बड़ी सहायता प्राप्त थी। तीसरे, उसके साथी थे—प्रलम्बासुर, बकासुर, चाणूर, तृणावर्त, अघासुर, मुष्टिक, अरिष्टासुर, द्विविद, पूतना, केशी और धेनुक। तथा बाणासुर और भौमासुर आदि बहुत-से दैत्य राजा उसके सहायक थे। इनको साथ लेकर वह यदुवंशियोंको नष्ट करने लगा ॥ १-२ ॥ वे लोग भयभीत होकर कुरु, पञ्चाल, केकय, शाल्व, विदर्भ, निषध, विदेह और कोसल आदि देशोंमें जा बसे ॥ ३ ॥ कुछ लोग ऊपर-ऊपरसे उसके मनके अनुसार काम करते हुए उसकी सेवामें लगे रहे। जब कंसने एक-एक करके देवकीके छः बालक मार डाले, तब देवकीके सातवें गर्भमें भगवान्‌के अंशस्वरूप श्रीशेषजी*—जिन्हें अनन्त भी कहते हैं—पधारे। आनन्दस्वरूप शेषजीके गर्भमें आनेके कारण देवकीको स्वाभाविक ही हर्ष हुआ। परन्तु कंस शायद इसे भी मार डाले, इस भयसे उनका शोक भी बढ़ गया ॥ ४-५ ॥

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम् ।
यदूनां निजनाथानां योगमायां[3] समादिशत् ॥ ६ ॥
गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलङ्कृतम् ।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले ।

विश्वात्मा भगवान्‌ने देखा कि मुझे ही अपना स्वामी और सर्वस्व माननेवाले यदुवंशी कंसके द्वारा बहुत ही सताये जा रहे हैं। तब उन्होंने अपनी योगमायाको यह आदेश दिया—॥ ६ ॥ 'देवि! कल्याणी! तुम व्रजमें जाओ। वह प्रदेश ग्वालों और गौओंसे सुशोभित है। वहाँ नन्दबाबाके गोकुलमें वसुदेवकी पत्नी रोहिणी निवास

[1] स्कन्धे प्रथ०। [2] ह्यसुरैः। [3] निद्रां।

* शेष भगवान्‌ने विचार किया कि 'रामावतारमें मैं छोटा भाई बना, इसीसे मुझे बड़े भाईकी आज्ञा माननी पड़ी और वन जानेसे मैं उन्हें रोक नहीं सका। श्रीकृष्णावतारमें मैं बड़ा भाई बनकर भगवान्‌की अच्छी सेवा कर सकूँगा।' इसलिये वे श्रीकृष्णसे पहले ही गर्भमें आ गये।

अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि[1] ॥ ७ ॥
देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम् ।
तत् संनिकृष्य रोहिण्या उदरे संनिवेशय ॥ ८ ॥
अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे ।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥९॥
अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्[2] ।
धूपोपहारबलिभिः[3] सर्वकामवरप्रदाम् ॥१०॥
नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि ।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥११॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च ।
माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ॥१२॥
गर्भसंकर्षणात् तं वै प्राहुः संकर्षणं भुवि ।
रामेति लोकरमणाद् बलं बलवदुच्छ्रयात् ॥१३॥

करती हैं । उनकी और भी पत्नियाँ कंससे डरकर गुप्त स्थानोंमें रह रही हैं ॥ ७ ॥ इस समय मेरा वह अंश, जिसे शेष कहते हैं, देवकीके उदरमें गर्भरूपसे स्थित है । उसे वहाँसे निकालकर तुम रोहिणीके पेटमें रख दो ॥ ८ ॥ कल्याणी ! अब मैं अपने समस्त ज्ञान, बल आदि अंशोंके साथ देवकीका पुत्र बनूँगा और तुम नन्दबाबाकी पत्नी यशोदाके गर्भसे जन्म लेना ॥ ९ ॥ तुम लोगोंको मुँहमाँगे वरदान देनेमें समर्थ होओगी । मनुष्य तुम्हें अपनी समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली जानकर धूप-दीप, नैवेद्य एवं अन्य प्रकारकी सामग्रियोंसे तुम्हारी पूजा करेंगे ॥ १० ॥ पृथ्वीमें लोग तुम्हारे लिये बहुत-से स्थान बनायेंगे और दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्या, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका आदि बहुत-से नामोंसे पुकारेंगे ॥ ११-१२ ॥ देवकीके गर्भमेंसे खींचे जानेके कारण शेषजीको लोग संसारमें 'संकर्षण' कहेंगे, लोकरञ्जन करनेके कारण 'राम' कहेंगे और बलवानोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण 'बलभद्र' भी कहेंगे' ॥ १३ ॥

सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः ।
प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत् ॥१४॥
गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया ।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः ॥१५॥

जब भगवान्‌ने इस प्रकार आदेश दिया, तब योगमायाने 'जो आज्ञा'—ऐसा कहकर उनकी बात शिरोधार्य की और उनकी परिक्रमा करके वे पृथ्वीलोकमें चली आयीं तथा भगवान्‌ने जैसा कहा था, वैसे ही किया ॥ १४ ॥ जब योगमायाने देवकीका गर्भ ले जाकर रोहिणीके उदरमें रख दिया, तब पुरवासी बड़े दुःखके साथ आपसमें कहने लगे—'हाय ! बेचारी देवकीका यह गर्भ तो नष्ट ही हो गया' ॥ १५ ॥

भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः ।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥१६॥
स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमानो[4] यथा रविः ।
दुरासदोऽतिदुर्धर्षो[5] भूतानां सम्बभूव ह ॥१७॥

भगवान् भक्तोंको अभय करनेवाले हैं । वे सर्वत्र सब रूपमें हैं, उन्हें कहीं आना-जाना नहीं है । इसलिये वे वसुदेवजीके मनमें अपनी समस्त कलाओंके साथ प्रकट हो गये ॥ १६ ॥ उसमें विद्यमान रहनेपर भी अपनेको अव्यक्तसे व्यक्त कर दिया । भगवान्‌की ज्योतिको धारण करनेके कारण वसुदेवजी सूर्यके समान तेजस्वी हो गये, उन्हें देखकर लोगोंकी आँखें चौंधिया जातीं । कोई भी अपने बल, वाणी या प्रभावसे उन्हें दबा नहीं

१. याः । २. कर्मवरे० । ३. नानोप० । ४. राज० । ५. सदः सुदु० ।

ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं
समाहितं शूरसुतेन देवी ।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं
काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः ॥१८॥

सा देवकी सर्वजगन्निवास-
निवासभूता नितरां न रेजे ।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा
सरस्वती ज्ञानखले यथा सती ॥१९॥

तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां
विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम् ।
आहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां
ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी ॥२०॥

किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु मे
यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् ।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयं
यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः ॥२१॥

स एष जीवन् खलु सम्परेतो
वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन ।
देहे मृते तं मनुजाः शपन्ति
गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् ॥२२॥

इति घोरतमाद् भावात् सन्निवृत्तः स्वयं प्रभुः ।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत् ॥२३॥

सकता था ॥ १७ ॥ भगवान्‌के उस ज्योतिर्मय अंशको, जो जगत्‌का परम मङ्गल करनेवाला है, वसुदेवजीके द्वारा आधान किये जानेपर देवी देवकीने ग्रहण किया । जैसे पूर्वदिशा चन्द्रदेवको धारण करती है, वैसे ही शुद्ध सत्त्वसे सम्पन्न देवी देवकीने विशुद्ध मनसे सर्वात्मा एवं आत्मस्वरूप भगवान्‌को धारण किया ॥ १८ ॥ भगवान् सारे जगत्‌के निवासस्थान हैं । देवकी उनका भी निवासस्थान बन गयी । परन्तु घड़े आदिके भीतर बंद किये हुए दीपकका और अपनी विद्या दूसरेको न देनेवाले ज्ञानखलकी श्रेष्ठ विद्याका प्रकाश जैसे चारों ओर नहीं फैलता, वैसे ही कंसके कारागारमें बंद देवकीकी भी उतनी शोभा नहीं हुई ॥ १९ ॥ देवकीके गर्भमें भगवान् विराजमान हो गये थे । उसके मुखपर पवित्र मुसकान थी । और उसके शरीरकी कान्तिसे बंदीगृह जगमगाने लगा था । जब कंसने उसे देखा, तब वह मन-ही-मन कहने लगा—'अबकी बार मेरे प्राणोंके ग्राहक विष्णुने इसके गर्भमें अवश्य ही प्रवेश किया है; क्योंकि इसके पहले देवकी कभी ऐसी न थी ॥ २० ॥ अब इस विषयमें शीघ्र-से-शीघ्र मुझे क्या करना चाहिये ? देवकीको मारना तो ठीक न होगा; क्योंकि वीर पुरुष स्वार्थ-वश अपने पराक्रमको कलङ्कित नहीं करते । एक तो यह स्त्री है, दूसरे बहिन और तीसरे गर्भवती है । इसको मारनेसे तो तत्काल ही मेरी कीर्ति, लक्ष्मी और आयु नष्ट हो जायगी ॥ २१ ॥ वह मनुष्य तो जीवित रहनेपर भी मरा हुआ ही है, जो अत्यन्त क्रूरताका व्यवहार करता है । उसकी मृत्युके बाद लोग उसे गाली देते हैं । इतना ही नहीं, वह देहाभिमानियोंके योग्य घोर नरकमें भी अवश्य-अवश्य जाता है ॥ २२ ॥ यद्यपि कंस देवकीको मार सकता था, किन्तु स्वयं ही वह इस अत्यन्त क्रूरताके विचारसे निवृत्त हो गया* । अब भगवान्‌के प्रति दृढ़ वैरका भाव मनमें गाँठकर उनके

१. विरेजे ।

* जो कंस विवाहके मङ्गलचिह्नोंको धारण की हुई देवकीका गला काटनेके उद्योगसे न हिचका, वही आज इतना सद्विचारवान् हो गया, इसका क्या कारण है ? अवश्य ही आज वह जिस देवकीको देख रहा है, उसके अन्तरङ्गमे—गर्भमें श्रीभगवान् हैं । जिसके भीतर भगवान् हैं, उसके दर्शनसे सद्बुद्धिका उदय होना कोई आश्चर्य नहीं है ।

आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत् ॥२४॥

ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः।
देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमैडयन् ॥२५॥

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥२६॥

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल-
श्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥२७॥

जन्मकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २३ ॥ वह उठते-बैठते खाते-पीते, सोते-जागते और चलते-फिरते—सर्वदा ही श्रीकृष्णके चिन्तनमें लगा रहता। जहाँ उसकी आँख पड़ती, जहाँ कुछ खड़का होता, वहीं उसे श्रीकृष्ण दीख जाते। इस प्रकार उसे सारा जगत् ही श्रीकृष्णमय दीखने लगा ॥ २४ ॥

परीक्षित्! भगवान् शङ्कर और ब्रह्माजी कंसके कैदखानेमें आये। उनके साथ अपने अनुचरोंके सहित समस्त देवता और नारदादि ऋषि भी थे। वे लोग सुमधुर वचनोंसे सबकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ २५ ॥

'प्रभो! आप सत्यसङ्कल्प हैं। सत्य ही आपकी प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है। सृष्टिके पूर्व, प्रलयके पश्चात् और संसारकी स्थितिके समय—इन असत्य अवस्थाओंमें भी आप सत्य हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच दृश्यमान सत्योंके आप ही कारण हैं। और उनमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान भी हैं। आप इस दृश्यमान जगत्के परमार्थस्वरूप हैं। आप ही मधुर वाणी और समदर्शनके प्रवर्तक हैं। भगवन्! आप तो बस, सत्यस्वरूप ही हैं। हम सब आपकी शरणमें आये हैं ॥ २६ ॥ यह संसार क्या है, एक सनातन वृक्ष। इस वृक्षका आश्रय है—एक प्रकृति। इसके दो फल हैं—सुख और दुःख; तीन जड़ें हैं—सत्त्व, रज और तम; चार रस हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसके जाननेके पाँच प्रकार हैं—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका। इसके छः स्वभाव हैं—पैदा होना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट हो जाना। इस वृक्षकी छाल हैं सात धातुएँ—रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। आठ शाखाएँ हैं—पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहङ्कार। इसमें मुख आदि नवों द्वार खोड़र हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये दस प्राण ही इसके दस पत्ते हैं। इस संसाररूप वृक्षपर दो पक्षी

१. ह्मन् पिबन्। २. देवाः सानुचराः।

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूति-
स्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां
पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥२८॥

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥२९॥

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥३०॥

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते
निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥३१॥

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥३२॥

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।

हैं—जीव और ईश्वर ॥ २७ ॥ इस संसाररूप वृक्षकी उत्पत्तिके आधार एकमात्र आप ही हैं। आपमें ही इसका प्रलय होता है और आपके ही अनुग्रहसे इसकी रक्षा भी होती है। जिनका चित्त आपकी मायासे आवृत हो रहा है, इस सत्यको समझनेकी शक्ति खो बैठा है—वे ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मादि देवताओंको अनेक देखते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष तो सबके रूपमें केवल आपका ही दर्शन करते हैं ॥ २८ ॥ आप ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं। चराचर जगत्के कल्याणके लिये ही अनेकों रूप धारण करते हैं। आपके वे रूप विशुद्ध अप्राकृत सत्त्वमय होते हैं और संत पुरुषोंको बहुत सुख देते हैं। साथ ही दुष्टोंको उनकी दुष्टताका दण्ड भी देते हैं। उनके लिये अमङ्गलमय भी होते हैं ॥ २९ ॥ कमलके समान कोमल अनुग्रहभरे नेत्रोंवाले प्रभो! कुछ बिरले लोग ही आपके समस्त पदार्थों और प्राणियोंके आश्रयस्वरूप रूपमें पूर्ण एकाग्रतासे अपना चित्त लगा पाते हैं और आपके चरणकमलरूपी जहाजका आश्रय लेकर इस संसारसागरको बछड़ेके खुरके गढ़ेके समान अनायास ही पार कर जाते हैं। क्यों न हो, अबतकके संतोंने इसी जहाजसे संसारसागरको पार जो किया है ॥ ३० ॥ परम प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आपके भक्तजन सारे जगत्के निष्कपट प्रेमी, सच्चे हितैषी होते हैं। वे स्वयं तो इस भयङ्कर और कष्टसे पार करनेयोग्य संसारसागरको पार कर ही जाते हैं, किन्तु औरोंके कल्याणके लिये भी वे यहाँ आपके चरणकमलोंकी नौका स्थापित कर जाते हैं। वास्तवमें सत्पुरुषोंपर आपकी महान् कृपा है। उनके लिये आप अनुग्रहस्वरूप ही हैं ॥ ३१ ॥ कमलनयन! जो लोग आपके चरणकमलोंकी शरण नहीं लेते तथा आपके प्रति भक्तिभावसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको झूठ-मूठ मुक्त मानते हैं। वास्तवमें तो वे बद्ध ही हैं। वे यदि बड़ी तपस्या और साधनाका कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं ॥ ३२ ॥ परन्तु भगवन्! जो आपके अपने निज जन हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रक्खी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति अपने साधन-

त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥३३॥
सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ
शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि-
स्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥३४॥
सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥३५॥
न नामरूपे गुणजन्मकर्मभि-
र्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो
देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥३६॥
शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥३७॥
दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो
भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः ।

मार्गसे गिरते नहीं । प्रभो ! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवालोंकी सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकते; क्योंकि उनके रक्षक आप जो हैं ॥ ३३ ॥ आप संसारकी स्थितिके लिये समस्त देहधारियोंको परम कल्याण प्रदान करनेवाला विशुद्ध सत्त्वमय, सच्चिदानन्दमय परम दिव्य मङ्गल-विग्रह प्रकट करते हैं । उस रूपके प्रकट होनेसे ही आपके भक्त वेद, कर्मकाण्ड, अष्टाङ्गयोग, तपस्या और समाधिके द्वारा आपकी आराधना करते हैं । बिना किसी आश्रयके वे किसकी आराधना करेंगे ? ॥ ३४ ॥ प्रभो ! आप सबके विधाता हैं । यदि आपका यह विशुद्ध सत्त्वमय निज स्वरूप न हो, तो अज्ञान और उसके द्वारा होनेवाले भेदभावको नष्ट करनेवाला अपरोक्ष ज्ञान ही किसीको न हो । जगत्में दीखनेवाले तीनों गुण आपके हैं और आपके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, यह सत्य है । परन्तु इन गुणोंकी प्रकाशक वृत्तियोंसे आपके स्वरूपका केवल अनुमान ही होता है, वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता । (आपके स्वरूपका साक्षात्कार तो आपके इस विशुद्ध सत्त्वमय स्वरूपकी सेवा करनेपर आपकी कृपासे ही होता है) ॥ ३५ ॥ भगवन् ! मन और वेद-वाणीके द्वारा केवल आपके स्वरूपका अनुमानमात्र होता है । क्योंकि आप उनके द्वारा दृश्य नहीं; उनके साक्षी हैं । इसलिये आपके गुण, जन्म और कर्म आदिके द्वारा आपके नाम और रूपका निरूपण नहीं किया जा सकता । फिर भी प्रभो ! आपके भक्तजन उपासना आदि क्रियायोगोंके द्वारा आपका साक्षात्कार तो करते ही हैं ॥ ३६ ॥ जो पुरुष आपके मङ्गलमय नामों और रूपोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता है और आपके चरणकमलोंकी सेवामें ही अपना चित्त लगाये रहता है—उसे फिर जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्रमें नहीं आना पड़ता ॥ ३७ ॥ सम्पूर्ण दुःखोंके हरनेवाले भगवन् ! आप सर्वेश्वर हैं । यह पृथ्वी तो आपका चरणकमल ही है । आपके अवतारसे इसका भार दूर हो गया । धन्य है ! प्रभो ! हमारे लिये यह बड़े सौभाग्य-

१. गुणकर्मजन्मभिर्नि० । २. वः । ३. युष्मच्चर० । ४. चित्तो ।

दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकैः सुशोभनै-
र्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ॥३८॥

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं
विना विनोदं बत तर्कयामहे ।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥३९॥

मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंस-
राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥४०॥

दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमा-
नंशेन साक्षाद् भगवान् भवाय नः ।
मा भूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षो-
र्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥४१॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा ।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम् ॥४२॥

की बात है कि हमलोग आपके सुन्दर-सुन्दर चिह्नोंसे युक्त चरणकमलोंके द्वारा विभूषित पृथ्वीको देखेंगे और स्वर्गलोकको भी आपकी कृपासे कृतार्थ देखेंगे ॥ ३८ ॥ प्रभो ! आप अजन्मा हैं । यदि आपके जन्मके कारणके सम्बन्धमें हम कोई तर्कना करें, तो यही कह सकते हैं कि यह आपका एक लीला-विनोद है । ऐसा कहनेका कारण यह है कि आप तो द्वैतके लेशसे रहित सर्वाधिष्ठानस्वरूप हैं और इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय अज्ञानके द्वारा आपमें आरोपित हैं ॥ ३९ ॥ प्रभो ! आपने जैसे अनेकों बार मत्स्य, हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राम, परशुराम और वामन अवतार धारण करके हमलोगोंकी और तीनों लोकोंकी रक्षा की है—वैसे ही आप इस बार भी पृथ्वीका भार हरण कीजिये । यदुनन्दन ! हम आपके चरणोंमें वन्दना करते हैं' ॥ ४० ॥ [देवकीजीको सम्बोधित करके] 'माताजी ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपकी कोखमें हम सबका कल्याण करनेके लिये स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम अपने ज्ञान, बल आदि अंशोंके साथ पधारे हैं । अब आप कंससे तनिक भी मत डरिये । अब तो वह कुछ ही दिनोंका मेहमान है । आपका पुत्र यदुवंशकी रक्षा करेगा' ॥ ४१ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! ब्रह्मादि देवताओंने इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति की । उनका रूप 'यह है' इस प्रकार निश्चितरूपसे तो कहा नहीं जा सकता, सब अपनी-अपनी मतिके अनुसार उसका निरूपण करते हैं । इसके बाद ब्रह्मा और शङ्करजीको आगे करके देवगण स्वर्गमें चले गये ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
गर्भगतविष्णोर्ब्रह्मादिकृतस्तुतिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य

श्रीशुक उवाच

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब समस्त शुभ गुणोंसे युक्त बहुत सुहावना समय आया । रोहिणी

१. तथा० । २. दिष्ट्या च ते । ३. न्धे द्विती० ।

यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम् ॥ १ ॥	नक्षत्र था। आकाशके सभी नक्षत्र, ग्रह और तारे शान्त—
दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।	सौम्य हो रहे थे* ॥ १ ॥ दिशाएँ स्वच्छ—प्रसन्न थीं। निर्मल आकाशमें तारे जगमगा रहे थे। पृथ्वीके बड़े-बड़े नगर, छोटे-
मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा ॥ २ ॥	छोटे गाँव, अहीरोंकी बस्तियाँ और हीरे आदिकी खानें मङ्गल-

* जैसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर उसमें भगवान्का आविर्भाव होता है, श्रीकृष्णावतारके अवसरपर भी ठीक उसी प्रकारका समष्टिकी शुद्धिका वर्णन किया गया है। इसमें काल, दिशा, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन और आत्मा—इन नौ द्रव्योंका अलग-अलग नामोल्लेख करके साधकके लिये एक अत्यन्त उपयोगी साधन-पद्धतिकी ओर संकेत किया गया है।

काल—

भगवान् कालसे परे हैं। शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा ऐसा निरूपण सुनकर काल मानो क्रुद्ध हो गया था और रुद्ररूप धारण करके सबको निगल रहा था। आज जब उसे मालूम हुआ कि स्वयं परिपूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण मेरे अंदर अवतीर्ण हो रहे हैं, तब वह आनन्दसे भर गया और समस्त सद्गुणोंको धारणकर तथा सुहावना बनकर प्रकट हो गया।

दिशा—

१. प्राचीन शास्त्रोंमें दिशाओंको देवी माना गया है। उनके एक-एक स्वामी भी होते हैं—जैसे प्राचीके इन्द्र, प्रतीचीके वरुण आदि। कंसके राज्य-कालमें ये देवता पराधीन—कैदी हो गये थे। अब भगवान् श्रीकृष्णके अवतारसे देवताओंकी गणनाके अनुसार ग्यारह-बारह दिनोंमें ही उन्हें छुटकारा मिल जायगा, इसलिये अपने पतियोंके सङ्गम-सौभाग्यका अनुसंधान करके देवियाँ प्रसन्न हो गयीं। जो देव एवं दिशाके परिच्छेदसे रहित हैं, वे ही प्रभु भारत देशके व्रज-प्रदेशमें आ रहे हैं, यह अपूर्व आनन्दोत्सव भी दिशाओंकी प्रसन्नताका हेतु है।

२. संस्कृत-साहित्यमें दिशाओंका एक नाम 'आशा' भी है। दिशाओंकी प्रसन्नताका एक अर्थ यह भी है कि अब सत्पुरुषोंकी आशा-अभिलाषा पूर्ण होगी।

३. विराट् पुरुषके अवयव-संस्थानका वर्णन करते समय दिशाओंको उनका कान बताया गया है। श्रीकृष्णके अवतारके अवसरपर दिशाएँ मानो यह सोचकर प्रसन्न हो गयीं कि प्रभु असुर-असाधुओंके उपद्रवसे दुखी प्राणियोंकी प्रार्थना सुननेके लिये सतत सावधान हैं।

पृथ्वी—

१. पुराणोंमें भगवान्की दो पत्नियोंका उल्लेख मिलता है—एक श्रीदेवी और दूसरी भूदेवी। ये दोनों चल-सम्पत्ति और अचल-सम्पत्तिकी स्वामिनी हैं। इनके पति हैं—भगवान्, जीव नहीं। जिस समय श्रीदेवीके निवासस्थान वैकुण्ठसे उतरकर भगवान् भूदेवीके निवासस्थान पृथ्वीपर आने लगे, तब जैसे परदेशसे पतिके आगमनका समाचार सुनकर पत्नी सज-धजकर अगवानी करनेके लिये निकलती है, वैसे पृथ्वीका मङ्गलमयी होना, मङ्गलचिह्नोंको धारण करना स्वाभाविक ही है।

२. भगवान्के श्रीचरण मेरे वक्षःस्थलपर पड़ेंगे, अपने सौभाग्यका ऐसा अनुसन्धान करके पृथ्वी आनन्दित हो गयी।

३. वामन ब्रह्मचारी थे। परशुरामजीने ब्राह्मणोंको दान दे दिया। श्रीरामचन्द्रने मेरी पुत्री जानकीसे विवाह कर लिया। इसलिये उन अवतारोंमें मैं भगवान्से जो सुख नहीं प्राप्त कर सकी, वही श्रीकृष्णसे प्राप्त करूँगी। यह सोचकर पृथ्वी मङ्गलमयी हो गयी।

४. अपने पुत्र मङ्गलको गोदमें लेकर पतिदेवका स्वागत करने चली।

जल (नदियाँ)—

१. नदियोंने विचार किया कि रामावतारमें सेतु-बन्धके बहाने हमारे पिता पर्वतोंको हमारी ससुराल समुद्रमें पहुँचाकर इन्होंने हमें मायकेका सुख दिया था। अब इनके शुभागमनके अवसरपर हमें भी प्रसन्न होकर इनका स्वागत करना चाहिये।

नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः ।
द्विजालिकुलसंनादस्तवका वनराजयः ॥ ३ ॥
ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत ॥ ४ ॥

मय हो रही थीं ॥ २ ॥ नदियोंका जल निर्मल हो गया था । रात्रिके समय भी सरोवरोंमें कमल खिल रहे थे । वनमें वृक्षोंकी पंक्तियाँ रंग-बिरंगे पुष्पोंके गुच्छोंसे लद गयी थीं । कहीं पक्षी चहक रहे थे, तो कहीं भौंरे गुनगुना रहे थे ॥ ३ ॥ उस समय परम पवित्र और शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु अपने स्पर्शसे लोगोंको सुखदान करती हुई बह रही थी । ब्राह्मणोंके अग्निहोत्रकी कभी न बुझनेवाली अग्नियाँ जो कंसके अत्याचारसे बुझ गयी थीं, वे इस समय अपने-आप जल उठीं ॥ ४ ॥

---

२. नदियाँ तब गङ्गाजीसे कहती थीं—'तुमने हमारे पिता पर्वत देखे हैं, अपने पिता भगवान् विष्णुके दर्शन कराओ ।' गङ्गाजीने सुनी-अनसुनी कर दी । अब वे इसलिये प्रसन्न हो गयीं कि हम स्वयं देख लेंगी ।

३. यद्यपि भगवान् समुद्रमें नित्य निवास करते हैं, फिर भी ससुराल होनेके कारण वे उन्हें वहाँ देख नहीं पातीं । अब उन्हें पूर्णरूपसे देख सकेंगी, इसलिये वे निर्मल हो गयीं ।

४. निर्मल हृदयको भगवान् मिलते हैं, इसलिये वे निर्मल हो गयीं ।

५. नदियोंको जो सौभाग्य किसी भी अवतारमें नहीं मिला, वह कृष्णावतारमें मिला । श्रीकृष्णकी चतुर्थ पटरानी हैं—श्रीकालिन्दीजी । अवतार लेते ही यमुनाजीके तटपर जाना, ग्वालबाल एवं गोपियोंके साथ जल-क्रीडा करना, उन्हें अपनी पटरानी बनाना—इन सब बातोंको सोचकर नदियाँ आनन्दसे भर गयीं ।

ह्रद—

कालिय-दमन करके कालिय-ह्रदका शोधन, ग्वालबालों और अक्रूरको ब्रह्म-ह्रदमें ही अपने स्वरूपके दर्शन आदि स्व-सम्बन्धी लीलाओंका अनुसन्धान करके ह्रदोंने कमलके बहाने अपने प्रफुल्लित हृदयको ही श्रीकृष्णके प्रति अर्पित कर दिया । उन्होंने कहा कि 'प्रभो ! भले ही हमें लोग जड समझा करें, आप हमें कभी स्वीकार करेंगे, इस भावी सौभाग्यके अनुसन्धानसे हम सहृदय हो रहे हैं ।'

अग्नि—

१. इस अवतारमें श्रीकृष्णने व्योमासुर, तृणावर्त, कालियके दमनसे आकाश, वायु और जलकी शुद्धि की है । मृद्-भक्षणसे पृथ्वीकी और अग्निपानसे अग्निकी । भगवान् श्रीकृष्णने दो बार अग्निको अपने मुँहमें धारण किया । इस भावी सुखका अनुसन्धान करके ही अग्निदेव शान्त होकर प्रज्वलित होने लगे ।

२. देवताओंके लिये यज्ञ-भाग आदि बंद हो जानेके कारण अग्निदेव भी भूखे ही थे । अब श्रीकृष्णावतारसे अपने भोजन मिलनेकी आशासे अग्निदेव प्रसन्न होकर प्रज्वलित हो उठे ।

वायु—

१. उदारशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके जन्मके अवसरपर वायुने सुख लुटाना प्रारम्भ किया; क्योंकि समान शीलसे ही मैत्री होती है । जैसे स्वामीके सामने सेवक, प्रजा अपने गुण प्रकट करके उसे प्रसन्न करती है, वैसे ही वायु भगवान्के सामने अपने गुण प्रकट करने लगे ।

२. आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दपर जब श्रमजनित स्वेदबिन्दु आ जायँगे, तब मैं ही शीतल-मन्द-सुगन्ध गतिसे उसे सुखाऊँगा—यह सोचकर पहलेसे ही वायु सेवाका अभ्यास करने लगा ।

३. यदि मनुष्यको प्रभु-चरणारविन्दके दर्शनकी लालसा हो तो उसे विश्वकी सेवा ही करनी चाहिये, मानो यह उपदेश करता हुआ वायु सबकी सेवा करने लगा ।

४. रामावतारमें मेरे पुत्र हनुमान्ने भगवान्की सेवा की, इससे मैं कृतार्थ हो हूँ; परन्तु इस अवतारमें, मुझे स्वयं ही सेवा कर लेनी चाहिये । इस विचारसे वायु लोगोंको सुख पहुँचाने लगा ।

५. सम्पूर्ण विश्वके प्राण वायुने सम्पूर्ण विश्वकी ओरसे भगवान्के स्वागत-समारोहमें प्रतिनिधित्व किया ।

मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् ।
जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ॥ ५ ॥

संत पुरुष पहलेसे ही चाहते थे कि असुरोंकी बढ़ती न होने पाये । अब उनका मन सहसा प्रसन्नतासे भर गया । जिस समय भगवान्‌के आविर्भावका अवसर आया, स्वर्गमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं ॥ ५ ॥

जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः ।
विद्याधर्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं तदा ॥ ६ ॥

किन्नर और गन्धर्व मधुर स्वरमें गाने लगे तथा सिद्ध और चारण भगवान्‌के मङ्गलमय गुणोंकी स्तुति करने लगे । विद्याधरियाँ अप्सराओंके साथ नाचने लगीं ॥ ६ ॥

मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः ।

बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि आनन्दसे भरकर पुष्पोंकी

आकाश—

१. आकाशकी एकता, आधारता, विशालता और समताकी उपमा तो सदासे ही भगवान्‌के साथ दी जाती रही, परन्तु अब उसकी झूठी नीलिमा भी भगवान्‌के अङ्गसे उपमा देनेसे चरितार्थ हो जायगी, इसलिये आकाश-ने मानो आनन्दोत्सव मनानेके लिये नीले चँदोवेमें हीरोंके समान तारोंकी झालरें लटका ली हैं ।

२. स्वामीके शुभागमनके अवसरपर जैसे सेवक स्वच्छ वेष-भूषा धारण करते हैं और शान्त हो जाते हैं, इसी प्रकार आकाशके सब नक्षत्र, ग्रह, तारे शान्त एवं निर्मल हो गये । वक्रता, अतिचार और युद्ध छोड़कर श्रीकृष्णका स्वागत करने लगे ।

नक्षत्र—

मैं देवकीके गर्भसे जन्म ले रहा हूँ तो रोहिणीके संतोषके लिये कम-से-कम रोहिणी नक्षत्रमें जन्म तो लेना ही चाहिये । अथवा चन्द्रवंशमें जन्म ले रहा हूँ, तो चन्द्रमाकी सबसे प्यारी पत्नी रोहिणीमें ही जन्म लेना उचित है । यह सोचकर भगवान्‌ने रोहिणी नक्षत्रमें जन्म लिया ।

मन—

१. योगी मनका निरोध करते हैं, मुमुक्षु निर्विषय करते हैं और जिज्ञासु बाध करते हैं । तत्त्वज्ञोंने तो मनका सत्यानाश ही कर दिया । भगवान्‌के अवतारका समय जानकर उसने सोचा कि अब तो मैं अपनी पत्नी—इन्द्रियाँ और विषय—बाल-बच्चे सबके साथ ही भगवान्‌के साथ खेलूँगा । निरोध और बाधसे पिण्ड छूटा । इसीसे मन प्रसन्न हो गया ।

२. निर्मलको ही भगवान् मिलते हैं, इसलिये मन निर्मल हो गया ।

३. वैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका परित्याग कर देनेपर भगवान् मिलते हैं । अब तो स्वयं भगवान् ही वह सब बनकर आ रहे हैं । लौकिक आनन्द भी प्रभुमें मिलेगा । यह सोचकर मन प्रसन्न हो गया ।

४. वसुदेवके मनमें निवास करके ये ही भगवान् प्रकट हो रहे हैं । वह हमारी ही जातिका है, यह सोचकर मन प्रसन्न हो गया ।

५. सुमन (देवता और शुद्ध मन) को सुख देनेके लिये ही भगवान्‌का अवतार हो रहा है । यह जानकर सुमन प्रसन्न हो गये ।

६. संतोंमें, स्वर्गमें और उपवनमें सुमन (शुद्ध मन, देवता और पुष्प) आनन्दित हो गये । क्यों न हो, माधव (विष्णु और वसन्त) का आगमन जो हो रहा है ।

भाद्रमास—

भद्र अर्थात् कल्याणका देनेवाला है । कृष्णपक्ष स्वयं कृष्णसे सम्बद्ध है । अष्टमी तिथि पक्षके बीचोबीच सन्धि-स्थलपर पड़ती है । रात्रि योगीजनोंको प्रिय है । निशीथ यतियोंका सन्ध्याकाल और रात्रिके दो भागोंकी सन्धि है । उस समय श्रीकृष्णके आविर्भावका अर्थ है—अज्ञानके घोर अन्धकारमें दिव्य प्रकाश । निशानाथ चन्द्रके वंशमें जन्म लेना है, तो निशाके मध्यभागमें अवतीर्ण होना उचित भी है । अष्टमीके चन्द्रोदयका समय भी वही है । यदि वसुदेवजी मेरा जातकर्म नहीं कर सकते तो हमारे वंशके आदिपुरुष चन्द्रमा समुद्रस्नान करके अपने कर-किरणोंसे अमृतका वितरण करें ।

मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् ॥ ७ ॥
निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने ।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥ ८ ॥
तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम् ।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥ ९ ॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डल-
त्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभि-
र्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥ १० ॥
स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं
सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा ।

वर्षा करने लगे* । जलसे भरे हुए बादल समुद्रके पास जाकर धीरे-धीरे गर्जना करने लगे† ॥ ७ ॥ जन्म-मृत्युके चक्रसे छुड़ानेवाले जनार्दनके अवतारका समय था निशीथ । चारों ओर अन्धकारका साम्राज्य था । उसी समय सबके हृदयमें विराजमान भगवान् विष्णु देवरूपिणी देवकीके गर्भसे प्रकट हुए, जैसे पूर्व दिशामें सोलहों कलाओंसे पूर्ण चन्द्रमाका उदय हो गया हो ॥ ८ ॥

वसुदेवजीने देखा, उनके सामने एक अद्भुत बालक है । उसके नेत्र कमलके समान कोमल और विशाल हैं । चार सुन्दर हाथोंमें शङ्ख, गदा, चक्र और कमल लिये हुए है । वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न—अत्यन्त सुन्दर सुवर्णमयी रेखा है । गलेमें कौस्तुभमणि झिलमिला रही है । वर्षाकालीन मेघके समान परम सुन्दर श्यामल शरीर-पर मनोहर पीताम्बर फहरा रहा है । बहुमूल्य वैदूर्यमणि-के किरीट और कुण्डलकी कान्तिसे सुन्दर-सुन्दर घुँघराले बाल सूर्यकी किरणोंके समान चमक रहे हैं । कमरमें चमचमाती करधनीकी लड़ियाँ लटक रही हैं । बाँहोंमें बाजूबंद और कलाइयोंमें कङ्कण शोभायमान हो रहे हैं । इन सब आभूषणोंसे सुशोभित बालकके अङ्ग-अङ्गसे अनोखी छटा छिटक रही है ॥ ९-१० ॥ जब वसुदेवजीने देखा कि मेरे पुत्रके रूपमें तो स्वयं भगवान् ही आये हैं, तब पहले तो उन्हें असीम आश्चर्य हुआ; फिर आनन्दसे उनकी आँखें खिल उठीं । उनका रोम-रोम परमानन्दमें

१. गुणाश्रयः । २. दार्युदायुधम् ।

* ऋषि, मुनि और देवता जब अपने सुमनकी वर्षा करनेके लिये मथुराकी ओर दौड़े, तब उनका आनन्द भी पीछे छूट गया और उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा । उन्होंने अपने निरोध और बाधसम्बन्धी सारे विचार त्याग कर मनको श्रीकृष्णकी ओर जानेके लिये मुक्त कर दिया, उनपर न्यौछावर कर दिया ।

† १. मेघ समुद्रके पास जाकर मन्द-मन्द गर्जना करते हुए कहते—जलनिधे ! यह तुम्हारे उपदेश (पास आने) का फल है कि हमारे पास जल-ही-जल हो गया । अब ऐसा कुछ उपदेश करो कि जैसे तुम्हारे भीतर भगवान् रहते हैं, वैसे हमारे भीतर भी रहें ।

२. बादल समुद्रके पास जाते और कहते कि समुद्र ! तुम्हारे हृदयमें भगवान् रहते हैं, हमें भी उनका दर्शन—प्यार प्राप्त करवा दो । समुद्र उन्हें थोड़ा-सा जल देकर कह देता—अपनी उत्ताल तरङ्गोंसे ढकेल देता—जाओ अभी विश्वकी सेवा करके अन्तःकरण शुद्ध करो, तब भगवान्के दर्शन होंगे । स्वयं भगवान् मेघश्याम बनकर समुद्रसे बाहर व्रजमें आ रहे हैं । हम धूपमें उनपर छाया करेंगे, अपनी फुइयाँ बरसाकर जीवन न्यौछावर करेंगे और उनकी बाँसुरीके स्वरपर ताल देंगे । अपने इस सौभाग्यका अनुसन्धान करके बादल समुद्रके पास पहुँचे और मन्द-मन्द गर्जना करने लगे । मन्द-मन्द इसलिये कि यह ध्वनि प्यारे श्रीकृष्णके कानोंतक न पहुँच जाय ।



अद्भुत बालक

कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशन्
मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम्॥११॥
अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं
परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः।
स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं
विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित्॥१२॥

वसुदेव उवाच[1]

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥१३॥
स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम्।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे॥१४॥
यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि[2]॥१५॥
सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव।
प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः॥१६॥
एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणै-
र्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते
सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः॥१७॥

मग्न हो गया। श्रीकृष्णका जन्मोत्सव मनानेकी उतावलीमें उन्होंने उसी समय ब्राह्मणोंके लिये दस हजार गायोंका सङ्कल्प कर दिया॥११॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अङ्गकान्तिसे सूतिकागृहको जगमग कर रहे थे। जब वसुदेवजीको यह निश्चय हो गया कि ये तो परम पुरुष परमात्मा ही हैं, तब भगवान्‌का प्रभाव जान लेनेसे उनका सारा भय जाता रहा। अपनी बुद्धि स्थिर करके उन्होंने भगवान्‌के चरणोंमें अपना सिर झुका दिया और फिर हाथ जोड़कर वे उनकी स्तुति करने लगे—॥१२॥

वसुदेवजीने कहा—मैं समझ गया कि आप प्रकृतिसे अतीत साक्षात् पुरुषोत्तम हैं। आपका स्वरूप है केवल अनुभव और केवल आनन्द। आप समस्त बुद्धियोंके एकमात्र साक्षी हैं॥१३॥ आप ही सर्गके आदिमें अपनी प्रकृतिसे इस त्रिगुणमय जगत्‌की सृष्टि करते हैं। फिर उसमें प्रविष्ट न होनेपर भी आप प्रविष्टके समान जान पड़ते हैं॥१४॥ जैसे जबतक महत्तत्त्व आदि कारण तत्त्व पृथक्-पृथक् रहते हैं, तबतक उनकी शक्ति भी पृथक्-पृथक् होती है; जब वे इन्द्रियादि सोलह विकारोंके साथ मिलते हैं, तभी इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं और इसे उत्पन्न करके इसीमें अनुप्रविष्ट-से जान पड़ते हैं; परन्तु सच्ची बात तो यह है कि वे किसी भी पदार्थमें प्रवेश नहीं करते। ऐसा होनेका कारण यह है कि उनसे बनी हुई जो भी वस्तु है, उसमें वे पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं॥१५-१६॥ ठीक वैसे ही बुद्धिके द्वारा केवल गुणोंके लक्षणोंका ही अनुमान किया जाता है और इन्द्रियोंके द्वारा केवल गुणमय विषयोंका ही ग्रहण होता है। यद्यपि आप उनमें रहते हैं, फिर भी उन गुणोंके ग्रहणसे आपका ग्रहण नहीं होता। इसका कारण यह है कि आप सब कुछ हैं; सबके अन्तर्यामी हैं और परमार्थ सत्य, आत्मस्वरूप हैं। गुणोंका आवरण आपको ढक नहीं सकता। इसलिये आपमें न बाहर है न भीतर। फिर आप किसमें प्रवेश करेंगे? (इसलिये प्रवेश न करनेपर भी आप प्रवेश किये हुएके समान

१. प्राचीन प्रतिमें 'वसुदेव उवाच' यह पाठ नहीं है। २. च।

य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति
व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः ।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं
सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान् ॥१८॥

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥१९॥

स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया
बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः ।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं
कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये ॥२०॥

त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु-
र्गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर ।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपै-
र्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः ॥२१॥

अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नौ गृहे
श्रुत्वाग्रजांस्ते न्यवधीत्[1] सुरेश्वर ।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं
श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥२२॥

दीखते हैं) ॥ १७ ॥ जो अपने इन दृश्य गुणोंको अपनेसे पृथक् मानकर सत्य समझता है, वह अज्ञानी है। क्योंकि विचार करनेपर ये देह-गेह आदि पदार्थ वाग्विलास-के सिवा और कुछ नहीं सिद्ध होते। विचारके द्वारा जिस वस्तुका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, बल्कि जो बाधित हो जाती है, उसको सत्य माननेवाला पुरुष बुद्धिमान् कैसे हो सकता है ? ॥ १८ ॥ प्रभो ! कहते हैं कि आप स्वयं समस्त क्रियाओं, गुणों और विकारोंसे रहित हैं। फिर भी इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय आपसे ही होते हैं। यह बात परम ऐश्वर्यशाली परब्रह्म परमात्मा आपके लिये असंगत नहीं है। क्योंकि तीनों गुणोंके आश्रय आप ही हैं, इसलिये उन गुणोंके कार्य आदिका आपमें ही आरोप किया जाता है ॥ १९ ॥ आप ही तीनों लोकोंकी रक्षा करनेके लिये अपनी मायासे सत्त्वमय शुक्लवर्ण (पोषणकारी विष्णुरूप) धारण करते हैं, उत्पत्तिके लिये रजःप्रधान रक्तवर्ण (सृजनकारी ब्रह्मारूप) और प्रलयके समय तमोगुणप्रधान कृष्णवर्ण (संहारकारी रुद्ररूप) स्वीकार करते हैं ॥ २० ॥ प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् और सबके स्वामी हैं। इस संसारकी रक्षाके लिये ही आपने मेरे घर अवतार लिया है। आजकल कोटि-कोटि असुर सेनापतियोंने राजाका नाम धारण कर रक्खा है और अपने अधीन बड़ी-बड़ी सेनाएँ कर रक्खी हैं। आप उन सबका संहार करेंगे ॥ २१ ॥ देवताओंके भी आराध्यदेव प्रभो ! यह कंस बड़ा दुष्ट है। इसे जब मालूम हुआ कि आपका अवतार हमारे घर होनेवाला है, तब उसने आपके भयसे आपके बड़े भाइयों-को मार डाला। अभी उसके दूत आपके अवतारका समाचार उसे सुनायेंगे और वह अभी-अभी हाथमें शस्त्र लेकर दौड़ा आयेगा ॥ २२ ॥

श्रीशुक उवाच

अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम् ।
देवकी तमुपाधावत् कंसाद् भीता शुचिस्मिता ॥२३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इधर देवकीने देखा कि मेरे पुत्रमें तो पुरुषोत्तम भगवान्के सभी लक्षण मौजूद हैं। पहले तो उन्हें कंससे कुछ भय मालूम हुआ, परन्तु फिर वे बड़े पवित्र भावसे मुसकराती हुई स्तुति करने लगीं ॥ २३ ॥

१. हतवान् ।

देवक्युवाच

रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ॥२४॥
नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते
भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः ॥२५॥
योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो
चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां-
स्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥२६॥
मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
लोकान् सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥२७॥
स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्न-
स्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि ।
रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं
मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः ॥२८॥
जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन ।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥२९॥
उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥३०॥

माता देवकीने कहा—प्रभो ! वेदोंने आपके जिस रूपको अव्यक्त और सबका कारण बतलाया है, जो ब्रह्म, ज्योतिःस्वरूप, समस्त गुणोंसे रहित और विकारहीन है, जिसे विशेषणरहित—अनिर्वचनीय, निष्क्रिय एवं केवल विशुद्ध सत्ताके रूपमें कहा गया है—वही बुद्धि आदिके प्रकाशक विष्णु आप स्वयं हैं ॥ २४ ॥ जिस समय ब्रह्माकी पूरी आयु—दो परार्ध समाप्त हो जाते हैं, कालशक्तिके प्रभावसे सारे लोक नष्ट हो जाते हैं, पञ्च महाभूत अहङ्कारमें, अहङ्कार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है—उस समय एकमात्र आप ही शेष रह जाते हैं। इसीसे आपका एक नाम 'शेष' भी है ॥ २५ ॥ प्रकृतिके एकमात्र सहायक प्रभो ! निमेषसे लेकर वर्षपर्यन्त अनेक विभागोंमें विभक्त जो काल है, जिसकी चेष्टासे यह सम्पूर्ण विश्व सचेष्ट हो रहा है और जिसकी कोई सीमा नहीं है, वह आपकी लीलामात्र है। आप सर्वशक्तिमान् और परम कल्याणके आश्रय हैं। मैं आपकी शरण लेती हूँ ॥ २६ ॥ प्रभो ! यह जीव मृत्युग्रस्त हो रहा है। यह मृत्युरूप कराल व्यालसे भयभीत होकर सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरोंमें भटकता रहा है; परन्तु इसे कभी कहीं भी ऐसा स्थान न मिल सका, जहाँ यह निर्भय होकर रहे। आज बड़े भाग्यसे इसे आपके चरणारविन्दोंकी शरण मिल गयी। अतः अब यह स्वस्थ होकर सुखकी नींद सो रहा है। औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु भी इससे भयभीत होकर भाग गयी है ॥ २७ ॥ प्रभो ! आप हैं भक्तभयहारी। और हम लोग इस दुष्ट कंससे बहुत ही भयभीत हैं। अतः आप हमारी रक्षा कीजिये। आपका यह चतुर्भुज दिव्यरूप ध्यानकी वस्तु है। इसे केवल मांस-मज्जामय शरीरपर ही दृष्टि रखनेवाले देहाभिमानी पुरुषोंके सामने प्रकट मत कीजिये ॥ २८ ॥ मधुसूदन ! इस पापी कंसको यह बात मालूम न हो कि आपका जन्म मेरे गर्भसे हुआ है। मेरा धैर्य टूट रहा है। आपके लिये मैं कंससे बहुत डर रही हूँ ॥ २९ ॥ विश्वात्मन् ! आपका यह रूप अलौकिक है। आप शङ्ख, चक्र, गदा और कमलकी शोभासे युक्त अपना यह चतुर्भुजरूप छिपा लीजिये ॥ ३० ॥

१. गरी० ।

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुषः परो भवान् ।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ॥३१॥

प्रलयके समय आप इस सम्पूर्ण विश्वको अपने शरीरमें वैसे ही स्वाभाविक रूपसे धारण करते हैं, जैसे कोई मनुष्य अपने शरीरमें रहनेवाले छिद्ररूप आकाशको। वही परम पुरुष परमात्मा आप मेरे गर्भवासी हुए, यह आपकी अद्भुत मनुष्य-लीला नहीं तो और क्या है ? ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति ।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥३२॥
युवां वै ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः ॥३३॥
वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणाननु ।
सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ ॥३४॥
शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा ।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः ॥३५॥
एवं वां तप्यतोस्तीव्रं[2] तपः परमदुष्करम् ।
दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः ॥३६॥
तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषानघे ।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः ॥३७॥
प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया ।
व्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः ॥३८॥
अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती ।
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया ॥३९॥
गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम् ।
ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ ॥४०॥
अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम् ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—देवि ! स्वायम्भुव मन्वन्तरमें जब तुम्हारा पहला जन्म हुआ था, उस समय तुम्हारा नाम था पृश्नि और ये वसुदेव सुतपा नामके प्रजापति थे। तुम दोनोंके हृदय बड़े ही शुद्ध थे ॥ ३२ ॥ जब ब्रह्माजीने तुम दोनोंको सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी, तब तुमलोगोंने इन्द्रियोंका दमन करके उत्कृष्ट तपस्या की ॥ ३३ ॥ तुम दोनोंने वर्षा, वायु, घाम, शीत, उष्ण आदि कालके विभिन्न गुणोंका सहन किया और प्राणायामके द्वारा अपने मनके मल धो डाले ॥ ३३ ॥ तुम दोनों कभी सूखे पत्ते खा लेते और कभी हवा पीकर ही रह जाते। तुम्हारा चित्त बड़ा शान्त था। इस प्रकार तुमलोगोंने मुझसे अभीष्ट वस्तु प्राप्त करनेकी इच्छासे मेरी आराधना की ॥ ३५ ॥ मुझमें चित्त लगाकर ऐसा परम दुष्कर और घोर तप करते-करते देवताओंके बारह हजार वर्ष बीत गये ॥ ३६ ॥ पुण्यमयी देवि ! उस समय मैं तुम दोनोंपर प्रसन्न हुआ। क्योंकि तुम दोनोंने तपस्या, श्रद्धा और प्रेममयी भक्तिसे अपने हृदयमें नित्य-निरन्तर मेरी भावना की थी। उस समय तुम दोनोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये वर देनेवालोंका राजा मैं इसी रूपसे तुम्हारे सामने प्रकट हुआ। जब मैंने कहा कि 'तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो,' तब तुम दोनोंने मेरे-जैसा पुत्र माँगा ॥ ३७-३८ ॥ उस समयतक विषय-भोगोंसे तुम लोगोंका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ था। तुम्हारे कोई सन्तान भी न थी। इसलिये मेरी मायासे मोहित होकर तुम दोनोंने मुझसे मोक्ष नहीं माँगा ॥ ३९ ॥ तुम्हें मेरे-जैसा पुत्र होनेका वर प्राप्त हो गया और मैं वहाँसे चला गया। अब सफलमनोरथ होकर तुमलोग विषयोंका भोग करने लगे ॥ ४० ॥ मैंने देखा कि संसारमें शील-स्वभाव, उदारता तथा अन्य गुणोंमें मेरे-जैसा दूसरा कोई नहीं है

१. वृद्धये० । २. तोर्भद्रे ।

अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः ॥४१॥
तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात् ।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥४२॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम् ।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥४३॥
एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते ॥४४॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥४५॥

इसलिये मैं ही तुम दोनोंका पुत्र हुआ और उस समय मैं 'पृश्निगर्भ'के नामसे विख्यात हुआ ॥ ४१ ॥ फिर दूसरे जन्ममें तुम हुईं अदिति और वसुदेव हुए कश्यप । उस समय भी मैं तुम्हारा पुत्र हुआ । मेरा नाम था 'उपेन्द्र' । शरीर छोटा होनेके कारण लोग मुझे 'वामन' भी कहते थे ॥ ४२ ॥ सती देवकी ! तुम्हारे इस तीसरे जन्ममें भी मैं उसी रूपसे फिर तुम्हारा पुत्र हुआ हूँ* । मेरी वाणी सर्वदा सत्य होती है ॥ ४३ ॥ मैंने तुम्हें अपना यह रूप इसलिये दिखला दिया है कि तुम्हें मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय । यदि मैं ऐसा नहीं करता, तो केवल मनुष्य-शरीरसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती ॥ ४४ ॥ तुम दोनों मेरे प्रति पुत्रभाव तथा निरन्तर ब्रह्मभाव रखना । इस प्रकार वात्सल्य-स्नेह और चिन्तनके द्वारा तुम्हें मेरे परम पदकी प्राप्ति होगी ॥ ४५ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥४६॥
ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः
सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा
या योगमायाजनि नन्दजायया ॥४७॥
तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ ।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया
बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः ॥४८॥
ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते
स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान् इतना कहकर चुप हो गये । अब उन्होंने अपनी योगमायासे पिता-माताके देखते-देखते तुरंत एक साधारण शिशुका रूप धारण कर लिया ॥ ४६ ॥ तब वसुदेवजीने भगवान्‌की प्रेरणासे अपने पुत्रको लेकर सूतिकागृहसे बाहर निकलनेकी इच्छा की । उसी समय नन्दपत्नी यशोदाके गर्भसे उस योगमायाका जन्म हुआ, जो भगवान्‌की शक्ति होनेके कारण उनके समान ही जन्म-रहित है ॥ ४७ ॥ उसी योगमायाने द्वारपाल और पुरवासियोंकी समस्त इन्द्रिय-वृत्तियोंकी चेतना हर ली, वे सब-के-सब अचेत होकर सो गये । बंदीगृहके सभी दरवाजे बंद थे । उनमें बड़े-बड़े किवाड़, लोहेकी जंजीरें और ताले जड़े हुए थे । उनके बाहर जाना बड़ा ही कठिन था; परन्तु वसुदेवजी भगवान् श्रीकृष्णको गोदमें लेकर ज्यों ही उनके निकट पहुँचे, त्यों ही वे सब दरवाजे आप-से-आप खुल गये† । ठीक वैसे ही, जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार दूर हो

१. स्मृतः । २. वा पुनः । ३. षु च । ४. शीर्यन्त ।

* भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि मैंने इनको वर तो यह दे दिया कि मेरे सदृश पुत्र होगा, परन्तु इसको मैं पूरा नहीं कर सकता । क्योंकि वैसा कोई है ही नहीं । किसीको कोई वस्तु देनेकी प्रतिज्ञा करके पूरी न कर सके तो उसके समान तिगुनी वस्तु देनी चाहिये । मेरे सदृश पदार्थके समान मैं हूँ । अतएव मैं अपनेको तीन बार इनका पुत्र बनाऊँगा ।

† जिनके नाम-श्रवणमात्रसे असंख्य जन्मार्जित प्रारब्ध-बन्धन ध्वस्त हो जाते हैं, वे ही प्रभु जिसकी गोदमें आ गये, उसकी हथकड़ी-बेड़ी खुल जाय, इसमें क्या आश्चर्य है !

ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः
शेषोऽन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः ॥४९॥

जाता है। उस समय बादल धीरे-धीरे गरजकर जलकी फुहारें छोड़ रहे थे। इसलिये शेषजी अपने फनोंसे जलको रोकते हुए भगवान्‌के पीछे-पीछे चलने लगे *॥४८-४९॥

मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा
गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ।
भयानकावर्तशताकुला नदी
मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ॥५०॥

उन दिनों बार-बार वर्षा होती रहती थी, इससे यमुनाजी बहुत बढ़ गयी थीं†। उनका प्रवाह गहरा और तेज हो गया था। तरल तरङ्गोंके कारण जलपर फेन-ही-फेन हो रहा था। सैकड़ों भयानक भँवर पड़ रहे थे। जैसे सीतापति भगवान् श्रीरामजीको समुद्रने मार्ग दे दिया था, वैसे ही यमुनाजीने भगवान्‌को मार्ग दे दिया‡॥५०॥

नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान्
गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ।
सुतं यशोदाशयने निधाय त-
त्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् ॥५१॥

वसुदेवजीने नन्दबाबाके गोकुलमें जाकर देखा कि सब-के-सब गोप नींदसे अचेत पड़े हुए हैं। उन्होंने अपने पुत्रको यशोदाजीकी शय्यापर सुला दिया और उनकी नवजात कन्या लेकर वे बंदीगृहमें लौट आये ॥५१॥

---

१. शिशुं। २. सुतां समादा०।

* बलरामजीने विचार किया कि मैं बड़ा भाई बना तो क्या, सेवा ही मेरा मुख्य धर्म है। इसलिये वे अपने शेष रूपसे श्रीकृष्णके छत्र बनकर जलका निवारण करते हुए चले। उन्होंने सोचा कि यदि मेरे रहते मेरे स्वामीको वर्षासे कष्ट पहुँचा तो मुझे धिक्कार है। इसलिये उन्होंने अपना सिर आगे कर दिया। अथवा उन्होंने यह सोचा कि ये विष्णुपद (आकाश) वासी मेघ परोपकारके लिये अधःपतित होना स्वीकार कर लेते हैं, इसलिये बलिके समान सिरसे वन्दनीय हैं।

† १. श्रीकृष्ण शिशुको अपनी ओर आते देखकर यमुनाजीने विचार किया—अहा! जिनके चरणोंकी धूलि सत्पुरुषोंके मानस ध्यानका विषय है, वे ही आज मेरे तटपर आ रहे हैं। वे आनन्द और प्रेमसे भर गयीं, आँखोंसे इतने आँसू निकले कि बाढ़ आ गयी।

२. मुझे यमराजकी बहिन समझकर श्रीकृष्ण अपनी आँख न फेर लें, इसलिये वे अपने विशाल जीवनका प्रदर्शन करने लगीं।

३. ये गोपालनके लिये गोकुलमें जा रहे हैं, ये सहस्र-सहस्र लहरियाँ गौएँ ही तो हैं। ये उन्हींके समान इनका भी पालन करें।

४. एक कालियनाग तो मुझमें पहलेसे ही है, यह दूसरे शेषनाग आ रहे हैं। अब मेरी क्या गति होगी—यह सोचकर यमुनाजी अपने थपेड़ोंसे उनका निवारण करनेके लिये बढ़ गयीं।

‡ १. एकाएक यमुनाजीके मनमें विचार आया कि मेरे अगाध जलको देखकर कहीं श्रीकृष्ण यह न सोच लें कि मैं इसमें खेलूँगा कैसे, इसलिये वे तुरंत कहीं कण्ठभर, कहीं नाभिभर और कहीं घुटनों तक जलवाली हो गयीं।

२. जैसे दुखी मनुष्य दयालु पुरुषके सामने अपना मन खोलकर रख देता है, वैसे ही कालियनागसे त्रस्त अपने हृदयका दुःख निवेदन कर देनेके लिये यमुनाजीने भी अपना दिल खोलकर श्रीकृष्णके सामने रख दिया।

३. मेरी नीरसता देखकर श्रीकृष्ण कहीं जलक्रीडा करना और पटरानी बनाना अस्वीकार न कर दें, इसलिये वे उच्छृङ्खलता छोड़कर बड़ी विनयसे अपने हृदयकी सङ्कोचपूर्ण रसरीति प्रकट करने लगीं।

४. जब इन्होंने सूर्यवंशमें रामावतार ग्रहण किया, तब मार्ग न देनेपर चन्द्रमाके पिता समुद्रको बाँध दिया था। अब ये चन्द्रवंशमें प्रकट हुए हैं और मैं सूर्यकी पुत्री हूँ। यदि मैं इन्हें मार्ग न दूँगी तो ये मुझे भी बाँध देंगे। इस डरसे मानो यमुनाजी दो भागोंमें बँट गयीं।

५. सत्पुरुष कहते हैं कि हृदयमें भगवान्‌के आ जानेपर अलौकिक सुख होता है। मानो उसीका उपभोग करनेके लिये यमुनाजीने भगवान्‌को अपने भीतर ले लिया।

६. मेरा नाम कृष्णा, मेरा जल कृष्ण, मेरे बाहर श्रीकृष्ण हैं। फिर मेरे हृदयमें ही उनकी स्फूर्ति क्यों न हो?—ऐसा सोचकर मार्ग देनेके बहाने यमुनाजीने श्रीकृष्णको अपने हृदयमें ले लिया।

देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम्।
प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः ॥५२॥
यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत।
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥५३॥

जेलमें पहुँचकर वसुदेवजीने उस कन्याको देवकीकी शय्यापर सुला दिया और अपने पैरोंमें बेड़ियाँ डाल लीं तथा पहलेकी तरह वे बंदीगृहमें बंद हो गये ॥ ५२ ॥ उधर नन्दपत्नी यशोदाजीको इतना तो मालूम हुआ कि कोई सन्तान हुई है, परन्तु वे यह न जान सकीं कि पुत्र है या पुत्री। क्योंकि एक तो उन्हें बड़ा परिश्रम हुआ था और दूसरे योगमायाने उन्हें अचेत कर दिया था* ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कृष्णजन्मनि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

कंसके हाथसे छूटकर योगमायाका आकाशमें जाकर भविष्यवाणी करना

श्रीशुक उवाच

बहिरन्तःपुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥ १ ॥
ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत्।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते ॥ २ ॥
स तल्पात् तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः।
सूतीगृहमगात् तूर्णं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः ॥ ३ ॥
तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।
स्नुषेयं तव कल्याणं स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब वसुदेवजी लौट आये, तब नगरके बाहरी और भीतरी सब दरवाजे अपने-आप ही पहलेकी तरह बंद हो गये। इसके बाद-नवजात शिशुके रोनेकी ध्वनि सुनकर द्वारपालोंकी नींद टूटी ॥ १ ॥ वे तुरंत भोजराज कंसके पास गये और देवकीको सन्तान होनेकी बात कही। कंस तो बड़ी आकुलता और घबराहटके साथ इसी बातकी प्रतीक्षा कर रहा था ॥ २ ॥ द्वारपालोंकी बात सुनते ही वह झटपट पलँगसे उठ खड़ा हुआ और बड़ी शीघ्रतासे सूतिकागृहकी ओर झपटा। इस बार तो मेरे कालका ही जन्म हुआ है, यह सोचकर वह विह्वल हो रहा था और यही कारण है कि उसे इस बातका भी ध्यान न रहा कि उसके बाल बिखरे हुए हैं। रास्तेमें कई जगह वह लड़खड़ाकर गिरते-गिरते बचा ॥ ३ ॥ बंदीगृहमें पहुँचनेपर सती देवकीने बड़े दुःख और करुणाके साथ अपने भाई कंससे कहा—'मेरे हितैषी भाई! यह कन्या तो तुम्हारी पुत्रवधूके समान है। स्त्रीजातिकी है; तुम्हें स्त्रीकी हत्या कदापि नहीं करनी चाहिये ॥ ४ ॥

१. पुत्रम०। २. कृष्णावतारे तृतीयो०। ३. शीघ्रमु०। ४. णी।

* भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रसङ्गमें यह प्रकट किया कि जो मुझे प्रेमपूर्वक अपने हृदयमें धारण करता है, उसके बन्धन खुल जाते हैं, जेलसे छुटकारा मिल जाता है, बड़े-बड़े फाटक टूट जाते हैं, पहरेदारोंका पता नहीं चलता, भव-नदीका जल सूख जाता है, गोकुल (इन्द्रिय-समुदाय) की वृत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं और माया हाथमें आ जाती है।

बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः ।
त्वया दैवनिसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम् ॥ ५ ॥
नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो ।
दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम् ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

उपगुह्यात्मजामेवं रुदत्या दीनदीनवत् ।
याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः ॥ ७ ॥
तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम् ।
अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः ॥ ८ ॥
सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता ।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥ ९ ॥
दिव्यस्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता ।
धनुःशूलेषुचर्मासिशङ्खचक्रगदाधरा ॥ १० ॥
सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरोरगैः ।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ।
यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा ॥ १२ ॥
इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि ।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह ॥ १३ ॥
तयाभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः ।
देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥ १४ ॥

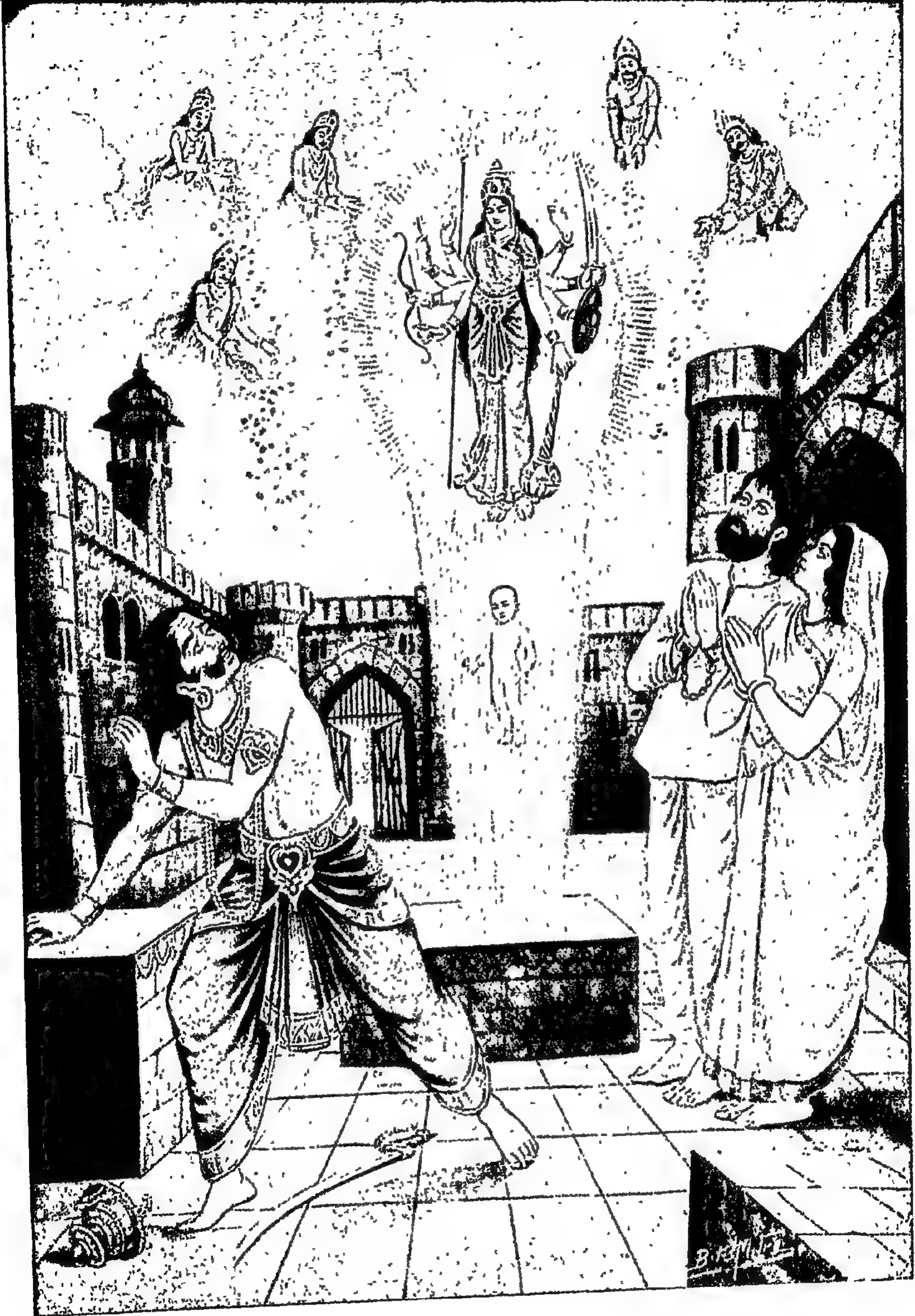
भैया ! तुमने दैववश मेरे बहुत-से अग्निके समान तेजस्वी बालक मार डाले । अब केवल यही एक कन्या बची है, इसे तो मुझे दे दो ॥ ५ ॥ अवश्य ही मैं तुम्हारी छोटी बहिन हूँ । मेरे बहुत-से बच्चे मर गये हैं, इसलिये मैं अत्यन्त दीन हूँ । मेरे प्यारे और समर्थ भाई ! तुम मुझ मन्दभागिनीको यह अन्तिम सन्तान अवश्य दे दो' ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! कन्याको अपनी गोदमें छिपाकर देवकीजीने अत्यन्त दीनताके साथ रोते-रोते याचना की । परन्तु कंस बड़ा दुष्ट था । उसने देवकीजीको झिड़ककर उनके हाथसे वह कन्या छीन ली ॥ ७ ॥ अपनी उस नन्हीं-सी नवजात भानजीके पैर पकड़कर कंसने उसे बड़े जोरसे एक चट्टानपर दे मारा । स्वार्थने उसके हृदयसे सौहार्दको समूल उखाड़ फेंका था ॥ ८ ॥ परन्तु श्रीकृष्णकी वह छोटी बहिन साधारण कन्या तो थी नहीं, देवी थी; उसके हाथसे छूटकर तुरन्त आकाशमें चली गयी और अपने बड़े-बड़े आठ हाथोंमें आयुध लिये हुए दीख पड़ी ॥ ९ ॥ वह दिव्य माला, वस्त्र, चन्दन और मणिमय आभूषणोंसे विभूषित थी । उसके हाथोंमें धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शङ्ख, चक्र और गदा—ये आठ आयुध थे ॥ १० ॥ सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगण बहुत-सी भेंटकी सामग्री समर्पित करके उसकी स्तुति कर रहे थे । उस समय देवीने कंससे यह कहा—॥ ११ ॥ 'रे मूर्ख ! मुझे मारनेसे तुझे क्या मिलेगा ? तेरे पूर्वजन्मका शत्रु तुझे मारनेके लिये किसी स्थानपर पैदा हो चुका है ! अब तू व्यर्थ निर्दोष बालकोंकी हत्या न किया कर' ॥ १२ ॥ कंससे इस प्रकार कहकर भगवती योगमाया वहाँसे अन्तर्धान हो गयीं और पृथ्वीके अनेक स्थानोंमें विभिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हुईं ॥ १३ ॥

देवीकी यह बात सुनकर कंसको असीम आश्चर्य हुआ । उसने उसी समय देवकी और वसुदेवको कैदसे छोड़ दिया और बड़ी नम्रतासे उनसे कहा—॥ १४ ॥

१० क्वचिद्धा० ।

योगमाया



वह अपने बड़े-बड़े आठ हाथोंमें आयुध लिये दीख पड़ीं।

अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना ।
पुरुषाद इवापत्यं बहवो हिंसिताः सुताः ॥१५॥
स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत् खलः ।
काँल्लोकान् वै गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन् ॥१६॥
दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् ।
यद्विश्रम्भादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्छिशून् ॥१७॥
मा शोचतं महाभागावात्मजान् स्वकृतम्भुजः ।
जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनास्तदासते ॥१८॥
भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च ।
नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः ॥१९॥
यथानेवंविदो भेदो यत आत्मविपर्ययः ।
देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते ॥२०॥
तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि ।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं विन्दतेऽवशः ॥२१॥
यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक् ।
तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात् ॥२२॥

'मेरी प्यारी बहिन और बहनोईजी ! हाय-हाय, मैं बड़ा पापी हूँ । राक्षस जैसे अपने ही बच्चोंको मार डालता है, वैसे ही मैंने तुम्हारे बहुत-से लड़के मार डाले । इस बातका मुझे बड़ा खेद है* ॥ १५ ॥ मैं इतना दुष्ट हूँ कि करुणाका तो मुझमें लेश भी नहीं है । मैंने अपने भाई-बन्धु और हितैषियोंतकका त्याग कर दिया । पता नहीं, अब मुझे किस नरकमें जाना पड़ेगा । वास्तवमें तो मैं ब्रह्मघातीके समान जीवित होनेपर भी मुर्दा ही हूँ ॥ १६ ॥ केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, विधाता भी झूठ बोलते हैं । उसीपर विश्वास करके मैंने अपनी बहिनके बच्चे मार डाले । ओह ! मैं कितना पापी हूँ ॥ १७ ॥ तुम दोनों महात्मा हो । अपने पुत्रोंके लिये शोक मत करो । उन्हें तो अपने कर्मका ही फल मिला है । सभी प्राणी प्रारब्धके अधीन हैं । इसीसे वे सदा-सर्वदा एक साथ नहीं रह सकते ॥ १८ ॥ जैसे मिट्टीके बने हुए पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं, परन्तु मिट्टीमें कोई अदल-बदल नहीं होती—वैसे ही शरीरका तो बनना-बिगड़ना होता ही रहता है; परन्तु आत्मापर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता ॥ १९ ॥ जो लोग इस तत्त्वको नहीं जानते, वे इस अनात्मा शरीरको ही आत्मा मान बैठते हैं । यही उलटी बुद्धि अथवा अज्ञान है । इसीके कारण जन्म और मृत्यु होते हैं । और जबतक यह अज्ञान नहीं मिटता, तबतक सुख-दुःखरूप संसारसे छुटकारा नहीं मिलता ॥ २० ॥ मेरी प्यारी बहिन ! यद्यपि मैंने तुम्हारे पुत्रोंको मार डाला है, फिर भी तुम उनके लिये शोक न करो । क्योंकि सभी प्राणियोंको विवश होकर अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है ॥ २१ ॥ अपने स्वरूपको न जाननेके कारण जीव जबतक यह मानता रहता है कि 'मैं मारनेवाला हूँ या मारा जाता हूँ', तबतक शरीरके जन्म और मृत्यु-का अभिमान करनेवाला वह अज्ञानी बाध्य और बाधक-भावको प्राप्त होता है । अर्थात् वह दूसरोंको दुःख देता

१. सुहृदो । २. सुकृतं । ३. सुदृक् ।

* जिनके गर्भमें भगवान्ने निवास किया, जिन्हें भगवान्के दर्शन हुए, उन देवकी-वसुदेवके दर्शनका ही यह फल है कि कंसके हृदयमें विनय, विचार, उदारता आदि सद्गुणोंका उदय हो गया । परन्तु जबतक वह उनके सामने रहा तभीतक ये सद्गुण रहे । दुष्ट मन्त्रियोंके बीचमें आते ही वह फिर ज्यों-का-त्यों हो गया ।

क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः ।
इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत् ॥२३॥
मोचयामास निगडाद् विश्रब्धः कन्यकागिरा ।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम् ॥२४॥
भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्त्वा रोषं च देवकी ।
व्यसृजद् वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह ॥२५॥
एवमेतन्महाभाग यथा वदसि देहिनाम् ।
अज्ञानप्रभवाहंधीः स्वपरेति भिदा यतः ॥२६॥
शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः ।
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं प्रतिभाषितः ।
देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोऽविशद् गृहम् ॥२८॥
तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः ।
तेभ्य आचष्ट तत् सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया ॥२९॥
आकर्ण्य भर्तुर्गदितं तमूचुर्देवशत्रवः ।
देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः ॥३०॥
एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु ।
अनिर्दशान् निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून् ॥३१॥
किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः ।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव ॥३२॥

है और स्वयं दुःख भोगता है ॥ २२ ॥ मेरी यह दुष्टता तुम दोनों क्षमा करो; क्योंकि तुम बड़े ही साधुस्वभाव और दीनोंके रक्षक हो ।' ऐसा कहकर कंसने अपनी बहिन देवकी और वसुदेवजीके चरण पकड़ लिये । उसकी आँखोंसे आँसू बह-बहकर मुँहतक आ रहे थे ॥ २३ ॥ इसके बाद उसने योगमायाके वचनोंपर विश्वास करके देवकी और वसुदेवको कैदसे छोड़ दिया और वह तरह-तरहसे उनके प्रति अपना प्रेम प्रकट करने लगा ॥२४॥ जब देवकीजीने देखा कि भाई कंसको पश्चात्ताप हो रहा है, तब उन्होंने उसे क्षमा कर दिया । वे उसके पहले अपराधोंको भूल गयीं और वसुदेवजीने हँसकर कंससे कहा—॥ २५ ॥ 'मनस्वी कंस! आप जो कहते हैं, वह ठीक वैसा ही है । जीव अज्ञानके कारण ही शरीर आदि-को 'मैं' मान बैठते हैं । इसीसे अपने-परायेका भेद हो जाता है ॥ २६ ॥ और यह भेददृष्टि हो जानेपर तो वे शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह और मदसे अन्धे हो जाते हैं । फिर तो उन्हें इस बातका पता ही नहीं रहता कि सबके प्रेरक भगवान् ही एक भावसे दूसरे भावका, एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका नाश करा रहे हैं' ॥ २७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब वसुदेव और देवकीने इस प्रकार प्रसन्न होकर निष्कपटभावसे कंसके साथ बातचीत की, तब उनसे अनुमति लेकर वह अपने महलमें चला गया ॥ २८ ॥ वह रात्रि बीत जानेपर कंसने अपने मन्त्रियोंको बुलाया और योगमायाने जो कुछ कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया ॥ २९ ॥ कंसके मन्त्री पूर्णतया नीतिनिपुण नहीं थे । दैत्य होनेके कारण स्वभावसे ही वे देवताओंके प्रति शत्रुताका भाव रखते थे । अपने स्वामी कंसकी बात सुनकर वे देवताओं-पर और भी चिढ़ गये और कंससे कहने लगे—॥ ३० ॥ 'भोजराज ! यदि ऐसी बात है तो हम आज ही बड़े-बड़े नगरोंमें, छोटे-छोटे गाँवोंमें, अहीरोंकी बस्तियोंमें और दूसरे स्थानोंमें जितने बच्चे हुए हैं, वे चाहे दस दिनसे अधिकके हों या कमके, सबको आज ही मार डालेंगे ॥ ३१ ॥ समरभीरु देवगण युद्धोद्योग करके ही क्या करेंगे ? वे तो आपके धनुषकी टङ्कार सुनकर ही सदा-सर्वदा घबराये

१. बन्धुव० । २. क्षया० । ३. राज ।

अक्षतास्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः ।
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः ॥३३॥

केचित् प्राञ्जलयो दीना न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः ।
मुक्तकच्छशिखाः केचिद् भीताः स्म इति वादिनः ॥३४॥

न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसंवृतान् ।
हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः ॥३५॥

किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः ।
रहोजुषा किं हरिणा शम्भुना वा वनौकसा ।
किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता ॥३६॥

तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे ।
ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान् ॥३७॥

यथाऽऽमयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभि-
र्न शक्यते रूढपदश्चिकित्सितुम् ।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा
रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते ॥३८॥

मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः ।
तस्य च ब्रह्म गोविप्रास्तपो यज्ञाः सदक्षिणाः ॥३९॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः ॥४०॥

रहते हैं ॥ ३२ ॥ जिस समय युद्धभूमिमें आप चोट-पर-चोट करने लगते हैं, बाण-वर्षासे घायल होकर अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये समराङ्गण छोड़कर देवतालोग पलायन-परायण होकर इधर-उधर भाग जाते हैं ॥ ३३ ॥ कुछ देवता तो अपने अस्त्र-शस्त्र जमीनपर डाल देते हैं और हाथ जोड़कर आपके सामने अपनी दीनता प्रकट करने लगते हैं । कोई-कोई अपनी चोटीके बाल तथा कच्छ खोलकर आपकी शरणमें आकर कहते हैं कि—'हम भयभीत हैं, हमारी रक्षा कीजिये' ॥ ३४ ॥ आप उन शत्रुओंको नहीं मारते जो शस्त्र-अस्त्र भूल गये हों, जिनका रथ टूट गया हो, जो डर गये हों, जो लोग युद्ध छोड़कर अन्यमनस्क हो गये हों, जिनका धनुष टूट गया हो या जिन्होंने युद्धसे अपना मुँह मोड़ लिया हो—उन्हें भी आप नहीं मारते ॥ ३५ ॥ देवता तो बस वहीं वीर बनते हैं, जहाँ कोई लड़ाई-झगड़ा न हो । रणभूमिके बाहर वे बड़ी-बड़ी डींग हाँकते हैं । उनसे तथा एकान्तवासी विष्णु, वनवासी शङ्कर, अल्पवीर्य इन्द्र और तपस्वी ब्रह्मासे भी हमें क्या भय हो सकता है ॥ ३६ ॥ फिर भी देवताओंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—ऐसी हमारी राय है । क्योंकि हैं तो वे शत्रु ही । इसलिये उनकी जड़ उखाड़ फेंकनेके लिये आप हम-जैसे विश्वासपात्र सेवकोंको नियुक्त कर दीजिये ॥ ३७ ॥ जब मनुष्यके शरीरमें रोग हो जाता है और उसकी चिकित्सा नहीं की जाती—उपेक्षा कर दी जाती है, तब रोग अपनी जड़ जमा लेता है और फिर वह असाध्य हो जाता है । अथवा जैसे इन्द्रियोंकी उपेक्षा कर देनेपर उनका दमन असम्भव हो जाता है, वैसे ही यदि पहले शत्रुकी उपेक्षा कर दी जाय और वह अपना पाँव जमा ले, तो फिर उसको हराना कठिन हो जाता है ॥ ३८ ॥ देवताओंकी जड़ है विष्णु और वह वहाँ रहता है, जहाँ सनातनधर्म है । सनातनधर्मकी जड़ हैं—वेद, गौ, ब्राह्मण, तपस्या और वे यज्ञ, जिनमें दक्षिणा दी जाती है ॥ ३९ ॥ इसलिये भोजराज ! हमलोग वेदवादी ब्राह्मण, तपस्वी, याज्ञिक और यज्ञके लिये घी आदि हविष्य पदार्थ देनेवाली गायोंका पूर्णरूपसे नाश कर

१. भीता । २. वा ।

विप्रा गावश्च वेदांश्च तपः सत्यं दमः शमः ।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ॥४१॥
स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः ।
तन्मूला देवताः सर्वाः सेश्वराः सचतुर्मुखाः ।
अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम् ॥४२॥

श्रीशुक उवाच

एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः ।
ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोऽसुरः ॥४३॥
सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् ।
कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत् ॥४४॥
ते वै रजःप्रकृतयस्तमसा मूढचेतसः ।
सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः ॥४५॥
आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च ।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥४६॥

डालेंगे ॥ ४० ॥ ब्राह्मण, गौ, वेद, तपस्या, सत्य, इन्द्रियदमन, मनोनिग्रह, श्रद्धा, दया, तितिक्षा और यज्ञ विष्णुके शरीर हैं ॥ ४१ ॥ वह विष्णु ही सारे देवताओं-का स्वामी तथा असुरोंका प्रधान द्वेषी है । परन्तु वह किसी गुफामें छिपा रहता है । महादेव, ब्रह्मा और सारे देवताओंकी जड़ वही है । उसको मार डालनेका उपाय यह है कि ऋषियोंको मार डाला जाय' ॥ ४२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! एक तो कंस-की बुद्धि स्वयं ही बिगड़ी हुई थी; फिर उसे मन्त्री ऐसे मिले थे, जो उससे भी बढ़कर दुष्ट थे । इस प्रकार उनसे सलाह करके कालके फंदेमें फँसे हुए असुर कंसने यही ठीक समझा कि ब्राह्मणोंको ही मार डाला जाय ॥ ४३ ॥ उसने हिंसाप्रेमी राक्षसोंको संतपुरुषोंकी हिंसा करनेका आदेश दे दिया । वे इच्छानुसार रूप धारण कर सकते थे । जब वे इधर-उधर चले गये, तब कंसने अपने महलमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥ उन असुरोंकी प्रकृति थी रजोगुणी । तमोगुणके कारण उनका चित्त उचित और अनुचितके विवेकसे रहित हो गया था । उनके सिरपर मौत नाच रही थी । यही कारण है कि उन्होंने संतोंसे द्वेष किया ॥ ४५ ॥ परीक्षित् ! जो लोग महान् संत पुरुषोंका अनादर करते हैं, उनका वह कुकर्म उनकी आयु, लक्ष्मी, कीर्ति, धर्म, लोक-परलोक, विषय-भोग और सब-के-सब कल्याणके साधनोंको नष्ट कर देता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

गोकुलमें भगवान्‌का जन्ममहोत्सव

श्रीशुक उवाच

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।
आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलङ्कृतः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! नन्दबाबा बड़े मनस्वी और उदार थे । पुत्रका जन्म होनेपर तो उनका हृदय विलक्षण आनन्दसे भर गया । उन्होंने स्नान किया और पवित्र होकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये ।

१. देवाश्च । २. हितां । ३. असुरमन्त्रणं नाम चतु० ।

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै । कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा ॥ २ ॥	फिर वेदज्ञ ब्राह्मणोंको बुलवाकर स्वस्तिवाचन और अपने पुत्रका जातकर्म-संस्कार करवाया । साथ ही देवता और पितरोंकी विधिपूर्वक पूजा भी करवायी ॥ १-२ ॥
धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलङ्कृते । तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान् ॥ ३ ॥ कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया । शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्टया द्रव्याण्यात्माऽऽत्मविद्यया ॥ सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः । गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः ॥ ५ ॥ व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः । चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥ ६ ॥ गावो वृषा वत्सतरा हरिद्रातैलरूषिताः । विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः ॥ ७ ॥ महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः । गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः ॥ ८ ॥	उन्होंने ब्राह्मणोंको वस्त्र और आभूषणोंसे सुसज्जित दो लाख गौएँ दान कीं । रत्नों और सुनहले वस्त्रोंसे ढके हुए तिलके सात पहाड़ दान किये ॥ ३ ॥ (संस्कारोंसे ही गर्भशुद्धि होती है—यह प्रदर्शित करनेके लिये अनेक दृष्टान्तोंका उल्लेख करते हैं—) समयसे (नूतन जल, अशुद्ध भूमि आदि), स्नानसे (शरीर आदि), प्रक्षालनसे (वस्त्रादि), संस्कारोंसे (गर्भादि), तपस्यासे (इन्द्रियादि), यज्ञसे (ब्राह्मणादि), दानसे (धन-धान्यादि) और सन्तोषसे (मन आदि) द्रव्य शुद्ध होते हैं । परन्तु आत्माकी शुद्धि तो आत्मज्ञानसे ही होती है ॥ ४ ॥ उस समय ब्राह्मण, सूत[1], मागध[2] और वंदीजन[3] मङ्गलमय आशीर्वाद देने तथा स्तुति करने लगे । गायक गाने लगे । भेरी और दुन्दुभियाँ बार-बार बजने लगीं ॥ ५ ॥ व्रजमण्डलके सभी घरोंके द्वार, आँगन और भीतरी भाग झाड़-बुहार दिये गये; उनमें सुगन्धित जलका छिड़काव किया गया; उन्हें चित्र-विचित्र ध्वजा-पताका, पुष्पोंकी मालाओं, रंग-बिरंगे वस्त्र और पल्लवोंकी बन्दनवारोंसे सजाया गया ॥ ६ ॥ गाय, बैल और बछड़ोंके अङ्गोंमें हल्दी-तेलका लेप कर दिया गया और उन्हें गेरू आदि रंगीन धातुएँ, मोरपंख, फूलोंके हार, तरह-तरहके सुन्दर वस्त्र और सोनेकी जंजीरोंसे सजा दिया गया ॥ ७ ॥ परीक्षित् ! सभी ग्वाल बहुमूल्य वस्त्र, गहने, अँगरखे और पगड़ियोंसे सुसज्जित होकर और अपने हाथोंमें भेंटकी बहुत-सी सामग्रियाँ ले-लेकर नन्दबाबाके घर आये ॥ ८ ॥
गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् । आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः ॥ ९ ॥ नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः । बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥ १० ॥	यशोदाजीके पुत्र हुआ है, यह सुनकर गोपियोंको भी बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, आभूषण और अञ्जन आदिसे अपना शृङ्गार किया ॥ ९ ॥ गोपियोंके मुखकमल बड़े ही सुन्दर जान पड़ते थे । उनपर लगी हुई कुंकुम ऐसी लगती मानो कमलकी केशर हो । उनके नितम्ब बड़े-बड़े थे । वे भेंटकी सामग्री ले-लेकर जल्दी-जल्दी यशोदाजीके पास चलीं । उस समय

१. धिना पितृ० । २. षाः सवत्साश्च हरि० ।

१. पौराणिक । २. वंशका वर्णन करनेवाले । ३. समयानुसार उक्तियोंसे स्तुति करनेवाले भाट । जैसा कि कहा है—
'सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसकाः । बन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः ॥'

गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्य-
श्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः ।
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजु-
र्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥११॥

ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालके ।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्यो जनमुज्जगुः ॥१२॥

अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे ।
कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य व्रजमागते ॥१३॥

गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः ।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥१४॥

नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम् ।
सूतमागधवन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥१५॥

तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।
विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥१६॥

रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता ।
व्यचरद् दिव्यवासःस्रक्कण्ठाभरणभूषिता ॥१७॥

तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् ।

उनके पयोधर हिल रहे थे ॥ १० ॥ गोपियोंके कानोंमें चमकती हुई मणियोंके कुण्डल झिलमिला रहे थे। गलेमें सोनेके हार (हैकल या हुमेल) जगमगा रहे थे। वे बड़े सुन्दर-सुन्दर रंग-बिरंगे वस्त्र पहने हुए थीं। मार्गमें उनकी चोटियोंमें गुँथे हुए फूल बरसते जा रहे थे। हाथोंमें जड़ाऊ कंगन अलग ही चमक रहे थे। उनके कानोंके कुण्डल, पयोधर और हार हिलते जाते थे। इस प्रकार नन्दबाबाके घर जाते समय उनकी शोभा बड़ी अनूठी जान पड़ती थी ॥ ११ ॥ नन्दबाबाके घर जाकर वे नवजात शिशुको आशीर्वाद देतीं 'यह चिरजीवी हो, भगवन्! इसकी रक्षा करो।' और लोगोंपर हल्दी-तेलसे मिला हुआ पानी छिड़क देतीं तथा ऊँचे स्वरसे मङ्गल-गान करती थीं ॥ १२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जगत्के एकमात्र स्वामी हैं। उनके ऐश्वर्य, माधुर्य, वात्सल्य—सभी अनन्त हैं। वे जब नन्दबाबाके व्रजमें प्रकट हुए, उस समय उनके जन्मका महान् उत्सव मनाया गया। उसमें बड़े-बड़े विचित्र और मङ्गलमय बाजे बजाये जाने लगे ॥ १३ ॥ आनन्दसे मतवाले होकर गोपगण एक दूसरेपर दही, दूध, घी और पानी उड़ेलने लगे। एक-दूसरेके मुँहसे मक्खन मलने लगे और मक्खन फेंक-फेंककर आनन्दोत्सव मनाने लगे ॥ १४ ॥ नन्दबाबा स्वभावसे ही परम उदार और मनस्वी थे। उन्होंने गोपोंको बहुत-से वस्त्र, आभूषण और गौएँ दीं। सूत-मागध-वंदीजनों, नृत्य, वाद्य आदि विद्याओंसे अपना जीवन-निर्वाह करनेवालों तथा दूसरे गुणीजनोंको भी नन्दबाबाने प्रसन्नतापूर्वक उनकी मुँहमाँगी वस्तुएँ देकर उनका यथोचित सत्कार किया। यह सब करनेमें उनका उद्देश्य यही था कि इन कर्मोंसे भगवान् विष्णु प्रसन्न हों और मेरे इस नवजात शिशुका मङ्गल हो ॥ १५-१६ ॥ नन्दबाबाके अभिनन्दन करनेपर परम सौभाग्यवती रोहिणीजी दिव्य वस्त्र, माला और गलेके भाँति-भाँतिके गहनोंसे सुसज्जित होकर गृहस्वामिनीकी भाँति आने-जानेवाली स्त्रियोंका सत्कार करती हुई विचर रही थीं ॥ १७ ॥ परीक्षित्! उसी दिनसे नन्दबाबाके व्रजमें सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियाँ अठखेलियाँ करने लगीं और भगवान् श्रीकृष्णके

१. जीवेति । २. नन्दव्रजमुपेयुषि । ३. घनैः ।

हरेर्निवासात्मगुणैः रमाक्रीडमभून्नृप ॥ १८ ॥

निवास तथा अपने स्वाभाविक गुणोंके कारण वह लक्ष्मीजीका क्रीडास्थल बन गया ॥ १८ ॥

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः ।
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह ॥ १९ ॥
वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम् ।
ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम् ॥ २० ॥
तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम् ।
प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः ॥ २१ ॥
पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वानामयमादृतः ।
प्रसक्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशाम्पते ॥ २२ ॥

परीक्षित् ! कुछ दिनोंके बाद नन्दबाबाने गोकुलकी रक्षाका भार तो दूसरे गोपोंको सौंप दिया और वे स्वयं कंसका वार्षिक कर चुकानेके लिये मथुरा चले गये ॥ १९ ॥ जब वसुदेवजीको यह मालूम हुआ कि हमारे भाई नन्दजी मथुरामें आये हैं और राजा कंसको उसका कर भी दे चुके हैं, तब वे जहाँ नन्दबाबा ठहरे हुए थे, वहाँ गये ॥ ॥ २० ॥ वसुदेवजीको देखते ही नन्दजी सहसा उठकर खड़े हो गये मानो मृतक शरीरमें प्राण आ गया हो । उन्होंने बड़े प्रेमसे अपने प्रियतम वसुदेवजीको दोनों हाथोंसे पकड़कर हृदयसे लगा लिया । नन्दबाबा उस समय प्रेमसे विह्वल हो रहे थे ॥ २१ ॥ परीक्षित् ! नन्दबाबाने वसुदेवजीका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। वे आदरपूर्वक आरामसे बैठ गये । उस समय उनका चित्त अपने पुत्रोंमें लग रहा था । वे नन्दबाबासे कुशल-मङ्गल पूछकर कहने लगे ॥ २२ ॥

दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते ।
प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत ॥ २३ ॥
दिष्ट्या संसारचक्रेऽस्मिन् वर्तमानः पुनर्भवः ।
उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम् ॥ २४ ॥
नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम् ।
ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा ॥ २५ ॥
कच्चित् पशव्यं निरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम् ।
बृहद्वनं तदधुना यत्रास्से त्वं सुहृद्वृतः ॥ २६ ॥

[वसुदेवजीने कहा—] 'भाई ! तुम्हारी अवस्था ढल चली थी और अबतक तुम्हें कोई सन्तान नहीं हुई थी। यहाँतक कि अब तुम्हें सन्तानकी कोई आशा भी न थी । यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि अब तुम्हें सन्तान प्राप्त हो गयी ॥ २३ ॥ यह भी बड़े आनन्दका विषय है कि आज हमलोगोंका मिलना हो गया । अपने प्रेमियोंका मिलना भी बड़ा दुर्लभ है । इस संसारका चक्र ही ऐसा है इसे तो एक प्रकारका पुनर्जन्म ही समझना चाहिये ॥ २४ ॥ जैसे नदीके प्रबल प्रवाहमें बहते हुए बेड़े और तिनके सदा एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही सगे-सम्बन्धी और प्रेमियोंका भी एक स्थानपर रहना सम्भव नहीं है—यद्यपि वह सबको प्रिय लगता है । क्योंकि सबके प्रारब्धकर्म अलग-अलग होते हैं ॥ २५ ॥ आजकल तुम जिस महावनमें अपने भाई-बन्धु और स्वजनोंके साथ रहते हो, उसमें जल, घास और लता-पत्रादि तो भरे-पूरे हैं न ? वह वन पशुओंके लिये अनुकूल और सब प्रकारके रोगोंसे तो बचा

१. मात्मनः ।

भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे ।
तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः ॥२७॥
पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो ह्यनुभावितः ।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते ॥२८॥

है ? ॥ २६ ॥ भाई ! मेरा लड़का अपनी मा (रोहिणी) के साथ तुम्हारे व्रजमें रहता है । उसका लालन-पालन तुम और यशोदा करते हो, इसलिये वह तो तुम्हींको अपने पिता-माता मानता होगा । वह अच्छी तरह है न ? ॥ २७ ॥ मनुष्यके लिये वे ही धर्म, अर्थ और काम शास्त्रविहित हैं, जिनसे उसके स्वजनोंको सुख मिले । जिनसे केवल अपनेको ही सुख मिलता है; किन्तु अपने स्वजनोंको दुःख मिलता है, वे धर्म, अर्थ और काम हितकारी नहीं हैं' ॥ २८ ॥

नन्द उवाच

अहो ते देवकीपुत्राः कंसेन बहवो हताः ।
एकावशिष्टावरजा कन्या सापि दिवं गता ॥२९॥
नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः ।
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ॥३०॥

नन्दबाबाने कहा—भाई वसुदेव ! कंसने देवकीके गर्भसे उत्पन्न तुम्हारे कई पुत्र मार डाले । अन्तमें एक सबसे छोटी कन्या बच रही थी, वह भी स्वर्ग सिधार गयी ॥ २९ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि प्राणियोंका सुख-दुःख भाग्यपर ही अवलम्बित है । भाग्य ही प्राणीका एकमात्र आश्रय है । जो जान लेता है कि जीवनके सुख-दुःखका कारण भाग्य ही है, वह उनके प्राप्त होनेपर मोहित नहीं होता ॥ ३० ॥

वसुदेव उवाच

करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे दृष्टा वयं च वः ।
नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥३१॥

वसुदेवजीने कहा—भाई ! तुमने राजा कंसको उसका सालाना कर चुका दिया । हम दोनों मिल भी चुके । अब तुम्हें यहाँ अधिक दिन नहीं ठहरना चाहिये; क्योंकि आजकल गोकुलमें बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं ॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति नन्दादयो गोपाः प्रोक्तास्ते शौरिणा ययुः ।
अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम् ॥३२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब वसुदेवजीने इस प्रकार कहा, तब नन्द आदि गोपोंने उनसे अनुमति ले, बैलोंसे जुते हुए छकड़ोंपर सवार होकर गोकुलकी यात्रा की ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
नन्द-वसुदेवसङ्गमो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

पूतना-उद्धार

श्रीशुक उवाच

नन्दः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिन्तयन् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! नन्दबाबा जब मथुरासे चले, तब रास्तेमें विचार करने लगे कि

१. यशो । २. नन्दवसुदेवसमागमः पञ्च० ।

हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः ॥ १ ॥
कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी ।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ॥ २ ॥
न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु ।
कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि ॥ ३ ॥
सा खेचर्येकदोपेत्य पूतना नन्दगोकुलम् ।
योषित्वा माययाऽऽत्मानं प्राविशत् कामचारिणी॥४॥

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां
बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम् ।
सुवाससं कम्पितकर्णभूषण-
त्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् ॥ ५ ॥
वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितै-
र्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम् ।
अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं
गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम् ॥ ६ ॥
बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून्
यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम् ।
बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं
ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि ॥ ७ ॥
विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं
चराचरात्माऽऽस निमीलितेक्षणः ।

वसुदेवजीका कथन झूठा नहीं हो सकता। इससे उनके मनमें उत्पात होनेकी आशङ्का हो गयी। तब उन्होंने मन-ही-मन 'भगवान् ही शरण हैं, वे ही रक्षा करेंगे' ऐसा निश्चय किया ॥ १ ॥ पूतना नामकी एक बड़ी क्रूर राक्षसी थी। उसका एक ही काम था—बच्चोंको मारना। कंसकी आज्ञासे वह नगर, ग्राम और अहीरोंकी बस्तियोंमें बच्चोंको मारनेके लिये घूमा करती थी ॥ २ ॥ जहाँके लोग अपने प्रतिदिनके कामोंमें राक्षसोंके भयको दूर भगानेवाले भक्तवत्सल भगवान्‌के नाम, गुण और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण नहीं करते—वहीं ऐसी राक्षसियोंका बल चलता है ॥ ३ ॥ वह पूतना आकाशमार्गसे चल सकती थी और अपनी इच्छाके अनुसार रूप भी बना लेती थी। एक दिन नन्दबाबाके गोकुलके पास आकर उसने मायासे अपनेको एक सुन्दरी युवती बना लिया और गोकुलके भीतर घुस गयी ॥ ४ ॥ उसने बड़ा सुन्दर रूप बनाया था। उसकी चोटियोंमें बेलेके फूल गुँथे हुए थे। सुन्दर वस्त्र पहने हुए थी। जब उसके कर्णफूल हिलते थे, तब उनकी चमकसे मुखकी ओर लटकी हुई अलकें और भी शोभायमान हो जाती थीं। उसके नितम्ब और कुच-कलश ऊँचे-ऊँचे थे और कमर पतली थी ॥ ५ ॥ वह अपनी मधुर मुसकान और कटाक्षपूर्ण चितवनसे व्रजवासियोंका चित्त चुरा रही थी। उस रूपवती रमणीको हाथमें कमल लेकर आते देख गोपियाँ ऐसी उत्प्रेक्षा करने लगीं, मानो स्वयं लक्ष्मीजी अपने पतिका दर्शन करनेके लिये आ रही हैं ॥ ६ ॥

पूतना बालकोंके लिये ग्रहके समान थी। वह इधर-उधर बालकोंको ढूँढ़ती हुई अनायास ही नन्दबाबाके घरमें घुस गयी। वहाँ उसने देखा कि बालक श्रीकृष्ण शय्यापर सोये हुए हैं। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण दुष्टोंके काल हैं। परन्तु जैसे आग राखकी ढेरीमें अपनेको छिपाये हुए हो, वैसे ही उस समय उन्होंने अपने प्रचण्ड तेजको छिपा रक्खा था ॥ ७ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण चर-अचर सभी प्राणियोंके आत्मा हैं। इसलिये उन्होंने उसी क्षण जान लिया कि यह बच्चोंको मार डालनेवाला

१. माकरादि०। २. धानाश्च। ३. दोत्पत्य।

अनन्तमारोपयदङ्कमन्तकं
यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः ॥ ८ ॥

पूतना-ग्रह है और अपने नेत्र बंद कर लिये ।* जैसे कोई पुरुष भ्रमवश सोये हुए साँपको रस्सी समझकर उठा ले, वैसे ही अपने कालरूप भगवान् श्रीकृष्णको पूतनाने अपनी गोदमें उठा लिया ॥ ८ ॥

* पूतनाको देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने नेत्र बंद कर लिये, इसपर भक्त कवियों और टीकाकारोंने अनेकों प्रकारकी उत्प्रेक्षाएँ की हैं, जिनमें कुछ ये हैं—

१. श्रीमद्वल्लभाचार्यने सुबोधिनीमें कहा है—अविद्या ही पूतना है । भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि मेरी दृष्टिके सामने अविद्या टिक नहीं सकती, फिर लीला कैसे होगी, इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

२. यह पूतना बाल-घातिनी है 'पूतानपि नयति' । यह पवित्र बालकोंको भी ले जाती है । ऐसा जघन्य कृत्य करनेवालीका मुँह नहीं देखना चाहिये, इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

३. इस जन्ममें तो इसने कुछ साधन किया नहीं है । संभव है मुझसे मिलनेके लिये पूर्वजन्ममें कुछ किया हो । मानो पूतनाके पूर्व-पूर्व जन्मोंके साधन देखनेके लिये ही श्रीकृष्णने नेत्र बंद कर लिये ।

४. भगवान्ने अपने मनमें विचार किया कि मैंने पापिनीका दूध कभी नहीं पिया है । अब जैसे लोग आँख बंद करके चिरायतेका काढ़ा पी जाते हैं, वैसे ही इसका दूध भी पी जाऊँ । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

५. भगवान्के उदरमें निवास करनेवाले असंख्य कोटि ब्रह्माण्डोंके जीव यह जानकर घबरा गये कि श्यामसुन्दर पूतनाके स्तनमें लगा हलाहल विष पीने जा रहे हैं । अतः उन्हें समझानेके लिये ही श्रीकृष्णने नेत्र बंद किये ।

६. श्रीकृष्णशिशुने विचार किया कि मैं गोकुलमें यह सोचकर आया था कि माखन-मिश्री खाऊँगा । सो छठीके दिन ही विष पीनेका अवसर आ गया । इसलिये आँख बंद करके मानो शङ्करजीका ध्यान किया कि आप आकर अपना अभ्यस्त विष-पान कीजिये, मैं दूध पीऊँगा ।

७. श्रीकृष्णके नेत्रोंने विचार किया कि परम स्वतन्त्र ईश्वर इस दुष्टाको अच्छी-बुरी चाहे जो गति दे दें, परन्तु हम दोनों इसे चन्द्रमार्ग अथवा सूर्यमार्ग—दोनोंमेंसे एक भी नहीं देंगे । इसलिये उन्होंने अपने द्वार बंद कर लिये ।

८. नेत्रोंने सोचा पूतनाके नेत्र हैं तो हमारी जातिके; परन्तु ये इस क्रूर राक्षसीकी शोभा बढ़ा रहे हैं । इसलिये अपने होनेपर भी ये दर्शनके योग्य नहीं हैं । इसलिये उन्होंने अपनेको पलकोंसे ढक लिया ।

९. श्रीकृष्णके नेत्रोंमें स्थित धर्मात्मा निमिने उस दुष्टाको देखना उचित न समझकर नेत्र बंद कर लिये ।

१० श्रीकृष्णके नेत्र राज-हंस हैं । उन्हें बकी पूतनाके दर्शन करनेकी कोई उत्कण्ठा नहीं थी । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

११. श्रीकृष्णने विचार किया कि बाहरसे तो इसने माताका-सा रूप धारण कर रक्खा है, परन्तु हृदयमें अत्यन्त क्रूरता भरे हुए है । ऐसी स्त्रीका मुँह न देखना ही उचित है । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

१२. उन्होंने सोचा कि मुझे निडर देखकर कहीं यह ऐसा न समझ जाय कि इसके ऊपर मेरा प्रभाव नहीं चला और फिर कहीं लौट न जाय । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

१३. बाल-लीलाके प्रारम्भमें पहले-पहल स्त्रीसे ही मुठभेड़ हो गयी, इस विचारसे विरक्तिपूर्वक नेत्र बंद कर लिये ।

१४. श्रीकृष्णके मनमें यह बात आयी कि करुणा-दृष्टिसे देखूँगा तो इसे मारूँगा कैसे, और उग्र दृष्टिसे देखूँगा तो यह अभी भस्म हो जायगी । लीलाकी सिद्धिके लिये नेत्र बंद कर लेना ही उत्तम है । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

१५. यह धात्रीका वेष धारण करके आयी है, मारना उचित नहीं है । परन्तु यह और ग्वालबालोंको मारेगी । इसलिये इसका यह वेष देखे बिना ही मार डालना चाहिये । इसलिये नेत्र बंद कर लिये ।

१६. बड़े से बड़ा अनिष्ट योगसे निवृत्त हो जाता है । उन्होंने नेत्र बंद करके मानो योगदृष्टि सम्पादित की ।

१७. पूतना यह निश्चय करके आयी थी कि मैं व्रजके सारे शिशुओंको मार डालूँगी, परन्तु भक्तरक्षापरायण भगवान्की कृपासे व्रजका एक भी शिशु उसे दिखायी नहीं दिया और बालकोंको खोजती हुई वह लीलाशक्तिकी

तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां
वीक्ष्यान्तरा कोशपरिच्छदासिवत् ।
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते
निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठताम् ॥ ९ ॥

तस्मिन् स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं
घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्
प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् ॥१०॥

सा मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी
निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्मणि ।

मखमली म्यानके भीतर छिपी हुई तीखी धारवाली तलवारके समान पूतनाका हृदय तो बड़ा कुटिल था; किन्तु ऊपरसे वह बहुत मधुर और सुन्दर व्यवहार कर रही थी। देखनेमें वह एक भद्र महिलाके समान जान पड़ती थी। इसलिये रोहिणी और यशोदाजीने उसे घरके भीतर आयी देखकर भी उसकी सौन्दर्यप्रभासे हतप्रतिभ-सी होकर कोई रोक-टोक नहीं की, चुपचाप खड़ी-खड़ी देखती रहीं ॥ ९ ॥ इधर भयानक राक्षसी पूतनाने बालक श्रीकृष्णको अपनी गोदमें लेकर उनके मुँहमें अपना स्तन दे दिया, जिसमें बड़ा भयङ्कर और किसी प्रकार भी पच न सकनेवाला विष लगा हुआ था। भगवान्‌ने क्रोध-को अपना साथी बनाया और दोनों हाथोंसे उसके स्तनोंको जोरसे दबाकर उसके प्राणोंके साथ उसका दूध पीने लगे (वे उसका दूध पीने लगे और उनका साथी क्रोध प्राण पीने लगा !)* ॥ १० ॥ अब तो पूतनाके प्राणोंके आश्रयभूत सभी मर्मस्थान फटने लगे। वह पुकारने लगी—'अरे छोड़ दे, छोड़ दे, अब बस कर!'

प्रेरणासे सीधी नन्दालयमें आ पहुँची, तब भगवान्‌ने सोचा कि मेरे भक्तका बुरा करनेकी बात तो दूर रही, जो मेरे भक्तका बुरा सोचता है, उस दुष्टका मैं मुँह नहीं देखता; व्रज-बालक सभी श्रीकृष्णके सखा हैं, परम भक्त हैं, पूतना उनको मारनेका सङ्कल्प करके आयी है, इसलिये उन्होंने नेत्र बंद कर लिये।

१८. पूतना अपनी भीषण आकृतिको छिपाकर राक्षसी मायासे दिव्य रमणी रूप बनाकर आयी है। भगवान्‌की दृष्टि पड़नेपर माया रहेगी नहीं और इसका असली भयानक रूप प्रकट हो जायगा। उसे सामने देखकर यशोदा मैया डर जायँ और पुत्रकी अनिष्टाशङ्कासे कहीं उनके हठात् प्राण निकल जायँ, इस आशङ्कासे उन्होंने नेत्र बंद कर लिये।

१९. पूतना हिंसापूर्ण हृदयसे आयी है, परन्तु भगवान् उसकी हिंसाके लिये उपयुक्त दण्ड न देकर उसका प्राण-वधमात्र करके परम कल्याण करना चाहते हैं। भगवान् समस्त सद्गुणोंके भण्डार हैं। उनमें धृष्टता आदि दोषोंका लेश भी नहीं है, इसीलिये पूतनाके कल्याणार्थ भी उसका प्राण-वध करनेमें उन्हें लज्जा आती है। इस लज्जासे ही उन्होंने नेत्र बंद कर लिये हैं।

२०. भगवान् जगत्पिता हैं—असुर-राक्षसादि भी उनकी सन्तान ही हैं। पर वे सर्वथा उच्छृङ्खल और उद्दण्ड हो गये हैं, इसलिये उन्हें दण्ड देना आवश्यक है। स्नेहमय माता-पिता जब अपने उच्छृङ्खल पुत्रको दण्ड देते हैं, तब उसके मनमें दुःख होता है। परन्तु वे उसे भय दिखलानेके लिये उसे बाहर प्रकट नहीं करते। इसी प्रकार भगवान् भी जब असुरोंको मारते हैं, तब पिताके नाते उनको भी दुःख होता है; पर दूसरे असुरोंको भय दिखलानेके लिये वे उसे प्रकट नहीं करते। भगवान् अब पूतनाको मारनेवाले हैं, परन्तु उसकी मृत्युकालीन पीडाको अपनी आँखों देखना नहीं चाहते, इसीसे उन्होंने नेत्र बंद कर लिये।

२१. छोटे बालकोंका स्वभाव है कि वे अपनी माके सामने खूब खेलते हैं, पर किसी अपरिचितको देखकर डर जाते हैं और नेत्र मूँद लेते हैं। अपरिचित पूतनाको देखकर इसीलिये बाललीला-विहारी भगवान्‌ने नेत्र बंद कर लिये। यह उनकी बाललीलाका माधुर्य है।

* भगवान् रोषके साथ पूतनाके प्राणोंके सहित स्तन-पान करने लगे, इसका यह अर्थ प्रतीत होता है कि रोष (रोषाधिष्ठातृ देवता रुद्र) ने प्राणोंका पान किया और श्रीकृष्णने स्तनका।

विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः
प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह ॥११॥
तस्याः स्वनेनातिगभीररंहसा
साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा।
रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे जनाः
पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया ॥१२॥
निशाचरीत्थं व्यथितस्तना व्यसु-
र्व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि।
प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता
वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥१३॥
पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान्।
चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत्तदद्भुतम् ॥१४॥
ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम्।
गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम् ॥१५॥
अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम्।
बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रि शून्यतोयह्रदोदरम् ॥१६॥
सन्तत्रसुः स्म तद् वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेवरम्।
पूर्वं तु तन्निःस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः ॥१७॥
बालं च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम्।

वह बार-बार अपने हाथ और पैर पटक-पटककर रोने लगी। उसके नेत्र उलट गये। उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया ॥ ११ ॥ उसकी चिल्लाहटका वेग बड़ा भयङ्कर था। उसके प्रभावसे पहाड़ोंके साथ पृथ्वी और ग्रहोंके साथ अन्तरिक्ष डगमगा उठा। सातों पाताल और दिशाएँ गूँज उठीं। बहुत-से लोग वज्रपातकी आशङ्कासे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२ ॥ परीक्षित्! इस प्रकार निशाचरी पूतनाके स्तनोंमें इतनी पीड़ा हुई कि वह अपनेको छिपा न सकी, राक्षसीरूपमें प्रकट हो गयी। उसके शरीरसे प्राण निकल गये, मुँह फट गया, बाल बिखर गये और हाथ-पाँव फैल गये। जैसे इन्द्रके वज्रसे घायल होकर वृत्रासुर गिर पड़ा था, वैसे ही वह बाहर गोष्ठमें आकर गिर पड़ी ॥ १३ ॥

राजेन्द्र! पूतनाके शरीरने गिरते-गिरते भी छः कोसके भीतरके वृक्षोंको कुचल डाला। यह बड़ी ही अद्भुत घटना हुई ॥ १४ ॥ पूतनाका शरीर बड़ा भयानक था, उसका मुँह हलके समान तीखी और भयङ्कर दाढ़ोंसे युक्त था। उसके नथुने पहाड़की गुफाके समान गहरे थे और स्तन पहाड़से गिरी हुई चट्टानोंकी तरह बड़े-बड़े थे। लाल-लाल बाल चारों ओर बिखरे हुए थे ॥ १५ ॥ आँखें अंधे कूएँके समान गहरी; नितम्ब नदीके करारकी तरह भयङ्कर; भुजाएँ, जाँघें और पैर नदीके पुलके समान तथा पेट सूखे हुए सरोवरकी भाँति जान पड़ता था ॥ १६ ॥ पूतनाके उस शरीरको देखकर सब-के-सब ग्वाल और गोपी डर गये। उसकी भयङ्कर चिल्लाहट सुनकर उनके हृदय, कान और सिर तो पहले ही फट-से रहे थे ॥ १७ ॥ जब गोपियोंने देखा कि बालक श्रीकृष्ण उसकी छातीपर निर्भय होकर खेल रहे हैं, * तब वे बड़ी घबराहट और

१. हुर्निःस्विन्न०।

* पूतनाके वक्षःस्थलपर क्रीडा करते हुए मानो मन-ही-मन कह रहे थे—

स्तनन्धयस्य स्तन एव जीविका दत्तस्त्वया स स्वयमानने मम।
मया च पीतो म्रियते यदि त्वया किं वा ममागः स्वयमेव कथ्यताम् ॥

'मैं दुधमुँहाँ शिशु हूँ, स्तनपान ही मेरी जीविका है। तुमने स्वयं अपना स्तन मेरे मुँहमें दे दिया और मैंने पिया। इससे यदि तुम मर जाती हो तो स्वयं तुम्हीं बताओ इसमें मेरा क्या अपराध है।'

राजा बलिकी कन्या थी रत्नमाला। यज्ञशालामें वामन भगवान्‌को देखकर उसके हृदयमें पुत्रस्नेहका भाव उदय हो आया। वह मन-ही-मन अभिलाषा करने लगी कि यदि मुझे ऐसा बालक हो और मैं उसे स्तन पिलाऊँ तो मुझे बड़ी प्रसन्नता

गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातसम्भ्रमाः ॥१८॥
यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य सर्वतः ।
रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छभ्रमणादिभिः ॥१९॥
गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम् ।
रक्षां चक्रुश्च शकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः ॥२०॥
गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् ।
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत ॥२१॥

अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तव जान्वथोरू
यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः ।
हृत् केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं
विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम् ॥२२॥
चक्र्यग्रतः सहगदो हरिरस्तु पश्चात्
त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाजनश्च ।
कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्र-
स्तार्क्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात् ॥२३॥

इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोऽवतु ।
श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु ॥२४॥
पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः ।
क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः ॥२५॥
व्रजन्तमव्याद् वैकुण्ठ आसीनं त्वां श्रियः पतिः ।
भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयङ्करः ॥२६॥
डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः ।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः ॥२७॥
कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः ।
उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः ॥२८॥

उतावलीके साथ झटपट वहाँ पहुँच गयीं तथा श्रीकृष्णको उठा लिया ॥ १८ ॥ इसके बाद यशोदा और रोहिणी के साथ गोपियोंने गायकी पूँछ घुमाने आदि उपायोंसे बालक श्रीकृष्णके अङ्गोंकी सब प्रकारसे रक्षा की ॥ १९ ॥ उन्होंने पहले बालक श्रीकृष्णको गोमूत्रसे स्नान कराया, फिर सब अङ्गोंमें गो-रज लगायी और फिर बारहों अङ्गोंमें गोबर लगाकर भगवान्के केशव आदि नामोंसे रक्षा की॥ २० ॥ इसके बाद गोपियोंने आचमन करके 'अज' आदि ग्यारह बीज-मन्त्रोंसे अपने शरीरोंमें अलग-अलग अङ्गन्यास एवं करन्यास किया और फिर बालकके अङ्गोंमें बीजन्यास किया ॥ २१ ॥

वे कहने लगीं—'अजन्मा भगवान् तेरे पैरोंकी रक्षा करें, मणिमान् घुटनोंकी, यज्ञपुरुष जाँघोंकी, अच्युत कमरकी, हयग्रीव पेटकी, केशव हृदयकी, ईश वक्षःस्थलकी, सूर्य कण्ठकी, विष्णु बाँहोंकी, उरुक्रम मुखकी और ईश्वर सिरकी रक्षा करें ॥ २२ ॥ चक्रधर भगवान् रक्षाके लिये तेरे आगे रहें, गदाधारी श्रीहरि पीछे, क्रमशः धनुष और खड्ग धारण करनेवाले भगवान् मधुसूदन और अजन दोनों बगलमें, शङ्खधारी उरुगाय चारों कोनोंमें, उपेन्द्र ऊपर, हलधर पृथ्वीपर और भगवान् परमपुरुष तेरे सब ओर रक्षाके लिये रहें ॥ २३ ॥ हृषीकेश भगवान् इन्द्रियोंकी और नारायण प्राणोंकी रक्षा करें । श्वेतद्वीपके अधिपति चित्तकी और योगेश्वर मनकी रक्षा करें ॥ २४ ॥ पृश्निगर्भ तेरी बुद्धिकी और परमात्मा भगवान् तेरे अहङ्कारकी रक्षा करें । खेलते समय गोविन्द रक्षा करें, सोते समय माधव रक्षा करें ॥ २५ ॥ चलते समय भगवान् वैकुण्ठ और बैठते समय भगवान् श्रीपति तेरी रक्षा करें । भोजनके समय समस्त ग्रहोंको भयभीत करनेवाले यज्ञभोक्ता भगवान् तेरी रक्षा करें ॥ २६ ॥ डाकिनी, राक्षसी और कूष्माण्डा आदि बालग्रह; भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस और विनायक, कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना, मातृका आदि; शरीर, प्राण तथा इन्द्रियोंका नाश करनेवाले उन्माद (पागलपन) एवं अपस्मार (मृगी) आदि रोग;

१. सर्वशः । २. सा सुतम् । ३. जङ्घे । ४. र्भस्ततो । ५. केशवः ।

होगी । वामन भगवान्ने अपने भक्त बलिकी पुत्रीके इस मनोरथका मन-ही-मन अनुमोदन किया । वही द्वापरमें पूतना हुई और श्रीकृष्णके स्पर्शसे उसकी लालसा पूर्ण हुई ।

स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये ।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ॥२९॥

श्रीशुक उवाच

इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम् ।
पाययित्वा स्तनं माता संन्यवेशयदात्मजम् ॥३०॥

तावन्नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः ।
विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः ॥३१॥

नूनं बतर्षिः संजातो योगेशो वा समास सः ।
स एव दृष्टो ह्युत्पातो यदाहानकदुन्दुभिः ॥३२॥

कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा तत्ते व्रजौकसः ।
दूरे क्षिप्त्वावयवशो न्यदहन् काष्ठधिष्ठितम्[1] ॥३३॥

दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः ।
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः ॥३४॥

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना ।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम् ॥३५॥

किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने ।
यच्छन् प्रियतमं किं नु रक्तास्तन्मातरो यथा ॥३६॥

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः ।
अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम् ॥३७॥

स्वप्नमें देखे हुए महान् उत्पात, वृद्धग्रह और बालग्रह आदि—ये सभी अनिष्ट भगवान् विष्णुका नामोच्चारण करनेसे भयभीत होकर नष्ट हो जायँ*' ॥ २७–२९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस प्रकार गोपियोंने प्रेमपाशमें बँधकर भगवान् श्रीकृष्णकी रक्षा की। माता यशोदाने अपने पुत्रको स्तन पिलाया और फिर पालनेपर सुला दिया ॥ ३० ॥ इसी समय नन्दबाबा और उनके साथी गोप मथुरासे गोकुलमें पहुँचे। जब उन्होंने पूतनाका भयङ्कर शरीर देखा, तब वे आश्चर्यचकित हो गये ॥ ३१ ॥ वे कहने लगे—'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है, अवश्य ही वसुदेवके रूपमें किसी ऋषिने जन्म ग्रहण किया है। अथवा सम्भव है वसुदेवजी पूर्वजन्ममें कोई योगेश्वर रहे हों; क्योंकि उन्होंने जैसा कहा था, वैसा ही उत्पात यहाँ देखनेमें आ रहा है ॥ ३२ ॥ तबतक व्रजवासियोंने कुल्हाड़ीसे पूतनाके शरीरको टुकड़े-टुकड़े कर डाला और गोकुलसे दूर ले जाकर लकड़ियोंपर रखकर जला दिया ॥ ३३ ॥ जब उसका शरीर जलने लगा, तब उसमेंसे ऐसा धूआँ निकला, जिसमेंसे अगरकी-सी सुगन्ध आ रही थी। क्यों न हो, भगवान्‌ने जो उसका दूध पी लिया था—जिससे उसके सारे पाप तत्काल ही नष्ट हो गये थे ॥ ३४ ॥ पूतना एक राक्षसी थी। लोगोंके बच्चोंको मार डालना और उनका खून पी जाना—यही उसका काम था। भगवान्‌को भी उसने मार डालनेकी इच्छासे ही स्तन पिलाया था। फिर भी उसे वह परम गति मिली, जो सत्पुरुषोंको मिलती है॥ ३५॥ ऐसी स्थितिमें जो परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको श्रद्धा और भक्तिसे माताके समान अनुरागपूर्वक अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु और उनको प्रिय लगनेवाली वस्तु समर्पित करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥ ३६ ॥ भगवान्‌के चरणकमल सबके वन्दनीय ब्रह्मा, शङ्कर आदि देवताओंके द्वारा भी वन्दित हैं। वे भक्तोंके हृदयकी पूँजी हैं। उन्हीं चरणोंसे भगवान्‌ने पूतनाका शरीर दबाकर उसका स्तन-पान किया था ॥ ३७ ॥

[1] निर्देहुः ।

* इस प्रसङ्गको पढ़कर भावुक भक्त भगवान्‌से कहता है—'भगवन् ! जान पड़ता है, आपकी अपेक्षा भी आपके नाममें शक्ति अधिक है; क्योंकि आप त्रिलोकीकी रक्षा करते हैं और नाम आपकी रक्षा कर रहा है।'

यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम् ।
कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावो नु मातरः ॥३८॥

माना कि वह राक्षसी थी, परन्तु उसे उत्तम-से-उत्तम गति—जो माताको मिलनी चाहिये—प्राप्त हुई । फिर जिनके स्तनका दूध भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे पिया, उन गौओं और माताओंकी* तो बात ही क्या है ॥ ३८ ॥

पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम् ।
भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलप्रदः ॥३९॥

परीक्षित् ! देवकीनन्दन भगवान् कैवल्य आदि सब प्रकारकी मुक्ति और सब कुछ देनेवाले हैं । उन्होंने व्रजकी गोपियों और गौओंका वह दूध, जो भगवान्‌के प्रति पुत्र-भाव होनेसे वात्सल्य-स्नेहकी अधिकताके कारण स्वयं ही झरता रहता था, भरपेट पान किया ॥ ३९ ॥

तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् ।
न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥४०॥

राजन् ! वे गौएँ और गोपियाँ, जो नित्य-निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णको अपने पुत्रके ही रूपमें देखती थीं, फिर जन्म-मृत्यु-रूप संसारके चक्रमें कभी नहीं पड़ सकतीं; क्योंकि यह संसार तो अज्ञानके कारण ही है ॥ ४० ॥

कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः ।
किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययुः ॥४१॥

नन्दबाबाके साथ आनेवाले व्रजवासियोंकी नाकमें जब चिताके धूएँकी सुगन्ध पहुँची, तब 'यह क्या है ! कहाँसे ऐसी सुगन्ध आ रही है ?' इस प्रकार कहते हुए वे व्रजमें पहुँचे ॥ ४१ ॥

ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम् ।
श्रुत्वा[1] तन्निधनं स्वस्ति शिशोश्चासन् सुविस्मिताः ॥४२॥

वहाँ गोपोंने उन्हें पूतनाके आनेसे लेकर मरनेतकका सारा वृत्तान्त कह सुनाया । वे लोग पूतनाकी मृत्यु और श्रीकृष्णके कुशलपूर्वक बच जानेकी बात सुनकर बड़े ही आश्चर्यचकित हुए ॥ ४२ ॥

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रेत्यागतमुदारधीः ।
मूर्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह ॥४३॥

परीक्षित् ! उदारशिरोमणि नन्दबाबाने मृत्युके मुखसे बचे हुए अपने लालाको गोदमें उठा लिया और बार-बार उसका सिर सूँघकर मन-ही-मन बहुत आनन्दित हुए ॥ ४३ ॥

य एतत् पूतनामोक्षं[2] कृष्णस्यार्भकमद्भुतम् ।
शृणुयाच्छ्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते रतिम् ॥४४॥

यह 'पूतना-मोक्ष' भगवान् श्रीकृष्णकी अद्भुत बाल-लीला है । जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक इसका श्रवण करता है, उसे भगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रेम प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

---

१. निशम्य श्रद्धया । २. पूतनामोक्षः ।

*जब ब्रह्माजी ग्वालबाल और बछड़ोंको हर ले गये, तब भगवान् स्वयं ही बछड़े और ग्वालबाल बन गये, उस समय अपने विभिन्न रूपोंसे उन्होंने अपने साथी अनेकों गोप और वत्सोंकी माताओंका स्तनपान किया । इसीलिये यहाँ बहुवचनका प्रयोग किया गया है ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

शकट-भञ्जन और तृणावर्त-उद्धार

राजोवाच

येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः ।
करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥ १ ॥

यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा
सत्त्वं च शुद्ध्यत्यचिरेण पुंसः ।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं
तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥ २ ॥

अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम् ।
मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः ॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच

कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे
जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।
वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकै-
श्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥ ४ ॥

नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं
विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—प्रभो! सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि अनेकों अवतार धारण करके बहुत-सी सुन्दर एवं सुननेमें मधुर लीलाएँ करते हैं। वे सभी मेरे हृदयको बहुत प्रिय लगती हैं ॥ १ ॥ उनके श्रवणमात्रसे भगवत्-सम्बन्धी कथासे अरुचि और विविध विषयोंकी तृष्णा भाग जाती है। मनुष्यका अन्तःकरण शीघ्र-से-शीघ्र शुद्ध हो जाता है। भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति और उनके भक्तजनोंसे प्रेम भी प्राप्त हो जाता है। यदि आप मुझे उनके श्रवणका अधिकारी समझते हों, तो भगवान्‌की उन्हीं मनोहर लीलाओंका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्य-लोकमें प्रकट होकर मनुष्य-जातिके स्वभावका अनुसरण करते हुए जो बाललीलाएँ की हैं अवश्य ही वे अत्यन्त अद्भुत हैं, इसलिये आप अब उनकी दूसरी बाल-लीलाओंका भी वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक बार * भगवान् श्रीकृष्णके करवट बदलनेका अभिषेक-उत्सव मनाया जा रहा था। उसी दिन उनका जन्मनक्षत्र भी था। घरमें बहुत-सी स्त्रियोंकी भीड़ लगी हुई थी। गाना-बजाना हो रहा था। उन्हीं स्त्रियोंके बीचमें खड़ी हुई सती साध्वी यशोदाजीने अपने पुत्रका अभिषेक किया। उस समय ब्राह्मणलोग मन्त्र पढ़कर आशीर्वाद दे रहे थे ॥ ४ ॥ नन्दरानी यशोदाजीने ब्राह्मणोंका खूब पूजन-सम्मान किया। उन्हें अन्न, वस्त्र, माला, गाय आदि मुँहमाँगी वस्तुएँ दीं। जब यशोदाने उन ब्राह्मणों-द्वारा स्वस्तिवाचन कराकर स्वयं बालकको नहलाने

* यहाँ कदाचित् (एक बार) से तात्पर्य है तीसरे महीनेके जन्मनक्षत्रयुक्त कालसे। उस समय श्रीकृष्णकी झाँकीका ऐसा वर्णन मिलता है—

स्निग्धाः पश्यति सस्मयीति भुजयोर्युग्मं मुहुश्चालयत्यत्यल्पं मधुरं च कूजति परिष्वङ्गाय चाकाङ्क्षति ।
लाभालाभवशादमुष्य लसति क्रन्दत्यपि क्वाप्यसौ पीतस्तन्यतया स्वपित्यपि पुनर्जाग्रन्मुदं यच्छति ॥

'स्नेहसे तर गोपियोंको आँख उठाकर देखते हैं और मुसकराते हैं। दोनों भुजाएँ बारम्बार हिलाते हैं। बड़े मधुर स्वरसे थोड़ा-थोड़ा कूजते हैं। गोदमें आनेके लिये ललकते हैं। किसी वस्तुको पाकर उससे खेलने लग जाते हैं और न मिलनेसे क्रन्दन करते हैं। कभी-कभी दूध पीकर सो जाते हैं और फिर जागकर आनन्दित करते हैं।'

अन्नाद्यवासःस्रगभीष्टधेनुभिः
संजातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५ ॥
औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी
समागतान् पूजयती व्रजौकसः ।
नैवाशृणोद् वै रुदितं सुतस्य सा
रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥ ६ ॥
अधः शयानस्य शिशोरनोऽल्पक-
प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत ।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं
व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा व्रजस्त्रिय
औत्थानिके कर्मणि याः समागताः ।
नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः
कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात् ॥ ८ ॥
ऊचुरव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्च बालकाः ।
रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥ ९ ॥
न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत ।
अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुः ॥१०॥
रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता ।

आदिका कार्य सम्पन्न कर लिया, तब यह देखकर कि मेरे लल्लाके नेत्रोंमें नींद आ रही है, अपने पुत्रको धीरेसे शय्यापर सुला दिया ॥ ५ ॥ थोड़ी देरमें श्यामसुन्दरकी आँखें खुलीं, तो वे स्तन-पानके लिये रोने लगे । उस समय मनस्विनी यशोदाजी उत्सवमें आये हुए व्रजवासियोंके स्वागत-सत्कारमें बहुत ही तन्मय हो रही थीं । इसलिये उन्हें श्रीकृष्णका रोना सुनायी नहीं पड़ा । तब श्रीकृष्ण रोते-रोते अपने पाँव उछालने लगे ॥ ६ ॥ शिशु श्रीकृष्ण एक छकड़ेके नीचे सोये हुए थे । उनके पाँव अभी लाल-लाल कोंपलोंके समान बड़े ही कोमल और नन्हे-नन्हे थे । परन्तु वह नन्हा-सा पाँव लगते ही विशाल छकड़ा उलट गया* । उस छकड़ेपर दूध-दही आदि अनेक रसोंसे भरी हुई मटकियाँ और दूसरे बर्तन रक्खे हुए थे । वे सब-के-सब फूट-फाट गये और छकड़ेके पहिये तथा धुरे अस्त-व्यस्त हो गये । उसका जूआ फट गया ॥ ७ ॥ करवट बदलनेके उत्सवमें जितनी भी स्त्रियाँ आयी हुई थीं, वे सब, और यशोदा, रोहिणी, नन्दबाबा और गोपगण इस विचित्र घटनाको देखकर व्याकुल हो गये । वे आपसमें कहने लगे—'अरे यह क्या हो गया ? यह छकड़ा अपने-आप कैसे उलट गया ?' ॥ ८ ॥ वे इसका कोई कारण निश्चित न कर सके । वहाँ खेलते हुए बालकोंने गोपों और गोपियोंसे कहा कि 'इस कृष्णने ही तो रोते-रोते अपने पाँवकी ठोकरसे इसे उलट दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं, ॥ ९ ॥ परन्तु गोपोंने उसे 'बालकोंकी बात' मानकर उसपर विश्वास नहीं किया । ठीक ही है, वे गोप उस बालकके अनन्त बलको नहीं जानते थे ॥ १० ॥

यशोदाजीने समझा यह किसी ग्रह आदिका उत्पात है । उन्होंने अपने रोते हुए लाड़ले लालको गोदमें

* हिरण्याक्षका पुत्र था उत्कच । वह बहुत बलवान् एवं मोटा-तगड़ा था । एक बार यात्रा करते समय उसने लोमश ऋषिके आश्रमके वृक्षोंको कुचल डाला । लोमश ऋषिने क्रोध करके शाप दे दिया—'अरे दुष्ट ! जा, तू देहरहित हो जा ।' उसी समय साँपके केंचुलके समान उसका शरीर गिरने लगा । वह धड़ामसे लोमश ऋषिके चरणोंपर गिर पड़ा और प्रार्थना की—'कृपासिन्धो ! मुझपर कृपा कीजिये; मुझे आपके प्रभावका ज्ञान नहीं था । मेरा शरीर लौटा दीजिये ।' लोमशजी प्रसन्न हो गये । महात्माओंका शाप भी वर हो जाता है । उन्होंने कहा—'वैवस्वत मन्वन्तरमें श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शसे तेरी मुक्ति हो जायगी । वही असुर छकड़ेमें आकर बैठ गया था और भगवान् श्रीकृष्णके चरणस्पर्शसे मुक्त हो गया ।

कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत् ॥११॥

पूर्ववत् स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम् ।

विप्रा हुत्वार्चयाञ्चक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः ॥१२॥

येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः ।

न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः॥१३॥

इति बालकमादाय सामर्ग्यजुरुपाकृतैः ।

जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः ॥१४॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः ।

हुत्वा चाग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम्॥१५॥

गावः सर्वगुणोपेता वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ।

आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात्ते चान्वयुञ्जत ॥१६॥

विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाऽऽशिषः ।

ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम् ।१७।

एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती ।

गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ॥१८॥

भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता ।

महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु ॥१९॥

दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः ।

चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम् ॥२०॥

लेकर ब्राह्मणोंसे वेदमन्त्रोंके द्वारा शान्तिपाठ कराया और फिर वे उसे स्तन पिलाने लगीं ॥ ११ ॥ बलवान् गोपोंने छकड़ेको फिर सीधा कर दिया । उसपर पहले-की तरह सारी सामग्री रख दी गयी । ब्राह्मणोंने हवन किया और दही, अक्षत, कुश तथा जलके द्वारा भगवान् और उस छकड़ेकी पूजा की ॥ १२ ॥ जो किसीके गुणोंमें दोष नहीं निकालते, झूठ नहीं बोलते, दम्भ, ईर्ष्या और हिंसा नहीं करते तथा अभिमानसे रहित हैं—उन सत्यशील ब्राह्मणोंका आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता ॥ १३ ॥ यह सोचकर नन्दबाबाने बालक-को गोदमें उठा लिया और ब्राह्मणोंसे साम, ऋक् और यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा संस्कृत एवं पवित्र ओषधियोंसे युक्त जलसे अभिषेक कराया ॥ १४ ॥ उन्होंने बड़ी एकाग्रतासे स्वस्त्ययनपाठ और हवन कराकर ब्राह्मणोंको अति उत्तम अन्नका भोजन कराया ॥ १५ ॥ इसके बाद नन्दबाबाने अपने पुत्रकी उन्नति और अभिवृद्धि-की कामनासे ब्राह्मणोंको सर्वगुणसम्पन्न बहुत-सी गौएँ दीं । वे गौएँ वस्त्र, पुष्पमाला और सोनेके हारोंसे सजी हुई थीं । ब्राह्मणोंने उन्हें आशीर्वाद दिया ॥ १६ ॥ यह बात स्पष्ट है कि जो वेदवेत्ता और सदाचारी ब्राह्मण होते हैं, उनका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता ॥ १७ ॥

एक दिनकी बात है, सती यशोदाजी अपने प्यारे लल्लाको गोदमें लेकर दुलार रही थीं । सहसा श्रीकृष्ण चट्टानके समान भारी बन गये । वे उनका भार न सह सकीं ॥ १८ ॥ उन्होंने भारसे पीड़ित होकर श्रीकृष्ण-को पृथ्वीपर बैठा दिया । इस नयी घटनासे वे अत्यन्त चकित हो रही थीं । इसके बाद उन्होंने भगवान् पुरुषोत्तमका स्मरण किया और घरके काममें लग गयीं ॥ १९ ॥

तृणावर्त नामका एक दैत्य था । वह कंसका निजी सेवक था । कंसकी प्रेरणासे ही बवंडरके रूपमें वह गोकुलमें आया और बैठे हुए बालक श्रीकृष्णको उड़ाकर

१. प्रचो० ।

गोकुलं सर्वमावृण्वन् मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः ।
ईरयन् सुमहाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः ॥२१॥
मुहूर्तमभवद् गोष्ठं रजसा तमसाऽऽवृतम् ।
सुतं यशोदा नापश्यत्तस्मिन् न्यस्तवती यतः ॥२२॥
नापश्यत् कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः ।
तृणावर्तनिसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः ॥२३॥
इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे
सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता ।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोचद्
भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः ॥२४॥
रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो
भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं
पवन उपारतपांसुवर्षवेगे ॥२५॥
तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन् ।
कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद् भूरिभारभृत् ॥२६॥
तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया ।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम् ॥२७॥
गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः ।
अव्यक्तरावो न्यपतत् सहबालो व्यसुर्व्रजे ॥२८॥

आकाशमें ले गया ॥ २० ॥ उसने व्रजरजसे सारे गोकुलको ढक दिया और लोगोंकी देखनेकी शक्ति हर ली । उसके अत्यन्त भयङ्कर शब्दसे दसों दिशाएँ काँप उठीं ॥ २१ ॥ सारा व्रज दो घड़ीतक रज और तमसे ढका रहा । यशोदाजीने अपने पुत्रको जहाँ बैठा दिया था, वहाँ जाकर देखा तो श्रीकृष्ण वहाँ नहीं थे ॥ २२ ॥ उस समय तृणावर्तने बवंडररूपसे इतनी बालू उड़ा रक्खी थी कि सभी लोग अत्यन्त उद्विग्न और बेसुध हो गये थे । उन्हें अपना-पराया कुछ भी नहीं सूझ रहा था ॥ २३ ॥ उस जोरकी आँधी और धूलकी वर्षामें अपने पुत्रका पता न पाकर यशोदाको बड़ा शोक हुआ । वे अपने पुत्रकी याद करके बहुत ही दीन हो गयीं और बछड़ेके मर जानेपर गायकी जो दशा हो जाती है, वही दशा उनकी हो गयी । वे पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ २४ ॥ बवंडरके शान्त होनेपर जब धूलकी वर्षाका वेग कम हो गया, तब यशोदाजीके रोनेका शब्द सुनकर दूसरी गोपियाँ वहाँ दौड़ आयीं । नन्दनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको न देखकर उनके हृदयमें भी बड़ा संताप हुआ, आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगी । वे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २५ ॥

इधर तृणावर्त बवंडररूपसे जब भगवान् श्रीकृष्णको आकाशमें उठा ले गया, तब उनके भारी बोझको न सम्हाल सकनेके कारण उसका वेग शान्त हो गया । वह अधिक चल न सका ॥ २६ ॥ तृणावर्त अपनेसे भी भारी होनेके कारण श्रीकृष्णको नीलगिरिकी चट्टान समझने लगा । उन्होंने उसका गला ऐसा पकड़ा कि वह उस अद्भुत शिशुको अपनेसे अलग नहीं कर सका ॥ २७ ॥ भगवान्‌ने इतने जोरसे उसका गला पकड़ रक्खा था कि वह असुर निश्चेष्ट हो गया । उसकी आँखें बाहर निकल आयीं । बोलती बंद हो गयी । प्राण-पखेरू उड़ गये । और बालक श्रीकृष्णके साथ वह व्रजमें गिर पड़ा* ॥ २८ ॥

१. दश ।

* पाण्डुदेशमें सहस्राक्ष नामके एक राजा थे । वे नर्मदा-तटपर अपनी रानियोंके साथ विहार कर रहे थे । उधरसे दुर्वासा ऋषि निकले, परन्तु उन्होंने प्रणाम नहीं किया । ऋषिने शाप दिया—'तू राक्षस हो जा ।' जब वह उनके चरणोंपर गिरकर गिड़गिड़ाया, तब दुर्वासाजीने कह दिया—'भगवान् श्रीकृष्णके श्रीविग्रहका स्पर्श होते ही तू मुक्त हो जायगा ।' वही राजा तृणावर्त होकर आया था और श्रीकृष्णका संस्पर्श प्राप्त करके मुक्त हो गया ।

तमन्तरिक्षात् पतितं शिलायां
विशीर्णसर्वावयवं करालम् ।
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं
स्त्रियो रुदत्यो ददृशुः समेताः ॥२९॥

आदाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः
कृष्णं च तस्योरसि लम्बमानम् ।
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं
विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ।
गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या
लब्ध्वा पुनः प्रापुरतीव मोदम् ॥३०॥

अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा
बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः ।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते ॥३१॥

किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं
पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम् ।
यत्संपरेतः पुनरेव बालको
दिष्ट्या स्वबन्धून् प्रणयन्नुपस्थितः ॥३२॥

दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने ।
वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः ॥३३॥

एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी ।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥३४॥

पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् ।

वहाँ जो स्त्रियाँ इकट्ठी होकर रो रही थीं, उन्होंने देखा कि वह विकराल दैत्य आकाशसे एक चट्टानपर गिर पड़ा और उसका एक-एक अङ्ग चकनाचूर हो गया—ठीक वैसे ही, जैसे भगवान् शङ्करके बाणोंसे आहत हो त्रिपुरासुर गिरकर चूर-चूर हो गया था ॥ २९ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण उसके वक्षःस्थलपर लटक रहे थे। यह देखकर गोपियाँ विस्मित हो गयीं। उन्होंने झटपट वहाँ जाकर श्रीकृष्णको गोदमें ले लिया और लाकर उन्हें माताको दे दिया। बालक मृत्युके मुखसे सकुशल लौट आया। यद्यपि उसे राक्षस आकाशमें उठा ले गया था, फिर भी वह बच गया। इस प्रकार बालक श्रीकृष्णको फिर पाकर यशोदा आदि गोपियों तथा नन्द आदि गोपोंको अत्यन्त आनन्द हुआ ॥ ३० ॥ वे कहने लगे—'अहो! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है। देखो तो सही यह कितनी अद्भुत घटना घट गयी! यह बालक राक्षसके द्वारा मृत्युके मुखमें डाल दिया गया था, परन्तु फिर जीता-जागता आ गया और उस हिंसक दुष्टको उसके पाप ही खा गये! सच है, साधुपुरुष अपनी समतासे ही सम्पूर्ण भयोंसे बच जाता है ॥ ३१ ॥ हमने ऐसा कौन-सा तप, भगवान्‌की पूजा, प्याऊ-पौसला, कूआँ-बावली, बाग-बगीचे आदि पूर्त, यज्ञ, दान अथवा जीवोंकी भलाई की थी, जिसके फलसे हमारा यह बालक मरकर भी अपने स्वजनोंको सुखी करनेके लिये फिर लौट आया? अवश्य ही यह बड़े सौभाग्यकी बात है' ॥ ३२ ॥ जब नन्दबाबाने देखा कि महावनमें बहुत-सी अद्भुत घटनाएँ घटित हो रही हैं, तब आश्चर्यचकित होकर उन्होंने वसुदेवजीकी बातका बार-बार समर्थन किया ॥ ३३ ॥

एक दिनकी बात है, यशोदाजी अपने प्यारे शिशुको अपनी गोदमें लेकर बड़े प्रेमसे स्तन-पान करा रही थीं। वे वात्सल्य-स्नेहसे इस प्रकार सराबोर हो रही थीं कि उनके स्तनोंसे अपने-आप ही दूध झरता जा रहा था ॥ ३४ ॥ जब वे प्रायः दूध पी चुके और माता यशोदा उनके रुचिर मुसुकानसे युक्त मुखको चूम रही थीं

१. गृह्य। २. सुतं। ३. सुतस्य।

मुखं लालयती राजञ्जृम्भतो ददृशे इदम् ॥३५॥

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः
सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि
भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥३६॥

सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् सञ्जातवेपथुः ।
सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता ॥३७॥

उसी समय श्रीकृष्णको जँभाई आ गयी और माताने उनके मुखमें यह देखा * ॥ ३५ ॥ उसमें आकाश, अन्तरिक्ष, ज्योतिर्मण्डल, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत, नदियाँ, वन और समस्त चराचर प्राणी स्थित हैं ॥ ३६ ॥ परीक्षित् ! अपने पुत्रके मुँहमें इस प्रकार सहसा सारा जगत् देखकर मृगशावकनयनी यशोदाजीका शरीर काँप उठा। उन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें बंद कर लीं † । वे अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गयीं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
तृणावर्तमोक्षो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

नामकरण-संस्कार और बाललीला

श्रीशुक उवाच[2]

गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः ।
व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
आनर्चाधोक्षजधिया[3] प्रणिपातपुरःसरम् ॥ २ ॥

सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम् ।
नन्दयित्वाब्रवीद् ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! यदुवंशियोंके कुल-पुरोहित थे श्रीगर्गाचार्यजी । वे बड़े तपस्वी थे । वसुदेवजीकी प्रेरणासे वे एक दिन नन्दबाबाके गोकुलमें आये ॥ १ ॥ उन्हें देखकर नन्दबाबाको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए । उनके चरणोंमें प्रणाम किया । इसके बाद 'ये स्वयं भगवान् ही हैं'—इस भावसे उनकी पूजा की ॥ २ ॥ जब गर्गाचार्यजी आरामसे बैठ गये और विधिपूर्वक उनका आतिथ्य-सत्कार हो गया, तब नन्दबाबाने बड़ी ही मधुर वाणीसे उनका अभिनन्दन किया और कहा—'भगवन् ! आप तो स्वयं पूर्णकाम हैं, फिर मैं आपकी क्या सेवा

१. शकटतृणावर्तवधः । २. बादरायणिरुवाच । ३. अभ्यर्च्याधो० ।

* स्नेहमयी जननी और स्नेहके सदा भूखे भगवान् ! उन्हें दूध पीनेसे तृप्ति ही नहीं होती थी । माके मनमें शङ्का हुई—कहीं अधिक पीनेसे अपच न हो जाय । प्रेम सर्वदा अनिष्टकी आशङ्का उत्पन्न करता है । श्रीकृष्णने अपने मुखमें विश्वरूप दिखाकर कहा—'अरी मैया ! तेरा दूध मैं अकेले ही नहीं पीता हूँ । मेरे मुखमें बैठकर सम्पूर्ण विश्व ही इसका पान कर रहा है । तू घबरावे मत'—

स्तन्यं कियत् पिबसि भूयंलमर्भकेति वर्तिष्यमाणवचनां जननीं विभाव्य ।
विश्वं विभागि पयसोऽस्य न केवलोऽहमस्याददर्शि हरिणा किमु विश्वमास्ये ॥

† वात्सल्यमयी यशोदा माता अपने लालाके मुखमें विश्व देखकर डर गयीं, परन्तु वात्सल्य-प्रेमरस भावित हृदय होनेसे उन्हें विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने विचार किया कि यह विश्वका बखेड़ा लालाके मुँहमें कहाँसे आया ? हो-न-हो यह मेरी इन निगोड़ी आँखोंकी ही गड़बड़ी है । मानो इसीसे उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये ।

महद्विचलनं नॄणां गृहिणां दीनचेतसाम् ।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥ ४ ॥
ज्योतिषामयनं साक्षाद् यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम् ।
प्रणीतं भवता येन पुमान् वेद परावरम् ॥ ५ ॥
त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्तुमर्हसि ।
बालयोरनयोर्नॄणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः ॥ ६ ॥

गर्ग उवाच

यदूनामहमाचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वतः ।
सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकीसुतम् ॥ ७ ॥
कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः ।
देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति ॥ ८ ॥
इति सञ्चिन्तयञ्छ्रुत्वा देवक्या दारिकावचः ।
अपि हन्ताऽऽगताशङ्कस्तर्हि तन्नोऽनयो भवेत् ॥ ९ ॥

नन्द उवाच

अलक्षितोऽस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजे ।
कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् ।
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥११॥

१. नैःश्रे० । २. महान् ।

करूँ ? ॥ ३ ॥ आप-जैसे महात्माओंका हमारे-जैसे गृहस्थोंके घर आ जाना ही हमारे परम कल्याणका कारण है । हम तो घरोंमें इतने उलझ रहे हैं और इन प्रपञ्चोंमें हमारा चित्त इतना दीन हो रहा है कि हम आपके आश्रमतक जा भी नहीं सकते । हमारे कल्याणके सिवा आपके आगमनका और कोई हेतु नहीं है ॥ ४ ॥ प्रभो ! जो बात साधारणतः इन्द्रियोंकी पहुँचके बाहर है अथवा भूत और भविष्यके गर्भमें निहित है, वह भी ज्यौतिष-शास्त्रके द्वारा प्रत्यक्ष जान ली जाती है । आपने उसी ज्यौतिष-शास्त्रकी रचना की है ॥ ५ ॥ आप ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं । इसलिये मेरे इन दोनों बालकोंके नामकरणादि संस्कार आप ही कर दीजिये; क्योंकि ब्राह्मण जन्मसे ही मनुष्यमात्रका गुरु है' ॥ ६ ॥

गर्गाचार्यजीने कहा—नन्दजी ! मैं सब जगह यदुवंशियोंके आचार्यके रूपमें प्रसिद्ध हूँ । यदि मैं तुम्हारे पुत्रके संस्कार करूँगा, तो लोग समझेंगे कि यह तो देवकीका पुत्र है ॥ ७ ॥ कंसकी बुद्धि बुरी है, वह पाप ही सोचा करती है । वसुदेवजीके साथ तुम्हारी बड़ी घनिष्ठ मित्रता है । जबसे देवकीकी कन्यासे उसने यह बात सुनी है कि उसको मारनेवाला और कहीं पैदा हो गया है, तबसे वह यही सोचा करता है कि देवकीके आठवें गर्भसे कन्याका जन्म नहीं होना चाहिये । यदि मैं तुम्हारे पुत्रका संस्कार कर दूँ और वह इस बालकको वसुदेवजीका लड़का समझकर मार डाले, तो हमसे बड़ा अन्याय हो जायगा ॥ ८-९ ॥

नन्दबाबाने कहा—आचार्यजी ! आप चुपचाप इस एकान्त गोशालामें केवल स्वस्तिवाचन करके इस बालकका द्विजातिसमुचित नामकरण-संस्कारमात्र कर दीजिये । औरोंकी कौन कहे, मेरे सगे-सम्बन्धी भी इस बातको न जानने पावें ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—गर्गाचार्यजी तो संस्कार करना चाहते ही थे । जब नन्दबाबाने उनसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने एकान्तमें छिपकर गुप्तरूपसे दोनों बालकोंका नामकरण-संस्कार कर दिया ॥ ११ ॥

गर्ग उवाच

अयं हि रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः ।
आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद् बलं विदुः ।
यदूनामपृथग्भावात् सङ्कर्षणमुशन्त्युत ॥१२॥
आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥१३॥
प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः ।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥१४॥
बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥१५॥
एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥१६॥
पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः ॥१७॥
य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥१८॥
तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः ।

गर्गाचार्यजीने कहा—'यह रोहिणीका पुत्र है। इसलिये इसका नाम होगा रौहिणेय। यह अपने सगे-सम्बन्धी और मित्रोंको अपने गुणोंसे अत्यन्त आनन्दित करेगा। इसलिये इसका दूसरा नाम होगा 'राम'। इसके बलकी कोई सीमा नहीं है, अतः इसका एक नाम 'बल' भी है। यह यादवोंमें और तुमलोगोंमें कोई भेदभाव नहीं रक्खेगा और लोगोंमें फूट पड़नेपर मेल करावेगा, इसलिये इसका एक नाम 'सङ्कर्षण' भी है ॥ १२ ॥ और यह जो साँवला-साँवला है, यह प्रत्येक युगमें शरीर ग्रहण करता है। पिछले युगोंमें इसने क्रमशः श्वेत, रक्त और पीत—ये तीन विभिन्न रंग स्वीकार किये थे। अबकी यह कृष्णवर्ण हुआ है। इसलिये इसका नाम 'कृष्ण' होगा ॥ १३ ॥ नन्दजी! यह तुम्हारा पुत्र पहले कभी वसुदेवजीके घर भी पैदा हुआ था, इसलिये इस रहस्यको जाननेवाले लोग इसे 'श्रीमान् वासुदेव' भी कहते हैं ॥ १४ ॥ तुम्हारे पुत्रके और भी बहुत-से नाम हैं तथा रूप भी अनेक हैं। इसके जितने गुण हैं और जितने कर्म, उन सबके अनुसार अलग-अलग नाम पड़ जाते हैं। मैं तो उन नामोंको जानता हूँ, परन्तु संसारके साधारण लोग नहीं जानते ॥ १५ ॥ यह तुमलोगोंका परम कल्याण करेगा। समस्त गोप और गौओंको यह बहुत ही आनन्दित करेगा। इसकी सहायतासे तुमलोग बड़ी-बड़ी विपत्तियोंको बड़ी सुगमतासे पार कर लोगे। १६। व्रजराज! पहले युगकी बात है। एक बार पृथ्वीमें कोई राजा नहीं रह गया था। डाकुओंने चारों ओर लूट-खसोट मचा रक्खी थी। तब तुम्हारे इसी पुत्रने सज्जन पुरुषोंकी रक्षा की और इससे बल पाकर उन लोगोंने लुटेरोंपर विजय प्राप्त की ॥ १७ ॥ जो मनुष्य तुम्हारे इस साँवले-सलोने शिशुसे प्रेम करते हैं, वे बड़े भाग्यवान् हैं। जैसे विष्णुभगवान्के करकमलोंकी छत्रछायामें रहनेवाले देवताओंको असुर नहीं जीत सकते, वैसे ही इससे प्रेम करनेवालोंको भीतर या बाहर किसी भी प्रकारके शत्रु नहीं जीत सकते ॥ १८ ॥ नन्दजी! चाहे जिस दृष्टिसे देखें—गुणमें, सम्पत्ति और सौन्दर्यमें, कीर्ति और प्रभावमें तुम्हारा यह बालक साक्षात् भगवान्

श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः ॥१९॥

इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।
नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम् ॥२०॥

कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ ।
जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः ॥२१॥

ताविङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ
घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं
मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ॥२२॥

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगृह्य दोर्भ्याम् ।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ॥२३॥

यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला-
वन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ
प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः ॥२४॥

१. ता तात गो० । २. गृह्य ।

नारायणके समान है। तुम बड़ी सावधानी और तत्परतासे इसकी रक्षा करो' ॥ १९ ॥ इस प्रकार नन्दबाबाको भलीभाँति समझाकर, आदेश देकर गर्गाचार्यजी अपने आश्रमको लौट गये। उनकी बात सुनकर नन्दबाबाको बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने ऐसा समझा कि मेरी सब आशा-लालसाएँ पूरी हो गयीं, मैं अब कृतकृत्य हूँ ॥ २० ॥

परीक्षित्! कुछ ही दिनोंमें राम और श्याम घुटनों और हाथोंके बल बकैयाँ चल-चलकर गोकुलमें खेलने लगे ॥ २१ ॥ दोनों भाई अपने नन्हे-नन्हे पाँवोंको गोकुलकी कीचड़में घसीटते हुए चलते। उस समय उनके पाँव और कमरके घुँघरू रुनझुन बजने लगते। वह शब्द बड़ा भला मालूम पड़ता। वे दोनों स्वयं वह ध्वनि सुनकर खिल उठते। कभी-कभी वे रास्ते चलते किसी अज्ञात व्यक्तिके पीछे हो लेते। फिर जब देखते कि यह तो कोई दूसरा है, तब झक-से रह जाते और डरकर अपनी माताओं—रोहिणीजी और यशोदाजीके पास लौट आते ॥ २२ ॥ माताएँ यह सब देख-देखकर स्नेहसे भर जातीं। उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगती थी। जब उनके दोनों नन्हे-नन्हे-से शिशु अपने शरीरमें कीचड़का अङ्गराग लगाकर लौटते, तब उनकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी। माताएँ उन्हें आते ही दोनों हाथोंसे गोदमें लेकर हृदयसे लगा लेतीं और स्तन-पान कराने लगतीं। जब वे दूध पीने लगते और बीच-बीचमें मुसकरा-मुसकराकर अपनी माताओंकी ओर देखने लगते, तब वे उनकी मन्द-मन्द मुसकान, छोटी-छोटी दँतुलियाँ और भोला-भाला मुँह देखकर आनन्दके समुद्रमें डूबने-उतराने लगतीं ॥ २३ ॥ जब राम और श्याम दोनों कुछ और बड़े हुए, तब व्रजमें घरके बाहर ऐसी-ऐसी बाललीलाएँ करने लगे, जिन्हें गोपियाँ देखती ही रह जातीं। जब वे किसी बैठे हुए बछड़ेकी पूँछ पकड़ लेते और बछड़े डरकर इधर-उधर भागते, तब वे दोनों और भी जोरसे पूँछ पकड़ लेते और बछड़े उन्हें घसीटते हुए दौड़ने लगते। गोपियाँ अपने घरका काम-धंधा छोड़कर यही सब देखती रहतीं और हँसते-हँसते

शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम् ॥२५॥
कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले[1]।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥२६॥

लोटपोट होकर परम आनन्दमें मग्न हो जातीं ॥ २४ ॥ कन्हैया और बलदाऊ दोनों ही बड़े चञ्चल और बड़े खिलाड़ी थे। वे कहीं हरिन, गाय आदि सींगवाले पशुओंके पास दौड़ जाते, तो कहीं धधकती हुई आगसे खेलनेके लिये कूद पड़ते। कभी दाँतसे काटनेवाले कुत्तोंके पास पहुँच जाते, तो कभी आँख बचाकर तलवार उठा लेते। कभी कूएँ या गड्ढेके पास जलमें गिरते-गिरते बचते, कभी मोर आदि पक्षियोंके निकट चले जाते और कभी काँटोंकी ओर बढ़ जाते थे। माताएँ उन्हें बहुत बरजतीं, परन्तु उनकी एक न चलती। ऐसी स्थितिमें वे घरका काम-धंधा भी नहीं सम्हाल पातीं। उनका चित्त बच्चोंको भयकी वस्तुओंसे बचानेकी चिन्तासे अत्यन्त चञ्चल रहता था ॥ २५ ॥

राजर्षे! कुछ ही दिनोंमें यशोदा और रोहिणीके लाड़ले लाल घुटनोंका सहारा लिये बिना अनायास ही खड़े होकर गोकुलमें चलने-फिरने लगे* ॥ २६ ॥

---

१. गोव्रजे।

* जब श्यामसुन्दर घुटनोंका सहारा लिये बिना चलने लगे, तब वे अपने घरमें अनेकों प्रकारकी कौतुकमयी लीला करने लगे—

शून्ये चोरयतः स्वयं निजगृहे हैयङ्गवीनं मणिस्तम्भे स्वप्रतिबिम्बमीक्षितवतस्तेनैव सार्द्धं भिया।
भ्रातर्मा वद मातरं मम समो भागस्तवापीहितो भुङ्क्ष्वेत्यालपतो हरेः कलवचो मात्रा रहः श्रूयते ॥

एक दिन साँवरे-सलोने व्रजराजकुमार श्रीकन्हैयालालजी अपने सूने घरमें स्वयं ही माखन चुरा रहे थे। उनकी दृष्टि मणिके खम्भेमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बपर पड़ी। अब तो वे डर गये। अपने प्रतिबिम्बसे बोले—'अरे भैया! मेरी मैयासे कहियो मत। तेरा भाग भी मेरे बराबर ही मुझे स्वीकार है; ले, खा। खा ले, भैया!' यशोदा माता अपने लालाकी तोतली बोली सुन रही थीं।

उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, वे घरमें भीतर घुस आयीं। माताको देखते ही श्रीकृष्णने अपने प्रतिबिम्बको दिखाकर बात बदल दी—

मातः क एष नवनीतमिदं त्वदीयं लोभेन चोरयितुमद्य गृहं प्रविष्टः।
मद्वारणं न मनुते मयि रोषभाजि रोषं तनोति न हि मे नवनीतलोभः ॥

'मैया! मैया!! यह कौन है? लोभवश तुम्हारा माखन चुरानेके लिये आज घरमें घुस आया है। मैं मना करता हूँ तो मानता नहीं है और मैं क्रोध करता हूँ तो यह भी क्रोध करता है। मैया! तुम कुछ और मत सोचना। मेरे मनमें माखनका तनिक भी लोभ नहीं है।'

अपने दुध-मुँहे शिशुकी प्रतिभा देखकर मैया वात्सल्य-स्नेहके आनन्दमें मग्न हो गयीं।

× × × × × ×

एक दिन श्यामसुन्दर माताके बाहर जानेपर घरमें ही माखन-चोरी कर रहे थे। इतनेमें ही दैववश यशोदाजी लौट आयीं और अपने लाड़ले लालको न देखकर पुकारने लगीं—

कृष्ण! क्वासि करोषि किं पितरिति श्रुत्वैव मातुर्वचः साशङ्कं नवनीतचौर्यविरतो विश्रभ्य तामब्रवीत्।
मातः कङ्कणपद्मरागमहसा पाणिर्ममातप्यते तेनायं नवनीतभाण्डविवरे विन्यस्य निर्वापितः ॥

'कन्हैया! कन्हैया! अरे ओ मेरे बाप! कहाँ है, क्या कर रहा है?'—माताकी यह बात सुनते ही माखनचोर श्रीकृष्ण डर गये और माखन-चोरीसे अलग हो गये। फिर थोड़ी देर चुप रहकर यशोदाजीसे बोले—'मैया' री मैया!

ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः ।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम् ॥२७॥
कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम् ।
शृण्वन्त्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः ॥२८॥

ये व्रजवासियोंके कन्हैया स्वयं भगवान् हैं, परम सुन्दर और परम मधुर ! अब वे और बलराम अपनी ही उम्रके ग्वालबालोंको अपने साथ लेकर खेलनेके लिये व्रजमें निकल पड़ते और व्रजकी भाग्यवती गोपियोंको निहाल करते हुए तरह-तरहके खेल खेलते ॥ २७ ॥ उनके बचपनकी चञ्चलताएँ बड़ी ही अनोखी होती थीं । गोपियोंको तो वे बड़ी ही सुन्दर और मधुर लगतीं । एक दिन सब-की-सब इकट्ठी होकर नन्दबाबाके घर आयीं और यशोदा माताको सुना-सुनाकर कन्हैयाके

यह जो तुमने मेरे कङ्कणमें पद्मराग जड़ा दिया है, इसकी लपटसे मेरा हाथ जल रहा था । इसीसे मैंने इसे माखनके मटकेमें डालकर बुझाया था ।'

माता यह मधुर-मधुर कन्हैयाकी तोतली बोली सुनकर मुग्ध हो गयीं और 'आओ बेटा !' ऐसा कहकर लालाको गोदमें उठा लिया और प्यारसे चूमने लगीं ।

× × × × × ×

क्षुण्णाभ्यां करकुड्मलेन विगलद्बाष्पाम्बुदृग्भ्यां रुदन् हुं हुं हूमिति रुद्धकण्ठकुहरादस्पष्टवाग्विभ्रमः ।
मात्रामौ नवनीतचौर्यकुतुके प्राग्भर्त्सितः स्वाञ्चलेनामृज्यास्य मुखं तवैतदखिलं वत्सेति कण्ठे कृतः ॥

एक दिन माताने माखनचोरी करनेपर श्यामसुन्दरको धमकाया, डाँटा-फटकारा । बस, दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी । कर-कमलसे आँखें मलने लगे । ऊँ-ऊँ-ऊँ करके रोने लगे । गला रुँध गया । मुँहसे बोला नहीं जाता था । बस, माता यशोदाका धैर्य टूट गया । अपने आँचलसे अपने लाला कन्हैयाका मुँह पोंछा और बड़े प्यारसे गले लगाकर बोलीं—'लाला ! यह सब तुम्हारा ही है, यह चोरी नहीं है ।'

एक दिनकी बात है—पूर्णचन्द्रकी चाँदनीसे मणिमय आँगन धुल गया था । यशोदा मैयाके साथ गोपियोंकी गोष्ठी जुड़ रही थी । वहीं खेलते-खेलते कृष्णचन्द्रकी दृष्टि चन्द्रमापर पड़ी । उन्होंने पीछेसे आकर यशोदा मैयाका घूँघट उतार लिया । और अपने कोमल करोंसे उनकी चोटी खोलकर खींचने लगे और बार-बार पीठ थपथपाने लगे । 'मैं लूँगा, मैं लूँगा'—तोतली बोलीसे इतना ही कहते । जब मैयाकी समझमें बात नहीं आयी, तब उसने स्नेहार्द्र दृष्टिसे पास बैठी ग्वालिनोंकी ओर देखा । अब वे विनयसे, प्यारसे फुसलाकर श्रीकृष्णको अपने पास ले आयीं और बोलीं—'लालन ! तुम क्या चाहते हो, दूध !' श्रीकृष्ण—'ना' । 'क्या बढ़िया दही ?' 'ना' 'क्या खुरचन ?' 'ना' । 'मलाई ?' 'ना' । 'ताजा माखन ?' 'ना' । ग्वालिनोंने कहा—'बेटा ! रूठो मत, रोओ मत । जो माँगोगे सो देंगी ।' श्रीकृष्णने धीरेसे कहा—'घरकी वस्तु नहीं चाहिये' और अँगुली उठाकर चन्द्रमाकी ओर संकेत कर दिया । गोपियाँ बोलीं—'ओ मेरे बाप ! यह कोई माखनका लौंदा थोड़े ही है ? हाय ! हाय ! हम यह कैसे देंगी ? यह तो प्यारा-प्यारा हंस आकाशके सरोवरमें तैर रहा है ।' श्रीकृष्णने कहा—'मैं भी तो खेलनेके लिये इस हंसको ही माँग रहा हूँ, शीघ्रता करो । पार जानेके पूर्व ही मुझे ला दो ।'

अब और भी मचल गये । धरतीपर पाँव पीट-पीटकर और हाथोंसे गला पकड़-पकड़कर 'दो-दो' कहने लगे और पहलेसे भी अधिक रोने लगे । दूसरी गोपियोंने कहा—'बेटा ! राम-राम । इन्होंने तुमको बहला दिया है । यह राजहंस नहीं है, यह तो आकाशमें ही रहनेवाला चन्द्रमा है ।' श्रीकृष्ण हठ कर बैठे—'मुझे तो यही दो; मेरे मनमें इसके साथ खेलनेकी बड़ी लालसा है । अभी दो । अभी दो ।' जब बहुत रोने लगे, तब यशोदा माताने गोदमें उठा लिया और प्यार करके बोलीं—'मेरे प्राण ! न यह राजहंस है और न तो चन्द्रमा । है यह माखन ही, परन्तु तुमको देने योग्य नहीं है । देखो, इसमें यह काला-काला विष लगा हुआ है । इससे बढ़िया होनेपर भी इसे कोई नहीं खाता है ।' श्रीकृष्णने कहा—'मैया ! मैया ! इसमें विष कैसे लग गया ।' बात बदल गयी । मैयाने गोदमें लेकर मधुर-मधुर स्वरसे कथा सुनाना प्रारम्भ किया । मा-बेटेमें प्रश्नोत्तर होने लगे ।

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधि पयः कल्पितैः स्तेययोगैः ।
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान् ॥२९॥
हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यै-
श्छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित् ।

करतूत कहने लगीं ॥ २८ ॥ 'अरी यशोदा ! यह तेरा कान्हा बड़ा नटखट हो गया है । गाय दुहनेका समय न होनेपर भी यह बछड़ोंको खोल देता है और हम डाँटती हैं, तो ठठा-ठठाकर हँसने लगता है । यह चोरीके बड़े-बड़े उपाय करके हमारे मीठे-मीठे दही-दूध चुरा-चुराकर खा जाता है । केवल अपने ही खाता तो भी एक बात थी, यह तो सारा दही-दूध वानरोंको बाँट देता है और जब वे भी पेट भर जानेपर नहीं खा पाते, तब यह हमारे माटोंको ही फोड़ डालता है । यदि घरमें कोई वस्तु इसे नहीं मिलती तो यह घर और घरवालोंपर बहुत खीझता है और हमारे बच्चोंको रुलाकर भाग जाता है ॥ २९ ॥ जब हम दही-दूधको छीकोंपर रख देती हैं और इसके छोटे-छोटे हाथ वहाँतक नहीं पहुँच पाते, तब यह बड़े-बड़े उपाय रचता है । कहीं दो-चार पीढ़ोंको एकके ऊपर एक रख देता है । कहीं ऊखलपर चढ़ जाता है तो कहीं ऊखलपर पीढ़ा रख देता है, (कभी-कभी तो अपने किसी साथीके कंधेपर ही चढ़ जाता है ।) जब इतनेपर भी काम नहीं चलता, तब यह नीचेसे ही उन बर्तनोंमें छेद कर देता है । इसे इस बातकी पक्की पहचान रहती है कि किस छीकेपर किस बर्तनमें क्या रक्खा है । और ऐसे ढंगसे छेद करना

यशोदा—'लाला ! एक क्षीर-सागर है ।'

श्रीकृष्ण—'मैया ! वह कैसा है ।'

यशोदा—'बेटा ! यह जो तुम दूध देख रहे हो, इसीका एक समुद्र है ।'

श्रीकृष्ण—'मैया ! कितनी गायोंने दूध दिया होगा जब समुद्र बना होगा ।'

यशोदा—'कन्हैया ! वह गायका दूध नहीं है ।'

श्रीकृष्ण—'अरी मैया ! तू मुझे बहला रही है, भला बिना गायके दूध कैसे ?'

यशोदा—'वत्स ! जिसने गायोंमें दूध बनाया है, वह गायके बिना भी दूध बना सकता है ।'

श्रीकृष्ण—'मैया ! वह कौन है ?'

यशोदा—'वह भगवान् हैं; परन्तु अग (उनके पास कोई जा नहीं सकता । अथवा 'ग' कार रहित) हैं ।'

श्रीकृष्ण—'अच्छा ठीक है, आगे कहो ।'

यशोदा—'एक बार देवता और दैत्योंमें लड़ाई हुई । असुरोंको मोहित करनेके लिये भगवान्ने क्षीरसागरको मथा । मंदराचलकी रई बनी । वासुकि नागकी रस्सी । एक ओर देवता लगे, दूसरी ओर दानव ।'

श्रीकृष्ण—'जैसे गोपियाँ दही मथती हैं, क्यों मैया ?'

यशोदा—'हाँ बेटा ! उसीसे कालकूट नामका विष पैदा हुआ ।'

श्रीकृष्ण—मैया ! विष तो साँपोंमें होता है, दूधमें कैसे निकला ?'

यशोदा—'बेटा ! जब शङ्कर भगवान्ने वही विष पी लिया, तब उसकी जो फुइयाँ धरतीपर गिर पड़ीं, उन्हें पीकर साँप विषधर हो गये । सो बेटा ! भगवान्की ही ऐसी कोई लीला है, जिससे दूधमेंसे विष निकला ।'

श्रीकृष्ण—'अच्छा मैया ! यह तो ठीक है ।'

यशोदा—'बेटा ! (चन्द्रमाकी ओर दिखाकर) यह मक्खन भी उसीसे निकला है । इसलिये थोड़ा-सा विष इसमें भी लग गया । देखो, देखो, इसीको लोग कलङ्क कहते हैं । सो मेरे प्राण ! तुम घरका ही मक्खन खाओ ।'

कथा सुनते-सुनते श्यामसुन्दरकी आँखोंमें नींद आ गयी और मैयाने उन्हें पलङ्गपर सुला दिया ।

ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं
काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः ॥३०॥
एवं धाष्टर्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ
स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथाऽऽस्ते ।
इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभि-
र्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत् ॥३१॥

जानता है कि किसीको पतातक न चले। जब हम अपनी वस्तुओंको बहुत अँधेरेमें छिपा देती हैं, तब नन्दरानी! तुमने जो इसे बहुत-से मणिमय आभूषण पहना रक्खे हैं, उनके प्रकाशसे अपने-आप ही सब कुछ देख लेता है। इसके शरीरमें भी ऐसी ज्योति है कि जिससे इसे सब कुछ दीख जाता है। यह इतना चालाक है कि कब कौन कहाँ रहता है, इसका पता रखता है और जब हम सब घरके काम-धंधोंमें उलझी रहती हैं, तब यह अपना काम बना लेता है ॥ ३० ॥ ऐसा करके भी ढिठाईकी बातें करता है—उलटे हमें ही चोर बनाता और अपने घरका मालिक बन जाता है। इतना ही नहीं, यह हमारे लिपे-पुते स्वच्छ घरोंमें मूत्र आदि भी कर देता है। तनिक देखो तो इसकी ओर, वहाँ तो चोरीके अनेकों उपाय करके काम बनाता है और यहाँ मालूम हो रहा है मानो पत्थरकी मूर्ति खड़ी हो! वाह रे भोले-भाले साधु!' इस प्रकार गोपियाँ कहती जातीं और श्रीकृष्णके भीत-चकित नेत्रोंसे युक्त मुखकमलको देखती जातीं। उनकी यह दशा देखकर नन्दरानी यशोदाजी उनके मनका भाव ताड़ लेतीं और उनके हृदयमें स्नेह और आनन्दकी बाढ़ आ जाती। वे इस प्रकार हँसने लगतीं कि अपने लाड़ले कन्हैयाको इस बातका उलाहना भी न दे पातीं, डाँटने-की बाततक नहीं सोच पातीं * ॥ ३१ ॥

* भगवान्की लीलापर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान्का लीलाधाम, भगवान्के लीलापात्र, भगवान्का लीलाशरीर और उनकी लीला प्राकृत नहीं होती। भगवान्में देह-देहीका भेद नहीं है। महाभारतमें आया है—

न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः। यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः। मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥

'परमात्माका शरीर भूतसमुदायसे बना हुआ नहीं होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्माके शरीरको भौतिक जानता-मानता है, उसका समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मोंसे बहिष्कार कर देना चाहिये अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्ममें अधिकार नहीं है। यहाँतक कि उसका मुँह देखनेपर भी सचैल (वस्त्रसहित) स्नान करना चाहिये।'

श्रीमद्भागवतमें ही ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि॥

'आपने मुझपर कृपा करनेके लिये ही यह स्वेच्छामय सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकट किया है, यह पाञ्चभौतिक कदापि नहीं है।'

एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः । एक दिन बलराम आदि ग्वालबाल श्रीकृष्णके साथ

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌का सभी कुछ अप्राकृत होता है । इसी प्रकार यह माखनचोरीकी लीला भी अप्राकृत—दिव्य ही है ।

यदि भगवान्‌के नित्य परम धाममें अभिन्नरूपसे नित्य निवास करनेवाली नित्यसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे न देखकर केवल साधनसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी कठोर थी, उनकी लालसा इतनी अनन्य थी, उनका प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लगन इतनी सच्ची थी कि भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रेमरसमय भगवान् उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचानेके लिये माखनचोरीकी लीला करके उनकी इच्छित पूजा ग्रहण करें, चीरहरण करके उनका रहा-सहा व्यवधानका परदा उठा दें और रासलीला करके उनको दिव्य सुख पहुँचायें तो कोई बड़ी बात नहीं है ।

भगवान्‌की नित्यसिद्धा चिदानन्दमयी गोपियोंके अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी गोपियाँ और थीं, जो अपनी महान् साधनाके फलस्वरूप भगवान्‌की मुक्तजन-वाञ्छित सेवा करनेके लिये गोपियोंके रूपमें अवतीर्ण हुई थीं। उनमेंसे कुछ पूर्वजन्मकी देवकन्याएँ थीं, कुछ श्रुतियाँ थीं, कुछ तपस्वी ऋषि थे और कुछ अन्य भक्तजन । इनकी कथाएँ विभिन्न पुराणोंमें मिलती हैं । श्रुतिरूपा गोपियाँ, जो 'नेति-नेति' के द्वारा निरन्तर परमात्माका वर्णन करते रहनेपर भी उन्हें साक्षात्‌रूपसे प्राप्त नहीं कर सकतीं, गोपियोंके साथ भगवान्‌के दिव्य रसमय विहारकी बात जानकर गोपियोंकी उपासना करती हैं और अन्तमें स्वयं गोपीरूपमें परिणत होकर भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् अपने प्रियतमरूपसे प्राप्त करती हैं । इनमें मुख्य श्रुतियोंके नाम हैं—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकण्ठिका और विपञ्ची आदि ।

भगवान्‌के श्रीरामावतारमें उन्हें देखकर मुग्ध होनेवाले—अपने-आपको उनके स्वरूप-सौन्दर्यपर न्यौछावर कर देनेवाले सिद्ध ऋषिगण, जिनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करनेका वर दिया था, व्रजमें गोपीरूपसे अवतीर्ण हुए थे । इसके अतिरिक्त मिथिलाकी गोपी, कोसलकी गोपी, अयोध्याकी गोपी—पुलिन्दगोपी, रमावैकुण्ठ, श्वेतद्वीप आदिकी गोपियाँ और जालन्धरी गोपी आदि गोपियोंके अनेकों यूथ थे, जिनको बड़ी तपस्या करके भगवान्‌से वरदान पाकर गोपीरूपमें अवतीर्ण होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था । पद्मपुराणके पातालखण्डमें बहुत-से ऐसे ऋषियोंका वर्णन है, जिन्होंने बड़ी कठिन तपस्या आदि करके अनेकों कल्पोंके बाद गोपीस्वरूपको प्राप्त किया था । उनमेंसे कुछके नाम निम्नलिखित हैं—

१. एक उग्रतपा नामके ऋषि थे । वे अग्निहोत्री और बड़े दृढव्रती थे । उनकी तपस्या अद्भुत थी । उन्होंने पञ्चदशाक्षरमन्त्रका जाप और रसोन्मत्त नवकिशोर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका ध्यान किया था । सौ कल्पोंके बाद वे सुनन्दनामक गोपकी कन्या 'सुनन्दा' हुए ।

२. एक सत्यतपा नामके मुनि थे । वे सूखे पत्तोंपर रहकर दशाक्षरमन्त्रका जाप और श्रीराधाजीके दोनों हाथ पकड़कर नाचते हुए श्रीकृष्णका ध्यान करते थे । दस कल्पके बाद वे सुभद्रनामक गोपकी कन्या 'सुभद्रा' हुए ।

३. हरिधामा नामके एक ऋषि थे । वे निराहार रहकर 'क्लीं' कामबीजसे युक्त विंशाक्षरी मन्त्रका जाप करते थे और माधवीमण्डपमें कोमल-कोमल पत्तोंकी शय्यापर लेटे हुए युगल-सरकारका ध्यान करते थे । तीन कल्पके पश्चात् वे सारङ्ग-नामक गोपके घर 'रङ्गवेणी' नामसे अवतीर्ण हुए ।

४. जाबालि नामके एक ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे, उन्होंने एक बार विशाल वनमें विचरते-विचरते एक जगह बहुत बड़ी बावली देखी । उस बावलीके पश्चिम तटपर बड़के नीचे एक तेजस्विनी युवती स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी ।

वह बड़ी सुन्दर थी। चन्द्रमाकी शुभ्र किरणोंके समान उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसका बायाँ हाथ अपनी कमरपर था और दाहिने हाथसे वह ज्ञान-मुद्रा धारण किये हुए थी। जाबालिके बड़ी नम्रताके साथ पूछनेपर उस तापसीने बतलाया—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते। साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः। चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना॥

'मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे बड़े-बड़े योगी सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये इस घोर वनमें उन पुरुषोत्तमका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे तपस्या कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनन्दसे परितृप्त है। परन्तु श्रीकृष्णका प्रेम मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मैं अपनेको शून्य देखती हूँ।' ब्रह्मज्ञानी जाबालिने उसके चरणोंपर गिरकर दीक्षा ली और फिर व्रजवीथियोंमें विहरनेवाले भगवान्‌का ध्यान करते हुए वे एक पैरसे खड़े होकर बड़ी कठोर तपस्या करते रहे। नौ कल्पोंके बाद प्रचण्डनामक गोपके घर वे 'चित्रगन्धा'के रूपमें प्रकट हुए।

५. कुशध्वजनामक ब्रह्मर्षिके पुत्र शुचिश्रवा और सुवर्ण देवतत्त्वज्ञ थे। उन्होंने शीर्षासन करके 'ह्रीं' हंस-मन्त्रका जाप करते हुए और सुन्दर कन्दर्प-तुल्य गोकुलवासी दस वर्षकी उम्रके भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए घोर तपस्या की। कल्पके बाद वे व्रजमें सुधीरनामक गोपके घर उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी गोपियोंके पूर्वजन्मकी कथाएँ प्राप्त होती हैं, विस्तारभयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। भगवान्‌के लिये इतनी तपस्या करके इतनी लगनके साथ कल्पोंतक साधना करके जिन त्यागी भगवत्प्रेमियोंने गोपियोंका तन-मन प्राप्त किया था, उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये, उन्हें आनन्द-दान देनेके लिये यदि भगवान् उनकी मनचाही लीला करते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनाचारकी कौन-सी बात है? रासलीलाके प्रसङ्गमें स्वयं भगवान्‌ने श्रीगोपियोंसे कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
(१०।३२।२२)

'गोपियो! तुमने लोक और परलोकके सारे बन्धनोंको काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है; यदि मैं तुममेंसे प्रत्येकके लिये अलग-अलग अनन्त कालतक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेमका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा। तुम मुझे अपने साधुस्वभावसे ऋणरहित मानकर और भी ऋणी बना दो। यही उत्तम है।' सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिन महाभागा गोपियोंके ऋणी रहना चाहते हैं, उनकी इच्छा, इच्छा होनेसे पूर्व ही भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है।

भला विचारिये तो सही श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णरसभावितमति गोपियोंके मनकी क्या स्थिति थी। गोपियोंका तन, मन, धन—सभी कुछ प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ-पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको सुखी देखकर वे सुखी होती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं, सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और

शान्त लीला देखतीं और अनुभव करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छविका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी यह अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छीकेपर रक्खूँ, जितनेपर श्रीकृष्णके हाथ आसानीसे पहुँच सकें। फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीड़ा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें और अपने सखाओं और बंदरोंको लुटायें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ और फिर अचानक ही पकड़कर हृदयसे लगा लूँ। सूरदासजीने गाया है—

मैया री, मोहि माखन भावै। जो मेवा पकवान कहति तू, मोहि नहीं रुचि आवै॥
ब्रज-जुवती इक पाछैं ठाढ़ी, सुनत स्याम की बात। मन-मन कहति कबहुँ अपनैं घर, देखौं माखन खात॥
बैठैं जाइ मथनियाँकें ढिग, मैं तब रहौं छपानी। सूरदास प्रभु अंतरजामी, ग्वालिनि-मन की जानी॥

एक दिन श्यामसुन्दर कह रहे थे, 'मैया! मुझे माखन भाता है; तू मेवा-पकवानके लिये कहती है, परन्तु मुझे तो वे रुचते ही नहीं।' वहीं पीछे एक गोपी खड़ी श्यामसुन्दरकी बात सुन रही थी। उसने मन-ही-मन कामना की—'मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी; ये मथानीके पास जाकर बैठेंगे, तब मैं छिप रहूँगी?' प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, गोपीके मनकी जान गये और उसके घर पहुँचे तथा उसके घरका माखन खाकर उसे सुख दिया—'गये स्याम तिहिं ग्वालिनि कैं घर।'

उसे इतना आनन्द हुआ कि वह फूली न समायी। सूरदासजी गाते हैं—

फूली फिरति ग्वालि मनमें री। पूछति सखी परस्पर बातैं पायो परयौ कछू कहुँ तैं री?
पुलकित रोम रोम, गदगद मुख बानी कहत न आवै। ऐसौ कहा आहि सो सखि री, हम कौं क्यौं न सुनावै॥
तन न्यारा, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप। सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप॥

वह खुशीसे छककर फूली-फूली फिरने लगी। आनन्द उसके हृदयमें समा नहीं रहा था। सहेलियोंने पूछा—'अरी, तुझे कहीं कुछ पड़ा धन मिल गया क्या?' वह तो यह सुनकर और भी प्रेमविह्वल हो गयी। उसका रोम-रोम खिल उठा, वह गद्गद हो गयी, मुँहसे बोली नहीं निकली। सखियोंने कहा—'सखि! ऐसी क्या बात है, हमें सुनाती क्यों नहीं? हमारे तो शरीर ही दो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनों एक ही रूप हैं। भला, हमसे छिपानेकी कौन सी बात है?' तब उसके मुँहसे इतना ही निकला—'मैंने आज अनूप रूप देखा है।' बस, फिर वाणी रुक गयी और प्रेमके आँसू बहने लगे! सभी गोपियोंकी यही दशा थी।

ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात। दधि माखन चोरी करि लै हरि, ग्वाल सखा सँग खात॥
ब्रज-बनिता यह सुनि मन हरषित, सदन हमारैं आवैं। माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहिं छुपावैं॥
मनहीं मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान। सूरदास प्रभु कौं घर में लै, दैहौं माखन खान॥

चली ब्रज घर-घरनि यह बात। नंद-सुत, सँग सखा लीन्हें, चोरि माखन खात॥
कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहिं पैठे धाइ। कोउ कहति मोहिं देखि द्वारैं, उतहिं गए पराइ॥
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं, देखौं अपने धाम। हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवार। कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवार॥
सूर प्रभु के मिलन कारन, करति बिबिध बिचार। जोरि कर बिधिकौं मनावति पुरुष नंदकुमार॥

रातों गोपियाँ जाग-जागकर प्रातःकाल होनेकी बाट देखतीं। उनका मन श्रीकृष्णमें लगा रहता। प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही मथकर, माखन निकालकर छीकेपर रखतीं; कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये सब काम छोड़कर वे सबसे पहले यही काम करतीं और श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षामें व्याकुल होती हुई मन-ही-मन सोचतीं—'हा! आज प्राणप्रियतम क्यों नहीं आये? इतनी देर क्यों हो गयी? क्या आज इस दासीका घर पवित्र

कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥३२॥ खेल रहे थे । उन लोगोंने मा यशोदाके पास आकर कहा—'मा ! कन्हैयाने मिट्टी खायी है' *॥ ३२ ॥

न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए इस तुच्छ माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुख न देंगे? कहीं यशोदा मैयाने तो उन्हें नहीं रोक लिया? उनके घर तो नौ लाख गौएँ हैं। माखनकी क्या कमी है! मेरे घर तो वे कृपा करके ही आते हैं!' इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती, लाज छोड़कर रास्तेकी ओर देखती, सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान हो जाता! ऐसी भाग्यवती गोपियोंकी मनःकामना भगवान् उनके घर पधारकर पूर्ण करते।

सूरदासजीने गाया है—

प्रथम करी हरि माखन-चोरी। ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी॥
मनमें यहै विचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ। गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकैं माखन खाउँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग। सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं ये मेरे ब्रज लोग॥

अपने निजजन व्रजवासियोंको सुखी करनेके लिये ही तो भगवान् गोकुलमें पधारे थे। माखन तो नन्दबाबाके घरपर कम न था, लाख-लाख गौएँ थीं। वे चाहे जितना खाते-लुटाते। परन्तु वे तो केवल नन्दबाबाके ही नहीं, सभी व्रजवासियोंके अपने थे, सभीको सुख देना चाहते थे। गोपियोंकी लालसा पूरी करनेके लिये ही वे उनके घर जाते और चुरा-चुराकर माखन खाते। यह वास्तवमें चोरी नहीं, यह तो गोपियोंकी पूजा-पद्धतिका भगवान्के द्वारा स्वीकार था। भक्तवत्सल भगवान् भक्तकी पूजा स्वीकार कैसे न करें?

भगवान्की इस दिव्यलीला—माखनचोरीका रहस्य न जाननेके कारण ही कुछ लोग इसे आदर्शके विपरीत बतलाते हैं। उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, वह किसकी होती है और कौन करता है। चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरेकी कोई चीज, उसकी इच्छाके बिना, उसके अनजानमें और आगे भी वह जान न पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके घरसे माखन लेते थे उनकी इच्छासे, गोपियोंके अनजानमें नहीं—उनकी जानमें, उनके देखते-देखते और आगे जनानेकी कोई बात ही नहीं—उनके सामने ही दौड़ते हुए निकल जाते थे। दूसरी बात महत्त्वकी यह है कि संसारमें या संसारके बाहर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान्की नहीं है और वे उसकी चोरी करते हैं। गोपियोंका तो सर्वस्व श्रीभगवान्का था ही, सारा जगत् ही उनका है। वे भला, किसकी चोरी कर सकते हैं? हाँ, चोर तो वास्तवमें वे लोग हैं, जो भगवान्की वस्तुको अपनी मानकर ममता-आसक्तिमें फँसे रहते हैं और दण्डके पात्र बनते हैं। उपर्युक्त सभी दृष्टियोंसे यही सिद्ध होता है कि माखनचोरी चोरी न थी, भगवान्की दिव्य लीला थी। असलमें गोपियोंने प्रेमकी अधिकतासे ही भगवान्का प्रेमका नाम 'चोर' रख दिया था, क्योंकि वे उनके चितचोर तो थे ही।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्की लीलापर विचार करनेका कोई अधिकार नहीं है, परन्तु उनकी दृष्टिसे भी इस प्रसङ्गमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय लगभग दो-तीन वर्षके बच्चे थे और गोपियाँ अत्यधिक स्नेहके कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर खेल देखना चाहती थीं। आशा है, इससे शंका करनेवालोंको कुछ सन्तोष होगा। —हनुमानप्रसाद पोद्दार

* मृद्-भक्षणके हेतु—

१—भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि मुझमें शुद्ध सत्त्वगुण ही रहता है और आगे बहुत-से रजोगुणी कर्म करने हैं। उसके लिये थोड़ा-सा 'रज' संग्रह कर लें।

२—संस्कृत-साहित्यमें पृथ्वीका एक नाम 'क्षमा' भी है। श्रीकृष्णने देखा कि ग्वालबाल खुलकर मेरे साथ खेलते हैं; कभी-कभी अपमान भी कर बैठते हैं। उनके साथ क्षमा धारण करके ही क्रीडा करनी चाहिये, जिससे कोई विघ्न न पड़े।

सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी ।
यशोदा भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥३३॥

हितैषिणी यशोदाने श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया* । उस समय श्रीकृष्णकी आँखें डरके मारे नाच रही थीं † । यशोदा मैयाने डाँटकर कहा—॥३३॥

कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः ।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥३४॥

'क्यों रे नटखट ! तू बहुत ढीठ हो गया है । तूने अकेलेमें छिपकर मिट्टी क्यों खायी ? देख तो तेरे दलके तेरे सखा क्या कह रहे हैं ! तेरे बड़े भैया बलदाऊ भी तो उन्हींकी ओरसे गवाही दे रहे हैं' ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः ।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मा ! मैंने मिट्टी नहीं खायी । ये सब झूठ बक रहे हैं । यदि तुम इन्हींकी बात सच मानती हो तो मेरा मुँह तुम्हारे सामने ही है, तुम अपनी आँखोंसे देख लो ॥ ३५ ॥

यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः ।
व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः ॥३६॥

यशोदाजीने कहा—'अच्छी बात । यदि ऐसा है, तो मुँह खोल ।' माताके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अपना मुँह खोल दिया ‡ । परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णका ऐश्वर्य अनन्त है । वे केवल लीलाके लिये ही मनुष्यके बालक

१. गृहीत्वाथ करे पुत्रमुपा० ।

३—संस्कृत-भाषामें पृथ्वीको 'रसा' भी कहते हैं । श्रीकृष्णने सोचा सब रस तो ले ही चुका हूँ, अब रसा-रसका आस्वादन करूँ ।

४—इस अवतारमें पृथ्वीका हित करना है । इसलिये उसका कुछ अंश अपने मुख्य (मुखमें स्थित) द्विजों (दाँतों) को पहले दान कर लेना चाहिये ।

५—ब्राह्मण शुद्ध सात्त्विक कर्ममें लग रहे हैं, अब उन्हें असुरोंका संहार करनेके लिये कुछ राजस कर्म भी करने चाहिये । यही सूचित करनेके लिये मानो उन्होंने अपने मुखमें स्थित द्विजोंको (दाँतोंको) रजसे युक्त किया ।

६—पहले विष भक्षण किया था, मिट्टी खाकर उसकी दवा की ।

७—पहले गोपियोंका मक्खन खाया था, उलाहना देनेपर मिट्टी खा ली, जिससे मुँह साफ हो जाय ।

८—भगवान् श्रीकृष्णके उदरमें रहनेवाले कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके जीव व्रजरज—गोपियोंके चरणोंकी रज—प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो रहे थे । उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये भगवान्‌ने मिट्टी खायी ।

९—भगवान् स्वयं ही अपने भक्तोंकी चरण-रज मुखके द्वारा अपने हृदयमें धारण करते हैं ।

१०—छोटे बालक स्वभावसे ही मिट्टी खा लिया करते हैं ।

* यशोदाजी जानती थीं कि इस हाथने मिट्टी खानेमें सहायता की है । चोरका सहायक भी चोर ही है । इसलिये उन्होंने हाथ ही पकड़ा ।

† भगवान्‌के नेत्रमें सूर्य और चन्द्रमाका निवास है । वे कर्मके साक्षी हैं । उन्होंने सोचा कि पता नहीं श्रीकृष्ण मिट्टी खाना स्वीकार करेंगे कि मुकर जायँगे । अब हमारा कर्तव्य क्या है । इसी भावको सूचित करते हुए दोनों नेत्र चकराने लगे ।

‡ १—मा ! मिट्टी खानेके सम्बन्धमें ये मुझ अकेलेका ही नाम ले रहे हैं । मैंने खायी, तो सबने खायी, देख लो मेरे मुखमें सम्पूर्ण विश्व !

२—श्रीकृष्णने विचार किया कि उस दिन मेरे मुखमें विश्व देखकर माताने अपने नेत्र बंद कर लिये थे । आज भी जब मैं अपना मुँह खोलूँगा, तब यह अपने नेत्र बंद कर लेगी । इस विचारसे मुख खोल दिया ।

सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः ।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥३७॥
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च ।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः॥३८॥

एतद् विचित्रं सह जीवकाल-
स्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् ।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये
व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ॥३९॥

किं स्वप्न एतदुत देवमाया
किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः ।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य
यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः॥४०॥

अथो यथावन्न वितर्कगोचरं
चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते
सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् ॥४१॥

अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो
व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती ।
गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे
यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ॥४२॥

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः ।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः ॥४३॥
सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी साऽऽरोप्यारोहमात्मजम् ।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयाऽऽसीद् यथा पुरा ॥४४॥
त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः ।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ॥४५॥

बने हुए हैं ॥ ३६ ॥ यशोदाजीने देखा कि उनके मुँहमें चर-अचर सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है । आकाश (वह शून्य जिसमें किसीकी गति नहीं), दिशाएँ, पहाड़, द्वीप और समुद्रोंके सहित सारी पृथ्वी, बहनेवाली वायु, वैद्युत, अग्नि, चन्द्रमा और तारोंके साथ सम्पूर्ण ज्योतिर्मण्डल, जल, तेज, पवन, वियत् (प्राणियोंके चलने-फिरनेका आकाश), वैकारिक अहङ्कारके कार्य देवता, मन-इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्राएँ और तीनों गुण श्रीकृष्णके मुखमें दीख पड़े ॥ ३७-३८ ॥ परीक्षित् ! जीव, काल, स्वभाव, कर्म उनकी वासना और शरीर आदिके द्वारा विभिन्न रूपोंमें दीखनेवाला यह सारा विचित्र संसार, सम्पूर्ण व्रज और अपने-आपको भी यशोदाजीने श्रीकृष्णके नन्हे-से खुले हुए मुखमें देखा। वे बड़ी शङ्कामें पड़ गयीं॥३९॥ वे सोचने लगीं कि 'यह कोई स्वप्न है या भगवान्‌की माया ? कहीं मेरी बुद्धिमें ही तो कोई भ्रम नहीं हो गया है ? सम्भव है, मेरे इस बालकमें ही कोई जन्मजात योगसिद्धि हो' ॥ ४० ॥ 'जो चित्त, मन, कर्म और वाणीके द्वारा ठीक-ठीक तथा सुगमतासे अनुमानके विषय नहीं होते, यह सारा विश्व जिनके आश्रित है, जो इसके प्रेरक हैं और जिनकी सत्तासे ही इसकी प्रतीति होती है, जिनका स्वरूप सर्वथा अचिन्त्य है—उन प्रभुको मैं प्रणाम करती हूँ ॥ ४१ ॥ यह मैं हूँ और ये मेरे पति तथा यह मेरा लड़का है, साथ ही मैं व्रजराजकी समस्त सम्पत्तियोंकी स्वामिनी धर्मपत्नी हूँ; ये गोपियाँ, गोप और गोधन मेरे अधीन हैं—जिनकी मायासे मुझे इस प्रकारकी कुमति घेरे हुए है, वे भगवान् ही मेरे एकमात्र आश्रय हैं—मैं उन्हींकी शरणमें हूँ' ॥ ४२ ॥ जब इस प्रकार यशोदा माता श्रीकृष्णका तत्त्व समझ गयीं, तब सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक प्रभुने अपनी पुत्रस्नेहमयी वैष्णवी योगमायाका उनके हृदयमें संचार कर दिया॥४३॥ यशोदाजीको तुरंत वह घटना भूल गयी । उन्होंने अपने दुलारे लालको गोदमें उठा लिया । जैसे पहले उनके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ता रहता था, वैसे ही फिर उमड़ने लगा ॥ ४४ ॥ सारे वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग और भक्तजन जिनके माहात्म्यका गीत गाते-गाते अघाते नहीं—उन्हीं भगवान्‌को यशोदाजी अपना पुत्र मानती थीं ! ॥ ४५ ॥

राजोवाच

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् ।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥४६॥
पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम् ।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम् ॥४७॥

श्रीशुक उवाच

द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्यया ।
करिष्यमाण आदेशान् ब्रह्मणस्तमुवाच ह ॥४८॥
जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ ।
भक्तिः स्यात् परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत् ॥४९॥
अस्त्वित्युक्तः स भगवान् व्रजे द्रोणो महायशाः ।
जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराभवत् ॥५०॥
ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते[1] जनार्दने ।
दम्पत्योर्नितरामासीद् गोपगोपीषु भारत ॥५१॥
कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः ।
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया[2] ॥५२॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! नन्दबाबाने ऐसा कौन-सा बहुत बड़ा मङ्गलमय साधन किया था ? और परमभाग्यवती यशोदाजीने भी ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जिसके कारण स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे उनका स्तन-पान किया ॥ ४६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी वे बाल-लीलाएँ, जो वे अपने ऐश्वर्य और महत्ता आदिको छिपाकर ग्वालबालोंमें करते हैं, इतनी पवित्र हैं कि उनका श्रवण-कीर्तन करनेवाले लोगोंके भी सारे पाप-ताप शान्त हो जाते हैं। त्रिकालदर्शी ज्ञानी पुरुष आज भी उनका गान करते रहते हैं। वे ही लीलाएँ उनके जन्मदाता माता-पिता देवकी-वसुदेवजीको तो देखनेतकको न मिलीं और नन्द-यशोदा उनका अपार सुख लूट रहे हैं। इसका क्या कारण है ? ॥ ४७ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! नन्दबाबा पूर्व-जन्ममें एक श्रेष्ठ वसु थे। उनका नाम था द्रोण और उनकी पत्नीका नाम था धरा। उन्होंने ब्रह्माजीके आदेशों-का पालन करनेकी इच्छासे उनसे कहा—॥ ४८ ॥ 'भगवन् ! जब हम पृथ्वीपर जन्म लें, तब जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें हमारी अनन्य प्रेममयी भक्ति हो—जिस भक्तिके द्वारा संसारमें लोग अनायास ही दुर्गतियोंको पार कर जाते हैं' ॥४९॥ ब्रह्माजीने कहा—'ऐसा ही होगा।' वे ही परमयशस्वी भगवन्मय द्रोण व्रजमें पैदा हुए और उनका नाम हुआ नन्द। और वे ही धरा इस जन्ममें यशोदाके नामसे उनकी पत्नी हुईं ॥ ५० ॥ परीक्षित् ! अब इस जन्ममें जन्म-मृत्युके चक्रसे छुड़ाने-वाले भगवान् उनके पुत्र हुए और समस्त गोप-गोपियोंकी अपेक्षा इन पति-पत्नी नन्द और यशोदाजीका उनके प्रति अत्यन्त प्रेम हुआ ॥ ५१ ॥ ब्रह्माजीकी बात सत्य करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ व्रजमें रहकर समस्त व्रजवासियोंको अपनी बाल-लीलासे आनन्दित करने लगे ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे विश्वरूपदर्शनेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

१. पुत्रभूते । २. बालक्रीडायामष्ट० ।

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका ऊखलसे बाँधा जाना

श्रीशुक उवाच[1]

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी ।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि ॥ १ ॥
यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च ।
दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥ २ ॥

क्षौमं वासः पृथुकटितटे
बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं
जातकम्पं च सुभ्रूः ।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्-
कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगल-
न्मालती निर्ममन्थ ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! एक समयकी बात है, नन्दरानी यशोदाजीने घरकी दासियोंको तो दूसरे कामोंमें लगा दिया और स्वयं (अपने लालाको मक्खन खिलानेके लिये) दही मथने लगीं * ॥ १ ॥ मैंने तुमसे अबतक भगवान्‌की जिन-जिन बाल-लीलाओंका वर्णन किया है, दधिमन्थनके समय वे उन सबका स्मरण करतीं और गाती भी जाती थीं † ॥ २ ॥ वे अपने स्थूल कटिभागमें सूतसे बाँधकर रेशमी लहँगा पहने हुए थीं । उनके स्तनोंमेंसे पुत्रस्नेहकी अधिकतासे दूध चूता जा रहा था और वे काँप भी रहे थे । नेती खींचते रहनेसे बाँहें कुछ थक गयी थीं । हाथोंके कंगन और कानोंके कर्णफूल हिल रहे थे । मुँहपर पसीनेकी बूँदें झलक रही थीं । चोटीमें गुँथे हुए मालतीके सुन्दर पुष्प गिरते जा रहे थे । सुन्दर भौंहोंवाली यशोदा इस प्रकार दही मथ रही थीं ‡ ॥ ३ ॥

---

१. बादरायणिरुवाच ।

* इस प्रसङ्गमें 'एक समय'का तात्पर्य है कार्तिक मास । पुराणोंमें इसे 'दामोदरमास' कहते हैं । इन्द्र-यागके अवसरपर दासियोंका दूसरे कामोंमें लग जाना स्वाभाविक है । 'नियुक्तासु'—इस पदसे ध्वनित होता है कि यशोदा माताने जान-बूझकर दासियोंको दूसरे काममें लगा दिया । 'यशोदा'—नाम उल्लेख करनेका अभिप्राय यह है कि अपने विशुद्ध वात्सल्यप्रेमके व्यवहारसे षडैश्वर्यशाली भगवान्‌को भी प्रेमाधीनता, भक्तवश्यताके कारण अपने भक्तोंके हाथों बँध जानेका 'यश' यही देती हैं । गोपराज नन्दके वात्सल्य-प्रेमके आकर्षणसे सच्चिदानन्द-परमानन्दस्वरूप श्रीभगवान् नन्दनन्दनरूपसे जगत्‌में अवतीर्ण होकर जगत्‌के लोगोंको आनन्द प्रदान करते हैं । जगत्‌को इस अप्राकृत परमानन्दका रसास्वादन करानेमें नन्दबाबा ही कारण हैं । उन नन्दकी गृहिणी होनेसे इन्हें 'नन्दगेहिनी' कहा गया है । साथ ही 'नन्दगेहिनी' और 'स्वयं'—ये दो पद इस बातके सूचक हैं कि दधि-मन्थनकर्म उनके योग्य नहीं है । फिर भी पुत्र-स्नेहकी अधिकतासे यह सोचकर कि मेरे लालाको मेरे हाथका माखन ही भाता है, वे स्वयं ही दधि मथ रही हैं ।

† इस श्लोकमें भक्तके स्वरूपका निरूपण है । शरीरसे दधि-मन्थनरूप सेवाकर्म हो रहा है, हृदयमें स्मरणकी धारा सतत प्रवाहित हो रही है, वाणीमें बाल-चरित्रका संगीत । भक्तके तन, मन, वचन—सब अपने प्यारे की सेवामें संलग्न हैं स्नेह अमूर्त पदार्थ है; वह सेवाके रूपमें ही व्यक्त होता है । स्नेहके ही विलासविशेष हैं—नृत्य और संगीत । यशोदा मैयाके जीवनमें इस समय राग और भोग दोनों ही प्रकट हैं ।

‡ कमरमें रेशमी लहँगा डोरीसे कसकर बँधा हुआ है अर्थात् जीवनमें आलस्य, प्रमाद, असावधानी नहीं है । सेवा-कर्ममें पूरी तत्परता है । रेशमी लहँगा इसीलिये पहने हैं कि किसी प्रकारकी अपवित्रता रह गयी तो मेरे कन्हैयाको कुछ हो जायगा ।

माताके हृदयका रस-स्नेह—दूध स्तनके मुँह आ लगा है, चुचुआ रहा है । बाहर झाँक रहा है । श्यामसुन्दर आवें, उनकी दृष्टि पहले मुझपर पड़े और वे पहले माखन न खाकर मुझे ही पीवें—यही उसकी लालसा है ।

स्तनके काँपनेका अर्थ यह है कि उसे डर भी है कि कहीं मुझे नहीं पिया तो !

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः ।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन् ॥ ४ ॥

तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं
स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम्[1] ।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा यया-
वुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥ ५ ॥

संजातकोपः[2] स्फुरितारुणाधरं[3]
संदश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम् ।

उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण स्तन पीनेके लिये दही मथती हुई अपनी माताके पास आये । उन्होंने अपनी माताके हृदयमें प्रेम और आनन्दको और भी बढ़ाते हुए दहीकी मथानी पकड़ ली तथा उन्हें मथनेसे रोक दिया* ॥ ४ ॥ श्रीकृष्ण माता यशोदाकी गोदमें चढ़ गये । वात्सल्य-स्नेहकी अधिकतासे उनके स्तनोंसे दूध तो स्वयं झर ही रहा था । वे उन्हें पिलाने लगीं और मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त उनका मुख देखने लगीं । इतनेमें ही दूसरी ओर अँगीठीपर रक्खे हुए दूधमें उफान आया । उसे देखकर यशोदाजी उन्हें अतृप्त ही छोड़कर जल्दीसे दूध उतारनेके लिये चली गयीं † ॥ ५ ॥ इससे श्रीकृष्णको कुछ क्रोध आ गया । उनके लाल-लाल होठ फड़कने लगे । उन्हें दाँतोंसे दबाकर श्रीकृष्णने पास ही पड़े हुए लोढ़ेसे दहीका

१. मुखम् । २. स जा० । ३. धरः ।

कङ्कण और कुण्डल नाच-नाचकर मैयाको बधाई दे रहे हैं । यशोदा मैयाके हाथोंके कङ्कण इसलिये झंकार-ध्वनि कर रहे हैं कि वे आज उन हाथोंमें रहकर धन्य हो रहे हैं कि जो हाथ भगवान्‌की सेवामें लगे हैं । और कुण्डल यशोदा मैयाके मुखसे लीला-गान सुनकर परमानन्दसे हिलते हुए कानोंकी सफलताकी सूचना दे रहे हैं । हाथ वही धन्य हैं, जो भगवान्‌की सेवा करें और कान वे धन्य हैं, जिनमें भगवान्‌के लीला-गुण-गानकी सुधाधारा प्रवेश करती रहे । मुँहपर स्वेद और मालतीके पुष्पोंके नीचे गिरनेका ध्यान माताको नहीं है । वह शृंगार और शरीर भूल चुकी हैं । अथवा मालतीके पुष्प स्वयं ही चोटियोंसे छूटकर चरणोंमें गिर रहे हैं कि ऐसी वात्सल्यमयी माके चरणोंमें ही रहना सौभाग्य है, हम सिरपर रहनेके अधिकारी नहीं ।

* हृदयमें लीलाकी सुखस्मृति, हाथोंसे दधिमन्थन और मुखसे लीलागान—इस प्रकार मन, तन, वचन तीनोंका श्रीकृष्णके साथ एकतान संयोग होते ही श्रीकृष्ण जगकर 'मा-मा' पुकारने लगे । अबतक भगवान् श्रीकृष्ण सोये हुए-से थे । माकी स्नेह-साधनाने उन्हें जगा दिया । वे निर्गुणसे सगुण हुए, अचलसे चल हुए, निष्कामसे सकाम हुए; स्नेहके भूखे-प्यासे माके पास आये । क्या ही सुन्दर नाम है—'स्तन्यकाम' ! मन्थन करते समय आये, 'बैठी-ठालीके पास नहीं ।

सर्वत्र भगवान् साधनकी प्रेरणा देते हैं, अपनी ओर आकृष्ट करते हैं; परन्तु मथानी पकड़कर मैयाको रोक लिया । 'मा ! अब तेरी साधना पूर्ण हो गयी । पिष्ट-पेषण करनेसे क्या लाभ ? अब मैं तेरी साधनाका इससे अधिक भार नहीं सह सकता ।' मा प्रेमसे दब गयी—निहाल हो गयी—मेरा लाला मुझे इतना चाहता है ।

† मैया मना करती रही—'नेक-सा माखन तो निकाल लेने दे ।' 'ऊँ-ऊँ-ऊँ, मैं तो दूध पीऊँगा'—दोनों हाथोंसे मैयाकी कमर पकड़कर एक पाँव घुटनेपर रक्खा और गोदमें चढ़ गये । स्तनका दूध बरस पड़ा । मैया दूध पिलाने लगी, लाला मुसकराने लगे, आँखें मुसकानपर जम गयीं । 'ईक्षती' पदका यह अभिप्राय है कि जब लाला मुँह उठाकर देखेगा और मेरी आँखें उसपर लगी मिलेंगी, तब उसे बड़ा सुख होगा ।

सामने पद्मगन्धा गायका दूध गरम हो रहा था । उसने सोचा—'स्नेहमयी मा यशोदाका दूध कभी कम न होगा, श्यामसुन्दरकी प्यास कभी बुझेगी नहीं ! उनमें परस्पर होड़ लगी है । मैं बेचारा युग-युगका, जन्म-जन्मका श्यामसुन्दरके होठोंका स्पर्श करनेके लिये व्याकुल तप-तपकर मर रहा हूँ । अब इस जीवनसे क्या लाभ जो श्रीकृष्णके काम न आवे । इससे अच्छा है उनकी आँखोंके सामने आगमें कूद पड़ना ।' माके नेत्र पहुँच गये । दयार्द्र माको श्रीकृष्णका भी ध्यान न रहा; उन्हें एक ओर डालकर दौड़ पड़ी । भक्त भगवान्‌को एक ओर रखकर भी दुखियोंकी रक्षा करते हैं । भगवान् अतृप्त ही रह गये । क्या भक्तोंके हृदय-रससे, स्नेहसे उन्हें कभी तृप्ति हो सकती है ? उसी दिनसे उनका एक नाम हुआ—'अतृप्त' ।

भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो
जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः ॥ ६ ॥

मटका फोड़-फाड़ डाला, बनावटी आँसू आँखोंमें भर लिये और दूसरे घरमें जाकर अकेलेमें बासी माखन खाने लगे* ॥ ६ ॥

उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः
प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम् ।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म त-
ज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥ ७ ॥

यशोदाजी औंटे हुए दूधको उतारकर† फिर मथनेके घरमें चली आयीं । वहाँ देखती हैं तो दहीका मटका (कमोरा) टुकड़े-टुकड़े हो गया है । वे समझ गयीं कि यह सब मेरे लालाकी ही करतूत है । साथ ही उन्हें वहाँ न देखकर यशोदा माता हँसने लगीं ॥ ७ ॥

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं
मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम् ।
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं
निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः ॥ ८ ॥

इधर-उधर ढूँढ़नेपर पता चला कि श्रीकृष्ण एक उलटे हुए ऊखलपर खड़े हैं और छीकेपरका माखन ले-लेकर बंदरोंको खूब लुटा रहे हैं । उन्हें यह भी डर है कि कहीं मेरी चोरी खुल न जाय, इसलिये चौकन्ने होकर चारों ओर ताकते जाते हैं । यह देखकर यशोदा रानी पीछेसे धीरे-धीरे उनके पास जा पहुँचीं ‡ ॥ ८ ॥

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर-
स्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत् ।

जब श्रीकृष्णने देखा कि मेरी मा हाथमें छड़ी लिये मेरी ही ओर आ रही है, तब झटसे ओखलीपरसे कूद पड़े और

---

* श्रीकृष्णके होठ फड़के । क्रोध होठोंका स्पर्श पाकर कृतार्थ हो गया । लाल-लाल होठ श्वेत-श्वेत दूधकी दँतुलियोंसे दवा दिये गये, मानो सत्त्वगुण रजोगुणपर शासन कर रहा हो, ब्राह्मण क्षत्रियको शिक्षा दे रहा हो । वह क्रोध उतरा दधिमन्थनके मटकेपर । उसमें एक असुर आ बैठा था । दम्भने कहा—काम, क्रोध और अतृप्तिके बाद मेरी बारी है । वह आँसू बनकर आँखोंमें छलक आया । श्रीकृष्ण अपने भक्तजनोंके प्रति अपनी ममताकी धारा उड़ेलनेके लिये क्या-क्या भाव नहीं अपनाते ? ये काम, क्रोध, लोभ और दम्भ भी आज ब्रह्म-संस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो गये ! श्रीकृष्ण घरमें घुसकर बासी माखन गटकने लगे मानो माको दिखा रहे हों कि मैं कितना भूखा हूँ ।

प्रेमी भक्तोंके 'पुरुषार्थ' भगवान् नहीं हैं, भगवान्की सेवा है । ये भगवान्की सेवाके लिये भगवान्का भी त्याग कर सकते हैं । मैयाके अपने हाथों दुहा हुआ यह पद्मगन्धा गायोंका दूध श्रीकृष्णके लिये ही गरम हो रहा था । थोड़ी देरके बाद ही उनको पिलाना था । दूध उफन जायगा तो मेरे लाला भूखे रहेंगे—रोयेंगे, इसीलिये माताने उन्हें नीचे उतारकर दूधको सँभाला ।

† यशोदा माता दूधके पास पहुँचीं । प्रेमका अद्भुत दृश्य ! पुत्रको गोदसे उतारकर उसके पेयके प्रति इतनी प्रीति क्यों ? अपनी छातीका दूध तो अपना है, वह कहीं जाता नहीं है । परन्तु यह सहस्रों छटी हुई गायोंके दूधसे पालित पद्मगन्धा गायका दूध फिर कहाँ मिलेगा ? वृन्दावनका दूध-अप्राकृत, चिन्मय, प्रेमजगत्का दूध—माको आते देखकर शर्मसे दब गया । 'अहो ! आगमें कूदनेका सङ्कल्प करके मैंने माके स्नेहानन्दमें कितना बड़ा विघ्न डाला ? और मा अपना आनन्द छोड़कर मेरी रक्षाके लिये दौड़ी आ रही है । मुझे धिक्कार है ।' दूधका उफनना बंद हो गया और वह तत्काल अपने स्थानपर बैठ गया ।

‡ 'मा ! तुम अपनी गोदमें नहीं बैठाओगी तो मैं किसी खलकी गोदमें जा बैठूँगा'—यही सोचकर मानो श्रीकृष्ण उल्टे ऊखलके ऊपर जा बैठे । उदार पुरुष भले ही खलोंकी संगतिमें जा बैठें, परन्तु उसका शील-स्वभाव बदलता नहीं है । ऊखलपर बैठकर भी वे बन्दरोंको माखन बाँटने लगे । सम्भव है रामावतारके प्रति जो कृतज्ञताका भाव उदय हुआ था, उसके कारण अथवा अभी-अभी क्रोध आ गया था, उसका प्रायश्चित्त करनेके लिये !

श्रीकृष्णके नेत्र हैं 'चौर्यविशङ्कित' ध्यान करने योग्य । वैसे तो उनके ललित, कलित, छलित, बलित, चकित आदि अनेकों प्रकारके ध्येय नेत्र हैं, परन्तु ये प्रेमी जनोंके हृदयमें गहरी चोट करते हैं ।



मैयासे डरे हुए भगवान्

गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां
क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः ॥ ९ ॥

डरे हुएकी भाँति भागे । परीक्षित्! बड़े-बड़े योगी तपस्याके द्वारा अपने मनको अत्यन्त सूक्ष्म और शुद्ध बनाकर भी जिनमें प्रवेश नहीं करा पाते, पानेकी बात तो दूर रही, उन्हीं भगवान्‌के पीछे-पीछे उन्हें पकड़नेके लिये यशोदाजी दौड़ीं *॥ ९ ॥

अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चल-
च्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा ।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धन-
च्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत् ॥१०॥

जब इस प्रकार माता यशोदा श्रीकृष्णके पीछे दौड़ने लगीं, तब कुछ ही देरमें बड़े-बड़े एवं हिलते हुए नितम्बोंके कारण उनकी चाल धीमी पड़ गयी। वेगसे दौड़नेके कारण चोटीकी गाँठ ढीली पड़ गयी । वे ज्यों-ज्यों आगे बढ़तीं, पीछे-पीछे चोटीमें गुँथे हुए फूल गिरते जाते । इस प्रकार सुन्दरी यशोदा ज्यों-त्यों करके उन्हें पकड़ सकीं † ॥ १० ॥

कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी
कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना ।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं
हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥११॥

श्रीकृष्णका हाथ पकड़कर वे उन्हें डराने-धमकाने लगीं। उस समय श्रीकृष्णकी झाँकी बड़ी विलक्षण हो रही थी। अपराध तो किया ही था, इसलिये रुलाई रोकनेपर भी न रुकती थी। हाथोंसे आँखें मल रहे थे, इसलिये मुँहपर काजलकी स्याही फैल गयी थी। पिटनेके भयसे आँखें ऊपरकी ओर उठ गयी थीं, उनसे व्याकुलता सूचित होती थी ‡॥ ११ ॥

त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला ।
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा ॥१२॥

जब यशोदाजीने देखा कि लल्ला बहुत डर गया है, तब उनके हृदयमें वात्सल्य-स्नेह उमड़ आया। उन्होंने छड़ी फेंक दी। इसके बाद सोचा कि इसको एक बार रस्सीसे बाँध देना चाहिये (नहीं तो यह कहीं भाग जायगा)। परीक्षित्! सच पूछो तो यशोदा मैयाको अपने बालकके ऐश्वर्यका पता न था § ॥१२॥

---

* भीत होकर भागते हुए भगवान् हैं। अपूर्व झाँकी है! ऐश्वर्यको तो मानो मैयाके वात्सल्य प्रेमपर न्यौछावर करके व्रजके बाहर ही फेंक दिया है! कोई असुर अस्त्र-शस्त्र लेकर आता तो सुदर्शन चक्रका स्मरण करते। मैयाकी छड़ीका निवारण करनेके लिये कोई भी अस्त्र-शस्त्र नहीं! भगवान्‌की यह भयभीत मूर्ति कितनी मधुर है! धन्य है इस भयको।

† माता यशोदाके शरीर और शृंगार दोनों ही विरोधी हो गये—तुम प्यारे कन्हैयाको क्यों खदेड़ रही हो। परन्तु मैयाने पकड़कर ही छोड़ा।

‡ विश्वके इतिहासमें, भगवान्‌के सम्पूर्ण जीवनमें पहली बार स्वयं विश्वेश्वर भगवान् माके सामने अपराधी बनकर खड़े हुए हैं। मानो अपराधी भी मैं ही हूँ—इस सत्यका प्रत्यक्ष करा दिया। बायें हाथसे दोनों आँखें रगड़-रगड़कर मानो उनसे कहलाना चाहते हों कि ये किसी कर्मके कर्त्ता नहीं हैं। ऊपर इसलिये देख रहे हैं कि जब माता ही पीटनेके लिये तैयार है, तब मेरी सहायता और कौन कर सकता है? नेत्र भयसे विह्वल हो रहे हैं, ये भले ही कह दें कि मैंने नहीं किया; हम कैसे कहें। फिर तो लीला ही बंद हो जायगी।

माने डाँटा—अरे, अशान्तप्रकृते! वानरबन्धो! मन्थनीस्फोटक! अब तुझे मक्खन कहाँसे मिलेगा? आज मैं तुझे ऐसा बाँधूँगी, ऐसा बाँधूँगी कि न तो तू ग्वालबालोंके साथ खेल ही सकेगा और न माखन-चोरी आदि ऊधम ही मचा सकेगा।

§ 'अरी मैया! मोहि मत मार।' माताने कहा—'यदि तुझे पिटनेका इतना डर था तो मटका क्यों फोड़ा?' श्रीकृष्ण—'अरी मैया! मैं अब ऐसा कभी नहीं करूँगा। तू अपने हाथसे छड़ी डाल दे।'

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥१३॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥१४॥
तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः ।
द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका ॥१५॥

जिसमें न बाहर है न भीतर, न आदि है और न अन्त; जो जगत्‌के पहले भी थे, बादमें भी रहेंगे; इस जगत्‌के भीतर तो हैं ही, बाहरी रूपोंमें भी हैं; और तो क्या, जगत्‌के रूपमें भी स्वयं वही हैं; * यही नहीं, जो समस्त इन्द्रियोंसे परे और अव्यक्त हैं—उन्हीं भगवान्‌को मनुष्यका-सा रूप धारण करनेके कारण पुत्र समझकर यशोदारानी रस्सीसे ऊखलमें ठीक वैसे ही बाँध देती हैं, जैसे कोई साधारण-सा बालक† हो ॥ १३-१४ ॥ जब माता यशोदा अपने ऊधमी और नटखट लड़केको रस्सीसे बाँधने लगीं, तब वह दो अंगुल छोटी पड़ गयी ! तब उन्होंने दूसरी रस्सी लाकर उसमें जोड़ी‡ ॥ १५ ॥

श्रीकृष्णका भोलापन देखकर मैयाका हृदय भर आया, वात्सल्य-स्नेहके समुद्रमें ज्वार आ गया। वे सोचने लगीं—लाला अत्यन्त डर गया है। कहीं छोड़नेपर यह भागकर वनमें चला गया तो कहाँ-कहाँ भटकता फिरेगा, भूखा-प्यासा रहेगा। इसलिये थोड़ी देरतक बाँधकर रख लूँ। दूध-माखन तैयार होनेपर मना लूँगी। यही सोच-विचारकर माताने बाँधनेका निश्चय किया। बाँधनेमें वात्सल्य ही हेतु था।

भगवान्‌के ऐश्वर्यका अज्ञान दो प्रकारका होता है, एक तो साधारण प्राकृत जीवोंको और दूसरा भगवान्‌के नित्य-सिद्ध प्रेमी परिकरको। यशोदा मैया आदि भगवान्‌की स्वरूपभूता चिन्मयी लीलाके अप्राकृत नित्य-सिद्ध परिकर हैं। भगवान्‌के प्रति वात्सल्यभाव, शिशु-प्रेमकी गाढ़ताके कारण ही उनका ऐश्वर्य-ज्ञान अभिभूत हो जाता है; अन्यथा उनमें अज्ञानकी संभावना ही नहीं है। इनकी स्थिति तुरीयावस्था अथवा समाधिका भी अतिक्रमण करके सहज प्रेममें रहती है। वहाँ प्राकृत अज्ञान, मोह, रजोगुण और तमोगुणकी तो बात ही क्या, प्राकृत सत्त्वकी भी गति नहीं है। इसलिये इनका अज्ञान भी भगवान्‌की लीलाकी सिद्धिके लिये उनकी लीलाशक्तिका ही एक चमत्कारविशेष है।

तभीतक हृदयमें जड़ता रहती है, जबतक चेतनका स्फुरण नहीं होता। श्रीकृष्णके हाथमें आ जानेपर यशोदा माताने बाँसकी छड़ी फेंक दी—यह सर्वथा स्वाभाविक है।

मेरी तृप्तिका प्रयत्न छोड़कर छोटी-मोटी वस्तुपर दृष्टि डालना केवल अर्थ-हानिका ही हेतु नहीं है, मुझे भी आँखोंसे ओझल कर देता है। परन्तु सब कुछ छोड़कर मेरे पीछे दौड़ना मेरी प्राप्तिका हेतु है। क्या मैयाके चरितसे इस बातकी शिक्षा नहीं मिलती ?

मुझे योगियोंकी भी बुद्धि नहीं पकड़ सकती, परन्तु जो सब ओरसे मुँह मोड़कर मेरी ओर दौड़ता है, मैं उसकी मुट्ठीमें आ जाता हूँ। यही सोचकर भगवान् यशोदाके हाथों पकड़े गये।

* इस श्लोकमें श्रीकृष्णकी ब्रह्मरूपता बतायी गयी है। उपनिषदोंमें जैसे ब्रह्मका वर्णन है—'अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्' इत्यादि। वही बात यहाँ श्रीकृष्णके सम्बन्धमें है। वह सर्वाधिष्ठान, सर्वसाक्षी, सर्वातीत, सर्वान्तर्यामी, सर्वोपादान एवं सर्वरूप ब्रह्म ही यशोदा माताके प्रेमके वश बँधने जा रहा है। बन्धनरूप होनेके कारण उसमें किसी प्रकारकी असङ्गति या अनौचित्य भी नहीं है।

† यह फिर कभी ऊखलपर जाकर न बैठे इसके लिये ऊखलसे बाँधना ही उचित है। क्योंकि खलका अधिक सङ्ग होनेपर उससे मनमें उद्वेग हो जाता है।

यह ऊखल भी चोर ही है, क्योंकि इसने कन्हैयाके चोरी करनेमें सहायता की है। दोनोंको बन्धनयोग्य देखकर ही यशोदा माताने दोनोंको बाँधनेका उद्योग किया।

‡ यशोदा माता ज्यों-ज्यों अपने स्नेह, ममता आदि गुणों (सद्‌गुणों या रस्सियों) से श्रीकृष्णका पेट भरने लगीं, त्यों-त्यों अपनी नित्यमुक्तता, स्वतन्त्रता आदि सद्‌गुणोंसे भगवान् अपने स्वरूपको प्रकट करने लगे।

यदाऽऽसीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे ।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद् यदादत्त बन्धनम् ॥१६॥
एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि ।
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत् ॥१७॥
स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।

जब वह भी छोटी हो गयी, तब उसके साथ और जोड़ी* । इस प्रकार वे ज्यों-ज्यों रस्सी लातीं और जोड़ती गयीं, त्यों-त्यों जुड़नेपर भी वे सब दो-दो अंगुल छोटी पड़ती गयीं †॥ १६ ॥ यशोदा-रानीने घरकी सारी रस्सियाँ जोड़ डालीं, फिर भी वे भगवान् श्रीकृष्णको न बाँध सकीं। उनकी असफलतापर देखनेवाली गोपियाँ मुसकराने लगीं और वे स्वयं भी मुसकराती हुई आश्चर्यचकित हो गयीं ॥ १७ ॥‡ भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरी माका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया है, चोटीमें गुँथी हुई मालाएँ गिर गयी

* १. संस्कृत-साहित्यमें 'गुण' शब्दके अनेक अर्थ हैं—सद्गुण, सत्त्व आदि गुण और रस्सी। सत्त्व, रज आदि गुण भी अखिल ब्रह्माण्डनायक त्रिलोकीनाथ भगवान्का स्पर्श नहीं कर सकते। फिर यह छोटा-सा गुण (दो बित्तेकी रस्सी) उन्हें कैसे बाँध सकता है। यही कारण है कि यशोदा माताकी रस्सी पूरी नहीं पड़ती थी।

२. संसारके विषय इन्द्रियोंको ही बाँधनेमें समर्थ हैं—विषिण्वन्ति इति विषयाः। ये हृदयमें स्थित अन्तर्यामी और साक्षीको नहीं बाँध सकते। तब गो-बन्धक (इन्द्रियों या गायोंको बाँधनेवाली) रस्सी गो-पति (इन्द्रियों या गायोंके स्वामी) को कैसे बाँध सकती है ?

३. वेदान्तके सिद्धान्तानुसार अध्यस्तमें ही बन्धन होता है, अधिष्ठानमें नहीं। भगवान् श्रीकृष्णका उदर अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंका अधिष्ठान है। उसमें भला बन्धन कैसे हो सकता है ?

४. भगवान् जिसको अपनी कृपाप्रसादपूर्ण दृष्टिसे देख लेते हैं, वही सर्वदाके लिये बन्धनसे मुक्त हो जाता है। यशोदा माता अपने हाथमें जो रस्सी उठातीं, उसीपर श्रीकृष्णकी दृष्टि पड़ जाती। वह स्वयं मुक्त हो जाती, फिर उसमें गाँठ कैसे लगती ?

५. कोई साधक यदि अपने गुणोंके द्वारा भगवान्को रिझाना चाहे तो नहीं रिझा सकता। मानो यही सूचित करनेके लिये कोई भी गुण (रस्सी) भगवान्के उदरको पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हुआ।

† रस्सी दो अंगुल ही कम क्यों हुई ? इसपर कहते हैं—

१. भगवान्ने सोचा कि जब मैं शुद्धहृदय भक्तजनोंको दर्शन देता हूँ, तब मेरे साथ एकमात्र सत्त्वगुणसे ही सम्बन्धकी स्फूर्ति होती है, रज और तमसे नहीं। इसलिये उन्होंने रस्सीको दो अंगुल कम करके अपना भाव प्रकट किया।

२. उन्होंने विचार किया कि जहाँ नाम और रूप होते हैं, वहीं बन्धन भी होता है। मुझ परमात्मामें बन्धनकी कल्पना कैसे ? जब कि ये दोनों ही नहीं। दो अंगुलकी कमीका यही रहस्य है।

३. दो वृक्षोंका उद्धार करना है। यही क्रिया सूचित करनेके लिये रस्सी दो अंगुल कम पड़ गयी।

४. भगवत्कृपासे द्वैतानुरागी भी मुक्त हो जाता है और असङ्ग भी प्रेमसे बँध जाता है। यही दोनों भाव सूचित करनेके लिये रस्सी दो अंगुल कम हो गयी।

५. यशोदा माताने छोटी-बड़ी अनेकों रस्सियाँ अलग-अलग और एक साथ भी भगवान्की कमरमें लगायीं, परन्तु वे पूरी न पड़ीं, क्योंकि भगवान्में छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं है। रस्सियोंने कहा—भगवान्के समान अनन्तता, अनादिता और विभुता हमलोगोंमें नहीं है। इसलिये इनको बाँधनेकी बात बंद करो। अथवा जैसे नदियाँ समुद्रमें समा जाती हैं वैसे ही सारे गुण (सारी रस्सियाँ) अनन्तगुण भगवान्में लीन हो गये, अपना नाम-रूप खो बैठे। ये ही दो भाव सूचित करनेके लिये रस्सियोंमें दो अंगुलकी न्यूनता हुई।

‡ वे मन-ही-मन सोचतीं—इसकी कमर मुट्ठीभर की है, फिर भी सैकड़ों हाथ लंबी रस्सीसे यह नहीं बँधता है। कमर तिलमात्र भी मोटी नहीं होती, रस्सी एक अंगुल भी छोटी नहीं होती, फिर भी वह बँधता नहीं। कैसा आश्चर्य है। हर बार दो अंगुलकी ही कमी होती है, न तीनकी, न चारकी, न एककी। यह कैसा अलौकिक चमत्कार है।

दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने ॥१८॥

हैं और वे बहुत थक भी गयी हैं; तब कृपा करके वे स्वयं ही अपनी माके बन्धनमें बँध गये* ॥ १८ ॥

एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥१९॥

परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण परम स्वतन्त्र हैं। ब्रह्मा, इन्द्र आदिके साथ यह सम्पूर्ण जगत् उनके वशमें है। फिर भी इस प्रकार बँधकर उन्होंने संसारको यह बात दिखला दी कि मैं अपने प्रेमी भक्तोंके वशमें हूँ†॥१९॥

* १. भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि जब माके हृदयसे द्वैत-भावना दूर नहीं हो रही है, तब मैं व्यर्थ अपनी असङ्गता क्यों प्रकट करूँ। जो मुझे बद्ध समझता है उसके लिये बद्ध होना ही उचित है। इसलिये वे बँध गये।

२. मैं अपने भक्तके छोटे-से गुणको भी पूर्ण कर देता हूँ—यह सोचकर भगवान्ने यशोदा माताके गुण (रस्सी) को अपने बाँधने योग्य बना लिया।

३. यद्यपि मुझमें अनन्त, अचिन्त्य कल्याण-गुण निवास करते हैं, तथापि तबतक वे अधूरे ही रहते हैं, जबतक मेरे भक्त अपने गुणोंकी मुहर-उनपर नहीं लगा देते। यही सोचकर यशोदा मैयाके गुणों (वात्सल्य, स्नेह आदि और रज्जु) से अपनेको पूर्णोदर—दामोदर—बना लिया।

४. भगवान् श्रीकृष्ण इतने कोमलहृदय हैं कि अपने भक्तके प्रेमको पुष्ट करनेवाला परिश्रम भी सहन नहीं करते हैं। वे अपने भक्तको परिश्रमसे मुक्त करनेके लिये स्वयं ही बन्धन स्वीकार कर लेते हैं।

५. भगवान्ने अपने मध्यभागमें बन्धन स्वीकार करके यह सूचित किया कि मुझमें तत्त्वदृष्टिसे बन्धन है ही नहीं; क्योंकि जो वस्तु आगे-पीछे, ऊपर-नीचे नहीं होती, केवल बीचमें भासती है, वह झूठी होती है। इसी प्रकार यह बन्धन भी झूठा है।

६. भगवान् किसीकी शक्ति, साधन या सामग्रीसे नहीं बँधते। यशोदाजीके हाथों श्यामसुन्दरको न बँधते देखकर पास-पड़ोसकी ग्वालिनें इकट्ठी हो गयीं और कहने लगीं—यशोदाजी ! लालाकी कमर तो मुट्ठीभरकी ही है और छोटी-सी किङ्किणी इसमें रुन-झुन कर रही है। अब यह इतनी रस्सियोंसे नहीं बँधता तो जान पड़ता है कि विधाताने इसके ललाटमें बन्धन लिखा ही नहीं है। इसलिये अब तुम यह उद्योग छोड़ दो।

यशोदा मैयाने कहा—चाहे सन्ध्या हो जाय और गाँवभरकी रस्सी क्यों न इकट्ठी करनी पड़े, पर मैं तो इसे बाँधकर ही छोड़ूँगी। यशोदाजीका यह हठ देखकर भगवान्ने अपना हठ छोड़ दिया; क्योंकि जहाँ भगवान् और भक्तके हठमें विरोध होता है, वहाँ भक्तका ही हठ पूरा होता है। भगवान् बँधते हैं तब, जब भक्तकी थकान देखकर कृपापरवश हो जाते हैं। भक्तके श्रम और भगवान्की कृपाकी कमी ही दो अंगुलकी कमी है। अथवा जब भक्त अहंकार करता है कि मैं भगवान्को बाँध लूँगा, तब वह उनसे एक अंगुल दूर पड़ जाता है और भक्तकी नकल करनेवाले भगवान् भी एक अंगुल दूर हो जाते हैं। जब यशोदा माता थक गयीं, उनका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया, तब भगवान्की सर्व-शक्तिचक्रवर्तिनी परम भास्वती भगवती कृपा-शक्तिने भगवान्के हृदयको माखनके समान द्रवित कर दिया और स्वयं प्रकट होकर उसने भगवान्की सत्य-संकल्पितता और विभुताको अन्तर्हित कर दिया। इसीसे भगवान् बँध गये।

† यद्यपि भगवान् स्वयं परमेश्वर हैं, तथापि प्रेम-परवश होकर बँध जाना परम चमत्कारकारी होनेके कारण भगवान्का भूषण ही है, दूषण नहीं।

आत्माराम होनेपर भी भूख लगना, पूर्णकाम होनेपर भी अतृप्त रहना, शुद्ध सत्त्वस्वरूप होनेपर भी क्रोध करना, स्वाराज्य-लक्ष्मीसे युक्त होनेपर भी चोरी करना, महाकाल यम आदिको भय देनेवाले होनेपर भी डरना और भागना, मनसे भी तीव्र गतिवाले होनेपर भी माताके हाथों पकड़ा जाना, आनन्दमय होनेपर भी दुखी होना, रोना, सर्वव्यापक होनेपर भी बँध जाना—यह सब भगवान्की स्वाभाविक भक्तवश्यता है। जो लोग भगवान्को नहीं जानते हैं, उनके लिये तो इसका कुछ उपयोग नहीं है, परन्तु जो श्रीकृष्णको भगवान्के रूपमें पहचानते हैं, उनके लिये यह अत्यन्त चमत्कारकी वस्तु है और यह देखकर—जानकर उनका हृदय द्रवित हो जाता है, भक्तिप्रेमसे सराबोर हो जाता है। अहो ! विश्वेश्वर प्रभु अपने भक्तके हाथों ऊखलमें बँधे हुए हैं !

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥२०॥
नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥२१॥

ग्वालिनी यशोदाने मुक्तिदाता मुकुन्दसे जो कुछ अनिर्वचनीय कृपाप्रसाद प्राप्त किया वह प्रसाद ब्रह्मा पुत्र होनेपर भी, शङ्कर आत्मा होनेपर भी और वक्षःस्थलपर विराजमान लक्ष्मी अर्धाङ्गिनी होनेपर भी न पा सके, न पा सके* ॥ २० ॥ यह गोपिकानन्दन भगवान् अनन्यप्रेमी भक्तोंके लिये जितने सुलभ हैं, उतने देहाभिमानी कर्मकाण्डी एवं तपस्वियोंको तथा अपने स्वरूपभूत ज्ञानियोंके लिये भी नहीं हैं† ॥ २१ ॥

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः ।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥२२॥
पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात् ।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ॥२३॥

इसके बाद नन्दरानी यशोदाजी तो घरके काम-धंधोंमें उलझ गयीं और ऊखलमें बँधे हुए भगवान् श्यामसुन्दरने उन दोनों अर्जुन-वृक्षोंको मुक्ति देनेकी सोची, जो पहले यक्षराज कुबेरके पुत्र थे‡ ॥ २२ ॥ इनके नाम थे नलकूबर और मणिग्रीव । इनके पास धन, सौन्दर्य और ऐश्वर्यकी पूर्णता थी । इनका घमंड देखकर ही देवर्षि नारदजीने इन्हें शाप दे दिया था और ये वृक्ष हो गये थे§ ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
गोपीप्रसादो[1] नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

---

१. बालक्रीडायामुलूखलबन्धो नाम ।

* इस श्लोकमें तीनों नकारोंका अन्वय 'लेभिरे' क्रियाके साथ करना चाहिये । न पा सके, न पा सके, न पा सके ।

† ज्ञानी पुरुष भी भक्ति करें तो उन्हें इन सगुण भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु बड़ी कठिनाईसे । ऊखल-बँधे भगवान् सगुण हैं । वे निर्गुण प्रेमीको कैसे मिलेंगे ?

‡ स्वयं बँधकर भी बन्धनमें पड़े हुए यक्षोंकी मुक्तिकी चिन्ता करना, सत्पुरुषके सर्वथा योग्य है ।

जब यशोदा माताकी दृष्टि श्रीकृष्णसे हटकर दूसरेपर पड़ती है, तब वे भी किसी दूसरेको देखने लगते हैं और ऐसा ऊधम मचाते हैं कि सबकी दृष्टि उनकी ओर खिंच आये । देखिये, पूतना, शकटासुर, तृणावर्त आदिका प्रसङ्ग ।

§ ये अपने भक्त कुबेरके पुत्र हैं, इसलिये इनका अर्जुन नाम है । ये देवर्षि नारदके द्वारा दृष्टिपूत किये जा चुके हैं, इसलिये भगवान्‌ने उनकी ओर देखा ।

जिसे पहले भक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, उसपर कृपा करनेके लिये स्वयं बँधकर भी भगवान् जाते हैं ।

अथ दशमोऽध्यायः

यमलार्जुनका उद्धार

राजोवाच

कथ्यतां भगवन्नेतत्तयोः शापस्य कारणम् ।

यत्तद् विगर्हितं कर्म येन[1] वा देवर्षेस्तमः ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! आप कृपया यह बतलाइये कि नलकूबर और मणिग्रीवको शाप क्यों मिला । उन्होंने ऐसा कौन-सा निन्दित कर्म किया था, जिसके कारण परम शान्त देवर्षि नारदजीको भी क्रोध आ गया ? ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ ।

कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ।

स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ॥ ३ ॥

अन्तः प्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि ।

चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः ॥ ४ ॥

यदृच्छया च देवर्षिर्भगवांस्तत्र कौरव ।

अपश्यन्नारदो देवौ क्षीवाणौ समबुध्यत ॥ ५ ॥

तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशङ्किताः ।

वासांसि[2] पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ ॥ ६ ॥

तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ ।

तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! नलकूबर और मणिग्रीव—ये दोनों एक तो धनाध्यक्ष कुबेरके लाड़ले लड़के थे और दूसरे इनकी गिनती हो गयी रुद्रभगवान्‌के अनुचरोंमें । इससे उनका घमंड बढ़ गया । एक दिन वे दोनों मन्दाकिनीके तटपर कैलासके रमणीय उपवनमें वारुणी मदिरा पीकर मदोन्मत्त हो गये थे । नशेके कारण उनकी आँखें घूम रही थीं । बहुत-सी स्त्रियाँ उनके साथ गा-बजा रही थीं और वे पुष्पोंसे लदे हुए वनमें उनके साथ विहार कर रहे थे ॥ २-३ ॥ उस समय गङ्गाजीमें पाँत-के-पाँत कमल खिले हुए थे । वे स्त्रियोंके साथ जलके भीतर घुस गये और जैसे हाथियोंका जोड़ा हथिनियोंके साथ जलक्रीडा कर रहा हो, वैसे ही वे उन युवतियोंके साथ तरह-तरहकी क्रीडा करने लगे ॥ ४ ॥ परीक्षित् ! संयोग-वश उधरसे परम समर्थ देवर्षि नारदजी आ निकले । उन्होंने उन यक्ष-युवकोंको देखा और समझ लिया कि ये इस समय मतवाले हो रहे हैं ॥ ५ ॥ देवर्षि नारदको देखकर वस्त्रहीन अप्सराएँ लजा गयीं । शापके डरसे उन्होंने तो अपने-अपने कपड़े झटपट पहन लिये, परन्तु इन यक्षोंने कपड़े नहीं पहने ॥ ६ ॥ जब देवर्षि नारद-जीने देखा कि ये देवताओंके पुत्र होकर श्रीमदसे अंधे और मदिरापान करके उन्मत्त हो रहे हैं, तब उन्होंने उनपर अनुग्रह करनेके लिये शाप देते हुए यह कहा—*॥ ७ ॥

१. येनासीद्देव० । २. वासांस्युप० ।

* देवर्षि नारदके शाप देनेमें दो हेतु थे—एक तो अनुग्रह—उनके मदका नाश करना और दूसरा अर्थ—श्रीकृष्ण-प्राप्ति ।

ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिकालदर्शी देवर्षि नारदने अपनी ज्ञानदृष्टिसे यह जान लिया कि इनपर भगवान्‌का अनुग्रह होनेवाला है । इसीसे उन्हें भगवान्‌का भावी कृपापात्र समझकर ही उनके साथ छेड़-छाड़ की ।

नारद उवाच

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः ।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासवः ॥ ८ ॥
हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः ।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम् ॥ ९ ॥
देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् ।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥१०॥
देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च ।
मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा ॥११॥
एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् ।
को विद्वानात्मसात् कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसतः॥१२॥
असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमञ्जनम् ।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥१३॥
यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम् ।

नारदजीने कहा—जो लोग अपने प्रिय विषयोंका सेवन करते हैं, उनकी बुद्धिको सबसे बढ़कर नष्ट करनेवाला है श्रीमद—धन-सम्पत्तिका नशा। हिंसा आदि रजोगुणी कर्म और कुलीनता आदिका अभिमान भी उससे बढ़कर बुद्धि-भ्रंशक नहीं है; क्योंकि श्रीमदके साथ-साथ तो स्त्री, जूआ और मदिरा भी रहती है॥ ८ ॥ ऐश्वर्यमद और श्रीमदसे अंधे होकर अपनी इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले क्रूर पुरुष अपने नाशवान् शरीरको तो अजर-अमर मान बैठते हैं और अपने ही-जैसे शरीरवाले पशुओंकी हत्या करते हैं॥ ९ ॥ जिस शरीरको 'भूदेव' 'नरदेव' 'देव' आदि नामोंसे पुकारते हैं—उसकी अन्तमें क्या गति होगी ? उसमें कीड़े पड़ जायँगे, पक्षी खाकर उसे विष्ठा बना देंगे या वह जलकर राखका ढेर बन जायगा। उसी शरीरके लिये प्राणियोंसे द्रोह करनेमें मनुष्य अपना कौन-सा स्वार्थ समझता है ? ऐसा करनेसे तो उसे नरककी ही प्राप्ति होगी॥ १० ॥ बतलाओ तो सही, यह शरीर किसकी सम्पत्ति है ? अन्न देकर पालनेवालेकी है या गर्भाधान करानेवाले पिताकी ? यह शरीर उसे नौ महीने पेटमें रखनेवाली माताका है अथवा माताको भी पैदा करनेवाले नानाका? जो बलवान् पुरुष बलपूर्वक इससे काम करा लेता है, उसका है अथवा दाम देकर खरीद लेनेवालेका ? चिताकी जिस धधकती आगमें यह जल जायगा, उसका है अथवा जो कुत्ते-स्यार इसको चीथ-चीथकर खा जानेकी आशा लगाये बैठे हैं, उनका ? ॥११॥ यह शरीर एक साधारण-सी वस्तु है। प्रकृतिसे पैदा होता है और उसीमें समा जाता है। ऐसी स्थितिमें मूर्ख पशुओंके सिवा और ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो इसको अपना आत्मा मानकर दूसरोंको कष्ट पहुँचायेगा, उनके प्राण लेगा॥ १२ ॥ जो दुष्ट-श्रीमदसे अंधे हो रहे हैं, उनकी आँखोंमें ज्योति डालनेके लिये दरिद्रता ही सबसे बड़ा अंजन है; क्योंकि दरिद्र यह देख सकता है कि दूसरे प्राणी भी मेरे ही-जैसे हैं॥ १३ ॥ जिसके शरीरमें एक बार काँटा गड़ जाता है, वह नहीं चाहता कि किसी भी प्राणीको काँटा गड़नेकी पीड़ा सहनी पड़े; क्योंकि उस पीड़ा और उसके द्वारा होनेवाले विकारोंसे

१. क्रेतुर्वा बलिनोऽग्नेः शुनो०।

जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः ॥१४॥
दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह ।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥१५॥
नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः ।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते ॥१६॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद् विशुद्ध्यति॥१७॥
साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥१८॥
तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः ।
तमोमदं हरिष्यामि[1] स्त्रैणयोरजितात्मनोः ॥१९॥
यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ ।
न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥२०॥

वह समझता है कि दूसरेको भी वैसी ही पीड़ा होती है। परन्तु जिसे कभी काँटा गड़ा ही नहीं, वह उसकी पीड़ाका अनुमान नहीं कर सकता ॥ १४ ॥ दरिद्रमें घमंड और हेकड़ी नहीं होती; वह सब तरहके मदोंसे बचा रहता है बल्कि दैववश उसे जो कष्ट उठाना पड़ता है, वह उसके लिये एक बहुत बड़ी तपस्या भी है ॥१५॥ जिसे प्रतिदिन भोजनके लिये अन्न जुटाना पड़ता है, भूखसे जिसका शरीर दुबला-पतला हो गया है, उस दरिद्रकी इन्द्रियाँ भी अधिक विषय नहीं भोगना चाहतीं, सूख जाती हैं और फिर वह अपने भोगोंके लिये दूसरे प्राणियोंको सताता नहीं—उनकी हिंसा नहीं करता ॥ १६ ॥ यद्यपि साधु पुरुष समदर्शी होते हैं, फिर भी उनका समागम दरिद्रके लिये ही सुलभ है; क्योंकि उसके भोग तो पहलेसे ही छूटे हुए हैं। अब संतोंके सङ्गसे उसकी लालसा-तृष्णा भी मिट जाती है और शीघ्र ही उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है* ॥ १७ ॥ जिन महात्माओंके चित्तमें सबके लिये समता है, जो केवल भगवान्‌के चरणारविन्दोंका मकरन्द-रस पीनेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं, उन्हें दुर्गुणोंके खजाने अथवा दुराचारियोंकी जीविका चलानेवाले और धनके मदसे मतवाले दुष्टोंकी क्या आवश्यकता है ? वे तो उनकी उपेक्षाके ही पात्र हैं† ॥ १८ ॥ ये दोनों यक्ष वारुणी मदिराका पान करके मतवाले और श्रीमदसे अंधे हो रहे हैं। अपनी इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले इन स्त्री-लम्पट यक्षोंका अज्ञानजनित मद मैं चूर-चूर कर दूँगा ॥ १९ ॥ देखो तो सही, कितना अनर्थ है कि ये लोकपाल कुबेरके पुत्र होनेपर भी मदोन्मत्त होकर अचेत हो रहे हैं और इनको इस बातका भी पता नहीं है कि हम बिल्कुल नंग-धड़ंग

1. हनिष्या० ।

* धनी पुरुषमें तीन दोष होते हैं—धन, धनका अभिमान और धनकी तृष्णा। दरिद्र पुरुषमें पहले दो नहीं होते, केवल तीसरा ही दोष रहता है। इसलिये सत्पुरुषोंके सङ्गसे धनकी तृष्णा मिट जानेपर धनियोंकी अपेक्षा उसका शीघ्र कल्याण हो जाता है।

† धन स्वयं एक दोष है। सातवें स्कन्धमें कहा है कि जितनेसे पेट भर जाय, उससे अधिकको अपना माननेवाला चोर है और दण्डका पात्र है—'स स्तेनो दण्डमर्हति ।' भगवान् भी कहते हैं—जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका धन छीन लेता हूँ। इसीसे सत्पुरुष प्रायः धनियोंकी उपेक्षा करते हैं।

अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः ।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥२१॥
वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते ।
वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

एवमुक्त्वा स देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम् ।
नलकूबरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ॥२३॥
ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः ।
जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥२४॥
देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना ॥२५॥
इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ ।
आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम् ॥२६॥
बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप-
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥२७॥

हैं ॥ २० ॥ इसलिये ये दोनों अब वृक्षयोनिमें जानेके योग्य हैं । ऐसा होनेसे इन्हें फिर इस प्रकारका अभिमान न होगा । वृक्षयोनिमें जानेपर भी मेरी कृपासे इन्हें भगवान्‌की स्मृति बनी रहेगी और मेरे अनुग्रहसे देवताओंके सौ वर्ष बीतनेपर इन्हें भगवान् श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त होगा; और फिर भगवान्‌के चरणोंमें परम प्रेम प्राप्त करके ये अपने लोकमें चले आयेंगे ॥ २१-२२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—देवर्षि नारद इस प्रकार कहकर भगवान् नर-नारायणके आश्रमपर चले गये* । नलकूबर और मणिग्रीव—ये दोनों एक ही साथ अर्जुन वृक्ष होकर यमलार्जुन नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ २३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपने परम प्रेमी भक्त देवर्षि नारदजीकी बात सत्य करनेके लिये धीरे-धीरे ऊखल घसीटते हुए उस ओर प्रस्थान किया, जिधर यमलार्जुन वृक्ष थे ॥ २४ ॥ भगवान्‌ने सोचा कि 'देवर्षि नारद मेरे अत्यन्त प्यारे हैं और ये दोनों भी मेरे भक्त कुबेरके लड़के हैं । इसलिये महात्मा नारदने जो कुछ कहा है, उसे मैं ठीक उसी रूपमें पूरा करूँगा'† ॥ २५ ॥ यह विचार करके भगवान् श्रीकृष्ण दोनों वृक्षोंके बीचमें घुस गये‡ । वे तो दूसरी ओर निकल गये, परन्तु ऊखल टेढ़ा होकर अटक गया ॥ २६ ॥ दामोदर भगवान् श्रीकृष्णकी कमरमें रस्सी कसी हुई थी । उन्होंने अपने पीछे लुढ़कते हुए ऊखलको ज्यों ही तनिक जोरसे खींचा, त्यों ही पेड़ोंकी सारी जड़ें उखड़ गयीं§ । समस्त बल-विक्रमके केन्द्र भगवान्‌का तनिक-सा जोर लगते ही पेड़ोंके तने, शाखाएँ, छोटी-छोटी डालियाँ और एक-एक पत्ते काँप उठे और वे दोनों बड़े जोरसे तड़तड़ाते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २७ ॥

---

१. स्यात्तत्प्रसा० । २. स एवमुक्त्वा देव० । ३. ता उदूखलं । ४. बलिनो० ।

* १. शाप-वरदानसे तपस्या क्षीण होती है । नलकूबर-मणिग्रीवको शाप देनेके पश्चात् नर-नारायण-आश्रमकी यात्रा करनेका यह अभिप्राय है कि फिरसे तपःसञ्चय कर लिया जाय ।

२. मैंने यक्षोंपर जो अनुग्रह किया है, वह बिना तपस्याके पूर्ण नहीं हो सकता है, इसलिये ।

३. अपने आराध्यदेव एवं गुरुदेव नारायणके सम्मुख अपना कृत्य निवेदन करनेके लिये ।

† भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कृपादृष्टिसे उन्हें मुक्त कर सकते थे । परन्तु वृक्षोंके पास जानेका कारण यह है कि देवर्षि नारदने कहा था कि तुम्हें वासुदेवका सान्निध्य प्राप्त होगा ।

‡ वृक्षोंके बीचमें जानेका आशय यह है कि भगवान् जिसके अन्तर्देशमें प्रवेश करते हैं, उसके जीवनमें क्लेशका लेश भी नहीं रहता । भीतर प्रवेश किये बिना दोनोंका एक साथ उद्धार भी कैसे होता ।

§ जो भगवान्‌के गुण (भक्त-वात्सल्य आदि सद्गुण या रस्सी) से बँधा हुआ है, वह तिर्यक् गति (पशु-पक्षी या टेढ़ी चालवाला) ही क्यों न हो—दूसरोंका उद्धार कर सकता है ।

अपने अनुयायीके द्वारा किया हुआ काम जितना यशस्कर होता है, उतना अपने हाथसे नहीं । मानो यही सोचकर अपने पीछे-पीछे चलनेवाले ऊखलके द्वारा उनका उद्धार करवाया ।

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ
सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः ।
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म ॥२८॥

उन दोनों वृक्षोंमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो सिद्ध पुरुष निकले । उनके चमचमाते हुए सौन्दर्यसे दिशाएँ दमक उठीं । उन्होंने सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णके पास आकर उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर शुद्ध हृदयसे वे उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—॥ २८ ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥२९॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥३०॥
त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी ।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥३१॥
गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ।
को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः ॥३२॥
तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः ॥३४॥
स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।
अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥३५॥

उन्होंने कहा—सच्चिदानन्दस्वरूप ! सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाले परम योगेश्वर श्रीकृष्ण ! आप प्रकृतिसे अतीत स्वयं पुरुषोत्तम हैं । वेदज्ञ ब्राह्मण यह बात जानते हैं कि यह व्यक्त और अव्यक्त सम्पूर्ण जगत् आपका ही रूप है ॥ २९ ॥ आप ही समस्त प्राणियोंके शरीर, प्राण, अन्तःकरण और इन्द्रियोंके स्वामी हैं । तथा आप ही सर्वशक्तिमान् काल, सर्वव्यापक एवं अविनाशी ईश्वर हैं ॥ ३० ॥ आप ही महत्तत्त्व और वह प्रकृति हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म एवं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूपा है । आप ही समस्त स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके कर्म, भाव, धर्म और सत्ताको जाननेवाले सबके साक्षी परमात्मा हैं ॥ ३१ ॥ वृत्तियोंसे ग्रहण किये जानेवाले प्रकृतिके गुणों और विकारोंके द्वारा आप पकड़में नहीं आ सकते । स्थूल और सूक्ष्म शरीरके आवरणसे ढका हुआ ऐसा कौन-सा पुरुष है, जो आपको जान सके ? क्योंकि आप तो उन शरीरोंके पहले भी एकरस विद्यमान थे ॥ ३२ ॥ समस्त प्रपञ्चके विधाता भगवान् वासुदेवको हम नमस्कार करते हैं । प्रभो ! आपके द्वारा प्रकाशित होनेवाले गुणोंसे ही आपने अपनी महिमा छिपा रक्खी है । परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण ! हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ३३ ॥ आप प्राकृत शरीरसे रहित हैं । फिर भी जब आप ऐसे पराक्रम प्रकट करते हैं, जो साधारण शरीरधारियोंके लिये शक्य नहीं है और जिनसे बढ़कर तो क्या जिनके समान भी कोई नहीं कर सकता, तब उनके द्वारा उन शरीरोंमें आपके अवतारोंका पता चल जाता है । ॥३४ ॥ प्रभो ! आप वही समस्त लोकोंके अभ्युदय और निः-श्रेयसके लिये इस समय अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंसे अवतीर्ण

१. तैर्गुणै० ।

नमः परमकल्याण नमः[1] परममङ्गल ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥३६॥
अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ ।
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥३७॥
वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शने[2]ऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥३८॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं संकीर्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वरः ।
दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

ज्ञातं[3] मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना ।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः ॥४०॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥४१॥
तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूवरसादनम् ।
सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः ॥४२॥

हुए हैं । आप समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हैं ॥ ३५ ॥ परम कल्याण (साध्य) स्वरूप ! आपको नमस्कार है । परम मङ्गल (साधन) स्वरूप ! आपको नमस्कार है । परम शान्त, सबके हृदयमें विहार करनेवाले यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥ ३६ ॥ अनन्त ! हम आपके दासानुदास हैं । आप यह स्वीकार कीजिये । देवर्षि भगवान् नारदके परम अनुग्रहसे ही हम अपराधियोंको आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ॥ ३७ ॥ प्रभो ! हमारी वाणी आपके मङ्गलमय गुणोंका वर्णन करती रहे । हमारे कान आपकी रसमयी कथामें लगे रहें । हमारे हाथ आपकी सेवामें और मन आपके चरण-कमलोंकी स्मृतिमें रम जायँ । यह सम्पूर्ण जगत् आपका निवास-स्थान है । हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे । संत आपके प्रत्यक्ष शरीर हैं । हमारी आँखें उनके दर्शन करती रहें ॥ ३८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सौन्दर्य-माधुर्यनिधि गोकुलेश्वर श्रीकृष्णने नलकूबर और मणिग्रीवके इस प्रकार स्तुति करनेपर रस्सीसे ऊखलमें बँधे-बँधे ही हँसते हुए* उनसे कहा—॥ ३९ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—तुमलोग श्रीमदसे अंधे हो रहे थे । मैं पहलेसे ही यह बात जानता था कि परम कारुणिक देवर्षि नारदने शाप देकर तुम्हारा ऐश्वर्य नष्ट कर दिया तथा इस प्रकार तुम्हारे ऊपर कृपा की ॥ ४० ॥ जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय पूर्णरूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकारका होना ॥ ४१ ॥ इसलिये नलकूबर और मणिग्रीव ! तुमलोग मेरे परायण होकर अपने-अपने घर जाओ । तुमलोगोंको संसारचक्रसे छुड़ानेवाले अनन्य भक्तिभावकी, जो तुम्हें अभीष्ट है, प्राप्ति हो गयी है ॥ ४२ ॥

१. नमस्ते विश्वमङ्गल । २. ने भगवन्ममास्तु । ३. श्रुतं ।

* सर्वदा मैं मुक्त रहता हूँ और बद्ध जीव मेरी स्तुति करते हैं । आज मैं बद्ध हूँ और मुक्त जीव मेरी स्तुति कर रहे हैं । यह विपरीत दशा देखकर भगवान्‌को हँसी आ गयी ।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः ।

बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥४३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब भगवान्‌ने इस प्रकार कहा, तब उन दोनोंने उनकी परिक्रमा की और बार-बार प्रणाम किया। इसके बाद ऊखलमें बँधे हुए सर्वेश्वरकी आज्ञा प्राप्त करके उन लोगोंने उत्तर दिशाकी यात्रा की* ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नारदशापो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

गोकुलसे वृन्दावन जाना तथा वत्सासुर और बकासुरका उद्धार

श्रीशुक उवाच[3]

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् ।

तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः ॥ १ ॥

भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ ।

बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥ २ ॥

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् ।

कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥ ३ ॥

बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम् ।

विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि ॥ ४ ॥

न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! वृक्षोंके गिरनेसे जो भयङ्कर शब्द हुआ था, उसे नन्दबाबा आदि गोपोंने भी सुना। उनके मनमें यह शङ्का हुई कि कहीं बिजली तो नहीं गिरी! सब-के-सब भयभीत होकर वृक्षोंके पास आ गये ॥ १ ॥ वहाँ पहुँचनेपर उन लोगोंने देखा कि दोनों अर्जुनके वृक्ष गिरे हुए हैं। यद्यपि वृक्ष गिरनेका कारण स्पष्ट था—वहीं उनके सामने ही रस्सीमें बँधा हुआ बालक ऊखल खींच रहा था, परन्तु वे समझ न सके। 'यह किसका काम है, ऐसी आश्चर्यजनक दुर्घटना कैसे घट गयी?' यह सोचकर वे कातर हो गये, उनकी बुद्धि भ्रमित हो गयी ॥ २-३ ॥ वहाँ कुछ बालक खेल रहे थे। उन्होंने कहा—'अरे, इसी कन्हैयाका तो काम है। यह दोनों वृक्षोंके बीचमेंसे होकर निकल रहा था। ऊखल तिरछा हो जानेपर दूसरी ओरसे इसने उसे खींचा और वृक्ष गिर पड़े। हमने तो इनमेंसे निकलते हुए दो पुरुष भी देखे हैं' ॥ ४ ॥ परन्तु गोपोंने बालकोंकी बात नहीं मानी। वे कहने लगे—'एक नन्हा-सा बच्चा इतने बड़े वृक्षोंको उखाड़ डाले, यह कभी

१. तं। २. यमलार्जुनभञ्जनं नाम। ३. बादरायणिरुवाच। ४. तिरश्चीनमुलू०। ५. घटेदिति।

* यक्षोंने विचार किया कि जबतक यह स-गुण (रस्सी) में बँधे हुए हैं, तभीतक हमें इनके दर्शन हो रहे हैं। निर्गुणको तो मनसे सोचा भी नहीं जा सकता। इसीसे भगवान्‌के बँधे रहते ही वे चले गये।

स्वस्त्यस्तु उलूखल सर्वदा श्रीकृष्णगुणशाली एव भूयाः।

'ऊखल! तुम्हारा कल्याण हो, तुम सदा श्रीकृष्णके गुणोंसे बँधे ही रहो।'—ऐसा ऊखलको आशीर्वाद देकर यक्ष वहाँसे चले गये।

बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् सन्दिग्धचेतसः ॥ ५ ॥
उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् ।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥ ॥ ६ ॥
गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् बालवत् क्वचित् ।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ॥ ७ ॥
बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम् ।
बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ॥ ८ ॥
दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम् ।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः ॥ ९ ॥
क्रीणीहि भोः फलानीति श्रुत्वा सत्वरमच्युतः ।
फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः ॥१०॥
फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम् ।
फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥११॥
सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत् ।
रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम् ॥१२॥
नोपेयातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ ।

सम्भव नहीं है !' किसी-किसीके चित्तमें श्रीकृष्णकी पहलेकी लीलाओंका स्मरण करके सन्देह भी हो आया ॥५॥ नन्दबाबाने देखा, उनका प्राणोंसे प्यारा बच्चा रस्सीसे बँधा हुआ ऊखल घसीटता जा रहा है। वे हँसने लगे और जल्दीसे जाकर उन्होंने रस्सीकी गाँठ खोल दी* ॥ ६ ॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् कभी-कभी गोपियोंके फुसलानेसे साधारण बालकोंके समान नाचने लगते। कभी भोले-भाले अनजान बालककी तरह गाने लगते। वे उनके हाथकी कठपुतली—उनके सर्वथा अधीन हो गये थे ॥७॥ कभी उनकी आज्ञासे पीढ़ा ले आते, तो कभी दुसेरी आदि तौलनेके बटखरे उठा लेते। कभी खड़ाऊँ ले आते, तो कभी अपने प्रेमी भक्तोंको आनन्दित करनेके लिये पहलवानोंकी भाँति ताल ठोंकने लगते ॥ ८ ॥ इस प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् अपनी बाल-लीलाओंसे व्रजवासियोंको आनन्दित करते और संसारमें जो लोग उनके रहस्यको जाननेवाले हैं, उनको यह दिखलाते कि मैं अपने सेवकोंके वशमें हूँ ॥ ९ ॥

एक दिन कोई फल बेचनेवाली आकर पुकार उठी—'फल, लो फल !' यह सुनते ही समस्त कर्म और उपासनाओंके फल देनेवाले भगवान् अच्युत फल खरीदनेके लिये अपनी छोटी-सी अँजुलीमें अनाज लेकर दौड़ पड़े ॥ १० ॥ उनकी अँजुलीमेंसे अनाज तो रास्तेमें ही बिखर गया, पर फल बेचनेवालीने उनके दोनों हाथ फलसे भर दिये। इधर भगवान्‌ने भी उसकी फल रखनेवाली टोकरी रत्नोंसे भर दी ॥ ११ ॥

तदनन्तर एक दिन यमलार्जुन वृक्षको तोड़नेवाले श्रीकृष्ण और बलराम बालकोंके साथ खेलते-खेलते यमुना-तटपर चले गये और खेलमें ही रम गये, तब रोहिणीदेवीने उन्हें पुकारा 'ओ कृष्ण! ओ बलराम! जल्दी आओ' ॥१२॥ परन्तु रोहिणीके पुकारनेपर भी वे आये नहीं; क्योंकि उनका मन खेलमें लग गया था। जब बुलानेपर भी वे

---

* नन्दबाबा इसलिये हँसे कि कन्हैया कहीं यह सोचकर डर न जाय कि जब माने बाँध दिया, तब पिता कहीं आकर पीटने न लगें।

माताने बाँधा और पिताने छोड़ा। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलासे यह बात सिद्ध हुई कि उनके स्वरूपमें बन्धन और मुक्तिकी कल्पना करनेवाले दूसरे ही हैं। वे स्वयं न बद्ध हैं, न मुक्त हैं।

यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम् ॥१३॥
क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम् ।
यशोदाजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ॥१४॥
कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब ।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक॥१५॥
हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन ।
प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति ॥१६॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः ।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः ॥१७॥
धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह ।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः ॥१८॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलङ्कृतान् ।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलङ्कृतः ॥१९॥
इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं
मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप ।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं
नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम् ॥२०॥

दोनों बालक नहीं आये, तब रोहिणीजीने वात्सल्यस्नेहमयी यशोदाजीको भेजा ॥ १३ ॥ श्रीकृष्ण और बलराम ग्वालबालोंके साथ बहुत देरसे खेल रहे थे, यशोदाजीने जाकर उन्हें पुकारा । उस समय पुत्रके प्रति वात्सल्यस्नेहके कारण उनके स्तनोंमेंसे दूध चुचुआ रहा था ॥ १४ ॥ वे जोर-जोरसे पुकारने लगीं—'मेरे प्यारे कन्हैया ! ओ कृष्ण ! कमलनयन ! श्यामसुन्दर ! बेटा ! आओ, अपनी माका दूध पी लो । खेलते-खेलते थक गये हो । बेटा ! अब बस करो । देखो तो सही, तुम भूखसे दुबले हो रहे हो ॥ १५ ॥ मेरे प्यारे बेटा राम ! तुम तो समूचे कुलको आनन्द देनेवाले हो । अपने छोटे भाईको लेकर जल्दीसे आ जाओ तो ! देखो, भाई ! आज तुमने बहुत सवेरे कलेऊ किया था । अब तो तुम्हें कुछ खाना चाहिये ॥ १६॥ बेटा बलराम ! व्रजराज भोजन करनेके लिये बैठ गये हैं; परन्तु अभीतक तुम्हारी बाट देख रहे हैं । आओ, अब हमें आनन्दित करो । बालको ! अब तुमलोग भी अपने-अपने घर जाओ ॥ १७ ॥ बेटा ! देखो तो सही, तुम्हारा एक-एक अङ्ग धूलसे लथपथ हो रहा है । आओ, जल्दीसे स्नान कर लो । आज तुम्हारा जन्म-नक्षत्र है । पवित्र होकर ब्राह्मणोंको गोदान करो ॥ १८ ॥ देखो—देखो ! तुम्हारे साथियोंको उनकी माताओंने नहला-धुलाकर, मींज-पोंछकर कैसे सुन्दर-सुन्दर गहने पहना दिये हैं । अब तुम भी नहा-धोकर, खा-पीकर, पहन-ओढ़कर तब खेलना' ॥ १९ ॥ परीक्षित् ! माता यशोदाका सम्पूर्ण मन-प्राण प्रेम-बन्धनसे बँधा हुआ था । वे चराचर जगत्के शिरोमणि भगवान्‌को अपना पुत्र समझतीं और इस प्रकार कहकर एक हाथसे बलराम तथा दूसरे हाथसे श्रीकृष्णको पकड़कर अपने घर ले आयीं । इसके बाद उन्होंने पुत्रके मङ्गलके लिये जो कुछ करना था, वह बड़े प्रेमसे किया ॥ २० ॥

गोपवृद्धा महोत्पाताननुभूय बृहद्वने ।
नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन् ॥२१॥

जब नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंने देखा कि महावन-में तो बड़े-बड़े उत्पात होने लगे हैं, तब वे लोग इकट्ठे होकर 'अब व्रजवासियोंको क्या करना चाहिये'—इस

तत्रोपनन्दनामाऽऽह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः ।
देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद् रामकृष्णयोः ॥२२॥
उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः ।
आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशहेतवः ॥२३॥
मुक्तः कथञ्चिद् राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ ।
हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत् ॥२४॥
चक्रवातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत् ।
शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः ॥२५॥
यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः ।
असावन्यतमो वापि तदप्यच्युतरक्षणम् ॥२६॥
यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः ।
तावद् बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः ॥२७॥
वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम् ।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥२८॥
तत्तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युङ्क्त मा चिरम् ।
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥२९॥
तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्विति वादिनः ।

विषयपर विचार करने लगे ॥ २१ ॥ उनमेंसे एक गोपका नाम था उपनन्द । वे अवस्थामें तो बड़े थे ही, ज्ञानमें भी बड़े थे । उन्हें इस बातका पता था कि किस समय किस स्थानपर किस वस्तुसे कैसा व्यवहार करना चाहिये । साथ ही वे यह भी चाहते थे कि राम और श्याम सुखी रहें, उनपर कोई विपत्ति न आवे । उन्होंने कहा—॥२२॥ 'भाइयो ! अब यहाँ ऐसे बड़े-बड़े उत्पात होने लगे हैं, जो बच्चोंके लिये तो बहुत ही अनिष्टकारी हैं । इसलिये यदि हमलोग गोकुल और गोकुलवासियोंका भला चाहते हैं, तो हमें यहाँसे अपना डेरा-डंडा उठाकर कूच कर देना चाहिये ॥ २३ ॥ देखो, यह सामने बैठा हुआ नन्दरायका लाडला सबसे पहले तो बच्चोंके लिये काल-स्वरूपिणी हत्यारी पूतनाके चंगुलसे किसी प्रकार छूटा । इसके बाद भगवान्‌की दूसरी कृपा यह हुई कि इसके ऊपर उतना बड़ा छकड़ा गिरते-गिरते बचा ॥ २४ ॥ बवंडररूपधारी दैत्यने तो इसे आकाशमें ले जाकर बड़ी भारी विपत्ति (मृत्युके मुख) में ही डाल दिया था, परन्तु वहाँसे जब वह चट्टानपर गिरा, तब भी हमारे कुलके देवेश्वरोंने ही इस बालककी रक्षा की ॥ २५ ॥ यमलार्जुन वृक्षोंके गिरनेके समय उनके बीचमें आकर भी यह या और कोई बालक न मरा । इससे भी यही समझना चाहिये कि भगवान्‌ने हमारी रक्षा की ॥ २६ ॥ इसलिये जबतक कोई बहुत बड़ा अनिष्टकारी अरिष्ट हमें और हमारे व्रजको नष्ट न कर दे, तबतक ही हमलोग अपने बच्चोंको लेकर अनुचरोंके साथ यहाँसे अन्यत्र चले चलें ॥ २७ ॥ 'वृन्दावन' नामका एक वन है । उसमें छोटे-छोटे और भी बहुत-से नये-नये हरे-भरे वन हैं । वहाँ बड़ा ही पवित्र पर्वत, घास और हरी-भरी लता-वनस्पतियाँ हैं । हमारे पशुओंके लिये तो वह बहुत ही हितकारी है । गोप, गोपी और गायोंके लिये वह केवल सुविधाका ही नहीं, सेवन करनेयोग्य स्थान है ॥ २८ ॥ सो यदि तुम सब लोगोंको यह बात जँचती हो तो आज ही हमलोग वहाँके लिये कूच कर दें । देर न करें, गाड़ी-छकड़े जोतें और पहले गायोंको, जो हमारी एकमात्र सम्पत्ति हैं, वहाँ भेज दें' ॥ २९ ॥

उपनन्दकी बात सुनकर सभी गोपोंने एक स्वरसे कहा—'बहुत ठीक, बहुत ठीक !' इस विषयमें किसीका

व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ।३०।
वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि च ।
अनस्स्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः ॥३१॥
गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः ।
तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः ॥३२॥
गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः ।
कृष्णलीला जगुः प्रीता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।३३।
तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते ।
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके ॥३४॥
वृन्दावनं संप्रविश्य सर्वकालसुखावहम् ।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥३५॥
वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च ।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ॥३६॥
एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः ।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥३७॥
अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः ।
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ ॥३८॥
क्वचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित् ।
क्वचित् पादैः किङ्किणीभिःक्वचित् कृत्रिमगोवृषैः।३९।

भी मतभेद न था। सब लोगोंने अपनी झुंड-की-झुंड गायें इकट्ठी कीं और छकड़ोंपर घरकी सब सामग्री लादकर वृन्दावनकी यात्रा की ॥ ३० ॥ परीक्षित्! ग्वालोंने बूढ़ों, बच्चों, स्त्रियों और सब सामग्रियोंको छकड़ोंपर चढ़ा दिया और स्वयं उनके पीछे-पीछे धनुष-बाण लेकर बड़ी सावधानीसे चलने लगे॥ ३१ ॥ उन्होंने गौ और बछड़ोंको तो सबसे आगे कर लिया और उनके पीछे-पीछे सींग और तुरही जोर-जोरसे बजाते हुए चले। उनके साथ-ही-साथ पुरोहितलोग भी चल रहे थे ॥ ३२ ॥ गोपियाँ अपने-अपने वक्षःस्थलपर नयी केसर लगाकर, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनकर, गलेमें सोनेके हार धारण किये हुए रथोंपर सवार थीं और बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके गीत गाती जाती थीं ॥ ३३ ॥ यशोदारानी और रोहिणीजी भी वैसे ही सज-धजकर अपने-अपने प्यारे पुत्र श्रीकृष्ण तथा बलरामके साथ एक छकड़ेपर शोभायमान हो रही थीं। वे अपने दोनों बालकोंकी तोतली बोली सुन-सुनकर भी अघाती न थीं, और-और सुनना चाहती थीं ॥ ३४ ॥ वृन्दावन बड़ा ही सुन्दर वन है। चाहे कोई भी ऋतु हो, वहाँ सुख-ही-सुख है। उसमें प्रवेश करके ग्वालोंने अपने छकड़ोंको अर्द्धचन्द्राकार मण्डल बाँधकर खड़ा कर दिया और अपने गोधनके रहने योग्य स्थान बना लिया॥ ३५ ॥ परीक्षित्! वृन्दावनका हरा-भरा वन, अत्यन्त मनोहर गोवर्धन पर्वत और यमुना नदीके सुन्दर-सुन्दर पुलिनोंको देखकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके हृदयमें उत्तम प्रीतिका उदय हुआ॥३६॥

राम और श्याम दोनों ही अपनी तोतली बोली और अत्यन्त मधुर बालोचित लीलाओंसे गोकुलकी ही तरह वृन्दावनमें भी व्रजवासियोंको आनन्द देते रहे। थोड़े ही दिनोंमें समय आनेपर वे बछड़े चराने लगे ॥ ३७ ॥ दूसरे ग्वालबालोंके साथ खेलनेके लिये बहुत-सी सामग्री लेकर वे घरसे निकल पड़ते और गोष्ठ (गायोंके रहनेके स्थान) के पास ही अपने बछड़ोंको चराते ॥ ३८ ॥ श्याम और राम कहीं बाँसुरी बजा रहे हैं, तो कहीं गुलेल या ढेलवाँससे ढेले या गोलियाँ फेंक रहे हैं। किसी समय अपने पैरोंके घुँघरूपर तान छेड़ रहे हैं, तो कहीं बनावटी गाय और बैल बनकर खेल रहे हैं ॥ ३९ ॥

वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम् ।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा ॥४०॥

एक ओर देखिये तो साँड़ बन-बनकर हुँकड़ते हुए आपसमें लड़ रहे हैं तो दूसरी ओर मोर, कोयल, बंदर आदि पशु-पक्षियोंकी बोलियाँ निकाल रहे हैं । परीक्षित्! इस प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् साधारण बालकोंके समान खेलते रहते ॥ ४० ॥

कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः ।
वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत् ॥४१॥
तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः ।
दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत् ॥४२॥
गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युतः ।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम् ।
स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह ॥४३॥
तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति ।
देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः[1] ॥४४॥

एक दिनकी बात है, श्याम और बलराम अपने प्रेमी सखा ग्वालबालोंके साथ यमुनातटपर बछड़े चरा रहे थे । उसी समय उन्हें मारनेकी नीयतसे एक दैत्य आया ॥ ४१ ॥ भगवान्‌ने देखा कि वह बनावटी बछड़ेका रूप धारणकर बछड़ोंके झुंडमें मिल गया है । वे आँखोंके इशारेसे बलरामजीको दिखाते हुए धीरे-धीरे उसके पास पहुँच गये । उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे दैत्यको तो पहचानते नहीं और उस हट्टे-कट्टे सुन्दर बछड़ेपर मुग्ध हो गये हैं ॥ ४२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने पूँछके साथ उसके दोनों पिछले पैर पकड़कर आकाशमें घुमाया और मर जानेपर कैथके वृक्षपर पटक दिया । उसका लंबा-तगड़ा दैत्यशरीर बहुत-से कैथके वृक्षोंको गिराकर स्वयं भी गिर पड़ा ॥ ४३ ॥ यह देखकर ग्वालबालोंके आश्चर्यकी सीमा न रही । वे 'वाह-वाह' करके प्यारे कन्हैयाकी प्रशंसा करने लगे । देवता भी बड़े आनन्दसे फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४४ ॥

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥४५॥
स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा ।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम् ॥४६॥
ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम् ।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ॥४७॥
स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक् ।

परीक्षित्! जो सारे लोकोंके एकमात्र रक्षक हैं, वे ही श्याम और बलराम अब वत्सपाल (बछड़ोंके चरवाहे) बने हुए हैं । वे तड़के ही उठकर कलेवेकी सामग्री ले लेते और बछड़ोंको चराते हुए एक वनसे दूसरे वनमें घूमा करते ॥ ४५ ॥ एक दिनकी बात है, सब ग्वालबाल अपने झुंड-के-झुंड बछड़ोंको पानी पिलानेके लिये जलाशयके तटपर ले गये । उन्होंने पहले बछड़ोंको जल पिलाया और फिर स्वयं भी पिया ॥४६॥ ग्वालबालोंने देखा कि वहाँ एक बहुत बड़ा जीव बैठा हुआ है । वह ऐसा मालूम पड़ता था, मानो इन्द्रके वज्रसे कटकर कोई पहाड़का टुकड़ा गिरा हुआ है ॥ ४७ ॥ ग्वालबाल उसे देखकर डर गये । वह 'बक' नामका एक बड़ा भारी असुर था, जो बगुलेका रूप धरके

[1] पुष्पवृष्टिभिः ।

आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली ॥४८॥
कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः ।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥ ४९॥
तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद्
गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः ।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बक-
स्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥५०॥
तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो-
र्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः ।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया
मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम् ॥५१॥
तदा बकारिं सुरलोकवासिनः
समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः ।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवै-
स्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥५२॥
मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका
रामादयः प्राणमिवैन्द्रियो गणः ।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः
प्रणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज्जगुः ॥५३॥
श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः ।

वहाँ आया था । उसकी चोंच बड़ी तीखी थी और वह स्वयं बड़ा बलवान् था । उसने झपटकर श्रीकृष्णको निगल लिया ॥ ४८ ॥ जब बलराम आदि बालकोंने देखा कि वह बड़ा भारी बगुला श्रीकृष्णको निगल गया, तब उनकी वही गति हुई जो प्राण निकल जानेपर इन्द्रियोंकी होती है । वे अचेत हो गये ॥ ४९ ॥ परीक्षित् ! श्रीकृष्ण लोकपितामह ब्रह्माके भी पिता हैं । वे लीलासे ही गोपाल-बालक बने हुए हैं । जब वे बगुलेके तालुके नीचे पहुँचे, तब वे आगके समान उसका तालु जलाने लगे । अतः उस दैत्यने श्रीकृष्णके शरीरपर बिना किसी प्रकारका घाव किये ही झटपट उन्हें उगल दिया और फिर बड़े क्रोधसे अपनी कठोर चोंचसे उनपर चोट करनेके लिये टूट पड़ा ॥ ५० ॥ कंसका सखा बकासुर अभी भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णपर झपट ही रहा था कि उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों ठोर पकड़ लिये और ग्वालबालोंके देखते-देखते खेल-ही-खेलमें उसे वैसे ही चीर डाला, जैसे कोई बीरण (गाँडर, जिसकी जड़का खस होता है) को चीर डाले । इससे देवताओं-को बड़ा आनन्द हुआ ॥ ५१ ॥ सभी देवता भगवान् श्रीकृष्णपर नन्दनवनके बेला, चमेली आदिके फूल बरसाने लगे तथा नगारे, शङ्ख आदि बजाकर एवं स्तोत्रोंके द्वारा उनको प्रसन्न करने लगे । यह सब देख-कर सब-के-सब ग्वालबाल आश्चर्यचकित हो गये ॥५२॥ जब बलराम आदि बालकोंने देखा कि श्रीकृष्ण बगुलेके मुँहसे निकलकर हमारे पास आ गये हैं, तब उन्हें ऐसा आनन्द हुआ मानो प्राणोंके सञ्चारसे इन्द्रियाँ सचेत और आनन्दित हो गयी हों । सबने भगवान्को अलग-अलग गले लगाया । इसके बाद अपने-अपने बछड़े हाँककर सब व्रजमें आये और वहाँ उन्होंने घरके लोगोंसे सारी घटना कह सुनायी ॥ ५३ ॥

परीक्षित् ! बकासुरके वधकी घटना सुनकर सब-के-सब गोपी-गोप आश्चर्यचकित हो गये । उन्हें ऐसा जान पड़ा, जैसे कन्हैया साक्षात् मृत्युके मुखसे ही

१. गुरुम् । २. गतिः ।

प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥५४॥

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन् ।
अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम् ॥५५॥

अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥५६॥

अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥५७॥

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा ।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ॥५८॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥५९॥

लौटे हों । वे बड़ी उत्सुकता, प्रेम और आदरसे श्रीकृष्णको निहारने लगे । उनके नेत्रोंकी प्यास बढ़ती ही जाती थी, किसी प्रकार उन्हें तृप्ति न होती थी ॥५४॥ वे आपसमें कहने लगे—'हाय ! हाय !! यह कितने आश्चर्यकी बात है । इस बालकको कई बार मृत्युके मुँहमें जाना पड़ा । परन्तु जिन्होंने इसका अनिष्ट करना चाहा, उन्हींका अनिष्ट हुआ । क्योंकि उन्होंने पहलेसे दूसरोंका अनिष्ट किया था ॥ ५५ ॥ यह सब होनेपर भी वे भयङ्कर असुर इसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाते । आते हैं इसे मार डालनेकी नीयतसे, किन्तु आगपर गिरकर पतिंगोंकी तरह उलटे स्वयं स्वाहा हो जाते हैं ॥ ५६ ॥ सच है, ब्रह्मवेत्ता महात्माओंके वचन कभी झूठे नहीं होते । देखो न, महात्मा गर्गाचार्यने जितनी बातें कही थीं, सब-की-सब सोलहों आने ठीक उतर रही हैं' ॥ ५७ ॥ नन्दबाबा आदि गोपगण इसी प्रकार बड़े आनन्दसे अपने श्याम और रामकी बातें किया करते । वे उनमें इतने तन्मय रहते कि उन्हें संसारके दुःख-सङ्कटोंका कुछ पता ही न चलता ॥५८॥ इसी प्रकार श्याम और बलराम ग्वालबालोंके साथ कभी आँखमिचौनी खेलते, तो कभी पुल बाँधते । कभी बंदरोंकी भाँति उछलते-कूदते, तो कभी और कोई विचित्र खेल करते । इस प्रकारके बालोचित खेलोंसे उन दोनोंने व्रजमें अपनी बाल्यावस्था व्यतीत की ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वत्सवत्सवधो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अघासुरका उद्धार

श्रीशुक उवाच

क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! एक दिन नन्दनन्दन श्यामसुन्दर वनमें ही कलेवा करनेके विचारसे बड़े तड़के उठ गये और सींगकी मधुर मनोहर ध्वनिसे अपने साथी ग्वालबालोंको मनकी बात जनाते हुए उन्हें जगाया और बछड़ोंको आगे करके वे व्रजमण्डलसे

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः
स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्
वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥ २ ॥

कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान् ।
चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह ॥ ३ ॥

फलप्रवालस्तबकसुमनःपिच्छधातुभिः ।
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥ ४ ॥

मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः ।
तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥ ५ ॥

यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥

केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन ।
केचिद् भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे ॥७॥

विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधु हंसकैः ।
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥ ८ ॥

विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान् ।
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥ ९ ॥

साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः ।

निकल पड़े ॥ १ ॥ श्रीकृष्णके साथ ही उनके प्रेमी सहस्रों ग्वालबाल सुन्दर छींके, बेत, सींग और बाँसुरी लेकर तथा अपने सहस्रों बछड़ोंको आगे करके बड़ी प्रसन्नतासे अपने-अपने घरोंसे चल पड़े ॥ २ ॥ उन्होंने श्रीकृष्णके अगणित बछड़ोंमें अपने-अपने बछड़े मिला दिये और स्थान-स्थानपर बालोचित खेल खेलते हुए विचरने लगे ॥ ३ ॥ यद्यपि सब-के-सब ग्वालबाल काँच, घुँघची, मणि और सुवर्णके गहने पहने हुए थे, फिर भी उन्होंने वृन्दावनके लाल-पीले-हरे फलोंसे, नयी-नयी कोंपलोंसे, गुच्छोंसे, रंग-बिरंगे फूलों और मोरपंखोंसे तथा गेरू आदि रंगीन धातुओंसे अपनेको सजा लिया ॥ ४ ॥ कोई किसीका छींका चुरा लेता, तो कोई किसीकी बेत या बाँसुरी । जब उन वस्तुओंके स्वामी-को पता चलता, तब उन्हें लेनेवाला किसी दूसरेके पास दूर फेंक देता, दूसरा तीसरेके और तीसरा और भी दूर चौथेके पास। फिर वे हँसते हुए उन्हें लौटा देते ॥ ५ ॥ यदि श्याम-सुन्दर श्रीकृष्ण वनकी शोभा देखनेके लिये कुछ आगे बढ़ जाते, तो 'पहले मैं छुऊँगा, पहले मैं छुऊँगा'—इस प्रकार आपसमें होड़ लगाकर सब-के-सब उनकी ओर दौड़ पड़ते और उन्हें छू-छूकर आनन्दमग्न हो जाते ॥ ६ ॥ कोई बाँसुरी बजा रहा है, तो कोई सींग ही फूँक रहा है। कोई-कोई भौंरोंके साथ गुनगुना रहे हैं, तो बहुत-से कोयलोंके स्वरमें स्वर मिलाकर 'कुहू-कुहू' कर रहे हैं ॥ ७ ॥ एक ओर कुछ ग्वालबाल आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंकी छायाके साथ दौड़ लगा रहे हैं, तो दूसरी ओर कुछ हंसोंकी चालकी नकल करते हुए उनके साथ सुन्दर गतिसे चल रहे हैं। कोई बगुलेके पास उसीके समान आँखें मूँदकर बैठ रहे हैं, तो कोई मोरोंको नाचते देख उन्हींकी तरह नाच रहे हैं ॥ ८ ॥ कोई-कोई बंदरोंकी पूँछ पकड़कर खींच रहे हैं, तो दूसरे उनके साथ इस पेड़से उस पेड़पर चढ़ रहे हैं। कोई-कोई उनके साथ मुँह बना रहे हैं, तो दूसरे उनके साथ एक डालसे दूसरी डालपर छलाँग मार रहे हैं ॥ ९ ॥ बहुत-से ग्वालबाल तो नदीके कछारमें छपका खेल रहे हैं और उसमें फुदकते हुए मेंढकोंके साथ स्वयं भी

विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान् ॥१०॥

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥११॥

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥१२॥

अथाघनामाभ्यपतन्महासुर-
स्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः ।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः
पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥१३॥

दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः
कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः ।
अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयो-
र्द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये ॥१४॥

एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः
कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः ।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता
प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते ॥१५॥

इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः
स योजनायाममहाद्रिपीवरम् ।
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा
पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः ॥१६॥

फुदक रहे हैं। कोई पानीमें अपनी परछाईं देखकर उसकी हँसी कर रहे हैं, तो दूसरे अपने शब्दकी प्रतिध्वनिको ही बुरा-भला कह रहे हैं ॥ १० ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानी संतोंके लिये स्वयं ब्रह्मानन्दके मूर्तिमान् अनुभव हैं। दास्यभावसे युक्त भक्तोंके लिये वे उनके आराध्यदेव, परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर हैं। और माया-मोहित विषयान्धोंके लिये वे केवल एक मनुष्य-बालक हैं। उन्हीं भगवान्‌के साथ वे महान् पुण्यात्मा ग्वालबाल तरह-तरहके खेल खेल रहे हैं ॥११॥ बहुत जन्मोंतक श्रम और कष्ट उठाकर जिन्होंने अपनी इन्द्रियों और अन्तःकरणको वशमें कर लिया है, उन योगियोंके लिये भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी रज अप्राप्य है। वही भगवान् स्वयं जिन व्रजवासी ग्वालबालोंकी आँखोंके सामने रहकर सदा खेल खेलते हैं, उनके सौभाग्यकी महिमा इससे अधिक क्या कही जाय ॥१२॥

परीक्षित्! इसी समय अघासुर नामका महान् दैत्य आ धमका। उससे श्रीकृष्ण और ग्वालबालोंकी सुखमयी क्रीडा देखी न गयी। उसके हृदयमें जलन होने लगी। वह इतना भयङ्कर था कि अमृतपान करके अमर हुए देवता भी उससे अपने जीवनकी रक्षा करनेके लिये चिन्तित रहा करते थे और इस बातकी बाट देखते रहते थे कि किसी प्रकारसे इसकी मृत्युका अवसर आ जाय ॥ १३ ॥ अघासुर पूतना और बकासुरका छोटा भाई तथा कंसका भेजा हुआ था। वह श्रीकृष्ण, श्रीदामा आदि ग्वालबालोंको देखकर मन-ही-मन सोचने लगा कि 'यही मेरे सगे भाई और बहिनको मारनेवाला है। इसलिये आज मैं इन ग्वालबालोंके साथ इसे मार डालूँगा ॥१४॥ जब ये सब मरकर मेरे उन दोनों भाई-बहिनोंके मृत-तर्पणकी तिलाञ्जलि बन जायँगे, तब व्रजवासी अपने-आप मरे-जैसे हो जायँगे। सन्तान ही प्राणियोंके प्राण हैं। जब प्राण ही न रहेंगे, तब शरीर कैसे रहेगा? इसकी मृत्युसे व्रजवासी अपने-आप मर जायँगे' ॥१५॥ ऐसा निश्चय करके वह दुष्ट दैत्य अजगरका रूप धारण कर मार्गमें लेट गया। उसका वह अजगर-शरीर एक योजन लंबे बड़े पर्वतके समान विशाल एवं मोटा था। वह बहुत ही अद्भुत था। उसकी नीयत सब बालकोंको निगल जानेकी थी, इसलिये उसने गुफाके समान अपना

धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो
दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः ।
ध्वान्तान्तरास्यो वितताध्वजिह्वः
परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥१७॥

बहुत बड़ा मुँह फाड़ रक्खा था ॥ १६ ॥ उसका नीचेका होठ पृथ्वीसे और ऊपरका होठ बादलोंसे लग रहा था। उसके जबड़े कन्दराओंके समान थे और दाढ़ें पर्वतके शिखर-सी जान पड़ती थीं। मुँहके भीतर घोर अन्धकार था। जीभ एक चौड़ी लाल सड़क-सी दीखती थी। साँस आँधीके समान थी और आँखें दावानलके समान दहक रही थीं ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम् ।
व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया ॥१८॥

अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरः स्थितम् ।
अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा ॥१९॥

सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद् घनम् ।
अधराहनुवद् रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम् ॥२०॥

प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे ।
तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत ॥२१॥

आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति ।
एषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम् ॥२२॥

दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद् भाति पश्यत ।
तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत् ॥२३॥

अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टा-
नयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति ।

अघासुरका ऐसा रूप देखकर बालकोंने समझा कि यह भी वृन्दावनकी कोई शोभा है। वे कौतुकवश खेल-ही-खेलमें उत्प्रेक्षा करने लगे कि यह मानो अजगरका खुला हुआ मुँह है॥१८॥ कोई कहता—मित्रो! भला, बतलाओ तो, यह जो हमारे सामने कोई जीव-सा बैठा है, यह हमें निगलनेके लिये खुले हुए किसी अजगरके मुँह-जैसा नहीं है?'॥१९॥ दूसरेने कहा—'सचमुच सूर्यकी किरणें पड़नेसे ये जो बादल लाल-लाल हो गये हैं, वे ऐसे मालूम होते हैं मानो ठीक-ठीक इसका ऊपरी होठ ही हो। और उन्हीं बादलोंकी परछाईंसे यह जो नीचेकी भूमि कुछ लाल-लाल दीख रही है, वही इसका नीचेका होठ जान पड़ता है'॥२०॥ तीसरे ग्वालबालने कहा—'हाँ, सच तो है। देखो तो सही, क्या ये दायीं और बायीं ओरकी गिरि-कन्दराएँ अजगरके जबड़ोंकी होड़ नहीं करतीं? और ये ऊँची-ऊँची शिखर-पंक्तियाँ तो साफ-साफ इसकी दाढ़ें मालूम पड़ती हैं' ॥२१॥ चौथेने कहा—'अरे भाई! यह लंबी-चौड़ी सड़क तो ठीक अजगरकी जीभ-सरीखी मालूम पड़ती है और इन गिरि-शृङ्गोंके बीचका अन्धकार तो उसके मुँहके भीतरी भागको भी मात करता है'॥२२॥ किसी दूसरे ग्वालबालने कहा—'देखो, देखो! ऐसा जान पड़ता है कि कहीं इधर जंगलमें आग लगी है। इसीसे यह गरम और तीखी हवा आ रही है। परन्तु अजगरकी साँसके साथ इसका क्या ही मेल बैठ गया है। और उसी आगसे जले हुए प्राणियोंकी दुर्गन्ध ऐसी जान पड़ती है, मानो अजगरके पेटमें मरे हुए जीवोंके मांसकी ही दुर्गन्ध हो' ॥ २३ ॥ तब उन्हींमेंसे एकने कहा—'यदि हमलोग इसके मुँहमें घुस जायँ, तो क्या यह हमें निगल जायगा? अजी! यह क्या निगलेगा। कहीं ऐसा करनेकी ढिठाई की तो

क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं
वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥२४॥
इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं
श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते ।
रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः
स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे ॥२५॥
तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं
परं न गीर्णाः शिशवः सवत्साः ।
प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं
हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा ॥२६॥
तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो
ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान् ।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान्
घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः ॥२७॥
कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं
न वा अमीषां च सतां विहिंसनम् ।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य त-
ज्ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥२८॥
तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः ।
जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः ॥२९॥

एक क्षणमें यह भी बकासुरके समान नष्ट हो जायगा। हमारा यह कन्हैया इसको छोड़ेगा थोड़े ही।' इस प्रकार कहते हुए वे ग्वालबाल बकासुरको मारनेवाले श्रीकृष्णका सुन्दर मुख देखते और ताली पीट-पीटकर हँसते हुए अघासुरके मुँहमें घुस गये ॥ २४ ॥ उन अनजान बच्चोंकी आपसमें की हुई भ्रमपूर्ण बातें सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि 'अरे, इन्हें तो सच्चा सर्प भी झूठा प्रतीत होता है!' परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण जान गये कि यह राक्षस है। भला, उनसे क्या छिपा रहता? वे तो समस्त प्राणियोंके हृदयमें ही निवास करते हैं। अब उन्होंने यह निश्चय किया कि अपने सखा ग्वाल-बालोंको उसके मुँहमें जानेसे बचा लें ॥ २५ ॥ भगवान् इस प्रकार सोच ही रहे थे कि सब-के-सब ग्वालबाल बछड़ोंके साथ उस असुरके पेटमें चले गये। परन्तु अघासुरने अभी उन्हें निगला नहीं। इसका कारण यह था कि अघासुर अपने भाई बकासुर और बहिन पूतनाके वधकी याद करके इस बातकी बाट देख रहा था कि उनको मारनेवाले श्रीकृष्ण मुँहमें आ जायँ, तब सबको एक साथ ही निगल जाऊँ ॥ २६ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण सबको अभय देनेवाले हैं। जब उन्होंने देखा कि ये बेचारे ग्वालबाल—जिनका एकमात्र रक्षक मैं ही हूँ—मेरे हाथसे निकल गये और जैसे कोई तिनका उड़कर आगमें गिर पड़े, वैसे ही अपने-आप मृत्युरूप अघासुरकी जठराग्निके ग्रास बन गये, तब दैवकी इस विचित्र लीलापर भगवान्‌को बड़ा विस्मय हुआ और उनका हृदय दयासे द्रवित हो गया ॥ २७ ॥ वे सोचने लगे कि 'अब मुझे क्या करना चाहिये? ऐसा कौन-सा उपाय है, जिससे इस दुष्टकी मृत्यु भी हो जाय और इन संत-स्वभाव भोले-भाले बालकोंकी हत्या भी न हो? ये दोनों काम कैसे हो सकते हैं?' परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण भूत, भविष्य, वर्तमान—सबको प्रत्यक्ष देखते रहते हैं। उनके लिये यह उपाय जानना कोई कठिन न था। वे अपना कर्तव्य निश्चय करके स्वयं उसके मुँहमें घुस गये ॥ २८ ॥ उस समय बादलोंमें छिपे हुए देवता भयवश 'हाय-हाय' पुकार उठे और अघासुरके हितैषी कंस आदि राक्षस हर्ष प्रकट करने लगे ॥ २९ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम् ।
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले ॥३०॥
ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो
ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो
मूर्धन् विनिष्पाट्य विनिर्गतो बहिः ॥३१॥
तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु
प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान् ।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन-
र्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ॥३२॥
पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं मह-
ज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद् दिशो दश ।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं
विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ॥३३॥
ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं
पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः ।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः ॥३४॥
तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद्
दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् ॥३५॥
राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम् ।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥३६॥
एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम् ।

अघासुर बछड़ों और ग्वालबालोंके सहित भगवान् श्रीकृष्णको अपनी डाढ़ोंसे चबाकर चूर-चूर कर डालना चाहता था। परन्तु उसी समय अविनाशी श्रीकृष्णने देवताओंकी 'हाय-हाय' सुनकर उसके गलेमें अपने शरीरको बड़ी फुर्तीसे बढ़ा लिया ॥ ३० ॥ इसके बाद भगवान्‌ने अपने शरीरको इतना बड़ा कर लिया कि उसका गला ही रूँध गया। आँखें उलट गयीं। वह व्याकुल होकर बहुत ही छटपटाने लगा। साँस रुककर सारे शरीरमें भर गयी और अन्तमें उसके प्राण ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर निकल गये ॥ ३१ ॥ उसी मार्गसे प्राणोंके साथ उसकी सारी इन्द्रियाँ भी शरीरसे बाहर हो गयीं। उसी समय भगवान् मुकुन्दने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे मरे हुए बछड़ों और ग्वालबालोंको जिला दिया और उन सबको साथ लेकर वे अघासुरके मुँहसे बाहर निकल आये ॥ ३२ ॥ उस अजगरके स्थूल शरीरसे एक अत्यन्त अद्भुत और महान् ज्योति निकली। उस समय उस ज्योति-के प्रकाशसे दसों दिशाएँ प्रज्वलित हो उठीं। वह थोड़ी देरतक तो आकाशमें स्थित होकर भगवान्‌के निकलनेकी प्रतीक्षा करती रही। जब वे बाहर निकल आये, तब वह सब देवताओंके देखते-देखते उन्हींमें समा गयी ॥ ३३ ॥ उस समय देवताओंने फूल बरसाकर, अप्सराओंने नाच-कर, गन्धर्वोंने गाकर, विद्याधरोंने बाजे बजाकर, ब्राह्मणोंने स्तुति-पाठकर और पार्षदोंने जय-जयकारके नारे लगाकर बड़े आनन्दसे भगवान् श्रीकृष्णका अभिनन्दन किया। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने अघासुरको मारकर उन सबका बहुत बड़ा काम किया था ॥ ३४ ॥ उन अद्भुत स्तुतियों, सुन्दर बाजों, मङ्गलमय गीतों, जय-जयकार और आनन्दोत्सवोंकी मङ्गलध्वनि ब्रह्मलोकके पास पहुँच गयी। जब ब्रह्माजीने वह ध्वनि सुनी, तब वे बहुत ही शीघ्र अपने वाहनपर चढ़कर वहाँ आये और भगवान् श्रीकृष्णकी यह महिमा देखकर आश्चर्यचकित हो गये ॥ ३५ ॥ परीक्षित्! जब वृन्दावनमें अजगरका वह चाम सूख गया, तब वह व्रजवासियोंके लिये बहुत दिनोंतक खेलनेकी एक अद्भुत गुफा-सी बना रहा ॥ ३६ ॥ यह जो भगवान्‌ने अपने ग्वालबालोंको मृत्युके मुखसे बचाया था और अघासुरको मोक्ष-दान किया था, वह लीला भगवान्‌ने

मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे ॥३७॥

नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः ।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥३८॥

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥३९॥

सूत उवाच

इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः
श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम् ।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं
वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥४०॥

राजोवाच

ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत् ।
यत् कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः ॥४१॥

तद् ब्रूहि मे महायोगिन् परं कौतूहलं गुरो ।
नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा ॥४२॥

अपनी कुमार-अवस्थामें अर्थात् पाँचवें वर्षमें ही की थी। ग्वालबालोंने उसे उसी समय देखा भी था, परन्तु पौगण्ड-अवस्था अर्थात् छठे वर्षमें अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर व्रजमें उसका वर्णन किया ॥ ३७ ॥ अघासुर मूर्तिमान् अघ (पाप) ही था। भगवान्‌के स्पर्शमात्रसे उसके सारे पाप धुल गये और उसे उस सारूप्य-मुक्तिकी प्राप्ति हुई, जो पापियोंको कभी मिल नहीं सकती। परन्तु यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि मनुष्य-बालककी-सी लीला रचनेवाले ये वे ही परमपुरुष परमात्मा हैं, जो व्यक्त-अव्यक्त और कार्य-कारणरूप समस्त जगत्‌के एकमात्र विधाता हैं ॥ ३८ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके किसी एक अङ्गकी भावनिर्मित प्रतिमा यदि ध्यानके द्वारा एक बार भी हृदयमें बैठा ली जाय, तो वह सालोक्य, सामीप्य आदि गतिका दान करती है, जो भगवान्‌के बड़े-बड़े भक्तोंको मिलती है। भगवान् आत्मानन्दके नित्य साक्षात्कारस्वरूप हैं। माया उनके पासतक नहीं फटक पाती। वे ही स्वयं अघासुरके शरीरमें प्रवेश कर गये। क्या अब भी उसकी सद्‌गतिके विषयमें कोई सन्देह है? ॥ ३९ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने ही राजा परीक्षित्‌को जीवन-दान दिया था। उन्होंने जब अपने रक्षक एवं जीवनसर्वस्वका यह विचित्र चरित्र सुना, तब उन्होंने फिर श्रीशुकदेवजी महाराजसे उन्हींकी पवित्र लीलाके सम्बन्धमें प्रश्न किया। इसका कारण यह था कि भगवान्‌की अमृतमयी लीलाने परीक्षित्‌के चित्तको अपने वशमें कर रक्खा था ॥ ४० ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! आपने कहा था कि ग्वालबालोंने भगवान्‌की की हुई पाँचवें वर्षकी लीला व्रजमें छठे वर्षमें जाकर कही। अब इस विषयमें आप कृपा करके यह बतलाइये कि एक समयकी लीला दूसरे समयमें वर्तमानकालीन कैसे हो सकती है? ॥ ४१ ॥ महायोगी गुरुदेव! मुझे इस आश्चर्यपूर्ण रहस्यको जाननेके लिये बड़ा कौतूहल हो रहा है। आप कृपा करके बतलाइये। अवश्य ही इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी विचित्र घटनाओंको घटित करनेवाली मायाका कुछ-न-कुछ काम होगा। क्योंकि और किसी प्रकार ऐसा नहीं हो सकता

वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः ।
यत् पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम् ॥४३॥

॥ ४२ ॥ गुरुदेव ! यद्यपि क्षत्रियोचित धर्म ब्राह्मण-सेवासे विमुख होनेके कारण मैं अपराधी नाममात्रका क्षत्रिय हूँ, तथापि हमारा अहोभाग्य है कि हम आपके मुखारविन्दसे निरन्तर झरते हुए परम पवित्र मधुमय श्रीकृष्णलीलामृतका बार-बार पान कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

सूत उवाच

इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणि-
स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः ।
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः
प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम ॥४४॥

सूतजी कहते हैं—भगवान्के परम प्रेमी भक्तोंमें श्रेष्ठ शौनकजी ! जब राजा परीक्षित्ने इस प्रकार प्रश्न किया, तब श्रीशुकदेवजीको भगवान्की वह लीला स्मरण हो आयी । और उनकी समस्त इन्द्रियाँ तथा अन्तः-करण विवश होकर भगवान्की नित्यलीलामें खिंच गये । कुछ समयके बाद धीरे-धीरे श्रम और कष्टसे उन्हें बाह्यज्ञान हुआ । तब वे परीक्षित्से भगवान्की लीलाका वर्णन करने लगे ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

ब्रह्माजीका मोह और उसका नाश

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम ।
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥१॥

सतामयं सारभृतां निसर्गो
यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्
स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता ॥२॥

शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते ।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! तुम बड़े भाग्यवान् हो । भगवान्के प्रेमी भक्तोंमें तुम्हारा स्थान श्रेष्ठ है । तभी तो तुमने इतना सुन्दर प्रश्न किया है । यों तो तुम्हें बार-बार भगवान्की लीला-कथाएँ सुननेको मिलती हैं, फिर भी तुम उनके सम्बन्धमें प्रश्न करके उन्हें और भी सरस—और भी नूतन बना देते हो ॥ १ ॥ रसिक संतोंकी वाणी, कान और हृदय भगवान्की लीलाके गान, श्रवण और चिन्तनके लिये ही होते हैं—उनका यह स्वभाव ही होता है कि वे क्षण-प्रतिक्षण भगवान्की लीलाओंको अपूर्व रसमयी और नित्य-नूतन अनुभव करते रहें । ठीक वैसे ही, जैसे लम्पट पुरुषोंको स्त्रियोंकी चर्चामें नया-नया रस जान पड़ता है ॥ २ ॥ परीक्षित् ! तुम एकाग्र चित्तसे श्रवण करो । यद्यपि भगवान्की यह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है, फिर भी मैं तुम्हें सुनाता हूँ । क्योंकि दयालु आचार्य-गण अपने प्रेमी शिष्यको गुप्त रहस्य भी बतला दिया

तथाघवदनान्मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान् ।
सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः
स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम् ।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्त्रिक-
ध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥ ५ ॥

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवा रूढं क्षुधार्दिताः ।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥ ६ ॥

तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्य शाद्वले ।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा ॥ ७ ॥

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः ।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥ ८ ॥

केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कुरैः फलैः ।
शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः ॥ ९ ॥

सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् ।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥ १० ॥

करते हैं ॥ ३ ॥ यह तो मैं तुमसे कह ही चुका हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने साथी ग्वालबालोंको मृत्यु-रूप अघासुरके मुँहसे बचा लिया । इसके बाद वे उन्हें यमुनाके पुलिनपर ले आये और उनसे कहने लगे—॥ ४ ॥ 'मेरे प्यारे मित्रो ! यमुनाजीका यह पुलिन अत्यन्त रमणीय है । देखो तो सही, यहाँकी बालू कितनी कोमल और स्वच्छ है ! हमलोगोंके लिये खेलनेकी तो यहाँ सभी सामग्री विद्यमान है । देखो, एक ओर रंग-बिरंगे कमल खिले हुए हैं और उनकी सुगन्धसे खिंचकर भौंरे गुंजार कर रहे हैं; तो दूसरी ओर सुन्दर-सुन्दर पक्षी बड़ा ही मधुर कलरव कर रहे हैं, जिसकी प्रतिध्वनिसे सुशोभित वृक्ष इस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ५ ॥ अब हमलोगोंको यहाँ भोजन कर लेना चाहिये । क्योंकि दिन बहुत चढ़ आया है और हमलोग भूखसे पीड़ित हो रहे हैं । बछड़े पानी पीकर समीप ही धीरे-धीरे हरी-हरी घास चरते रहें' ॥ ६ ॥

ग्वालबालोंने एक स्वरसे कहा—'ठीक है, ठीक है !' उन्होंने बछड़ोंको पानी पिलाकर हरी-हरी घासमें छोड़ दिया और अपने-अपने छींके खोल-खोलकर भगवान्‌के साथ बड़े आनन्दसे भोजन करने लगे ॥ ७ ॥ सबके बीचमें भगवान् श्रीकृष्ण बैठ गये । उनके चारों ओर ग्वालबालोंने बहुत-सी मण्डलाकार पंक्तियाँ बना लीं और एक-से-एक सटकर बैठ गये । सबके मुँह श्रीकृष्णकी ओर थे और सबकी आँखें आनन्दसे खिल रही थीं । वन-भोजनके समय श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए ग्वालबाल ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो कमलकी कर्णिकाके चारों ओर उसकी छोटी-बड़ी पँखुड़ियाँ सुशोभित हो रही हों ॥ ८ ॥ कोई पुष्प तो कोई पत्ते और कोई-कोई पल्लव, अंकुर, फल, छींके, छाल एवं पत्थरोंके पात्र बनाकर भोजन करने लगे ॥ ९ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण और ग्वालबाल सभी परस्पर अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न रुचिका प्रदर्शन करते । कोई किसीको हँसा देता, तो कोई स्वयं ही हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता । इस प्रकार वे सब भोजन करने लगे ॥ १० ॥ (उस समय

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ॥११॥

श्रीकृष्णकी छटा सबसे निराली थी ।) उन्होंने मुरलीको तो कमरकी फेंटमें आगेकी ओर खोंस लिया था । सींग और बेत बगलमें दबा लिये थे । बायें हाथमें बड़ा ही मधुर घृतमिश्रित दही-भातका ग्रास था और अँगुलियोंमें अदरक, नीबू आदिके अचार-मुरब्बे दबा रक्खे थे । ग्वालबाल उनको चारों ओरसे घेरकर बैठे हुए थे और वे स्वयं सबके बीचमें बैठकर अपनी विनोदभरी बातोंसे अपने साथी ग्वालबालोंको हँसाते जा रहे थे । जो समस्त यज्ञोंके एकमात्र भोक्ता हैं, वे ही भगवान् ग्वाल-बालोंके साथ बैठकर इस प्रकार बाल-लीला करते हुए भोजन कर रहे थे और स्वर्गके देवता आश्चर्यचकित होकर यह अद्भुत लीला देख रहे थे ॥ ११ ॥

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु ।
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः ॥१२॥
तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम् ।
मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम् ॥१३॥
इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान् ।
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥१४॥
अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु-
र्द्रष्टुं मञ्जु महित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान् ।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात् खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम् ॥१५॥
ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान् ।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ॥१६॥

भरतवंशशिरोमणे ! इस प्रकार भोजन करते-करते ग्वालबाल भगवान्‌की इस रसमयी लीलामें तन्मय हो गये । उसी समय उनके बछड़े हरी-हरी घासके लालचसे घोर जंगलमें बड़ी दूर निकल गये ॥ १२ ॥ जब ग्वालबालों-का ध्यान उस ओर गया, तब तो वे भयभीत हो गये । उस समय अपने भक्तोंके भयको भगा देनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मेरे प्यारे मित्रो ! तुमलोग भोजन करना बंद मत करो । मैं अभी बछड़ोंको लिये आता हूँ' ॥ १३ ॥ ग्वालबालोंसे इस प्रकार कहकर भगवान् श्रीकृष्ण हाथमें दही-भातका कौर लिये ही पहाड़ों, गुफाओं, कुञ्जों एवं अन्यान्य भयङ्कर स्थानोंमें अपने तथा साथियोंके बछड़ोंको ढूँढ़ने चल दिये ॥ १४ ॥ परीक्षित् ! ब्रह्माजी पहलेसे ही आकाशमें उपस्थित थे । प्रभुके प्रभावसे अघासुरका मोक्ष देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने सोचा कि लीलासे मनुष्य-बालक बने हुए भगवान् श्रीकृष्णकी कोई और मनोहर महिमामयी लीला देखनी चाहिये । ऐसा सोचकर उन्होंने पहले तो बछड़ोंको, और भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर ग्वालबालोंको भी, अन्यत्र ले जाकर रख दिया और स्वयं अन्तर्धान हो गये, अन्ततः वे जड कमलकी ही तो सन्तान हैं ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बछड़े न मिलनेपर यमुनाजीके पुलिनपर लौट आये, परन्तु यहाँ क्या देखते हैं कि ग्वालबाल भी नहीं हैं । तब उन्होंने वनमें घूम-घूमकर

क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित् ।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥१७॥
ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च ।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥१८॥
यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद् विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥१९॥
स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः ।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् ॥२०॥
तत्तद्वत्सान् पृथङ् नीत्वा तत्तद् गोष्ठे निवेश्य सः ।
तत्तदात्माभवद् राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान् ॥२१॥

चारों ओर उन्हें ढूँढ़ा ॥ १६ ॥ परन्तु जब ग्वालबाल और बछड़े उन्हें कहीं न मिले, तब वे तुरंत जान गये कि यह सब ब्रह्माकी करतूत है। वे तो सारे विश्वके एकमात्र ज्ञाता हैं ॥ १७ ॥ अब भगवान् श्रीकृष्णने बछड़ों और ग्वालबालोंकी माताओंको तथा ब्रह्माजीको भी आनन्दित करनेके लिये अपने-आपको ही बछड़ों और ग्वालबालों—दोनोंके रूपमें बना लिया* । क्योंकि वे ही तो सम्पूर्ण विश्वके कर्ता सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं ॥ १८ ॥ परीक्षित् ! वे बालक और बछड़े संख्यामें जितने थे, जितने छोटे-छोटे उनके शरीर थे, उनके हाथ-पैर जैसे-जैसे थे, उनके पास जितनी और जैसी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे, जैसे और जितने वस्त्राभूषण थे, उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्थाएँ जैसी थीं, जिस प्रकार वे खाते-पीते और चलते थे, ठीक वैसे ही और उतने ही रूपोंमें सर्वस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उस समय 'यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुरूप है'—यह वेदवाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी ॥ १९ ॥ सर्वात्मा भगवान् स्वयं ही बछड़े बन गये और स्वयं ही ग्वालबाल। अपने आत्मस्वरूप बछड़ोंको अपने आत्मस्वरूप ग्वालबालोंके द्वारा घेरकर अपने ही साथ अनेकों प्रकारके खेल खेलते हुए उन्होंने व्रजमें प्रवेश किया ॥ २० ॥ परीक्षित् ! जिस ग्वालबालके जो बछड़े थे, उन्हें उसी ग्वालबालके रूपसे अलग-अलग ले जाकर उसकी बाखलमें घुसा दिया और विभिन्न बालकोंके रूपमें उनके भिन्न-भिन्न घरोंमें चले गये ॥ २१ ॥

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता
उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम् ।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं
मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥२२॥
ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपना-
लङ्कारक्षातिलकाशनादिभिः ।

ग्वालबालोंकी माताएँ बाँसुरीकी तान सुनते ही जल्दीसे दौड़ आयीं। ग्वालबाल बने हुए परब्रह्म श्रीकृष्णको अपने बच्चे समझकर हाथोंसे उठाकर उन्होंने जोरसे हृदयसे लगा लिया। वे अपने स्तनोंसे वात्सल्य-स्नेहकी अधिकताके कारण सुधासे भी मधुर और आसवसे भी मादक चुचुवाता हुआ दूध उन्हें पिलाने लगीं ॥ २२ ॥ परीक्षित् ! इसी प्रकार प्रतिदिन सन्ध्यासमय भगवान् श्रीकृष्ण उन ग्वालबालोंके रूपमें वनसे लौट आते और अपनी बालसुलभ लीलाओंसे माताओंको

---

* भगवान् सर्वसमर्थ है। वे ब्रह्माजीके चुराये हुए ग्वालबाल और बछड़ोंको ला सकते थे। किन्तु इससे ब्रह्माजीका मोह दूर न होता और वे भगवान्‌की उस दिव्य मायाका ऐश्वर्य न देख सकते, जिसने उनके विश्वकर्ता होनेके अभिमानको नष्ट किया। इसीलिये भगवान् उन्हीं ग्वालबाल और बछड़ोंको न लाकर स्वयं ही वैसे ही एवं उतने ही ग्वालबाल और बछड़े बन गये।

संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्
सायं गतो यामयमेन माधवः ॥२३॥

गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं
हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान् ।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन्
मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः ॥२४॥

गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वा स्नेहर्द्धिकां विना ।
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥२५॥

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् ।
शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥२६॥

इत्थमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपालमिषेण सः ।
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥२७॥

एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत् ।
पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः ॥२८॥

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम् ।
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम् ॥२९॥

दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा
स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः ।

आनन्दित करते। वे माताएँ उन्हें उबटन लगातीं, नहलातीं, चन्दनका लेप करतीं और अच्छे-अच्छे वस्त्रों तथा गहनोंसे सजातीं। दोनों भौंहोंके बीचमें डीठसे बचानेके लिये काजलका डिठौना लगा देतीं तथा भोजन करातीं और तरह-तरहसे बड़े लाड़-प्यारसे उनका लालन-पालन करतीं ॥ २३ ॥ ग्वालिनोंके समान गौएँ भी जब जंगलोंमेंसे चरकर जल्दी-जल्दी लौटतीं और उनकी हुंकार सुनकर उनके प्यारे बछड़े दौड़कर उनके पास आ जाते, तब वे बार-बार उन्हें अपनी जीभसे चाटतीं और अपना दूध पिलातीं। उस समय स्नेहकी अधिकताके कारण उनके थनोंसे स्वयं ही दूधकी धारा बहने लगती ॥ २४ ॥ इन गायों और ग्वालिनोंका मातृभाव पहले-जैसा ही ऐश्वर्यज्ञानरहित और विशुद्ध था। हाँ, अपने असली पुत्रोंकी अपेक्षा इस समय उनका स्नेह अवश्य अधिक था। इसी प्रकार भगवान् भी उनके पहले पुत्रोंके समान ही पुत्रभाव दिखला रहे थे, परन्तु भगवान्‌में उन बालकोंके-जैसा मोहका भाव नहीं था कि मैं इनका पुत्र हूँ॥ २५॥ अपने-अपने बालकोंके प्रति व्रजवासियोंकी स्नेह-लता दिन-प्रतिदिन एक वर्षतक धीरे-धीरे बढ़ती ही गयी। यहाँतक कि पहले श्रीकृष्णमें उनका जैसा असीम और अपूर्व प्रेम था, वैसा ही अपने इन बालकोंके प्रति भी हो गया॥ २६॥ इस प्रकार सर्वात्मा श्रीकृष्ण बछड़े और ग्वालबालोंके बहाने गोपाल बनकर अपने बालकरूपसे वत्सरूपका पालन करते हुए एक वर्षतक वन और गोष्ठमें क्रीडा करते रहे ॥ २७ ॥

जब एक वर्ष पूरा होनेमें पाँच-छः रातें शेष थीं, तब एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ बछड़ोंको चराते हुए वनमें गये ॥ २८ ॥ उस समय गौएँ गोवर्धनकी चोटीपर घास चर रही थीं। वहाँसे उन्होंने व्रजके पास ही घास चरते हुए बहुत दूर अपने बछड़ोंको देखा ॥ २९ ॥ बछड़ोंको देखते ही गौओंका वात्सल्य-स्नेह उमड़ आया। वे अपने-आपकी सुध-बुध खो बैठीं और ग्वालोंके रोकनेकी कुछ भी परवा न कर जिस मार्गसे वे न जा सकते थे, उस मार्गसे हुंकार करती हुई बड़े वेगसे दौड़ पड़ीं। उस

द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छो-

ऽगाद्धुङ्कृतैरास्रुपया जवेन ॥३०॥

समेत्य गावोऽधो वत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन् ।

गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः ॥३१॥

गोपास्तद्रोधनायासमौघ्यलज्जोरुमन्युना ।

दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान् ॥३२॥

तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया

जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान् ।

उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि

घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥३३॥

ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः ।

कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥३४॥

व्रजस्य रामः प्रेमर्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् ।

मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ॥३५॥

किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि ।

व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥३६॥

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी ।

समय उनके थनोंसे दूध बहता जाता था और उनकी गरदनें सिकुड़कर डीलसे मिल गयी थीं । वे पूँछ तथा सिर उठाकर इतने वेगसे दौड़ रही थीं कि माळूम होता था मानो उनके दो ही पैर हैं ॥ ३० ॥ जिन गौओंके और भी बछड़े हो चुके थे, वे भी गोवर्धनके नीचे अपने पहले बछड़ोंके पास दौड़ आयीं और उन्हें स्नेहवश अपने-आप बहता हुआ दूध पिलाने लगीं । उस समय वे अपने बच्चोंका एक-एक अङ्ग ऐसे चावसे चाट रही थीं, मानो उन्हें अपने पेटमें रख लेंगी ॥ ३१ ॥ गोपोंने उन्हें रोकनेका बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ रहा । उन्हें अपनी विफलतापर कुछ लज्जा और गायोंपर बड़ा क्रोध आया । जब वे बहुत कष्ट उठाकर उस कठिन मार्गसे उस स्थानपर पहुँचे, तब उन्होंने बछड़ोंके साथ अपने बालकोंको भी देखा ॥ ३२ ॥ अपने बच्चोंको देखते ही उनका हृदय प्रेम-रससे सराबोर हो गया । बालकोंके प्रति अनुरागकी बाढ़ आ गयी, उनका क्रोध न जाने कहाँ हवा हो गया । उन्होंने अपने-अपने बालकोंको गोदमें उठाकर हृदयसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघकर अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ ३३ ॥ बूढ़े गोपोंको अपने बालकोंके आलिङ्गनसे परम आनन्द प्राप्त हुआ । वे निहाल हो गये । फिर बड़े कष्टसे उन्हें छोड़कर धीरे-धीरे वहाँसे गये । जानेके बाद भी बालकोंके और उनके आलिङ्गनके स्मरणसे उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहते रहे ॥ ३४ ॥

बलरामजीने देखा कि व्रजवासी गोप, गौएँ और ग्वालिनोंकी उन सन्तानोंपर भी, जिन्होंने अपनी माका दूध पीना छोड़ दिया है, क्षण-प्रतिक्षण प्रेम-सम्पत्ति और उसके अनुरूप उत्कण्ठा बढ़ती जा रही है । तब वे विचारमें पड़ गये, क्योंकि उन्हें इसका कारण माळूम न था ॥ ३५ ॥ 'यह कैसी विचित्र बात है ! सर्वात्मा श्रीकृष्णमें व्रजवासियोंका और मेरा जैसा अपूर्व स्नेह है, वैसा ही इन बालकों और बछड़ोंपर भी बढ़ता जा रहा है ॥ ३६ ॥ यह कौन-सी माया है ? कहाँसे आयी है ? यह किसी देवताकी है, मनुष्यकी है अथवा असुरोंकी ? परन्तु क्या ऐसा भी सम्भव है ? नहीं-नहीं यह तो मेरे

प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी ॥३७॥

इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि ।

सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ॥३८॥

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते

त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि ।

सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदे-

त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत् ॥३९॥

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा ।

पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम् ॥४०॥

यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि ।

मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः ॥४१॥

इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे ।

तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम् ॥४२॥

एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः ।

सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन ॥४३॥

एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् ।

स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः ॥४४॥

प्रभुकी ही माया है । और किसीकी मायामें ऐसी सामर्थ्य नहीं, जो मुझे भी मोहित कर ले' ॥ ३७ ॥ बलरामजीने ऐसा विचार करके ज्ञानदृष्टिसे देखा, तो उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि इन सब बछड़ों और ग्वालबालोंके रूपमें केवल श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं ॥ ३८ ॥ तब उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'भगवन् ! ये ग्वालबाल और बछड़े न देवता हैं और न तो कोई ऋषि ही । इन भिन्न-भिन्न रूपोंका आश्रय लेनेपर भी आप अकेले ही इन रूपोंमें प्रकाशित हो रहे हैं । कृपया स्पष्ट करके थोड़ेमें ही यह बतला दीजिये कि आप इस प्रकार बछड़े, बालक, सींग, रस्सी आदिके रूपमें अलग-अलग क्यों प्रकाशित हो रहे हैं ?' तब भगवान्‌ने ब्रह्माकी सारी करतूत सुनायी और बलरामजीने सब बातें जान लीं ॥ ३९ ॥

परीक्षित् ! तबतक ब्रह्माजी ब्रह्मलोकसे व्रजमें लौट आये । उनके कालमानसे अबतक केवल एक त्रुटि (जितनी देरमें तीखी सूईसे कमलकी पँखुड़ी छिदे) समय व्यतीत हुआ था । उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण ग्वालबाल और बछड़ोंके साथ एक सालसे पहलेकी भाँति ही क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ४० ॥ वे सोचने लगे—'गोकुलमें जितने भी ग्वालबाल और बछड़े थे, वे तो मेरी मायामयी शय्यापर सो रहे हैं—उनको तो मैंने अपनी मायासे अचेत कर दिया था; वे तबसे अबतक सचेत नहीं हुए ॥ ४१ ॥ तब मेरी मायासे मोहित ग्वालबाल और बछड़ोंके अतिरिक्त ये उतने ही दूसरे बालक तथा बछड़े कहाँसे आ गये, जो एक सालसे भगवान्‌के साथ खेल रहे हैं ? ॥ ४२ ॥ ब्रह्माजीने दोनों स्थानोंपर दोनोंको देखा और बहुत देरतक ध्यान करके अपनी ज्ञानदृष्टिसे उनका रहस्य खोलना चाहा; परन्तु इन दोनोंमें कौन-से पहलेके ग्वालबाल हैं और कौन-से पीछे बना लिये गये हैं, इनमेंसे कौन सच्चे हैं और कौन बनावटी—यह बात वे किसी प्रकार न समझ सके ॥ ४३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी मायामें तो सभी मुग्ध हो रहे हैं, परन्तु कोई भी माया-मोह भगवान्‌का स्पर्श नहीं कर सकता । ब्रह्माजी उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णको अपनी मायासे मोहित करने चले थे । किन्तु उनको मोहित करना तो दूर रहा, वे अजन्मा होनेपर भी अपनी ही मायासे अपने-

तस्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि ।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥४५॥

तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् ।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥४६॥

चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः ।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः ॥४७॥

श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः ।
नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः ॥४८॥

आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः ।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः ॥४९॥

चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः ।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः ॥५०॥

आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः ।
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिताः ॥५१॥

अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः ।
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः ॥५२॥

कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ।
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः ॥५३॥

आप मोहित हो गये ॥ ४४ ॥ जिस प्रकार रातके घोर अन्धकारमें कुहरेके अन्धकारका और दिनके प्रकाशमें जुगनूके प्रकाशका पता नहीं चलता, वैसे ही जब क्षुद्र पुरुष महापुरुषोंपर अपनी मायाका प्रयोग करते हैं, तब वह उनका तो कुछ बिगाड़ नहीं सकती, अपना ही प्रभाव खो बैठती है ॥ ४५ ॥

ब्रह्माजी विचार कर ही रहे थे कि उनके देखते-देखते उसी क्षण सभी ग्वालबाल और बछड़े श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी पड़ने लगे। सब-के-सब सजल जलधरके समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, शङ्ख, चक्र गदा और पद्मसे युक्त—चतुर्भुज। सबके सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल और कण्ठोंमें मनोहर हार तथा वनमालाएँ शोभायमान हो रही थीं ॥ ४६-४७ ॥ उनके वक्षःस्थलपर सुवर्णकी सुनहली रेखा—श्रीवत्स, बाहुओंमें बाजूबंद, कलाइयोंमें शङ्खाकार रत्नोंसे जड़े कंगन, चरणोंमें नूपुर और कड़े, कमरमें करधनी तथा अँगुलियोंमें अँगूठियाँ जगमगा रही थीं ॥ ४८ ॥ वे नखसे शिखतक समस्त अङ्गोंमें कोमल और नूतन तुलसीकी मालाएँ, जो उन्हें बड़े भाग्यशाली भक्तोंने पहनायी थीं, धारण किये हुए थे ॥ ४९ ॥ उनकी मुसकान चाँदनीके समान उज्ज्वल थी और रतनारे नेत्रोंकी कटाक्षपूर्ण चितवन बड़ी ही मधुर थी। ऐसा जान पड़ता था मानो वे इन दोनोंके द्वारा सत्त्वगुण और रजोगुणको स्वीकार करके भक्तजनोंके हृदयमें शुद्ध लालसाएँ जगाकर उनको पूर्ण कर रहे हैं ॥ ५० ॥ ब्रह्माजीने यह भी देखा कि उन्हींके-जैसे दूसरे ब्रह्मासे लेकर तृणतक सभी चराचर जीव मूर्तिमान् होकर नाचते-गाते अनेक प्रकारकी पूजासामग्रीसे अलग-अलग भगवान्‌के उन सब रूपोंकी उपासना कर रहे हैं ॥५१॥ उन्हें अलग-अलग अणिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ, माया-विद्या आदि विभूतियाँ और महत्तत्त्व आदि चौबीसों तत्त्व चारों ओरसे घेरे हुए हैं ॥ ५२ ॥ प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला काल, उसके परिणामका कारण स्वभाव, वासनाओंको जगानेवाला संस्कार, कामनाएँ, कर्म, विषय और फल—सभी मूर्तिमान् होकर भगवान्‌के प्रत्येक रूपकी उपासना कर रहे हैं। भगवान्‌की सत्ता और महत्ताके सामने उन सभीकी सत्ता और महत्ता

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥५४॥
एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् ।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥५५॥
ततोऽतिकुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥५६॥
इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके
परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम् ॥५७॥
ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः ।
कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना ॥५८॥
सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरःस्थितम् ।

अपना अस्तित्व खो बैठी थी ॥ ५३ ॥ ब्रह्माजीने यह भी देखा कि वे सभी भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके द्वारा सीमित नहीं हैं, त्रिकालाबाधित सत्य हैं। वे सब-के-सब स्वयंप्रकाश और केवल अनन्त आनन्दस्वरूप हैं। उनमें जड़ता अथवा चेतनताका भेदभाव नहीं है। वे सब-के-सब एकरस हैं। यहाँतक कि उपनिषद्दर्शी तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टि भी उनकी अनन्त महिमाका स्पर्श नहीं कर सकती ॥ ५४ ॥ इस प्रकार ब्रह्माजीने एक साथ ही देखा कि वे सब-के-सब उन परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णके ही स्वरूप हैं, जिनके प्रकाशसे यह सारा चराचर जगत् प्रकाशित हो रहा है ॥ ५५ ॥

यह अत्यन्त आश्चर्यमय दृश्य देखकर ब्रह्माजी तो चकित रह गये। उनकी ग्यारहों इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन) क्षुब्ध एवं स्तब्ध रह गयीं। वे भगवान्के तेजसे निस्तेज होकर मौन हो गये। उस समय वे ऐसे स्तब्ध होकर खड़े रह गये, मानो व्रजके अधिष्ठातृ-देवताके पास एक पुतली खड़ी हो ॥ ५६ ॥ परीक्षित्! भगवान्का स्वरूप तर्कसे परे है। उसकी महिमा असाधारण है। वह स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप और मायासे अतीत है। वेदान्त भी साक्षात्‌रूपसे उसका वर्णन करनेमें असमर्थ है, इसलिये उससे भिन्नका निषेध करके आनन्दस्वरूप ब्रह्मका किसी प्रकार कुछ सङ्केत करता है। यद्यपि ब्रह्माजी समस्त विद्याओंके अधिपति हैं, तथापि भगवान्के दिव्यस्वरूपको वे तनिक भी न समझ सके कि यह क्या है। यहाँतक कि वे भगवान्के उन महिमामय रूपोंको देखनेमें भी असमर्थ हो गये। उनकी आँखें मुँद गयीं। भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माके इस मोह और असमर्थताको जानकर बिना किसी प्रयासके तुरंत अपनी मायाका परदा हटा दिया ॥ ५७ ॥ इससे ब्रह्माजीको बाह्यज्ञान हुआ। वे मानो मरकर फिर जी उठे। सचेत होकर उन्होंने ज्यों-त्यों करके बड़े कष्टसे अपने नेत्र खोले। तब कहीं उन्हें अपना शरीर और यह जगत् दिखायी पड़ा ॥ ५८ ॥ फिर ब्रह्माजी जब चारों ओर देखने लगे, तब पहले दिशाएँ और उसके बाद तुरंत ही उनके सामने वृन्दावन

वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम् ॥५९॥
यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः ।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्पकादिकम् ॥६०॥
तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥६१॥
दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य
पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं
नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥६२॥
उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् ।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनःपुनः॥६३॥
शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने
मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः
सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया ॥६४॥

दिखायी पड़ा । वृन्दावन सबके लिये एक-सा प्यारा है । जिधर देखिये, उधर ही जीवोंको जीवन देनेवाले फल और फूलोंसे लदे हुए, हरे-हरे पत्तोंसे लहलहाते हुए वृक्षोंकी पाँतें शोभा पा रही हैं ॥ ५९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि होनेके कारण वृन्दावन-धाममें क्रोध, तृष्णा आदि दोष प्रवेश नहीं कर सकते और वहाँ स्वभावसे ही परस्पर दुस्त्यज वैर रखनेवाले मनुष्य और पशु-पक्षी भी प्रेमी मित्रोंके समान हिल-मिलकर एक साथ रहते हैं ॥ ६० ॥ ब्रह्माजीने वृन्दावनका दर्शन करनेके बाद देखा कि अद्वितीय परब्रह्म गोपवंशके बालकका-सा नाट्य कर रहा है । एक होनेपर भी उसके सखा हैं, अनन्त होनेपर भी वह इधर-उधर घूम रहा है और उसका ज्ञान अगाध होनेपर भी वह अपने ग्वालबाल और बछड़ोंको ढूँढ रहा है । ब्रह्माजीने देखा कि जैसे भगवान् श्रीकृष्ण पहले अपने हाथमें दही-भातका कौर लिये उन्हें ढूँढ रहे थे, वैसे ही अब भी अकेले ही उनकी खोजमें लगे हैं ॥ ६१ ॥ भगवान्‌को देखते ही ब्रह्माजी अपने वाहन हंसपरसे कूद पड़े और सोनेके समान चमकते हुए अपने शरीरसे पृथ्वीपर दण्डकी भाँति गिर पड़े । उन्होंने अपने चारों मुकुटोंके अग्रभागसे भगवान्‌के चरण-कमलोंका स्पर्श करके नमस्कार किया और आनन्दके आँसुओंकी धारासे उन्हें नहला दिया ॥ ६२ ॥ वे भगवान् श्रीकृष्णकी पहले देखी हुई महिमाका बार-बार स्मरण करते, उनके चरणोंपर गिरते और उठ-उठकर फिर-फिर गिर पड़ते । इसी प्रकार बहुत देरतक वे भगवान्‌के चरणोंमें ही पड़े रहे ॥ ६३ ॥ फिर धीरे-धीरे उठे और अपने नेत्रोंके आँसू पोंछे । प्रेम और मुक्तिके एकमात्र उद्गम भगवान्‌को देखकर उनका सिर झुक गया । वे काँपने लगे । अञ्जलि बाँधकर बड़ी नम्रता और एकाग्रताके साथ गद्गद वाणीसे वे भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति

ब्रह्मोवाच

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥ २ ॥

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥ ३ ॥

श्रीब्रह्माजीने स्तुति की—प्रभो ! एकमात्र आप ही स्तुति करने योग्य हैं । मैं आपके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ । आपका यह शरीर वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल है, इसपर स्थिर बिजलीके समान झिलमिल-झिलमिल करता हुआ पीताम्बर शोभा पाता है, आपके गलेमें घुँघचीकी माला, कानोंमें मकराकृति कुण्डल तथा सिरपर मोरपंखोंका मुकुट है, इन सबकी कान्तिसे आपके मुखपर अनोखी छटा छिटक रही है । वक्षःस्थलपर लटकती हुई वनमाला और नन्ही-सी हथेलीपर दही-भातका कौर । बगलमें बेत और सींग तथा कमरकी फेंटमें आपकी पहचान बतानेवाली बाँसुरी शोभा पा रही है । आपके कमलसे सुकोमल परम सुकुमार चरण और यह गोपाल-बालकका सुमधुर वेष । (मैं और कुछ नहीं जानता; बस, मैं तो इन्हीं चरणोंपर निछावर हूँ)॥ १ ॥ स्वयं-प्रकाश परमात्मन् ! आपका यह श्रीविग्रह भक्तजनोंकी लालसा-अभिलाषा पूर्ण करनेवाला है । यह आपकी चिन्मयी इच्छाका मूर्तिमान् स्वरूप मुझपर आपका साक्षात् कृपा-प्रसाद है । मुझे अनुगृहीत करनेके लिये ही आपने इसे प्रकट किया है । कौन कहता है कि यह पञ्चभूतोंकी रचना है ? प्रभो ! यह तो अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय है । मैं या और कोई समाधि लगाकर भी आपके इस सच्चिदानन्द-विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता । फिर आत्मानन्दानुभवस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको तो कोई एकाग्रमनसे भी कैसे जान सकता है ॥ २ ॥ प्रभो ! जो लोग ज्ञानके लिये प्रयत्न न करके अपने स्थानमें ही स्थित रहकर केवल सत्सङ्ग करते हैं और आपके प्रेमी संत पुरुषोंके द्वारा गायी हुई आपकी लीला-कथाका, जो उन लोगोंके पास रहनेसे अपने-आप सुननेको मिलती है, शरीर, वाणी और मनसे विनयावनत होकर सेवन करते हैं—यहाँतक कि उसे ही अपना जीवन बना लेते हैं, उसके बिना जी ही नहीं सकते—प्रभो ! यद्यपि आपपर त्रिलोकीमें कोई कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकता, फिर भी वे आपपर विजय प्राप्त कर लेते हैं, आप उनके प्रेमके



ब्रह्माजीकी भगवान्से दीनतापूर्ण क्षमा-प्रार्थना

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ४ ॥

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥ ५ ॥

तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥ ६ ॥

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥ ७ ॥

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

अधीन हो जाते हैं ॥ ३ ॥ भगवन् ! आपकी भक्ति सब प्रकारके कल्याणका मूलस्रोत—उद्गम है । जो लोग उसे छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं, उनको बस, क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगता है, और कुछ नहीं—जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं ॥ ४ ॥

हे अच्युत ! हे अनन्त ! इस लोकमें पहले भी बहुत-से योगी हो गये हैं । जब उन्हें योगादिके द्वारा आपकी प्राप्ति न हुई, तब उन्होंने अपने लौकिक और वैदिक समस्त कर्म आपके चरणोंमें समर्पित कर दिये । उन समर्पित कर्मोंसे तथा आपकी लीला-कथासे उन्हें आपकी भक्ति प्राप्त हुई । उस भक्तिसे ही आपके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने बड़ी सुगमतासे आपके परमपदकी प्राप्ति कर ली ॥ ५ ॥ हे अनन्त ! आपके सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपोंका ज्ञान कठिन होनेपर भी निर्गुण स्वरूप-की महिमा इन्द्रियोंका प्रत्याहार करके शुद्धान्तःकरणसे जानी जा सकती है । (जाननेकी प्रक्रिया यह है कि) विशेष आकारके परित्यागपूर्वक आत्माकार अन्तः-करणका साक्षात्कार किया जाय । यह आत्माकारता घट-पटादि रूपके समान ज्ञेय नहीं है, प्रत्युत आवरण-का भङ्गमात्र है । यह साक्षात्कार 'यह ब्रह्म है' 'मैं ब्रह्मको जानता हूँ' इस प्रकार नहीं किन्तु स्वयंप्रकाश रूपसे ही होता है ॥ ६ ॥ परन्तु भगवन् ! जिन समर्थ पुरुषोंने अनेक जन्मोंतक परिश्रम करके पृथ्वीका एक-एक परमाणु, आकाशके हिमकण (ओसकी बूँदें) तथा उसमें चमकनेवाले नक्षत्र एवं तारोंतकको गिन डाला है—उनमें भी भला, ऐसा कौन हो सकता है जो आपके सगुण स्वरूपके अनन्त गुणोंको गिन सके ! प्रभो ! आप केवल संसारके कल्याणके लिये ही अवतीर्ण हुए हैं । सो भगवन् ! आपकी महिमाका ज्ञान तो बड़ा ही कठिन है ॥ ७ ॥ इसलिये जो पुरुष क्षण-क्षणपर बड़ी उत्सुकतासे आपकी कृपाका ही भलीभाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है उसे निर्विकार मनसे भोग लेता है,

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते

जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥ ८॥

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये

परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।

मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं

ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥ ९ ॥

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो

ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।

अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष

एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥१०॥

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-

संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।

क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-

वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥११॥

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः

किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।

किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं

तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥१२॥

जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे

नारायणस्योदरनाभिनालात् ।

एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद वाणी और पुलकित शरीरसे अपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परम पदका अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिताकी सम्पत्तिका पुत्र ! ॥ ८ ॥

प्रभो ! मेरी कुटिलता तो देखिये । आप अनन्त आदिपुरुष परमात्मा हैं और मेरे-जैसे बड़े-बड़े मायावी भी आपकी मायाके चक्रमें हैं । फिर भी मैंने आपपर अपनी माया फैलाकर अपना ऐश्वर्य देखना चाहा । प्रभो ! मैं आपके सामने हूँ ही क्या । क्या आगके सामने चिनगारीकी भी कुछ गिनती है ? ॥ ९ ॥ भगवन् ! मैं रजोगुणसे उत्पन्न हुआ हूँ । आपके स्वरूपको मैं ठीक-ठीक नहीं जानता । इसीसे अपनेको आपसे अलग संसारका स्वामी माने बैठा था । मैं अजन्मा जगत्कर्ता हूँ—इस मायाकृत मोहके घने अन्धकारसे मैं अंधा हो रहा था । इसलिये आप यह समझकर कि 'यह मेरे ही अधीन है—मेरा भृत्य है, इसपर कृपा करनी चाहिये,' मेरा अपराध क्षमा कीजिये ॥ १०॥ मेरे स्वामी ! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीरूप आवरणोंसे घिरा हुआ यह ब्रह्माण्ड ही मेरा शरीर है । और आपके एक-एक रोमके छिद्रमें ऐसे-ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड उसी प्रकार उड़ते-पड़ते रहते हैं, जैसे झरोखेकी जालीमेंसे आनेवाली सूर्यकी किरणोंमें रजके छोटे-छोटे परमाणु उड़ते हुए दिखायी पड़ते हैं । कहाँ अपने परिमाणसे साढ़े तीन हाथके शरीरवाला अत्यन्त क्षुद्र मैं, और कहाँ आपकी अनन्त महिमा ॥ ११ ॥ वृत्तियोंकी पकड़में न आनेवाले परमात्मन् ! जब बच्चा माताके पेटमें रहता है, तब अज्ञानवश अपने हाथ-पैर पीटता है; परन्तु क्या माता उसे अपराध समझती है या उसके लिये वह कोई अपराध होता है ? 'है' और 'नहीं है'—इन शब्दोंसे कही जानेवाली कोई भी वस्तु ऐसी है क्या, जो आपकी कोखके भीतर न हो ? ॥ १२ ॥

श्रुतियाँ कहती हैं कि जिस समय तीनों लोक प्रलयकालीन जलमें लीन थे, उस समय उस जलमें स्थित श्रीनारायणके नाभिकमलसे ब्रह्माका जन्म हुआ । उनका

विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ् न वै मृषा
किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽसि ॥१३॥

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना-
त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥१४॥

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः
किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव
किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥१५॥

अत्रैव मायाधमनावतारे
ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य ।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या
मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥१६॥

यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा ।
तत्त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना ॥१७॥

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते
मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्
वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः
साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं
ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥१८॥

यह कहना किसी प्रकार असत्य नहीं हो सकता। तब आप ही बतलाइये, प्रभो ! क्या मैं आपका पुत्र नहीं हूँ ? ॥ १३ ॥ प्रभो ! आप समस्त जीवोंके आत्मा हैं। इसलिये आप नारायण (नार—जीव और अयन—आश्रय) हैं। आप समस्त जगत्‌के और जीवोंके अधीश्वर हैं, इसलिये आप नारायण (नार—जीव और अयन—प्रवर्तक) हैं। आप समस्त लोकोंके साक्षी हैं, इसलिये भी नारायण (नार—जीव और अयन—जाननेवाला) हैं। नरसे उत्पन्न होनेवाले जलमें निवास करनेके कारण जिन्हें नारायण (नार—जल और अयन—निवासस्थान) कहा जाता है, वे भी आपके एक अंश ही हैं। वह अंशरूपसे दीखना भी सत्य नहीं है, आपकी माया ही है ॥ १४ ॥ भगवन् ! यदि आपका वह विराट् स्वरूप सचमुच उस समय जलमें ही था तो मैंने उसी समय उसे क्यों नहीं देखा, जब कि मैं कमलनालके मार्गसे उसे सौ वर्षतक जलमें ढूँढ़ता रहा ? फिर मैंने जब तपस्या की, तब उसी समय मेरे हृदयमें उसका दर्शन कैसे हो गया ? और फिर कुछ ही क्षणोंमें वह पुनः क्यों नहीं दीखा, अन्तर्धान क्यों हो गया ? ॥ १५॥ मायाका नाश करनेवाले प्रभो ! दूरकी बात कौन करे—अभी इसी अवतारमें आपने इस बाहर दीखनेवाले जगत्‌को अपने पेटमें ही दिखला दिया, जिसे देखकर माता यशोदा चकित हो गयी थीं। इससे यही तो सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण विश्व केवल आपकी माया-ही-माया है ॥ १६ ॥ जब आपके सहित यह सम्पूर्ण विश्व जैसा बाहर दीखता है वैसा ही आपके उदरमें भी दीखा, तब क्या यह सब आपकी मायाके बिना ही आपमें प्रतीत हुआ ? अवश्य ही आपकी लीला है ॥ १७ ॥ उस दिनकी बात जाने दीजिये, आजकी ही लीजिये। क्या आज आपने मेरे सामने अपने अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्वको अपनी मायाका खेल नहीं दिखलाया है ? पहले आप अकेले थे। फिर सम्पूर्ण ग्वालबाल, बछड़े और छड़ी-छींके भी आप ही हो गये। उसके बाद मैंने देखा कि आपके वे सब रूप चतुर्भुज हैं और मेरेसहित सब-के-सब तत्त्व उनकी सेवा कर रहे हैं। आपने अलग-अलग उतने ही ब्रह्माण्डोंका रूप भी धारण कर लिया था, परन्तु अब आप केवल अपरिमित अद्वितीय ब्रह्मरूपसे ही शेष रह गये हैं ॥ १८ ॥

अजानतां त्वत्पदवीमनात्म-
न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥१९॥

सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥२०॥

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥२१॥

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥२२॥

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥२३॥

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिपत्सुचक्षुषा
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥२४॥

जो लोग अज्ञानवश आपके स्वरूपको नहीं जानते, उन्हींको आप प्रकृतिमें स्थित जीवके रूपसे प्रतीत होते हैं और उनपर अपनी मायाका परदा डालकर सृष्टिके समय मेरे (ब्रह्मा) रूपसे, पालनके समय अपने (विष्णु) रूपसे और संहारके समय रुद्रके रूपमें प्रतीत होते हैं॥१९॥ प्रभो! आप सारे जगत्‌के स्वामी और विधाता हैं। अजन्मा होनेपर भी आप देवता, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी और जलचर आदि योनियोंमें अवतार ग्रहण करते हैं—इसलिये कि इन रूपोंके द्वारा दुष्ट पुरुषोंका घमंड तोड़ दें और सत्पुरुषोंपर अनुग्रह करें॥ २०॥ भगवन्! आप अनन्त परमात्मा और योगेश्वर हैं। जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तार करके लीला करने लगते हैं, उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है, जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, किसलिये, कब और कितनी होती है॥ २१॥ इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्नके समान असत्य, अज्ञानरूप और दुःख-पर-दुःख देनेवाला है। आप परमानन्द, परम ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं। यह मायासे उत्पन्न एवं विलीन होनेपर भी आपमें आपकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होता है॥ २२॥ प्रभो! आप ही एकमात्र सत्य हैं। क्योंकि आप सबके आत्मा जो हैं। आप पुराणपुरुष होनेके कारण समस्त जन्मादि विकारोंसे रहित हैं। आप स्वयंप्रकाश हैं; इसलिये देश, काल और वस्तु—जो परप्रकाश हैं—किसी प्रकार आपको सीमित नहीं कर सकते। आप उनके भी आदि प्रकाशक हैं। आप अविनाशी होनेके कारण नित्य हैं। आपका आनन्द अखण्डित है। आपमें न तो किसी प्रकारका मल है और न अभाव। आप पूर्ण, एक हैं। समस्त उपाधियोंसे मुक्त होनेके कारण आप अमृतस्वरूप हैं॥ २३॥ आपका यह ऐसा स्वरूप समस्त जीवोंका ही अपना स्वरूप है। जो गुरुरूप सूर्यसे तत्त्वज्ञानरूप दिव्य दृष्टि प्राप्त करके उससे आपको अपने स्वरूपके रूपमें साक्षात्कार कर लेते हैं, वे इस झूठे संसार-सागरको मानो पार कर जाते हैं। (संसार-सागरके झूठा होनेके कारण इससे पार जाना भी अविचार-दशाकी

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥२५॥

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥२६॥

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता ॥२७॥

अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव
ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण
सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः ॥२८॥

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥२९॥

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥३०॥

दृष्टिसे ही है) ॥ २४ ॥ जो पुरुष परमात्माको आत्माके रूपमें नहीं जानते, उन्हें उस अज्ञानके कारण ही इस नामरूपात्मक निखिल प्रपञ्चकी उत्पत्तिका भ्रम हो जाता है । किन्तु ज्ञान होते ही इसका आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है । जैसे रस्सीमें भ्रमके कारण ही साँपकी प्रतीति होती है और भ्रमके निवृत्त होते ही उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २५ ॥ संसार-सम्बन्धी बन्धन और उससे मोक्ष—ये दोनों ही नाम अज्ञानसे कल्पित हैं । वास्तवमें ये अज्ञानके ही दो नाम हैं । ये सत्य और ज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न अस्तित्व नहीं रखते । जैसे सूर्यमें दिन और रातका भेद नहीं है, वैसे ही विचार करनेपर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्वमें न बन्धन है और न तो मोक्ष ॥ २६ ॥ भगवन् ! कितने आश्चर्यकी बात है कि आप हैं अपने आत्मा, पर लोग आपको पराया मानते हैं । और शरीर आदि हैं पराये, किन्तु उनको आत्मा मान बैठते हैं । और इसके बाद आपको कहीं अलग ढूँढ़ने लगते हैं । भला, अज्ञानी जीवोंका यह कितना बड़ा अज्ञान है ॥ २७ ॥ हे अनन्त ! आप तो सबके अन्तःकरणमें ही विराजमान हैं । इसलिये संतलोग आपके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका परित्याग करते हुए अपने भीतर ही आपको ढूँढ़ते हैं । क्योंकि यद्यपि रस्सीमें साँप नहीं है, फिर भी उस प्रतीयमान साँपको मिथ्या निश्चय किये बिना भला, कोई सत्पुरुष सच्ची रस्सीको कैसे जान सकता है ? ॥ २८ ॥

अपने भक्तजनोंके हृदयमें स्वयं स्फुरित होनेवाले भगवन् ! आपके ज्ञानका स्वरूप और महिमा ऐसी ही है, उससे अज्ञानकल्पित जगत्‌का नाश हो जाता है । फिर भी जो पुरुष आपके युगल चरणकमलोंका तनिक-सा भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है—वही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमाका तत्त्व जान सकता है । दूसरा कोई भी ज्ञान-वैराग्यादि साधनरूप अपने प्रयत्नसे बहुत कालतक कितना भी अनुसन्धान करता रहे, वह आपकी महिमाका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २९ ॥ इसलिये भगवन् ! मुझे इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा किसी पशु-पक्षी आदिके जन्ममें भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासोंमेंसे कोई एक दास हो जाऊँ और फिर आपके चरणकमलोंकी

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना
यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ॥३१॥

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥३२॥

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥३३॥

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपिकतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजःश्रुतिमृग्यमेव ॥३४॥

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ।

सेवा करूँ ॥ ३० ॥ मेरे स्वामी ! जगत्‌के बड़े-बड़े यज्ञ सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर अबतक आपको पूर्णतः तृप्त न कर सके । परन्तु आपने व्रजकी गायों और ग्वालिनोंके बछड़े एवं बालक बनकर उनके स्तनोंका अमृत-सा दूध बड़े उमंगसे पिया है । वास्तवमें उन्हींका जीवन सफल है, वे ही अत्यन्त धन्य हैं ॥ ३१ ॥ अहो, नन्द आदि व्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं । वास्तवमें उनका अहोभाग्य है । क्योंकि परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म आप उनके अपने सगे-सम्बन्धी और सुहृद् हैं ॥ ३२ ॥ हे अच्युत ! इन व्रजवासियोंके सौभाग्यकी महिमा तो अलग रही—मन आदि ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताके रूपमें रहनेवाले महादेव आदि हमलोग बड़े ही भाग्यवान् हैं । क्योंकि इन व्रजवासियोंकी मन आदि ग्यारह इन्द्रियोंको प्याले बनाकर हम आपके चरणकमलोंका अमृतसे भी मीठा, मदिरासे भी मादक मधुर मकरन्द-रस पान करते रहते हैं । जब उसका एक-एक इन्द्रियसे पान करके हम धन्य-धन्य हो रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियोंसे उसका सेवन करनेवाले व्रजवासियोंकी . तो बात ही क्या है ॥ ३३ ॥ प्रभो ! इस व्रजभूमिके किसी वनमें और विशेष करके गोकुलमें किसी भी योनिमें जन्म हो जाय, यही हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात होगी ! क्योंकि यहाँ जन्म हो जानेपर आपके किसी-न-किसी प्रेमीके चरणोंकी धूलि अपने ऊपर पड़ ही जायगी । प्रभो ! आपके प्रेमी व्रजवासियोंका सम्पूर्ण जीवन आपका ही जीवन है । आप ही उनके जीवनके एकमात्र सर्वस्व हैं । इसलिये उनके चरणोंकी धूलि मिलना आपके ही चरणोंकी धूलि मिलना है । और आपके चरणोंकी धूलिको तो श्रुतियाँ भी अनादि कालसे अबतक ढूँढ़ ही रही हैं ॥ ३४ ॥ देवताओंके भी आराध्यदेव प्रभो ! इन व्रजवासियोंको इनकी सेवाके बदलेमें आप क्या फल देंगे ? सम्पूर्ण फलोंके फलस्वरूप ! आपसे बढ़कर और कोई फल तो है ही नहीं, यह सोचकर मेरा चित्त मोहित हो रहा है । आप उन्हें अपना स्वरूप भी देकर उऋण नहीं हो सकते । क्योंकि आपके स्वरूपको तो उस पूतनाने भी

सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥३५॥

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥३६॥

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो॥३७॥

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः॥३८॥

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम्॥३९॥

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन्।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु-
गाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते॥४०॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।

अपने सम्बन्धियों—अघासुर, बकासुर आदिके साथ प्राप्त कर लिया, जिसका केवल वेष ही साध्वी स्त्रीका था, पर जो हृदयसे महान् क्रूर थी। फिर, जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन—सब कुछ आपके ही चरणोंमें समर्पित कर दिया है, जिनका सब कुछ आपके ही लिये है, उन व्रजवासियोंको भी वही फल देकर आप कैसे उऋण हो सकते हैं॥३५॥ सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर! तभीतक राग-द्वेष आदि दोष चोरोंके समान सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं, तभीतक घर और उसके सम्बन्धी कैदकी तरह सम्बन्धके बन्धनोंमें बाँध रखते हैं और तभीतक मोह पैरकी बेड़ियोंकी तरह जकड़े रखता है—जबतक जीव आपका नहीं हो जाता॥ ३६॥ प्रभो! आप विश्वके बखेड़ेसे सर्वथा रहित हैं, फिर भी अपने शरणागत भक्तजनोंको अनन्त आनन्द वितरण करनेके लिये पृथ्वीमें अवतार लेकर विश्वके समान ही लीलाविलासका विस्तार करते हैं॥ ३७॥ मेरे स्वामी! बहुत कहनेकी आवश्यकता नहीं—जो लोग आपकी महिमा जानते हैं, वे जानते रहें; मेरे मन, वाणी और शरीर तो आपकी महिमा जाननेमें सर्वथा असमर्थ हैं॥ ३८॥ सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आप सबके साक्षी हैं। इसलिये आप सब कुछ जानते हैं। आप समस्त जगत्के स्वामी हैं। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आपमें ही स्थित है। आपसे मैं और क्या कहूँ? अब आप मुझे स्वीकार कीजिये। मुझे अपने लोकमें जानेकी आज्ञा दीजिये॥ ३९॥ सबके मन-प्राणको अपनी रूप-माधुरीसे आकर्षित करनेवाले श्यामसुन्दर! आप यदुवंशरूपी कमलको विकसित करनेवाले सूर्य हैं। प्रभो! पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशुरूप समुद्रकी अभिवृद्धि करनेवाले चन्द्रमा भी आप ही हैं। आप पाखण्डियोंके धर्मरूप रात्रिका घोर अन्धकार नष्ट करनेके लिये सूर्य और चन्द्रमा दोनोंके ही समान हैं। पृथ्वीपर रहनेवाले राक्षसोंके नष्ट करनेवाले आप चन्द्रमा, सूर्य आदि समस्त देवताओंके भी परम पूजनीय हैं। भगवन्! मैं अपने जीवनभर, महाकल्पपर्यन्त आपको नमस्कार ही करता रहूँ॥ ४०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! संसारके रचयिता ब्रह्माजीने इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति

नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥४१॥

ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान् ।

वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥४२॥

एकस्मिन्नपि याते़ऽब्दे प्राणेशं चान्तराऽऽत्मनः ।

कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः ॥४३॥

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।

यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥४४॥

ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।

नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥४५॥

ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः ।

दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद् व्रजम् ॥४६॥

बर्हप्रसूननवधातुविचित्रिताङ्गः

प्रोद्दामवेणुदल शृङ्गरवोत्सवाढ्यः ।

वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति-

र्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ॥४७॥

की । इसके बाद उन्होंने तीन बार परिक्रमा करके उनके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर अपने गन्तव्य स्थान सत्यलोकमें चले गये ॥ ४१ ॥ ब्रह्माजीने बछड़ों और ग्वालबालोंको पहले ही यथास्थान पहुँचा दिया था। भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजीको विदा कर दिया और बछड़ोंको लेकर यमुनाजीके पुलिनपर आये, जहाँ वे अपने सखा ग्वालबालोंको पहले छोड़ गये थे ॥ ४२ ॥ परीक्षित्! अपने जीवनसर्वस्व—प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके वियोगमें यद्यपि एक वर्ष बीत गया था, तथापि उन ग्वालबालोंको वह समय आधे क्षणके समान जान पड़ा। क्यों न हो, वे भगवान्‌की विश्वविमोहिनी योगमायासे मोहित जो हो गये थे॥ ४३ ॥ जगत्‌के सभी जीव उसी मायासे मोहित होकर शास्त्र और आचार्योंके बार-बार समझानेपर भी अपने आत्माको निरन्तर भूले हुए हैं। वास्तवमें उस मायाकी ऐसी ही शक्ति है। भला, उससे मोहित होकर जीव यहाँ क्या-क्या नहीं भूल जाते हैं! ॥ ४४ ॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णको देखते ही ग्वालबालोंने बड़ी उतावलीसे कहा—'भाई! तुम भले आये। स्वागत है, स्वागत! अभी तो हमने तुम्हारे बिना एक कौर भी नहीं खाया है। आओ, इधर आओ, आनन्दसे भोजन करो' ॥ ४५ ॥ तब हँसते हुए भगवान्‌ने ग्वालबालोंके साथ भोजन किया और उन्हें अघासुरके शरीरका ढाँचा दिखाते हुए वनसे व्रजमें लौट आये ॥ ४६ ॥ श्रीकृष्णके सिरपर मोरपंखका मनोहर मुकुट और घुँघराले बालोंमें सुन्दर-सुन्दर महँ-महँ महँकते हुए पुष्प गुँथ रहे थे। नयी-नयी रंगीन धातुओंसे श्याम शरीरपर चित्रकारी की हुई थी। वे चलते समय रास्तेमें उच्च स्वरसे कभी बाँसुरी, कभी पत्ते और कभी सींग बजाकर वाद्योत्सवमें मग्न हो रहे हैं। पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावन कीर्तिका गान करते जा रहे हैं। कभी वे नाम ले-लेकर अपने बछड़ोंको पुकारते, तो कभी उनके साथ लाड़ लड़ाने लगते। मार्गके दोनों ओर गोपियाँ खड़ी हैं; जब वे कभी तिरछे नेत्रोंसे उनकी नजरमें नजर मिला देते हैं, तब गोपियाँ आनन्द-मुग्ध हो जाती हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने गोष्ठमें प्रवेश किया ॥ ४७ ॥

अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना ।
इतोऽविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः ॥४८॥

परीक्षित् ! उसी दिन बालकोंने व्रजमें जाकर कहा कि 'आज यशोदा मैयाके लाड़ले नन्दनन्दनने वनमें एक बड़ा भारी अजगर मार डाला है और उससे हमलोगोंकी रक्षा की है' ॥ ४८ ॥

राजोवाच

ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् ।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥४९॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—ब्रह्मन् ! व्रजवासियोंके लिये श्रीकृष्ण अपने पुत्र नहीं थे, दूसरेके पुत्र थे। फिर उनका श्रीकृष्णके प्रति इतना प्रेम कैसे हुआ ? ऐसा प्रेम तो उनका अपने बालकोंपर भी पहले कभी नहीं हुआ था ! आप कृपा करके बतलाइये, इसका क्या कारण है ? ॥ ४९ ॥

श्रीशुक उवाच

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥५०॥
तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ॥५१॥
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ॥५२॥
देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः ।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी ॥५३॥
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥५४॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥५५॥
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च ।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन ॥५६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! संसारके सभी प्राणी अपने आत्मासे ही सबसे बढ़कर प्रेम करते हैं। पुत्रसे, धनसे या और किसीसे जो प्रेम होता है—वह तो इसलिये कि वे वस्तुएँ अपने आत्माको प्रिय लगती हैं ॥ ५० ॥ राजेन्द्र ! यही कारण है कि सभी प्राणियोंका अपने आत्माके प्रति जैसा प्रेम होता है, वैसा अपने कहलानेवाले पुत्र, धन और गृह आदिमें नहीं होता ॥५१॥ नृपश्रेष्ठ ! जो लोग देहको ही आत्मा मानते हैं, वे भी अपने शरीरसे जितना प्रेम करते हैं, उतना प्रेम शरीरके सम्बन्धी पुत्र-मित्र आदिसे नहीं करते ॥ ५२ ॥ जब विचारके द्वारा यह मालूम हो जाता है कि 'यह शरीर मैं नहीं हूँ, यह शरीर मेरा है' तब इस शरीरसे भी आत्माके समान प्रेम नहीं रहता। यही कारण है कि इस देहके जीर्ण-शीर्ण हो जानेपर भी जीनेकी आशा प्रबल रूपसे बनी रहती है ॥ ५३ ॥ इससे यह बात सिद्ध होती है कि सभी प्राणी अपने आत्मासे ही सबसे बढ़कर प्रेम करते हैं और उसीके लिये इस सारे चराचर जगत्‌से भी प्रेम करते हैं ॥ ५४ ॥ इन श्रीकृष्णको ही तुम सब आत्माओंका आत्मा समझो। संसारके कल्याणके लिये ही योगमायाका आश्रय लेकर वे यहाँ देहधारीके समान जान पड़ते हैं ॥ ५५ ॥ जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानते हैं, उनके लिये तो इस जगत्‌में जो कुछ भी चराचर पदार्थ हैं, अथवा इससे परे परमात्मा, ब्रह्म, नारायण आदि जो भगवत्स्वरूप हैं, सभी श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं। श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कोई प्राकृत-अप्राकृत वस्तु है ही नहीं ॥ ५६ ॥

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥५७॥

सभी वस्तुओंका अन्तिम रूप अपने कारणमें स्थित होता है । उस कारणके भी परम कारण हैं भगवान् श्रीकृष्ण । तब भला बताओ, किस वस्तुको श्रीकृष्णसे भिन्न बतलायें ॥५७॥

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥५८॥

जिन्होंने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारीके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है, जो कि सत्पुरुषोंका सर्वस्व है, उनके लिये यह भव-सागर बछड़ेके खुरके गढ़ेके समान है । उन्हें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये विपत्तियोंका निवासस्थान—यह संसार नहीं रहता ॥५८॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टोऽहमिह त्वया ।
यत् कौमारे हरिकृतं पौगण्डे परिकीर्तितम् ॥५९॥

परीक्षित् ! तुमने मुझसे पूछा था कि 'भगवान्के पाँचवें वर्षकी लीला ग्वालबालोंने छठे वर्षमें कैसे कही, उसका सारा रहस्य मैंने तुम्हें बतला दिया ॥ ५९ ॥

एतत् सुहृद्भिश्चरितं मुरारे-
रघार्दनं शाद्वलजेमनं च ।
व्यक्तेतरद् रूपमजोर्वभिष्टवं
शृण्वन् गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् ॥६०॥

भगवान् श्रीकृष्णकी ग्वालबालोंके साथ वनक्रीड़ा, अघासुरको मारना, हरी-हरी घाससे युक्त भूमिपर बैठकर भोजन करना, अप्राकृतरूपधारी बछड़ों और ग्वालबालोंका प्रकट होना और ब्रह्माजीके द्वारा की हुई इस महान् स्तुतिको जो मनुष्य सुनता और कहता है—उस-उसको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ६० ॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥६१॥

परीक्षित् ! इस प्रकार श्रीकृष्ण और बलरामने कुमार-अवस्थाके अनुरूप आँखमिचौनी, सेतुबन्धन, बंदरोंकी भाँति उछलना-कूदना आदि अनेकों लीलाएँ करके अपनी कुमार-अवस्था व्रजमें ही त्याग दी ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे ब्रह्मस्तुतिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

धेनुकासुरका उद्धार और ग्वालबालोंको कालियनागके विषसे बचाना

श्रीशुक[1] उवाच

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदै-
र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब बलराम और श्रीकृष्णने पौगण्ड-अवस्थामें अर्थात् छठे वर्षमें प्रवेश किया । अब उन्हें गौएँ चरानेकी स्वीकृति मिल गयी । वे अपने सखा ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराते हुए वृन्दावनमें जाते और अपने चरणोंसे वृन्दावनको अत्यन्त

१. बादरायणिरुवाच ।



कन्हैया गाय चरावन जात।

तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो
गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः ।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्
विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ॥ २ ॥
तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं
महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता ।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना
निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे ॥ ३ ॥
स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया
फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा
स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच[1]

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥ ५ ॥
एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते ।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥ ६ ॥
नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ।

पावन करते ॥ १ ॥ यह वन गौओंके लिये हरी-हरी घाससे युक्त एवं रंग-बिरंगे पुष्पोंकी खान हो रहा था। आगे-आगे गौएँ, उनके पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते हुए श्यामसुन्दर, तदनन्तर बलराम और फिर श्रीकृष्णके यशका गान करते हुए ग्वालबाल -इस प्रकार विहार करनेके लिये उन्होंने उस वनमें प्रवेश किया ॥ २ ॥ उस वनमें कहीं तो भौंरे बड़ी मधुर गुंजार कर रहे थे, कहीं झुंड-के-झुंड हरिन चौकड़ी भर रहे थे और कहीं सुन्दर-सुन्दर पक्षी चहक रहे थे। बड़े ही सुन्दर-सुन्दर सरोवर थे, जिनका जल महात्माओंके हृदयके समान स्वच्छ और निर्मल था। उनमें खिले हुए कमलोंके सौरभसे सुवासित होकर शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु उस वनकी सेवा कर रही थी। इतना मनोहर था वह वन कि उसे देखकर भगवान्ने मन-ही-मन उसमें विहार करनेका संकल्प किया ॥ ३ ॥ पुरुषोत्तम भगवान्ने देखा कि बड़े-बड़े वृक्ष फल और फूलोंके भारसे झुककर अपनी डालियों और नूतन कोंपलोंकी लालिमासे उनके चरणोंका स्पर्श कर रहे हैं, तब उन्होंने बड़े आनन्दसे कुछ मुसकराते हुए-से अपने बड़े भाई बलरामजीसे कहा ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवशिरोमणे! यों तो बड़े-बड़े देवता आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं; परन्तु देखिये तो, ये वृक्ष भी अपनी डालियोंसे सुन्दर पुष्प और फलोंकी सामग्री लेकर आपके चरणकमलोंमें झुक रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं। क्यों न हो, इन्होंने इसी सौभाग्यके लिये तथा अपना दर्शन एवं श्रवण करनेवालोंके अज्ञानका नाश करनेके लिये ही तो वृन्दावनधाममें वृक्ष-योनि ग्रहण की है। इनका जीवन धन्य है ॥ ५ ॥ आदिपुरुष! यद्यपि आप इस वृन्दावनमें अपने ऐश्वर्यरूपको छिपाकर बालकोंकी-सी लीला कर रहे हैं, फिर भी आपके श्रेष्ठ भक्त मुनिगण अपने इष्टदेवको पहचानकर यहाँ भी प्रायः भौंरोंके रूपमें आपके भुवन-पावन यशका निरन्तर गान करते हुए आपके भजनमें लगे रहते हैं। वे एक क्षणके लिये भी आपको नहीं छोड़ना चाहते ॥ ६ ॥ भाईजी! वास्तवमें आप ही स्तुति करने योग्य हैं। देखिये, आपको अपने घर आया देख ये मोर आपके दर्शनोंसे आनन्दित होकर नाच रहे हैं। हरिनियाँ मृगनयनी गोपियोंके समान अपनी

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' इतना अंश नहीं है।

सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥ ७ ॥

प्रेमभरी तिरछी चितवनसे आपके प्रति प्रेम प्रकट कर रही हैं, आपको प्रसन्न कर रही हैं। ये कोयलें अपनी मधुर कुहू-कुहू ध्वनिसे आपका कितना सुन्दर स्वागत कर रही हैं! ये वनवासी होनेपर भी धन्य हैं। क्योंकि सत्पुरुषोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे घर आये अतिथिको अपनी प्रियसे प्रिय वस्तु भेंट कर देते हैं॥७॥

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्-
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः॥ ८ ॥

आज यहाँकी भूमि अपनी हरी-हरी घासके साथ आपके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके धन्य हो रही है। यहाँके वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ आपकी अँगुलियोंका स्पर्श पाकर अपना अहोभाग्य मान रही हैं। आपकी दयाभरी चितवनसे नदी, पर्वत, पशु, पक्षी—सब कृतार्थ हो रहे हैं और व्रजकी गोपियाँ आपके वक्षःस्थलका स्पर्श प्राप्त करके, जिसके लिये स्वयं लक्ष्मी भी लालायित रहती हैं, धन्य-धन्य हो रही हैं॥ ८ ॥

श्रीशुक[1] उवाच

एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून्[2]।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार परम सुन्दर वृन्दावनको देखकर भगवान् श्रीकृष्ण बहुत ही आनन्दित हुए। वे अपने सखा ग्वालबालोंके साथ गोवर्धनकी तराईमें, यमुनातटपर गौओंको चराते हुए अनेकों प्रकारकी लीलाएँ करने लगे॥ ९ ॥

क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः।
उपगीयमानचरितः स्रग्वी सङ्कर्षणान्वितः॥ १०॥

एक ओर ग्वालबाल भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रोंकी मधुर तान छेड़े रहते हैं, तो दूसरी ओर बलरामजीके साथ वनमाला पहने हुए श्रीकृष्ण मतवाले भौंरोंकी सुरीली गुनगुनाहटमें अपना स्वर मिलाकर मधुर संगीत अलापने लगते हैं॥ १० ॥

क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम्।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित्॥११॥

कभी-कभी श्रीकृष्ण कूजते हुए राजहंसोंके साथ स्वयं भी कूजने लगते हैं और कभी नाचते हुए मोरोंके साथ स्वयं भी ठुमुक-ठुमुक नाचने लगते हैं और ऐसा नाचते हैं कि मयूरको उपहासास्पद बना देते हैं॥११॥

मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून्।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया॥१२॥

कभी मेघके समान गम्भीर वाणीसे दूर गये हुए पशुओंको उनका नाम ले-लेकर बड़े प्रेमसे पुकारते हैं। उनके कण्ठकी मधुर ध्वनि सुनकर गायों और ग्वालबालोंका चित्त भी अपने वशमें नहीं रहता॥ १२ ॥

चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः॥१३॥

कभी चकोर, क्रौंच (कराँकुल), चकवा, भरदूल और मोर आदि पक्षियोंकी-सी बोली बोलते तो कभी बाघ, सिंह आदिकी गर्जनासे डरे हुए जीवोंके समान स्वयं भी भयभीतकी-सी लीला

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है। २. वने कृष्णः श्रामान् प्रीत०।

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम् ।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥१४॥
नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः ।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥१५॥
क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः ।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥१६॥
पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः ।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥१७॥
अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः ॥१८॥
एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया
गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् ।
रेमे रमालालितपादपल्लवो
ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥१९॥
श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा ।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥२०॥
राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।
इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसङ्कुलम् ॥२१॥

करते ॥ १३ ॥ जब बलरामजी खेलते-खेलते थककर किसी ग्वालबालकी गोदके तकियेपर सिर रखकर लेट जाते, तब श्रीकृष्ण उनके पैर दबाने लगते, पंखा झलने लगते और इस प्रकार अपने बड़े भाईकी थकावट दूर करते ॥ १४ ॥ जब ग्वाल-बाल नाचने-गाने लगते, अथवा ताल ठोंक-ठोंककर एक दूसरेसे कुश्ती लड़ने लगते, तब श्याम और राम दोनों भाई हाथमें हाथ डालकर खड़े हो जाते और हँस-हँसकर 'वाह-वाह' करते ॥ १५ ॥ कभी-कभी स्वयं श्रीकृष्ण भी ग्वालबालोंके साथ कुश्ती लड़ते-लड़ते थक जाते तथा किसी सुन्दर वृक्षके नीचे कोमल पल्लवोंकी सेजपर किसी ग्वालबालकी गोदमें सिर रखकर लेट जाते ॥ १६ ॥ परीक्षित् ! उस समय कोई-कोई पुण्यके मूर्तिमान् स्वरूप ग्वालबाल महात्मा श्रीकृष्णके चरण दबाने लगते और दूसरे निष्पाप बालक उन्हें बड़े-बड़े पत्तों या अँगोछियोंसे पंखा झलने लगते ॥ १७ ॥ किसी-किसीके हृदयमें प्रेमकी धारा उमड़ आती तो वह धीरे-धीरे उदारशिरोमणि परममनस्वी श्रीकृष्णकी लीलाओंके अनुरूप उनके मनको प्रिय लगनेवाले मनोहर गीत गाने लगता ॥ १८ ॥ भगवान्‌ने इस प्रकार अपनी योगमायासे अपने ऐश्वर्यमय स्वरूपको छिपा रक्खा था । वे ऐसी लीलाएँ करते, जो ठीक-ठीक गोपबालकोंकी-सी ही मालूम पड़तीं । स्वयं भगवती लक्ष्मी जिनके चरणकमलोंकी सेवामें संलग्न रहती हैं, वे ही भगवान् इन ग्रामीण बालकोंके साथ बड़े प्रेमसे ग्रामीण खेल खेला करते थे । परीक्षित् ! ऐसा होनेपर भी कभी-कभी उनकी ऐश्वर्यमयी लीलाएँ भी प्रकट हो जाया करतीं ॥ १९ ॥

बलरामजी और श्रीकृष्णके सखाओंमें एक प्रधान गोपबालक थे श्रीदामा । एक दिन उन्होंने तथा सुबल और स्तोककृष्ण (छोटे कृष्ण) आदि ग्वालबालोंने श्याम और रामसे बड़े प्रेमके साथ कहा—॥ २० ॥ 'हमलोगोंको सर्वदा सुख पहुँचानेवाले बलरामजी ! आपके बाहु-बलकी तो कोई थाह ही नहीं है । हमारे मनमोहन श्रीकृष्ण ! दुष्टोंको नष्ट कर डालना तो तुम्हारा स्वभाव ही है । यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक बड़ा भारी वन है। बस,उसमें पाँत-के-पाँत ताड़के

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।
सन्ति किंत्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना ॥२२॥
सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक् ।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥२३॥
तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन् ।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम् ॥२४॥
विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च ।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते ॥२५॥
प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् ।
वाञ्छास्ति महती राम गम्यतां यदि रोचते ॥२६॥

वृक्ष भरे पड़े हैं ॥२१॥ वहाँ बहुत-से ताड़के फल पक-पककर गिरते रहते हैं और बहुत-से पहलेके गिरे हुए भी हैं। परन्तु वहाँ धेनुक नामका एक दुष्ट दैत्य रहता है। उसने उन फलोंपर रोक लगा रक्खी है ॥२२॥ बलराम-जी और भैया श्रीकृष्ण! वह दैत्य गधेके रूपमें रहता है। वह स्वयं तो बड़ा बलवान् है ही, उसके साथ और भी बहुत-से उसीके समान बलवान् दैत्य उसी रूपमें रहते हैं ॥ २३ ॥ मेरे शत्रुघाती भैया! उस दैत्यने अबतक न जाने कितने मनुष्य खा डाले हैं। यही कारण है कि उसके डरके मारे मनुष्य उसका सेवन नहीं करते और पशु-पक्षी भी उस जंगलमें नहीं जाते ॥ २४ ॥ उसके फल हैं तो बड़े सुगन्धित, परन्तु हमने कभी नहीं खाये। देखो न, चारों ओर उन्हींकी मन्द-मन्द सुगन्ध फैल रही है। तनिक-सा ध्यान देनेसे उसका रस मिलने लगता है ॥ २५ ॥ श्रीकृष्ण! उनकी सुगन्धसे हमारा मन मोहित हो गया है और उन्हें पानेके लिये मचल रहा है। तुम हमें वे फल अवश्य खिलाओ। दाऊ दादा! हमें उन फलोंकी बड़ी उत्कट अभिलाषा है। आपको रुचे तो वहाँ अवश्य चलिये ॥ २६ ॥

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया ।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥२७॥
बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन् ।
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा ॥२८॥
फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः ।
अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन् ॥२९॥
समेत्य तरसा प्रत्यग्[1] द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली ।
निहत्योरसि काशब्दं[2] मुञ्चन् पर्यसरत् खलः[3] ॥३०॥
पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः ।
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा ॥३१॥

अपने सखा ग्वालबालोंकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों हँसे और फिर उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उनके साथ तालवनके लिये चल पड़े। २७। उस वनमें पहुँचकर बलरामजीने अपनी बाँहोंसे उन ताड़के पेड़ोंको पकड़ लिया और मतवाले हाथीके बच्चेके समान उन्हें बड़े जोरसे हिलाकर बहुत-से फल नीचे गिरा दिये ॥२८॥ जब गधेके रूपमें रहनेवाले दैत्यने फलोंके गिरनेका शब्द सुना, तब वह पर्वतोंके साथ सारी पृथ्वी-को कँपाता हुआ उनकी ओर दौड़ा ॥ २९॥ वह बड़ा बलवान् था। उसने बड़े वेगसे बलरामजीके सामने आकर अपने पिछले पैरोंसे उनकी छातीमें दुलत्ती मारी और इसके बाद वह दुष्ट बड़े जोरसे रेंकता हुआ वहाँसे हट गया ॥ ३० ॥ राजन्! वह गधा क्रोधमें भरकर फिर रेंकता हुआ दूसरी बार बलरामजीके पास पहुँचा और उनकी ओर पीठ करके फिर बड़े क्रोधसे अपने पिछले

१. छासीन्महृ० । २. पश्चाद् । ३. खरः ;

स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना ।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥३२॥
तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः ।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम् ।३३।
बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः ।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥३४॥
नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥३५॥
ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये ।
क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः ॥३६॥
तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया ।
गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत्तृणराजसु ॥३७॥
फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः ।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम् ॥३८॥
तयोस्तत् सुमहत् कर्म निशाम्य विबुधादयः ।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः ॥३९॥
अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः ।
तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने ॥४०॥
कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत् ॥४१॥

पैरोंकी दुलत्ती चलायी ॥ ३१ ॥ बलरामजीने अपने एक ही हाथसे उसके दोनों पैर पकड़ लिये और उसे आकाशमें घुमाकर एक ताड़के पेड़पर दे मारा । घुमाते समय ही उस गधेके प्राणपखेरू उड़ गये थे ॥ ३२ ॥ उसके गिरनेकी चोटसे वह महान् ताड़का वृक्ष—जिसका ऊपरी भाग बहुत विशाल था—स्वयं तो तड़तड़ाकर गिर ही पड़ा, सटे हुए दूसरे वृक्षको भी उसने तोड़ डाला । उसने तीसरेको, तीसरेने चौथेको—इस प्रकार एक-दूसरेको गिराते हुए बहुत-से तालवृक्ष गिर पड़े ॥ ३३ ॥ बलरामजीके लिये तो यह एक खेल था । परन्तु उनके द्वारा फेंके हुए गधेके शरीरसे चोट खा-खाकर वहाँ सब-के-सब ताड़ हिल गये । ऐसा जान पड़ा, मानो सबको झंझावातने झकझोर दिया हो ॥ ३४ ॥ भगवान् बलराम स्वयं जगदीश्वर हैं । उनमें यह सारा संसार ठीक वैसे ही ओतप्रोत है, जैसे सूतोंमें वस्त्र । तब भला, उनके लिये यह कौन आश्चर्यकी बात है ॥ ३५ ॥ उस समय धेनुकासुरके भाई-बन्धु अपने भाईके मारे जानेसे क्रोधके मारे आगबबूला हो गये । सब-के-सब गधे बलरामजी और श्रीकृष्णपर बड़े वेगसे टूट पड़े ॥ ३६ ॥ राजन् ! उनमेंसे जो-जो पास आया, उसी-उसीको बलरामजी और श्रीकृष्णने खेल-खेलमें ही पिछले पैर पकड़कर तालवृक्षोंपर दे मारा ॥३७॥ उस समय वह भूमि ताड़के फलोंसे पट गयी और टूटे हुए वृक्ष तथा दैत्योंके प्राणहीन शरीरोंसे भर गयी । जैसे बादलोंसे आकाश ढक गया हो, उस भूमिकी वैसी ही शोभा होने लगी ॥ ३८ ॥ बलरामजी और श्रीकृष्णकी यह मङ्गलमयी लीला देखकर देवतागण उनपर फूल बरसाने लगे और बाजे बजा-बजाकर स्तुति करने लगे ॥३९॥ जिस दिन धेनुकासुर मरा, उसी दिनसे लोग निडर होकर उस वनके तालफल खाने लगे तथा पशु भी स्वच्छन्दताके साथ घास चरने लगे ॥ ४० ॥

इसके बाद कमलदललोचन भगवान् श्रीकृष्ण बड़े भाई बलरामजीके साथ व्रजमें आये । उस समय उनके साथी ग्वालबाल उनके पीछे-पीछे चलते हुए उनकी स्तुति करते जाते थे । क्यों न हो; भगवान्‌की लीलाओंका श्रवण-कीर्तन ही सबसे बढ़कर पवित्र जो है ॥ ४१ ॥

१. तालः पतमानो ।

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-
वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ४२
पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥४३॥
तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले ।
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः ॥४४॥
गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ॥४५॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥४६॥
एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित् ।
ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥४७॥
अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः ।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम् ॥४८॥
विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः ।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥४९॥

उस समय श्रीकृष्णकी घुँघराली अलकोंपर गौओंके खुरोंसे उड़-उड़कर धूलि पड़ी हुई थी, सिरपर मोरपंखका मुकुट था और बालोंमें सुन्दर-सुन्दर जंगली पुष्प गुँथे हुए थे। उनके नेत्रोंमें मधुर चितवन और मुखपर मनोहर मुसकान थी। वे मधुर-मधुर मुरली बजा रहे थे और साथी ग्वालबाल उनकी ललित कीर्तिका गान कर रहे थे। वंशीकी ध्वनि सुनकर बहुत-सी गोपियाँ एक साथ ही व्रजसे बाहर निकली आयीं। उनकी आँखें न जाने कबसे श्रीकृष्णके दर्शनके लिये तरस रही थीं ॥ ४२ ॥ गोपियोंने अपने नेत्ररूप भ्रमरोंसे भगवान्‌के मुखारविन्दका मकरन्द-रस पान करके दिनभरके विरहकी जलन शान्त की। और भगवान्‌ने भी उनकी लाजभरी हँसी तथा विनयसे युक्त प्रेमभरी तिरछी चितवनका सत्कार स्वीकार करके व्रजमें प्रवेश किया ॥ ४३ ॥ उधर यशोदामैया और रोहिणीजीका हृदय वात्सल्यस्नेहसे उमड़ रहा था। उन्होंने श्याम और रामके घर पहुँचते ही उनकी इच्छाके अनुसार तथा समयके अनुरूप पहलेसे ही सोच-सँजोकर रक्खी हुई वस्तुएँ उन्हें खिलायीं-पिलायीं और पहनायीं ॥ ४४ ॥ माताओंने तेल-उबटन आदि लगाकर स्नान कराया। इससे उनकी दिनभर घूमने-फिरनेकी मार्गकी थकान दूर हो गयी। फिर उन्होंने सुन्दर वस्त्र पहनाकर दिव्य पुष्पोंकी माला पहनायी तथा चन्दन लगाया ॥ ४५ ॥ तत्पश्चात् दोनों भाइयोंने माताओंका परोसा हुआ स्वादिष्ट अन्न भोजन किया। इसके बाद बड़े लाड़-प्यारसे दुलार-दुलारकर यशोदा और रोहिणीने उन्हें सुन्दर शय्यापर सुलाया। श्याम और राम बड़े आरामसे सो गये ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार वृन्दावनमें अनेकों लीलाएँ करते। एक दिन अपने सखा ग्वालबालोंके साथ वे यमुनातटपर गये। राजन्! उस दिन बलरामजी उनके साथ नहीं थे ॥ ४७ ॥ उस समय ज्येष्ठ-आषाढ़के घामसे गौएँ और ग्वालबाल अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। प्याससे उनका कण्ठ सूख रहा था। इसलिये उन्होंने यमुनाजीका विषैला जल पी लिया ॥ ४८ ॥ परीक्षित्! होनहारके वश उन्हें इस बातका ध्यान ही नहीं रहा था। उस विषैले जलके पीते ही सब गौएँ और ग्वालबाल प्राणहीन होकर यमुनाजीके तटपर गिर पड़े ॥ ४९ ॥

१. खसौरभमक्षि० । २. मूर्च्छिता वै ।

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥५०॥
ते सम्प्रतीतस्मृतयः संमुत्थाय जलान्तिकात्।
आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम् ॥५१॥
अन्वमंसत तद् राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम्।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥५२॥

उन्हें ऐसी अवस्थामें देखकर योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अमृत बरसानेवाली दृष्टिसे उन्हें जीवित कर दिया। उनके स्वामी और सर्वस्व तो एकमात्र श्रीकृष्ण ही थे ॥ ५० ॥ परीक्षित्! चेतना आनेपर वे सब यमुनाजीके तटपर उठ खड़े हुए और आश्चर्यचकित होकर एक-दूसरेकी ओर देखने लगे ॥ ५१ ॥ राजन्! अन्तमें उन्होंने यही निश्चय किया कि हमलोग विषैला जल पी लेनेके कारण मर चुके थे, परन्तु हमारे श्रीकृष्णने अपनी अनुग्रहभरी दृष्टिसे देखकर हमें फिरसे जिला दिया है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
धेनुकवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

कालियपर कृपा

श्रीशुक उवाच

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि महाविषधर कालिय नागने यमुनाजीका जल विषैला कर दिया है। तब यमुनाजीको शुद्ध करनेके विचारसे उन्होंने वहाँसे उस सर्पको निकाल दिया ॥१॥

राजोवाच

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णात् भगवानहिम्।
स वै बहुयुगावासं यथाऽऽसीद् विप्र कथ्यताम् ॥२॥
ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्तिनः।
गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—ब्रह्मन्! भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाजीके अगाध जलमें किस प्रकार उस सर्पका दमन किया? फिर कालिय नाग तो जलचर जीव नहीं था, ऐसी दशामें वह अनेक युगोंतक जलमें क्यों और कैसे रहा? सो बतलाइये ॥२॥ ब्रह्मस्वरूप महात्मन्! भगवान् अनन्त हैं। वे अपनी लीला प्रकट करके स्वच्छन्द विहार करते हैं। गोपालरूपसे उन्होंने जो उदार लीला की है, वह तो अमृतस्वरूप है। भला, उसके सेवनसे कौन तृप्त हो सकता है? ॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच

कालिन्द्यां कालियस्यासीद् ह्रदः कश्चिद् विषाग्निना।
श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! यमुनाजीमें कालिय नागका एक कुण्ड था। उसका जल विषकी गर्मीसे खौलता रहता था। यहाँतक कि उसके ऊपर उड़नेवाले पक्षी भी झुलसकर उसमें गिर जाया करते थे ॥४॥

१. उत्थाय च। २. बालक्रीडायां पश्च। ३. बादरायणिरुवाच। ४. श्रप्यमाणं पयो।

विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः ।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥ ५ ॥

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः ।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्ग-
मास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद् विषोदे ॥ ६ ॥

सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेग-
संक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।
पर्यक्प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मि-
र्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत् ॥ ७ ॥

तस्य[1] ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण-
वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य ।
आश्रुत्य तत् स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य
चक्षुःश्रवाः समसरत्तदमृष्यमाणः ॥ ८ ॥

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं
श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम् ।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं
सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद ॥ ९ ॥

उसके विषैले जलकी उत्ताल तरङ्गोंका स्पर्श करके तथा उसकी छोटी-छोटी बूँदें लेकर जब वायु बाहर आती और तटके घास-पात, वृक्ष, पशु-पक्षी आदिका स्पर्श करती, तब वे उसी समय मर जाते थे ॥ ५ ॥ परीक्षित्! भगवान्‌का अवतार तो दुष्टोंका दमन करनेके लिये होता ही है। जब उन्होंने देखा कि उस साँपके विषका वेग बड़ा प्रचण्ड (भयंकर) है और वह भयानक विष ही उसका महान् बल है तथा उसके कारण मेरे विहारका स्थान यमुनाजी भी दूषित हो गयी हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कमरका फेंटा कसकर एक बहुत ऊँचे कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये और वहाँसे ताल ठोंककर उस विषैले जलमें कूद पड़े ॥ ६ ॥ यमुनाजीका जल साँपके विषके कारण पहलेसे ही खौल रहा था। उसकी तरङ्गें लाल-पीली और अत्यन्त भयङ्कर उठ रही थीं। पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके कूद पड़नेसे उसका जल और भी उछलने लगा। उस समय तो कालियदहका जल इधर-उधर उछलकर चार सौ हाथतक फैल गया! अचिन्त्य अनन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्णके लिये इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ७ ॥ प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण कालियदहमें कूदकर अतुल बलशाली मतवाले गजराजके समान जल उछालने लगे। इस प्रकार जब क्रीडा करनेपर उनकी भुजाओंकी टक्करसे जलमें बड़े जोरका शब्द होने लगा। आँखसे ही सुननेवाले कालिय नागने वह आवाज सुनी और देखा कि कोई मेरे निवास-स्थानका तिरस्कार कर रहा है। उसे यह सहन न हुआ। वह चिढ़कर भगवान् श्रीकृष्णके सामने आ गया ॥ ८ ॥ उसने देखा कि सामने एक साँवला-सलोना बालक है। वर्षाकालीन मेघके समान अत्यन्त सुकुमार शरीर है, उसमें लगकर आँखें हटनेका नाम ही नहीं लेतीं। उसके वक्षः-स्थलपर एक सुनहली रेखा—श्रीवत्सका चिह्न है और वह पीले रंगका वस्त्र धारण किये हुए है। बड़े मधुर एवं मनोहर मुखपर मन्द-मन्द मुसकान अत्यन्त शोभायमान हो रही है। चरण इतने सुकुमार और सुन्दर हैं, मानो कमलकी गद्दी हो। इतना आकर्षक रूप होनेपर भी जब कालिय नागने देखा कि बालक तनिक भी न डरकर इस विषैले जलमें मौजसे खेल रहा है, तब उसका क्रोध और भी बढ़ गया। उसने श्रीकृष्णको मर्मस्थानोंमें डँसकर

१. तस्मिन् ह्रदे।

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा
दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥१०॥

गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः।
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदत्य इव तस्थिरे ॥११॥

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥१२॥

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम्॥१३॥

तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः ॥१४॥

आबालवृद्धवनिता सर्वेऽङ्ग[1] पशुवृत्तयः।
निर्जग्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥१५॥

तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः।
प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥१६॥

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः।

अपने शरीरके बन्धनसे उन्हें जकड़ लिया ॥९॥ भगवान् श्रीकृष्ण नागपाशमें बँधकर निश्चेष्ट हो गये। यह देखकर उनके प्यारे सखा ग्वालबाल बहुत ही पीड़ित हुए और उसी समय दुःख, पश्चात्ताप और भयसे मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। क्योंकि उन्होंने अपने शरीर, सुहृद्, धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, भोग और कामनाएँ—सब कुछ भगवान् श्रीकृष्णको ही समर्पित कर रक्खा था ॥१०॥ गाय, बैल, बछिया और बछड़े बड़े दुःखसे डकराने लगे। श्रीकृष्णकी ओर ही उनकी टकटकी बँध रही थी। वे डरकर इस प्रकार खड़े हो गये, मानो रो रहे हों। उस समय उनका शरीर हिलता-डोलता तक न था ॥ ११ ॥

इधर व्रजमें पृथ्वी, आकाश और शरीरोंमें बड़े भयङ्कर-भयङ्कर तीनों प्रकारके उत्पात उठ खड़े हुए, जो इस बातकी सूचना दे रहे थे कि बहुत ही शीघ्र कोई अशुभ घटना घटनेवाली है ॥ १२ ॥ नन्दबाबा आदि गोपोंने पहले तो उन अशकुनोंको देखा और पीछेसे यह जाना कि आज श्रीकृष्ण बिना बलरामके ही गाय चराने चले गये। वे भयसे व्याकुल हो गये ॥ १३ ॥ वे भगवान्‌का प्रभाव नहीं जानते थे। इसीलिये उन अशकुनोंको देखकर उनके मनमें यह बात आयी कि आज तो श्रीकृष्णकी मृत्यु ही हो गयी होगी। वे उसी क्षण दुःख, शोक और भयसे आतुर हो गये। क्यों न हों, श्रीकृष्ण ही उनके प्राण, मन और सर्वस्व जो थे ॥ १४॥ प्रिय परीक्षित्! व्रजके बालक, वृद्ध और स्त्रियोंका स्वभाव गायों-जैसा ही वात्सल्यपूर्ण था। वे मनमें ऐसी बात आते ही अत्यन्त दीन हो गये और अपने प्यारे कन्हैयाको देखनेकी उत्कट लालसासे घरद्वार छोड़कर निकल पड़े ॥ १५ ॥ बलराम-जी स्वयं भगवान्‌के स्वरूप और सर्वशक्तिमान् हैं। उन्होंने जब व्रजवासियोंको इतना कातर और इतना आतुर देखा, तब उन्हें हँसी आ गयी। परन्तु वे कुछ बोले नहीं, चुप ही रहे। क्योंकि वे अपने छोटे भाई श्रीकृष्णका प्रभाव भलीभाँति जानते थे ॥ १६ ॥ व्रज-वासी अपने प्यारे श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगे। कोई अधिक कठिनाई न हुई; क्योंकि मार्गमें उन्हें भगवान्‌के चरणचिह्न

१. सर्वे वै।

भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम् ॥१७॥

मिलते जाते थे। जौ, कमल, अङ्कुश आदिसे युक्त होनेके कारण उन्हें पहचान होती जाती थी। इस प्रकार वे यमुना-तटकी ओर जाने लगे॥ १७॥

ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनि-
ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे
निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः॥१८॥

अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात्
कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते।
गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च
संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः॥१९॥

गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते
तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः।
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः
शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम्॥२०॥

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः॥२१॥

कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम्।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित्॥२२॥

परीक्षित्! मार्गमें गौओं और दूसरोंके चरणचिह्नोंके बीच-बीचमें भगवान्‌के चरणचिह्न भी दीख जाते थे। उनमें कमल, जौ, अङ्कुश, वज्र और ध्वजाके चिह्न बहुत ही स्पष्ट थे। उन्हें देखते हुए वे बहुत शीघ्रतासे चले॥ १८॥ उन्होंने दूरसे ही देखा कि कालियदहमें कालिय नागके शरीरसे बँधे हुए श्रीकृष्ण चेष्टाहीन हो रहे हैं। कुण्डके किनारेपर ग्वालबाल अचेत हुए पड़े हैं और गौएँ, बैल, बछड़े आदि बड़े आर्तस्वरसे डकरा रहे हैं। यह सब देखकर वे सब गोप अत्यन्त व्याकुल और अन्तमें मूर्छित हो गये॥ १९॥ गोपियोंका मन अनन्त गुणगणनिलय भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमके रंगमें रँगा हुआ था। वे तो नित्य-निरन्तर भगवान्‌के सौहार्द, उनकी मधुर मुसकान, प्रेमभरी चितवन तथा मीठी वाणीका ही स्मरण करती रहती थीं। जब उन्होंने देखा कि हमारे प्रियतम श्यामसुन्दरको काले साँपने जकड़ रक्खा है, तब तो उनके हृदयमें बड़ा ही दुःख और बड़ी ही जलन हुई। अपने प्राणवल्लभ जीवनसर्वस्वके बिना उन्हें तीनों लोक सूने दीखने लगे॥ २०॥ माता यशोदा तो अपने लाड़ले लालके पीछे कालियदहमें कूदने ही जा रही थीं; परन्तु गोपियोंने उन्हें पकड़ लिया। उनके हृदयमें भी वैसी ही पीड़ा थी। उनकी आँखोंसे भी आँसुओंकी झड़ी लगी हुई थी। सबकी आँखें श्रीकृष्णके मुखकमलपर लगी थीं। जिनके शरीरमें चेतना थी, वे व्रजमोहन श्रीकृष्णकी पूतना-वध आदिकी प्यारी-प्यारी ऐश्वर्यकी लीलाएँ कह-कहकर यशोदाजीको धीरज बँधाने लगीं! किन्तु अधिकांश तो मुर्देकी तरह पड़ ही गयी थीं॥ २१॥ परीक्षित्! नन्दबाबा आदिके जीवन-प्राण तो श्रीकृष्ण ही थे। वे श्रीकृष्णके लिये कालियदहमें घुसने लगे। यह देखकर श्रीकृष्णका प्रभाव जाननेवाले भगवान् बलराम-जीने किन्हींको समझा-बुझाकर, किन्हींको बलपूर्वक और किन्हींको उनके हृदयोंमें प्रेरणा करके रोक दिया॥ २२॥

१. प्रवत्तां।

इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य
सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः
स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥२३॥

तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग-
स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः ।
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीष-
स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः ॥२४॥

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं
द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो
बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांस-
मानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-
पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त ॥२६॥

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय-
गन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीत-
पुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥२७॥

परीक्षित् ! यह साँपके शरीरसे बँध जाना तो श्रीकृष्णकी मनुष्यों-जैसी एक लीला थी। जब उन्होंने देखा कि व्रजके सभी लोग स्त्री और बच्चोंके साथ मेरे लिये इस प्रकार अत्यन्त दुखी हो रहे हैं और सचमुच मेरे सिवा इनका कोई दूसरा सहारा भी नहीं है, तब वे एक मुहूर्ततक सर्पके बन्धनमें रहकर बाहर निकल आये ॥ २३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपना शरीर फुलाकर खूब मोटा कर लिया। इससे साँपका शरीर टूटने लगा। वह अपना नागपाश छोड़कर अलग खड़ा हो गया और क्रोधसे आगबबूला हो अपने फण ऊँचा करके फुफकारें मारने लगा। घात मिलते ही श्रीकृष्णपर चोट करनेके लिये वह उनकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। उस समय उसके नथुनोंसे विषकी फुहारें निकल रही थीं। उसकी आँखें स्थिर थीं और इतनी लाल-लाल हो रही थीं, मानो भट्ठीपर तपाया हुआ खपड़ा हो। उसके मुँहसे आगकी लपटें निकल रही थीं ॥ २४ ॥ उस समय कालिय नाग अपनी दुहरी जीभ लपलपाकर अपने होठोंके दोनों किनारोंको चाट रहा था और अपनी कराल आँखोंसे विषकी ज्वाला उगलता जा रहा था। अपने वाहन गरुड़के समान भगवान् श्रीकृष्ण उसके साथ खेलते हुए पैंतरा बदलने लगे। और वह साँप भी उनपर चोट करनेका दाँव देखता हुआ पैंतरा बदलने लगा ॥ २५ ॥ इस प्रकार पैंतरा बदलते-बदलते उसका बल क्षीण हो गया। तब भगवान् श्रीकृष्णने उसके बड़े-बड़े सिरोंको तनिक दबा दिया और उछलकर उनपर सवार हो गये। कालिय नागके मस्तकोंपर बहुत-सी लाल-लाल मणियाँ थीं। उनके स्पर्शसे भगवान्‌के सुकुमार तलुओंकी लालिमा और भी बढ़ गयी। नृत्य-गान आदि समस्त कलाओंके आदिप्रवर्तक भगवान् श्रीकृष्ण उसके सिरोंपर कलापूर्ण नृत्य करने लगे ॥ २६ ॥ भगवान्‌के प्यारे भक्त गन्धर्व, सिद्ध, देवता, चारण और देवाङ्गनाओंने जब देखा कि भगवान् नृत्य करना चाहते है, तब वे बड़े प्रेमसे मृदङ्ग, ढोल, नगारे आदि बाजे बजाते हुए, सुन्दर-सुन्दर गीत गाते हुए, पुष्पोंकी वर्षा करते हुए और अपनेको निछावर करते हुए भेंट ले-लेकर उसी समय भगवान्‌के पास आ

यद् यच्छिरो न नमतेऽङ्गशतैकशीर्ष्ण-
स्तत्तन् ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्
नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥२८॥

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरस्सु
यद् यत् समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः ।
नृत्यन् पदानुनमयन् दमयाम्बभूव
पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥२९॥

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो
रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः ।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥३०॥

कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं
पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रम् ।
दृष्ट्वाहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य
आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥३१॥

तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः
कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः ।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्तु-
र्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥३२॥

नागपत्न्य ऊचुः

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिं-
स्तवावतारः खलनिग्रहाय ।

पहुँचे ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! कालिय नागके एक सौ एक सिर थे । वह अपने जिस सिरको नहीं झुकाता था, उसीको प्रचण्ड दण्डधारी भगवान् अपने पैरोंकी चोटसे कुचल डालते । इससे कालिय नागकी जीवनशक्ति क्षीण हो चली, वह मुँह और नथुनोंसे खून उगलने लगा । अन्तमें चक्कर काटते-काटते वह बेहोश हो गया ॥२८॥ तनिक भी चेत होता तो वह अपनी आँखोंसे विष उगलने लगता और क्रोधके मारे जोर-जोरसे फुफकारें मारने लगता । इस प्रकार वह अपने सिरोंमेंसे जिस सिरको ऊपर उठाता, उसीको नाचते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणोंकी ठोकरसे झुकाकर रौंद डालते । उस समय पुराण-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर जो खूनकी बूँदें पड़ती थीं, उनसे ऐसा मालूम होता, मानो रक्त-पुष्पोंसे उनकी पूजा की जा रही हो ॥ २९ ॥ परीक्षित् ! भगवान्‌के इस अद्भुत ताण्डव-नृत्यसे कालियके फणरूप छत्ते छिन्न-भिन्न हो गये । उसका एक-एक अंग चूर-चूर हो गया और मुँहसे खूनकी उलटी होने लगी । अब उसे सारे जगत्‌के आदिशिक्षक पुराण-पुरुष भगवान् नारायणकी स्मृति हुई । वह मन-ही-मन भगवान्‌की शरणमें गया ॥ ३० ॥ भगवान् श्रीकृष्णके उदरमें सम्पूर्ण विश्व है । इसलिये उनके भारी बोझसे कालिय नागके शरीरकी एक-एक गाँठ ढीली पड़ गयी । उनकी एड़ियोंकी चोटसे उसके छत्रके समान फण छिन्न-भिन्न हो गये । अपने पतिकी यह दशा देखकर उसकी पत्नियाँ भगवान्‌की शरणमें आयीं । वे अत्यन्त आतुर हो रही थीं । भयके मारे उनके वस्त्राभूषण अस्त-व्यस्त हो रहे थे और केशकी चोटियाँ भी बिखर रही थीं ॥ ३१ ॥ उस समय उन साध्वी नागपत्नियोंके चित्तमें बड़ी घबड़ाहट थी । अपने बालकोंको आगे करके वे पृथ्वीपर लोट गयीं और हाथ जोड़कर उन्होंने समस्त प्राणियोंके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया । भगवान् श्रीकृष्णको शरणागतवत्सल जानकर अपने अपराधी पतिको छुड़ानेकी इच्छासे उन्होंने उनकी शरण ग्रहण की ॥ ३२ ॥

नागपत्नियोंने कहा—प्रभो ! आपका यह अवतार ही दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये हुआ है । इसलिये इस अपराधीको दण्ड देना सर्वथा उचित है । आपकी दृष्टिमें

१. प्राचीन प्रतिमें 'तस्याक्षिभिर्गरल०......' से लेकर '... मनसा जगाम' तक पूरे दो श्लोक नहीं हैं ।

कालिय नागपर कृपा



भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर जो खूनकी बूँदें पड़ती थीं, उनसे मालूम होता, मानो रक्तकुसुमोंसे उनकी पूजा की जा रही हो ।

रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे-
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥३३॥

अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥३४॥

तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं
निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया
यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥३५॥

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥३६॥

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥३७॥

तदेष नाथाप दुरापमन्यै-
स्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो
यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः ॥३८॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।

शत्रु और पुत्रका कोई भेदभाव नहीं हैं। इसलिये आप जो किसीको दण्ड देते हैं, वह उसके पापोंका प्रायश्चित्त कराने और उसका परम कल्याण करनेके लिये ही ॥३३॥ आपने हमलोगोंपर यह बड़ा ही अनुग्रह किया । यह तो आपका कृपा-प्रसाद ही है । क्योंकि आप जो दुष्टोंको दण्ड देते हैं, उससे उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । इस सर्पके अपराधी होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं है । यदि यह अपराधी न होता, तो इसे सर्पकी योनि ही क्यों मिलती ? इसलिये हम सच्चे हृदयसे आपके इस क्रोधको भी आपका अनुग्रह ही समझती हैं ॥ ३४ ॥ अवश्य ही पूर्वजन्ममें इसने स्वयं मानरहित होकर और दूसरोंका सम्मान करते हुए कोई बहुत बड़ी तपस्या की है । अथवा सब जीवोंपर दया करते हुए इसने कोई बहुत बड़ा धर्म किया है । तभी ओ आप इसके ऊपर सन्तुष्ट हुए हैं। क्योंकि सर्व-जीवस्वरूप आपकी प्रसन्नताका यही उपाय है ॥ ३५ ॥ भगवन् ! हम नहीं समझ पातीं कि यह इसकी किस साधनाका फल है, जो यह आपके चरणकमलोंकी धूलका स्पर्श पानेका अधिकारी हुआ है । आपके चरणोंकी रज इतनी दुर्लभ है कि उसके लिये आपकी अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीजीको भी बहुत दिनोंतक समस्त भोगोंका त्याग करके नियमोंका पालन करते हुए तपस्या करनी पड़ी थी ॥ ३६ ॥ प्रभो ! जो आपके चरणोंकी धूलकी शरण ले लेते हैं, वे भक्तजन स्वर्गका राज्य या पृथ्वीकी बादशाही नहीं चाहते । न वे रसातल-का ही राज्य चाहते और न तो ब्रह्माका पद ही लेना चाहते हैं । उन्हें अणिमादि योग-सिद्धियोंकी भी चाह नहीं होती । यहाँतक कि वे जन्म-मृत्युसे छुड़ानेवाले कैवल्य-मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते ॥ ३७ ॥ स्वामी ! यह नागराज तमोगुणी योनिमें उत्पन्न हुआ है और अत्यन्त क्रोधी है । फिर भी इसे आपकी वह परम पवित्र चरणरज प्राप्त हुई, जो दूसरोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है; तथा जिसको प्राप्त करनेकी इच्छामात्रसे ही संसारचक्रमें पड़े हुए जीवको संसारके वैभव-सम्पत्तिकी तो बात ही क्या—मोक्षकी भी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३८ ॥

प्रभो ! हम आपको प्रणाम करती हैं । आप अनन्त एवं अचिन्त्य ऐश्वर्यके नित्य निधि हैं। आप सबके अन्तः-

भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥३९॥
ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च ॥४०॥
कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥४१॥
भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥४२॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥४३॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥४४॥
नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥४५॥

करणोंमें विराजमान होनेपर भी अनन्त हैं। आप समस्त प्राणियों और पदार्थोंके आश्रय तथा सब पदार्थोंके रूपमें भी विद्यमान हैं। आप प्रकृतिसे परे स्वयं परमात्मा हैं ॥ ३९ ॥ आप सब प्रकारके ज्ञान और अनुभवोंके खजाने हैं। आपकी महिमा और शक्ति अनन्त है। आपका स्वरूप अप्राकृत—दिव्य चिन्मय है, प्राकृतिक गुणों एवं विकारोंका आप कभी स्पर्श ही नहीं करते। आप ही ब्रह्म हैं, हम आपको नमस्कार कर रही हैं ॥४०॥ आप प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले काल हैं, कालशक्तिके आश्रय हैं और कालके क्षण-कल्प आदि समस्त अवयवोंके साक्षी हैं। आप विश्वरूप होते हुए भी उससे अलग रहकर उसके द्रष्टा हैं। आप उसके बनानेवाले निमित्त-कारण तो हैं ही, उसके रूपमें बनानेवाले उपादानकारण भी हैं ॥ ४१ ॥ प्रभो! पञ्चभूत, उनकी तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि और इन सबका खजाना चित्त—ये सब आप ही हैं। तीनों गुण और उनके कार्योंमें होनेवाले अभिमानके द्वारा आपने अपने साक्षात्कार-को छिपा रक्खा है ॥ ४२ ॥ आप देश, काल और वस्तुओंकी सीमासे बाहर—अनन्त हैं। सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और कार्य-कारणोंके समस्त विकारोंमें भी एकरस, विकाररहित और सर्वज्ञ हैं। ईश्वर हैं कि नहीं हैं, सर्वज्ञ हैं कि अल्पज्ञ इत्यादि अनेक मतभेदोंके अनुसार आप उन-उन मतवादियोंको उन्हीं-उन्हीं रूपोंमें दर्शन देते है। समस्त शब्दोंके अर्थके रूपमें तो आप हैं ही, शब्दोंके रूपमें भी हैं तथा उन दोनोंका सम्बन्ध जोड़ने-वाली शक्ति भी आप ही हैं। हम आपको नमस्कार करती हैं ॥ ४३ ॥ प्रत्यक्ष-अनुमान आदि जितने भी प्रमाण हैं, उनको प्रमाणित करनेवाले मूल आप ही हैं। समस्त शास्त्र आपसे ही निकले हैं और आपका ज्ञान स्वतःसिद्ध है। आप ही मनको लगानेकी विधिके रूपमें और उसको सब कहींसे हटा लेनेकी आज्ञाके रूपमें प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग हैं। इन दोनोंके मूल वेद भी स्वयं आप ही हैं। हम आपको बार-बार नमस्कार करती हैं ॥ ४४ ॥ आप शुद्धसत्त्वमय वसुदेवके पुत्र वासुदेव, सङ्कर्षण एवं प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी हैं। इस प्रकार चतुर्व्यूहके रूपमें आप भक्तों तथा यादवोंके स्वामी हैं। श्रीकृष्ण! हम आपको नमस्कार करती हैं ॥४५॥

नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।

गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥४६॥

अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।

हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने ॥४७॥

परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ।

अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे ॥४८॥

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो

गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक् ।

तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः

समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥४९॥

तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां

शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।

शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां

स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥५०॥

अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।

क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः ॥५१॥

अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।

आप अन्तःकरण और उसकी वृत्तियोंके प्रकाशक हैं, और उन्हींके द्वारा अपने-आपको ढक रखते हैं । उन अन्तःकरण और वृत्तियोंके द्वारा ही आपके स्वरूपका कुछ-कुछ संकेत भी मिलता है । आप उन गुणों और उनकी वृत्तियोंके साक्षी तथा स्वयंप्रकाश हैं । हम आपको नमस्कार करती हैं ॥ ४६ ॥ आप मूलप्रकृतिमें नित्य विहार करते रहते हैं । समस्त स्थूल और सूक्ष्म जगत्की सिद्धि आपसे ही होती है । हृषीकेश ! आप मननशील आत्माराम हैं । मौन ही आपका स्वभाव है । आपको हमारा नमस्कार है ॥ ४७ ॥ आप स्थूल, सूक्ष्म समस्त गतियोंके जाननेवाले तथा सबके साक्षी हैं । आप नामरूपात्मक विश्वप्रपञ्चके निषेधकी अवधि तथा उसके अधिष्ठान होनेके कारण विश्वरूप भी हैं । आप विश्वके अध्यास तथा अपवादके साक्षी हैं एवं अज्ञानके द्वारा उसकी सत्यत्वभ्रान्ति एवं स्वरूपज्ञानके द्वारा उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिके भी कारण हैं । आपको हमारा नमस्कार है ॥ ४८ ॥

प्रभो ! यद्यपि कर्तापन न होनेके कारण आप कोई भी कर्म नहीं करते, निष्क्रिय हैं—तथापि अनादि कालशक्तिको स्वीकार करके प्रकृतिके गुणोंके द्वारा आप इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी लीला करते हैं । क्योंकि आपकी लीलाएँ अमोघ हैं । आप सत्य-सङ्कल्प हैं । इसलिये जीवोंके संस्काररूपसे छिपे हुए स्वभावोंको अपनी दृष्टिसे जाग्रत् कर देते हैं ॥ ४९ ॥ त्रिलोकीमें तीन प्रकारकी योनियाँ हैं—सत्त्वगुण प्रधान शान्त, रजोगुणप्रधान अशान्त और तमोगुणप्रधान मूढ । वे सब-की-सब आपकी लीलामूर्तियाँ हैं । फिर भी इस समय आपको सत्त्वगुणप्रधान शान्तजन ही विशेष प्रिय हैं । क्योंकि आपका यह अवतार और ये लीलाएँ साधुजनों-की रक्षा तथा धर्मकी रक्षा एवं विस्तारके लिये ही हैं ॥ ५० ॥ शान्तात्मन् ! स्वामीको एक बार अपनी प्रजाका अपराध सह लेना चाहिये । यह मूढ है, आपको पहचानता नहीं है, इसलिये इसे क्षमा कर दीजिये ॥ ५१ ॥ भगवन् ! कृपा कीजिये; अब यह सर्प मरनेहीवाला है । साधु पुरुष सदासे ही हम अबलाओंपर दया करते आये

१. का० ।

स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥
विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतोभयात् ॥५३॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः ।
मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥५४॥
प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम् ।
कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥५५॥

कालिय उवाच

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः ॥५६॥
त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।
नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥५७॥
वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः ।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम् ५८
भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः ॥५९॥

श्रीशुक उवाच

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः ।
नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।

हैं। अतः आप हमें हमारे प्राणस्वरूप पतिदेवको दे दीजिये ॥ ५२ ॥ हम आपकी दासी हैं। हमें आप आज्ञा दीजिये, आपकी क्या सेवा करें ? क्योंकि जो श्रद्धाके साथ आपकी आज्ञाओंका पालन— आपकी सेवा करता है, वह सब प्रकारके भयोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान्‌के चरणोंकी ठोकरोंसे कालिय नागके फण छिन्न-भिन्न हो गये थे । वह बेसुध हो रहा था । जब नागपत्नियोंने इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति की, तब उन्होंने दया करके उसे छोड़ दिया ॥ ५४ ॥ धीरे-धीरे कालिय नागकी इन्द्रियों और प्राणोंमें कुछ-कुछ चेतना आ गयी । वह बड़ी कठिनतासे श्वास लेने लगा और थोड़ी देरके बाद बड़ी दीनतासे हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोला ॥ ५५ ॥

कालिय नागने कहा—नाथ ! हम जन्मसे ही दुष्ट, तमोगुणी और बहुत दिनोंके बाद भी बदला लेनेवाले—बड़े क्रोधी जीव हैं । जीवोंके लिये अपना स्वभाव छोड़ देना बहुत कठिन है । इसीके कारण संसारके लोग नाना प्रकारके दुराग्रहोंमें फँस जाते हैं ॥ ५६ ॥ विश्वविधाता! आपने ही गुणोंके भेदसे इस जगत्‌में नाना प्रकारके स्वभाव, वीर्य, बल, योनि, बीज, चित्त और आकृतियोंका निर्माण किया है ॥ ५७ ॥ भगवन्! आपकी ही सृष्टिमें हम सर्प भी हैं । हम जन्मसे ही बड़े क्रोधी होते हैं । हम इस मायाके चक्करमें स्वयं मोहित हो रहे हैं । फिर अपने प्रयत्नसे इस दुस्त्यज मायाका त्याग कैसे करें ॥५८॥ आप सर्वज्ञ और सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी हैं । आप ही हमारे स्वभाव और इस मायाके भी कारण हैं । अब आप अपनी इच्छासे—जैसा ठीक समझें—कृपा कीजिये या दण्ड दीजिये ॥ ५९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कालिय नागकी बात सुनकर लीलामनुष्य भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'सर्प ! अब तुझे यहाँ नहीं रहना चाहिये । तू अपने जाति-भाई, पुत्र और स्त्रियोंके साथ शीघ्र ही यहाँसे समुद्रमें

१. बादरायणिरुवाच । २. प्राचीन प्रतिमें 'कालिय उवाच' यह अंश नहीं है ।

स्त्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥६०॥

य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम् ।
कीर्तयन्नुभयोःसन्ध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात्॥६१॥

योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः ।
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६२॥

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः ।
यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम्॥६३॥

श्रीशुक[2] उवाच

एवमुक्तो[3] भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥६४॥

दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः ।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥६५॥

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ।
ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम्॥६६॥

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह ।
तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् ।
अनुग्रहाद् भगवतः क्रीडा मानुषरूपिणः ॥६७॥

चला जा । अब गौएँ और मनुष्य यमुना-जलका उपभोग करें ॥ ६० ॥ जो मनुष्य दोनों समय तुझको दी हुई मेरी इस आज्ञाका स्मरण तथा कीर्तन करे, उसे साँपोंसे कभी भय न हो ॥ ६१ ॥ मैंने इस कालियदहमें क्रीडा की है । इसलिये जो पुरुष इसमें स्नान करके जलसे देवता और पितरोंका तर्पण करेगा, एवं उपवास करके मेरा स्मरण करता हुआ मेरी पूजा करेगा—वह सब पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ ६२ ॥ मैं जानता हूँ कि तू गरुडके भयसे रमणक द्वीप छोड़कर इस दहमें आ बसा था । अब तेरा शरीर मेरे चरणचिह्नोंसे अङ्कित हो गया है । इसलिये जा, अब गरुड तुझे खायेंगे नहीं ॥६३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान् श्रीकृष्णकी एक-एक लीला अद्भुत है । उनकी ऐसी आज्ञा पाकर कालिय नाग और उसकी पत्नियोंने आनन्दसे भरकर बड़े आदरसे उनकी पूजा की ॥ ६४ ॥ उन्होंने दिव्य वस्त्र, पुष्पमाला, मणि, बहुमूल्य आभूषण, दिव्य गन्ध, चन्दन और अति उत्तम कमलोंकी मालासे जगत्के स्वामी गरुडध्वज भगवान् श्रीकृष्णका पूजन करके उन्हें प्रसन्न किया । इसके बाद बड़े प्रेम और आनन्दसे उनकी परिक्रमा की, वन्दना की और उनसे अनुमति ली । तब अपनी पत्नियों, पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंके साथ रमणक द्वीपकी, जो समुद्रमें सर्पोंके रहनेका एक स्थान है, यात्रा की । लीला-मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे यमुनाजीका जल केवल विषहीन ही नहीं, बल्कि उसी समय अमृतके समान मधुर हो गया ॥६५-६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे कालियमोक्षणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

कालियके कालियदहमें आनेकी कथा तथा भगवान्का व्रजवासियोंको दावानलसे बचाना

राजोवाच

नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः ।
कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन् ! कालिय नागने नागोंके निवासस्थान रमणक द्वीपको क्यों छोड़ा था ? और उस अकेलेने ही गरुडजीका कौन-सा अपराध किया था ? ॥ १ ॥

१· योऽस्यां स्नात्वा महानद्यां देवा० । २. ऋषिरुवाच । ३. मुक्तो भगवता राजन् कृष्णे० ।

श्रीशुक उवाच[1]

उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः ।
वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ्निरूपितः ॥ २ ॥
स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि ।
गोपीथायात्मनः सर्वे सुपर्णाय महात्मने ॥ ३ ॥
विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः ।
कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बलिम् ॥ ४ ॥
तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् भगवान् भगवत्प्रियः ।
विजिघांसुर्महावेगः कालियं समुपाद्रवत् ॥ ५ ॥
तमापतन्तं तरसा विषायुधः
प्रत्यभ्यादुच्छ्रितनैकमस्तकः ।
दद्भिः सुपर्णं व्यदशद् ददायुधः
करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः ॥ ६ ॥
तं तार्क्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युमान्
प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः ।
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा
जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः ॥ ७ ॥
सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः ।
ह्रदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! पूर्वकालमें गरुडजीको उपहार स्वरूप प्राप्त होनेवाले सर्पोंने यह नियम कर लिया था कि प्रत्येक मासमें निर्दिष्ट वृक्षके नीचे गरुडको एक सर्पकी भेंट दी जाय ॥ २ ॥ इस नियमके अनुसार प्रत्येक अमावस्याको सारे सर्प अपनी रक्षाके लिये महात्मा गरुडजीको अपना-अपना भाग देते रहते थे* ॥ ३ ॥ उन सर्पोंमें कद्रूका पुत्र कालिय नाग अपने विष और बलके घमंडसे मतवाला हो रहा था । उसने गरुडका तिरस्कार करके स्वयं तो बलि देना दूर रहा—दूसरे साँप जो गरुडको बलि देते, उसे भी खा लेता ॥ ४ ॥ परीक्षित् ! यह सुनकर भगवान्‌के प्यारे पार्षद शक्तिशाली गरुडको बड़ा क्रोध आया । इसलिये उन्होंने कालिय नागको मार डालनेके विचारसे बड़े वेगसे उसपर आक्रमण किया ॥ ५ ॥ विषधर कालिय नागने जब देखा कि गरुड बड़े वेगसे मुझपर आक्रमण करने आ रहे हैं तब वह अपने एक सौ एक फण फैलाकर डसनेके लिये उनपर टूट पड़ा । उसके पास शस्त्र थे केवल दाँत, इसलिये उसने दाँतोंसे गरुडको डस लिया । उस समय वह अपनी भयावनी जीभें लपलपा रहा था, उसकी साँस लंबी चल रही थी और आँखें बड़ी डरावनी जान पड़ती थीं ॥ ६ ॥ तार्क्ष्यनन्दन गरुडजी विष्णुभगवान्‌के वाहन हैं और उनका वेग तथा पराक्रम भी अतुलनीय है । कालिय नागकी यह ढिठाई देखकर उनका क्रोध और भी बढ़ गया तथा उन्होंने उसे अपने शरीरसे झटककर फेंक दिया एवं अपने सुनहले बायें पंखसे कालिय नागपर बड़े जोरसे प्रहार किया ॥ ७ ॥ उनके पंखकी चोटसे कालिय नाग घायल हो गया । वह घबड़ाकर वहाँसे भगा और यमुनाजीके इस कुण्डमें चला आया । यमुनाजीका यह कुण्ड गरुडके लिये अगम्य था । साथ ही वह इतना गहरा था कि उसमें दूसरे लोग भी नहीं जा सकते थे ॥ ८ ॥ इसी

१. बादरायणिरुवाच ।

* यह कथा इस प्रकार है—गरुडजीकी माता विनता और सर्पोंकी माता कद्रूमें परस्पर वैर था । माताका वैर स्मरण कर गरुडजी जो सर्प मिलता उसीको खा जाते । इससे व्याकुल होकर सब सर्प ब्रह्माजीकी शरणमें गये । तब ब्रह्माजीने यह नियम कर दिया कि प्रत्येक अमावास्याको प्रत्येक सर्पपरिवार बारी-बारीसे गरुडजीको एक सर्पकी बलि दिया करे ।

तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम् ।
निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत् ॥ ९ ॥
मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हते ।
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन् ॥ १० ॥
अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति ।
सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ ११ ॥
तं कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः ।
अवात्सीद् गरुडाद् भीतः कृष्णेन च विवासितः ॥ १२ ॥
कृष्णं ह्रदाद् विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम् ।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ १३ ॥
उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः ।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ॥ १४ ॥
यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव ।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँल्लब्धमनोरथाः ॥ १५ ॥
रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित् ।
नगा गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम् ॥ १६ ॥
नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः ।
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः ॥ १७ ॥
देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे ।

स्थानपर एक दिन क्षुधातुर गरुडने तपस्वी सौभरिके मना करनेपर भी अपने अभीष्ट भक्ष्य मत्स्यको बलपूर्वक पकड़कर खा लिया ॥ ९ ॥ अपने मुखिया मत्स्यराजके मारे जानेके कारण मछलियोंको बड़ा कष्ट हुआ। वे अत्यन्त दीन और व्याकुल हो गयीं। उनकी यह दशा देखकर महर्षि सौभरिको बड़ी दया आयी। उन्होंने उस कुण्डमें रहनेवाले सब जीवोंकी भलाईके लिये गरुडको यह शाप दे दिया ॥ १० ॥ 'यदि गरुड फिर कभी इस कुण्डमें घुसकर मछलियोंको खायेंगे, तो उसी क्षण प्राणोंसे हाथ धो बैठेंगे। मैं यह सत्य-सत्य कहता हूँ' ॥ ११ ॥ परीक्षित्! महर्षि सौभरिके इस शापकी बात कालिय नागके सिवा और कोई साँप नहीं जानता था। इसलिये वह गरुडके भयसे वहाँ रहने लगा था और अब भगवान् श्रीकृष्णने उसे निर्भय करके वहाँसे रमणक द्वीपमें भेज दिया ॥ १२ ॥

परीक्षित्! इधर भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य माला, गन्ध, वस्त्र, महामूल्य मणि और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित हो उस कुण्डसे बाहर निकले ॥ १३ ॥ उनको देखकर सब-के-सब व्रजवासी इस प्रकार उठ खड़े हुए, जैसे प्राणोंको पाकर इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं। सभी गोपोंका हृदय आनन्दसे भर गया। वे बड़े प्रेम और प्रसन्नतासे अपने कन्हैयाको हृदयसे लगाने लगे ॥ १४ ॥ परीक्षित्! यशोदारानी, रोहिणीजी, नन्दबाबा, गोपी और गोप—सभी श्रीकृष्णको पाकर सचेत हो गये। उनका मनोरथ सफल हो गया ॥ १५ ॥ बलरामजी तो भगवान्‌का प्रभाव जानते ही थे। वे श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर हँसने लगे। पर्वत, वृक्ष, गाय, बैल, बछड़े—सब-के-सब आनन्दमग्न हो गये ॥ १६ ॥ गोपोंके कुलगुरु ब्राह्मणोंने अपनी पत्नियोंके साथ नन्दबाबाके पास आकर कहा—'नन्दजी! तुम्हारे बालकको कालिय नागने पकड़ लिया था। सो छूटकर आ गया। यह बड़े सौभाग्यकी बात है! ॥ १७ ॥ श्रीकृष्णके मृत्युके मुखसे लौट आनेके उपलक्ष्यमें तुम ब्राह्मणोंको दान करो।' परीक्षित्!

१. हृते। २. गावो वृषा सवत्साश्च।

नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत् ॥१८॥

यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती ।

परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ॥१९॥

तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः ।

ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः ॥२०॥

तदा शुचिवनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम् ।

सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे ॥२१॥

तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः ।

कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम् ॥२२॥

कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम ।

एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः ॥२३॥

सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो ।

न शक्नुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुमकुतोभयम् ॥२४॥

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः ।

तमग्निमपिबत्तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥२५॥

ब्राह्मणोंकी बात सुनकर नन्दबाबाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने बहुत-सा सोना और गौएँ ब्राह्मणोंको दान दीं ॥ १८ ॥ परमसौभाग्यवती देवी यशोदाने भी कालके गालसे बचे हुए अपने लालको गोदमें लेकर हृदयसे चिपका लिया। उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसुओंकी बूँदें बार-बार टपकी पड़ती थीं ॥ १९ ॥

राजेन्द्र ! व्रजवासी और गौएँ सब बहुत ही थक गये थे। ऊपरसे भूख-प्यास भी लग रही थी। इसलिये उस रात वे व्रजमें नहीं गये, वहीं यमुनाजीके तटपर सो रहे ॥ २० ॥ गर्मीके दिन थे, उधरका वन सूख गया था। आधीरातके समय उसमें आग लग गयी। उस आगने सोये हुए व्रजवासियोंको चारों ओरसे घेर लिया और वह उन्हें जलाने लगी ॥ २१ ॥ आगकी आँच लगनेपर व्रजवासी घबड़ाकर उठ खड़े हुए और लीला-मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गये ॥ २२ ॥ उन्होंने कहा—"प्यारे श्रीकृष्ण ! श्यामसुन्दर ! महाभाग्यवान् बलराम ! तुम दोनोंका बल-विक्रम अनन्त है। देखो, देखो, यह भयङ्कर आग तुम्हारे सगे-सम्बन्धी हम स्वजनोंको जलाना ही चाहती है ॥२३॥ तुममें सब सामर्थ्य है। हम तुम्हारे सुहृद् हैं इसलिये इस प्रलयकी अपार आगसे हमें बचाओ। प्रभो ! हम मृत्युसे नहीं डरते; परन्तु तुम्हारे अकुतोभय चरणकमल छोड़नेमें हम असमर्थ हैं ॥ २४ ॥ भगवान् अनन्त हैं; वे अनन्त शक्तियोंको धारण करते हैं, उन जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि मेरे स्वजन इस प्रकार व्याकुल हो रहे हैं, तब वे उस भयङ्कर आगको पी गये।* ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे दावाग्निमोचनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

१. द्भूतदावा० । २. तरो । ३. बालक्रीडायां दावाग्निमोक्षणं ।

अग्नि-पान

* १—मैं सबका दाह दूर करनेके लिये ही अवतीर्ण हुआ हूँ। इसलिये यह दाह दूर करना भी मेरा कर्तव्य है।

२—रामावतारमें श्रीजानकीजीको सुरक्षित रखकर अग्निने मेरा उपकार किया था। अब उसको अपने मुखमें स्थापित करके उसका सत्कार करना कर्तव्य है।

अथाष्टादशोऽध्यायः

प्रलम्बासुर-उद्धार

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः ।
अनुगीयमानो न्यविशद् व्रजं गोकुलमण्डितम्॥ १ ॥

व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया ।
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम् ॥ २ ॥

स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः ।
यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः ॥ ३ ॥

यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम् ।
शश्वत्तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम् ॥ ४ ॥

सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना
कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो
निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले ॥ ५ ॥

अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभि-
र्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः ।
न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा
भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णते ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब आनन्दित स्वजन-सम्बन्धियोंसे घिरे हुए एवं उनके मुखसे अपनी कीर्तिका गान सुनते हुए श्रीकृष्णने गोकुलमण्डित गोष्ठमें प्रवेश किया ॥ १ ॥ इस प्रकार अपनी योगमायासे ग्वालका-सा वेष बनाकर राम और श्याम व्रजमें क्रीडा कर रहे थे। उन दिनों ग्रीष्म ऋतु थी। यह शरीर-धारियोंको बहुत प्रिय नहीं है ॥ २ ॥ परन्तु वृन्दावनके स्वाभाविक गुणोंसे वहाँ वसन्तकी ही छटा छिटक रही थी। इसका कारण था, वृन्दावनमें परम मधुर भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और बलरामजी निवास जो करते थे ॥ ३ ॥ झींगुरोंकी तीखी झंकार झरनोंके मधुर झर-झरमें छिप गयी थी। उन झरनोंसे सदा-सर्वदा बहुत ठंडी जलकी फुहियाँ उड़ा करती थीं, जिनसे वहाँके वृक्षोंकी हरियाली देखते ही बनती थी ॥ ४ ॥ जिधर देखिये, हरी-हरी दूबसे पृथ्वी हरी-हरी हो रही है। नदी, सरोवर एवं झरनोंकी लहरोंका स्पर्श करके जो वायु चलती थी उसमें लाल-पीले-नीले, तुरतके खिले हुए, देरके खिले हुए—कह्लार, उत्पल आदि अनेकों प्रकारके कमलोंका पराग मिला हुआ होता था। इस शीतल, मन्द और सुगन्ध वायुके कारण वनवासियों-को गर्मीका किसी प्रकारका क्लेश नहीं सहना पड़ता था। न दावाग्निका ताप लगता था और न तो सूर्यका घाम ही ॥ ५ ॥ नदियोंमें अगाध जल भरा हुआ था। बड़ी-बड़ी लहरें उनके तटोंको चूम जाया करती थीं। वे उनके पुलिनोंसे टकरातीं और उन्हें स्वच्छ बना जातीं। उनके कारण आस-पासकी भूमि गीली बनी रहती और सूर्यकी अत्यन्त उग्र तथा तीखी किरणें भी वहाँकी पृथ्वी और हरी-भरी घासको नहीं सुखा सकती थीं; चारों ओर हरियाली छा रही थी ॥ ६ ॥

३. कार्यका कारणमें लय होता है। भगवान्‌के मुखसे अग्नि प्रकट हुआ—मुखाद् अग्निरजायत। इसलिये भगवान्‌ने उसे मुखमें ही स्थापित किया।

४. मुखके द्वारा अग्नि शान्त करके यह भाव प्रकट किया कि भव-दावाग्निको शान्त करनेमें भगवान्‌के मुख-स्थानीय ब्राह्मण ही समर्थ हैं।

वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम् ।
गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ॥ ७ ॥
क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः ।
वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत् ॥ ८ ॥
प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूषणाः ।
रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥ ९ ॥
कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन् ।
वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ॥१०॥
गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः ।
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप ॥११॥
भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः ।
चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित् ॥१२॥
क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् ।
शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति वादिनौ ॥१३॥

उस वनमें वृक्षोंकी पाँत-की-पाँत फूलोंसे लद रही थी। जहाँ देखिये, वहींसे सुन्दरता फूटी पड़ती थी। कहीं रंग-बिरंगे पक्षी चहक रहे हैं, तो कहीं तरह-तरहके हरिन चौकड़ी भर रहे हैं। कहीं मोर कूक रहे हैं, तो कहीं भौंरे गुंजार कर रहे हैं। कहीं कोयलें कुहक रही हैं, तो कहीं सारस अलग ही अपना अलाप छेड़े हुए हैं ॥ ७ ॥ ऐसा सुन्दर वन देखकर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बलरामजीने उसमें विहार करनेकी इच्छा की। आगे-आगे गौएँ चलीं, पीछे-पीछे ग्वालबाल और बीचमें अपने बड़े भाईके साथ बाँसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण ! ॥ ८ ॥

राम, श्याम और ग्वालबालोंने नव पल्लवों, मोरपंखके गुच्छों, सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंके हारों और गेरू आदि रंगीन धातुओंसे अपनेको भाँति-भाँतिसे सजा लिया। फिर कोई आनन्दमें मग्न होकर नाचने लगा, तो कोई ताल ठोंककर कुश्ती लड़ने लगा और किसी-किसीने राग अलापना शुरू कर दिया ॥९॥ जिस समय श्रीकृष्ण नाचने लगते, उस समय कुछ ग्वालबाल गाने लगते और कुछ बाँसुरी तथा सींग बजाने लगते। कुछ हथेलीसे ही ताल देते, तो कुछ 'वाह-वाह' करने लगते ॥१०॥ परीक्षित् ! उस समय नट जैसे अपने नायककी प्रशंसा करते हैं, वैसे ही देवतालोग ग्वालबालोंका रूप धारण करके वहाँ आते और गोपजातिमें जन्म लेकर छिपे हुए बलराम और श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगते ॥ ११ ॥ घुँघराली अलकोंवाले श्याम और बलराम कभी एक-दूसरेका हाथ पकड़कर कुम्हारके चाककी तरह चक्कर काटते—घुमरी-परेता खेलते, कभी एक-दूसरेसे अधिक फाँद जानेकी इच्छासे कूदते—कूँड़ी डाकते, कभी कहीं होड़ लगाकर ढेले फेंकते, तो कभी ताल ठोंक-ठोंककर रस्साकसी करते—एक दल दूसरे दलके विपरीत रस्सी पकड़कर खींचता और कभी कहीं एक-दूसरेसे कुश्ती लड़ते-लड़ाते। इस प्रकार तरह-तरहके खेल खेलते ॥ १२ ॥ कहीं-कहीं जब दूसरे ग्वालबाल नाचने लगते तो श्रीकृष्ण और बलरामजी गाते या बाँसुरी, सींग आदि बजाते। और महाराज ! कभी-कभी वे 'वाह-वाह' कहकर उनकी प्रशंसा भी करने लगते ॥ १३ ॥

क्वचिद् विल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः ।
अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया ॥१४॥

कभी एक-दूसरेपर बेल, जायफल या आँवलेके फल हाथमें लेकर फेंकते । कभी एक-दूसरेकी आँख बंद करके छिप जाते और वह पीछेसे ढूँढ़ता—इस प्रकार आँखमिचौनी खेलते । कभी एक दूसरेको छूनेके लिये बहुत दूर-दूरतक दौड़ते रहते और कभी पशु-पक्षियोंकी चेष्टाओंका अनुकरण करते ॥ १४ ॥

क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः ।
कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया ॥१५॥

कहीं मेढकोंकी तरह फुदक-फुदककर चलते, तो कभी मुँह बना-बनाकर एक दूसरेकी हँसी उड़ाते । कहीं रस्सियोंसे वृक्षोंपर झूला डालकर झूलते, तो कभी दो बालकोंको खड़ा कराकर उनकी बाँहोंके बलपर ही लटकने लगते । कभी किसी राजाकी नकल करने लगते ॥ १५ ॥

एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने ।
नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरस्सु च ॥१६॥

इस प्रकार राम और श्याम वृन्दावनकी नदी, पर्वत, घाटी, कुञ्ज, वन और सरोवरोंमें वे सभी खेल खेलते, जो साधारण बच्चे संसारमें खेला करते हैं ॥ १६ ॥

पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः ।
गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिहीर्षया ॥१७॥

एक दिन जब बलराम और श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ उस वनमें गौएँ चरा रहे थे, तब ग्वालके वेषमें प्रलम्ब नामका एक असुर आया । उसकी इच्छा थी कि मैं श्रीकृष्ण और बलरामको हर ले जाऊँ ॥ १७ ॥

तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः ।
अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन् ॥१८॥

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं । वे उसे देखते ही पहचान गये । फिर भी उन्होंने उसका मित्रताका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया । वे मन-ही-मन यह सोच रहे थे कि किस युक्तिसे इसका वध करना चाहिये ॥ १८ ॥

तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित् ।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ॥१९॥

ग्वालबालोंमें सबसे बड़े खिलाड़ी, खेलोंके आचार्य श्रीकृष्ण ही थे । उन्होंने सब ग्वालबालोंको बुलाकर कहा—'मेरे प्यारे मित्रो ! आज हमलोग अपनेको उचित रीतिसे दो दलोंमें बाँट लें । और फिर आनन्दसे खेलें ॥ १९ ॥

तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ ।
कृष्णसंघट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे ॥२०॥

उस खेलमें ग्वालबालोंने बलराम और श्रीकृष्णको नायक बनाया । कुछ श्रीकृष्णके साथी बन गये और कुछ बलरामके ॥ २० ॥

आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः ।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ॥२१॥

फिर उन लोगोंने तरह-तरहसे ऐसे बहुत-से खेल खेले, जिनमें एक दलके लोग दूसरे दलके लोगोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर एक निर्दिष्ट स्थानपर ले जाते थे । जीतनेवाला दल चढ़ता था और हारनेवाला दल ढोता था ॥ २१ ॥

वहन्तो वाह्यमानाश्च[1] चारयन्तश्च गोधनम् ।
भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः ॥२२॥

इस प्रकार एक दूसरेकी पीठपर चढ़ते-चढ़ाते श्रीकृष्ण आदि ग्वालबाल गौएँ चराते हुए भाण्डीर नामक वटके पास पहुँच गये ॥ २२ ॥

---

१. गर्जमानाश्च ।

रामसङ्घट्टिनो यर्हि श्रीदामवृषभादयः ।
क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप ॥२३॥
उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥२४॥
अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः ।
वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम् ॥२५॥
तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं
महासुरो विगतरयो निजं वपुः ।
स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ
तडिद्द्युमानुडुपतिवाडिवाम्बुदः ॥२६॥
निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्
प्रदीप्तदृग् भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डल-
त्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत् ॥२७॥
अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो
विहायसार्थमिव हरन्तमात्मनः ।
रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना
सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा ॥२८॥
स[2] आहतः सपदि विशीर्णमस्तको
मुखाद् वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः ।

परीक्षित् ! एक बार बलरामजीके दलवाले श्रीदामा, वृषभ आदि ग्वालबालोंने खेलमें बाजी मार ली। तब श्रीकृष्ण आदि उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाकर ढोने लगे ॥ २३ ॥ हारे हुए श्रीकृष्णने श्रीदामाको अपनी पीठपर चढ़ाया, भद्रसेनने वृषभको और प्रलम्बने बलरामजीको ॥ २४ ॥ दानवपुङ्गव प्रलम्बने देखा कि श्रीकृष्ण तो बड़े बलवान् हैं, उन्हें मैं नहीं हरा सकूँगा। अतः वह उन्हींके पक्षमें हो गया और बलरामजीको लेकर फुर्तीसे भाग चला, और पीठपरसे उतारनेके लिये जो स्थान नियत था उससे आगे निकल गया ॥ २५ ॥ बलरामजी बड़े भारी पर्वतके समान बोझवाले थे। उनको लेकर प्रलम्बासुर दूरतक न जा सका, उसकी चाल रुक गयी। तब उसने अपना स्वाभाविक दैत्यरूप धारण कर लिया। उसके काले शरीरपर सोनेके गहने चमक रहे थे और गौरसुन्दर बलरामजीको धारण करनेके कारण उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो, बिजलीसे युक्त काला बादल चन्द्रमाको धारण किये हुए हो ॥ २६ ॥ उसकी आँखें आगकी तरह धधक रही थीं और दाढ़ें भौंहोंतक पहुँची हुई बड़ी भयावनी थीं। उसके लाल-लाल बाल इस तरह बिखर रहे थे, मानो आगकी लपटें उठ रही हों। उसके हाथ और पाँवोंमें कड़े, सिरपर मुकुट और कानोंमें कुण्डल थे। उनकी कान्तिसे वह बड़ा अद्भुत लग रहा था! उस भयानक दैत्यको बड़े वेगसे आकाशमें जाते देख पहले तो बलरामजी कुछ घबड़ा-से गये ॥ २७ ॥ परन्तु दूसरे ही क्षण अपने स्वरूपकी याद आते ही उनका भय जाता रहा। बलरामजीने देखा कि जैसे चोर किसीका धन चुराकर ले जाय, वैसे ही यह शत्रु मुझे चुराकर आकाश-मार्गसे लिये जा रहा है। उस समय जैसे इन्द्रने पर्वतोंपर वज्र चलाया था, वैसे ही उन्होंने क्रोध करके उसके सिरपर एक घूँसा कसकर जमाया ॥ २८ ॥ घूँसा लगना था कि उसका सिर चूर-चूर हो गया। वह मुँहसे खून उगलने लगा, चेतना जाती रही और बड़ा

१. प्रायाद०। २. प्राचीन प्रतिमें 'स आहतः……'इत्यादि पूर्वार्धका पाठ यों है—स एव दैत्योऽथ विशीर्णशीर्षो मुखाद्वमन् रुधिरमवच्युतासुरः।

महारवं व्यसुरपतत् समीरयन्
गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः ॥२९॥

भयङ्कर शब्द करता हुआ इन्द्रके द्वारा वज्रसे मारे हुए पर्वतके समान वह उसी समय प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना ।
गोपाः सुविस्मिता आसन् साधु साध्विति वादिनः ॥३०॥
आशिषोऽभिगृणन्तस्तं प्रशशंसुस्तदर्हणम् ।
प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः ॥३१॥
पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः ।
अभ्यवर्षन् बलं माल्यैः शशंसुः साधु साध्विति ॥३२॥

बलरामजी परम बलशाली थे । जब ग्वालबालोंने देखा कि उन्होंने प्रलम्बासुरको मार डाला, तब उनके आश्चर्यकी सीमा न रही । वे बार-बार 'वाह-वाह' करने लगे ॥ ३० ॥ ग्वालबालोंका चित्त प्रेमसे विह्वल हो गया । वे उनके लिये शुभ कामनाओंकी वर्षा करने लगे और मानो मरकर लौट आये हों, इस भावसे आलिङ्गन करके प्रशंसा करने लगे । वस्तुतः बलरामजी इसके योग्य ही थे ॥ ३१ ॥ प्रलम्बासुर मूर्तिमान् पाप था । उसकी मृत्युसे देवताओंको बड़ा सुख मिला । वे बलरामजीपर फूल बरसाने लगे और 'बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा किया' इस प्रकार कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रलम्बवधो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः

गौओं और गोपोंको दावानलसे बचाना

श्रीशुक उवाच

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः ।
स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥ १ ॥
अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम् ।
इषीकाटवीं निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः ॥२॥
तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा ।
जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! उस समय जब ग्वालबाल खेल-कूदमें लग गये, तब उनकी गौएँ बेरोक-टोक चरती हुई बहुत दूर निकल गयीं और हरी-हरी घासके लोभसे एक गहन वनमें घुस गयीं ॥ १ ॥ उनकी बकरियाँ, गायें और भैंसें एक वनसे दूसरे वनमें होती हुई आगे बढ़ गयीं तथा गर्मीके तापसे व्याकुल हो गयीं । वे बेसुध-सी होकर अन्तमें डकराती हुई मुञ्जाटवी (सरकंडोंके वन) में घुस गयीं ॥ २ ॥ जब श्रीकृष्ण, बलराम आदि ग्वालबालोंने देखा कि हमारे पशुओंका तो कहीं पता-ठिकाना ही नहीं है, तब उन्हें अपने खेल-कूदपर बड़ा पछतावा हुआ और वे बहुत कुछ खोज-बीन करनेपर भी अपनी गौओंका

१. मवसाधुं साधुरूपिणम । २. बालक्रीडायामष्टा० । ३. बादरायणिरुवाच । ४. तापिताः । ५. मतः ।

तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम्[1] ।
मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः ॥ ४ ॥
मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं स्वगोधनम् ।
सम्प्राप्य तृषिताः श्रान्तास्ततस्ते संन्यवर्तयन् ॥ ५ ॥
ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा ।
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः ॥ ६ ॥

ततः समन्ताद् वनधूमकेतु-
र्यदृच्छयाभूत् क्षयकृद् वनौकसाम् ।
समीरितः सारथिनोल्बणोल्मुकै-
र्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान् महान् ॥ ७ ॥
तमापतन्तं परितो दवाग्निं
गोपांश्च[2] गावः प्रसमीक्ष्य भीताः ।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना
यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥ ८ ॥

कृष्ण कृष्ण महावीर हे रामामितविक्रम[3] ।
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः ॥ ९ ॥
नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम् ।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥१०॥

पता न लगा सके ॥ ३ ॥ गौएँ ही तो व्रजवासियोंकी जीविकाका साधन थीं । उनके न मिलनेसे वे अचेत-से हो रहे थे । अब वे गौओंके खुर और दाँतोंसे कटी हुई घास तथा पृथ्वीपर बने हुए खुरोंके चिह्नोंसे उनका पता लगाते हुए आगे बढ़े ॥ ४ ॥ अन्तमें उन्होंने देखा कि उनकी गौएँ मुञ्जाटवीमें रास्ता भूलकर डकरा रही हैं । उन्हें पाकर वे लौटानेकी चेष्टा करने लगे । उस समय वे एकदम थक गये थे और उन्हें प्यास भी बड़े जोरसे लगी हुई थी । इससे वे व्याकुल हो रहे थे ॥ ५ ॥ उनकी यह दशा देखकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मेघके समान गम्भीर वाणीसे नाम ले-लेकर गौओंको पुकारने लगे । गौएँ अपने नामकी ध्वनि सुनकर बहुत हर्षित हुईं । वे भी उत्तरमें हुँकारने और रँभाने लगीं ॥ ६ ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार भगवान् उन गायोंको पुकार ही रहे थे कि उस वनमें सब ओर अकस्मात् दावाग्नि लग गयी, जो वनवासी जीवोंका काल ही होती है । साथ ही बड़े जोरकी आँधी भी चलकर उस अग्निके बढ़नेमें सहायता देने लगी । इससे सब ओर फैली हुई वह प्रचण्ड अग्नि अपनी भयङ्कर लपटोंसे समस्त चराचर जीवोंको भस्मसात् करने लगी ॥ ७ ॥ जब ग्वालों और गौओंने देखा कि दावानल चारों ओरसे हमारी ही ओर बढ़ता आ रहा है, तब वे अत्यन्त भयभीत हो गये । और मृत्युके भयसे डरे हुए जीव जिस प्रकार भगवान्‌की शरणमें आते हैं, वैसे ही वे श्रीकृष्ण और बलरामजीके शरणापन्न होकर उन्हें पुकारते हुए बोले—॥ ८ ॥ 'महावीर श्रीकृष्ण ! प्यारे श्रीकृष्ण ! परम बलशाली बलराम ! हम तुम्हारे शरणागत हैं । देखो, इस समय हम दावानलसे जलना ही चाहते हैं । तुम दोनों हमें इससे बचाओ ॥ ९ ॥ श्रीकृष्ण ! जिनके तुम्हीं भाई, बन्धु और सब कुछ हो, उन्हें तो किसी प्रकारका कष्ट नहीं होना चाहिये । सब धर्मोंके ज्ञाता श्यामसुन्दर ! तुम्हीं हमारे एकमात्र रक्षक एवं स्वामी हो; हमें केवल तुम्हारा ही भरोसा है' ॥ १० ॥

१. रविच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितं गवाम् । २. पाः सगावः । ३. मामोघवि० ।

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः ।
निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥११॥
तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम् ।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद्योगाधीशो व्यमोचयत्॥१२॥
ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः ।
निशाम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः॥१३॥
कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम् ।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम् ॥१४॥
गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः ।
वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः ॥१५॥
गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने ।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥१६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—अपने सखा ग्वालबालोंके ये दीनतासे भरे वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'डरो मत, तुम अपनी आँखें बंद कर लो' ॥ ११ ॥ भगवान्‌की आज्ञा सुनकर उन ग्वालबालोंने कहा 'बहुत अच्छा' और अपनी आँखें मूँद लीं । तब योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने उस भयङ्कर आगको अपने मुँहसे पी लिया * और इस प्रकार उन्हें उस घोर संकटसे छुड़ा दिया ॥ १२ ॥ इसके बाद जब ग्वालबालोंने अपनी-अपनी आँखें खोलकर देखा, तब अपनेको भाण्डीर वटके पास पाया । इस प्रकार अपने-आपको और गौओंको दावानलसे बचा देख वे ग्वालबाल बहुत ही विस्मित हुए ॥ १३ ॥ श्रीकृष्णकी इस योग-सिद्धि तथा योगमायाके प्रभावको एवं दावानलसे अपनी रक्षाको देखकर उन्होंने यही समझा कि श्रीकृष्ण कोई देवता हैं ॥ १४ ॥

परीक्षित् ! सायङ्काल होनेपर बलरामजीके साथ भगवान् श्रीकृष्णने गौएँ लौटायीं और वंशी बजाते हुए उनके पीछे-पीछे व्रजकी यात्रा की । उस समय ग्वालबाल उनकी स्तुति करते आ रहे थे ॥ १५ ॥ इधर व्रजमें गोपियोंको श्रीकृष्णके बिना एक-एक क्षण सौ-सौ युगके समान हो रहा था । जब भगवान् श्रीकृष्ण लौटे तब उनका दर्शन करके वे परमानन्दमें मग्न हो गयीं ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[1]
दावाग्निपानं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

१. बालक्रीडायां दावानलविमोक्षणमेको० ।

* १. भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंके द्वारा अर्पित प्रेम-भक्ति-सुधा-रसका पान करते हैं । अग्निके मनमें उसीका स्वाद लेनेकी लालसा हो आयी । इसलिये उसने स्वयं ही मुखमें प्रवेश किया ।

२. विषाग्नि, मुञ्जाग्नि और दावाग्नि—तीनोंका पान करके भगवान्‌ने अपनी त्रितापनाशकी शक्ति व्यक्त की ।

३. पहले रात्रिमें अग्निपान किया था, दूसरी बार दिनमें । भगवान् अपने भक्तजनोंका ताप हरनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं ।

४. पहली बार सबके सामने और दूसरी बार सबकी आँखें बंद कराके श्रीकृष्णने अग्निपान किया । इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही प्रकारसे वे भक्तजनोंका हित करते हैं ।

अथ विंशोऽध्यायः

वर्षा और शरदृतुका वर्णन

श्रीशुक उवाच

तयोस्तदद्भुतं कर्म दावाग्नेर्मोक्षमात्मनः ।
गोपाः स्त्रीभ्यः समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च ॥ १ ॥
गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः ।
मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ ॥ २ ॥
ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा ।
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥ ३ ॥
सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥ ४ ॥
अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु ।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥ ५ ॥
तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः ।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥ ६ ॥
तपःकृशा देवमीढा आसीद् वर्षीयसी मही ।
यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥ ७ ॥
निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! ग्वालबालोंने घर पहुँचकर अपनी मा, बहिन आदि स्त्रियोंसे श्रीकृष्ण और बलरामने जो कुछ अद्भुत कर्म किये थे—दावानलसे उनको बचाना, प्रलम्बको मारना इत्यादि— सबका वर्णन किया ॥ १ ॥ बड़े-बड़े बूढ़े गोप और गोपियाँ भी राम और श्यामकी अलौकिक लीलाएँ सुनकर विस्मित हो गयीं । वे सब ऐसा मानने लगे कि 'श्रीकृष्ण और बलरामके वेषमें कोई बहुत बड़े देवता ही व्रजमें पधारे हैं' ॥ २ ॥

इसके बाद वर्षाऋतुका शुभागमन हुआ । इस ऋतुमें सभी प्रकारके प्राणियोंकी बढ़ती हो जाती है । उस समय सूर्य और चन्द्रमापर बार-बार प्रकाशमय मण्डल बैठने लगे । बादल, वायु, चमक, कड़क आदिसे आकाश क्षुब्ध-सा दीखने लगा ॥ ३ ॥ आकाशमें नीले और घने बादल घिर आते, बिजली कौंधने लगती, बार-बार गड़गड़ाहट सुनायी पड़ती; सूर्य, चन्द्रमा और तारे ढके रहते । इससे आकाशकी ऐसी शोभा होती, जैसे ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी गुणोंसे ढक जानेपर जीवकी होती है ॥ ४ ॥ सूर्यने राजाकी तरह पृथ्वीरूप प्रजासे आठ महीनेतक जलका कर ग्रहण किया था, अब समय आनेपर वे अपने किरण-करोंसे फिर उसे बाँटने लगे ॥ ५ ॥ जैसे दयालु पुरुष जब देखते हैं कि प्रजा बहुत पीड़ित हो रही है, तब वे दयापरवश होकर अपने जीवन-प्राणतक निछावर कर देते हैं—वैसे ही बिजलीकी चमकसे शोभायमान घनघोर बादल तेज हवाकी प्रेरणासे प्राणियोंके कल्याणके लिये अपने जीवनस्वरूप जलको बरसाने लगे ॥ ६ ॥ जेठ-आषाढ़की गर्मीसे पृथ्वी सूख गयी थी । अब वर्षाके जलसे सिंचकर वह फिर हरी-भरी हो गयी—जैसे सकामभावसे तपस्या करते समय पहले तो शरीर दुर्बल हो जाता है, परन्तु जब उसका फल मिलता है, तब हृष्ट-पुष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥ वर्षाके सायङ्कालमें बादलोंसे घना अँधेरा छा जानेपर ग्रह और तारोंका प्रकाश तो नहीं दिखलायी पड़ता, परन्तु

१. म्या उदमयं ।

यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ॥ ८ ॥
श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।
तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये ॥ ९ ॥
आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥ १० ॥
हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः ।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥ ११ ॥
क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥ १२ ॥
जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥ १३ ॥
सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान् ।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा ॥ १४ ॥
गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ॥ १५ ॥
मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।

जुगनू चमकने लगते हैं—जैसे कलियुगमें पापकी प्रबलता हो जानेसे पाखण्ड मतोंका प्रचार हो जाता है और वैदिक सम्प्रदाय लुप्त हो जाते हैं ॥ ८ ॥ जो मेंढक पहले चुपचाप सो रहे थे, अब वे बादलोंकी गरज सुनकर टर्र-टर्र करने लगे—जैसे नित्य-नियमसे निवृत्त होनेपर गुरुके आदेशानुसार ब्रह्मचारी लोग वेदपाठ करने लगते हैं ॥ ९ ॥ छोटी-छोटी नदियाँ, जो जेठ-आषाढ़में बिल्कुल सूखनेको आ गयी थीं, वे अब उमड़-घुमड़कर अपने घेरेसे बाहर बहने लगीं—जैसे अजितेन्द्रिय पुरुषके शरीर और धन-सम्पत्तियोंका कुमार्गमें उपयोग होने लगता है ॥ १० ॥ पृथ्वीपर कहीं-कहीं हरी-हरी घासकी हरियाली थी, तो कहीं-कहीं बीरबहूटियोंकी लालिमा और कहीं-कहीं बरसाती छत्तों (सफेद कुकुरमुत्तों) के कारण वह सफेद मालूम देती थी । इस प्रकार उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो किसी राजाकी रंगबिरंगी सेना हो ॥ ११ ॥ सब खेत अनाजोंसे भरे-पूरे लहलहा रहे थे । उन्हें देखकर किसान तो मारे आनन्दके फूले न समाते थे, परन्तु सब कुछ प्रारब्धके अधीन है—यह बात न जाननेवाले धनियोंके चित्तमें बड़ी जलन हो रही थी कि अब हम इन्हें अपने पंजेमें कैसे रख सकेंगे ॥ १२ ॥ नये बरसाती जलके सेवनसे सभी जलचर और थलचर प्राणियोंकी सुन्दरता बढ़ गयी थी, जैसे भगवान्‌की सेवा करनेसे बाहर और भीतरके दोनों ही रूप सुघड़ हो जाते हैं ॥ १३ ॥ वर्षा-ऋतुमें हवाके झोंकोंसे समुद्र एक तो यों ही उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त हो रहा था, अब नदियोंके संयोगसे वह और भी क्षुब्ध हो उठा—ठीक वैसे ही, जैसे वासनायुक्त योगीका चित्त विषयोंका सम्पर्क होनेपर कामनाओंके उभारसे भर जाता है ॥ १४ ॥ मूसलधार वर्षाकी चोट खाते रहनेपर भी पर्वतोंको कोई व्यथा नहीं होती थी—जैसे दुःखोंकी भरमार होनेपर भी उन पुरुषोंको किसी प्रकारकी व्यथा नहीं होती, जिन्होंने अपना चित्त भगवान्‌को ही समर्पित कर रक्खा है ॥ १५ ॥ जो मार्ग कभी साफ नहीं किये जाते थे वे घाससे ढक गये और उनको पहचानना कठिन हो गया—जैसे जब द्विजाति वेदोंका अभ्यास नहीं करते

१. ऽम्बुपूरिताः । २. सस्यवृद्धानि ।

नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥१६॥

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः ।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥१७॥

धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् ।
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा ॥१८॥

न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः ।
अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥१९॥

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः ।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥२०॥

पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्तयः ।
प्राक् क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥२१॥

सरस्स्वशान्तरोधस्सु न्यूषुरङ्गापि सारसाः ।
गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः ॥२२॥

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे ।
पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥२३॥

व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथामृतं घनाः ।
यथाऽऽशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः ॥२४॥

तब कालक्रमसे वे उन्हें भूल जाते हैं ॥ १६ ॥ यद्यपि बादल बड़े लोकोपकारी हैं, फिर भी बिजलियाँ उनमें स्थिर नहीं रहतीं—ठीक वैसे ही, जैसे चपल अनुराग-वाली कामिनी स्त्रियाँ गुणी पुरुषोंके पास भी स्थिर भावसे नहीं रहतीं ॥ १७ ॥ आकाश मेघोंके गर्जन-तर्जनसे भर रहा था। उसमें निर्गुण (बिना डोरीके) इन्द्रधनुष-की वैसी ही शोभा हुई, जैसी सत्त्व-रज आदि गुणोंके क्षोभसे होनेवाले विश्वके बखेड़ेमें निर्गुण ब्रह्मकी ॥ १८ ॥ यद्यपि चन्द्रमाकी उज्ज्वल चाँदनीसे बादलोंका पता चलता था, फिर भी उन बादलोंने ही चन्द्रमाको ढककर शोभा-हीन भी बना दिया था—ठीक वैसे ही, जैसे पुरुषके आभाससे आभासित होनेवाला अहङ्कार ही उसे ढककर प्रकाशित नहीं होने देता ॥ १९ ॥ बादलोंके शुभागमन-से मोरोंका रोम-रोम खिल रहा था, वे अपनी कुहक और नृत्यके द्वारा आनन्दोत्सव मना रहे थे—ठीक वैसे ही जैसे गृहस्थीके जंजालमें फँसे हुए लोग, जो अधिकतर तीनों तापोंसे जलते और घबड़ाते रहते हैं, भगवान्‌के भक्तोंके शुभागमनसे आनन्दमग्न हो जाते हैं ॥ २० ॥ जो वृक्ष जेठ-आषाढ़में सूख गये थे, वे अब अपनी जड़ोंसे जल पीकर पत्ते, फूल तथा डालियोंसे खूब सज-धज गये—जैसे सकामभावसे तपस्या करनेवाले पहले तो दुर्बल हो जाते हैं, परन्तु कामना पूरी होनेपर मोटे-तगड़े हो जाते हैं, ॥ २१ ॥ परीक्षित्! तालाबोंके तट काँटे-कीचड़ और जलके बहावके कारण प्रायः अशान्त ही रहते थे, परन्तु सारस एक क्षणके लिये भी उन्हें नहीं छोड़ते थे—जैसे अशुद्ध हृदयवाले विषयी पुरुष काम-धंधोंकी झंझटसे कभी छुटकारा नहीं पाते, फिर भी घरोंमें ही पड़े रहते हैं ॥ २२ ॥ वर्षा ऋतुमें इन्द्रकी प्रेरणासे मूसल-धार वर्षा होती है, इससे नदियोंके बाँध और खेतोंकी मेड़ें टूट-फूट जाती हैं—जैसे कलियुगमें पाखण्डियोंके तरह-तरहके मिथ्या मतवादोंसे वैदिक मार्गकी मर्यादा ढीली पड़ जाती है ॥ २३ ॥ वायुकी प्रेरणासे घने बादल प्राणियोंके लिये अमृतमय जलकी वर्षा करने लगते हैं—जैसे ब्राह्मणोंकी प्रेरणासे धनीलोग समय-समयपर दानके द्वारा प्रजाकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते हैं ॥ २४ ॥

१. कालेन वा हताः । २. गुणेष्वपि ।

एवं वनं तद् वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत् ।
गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः ॥२५॥

धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा ।
ययुर्भगवताऽऽहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः ॥२६॥

वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः ।
जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः ॥२७॥

क्वचिद् वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति ।
निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः ॥२८॥

दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलान्तिके ।
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः ॥२९॥

शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान् ।
तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वोधोभरश्रमाः ॥३०॥

प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहाम् ।
भगवान् पूजयाञ्चक्रे आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ॥३१॥

एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयोर्व्रजे ।
शरत् समभवद् व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला ॥३२॥

शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः ।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया ॥३३॥

वर्षाऋतुमें वृन्दावन इसी प्रकार शोभायमान और पके हुए खजूर तथा जामुनोंसे भर रहा था। उसी वनमें विहार करनेके लिये श्याम और बलरामने ग्वालबाल और गौओंके साथ प्रवेश किया ॥ २५ ॥ गौएँ अपने थनोंके भारी भारके कारण बहुत ही धीरे-धीरे चल रही थीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण उनका नाम लेकर पुकारते, तब वे प्रेमपरवश होकर जल्दी-जल्दी दौड़ने लगतीं। उस समय उनके थनोंसे दूधकी धारा गिरती जाती थी ॥२६॥ भगवान्‌ने देखा कि वनवासी भील और भीलनियाँ आनन्दमग्न हैं। वृक्षोंकी पङ्क्तियाँ मधुधारा उडेल रही हैं। पर्वतोंसे झर-झर करते हुए झरने झर रहे हैं। उनकी आवाज बड़ी सुरीली जान पड़ती है और साथ ही वर्षा होनेपर छिपनेके लिये बहुत-सी गुफाएँ भी हैं ॥ २७ ॥ जब वर्षा होने लगती, तब श्रीकृष्ण कभी किसी वृक्षकी गोदमें या खोड़रमें जा छिपते। कभी-कभी किसी गुफामें ही जा बैठते और कभी कन्द-मूल-फल खाकर ग्वालबालोंके साथ खेलते रहते ॥ २८ ॥ कभी जलके पास ही किसी चट्टानपर बैठ जाते और बलरामजी तथा ग्वाल-बालोंके साथ मिलकर घरसे लाया हुआ दही-भात दाल-शाक आदिके साथ खाते ॥ २९ ॥ वर्षाऋतुमें बैल, बछड़े और थनोंके भारी भारसे थकी हुई गौएँ थोड़ी ही देरमें भरपेट घास चर लेतीं और हरी-हरी घासपर बैठकर ही आँख मूँदकर जुगाली करती रहतीं। वर्षा ऋतुकी सुन्दरता अपार थी। वह सभी प्राणियोंको सुख पहुँचा रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि वह ऋतु, गाय, बैल, बछड़े—सब-के-सब भगवान्‌की लीलाके ही विलास थे। फिर भी उन्हें देखकर भगवान् बहुत प्रसन्न होते और बार-बार उनकी प्रशंसा करते ॥ ३०-३१ ॥

इस प्रकार श्याम और बलराम बड़े आनन्दसे व्रजमें निवास कर रहे थे। इसी समय वर्षा बीतनेपर शरद् ऋतु आ गयी। अब आकाशमें बादल नहीं रहे, जल निर्मल हो गया, वायु बड़ी धीमी गतिसे चलने लगी ॥३२॥ शरद् ऋतुमें कमलोंकी उत्पत्तिसे जलाशयोंके जलने अपनी सहज स्वच्छता प्राप्त कर ली—ठीक वैसे ही, जैसे योगभ्रष्ट पुरुषोंका चित्त फिरसे योगका सेवन करनेसे

१. स्तनाः । २. विंशन् । ३. दनमुपानीतं । ४. स्वोध्नो भर० । ५. सुखाव० ।

व्योम्नोऽब्दं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम् ।
शरज्जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभम् ॥३४॥
सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः ॥३५॥
गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम् ।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥३६॥
नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः ।
यथाऽऽयुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥३७॥
गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥३८॥
शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः ।
यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥३९॥
निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं समुद्रः शरदागमे ।
आत्मन्युपरते सम्यङ्मुनिर्व्युपरतागमः ॥४०॥
केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन् कर्षका दृढसेतुभिः ।
यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः ॥४१॥

निर्मल हो जाता है ॥ ३३ ॥ शरद् ऋतुने आकाशके बादल, वर्षाकालके बढ़े हुए जीव, पृथ्वीकी कीचड़ और जलके मटमैलेपनको नष्ट कर दिया—जैसे भगवान्‌की भक्ति ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियोंके सब प्रकारके कष्टों और अशुभोंका झटपट नाश कर देती है ॥३४॥ बादल अपने सर्वस्व जलका दान करके उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित होने लगे—ठीक वैसे ही, जैसे लोक-परलोक, स्त्री-पुत्र और धन-सम्पत्तिसम्बन्धी चिन्ता और कामनाओंका परित्याग कर देनेपर संसारके बन्धनसे छूटे हुए परम शान्त संन्यासी शोभायमान होते हैं ॥३५॥ अब पर्वतोंसे कहीं-कहीं झरने झरते थे और कहीं-कहीं वे अपने कल्याणकारी जलको नहीं भी बहाते थे—जैसे ज्ञानी पुरुष समयपर अपने अमृतमय ज्ञानका दान किसी अधिकारीको कर देते हैं और किसी-किसीको नहीं भी करते।३६। छोटे-छोटे गड्ढोंमें भरे हुए जलके जलचर यह नहीं जानते कि इस गड्ढेका जल दिन-पर-दिन सूखता जा रहा है—जैसे कुटुम्बके भरण-पोषणमें भूले हुए मूढ़ यह नहीं जानते कि हमारी आयु क्षण-क्षण क्षीण हो रही है ॥३७॥ थोड़े जलमें रहनेवाले प्राणियोंको शरत्कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे बड़ी पीड़ा होने लगी—जैसे अपनी इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले कृपण एवं दरिद्र कुटुम्बीको तरह-तरहके ताप सताते ही रहते हैं ॥ ३८ ॥ पृथ्वी धीरे-धीरे अपना कीचड़ छोड़ने लगी और घास-पात धीरे-धीरे अपनी कचाई छोड़ने लगे—ठीक वैसे ही, जैसे विवेकसम्पन्न साधक धीरे-धीरे शरीर आदि अनात्म पदार्थोंसे 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' यह अहंता और ममता छोड़ देते हैं ॥३९॥ शरद् ऋतुमें समुद्रका जल स्थिर, गम्भीर और शान्त हो गया—जैसे मनके निःसङ्कल्प हो जानेपर आत्माराम पुरुष कर्मकाण्डका झमेला छोड़कर शान्त हो जाता है ॥ ४० ॥ किसान खेतोंकी मेड़ मजबूत करके जलका बहना रोकने लगे—जैसे योगीजन अपनी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर जानेसे रोककर, प्रत्याहार करके उनके द्वारा क्षीण होते हुए

१. कल्मषाः । २. न्मगम ।

शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत् ।
देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम् ॥४२॥
खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् ।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥४३॥
अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी ।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि ॥४४॥
आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् ।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥४५॥
गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः शरदाभवन् ।
अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव ॥४६॥
उदहृष्यन् वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद् विना ।
राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून् विना नृप ॥४७॥
पुरग्रामेष्वाग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः ।
बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥४८॥
वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे ।
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते ॥४९॥

ज्ञानकी रक्षा करते हैं ॥ ४१ ॥ शरद् ऋतुमें दिनके समय बड़ी कड़ी धूप होती, लोगोंको बहुत कष्ट होता; परन्तु चन्द्रमा रात्रिके समय लोगोंका सारा सन्ताप वैसे ही हर लेते—जैसे देहाभिमानसे होनेवाले दुःखको ज्ञान और भगवद्विरहसे होनेवाले गोपियोंके दुःखको श्रीकृष्ण नष्ट कर देते हैं ॥ ४२ ॥ जैसे वेदोंके अर्थको स्पष्ट रूपसे जाननेवाला सत्त्वगुणी चित्त अत्यन्त शोभायमान होता है, वैसे ही शरद् ऋतुमें रातके समय मेघोंसे रहित निर्मल आकाश तारोंकी ज्योतिसे जगमगाने लगा ॥४३॥ परीक्षित् ! जैसे पृथ्वीतलमें यदुवंशियोंके बीच यदुपति भगवान् श्रीकृष्णकी शोभा होती है, वैसे ही आकाशमें तारोंके बीच पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होने लगा ॥ ४४ ॥ फूलोंसे लदे हुए वृक्ष और लताओंमें होकर बड़ी ही सुन्दर वायु बहती; वह न अधिक ठंडी होती और न अधिक गरम । उस वायुके स्पर्शसे सब लोगोंकी जलन तो मिट जाती, परन्तु गोपियोंकी जलन और भी बढ़ जाती; क्योंकि उनका चित्त उनके हाथमें नहीं था, श्रीकृष्णने उसे चुरा लिया था ॥४५॥ शरद् ऋतुमें गौएँ, हरिनियाँ, चिड़ियाँ और नारियाँ ऋतुमती—सन्तानोत्पत्तिकी कामनासे युक्त हो गयीं तथा साँड़, हरिन, पक्षी और पुरुष उनका अनुसरण करने लगे—ठीक वैसे ही, जैसे समर्थ पुरुषके द्वारा की हुई क्रियाओंका अनुसरण उनके फल करते हैं ॥ ४६ ॥ परीक्षित् ! जैसे राजाके शुभागमनसे डाकू-चोरोंके सिवा और सब लोग निर्भय हो जाते हैं, वैसे ही सूर्योदयके कारण कुमुदिनी (कुँई या कोईं) के अतिरिक्त और सभी प्रकारके कमल खिल गये ॥ ४७ ॥ उस समय बड़े-बड़े शहरों और गाँवोंमें नवान्नप्राशन और इन्द्रसम्बन्धी उत्सव होने लगे । खेतोंमें अनाज पक गये और पृथ्वी भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीकी उपस्थितिसे अत्यन्त सुशोभित होने लगी ॥ ४८ ॥ साधना करके सिद्ध हुए पुरुष जैसे समय आनेपर अपने देव आदि शरीरोंको प्राप्त होते हैं, वैसे ही वैश्य, संन्यासी, राजा और स्नातक—जो वर्षाके कारण एक स्थानपर रुके हुए थे—वहाँसे चलकर अपने-अपने अभीष्ट काम-काजमें लग गये ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रावृट्-शरद्वर्णनं नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

१. आसन् ।

अथैकविंशोऽध्यायः

वेणुगीत

श्रीशुक उवाच

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना ।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः ॥ १ ॥

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्ग-
द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥

तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् ।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥ ४ ॥

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! शरद्-ऋतुके कारण वह वन बड़ा सुन्दर हो रहा था । जल निर्मल था और जलाशयोंमें खिले हुए कमलोंकी सुगन्धसे सनकर वायु मन्द-मन्द चल रही थी । भगवान् श्रीकृष्णने गौओं और ग्वालबालोंके साथ उस वनमें प्रवेश किया ॥ १ ॥ सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंसे परिपूर्ण हरी-हरी वृक्ष-पंक्तियोंमें मतवाले भौंरे स्थान-स्थानपर गुनगुना रहे थे और तरह-तरहके पक्षी झुंड-के-झुंड अलग-अलग कलरव कर रहे थे, जिससे उस वनके सरोवर, नदियाँ और पर्वत—सब-के-सब गूँजते रहते थे । मधुपति श्रीकृष्णने बलराम-जी और ग्वालबालोंके साथ उसके भीतर घुसकर गौओं-को चराते हुए अपनी बाँसुरीपर बड़ी मधुर तान छेड़ी ॥ २ ॥ श्रीकृष्णकी वह वंशीध्वनि भगवान्के प्रति प्रेमभावको, उनके मिलनकी आकाङ्क्षाको जगानेवाली थी । (उसे सुनकर गोपियोंका हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो गया) वे एकान्तमें अपनी सखियोंसे उनके रूप, गुण और वंशीध्वनिके प्रभावका वर्णन करने लगीं ॥ ३ ॥ व्रजकी गोपियोंने वंशीध्वनिका माधुर्य आपसमें वर्णन करना चाहा तो अवश्य; परन्तु वंशीका स्मरण होते ही उन्हें श्रीकृष्णकी मधुर चेष्टाओंकी, प्रेमपूर्ण चितवन, भौंहोंके इशारे और मधुर मुसकान आदिकी याद हो आयी । उनकी भगवान्से मिलनेकी आकाङ्क्षा और भी बढ़ गयी । उनका मन हाथसे निकल गया । वे मन-ही-मन वहाँ पहुँच गयीं, जहाँ श्रीकृष्ण थे । अब उनकी वाणी बोले कैसे ? वे उसके वर्णनमें असमर्थ हो गयीं ॥ ४ ॥ (वे मन-ही-मन देखने लगीं कि) श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं । उनके सिरपर मयूर-पिच्छ है और कानोंपर कनेरके पीले-पीले पुष्प; शरीरपर सुनहला पीताम्बर और गलेमें पाँच प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी बनी वैजयन्ती माला है । रंगमञ्चपर अभिनय करते हुए श्रेष्ठ नटका-सा क्या ही सुन्दर वेष है ! बाँसुरीके छिद्रोंको वे अपने अधरामृतसे भर रहे हैं । उनके पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावन कीर्तिका गान कर रहे हैं । इस प्रकार वैकुण्ठसे भी श्रेष्ठ वह वृन्दावनधाम उनके चरणचिह्नोंसे और भी रमणीय

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्[1] ।

श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥ ६ ॥

गोप्य ऊचुः

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः

सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः ।

वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं

यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ७ ॥

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-

मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।

मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां

रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ८ ॥

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-

र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।

भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो

हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः ॥ ९ ॥

बन गया है ॥ ५ ॥ परीक्षित् ! यह वंशीध्वनि जड, चेतन—समस्त भूतोंका मन चुरा लेती है । गोपियोंने उसे सुना और सुनकर उसका वर्णन करने लगीं । वर्णन करते-करते वे तन्मय हो गयीं और श्रीकृष्णको पाकर आलिङ्गन करने लगीं ॥ ६ ॥

गोपियाँ आपसमें बातचीत करने लगीं—अरी सखी ! हमने तो आँखवालोंके जीवनकी और उनकी आँखोंकी बस, यही—इतनी ही सफलता समझी है; और तो हमें कुछ मालूम ही नहीं है । वह कौन-सा लाभ है ? वह यही है कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बलराम ग्वालबालके साथ गायोंको हाँककर वनमें ले जा रहे हों या लौटाकर व्रजमें ला रहे हों, उन्होंने अपने अधरोंपर मुरली धर रक्खी हो और प्रेमभरी तिरछी चितवनसे हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम उनकी मुख-माधुरीका पान करती रहें ॥ ७ ॥ अरी सखी ! जब वे आमकी नयी कोंपलें, मोरोंके पंख, फूलोंके गुच्छे, रंग-बिरंगे कमल और कुमुदकी मालाएँ धारण कर लेते हैं, श्रीकृष्णके साँवरे शरीरपर पीताम्बर और बलरामके गोरे शरीरपर नीलाम्बर फहराने लगता है, तब उनका वेष बड़ा विचित्र बन जाता है । ग्वालबालोंकी गोष्ठीमें वे दोनों बीचोबीच बैठ जाते हैं और मधुर सङ्गीतकी तान छेड़ देते हैं । मेरी प्यारी सखी ! उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो दो चतुर नट रंगमञ्चपर अभिनय कर रहे हों । मैं क्या बताऊँ कि उस समय उनकी कितनी शोभा होती है ॥ ८ ॥ अरी गोपियो ! यह वेणु पुरुषजातिका होनेपर भी पूर्वजन्ममें न जाने ऐसा कौन-सा साधन-भजन कर चुका है कि हम गोपियोंकी अपनी सम्पत्ति—दामोदरके अधरोंकी सुधा स्वयं ही इस प्रकार पिये जा रहा है कि हमलोगोंके लिये थोड़ा-सा भी रस शेष नहीं रहेगा । इस वेणुको अपने रससे सींचनेवाली ह्रदिनियाँ आज कमलोंके मिस रोमाञ्चित हो रही हैं और अपने वंशमें भगवत्प्रेमी सन्तानोंको देखकर श्रेष्ठ पुरुषोंके समान वृक्ष भी इसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर आँखोंसे आनन्दाश्रु बहा रहे हैं ॥ ९ ॥

१. नोरमम्.

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥१०॥

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥११॥

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्[1] ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥१२॥

अरी सखी ! यह वृन्दावन वैकुण्ठलोकतक पृथ्वीकी कीर्तिका विस्तार कर रहा है । क्योंकि यशोदानन्दन श्रीकृष्णके चरणकमलोंके चिह्नोंसे यह चिह्नित हो रहा है ! सखि ! जब श्रीकृष्ण अपनी मुनिजनमोहिनी मुरली बजाते हैं, तब मोर मतवाले होकर उसकी तालपर नाचने लगते हैं । यह देखकर पर्वतकी चोटियोंपर विचरनेवाले सभी पशु-पक्षी चुप-चाप—शान्त होकर खड़े रह जाते हैं । अरी सखी ! जब प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण विचित्र वेष धारण करके बाँसुरी बजाते हैं, तब मूढ़ बुद्धिवाली ये हरिनियाँ भी वंशीकी तान सुनकर अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ नन्दनन्दनके पास चली आती हैं और अपनी प्रेमभरी बड़ी-बड़ी आँखोंसे उन्हें निरखने लगती हैं । निरखती क्या हैं, अपनी कमलके समान बड़ी-बड़ी आँखें श्रीकृष्णके चरणोंपर निछावर कर देती हैं और श्रीकृष्णकी प्रेमभरी चितवनके द्वारा किया हुआ अपना सत्कार स्वीकार करती हैं ।' वास्तवमें उनका जीवन धन्य है ! (हम वृन्दावनकी गोपी होनेपर भी इस प्रकार उनपर अपनेको निछावर नहीं कर पातीं, हमारे घरवाले कुढ़ने लगते हैं । कितनी विडम्बना है !) ॥ १०-११ ॥ अरी सखी ! हरिनियोंकी तो बात ही क्या है—स्वर्गकी देवियाँ जब युवतियोंको आनन्दित करनेवाले सौन्दर्य और शीलके खज़ाने श्रीकृष्णको देखती हैं और बाँसुरीपर उनके द्वारा गाया हुआ मधुर संगीत सुनती हैं, तब उनके चित्र-विचित्र आलाप सुनकर वे अपने विमानपर ही सुध-बुध खो बैठती हैं—मूर्छित हो जाती हैं । यह कैसे मालूम हुआ सखी ? सुनो तो, जब उनके हृदयमें श्रीकृष्णसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षा जग जाती है तब वे अपना धीरज खो बैठती हैं, बेहोश हो जाती हैं; उन्हें इस बातका भी पता नहीं चलता कि उनकी चोटियोंमें गुँथे हुए फूल पृथ्वीपर गिर रहे हैं । यहाँतक कि उन्हें अपनी साड़ीका भी पता नहीं रहता, वह कमरसे खिसककर जमीनपर गिर जाती है ॥ १२ ॥

१. विविक्तगीतम् ।

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-

पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।

शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-

र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥१३॥

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्[1]

कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।

आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्

शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥१४॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-

मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।

अरी सखी ! तुम देवियोंकी बात क्या कह रही हो, इन गौओंको नहीं देखतीं ? जब हमारे कृष्ण-प्यारे अपने मुखसे बाँसुरीमें स्वर भरते हैं और गौएँ उनका मधुर संगीत सुनती हैं, तब ये अपने दोनों कानोंके दोने सम्भाल लेती हैं—खड़े कर लेती हैं और मानो उनसे अमृत पी रही हों, इस प्रकार उस सङ्गीतका रस लेने लगती हैं ! ऐसा क्यों होता है सखी ! अपने नेत्रोंके द्वारसे श्यामसुन्दरको हृदयमें ले जाकर वे उन्हें वहीं विराजमान कर देती हैं और मन-ही-मन उनका आलिङ्गन करती हैं । देखती नहीं हो, उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू छलकने लगते हैं ! और उनके बछड़े, बछड़ोंकी तो दशा ही निराली हो जाती है । यद्यपि गायोंके थनोंसे अपने-आप दूध झरता रहता है, वे जब दूध पीते-पीते अचानक ही वंशीध्वनि सुनते हैं, तब मुँहमें लिया हुआ दूधका घूँट न उगल पाते हैं और न निगल पाते हैं । उनके हृदयमें भी होता है भगवान्‌का संस्पर्श और नेत्रोंमें छलकते होते हैं आनन्दके आँसू । वे ज्यों-के-त्यों ठिठके रह जाते हैं ॥ १३ ॥ अरी सखी ! गौएँ और बछड़े तो हमारी घरकी वस्तु हैं । उनकी बात तो जाने ही दो । वृन्दावनके पक्षियोंको तुम नहीं देखती हो ? उन्हें पक्षी कहना ही भूल है ! सच पूछो तो उनमेंसे अधिकांश बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हैं ! वे वृन्दावनके सुन्दर-सुन्दर वृक्षोंकी नयी और मनोहर कोंपलोंवाली डालियोंपर चुपचाप बैठ जाते हैं और आँखें बंद नहीं करते, निर्निमेष नयनोंसे श्रीकृष्णकी रूप-माधुरी तथा प्यारभरी चितवन देख-देखकर निहाल होते रहते हैं, तथा कानोंसे अन्य सब प्रकारके शब्दोंको छोड़कर केवल उन्हींकी मोहनी वाणी और वंशीका त्रिभुवनमोहन सङ्गीत सुनते रहते हैं ! मेरी प्यारी सखी ! उनका जीवन कितना धन्य है ॥ १४ ॥

अरी सखी ! देवता, गौओं और पक्षियोंकी बात क्यों करती हो ? वे तो चेतन हैं । इन जड नदियोंको नहीं देखतीं ? इनमें जो भँवर दीख रहे हैं, उनसे इनके हृदयमें श्यामसुन्दरसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षाका पता चलता है । उसके वेगसे ही तो इनका प्रवाह

[1] मुनयो विहगाः ।

आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-

गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥१५॥

दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून् सह रामगोपैः

सञ्चारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम् ।

प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः

सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥१६॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-

श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।

तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूपितेन

लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥१७॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो

यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।

रुक गया है । इन्होंने भी प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुन ली है । देखो, देखो ! ये अपनी तरङ्गोंके हाथोंसे उनके चरण पकड़कर कमलके फूलोंका उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं मानो उनके चरणोंपर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं ॥१५॥

अरी सखी ! ये नदियाँ तो हमारी पृथ्वीकी, हमारे वृन्दावनकी वस्तुएँ हैं; तनिक इन बादलोंको भी देखो ! जब वे देखते हैं कि व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण और बलरामजी ग्वालबालोंके साथ धूपमें गौएँ चरा रहे हैं और साथ-साथ बाँसुरी भी बजाते जा रहे हैं, तब उनके हृदयमें प्रेम उमड़ आता है । वे उनके ऊपर मँड़राने लगते हैं और वे श्यामघन अपने सखा घनश्यामके ऊपर अपने शरीरको ही छाता बनाकर तान देते हैं । इतना ही नहीं, सखी ! वे जब उनपर नन्ही-नन्ही फुहियोंकी वर्षा करने लगते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है कि वे उनके ऊपर सुन्दर-सुन्दर श्वेत कुसुम चढ़ा रहे हैं । नहीं सखी, उनके बहाने वे तो अपना जीवन ही निछावर कर देते हैं ! ॥ १६ ॥

अरी भटू ! हम तो वृन्दावनकी इन भीलनियोंको ही धन्य और कृतकृत्य मानती हैं । ऐसा क्यों सखी ? इसलिये कि इनके हृदयमें बड़ा प्रेम है । जब ये हमारे कृष्ण-प्यारेको देखती हैं, तब इनके हृदयमें भी उनसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठती है । इनके हृदयमें भी प्रेमकी व्याधि लग जाती है । उस समय ये क्या उपाय करती हैं, यह भी सुन लो । हमारे प्रियतमकी प्रेयसी गोपियाँ अपने वक्षःस्थलोंपर जो केसर लगाती हैं, वह श्यामसुन्दरके चरणोंमें लगी होती है और वे जब वृन्दावनके घास-पातपर चलते हैं, तब उनमें भी लग जाती है । ये सौभाग्यवती भीलनियाँ उन्हें उन तिनकोंपरसे छुड़ाकर अपने स्तनों और मुखोंपर मल लेती हैं और इस प्रकार अपने हृदयकी प्रेम-पीड़ा शान्त करती हैं ॥ १७ ॥

अरी गोपियो ! यह गिरिराज गोवर्द्धन तो भगवान्‌के भक्तोंमें बहुत ही श्रेष्ठ है । धन्य हैं इसके भाग्य ! देखती नहीं हो, हमारे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और नयनाभिराम बलरामके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके यह कितना आनन्दित रहता है ! इसके भाग्यकी सराहना कौन करे ? यह तो उन दोनोंका—ग्वालबालों

मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥१८॥

और गौओंका बड़ा ही सत्कार करता है। स्नान-पानके लिये झरनोंका जल देता है, गौओंके लिये सुन्दर हरी-हरी घास प्रस्तुत करता है। विश्राम करनेके लिये कन्दराएँ और खानेके लिये कन्द-मूल-फल देता है। वास्तवमें यह धन्य है॥ १८ ॥

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥१९॥

अरी सखी! इन साँवरे-गोरे किशोरोंकी तो गति ही निराली है। जब वे सिरपर नोवना (दुहते समय गायके पैर बाँधनेकी रस्सी) लपेटकर और कंधोंपर फंदा (भागनेवाली गायोंको पकड़नेकी रस्सी) रखकर गायोंको एक वनसे दूसरे वनमें हाँककर ले जाते हैं, साथमें ग्वालबाल भी होते हैं और मधुर-मधुर संगीत गाते हुए बाँसुरीकी तान छेड़ते हैं, उस समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या, अन्य शरीरधारियोंमें भी चलनेवाले चेतन पशु-पक्षी और जड नदी आदि तो स्थिर हो जाते हैं तथा अचल-वृक्षोंको भी रोमाञ्च हो आता है। जादूभरी वंशीका और क्या चमत्कार सुनाऊँ?॥ १९ ॥

एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥२०॥

परीक्षित्! वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णकी ऐसी-ऐसी एक नहीं, अनेक लीलाएँ हैं। गोपियाँ प्रतिदिन आपसमें उनका वर्णन करतीं और तन्मय हो जातीं। भगवान्‌की लीलाएँ उनके हृदयमें स्फुरित होने लगतीं॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वेणुगीतं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

चीरहरण

श्रीशुक उवाच

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब हेमन्त ऋतु आयी। उसके पहले ही महीनेमें अर्थात् मार्गशीर्षमें नन्दबाबाके व्रजकी कुमारियाँ कात्यायनी देवीकी पूजा और व्रत करने लगीं। वे केवल हविष्यान्न ही खाती थीं॥ १ ॥

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥ २ ॥

राजन्! वे कुमारी कन्याएँ पूर्व दिशाका क्षितिज लाल होते-होते यमुनाजलमें स्नान कर लेतीं और तटपर ही देवीकी बालुकामयी मूर्ति बनाकर

१. वृन्दावनक्रीडायामेक०

गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः ।
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ॥ ३ ॥
कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः॥ ४ ॥
एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः ।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ॥ ५ ॥
उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः ।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्॥ ६ ॥
नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजहुः सलिले मुदा॥ ७ ॥
भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये ॥ ८ ॥
तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः ।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥ ९ ॥
अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्।
सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद् यूयं व्रतकर्शिताः ॥१०॥
न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः ।
एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवोत सुमध्यमाः ॥११॥

सुगन्धित चन्दन, फूलोंके हार, भाँति-भाँतिके नैवेद्य, धूप-दीप, छोटी-बड़ी भेंटकी सामग्री, पल्लव, फल और चावल आदिसे उनकी पूजा करतीं ॥ २-३ ॥ साथ ही 'हे कात्यायनी! हे महामाये! हे महायोगिनी! हे सबकी एकमात्र स्वामिनी! आप नन्दनन्दन श्रीकृष्णको हमारा पति बना दीजिये। देवि! हम आपके चरणोंमें नमस्कार करती हैं।'— इस मन्त्रका जप करती हुई वे कुमारियाँ देवीकी आराधना करतीं ॥ ४ ॥ इस प्रकार उन कुमारियोंने, जिनका मन श्रीकृष्णपर निछावर हो चुका था, इस सङ्कल्पके साथ एक महीनेतक भद्रकालीकी भलीभाँति पूजा की कि 'नन्दनन्दन श्यामसुन्दर ही हमारे पति हों' ॥ ५ ॥ वे प्रतिदिन उषाकालमें ही नाम ले-लेकर एक-दूसरी सखीको पुकार लेतीं और परस्पर हाथ-में-हाथ डालकर ऊँचे स्वरसे भगवान् श्रीकृष्णकी लीला तथा नामोंका गान करती हुई यमुनाजलमें स्नान करनेके लिये जातीं ॥ ६ ॥

एक दिन सब कुमारियोंने प्रतिदिनकी भाँति यमुनाजीके तटपर जाकर अपने-अपने वस्त्र उतार दिये और भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंका गान करती हुई बड़े आनन्दसे जल-क्रीडा करने लगीं ॥ ७ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सनकादि योगियों और शङ्कर आदि योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं। उनसे गोपियोंकी अभिलाषा छिपी न रही। वे उनका अभिप्राय जानकर अपने सखा ग्वालबालोंके साथ उन कुमारियोंकी साधना सफल करनेके लिये यमुना-तटपर गये ॥ ८ ॥ उन्होंने अकेले ही उन गोपियोंके सारे वस्त्र उठा लिये और बड़ी फुर्तीसे वे एक कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये। साथी ग्वालबाल ठठा-ठठाकर हँसने लगे और स्वयं श्रीकृष्ण भी हँसते हुए गोपियोंसे हँसीकी बात कहने लगे ॥ ९ ॥ 'अरी कुमारियो! तुम यहाँ आकर इच्छा हो, तो अपने-अपने वस्त्र ले जाओ। मैं तुमलोगोंसे सच-सच कहता हूँ। हँसी बिल्कुल नहीं करता। तुमलोग व्रत करते-करते दुबली हो गयी हो ॥ १० ॥ ये मेरे सखा ग्वालबाल जानते हैं कि मैंने कभी कोई झूठी बात नहीं कही है। सुन्दरियो! तुम्हारी इच्छा हो तो अलग-अलग आकर अपने-अपने वस्त्र ले लो, या सब एक साथ ही आओ। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है' ॥ ११ ॥

तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः ।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥१२॥
एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतसः ।
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥१३॥
मानयं भोः कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् ।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥१४॥
श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् ।
देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे ॥१५॥

श्रीभगवानुवाच

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥१६॥
ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः ।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः ॥१७॥
भगवानाहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः ।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम् ॥१८॥

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ॥१९॥

भगवान्‌की यह हँसी-मसखरी देखकर गोपियोंका हृदय प्रेमसे सराबोर हो गया। वे तनिक सकुचाकर एक-दूसरीकी ओर देखने और मुसकराने लगीं। जलसे बाहर नहीं निकलीं॥ १२॥ जब भगवान्‌ने हँसी-हँसीमें यह बात कही, तब उनके विनोदसे कुमारियोंका चित्त और भी उनकी ओर खिंच गया। वे ठंडे पानीमें कण्ठतक डूबी हुई थीं और उनका शरीर थर-थर काँप रहा था। उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—॥ १३ ॥ 'प्यारे श्रीकृष्ण! तुम ऐसी अनीति मत करो। हम जानती हैं कि तुम नन्दबाबाके लाड़ले लाल हो। हमारे प्यारे हो। सारे व्रजवासी तुम्हारी सराहना करते रहते हैं। देखो, हम जाड़ेके मारे ठिठुर रही हैं। तुम हमें हमारे वस्त्र दे दो॥ १४॥ प्यारे श्यामसुन्दर! हम तुम्हारी दासी हैं। तुम जो कुछ कहोगे, उसे हम करनेको तैयार हैं। तुम तो धर्मका मर्म भलीभाँति जानते हो। हमें कष्ट मत दो। हमारे वस्त्र हमें दे दो; नहीं तो हम जाकर नन्दबाबासे कह देंगी'॥ १५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुमारियो! तुम्हारी मुसकान पवित्रता और प्रेमसे भरी है। देखो, जब तुम अपनेको मेरी दासी स्वीकार करती हो और मेरी आज्ञाका पालन करना चाहती हो, तो यहाँ आकर अपने-अपने वस्त्र ले लो॥ १६॥ परीक्षित्! वे कुमारियाँ ठंडसे ठिठुर रही थीं, काँप रही थीं। भगवान्‌की ऐसी बात सुनकर वे अपने दोनों हाथोंसे गुप्त अङ्गोंको छिपाकर यमुनाजीसे बाहर निकलीं। उस समय ठंड उन्हें बहुत ही सता रही थी॥ १७॥ उनके इस शुद्ध भावसे भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए। उनको अपने पास आयी देखकर उन्होंने गोपियोंके वस्त्र अपने कंधेपर रख लिये और बड़ी प्रसन्नतासे मुसकराते हुए बोले—॥ १८॥ अरी गोपियो! तुमने जो व्रत लिया था, उसे अच्छी तरह निभाया है—इसमें संदेह नहीं। परन्तु इस अवस्थामें वस्त्रहीन होकर तुमने जलमें स्नान किया है, इससे तो जलके अधिष्ठातृदेवता वरुणका तथा यमुनाजीका अपराध हुआ है। अतः अब इस दोषकी शान्तिके लिये तुम अपने हाथ जोड़कर सिरसे लगाओ और उन्हें झुककर प्रणाम करो, तदनन्तर अपने-अपने वस्त्र ले

इत्यच्युतेनाभिहिता व्रजाबला
मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् ।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां
साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः ॥२०॥

तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः ।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः ॥२१॥

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं
ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ॥२२॥

परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः ।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिँल्लज्जायितेक्षणाः ॥२३॥

तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया ।
धृतव्रतानां संकल्पमाह दामोदरोऽबलाः ॥२४॥

संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम् ।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥२५॥

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥२६॥

जाओ ॥ १९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर उन व्रजकुमारियोंने ऐसा ही समझा कि वास्तवमें वस्त्रहीन होकर स्नान करनेसे हमारे व्रतमें त्रुटि आ गयी । अतः उसकी निर्विघ्न पूर्तिके लिये उन्होंने समस्त कर्मोंके साक्षी श्रीकृष्णको नमस्कार किया । क्योंकि उन्हें नमस्कार करनेसे ही सारी त्रुटियों और अपराधोंका मार्जन हो जाता है ॥ २० ॥ जब यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि सब-की-सब कुमारियाँ मेरी आज्ञाके अनुसार प्रणाम कर रही हैं, तब वे बहुत ही प्रसन्न हुए । उनके हृदयमें करुणा उमड़ आयी और उन्होंने उनके वस्त्र दे दिये ॥ २१ ॥ प्रिय परीक्षित् ! श्रीकृष्णने कुमारियोंसे छलभरी बातें कीं, उनका लज्जा-सङ्कोच छुड़ाया, हँसी की और उन्हें कठपुतलियोंके समान नचाया; यहाँतक कि उनके वस्त्रतक हर लिये । फिर भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं, उनकी इन चेष्टाओंको दोष नहीं माना, बल्कि अपने प्रियतमके सङ्गसे वे और भी प्रसन्न हुईं ॥ २२ ॥ परीक्षित् ! गोपियोंने अपने-अपने वस्त्र पहन लिये । परन्तु श्रीकृष्णने उनके चित्तको इस प्रकार अपने वशमें कर रक्खा था कि वे वहाँसे एक पग भी न चल सकीं । अपने प्रियतमके समागमके लिये सजकर वे उन्हींकी ओर लजीली चितवनसे निहारती रहीं ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि उन कुमारियोंने उनके चरणकमलोंके स्पर्शकी कामनासे ही व्रत धारण किया है और उनके जीवनका यही एकमात्र सङ्कल्प है । तब गोपियोंके प्रेमके अधीन होकर ऊखलतकमें बँध जानेवाले भगवान्‌ने उनसे कहा—॥ २४ ॥ 'मेरी परम प्रेयसी कुमारियो ! मैं तुम्हारा यह सङ्कल्प जानता हूँ कि तुम मेरी पूजा करना चाहती हो । मैं तुम्हारी इस अभिलाषाका अनुमोदन करता हूँ, तुम्हारा यह सङ्कल्प सत्य होगा । तुम मेरी पूजा कर सकोगी ॥ २५ ॥ जिन्होंने अपना मन और प्राण मुझे समर्पित कर रक्खा है, उनकी कामनाएँ उन्हें सांसारिक भोगोंकी ओर ले जानेमें समर्थ नहीं होतीं; ठीक वैसे ही, जैसे भुने या उबाले हुए बीज फिर अङ्कुरके रूपमें उगनेके योग्य नहीं रह जाते ॥२६॥

१. सौम्याः ।

याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥२७॥

इसलिये कुमारियो ! अब तुम अपने-अपने घर लौट जाओ। तुम्हारी साधना सिद्ध हो गयी है। तुम आनेवाली शरद् ऋतुकी रात्रियोंमें मेरे साथ विहार करोगी। सतियो ! इसी उद्देश्यसे तो तुमलोगोंने यह व्रत और कात्यायनी देवीकी पूजा की थी।' * ॥ २७ ॥

* चीर-हरणके प्रसंगको लेकर कई तरहकी शङ्काएँ की जाती हैं, अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विचार करना आवश्यक है। वास्तवमें बात यह है कि सच्चिदानन्दघन भगवान्की दिव्य मधुर रसमयी लीलाओंका रहस्य जाननेका सौभाग्य बहुत थोड़े लोगोंको होता है। जिस प्रकार भगवान् चिन्मय हैं, उसी प्रकार उनकी लीला भी चिन्मयी ही होती है। सच्चिदानन्द-रसमय साम्राज्यके जिस परमोन्नत स्तरमें यह लीला हुआ करती है, उसकी ऐसी विलक्षणता है कि कई बार तो ज्ञान विज्ञानस्वरूप विशुद्ध चेतन परम ब्रह्ममें भी उसका प्राकट्य नहीं होता और इसीलिये ब्रह्म-साक्षात्कारको प्राप्त महात्मा लोग भी इस लीला-रसका समास्वादन नहीं कर पाते। भगवान्की इस परमोज्ज्वल दिव्य-रस-लीलाका यथार्थ प्रकाश तो भगवान्की स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी और तदङ्गभूता प्रेममयी गोपियोंके ही हृदयमें होता है और वे ही निरावरण होकर भगवान्की इस परम अन्तरङ्ग रसमयी लीलाका समास्वादन करती हैं।

यों तो भगवान्के जन्म-कर्मकी सभी लीलाएँ दिव्य होती हैं, परन्तु व्रजकी लीला, व्रजमें निकुञ्जलीला और निकुञ्जमें भी केवल रसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वगुह्यतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरङ्ग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपीजनोंको ही है। अस्तु,

दशम स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायमें ऐसा वर्णन आया है कि भगवान्की रूप-माधुरी, वंशीध्वनि और प्रेममयी लीलाएँ देख-सुनकर गोपियाँ मुग्ध हो गयीं। बाईसवें अध्यायमें उसी प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये वे साधनमें लग गयी हैं। इसी अध्यायमें भगवान्ने आकर उनकी साधना पूर्ण की है। यही चीर-हरणका प्रसङ्ग है।

गोपियाँ क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधनासे स्पष्ट है। वे चाहती थीं—श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, श्रीकृष्णके साथ इस प्रकार घुल-मिल जाना कि उनका रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा केवल श्रीकृष्णमय हो जाय। शरत्-कालमें उन्होंने श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिकी चर्चा आपसमें की थी, हेमन्तके पहले ही महीनेमें अर्थात् भगवान्के विभूतिस्वरूप मार्गशीर्षमें उनकी साधना प्रारम्भ हो गयी। विलम्ब उनके लिये असह्य था। जाड़ेके दिनमें वे प्रातःकाल ही यमुना-स्नानके लिये जातीं, उन्हें शरीरकी परवा नहीं थी। बहुत-सी कुमारी ग्वालिनें एक साथ ही जातीं, उनमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं था। वे ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णका नामकीर्तन करती हुई जातीं, उन्हें गाँव और जातिवालोंका भय नहीं था। वे घरमें भी हविष्यान्नका ही भोजन करतीं, वे श्रीकृष्णके लिये इतनी व्याकुल हो गयी थीं कि उन्हें माता-पितातकका सङ्कोच नहीं था। वे विधिपूर्वक देवीकी बालुकामयी मूर्ति बनाकर पूजा और मन्त्र-जप करती थीं। अपने इस कार्यको सर्वथा उचित और प्रशस्त मानती थीं। एक वाक्यमें—उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, सङ्कोच और व्यक्तित्व भगवान्के चरणोंमें सर्वथा समर्पण कर दिया था। वे यही जपती रहती थीं कि एकमात्र नन्दनन्दन ही हमारे प्राणोंके स्वामी हों। श्रीकृष्ण तो वस्तुतः उनके स्वामी थे ही। परन्तु लीलाकी दृष्टिसे उनके समर्पणमें थोड़ी कमी थी। वे निरावरणरूपसे श्रीकृष्णके सामने नहीं जा रही थीं, उनमें थोड़ी झिझक थी; उनकी यही झिझक दूर करनेके लिये—उनकी साधना, उनका समर्पण पूर्ण करनेके लिये उनका आवरण भङ्ग कर देनेकी आवश्यकता थी, उनका यह आवरणरूप चीर हर लेना जरूरी

था और यही काम भगवान् श्रीकृष्णने किया। इसीके लिये वे योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् अपने मित्र ग्वालबालोंके साथ यमुनातटपर पधारे थे।

साधक अपनी शक्तिसे, अपने बल और सङ्कल्पसे केवल अपने निश्चयसे पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता। समर्पण भी एक क्रिया है और उसका करनेवाला असमर्पित ही रह जाता है। ऐसी स्थितिमें अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण तब होता है, जब भगवान् स्वयं आकर वह सङ्कल्प स्वीकार करते हैं और सङ्कल्प करनेवालेको भी स्वीकार करते हैं। यहीं जाकर समर्पण पूर्ण होता है। साधकका कर्तव्य है—पूर्ण समर्पणकी तैयारी। उसे पूर्ण तो भगवान् ही करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण यों तो लीलापुरुषोत्तम हैं; फिर भी जब अपनी लीला प्रकट करते हैं, तब मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करते, स्थापना ही करते हैं। विधिका अतिक्रमण करके कोई साधनाके मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता। परन्तु हृदयकी निष्कपटता, सचाई और सच्चा प्रेम विधिके अतिक्रमणको भी शिथिल कर देता है। गोपियाँ श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये जो साधना कर रही थीं, उसमें एक त्रुटि थी। वे शास्त्र-मर्यादा और परम्परागत सनातन मर्यादाका उल्लङ्घन करके नग्न-स्नान करती थीं। यद्यपि उनकी यह क्रिया अज्ञानपूर्वक ही थी, तथापि भगवान्‌के द्वारा इसका मार्जन होना आवश्यक था। भगवान्‌ने गोपियोंसे इसका प्रायश्चित्त भी करवाया। जो लोग भगवान्‌के प्रेमके नामपर विधिका उल्लङ्घन करते हैं, उन्हें यह प्रसङ्ग ध्यानसे पढ़ना चाहिये और भगवान् शास्त्रविधिका कितना आदर करते हैं, यह देखना चाहिये।

वैधी भक्तिका पर्यवसान रागात्मिका भक्तिमें है और रागात्मिका भक्ति पूर्ण समर्पणके रूपमें परिणत हो जाती है। गोपियोंने वैधी भक्तिका अनुष्ठान किया, उनका हृदय तो रागात्मिका भक्तिसे भरा हुआ था ही। अब पूर्ण समर्पण होना चाहिये। चीरहरणके द्वारा वही कार्य सम्पन्न होता है।

गोपियोंने जिनके लिये लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, जाति-कुल, पुरजन-परिजन और गुरुजनोंकी परवा नहीं की, जिनकी प्राप्तिके लिये ही उनका यह महान् अनुष्ठान है, जिनके चरणोंमें उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर रक्खा है, जिनसे निरावरण मिलनकी ही एकमात्र अभिलाषा है, उन्हीं निरावरण रसमय भगवान् श्रीकृष्णके सामने वे निरावरण भावसे न जा सकें—क्या यह उनकी साधनाकी अपूर्णता नहीं है? है, अवश्य है। और यह समझकर ही गोपियाँ निरावरणरूपसे उनके सामने गयीं।

श्रीकृष्ण चराचर प्रकृतिके एकमात्र अधीश्वर हैं; समस्त क्रियाओंके कर्ता, भोक्ता और साक्षी भी वही हैं। ऐसा एक भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ नहीं है, जो बिना किसी परदेके उनके सामने न हो। वही सर्वव्यापक, अन्तर्यामी हैं। गोपियोंके, गोपोंके और निखिल विश्वके वही आत्मा हैं। उन्हें स्वामी, गुरु, पिता, माता, सखा, पति आदिके रूपमें मानकर लोग उन्हींकी उपासना करते हैं। गोपियाँ उन्हीं भगवान्‌को जान-बूझकर कि यही भगवान् हैं—यही योगेश्वरेश्वर, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम हैं—पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं। श्रीमद्भागवत-के दशम स्कन्धका श्रद्धाभावसे पाठ कर जानेपर यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि गोपियाँ श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानती थीं, पहचानती थीं। वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत और श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंके अन्वेषणमें यह बात कोई भी देख-सुन-समझ सकता है। जो लोग भगवान्‌को भगवान् मानते हैं, उनसे सम्बन्ध रखते हैं, स्वामी-सुहृद् आदिके रूपमें उन्हें मानते हैं, उनके हृदयमें गोपियोंके इस लोकोत्तर माधुर्यसम्बन्ध और उसकी साधनाके प्रति शङ्का ही कैसे हो सकती है।

गोपियोंकी इस दिव्य लीलाका जीवन उच्च श्रेणीके साधकके लिये आदर्श जीवन है। श्रीकृष्ण जीवके एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं। हमारी बुद्धि, हमारी दृष्टि देहतक ही सीमित है। इसलिये हम श्रीकृष्ण

और गोपियोंके प्रेमको भी केवल दैहिक तथा कामनाकलुषित समझ बैठते हैं। उस अपार्थिव और अप्राकृत लीलाको इस प्रकृतिके राज्यमें घसीट लाना हमारी स्थूल वासनाओंका हानिकर परिणाम है। जीवका मन भोगाभिमुख वासनाओंसे और तमोगुणी प्रवृत्तियोंसे अभिभूत रहता है। वह विषयोंमें ही इधर-से-उधर भटकता रहता है और अनेकों प्रकारके रोग-शोकसे आक्रान्त रहता है। जब कभी पुण्यकर्मोंके फल उदय होनेपर भगवान्‌की अचिन्त्य अहैतुकी कृपासे विचारका उदय होता है, तब जीव दुःखज्वालासे त्राण पानेके लिये और अपने प्राणोंको शान्तिमय धाममें पहुँचानेके लिये उत्सुक हो उठता है। वह भगवान्‌के लीलाधामोंकी यात्रा करता है, सत्सङ्ग प्राप्त करता है और उसके हृदयकी छटपटी उस आकाङ्क्षाको लेकर, जो अबतक सुप्त थी, जगकर बड़े वेगसे परमात्माकी ओर चल पड़ती है। चिरकालसे विषयोंका ही अभ्यास होनेके कारण बीच-बीचमें विषयोंके संस्कार उसे सताते हैं और बार-बार विक्षेपोंका सामना करना पड़ता है। परन्तु भगवान्‌की प्रार्थना, कीर्तन, स्मरण, चिन्तन करते-करते चित्त सरस होने लगता है और धीरे-धीरे उसे भगवान्‌की सन्निधिका अनुभव भी होने लगता है। थोड़ा-सा रसका अनुभव होते ही चित्त बड़े वेगसे अन्तर्देशमें प्रवेश कर जाता है और भगवान् मार्गदर्शकके रूपमें संसार-सागरसे पार ले जानेवाली नावपर केवटके रूपमें अथवा यों कहें कि साक्षात् चित्स्वरूप गुरुदेवके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। ठीक उसी क्षण अभाव, अपूर्णता और सीमाका बन्धन नष्ट हो जाता है, विशुद्ध आनन्द—विशुद्ध ज्ञानकी अनुभूति होने लगती है।

गोपियाँ, जो अभी-अभी साधनसिद्ध होकर भगवान्‌की अन्तरङ्ग लीलामें प्रविष्ट होनेवाली हैं, चिरकालसे श्रीकृष्णके प्राणोंमें अपने प्राण मिला देनेके लिये उत्कण्ठित हैं, सिद्धिलाभके समीप पहुँच चुकी हैं। अथवा जो नित्यसिद्धा होनेपर भी भगवान्‌की इच्छाके अनुसार उनकी दिव्य लीलामें सहयोग प्रदान कर रही हैं, उनके हृदयके समस्त भावोंके एकान्त ज्ञाता श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाकर उन्हें आकृष्ट करते हैं और जो कुछ उनके हृदयमें बचे-खुचे पुराने संस्कार हैं, मानो उन्हें धो डालनेके लिये साधनामें लगाते हैं, उनकी कितनी दया है, वे अपने प्रेमियोंसे कितना प्रेम करते हैं—यह सोचकर चित्त मुग्ध हो जाता है, गद्गद हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोपियोंके वस्त्रोंके रूपमें उनके समस्त संस्कारोंके आवरण अपने हाथमें लेकर पास ही कदम्बके वृक्षपर चढ़कर बैठ गये। गोपियाँ जलमें थीं, वे जलमें सर्वव्यापक सर्वदर्शी भगवान् श्रीकृष्णसे मानो अपनेको गुप्त समझ रही थीं—वे मानो इस तत्त्वको भूल गयी थीं कि श्रीकृष्ण जलमें ही नहीं हैं स्वयं जलस्वरूप भी वही हैं। उनके पुराने संस्कार श्रीकृष्णके सम्मुख जानेमें बाधक हो रहे थे; वे श्रीकृष्णके लिये सब कुछ भूल गयी थीं परन्तु अबतक अपनेको नहीं भूली थीं। वे चाहती थीं केवल श्रीकृष्णको, परन्तु उनके संस्कार बीचमें एक परदा रखना चाहते थे। प्रेम प्रेमी और प्रियतमके बीचमें एक पुष्पका भी परदा नहीं रखना चाहता। प्रेमकी प्रकृति है सर्वथा व्यवधानरहित, अबाध और अनन्त मिलन। जहाँतक अपना सर्वस्व—इसका विस्तार चाहे जितना हो—प्रेमकी ज्वालामें भस्म नहीं कर दिया जाता, वहाँतक प्रेम और समर्पण दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। इसी अपूर्णताको दूर करते हुए, 'शुद्ध भावसे प्रसन्न हुए' (शुद्धभावप्रसादितः) श्रीकृष्णने कहा कि 'मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो! एक बार, केवल एक बार अपने सर्वस्वको और अपनेको भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। तुम्हारे हृदयमें जो अव्यक्त त्याग है, उसे एक क्षणके लिये व्यक्त तो करो। क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकती हो?' गोपियोंने मानो कहा—'श्रीकृष्ण! हम अपनेको कैसे भूलें? हमारी जन्म-जन्मकी धारणाएँ भूलने दें, तब न। हम संसारके अगाध जलमें आकण्ठ मग्न हैं। जाड़ेका कष्ट भी है। हम आना चाहनेपर भी नहीं आ पाती हैं। श्यामसुन्दर! प्राणोंके प्राण! हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। तुम्हारी आज्ञाओंका पालन करेंगी। परन्तु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।'

साधककी यह दशा—भगवान्‌को चाहना और साथ ही संसारको भी न छोड़ना, संस्कारोंमें ही उलझे रहना—मायाके परदेको बनाये रखना, बड़ी द्विविधाकी दशा है। भगवान् यही सिखाते हैं कि 'संस्कारशून्य होकर, निरावरण होकर, मायाका परदा हटाकर आओ; मेरे पास आओ। अरे, तुम्हारा यह मोहका परदा तो मैंने ही छीन लिया है; तुम अब इस परदेके मोहमें क्यों पड़ी हो? यह परदा ही तो परमात्मा और जीवके बीचमें बड़ा व्यवधान है; यह हट गया, बड़ा कल्याण हुआ। अब तुम मेरे पास आओ, तभी तुम्हारी चिरसञ्चित आकाङ्क्षाएँ पूरी हो सकेंगी।' परमात्मा श्रीकृष्णका यह आह्वान, आत्माके आत्मा परम प्रियतमके मिलनका यह मधुर आमन्त्रण भगवत्कृपासे जिसके अन्तर्देशमें प्रकट हो जाता है, वह प्रेममें निमग्न होकर सब कुछ छोड़कर, छोड़ना भी भूलकर प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें दौड़ आता है। फिर न उसे अपने वस्त्रोंकी सुधि रहती है और न लोगोंका ध्यान! न वह जगत्‌को देखता है न अपनेको। यह भगवत्प्रेमका रहस्य है। विशुद्ध और अनन्य भगवत्प्रेममें ऐसा होता ही है।

गोपियाँ आयीं, श्रीकृष्णके चरणोंके पास मूकभावसे खड़ी हो गयीं। उनका मुख लज्जावनत था। यत्किञ्चित् संस्कारशेष श्रीकृष्णके पूर्ण आभिमुख्यमें प्रतिबन्ध हो रहा था। श्रीकृष्ण मुसकराये। उन्होंने इशारेसे कहा—'इतने बड़े त्यागमें यह सङ्कोच कलङ्क है। तुम तो सदा निष्कलङ्का हो; तुम्हें इसका भी त्याग, त्यागके भावका भी त्याग—त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करना होगा।' गोपियोंकी दृष्टि श्रीकृष्णके मुखकमलपर पड़ी। दोनों हाथ अपने-आप जुड़ गये और सूर्यमण्डलमें विराजमान अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे ही उन्होंने प्रेमकी भिक्षा माँगी। गोपियोंके इसी सर्वस्वत्यागने, इसी पूर्ण समर्पणने, इसी उच्चतम आत्मविस्मृतिने उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमसे भर दिया। वे दिव्य रसके अलौकिक अप्राकृत मधुके अनन्त समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं। वे सब कुछ भूल गयीं, भूलनेवालेको भी भूल गयीं, उनकी दृष्टिमें अब श्यामसुन्दर थे। बस, केवल श्यामसुन्दर थे।

जब प्रेमी भक्त आत्मविस्मृत हो जाता है, तब उसका दायित्व प्रियतम भगवान्‌पर होता है। अब मर्यादारक्षाके लिये गोपियोंको तो वस्त्रकी आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि उन्हें जिस वस्तुकी आवश्यकता थी, वह मिल चुकी थी। परन्तु श्रीकृष्ण अपने प्रेमीको मर्यादाच्युत नहीं होने देते। वे स्वयं वस्त्र देते हैं और अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा उन्हें विस्मृतिसे जगाकर फिर जगत्‌में लाते हैं। श्रीकृष्णने कहा—'गोपियो! तुम सती-साध्वी हो। तुम्हारा प्रेम और तुम्हारी साधना मुझसे छिपी नहीं है। तुम्हारा सङ्कल्प सत्य होगा। तुम्हारा यह सङ्कल्प—तुम्हारी यह कामना तुम्हें उस पदपर स्थित करती है, जो निस्सङ्कल्पता और निष्कामताका है। तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण, तुम्हारा समर्पण पूर्ण और अब आगे आनेवाली शारदीय रात्रियोंमें हमारा रमण पूर्ण होगा। भगवान्‌ने साधना सफल होनेकी अवधि निर्धारित कर दी। इससे भी स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णमें किसी भी कामविकारकी कल्पना नहीं थी। कामी पुरुषका चित्त वस्त्रहीन स्त्रियोंको देखकर एक क्षणके लिये भी कब वशमें रह सकता है।

एक बात बड़ी विलक्षण है। भगवान्‌के सम्मुख जानेके पहले जो वस्त्र समर्पणकी पूर्णतामें बाधक हो रहे थे—विक्षेपका काम कर रहे थे—वही भगवान्‌की कृपा, प्रेम, सान्निध्य और वरदान प्राप्त होनेके पश्चात् 'प्रसाद'-स्वरूप हो गये। इसका कारण क्या है? इसका कारण है भगवान्‌का सम्बन्ध। भगवान्‌ने अपने हाथसे उन वस्त्रोंको उठाया था और फिर उन्हें अपने उत्तम अङ्ग कंधेपर रख लिया था। नीचेके शरीरमें पहनने-की साड़ियाँ भगवान्‌के कंधेपर चढ़कर—उनका संस्पर्श पाकर कितनी अप्राकृत रसात्मक हो गयीं, कितनी पवित्र—कृष्णमय हो गयीं, इसका अनुमान कौन लगा सकता है। असलमें यह संसार तभीतक बाधक और विक्षेपजनक है, जबतक यह भगवान्‌से सम्बद्ध और भगवान्‌का प्रसाद नहीं हो जाता। उनके द्वारा प्राप्त होनेपर

तो यह बन्धन ही मुक्तिस्वरूप हो जाता है। उनके सम्पर्कमें जाकर माया शुद्ध विद्या बन जाती है। संसार और उसके समस्त कर्म अमृतमय आनन्दरससे परिपूर्ण हो जाते हैं। तब बन्धनका भय नहीं रहता। कोई भी आवरण भगवान्के दर्शनसे वञ्चित नहीं रख सकता। नरक नरक नहीं रहता, भगवान्का दर्शन होते रहनेके कारण वह वैकुण्ठ बन जाता है। इसी स्थितिमें पहुँचकर बड़े-बड़े साधक प्राकृत पुरुषके समान आचरण करते हुए-से दीखते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी होकर गोपियाँ पुनः वे ही वस्त्र धारण करती हैं अथवा श्रीकृष्ण वे ही वस्त्र धारण कराते हैं; परन्तु गोपियोंकी दृष्टिमें अब ये वस्त्र वे वस्त्र नहीं हैं; वस्तुतः वे हैं भी नहीं—अब तो ये दूसरी ही वस्तु हो गये हैं। अब तो भगवान्के पावन प्रसाद हैं, पल-पलपर भगवान्का स्मरण करानेवाले भगवान्के परम सुन्दर प्रतीक हैं। इसीसे उन्होंने स्वीकार भी किया। उनकी प्रेममयी स्थिति मर्यादाके ऊपर थी, फिर भी उन्होंने भगवान्की इच्छासे मर्यादा स्वीकार की। इस दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा जान पड़ता है कि भगवान्की यह चीरहरण-लीला भी अन्य लीलाओंकी भाँति उच्चतम मर्यादासे परिपूर्ण है।

(भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें केवल वे ही प्राचीन आर्षग्रन्थ प्रमाण हैं, जिनमें उनकी लीलाका वर्णन हुआ है। उनमेंसे एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका वर्णन न हो। श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान् हैं, यही बात सर्वत्र मिलती है। जो श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यह स्पष्ट है कि वे उन ग्रन्थोंको भी नहीं मानते। और जो उन ग्रन्थोंको ही प्रमाण नहीं मानते, वे उनमें वर्णित लीलाओंके आधारपर श्रीकृष्ण-चरित्रकी समीक्षा करनेका अधिकार भी नहीं रखते।) भगवान्की लीलाओंको मानवीय चरित्रके समकक्ष रखना शास्त्र-दृष्टिसे एक महान् अपराध है और उसके अनुकरणका तो सर्वथा ही निषेध है। मानवबुद्धि—जो स्थूलताओंसे ही परिवेष्टित है—केवल जडके सम्बन्धमें ही सोच सकती है, भगवान्की दिव्य चिन्मयी लीलाके सम्बन्धमें कोई कल्पना ही नहीं कर सकती। वह बुद्धि स्वयं ही अपना उपहास करती है, जो समस्त बुद्धियोंके प्रेरक और बुद्धियोंसे अत्यन्त परे रहनेवाले परमात्माकी दिव्य लीलाको अपनी कसौटीपर कसती है।

हृदय और बुद्धिके सर्वथा विपरीत होनेपर भी यदि थोड़ी देरके लिये मान लें कि श्रीकृष्ण भगवान् नहीं थे या उनकी यह लीला मानवीय थी, तो भी तर्क और युक्तिके सामने ऐसी कोई बात नहीं टिक पाती जो श्रीकृष्णके चरित्रमें लाञ्छन हो। श्रीमद्भागवतका पारायण करनेवाले जानते हैं कि व्रजमें श्रीकृष्णने केवल ग्यारह वर्षकी अवस्थातक ही निवास किया था। यदि रास-लीलाका समय दसवाँ वर्ष मानें, तो नवें वर्षमें ही चीरहरण-लीला हुई थी। इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती कि आठ-नौ वर्षके बालकमें कामोत्तेजना हो सकती है। गाँवकी गँवारिन ग्वालिनें, जहाँ वर्तमानकालकी नागरिक मनोवृत्ति नहीं पहुँच पायी है, एक आठ-नौ वर्षके बालकसे अवैध सम्बन्ध करना चाहें और उसके लिये साधना करें—यह कदापि सम्भव नहीं दीखता। उन कुमारी गोपियोंके मनमें कलुषित वृत्ति थी, यह वर्तमान कलुषित मनोवृत्तिकी उद्भावना है। आजकल जैसे गाँवकी छोटी-छोटी लड़कियाँ 'राम'-सा वर और 'लक्ष्मण'सा देवर पानेके लिये देवी-देवताओंकी पूजा करती हैं, वैसे ही उन कुमारियोंने भी परम सुन्दर परम मधुर श्रीकृष्णको पानेके लिये देवी-पूजन और व्रत किये थे। इसमें दोषकी कौन-सी बात है?

आजकी बात निराली है। भोगप्रधान देशोंमें तो नग्नसम्प्रदाय और नग्नस्नानके क्लब भी बने हुए हैं। उनकी दृष्टि इन्द्रिय-तृप्तितक ही सीमित है। भारतीय मनोवृत्ति इस उत्तेजक एवं मलिन व्यापारके विरुद्ध है। नग्नस्नान एक दोष है, जो कि पशुत्वको बढ़ानेवाला है। शास्त्रोंमें इसका निषेध है, 'न नग्नः स्नायात्'—यह शास्त्रकी आज्ञा है। श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि गोपियाँ शास्त्रके विरुद्ध आचरण करें। केवल लौकिक अनर्थ ही

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः ।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम् ।२८।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान्‌की यह आज्ञा पाकर वे कुमारियाँ भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंका ध्यान करती हुई जानेकी इच्छा न होनेपर भी बड़े कष्टसे व्रजमें गयीं । अब उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी थीं ॥ २८ ॥

नहीं—भारतीय ऋषियोंका वह सिद्धान्त, जो प्रत्येक वस्तुमें पृथक्-पृथक् देवताओंका अस्तित्व मानता है इस नग्नस्नानको देवताओंके विपरीत बतलाता है । श्रीकृष्ण जानते थे कि इससे वरुण देवताका अपमान होता है । गोपियाँ अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये जो तपस्या कर रही थीं, उसमें उनका नग्नस्नान अनिष्ट फल देनेवाला था और इस प्रथाके प्रभातमें ही यदि इसका विरोध न कर दिया जाय तो आगे चलकर इसका विस्तार हो सकता है; इसलिये श्रीकृष्णने अलौकिक ढंगसे इसका निषेध कर दिया ।

गाँवोंकी ग्वालिनोंको इस प्रथाकी बुराई किस प्रकार समझायी जाय, इसके लिये भी श्रीकृष्णने एक मौलिक उपाय सोचा । यदि वे गोपियोंके पास जाकर उन्हें देवतावादकी फिलासफी समझाते, तो वे सरलतासे नहीं समझ सकती थीं । उन्हें तो इस प्रथाके कारण होनेवाली विपत्तिका प्रत्यक्ष अनुभव करा देना था । और विपत्तिका अनुभव करानेके पश्चात् उन्होंने देवताओंके अपमानकी बात भी बता दी तथा अञ्जलि बाँधकर क्षमा-प्रार्थनारूप प्रायश्चित्त भी करवाया । महापुरुषोंमें उनकी बाल्यावस्थामें भी ऐसी प्रतिभा देखी जाती है ।

श्रीकृष्ण आठ-नौ वर्षके थे, उनमें कामोत्तेजना नहीं हो सकती और नग्नस्नानकी कुप्रथाको नष्ट करनेके लिये उन्होंने चीरहरण किया—यह उत्तर सम्भव होनेपर भी मूलमें आये हुए 'काम' और रमण शब्दोंसे कई लोग भड़क उठते हैं । यह केवल शब्दकी पकड़ है, जिसपर महात्मालोग ध्यान नहीं देते । श्रुतियोंमें और गीतामें भी अनेकों बार 'काम', 'रमण' और 'रति' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है; परन्तु वहाँ उनका अश्लील अर्थ नहीं होता । गीतामें तो 'धर्माविरुद्ध काम' को परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है । महापुरुषोंका आत्मरमण, आत्ममिथुन और आत्मरति प्रसिद्ध ही है । ऐसी स्थितिमें केवल कुछ शब्दोंको देखकर भड़कना विचारशील पुरुषोंका काम नहीं है । जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं उन्हें रमण और रति शब्दका अर्थ केवल क्रीडा अथवा खिलवाड़ समझना चाहिये, जैसा कि व्याकरणके अनुसार ठीक है—'रमु क्रीडायाम्' ।

दृष्टिभेदसे श्रीकृष्णकी लीला भिन्न-भिन्न रूपमें दीख पड़ती है । अध्यात्मवादी श्रीकृष्णको आत्माके रूपमें देखते हैं और गोपियोंको वृत्तियोंके रूपमें । वृत्तियोंका आवरण नष्ट हो जाना ही 'चीरहरणलीला' है और उनका आत्मामें रम जाना ही 'रास' है । इस दृष्टिसे भी समस्त लीलाओंकी संगति बैठ जाती है । भक्तोंकी दृष्टिसे गोलोकाधिपति पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका यह सब नित्यलीला-विलास है और अनादिकालसे अनन्तकालतक यह नित्य चलता रहता है । कभी-कभी भक्तोंपर कृपा करके वे अपने नित्य धाम और नित्य सखा-सहचरियोंके साथ लीलाधाममें प्रकट होकर लीला करते हैं और भक्तोंके स्मरण-चिन्तन तथा आनन्द-मङ्गलकी सामग्री प्रकट करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं । साधकोंके लिये किस प्रकार कृपा करके भगवान् अन्तर्मलको और अनादिकालसे सञ्चित संस्कारपटको विशुद्ध कर देते हैं, यह बात भी इस चीरहरण-लीलासे प्रकट होती है । भगवान्‌की लीला रहस्यमयी है, उसका तत्त्व केवल भगवान् ही जानते हैं और उनकी कृपासे उनकी लीलामें प्रविष्ट भाग्यवान् भक्त कुछ-कुछ जानते हैं । यहाँ तो शास्त्रों और संतोंकी वाणीके आधारपर ही कुछ लिखनेकी धृष्टता की गयी है ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः ।

वृन्दावनाद् गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ॥२९॥

निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः ।

आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः ॥३०॥

हे स्तोककृष्ण हे अंशो श्रीदामन् सुबलार्जुन ।

विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप ॥३१॥

पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवितान् ।

वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥३२॥

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् ।

सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥३३॥

पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।

गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः[1] कामान् वितन्वते ॥३४॥

एतावज्जन्मसाफल्यं[2] देहिनामिह देहिषु ।

प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय[3] एवाचरेत् सदा ॥३५॥

इति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः ।

तरूणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः ॥३६॥

तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः ।

ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥३७॥

तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून् नृप ।

प्रिय परीक्षित् ! एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण बलराम-जी और ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराते हुए वृन्दावनसे बहुत दूर निकल गये ॥ २९ ॥ ग्रीष्म ऋतु थी। सूर्यकी किरणें बहुत ही प्रखर हो रही थीं। परन्तु घने-घने वृक्ष भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर छत्तेका काम कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने वृक्षोंको छाया करते देख स्तोककृष्ण, अंशु, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, विशाल, ऋषभ, तेजस्वी, देवप्रस्थ और वरूथप आदि ग्वालबालोंको सम्बोधन करके कहा ॥ ३०-३१ ॥ 'मेरे प्यारे मित्रो ! देखो, ये वृक्ष कितने भाग्यवान् हैं ! इनका सारा जीवन केवल दूसरों-की भलाई करनेके लिये ही है। ये स्वयं तो हवाके झोंके, वर्षा, धूप और पाला—सब कुछ सहते हैं, परन्तु हमलोगोंकी उनसे रक्षा करते हैं ॥ ३२ ॥ मैं कहता हूँ कि इन्हींका जीवन सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि इनके द्वारा सब प्राणियोंको सहारा मिलता है, उनका जीवन-निर्वाह होता है। जैसे किसी सज्जन पुरुषके घरसे कोई याचक खाली हाथ नहीं लौटता, वैसे ही इन वृक्षोंसे भी सभीको कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है ॥ ३३ ॥ ये अपने पत्ते, फूल, फल, छाया, जड़, छाल, लकड़ी, गन्ध, गोंद, राख, कोयला, अङ्कुर और कोंपलोंसे भी लोगोंकी कामना पूर्ण करते हैं; ॥३४॥ मेरे प्यारे मित्रो ! संसारमें प्राणी तो बहुत हैं; परन्तु उनके जीवनकी सफलता इतनेमें ही है कि जहाँतक हो सके अपने धनसे, विवेक-विचारसे, वाणीसे और प्राणोंसे भी ऐसे ही कर्म किये जायँ, जिनसे दूसरोंकी भलाई हो ॥ ३५ ॥ परीक्षित् ! दोनों ओरके वृक्ष नयी-नयी कोंपलों, गुच्छों, फल-फूलों और पत्तोंसे लद रहे थे। उनकी डालियाँ पृथ्वीतक झुकी हुई थीं। इस प्रकार भाषण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उन्हींके बीचसे यमुना-तटपर निकल आये ॥ ३६ ॥ राजन् ! यमुनाजीका जल बड़ा ही मधुर, शीतल और स्वच्छ था। उन लोगोंने पहले गौओंको पिलाया और इसके बाद स्वयं भी जी भरकर स्वादु जलका पान किया ॥ ३७॥ परीक्षित् ! जिस समय वे यमुनाजीके तटपर हरे भरे उपवनमें बड़ी स्वतन्त्रतासे अपनी गौएँ चरा रहे थे, उसी

१. स्विभोगैः। २. साफल्यं। ३. श्रेयआचरणं सदा।

कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रुवन् ॥३८॥

समय कुछ भूखे ग्वालोंने भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम-जीके पास आकर यह बात कही— ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[1]

गोपीवस्त्रापहारो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

यज्ञपत्नियोंपर कृपा

गोपा ऊचुः

राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।

एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथः ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् देवकीसुतः ।

भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥ २ ॥

प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।

सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥ ३ ॥

तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः ।

कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम् ॥ ४ ॥

इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा ।

कृताञ्जलिपुटा विप्रान् दण्डवत् पतिता भुवि ॥ ५ ॥

हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः ।

प्राप्ताञ्जानीत भद्रं वो गोपान् नो रामचोदितान् ॥ ६ ॥

गाश्चारयन्तावविदूर[2] ओदनं

रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ ।

ग्वालबालोंने कहा—नयनाभिराम बलराम ! तुम बड़े पराक्रमी हो । हमारे चित्तचोर श्यामसुन्दर ! तुमने बड़े-बड़े दुष्टोंका संहार किया है । उन्हीं दुष्टोंके समान यह भूख भी हमें सता रही है । अतः तुम दोनों इसे भी बुझानेका कोई उपाय करो ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! जब ग्वालबालोंने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की तब उन्होंने मथुराकी अपनी भक्त ब्राह्मणपत्नियोंपर अनुग्रह करनेके लिये यह बात कही— ॥ २ ॥ 'मेरे प्यारे मित्रो ! यहाँसे थोड़ी ही दूरपर वेदवादी ब्राह्मण स्वर्गकी कामनासे आङ्गिरस नामका यज्ञ कर रहे हैं । तुम उनकी यज्ञशालामें जाओ ॥ ३ ॥ ग्वालबालो ! मेरे भेजनेसे वहाँ जाकर तुमलोग मेरे बड़े भाई भगवान् श्रीबलराम-जीका और मेरा नाम लेकर कुछ थोड़ा सा भात—भोजनकी सामग्री माँग लाओ' ॥ ४ ॥ जब भगवान्ने ऐसी आज्ञा दी, तब ग्वालबाल उन ब्राह्मणोंकी यज्ञशाला-में गये और उनसे भगवान्की आज्ञाके अनुसार ही अन्न माँगा । पहले उन्होंने पृथ्वीपर गिरकर दण्डवत्-प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर कहा— ॥ ५ ॥ 'पृथ्वीके मूर्तिमान् देवता ब्राह्मणो ! आपका कल्याण हो ! आपसे निवेदन है कि हम व्रजके ग्वाले हैं । भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी आज्ञासे हम आपके पास आये हैं । आप हमारी बात सुनें ॥ ६ ॥ भगवान् बलराम और श्रीकृष्ण गौएँ चराते हुए यहाँसे थोड़ी ही दूरपर आये हुए हैं । उन्हें इस समय भूख लगी है और वे चाहते हैं कि

1. कृष्णक्रीडायां यमुनागमनं नाम द्वाविंशतितमो । 2. न्तौ न विदू० ।

तयं द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि
श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ॥ ७ ॥
दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति ॥ ८ ॥
इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः ।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः ॥ ९ ॥
देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥ १० ॥
तं ब्रह्म परमं साक्षाद् भगवन्तमधोक्षजम् ।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे ॥ ११ ॥
न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परंतप ।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ॥ १२ ॥
तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदीश्वरः ।
व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयँल्लौकिकीं गतिम् ॥ १३ ॥
मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससंकर्षणमागतम् ।
दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया ॥ १४ ॥
गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वाऽऽसीनाः स्वलङ्कृताः ।

आपलोग उन्हें थोड़ा-सा भात दे दें। ब्राह्मणो! आप धर्मका मर्म जानते हैं। यदि आपकी श्रद्धा हो, तो उन भोजनार्थियोंके लिये कुछ भात दे दीजिये ॥ ७ ॥ सज्जनो! जिस यज्ञदीक्षामें पशुबलि होती है, उसमें और सौत्रामणी यज्ञमें दीक्षित पुरुषका अन्न नहीं खाना चाहिये। इनके अतिरिक्त और किसी भी समय किसी भी यज्ञमें दीक्षित पुरुषका भी अन्न खानेमें कोई दोष नहीं है' ॥ ८ ॥ परीक्षित्! इस प्रकार भगवान्‌के अन्न माँगनेकी बात सुनकर भी उन ब्राह्मणोंने उसपर कोई ध्यान नहीं दिया। वे चाहते थे स्वर्गादि तुच्छ फल, और उनके लिये बड़े-बड़े कर्मोंमें उलझे हुए थे। सच पूछो तो वे ब्राह्मण ज्ञानकी दृष्टिसे थे बालक ही, परन्तु अपनेको बड़ा ज्ञानवृद्ध मानते थे ॥ ९ ॥ परीक्षित्! देश, काल, अनेक प्रकारकी सामग्रियाँ, भिन्न-भिन्न कर्मोंमें विनियुक्त मन्त्र, अनुष्ठानकी पद्धति, ऋत्विज-ब्रह्मा आदि यज्ञ करानेवाले, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म—इन सब रूपोंमें एकमात्र भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं ॥ ॥ १० ॥ वे ही इन्द्रियातीत परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ग्वालबालोंके द्वारा भात माँग रहे हैं। परन्तु इन मूर्खोंने, जो अपनेको शरीर ही माने बैठे हैं, भगवान्‌को भी एक साधारण मनुष्य ही माना और उनका सम्मान नहीं किया ॥ ११ ॥ परीक्षित्! जब उन ब्राह्मणोंने 'हाँ' या 'ना'—कुछ नहीं कहा, तब ग्वालबालोंकी आशा टूट गयी; वे लौट आये और वहाँकी सब बात उन्होंने श्रीकृष्ण तथा बलरामसे कह दी ॥ १२ ॥ उनकी बात सुनकर सारे जगत्‌के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण हँसने लगे। उन्होंने ग्वालबालोंको समझाया कि 'संसारमें असफलता तो बार-बार होती ही है, उससे निराश नहीं होना चाहिये; बार-बार प्रयत्न करते रहनेसे सफलता मिल ही जाती है।' फिर उनसे कहा— ॥ १३ ॥ 'मेरे प्यारे ग्वालबालो! इस बार तुमलोग उनकी पत्नियोंके पास जाओ और उनसे कहो कि राम और श्याम यहाँ आये हैं। तुम जितना चाहोगे उतना भोजन वे तुम्हें देंगी। वे मुझसे बड़ा प्रेम करती हैं। उनका मन सदा-सर्वदा मुझमें लगा रहता है' ॥ १४ ॥

अबकी बार ग्वालबाल पत्नीशालामें गये। वहाँ जाकर देखा तो ब्राह्मणोंकी पत्नियाँ सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और

नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन् ॥१५॥

नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः ।

इतोऽविदूरे चरता कृष्णेनेहेषिता वयम् ॥१६॥

गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः ।

बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ॥१७॥

श्रुत्वाच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ।

तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः ॥१८॥

चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः ।

अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥१९॥

निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः ।

भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥२०॥

यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते ।

विचरन्तं वृतं गोपैः साग्रजं ददृशुः स्त्रियः ॥२१॥

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-

धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।

विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं

कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥२२॥

गहनोंसे सज-धजकर बैठी हैं। उन्होंने द्विजपत्नियोंको प्रणाम करके बड़ी नम्रतासे यह बात कही—॥१५॥ 'आप विप्रपत्नियोंको हम नमस्कार करते हैं। आप कृपा करके हमारी बात सुनें। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँसे थोड़ी ही दूरपर आये हुए हैं और उन्होंने ही हमें आपके पास भेजा है ॥ १६ ॥ वे ग्वालबाल और बलरामजीके साथ गौएँ चराते हुए इधर बहुत दूर आ गये हैं। इस समय उन्हें और उनके साथियोंको भूख लगी है। आप उनके लिये कुछ भोजन दे दें ॥१७॥ परीक्षित्! वे ब्राह्मणियाँ बहुत दिनोंसे भगवान्‌की मनोहर लीलाएँ सुनती थीं। उनका मन उनमें लग चुका था। वे सदा-सर्वदा इस बातके लिये उत्सुक रहतीं कि किसी प्रकार श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँ। श्रीकृष्णके आनेकी बात सुनते ही वे उतावली हो गयीं।१८। उन्होंने बर्तनोंमें अत्यन्त स्वादिष्ट और हितकर भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—चारों प्रकारकी भोजन-सामग्री ले ली तथा भाई-बन्धु, पति-पुत्रोंके रोकते रहनेपर भी अपने प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके पास जानेके लिये घरसे निकल पड़ीं—ठीक वैसे ही, जैसे नदियाँ समुद्रके लिये। क्यों न हो; न जाने कितने दिनोंसे पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके गुण, लीला, सौन्दर्य और माधुर्य आदिका वर्णन सुन-सुनकर उन्होंने उनके चरणोंपर अपना हृदय निछावर कर दिया था।१९-२०। ब्राह्मणपत्नियोंने जाकर देखा कि यमुनाके तटपर नये-नये कोंपलोंसे शोभायमान अशोक-वनमें ग्वालबालोंसे घिरे हुए बलरामजीके साथ श्रीकृष्ण इधर-उधर घूम रहे हैं ॥ २१ ॥ उनके साँवले शरीरपर सुनहला पीताम्बर झिलमिला रहा है। गलेमें वनमाला लटक रही है। मस्तकपर मोरपंखका मुकुट है। अङ्ग-अङ्गमें रंगीन धातुओंसे चित्रकारी कर रक्खी है। नये नये कोंपलोंके गुच्छे शरीरमें लगाकर नटका-सा वेष बना रक्खा है। एक हाथ अपने सखा ग्वालबालके कंधेपर रक्खे हुए हैं और दूसरे हाथसे कमलका फूल नचा रहे हैं। कानोंमें कमलके कुण्डल हैं, कपोलोंपर घुँघराली अलकें लटक रही हैं और मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानकी रेखासे प्रफुल्लित हो रहा

प्रायः श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरै-

र्यस्मिन् निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः ।

अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं

प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र ॥२३॥

तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया ।

विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥२४॥

स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम् ।

यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥२५॥

नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शनाः ।

अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥२६॥

प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।

यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः ॥२७॥

तद् यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः ।

स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः ॥२८॥

है ॥ २२ ॥ परीक्षित् ! अबतक अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके गुण और लीलाएँ अपने कानोंसे सुन-सुनकर उन्होंने अपने मनको उन्हींके प्रेमके रंगमें रँग डाला था, उसीमें सराबोर कर दिया था । अब नेत्रोंके मार्गसे उन्हें भीतर ले जाकर बहुत देरतक वे मन-ही-मन उनका आलिङ्गन करती रहीं और इस प्रकार उन्होंने अपने हृदयकी जलन शान्त की—ठीक वैसे ही, जैसे जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंकी वृत्तियाँ 'यह मैं, यह मेरा' इस भावसे जलती रहती हैं, परन्तु सुषुप्ति-अवस्थामें उसके अभिमानी प्राज्ञको पाकर उसीमें लीन हो जाती हैं और उनकी सारी जलन मिट जाती है ॥ २३ ॥

प्रिय परीक्षित् ! भगवान् सबके हृदयकी बात जानते हैं, सबकी बुद्धियोंके साक्षी हैं । उन्होंने जब देखा कि ये ब्राह्मणपत्नियाँ अपने भाई-बन्धु और पति-पुत्रोंके रोकनेपर भी सब सगे-सम्बन्धियों और विषयोंकी आशा छोड़कर केवल मेरे दर्शनकी लालसासे ही मेरे पास आयी हैं, तब उन्होंने उनसे कहा । उस समय उनके मुखारविन्दपर हास्यकी तरङ्गें अठखेलियाँ कर रही थीं ॥ २४ ॥ भगवान्‌ने कहा—'महाभाग्यवती देवियो ! तुम्हारा स्वागत है । आओ, बैठो । कहो, हम तुम्हारा क्या स्वागत करें ? तुमलोग हमारे दर्शनकी इच्छासे यहाँ आयी हो, यह तुम्हारे-जैसे प्रेमपूर्ण हृदयवालोंके योग्य ही है ॥ २५ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि संसारमें अपनी सच्ची भलाईको समझनेवाले जितने भी बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे अपने प्रियतमके समान ही मुझसे प्रेम करते हैं, और ऐसा प्रेम करते हैं, जिसमें किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती—जिसमें किसी प्रकारका व्यवधान, सङ्कोच, छिपाव, दुविधा या द्वैत नहीं होता ॥ २६ ॥ प्राण, बुद्धि, मन, शरीर, स्वजन, स्त्री, पुत्र और धन आदि संसारकी सभी वस्तुएँ जिसके लिये और जिसकी सन्निधिसे प्रिय लगती हैं—उस आत्मासे, परमात्मासे, मुझ श्रीकृष्णसे बढ़कर और कौन प्यारा हो सकता है ॥ २७ ॥ इसलिये तुम्हारा आना उचित ही है । मैं तुम्हारे प्रेमका अभिनन्दन करता हूँ । परन्तु अब तुमलोग मेरा दर्शन कर चुकीं । अब अपनी यज्ञशालामें लौट जाओ । तुम्हारे पति ब्राह्मण गृहस्थ हैं । वे तुम्हारे साथ मिलकर ही अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे ॥' २८ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'स्वागतं वो'......इत्यादि श्लोकके पहले 'श्रीभगवानुवाच' इतना अधिक पाठ है । २. यास्यंता ।

पत्न्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् ।
प्राप्ता वयं तुलसिदामपदावसृष्टं
केशैर्निवोढुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धून् ॥२९॥
गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा
न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये ।
तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो
नान्या भवेद् गतिररिन्दम तद् विधेहि॥३०॥

ब्राह्मणपत्नियोंने कहा—अन्तर्यामी श्यामसुन्दर ! आपकी यह बात निष्ठुरतासे पूर्ण है । आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । श्रुतियाँ कहती हैं कि जो एक बार भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है, उसे फिर संसारमें नहीं लौटना पड़ता । आप अपनी यह वेदवाणी सत्य कीजिये । हम अपने समस्त सगे-सम्बन्धियोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके आपके चरणोंमें इसलिये आयी हैं कि आपके चरणोंसे गिरी हुई तुलसीकी माला अपने केशोंमें धारण करें ॥ २९ ॥ स्वामी ! अब हमारे पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु और स्वजन-सम्बन्धी हमें स्वीकार नहीं करेंगे; फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है । वीरशिरोमणे ! अब हम आपके चरणोंमें आ पड़ी हैं । हमें और किसीका सहारा नहीं है । इसलिये अब हमें दूसरोंकी शरणमें न जाना पड़े; ऐसी व्यवस्था कीजिये ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच

पतयो नाभ्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः ।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥३१॥
न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥३२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवियो ! तुम्हारे पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु— कोई भी तुम्हारा तिरस्कार नहीं करेंगे । उनकी तो बात ही क्या, सारा संसार तुम्हारा सम्मान करेगा । इसका कारण है । अब तुम मेरी हो गयी हो, मुझसे युक्त हो गयी हो । देखो न, ये देवता मेरी बातका अनुमोदन कर रहे हैं ॥ ३१ ॥ देवियो ! इस संसारमें मेरा अङ्ग-सङ्ग ही मनुष्योंमें मेरी प्रीति या अनुरागका कारण नहीं है । इसलिये तुम जाओ, अपना मन मुझमें लगा दो । तुम्हें बहुत शीघ्र मेरी प्राप्ति हो जायगी ॥ ३२ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः ।
ते चानसूयवः स्वाभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन् ॥३३॥
तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब भगवान्‌ने इस प्रकार कहा, तब वे ब्राह्मणपत्नियाँ यज्ञशालामें लौट गयीं । उन ब्राह्मणोंने अपनी स्त्रियोंमें तनिक भी दोषदृष्टि नहीं की । उनके साथ मिलकर अपना यज्ञ पूरा किया ॥ ३३ ॥ उन स्त्रियोंमेंसे एकको आनेके समय ही उसके पतिने बलपूर्वक रोक लिया था । इसपर उस ब्राह्मणपत्नीने भगवान्‌के वैसे ही स्वरूपका ध्यान किया, जैसा कि बहुत दिनोंसे सुन रक्खा था । जब उसका ध्यान जम गया, तब मन-ही-मन भगवान्‌का

१. निरोद्धुमभिलङ्घ्य । २. न ह्यभ्य० ।

हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥३४॥

आलिङ्गन करके उसने कर्मके द्वारा बने हुए अपने शरीरको छोड़ दिया— (शुद्धसत्त्वमय दिव्य शरीरसे उसने भगवान्की सन्निधि प्राप्त कर ली) ॥ ३४ ॥

भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान् ।
चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः ॥३५॥

इधर भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणियोंके लाये हुए उस चार प्रकारके अन्नसे पहले ग्वालबालोंको भोजन कराया और फिर उन्होंने स्वयं भी भोजन किया ॥ ३५ ॥

एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन् ।
रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक्कृतैः ॥३६॥

परीक्षित् ! इस प्रकार लीलामनुष्य भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्यकी-सी लीला की और अपने सौन्दर्य, माधुर्य, वाणी तथा कर्मोंसे गौएँ, ग्वालबाल और गोपियोंको आनन्दित किया और स्वयं भी उनके अलौकिक प्रेमरसका आस्वादन करके आनन्दित हुए ॥ ३६ ॥

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः ।
यद् विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडम्बयोः ॥३७॥

परीक्षित् ! इधर जब ब्राह्मणोंको यह मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, तब उन्हें बड़ा पछतावा हुआ । वे सोचने लगे कि जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके हमने बड़ा भारी अपराध किया है । वे तो मनुष्यकी-सी लीला करते हुए भी परमेश्वर ही हैं ॥ ३७ ॥

दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् ।
आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ॥३८॥

जब उन्होंने देखा कि हमारी पत्नियोंके हृदयमें तो भगवान्का अलौकिक प्रेम है और हमलोग उससे बिल्कुल रीते हैं, तब वे पछता-पछताकर अपनी निन्दा करने लगे ॥ ३८ ॥

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम् ।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ३९

वे कहने लगे—'हाय ! हम भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं । बड़े ऊँचे कुलमें हमारा जन्म हुआ, गायत्री ग्रहण करके हम द्विजाति हुए, वेदाध्ययन करके हमने बड़े-बड़े यज्ञ किये; परन्तु वह सब किस कामका ? धिक्कार है, धिक्कार है ! हमारी विद्या व्यर्थ गयी, हमारे व्रत बुरे सिद्ध हुए । हमारी इस बहुज्ञताको धिक्कार है ! ऊँचे वंशमें जन्म लेना, कर्मकाण्डमें निपुण होना किसी काम न आया । इन्हें बार-बार धिक्कार है ॥३९॥

नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी ।
यद् वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥४०॥

निश्चय ही भगवान्की माया बड़े-बड़े योगियोंको भी मोहित कर लेती है । तभी तो हम कहलाते हैं मनुष्योंके गुरु और ब्राह्मण, परन्तु अपने सच्चे स्वार्थ और परमार्थके विषयमें बिल्कुल भूले हुए हैं ॥ ४० ॥

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ॥४१॥

कितने आश्चर्यकी बात है ! देखो तो सही—यद्यपि ये स्त्रियाँ हैं, तथापि जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णमें इनका कितना अगाध प्रेम है, अखण्ड अनुराग है ! उसीसे इन्होंने गृहस्थीकी यह बहुत बड़ी फाँसी भी काट डाली,

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥४२॥
अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥४३॥
ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया ।
अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥४४॥
अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः ।
ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद् विडम्बनम् ॥४५॥
हित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशया सकृत् ।
आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी ॥४६॥
देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥४७॥
स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ।

जो मृत्युके साथ भी नहीं कटती ॥ ४१ ॥ इनके न तो द्विजातिके योग्य यज्ञोपवीत आदि संस्कार हुए हैं और न तो इन्होंने गुरुकुलमें ही निवास किया है। न इन्होंने तपस्या की है और न तो आत्माके सम्बन्धमें ही कुछ विवेक-विचार किया है। उनकी बातें तो दूर रहीं, इनमें न तो पूरी पवित्रता है और न तो शुभकर्म ही ॥ ४२ ॥ फिर भी समस्त योगेश्वरोंके ईश्वर पुण्य-कीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें इनका दृढ़ प्रेम है। और हमने अपने संस्कार किये हैं, गुरुकुलमें निवास किया है, तपस्या की है, आत्मानुसन्धान किया है, पवित्रताका निर्वाह किया है तथा अच्छे-अच्छे कर्म किये हैं; फिर भी भगवान्के चरणोंमें हमारा प्रेम नहीं है ॥ ४३ ॥ सच्ची बात यह है कि हमलोग गृहस्थीके काम-धंधोंमें मतवाले हो गये थे, अपनी भलाई और बुराईको बिल्कुल भूल गये थे। अहो, भगवान्की कितनी कृपा है! भक्तवत्सल प्रभुने ग्वालबालोंको भेजकर उनके वचनोंसे हमें चेतावनी दी, अपनी याद दिलायी ॥ ४४ ॥ भगवान् स्वयं पूर्णकाम हैं और कैवल्यमोक्षपर्यन्त जितनी भी कामनाएँ होती हैं, उनको पूर्ण करनेवाले हैं। यदि हमें सचेत नहीं करना होता तो उनका हम-सरीखे क्षुद्र जीवोंसे प्रयोजन ही क्या हो सकता था? अवश्य ही उन्होंने इसी उद्देश्यसे माँगनेका बहाना बनाया। अन्यथा उन्हें माँगनेकी भला क्या आवश्यकता थी? ॥ ४५ ॥ स्वयं लक्ष्मी अन्य सब देवताओंको छोड़कर, और अपनी चञ्चलता, गर्व आदि दोषोंका परित्याग कर केवल एक बार उनके चरणकमलोंका स्पर्श पानेके लिये सेवा करती रहती हैं। वे ही प्रभु किसीसे भोजनकी याचना करें, यह लोगोंको मोहित करनेके लिये नहीं तो और क्या है? ॥ ४६ ॥ देश, काल, पृथक्-पृथक् सामग्रियाँ, उन-उन कर्मोंमें विनियुक्त मन्त्र, अनुष्ठानकी पद्धति, ऋत्विज, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म—सब भगवान्के ही स्वरूप हैं ॥ ४७ ॥ वे ही योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् विष्णु स्वयं श्रीकृष्णके रूपमें यदुवंशियोंमें अवतीर्ण

१. नूनं ।

जातो यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ॥४८॥

हुए हैं, यह बात हमने सुन रक्खी थी; परन्तु हम इतने मूढ़ हैं कि उन्हें पहचान न सके ॥ ४८ ॥

अहो[1] वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ।
भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ ॥४९॥

यह सब होनेपर भी हम धन्यातिधन्य हैं, हमारे अहोभाग्य हैं तभी तो हमें वैसी पत्नियाँ प्राप्त हुई हैं। उनकी भक्तिसे हमारी बुद्धि भी भगवान् श्रीकृष्णके अविचल प्रेमसे युक्त हो गयी है ॥ ४९ ॥

नमस्तुभ्यं[2] भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ॥५०॥

प्रभो ! आप अचिन्त्य और अनन्त ऐश्वर्योंके स्वामी हैं। श्रीकृष्ण ! आपका ज्ञान अबाध है। आपकी ही मायासे हमारी बुद्धि मोहित हो रही है और हम कर्मोंके पचड़ेमें भटक रहे हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ५० ॥

स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम् ।
अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम् ॥५१॥

वे आदिपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हमारे इस अपराधको क्षमा करें। क्योंकि हमारी बुद्धि उनकी मायासे मोहित हो रही है और हम उनके प्रभावको न जाननेवाले अज्ञानी हैं ॥ ५१ ॥

इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः ।
दिदृक्षवोऽप्यच्युतयोः कंसाद् भीता न चाचलन् ॥५२॥

परीक्षित् ! उन ब्राह्मणोंने श्रीकृष्णका तिरस्कार किया था। अतः उन्हें अपने अपराधकी स्मृतिसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उनके हृदयमें श्रीकृष्ण-बलरामके दर्शनकी बड़ी इच्छा भी हुई; परन्तु कंसके डरके मारे वे उनका दर्शन करने न जा सके ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे यज्ञपत्न्युद्धरणं[3] नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

इन्द्रयज्ञ-निवारण

श्रीशुक[4] उवाच

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः ।
अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ वृन्दावनमें रहकर अनेकों प्रकारकी लीलाएँ कर रहे थे। उन्होंने एक दिन देखा कि वहाँके सब गोप इन्द्र-यज्ञ करनेकी तैयारी कर रहे हैं ॥ १ ॥

तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
प्रश्रयावनतोऽपृच्छद् वृद्धान् नन्दपुरोगमान् ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण सबके अन्तर्यामी और सर्वज्ञ हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं थी, वे सब जानते थे। फिर भी विनयावनत होकर उन्होंने नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंसे पूछा—॥ २ ॥ 'पिताजी ! आपलोगोंके

१. प्राचीन प्रतिमें 'अहो वय''' से लेकर'''''निश्चला हरौ' तकका पाठ नहीं है। २. स्वस्मै। ३. पत्न्युपदर्शनं नाम त्रयोविंशतितमो०। ४. बादरायणिरुवाच।

कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः ।

किं फलं कस्य चोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥ ३ ॥

एतद् ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः ।

न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ॥ ४ ॥

अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम् ।

उदासीनोऽरिवद् वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते ॥ ५ ॥

ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति ।

विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत् ॥ ६ ॥

तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः ।

अथवा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम् ॥ ७ ॥

नन्द[1] उवाच

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः ।

तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पयः ॥ ८ ॥

तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् ।

द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः ॥ ९ ॥

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे ।

पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥१०॥

य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नरः ।

कामाल्लोभाद् भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम् ११

सामने यह कौन-सा बड़ा भारी काम, कौन-सा उत्सव आ पहुँचा है ? इसका फल क्या है ? किस उद्देश्यसे, कौन लोग, किन साधनोंके द्वारा यह यज्ञ किया करते हैं ? पिताजी ! आप मुझे यह अवश्य बतलाइये ॥ ३ ॥ आप मेरे पिता हैं और मैं आपका पुत्र । ये बातें सुननेके लिये मुझे बड़ी उत्कण्ठा भी है । पिताजी ! जो संत पुरुष सबको अपनी आत्मा मानते हैं, जिनकी दृष्टिमें अपने और परायेका भेद नहीं है, जिनका न कोई मित्र है, न शत्रु और न उदासीन—उनके पास छिपानेकी तो कोई बात होती ही नहीं । परन्तु यदि ऐसी स्थिति न हो, तो रहस्यकी बात शत्रुकी भाँति उदासीनसे भी नहीं कहनी चाहिये । मित्र तो अपने समान ही कहा गया है; इसलिये उससे कोई बात छिपायी नहीं जाती ॥ ४-५ ॥ यह संसारी मनुष्य समझे-बेसमझे अनेकों प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करता है । उनमेंसे समझ-बूझकर करनेवाले पुरुषोंके कर्म जैसे सफल होते हैं, वैसे बेसमझके नहीं ॥ ६ ॥ अतः इस समय आपलोग जो क्रियायोग करने जा रहे हैं, वह सुहृदोंके साथ विचारित—शास्त्रसम्मत है अथवा लौकिक ही है—मैं यह सब जानना चाहता हूँ; आप कृपा करके स्पष्टरूपसे बतलाइये' ॥ ७ ॥

नन्दबाबाने कहा—बेटा ! भगवान् इन्द्र वर्षा करनेवाले मेघोंके स्वामी हैं । ये मेघ उन्हींके अपने रूप हैं । वे समस्त प्राणियोंको तृप्त करनेवाला एवं जीवनदान करनेवाला जल बरसाते हैं ॥ ८ ॥ मेरे प्यारे पुत्र ! हम और दूसरे लोग भी उन्हीं मेघपति भगवान् इन्द्रकी यज्ञोंके द्वारा पूजा किया करते हैं । जिन सामग्रियोंसे यज्ञ होता है, वे भी उनके बरसाये हुए शक्तिशाली जलसे ही उत्पन्न होती हैं ॥ ९ ॥ उनका यज्ञ करनेके बाद जो कुछ बच रहता है, उसी अन्नसे हम सब मनुष्य अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्गकी सिद्धिके लिये अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । मनुष्योंके खेती आदि प्रयत्नोंके फल देनेवाले इन्द्र ही हैं ॥ १० ॥ यह धर्म हमारी कुल-परम्परासे चला आया है । जो मनुष्य काम, लोभ, भय अथवा द्वेषवश ऐसे परम्परागत धर्मको छोड़ देता है, उसका कभी मङ्गल नहीं होता ॥ ११ ॥

१. नन्दगोप उवाच ।

श्रीशुक[1] उवाच

वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम् ।
इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः ॥१२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! ब्रह्मा, शङ्कर आदिके भी शासन करनेवाले केशव भगवान्‌ने नन्दबाबा और दूसरे व्रजवासियोंकी बात सुनकर इन्द्रको क्रोध दिलानेके लिये अपने पिता नन्दबाबासे कहा ॥ १२ ॥

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते ।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥१३॥

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम् ।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ॥१४॥

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम् ।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ॥१५॥

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते ।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥१६॥

देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा ।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥१७॥

तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् ।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥१८॥

आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति ।
न तस्माद् विन्दते क्षेमं जारं नार्यसती यथा ॥१९॥

वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—पिताजी ! प्राणी अपने कर्मके अनुसार ही पैदा होता और कर्मसे ही मर जाता है । उसे उसके कर्मके अनुसार ही सुख-दुःख, भय और मङ्गलके निमित्तोंकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥ यदि कर्मोंको ही सब कुछ न मानकर उनसे भिन्न जीवोंके कर्मका फल देनेवाला ईश्वर माना भी जाय तो वह कर्म करनेवालोंको ही उनके कर्मके अनुसार फल दे सकता है । कर्म न करनेवालोंपर उसकी प्रभुता नहीं चल सकती ॥ १४ ॥ जब सभी प्राणी अपने-अपने कर्मोंका ही फल भोग रहे हैं, तब हमें इन्द्रकी क्या आवश्यकता है ? पिताजी ! जब वे पूर्वसंस्कारके अनुसार प्राप्त होनेवाले मनुष्योंके कर्म-फलको बदल ही नहीं सकते—तब उनसे प्रयोजन ? ॥ १५ ॥ मनुष्य अपने स्वभाव (पूर्व-संस्कारों) के अधीन है । वह उसीका अनुसरण करता है । यहाँतक कि देवता, असुर, मनुष्य आदिको लिये हुए यह सारा जगत् स्वभावमें ही स्थित है ॥ १६ ॥ जीव अपने कर्मोंके अनुसार उत्तम और अधम शरीरोंको ग्रहण करता और छोड़ता रहता है । अपने कर्मोंके अनुसार ही 'यह शत्रु है, यह मित्र है, यह उदासीन है'—ऐसा व्यवहार करता है । कहाँतक कहूँ, कर्म ही गुरु है और कर्म ही ईश्वर ॥ १७ ॥ इसलिये पिताजी ! मनुष्यको चाहिये कि पूर्वसंस्कारोंके अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुकूल धर्मोंका पालन करता हुआ कर्मका ही आदर करे । जिसके द्वारा मनुष्यकी जीविका सुगमतासे चलती है, वही उसका इष्टदेव होता है ॥ १८ ॥ जैसे अपने विवाहित पतिको छोड़कर जार पतिका सेवन करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री कभी शान्तिलाभ नहीं करती, वैसे ही जो मनुष्य अपनी आजीविका चलानेवाले एक देवताको छोड़कर किसी दूसरेकी उपासना करते हैं, उससे उन्हें कभी सुख नहीं मिलता ॥ १९ ॥ ब्राह्मण वेदोंके अध्ययन-अध्यापनसे, क्षत्रिय पृथ्वीपालनसे, वैश्य वार्ता-

[1] बादरायणिरुवाच ।

वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥२०॥
कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते ।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम् ॥२१॥
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ॥२२॥
रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ।
प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ॥२३॥
न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम् ।
नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः ॥२४॥
तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः ।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः ॥२५॥
पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः ।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम् ॥२६॥
हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥२७॥
अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः ।
यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः ॥२८॥
स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः ।
प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥२९॥
एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते ।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥३०॥

वृत्तिसे और शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवासे अपनी जीविकाका निर्वाह करें ॥ २० ॥ वैश्योंकी वार्तावृत्ति चार प्रकारकी है—कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और व्याज लेना । हमलोग उन चारोंमेंसे एक केवल गोपालन ही सदासे करते आये हैं ॥ २१ ॥ पिताजी ! इस संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और अन्तके कारण क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण हैं । यह विविध प्रकारका सम्पूर्ण जगत् स्त्री-पुरुषके संयोगसे रजोगुणके द्वारा उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥ उसी रजोगुणकी प्रेरणासे मेघगण सब कहीं जल बरसाते हैं । उसीसे अन्न और अन्नसे ही सब जीवोंकी जीविका चलती है । इसमें भला इन्द्रका क्या लेना-देना है ? वह भला, क्या कर सकता है ? ॥ २३ ॥

पिताजी ! न तो हमारे पास किसी देशका राज्य है और न तो बड़े-बड़े नगर ही हमारे आधीन हैं । हमारे पास गाँव या घर भी नहीं हैं । हम तो सदाके वनवासी हैं, वन और पहाड़ ही हमारे घर हैं ॥ २४ ॥ इसलिये हमलोग गौओं, ब्राह्मणों और गिरिराजका यजन करनेकी तैयारी करें । इन्द्र-यज्ञके लिये जो सामग्रियाँ इकट्ठी की गयी हैं, उन्हींसे इस यज्ञका अनुष्ठान होने दें ॥ २५ ॥ अनेकों प्रकारके पकवान—खीर, हलवा, पूआ, पूरी आदिसे लेकर मूँगकी दालतक बनाये जायँ । व्रजका सारा दूध एकत्र कर लिया जाय ॥ २६ ॥ वेदवादी ब्राह्मणोंके द्वारा भलीभाँति हवन करवाया जाय तथा उन्हें अनेकों प्रकारके अन्न, गौएँ और दक्षिणाएँ दी जायँ ॥ २७ ॥ और भी, चाण्डाल, पतित तथा कुत्तोंतकको यथायोग्य वस्तुएँ देकर गायोंको चारा दिया जाय और फिर गिरिराजको भोग लगाया जाय ॥ २८ ॥ इसके बाद खूब प्रसाद खा-पीकर, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनकर, गहनोंसे सज-सजा लिया जाय और चन्दन-लगाकर गौ, ब्राह्मण, अग्नि तथा गिरिराज गोवर्धनकी प्रदक्षिणा की जाय ॥ २९ ॥ पिताजी ! मेरी तो ऐसी ही सम्मति है । यदि आप लोगोंको रुचे, तो ऐसा ही कीजिये । ऐसा यज्ञ गौ, ब्राह्मण और गिरिराजको तो प्रिय होगा ही; मुझे भी बहुत प्रिय है ॥ ३० ॥

१. रभ्यं ।

श्रीशुक उवाच

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता ।
प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥३१॥
तथा च व्यदधुः सर्वं यथाऽऽह मधुसूदनः ।
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद् द्रव्येण गिरिद्विजान्॥३२॥
उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम् ।
गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥३३॥
अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः ।
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः॥३४॥
कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ।
शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरि बलिमादद् बृहद्वपुः ॥३५॥
तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेऽऽत्मनाऽऽत्मने ।
अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥३६॥
एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः ।
हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ॥३७॥
इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रणोदिताः ।
यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥३८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! कालात्मा भगवान्‌की इच्छा थी कि इन्द्रका घमण्ड चूर-चूर कर दें। नन्दबाबा आदि गोपोंने उनकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर ली ॥ ३१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकारका यज्ञ करनेको कहा था, वैसा ही यज्ञ उन्होंने प्रारम्भ किया। पहले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर उसी सामग्रीसे गिरिराज और ब्राह्मणोंको सादर भेंटें दीं, तथा गौओंको हरी-हरी घास खिलायी। इसके बाद नन्दबाबा आदि गोपोंने गौओंको आगे करके गिरिराजकी प्रदक्षिणा की ॥ ३२-३३ ॥ ब्राह्मणोंका आशीर्वाद प्राप्त करके वे और गोपियाँ भलीभाँति शृङ्गार करके और बैलोंसे जुती गाड़ियोंपर सवार होकर भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करती हुई गिरिराजकी परिक्रमा करने लगीं॥३४॥ भगवान् श्रीकृष्ण गोपोंको विश्वास दिलानेके लिये गिरिराजके ऊपर एक दूसरा विशाल शरीर धारण करके प्रकट हो गये, तथा 'मैं गिरिराज हूँ' इस प्रकार कहते हुए सारी सामग्री आरोगने लगे ॥ ३५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपने उस स्वरूपको दूसरे व्रज-वासियोंके साथ स्वयं भी प्रणाम किया और कहने लगे—'देखो, कैसा आश्चर्य है! गिरिराजने साक्षात् प्रकट होकर हमपर कृपा की है ॥ ३६ ॥ ये चाहे जैसा रूप धारण कर सकते हैं। जो वनवासी जीव इनका निरादर करते हैं, उन्हें ये नष्ट कर डालते हैं। आओ, अपना और गौओंका कल्याण करनेके लिये इन गिरिराजको हम नमस्कार करें' ॥ ३७॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंने गिरिराज, गौ और ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन किया तथा फिर श्रीकृष्णके साथ सब व्रजमें लौट आये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

गोवर्धनधारण

श्रीशुक उवाच

इन्द्रस्तदाऽऽत्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब इन्द्रको पता लगा कि मेरी पूजा बंद कर दी गयी है, तब वे

१. प्रचो० । २. इन्द्रमखभङ्गश्रुतु० । ३. बादरायणिरुवाच ।

गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः ॥ १ ॥

गणं सांवर्तकं नाम मेघानां चान्तकारिणाम् ।

इन्द्रः प्राचोदयत् क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत ॥ २ ॥

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।

कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये[1] चक्रुर्देवहेलनम् ॥ ३ ॥

यथादृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नामनौनिभैः ।

विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम् ॥ ४ ॥

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम् ।

कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥ ५ ॥

एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मायितात्मनाम् ।

धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत संक्षयम् ॥ ६ ॥

अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम् ।

मरुद्गणैर्महावीर्यैर्नन्दगोष्ठजिघांसया ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं मघवताऽऽज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः ।

नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ॥ ८ ॥

विद्योतमाना विद्युद्भिः स्तनन्तः स्तनयित्नुभिः ।

तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ॥ ९ ॥

स्थूणास्थूला वर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः ।

नन्दबाबा आदि गोपोंपर बहुत ही क्रोधित हुए। परन्तु उनके क्रोध करनेसे होता क्या, उन गोपोंके रक्षक तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण थे ॥ १ ॥ इन्द्रको अपने पदका बड़ा घमण्ड था, वे समझते थे कि मैं ही त्रिलोकीका ईश्वर हूँ। उन्होंने क्रोधसे तिलमिलाकर प्रलय करनेवाले मेघोंके सांवर्तक नामक गणको व्रजपर चढ़ाई करनेकी आज्ञा दी और कहा—॥ २ ॥ 'ओह, इन जंगली ग्वालोंको इतना घमण्ड! सचमुच यह धनका ही नशा है। भला देखो तो सही, एक साधारण मनुष्य कृष्णके बलपर उन्होंने मुझ देवराजका अपमान कर डाला ॥ ३ ॥ जैसे पृथ्वीपर बहुत-से मन्दबुद्धि पुरुष भवसागरसे पार जानेके सच्चे साधन ब्रह्मविद्याको तो छोड़ देते हैं और नाममात्रकी टूटी हुई नावसे—कर्ममय यज्ञोंसे इस घोर संसार-सागरको पार करना चाहते हैं ॥ ४ ॥ कृष्ण बकवादी, नादान, अभिमानी और मूर्ख होनेपर भी अपनेको बहुत बड़ा ज्ञानी समझता है। वह स्वयं मृत्युका ग्रास है। फिर भी उसीका सहारा लेकर इन अहीरोंने मेरी अवहेलना की है ॥ ५ ॥ एक तो ये यों ही धनके नशेमें चूर हो रहे थे; दूसरे कृष्णने इनको और बढ़ावा दे दिया है। अब तुमलोग जाकर इनके इस धनके घमण्ड और हेकड़ीको धूलमें मिला दो तथा उनके पशुओंका संहार कर डालो ॥६॥ मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे ऐरावत हाथीपर चढ़कर नन्दके व्रजका नाश करनेके लिये महापराक्रमी मरुद्गणोंके साथ आता हूँ' ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इन्द्रने इस प्रकार प्रलयके मेघोंको आज्ञा दी और उनके बन्धन खोल दिये। अब वे बड़े वेगसे नन्दबाबाके व्रजपर चढ़ आये और मूसलधार पानी बरसाकर सारे व्रजको पीड़ित करने लगे ॥ ८ ॥ चारों ओर बिजलियाँ चमकने लगीं, बादल आपसमें टकराकर कड़कने लगे और प्रचण्ड आँधीकी प्रेरणासे वे बड़े-बड़े ओले बरसाने लगे ॥ ९ ॥ इस प्रकार जब दल-के-दल बादल बार-बार आ-आकर खंभेके समान मोटी-मोटी धाराएँ गिराने

१. मखभङ्गमचीकरन्। २. हावेगैर्न०।

जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम् ॥१०॥
अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः ।
गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥११॥
शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः ।
वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ॥१२॥
कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ।
त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद् भक्तवत्सल ॥१३॥
शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम् ।
निरीक्ष्य भगवान् मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ॥१४॥
अपर्त्वत्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम् ।
स्वयागे विहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ॥१५॥
तत्र प्रतिविधिं सम्यगात्मयोगेन साधये ।
लोकेशमानिनां मौढ्याद्धरिष्ये[1] श्रीमदं तमः ॥१६॥
न हि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः ।
मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ॥१७॥
तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ॥१८॥

लगे, तब व्रजभूमिका कोना-कोना पानीसे भर गया और कहाँ नीचा है, कहाँ ऊँचा—इसका पता चलना कठिन हो गया ॥ १० ॥ इस प्रकार मूसलधार वर्षा तथा झंझावातके झपाटेसे जब एक-एक पशु ठिठुरने और काँपने लगा, ग्वाल और ग्वालिनें भी ठंडके मारे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, तब वे सब-के-सब भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें आये ॥ ११ ॥ मूसलधार वर्षासे सताये जानेके कारण सबने अपने-अपने सिर और बच्चोंको निहुककर अपने शरीरके नीचे छिपा लिया था और वे काँपते-काँपते भगवान्की चरणशरणमें पहुँचे ॥ १२ ॥ और बोले—'प्यारे श्रीकृष्ण! तुम बड़े भाग्यवान् हो । अब तो कृष्ण ! केवल तुम्हारे ही भाग्यसे हमारी रक्षा होगी । प्रभो ! इस सारे गोकुलके एकमात्र स्वामी, एकमात्र रक्षक तुम्हीं हो । भक्तवत्सल ! इन्द्रके क्रोधसे अब तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो' ॥ १३ ॥ भगवान्ने देखा कि वर्षा और ओलोंकी मारसे पीड़ित होकर सब बेहोश हो रहे हैं । वे समझ गये कि यह सारी करतूत इन्द्रकी है । उन्होंने ही क्रोधवश ऐसा किया है ॥ १४ ॥ वे मन-ही-मन कहने लगे—'हमने इन्द्रका यज्ञ भङ्ग कर दिया है, इसीसे वे व्रजका नाश करनेके लिये बिना ऋतुके ही यह प्रचण्ड वायु और ओलोंके साथ घनघोर वर्षा कर रहे हैं ॥ १५ ॥ अच्छा, मैं अपनी योगमायासे इसका भलीभाँति जवाब दूँगा । ये मूर्खतावश अपनेको लोकपाल मानते हैं, इनके ऐश्वर्य और धनका घमण्ड तथा अज्ञान मैं चूर-चूर कर दूँगा ॥ १६ ॥ देवतालोग तो सत्त्वप्रधान होते हैं । इनमें अपने ऐश्वर्य और पदका अभिमान न होना चाहिये । अतः यह उचित ही है कि इन सत्त्वगुणसे च्युत दुष्ट देवताओंका मैं मान-भङ्ग कर दूँ । इससे अन्तमें उन्हें शान्ति ही मिलेगी ॥१७॥ यह सारा व्रज मेरे आश्रित है, मेरे द्वारा स्वीकृत है और एकमात्र मैं ही इसका रक्षक हूँ । अतः मैं अपनी योगमायासे इसकी रक्षा करूँगा । संतोंकी रक्षा करना तो मेरा व्रत ही है । अब उसके पालनका अवसर आ पहुँचा है' * ॥१८॥

---

१. द्धनिष्ये ।

* भगवान् कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

'जो केवल एक बार मेरी शरणमें आ जाता है और 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार याचना करता है, उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है ।'

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥१९॥

अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः ।
यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः ॥२०॥

न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातने ।
वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं हि वः ॥२१॥

तथा निर्विविशुर्गर्तं कृष्णाश्वासितमानसाः ।
यथावकाशं सधनाः सव्रजाः सोपजीविनः ॥२२॥

क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः ।
वीक्ष्यमाणो दधावद्रिं सप्ताहं नाचलत् पदात् ॥२३॥

कृष्णयोगानुभावं तं निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मितः ।
निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् संन्यवारयत् ॥२४॥

खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम् ।
निशाम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत् ॥२५॥

निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः ।
उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः ॥२६॥

ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम् ।
शकटोढोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः ॥२७॥

इस प्रकार कहकर भगवान् श्रीकृष्णने खेल-खेलमें एक ही हाथसे गिरिराज गोवर्द्धनको उखाड़ लिया और जैसे छोटे-छोटे बालक बरसाती छत्तेके पुष्पको उखाड़कर हाथमें रख लेते हैं, वैसे ही उन्होंने उस पर्वतको धारण कर लिया ॥ १९ ॥ इसके बाद भगवान्ने गोपोंसे कहा—'माताजी, पिताजी और व्रजवासियो ! तुमलोग अपनी गौओं और सब सामग्रियोंके साथ इस पर्वतके गड्ढेमें आकर आरामसे बैठ जाओ ॥ २० ॥ देखो, तुमलोग ऐसी शङ्का न करना कि मेरे हाथसे यह पर्वत गिर पड़ेगा । तुमलोग तनिक भी मत डरो । इस आँधी-पानीके डरसे तुम्हें बचानेके लिये ही मैंने यह युक्ति रची है' ॥ २१ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सबको आश्वासन दिया—ढाढ़स बँधाया, तब सब-के-सब ग्वाल अपने-अपने गोधन, छकड़ों, आश्रितों, पुरोहितों और भृत्योंको अपने-अपने साथ लेकर सुभीतेके अनुसार गोवर्द्धनके गड्ढेमें आ घुसे ॥२२॥ भगवान् श्रीकृष्णने सब व्रजवासियोंके देखते-देखते भूख-प्यासकी पीड़ा, आराम-विश्रामकी आवश्यकता आदि सब कुछ भुलाकर सात दिनतक लगातार उस पर्वतको उठाये रक्खा । वे एक डग भी वहाँसे इधर-उधर नहीं हुए ॥ २३ ॥ श्रीकृष्णकी योगमायाका यह प्रभाव देखकर इन्द्रके आश्चर्यका ठिकाना न रहा । अपना सङ्कल्प पूरा न होनेके कारण उनकी सारी हेकड़ी बंद हो गयी, वे भौंचक्के-से रह गये । इसके बाद उन्होंने मेघोंको अपने-आप वर्षा करनेसे रोक दिया ॥ २४ ॥ जब गोवर्द्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि वह भयङ्कर आँधी और घनघोर वर्षा बंद हो गयी, आकाशसे बादल छँट गये और सूर्य दीखने लगे, तब उन्होंने गोपोंसे कहा—॥ २५ ॥ 'मेरे प्यारे गोपो ! अब तुमलोग निडर हो जाओ और अपनी स्त्रियों, गोधन तथा बच्चोंके साथ बाहर निकल आओ । देखो, अब आँधी-पानी बंद हो गया तथा नदियोंका पानी भी उतर गया' ॥ २६ ॥ भगवान्की ऐसी आज्ञा पाकर अपने-अपने गोधन, स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ोंको साथ ले तथा अपनी सामग्री छकड़ोंपर लादकर धीरे-धीरे सब लोग बाहर निकल आये ॥२७॥ सर्वशक्तिमान्

१. विष्णु० । २. धाराद्रिं ।

भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥२८॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी सब प्राणियोंके देखते-देखते खेल-खेलमें ही गिरिराजको पूर्ववत् उसके स्थानपर रख दिया ॥ २८ ॥

तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो
यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा
दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ॥२९॥

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः ।
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥३०॥

व्रजवासियोंका हृदय प्रेमके आवेगसे भर रहा था । पर्वतको रखते ही वे भगवान् श्रीकृष्णके पास दौड़ आये । कोई उन्हें हृदयसे लगाने और कोई चूमने लगा । सबने उनका सत्कार किया । बड़ी-बूढ़ी गोपियोंने बड़े आनन्द और स्नेहसे दही, चावल, जल आदिसे उनको मङ्गल-तिलक किया और उन्मुक्त हृदयसे शुभ आशीर्वाद दिये ॥ २९ ॥ यशोदारानी, रोहिणीजी, नन्दबाबा और बलवानोंमें श्रेष्ठ बलरामजीने स्नेहातुर होकर श्रीकृष्णको हृदयसे लगा लिया तथा आशीर्वाद दिये॥३०॥

दिवि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः ।
तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव ॥३१॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रणोदिताः ।
जगुर्गन्धर्वपतयस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप ॥३२॥

परीक्षित् ! उस समय आकाशमें स्थित देवता, साध्य, सिद्ध, गन्धर्व और चारण आदि प्रसन्न होकर भगवान्‌की स्तुति करते हुए उनपर फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३१ ॥ राजन् ! स्वर्गमें देवतालोग शङ्ख और नौबत बजाने लगे । तुम्बुरु आदि गन्धर्वराज भगवान्‌की मधुर लीलाका गान करने लगे ॥ ३२ ॥

ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो
राजन् स गोष्ठं सबलोऽव्रजद्धरिः ।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका
गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः ॥३३॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने व्रजकी यात्रा की । उनके बगलमें बलरामजी चल रहे थे और उनके प्रेमी ग्वालबाल उनकी सेवा कर रहे थे । उनके साथ ही प्रेममयी गोपियाँ भी अपने हृदयको आकर्षित करनेवाले, उसमें प्रेम जगानेवाले भगवान्‌की गोवर्धनधारण आदि लीलाओंका गान करती हुई बड़े आनन्दसे व्रजमें लौट आयीं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[2]
पूर्वार्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

नन्दबाबासे गोपोंकी श्रीकृष्णके प्रभावके विषयमें बातचीत

श्रीशुक उवाच[3]

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते ।
अतद्वीर्यविदः प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! व्रजके गोप भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे अलौकिक कर्म देखकर बड़े आश्चर्यमें पड़ गये । उन्हें भगवान्‌की अनन्त शक्तिका तो पता था नहीं, वे इकट्ठे होकर आपसमें इस प्रकार कहने

१. प्रेमगर्भान्निभृ० । २. न्धे पञ्च० । ३. बादरायणिरुवाच । ४. न त० ।

बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै ।
कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ॥ २ ॥
यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया ।
कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥ ३ ॥
तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः ।
पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः ॥ ४ ॥
हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक् ।
अनोऽपतद् विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ॥ ५ ॥
एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा ।
दैत्येन यस्तृणावर्तमहन् कण्ठग्रहातुरम् ॥ ६ ॥
क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उलूखले ।
गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥ ७ ॥
वने सञ्चारयन् वत्सान् सरामो बालकैर्वृतः ।
हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत् ॥ ८ ॥
वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया ।
हत्वा न्यपातयत्तेन कपित्थानि च लीलया ॥ ९ ॥
हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः ।
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम् ॥ १० ॥

लगे ॥ १ ॥ 'इस बालकके ये कर्म बड़े अलौकिक हैं। इसका हमारे-जैसे गँवार ग्रामीणोंमें जन्म लेना तो इसके लिये बड़ी निन्दाकी बात है। यह भला, कैसे उचित हो सकता है ॥ २ ॥ जैसे गजराज कोई कमल उखाड़कर उसे ऊपर उठा ले और धारण करे, वैसे ही इस नन्हे-से सात वर्षके बालकने एक ही हाथसे गिरिराज गोवर्द्धनको उखाड़ लिया और खेल-खेलमें सात दिनोंतक उठाये रक्खा ॥ ३ ॥ यह साधारण मनुष्यके लिये भला, कैसे सम्भव है ? जब यह नन्हा-सा बच्चा था, उस समय बड़ी भयङ्कर राक्षसी पूतना आयी और इसने आँख बंद किये-किये ही उसका स्तन तो पिया ही, प्राण भी पी डाले—ठीक वैसे ही, जैसे काल शरीरकी आयुको निगल जाता है ॥ ४ ॥ जिस समय यह केवल तीन महीनेका था और छकड़ेके नीचे सोकर रो रहा था, उस समय रोते-रोते इसने ऐसा पाँव उछाला कि उसकी ठोकरसे वह बड़ा भारी छकड़ा उलटकर गिर ही पड़ा ॥ ५ ॥ उस समय तो यह एक ही वर्षका था, जब दैत्य बवंडरके रूपमें इसे बैठे-बैठे आकाशमें उड़ा ले गया था। तुम सब जानते ही हो कि इसने उस तृणावर्त दैत्यको गला घोंटकर मार डाला ॥ ६ ॥ उस दिनकी बात तो सभी जानते हैं कि माखनचोरी करनेपर यशोदारानीने इसे ऊखलसे बाँध दिया था। यह घुटनोंके बल बकैयाँ खींचते-खींचते उन दोनों विशाल अर्जुन-वृक्षोंके बीचमेंसे निकल गया और उन्हें उखाड़ ही डाला ॥ ७ ॥ जब यह ग्वालबाल और बलरामजीके साथ बछड़ोंको चरानेके लिये वनमें गया हुआ था, उस समय इसको मार डालनेके लिये एक दैत्य बगुलेके रूपमें आया और इसने दोनों हाथोंसे उसके दोनों ठोर पकड़कर उसे तिनकेकी तरह चीर डाला ॥ ८ ॥ जिस समय इसको मार डालनेकी इच्छासे एक दैत्य बछड़ेके रूपमें बछड़ोंके झुंडमें घुस गया था, उस समय इसने उस दैत्यको खेल-ही-खेलमें मार डाला और उसे कैथके पेड़ोंपर पटककर उन पेड़ोंको भी गिरा दिया ॥ ९ ॥ इसने बलरामजीके साथ मिलकर गधेके रूपमें रहनेवाले धेनुकासुर तथा उसके भाई-बन्धुओंको मार डाला और पके हुए फलोंसे पूर्ण तालवनको सबके लिये उपयोगी और मङ्गलमय बना दिया ॥ १० ॥ इसीने बलशाली

प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना ।
अमोचयद् व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितः ॥११॥
आशीविषतमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं ह्रदात् ।
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम् ॥१२॥
दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम् ।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥१३॥
क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम् ।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे ॥१४॥

बलरामजीके द्वारा क्रूर प्रलम्बासुरको मरवा डाला तथा दावानलसे गौओं और ग्वालबालोंको उबार लिया ॥ ११॥ यमुनाजलमें रहनेवाला कालिय नाग कितना विषैला था? परन्तु इसने उसका भी मान मर्दन कर उसे बलपूर्वक दहसे निकाल दिया और यमुनाजीका जल सदाके लिये विषरहित—अमृतमय बना दिया ॥ १२ ॥ नन्दजी! हम यह भी देखते हैं कि तुम्हारे इस साँवले बालकपर हम सभी व्रजवासियोंका अनन्त प्रेम है और इसका भी हमपर स्वाभाविक ही स्नेह है। क्या आप बतला सकते हैं कि इसका क्या कारण है ॥ १३ ॥ भला, कहाँ तो यह सात वर्षका नन्हा-सा बालक और कहाँ इतने बड़े गिरिराजको सात दिनोंतक उठाये रखना! व्रजराज! इसीसे तो तुम्हारे पुत्रके सम्बन्धमें हमें बड़ी शङ्का हो रही है ॥ १४॥

नन्द[2] उवाच

श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्का च वोऽर्भके ।
एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥१५॥
वर्णास्त्रयः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥१६॥
प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः ।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥१७॥
बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥१८॥
एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥१९॥
पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः ॥२०॥

नन्दबाबाने कहा—गोपो! तुमलोग सावधान होकर मेरी बात सुनो। मेरे बालकके विषयमें तुम्हारी शङ्का दूर हो जाय। क्योंकि महर्षि गर्गने इस बालकको देखकर इसके विषयमें ऐसा ही कहा था ॥ १५ ॥ 'तुम्हारा यह बालक प्रत्येक युगमें शरीर ग्रहण करता है। विभिन्न युगोंमें इसने श्वेत, रक्त और पीत—ये भिन्न-भिन्न रंग स्वीकार किये थे। इस बार यह कृष्णवर्ण हुआ है ॥१६॥ नन्दजी! यह तुम्हारा पुत्र पहले कहीं वसुदेवके घर भी पैदा हुआ था, इसलिये इस रहस्यको जाननेवाले लोग 'इसका नाम श्रीमान् वासुदेव है'—ऐसा कहते हैं ॥ १७ ॥ तुम्हारे पुत्रके गुण और कर्मोंके अनुरूप और भी बहुत-से नाम हैं तथा बहुत-से रूप। मैं तो उन नामोंको जानता हूँ, परन्तु संसारके साधारण लोग नहीं जानते ॥ १८ ॥ यह तुमलोगोंका परम कल्याण करेगा, समस्त गोप और गौओंको यह बहुत ही आनन्दित करेगा। इसकी सहायतासे तुमलोग बड़ी-बड़ी विपत्तियोंको बड़ी सुगमतासे पार कर लोगे ॥ १९ ॥ व्रजराज! पूर्वकालमें एक बार पृथ्वीमें कोई राजा नहीं रह गया था। डाकुओंने चारों ओर लूट-खसोट मचा रक्खी थी। तब तुम्हारे इसी पुत्रने सज्जन पुरुषोंकी रक्षा की और इससे बल पाकर उन लोगोंने लुटेरोंपर विजय प्राप्त

१. ये ह्यस्मिन्। २. नन्दगोप उवाच।

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥२१॥
तस्मान्नन्द कुमारोऽयं नारायणसमो गुणैः ।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः ॥२२॥
इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥२३॥
इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः ।
दृष्टश्रुतानुभावास्ते कृष्णस्यामिततेजसः ।
मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः ॥२४॥
देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मपर्षानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन् ।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्रद् गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥२५॥

की ॥ २० ॥ नन्दबाबा ! जो तुम्हारे इस साँवले शिशुसे प्रेम करते हैं, वे बड़े भाग्यवान् हैं। जैसे विष्णुभगवान्‌के करकमलोंकी छत्र-छायामें रहनेवाले देवताओंको असुर नहीं जीत सकते, वैसे ही इससे प्रेम करनेवालोंको भीतरी या बाहरी—किसी भी प्रकारके शत्रु नहीं जीत सकते ॥ २१ ॥ नन्दजी ! चाहे जिस दृष्टिसे देखें—गुणसे, ऐश्वर्य और सौन्दर्यसे, कीर्ति और प्रभावसे तुम्हारा बालक स्वयं भगवान् नारायणके ही समान है। अतः इस बालकके अलौकिक कार्योंको देखकर आश्चर्य न करना चाहिये ॥ २२ ॥ गोपो ! मुझे स्वयं गर्गाचार्यजी यह आदेश देकर अपने घर चले गये। तबसे मैं अलौकिक और परम सुखद कर्म करनेवाले इस बालकको भगवान् नारायणका ही अंश मानता हूँ ॥ २३ ॥ जब व्रजवासियोंने नन्दबाबाके मुखसे गर्गजीकी यह बात सुनी, तब उनका विस्मय जाता रहा। क्योंकि अब वे अमित तेजस्वी श्रीकृष्णके प्रभावको पूर्णरूपसे देख और सुन चुके थे। आनन्दमें भरकर उन्होंने नन्दबाबा और श्रीकृष्णकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ २४ ॥

जिस समय अपना यज्ञ भङ्ग हो जानेके कारण इन्द्र क्रोधके मारे आग-बबूला हो गये थे और मूसलधार वर्षा करने लगे थे, उस समय वज्रपात, ओलोंकी बौछार और प्रचण्ड आँधीसे स्त्री, पशु तथा ग्वाले अत्यन्त पीड़ित हो गये थे। अपनी शरणमें रहनेवाले व्रजवासियोंकी यह दशा देखकर भगवान्‌का हृदय करुणासे भर आया। परन्तु फिर एक नयी लीला करनेके विचारसे वे तुरंत ही मुसकराने लगे। जैसे कोई नन्हा-सा निर्बल बालक खेल-खेलमें ही बरसाती छत्तेका पुष्प उखाड़ ले, वैसे ही उन्होंने एक हाथसे ही गिरिराज गोवर्द्धनको उखाड़कर धारण कर लिया और सारे व्रजकी रक्षा की। इन्द्रका मद चूर करनेवाले वे ही भगवान् गोविन्द हमपर प्रसन्न हों ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

१. नन्दगोपसंवादः प्र० ।

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अभिषेक

श्रीशुक उवाच[1]

गोवर्धने धृते शैल आसाराद् रक्षिते व्रजे ।
गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥ १ ॥

विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः ।
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥ २ ॥

दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः ।
नष्टत्रिलोकेशमद इदमाह[2] कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

इन्द्र उवाच

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं
तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो
न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥ ४ ॥

कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता
लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः ।
तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति
धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥ ५ ॥

पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो
दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः ।
हिताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे
मानं विधुन्वञ्जगदीशमानिनाम् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब भगवान् श्रीकृष्णने गिरिराज गोवर्द्धनको धारण करके मूसलधार वर्षासे व्रजको बचा लिया, तब उनके पास गोलोकसे कामधेनु (बधाई देनेके लिये) और स्वर्गसे देवराज इन्द्र (अपने अपराधको क्षमा करानेके लिये) आये ॥ १ ॥ भगवान्‌का तिरस्कार करनेके कारण इन्द्र बहुत ही लज्जित थे । इसलिये उन्होंने एकान्त-स्थानमें भगवान्‌के पास जाकर अपने सूर्यके समान तेजस्वी मुकुटसे उनके चरणों-का स्पर्श किया ॥ २ ॥ परमतेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव देख-सुनकर इन्द्रका यह घमंड जाता रहा कि मैं ही तीनों लोकोंका स्वामी हूँ । अब उन्होंने हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की ॥ ३ ॥

इन्द्रने कहा—भगवन् ! आपका स्वरूप परम शान्त, ज्ञानमय, रजोगुण तथा तमोगुणसे रहित एवं विशुद्ध अप्राकृत सत्त्वमय है । यह गुणोंके प्रवाहरूपसे प्रतीत होनेवाला प्रपञ्च केवल मायामय है । क्योंकि आपका स्वरूप न जाननेके कारण ही आपमें इसकी प्रतीति होती है ॥ ४ ॥ जब आपका सम्बन्ध अज्ञान और उसके कारण प्रतीत होनेवाले देहादिसे है ही नहीं, फिर उन देह आदिकी प्राप्तिके कारण तथा उन्हींसे होनेवाले लोभ-क्रोध आदि दोष तो आपमें हो ही कैसे सकते हैं ? प्रभो ! इन दोषोंका होना तो अज्ञानका लक्षण है । इस प्रकार यद्यपि अज्ञान और उससे होनेवाले जगत्‌से आप-का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी धर्मकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये आप अवतार ग्रहण करते हैं और निग्रह-अनुग्रह भी करते हैं ॥ ५ ॥ आप जगत्‌के पिता, गुरु और स्वामी हैं । आप जगत्‌का नियन्त्रण करनेके लिये दण्ड धारण किये हुए दुस्तर काल हैं । आप अपने भक्तोंकी लालसा पूर्ण करनेके लिये स्वच्छन्दतासे लीला-शरीर प्रकट करते हैं और जो लोग हमारी तरह अपनेको ईश्वर मान बैठते हैं, उनका मान मर्दन करते हुए अनेकों प्रकारकी लीलाएँ करते हैं ॥ ६ ॥ प्रभो !

१. बादरायणिरुवाच । २. इदमाह ।

ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिन-
स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।
हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया
ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥ ७ ॥

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य
कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो
मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ॥ ८ ॥

तवावतारोऽयमधोक्षजेह
स्वयम्भराणामुरुभारजन्मनाम्[1] ।
चमूपतीनामभवाय देव
भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥ ९ ॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥१०॥

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥११॥

मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः ।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥१२॥

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः ।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥१३॥

जो मेरे-जैसे अज्ञानी और अपनेको जगत्‌का ईश्वर माननेवाले हैं, वे जब देखते हैं कि बड़े-बड़े भयके अवसरोंपर भी आप निर्भय रहते हैं, तब वे अपना घमंड छोड़ देते हैं और गर्वरहित होकर संतपुरुषोंके द्वारा सेवित भक्तिमार्गका आश्रय लेकर आपका भजन करते हैं ! प्रभो ! आपकी एक-एक चेष्टा दुष्टोंके लिये दण्डविधान है ॥७॥ प्रभो ! मैंने ऐश्वर्यके मदसे चूर होकर आपका अपराध किया है । क्योंकि मैं आपकी शक्ति और प्रभावके सम्बन्धमें बिल्कुल अनजान था । परमेश्वर ! आप कृपा करके मुझ मूर्ख अपराधीका यह अपराध क्षमा करें और ऐसी कृपा करें कि मुझे फिर कभी ऐसे दुष्ट अज्ञानका शिकार न होना पड़े ॥ ८ ॥ स्वयंप्रकाश, इन्द्रियातीत परमात्मन् ! आपका यह अवतार इसलिये हुआ है कि जो असुर-सेनापति केवल अपना पेट पालनेमें ही लग रहे हैं और पृथ्वीके लिये बड़े भारी भारके कारण बन रहे हैं, उनका वध करके उन्हें मोक्ष दिया जाय, और जो आपके चरणोंके सेवक हैं—आज्ञाकारी भक्तजन हैं, उनका अभ्युदय हो—उनकी रक्षा हो ॥ ९ ॥ भगवन् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ । आप सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम तथा सर्वात्मा वासुदेव हैं । आप यदुवंशियोंके एकमात्र स्वामी, भक्तवत्सल एवं सबके चित्तको आकर्षित करनेवाले हैं । मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ १० ॥ आपने जीवोंके समान कर्मवश होकर नहीं, स्वतन्त्रतासे अपने भक्तोंकी तथा अपनी इच्छाके अनुसार शरीर स्वीकार किया है । आपका यह शरीर भी विशुद्धज्ञानस्वरूप है । आप सब कुछ हैं, सबके कारण हैं और सबके आत्मा हैं । मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ११ ॥ भगवन् ! मेरे अभिमानका अन्त नहीं है और मेरा क्रोध भी बहुत ही तीव्र, मेरे वशके बाहर है । जब मैंने देखा कि मेरा यज्ञ तो नष्ट कर दिया गया, तब मैंने मूसलधार वर्षा और आँधीके द्वारा सारे व्रजमण्डलको नष्ट कर देना चाहा ॥ १२ ॥ परन्तु प्रभो ! आपने मुझपर बहुत ही अनुग्रह किया । मेरी चेष्टा व्यर्थ होनेसे मेरे घमंडकी जड़ उखड़ गयी । आप मेरे स्वामी हैं, गुरु हैं और मेरे आत्मा हैं । मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ १३ ॥

[1] भुवो भराणां बहुभार० ।

श्रीशुक उवाच

एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम् ।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥१४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब देवराज इन्द्रने भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति की, तब उन्होंने हँसते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीसे इन्द्रको सम्बोधन करके कहा—॥ १४ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता ।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम् ॥१५॥
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति ।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्[1] ॥१६॥
गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम् ।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः ॥१७॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—इन्द्र ! तुम ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे पूरे-पूरे मतवाले हो रहे थे । इसलिये तुमपर अनुग्रह करके ही मैंने तुम्हारा यज्ञ भङ्ग किया है । यह इसलिये कि अब तुम मुझे नित्य-निरन्तर स्मरण रख सको ॥ १५ ॥ जो ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे अंधा हो जाता है, वह यह नहीं देखता कि मैं कालरूप परमेश्वर हाथमें दण्ड लेकर उसके सिरपर सवार हूँ । मैं जिसपर अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसे ऐश्वर्यभ्रष्ट कर देता हूँ ॥ १६ ॥ इन्द्र ! तुम्हारा मङ्गल हो । अब तुम अपनी राजधानी अमरावतीमें जाओ और मेरी आज्ञाका पालन करो । अब कभी घमंड न करना । नित्य-निरन्तर मेरी सन्निधिका, मेरे संयोगका अनुभव करते रहना और अपने अधिकारके अनुसार उचित रीतिसे मर्यादाका पालन करना ॥ १७ ॥

अथाह सुरभिः कृष्णमभिवन्द्य[2] मनस्विनी ।
स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमीश्वरम् ॥१८॥

परीक्षित् ! भगवान् इस प्रकार आज्ञा दे ही रहे थे कि मनस्विनी कामधेनुने अपनी सन्तानोंके साथ गोपवेष-धारी परमेश्वर श्रीकृष्णकी वन्दना की और उनको सम्बोधित करके कहा—॥ १८ ॥

सुरभिरुवाच

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव[3] ।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥१९॥
त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥२०॥
इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम् ।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये ॥२१॥

कामधेनुने कहा—सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! आप महायोगी—योगेश्वर हैं । आप स्वयं विश्व हैं, विश्वके परमकारण हैं, अच्युत हैं । सम्पूर्ण विश्वके स्वामी आपको अपने रक्षकके रूपमें प्राप्तकर हम सनाथ हो गयीं ॥ १९ ॥ आप जगत्‌के स्वामी हैं । परन्तु हमारे तो परम पूजनीय आराध्यदेव ही हैं । प्रभो ! इन्द्र त्रिलोकीके इन्द्र हुआ करें, परन्तु हमारे इन्द्र तो आप ही हैं । अतः आप ही गौ, ब्राह्मण, देवता और साधुजनोंकी रक्षाके लिये हमारे इन्द्र बन जाइये ॥२०॥ हम गौएँ ब्रह्माजीकी प्रेरणासे आपको अपना इन्द्र मानकर अभिषेक करेंगी । विश्वात्मन् ! आपने पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ही अवतार धारण किया है ॥ २१ ॥

१. वाञ्छाम्य० । २. नन्द्य । ३. भावन ।

श्रीशुक उवाच

एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसाऽऽत्मनः।
जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः ॥२२॥
इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो[1] देवमातृभिः।
अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ॥२३॥
तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः
सुराङ्गनाः संननृतुर्मुदान्विताः ॥२४॥
तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो
ह्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः।
लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो
गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम् ॥२५॥
नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयोऽबिभ्रदुन्मणीन् ॥२६॥
कृष्णेऽभिषिक्त एतानि सत्त्वानि[2] कुरुनन्दन।
निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥२७॥
इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर कामधेनुने अपने दूधसे और देवमाताओंकी प्रेरणासे देवराज इन्द्रने ऐरावतकी सूँडके द्वारा लाये हुए आकाशगङ्गाके जलसे देवर्षियोंके साथ यदुनाथ श्रीकृष्णका अभिषेक किया और उन्हें 'गोविन्द' नामसे सम्बोधित किया ॥ २२-२३ ॥ उस समय वहाँ नारद, तुम्बुरु आदि गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध और चारण पहलेसे ही आ गये थे। वे समस्त संसारके पाप-तापको मिटा देनेवाले भगवान्के लोकमलापह यशका गान करने लगे और अप्सराएँ आनन्दसे भरकर नृत्य करने लगीं ॥ २४ ॥ मुख्य-मुख्य देवता भगवान्की स्तुति करके उनपर नन्दनवनके दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। तीनों लोकोंमें परमानन्दकी बाढ़ आ गयी और गौओंके स्तनोंसे आप-ही-आप इतना दूध गिरा कि पृथ्वी गीली हो गयी ॥ २५ ॥ नदियोंमें विविध रसोंकी बाढ़ आ गयी। वृक्षोंसे मधुधारा बहने लगी। बिना जोते-बोये पृथ्वीमें अनेकों प्रकारकी ओषधियाँ, अन्न पैदा हो गये। पर्वतोंमें छिपे हुए मणि-माणिक्य स्वयं ही बाहर निकल आये ॥ २६ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका अभिषेक होनेपर जो जीव स्वभावसे ही क्रूर हैं, वे भी वैरहीन हो गये, उनमें भी परस्पर मित्रता हो गयी ॥ २७ ॥ इन्द्रने इस प्रकार गौ और गोकुलके स्वामी श्रीगोविन्दका अभिषेक किया और उनसे अनुमति प्राप्त होनेपर देवता, गन्धर्व आदिके साथ स्वर्गकी यात्रा की ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे इन्द्रस्तुतिर्नाम[3] सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

वरुणलोकसे नन्दजीको छुड़ाकर लाना

श्रीशुक[4] उवाच

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम्।
स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्या द्वादश्यां जलमाविशत् ॥१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! नन्दबाबाने कार्तिक शुक्ल एकादशीका उपवास किया और भगवान्की पूजा की तथा उसी दिन रातमें द्वादशी लगनेपर स्नान करनेके लिये यमुना-जलमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

१. चोदितो। २. सर्वाणि। ३. कृष्णाभिषेको नाम। ४. बादरायणिरुवाच।

तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम् ।
अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि ॥ २ ॥
चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः ।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ।
तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः ॥ ३ ॥
प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया ।
महत्या पूजयित्वाऽऽह तद्दर्शनमहोत्सवः ॥ ४ ॥

वरुण उवाच

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो ।
त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥ ५ ॥
नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥ ६ ॥
अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना ।
आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति ॥ ७ ॥
ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुमर्हस्यशेषदृक् ।
गोविन्द नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः ।

नन्दबाबाको यह मालूम नहीं था कि यह असुरोंकी वेला है, इसलिये वे रातके समय ही यमुनाजलमें घुस गये। उस समय वरुणके सेवक एक असुरने उन्हें पकड़ लिया और वह अपने स्वामीके पास ले गया ॥ २ ॥ नन्दबाबाके खो जानेसे व्रजके सारे गोप 'श्रीकृष्ण! अब तुम्हीं अपने पिताको ला सकते हो; बलराम! अब तुम्हारा ही भरोसा है'—इस प्रकार कहते हुए रोने-पीटने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् हैं एवं सदासे ही अपने भक्तोंका भय भगाते आये हैं। जब उन्होंने व्रजवासियोंका रोना-पीटना सुना और यह जाना कि पिताजीको वरुणका कोई सेवक ले गया है, तब वे वरुणजीके पास गये ॥ ३ ॥ जब लोकपाल वरुणने देखा कि समस्त जगत्के अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रियोंके प्रवर्तक भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही उनके यहाँ पधारे हैं, तब उन्होंने उनकी बहुत बड़ी पूजा की। भगवान्के दर्शनसे उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठा। इसके बाद उन्होंने भगवान्से निवेदन किया ॥ ४ ॥

वरुणजीने कहा—प्रभो! आज मेरा शरीर धारण करना सफल हुआ। आज मुझे सम्पूर्ण पुरुषार्थ प्राप्त हो गया। क्योंकि आज मुझे आपके चरणोंकी सेवाका शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। भगवन्! जिन्हें भी आपके चरणकमलोंकी सेवाका सुअवसर मिला, वे भवसागरसे पार हो गये ॥ ५ ॥ आप भक्तोंके भगवान्, वेदान्तियोंके ब्रह्म और योगियोंके परमात्मा हैं। आपके स्वरूपमें विभिन्न लोकसृष्टियोंकी कल्पना करनेवाली माया नहीं है—ऐसा श्रुति कहती है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥ प्रभो! मेरा यह सेवक बड़ा मूढ और अनजान है। वह अपने कर्तव्यको भी नहीं जानता। वही आपके पिताजीको ले आया है, आप कृपा करके उसका अपराध क्षमा कीजिये ॥ ७ ॥ गोविन्द! मैं जानता हूँ कि आप अपने पिताके प्रति बड़ा प्रेमभाव रखते हैं। ये आपके पिता हैं। इन्हें आप ले जाइये। परन्तु भगवन्! आप सबके अन्तर्यामी, सबके साक्षी हैं। इसलिये विश्वविमोहन श्रीकृष्ण! आप मुझ दासपर भी कृपा कीजिये ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा आदि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। लोकपाल वरुणने

१. नन्दा० । २. यत्पा० । ३. वानखिलेश्वरः ।

आदायागात् स्वपितरं बन्धूनां चावहन् मुदम् ॥ ९ ॥

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् ।

कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् ॥

ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।

अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ॥ ११॥

इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम् ।

सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥ १२॥

जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः ।

उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥ १३॥

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः ।

दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥ १४॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ।

यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥ १५॥

ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ।

ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा ॥ १६॥

इस प्रकार उनकी स्तुति करके उन्हें प्रसन्न किया। इसके बाद भगवान् अपने पिता नन्दजीको लेकर व्रजमें चले आये और व्रजवासी भाई-बन्धुओंको आनन्दित किया ॥ ९॥ नन्दबाबाने वरुणलोकमें लोकपालके इन्द्रियातीत ऐश्वर्य और सुख-सम्पत्तिको देखा तथा यह भी देखा कि वहाँके निवासी उनके पुत्र श्रीकृष्णके चरणोंमें झुक-झुककर प्रणाम कर रहे हैं। उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने व्रजमें आकर अपने जाति-भाइयोंको सब बातें कह सुनायीं ॥ १० ॥ परीक्षित्! भगवान्‌के प्रेमी गोप यह सुनकर ऐसा समझने लगे कि अरे, ये तो स्वयं भगवान् हैं। तब उन्होंने मन-ही-मन बड़ी उत्सुकतासे विचार किया कि क्या कभी जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हमलोगोंको भी अपना वह मायातीत स्वधाम, जहाँ केवल इनके प्रेमी भक्त ही जा सकते हैं, दिखलायेंगे ॥ ११॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं सर्वदर्शी हैं। भला, उनसे यह बात कैसे छिपी रहती? वे अपने आत्मीय गोपोंकी यह अभिलाषा जान गये और उनका सङ्कल्प सिद्ध करनेके लिये कृपासे भरकर इस प्रकार सोचने लगे ॥ १२ ॥ 'इस संसारमें जीव अज्ञानवश शरीरमें आत्मबुद्धि करके भाँति-भाँतिकी कामना और उनकी पूर्तिके लिये नाना प्रकारके कर्म करता है। फिर उनके फलस्वरूप देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ऊँची-नीची योनियोंमें भटकता फिरता है, अपनी असली गतिको—आत्मस्वरूपको नहीं पहचान पाता ॥ १३॥ परमदयालु भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सोचकर उन गोपोंको मायान्धकारसे अतीत अपना परमधाम दिखलाया ॥ १४॥ भगवान्‌ने पहले उनको उस ब्रह्मका साक्षात्कार करवाया जिसका स्वरूप सत्य, ज्ञान, अनन्त, सनातन और ज्योतिःस्वरूप है तथा समाधिनिष्ठ गुणातीत पुरुष ही जिसे देख पाते हैं ॥ १५॥ जिस जलाशयमें अक्रूरको भगवान्‌ने अपना स्वरूप दिखलाया था, उसी ब्रह्मस्वरूप ब्रह्महृदमें भगवान् उन गोपोंको ले गये। वहाँ उन लोगोंने उसमें डुबकी लगायी। वे ब्रह्महृदमें प्रवेश कर गये। तब भगवान्‌ने उसमेंसे उनको निकालकर अपने परमधामका दर्शन कराया ॥ १६ ॥ उस दिव्य भगवत्स्वरूप लोकको देखकर नन्द आदि गोप परमानन्दमें मग्न हो गये। वहाँ

१. य स्विरनिश्चयम्। २. तं ब्रह्म०।

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः ।
कृष्णं च तत्रच्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥ १७ ॥

उन्होंने देखा कि सारे वेद मूर्तिमान् होकर भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे हैं। यह देखकर वे सब-के-सब परम विस्मित हो गये ॥ १७ ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥



अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

रासलीलाका आरम्भ

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! शरद् ऋतु थी। उसके कारण बेला, चमेली आदि सुगन्धित पुष्प खिलकर महँ-महँ महँक रहे थे। भगवान्‌ने चीर-हरणके समय गोपियोंको जिन रात्रियोंका सङ्केत किया था, वे सब-की-सब पुञ्जीभूत होकर एक ही रात्रिके रूपमें उल्लसित हो रही थीं। भगवान्‌ने उन्हें देखा, देखकर दिव्य बनाया। गोपियाँ तो चाहती ही थीं। अब भगवान्‌ने भी अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाके सहारे उन्हें निमित्त बनाकर रसमयी रासक्रीडा करनेका सङ्कल्प किया। अमना होनेपर भी उन्होंने अपने प्रेमियोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मन स्वीकार किया ॥ १ ॥

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥ २ ॥

भगवान्‌के सङ्कल्प करते ही चन्द्रदेवने प्राची दिशाके मुखमण्डलपर अपने शीतल किरणरूपी करकमलोंसे लालिमाकी रोली-केशर मल दी, जैसे बहुत दिनोंके बाद अपनी प्राणप्रिया पत्नीके पास आकर उसके प्रियतम पतिने उसे आनन्दित करनेके लिये ऐसा किया हो! इस प्रकार चन्द्रदेवने उदय होकर न केवल पूर्वदिशाका, प्रत्युत संसारके समस्त चर-अचर प्राणियोंका सन्ताप—जो दिनमें शरत्कालीन प्रखर सूर्यरश्मियोंके कारण बढ़ गया था—दूर कर दिया ॥ २ ॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।

उस दिन चन्द्रदेवका मण्डल अखण्ड था। पूर्णिमाकी रात्रि थी। वे नूतन केशरके समान लाल-लाल हो रहे थे, कुछ सङ्कोचमिश्रित अभिलाषासे युक्त जान पड़ते थे। उनका मुखमण्डल लक्ष्मीजीके समान मालूम हो रहा था। उनकी कोमल किरणोंसे सारा वन अनुरागके रंगमें रँग गया था। वनके कोने-

१. कृष्णं समभिसंस्तूय मानयन्तः शुचिस्मिताः। २. नन्दविमोक्षणमष्टा०। ३. बादरायणिरुवाच। ४. मयोऽच्युतः।

वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं

जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥ ३ ॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं

व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।

आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः

स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥ ४ ॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।

पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥ ५ ॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः ।

शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥६॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।

व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥७॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।

कोनेमें उन्होंने अपनी चाँदनीके द्वारा अमृतका समुद्र उड़ेल दिया था। भगवान् श्रीकृष्णने अपने दिव्य उज्ज्वल रसके उद्दीपनकी पूरी सामग्री उन्हें और उस वनको देखकर अपनी बाँसुरीपर व्रजसुन्दरियोंके मनको हरण करनेवाली कामबीज 'क्लीं' की अस्पष्ट एवं मधुर तान छेड़ी ॥३॥ भगवान्का वह वंशीवादन भगवान्के प्रेमको, उनके मिलनकी लालसाको अत्यन्त उकसानेवाला—बढ़ानेवाला था। यों तो श्यामसुन्दरने पहलेसे ही गोपियोंके मनको अपने वशमें कर रक्खा था। अब तो उनके मनकी सारी वस्तुएँ—भय, सङ्कोच, धैर्य, मर्यादा आदिकी वृत्तियाँ भी—छीन लीं। वंशीध्वनि सुनते ही उनकी विचित्र गति हो गयी। जिन्होंने एक साथ साधना की थी श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये, वे गोपियाँ भी एक-दूसरेको सूचना न देकर—यहाँतक कि एक दूसरेसे अपनी चेष्टाको छिपाकर जहाँ वे थे, वहाँके लिये चल पड़ीं। परीक्षित्! वे इतने वेगसे चली थीं कि उनके कानोंके कुण्डल झोंके खा रहे थे ॥ ४ ॥

वंशीध्वनि सुनकर जो गोपियाँ दूध दुह रही थीं, वे अत्यन्त उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर चल पड़ीं। जो चूल्हेपर दूध औंटा रही थीं, वे उफनता हुआ दूध छोड़कर, और जो लपसी पका रही थीं वे पकी हुई लपसी बिना उतारे ही ज्यों-की-त्यों छोड़कर चल दीं ॥ ५ ॥ जो भोजन परस रही थीं वे परसना छोड़कर, जो छोटे-छोटे बच्चोंको दूध पिला रही थीं वे दूध पिलाना छोड़कर, जो पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन करना छोड़कर अपने कृष्णप्यारेके पास चल पड़ीं ॥ ६ ॥ कोई-कोई गोपी अपने शरीरमें अङ्गराग, चन्दन और उबटन लगा रही थीं और कुछ आँखोंमें अंजन लगा रही थीं। वे उन्हें छोड़कर तथा उलटे-पलटे वस्त्र धारणकर श्रीकृष्णके पास पहुँचनेके लिये चल पड़ीं ॥ ७ ॥ पिता और पतियोंने, भाई और जाति-बन्धुओंने उन्हें रोका, उनकी मङ्गलमयी प्रेमयात्रामें विघ्न डाला। परन्तु वे इतनी मोहित हो गयी थीं कि रोकनेपर भी न रुकीं, न रुक सकीं। रुकतीं

गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥ ८ ॥

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥ ९ ॥

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥ १० ॥

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥ ११ ॥

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥ १२ ॥

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।

कैसे ? विश्वविमोहन श्रीकृष्णने उनके प्राण, मन और आत्मा सब कुछका अपहरण जो कर लिया था ॥ ८ ॥ परीक्षित् ! उस समय कुछ गोपियाँ घरोंके भीतर थीं । उन्हें बाहर निकलनेका मार्ग ही न मिला । तब उन्होंने अपने नेत्र मूँद लिये और बड़ी तन्मयतासे श्रीकृष्णके सौन्दर्य, माधुर्य और लीलाओंका ध्यान करने लगीं ॥ ९ ॥ परीक्षित् ! अपने परम प्रियतम श्रीकृष्णके असह्य विरहकी तीव्र वेदनासे उनके हृदयमें इतनी व्यथा—इतनी जलन हुई कि उनमें जो कुछ अशुभ संस्कारोंका लेशमात्र अवशेष था, वह भस्म हो गया । इसके बाद तुरंत ही ध्यान लग गया । ध्यानमें उनके सामने भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए । उन्होंने मन-ही-मन बड़े प्रेमसे, बड़े आवेगसे उनका आलिङ्गन किया । उस समय उन्हें इतना सुख, इतनी शान्ति मिली कि उनके सब-के-सब पुण्यके संस्कार एक साथ ही क्षीण हो गये ॥ १० ॥ परीक्षित् ! यद्यपि उनका उस समय श्रीकृष्णके प्रति जारभाव भी था; तथापि कहीं सत्य वस्तु भी भावकी अपेक्षा रखती है ? उन्होंने जिनका आलिङ्गन किया, चाहे किसी भी भावसे किया हो, वे स्वयं परमात्मा ही तो थे । इसलिये उन्होंने पाप और पुण्यरूप कर्मके परिणामसे बने हुए गुणमय शरीरका परित्याग कर दिया । (भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होनेके योग्य दिव्य अप्राकृत शरीर प्राप्त कर लिया ।) इस शरीरसे भोगे जानेवाले कर्मबन्धन तो ध्यानके समय ही छिन्न-भिन्न हो चुके थे ॥ ११ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! गोपियाँ तो भगवान् श्रीकृष्णको केवल अपना परम प्रियतम ही मानती थीं । उनका उनमें ब्रह्मभाव नहीं था । इस प्रकार उनकी दृष्टि प्राकृत गुणोंमें ही आसक्त दीखती है । ऐसी स्थितिमें उनके लिये गुणोंके प्रवाहरूप इस संसारकी निवृत्ति कैसे सम्भव हुई ? ॥ १२ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि चेदिराज शिशुपाल भगवान्‌के प्रति द्वेष-भाव रखनेपर भी अपने प्राकृत शरीरको छोड़कर अप्राकृत शरीरसे उनका पार्षद हो गया । ऐसी

१. काश्चन ।

द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥१३॥

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।

अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१४॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।

नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१५॥

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।

योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते ॥१६॥

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः ।

अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः ।

व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥१८॥

स्थितिमें जो समस्त प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत भगवान् श्रीकृष्णकी प्यारी हैं और उनसे अनन्य प्रेम करती हैं, वे गोपियाँ उन्हें प्राप्त हो जायँ—इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है ॥ १३ ॥ परीक्षित् ! वास्तवमें भगवान् प्रकृतिसम्बन्धी वृद्धि-विनाश, प्रमाण-प्रमेय और गुणगुणीभावसे रहित हैं । वे अचिन्त्य-अनन्त अप्राकृत परम कल्याणस्वरूप गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं । उन्होंने यह जो अपनेको तथा अपनी लीलाको प्रकट किया है, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि जीव उसके सहारे अपना परम कल्याण सम्पादन करे ॥ १४ ॥ इसलिये भगवान्‌से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिये । वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो—कामका हो, क्रोधका हो या भयका हो; स्नेह, नातेदारी या सौहार्दका हो । चाहे जिस भावसे भगवान्‌में नित्य-निरन्तर अपनी वृत्तियाँ जोड़ दी जायँ, वे भगवान्‌से ही जुड़ती हैं । इसलिये वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं, और उस जीवको भगवान्‌की ही प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥ परीक्षित् ! तुम्हारे-जैसे परम भागवत, भगवान्‌का रहस्य जाननेवाले भक्तको श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये । योगेश्वरोंके भी ईश्वर अजन्मा भगवान्‌के लिये भी यह कोई आश्चर्य-की बात है ? अरे ! उनके सङ्कल्पमात्रसे—भौंहोंके इशारेसे सारे जगत्‌का परम कल्याण हो सकता है ॥ १६ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि व्रजकी अनुपम विभूतियाँ गोपियाँ मेरे बिल्कुल पास आ गयी हैं, तब उन्होंने अपनी विनोदभरी वाक्चातुरीसे उन्हें मोहित करते हुए कहा । क्यों न हो—भूत, भविष्य और वर्तमानकालके जितने वक्ता हैं, उनमें वे ही तो सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग्यवती गोपियो ! तुम्हारा स्वागत है । बतलाओ, तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये मैं कौन-सा काम करूँ ? व्रजमें तो सब कुशल-मङ्गल है न ? कहो, इस समय यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ गयी ? ॥ १८ ॥ सुन्दरी

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता ।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१९॥
मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥
दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् ।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥२१॥
तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥२२॥
अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥२३॥
भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥२४॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥२५॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥२६॥

गोपियो ! रातका समय है, यह स्वयं ही बड़ा भयावना होता है और इसमें बड़े-बड़े भयावने जीव-जन्तु इधर-उधर घूमते रहते हैं । अतः तुम सब तुरंत व्रजमें लौट जाओ । रातके समय घोर जंगलमें स्त्रियोंको नहीं रुकना चाहिये ॥ १९ ॥ तुम्हें न देखकर तुम्हारे माँ-बाप, पति-पुत्र और भाई-बन्धु ढूँढ़ रहे होंगे । उन्हें भयमें न डालो ॥ २० ॥ तुमलोगोंने रंग-बिरंगे पुष्पोंसे लदे हुए इस वनकी शोभाको देखा । पूर्ण चन्द्रमाकी कोमल रश्मियोंसे यह रँगा हुआ है, मानो उन्होंने अपने हाथों चित्रकारी की हो; और यमुनाजीके जलका स्पर्श करके बहनेवाले शीतल समीरकी मन्द-मन्द गतिसे हिलते हुए ये वृक्षोंके पत्ते तो इस वनकी शोभाको और भी बढ़ा रहे हैं। परन्तु अब तो तुमलोगोंने यह सब कुछ देख लिया ॥ २१ ॥ अब देर मत करो, शीघ्र-से-शीघ्र व्रजमें लौट जाओ । तुमलोग कुलीन स्त्री हो और स्वयं भी सती हो; जाओ, अपने पतियोंकी और सतियोंकी सेवा-शुश्रूषा करो। देखो, तुम्हारे घरके नन्हे-नन्हे बच्चे और गौओंके बछड़े रो-रँभा रहे हैं; उन्हें दूध पिलाओ, गौएँ दुहो ॥ २२ ॥ अथवा यदि मेरे प्रेमसे परवश होकर तुमलोग यहाँ आयी हो तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई, यह तो तुम्हारे योग्य ही है । क्योंकि जगत्‌के पशु-पक्षीतक मुझसे प्रेम करते हैं, मुझे देखकर प्रसन्न होते हैं ॥ २३ ॥ कल्याणी गोपियो ! स्त्रियोंका परम धर्म यही है कि वे पति और उसके भाई-बन्धुओंकी निष्कपटभावसे सेवा करें और सन्तानका पालन-पोषण करें ॥ २४ ॥ जिन स्त्रियोंको उत्तम लोक प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो, वे पातकीको छोड़कर और किसी भी प्रकारके पतिका परित्याग न करें । भले ही वह बुरे स्वभाववाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो ॥ २५ ॥ कुलीन स्त्रियोंके लिये जार पुरुषकी सेवा सब तरहसे निन्दनीय ही है । इससे उनका परलोक बिगड़ता है, स्वर्ग नहीं मिलता, इस लोकमें अपयश होता है । यह कुकर्म स्वयं तो अत्यन्त तुच्छ, क्षणिक है ही; इसमें प्रत्यक्ष—वर्तमानमें भी कष्ट-ही-कष्ट है । मोक्ष आदिकी तो बात ही कौन करे, यह साक्षात् परम भय—नरक आदिका हेतु है ॥ २६ ॥

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

गोपियो ! मेरी लीला और गुणोंके श्रवणसे, रूपके दर्शनसे, उन सबके कीर्तन और ध्यानसे मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होती है, वैसे प्रेमकी प्राप्ति पास रहनेसे नहीं होती । इसलिये तुमलोग अभी अपने-अपने घर लौट जाओ ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥२८॥

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्-
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
अस्रैरुपात्तमसिभिः[1] कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥२९॥

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥३०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णका यह अप्रिय भाषण सुनकर गोपियाँ उदास, खिन्न हो गयीं । उनकी आशा टूट गयी । वे चिन्ताके अथाह एवं अपार समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं ॥ २८ ॥ उनके बिम्बाफल (पके हुए कुँदरू) के समान लाल-लाल अधर शोकके कारण चलनेवाली लंबी और गरम साँससे सूख गये । उन्होंने अपने मुँह नीचेकी ओर लटका लिये, वे पैरके नखोंसे धरती कुरेदने लगीं । नेत्रोंसे दुःखके आँसू बह-बहकर काजलके साथ वक्षःस्थलपर पहुँचने और वहाँ लगी हुई केशरको धोने लगे । उनका हृदय दुःखसे इतना भर गया कि वे कुछ बोल न सकीं, चुपचाप खड़ी रह गयीं ॥ २९ ॥ गोपियोंने अपने प्यारे श्यामसुन्दरके लिये सारी कामनाएँ, सारे भोग छोड़ दिये थे । श्रीकृष्णमें उनका अनन्य अनुराग, परम प्रेम था । जब उन्होंने अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी यह निष्ठुरतासे भरी बात सुनी, जो बड़ी ही अप्रिय-सी मालूम हो रही थी, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ । आँखें रोते-रोते लाल हो गयीं, आँसुओंके मारे रुँध गयीं । उन्होंने धीरज धारण करके अपनी आँखोंके आँसू पोंछे और फिर प्रणयकोपके कारण वे गद्गद वाणीसे कहने लगीं ॥ ३० ॥

गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥३१॥

गोपियोंने कहा—प्यारे श्रीकृष्ण ! तुम घट-घट व्यापी हो । हमारे हृदयकी बात जानते हो । तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरताभरे वचन नहीं कहने चाहिये । हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणोंमें ही प्रेम करती हैं । इसमें सन्देह नहीं कि तुम स्वतन्त्र और हठीले हो । तुमपर हमारा कोई वश नहीं है । फिर भी तुम अपनी ओरसे, जैसे आदि पुरुष भगवान् नारायण कृपा करके अपने मुमुक्षु भक्तोंसे प्रेम करते हैं, वैसे ही हमें स्वीकार कर लो । हमारा त्याग मत करो ॥ ३१ ॥

[1] मलिनैः ।

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग

स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।

अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे

प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्

नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।

तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या

आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥३३॥

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु

यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्

यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥३४॥

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण

हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।

नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा

ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया

दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।

प्यारे श्यामसुन्दर! तुम सब धर्मोंका रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना कि 'अपने पति, पुत्र और भाई-बन्धुओंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है'—अक्षरशः ठीक है। परन्तु इस उपदेशके अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये; क्योंकि तुम्हीं सब उपदेशोंके पद (चरम लक्ष्य) हो; साक्षात् भगवान् हो। तुम्हीं समस्त शरीरधारियोंके सुहृद् हो, आत्मा हो और परम प्रियतम हो ॥३२॥ आत्मज्ञानमें निपुण महापुरुष तुमसे ही प्रेम करते हैं; क्योंकि तुम नित्य प्रिय एवं अपने ही आत्मा हो। अनित्य एवं दुःखद पति-पुत्रादिसे क्या प्रयोजन है? परमेश्वर! इसलिये हमपर प्रसन्न होओ। कृपा करो। कमलनयन! चिरकालसे तुम्हारे प्रति पाली-पोसी आशा-अभिलाषाकी लहलहाती लताका छेदन मत करो ॥३३॥ मनमोहन! अब-तक हमारा चित्त घरके काम-धंधोंमें लगता था। इसीसे हमारे हाथ भी उनमें रमे हुए थे। परन्तु तुमने हमारे देखते-देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। इसमें तुम्हें कोई कठिनाई भी नहीं उठानी पड़ी, तुम तो सुखस्वरूप हो न! परन्तु अब तो हमारी गति-मति निराली ही हो गयी है। हमारे ये पैर तुम्हारे चरणकमलोंको छोड़कर एक पग भी हटनेके लिये तैयार नहीं हैं, नहीं हट रहे हैं। फिर हम व्रजमें कैसे जायँ? और यदि वहाँ जायँ भी तो करें क्या? ॥३४॥ प्राणवल्लभ! हमारे प्यारे सखा! तुम्हारी मन्द-मन्द मधुर मुसकान, प्रेमभरी चितवन और मनोहर संगीतने हमारे हृदयमें तुम्हारे प्रेम और मिलनकी आग धधका दी है। उसे तुम अपने अधरोंकी रसधारासे बुझा दो। नहीं तो प्रियतम! हम सच कहती हैं, तुम्हारी विरह-व्यथाकी आगसे हम अपने-अपने शरीर जला देंगी और ध्यानके द्वारा तुम्हारे चरणकमलोंको प्राप्त करेंगी ॥३५॥

प्यारे कमलनयन! तुम वनवासियोंके प्यारे हो और वे भी तुमसे बहुत प्रेम करते हैं। इससे प्रायः तुम उन्हींके पास रहते हो। यहाँतक कि तुम्हारे जिन चरणकमलोंकी सेवाका अवसर स्वयं लक्ष्मीजीको कभी-कभी ही मिलता है, उन्हीं चरणोंका स्पर्श हमें

अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग

स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥३६॥

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या

लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।

यस्याः स्ववीक्षण¹कृतेऽन्यसुरप्रयास-

स्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥३७॥

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं

प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-

तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-

गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।

दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य

वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥३९॥

प्राप्त हुआ। जिस दिन यह सौभाग्य हमें मिला और तुमने हमें स्वीकार करके आनन्दित किया, उसी दिनसे हम और किसीके सामने एक क्षणके लिये भी ठहरनेमें असमर्थ हो गयी हैं—पति-पुत्रादिकोंकी सेवा तो दूर रही ॥ ३६ ॥ हमारे स्वामी ! जिन लक्ष्मीजीका कृपा कटाक्ष प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े देवता तपस्या करते रहते हैं, वही लक्ष्मीजी तुम्हारे वक्षःस्थलमें बिना किसीकी प्रतिद्वन्द्विताके स्थान प्राप्त कर लेनेपर भी अपनी सौत तुलसीके साथ तुम्हारे चरणोंकी रज पानेकी अभिलाषा किया करती हैं। अबतकके सभी भक्तोंने उस चरणरजका सेवन किया है। उन्हींके समान हम भी तुम्हारी उसी चरणरजकी शरणमें आयी हैं ॥ ३७ ॥ भगवन् ! अबतक जिसने भी तुम्हारे चरणोंकी शरण ली, उसके सारे कष्ट तुमने मिटा दिये। अब तुम हमपर कृपा करो। हमें भी अपने प्रसादका भाजन बनाओ। हम तुम्हारी सेवा करनेकी आशा-अभिलाषासे घर, गाँव, कुटुम्ब—सब कुछ छोड़कर तुम्हारे युगल चरणोंकी शरणमें आयी हैं। प्रियतम ! वहाँ तो तुम्हारी आराधनाके लिये अवकाश ही नहीं है। पुरुषभूषण ! पुरुषोत्तम ! तुम्हारी मधुर मुसकान और चारु चितवनने हमारे हृदयमें प्रेमकी—मिलनकी आकांक्षाकी आग धधका दी है; हमारा रोम-रोम उससे जल रहा है। तुम हमें अपनी दासीके रूपमें स्वीकार कर लो। हमें अपनी सेवाका अवसर दो ॥ ३८ ॥ प्रियतम ! तुम्हारा सुन्दर मुखकमल, जिसपर घुँघराली अलकें झलक रही हैं; तुम्हारे ये कमनीय कपोल, जिनपर सुन्दर-सुन्दर कुण्डल अपना अनन्त सौन्दर्य बिखेर रहे हैं; तुम्हारे ये मधुर अधर, जिनकी सुधा सुधाको भी लजानेवाली है; तुम्हारी यह नयनमनोहारी चितवन, जो मन्द-मन्द मुसकानसे उल्लसित हो रही है; तुम्हारी ये दोनों भुजाएँ, जो शरणागतोंको अभयदान देनेमें अत्यन्त उदार हैं और तुम्हारा यह वक्षःस्थल, जो लक्ष्मीजीका—सौन्दर्यकी एकमात्र देवीका नित्य क्रीडास्थल है, देखकर हम सब तुम्हारी दासी हो गयी हैं ॥ ३९ ॥

१. क्षण उता०।

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥४०॥
व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्॥४१॥

प्यारे श्यामसुन्दर ! तीनों लोकोंमें भी और ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो मधुर-मधुर पद और आरोह-अवरोह-क्रमसे विविध प्रकारकी मूर्च्छनाओंसे युक्त तुम्हारी वंशीकी तान सुनकर तथा इस त्रिलोकसुन्दर मोहिनी मूर्तिको—जो अपने एक बूँद सौन्दर्यसे त्रिलोकीको सौन्दर्यका दान करती है एवं जिसे देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और हरिन भी रोमाञ्चित, पुलकित हो जाते हैं—अपने नेत्रोंसे निहारकर आर्य-मर्यादासे विचलित न हो जाय, कुल-कान और लोकलज्जाको त्यागकर तुममें अनुरक्त न हो जाय ॥ ४० ॥ हमसे यह बात छिपी नहीं है कि जैसे भगवान् नारायण देवताओंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम व्रजमण्डलका भय और दुःख मिटानेके लिये ही प्रकट हुए हो। और यह भी स्पष्ट ही है कि दीन-दुखियोंपर तुम्हारा बड़ा प्रेम, बड़ी कृपा है। प्रियतम ! हम भी बड़ी दुःखिनी हैं। तुम्हारे मिलनकी आकांक्षाकी आगसे हमारा वक्षःस्थल जल रहा है। तुम अपनी इन दासियोंके वक्षःस्थल और सिरपर अपने कोमल करकमल रखकर इन्हें अपना लो; हमें जीवनदान दो ॥ ४१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥४२॥
ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः
प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधिति-
र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः॥४३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण सनकादि योगियों और शिवादि योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं। जब उन्होंने गोपियोंकी व्यथा और व्याकुलतासे भरी वाणी सुनी, तब उनका हृदय दयासे भर गया और यद्यपि वे आत्माराम हैं—अपने-आपमें ही रमण करते रहते हैं, उन्हें अपने अतिरिक्त और किसी भी बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं है, फिर भी उन्होंने हँसकर उनके साथ क्रीडा प्रारम्भ की ॥४२॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपनी भाव-भङ्गी और चेष्टाएँ गोपियोंके अनुकूल कर दीं; फिर भी वे अपने स्वरूपमें ज्यों-के-त्यों एकरस स्थित थे, अच्युत थे। जब वे खुलकर हँसते, तब उनके उज्ज्वल-उज्ज्वल दाँत कुन्दकलीके समान जान पड़ते थे। उनकी प्रेमभरी चितवनसे और उनके दर्शनके आनन्दसे गोपियोंका मुखकमल प्रफुल्लित हो गया। वे उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं। उस समय श्रीकृष्णकी ऐसी शोभा हुई, मानो अपनी पत्नी तारिकाओंसे घिरे हुए

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः ।

मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥४४॥

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् ।

रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥४५॥

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-

नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।

क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-

मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥४६॥

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ।

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ४७

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।

प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥४८॥

चन्द्रमा ही हों ॥ ४३ ॥ गोपियोंके शत-शत यूथोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण वैजयन्ती माला पहने वृन्दावन-को शोभायमान करते हुए विचरण करने लगे । कभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्णके गुण और लीलाओंका गान करतीं, तो कभी श्रीकृष्ण गोपियोंके प्रेम और सौन्दर्यके गीत गाने लगते ॥ ४४ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ यमुनाजीके पावन पुलिनपर, जो कपूरके समान चमकीली बालूसे जगमगा रहा था, पदार्पण किया । वह यमुनाजीकी तरल तरङ्गों-के स्पर्शसे शीतल और कुमुदिनीकी सहज सुगन्धसे सुवासित वायुके द्वारा सेवित हो रहा था । उस आनन्दप्रद पुलिनपर भगवान्ने गोपियोंके साथ क्रीडा की ॥ ४५ ॥ हाथ फैलाना, आलिङ्गन करना, गोपियोंके हाथ दबाना, उनकी चोटी, जाँघ, नीवी और स्तन आदिका स्पर्श करना, विनोद करना, नखक्षत करना, विनोदपूर्ण चितवनसे देखना और मुसकाना—इन क्रियाओंके द्वारा गोपियोंके दिव्य कामरसको, परमोज्ज्वल प्रेमभावको उत्तेजित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें क्रीडाद्वारा आनन्दित करने लगे ॥ ४६ ॥ उदारशिरोमणि सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार गोपियोंका सम्मान किया, तब गोपियोंके मनमें ऐसा भाव आया कि संसारकी समस्त स्त्रियोंमें हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे समान और कोई नहीं है । वे कुछ मानवती हो गयीं ॥ ४७ ॥ जब भगवान्ने देखा कि इन्हें तो अपने सुहागका कुछ गर्व हो आया है और अब मान भी करने लगी हैं, तब वे उनका गर्व शान्त करनेके लिये तथा उनका मान दूर कर प्रसन्न करनेके लिये वहीं—उनके बीचमें ही अन्तर्धान हो गये ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे भगवतो रासक्रीडावर्णनं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंकी दशा

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् सहसा अन्तर्धान हो गये । उन्हें न देखकर व्रजयुवतियों-

१. रासक्रीडायां कृष्णान्वेपणमेकोन० ।

अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै-

र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।

आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते-

स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥ २ ॥

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु

प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।

असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका

न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ ३ ॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता

विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम् ।

पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-

र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ।

नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥

कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः ।

रामानुजो मानिनीनामितो[1] दर्पहरस्मितः ॥ ६ ॥

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये ।

की वैसी ही दशा हो गयी, जैसे यूथपति गजराजके बिना हथिनियोंकी होती है। उनका हृदय विरहकी ज्वालासे जलने लगा ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी मदोन्मत्त गजराजकी-सी चाल, प्रेमभरी मुसकान, विलासभरी चितवन, मनोरम प्रेमालाप, भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीलाओं तथा शृङ्गार-रसकी भाव-भङ्गियोंने उनके चित्तको चुरा लिया था। वे प्रेमकी मतवाली गोपियाँ श्रीकृष्णमय हो गयीं और फिर श्रीकृष्णकी विभिन्न चेष्टाओंका अनुकरण करने लगीं ॥ २ ॥ अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, हास-विलास और चितवन-बोलन आदिमें श्रीकृष्णकी प्यारी गोपियाँ उनके समान ही बन गयीं; उनके शरीरमें भी वही गति-मति, वही भाव-भङ्गी उतर आयी। वे अपनेको सर्वथा भूलकर श्रीकृष्णस्वरूप हो गयीं और उन्हींके लीला-विलासका अनुकरण करती हुई 'मैं श्रीकृष्ण ही हूँ'—इस प्रकार कहने लगीं। ॥ ३ ॥ वे सब परस्पर मिलकर ऊँचे स्वरसे उन्हींके गुणोंका गान करने लगीं और मतवाली होकर एक वनसे दूसरे वनमें, एक झाड़ीसे दूसरी झाड़ीमें जा-जाकर श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण कहीं दूर थोड़े ही गये थे। वे तो समस्त जड़-चेतन पदार्थोंमें तथा उनके बाहर भी आकाशके समान एकरस स्थित ही हैं। वे वहीं थे, उन्हींमें थे; परन्तु उन्हें न देखकर गोपियाँ वनस्पतियोंसे—पेड़-पौधोंसे उनका पता पूछने लगीं ॥ ४ ॥

(गोपियोंने पहले बड़े-बड़े वृक्षोंसे जाकर पूछा) 'हे पीपल, पाकर और बरगद! नन्दनन्दन श्यामसुन्दर अपने प्रेमभरी मुसकान और चितवनसे हमारा मन चुराकर चले गये हैं। क्या तुम लोगोंने उन्हें देखा है? ॥ ५ ॥ कुरबक, अशोक, नागकेशर, पुन्नाग और चम्पा! बलरामजीके छोटे भाई, जिनकी मुसकानमात्रसे बड़ी-बड़ी मानिनियोंका मानमर्दन हो जाता है, इधर आये थे क्या?' ॥ ६ ॥ (अब उन्होंने स्त्रीजातिके पौधोंसे कहा—) 'बहिन तुलसी! तुम्हारा हृदय तो बड़ा कोमल है, तुम तो सभी लोगोंका कल्याण चाहती हो। भगवान्‌के चरणोंमें तुम्हारा प्रेम तो है ही, वे भी

[1] नां गतो।

सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥७॥

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके।

प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-

जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।

येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः

शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९ ॥

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-

स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।

अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा

आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥१०॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-

स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।

कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः

कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥११॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो

रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।

अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं

किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥१२॥

तुमसे बहुत प्यार करते हैं। तभी तो भौंरोंके मँडराते रहनेपर भी वे तुम्हारी माला नहीं उतारते, सर्वदा पहने रहते हैं। क्या तुमने अपने परम प्रियतम श्यामसुन्दरको देखा है ? ॥ ७ ॥ प्यारी मालती ! मल्लिके ! जाती और जूही ! तुमलोगोंने कदाचित् हमारे प्यारे माधवको देखा होगा। क्या वे अपने कोमल करोंसे स्पर्श करके तुम्हें आनन्दित करते हुए इधरसे गये हैं ? ॥ ८ ॥ 'रसाल, प्रियाल, कटहल, पीतशाल, कचनार, जामुन, आक, बेल, मौलसिरी, आम, कदम्ब और नीम तथा अन्यान्य यमुनाके तटपर विराजमान सुखी तरुवरो ! तुम्हारा जन्म-जीवन केवल परोपकारके लिये है। श्रीकृष्णके बिना हमारा जीवन सूना हो रहा है ! हम बेहोश हो रही हैं। तुम हमें उन्हें पानेका मार्ग बता दो' ॥ ९ ॥ 'भगवान्की प्रेयसी पृथ्वीदेवी ! तुमने ऐसी कौन-सी तपस्या की है कि श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके तुम आनन्दसे भर रही हो और तृण-लता आदिके रूपमें अपना रोमाञ्च प्रकट कर रही हो ? तुम्हारा वह उल्लास-विलास श्रीकृष्णके चरणस्पर्शके कारण है अथवा वामनावतारमें विश्वरूप धारण करके उन्होंने तुम्हें जो नापा था, उसके कारण है ? कहीं उनसे भी पहले वराहभगवान्के अङ्ग-सङ्गके कारण तो तुम्हारी यह दशा नहीं हो रही है ?' ॥ १० ॥ 'अरी सखी ! हरिनियो ! हमारे श्यामसुन्दरके अङ्ग-सङ्गसे सुषमा-सौन्दर्यकी धारा बहती रहती है, वे कहीं अपनी प्राणप्रियाके साथ तुम्हारे नयनोंको परमानन्दका दान करते हुए इधरसे ही तो नहीं गये हैं ? देखो, देखो; यहाँ कुलपति श्रीकृष्णकी कुन्दकलीकी मालाकी मनोहर गन्ध आ रही है, जो उनकी परम प्रेयसीके अङ्ग-सङ्गसे लगे हुए कुच-कुङ्कुमसे अनुरञ्जित रहती है' ॥ ११ ॥ 'तरुवरो ! उनकी मालाकी तुलसीमें ऐसी सुगन्ध है कि उसकी गन्धके लोभी मतवाले भौंरे प्रत्येक क्षण उसपर मँडराते रहते हैं। उनके एक हाथमें लीलाकमल होगा और दूसरा हाथ अपनी प्रेयसीके कंधेपर रक्खे होंगे। हमारे प्यारे श्यामसुन्दर इधरसे विचरते हुए अवश्य गये होंगे। जान पड़ता है, तुमलोग उन्हें प्रणाम करनेके लिये ही झुके हो। परन्तु उन्होंने अपनी प्रेमभरी चितवनसे भी तुम्हारी वन्दनाका अभिनन्दन किया है

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥१३॥

इत्युन्मत्तवचोगोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥१४॥

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम् ।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम् ॥१५॥

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥१६॥

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥१७॥

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥१८॥

कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥१९॥

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥२०॥

या नहीं ?' ॥ १२ ॥ 'अरी सखी ! इन लताओंसे पूछो । ये अपने पति वृक्षोंको भुजपाशमें बाँधकर आलिङ्गन किये हुए हैं, इससे क्या हुआ ? इनके शरीरमें जो पुलक है, रोमाञ्च हैं, वह तो भगवान्‌के नखोंके स्पर्शसे ही है । अहो ! इनका कैसा सौभाग्य है ?' ॥ १३ ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार मतवाली गोपियाँ प्रलाप करती हुई भगवान् श्रीकृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कातर हो रही थीं ! अब और भी गाढ़ आवेश हो जानेके कारण वे भगवन्मय होकर भगवान्‌की विभिन्न लीलाओंका अनुकरण करने लगीं ॥ १४ ॥ एक पूतना बन गयी, तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसका स्तन पीने लगी । कोई छकड़ा बन गयी, तो किसीने बालकृष्ण बनकर रोते हुए उसे पैरकी ठोकर मारकर उलट दिया ॥१५॥ कोई सखी बालकृष्ण बनकर बैठ गयी तो कोई तृणावर्त दैत्यका रूप धारण करके उसे हर ले गयी । कोई गोपी पाँव घसीट-घसीटकर घुटनोंके बल बकैयाँ चलने लगी और उस समय उसके पायजेब रुनझुन-रुनझुन बोलने लगे।१६। एक बनी कृष्ण, तो दूसरी बनी बलराम, और बहुत-सी गोपियाँ ग्वालबालोंके रूपमें हो गयीं । एक गोपी बन गयी वत्सासुर, तो दूसरी बनी बकासुर। तब तो गोपियोंने अलग-अलग श्रीकृष्ण बनकर वत्सासुर और बकासुर बनी हुई गोपियोंको मारनेकी लीला की ॥१७॥ जैसे श्रीकृष्ण वनमें करते थे, वैसे ही एक गोपी बाँसुरी बजा-बजाकर दूर गये हुए पशुओंको बुलानेका खेल खेलने लगी । तब दूसरी गोपियाँ 'वाह-वाह' करके उसकी प्रशंसा करने लगीं ॥ १८ ॥ एक गोपी अपनेको श्रीकृष्ण समझकर दूसरी सखीके गलेमें बाँह डालकर चलती और गोपियोंसे कहने लगती— 'मित्रो ! मैं श्रीकृष्ण हूँ । तुमलोग मेरी यह मनोहर चाल देखो' ॥ १९ ॥ कोई गोपी श्रीकृष्ण बनकर कहती— 'अरे व्रजवासियो ! तुम आँधी-पानीसे मत डरो । मैंने उससे बचनेका उपाय निकाल लिया है ।' ऐसा कहकर गोवर्धन-धारणका अनुकरण करती हुई वह अपनी ओढ़नी उठाकर ऊपर तान लेती ॥ २० ॥

१. वत्सायितां गृहीत्वान्या तत्रैका तु बकायिताम् ।

आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥२१॥
तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥२२॥
बद्धान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले ।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥२३॥
एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् ।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥२४॥
पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः ।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः ॥२५॥
तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः ।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ॥२६॥
कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना ।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥२७॥
अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥२८॥
धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः ।
यान्[1] ब्रह्मेशो रमादेवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥२९॥

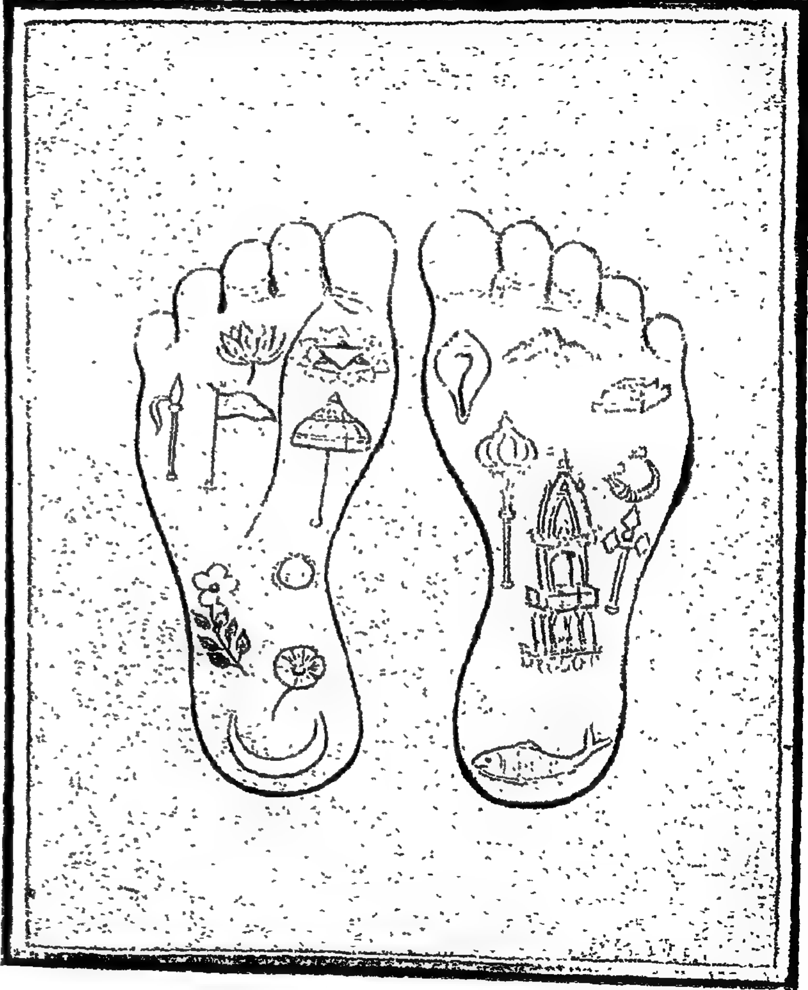
परीक्षित् ! एक गोपी बनी कालिय नाग, तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसके सिरपर पैर रखकर चढ़ी-चढ़ी बोलने लगी—'रे दुष्ट साँप ! तू यहाँसे चला जा । मैं दुष्टोंका दमन करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ' ॥ २१ ॥ इतनेमें ही एक गोपी बोली—'अरे ग्वालो ! देखो, वनमें बड़ी भयङ्कर आग लगी है । तुमलोग जल्दी-से-जल्दी अपनी आँखें मूँद लो, मैं अनायास ही तुमलोगोंकी रक्षा कर दूँगा' ॥ २२ ॥ एक गोपी यशोदा बनी और दूसरी बनी श्रीकृष्ण । यशोदाने फूलोंकी मालासे श्रीकृष्णको ऊखलमें बाँध दिया । अब वह श्रीकृष्ण बनी हुई सुन्दरी गोपी हाथोंसे मुँह ढाँपकर भयकी नकल करने लगी ॥२३॥

परीक्षित् ! इस प्रकार लीला करते-करते गोपियाँ वृन्दावनके वृक्ष और लता आदिसे फिर भी श्रीकृष्णका पता पूछने लगीं । इसी समय उन्होंने एक स्थानपर भगवान्‌के चरणचिह्न देखे ॥ २४ ॥ वे आपसमें कहने लगीं—'अवश्य ही ये चरणचिह्न उदारशिरोमणि नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके हैं; क्योंकि इनमें ध्वजा, कमल, वज्र, अङ्कुश और जौ आदिके चिह्न स्पष्ट ही दीख रहे हैं' ॥२५॥ उन चरणचिह्नोंके द्वारा व्रजवल्लभ भगवान्‌को ढूँढ़ती हुई गोपियाँ आगे बढ़ीं, तब उन्हें श्रीकृष्णके साथ किसी व्रजयुवतीके भी चरणचिह्न दीख पड़े । उन्हें देखकर वे व्याकुल हो गयीं और आपसमें कहने लगीं—॥ २६ ॥ 'जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराजके साथ गयी हो, वैसे ही नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके साथ उनके कंधेपर हाथ रखकर चलनेवाली किस बड़भागिनीके ये चरणचिह्न हैं ? ॥ २७ ॥ अवश्य ही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी यह 'आराधिका' होगी । इसीलिये इसपर प्रसन्न होकर हमारे प्राणप्यारे श्यामसुन्दरने हमें छोड़ दिया है और इसे एकान्तमें ले गये हैं ॥ २८ ॥ प्यारी सखियो ! भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणकमलसे जिस रजका स्पर्श कर देते हैं, वह धन्य हो जाती है, उसके अहोभाग्य हैं ! क्योंकि ब्रह्मा, शङ्कर और लक्ष्मी आदि भी अपने अशुभ नष्ट करनेके लिये उस रजको अपने

१. नाम् । २. यान् ब्रह्मादयो देवाः प्राप्नुवन्ति च मूर्धतः ।



श्रीकृष्ण-चरण



श्रीराधा-चरण

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥३०॥
न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥३१॥
इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः ॥३२॥
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना[1]।
अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३३॥
केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥३४॥
रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥३५॥
इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।
यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥३६॥
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥३७॥

सिरपर धारण करते हैं' ॥ २९ ॥ 'अरी सखी! चाहे कुछ भी हो—यह जो सखी हमारे सर्वस्व श्रीकृष्णको एकान्तमें ले जाकर अकेले ही उनकी अधर-सुधाका रस पी रही है, इस गोपीके उभरे हुए चरणचिह्न तो हमारे हृदयमें बड़ा ही क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं' ॥ ३० ॥ यहाँ उस गोपीके पैर नहीं दिखलायी देते। मालूम होता है, यहाँ प्यारे श्यामसुन्दरने देखा होगा कि मेरी प्रेयसीके सुकुमार चरणकमलोंमें घासकी नोक गड़ती होगी; इसलिये उन्होंने उसे अपने कंधेपर चढ़ा लिया होगा ॥ ३१ ॥ सखियो! यहाँ देखो, प्यारे श्रीकृष्णके चरणचिह्न अधिक गहरे—बालूमें धँसे हुए हैं। इससे सूचित होता है कि यहाँ वे किसी भारी वस्तुको उठाकर चले हैं, उसीके बोझसे उनके पैर जमीनमें धँस गये हैं। हो-न-हो यहाँ उस कामीने अपनी प्रियतमाको अवश्य कंधेपर चढ़ाया होगा ॥ ३२ ॥ देखो-देखो, यहाँ परमप्रेमी व्रजवल्लभने फूल चुननेके लिये अपनी प्रेयसीको नीचे उतार दिया है और यहाँ परम प्रियतम श्रीकृष्णने अपनी प्रेयसीके लिये फूल चुने हैं। उचक-उचककर फूल तोड़नेके कारण यहाँ उनके पंजे तो धरतीमें गड़े हुए हैं और एड़ीका पता ही नहीं है ॥ ३३ ॥ परम प्रेमी श्रीकृष्णने कामी पुरुषके समान यहाँ अपनी प्रेयसीके केश सँवारे हैं। देखो, अपने चुने हुए फूलोंको प्रेयसीकी चोटीमें गूँथनेके लिये वे यहाँ अवश्य ही बैठे रहे होंगे' ॥ ३४ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। वे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट और पूर्ण हैं। जब वे अखण्ड हैं, उनमें दूसरा कोई है ही नहीं, तब उनमें कामकी कल्पना कैसे हो सकती है? फिर भी उन्होंने कामियोंकी दीनता—स्त्रीपरवशता और स्त्रियोंकी कुटिलता दिखलाते हुए वहाँ उस गोपीके साथ एकान्तमें क्रीडा की थी—एक खेल रचा था ॥ ३५ ॥

इस प्रकार गोपियाँ मतवाली-सी होकर—अपनी सुध-बुध खोकर एक दूसरेको भगवान् श्रीकृष्णके चरणचिह्न दिखलाती हुई वन-वनमें भटक रही थीं। इधर भगवान् श्रीकृष्ण दूसरी गोपियोंको वनमें छोड़कर जिस भाग्यवती गोपीको एकान्तमें ले गये थे, उसने समझा कि 'मैं ही समस्त गोपियोंमें श्रेष्ठ हूँ। इसीलिये तो हमारे प्यारे श्रीकृष्ण दूसरी गोपियोंको छोड़कर, जो उन्हें इतना चाहती हैं, केवल मेरा ही मान करते हैं। मुझे ही

[1] प्राचीन प्रतिमें 'अत्राव''''''महात्मना' यह श्लोकार्ध मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है।

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥३८॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥३९॥

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥४०॥

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः ।
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥४१॥

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।
अवमानं च दौरात्म्याद् विस्मयं परमं ययुः ॥४२॥

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते ।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः ॥४३॥

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।

आदर दे रहे हैं ॥३६-३७॥ भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा और शङ्करके भी शासक हैं । वह गोपी वनमें जाकर अपने प्रेम और सौभाग्यके मदसे मतवाली हो गयी और उन्हीं श्रीकृष्णसे कहने लगी—'प्यारे ! मुझसे अब तो और नहीं चला जाता । मेरे सुकुमार पाँव थक गये हैं । अब तुम जहाँ चलना चाहो, मुझे अपने कंधेपर चढ़ाकर ले चलो' ॥ ३८ ॥ अपनी प्रियतमाकी यह बात सुनकर श्यामसुन्दरने कहा—'अच्छा प्यारी ! तुम अब मेरे कंधेपर चढ़ लो ।' यह सुनकर वह गोपी ज्यों ही उनके कंधेपर चढ़ने चली, त्यों ही श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये और वह सौभाग्यवती गोपी रोने-पछताने लगी ॥ ३९ ॥ 'हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रेष्ठ ! हा महाभुज ! तुम कहाँ हो ! कहाँ हो !! मेरे सखा ! मैं तुम्हारी दीन-हीन दासी हूँ । शीघ्र ही मुझे अपने सान्निध्यका अनुभव कराओ, मुझे दर्शन दो' ॥ ४० ॥ परीक्षित् ! गोपियाँ भगवान्के चरणचिह्नोंके सहारे उनके जानेका मार्ग ढूँढ़ती-ढूँढ़ती वहाँ जा पहुँचीं । थोड़ी दूरसे ही उन्होंने देखा कि उनकी सखी अपने प्रियतमके वियोगसे दुखी होकर अचेत हो गयी है ॥ ४१ ॥ जब उन्होंने उसे जगाया, तब उसने भगवान् श्रीकृष्णसे उसे जो प्यार और सम्मान प्राप्त हुआ था, वह उनको सुनाया । उसने यह भी कहा कि मैंने कुटिलतावश उनका अपमान किया, इसीसे वे अन्तर्धान हो गये ।' उसकी बात सुनकर गोपियोंके आश्चर्यकी सीमा न रही ॥४२॥

इसके बाद वनमें जहाँतक चन्द्रदेवकी चाँदनी छिटक रही थी, वहाँतक वे उन्हें ढूँढ़ती हुई गयीं । परन्तु जब उन्होंने देखा कि आगे घना अन्धकार है—घोर जंगल है—हम ढूँढ़ती जायँगी तो श्रीकृष्ण और भी उसके अंदर घुस जायँगे, तब वे उधरसे लौट आयीं ॥ ४३ ॥ परीक्षित् ! गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था । उनकी वाणीसे कृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी । उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णकी चेष्टाएँ हो रही थीं । कहाँतक कहूँ; उनका

१। तथा।

तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥४४॥

रोम-रोम, उनकी आत्मा श्रीकृष्णमय हो रही थी। (वे केवल उनके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध नहीं थी, फिर घरकी याद कौन करता ? ॥ ४४ ॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः ॥४५॥

गोपियोंका रोम-रोम इस बातकी प्रतीक्षा और आकाङ्क्षा कर रहा था कि जल्दी-से-जल्दी श्रीकृष्ण आयें। श्रीकृष्णकी ही भावनामें डूबी हुई गोपियाँ यमुनाजीके पावन पुलिनपर----रमणरेतीमें लौट आयीं और एक साथ मिलकर श्रीकृष्णके गुणोंका गान करने लगीं ॥ ४५ ॥)

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

गोपिकागीत

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावका-
स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥ १ ॥

शरदुदाशये साधुजातसत्-
सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका
वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥ २ ॥

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्
वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभया-
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥ ३ ॥

गोपियाँ विरहावेशमें गाने लगीं—प्यारे ! तुम्हारे जन्मके कारण वैकुण्ठ आदि लोकोंसे भी व्रजकी महिमा बढ़ गयी है। तभी तो सौन्दर्य और मृदुलताकी देवी लक्ष्मीजी अपना निवासस्थान वैकुण्ठ छोड़कर यहाँ नित्य-निरन्तर निवास करने लगी हैं, इसकी सेवा करने लगी हैं। परन्तु प्रियतम ! देखो तुम्हारी गोपियाँ जिन्होंने तुम्हारे चरणोंमें ही अपने प्राण समर्पित कर रखे हैं, वन-वनमें भटककर तुम्हें ढूँढ़ रही हैं ॥ १ ॥ हमारे प्रेमपूर्ण हृदयके स्वामी ! हम तुम्हारी बिना मोलकी दासी हैं। तुम शरत्कालीन जलाशयमें सुन्दर-से-सुन्दर सरसिजकी कर्णिकाके सौन्दर्यको चुरानेवाले नेत्रोंसे हमें घायल कर चुके हो। हमारे मनोरथ पूर्ण करनेवाले प्राणेश्वर ! क्या नेत्रोंसे मारना वध नहीं है ? अस्त्रोंसे हत्या करना ही वध है ? ॥ २ ॥ पुरुषशिरोमणे ! यमुनाजीके विषैले-जलसे होनेवाली मृत्यु अजगरके रूपमें खानेवाले अघासुर इन्द्रकी वर्षा, आँधी, बिजली, दावानल, वृषभासुर और व्योमासुर आदिसे एवं भिन्न-भिन्न अवसरोंपर सब प्रकारके भयोंसे तुमने बार-बार हमलोगोंकी रक्षा की है ॥ ३ ॥

१. रासक्रीडायां त्रिंश० । २. गोपिका ।

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥ ४ ॥

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां
निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय ॥ ६ ॥[1]

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥ ७ ॥

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया
बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती-
रधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥ ८ ॥

तुम केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो; समस्त शरीरधारियों-के हृदयमें रहनेवाले उनके साक्षी हो, अन्तर्यामी हो। सखे! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे विश्वकी रक्षा करनेके लिये तुम यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हो ॥ ४ ॥

अपने प्रेमियोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेवालोंमें अग्रगण्य यदुवंशशिरोमणे! जो लोग जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करसे डरकर तुम्हारे चरणोंकी शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें तुम्हारे करकमल अपनी छत्रछायामें लेकर अभय कर देते हैं। हमारे प्रियतम! सबकी लालसा-अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाला वही करकमल, जिससे तुमने लक्ष्मीजीका हाथ पकड़ा है, हमारे सिरपर रख दो ॥ ५ ॥ व्रजवासियोंके दुःख दूर करनेवाले वीर-शिरोमणि श्यामसुन्दर! तुम्हारी मन्द-मन्द मुसकानकी एक उज्ज्वल रेखा ही तुम्हारे प्रेमीजनोंके सारे मान-मदको चूर-चूर कर देनेके लिये पर्याप्त है। हमारे प्यारे सखा! हमसे रूठो मत, प्रेम करो। हम तो तुम्हारी दासी हैं, तुम्हारे चरणोंपर निछावर हैं। हम अबलाओंको अपना वह परम सुन्दर साँवला-साँवला मुखकमल दिखलाओ ॥ ६ ॥ तुम्हारे चरणकमल शरणागत प्राणियोंके सारे पापोंको नष्ट कर देते हैं। वे समस्त सौन्दर्य, माधुर्यकी खान हैं और स्वयं लक्ष्मीजी उनकी सेवा करती रहती हैं। तुम उन्हीं चरणोंसे हमारे बछड़ोंके पीछे-पीछे चलते हो और हमारे लिये उन्हें साँपके फणोंतकपर रखनेमें भी तुमने सङ्कोच नहीं किया। हमारा हृदय तुम्हारी विरह-व्यथाकी आगसे जल रहा है, तुम्हारी मिलनकी आकाङ्क्षा हमें सता रही है। तुम अपने वे ही चरण हमारे वक्षःस्थलपर रखकर हमारे हृदयकी ज्वालाको शान्त कर दो ॥ ७ ॥ कमलनयन! तुम्हारी वाणी कितनी मधुर है! उसका एक-एक पद, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर मधुरातिमधुर है। बड़े-बड़े विद्वान् उसमें रम जाते हैं। उसपर अपना सर्वस्व निछावर कर देते हैं। तुम्हारी उसी वाणीका रसास्वादन करके तुम्हारी आज्ञाकारिणी दासी गोपियाँ मोहित हो रही हैं। दानवीर! अब तुम अपना दिव्य अमृतसे भी मधुर अधर-रस पिलाकर हमें जीवन-दान दो, छका

१. प्राचीन प्रतिमें 'व्रजजना''''''चारु दर्शय' यह श्लोक नहीं है।

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं
विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः
कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः
कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥११॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै-
र्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहु-
र्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं
धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते
रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥१३॥

दो ॥ ८ ॥ प्रभो ! तुम्हारी लीलाकथा भी अमृतस्वरूप है । विरहसे सताये हुए लोगोंके लिये तो वह जीवन-सर्वस्व ही है । बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओं—भक्त कवियोंने उसका गान किया है, वह सारे पाप-ताप तो मिटाती ही है, साथ ही श्रवणमात्रसे परम मङ्गल—परम कल्याणका दान भी करती है । वह परम सुन्दर, परम मधुर और बहुत विस्तृत भी है । जो तुम्हारी उस लीला-कथाका गान करते हैं, वास्तवमें भूलोकमें वे ही सबसे बड़े दाता हैं ॥९॥ प्यारे ! एक दिन वह था, जब तुम्हारी प्रेमभरी हँसी और चितवन तथा तुम्हारी तरह-तरहकी क्रीडाओंका ध्यान करके हम आनन्दमें मग्न हो जाया करती थीं । उनका ध्यान भी परम मङ्गलदायक है, उसके बाद तुम मिले । तुमने एकान्तमें हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ कीं, प्रेमकी बातें कहीं । हमारे कपटी मित्र ! अब वे सब बातें याद आकर हमारे मनको क्षुब्ध किये देती हैं ॥ १० ॥

हमारे प्यारे स्वामी ! तुम्हारे चरण कमलसे भी सुकोमल और सुन्दर हैं । जब तुम गौओंको चरानेके लिये व्रजसे निकलते हो तब यह सोचकर कि तुम्हारे वे युगल चरण कंकड़, तिनके और कुश-काँटे गड़ जानेसे कष्ट पाते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है । हमें बड़ा दुःख होता है ॥ ११ ॥ दिन ढलनेपर जब तुम वनसे घर लौटते हो, तो हम देखती हैं कि तुम्हारे मुखकमल-पर नीली-नीली अलकें लटक रही हैं और गौओंके खुरसे उड़-उड़कर घनी धूल पड़ी हुई है । हमारे वीर प्रियतम ! तुम अपना वह सौन्दर्य हमें दिखा-दिखाकर हमारे हृदयमें मिलनकी आकाङ्क्षा—प्रेम उत्पन्न करते हो ॥ १२ ॥ प्रियतम ! एकमात्र तुम्हीं हमारे सारे दुःखोंको मिटाने-वाले हो । तुम्हारे चरणकमल शरणागत भक्तोंकी समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हैं । स्वयं लक्ष्मीजी उनकी सेवा करती हैं और पृथ्वीके तो वे भूषण ही हैं । आपत्तिके समय एकमात्र उन्हींका चिन्तन करना उचित है, जिससे सारी आपत्तियाँ कट जाती हैं । कुञ्ज-विहारी ! तुम अपने वे परम कल्याणस्वरूप चरणकमल हमारे वक्षःस्थलपर रखकर हृदयकी व्यथा शान्त कर

१. क्षितं विरहिणां च ।

सुरतवर्धनं शोकनाशनं
स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां
वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥

अटति यद्‌ भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्‌ दृशाम् ॥१५॥

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा-
नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः
कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं
प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते
मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥१७॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते
वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां
स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥१८॥

१. वीर । २. स्पृहं ।

दो ॥ १३ ॥ वीरशिरोमणे ! तुम्हारा अधरामृत मिलनके सुखको, आकाङ्क्षाको बढ़ानेवाला है । वह विरहजन्य समस्त शोक-सन्तापको नष्ट कर देता है । यह गानेवाली बाँसुरी भलीभाँति उसे चूमती रहती है । जिन्होंने एक बार उसे पी लिया, उन लोगोंको फिर दूसरों और दूसरोंकी आसक्तियोंका स्मरण भी नहीं होता । हमारे वीर ! अपना वही अधरामृत हमें वितरण करो, पिलाओ ॥ १४ ॥ प्यारे ! दिनके समय जब तुम वनमें विहार करनेके लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है और जब तुम सन्ध्याके समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकोंसे युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं, उस समय पलकोंका गिरना हमारे लिये भार हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रोंकी पलकोंको बनानेवाला विधाता मूर्ख है ॥ १५ ॥ प्यारे श्यामसुन्दर ! हम अपने पति-पुत्र, भाई-बन्धु और कुल-परिवारका त्याग कर, उनकी इच्छा और आज्ञाओंका उल्लङ्घन करके तुम्हारे पास आयी हैं । हम तुम्हारी एक-एक चाल जानती हैं, सङ्केत समझती हैं और तुम्हारे मधुर गानकी गति समझकर, उसीसे मोहित होकर यहाँ आयी हैं । कपटी ! इस प्रकार रात्रिके समय आयी हुई युवतियोंको तुम्हारे सिवा और कौन छोड़ सकता है ॥१६॥ प्यारे ! एकान्तमें तुम मिलनकी आकाङ्क्षा, प्रेम-भावको जगानेवाली बातें करते थे । ठिठोली करके हमें छेड़ते थे । तुम प्रेमभरी चितवनसे हमारी ओर देखकर मुसकरा देते थे और हम देखती थीं तुम्हारा वह विशाल वक्षःस्थल, जिसपर लक्ष्मीजी नित्य-निरन्तर निवास करती हैं । तबसे अबतक निरन्तर हमारी लालसा बढ़ती ही जा रही है और हमारा मन अधिकाधिक मुग्ध होता जा रहा है ॥ १७ ॥ प्यारे ! तुम्हारी यह अभिव्यक्ति व्रज-वनवासियोंके सम्पूर्ण दुःख-तापको नष्ट करनेवाली और विश्वका पूर्ण मङ्गल करनेके लिये है । हमारा हृदय तुम्हारे प्रति लालसासे भर रहा है । कुछ थोड़ी-सी ऐसी ओषधि दो, जो तुम्हारे निजजनोंके हृदयरोगको सर्वथा निर्मूल कर दे ॥ १८ ॥

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥१९॥

तुम्हारे चरण कमलसे भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनोंपर भी डरते-डरते बहुत धीरेसे रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। उन्हीं चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर जंगलमें छिपे-छिपे भटक रहे हो! क्या कंकड़, पत्थर आदिकी चोट लगनेसे उनमें पीड़ा नहीं होती? हमें तो इसकी सम्भावनामात्रसे ही चक्कर आ रहा है। हम अचेत होती जा रही हैं। श्रीकृष्ण! श्यामसुन्दर! प्राणनाथ! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारे लिये जी रही हैं, हम तुम्हारी हैं ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां गोपीगीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

भगवान्‌का प्रकट होकर गोपियोंको सान्त्वना देना

श्रीशुक[2] उवाच

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥
तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ३ ॥
काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्‌की प्यारी गोपियाँ विरहके आवेशमें इस प्रकार भाँति-भाँतिसे गाने और प्रलाप करने लगीं। अपने कृष्ण प्यारेके दर्शनकी लालसासे वे अपनेको रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ १ ॥ ठीक उसी समय उनके बीचोबीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। गलेमें वनमाला थी, पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका यह रूप क्या था, सबके मनको मथ डालनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था ॥ २ ॥ कोटि-कोटि कामोंसे भी सुन्दर परम मनोहर प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरको आया देख गोपियोंके नेत्र प्रेम और आनन्दसे खिल उठे। वे सब-की-सब एक ही साथ इस प्रकार उठ खड़ी हुईं, मानो प्राणहीन शरीरमें दिव्य प्राणोंका सञ्चार हो गया हो, शरीरके एक-एक अङ्गमें नवीन चेतना—नूतन स्फूर्ति आ गयी हो ॥ ३ ॥ एक गोपीने बड़े प्रेम और आनन्दसे श्रीकृष्णके करकमलको अपने दोनों हाथोंमें ले लिया और वह

१. रासक्रीडायामेकत्रिं०। २. बादरायणिरुवाच।

काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम् ॥ ४ ॥
काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ॥ ५ ॥
एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा ॥ ६ ॥
अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥ ७ ॥
तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥ ८ ॥
सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥ ९ ॥
ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥ १० ॥
ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।

धीरे-धीरे उसे सहलाने लगी। दूसरी गोपीने उनके चन्दनचर्चित भुजदण्डको अपने कंधेपर रख लिया ॥ ४ ॥ तीसरी सुन्दरीने भगवान्‌का चबाया हुआ पान अपने हाथोंमें ले लिया। चौथी गोपी, जिसके हृदयमें भगवान्‌के विरहसे बड़ी जलन हो रही थी, बैठ गयी और उनके चरणकमलको अपने वक्षःस्थलपर रख लिया ॥ ५ ॥ पाँचवीं गोपी प्रणयकोपसे विह्वल होकर, भौंहें चढ़ाकर, दाँतोंसे होठ दबाकर अपने कटाक्ष-बाणोंसे बींधती हुई उनकी ओर ताकने लगी ॥ ६ ॥ छठी गोपी अपने निर्निमेष नयनोंसे उनके मुखकमलका मकरन्द-रस पान करने लगी। परन्तु जैसे संत पुरुष भगवान्‌के चरणोंके दर्शनसे कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही वह उनकी मुख-माधुरीका निरन्तर पान करते रहनेपर भी तृप्त नहीं होती थी ॥ ७ ॥ सातवीं गोपी नेत्रोंके मार्गसे भगवान्‌को अपने हृदयमें ले गयी और फिर उसने आँखें बंद कर लीं। अब मन-ही-मन भगवान्‌का आलिङ्गन करनेसे उसका शरीर पुलकित हो गया। रोम-रोम खिल उठा और वह सिद्ध योगियोंके समान परमानन्दमें मग्न हो गयी ॥ ८ ॥ परीक्षित्! जैसे मुमुक्षुजन परम ज्ञानी संत पुरुषको प्राप्त करके संसारकी पीड़ासे मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही सभी गोपियोंको भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे परम आनन्द और परम उल्लास प्राप्त हुआ। उनके विरहके कारण गोपियोंको जो दुःख हुआ था, उससे वे मुक्त हो गयीं और शान्तिके समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं ॥ ९ ॥ परीक्षित्! यों तो भगवान् श्रीकृष्ण अच्युत और एकरस हैं, उनका सौन्दर्य और माधुर्य निरतिशय है; फिर भी विरह-व्यथासे मुक्त हुई गोपियोंके बीचमें उनकी शोभा और भी बढ़ गयी। ठीक वैसे ही, जैसे परमेश्वर अपने नित्य ज्ञान, बल आदि शक्तियोंसे सेवित होनेपर और भी शोभायमान होता है ॥ १० ॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने उन व्रजसुन्दरियोंको साथ लेकर यमुनाजीके पुलिनमें प्रवेश किया। उस समय खिले हुए कुन्द और मन्दारके पुष्पोंकी सुरभि

१. निर्दष्ट०।

विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥११॥

शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम् ।

कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥१२॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो

मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।

स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितै-

रचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो

योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।

चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित-

स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १४ ॥

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं

सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।

लेकर बड़ी ही शीतल और सुगन्धित मन्द-मन्द वायु चल रही थी और उसकी महँकसे मतवाले होकर भौंरे इधर-उधर मँडरा रहे थे ॥ ११ ॥ शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनी अपनी निराली ही छटा दिखला रही थी । उसके कारण रात्रिके अन्धकारका तो कहीं पता ही न था, सर्वत्र आनन्द-मङ्गलका ही साम्राज्य छाया था । वह पुलिन क्या था, यमुनाजीने स्वयं अपनी लहरोंके हाथों भगवान्‌की लीलाके लिये सुकोमल बालुकाका रंगमञ्च बना रक्खा था ॥ १२ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे गोपियोंके हृदयमें इतने आनन्द और इतने रसका उल्लास हुआ कि उनके हृदयकी सारी आधि-व्याधि मिट गयी । जैसे कर्मकाण्डकी श्रुतियाँ उसका वर्णन करते-करते अन्तमें ज्ञानकाण्डका प्रतिपादन करने लगती हैं और फिर वे समस्त मनोरथोंसे ऊपर उठ जाती हैं, कृतकृत्य हो जाती हैं—वैसे ही गोपियाँ भी पूर्णकाम हो गयीं । अब उन्होंने अपने वक्षःस्थलपर लगी हुई रोली-केसरसे चिह्नित ओढ़नीको अपने परम प्यारे सुहृद् श्रीकृष्णके विराजनेके लिये बिछा दिया ॥ १३ ॥ बड़े-बड़े योगेश्वर अपने योग-साधनसे पवित्र किये हुए हृदयमें जिनके लिये आसनकी कल्पना करते रहते हैं, किन्तु फिर भी अपने हृदय-सिंहासनपर बिठा नहीं पाते, वही सर्वशक्तिमान् भगवान् यमुनाजीकी रेतीमें गोपियोंकी ओढ़नीपर बैठ गये । सहस्र-सहस्र गोपियोंके बीचमें उनसे पूजित होकर भगवान् बड़े ही शोभायमान हो रहे थे । परीक्षित् ! तीनों लोकोंमें—तीनों कालोंमें जितना भी सौन्दर्य प्रकाशित होता है, वह सब तो भगवान्‌के बिन्दुमात्र सौन्दर्यका आभासभर है । वे उसके एकमात्र आश्रय हैं ॥ १४ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस अलौकिक सौन्दर्यके द्वारा उनके प्रेम और आकाङ्क्षाको और भी उभाड़ रहे थे । गोपियोंने अपनी मन्द-मन्द मुसकान, विलासपूर्ण चितवन और तिरछी भौंहोंसे उनका सम्मान किया । किसीने उनके चरणकमलोंको अपनी गोदमें रख लिया, तो किसीने उनके करकमलोंको । वे उनके

१. लासित० ।

संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः

संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥ १५ ॥

संस्पर्शका आनन्द लेती हुई कभी-कभी कह उठती थीं—कितना सुकुमार है, कितना मधुर है! इसके बाद श्रीकृष्णके छिप जानेसे मन-ही-मन तनिक रूठकर उनके मुँहसे ही उनका दोष स्वीकार करानेके लिये वे कहने लगीं—॥ १५ ॥

गोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।

नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥१६॥

गोपियोंने कहा—नटनागर! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं! परन्तु कोई-कोई दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते। प्यारे! इन तीनोंमें तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है? ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते ।

न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा ।

धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥१८॥

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः ।

आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥१९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय सखियो! जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्योग स्वार्थको लेकर है। लेन-देनमात्र है। न तो उनमें सौहार्द है और न तो धर्म। उनका प्रेम केवल स्वार्थके लिये ही है; इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १७ ॥ सुन्दरियो! जो लोग प्रेम न करनेवालेसे भी प्रेम करते हैं—जैसे स्वभावसे ही करुणाशील सज्जन और माता-पिता—उनका हृदय सौहार्दसे, हितैषितासे भरा रहता है और सच पूछो, तो उनके व्यवहारमें निश्छल सत्य एवं पूर्ण धर्म भी है ॥ १८ ॥ कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते, न प्रेम करनेवालोंका तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं है। ऐसे लोग चार प्रकारके होते हैं। एक तो वे, जो अपने स्वरूपमें ही मस्त रहते हैं—जिनकी दृष्टिमें कभी द्वैत भासता ही नहीं। दूसरे वे, जिन्हें द्वैत तो भासता है, परन्तु जो कृतकृत्य हो चुके हैं; उनका किसीसे कोई प्रयोजन ही नहीं है। तीसरे वे हैं, जो जानते ही नहीं कि हमसे कौन प्रेम करता है; और चौथे वे हैं, जो जान-बूझकर अपना हित करनेवाले परोपकारी गुरुतुल्य लोगोंसे भी द्रोह करते हैं, उनको सताना चाहते हैं ॥१९॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्

भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।

यथाधनो लब्धधने विनष्टे

तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥

गोपियो! मैं तो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेमका वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये। मैं ऐसा केवल इसीलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति और भी मुझमें लगे, निरन्तर लगी ही रहे। जैसे निर्धन पुरुषको कभी बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धनकी चिन्तासे भर जाता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ ॥२०॥



महारास—रसमय भगवान्‌की अन्तरङ्गलीला

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥२१॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

गोपियो ! इसमें सन्देह नहीं कि तुम लोगोंने मेरे लिये लोक-मर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी छोड़ दिया है । ऐसी स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न जाय, अपने सौन्दर्य और सुहागकी चिन्ता न करने लगे, मुझमें ही लगी रहे—इसीलिये परोक्षरूपसे तुम लोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं छिप गया था । इसलिये तुमलोग मेरे प्रेममें दोष मत निकालो । तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ ॥२१॥ मेरी प्यारी गोपियो ! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते । मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है । यदि मैं अमर शरीरसे—अमर जीवनसे अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता । मैं जन्म-जन्मके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ । तुम अपने सौम्य स्वभावसे, प्रेमसे मुझे उऋण कर सकती हो । परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

महारास

श्रीशुक उवाच[3]

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥ १ ॥
तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥
रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! गोपियाँ भगवान्‌की इस प्रकार प्रेमभरी सुमधुर वाणी सुनकर जो कुछ विरहजन्य ताप शेष था, उससे भी मुक्त हो गयीं और सौन्दर्य-माधुर्यनिधि प्राणप्यारेके अङ्ग-सङ्गसे सफल-मनोरथ हो गयीं ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेयसी और सेविका गोपियाँ एक-दूसरेकी बाँह-में-बाँह डाले खड़ी थीं । उन स्त्रीरत्नोंके साथ यमुनाजीके पुलिनपर भगवान्‌ने अपनी रसमयी रासक्रीडा प्रारम्भ की ॥ २ ॥ सम्पूर्ण योगोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियोंके बीचमें प्रकट हो गये और उनके गलेमें अपना हाथ डाल दिया । इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण, यही

१. नार्ह० । २. रासक्रीडायां भगवद्दर्शनं द्वात्रिं० । ३. बादरायणिरुवाच । ४. हसंतापं ।

प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥

यं मन्येरन् नभस्तावद् विमानशतसङ्कुलम् ।

दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४ ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।

जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ५ ॥

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।

सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥ ६ ॥

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।

मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ७ ॥

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-

र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।

स्विद्यन्मुख्यः कवररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो

गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥ ८ ॥

क्रम था । सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव करती थीं कि हमारे प्यारे तो हमारे ही पास हैं । इस प्रकार सहस्र-सहस्र गोपियोंसे शोभायमान भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य रासोत्सव प्रारम्भ हुआ । उस समय आकाशमें शत-शत विमानोंकी भीड़ लग गयी । सभी देवता अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आ पहुँचे । रासोत्सवके दर्शनकी लालसासे, उत्सुकतासे उनका मन उनके वशमें नहीं था ॥ ३-४ ॥ स्वर्गकी दिव्य दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं । स्वर्गीय पुष्पोंकी वर्षा होने लगी । गन्धर्वगण अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ भगवान्के निर्मल यशका गान करने लगे ॥ ५ ॥ रासमण्डलमें सभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके साथ नृत्य करने लगीं । उनकी कलाइयोंके कंगन, पैरोंके पायजेब और करधनीके छोटे-छोटे घुँघरू एक साथ बज उठे । असंख्य गोपियाँ थीं, इसलिये यह मधुर ध्वनि भी बड़े ही जोरकी हो रही थी ॥ ६ ॥ यमुनाजीकी रमणरेतीपर व्रजसुन्दरियोंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी अनोखी शोभा हुई । ऐसा जान पड़ता था, मानो अगणित पीली-पीली दमकती हुई सुवर्ण-मणियोंके बीचमें ज्योतिर्मयी नीलमणि चमक रही हो ॥ ७ ॥ नृत्यके समय गोपियाँ तरह-तरहसे ठुमुक-ठुमुककर अपने पाँव कभी आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेतीं । कभी गतिके अनुसार धीरे-धीरे पाँव रखतीं, तो कभी बड़े वेगसे; कभी चाककी तरह घूम जातीं, कभी अपने हाथ उठा-उठाकर भाव बतातीं, तो कभी विभिन्न प्रकारसे उन्हें चमकातीं । कभी बड़े कलापूर्ण ढंगसे मुसकरातीं, तो कभी भौंहें मटकातीं । नाचते-नाचते उनकी पतली कमर ऐसी लचक जाती थी; मानो टूट गयी हो । झुकने, बैठने, उठने और चलनेकी फुर्तीसे उनके स्तन हिल रहे थे तथा वस्त्र उड़े जा रहे थे । कानोंके कुण्डल हिल-हिलकर कपोलोंपर आ जाते थे । नाचनेके परिश्रमसे उनके मुँहपर पसीनेकी बूँदें झलकने लगी थीं । केशोंकी चोटियाँ कुछ ढीली पड़ गयी थीं । नीवीकी गाँठें खुली जा रही थीं । इस प्रकार नटवर नन्दलालकी परम प्रेयसी गोपियाँ उनके साथ गा-गाकर नाच रही थीं । परीक्षित् ! उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो बहुत-से श्रीकृष्ण तो साँवले-साँवले मेघ-मण्डल हैं और उनके बीच-बीचमें चमकती हुई गोरी गोपियाँ बिजली हैं । उनकी शोभा असीम

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥
काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥१०॥
काचिद् रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥११॥
तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥१२॥
कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥१३॥
नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम्१४
गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥१५॥

थी ॥ ८ ॥ गोपियोंका जीवन भगवान्‌की रति है, प्रेम है । वे श्रीकृष्णसे सटकर नाचते-नाचते ऊँचे स्वरसे मधुर गान कर रही थीं । श्रीकृष्णका संस्पर्श पा-पाकर और भी आनन्दमग्न हो रही थीं । उनके राग-रागिनियोंसे पूर्ण गानसे यह सारा जगत् अब भी गूँज रहा है ॥९॥ कोई गोपी भगवान्‌के साथ—उनके स्वरमें स्वर मिला-कर गा रही थी । वह श्रीकृष्णके स्वरकी अपेक्षा और भी ऊँचे स्वरसे राग अलापने लगी । उसके विलक्षण और उत्तम स्वरको सुनकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और वाह-वाह करके उसकी प्रशंसा करने लगे । उसी रागको एक दूसरी सखीने ध्रुपदमें गाया । उसका भी भगवान्‌ने बहुत सम्मान किया ॥ १० ॥ एक गोपी नृत्य करते-करते थक गयी । उसकी कलाइयोंसे कंगन और चोटियोंसे बेलाके फूल खिसकने लगे । तब उसने अपने बगलमें ही खड़े मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरके कंधेको अपनी बाँहसे कसकर पकड़ लिया ॥ ११ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपना एक हाथ दूसरी गोपीके कंधेपर रख रक्खा था । वह स्वभावसे तो कमलके समान सुगन्धसे युक्त था ही, उसपर बड़ा सुगन्धित चन्दनका लेप भी था । उसकी सुगन्धसे वह गोपी पुलकित हो गयी, उसका रोम-रोम खिल उठा । उसने झटसे उसे चूम लिया ॥ १२ ॥ एक गोपी नृत्य कर रही थी । नाचनेके कारण उसके कुण्डल हिल रहे थे, उनकी छटासे उसके कपोल और भी चमक रहे थे । उसने अपने कपोलोंको भगवान् श्रीकृष्णके कपोलसे सटा दिया और भगवान्‌ने उसके मुँहमें अपना चबाया हुआ पान दे दिया ॥ १३ ॥ कोई गोपी नूपुर और करधनीके घुँघरुओंको झनकारती हुई नाच और गा रही थी । वह जब बहुत थक गयी, तब उसने अपने बगलमें ही खड़े श्यामसुन्दरके शीतल करकमलको अपने दोनों स्तनोंपर रख लिया ॥ १४ ॥

परीक्षित् ! गोपियोंका सौभाग्य लक्ष्मीजीसे भी बढ़कर है । लक्ष्मीजीके परम प्रियतम एकान्त-वल्लभ भगवान् श्रीकृष्णको अपने परम प्रियतमके रूपमें पाकर गोपियाँ गान करती हुई उनके साथ विहार करने लगीं । भगवान् श्रीकृष्णने उनके गलोंको अपने भुजपाशमें बाँध रक्खा था, उस समय गोपियोंकी बड़ी अपूर्व

१. ते ।

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म-

वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।

गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-

स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥१६॥

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-

स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-

र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥१७॥

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः

केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।

नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो

विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥१८॥

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः ।

कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥१९॥

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।

रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः ।

प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥२१॥

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-

गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ।

शोभा थी ॥ १५ ॥ उनके कानोंमें कमलके कुण्डल शोभायमान थे । घुँघराली अलकें कपोलोंपर लटक रही थीं । पसीनेकी बूँदें झलकनेसे उनके मुखकी छटा निराली ही हो गयी थी । वे रासमण्डलमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ नृत्य कर रही थीं । उनके कंगन और पायजेबोंके बाजे बज रहे थे । भौंरे उनके ताल-सुरमें अपना सुर मिलाकर गा रहे थे । और उनके जूड़ों और चोटियोंमें गुँथे हुए फूल गिरते जा रहे थे ॥१६॥ परीक्षित् ! जैसे नन्हा-सा शिशु निर्विकारभावसे अपनी परछाईंके साथ खेलता है, वैसे ही रमारमण भगवान् श्रीकृष्ण कभी उन्हें अपने हृदयसे लगा लेते, कभी हाथसे उनका अङ्गस्पर्श करते, कभी प्रेमभरी तिरछी चितवनसे उनकी ओर देखते तो कभी लीलासे उन्मुक्त हँसी हँसने लगते । इस प्रकार उन्होंने व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीडा की, विहार किया ॥ १७ ॥ परीक्षित् ! भगवान्के अङ्गोंका संस्पर्श प्राप्त करके गोपियोंकी इन्द्रियाँ प्रेम और आनन्दसे विह्वल हो गयीं । उनके केश बिखर गये । फूलोंके हार टूट गये और गहने अस्त-व्यस्त हो गये । वे अपने केश, वस्त्र और कंचुकीको भी पूर्णतया सम्हालनेमें असमर्थ हो गयीं ॥ १८ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी यह रासक्रीडा देखकर स्वर्गकी देवाङ्गनाएँ भी मिलनकी कामनासे मोहित हो गयीं और समस्त तारों तथा ग्रहोंके साथ चन्द्रमा चकित, विस्मित हो गये ॥ १९ ॥ परीक्षित् ! यद्यपि भगवान् आत्माराम हैं—उन्हें अपने अतिरिक्त और किसीकी भी आवश्यकता नहीं है—फिर भी उन्होंने जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही रूप धारण किये और खेल-खेलमें उनके साथ इस प्रकार विहार किया ॥ २० ॥ जब बहुत देरतक गान और नृत्य आदि विहार करनेके कारण गोपियाँ थक गयीं; तब करुणामय भगवान् श्रीकृष्णने बड़े प्रेमसे स्वयं अपने सुखद करकमलोंके द्वारा उनके मुँह पोंछे ॥ २१ ॥ परीक्षित् ! भगवान्के करकमल और नखस्पर्शसे गोपियोंको बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने अपने उन कपोलोंके सौन्दर्यसे, जिनपर सोनेके कुण्डल झिलमिला रहे थे और घुँघराली अलकें लटक रही थीं,

१. नादैः । २. तः । ३. मिति ।

मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥२२॥
ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-
घृष्टस्रजः स कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः ।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद् वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ।२३।
सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥२४॥
ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल-
प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो
यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥
एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः
स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।

तथा उस प्रेमभरी चितवनसे, जो सुधासे भी मीठी मुसकानसे उज्ज्वल हो रही थी, भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान किया और प्रभुकी परम पवित्र लीलाओंका गान करने लगीं ॥ २२ ॥ इसके बाद जैसे थका हुआ गजराज किनारोंको तोड़ता हुआ हथिनियोंके साथ जलमें घुसकर क्रीडा करता है, वैसे ही लोक और वेदकी मर्यादाका अतिक्रमण करनेवाले भगवान्‌ने अपनी थकान दूर करनेके लिये गोपियोंके साथ जलक्रीडा करनेके उद्देश्यसे यमुनाके जलमें प्रवेश किया। उस समय भगवान्‌की वनमाला गोपियोंके अङ्गकी रगड़से कुछ कुचल-सी गयी थी और उनके वक्षःस्थलकी केसरसे वह रँग भी गयी थी। उसके चारों ओर गुनगुनाते हुए भौंरे उनके पीछे-पीछे इस प्रकार चल रहे थे, मानो गन्धर्वराज उनकी कीर्तिका गान करते हुए पीछे-पीछे चल रहे हों ॥ २३ ॥ परीक्षित् ! यमुनाजलमें गोपियोंने प्रेमभरी चितवनसे भगवान्‌की ओर देख-देखकर तथा हँस-हँसकर उनपर इधर-उधरसे जलकी खूब बौछारें डालीं। जल उलीच-उलीचकर उन्हें खूब नहलाया। विमानोंपर चढ़े हुए देवता पुष्पोंकी वर्षा करके उनकी स्तुति करने लगे। इस प्रकार यमुनाजलमें स्वयं आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णने गजराजके समान जलविहार किया ॥ २४ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण व्रजयुवतियों और भौंरोंकी भीड़से घिरे हुए यमुनातटके उपवनमें गये। वह बड़ा ही रमणीय था। उसके चारों ओर जल और स्थलमें बड़ी सुन्दर सुगन्ध-वाले फूल खिले हुए थे। उनकी सुवास लेकर मन्द-मन्द वायु चल रही थी। उसमें भगवान् इस प्रकार विचरण करने लगे, जैसे मदमत्त गजराज हथिनियोंके झुंडके साथ घूम रहा हो ॥ २५ ॥ परीक्षित् ! शरद्‌की वह रात्रि जिसके रूपमें अनेक रात्रियाँ पुञ्जीभूत हो गयी थीं, बहुत ही सुन्दर थी। चारों ओर चन्द्रमाकी बड़ी सुन्दर चाँदनी छिटक रही थी। काव्योंमें शरद् ऋतुकी जिन रस-सामग्रियोंका वर्णन मिलता है, उन सभीसे वह युक्त थी। उसमें भगवान् श्रीकृष्णने अपनी प्रेयसी गोपियोंके साथ यमुनाके पुलिन, यमुनाजी और

सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः

सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥२६॥

उनके उपवनमें विहार किया । यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् सत्यसङ्कल्प हैं । यह सब उनके चिन्मय सङ्कल्पकी ही चिन्मयी लीला है । और उन्होंने इस लीलामें कामभावको, उसकी चेष्टाओंको तथा उसकी क्रियाको सर्वथा अपने अधीन कर रक्खा था, उन्हें अपने-आपमें कैद कर रक्खा था ॥ २६ ॥

राजोवाच[1]

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥२८॥
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं । उन्होंने अपने अंश श्रीबलरामजीके सहित पूर्णरूपमें अवतार ग्रहण किया था । उनके अवतारका उद्देश्य ही यह था कि धर्मकी स्थापना हो और अधर्मका नाश ॥ २७ ॥ ब्रह्मन् ! वे धर्ममर्यादाके बनानेवाले, उपदेश करनेवाले और रक्षक थे । फिर उन्होंने स्वयं धर्मके विपरीत परस्त्रियोंका स्पर्श कैसे किया !! २८ ॥ मैं जानता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम थे, उन्हें किसी भी वस्तुकी कामना नहीं थी, फिर भी उन्होंने किस अभिप्रायसे यह निन्दनीय कर्म किया ? परम ब्रह्मचारी मुनीश्वर ! आप कृपा करके मेरा यह सन्देह मिटाइये ॥ २९ ॥

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥
नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्[2] ॥३१॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥३२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—सूर्य, अग्नि आदि ईश्वर (समर्थ) कभी-कभी धर्मका उल्लङ्घन और साहसका काम करते देखे जाते हैं । परन्तु उन कामोंसे उन तेजस्वी पुरुषोंको कोई दोष नहीं होता । देखो, अग्नि सब कुछ खा जाता है, परन्तु उन पदार्थोंके दोषसे लिप्त नहीं होता ॥ ३० ॥ जिन लोगोंमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है, उन्हें मनसे भी वैसी बात कभी नहीं सोचनी चाहिये, शरीरसे करना तो दूर रहा । यदि मूर्खतावश कोई ऐसा काम कर बैठे तो उसका नाश हो जाता है । भगवान् शङ्करने हलाहल विष पी लिया था, दूसरा कोई पिये तो वह जलकर भस्म हो जायगा ॥ ३१ ॥ इसलिये इस प्रकारके जो शङ्कर आदि ईश्वर हैं, अपने अधिकारके अनुसार उनके वचनको ही सत्य मानना और उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये । उनके आचरणका अनुकरण तो कहीं-कहीं ही किया जाता है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि उनका जो आचरण उनके उपदेशके अनुकूल हो,

१. परीक्षिदुवाच । २. नश्यत्याश्वाचर० ।

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो ॥३३॥
किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३४॥
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३५॥
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥३६॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ।३७।
नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः
ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ३९

उसीको जीवनमें उतारे ॥ ३२ ॥ परीक्षित् ! वे सामर्थ्यवान् पुरुष अहङ्कारहीन होते हैं, शुभकर्म करनेमें उनका कोई सांसारिक स्वार्थ नहीं होता और अशुभ कर्म करनेमें अनर्थ (नुकसान) नहीं होता । वे स्वार्थ और अनर्थसे ऊपर उठे होते हैं ॥ ३३ ॥ जब उन्हींके सम्बन्धमें ऐसी बात है तब जो पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता आदि समस्त चराचर जीवोंके एकमात्र प्रभु सर्वेश्वर भगवान् हैं, उनके साथ मानवीय शुभ और अशुभका सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है ॥ ३४ ॥ जिनके चरणकमलोंके रजका सेवन करके भक्तजन तृप्त हो जाते हैं, जिनके साथ योग प्राप्त करके उसके प्रभावसे योगीजन अपने सारे कर्मबन्धन काट डालते हैं और विचारशील ज्ञानीजन जिनके तत्त्वका विचार करके तत्स्वरूप हो जाते हैं तथा समस्त कर्म-बन्धनोंसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरते हैं, वे ही भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छासे अपना चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करते हैं; तब भला, उनमें कर्मबन्धनकी कल्पना ही कैसे हो सकती है ॥ ३५ ॥ गोपियोंके, उनके पतियोंके और सम्पूर्ण शरीरधारियोंके अन्तःकरणोंमें जो आत्मारूपसे विराजमान हैं, जो सबके साक्षी और परमपति हैं, वही तो अपना दिव्य-चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करके यह लीला कर रहे हैं ॥ ३६ ॥ भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ ॥ ३७ ॥ व्रजवासी गोपोंने भगवान् श्रीकृष्णमें तनिक भी दोषबुद्धि नहीं की । वे उनकी योगमायासे मोहित होकर ऐसा समझ रहे थे कि हमारी पत्नियाँ हमारे पास ही हैं ॥ ३८ ॥ ब्रह्माकी रात्रिके बराबर वह रात्रि बीत गयी । ब्राह्ममुहूर्त आया । यद्यपि गोपियोंकी इच्छा अपने घर लौटनेकी नहीं थी, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे वे अपने-अपने घर चली गयीं; क्योंकि वे अपनी प्रत्येक चेष्टासे, प्रत्येक सङ्कल्पसे केवल भगवान्को ही प्रसन्न करना चाहती थीं ॥ ३९ ॥

१. षामपि । २. वस्त्रियः ।

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥४०॥

परीक्षित् ! जो धीर पुरुष व्रजयुवतियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके इस चिन्मय रास-विलासका श्रद्धाके साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करता है, उसे भगवान्‌के चरणोंमें परा भक्तिकी प्राप्ति होती है और वह बहुत ही शीघ्र अपने हृदयके रोग—कामविकारसे छुटकारा पा जाता है । उसका कामभाव सर्वदाके लिये नष्ट हो जाता है * ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

---

१. रासक्रीडायां त्रयस्त्रिं० ।

* श्रीमद्भागवतमें ये रासलीलाके पाँच अध्याय उसके पाँच प्राण माने जाते हैं । भगवान् श्रीकृष्णकी परम अन्तरङ्गलीला, निज स्वरूपभूता गोपिकाओं और ह्लादिनी-शक्ति श्रीराधाजीके साथ होनेवाली भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य क्रीडा, इन अध्यायोंमें कही गयी है । 'रास' शब्दका मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—'रसो वै सः' । जिस दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें क्रीडा करे—उसका नाम रास है । भगवान्‌की यह दिव्य लीला भगवान्‌के दिव्य धाममें दिव्य-रूपसे निरन्तर हुआ करती है । यह भगवान्‌की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी अपने दिव्य धामके साथ ही भूमण्डलपर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख-सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्‌की इस परम रसमयी लीलाका आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होकर अपनेको कृतकृत्य कर सकें । इस पञ्चाध्यायीमें वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिसार, श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत, रमण, श्रीराधाजीके साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियोंके द्वारा दिये हुए वसनासनपर विराजना, गोपियोंके कूट प्रश्नका उत्तर, रासनृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वनविहारका वर्णन है—जो मानवी भाषामें होनेपर भी वस्तुतः परम दिव्य है ।

समयके साथ ही मानव-मस्तिष्क भी पलटता रहता है । कभी अन्तर्दृष्टिकी प्रधानता हो जाती है और कभी बहिर्दृष्टिकी । आजका युग ही ऐसा है, जिसमें भगवान्‌की दिव्य-लीलाओंकी तो बात ही क्या, स्वयं भगवान्‌के अस्तित्वपर ही अविश्वास प्रकट किया जा रहा है । ऐसी स्थितिमें इस दिव्य लीलाका रहस्य न समझकर लोग तरह-तरहकी आशङ्का प्रकट करें, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है । यह लीला अन्तर्दृष्टिसे और मुख्यतः भगवत्कृपासे ही समझमें आती है । जिन भाग्यवान् और भगवत्कृपाप्राप्त महात्माओंने इसका अनुभव किया है, वे धन्य हैं और उनकी चरण-धूलिके प्रतापसे ही त्रिलोकी धन्य है । उन्हींकी उक्तियोंका आश्रय लेकर यहाँ रासलीलाके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् लिखनेकी धृष्टता की जाती है ।

यह बात पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान्‌का शरीर जीव-शरीरकी भाँति जड नहीं होता । जडकी सत्ता केवल जीवकी दृष्टिमें होती है, भगवान्‌की दृष्टिमें नहीं । यह देह है और यह देही है, इस प्रकारका भेद-भाव केवल प्रकृतिके राज्यमें होता है । अप्राकृत लोकमें—जहाँकी प्रकृति भी चिन्मय है—सब कुछ चिन्मय ही होता है; वहाँ अचित्‌की प्रतीति तो केवल चिद्विलास अथवा भगवान्‌की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है । इसलिये

स्थूलतामें—या यों कहिये कि जडराज्यमें रहनेवाला मस्तिष्क जब भगवान्‌की अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें विचार करने लगता है, तब वह अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार ज़डराज्यकी धारणाओं, कल्पनाओं और क्रियाओंका ही आरोप उस दिव्य राज्यके विषयमें भी करता है, इसलिये दिव्य लीलाके रहस्यको समझनेमें असमर्थ हो जाता है। यह रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रसका एक दिव्य प्रकाश है। जड जगत्‌की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्‌में भी यह प्रकट नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्वमें भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा गोपीजनोंके मधुर हृदयमें ही होती है। इस रासलीलाके यथार्थस्वरूप और परम माधुर्यका आस्वाद उन्हींको मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान्‌के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी उन्होंने न केवल जड शरीरका ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्म शरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले मोक्ष—और तो क्या, जडताकी दृष्टिका ही त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, उनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमामृत है। उनकी इस अलौकिक स्थितिमें स्थूलशरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्धसे होनेवाले अङ्ग-सङ्गकी कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धिसे जकड़े हुए जीवोंकी ही होती है। जिन्होंने गोपियोंको पहचाना है, उन्होंने गोपियोंकी चरणधूलिका स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है। ब्रह्मा, शङ्कर, उद्धव और अर्जुनने गोपियोंकी उपासना करके भगवान्‌के चरणोंमें वैसे प्रेमका वरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है। उन गोपियोंके दिव्य भावको साधारण स्त्री-पुरुषके भाव-जैसा मानना गोपियोंके प्रति, भगवान्‌के प्रति और वास्तवमें सत्यके प्रति महान् अन्याय एवं अपराध है। इस अपराधसे बचनेके लिये भगवान्‌की दिव्य लीलाओंपर विचार करते समय उनकी अप्राकृत दिव्यताका स्मरण रखना परमावश्यक है।

भगवान्‌का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादानरहित है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप ही है। इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत्‌की भगवान्‌की स्वरूपभूता अन्तरङ्गशक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावराज्यकी लीला स्थूल शरीर और स्थूल मनसे परे है। आवरण-भङ्गके अनन्तर अर्थात् चीरहरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं, तब इसमें प्रवेश होता है।

प्राकृत देहका निर्माण होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहोंके संयोगसे। जबतक कारण शरीर रहता है, तबतक इस प्राकृत देहसे जीवको छुटकारा नहीं मिलता। 'कारण शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मोंके उन संस्कारोंको, जो देह-निर्माणमें कारण होते हैं। इस 'कारण शरीर' के आधारपर जीवको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना होता है और यह चक्र जीवकी मुक्ति न होनेतक अथवा 'कारण' का सर्वथा अभाव न होनेतक चलता ही रहता है। इसी कर्मबन्धनके कारण पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर मिलता है—जो रक्त, मांस, अस्थि आदिसे भरा और चमड़ेसे ढका होता है। प्रकृतिके राज्यमें जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं; फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुनसे हो या ऊर्ध्वरेता महापुरुषके सङ्कल्पसे, बिन्दुके अधोगामी होनेपर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुनसे हो अथवा बिना ही मैथुनके नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदिके स्पर्शसे, बिना ही स्पर्शके केवल दृष्टिमात्रसे अथवा बिना देखे केवल सङ्कल्पसे ही उत्पन्न हो। ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कभी-कभी स्त्री या पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं योनि और बिन्दुके संयोगजनित ही। ये सभी प्राकृत शरीर हैं। इसी प्रकार योगियोंके द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, परन्तु वे भी हैं प्राकृत ही। पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर

भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते। और भगवदेह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। देव-शरीर प्राय: रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे। वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीलापुरुषोत्तमका भेद नहीं है। श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथोंसे देख सकते हैं, आँखोंसे चल सकते हैं। श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतम है। इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्य वर्द्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपनेको ही आकर्षित कर लेती है। फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ, हरिन और वृक्ष-बेल पुलकित हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्‌के ऐसे स्वरूपभूत शरीरसे गंदा मैथुनकर्म सम्भव नहीं। मनुष्य जो कुछ खाता है, उससे क्रमश: रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अन्तमें शुक्र बनता है; इसी शुक्रके आधारपर शरीर रहता है और मैथुन-क्रियामें इसी शुक्रका क्षरण हुआ करता है। भगवान्‌का शरीर न तो कर्म-जन्य है, न मैथुनी सृष्टिका है और न दैवी ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विशुद्ध भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस अस्थि आदि नहीं हैं; अतएव उसमें शुक्र भी नहीं है। इसलिये उससे प्राकृत पाञ्चभौतिक शरीरोंवाले स्त्री-पुरुषोंके रमण या मैथुनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान्‌को उपनिषद्‌में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' बतलाया गया है और इसीसे भागवतमें उनके लिये 'अवरुद्धसौरत' आदि शब्द आये हैं। फिर कोई शङ्का करे कि उनके सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि यह सारी भागवती सृष्टि थी, भगवान्‌के सङ्कल्पसे हुई थी। भगवान्‌के शरीरमें जो रक्त-मांस आदि दिखलायी पड़ते हैं, वह तो भगवान्‌की योगमायाका चमत्कार है। इस विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका जो रमण हुआ वह सर्वथा दिव्य भगवत्-राज्यकी लीला है, लौकिक काम-क्रीडा नहीं।

× × × ×

इन गोपियोंकी साधना पूर्ण हो चुकी है। भगवान्‌ने अगली रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका प्रेम-सङ्कल्प कर लिया है। इसीके साथ उन गोपियोंको भी जो नित्यसिद्धा हैं, जो लोकदृष्टिमें विवाहिता भी हैं, इन्हीं रात्रियोंमें दिव्य-लीलामें सम्मिलित करना है। वे अगली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान्‌की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्‌ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें 'स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।'—भगवान्‌के इस ईक्षणसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रासके प्रारम्भमें भगवान्‌के प्रेमवीक्षणसे शरत्कालकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है। मल्लिका-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपनसामग्री भगवान्‌के द्वारा वीक्षित है अर्थात् लौकिक नहीं, अलौकिक—अप्राकृत है। गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन न था। अब प्रेम-दान करनेवाले श्रीकृष्णने विहारके लिये नवीन मनकी, दिव्य मनकी सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है, जो रासलीलाके लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है। इतना होनेपर भगवान्‌की बाँसुरी बजती है।

भगवान्‌की बाँसुरी जडको चेतन, चेतनको जड, चलको अचल, और अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती ही रहती है। भगवान्‌का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्सङ्कल्प, निश्चिन्त होकर घरके काममें लगी हुई थीं। कोई गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा—धर्मके काममें लगी हुई थी, कोई गो-दोहन

आदि अर्थके काममें लगी हुई थी, कोई साज-शृङ्गार आदि कामके साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि मोक्षसाधनमें लगी हुई थी। सब लगी हुई थीं अपने-अपने काममें, परन्तु वास्तवमें वे उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती न थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया; काम पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चल पड़ीं उस साधक संन्यासीके समान, जिसका हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण है। किसीने किसीसे पूछा नहीं, सलाह नहीं की; अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात है, दो नहीं। गोपियाँ व्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य हैं या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है?

साधनाके दो भेद हैं—१—मर्यादापूर्ण वैध साधना और २—मर्यादारहित अवैध प्रेमसाधना। दोनोंके ही अपने-अपने स्वतन्त्र नियम हैं। वैध साधनामें जैसे नियमोंके बन्धनका, सनातन पद्धतिका, कर्तव्योंका और विविध पालनीय धर्मोंका त्याग साधनासे भ्रष्ट करनेवाला और महान् हानिकर है, वैसे ही अवैध प्रेमसाधनामें इनका पालन कलङ्करूप होता है। यह बात नहीं कि इन सब आत्मोन्नतिके साधनोंको वह अवैध प्रेमसाधनाका साधक जान-बूझकर छोड़ देता है। बात यह है कि वह स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं है। ये वहाँ अपने-आप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदीके पार पहुँच जानेपर स्वाभाविक ही नौकाकी सवारी छूट जाती है। जमीनपर न तो नौकापर बैठकर चलनेका प्रश्न उठता है और न ऐसा चाहने या करनेवाला बुद्धिमान् ही माना जाता है। ये सब साधन वहींतक रहते हैं, जहाँतक सारी वृत्तियाँ सहज स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमात्र भगवान्‌की ओर दौड़ने नहीं लग जातीं। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें एक जगह तो अर्जुनसे कहा है—

> न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
> यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
> उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
> सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
> (३।२२-२५)

'अर्जुन! यद्यपि तीनों लोकोंमें मुझे कुछ भी करना नहीं है, और न मुझे किसी वस्तुको प्राप्त ही करना है, जो मुझे न प्राप्त हो; तो भी मैं कर्म करता ही हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो अर्जुन! मेरी देखा-देखी लोग कर्मोंको छोड़ बैठें और यों मेरे कर्म न करनेसे ये सारे लोक भ्रष्ट हो जायँ तथा मैं इन्हें वर्ण-सङ्कर बनानेवाला और सारी प्रजाका नाश करनेवाला बनूँ। इसलिये मेरे इस आदर्शके अनुसार अनासक्त ज्ञानी पुरुषको भी लोकसंग्रहके लिये वैसे ही कर्म करना चाहिये, जैसे कर्ममें आसक्त अज्ञानी लोग करते हैं।'

यहाँ भगवान् आदर्श लोकसंग्रही महापुरुषके रूपमें बोलते हैं, लोकनायक बनकर सर्वसाधारणको शिक्षा देते हैं। इसीलिये स्वयं अपना उदाहरण देकर लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त करना चाहते हैं। ये ही भगवान् उसी गीतामें जहाँ अन्तरङ्गताकी बात कहते हैं, वहाँ स्पष्ट कहते हैं—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> (१८।६६)

'सारे धर्मोंका त्याग करके तू केवल एक मेरी शरणमें आ जा।'

यह बात सबके लिये नहीं है। इसीसे भगवान् १८।६४ में इसे सबसे बढ़कर छिपी हुई गुप्त बात (सर्वगुह्यतम) कहकर इसके बादके ही श्लोकमें कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

(१८ । ६७)

'भैया अर्जुन ! इस सर्वगुह्यतम बातको जो इन्द्रिय-विजयी तपस्वी न हो, मेरा भक्त न हो, सुनना न चाहता हो और मुझमें दोष लगाता हो, उसे न कहना !'

श्रीगोपीजन साधनाके इसी उच्च स्तरमें परम आदर्श थीं । इसीसे उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य-धर्म—सबको छोड़कर, सबका उल्लङ्घन कर, एकमात्र परमधर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको ही पानेके लिये अभिसार किया था । उनका यह पति-पुत्रोंका त्याग, यह सर्वधर्मका त्याग ही उनके स्तरके अनुरूप स्वधर्म है ।

इस 'सर्वधर्मत्याग' रूप स्वधर्मका आचरण गोपियों-जैसे उच्च स्तरके साधकोंमें ही सम्भव है । क्योंकि सब धर्मोंका यह त्याग वही कर सकते हैं, जो इसका यथाविधि पूरा पालन कर चुकनेके बाद इसके परमफल अनन्य और अचिन्त्य देवदुर्लभ भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुकते हैं, वे भी जान-बूझकर त्याग नहीं करते । सूर्यका प्रखर प्रकाश हो जानेपर तैलदीपककी भाँति स्वतः ही ये धर्म उसे त्याग देते हैं । यह त्याग तिरस्कारमूलक नहीं, वरं तृप्तिमूलक है । भगवत्प्रेमकी ऊँची स्थितिका यही स्वरूप है । देवर्षि नारदजीका एक सूत्र है—

'वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ।'

'जो वेदोंका (वेदमूलक समस्त धर्ममर्यादाओंका) भी भलीभाँति त्याग कर देता है, वह अखण्ड, असीम भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है ।'

जिसको भगवान् अपनी वंशीध्वनि सुनाकर—नाम ले-लेकर बुलायें, वह भला, किसी दूसरे धर्मकी ओर ताककर कब और कैसे रुक सकता है ।

रोकनेवालोंने रोका भी, परन्तु हिमालयसे निकलकर समुद्रमें गिरनेवाली ब्रह्मपुत्र नदीकी प्रखर धाराको क्या कोई रोक सकता है ? वे न रुकीं, नहीं रोकी जा सकीं । जिनके चित्तमें कुछ प्राक्तन संस्कार अवशिष्ट थे, वे अपने अनधिकारके कारण सशरीर जानेमें समर्थ न हुईं । उनका शरीर घरमें पड़ा रह गया, भगवान्‌के वियोग-दुःखसे उनके सारे कलुष धुल गये, ध्यानमें प्राप्त भगवान्‌के प्रेमालिङ्गनसे उनके समस्त सौभाग्यका परमफल प्राप्त हो गया और वे भगवान्‌के पास सशरीर जानेवाली गोपियोंके पहुँचनेसे पहले ही भगवान्‌के पास पहुँच गयीं । भगवान्‌में मिल गयीं । यह शास्त्रका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-पुण्यके कारण ही बन्धन होता है और शुभाशुभका भोग होता है । शुभाशुभ कर्मोंके भोगसे जब पाप-पुण्य दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब जीवकी मुक्ति हो जाती है । यद्यपि गोपियाँ पाप-पुण्यसे रहित श्रीभगवान्‌की प्रेम-प्रतिमास्वरूपा थीं, तथापि लीलाके लिये यह दिखाया गया है कि अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकनेसे, उनके विरहानलसे उनको इतना महान् सन्ताप हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभका भोग हो गया, उनके समस्त पाप नष्ट हो गये और प्रियतम भगवान्‌के ध्यानसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्योंका फल मिल गया । इस प्रकार पाप-पुण्योंका पूर्णरूपसे अभाव होनेसे उनकी मुक्ति हो गयी । चाहे किसी भी भावसे हो—कामसे, क्रोधसे, लोभसे—जो भगवान्‌के मङ्गलमय श्रीविग्रहका चिन्तन करता है, उसके भावकी अपेक्षा न करके वस्तुशक्तिसे ही उसका कल्याण हो जाता है । यह भगवान्‌के श्रीविग्रहकी विशेषता है । भावके द्वारा तो एक प्रस्तरमूर्ति भी परम कल्याणका दान कर सकती है, बिना भावके ही कल्याणदान भगवद्विग्रहका सहज दान है ।

भगवान् हैं बड़े लीलामय। जहाँ वे अखिल विश्वके विधाता ब्रह्मा-शिव आदिके भी वन्दनीय, निखिल जीवोंके प्रत्यगात्मा हैं, वहीं वे लीलानटवर गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले भी हैं। उन्हींकी इच्छासे, उन्हींके प्रेमाह्वानसे, उन्हींके वंशी-निमन्त्रणसे प्रेरित होकर गोपियाँ उनके पास आयीं; परन्तु उन्होंने ऐसी भावभङ्गी प्रकट की, ऐसा स्वाँग बनाया, मानो उन्हें गोपियोंके आनेका कुछ पता ही न हो। शायद गोपियोंके मुँहसे वे उनके हृदयकी बात, प्रेमकी बात सुनना चाहते हों। सम्भव है, वे विप्रलम्भके द्वारा उनके मिलन-भावको परिपुष्ट करना चाहते हों। बहुत करके तो ऐसा मालूम होता है कि कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें, इसलिये साधारण लोगोंके लिये उपदेश और गोपियोंका अधिकार भी उन्होंने सबके सामने रख दिया। उन्होंने बतलाया—'गोपियो! व्रजमें कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रिमें यहाँ आनेका कारण क्या है? घरवाले ढूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये। वनकी शोभा देख ली, अब बच्चों और बछड़ोंका भी ध्यान करो। धर्मके अनुकूल मोक्षके खुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियोंकी सेवा छोड़कर वनमें दर-दर भटकना स्त्रियोंके लिये अनुचित है। स्त्रीको अपने पतिकी ही सेवा करनी चाहिये, वह कैसा भी क्यों न हो। यही सनातन धर्म है। इसीके अनुसार तुम्हें चलना चाहिये। मैं जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो। परन्तु प्रेममें शारीरिक सन्निधि आवश्यक नहीं है। श्रवण, स्मरण, दर्शन और ध्यानसे सान्निध्यकी अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है। जाओ, तुम सनातन सदाचारका पालन करो। इधर-उधर मनको मत भटकने दो।'

श्रीकृष्णकी यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं, सामान्य नारी-जातिके लिये है। गोपियोंका अधिकार विशेष था और उसको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे थे। इन्हें सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई और इसके उत्तरमें उन्होंने श्रीकृष्णसे क्या प्रार्थना की; वे श्रीकृष्णको मनुष्य नहीं मानतीं, उनके पूर्णब्रह्म सनातन स्वरूपको भलीभाँति जानती हैं और यह जानकर ही उनसे प्रेम करती हैं—इस बातका कितना सुन्दर परिचय दिया; यह सब विषय मूलमें ही पाठ करनेयोग्य है। सचमुच जिनके हृदयमें भगवान्‌के परमतत्त्वका वैसा अनुपम ज्ञान और भगवान्‌के प्रति वैसा महान् अनन्य अनुराग है और सचाईके साथ जिनकी वाणीमें वैसे उद्गार हैं, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं।

गोपियोंकी प्रार्थनासे यह बात स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्माके रूपमें पहचानती थीं और जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा या माता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं, वैसे ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं, जो कि शास्त्रोंमें मधुर भावके—उज्ज्वल परम रसके नामसे कहा गया है। जब प्रेमके सभी भाव पूर्ण होते हैं और साधकोंको स्वामि-सखादिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, तब गोपियोंने क्या अपराध किया था कि उनका यह उच्चतम भाव—जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य सब-के-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उन्नत एवं सबका अन्तिम रूप है—न पूर्ण हो? भगवान्‌ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको असंख्य रूपोंमें प्रकट करके गोपियोंके साथ क्रीडा की। उनकी क्रीडाका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः'। जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जलमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, वैसे ही रमेश भगवान् और व्रजसुन्दरियोंने रमण किया। अर्थात् सच्चिदानन्दघन सर्वान्तर्यामी प्रेमरस-स्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ह्लादिनी-शक्तिरूपा आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्ब-स्वरूपा गोपियोंसे आत्मक्रीडा की। पूर्णब्रह्म सनातन रसस्वरूप रसराज रसिक-शेखर रसपरब्रह्म अखिलरसामृतविग्रह भगवान् श्रीकृष्णकी इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य क्रीड़ाका नाम ही रास है। इसमें न कोई जड शरीर था, न प्राकृत अङ्ग-सङ्ग था, और न इसके सम्बन्धकी प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं। यह था चिदानन्दमय भगवान्‌का दिव्य विहार, जो दिव्य लीलाधाममें सर्वदा होते रहनेपर भी कभी-कभी प्रकट होता है।

वियोग ही संयोगका पोषक है, मान और मद ही भगवान्‌की लीलामें बाधक हैं। भगवान्‌की दिव्य लीलामें मान और मद भी, जो कि दिव्य हैं, इसीलिये होते हैं कि उनसे लीलामें रसकी और भी पुष्टि हो। भगवान्‌की इच्छासे ही गोपियोंमें लीलानुरूप मान और मदका सञ्चार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके हृदयमें लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मानका संस्कार शेष है, वे भगवान्‌के सम्मुख रहनेके अधिकारी नहीं। अथवा वे भगवान्‌का, पास रहनेपर भी, दर्शन नहीं कर सकते। परन्तु गोपियाँ गोपियाँ थीं, उनसे जगत्‌के किसी प्राणीकी तिलमात्र भी तुलना नहीं है। भगवान्‌के वियोगमें गोपियोंकी क्या दशा हुई, इस बातको रासलीलाका प्रत्येक पाठक जानता है। गोपियोंके शरीर-मन-प्राण, वे जो कुछ थीं— सब श्रीकृष्णमें एकतान हो गये। उनके प्रेमोन्मादका वह गीत, जो उनके प्राणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी भावुक भक्तोंको भावमग्न करके भगवान्‌के लीलालोकमें पहुँचा देता है। एक बार सरस हृदयसे हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करनेमात्रसे ही यह गोपियोंकी महत्ता सम्पूर्ण हृदयमें भर देता है। गोपियोंके उस 'महाभाव'—उस 'अलौकिक प्रेमोन्माद'को देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके, उनके सामने 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया कि 'गोपियो, मैं तुम्हारे प्रेमभावका चिर-ऋणी हूँ। यदि मैं अनन्त कालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ, तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन तुम्हारे चित्तको दुखाना नहीं था, बल्कि तुम्हारे प्रेमको और भी उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।' इसके बाद रासक्रीड़ा प्रारम्भ हुई।

जिन्होंने अध्यात्मशास्त्रका स्वाध्याय किया है; वे जानते हैं कि योगसिद्धिप्राप्त साधारण योगी भी कायव्यूहके द्वारा एक साथ अनेक शरीरोंका निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानोंपर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। इन्द्रादि देवगण एक ही समय अनेक स्थानोंपर उपस्थित होकर अनेक यज्ञोंमें युगपत् आहुति स्वीकार कर सकते हैं। निखिल योगियों और योगेश्वरोंके ईश्वर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियोंके साथ क्रीड़ा करें, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? जो लोग भगवान्‌को भगवान् नहीं स्वीकार करते, वही अनेकों प्रकारकी शङ्का-कुशङ्काएँ करते हैं। भगवान्‌की निज लीलामें इन तर्कोंका सर्वथा प्रवेश नहीं है।

गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्णके स्वरूपको भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत्‌की वस्तुओंमें उनका हिस्सेदार दूसरा भी जीव हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थनामें गोपियोंने और परीक्षित्‌के प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है कि गोपी, गोपियोंके पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और जगत्‌के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे, परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं—वही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रमसे, अज्ञानसे, भले ही श्रीकृष्णको पराया समझे, वे किसीके पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्रीकृष्णकी दृष्टिसे, जो कि वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है ही नहीं; सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीलाविलास हैं, सभी स्वरूपभूता अन्तरङ्गा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं और स्थान-स्थानपर उन्होंने ऐसा कहा है।

ऐसी स्थितिमें 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अङ्ग-सङ्ग नहीं है, वहाँ 'औपपत्य' और 'जारभाव' की कल्पना ही कैसे हो सकती है? गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं; परन्तु उनमें परकीया-भाव था। परकीया होनेमें और परकीयाभाव होनेमें आकाश-पातालका अन्तर है। परकीयाभावमें तीन बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं—अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा और दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयाभावमें निरन्तर एक साथ रहनेके कारण ये तीनों बातें

गौण हो जाती हैं; परन्तु परकीया-भावमें ये तीनों भाव बने रहते हैं। कुछ गोपियाँ जारभावसे श्रीकृष्णको चाहती थीं, इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्णके प्रत्येक व्यवहारको प्रेमकी आँखोंसे ही देखती थीं। चौथा भाव विशेष महत्त्वका और है—वह यह कि स्वकीया अपने घरका, अपना और अपने पुत्र एवं कन्याओंका पालन-पोषण, रक्षणावेक्षण पतिसे चाहती है। वह समझती है कि इनकी देखरेख करना पतिका कर्तव्य है; क्योंकि ये सब उसीके आश्रित हैं, और वह पतिसे ऐसी आशा भी रखती है। कितनी ही पतिपरायणा क्यों न हो, स्वकीयामें यह सकामभाव छिपा रहता ही है। परन्तु परकीया अपने प्रियतमसे कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती; वह तो केवल अपनेको देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। श्रीगोपियोंमें यह भाव भी भलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषताके कारण संस्कृत-साहित्यके कई ग्रन्थोंमें निरन्तर चिन्तनके उदाहरणस्वरूप परकीयाभावका वर्णन आता है।

गोपियोंके इस भावके एक नहीं, अनेक दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं; इसलिये गोपियोंपर परकीयापनका आरोप उनके भावको न समझनेके कारण है। जिसके जीवनमें साधारण धर्मकी एक हल्की-सी प्रकाशरेखा आ जाती है उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्शस्वरूप बन जाता है। फिर वे गोपियाँ, जिनका जीवन साधनाकी चरम सीमापर पहुँच चुका है, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान्‌की स्वरूपभूता हैं, या जिन्होंने कल्पोंतक साधना करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका सेवाधिकार प्राप्त कर लिया है, सदाचारका उल्लङ्घन कैसे कर सकती हैं और समस्त धर्म-मर्यादाओंके संस्थापक श्रीकृष्णपर धर्मोल्लङ्घनका लाञ्छन कैसे लगाया जा सकता है? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कुकल्पनाएँ उनके दिव्य स्वरूप और दिव्यलीलाके विषयमें अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं।

श्रीमद्भागवतपर, दशम स्कन्धपर और रासपञ्चाध्यायीपर अबतक अनेकानेक भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं—जिनके लेखकोंमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीजीवगोस्वामी आदि हैं। उन लोगोंने बड़े विस्तारसे रासलीलाकी महिमा समझायी है। किसीने इसे कामपर विजय बतलाया है, किसीने भगवान्‌का दिव्य विहार बतलाया है और किसीने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं। आत्माकार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाहरूपसे निरन्तर आत्मरमण ही रास है। किसी भी दृष्टिसे देखें, रासलीलाकी महिमा अधिकाधिक प्रकट होती है।

परन्तु इससे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित रास या रमण-प्रसङ्ग केवल रूपक या कल्पनामात्र है। वह सर्वथा सत्य है और जैसा वर्णन है वैसा ही मिलन-विलासादिरूप शृङ्गारका रसास्वादन भी हुआ था। भेद इतना ही है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुषोंका मिलन न था। उसके नायक थे सच्चिदानन्दविग्रह, परात्परतत्त्व, पूर्णतम स्वाधीन और निरङ्कुश स्वेच्छाविहारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन; और नायिका थीं स्वयं ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाजी और उनकी कायव्यूहरूपा, उनकी घनीभूत मूर्तियाँ श्रीगोपीजन। अतएव इनकी यह लीला अप्राकृत थी। सर्वथा मीठी मिश्रीकी अत्यन्त कड़ुए इन्द्रायण (तूँबे)-जैसी कोई आकृति बना ली जाय, जो देखनेमें ठीक तूँबे-जैसी ही मालूम हो; परन्तु इससे असलमें क्या वह मिश्रीका तूँबा कड़ुवा थोड़े ही हो जाता है? क्या तूँबेके आकारकी होनेसे ही मिश्रीके स्वाभाविक गुण मधुरताका अभाव हो जाता है? नहीं-नहीं, वह किसी भी आकारमें हो—सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा केवल मिश्री-ही-मिश्री है। बल्कि इसमें लीला-चमत्कारकी बात जरूर है। लोग समझते हैं कड़ुआ तूँबा, और होती है वह मधुर मिश्री। इसी प्रकार अखिलरसामृतसिन्धु सच्चिदानन्दविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरङ्ग अभिन्नस्वरूपा गोपियोंकी लीला भी देखनेमें कैसी ही क्यों न हो, वस्तुतः वह सच्चिदानन्दमयी ही है। उसमें सांसारिक गंदे कामका कड़ुवा स्वाद है ही नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इस लीलाकी नकल किसीको नहीं करनी चाहिये, करना सम्भव भी नहीं है। मायिक पदार्थोंके द्वारा मायातीत भगवान्‌का अनुकरण कोई

कैसे कर सकता है? कड़ुए तूँबेको चाहे जैसी सुन्दर मिठाईकी आकृति दे दी जाय, उसका कड़ुआपन कभी मिट नहीं सकता। इसीलिये जिन मोहग्रस्त मनुष्योंने श्रीकृष्णकी रास आदि अन्तरङ्ग-लीलाओंका अनुकरण करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा या चाहते हैं, उनका घोर पतन हुआ है और होगा (श्रीकृष्ण-की इन लीलाओंका अनुकरण तो केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं। इसीलिये शुकदेवजीने रासपञ्चाध्यायीके अन्तमें सबको सावधान करते हुए कह दिया है कि भगवान्‌के उपदेश तो सब मानने चाहिये, परन्तु उनके सभी आचरणोंका अनुकरण नहीं करना चाहिये।)

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको केवल मनुष्य मानते हैं, और केवल मानवीय भाव एवं आदर्शकी कसौटीपर उनके चरित्रको कसना चाहते हैं वे पहले ही शास्त्रसे विमुख हो जाते हैं, उनके चित्तमें धर्मकी कोई धारणा ही नहीं रहती और वे भगवान्‌को भी अपनी बुद्धिके पीछे चलाना चाहते हैं। इसलिये साधकोंके सामने उनकी उक्ति-युक्तियोंका कोई महत्त्व ही नहीं रहता। जो शास्त्रके 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं' इस वचनको नहीं मानता, वह उनकी लीलाओंको किस आधारपर सत्य मानकर उनकी आलोचना करता है—यह समझमें नहीं आता। जैसे मानवधर्म, देवधर्म और पशुधर्म पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवद्धर्म भी पृथक् होता है और भगवान्‌के चरित्रका परीक्षण उसकी ही कसौटीपर होना चाहिये। भगवान्‌का एकमात्र धर्म है—प्रेम-परवशता, दयापरवशता और भक्तोंकी अभिलाषाकी पूर्ति। यशोदाके हाथोंसे ऊखलमें बँध जानेवाले श्रीकृष्ण अपने निजजन गोपियोंके प्रेमके कारण उनके साथ नाचें, यह उनका सहज धर्म है।

यदि यह हठ ही हो कि श्रीकृष्णका चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शोंके अनुकूल ही होना चाहिये, तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय दस वर्षके लगभग थी, जैसा कि भागवतमें स्पष्ट वर्णन मिलता है। गाँवोंमें रहनेवाले बहुत-से दस वर्षके बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। उन्हें काम-वृत्ति और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। लड़के-लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्यौहार मनाते हैं, गुड्डई-गुड्डएकी शादी करते हैं, बारात ले जाते हैं और आपसमें भोज-भात भी करते हैं। गाँवके बड़े-बूढ़े लोग बच्चोंका यह मनोरञ्जन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आता। ऐसे बच्चोंको युवती स्त्रियाँ भी बड़े प्रेमसे देखती हैं, आदर करती हैं, नहलाती हैं, खिलाती हैं। यह तो साधारण बच्चोंकी बात है। श्रीकृष्ण-जैसे असाधारण धी-शक्तिसम्पन्न बालक जिनके अनेक सद्‌गुण बाल्यकालमें ही प्रकट हो चुके थे; जिनकी सम्मति, चातुर्य और शक्तिसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे व्रजवासियोंने त्राण पाया था; उनके प्रति वहाँकी स्त्रियों, बालिकाओं और बालकोंका कितना आदर रहा होगा—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यसे आकृष्ट होकर गाँवकी बालक-बालिकाएँ उनके साथ ही रहती थीं और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभासे राग, ताल आदि नये-नये ढंगसे उनका मनोरञ्जन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे। ऐसे ही मनोरञ्जनोंमेंसे रासलीला भी एक थी, ऐसा समझना चाहिये। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टिमें भी यह दोषकी बात नहीं होनी चाहिये। वे उदारता और बुद्धिमानीके साथ भागवतमें आये हुए काम-रति आदि शब्दोंका ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा कि उपनिषद् और गीतामें इन शब्दोंका अर्थ होता है। वास्तवमें गोपियोंके निष्कपट प्रेमका ही नामान्तर काम है और भगवान् श्रीकृष्णका आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीड़ा ही रति है। इसीलिये स्थान-स्थानपर उनके लिये विभु, परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वरेश्वर, आत्माराम, मन्मथमन्मथ आदि शब्द आये हैं—जिससे किसीको कोई भ्रम न हो जाय।

जब गोपियाँ श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वनमें जाने लगी थीं, तब उनके सगे-सम्बन्धियोंने उन्हें जानेसे रोका था। रातमें अपनी बालिकाओंको भला, कौन बाहर जाने देता। फिर भी वे चली गयीं और इससे घर-

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

सुदर्शन और शङ्खचूडका उद्धार

श्रीशुक उवाच[1]

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः ।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् ॥ १ ॥
तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं विभुम् ।
आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! एक बार नन्दबाबा आदि गोपोंने शिवरात्रिके अवसरपर बड़ी उत्सुकता, कौतूहल और आनन्दसे भरकर बैलोंसे जुती हुई गाड़ियोंपर सवार होकर अम्बिकावनकी यात्रा की ॥ १ ॥ राजन् ! वहाँ उन लोगोंने सरस्वती नदीमें स्नान किया और सर्वान्तर्यामी पशुपति भगवान् शङ्करजीका तथा भगवती अम्बिकाजीका बड़ी भक्तिसे अनेक प्रकारकी सामग्रियोंके द्वारा पूजन किया ॥ २ ॥

१. बादरायणिरुवाच ।

वालोंको किसी प्रकारकी अप्रसन्नता नहीं हुई । और न तो उन्होंने श्रीकृष्णपर या गोपियोंपर किसी प्रकारका लाञ्छन ही लगाया । उनका श्रीकृष्णपर, गोपियोंपर विश्वास था और वे उनके बचपन और खेलोंसे परिचित थे । उन्हें तो ऐसा मालूम हुआ मानो गोपियाँ हमारे पास ही हैं । इसको दो प्रकारसे समझ सकते हैं । एक तो यह कि श्रीकृष्णके प्रति उनका इतना विश्वास था कि श्रीकृष्णके पास गोपियोंका रहना भी अपने ही पास रहना है । यह तो मानवीय दृष्टि है । दूसरी दृष्टि यह कि श्रीकृष्णकी योगमायाने ऐसी व्यवस्था कर रक्खी थी, गोपोंको वे घरमें ही दीखती थीं । किसी भी दृष्टिसे रासलीला दूषित प्रसङ्ग नहीं है, बल्कि अधिकारी पुरुषोंके लिये तो यह सम्पूर्ण मनोमलको नष्ट करनेवाला है । रासलीलाके अन्तमें कहा गया है कि जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रास-लीलाका श्रवण और वर्णन करता है, उसके हृदयका रोग काम बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाता है और उसे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होता है । भागवतमें अनेक स्थानपर ऐसा वर्णन आता है कि जो भगवान्‌की मायाका वर्णन करता है, वह मायासे पार हो जाता है । जो भगवान्‌के कामजयका वर्णन करता है, वह कामपर विजय प्राप्त करता है । राजा परीक्षित्‌ने अपने प्रश्नोंमें जो शङ्काएँ की हैं, उनका उत्तर प्रश्नोंके अनुरूप ही अध्याय २९ के श्लोक १३ से १६ तक और अध्याय ३३ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजीने दिया है ।

उस उत्तरसे वे शङ्काएँ तो हट गयी हैं, परन्तु भगवान्‌की दिव्यलीलाका रहस्य नहीं खुलने पाया; सम्भवतः उस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये ही ३३ वें अध्यायमें रासलीलाप्रसङ्ग समाप्त कर दिया गया । वस्तुतः इस लीलाके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत-जगत्‌में व्याख्या की भी नहीं जा सकती । क्योंकि यह इस जगत्‌की क्रीड़ा ही नहीं है । यह तो उस दिव्य आनन्दमय रसमय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है, जिनके श्रवण और दर्शनके लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं । कुछ लोग इस लीला-प्रसङ्गको भागवतमें क्षेपक मानते हैं, वे वास्तवमें दुराग्रह करते हैं । क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रतियोंमें भी यह प्रसङ्ग मिलता है और जरा विचार करके देखनेसे यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है । भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हमलोग इसका कुछ रहस्य समझनेमें समर्थ हों ।

भगवान्‌के इस दिव्य-लीलाके वर्णनका यही प्रयोजन है कि जीव गोपियोंके उस अहैतुक प्रेमका, जो कि श्रीकृष्णको ही सुख पहुँचानेके लिये था, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान्‌के रसमय दिव्यलीलालोकमें भगवान्‌के अनन्त प्रेमका अनुभव करे । हमें रासलीलाका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी भी शङ्का न करके इस भावको जगाये रखना चाहिये । —हनुमानप्रसाद पोद्दार

गावो हिरण्यं वासांसि मधु मध्वन्नमादृताः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो नः प्रीयतामिति ॥ ३ ॥
ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः ।
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः ॥ ४ ॥
कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः ।
यदृच्छयाऽऽगतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत् ॥ ५ ॥
स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम् ।
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय ॥ ६ ॥
तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः ।
ग्रस्तं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः ॥ ७ ॥
अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत्तमुरङ्गमः ।
तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्वतां पतिः ॥ ८ ॥
स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः ।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥ ९ ॥
तमपृच्छद्धृषीकेशः प्रणतं समुपस्थितम् ।
दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥१०॥
को भवान् परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भुतदर्शनः[2] ।
कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः ॥११॥

सर्प उवाच

अहं विद्याधरः कश्चित् सुदर्शन इति श्रुतः[3] ।

वहाँ उन्होंने आदरपूर्वक गौएँ, सोना, वस्त्र, मधु और मधुर अन्न ब्राह्मणोंको दिये तथा उनको खिलाया-पिलाया। वे केवल यही चाहते थे कि इससे देवाधिदेव भगवान् शङ्कर हमपर प्रसन्न हों ॥ ३ ॥ उस दिन परम भाग्यवान् नन्द-सुनन्द आदि गोपोंने उपवास कर रक्खा था, इसलिये वे लोग केवल जल पीकर रातके समय सरस्वती नदीके तटपर ही बेखटके सो गये ॥ ४ ॥

उस अम्बिकावनमें एक बड़ा भारी अजगर रहता था। उस दिन वह भूखा भी बहुत था। दैववश वह उधर ही आ निकला और उसने सोये हुए नन्दजीको पकड़ लिया ॥५॥ अजगरके पकड़ लेनेपर नन्दरायजी चिल्लाने लगे—'बेटा कृष्ण! कृष्ण! दौड़ो, दौड़ो। देखो बेटा! यह अजगर मुझे निगल रहा है। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। जल्दी मुझे इस सङ्कटसे बचाओ ॥६॥ नन्दबाबाका चिल्लाना सुनकर सब-के-सब गोप एकाएक उठ खड़े हुए और उन्हें अजगरके मुँहमें देखकर घबड़ा गये। अब वे लुकाठियों (अधजली लकड़ियों) से उस अजगरको मारने लगे ॥ ७ ॥ किन्तु लुकाठियोंसे मारे जाने और जलनेपर भी अजगरने नन्दबाबाको छोड़ा नहीं। इतनेमें ही भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ पहुँचकर अपने चरणोंसे उस अजगरको छू दिया ॥८॥ भगवान्‌के श्रीचरणोंका स्पर्श होते ही अजगरके सारे अशुभ भस्म हो गये और वह उसी क्षण अजगरका शरीर छोड़कर विद्याधरार्चित सर्वाङ्गसुन्दर रूपवान् बन गया ॥ ९ ॥ उस पुरुषके शरीरसे दिव्यज्योति निकल रही थी। वह सोनेके हार पहने हुए था। जब वह प्रणाम करनेके बाद हाथ जोड़कर भगवान्‌के सामने खड़ा हो गया, तब उन्होंने उससे पूछा—॥१०॥ 'तुम कौन हो? तुम्हारे अङ्ग-अङ्गसे सुन्दरता फूटी पड़ती है। तुम देखनेमें बड़े अद्भुत जान पड़ते हो। तुम्हें यह अत्यन्त निन्दनीय अजगर-योनि क्यों प्राप्त हुई थी? अवश्य ही तुम्हें विवश होकर इसमें आना पड़ा होगा' ॥११॥

अजगरके शरीरसे निकला हुआ पुरुष बोला—भगवन्! मैं पहले एक विद्याधर था। मेरा नाम था

१. ता। २. ते शुभदर्शनः। ३. स्मृतः।

श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनाचरं दिशः ॥१२॥
ऋषीन् विरूपानङ्गिरसः प्राहसं रूपदर्पितः ।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना ॥१३॥
शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः ।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥१४॥
तं त्वाहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम् ।
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन् ॥१५॥
प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते ।
अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर ॥१६॥
ब्रह्मदण्डाद् विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् ।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च ।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते ॥१७॥
इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवन्द्य च ।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ॥१८॥
निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं
व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः ।
समाप्य तस्मिन् नियमं पुनर्व्रजं
नृपाययुस्तत् कथयन्त आदृताः ॥१९॥
कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः ।

सुदर्शन । मेरे पास सौन्दर्य तो था ही, लक्ष्मी भी बहुत थी। इससे मैं विमानपर चढ़कर यहाँ-से-वहाँ घूमता रहता था ॥ १२ ॥ एक दिन मैंने अङ्गिरा गोत्रके कुरूप ऋषियोंको देखा । अपने सौन्दर्यके घमंडसे मैंने उनकी हँसी उड़ायी । मेरे इस अपराधसे कुपित होकर उन लोगोंने मुझे अजगर-योनिमें जानेका शाप दे दिया । यह मेरे पापोंका ही फल था ॥ १३ ॥ उन कृपालु ऋषियोंने अनुग्रहके लिये ही मुझे शाप दिया था । क्योंकि यह उसीका प्रभाव है कि आज चराचरके गुरु स्वयं आपने अपने चरणकमलोंसे मेरा स्पर्श किया है, इससे मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये ॥ १४ ॥ समस्त पापोंका नाश करनेवाले प्रभो ! जो लोग जन्म-मृत्युरूप संसारसे भयभीत होकर आपके चरणोंकी शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें आप समस्त भयोंसे मुक्त कर देते हैं । अब मैं आपके श्रीचरणोंके स्पर्शसे शापसे छूट गया हूँ और अपने लोकमें जानेकी अनुमति चाहता हूँ ।१५। भक्तवत्सल ! महायोगेश्वर पुरुषोत्तम ! मैं आपकी शरणमें हूँ । इन्द्रादि समस्त लोकेश्वरोंके परमेश्वर ! स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! मुझे आज्ञा दीजिये ।१६। अपने स्वरूपमें नित्य-निरन्तर एकरस रहनेवाले अच्युत ! आपके दर्शनमात्रसे मैं ब्राह्मणोंके शापसे मुक्त हो गया, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि जो पुरुष आपके नामोंका उच्चारण करता है, वह अपने-आपको और समस्त श्रोताओंको भी तुरंत पवित्र कर देता है । फिर मुझे तो आपने स्वयं अपने चरणकमलोंसे स्पर्श किया है । तब भला, मेरी मुक्तिमें क्या सन्देह हो सकता है ? ॥१७॥ इस प्रकार सुदर्शनने भगवान् श्रीकृष्णसे विनती की, परिक्रमा की और प्रणाम किया । फिर उनसे आज्ञा लेकर वह अपने लोकमें चला गया और नन्दबाबा इस भारी सङ्कटसे छूट गये ॥ १८ ॥ राजन् ! जब व्रजवासियोंने भगवान् श्रीकृष्णका यह अद्भुत प्रभाव देखा, तब उन्हें बड़ा विस्मय हुआ । उन लोगोंने उस क्षेत्रमें जो नियम ले रक्खे थे, उनको पूर्ण करके वे बड़े आदर और प्रेमसे श्रीकृष्णकी उस लीलाका गान करते हुए पुनः व्रजमें लौट आये ॥ १९ ॥

एक दिनकी बात है, अलौकिक कर्म करनेवाले

१. बाध ।

विजहतुर्वने रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम् ॥२०॥
उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः ।
स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ ॥२१॥
निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम् ।
मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥२२॥
जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम् ।
तौ कल्पयन्तौ युगपत् स्वरमण्डलमूर्च्छितम् ॥२३॥
गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन् नृप ।
स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः ॥२४॥
एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः सम्प्रमत्तवत् ।
शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ॥२५॥
तयोर्निरीक्षतो राजंस्तन्नाथं प्रमदाजनम् ।
क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः ॥२६॥
क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम् ।
यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥२७॥
मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ ।

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी रात्रिके समय वनमें गोपियोंके साथ विहार कर रहे थे ॥ २० ॥ भगवान् श्रीकृष्ण निर्मल पीताम्बर और बलरामजी नीलाम्बर धारण किये हुए थे। दोनोंके गलेमें फूलोंके सुन्दर-सुन्दर हार लटक रहे थे तथा शरीरमें अङ्गराग, सुगन्धित चन्दन लगा हुआ था और सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहने हुए थे। गोपियाँ बड़े प्रेम और आनन्दसे ललित स्वरमें उन्हींके गुणोंका गान कर रही थीं ॥ २१ ॥ अभी-अभी सायङ्काल हुआ था। आकाशमें तारे उग आये थे और चाँदनी छिटक रही थी। बेलाके सुन्दर गन्धसे मतवाले होकर भौंरे इधर-उधर गुनगुना रहे थे तथा जलाशयमें खिली हुई कुमुदिनीकी सुगन्ध लेकर वायु मन्द-मन्द चल रही थी। उस समय उनका सम्मान करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने एक ही साथ मिलकर राग अलापा। उनका राग आरोह-अवरोह स्वरोंके चढ़ाव-उतारसे बहुत ही सुन्दर लग रहा था। वह जगत्के समस्त प्राणियोंके मन और कानोंको आनन्द-से भर देनेवाला था॥ २२-२३ ॥ उनका यह गान सुनकर गोपियाँ मोहित हो गयीं। परीक्षित्! उन्हें अपने शरीर-की भी सुधि नहीं रही कि वे उसपरसे खिसकते हुए वस्त्रों और चोटियोंसे बिखरते हुए पुष्पोंको सम्हाल सकें ॥ २४ ॥

जिस समय बलराम और श्याम दोनों भाई इस प्रकार स्वच्छन्द विहार कर रहे थे और उन्मत्तकी भाँति गा रहे थे, उसी समय वहाँ शङ्खचूड नामका एक यक्ष आया। वह कुबेरका अनुचर था ॥ २५ ॥ परीक्षित्! दोनों भाइयोंके देखते-देखते वह उन गोपियोंको लेकर बेखटके उत्तरकी ओर भाग चला। जिनके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, वे गोपियाँ उस समय रो-रोकर चिल्लाने लगीं ॥ २६ ॥ दोनों भाइयोंने देखा कि जैसे कोई डाकू गौओंको लूट ले जाय, वैसे ही यह यक्ष हमारी प्रेयसियोंको लिये जा रहा है और वे 'हा कृष्ण! हा राम!' पुकारकर रो-पीट रही हैं। उसी समय दोनों भाई उसकी और दौड़ पड़े ॥२७॥ 'डरो मत, डरो मत' इस प्रकार अभयवाणी कहते हुए हाथमें शालका वृक्ष लेकर बड़े

१. स्रयद्दु० । २. जंस्तं तावत् प्रम० ।

आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम् ॥२८॥
स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन् ।
विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया ॥२९॥
तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति ।
जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ॥३०॥
अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः ।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः ॥३१॥
शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम् ।
अग्रजायाददात् प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम् ॥३२॥

वेगसे क्षणभरमें ही उस नीच यक्षके पास पहुँच गये ॥२८॥ यक्षने देखा कि काल और मृत्युके समान ये दोनों भाई मेरे पास आ पहुँचे। तब वह मूढ़ घबड़ा गया। उसने गोपियोंको तो वहीं छोड़ दिया, स्वयं प्राण बचानेके लिये भागा ॥२९॥ तब स्त्रियोंकी रक्षा करनेके लिये बलरामजी तो वहीं खड़े रह गये, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ-जहाँ वह भागकर गया, उसके पीछे-पीछे दौड़ते गये। वे चाहते थे कि उसके सिरकी चूड़ामणि निकाल लें॥३०॥ कुछ ही दूर जानेपर भगवान्‌ने उसे पकड़ लिया और उस दुष्टके सिरपर कसकर एक घूँसा जमाया और चूडामणिके साथ उसका सिर भी धड़से अलग कर लिया ॥ ३१ ॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण शङ्खचूडको मारकर और वह चमकीली मणि लेकर लौट आये तथा सब गोपियोंके सामने ही उन्होंने बड़े प्रेमसे वह मणि बड़े भाई बलरामजीको दे दी ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे[1] शङ्खचूडवधो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

युगलगीत

श्रीशुक उवाच[2]

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः ।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके गौओंको चरानेके लिये प्रतिदिन वनमें चले जानेपर उनके साथ गोपियोंका चित्त भी चला जाता था। उनका मन श्रीकृष्णका चिन्तन करता रहता और वे वाणीसे उनकी लीलाओंका गान करती रहतीं। इस प्रकार वे बड़ी कठिनाईसे अपना दिन बितातीं ॥ १ ॥

गोप्य ऊचुः

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ।

गोपियाँ आपसमें कहतीं—अरी सखी! अपने प्रेमीजनोंको प्रेम वितरण करनेवाले और द्वेष करनेवालोंतकको मोक्ष दे देनेवाले श्यामसुन्दर नटनागर जब अपने बायें कपोलको बायीं बाँहकी ओर लटका देते हैं और अपनी भौंहें नचाते हुए बाँसुरीको अधरोंसे लगाते हैं तथा अपनी सुकुमार अंगुलियोंको उसके छेदोंपर फिराते हुए मधुर तान छेड़ते हैं, उस समय सिद्धपत्नियाँ आकाशमें अपने

1. प्राचीन प्रतिमें 'पूर्वार्धे' यह पाठ नहीं है। 2. बादरायणिरुवाच।

व्योमयानवनिताः सह सिद्धै-

र्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः ।

काममार्गणसमर्पितचित्ताः

कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥ ३ ॥

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं

हारहास उरसि स्थिरविद्युत् ।

नन्दसूनुरयमार्तजनानां

नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः ॥ ४ ॥

वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो

वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् ।

दन्तदष्टकवला धृतकर्णा

निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥ ५ ॥

बर्हिणस्तबकधातुपलाशै-

र्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः ।

कर्हिचित् सबल आलि स गोपै-

र्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥ ६ ॥

पति सिद्धगणोंके साथ विमानोंपर चढ़कर आ जाती हैं और उस तानको सुनकर अत्यन्त ही चकित तथा विस्मित हो जाती हैं। पहले तो उन्हें अपने पतियोंके साथ रहनेपर भी चित्तकी यह दशा देखकर लज्जा मालूम होती है; परन्तु क्षणभरमें ही उनका चित्त कामबाणसे बिंध जाता है, वे विवश और अचेत हो जाती हैं। उन्हें इस बातकी भी सुधि नहीं रहती कि उनकी नीवी खुल गयी है और उनके वस्त्र खिसक गये हैं ॥ २-३ ॥

अरी गोपियो! तुम यह आश्चर्यकी बात सुनो! ये नन्दनन्दन कितने सुन्दर हैं। जब वे हँसते हैं तब हास्यरेखाएँ हारका रूप धारण कर लेती हैं, शुभ्र मोती-सी चमकने लगती हैं। अरी वीर! उनके वक्षःस्थलपर लहराते हुए हारमें हास्यकी किरणें चमकने लगती हैं। उनके वक्षःस्थलपर जो श्रीवत्सकी सुनहली रेखा है, वह तो ऐसी जान पड़ती है, मानो श्याम मेघपर बिजली ही स्थिररूपसे बैठ गयी है। वे जब दुखीजनोंको सुख देनेके लिये, विरहियोंके मृतक शरीरमें प्राणोंका सञ्चार करनेके लिये बाँसुरी बजाते हैं, तब व्रजके झुंड-के-झुंड बैल, गौएँ और हरिन उनके पास ही दौड़ आते हैं। केवल आते ही नहीं, सखी! दाँतोंसे चबाया हुआ घासका ग्रास उनके मुँहमें ज्यों-का-त्यों पड़ा रह जाता है, वे उसे न निगल पाते और न तो उगल ही पाते हैं। दोनों कान खड़े करके इस प्रकार स्थिरभावसे खड़े हो जाते हैं, मानो सो गये हैं या केवल भीतपर लिखे हुए चित्र हैं। उनकी ऐसी दशा होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह बाँसुरीकी तान उनके चित्तको चुरा लेती है ॥ ४-५ ॥

हे सखि! जब वे नन्दके लाड़ले लाल अपने सिर-पर मोरपंखका मुकुट बाँध लेते हैं, घुँघराली अलकोंमें फूलके गुच्छे खोंस लेते हैं, रंगीन धातुओंसे अपना अङ्ग-अङ्ग रँग लेते हैं और नये-नये पल्लवोंसे ऐसा वेष सजा लेते हैं, जैसे कोई बहुत बड़ा पहलवान हो और फिर बलरामजी तथा ग्वालबालोंके साथ बाँसुरीमें गौओंका नाम ले-लेकर उन्हें पुकारते हैं; उस समय प्यारी सखियो! नदियोंकी गति भी रुक जाती है। वे चाहती हैं कि वायु उड़ाकर हमारे प्रियतमके चरणोंकी धूलि हमारे

तर्हि भग्नगतयः सरितो वै
तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम् ।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः
प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥ ७ ॥

अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य
आदिपूरुष इवाचलभूतिः ।
वनचरो गिरितटेषु चरन्ती-
र्वेणुनाऽऽह्वयति गाः स यदा हि ॥ ८ ॥

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म ॥ ९ ॥

दर्शनीयतिलको वनमाला-
दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्ट-
माद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः ॥१०॥

सरसि सारसहंसविहङ्गा-
श्चारुगीतहृतचेतस एत्य ।

पास पहुँचा दे और उसे पाकर हम निहाल हो जायँ, परन्तु सखियो ! वे भी हमारेही-जैसी मन्दभागिनी हैं। जैसे नन्दनन्दन श्रीकृष्णका आलिङ्गन करते समय हमारी भुजाएँ काँप जाती हैं और जड़तारूप सञ्चारीभावका उदय हो जानेसे हम अपने हाथोंको हिला भी नहीं पातीं, वैसे ही वे भी प्रेमके कारण काँपने लगती हैं। दो-चार बार अपनी तरङ्गरूप भुजाओंको काँपते-काँपते उठाती तो अवश्य हैं, परन्तु फिर विवश होकर स्थिर हो जाती हैं, प्रेमावेशसे स्तम्भित हो जाती हैं ॥ ६-७ ॥

अरी वीर ! जैसे देवता लोग अनन्त और अचिन्त्य ऐश्वर्योंके स्वामी भगवान् नारायणकी शक्तियोंका गान करते हैं, वैसे ही ग्वालबाल अनन्तसुन्दर नटनागर श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करते रहते हैं। वे अचिन्त्य-ऐश्वर्य-सम्पन्न श्रीकृष्ण जब वृन्दावनमें विहार करते रहते हैं और बाँसुरी बजाकर गिरिराज गोवर्धनकी तराईमें चरती हुई गौओंको नाम ले-लेकर पुकारते हैं, उस समय वनके वृक्ष और लताएँ फूल और फलोंसे लद जाती हैं, उनके भारसे डालियाँ झुककर धरती छूने लगती हैं, मानो प्रणाम कर रही हों, वे वृक्ष और लताएँ अपने भीतर भगवान् विष्णुकी अभिव्यक्ति सूचित करती हुई-सी प्रेमसे फूल उठती हैं, उनका रोम-रोम खिल जाता है और सब-की-सब मधुधाराएँ उँड़ेलने लगती हैं ॥ ८-९ ॥

अरी सखी ! जितनी भी वस्तुएँ संसारमें या उसके बाहर देखनेयोग्य हैं, उनमें सबसे सुन्दर, सबसे मधुर, सबके शिरोमणि हैं—ये हमारे मनमोहन। उनके साँवले ललाटपर केसरकी खौर कितनी फबती है—बस, देखती ही जाओ ! गलेमें घुटनोंतक लटकती हुई वन-माला, उसमें पिरोयी हुई तुलसीकी दिव्य गन्ध और मधुर मधुसे मतवाले होकर झुंड-के-झुंड भौंरे बड़े मनोहर एवं उच्च स्वरसे गुंजार करते रहते हैं। हमारे नटनागर श्यामसुन्दर भौंरोंकी उस गुनगुनाहटका आदर करते हैं और उन्हींके स्वरमें-स्वर मिलाकर अपनी बाँसुरी फूँकने लगते हैं। उस समय सखि ! उस मुनिजनमोहन संगीतको सुनकर सरोवरमें रहनेवाले सारस-हंस आदि पक्षियोंका भी चित्त उनके हाथसे निकल जाता है, छिन्न

हरिमुपासत ते यतचित्ता

हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥११॥

सहबलः स्रगवतंसविलासः

सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः ।

हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण

जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥१२॥

महदतिक्रमणशङ्कितचेता

मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः ।

सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभि-

श्छायया च विदधत् प्रतपत्रम् ॥१३॥

विविधगोपचरणेषु विदग्धो

वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः ।

तव सुतः सति यदाधरबिम्बे

दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः ॥१४॥

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः

शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।

जाता है। वे विवश होकर प्यारे श्यामसुन्दरके पास आ बैठते हैं तथा आँखें मूँद, चुपचाप, चित्त एकाग्र करके उनकी आराधना करने लगते हैं—मानो कोई विहङ्गम-वृत्तिके रसिक परमहंस ही हों, भला कहो तो यह कितने आश्चर्यकी बात है ! ॥ १०-११ ॥

अरी व्रजदेवियो ! हमारे श्यामसुन्दर जब पुष्पोंके कुण्डल बनाकर अपने कानोंमें धारण कर लेते हैं और बलरामजीके साथ गिरिराजके शिखरोंपर खड़े होकर सारे जगत्‌को हर्षित करते हुए बाँसुरी बजाने लगते हैं—बाँसुरी क्या बजाते हैं, आनन्दमें भरकर उसकी ध्वनिके द्वारा सारे विश्वका आलिङ्गन करने लगते हैं—उस समय श्याम मेघ बाँसुरीकी तानके साथ मन्द-मन्द गरजने लगता है। उसके चित्तमें इस बातकी शङ्का बनी रहती है कि कहीं मैं जोरसे गर्जना कर उठूँ और वह कहीं बाँसुरीकी तानके विपरीत पड़ जाय, उसमें बेसुरापन ले आये, तो मुझसे महात्मा श्रीकृष्णका अपराध हो जायगा। सखी ! वह इतना ही नहीं करता; वह जब देखता है कि हमारे सखा घनश्यामको घाम लग रहा है, तब वह उनके ऊपर आकर छाया कर लेता है, उनका छत्र बन जाता है। अरी वीर ! वह तो प्रसन्न होकर बड़े प्रेमसे उनके ऊपर अपना जीवन ही निछावर कर देता है—नन्ही-नन्ही फुहियोंके रूपमें ऐसा बरसने लगता है, मानो दिव्य पुष्पोंकी वर्षा कर रहा हो। कभी-कभी बादलोंकी ओटमें छिपकर देवतालोग भी पुष्पवर्षा कर जाया करते हैं ॥ १२-१३ ॥

सतीशिरोमणि यशोदाजी ! तुम्हारे सुन्दर कुँवर ग्वालबालोंके साथ खेल खेलनेमें बड़े निपुण हैं। रानीजी ! तुम्हारे लाड़ले लाल सबके प्यारे तो हैं ही, चतुर भी बहुत हैं। देखो, उन्होंने बाँसुरी बजाना किसीसे सीखा नहीं। अपने ही अनेकों प्रकारकी राग-रागिनियाँ उन्होंने निकाल लीं। जब वे अपने बिम्बा फल-सदृश लाल-लाल अधरोंपर बाँसुरी रखकर ऋषभ, निषाद आदि स्वरोंकी अनेक जातियाँ बजाने लगते हैं, उस समय वंशीकी परम मोहिनी और नयी तान सुनकर ब्रह्मा, शङ्कर और इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता भी—जो सर्वज्ञ हैं—उसे नहीं पहचान पाते। वे इतने मोहित हो जाते हैं कि उनका चित्त

कवय आनतकन्धरचित्ताः

कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥१५॥

तो उनके रोकनेपर भी उनके हाथसे निकलकर वंशी-ध्वनिमें तल्लीन हो ही जाता है, सिर भी झुक जाता है, और वे अपनी सुध-बुध खोकर उसीमें तन्मय हो जाते हैं ॥ १४-१५ ॥

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र-

नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।

व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं

वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥१६॥

व्रजति तेन वयं सविलास-

वीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।

कुजगतिं गमिता न विदामः

कश्मलेन कवरं वसनं वा ॥१७॥

अरी वीर! उनके चरणकमलोंमें ध्वजा, वज्र, कमल अङ्कुश आदिके विचित्र और सुन्दर-सुन्दर चिह्न हैं। जब व्रजभूमि गौओंके खुरसे खुद जाती है, तब वे अपने सुकुमार चरणोंसे उसकी पीड़ा मिटाते हुए गज-राजके समान मन्दगतिसे आते हैं और बाँसुरी भी बजाते रहते हैं। उनकी वह वंशीध्वनि, उनकी वह चाल और उनकी वह विलासभरी चितवन हमारे हृदयमें प्रेमका, मिलनकी आकांक्षाका आवेग बढ़ा देती है। हम उस समय इतनी मुग्ध, इतनी मोहित हो जाती हैं कि हिल-डोलतक नहीं सकतीं, मानो हम जड वृक्ष हों! हमें तो इस बातका भी पता नहीं चलता कि हमारा जूड़ा खुल गया है या बँधा है, हमारे शरीरपरका वस्त्र उतर गया है या है ॥ १६-१७ ॥

मणिधरः क्वचिदागणयन् गा

मालया दयितगन्धतुलस्याः ।

प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे

प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ॥१८॥

क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः

कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः ।

गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो

गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ॥१९॥

अरी वीर! उनके गलेमें मणियोंकी माला बहुत ही भली मालूम होती है। तुलसीकी मधुर गन्ध उन्हें बहुत प्यारी है। इसीसे तुलसीकी मालाको तो वे कभी छोड़ते ही नहीं, सदा धारण किये रहते हैं। जब वे श्यामसुन्दर उस मणियोंकी मालासे गौओंकी गिनती करते-करते किसी प्रेमी सखाके गलेमें बाँह डाल देते हैं और भाव बता-बताकर बाँसुरी बजाते हुए गाने लगते हैं, उस समय बजती हुई उस बाँसुरीके मधुर स्वरसे मोहित होकर कृष्णसार मृगोंकी पत्नी हरिनियाँ भी अपना चित्त उनके चरणोंपर निछावर कर देती हैं और जैसे हम गोपियाँ अपने घर-गृहस्थीकी आशा-अभिलाषा छोड़कर गुणसागर नागर नन्दनन्दनको घेरे रहती हैं, वैसे ही वे भी उनके पास दौड़ आती हैं और वहीं एकटक देखती हुई खड़ी रह जाती हैं, लौटनेका नाम भी नहीं लेतीं ॥ १८-१९ ॥

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो

गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।

नन्दरानी यशोदाजी! वास्तवमें तुम बड़ी पुण्यवती हो। तभी तो तुम्हें ऐसे पुत्र मिले हैं। तुम्हारे वे लाड़ले लाल बड़े प्रेमी हैं, उनका चित्त बड़ा कोमल है। वे प्रेमी सखाओंको तरह-तरहसे हास-परिहास-

नन्दसूनुरनघे तव वत्सो
नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥२०॥
मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं
मानयन् मलयजस्पर्शेन ।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये
वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥२१॥

के द्वारा सुख पहुँचाते हैं। कुन्दकलीका हार पहनकर जब वे अपनेको विचित्र वेषमें सजा लेते हैं और ग्वालबाल तथा गौओंके साथ यमुनाजीके तटपर खेलने लगते हैं, उस समय मलयज चन्दनके समान शीतल और सुगन्धित स्पर्शसे मन्द-मन्द अनुकूल बहकर वायु तुम्हारे लालकी सेवा करती है और गन्धर्व आदि उपदेवता वंदीजनोंके समान गा-बजाकर उन्हें सन्तुष्ट करते हैं तथा अनेकों प्रकारकी भेंटें देते हुए सब ओरसे घेरकर उनकी सेवा करते हैं ॥ २०-२१ ॥

वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो
वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः ।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते
गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥२२॥
उत्सवं श्रमरुचापि दृशीना-
मुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् ।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष
देवकीजठरभूरुडुराजः ॥२३॥

अरी सखी! श्यामसुन्दर व्रजकी गौओंसे बड़ा प्रेम करते हैं। इसीलिये तो उन्होंने गोवर्धन धारण किया था। अब वे सब गौओंको लौटाकर आते ही होंगे; देखो, सायङ्काल हो चला है। तब इतनी देर क्यों होती है, सखी? रास्तेमें बड़े-बड़े ब्रह्मा आदि वयोवृद्ध और शङ्कर आदि ज्ञानवृद्ध उनके चरणोंकी वन्दना जो करने लगते हैं! अब गौओंके पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते हुए वे आते ही होंगे। ग्वालबाल उनकी कीर्तिका गान कर रहे होंगे। देखो न, यह क्या आ रहे हैं। गौओंके खुरोंसे उड़-उड़कर बहुत-सी धूल वनमालापर पड़ गयी है। वे दिनभर जंगलोंमें घूमते-घूमते थक गये हैं। फिर भी अपनी इस शोभासे हमारी आँखोंको कितना सुख, कितना आनन्द दे रहे हैं। देखो, ये यशोदाकी कोखसे प्रकट हुए सबको आह्लादित करनेवाले चन्द्रमा हम प्रेमी जनोंकी भलाईके लिये, हमारी आशा-अभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिये ही हमारे पास चले आ रहे हैं ॥ २२-२३ ॥

मदविघूर्णितलोचन ईषन्-
मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं
मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ॥२४॥

सखी! देखो कैसा सौन्दर्य है! मदभरी आँखें कुछ चढ़ी हुई हैं। कुछ-कुछ ललाई लिये हुए कैसी भली जान पड़ती हैं। गलेमें वनमाला लहरा रही है। सोनेके कुण्डलोंकी कान्तिसे वे अपने कोमल कपोलोंको अलङ्कृत कर रहे हैं। इसीसे मुँहपर अधपके बेरके समान कुछ पीलापन जान पड़ता है। और रोम-रोमसे विशेष करके मुखकमलसे प्रसन्नता फूटी पड़ती है। देखो, अब वे अपने सखा ग्वालबालोंका सम्मान करके

१. जस्य रसेन।

यदुपतिर्द्विरदराजविहारो
यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं
मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥२५॥

उन्हें विदा कर रहे हैं। देखो, देखो सखी! व्रज-विभूषण श्रीकृष्ण गजराजके समान मदभरी चालसे इस सन्ध्या वेलामें हमारी ओर आ रहे हैं। अब व्रजमें रहनेवाली गौओंका, हमलोगोंका दिनभरका असह्य विरह-ताप मिटानेके लिये उदित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति ये हमारे प्यारे श्यामसुन्दर समीप चले आ रहे हैं ॥ २४-२५ ॥

श्रीशुक[1] उवाच

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीला नु गायतीः ।
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥२६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! बड़भागिनी गोपियोंका मन श्रीकृष्णमें ही लगा रहता था। वे श्रीकृष्णमय हो गयी थीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण दिनमें गौओंको चरानेके लिये वनमें चले जाते, तब वे उन्हींका चिन्तन करती रहतीं और अपनी-अपनी सखियोंके साथ अलग-अलग उन्हींकी लीलाओंका गान करके उसीमें रम जातीं। इस प्रकार उनके दिन बीत जाते ॥२६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वृन्दावनक्रीडायां गोपिकायुगलगीतं नाम
पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

अरिष्टासुरका उद्धार और कंसका श्रीअक्रूरजीको व्रज भेजना

श्रीशुक[3] उवाच

अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः ।
महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम् ॥ १ ॥
रम्भमाणः खरतरं पदा चँ विलिखन् महीम् ।
उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन् ॥ २ ॥
किञ्चित् किञ्चिच्छकृन्मुञ्चन् मूत्रयन् स्तब्धलोचनः ।
यस्य निर्ह्रादितेनाङ्ग निष्ठुरेण गवां नृणाम् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें प्रवेश कर रहे थे और वहाँ आनन्दोत्सवकी धूम मची हुई थी, उसी समय अरिष्टासुर नामका एक दैत्य बैलका रूप धारण करके आया। उसका ककुद् (कंधेका पुट्ठा) या थुआ और डील-डौल दोनों ही बहुत बड़े-बड़े थे। वह अपने खुरोंको इतने जोरसे पटक रहा था कि उससे धरती काँप रही थी ॥ १ ॥ वह बड़े जोरसे गर्ज रहा था और पैरोंसे धूल उछालता जाता था। पूँछ खड़ी किये हुए था और सींगोंसे चहारदीवारी, खेतोंकी मेंड़ आदि तोड़ता जाता था ॥ २ ॥ बीच-बीचमें बार-बार मूतता और गोबर छोड़ता जाता था। आँखें फाड़कर इधर-उधर दौड़ रहा था। परीक्षित्! उसके जोरसे

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' से लेकर '......महोदयाः।' तकका पाठ मूलमें नहीं है। २. वृन्दावनक्रीडायां गोपिकागीतं नाम। ३. बादरायणिरुवाच। ४. संवि०। ५. भूशम्।

पतन्त्यकालतो[1] गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै ।
निर्विशन्ति घना यस्य ककुद्यचलशङ्कया ॥ ४ ॥
तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ।
पशवो दुद्रुवुर्भीता[2] राजन् संत्यज्य गोकुलम् ॥ ५ ॥
कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः ।
भगवानपि[3] तद् वीक्ष्य गोकुलं भयविद्रुतम्[4] ॥ ६ ॥
मा भैष्टेति गिराऽऽश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् ।
गोपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम ॥ ७ ॥
बलदर्पहाहं[5] दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् ।
इत्यास्फोट्याच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन् ॥ ८ ॥
सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः ।
सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन् ।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥
अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम् ।
कटाक्षिप्याद्रवत्तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा ॥ १० ॥
गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वा अष्टादश पदानि सः ।
प्रत्यपोवाह भगवान् गजः प्रतिगजं यथा ॥ ११ ॥
सोऽपविद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरः ।
आपतत् स्विन्नसर्वाङ्गो निःश्वसन् क्रोधमूर्छितः ॥ १२ ॥

हँकड़नेसे—निष्ठुर गर्जनासे भयवश स्त्रियों और गौओंके तीन-चार महीनेके गर्भ स्रवित हो जाते थे और पाँच-छः महीनेके गिर जाते थे । और तो क्या कहूँ, उसके ककुद्‌को पर्वत समझकर बादल उसपर आकर ठहर जाते थे ॥ ३-४ ॥ परीक्षित् ! उस तीखे सींगवाले बैलको देखकर गोपियाँ और गोप सभी भयभीत हो गये । पशु तो इतने डर गये कि अपने रहनेका स्थान छोड़कर भाग ही गये ॥ ५ ॥ उस समय सभी व्रजवासी 'श्रीकृष्ण ! श्रीकृष्ण ! हमें इस भयसे बचाओ' इस प्रकार पुकारते हुए भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें आये । भगवान्‌ने देखा कि हमारा गोकुल अत्यन्त भयातुर हो रहा है ॥ ६ ॥ तब उन्होंने 'डरनेकी कोई बात नहीं है'—यह कहकर सबको ढाढ़स बँधाया और फिर वृषासुरको ललकारा, 'अरे मूर्ख ! महादुष्ट ! तू इन गौओं और ग्वालोंको क्यों डरा रहा है ? इससे क्या होगा ॥ ७ ॥ देख, तुझ-जैसे दुरात्मा दुष्टोंके बलका घमंड चूर-चूर कर देनेवाला यह मैं हूँ ।' इस प्रकार ललकारकर भगवान्‌ने ताल ठोंकी और उसे क्रोधित करनेके लिये वे अपने एक सखाके गलेमें बाँह डालकर खड़े हो गये । भगवान् श्रीकृष्णकी इस चुनौतीसे वह क्रोधके मारे तिलमिला उठा और अपने खुरोंसे बड़े जोरसे धरती खोदता हुआ श्रीकृष्णकी ओर झपटा । उस समय उसकी उठायी हुई पूँछके धक्केसे आकाशके बादल तितर-बितर होने लगे ॥ ८-९ ॥ उसने अपने तीखे सींग आगे कर लिये । लाल-लाल आँखोंसे टकटकी लगाकर श्रीकृष्णकी ओर टेढ़ी नजरसे देखता हुआ वह उनपर इतने वेगसे टूटा, मानो इन्द्रके हाथसे छोड़ा हुआ वज्र हो ॥ १० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों सींग पकड़ लिये और जैसे एक हाथी अपनेसे भिड़नेवाले दूसरे हाथीको पीछे हटा देता है, वैसे ही उन्होंने उसे अठारह पग पीछे ठेलकर गिरा दिया ॥ ११ ॥ भगवान्‌के इस प्रकार ठेल देनेपर वह फिर तुरंत ही उठ खड़ा हुआ और क्रोधसे अचेत होकर लंबी-लंबी साँस छोड़ता हुआ फिर उनपर झपटा । उस समय उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो रहा था ॥ १२ ॥ भगवान्‌ने जब देखा

१. न्त्वाकालिका गर्भाः । २. दुद्रुवू राजन् संत्यज्य निजगोकुलम् । ३. नथ । ४. विह्वलम् । ५. प्राचीन प्रतिमें 'बल्दर्पहा''''''''दुरात्मनाम्' यह श्लोकार्ध नहीं है ।

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः
पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले ।
निष्पीडयामास यथाऽऽर्द्रमम्बरं
कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् ॥१३॥

असृग् वमन् मूत्रशकृत् समुत्सृजन्
क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः ।
जगाम कृच्छ्रं निर्ऋतेरथ क्षयं
पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः ॥१४॥

एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः ।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥१५॥

अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
कंसायाथाह भगवान् नारदो देवदर्शनः ॥१६॥

यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च ।
रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता ॥१७॥

न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै याभ्यां ते पुरुषा हताः ।
निशम्य तद् भोजपतिः कोपात् प्रचलितेन्द्रियः॥१८॥

निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया ।
निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः ॥१९॥

ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया ।
प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आभाष्य केशिनम् ॥२०॥

प्रेषयामास हन्येतां भवता रामकेशवौ[1] ।
ततो मुष्टिकचाणूरशलतोशलकादिकान् ॥२१॥

कि वह अब मुझपर प्रहार करना ही चाहता है, तब उन्होंने उसके सींग पकड़ लिये और उसे लात मारकर जमीनपर गिरा दिया और फिर पैरोंसे दबाकर इस प्रकार उसका कचूमर निकाला, जैसे कोई गीला कपड़ा निचोड़ रहा हो। इसके बाद उसीका सींग उखाड़कर उसको खूब पीटा, जिससे वह पड़ा ही रह गया ॥१३॥ परीक्षित्! इस प्रकार वह दैत्य मुँहसे खून उगलता और गोबर-मूत करता हुआ पैर पटकने लगा। उसकी आँखें उलट गयीं और उसने बड़े कष्टके साथ प्राण छोड़े। अब देवतालोग भगवान्पर फूल बरसा-बरसाकर उनकी स्तुति करने लगे ॥ १४ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार बैलके रूपमें आनेवाले अरिष्टासुरको मार डाला, तब सभी गोप उनकी प्रशंसा करने लगे। उन्होंने बलरामजीके साथ गोष्ठमें प्रवेश किया और उन्हें देख-देखकर गोपियोंके नयन-मन आनन्दसे भर गये ॥ १५ ॥

परीक्षित्! भगवान्की लीला अत्यन्त अद्भुत है। इधर जब उन्होंने अरिष्टासुरको मार डाला, तब भगवन्मय नारद, जो लोगोंको शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्का दर्शन कराते रहते हैं, कंसके पास पहुँचे। उन्होंने उससे कहा—॥१६॥ 'कंस! जो कन्या तुम्हारे हाथसे छूटकर आकाशमें चली गयी, वह तो यशोदाकी पुत्री थी। और व्रजमें जो श्रीकृष्ण हैं, वे देवकीके पुत्र हैं। वहाँ जो बलरामजी हैं, वे रोहिणीके पुत्र हैं। वसुदेवने तुमसे डरकर अपने मित्र नन्दके पास उन दोनोंको रख दिया है। उन्होंने ही तुम्हारे अनुचर दैत्योंका वध किया है।' यह बात सुनते ही कंसकी एक-एक इन्द्रिय क्रोधके मारे काँप उठी ॥ १७-१८ ॥ उसने वसुदेवजीको मार डालनेके लिये तुरंत तीखी तलवार उठा ली, परन्तु नारदजीने रोक दिया। जब कंसको यह मालूम हो गया कि वसुदेवके लड़के ही हमारी मृत्युके कारण हैं, तब उसने देवकी और वसुदेव दोनों ही पति-पत्नीको हथकड़ी और बेड़ीसे जकड़कर फिर जेलमें डाल दिया। जब देवर्षि नारद चले गये, तब कंसने केशीको बुलाया और कहा 'तुम व्रजमें जाकर बलराम और कृष्णको मार डालो।' वह चला गया। इसके बाद

[1] रमाधवौ।

अमात्यान् हस्तिपांश्चैव समाहूयाह भोजराट् ।
भो भो निशम्यतामेतद् वीरचाणूरमुष्टिकौ ॥२२॥
नन्दव्रजे किलासाते सुतावानकदुन्दुभेः ।
रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निदर्शितः ॥२३॥
भवद्भ्यामिह सम्प्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया ।
मञ्चाः क्रियन्तां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः ।
पौरा जानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् ॥२४॥
महामात्र त्वया भद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम् ।
द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ ॥२५॥
आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि ।
विशसन्तु पशून् मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे ॥२६॥
इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोऽक्रूरमुवाच ह ॥२७॥
भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मैत्रमादृतः ।
नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु ॥२८॥
अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनम् ।
यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमद् विभुः ॥२९॥
गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः ।
आसाते ताविहानेन रथेनानय मा चिरम् ॥३०॥
निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः ।

कंसने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल, आदि पहलवानों, मन्त्रियों और महावतोंको बुलाकर कहा—'वीरवर चाणूर और मुष्टिक! तुमलोग ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो ।१९-२२। वसुदेवके दो पुत्र बलराम और कृष्ण नन्दके व्रजमें रहते हैं। उन्हींके हाथसे मेरी मृत्यु बतलायी जाती है ॥२३॥ अतः जब वे यहाँ आवें, तब तुमलोग उन्हें कुश्ती लड़ने-लड़ानेके बहाने मार डालना। अब तुमलोग भाँति-भाँतिके मंच बनाओ और उन्हें अखाड़ेके चारों ओर गोल-गोल सजा दो। उनपर बैठकर नगरवासी और देशकी दूसरी प्रजा इस स्वच्छन्द दंगलको देखें ॥ २४ ॥ महावत! तुम बड़े चतुर हो। देखो भाई! तुम दंगलके घेरेके फाटकपर ही अपने कुवलयापीड हाथीको रखना और जब मेरे शत्रु उधरसे निकलें, तब उसीके द्वारा उन्हें मरवा डालना ॥ २५ ॥ इसी चतुर्दशीको विधिपूर्वक धनुषयज्ञ प्रारम्भ कर दो और उसकी सफलताके लिये वरदानी भूतनाथ भैरवको बहुत-से पवित्र पशुओंकी बलि चढ़ाओ' ॥ २६ ॥

परीक्षित्! कंस तो केवल स्वार्थ-साधनका सिद्धान्त जानता था, इसलिये उसने मन्त्री, पहलवान और महावतको इस प्रकार आज्ञा देकर श्रेष्ठ यदुवंशी अक्रूरको बुलवाया और उनका हाथ अपने हाथमें लेकर बोला—॥२७॥ 'अक्रूरजी! आप तो बड़े उदार दानी हैं। सब तरहसे मेरे आदरणीय हैं। आज आप मेरा एक मित्रोचित काम कर दीजिये; क्योंकि भोजवंशी और वृष्णिवंशी यादवोंमें आपसे बढ़कर मेरी भलाई करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ २८ ॥ यह काम बहुत बड़ा है, इसलिये मेरे मित्र! मैंने आपका आश्रय लिया है। ठीक वैसे ही जैसे इन्द्र समर्थ होनेपर भी विष्णुका आश्रय लेकर अपना स्वार्थ साधता रहता है ॥ २९ ॥ आप नन्दरायके व्रजमें जाइये। वहाँ वसुदेवजीके दो पुत्र हैं। उन्हें इसी रथपर चढ़ाकर यहाँ ले आइये। बस, अब इस काममें देर नहीं होनी चाहिये ॥ ३० ॥ सुनते हैं, विष्णुके भरोसे जीनेवाले देवताओंने उन दोनोंको मेरी मृत्युका कारण निश्चित किया है। इसलिये आप उन दोनोंको तो ले-

१. कालनिदर्शितः ।

तात्रानय समं गोपैर्नन्दाद्यैः साभ्युपायनैः ॥३१॥
घातयिष्य इहानीतौ कालकल्पेन हस्तिना ।
यदि मुक्तौ ततो मल्लैर्घातये वैद्युतोपमैः ॥३२॥
तयोर्निहतयोस्तप्तान् वसुदेवपुरोगमान् ।
तद्बन्धून् निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान्[1]॥३३॥
उग्रसेनं च पितरं स्थविरं राज्यकामुकम् ।
तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम ॥३४॥
ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका ।
जरासन्धो मम गुरुर्द्विविदो दयितः सखा ॥३५॥
शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः ।
तैरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥३६॥
एतज्ज्ञात्वाऽऽनय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ ।
धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरश्रियम् ॥३७॥

अक्रूर उवाच

राजन् मनीषितं[2] सम्यक् तव स्वावद्यमार्जनम् ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समं कुर्याद् दैवं हि फलसाधनम् ।३८।
मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि ।

ही आइये, साथ ही नन्द आदि गोपोंको भी बड़ी-बड़ी भेंटोंके साथ ले आइये ॥ ३१ ॥ यहाँ आनेपर मैं उन्हें अपने कालके समान कुवलयापीड हाथीसे मरवा डालूँगा। यदि वे कदाचित् उस हाथीसे बच गये, तो मैं अपने वज्रके समान मजबूत और फुर्तीले पहलवान मुष्टिक-चाणूर आदिसे उन्हें मरवा डालूँगा ॥ ३२ ॥ उनके मारे जानेपर वसुदेव आदि वृष्णि, भोज और दशार्हवंशी उनके भाई-बन्धु शोकाकुल हो जायँगे । फिर उन्हें मैं अपने हाथों मार डालूँगा ॥ ३३ ॥ मेरा पिता उग्रसेन यों तो बूढ़ा हो गया है, परन्तु अभी उसको राज्यका लोभ बना हुआ है । यह सब कर चुकनेके बाद मैं उसको, उसके भाई देवकको और दूसरे भी जो-जो मुझसे द्वेष करनेवाले हैं—उन सबको तलवारके घाट उतार दूँगा ॥ ३४ ॥ मेरे मित्र अक्रूरजी ! फिर तो मैं होऊँगा और आप होंगे, तथा होगा इस पृथ्वीका अकण्टक राज्य । जरासन्ध हमारे बड़े-बूढ़े ससुर हैं और वानरराज द्विविद मेरे प्यारे सखा हैं ॥३५॥ शम्बरासुर, नरकासुर और बाणासुर—ये तो मुझसे मित्रता करते ही हैं, मेरा मुँह देखते रहते हैं; इन सबकी सहायतासे मैं देवताओंके पक्षपाती नरपतियों-को मारकर पृथ्वीका अकण्टक राज्य भोगूँगा ॥ ३६ ॥ यह सब अपनी गुप्त बातें मैंने आपको बतला दीं । अब आप जल्दी-से-जल्दी बलराम और कृष्णको यहाँ ले आइये । अभी तो वे बच्चे ही हैं । उनको मार डालनेमें क्या लगता है ? उनसे केवल इतनी ही बात कहियेगा कि वे लोग धनुषयज्ञके दर्शन और यदुवंशियों-की राजधानी मथुराकी शोभा देखनेके लिये यहाँ आ जायँ' ॥ ३७ ॥

अक्रूरजीने कहा—महाराज ! आप अपनी मृत्यु, अपना अरिष्ट दूर करना चाहते हैं, इसलिये आपका ऐसा सोचना ठीक ही है । मनुष्यको चाहिये कि चाहे सफलता हो या असफलता, दोनोंके प्रति समभाव रखकर अपना काम करता जाय । फल तो प्रयत्नसे नहीं, दैवी प्रेरणासे मिलते हैं ॥ ३८ ॥ मनुष्य बड़े-बड़े मनोरथोंके पुल बाँधता रहता है परन्तु वह यह नहीं जानता कि दैवने, प्रारब्धने इसे पहलेसे ही नष्ट कर रक्खा है । यही कारण

१. शार्हजान् । २. मनिषितं ।

युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥३९॥

है कि कभी प्रारब्धके अनुकूल होनेपर प्रयत्न सफल हो जाता है, तो वह हर्षसे फूल उठता है और प्रतिकूल होनेपर विफल हो जाता है तो शोकग्रस्त हो जाता है। फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन तो कर ही रहा हूँ॥३९॥

श्रीशुक उवाच

एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सः ।
प्रविवेश गृहं कंसस्तथाक्रूरः स्वमालयम् ॥४०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कंसने मन्त्रियों और अक्रूरजीको इस प्रकारकी आज्ञा देकर सबको बिदा कर दिया। तदनन्तर वह अपने महलमें चला गया और अक्रूरजी अपने घर लौट आये ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽक्रूरसंप्रेषणं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः

केशी और व्योमासुरका उद्धार तथा नारदजीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति

श्रीशुक उवाच[2]

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं
महाहयो निर्जरयन् मनोजवः ।
सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं
कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः ॥ १ ॥
विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो
बृहद्गलो नीलमहाम्बुदोपमः ।
दुराशयः कंसहितं चिकीर्षु-
र्व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कंसने जिस केशी नामक दैत्यको भेजा था, वह बड़े भारी घोड़ेके रूपमें मनके समान वेगसे दौड़ता हुआ व्रजमें आया। वह अपनी टापोंसे धरती खोदता आ रहा था! उसकी गरदनके छितराये हुए बालोंके झटकेसे आकाशके बादल और विमानोंकी भीड़ तितर-बितर हो रही थी। उसकी भयानक हिनहिनाहटसे सब-के-सब भयसे काँप रहे थे। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें थीं, मुँह क्या था, मानो किसी वृक्षका खोड़र ही हो। उसे देखनेसे ही डर लगता था। बड़ी मोटी गरदन थी। शरीर इतना विशाल था कि मालूम होता था काली-काली बादलकी घटा है। उसकी नीयतमें पाप भरा था। वह श्रीकृष्णको मारकर अपने स्वामी कंसका हित करना चाहता था। उसके चलनेसे भूकम्प होने लगता था ॥१-२॥

तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुलं
तद्धेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम् ।
आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणी-
रुपाह्वयत् स व्यनदन्मृगेन्द्रवत् ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि उसकी हिनहिनाहटसे उनके आश्रित रहनेवाला गोकुल भयभीत हो रहा है और उसकी पूँछके बालोंसे बादल तितर-बितर हो रहे हैं; तथा वह लड़नेके लिये उन्हींको ढूँढ़ भी रहा है—तब वे बढ़कर उसके सामने आ गये और उन्होंने सिंहके समान गरजकर उसे ललकारा ॥ ३ ॥

१. कंसमन्त्रणं प०। २. बादरायणिरुवाच।

स तं निशाम्याभिमुखो मुखेन खं
पिबन्निवाभ्यद्रवदत्यमर्षणः ।
जघान पद्भ्यामरविन्दलोचनं
दुरासदश्चण्डजवो दुरत्ययः ॥ ४ ॥
तद् वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा
प्रगृह्य दोर्भ्यां परिविध्य पादयोः ।
सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे
यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः ॥ ५ ॥
स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा
व्यादाय केशी तरसाऽऽपतद्धरिम् ।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन्
प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥ ६ ॥
दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृश-
स्ते केशिनस्तप्तमयः स्पृशो यथा ।
बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो
यथाऽऽमयः संववृधे उपेक्षितः ॥ ७ ॥
समेधमानेन स कृष्णबाहुना
निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः
पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः ॥ ८ ॥
तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद्
व्यसोरपाकृष्य भुजं महाभुजः ।

भगवान्‌को सामने आया देख वह और भी चिढ़ गया तथा उनकी ओर इस प्रकार मुँह फैलाकर दौड़ा, मानो आकाशको पी जायगा। परीक्षित्! सचमुच केशीका वेग बड़ा प्रचण्ड था। उसपर विजय पाना तो कठिन था ही, उसे पकड़ लेना भी आसान नहीं था। उसने भगवान्‌के पास पहुँचकर दुलत्ती झाड़ी ॥ ४ ॥ परन्तु भगवान्‌ने उससे अपनेको बचा लिया। भला, वह इन्द्रियातीतको कैसे मार पाता! उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों पिछले पैर पकड़ लिये और जैसे गरुड़ साँपको पकड़कर झटक देते हैं, उसी प्रकार क्रोधसे उसे घुमाकर बड़े अपमानके साथ चार सौ हाथकी दूरीपर फेंक दिया और स्वयं अकड़कर खड़े हो गये ॥५॥ थोड़ी ही देरके बाद केशी फिर सचेत हो गया और उठ खड़ा हुआ। इसके बाद वह क्रोधसे तिलमिलाकर और मुँह फाड़कर बड़े वेगसे भगवान्‌की ओर झपटा। उसको दौड़ते देख भगवान् मुसकराने लगे। उन्होंने अपना बाँया हाथ उसके मुँहमें इस प्रकार डाल दिया, जैसे सर्प बिना किसी आशङ्काके अपने बिलमें घुस जाता है ॥ ६ ॥ परीक्षित्! भगवान्‌का अत्यन्त कोमल कर-कमल भी उस समय ऐसा हो गया, मानो तपाया हुआ लोहा हो। उसका स्पर्श होते ही केशीके दाँत टूट-टूटकर गिर गये और जैसे जलोदर रोग उपेक्षा कर देनेपर बहुत बढ़ जाता है, वैसे ही श्रीकृष्णका भुजदण्ड उसके मुँहमें बढ़ने लगा ॥ ७ ॥ अचिन्त्यशक्ति भगवान् श्रीकृष्णका हाथ उसके मुँहमें इतना बढ़ गया कि उसकी साँसके भी आने-जानेका मार्ग न रहा। अब तो दम घुटनेके कारण वह पैर पीटने लगा। उसका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया, आँखोंकी पुतली उलट गयी, वह मल-त्याग करने लगा। थोड़ी ही देरमें उसका शरीर निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा तथा उसके प्राण-पखेरू उड़ गये ॥ ८ ॥ उसका निष्प्राण शरीर फूला हुआ होनेके कारण गिरते ही पकी ककड़ीकी तरह फट गया। महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने उसके शरीरसे अपनी भुजा खींच ली। उन्हें इससे कुछ भी आश्चर्य या गर्व नहीं हुआ। बिना प्रयत्नके ही शत्रुका नाश हो गया।

अविस्मितोऽयत्नहतारिरुत्स्मयैः
प्रसूनवर्षैर्दिविषद्भिरीडितः ॥ ९ ॥
देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरो नृप ।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत ॥ १० ॥
कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर ।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥ ११ ॥
त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् ।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥ १२ ॥
आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान् ।
तैरिदं सत्यसंकल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः ॥ १३ ॥
स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम् ।
अवतीर्णो विनाशाय सेतूनां रक्षणाय च ॥ १४ ॥
दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयायं हयाकृतिः ।
यस्य हेषितसंत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥ १५ ॥
चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् ।

देवताओंको अवश्य ही इससे बड़ा आश्चर्य हुआ। वे प्रसन्न हो-होकर भगवान्‌के ऊपर पुष्प बरसाने और उनकी स्तुति करने लगे ॥ ९ ॥

परीक्षित्! देवर्षि नारदजी भगवान्‌के परम प्रेमी और समस्त जीवोंके सच्चे हितैषी हैं। कंसके यहाँसे लौटकर वे अनायास ही अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास आये और एकान्तमें उनसे कहने लगे—॥ १० ॥ 'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आपका स्वरूप मन और वाणीका विषय नहीं है। आप योगेश्वर हैं। सारे जगत्‌का नियन्त्रण आप ही करते हैं। आप सबके हृदयमें निवास करते हैं और सब-के-सब आपके हृदयमें निवास करते हैं। आप भक्तोंके एकमात्र वाञ्छनीय, यदुवंश-शिरोमणि और हमारे स्वामी हैं ॥ ११ ॥ जैसे एक ही अग्नि सभी लकड़ियोंमें व्याप्त रहती है, वैसे एक ही आप समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। आत्माके रूपमें होनेपर भी आप अपनेको छिपाये रखते हैं; क्योंकि आप पञ्चकोशरूप गुफाओंके भीतर रहते हैं। फिर भी पुरुषोत्तमके रूपमें, सबके नियन्ताके रूपमें और सबके साक्षीके रूपमें आपका अनुभव होता ही है ॥ १२ ॥ प्रभो! आप सबके अधिष्ठान और स्वयं अधिष्ठानरहित हैं। आपने सृष्टिके प्रारम्भमें अपनी मायासे ही गुणोंकी सृष्टि की और उन गुणोंको ही स्वीकार करके आप जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते रहते हैं। यह सब करनेके लिये आपको अपनेसे अतिरिक्त और किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आप सर्वशक्तिमान् और सत्यसङ्कल्प हैं ॥ १३ ॥ वही आप दैत्य, प्रमथ और राक्षसोंका, जिन्होंने आजकल राजाओंका वेष धारण कर रक्खा है, विनाश करनेके लिये तथा धर्मकी मर्यादाओंकी रक्षा करनेके लिये यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ १४ ॥ यह बड़े आनन्दकी बात है कि आपने खेल-ही-खेलमें घोड़ेके रूपमें रहनेवाले इस केशी दैत्यको मार डाला। इसकी हिनहिनाहटसे डरकर देवतालोग अपना स्वर्ग छोड़कर भाग जाया करते थे ॥ १५ ॥

प्रभो! अब परसों मैं आपके हाथों चाणूर, मुष्टिक,

१. सुविस्मितैः पद्मभवादिभिः सुरैः प्रसू०। २. साधूनां।

कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥१६॥
तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च ।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥१७॥
उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम् ।
नृगस्य मोक्षणं पापाद् द्वारकायां जगत्पते ॥१८॥
स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया ।
मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥१९॥
पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात् काशिपुर्याश्च दीपनम् ।
दन्तवक्त्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥२०॥
यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन् भवान् ।
कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि[1] कविभिर्भुवि ॥२१॥
अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ।
अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥२२॥
विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया
समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम् ।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया-
गुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥२३॥
त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया
विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् ।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं
नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम् ॥२४॥

दूसरे पहलवान, कुवलयापीड हाथी और स्वयं कंसको भी मरते देखूँगा ॥ १६ ॥ उसके बाद शङ्खासुर, कालयवन, मुर और नरकासुरका वध देखूँगा । आप स्वर्गसे कल्पवृक्ष उखाड़ लायेंगे और इन्द्रके चीं-चपड़ करनेपर उनको उसका मजा चखायेंगे ॥ १७ ॥ आप अपनी कृपा, वीरता, सौन्दर्य आदिका शुल्क देकर वीर-कन्याओंसे विवाह करेंगे, और जगदीश्वर ! आप द्वारकामें रहते हुए नृगको पापसे छुड़ायेंगे ॥ १८ ॥ आप जाम्बवतीके साथ स्यमन्तक मणिको जाम्बवान्‌से ले आयेंगे और अपने धामसे ब्राह्मणके मरे हुए पुत्रोंको ला देंगे ॥ १९ ॥ इसके पश्चात् आप पौण्ड्रक—मिथ्यावासुदेवका वध करेंगे। काशीपुरीको जला देंगे। युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें चेदिराज शिशुपालको और वहाँसे लौटते समय उसके मौसेरे भाई दन्तवक्त्रको नष्ट करेंगे ॥ २० ॥ प्रभो ! द्वारकामें निवास करते समय आप और भी बहुत-से पराक्रम प्रकट करेंगे, जिन्हें पृथ्वीके बड़े-बड़े ज्ञानी और प्रतिभाशील पुरुष आगे चलकर गायेंगे । मैं यह सब देखूँगा ॥ २१ ॥ इसके बाद आप पृथ्वीका भार उतारनेके लिये कालरूपसे अर्जुनके सारथि बनेंगे और अनेक अक्षौहिणी सेनाका संहार करेंगे। यह सब मैं अपनी आँखोंसे देखूँगा ॥ २२ ॥

प्रभो ! आप विशुद्ध विज्ञानघन हैं। आपके स्वरूपमें और किसीका अस्तित्व है ही नहीं । आप नित्य-निरन्तर अपने परमानन्दस्वरूपमें स्थित रहते हैं। इसलिये सारे पदार्थ आपको नित्य प्राप्त ही हैं । आपका सङ्कल्प अमोघ है। आपकी चिन्मयी शक्तिके सामने माया और मायासे होनेवाला यह त्रिगुणमय संसार-चक्र नित्यनिवृत्त है—कभी हुआ ही नहीं ! ऐसे आप अखण्ड, एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप, निरतिशय ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान्‌की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ २३ ॥ आप सबके अन्तर्यामी और नियन्ता हैं । अपने-आपमें स्थित, परम स्वतन्त्र हैं। जगत् और उसके अशेष विशेषों—भाव-अभावरूप सारे भेद-विभेदोंकी कल्पना केवल आपकी मायासे ही हुई है। इस समय आपने अपनी लीला प्रकट करनेके लिये मनुष्यका-सा श्रीविग्रह प्रकट किया है । और आप यदु, वृष्णि तथा सात्वतवंशियोंके शिरोमणि बने हैं ! प्रभो ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ' ॥ २४ ॥

१. यानि शेषाणि वै भुवि ।

श्रीशुक उवाच

एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः ।
प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः ॥२५॥
भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे ।
पशूनपालयत् पालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः ॥२६॥
एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु ।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः ॥२७॥
तत्रासन् कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप ।
मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः ॥२८॥
मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक् ।
मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून् ॥२९॥
गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः ।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥३०॥
तस्य तत् कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम् ।
गोपान् नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा ॥३१॥
स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली ।
इच्छन् विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद् ग्रहणातुरः ॥३२॥
तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले ।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत् ॥३३॥
गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान् निःसार्य कृच्छ्रतः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान्‌के परमप्रेमी भक्त देवर्षि नारदजीने इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति और प्रणाम किया । भगवान्‌के दर्शनोंके आह्लादसे नारदजीका रोम-रोम खिल उठा । तदनन्तर उनकी आज्ञा प्राप्त करके वे चले गये ॥ २५ ॥ इधर भगवान् श्रीकृष्ण केशीको लड़ाईमें मारकर फिर अपने प्रेमी एवं प्रसन्न-चित्त ग्वालबालोंके साथ पूर्ववत् पशु पालनके काममें लग गये तथा व्रजवासियोंको परमानन्द वितरण करने लगे ॥ २६ ॥ एक समय वे सब ग्वालबाल पहाड़की चोटियोंपर गाय आदि पशुओंको चरा रहे थे तथा कुछ चोर और कुछ रक्षक बनकर छिपने-छिपानेका—लुका-लुकीका खेल खेल रहे थे ॥ २७ ॥ राजन् ! उन लोगोंमेंसे कुछ तो चोर और कुछ रक्षक तथा कुछ भेड़ बन गये थे । इस प्रकार वे निर्भय होकर खेलमें रम गये थे ॥ २८ ॥ उसी समय ग्वालका वेष धारण करके व्योमासुर वहाँ आया । वह मायावियोंके आचार्य मयासुरका पुत्र था और स्वयं भी बड़ा मायावी था । वह खेलमें बहुधा चोर ही बनता और भेड़ बने हुए बहुत-से बालकोंको चुराकर छिपा आता ॥ २९ ॥ वह महान् असुर बार-बार उन्हें ले जाकर एक पहाड़की गुफामें डाल देता और उसका दरवाजा एक बड़ी चट्टानसे ढक देता । इस प्रकार ग्वालबालोंमें केवल चार-पाँच बालक ही बच रहे ॥ ३० ॥ भक्तवत्सल भगवान् उसकी यह करतूत जान गये । जिस समय वह ग्वालबालोंको लिये जा रहा था, उसी समय उन्होंने, जैसे सिंह भेड़ियेको दबोच ले उसी प्रकार, उसे धर दबाया ॥ ३१ ॥ व्योमासुर बड़ा बली था । उसने पहाड़के समान अपना असली रूप प्रकट कर दिया और चाहा कि अपनेको छुड़ा लूँ । परन्तु भगवान्‌ने उसको इस प्रकार अपने शिकंजेमें फाँस लिया था कि वह अपनेको छुड़ा न सका ॥ ३२ ॥ तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने दोनों हाथोंसे जकड़कर उसे भूमिपर गिरा दिया और पशुकी भाँति गला घोंटकर मार डाला । देवतालोग विमानोंपर चढ़कर उनकी यह लीला देख रहे थे ॥ ३३ ॥ अब भगवान् श्रीकृष्णने गुफाके द्वारपर लगे हुए चट्टानोंके पिहान तोड़ डाले और ग्वालबालोंको उस सङ्कटपूर्ण स्थानसे निकाल लिया ।

स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम् ॥३४॥

बड़े-बड़े देवता और ग्वालबाल उनकी स्तुति करने लगे और भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें चले आये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे व्योमासुरवधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

अथाष्टात्रिंशोऽध्यायः

अक्रूरजीकी व्रजयात्रा

श्रीशुक उवाच

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः ।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥
गच्छन् पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे ।
भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत् ॥ २ ॥
किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः ।
किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥ ३ ॥
ममैतद् दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम् ।
विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः ॥ ४ ॥
मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम् ।
ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन ॥ ५ ॥
ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः ।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥ ६ ॥
कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं
द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! महामति अक्रूरजी भी वह रात मथुरापुरीमें बिताकर प्रातःकाल होते ही रथपर सवार हुए और नन्दबाबाके गोकुलकी ओर चल दिये ॥ १ ॥ परम भाग्यवान् अक्रूरजी व्रजकी यात्रा करते समय मार्गमें कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी परम प्रेममयी भक्तिसे परिपूर्ण हो गये । वे इस प्रकार सोचने लगे— ॥ २ ॥ 'मैंने ऐसा कौन-सा शुभ कर्म किया है, ऐसी कौन-सी श्रेष्ठ तपस्या की है अथवा किसी सत्पात्रको ऐसा कौन-सा महत्त्वपूर्ण दान दिया है, जिसके फलस्वरूप आज मैं भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन करूँगा ॥ ३ ॥ मैं बड़ा विषयी हूँ । ऐसी स्थितिमें, बड़े-बड़े सात्त्विक पुरुष भी जिनके गुणोंका ही गान करते रहते हैं, दर्शन नहीं कर पाते—उन भगवान्के दर्शन मेरे लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं, ठीक वैसे ही, जैसे शूद्रकुलके बालकके लिये वेदोंका कीर्तन ॥ ४ ॥ परन्तु नहीं, मुझ अधमको भी भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होंगे ही । क्योंकि जैसे नदीमें बहते हुए तिनके कभी-कभी इस पारसे उस पार लग जाते हैं, वैसे ही समयके प्रवाहसे भी कहीं कोई इस संसारसागरको पार कर सकता है ॥ ५ ॥ अवश्य ही आज मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये । आज मेरा जन्म सफल हो गया । क्योंकि आज मैं भगवान्के उन चरणकमलोंमें साक्षात् नमस्कार करूँगा, जो बड़े-बड़े योगी-यतियोंके भी केवल ध्यानके ही विषय हैं ॥ ६ ॥ अहो ! कंसने तो आज मेरे ऊपर बड़ी ही कृपा की है । उसी कंसके भेजनेसे मैं इस भूतलपर अवतीर्ण स्वयं भगवान्के चरणकमलोंके दर्शन पाऊँगा । जिनके नखमण्डलकी

१. कंचिद्व्योमवधः सम०।

कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः
पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डलत्विषा ॥ ७ ॥
यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः
श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः ।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने
यद् गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् ॥ ८ ॥
द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं
स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् ।
मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं
प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः ॥ ९ ॥
अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो
भारावताराय भुवो निजेच्छया ।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं
मह्यं न न स्यात् फलमञ्जसा दृशः ॥१०॥
य ईक्षिताहंरहितोऽप्यसत्सतोः
स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः ।
स्वमाययाऽऽत्मन् रचितैस्तदीक्षया
प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते[1] ॥११॥

कान्तिका ध्यान करके पहले युगोंके ऋषि-महर्षि इस अज्ञानरूप अपार अन्धकारराशिको पार कर चुके हैं, स्वयं वही भगवान् तो अवतार ग्रहण करके प्रकट हुए हैं ॥ ७ ॥ ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता जिन चरणकमलोंकी उपासना करते रहते हैं, स्वयं भगवती लक्ष्मी एक क्षणके लिये भी जिनकी सेवा नहीं छोड़तीं, प्रेमी भक्तोंके साथ बड़े-बड़े ज्ञानी भी जिनकी आराधनामें संलग्न रहते हैं—भगवान्के वे ही चरण-कमल गौओंको चरानेके लिये ग्वालबालोंके साथ वन-वनमें विचरते हैं। वे ही सुर-मुनि-वन्दित श्रीचरण गोपियोंके वक्षःस्थलपर लगी हुई केसरसे रँग जाते हैं, चिह्नित हो जाते हैं, ॥ ८ ॥ मैं अवश्य-अवश्य उनका दर्शन करूँगा। मरकतमणिके समान सुस्निग्ध कान्तिमान् उनके कोमल कपोल हैं, तोतेकी ठोरके समान नुकीली नासिका है, होठोंपर मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, कमल-से कोमल रतनारे लोचन और कपोलोंपर घुँघराली अलकें लटक रही हैं। मैं प्रेम और मुक्तिके परम दानी श्रीमुकुन्दके उस मुखकमलका आज अवश्य दर्शन करूँगा। क्योंकि हरिन मेरी दायीं ओरसे निकल रहे हैं ॥ ९ ॥ भगवान् विष्णु पृथ्वीका भार उतारनेके लिये स्वेच्छासे मनुष्यकी-सी लीला कर रहे हैं। वे सम्पूर्ण लावण्यके धाम हैं। सौन्दर्यकी मूर्तिमान् निधि हैं। आज मुझे उन्हींका दर्शन होगा! अवश्य होगा! आज मुझे सहजमें ही आँखोंका फल मिल जायगा ॥ १० ॥ भगवान् इस कार्य-कारणरूप जगत्के द्रष्टामात्र हैं, और ऐसा होनेपर भी द्रष्टापनका अहङ्कार उन्हें छूतक नहीं गया है। उनकी चिन्मयी शक्तिसे अज्ञानके कारण होनेवाला भेदभ्रम अज्ञानसहित दूरसे ही निरस्त रहता है। वे अपनी योगमायासे ही अपने-आपमें भ्रूविलासमात्रसे प्राण, इन्द्रिय और बुद्धि आदिके सहित अपने स्वरूपभूत जीवोंकी रचना कर लेते हैं और उनके साथ वृन्दावनकी कुञ्जोंमें तथा गोपियोंके घरोंमें तरह-तरहकी लीलाएँ करते हुए प्रतीत होते हैं ॥ ११ ॥

[1] प्रा० ।

यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलै-
र्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः ।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगद्
यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥१२॥

जब समस्त पापोंके नाशक उनके परम मङ्गलमय गुण, कर्म और जन्मकी लीलाओंसे युक्त होकर वाणी उनका गान करती है, तब उस गानसे संसारमें जीवनकी स्फूर्ति होने लगती है, शोभाका सञ्चार हो जाता है, सारी अपवित्रताएँ धुलकर पवित्रताका साम्राज्य छा जाता है; परन्तु जिस वाणीसे उनके गुण, लीला और जन्मकी कथाएँ नहीं गायी जातीं, वह तो मुर्देको ही शोभित करनेवाली है, होनेपर भी नहींके समान—व्यर्थ है ॥ १२ ॥

स चावतीर्णः किल सात्वतान्वये
स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् ।
यशो वितन्वन् व्रज आस्त ईश्वरो
गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम् ॥१३॥

जिनके गुणगानका ही ऐसा माहात्म्य है, वे ही भगवान् स्वयं यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हैं। किसलिये? अपनी ही बनायी मर्यादाका पालन करनेवाले श्रेष्ठ देवताओंका कल्याण करनेके लिये। वे ही परम ऐश्वर्यशाली भगवान् आज व्रजमें निवास कर रहे हैं और वहींसे अपने यशका विस्तार कर रहे हैं। उनका यश कितना पवित्र है! अहो, देवतालोग भी उस सम्पूर्ण मङ्गलमय यशका गान करते रहते हैं॥ १३ ॥

तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं
त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम् ।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं
द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ॥१४॥

इसमें सन्देह नहीं कि आज मैं अवश्य ही उन्हें देखूँगा। वे बड़े-बड़े संतों और लोकपालोंके भी एकमात्र आश्रय हैं। सबके परम गुरु हैं। और उनका रूप-सौन्दर्य तीनों लोकोंके मनको मोह लेनेवाला है। जो नेत्रवाले हैं, उनके लिये वह आनन्द और रसकी चरम सीमा है। इसीसे स्वयं लक्ष्मीजी भी, जो सौन्दर्यकी अधीश्वरी हैं, उन्हें पानेके लिये ललकती रहती हैं। हाँ, तो मैं उन्हें अवश्य देखूँगा। क्योंकि आज मेरा मङ्गल-प्रभात है, आज मुझे प्रातःकालसे ही अच्छे-अच्छे शकुन दीख रहे हैं॥ १४ ॥

अथावरूढः सपदीशयो रथात्
प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये ।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं
नमस्य आभ्यां च सखीन् वनौकसः॥१५॥

जब मैं उन्हें देखूँगा तब सर्वश्रेष्ठ पुरुष बलराम तथा श्रीकृष्णके चरणोंमें नमस्कार करनेके लिये तुरंत रथसे कूद पड़ूँगा। उनके चरण पकड़ लूँगा। ओह! उनके चरण कितने दुर्लभ हैं! बड़े-बड़े योगी-यति आत्म-साक्षात्कारके लिये मन-ही-मन अपने हृदयमें उनके चरणोंकी धारणा करते हैं और मैं, मैं तो उन्हें प्रत्यक्ष पा जाऊँगा और लोट जाऊँगा उनपर। उन दोनोंके साथ ही उनके वनवासी सखा एक-एक ग्वालबालके चरणोंकी भी वन्दना करूँगा ॥ १५ ॥

अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः
शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम् ।

मेरे अहोभाग्य! जब मैं उनके चरणकमलोंमें गिर जाऊँगा, तब क्या वे अपना करकमल

दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा
प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम् ॥१६॥
समर्हणं यत्र निधाय कौशिक-
स्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम् ।
यद् वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं
स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् ॥१७॥
न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः
कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक् ।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं
क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥१८॥
अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं
मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा ।
सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो
वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् ॥१९॥
सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं
दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम् ।
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे
बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः ॥२०॥
लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिं
मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः ।
तदा वयं जन्मभृतो महीयसा
नैवादृतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥२१॥

मेरे सिरपर रख देंगे । उनके वे करकमल उन लोगोंको सदाके लिये अभयदान दे चुके हैं, जो कालरूपी साँपके भयसे अत्यन्त घबड़ाकर उनकी शरण चाहते और शरणमें आ जाते हैं ॥ १६ ॥ इन्द्र तथा दैत्यराज बलिने भगवान्‌के उन्हीं करकमलोंमें पूजाकी भेंट समर्पित करके तीनों लोकोंका प्रभुत्व—इन्द्रपद प्राप्त कर लिया । भगवान्‌के उन्हीं करकमलोंने, जिनमेंसे दिव्य कमलकी-सी सुगन्ध आया करती है, अपने स्पर्शसे रासलीलाके समय व्रज-युवतियोंकी सारी थकान मिटा दी थी ॥ १७ ॥ मैं कंसका दूत हूँ । उसीके भेजनेसे उनके पास जा रहा हूँ । कहीं वे मुझे अपना शत्रु तो न समझ बैठेंगे ? राम राम ! वे ऐसा कदापि नहीं समझ सकते । क्योंकि वे निर्विकार हैं, सम हैं, अच्युत हैं, सारे विश्वके साक्षी हैं, सर्वज्ञ हैं, वे चित्तके बाहर भी हैं और भीतर भी । वे क्षेत्रज्ञरूपसे स्थित होकर अन्तःकरणकी एक-एक चेष्टा-को अपनी निर्मल ज्ञानदृष्टिके द्वारा देखते रहते हैं ॥१८॥ तब मेरी शङ्का व्यर्थ है । अवश्य ही मैं उनके चरणोंमें हाथ जोड़कर विनीतभावसे खड़ा हो जाऊँगा । वे मुसकराते हुए दयाभरी स्निग्ध दृष्टिसे मेरी ओर देखेंगे । उस समय मेरे जन्म-जन्मके समस्त अशुभ संस्कार उसी क्षण नष्ट हो जायँगे और मैं निःशङ्क होकर सदाके लिये परमानन्दमें मग्न हो जाऊँगा ॥ १९ ॥ मैं उनके कुटुम्बका हूँ । और उनका अत्यन्त हित चाहता हूँ । उनके सिवा और कोई मेरा आराध्यदेव भी नहीं है । ऐसी स्थितिमें वे अपनी लंबी-लंबी बाँहोंसे पकड़कर मुझे अवश्य अपने हृदयसे लगा लेंगे । अहा ! उस समय मेरी तो देह पवित्र होगी ही, वह दूसरोंको पवित्र करनेवाली भी बन जायगी और उसी समय—उनका आलिङ्गन प्राप्त होते ही—मेरे कर्ममय बन्धन, जिनके कारण मैं अनादिकालसे भटक रहा हूँ, टूट जायँगे ॥ २० ॥ जब वे मेरा आलिङ्गन कर चुकेंगे और मैं हाथ जोड़ सिर झुकाकर उनके सामने खड़ा हो जाऊँगा तब वे मुझे 'चाचा अक्रूर !' इस प्रकार कहकर सम्बोधन करेंगे ! क्यों न हो, इसी पवित्र और मधुर यशका विस्तार करनेके लिये ही तो वे लीला कर रहे हैं । तब मेरा जीवन सफल हो जायगा । भगवान् श्रीकृष्णने जिसको अपनाया नहीं, जिसे आदर नहीं दिया—उसके उस जन्मको, जीवनको धिक्कार है ॥२१॥

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥२२॥

किम्वाग्रजो मावनतं यदूत्तमः
स्मयन् परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ ।
गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसत्कृतं
संप्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥२३॥

श्रीशुक उवाच

इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि ।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप ॥२४॥

पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः[1] ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥२५॥

तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः
प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत
प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥२६॥

देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम् ।
संदेशाद् यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः ॥२७॥[2]

ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।

न तो उन्हें कोई प्रिय है और न तो अप्रिय । न तो उनका कोई आत्मीय सुहृद् है और न तो शत्रु । उनकी उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है । फिर भी जैसे कल्पवृक्ष अपने निकट आकर याचना करनेवालोंको उनकी मुँह-माँगी वस्तु देता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी, जो उन्हें जिस प्रकार भजता है, उसे उसी रूपमें भजते हैं—वे अपने प्रेमी भक्तोंसे ही पूर्ण प्रेम करते हैं ॥२२॥ मैं उनके सामने विनीत भावसे सिर झुकाकर खड़ा हो जाऊँगा और बलरामजी मुसकराते हुए मुझे अपने हृदयसे लगा लेंगे और फिर मेरे दोनों हाथ पकड़कर मुझे घरके भीतर ले जायँगे । वहाँ सब प्रकारसे मेरा सत्कार करेंगे । इसके बाद मुझसे पूछेंगे कि 'कंस हमारे घरवालोंके साथ कैसा व्यवहार करता है ?' ॥ २३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! श्वफल्कनन्दन अक्रूर मार्गमें इसी चिन्तनमें डूबे-डूबे रथसे नन्दगाँव पहुँच गये और सूर्य अस्ताचलपर चले गये ॥ २४ ॥ जिनके चरणकमलकी रजको सभी लोकपाल अपने किरीटोंके द्वारा सेवन करते हैं, अक्रूरजीने गोष्ठमें उनके चरणचिह्नोंके दर्शन किये । कमल, यव, अङ्कुश आदि असाधारण चिह्नोंके द्वारा उनकी पहचान हो रही थी और उनसे पृथ्वीकी शोभा बढ़ रही थी ॥ २५ ॥ उन चरणचिह्नोंके दर्शन करते ही अक्रूरजीके हृदयमें इतना आह्लाद हुआ कि वे अपनेको सँभाल न सके, विह्वल हो गये । प्रेमके आवेगसे उनका रोम रोम खिल उठा, नेत्रोंमें आँसू भर आये और टपटप टपकने लगे । वे रथसे कूदकर उस धूलिमें लोटने लगे और कहने लगे—'अहो ! यह हमारे प्रभुके चरणोंकी रज है' ॥ २६ ॥ परीक्षित् ! कंसके सन्देशसे लेकर यहाँतक अक्रूरजीके चित्तकी जैसी अवस्था रही है, यही जीवोंके देह धारण करनेका परम लाभ है । इसलिये जीवमात्रका यही परम कर्तव्य है कि दम्भ, भय और शोक त्याग कर भगवान्की मूर्ति (प्रतिमा, भक्त आदि) चिह्न, लीला, स्थान तथा गुणोंके दर्शन-श्रवण आदिके द्वारा ऐसा ही भाव सम्पादन करें ॥ २७ ॥

व्रजमें पहुँचकर अक्रूरजीने श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाइयोंको गाय दुहनेके स्थानमें विराजमान देखा । श्याम-

---

१. संघट्टितपाद० । २. प्राचीन प्रतिमें 'देहंभृता ···· श्रवणादिभिः ॥' यह श्लोक मूलमें नहीं है ।

पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥२८॥
किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ ।
सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ ॥२९॥
ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम् ।
शोभयन्तौ महात्मानावनुक्रोशस्मितेक्षणौ ॥३०॥
उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ ।
पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ ॥३१॥
प्रधानपुरुषावाद्यौ[1] जगद्धेतू जगत्पती ।
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥३२॥
दिशो वितिमिरा राजन् कुर्वाणौ प्रभया स्वया ।
यथा मारकतः शैलो रौप्यश्च कनकाचितौ ॥३३॥
रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः ।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः ॥३४॥
भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
पुलकाचिताङ्ग औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन् नृप ३५
भगवांस्तमभिप्रेत्य रथाङ्गाङ्कितपाणिना ।
परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ॥३६॥
संकर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः ।
गृहीत्वा पाणिना पाणी अनयत् सानुजो गृहम् ॥३७॥

सुन्दर श्रीकृष्ण पीताम्बर धारण किये हुए थे और गौर-सुन्दर बलराम नीलाम्बर। उनके नेत्र शरत्कालीन कमलके समान खिले हुए थे ॥ २८ ॥ उन्होंने अभी किशोर-अवस्थामें प्रवेश ही किया था। वे दोनों गौर-श्याम निखिल सौन्दर्यकी खान थे। घुटनोंका स्पर्श करनेवाली लंबी लंबी भुजाएँ, सुन्दर वदन, परम मनोहर और गजशावकके समान ललित चाल थी ॥ २९ ॥ उनके चरणोंमें ध्वजा, वज्र, अङ्कुश और कमलके चिह्न थे। जब वे चलते थे, उनसे चिह्नित होकर पृथ्वी शोभायमान हो जाती थी। उनकी मन्द-मन्द मुसकान और चितवन ऐसी थी, मानो दया बरस रही हो। वे उदारताकी तो मानो मूर्ति ही थे ॥ ३० ॥ उनकी एक-एक लीला उदारता और सुन्दर कलासे भरी थी। गलेमें वनमाला और मणियोंके हार जगमगा रहे थे। उन्होंने अभी-अभी स्नान करके निर्मल वस्त्र पहने थे और शरीरमें पवित्र अङ्गराग तथा चन्दनका लेप किया था ॥ ३१ ॥ परीक्षित्! अक्रूरने देखा कि जगत्के आदिकारण, जगत्के परमपति, पुरुषोत्तम ही संसारकी रक्षाके लिये अपने सम्पूर्ण अंशोंसे बलरामजी और श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर अपनी अङ्गकान्तिसे दिशाओंका अन्धकार दूर कर रहे हैं। वे ऐसे भले मालूम होते थे, जैसे सोनेसे मढ़े हुए मरकतमणि और चाँदीके पर्वत जगमगा रहे हों ॥ ३२-३३ ॥ उन्हें देखते ही अक्रूरजी प्रेमावेगसे अधीर होकर रथसे कूद पड़े और भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामके चरणोंके पास साष्टाङ्ग लोट गये ॥ ३४ ॥ परीक्षित्! भगवान्के दर्शनसे उन्हें इतना आह्लाद हुआ कि उनके नेत्र आँसूसे सर्वथा भर गये। सारे शरीरमें पुलकावली छा गयी। उत्कण्ठा-वश गला भर आनेके कारण वे अपना नाम भी न बतला सके ॥ ३५ ॥ शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण उनके मनका भाव जान गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे चक्राङ्कित हाथोंके द्वारा उन्हें खींचकर उठाया और हृदयसे लगा लिया ॥ ३६ ॥ इसके बाद जब वे परम मनस्वी श्रीबलरामजीके सामने विनीत भावसे खड़े हो गये, तब उन्होंने उनको गले लगा लिया और उनका एक हाथ श्रीकृष्णने पकड़ा तथा दूसरा बलरामजीने। दोनों भाई उन्हें घर ले गये ॥ ३७ ॥

१. घन्याद्यौ ।

पृष्ट्वाथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम् ।
प्रक्षाल्य विधिवत् पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत्[1] ॥३८॥

घर ले जाकर भगवान्‌ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। कुशल-मङ्गल पूछकर श्रेष्ठ आसनपर बैठाया और विधिपूर्वक उनके पाँव पखारकर मधुपर्क (शहद मिला हुआ दही) आदि पूजाकी सामग्री भेंट की ॥ ३८ ॥

निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः ।
अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद् विभुः ॥३९॥

इसके बाद भगवान्‌ने अतिथि अक्रूरजीको एक गाय दी और पैर दबाकर उनकी थकावट दूर की तथा बड़े आदर एवं श्रद्धासे उन्हें पवित्र और अनेक गुणोंसे युक्त अन्नका भोजन कराया ॥ ३९ ॥

तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित् ।
मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात् पुनः ॥४०॥

जब वे भोजन कर चुके, तब धर्मके परम मर्मज्ञ भगवान् बलरामजीने बड़े प्रेमसे मुखवास (पान-इलायची आदि) और सुगन्धित माला आदि देकर उन्हें अत्यन्त आनन्दित किया ॥ ४० ॥

पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे ।
कंसे जीवति दाशार्ह सौनपाला इवावयः ॥४१॥

इस प्रकार सत्कार हो चुकनेपर नन्दरायजीने उनके पास आकर पूछा—'अक्रूरजी! आपलोग निर्दयी कंसके जीते-जी किस प्रकार अपने दिन काटते हैं? अरे! उसके रहते आप लोगोंकी वही दशा है, जो कसाईद्वारा पाली हुई भेड़ोंकी होती है ॥ ४१ ॥

योऽवधीत् स्वस्वसुस्तोकान् क्रोशन्त्या असुतृप् खलः ।
किं नु स्वित्तत्प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे ॥४२॥

जिस इन्द्रियाराम पापीने अपनी बिलखती हुई बहनके नन्हे-नन्हे बच्चोंको मार डाला। आपलोग उसकी प्रजा हैं। फिर आप सुखी हैं, यह अनुमान तो हम कर ही कैसे सकते हैं!' ॥ ४२ ॥

इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः ।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥४३॥

अक्रूरजीने नन्दबाबासे पहले ही कुशल-मङ्गल पूछ लिया था। जब इस प्रकार नन्दबाबाने मधुर वाणीसे अक्रूरजीसे कुशल-मङ्गल पूछा और उनका सम्मान किया तब अक्रूरजीके शरीरमें रास्ता चलनेकी जो कुछ थकावट थी, वह सब दूर हो गयी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[2]ऽक्रूरागमनं नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-बलरामका मथुरागमन

श्रीशुक उवाच

सुखोपविष्टः पर्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः ।
लेभे मनोरथान् सर्वान् पथि यान् स चकार ह ॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने अक्रूरजीका भलीभाँति सम्मान किया। वे आराम-से पलँगपर बैठ गये। उन्होंने मार्गमें जो-जो अभिलाषाएँ की थीं वे सब पूरी हो गयीं ॥ १ ॥

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने ।

परीक्षित्! लक्ष्मीके आश्रयस्थान भगवान् श्रीकृष्णके प्रसन्न होनेपर ऐसी

१. पर्वमुपाहरत् । २. प्राचीन प्रतिमें 'पूर्वार्धे' यह पाठ नहीं है ।

तथापि तत्परा राजन्न हि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥२॥

सायंतनाशनं कृत्वा भगवान् देवकीसुतः।

सुहृत्सु वृत्तं कंसस्य पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच

तात सौम्यागतः कच्चित् स्वागतं भद्रमस्तु वः।

अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीवमनामयम् ॥ ४ ॥

किं नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये।

कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च॥ ५ ॥

अहो अस्मदभूद् भूरि पित्रोर्वृजिनमार्ययोः।

यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बन्धनं तयोः ॥ ६ ॥

दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य काङ्क्षितम्

संजातं वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम् ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः।

वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥ ८ ॥

यत्संदेशो यदर्थं वा दूतः संप्रेषितः स्वयम्।

यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकदुन्दुभेः ॥ ९ ॥

कौन-सी वस्तु है, जो प्राप्त नहीं हो सकती ? फिर भी भगवान्‌के परम प्रेमी भक्तजन किसी भी वस्तुकी कामना नहीं करते ॥ २ ॥ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने सायङ्कालका भोजन करनेके बाद अक्रूरजीके पास जाकर अपने स्वजन-सम्बन्धियोंके साथ कंसके व्यवहार और उसके अगले कार्यक्रमके सम्बन्धमें पूछा ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—चाचाजी ! आपका हृदय बड़ा शुद्ध है। आपको यात्रामें कोई कष्ट तो नहीं हुआ ? स्वागत है। मैं आपकी मङ्गलकामना करता हूँ। मथुराके हमारे आत्मीय सुहृद्, कुटुम्बी तथा अन्य सम्बन्धी सब सकुशल और स्वस्थ हैं न ? ॥४॥ हमारा नाममात्रका मामा कंस तो हमारे कुलके लिये एक भयङ्कर व्याधि है। जबतक इसकी बढ़ती हो रही है, तबतक हम अपने वंशवालों और उनके बाल-बच्चोंका कुशल-मङ्गल क्या पूछें ॥ ५ ॥ चाचाजी ! हमारे लिये यह बड़े खेदकी बात है कि मेरे ही कारण मेरे निरपराध और सदाचारी माता-पिताको अनेकों प्रकारकी यातनाएँ झेलनी पड़ीं, तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़े। और तो क्या कहूँ, मेरे ही कारण उन्हें हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर जेलमें डाल दिया गया तथा मेरे ही कारण उनके बच्चे भी मार डाले गये ॥ ६ ॥ मैं बहुत दिनोंसे चाहता था कि आपलोगोंमेंसे किसी-न-किसीका दर्शन हो। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मेरी वह अभिलाषा पूरी हो गयी। सौम्य स्वभाव चाचाजी ! अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि आपका शुभागमन किस निमित्तसे हुआ ? ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब भगवान् श्रीकृष्णने अक्रूरजीसे इस प्रकार प्रश्न किया, तब उन्होंने बतलाया कि 'कंसने तो सभी यदुवंशियोंसे घोर वैर ठान रक्खा है। वह वसुदेवजीको मार डालनेका भी उद्यम कर चुका है' ॥ ८ ॥ अक्रूरजीने कंसका सन्देश और जिस उद्देश्यसे उसने स्वयं अक्रूरजीको दूत बनाकर भेजा था और नारदजीने जिस प्रकार वसुदेवके घर श्रीकृष्ण-के जन्म लेनेका वृत्तान्त उसको बता दिया था, सो सब कह

१. वै। २. सम्प्रतं।

श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा ।
प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञाऽऽदिष्टं विजज्ञतुः ॥१०॥
गोपान् समादिशत् सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः ।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च ॥११॥
यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसान्
द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्व यान्ति जानपदाः किल ।
एवमाघोषयत् क्षत्त्रा नन्दगोपः स्वगोकुले ॥१२॥
गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम् ।
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥१३॥
काश्चित्तत्कृतहृत्तापश्वासम्लानमुखश्रियः ।
स्रंसद्दुकूलवलयकेशग्रन्थ्यश्च काश्चन ॥१४॥
अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः ।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥१५॥
स्मरन्त्यश्चापराः शौरेरनुरागस्मितेरिताः ।
हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरः संमुमुहुः स्त्रियः ॥१६॥
गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम् ।
शोकापहानि नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च ॥१७॥
चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः ।

सुनाया ॥ ९ ॥ अक्रूरजीकी यह बात सुनकर विपक्षी शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम-जी हँसने लगे और इसके बाद उन्होंने अपने पिता नन्दजीको कंसकी आज्ञा सुना दी ॥ १० ॥ तब नन्द-बाबाने सब गोपोंको आज्ञा दी कि 'सारा गोरस एकत्र करो । भेंटकी सामग्री ले लो और छकड़े जोड़ो ॥ ११ ॥ कल प्रातःकाल ही हम सब मथुराकी यात्रा करेंगे और वहाँ चलकर राजा कंसको गोरस देंगे । वहाँ एक बहुत बड़ा उत्सव हो रहा है । उसे देखनेके लिये देशकी सारी प्रजा इकट्ठी हो रही है । हमलोग भी उसे देखेंगे ।' नन्दबाबाने गाँवके कोतवालके द्वारा यह घोषणा सारे व्रजमें करवा दी ॥ १२ ॥

परीक्षित् ! जब गोपियोंने सुना कि हमारे मनमोहन श्यामसुन्दर और गौरसुन्दर बलरामजीको मथुरा ले जानेके लिये अक्रूरजी व्रजमें आये हैं, तब उनके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई । वे व्याकुल हो गयीं ॥ १३ ॥ भगवान् श्री-कृष्णके मथुरा जानेकी बात सुनते ही बहुतोंके हृदयमें ऐसी जलन हुई कि गरम साँस चलने लगी, मुखकमल कुम्हला गया । और बहुतोंकी ऐसी दशा हुई—वे इस प्रकार अचेत हो गयीं कि उन्हें खिसकी हुई ओढ़नी, गिरते हुए कंगन और ढीले हुए जूड़ोंतकका पता न रहा ॥ १४ ॥ भगवान्के स्वरूपका ध्यान आते ही बहुत-सी गोपियोंकी चित्तवृत्तियाँ सर्वथा निवृत्त हो गयीं, मानो वे समाधिस्थ—आत्मामें स्थित हो गयी हों, और उन्हें अपने शरीर और संसारका कुछ ध्यान ही न रहा ॥ १५ ॥ बहुत-सी गोपियोंके सामने भगवान् श्रीकृष्णका प्रेम, उनकी मन्द-मन्द मुसकान और हृदयको स्पर्श करने-वाली विचित्र पदोंसे युक्त मधुर वाणी नाचने लगी । वे उसमें तल्लीन हो गयीं । मोहित हो गयीं ॥ १६ ॥ गोपियाँ मन-ही-मन भगवान्की लटकीली चाल, भाव-भङ्गी, प्रेमभरी मुसकान, चितवन, सारे शोकोंको मिटा देनेवाली ठिठोलियाँ तथा उदारताभरी लीलाओंका चिन्तन करने लगीं और उनके विरहके भयसे कातर हो गयीं । उनका हृदय, उनका जीवन—सब कुछ भगवान्के प्रति समर्पित

१. गृह्यन्तां सर्वगोरसाः । २. संतापाः श्वास० । ३. बन्धाश्च । ४. तेक्षणाः ।

समेताः सङ्घशः प्रोचुरश्रुमुख्योऽच्युताशयाः ॥१८॥

गोप्य ऊचुः

अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं
विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥१९॥

यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतं
मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम् ।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं
करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम् ॥२०॥

क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म न-
श्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत् ।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं
त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः ॥२१॥

न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः
समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत ।
विहाय गेहान् स्वजनान् सुतान् पतीं-
स्तद्दास्यमद्धोपगता नवप्रियः ॥२२॥

था। उनकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। वे झुंड-की-झुंड इकट्ठी होकर इस प्रकार कहने लगीं ॥ १७-१८ ॥

गोपियोंने कहा—धन्य हो विधाता! तुम सब कुछ विधान तो करते हो, परन्तु तुम्हारे हृदयमें दयाका लेश भी नहीं है। पहले तो तुम सौहार्द और प्रेमसे जगत्के प्राणियोंको एक-दूसरेके साथ जोड़ देते हो, उन्हें आपसमें एक कर देते हो, मिला देते हो; परन्तु अभी उनकी आशा-अभिलाषाएँ पूरी भी नहीं हो पातीं, वे तृप्त भी नहीं हो पाते कि तुम उन्हें व्यर्थ ही अलग-अलग कर देते हो! सच है, तुम्हारा यह खिलवाड़ बच्चोंके खेलकी तरह व्यर्थ ही है ॥ १९ ॥ यह कितने दुःखकी बात है! विधाता! तुमने पहले हमें प्रेमका वितरण करनेवाले श्यामसुन्दरका मुखकमल दिखलाया। कितना सुन्दर है वह! काले-काले घुँघराले बाल कपोलोंपर झलक रहे हैं। मरकतमणि-से चिकने सुस्निग्ध कपोल और तोतेकी चोंच-सी सुन्दर नासिका तथा अधरोंपर मन्द-मन्द मुसकानकी सुन्दर रेखा, जो सारे शोकोंको तत्क्षण भगा देती है। विधना! तुमने एक बार तो हमें वह परम सुन्दर मुखकमल दिखाया और अब उसे ही हमारी आँखोंसे ओझल कर रहे हो! सचमुच तुम्हारी यह करतूत बहुत ही अनुचित है ॥ २० ॥ हम जानती हैं, इसमें अक्रूरका दोष नहीं है; यह तो साफ तुम्हारी क्रूरता है। वास्तवमें तुम्हीं अक्रूरके नामसे यहाँ आये हो और अपनी ही दी हुई आँखें तुम हमसे मूर्खकी भाँति छीन रहे हो। इनके द्वारा हम श्यामसुन्दरके एक-एक अङ्गमें तुम्हारी सृष्टिका सम्पूर्ण सौन्दर्य निहारती रहती थीं। विधाता! तुम्हें ऐसा नहीं चाहिये ॥ २१ ॥

अहो! नन्दनन्दन श्यामसुन्दरको भी नये-नये लोगोंसे नेह लगानेकी चाट पड़ गयी है। देखो तो सही—इनका सौहार्द, इनका प्रेम एक क्षणमें ही कहाँ चला गया? हम तो अपने घर-द्वार, स्वजन-सम्बन्धी, पति-पुत्र आदिको छोड़कर इनकी दासी बनीं और इन्हींके लिये आज हमारा हृदय शोकातुर हो रहा है, परन्तु ये ऐसे हैं कि हमारी ओर देखतेतक नहीं ॥ २२ ॥

१. ताश्रयाः। २. विचेष्टितं। ३. र्थवत्।

सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः
सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम्।
याः सम्प्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः
पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम् ॥२३॥

तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितै-
र्गृहीतचित्तः परवान् मनस्व्यपि।
कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला
ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन् ॥२४॥

अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते
दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वताम्।
महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं
द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम् ॥२५॥

मैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भू-
दक्रूर इत्येतदतीव दारुणः।
योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं
प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥२६॥

अनार्द्रधीरेष[1] समास्थितो रथं
तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं
दैवं च नोऽद्य प्रतिकूलमीहते ॥२७॥

आजकी रातका प्रातःकाल मथुराकी स्त्रियोंके लिये निश्चय ही बड़ा मङ्गलमय होगा। आज उनकी बहुत दिनोंकी अभिलाषाएँ अवश्य ही पूरी हो जायँगी। जब हमारे व्रजराज श्यामसुन्दर अपनी तिरछी चितवन और मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त मुखारविन्दका मादक मधु वितरण करते हुए मथुरापुरीमें प्रवेश करेंगे, तब वे उसका पान करके धन्य-धन्य हो जायँगी ॥ २३ ॥ यद्यपि हमारे श्यामसुन्दर धैर्यवान् होनेके साथ ही नन्दबाबा आदि गुरुजनोंकी आज्ञामें रहते हैं, तथापि मथुराकी युवतियाँ अपने मधुके समान मधुर वचनोंसे इनका चित्त बरबस अपनी ओर खींच लेंगी और ये उनकी सलज्ज मुसकान तथा विलासपूर्ण भाव-भंगीसे वहीं रम जायँगे। फिर हम गँवार ग्वालिनोंके पास ये लौटकर क्यों आने लगे ॥ २४ ॥ धन्य है आज हमारे श्यामसुन्दरका दर्शन करके मथुराके दाशार्ह, भोज, अन्धक और वृष्णिवंशी यादवोंके नेत्र अवश्य ही परमानन्दका साक्षात्कार करेंगे। आज उनके यहाँ महान् उत्सव होगा। साथ ही जो लोग यहाँसे मथुरा जाते हुए रमारमण गुणसागर नटनागर देवकीनन्दन श्यामसुन्दरका मार्गमें दर्शन करेंगे, वे भी निहाल हो जायँगे ॥ २५ ॥

देखो सखी! यह अक्रूर कितना निठुर, कितना हृदयहीन है। इधर तो हम गोपियाँ इतनी दुःखित हो रही हैं और यह हमारे परम प्रियतम नन्ददुलारे श्यामसुन्दरको हमारी आँखोंसे ओझल करके बहुत दूर ले जाना चाहता है और दो बात कहकर हमें धीरज भी नहीं बँधाता, आश्वासन भी नहीं देता। सचमुच ऐसे अत्यन्त क्रूर पुरुषका 'अक्रूर' नाम नहीं होना चाहिये था ॥ २६ ॥ सखी! हमारे ये श्यामसुन्दर भी तो कम निठुर नहीं हैं। देखो-देखो, वे भी रथपर बैठ गये। और मतवाले गोपगण छकड़ोंद्वारा उनके साथ जानेके लिये कितनी जल्दी मचा रहे हैं। सचमुच ये मूर्ख हैं। और हमारे बड़े-बूढ़े! उन्होंने तो इन लोगोंकी जल्दबाजी देखकर उपेक्षा कर दी है कि 'जाओ जो मनमें आवे, करो।' अब हम क्या करें? आज विधाता सर्वथा हमारे प्रतिकूल चेष्टा कर रहा है ॥ २७ ॥

---

१. नार्यधी०।

निवारयामः समुपेत्य माधवं
किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः ।
मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजाद्
दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥२८॥

यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र-
लीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम् ॥२९॥

योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो
गोपैर्विशन् खुररजश्छुरितालकस्रक् ।
वेणुं क्वणन् स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन
चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम ॥३०॥

चलो, हम स्वयं ही चलकर अपने प्राणप्यारे श्यामसुन्दरको रोकेंगी; कुलके बड़े-बूढ़े और बन्धुजन हमारा क्या कर लेंगे ? अरी सखी ! हम आधे क्षणके लिये भी प्राणवल्लभ नन्दनन्दनका सङ्ग छोड़नेमें असमर्थ थीं । आज हमारे दुर्भाग्यने हमारे सामने उनका वियोग उपस्थित करके हमारे चित्तको विनष्ट एवं व्याकुल कर दिया है ॥ २८ ॥ सखियो ! जिनकी प्रेमभरी मनोहर मुसकान, रहस्यकी मीठी-मीठी बातें, विलासपूर्ण चितवन और प्रेमालिङ्गनसे हमने रासलीलाकी वे रात्रियाँ—जो बहुत विशाल थीं—एक क्षणके समान बिता दी थीं । अब भला, उनके बिना हम उन्हींकी दी हुई अपार विरहव्यथाका पार कैसे पावेंगी ॥ २९ ॥ एक दिनकी नहीं, प्रतिदिनकी बात है, सायङ्कालमें प्रतिदिन वे ग्वालबालोंसे घिरे हुए बलरामजीके साथ वनसे गौएँ चराकर लौटते हैं । उनकी काली-काली घुँघराली अलकें और गलेके पुष्पहार गौओंके खुरकी रजसे ढके रहते हैं । वे बाँसुरी बजाते हुए अपनी मन्द-मन्द मुसकान और तिरछी चितवनसे देख-देखकर हमारे हृदयको बेध डालते हैं । उनके बिना भला, हम कैसे जी सकेंगी ? ॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः ।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥३१॥

स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ॥३२॥

गोपास्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः ।
आदायोपायनं भूरि कुम्भान् गोरससम्भृतान् ॥३३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! गोपियाँ वाणीसे तो इस प्रकार कह रही थीं; परन्तु उनका एक-एक मनोभाव भगवान् श्रीकृष्णका स्पर्श, उनका आलिङ्गन कर रहा था । वे विरहकी सम्भावनासे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं और लाज छोड़कर 'हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव !'—इस प्रकार ऊँची आवाजसे पुकार-पुकारकर सुललित स्वरसे रोने लगीं ॥ ३१ ॥ गोपियाँ इस प्रकार रो रही थीं ! रोते-रोते सारी रात बीत गयी, सूर्योदय हुआ । अक्रूरजी सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कर्मोंसे निवृत्त होकर रथपर सवार हुए और उसे हाँक ले चले ॥ ३२ ॥ नन्दबाबा आदि गोपोंने भी दूध, दही, मक्खन, घी आदिसे भरे मटके और भेंटकी बहुत-सी सामग्रियाँ ले लीं तथा वे छकड़ोंपर चढ़कर उनके पीछे-पीछे चले ॥ ३३ ॥

१. णोति तमृते ।

गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः ।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे ॥३४॥

इसी समय अनुरागके रंगमें रँगी हुई गोपियाँ अपने प्राणप्यारे श्रीकृष्णके पास गयीं और उनकी चितवन, मुसकान आदि निरखकर कुछ-कुछ सुखी हुईं। अब वे अपने प्रियतम श्यामसुन्दरसे कुछ सन्देश पानेकी आकांक्षासे वहीं खड़ी हो गयीं ॥ ३४ ॥

तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः ।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः ॥३५॥

यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरे मथुरा जानेसे गोपियोंके हृदयमें बड़ी जलन हो रही है, वे सन्तप्त हो रही हैं, तब उन्होंने दूतके द्वारा 'मैं आऊँगा' यह प्रेम-सन्देश भेजकर उन्हें धीरज बँधाया ॥ ३५ ॥

यावदालक्ष्यते केतुर्यावद् रेणू रथस्य च ।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥३६॥

गोपियोंको जबतक रथकी ध्वजा और पहियोंसे उड़ती हुई धूल दीखती रही, तबतक उनके शरीर चित्रलिखित-से वहीं ज्यों-के-त्यों खड़े रहे। परन्तु उन्होंने अपना चित्त तो मनमोहन प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके साथ ही भेज दिया था ॥ ३६ ॥

ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने ।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥३७॥

अभी उनके मनमें आशा थी कि शायद श्रीकृष्ण कुछ दूर जाकर लौट आयें! परन्तु जब नहीं लौटे, तब वे निराश हो गयीं और अपने-अपने घर चली आयीं। परीक्षित्! वे रात-दिन अपने प्यारे श्यामसुन्दरकी लीलाओंका गान करती रहतीं और इस प्रकार अपने शोकसन्तापको हल्का करतीं ॥ ३७ ॥

भगवानपि सम्प्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप ।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम् ॥३८॥

परीक्षित्! इधर भगवान् श्रीकृष्ण भी बलरामजी और अक्रूरजीके साथ वायुके समान वेगवाले रथपर सवार होकर पापनाशिनी यमुनाजीके किनारे जा पहुँचे ॥ ३८ ॥

तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम् ।
वृक्षषण्डमुपव्रज्य सरामो रथमाविशत् ॥३९॥

वहाँ उन लोगोंने हाथ-मुँह धोकर यमुनाजीका मरकतमणिके समान नीला और अमृतके समान मीठा जल पिया। इसके बाद बलरामजीके साथ भगवान् वृक्षोंके झुरमुटमें खड़े रथपर सवार हो गये ॥ ३९ ॥

अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि ।
कालिन्द्या ह्रदमागत्य स्नानं विधिवदाचरत् ॥४०॥

अक्रूरजीने दोनों भाइयोंको रथपर बैठाकर उनसे आज्ञा ली और यमुनाजीके कुण्ड (अनन्त-तीर्थ या ब्रह्मह्रद) पर आकर वे विधिपूर्वक स्नान करने लगे ॥ ४० ॥

निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्म सनातनम् ।
तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥४१॥

उस कुण्डमें स्नान करनेके बाद वे जलमें डुबकी लगाकर गायत्रीका जप करने लगे। उसी समय जलके भीतर अक्रूरजीने देखा कि श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाई एक साथ ही बैठे हुए हैं ॥ ४१ ॥

तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः ।

अब उनके मनमें यह शङ्का हुई कि 'वसुदेवजीके पुत्रोंको तो मैं रथपर बैठा आया हूँ, अब वे यहाँ जलमें कैसे आ गये?

तर्हि स्वित् स्यन्दने न स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः ॥४२॥
तत्रापि च यथा पूर्वमासीनौ पुनरेव सः ।
न्यमज्जद् दर्शनं यन्मे मृषा किं सलिले तयोः ॥४३॥
भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम् ।
सिद्धचारणगन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः ॥४४॥
सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम् ।
नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम् ॥४५॥
तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम् ॥४६॥
चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम् ।
सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम् ॥४७॥
प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम् ।
कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम् ॥४८॥
बृहत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयान्वितम् ।
चारुजानुयुगं चारुजङ्घायुगलसंयुतम् ॥४९॥
तुङ्गगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिर्वृतम् ।
नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलैर्विलसत्पादपङ्कजम् ॥५०॥
सुमहार्हमणिव्रातकिरीटकटकाङ्गदैः ।
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रहारनूपुरकुण्डलैः ॥५१॥

जब यहाँ हैं तो शायद रथपर नहीं होंगे।' ऐसा सोचकर उन्होंने सिर बाहर निकालकर देखा ॥ ४२ ॥ वे उस रथपर भी पूर्ववत् बैठे हुए थे। उन्होंने यह सोचकर कि मैंने उन्हें जो जलमें देखा था, वह भ्रम ही रहा होगा, फिर डुबकी लगायी ॥ ४३ ॥ परन्तु फिर उन्होंने वहाँ भी देखा कि साक्षात् अनन्तदेव श्रीशेषजी विराजमान हैं और सिद्ध, चारण, गन्धर्व एवं असुर अपने-अपने सिर झुकाकर उनकी स्तुति कर रहे हैं ॥ ४४ ॥ शेषजीके हजार सिर हैं और प्रत्येक फणपर मुकुट सुशोभित है। कमलनालके समान उज्ज्वल शरीरपर नीलाम्बर धारण किये हुए हैं और उनकी ऐसी शोभा हो रही है, मानो सहस्र शिखरोंसे युक्त श्वेतगिरि कैलास शोभायमान हो ॥ ४५ ॥ अक्रूरजीने देखा कि शेषजीकी गोदमें श्याम मेघके समान घनश्याम विराजमान हो रहे हैं। वे रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं। बड़ी ही शान्त चतुर्भुज मूर्ति है और कमलके रक्तदलके समान रतनारे नेत्र हैं ॥४६॥ उनका वदन बड़ा ही मनोहर और प्रसन्नताका सदन है। उनका मधुर हास्य और चारु चितवन चित्तको चुराये लेती है। भौंहें सुन्दर और नासिका तनिक ऊँची तथा बड़ी ही सुघड़ है। सुन्दर कान, कपोल और लाल-लाल अधरोंकी छटा निराली ही है ॥ ४७ ॥ बाँहें घुटनोंतक लंबी और हृष्ट-पुष्ट हैं। कंधे ऊँचे और वक्षःस्थल लक्ष्मीजीका आश्रयस्थान है। शङ्खके समान उतार-चढ़ाववाला सुडौल गला, गहरी नाभि और त्रिवलीयुक्त उदर पीपलके पत्तेके समान शोभायमान है ॥ ४८ ॥ स्थूल कटिप्रदेश और नितम्ब, हाथीकी सूँडके समान जाँघें, सुन्दर घुटने एवं पिंडलियाँ हैं। एड़ीके ऊपरकी गाँठें उभरी हुई हैं और लाल-लाल नखोंसे दिव्य ज्योतिर्मय किरणें फैल रही हैं। चरण-कमलकी अंगुलियाँ और अंगूठे नयी और कोमल पँखुड़ियोंके समान सुशोभित हैं ॥ ४९-५० ॥ अत्यन्त बहुमूल्य मणियोंसे जड़ा हुआ मुकुट, कड़े, बाजूबंद, करधनी, हार, नूपुर और कुण्डलोंसे तथा यज्ञोपवीतसे वह दिव्य मूर्ति अलंकृत हो रही है। एक हाथमें पद्म

१. सिद्धैर्भुजङ्गपतिभिरसु०। २. भिर्नृप। ३. महार्हमणिकव्रात०।



सरोवरमें अक्रूरजीको भगवद्दर्शन

भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥५२॥
सुनन्दनन्दप्रमुखैः पार्षदैः सनकादिभिः ।
सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैर्नवभिश्च द्विजोत्तमैः ॥५३॥
प्रह्लादनारदवसुप्रमुखैर्भागवतोत्तमैः ।
स्तूयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलात्मभिः ॥५४॥
श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ।
विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ॥५५॥
विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः ।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ॥५६॥
गिरा गद्गदयास्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः[1] ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः ॥५७॥

शोभा पा रहा है और शेष तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, गलेमें कौस्तुभ-मणि और वनमाला लटक रही हैं ॥ ५१-५२ ॥ नन्द-सुनन्द आदि पार्षद अपने 'स्वामी,' सनकादि परमर्षि 'परब्रह्म', ब्रह्मा, महादेव आदि देवता 'सर्वेश्वर', मरीचि आदि नौ ब्राह्मण 'प्रजापति' और प्रह्लाद-नारद आदि भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त तथा आठों वसु अपने परम प्रियतम 'भगवान्' समझकर भिन्न-भिन्न भावोंके अनुसार निर्दोष वेदवाणीसे भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं ॥ ५३-५४ ॥ साथ ही लक्ष्मी, पुष्टि, सरस्वती, कान्ति, कीर्ति और तुष्टि (अर्थात् ऐश्वर्य, बल, ज्ञान, श्री, यश और वैराग्य—ये षडैश्वर्यरूप शक्तियाँ), इला (सन्धिनीरूप पृथ्वी-शक्ति), ऊर्जा (लीलाशक्ति), विद्या-अविद्या (जीवोंके मोक्ष और बन्धनमें कारणरूपा बहिरङ्ग शक्ति), ह्लादिनी, संवित् (अन्तरङ्गा शक्ति) और माया आदि शक्तियाँ मूर्तिमान् होकर उनकी सेवा कर रही हैं ॥ ५५ ॥

भगवान्‌की यह झाँकी निरखकर अक्रूरजीका हृदय परमानन्दसे लबालब भर गया । उन्हें परम भक्ति प्राप्त हो गयी । सारा शरीर हर्षावेशसे पुलकित हो गया । प्रेमभावका उद्रेक होनेसे उनके नेत्र आँसूसे भर गये ॥ ५६ ॥ अब अक्रूरजीने अपना साहस बटोरकर भगवान्‌के चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और वे उसके बाद हाथ जोड़कर बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे गद्गद स्वरसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽक्रूर-प्रतियाने[2] एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

अक्रूरजीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति

अक्रूर उवाच

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं
नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।

अक्रूरजी बोले—प्रभो ! आप प्रकृति आदि समस्त कारणोंके परम कारण हैं । आप ही अविनाशी पुरुषोत्तम नारायण हैं तथा आपके ही नाभिकमलसे उन ब्रह्माजीका

१. शान्तं । २. न्धेऽक्रूरप्रतियानं नामैकोन० ।

यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद्
ब्रह्माऽऽविरासीद् यत एष लोकः ॥ १ ॥
भूस्तोयमग्निः पवनः खमादि-
र्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे
ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥ २ ॥
नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते
ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीताः ।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया
गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम् ॥ ३ ॥
त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम् ।
साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः॥ ४ ॥
त्रय्या च विद्यया केचित् त्वां वै वैतानिका द्विजाः ।
यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया ॥ ५ ॥
एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः ।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥ ६ ॥
अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥ ७ ॥
त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥ ८ ॥
सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।

आविर्भाव हुआ है, जिन्होंने इस चराचर जगत्की सृष्टि की है । मैं आपके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, मन, इन्द्रिय, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषय और उनके अधिष्ठातृदेवता—यही सब चराचर जगत् तथा उसके व्यवहारके कारण हैं और ये सब-के-सब आपके ही अङ्गस्वरूप हैं ॥ २ ॥ प्रकृति और प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थ 'इदंवृत्ति' के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये ये सब अनात्मा हैं । अनात्मा होनेके कारण जड हैं और इसलिये आपका स्वरूप नहीं जान सकते । क्योंकि आप तो स्वयं आत्मा ही ठहरे । ब्रह्माजी अवश्य ही आपके स्वरूप हैं । परन्तु वे प्रकृतिके गुण रजस्से युक्त हैं, इसलिये वे भी आपकी प्रकृतिका और उसके गुणोंसे परेका स्वरूप नहीं जानते ॥ ३ ॥ साधु योगी स्वयं अपने अन्तःकरणमें स्थित 'अन्तर्यामी' के रूपमें; समस्त भूत-भौतिक पदार्थोंमें व्याप्त 'परमात्माके' रूपमें और सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवमण्डलमें स्थित 'इष्टदेवता'के रूपमें तथा उनके साक्षी महापुरुष एवं नियन्ता ईश्वरके रूपमें साक्षात् आपकी ही उपासना करते हैं ॥ ४ ॥ बहुत-से कर्मकाण्डी ब्राह्मण कर्ममार्गका उपदेश करनेवाली त्रयीविद्याके द्वारा, जो आपके इन्द्र, अग्नि आदि अनेक देववाचक नाम तथा वज्रहस्त, सप्तार्चि आदि अनेक रूप बतलाती है, बड़े-बड़े यज्ञ करते हैं और उनसे आपकी ही उपासना करते हैं ॥ ५ ॥ बहुत-से ज्ञानी अपने समस्त कर्मोंका संन्यास कर देते हैं और शान्तभावमें स्थित हो जाते हैं । वे इस प्रकार ज्ञानयज्ञके द्वारा ज्ञानस्वरूप आपकी ही आराधना करते हैं ॥ ६ ॥ और भी बहुत-से संस्कारसम्पन्न अथवा शुद्धचित्त वैष्णव-जन आपकी बतलायी हुई पाञ्चरात्र आदि विधियोंसे तन्मय होकर आपके चतुर्व्यूह आदि अनेक और नारायणरूप एक स्वरूपकी पूजा करते हैं ॥ ७ ॥ भगवन् ! दूसरे लोग शिवजीके द्वारा बतलाये हुए मार्गसे, जिसके आचार्य-भेदसे अनेक अवान्तर भेद भी हैं, शिवस्वरूप आपकी ही पूजा करते हैं ॥ ८ ॥ स्वामिन् ! जो लोग दूसरे देवताओंकी भक्ति करते हैं और उन्हें आपसे भिन्न समझते हैं, वे सब भी वास्तवमें आपकी ही आराधना

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ ९ ॥

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः॥१०॥

सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ।
तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः ॥११॥

तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये
सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।
गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः
प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥१२॥

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः ।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः
कुक्षिर्मरुत् प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥१३॥

रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा
मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापति-
र्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥

त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता
लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः ।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसो-
ऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥१५॥

यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि ।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१६॥

करते हैं; क्योंकि आप ही समस्त देवताओंके रूपमें हैं और सर्वेश्वर भी हैं ॥ ९ ॥ प्रभो ! जैसे पर्वतोंसे सब ओर बहुत-सी नदियाँ निकलती हैं और वर्षाके जलसे भरकर घूमती-घामती समुद्रमें प्रवेश कर जाती हैं, वैसे ही सभी प्रकारके उपासना-मार्ग घूम-घामकर देर-सबेर आपके ही पास पहुँच जाते हैं ॥ १० ॥

प्रभो ! आपकी प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण चराचर जीव प्राकृत हैं और जैसे वस्त्र सूत्रोंसे ओतप्रोत रहते हैं, वैसे ही ये सब प्रकृतिके उन गुणोंसे ही ओतप्रोत हैं ॥ ११ ॥ परन्तु आप सर्वस्वरूप होनेपर भी उनके साथ लिप्त नहीं हैं । आपकी दृष्टि निर्लिप्त है, क्योंकि आप समस्त वृत्तियोंके साक्षी हैं । यह गुणोंके प्रवाहसे होनेवाली सृष्टि अज्ञानमूलक है और वह देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि समस्त योनियोंमें व्याप्त है; परन्तु आप उससे सर्वथा अलग हैं । इसलिये मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥ अग्नि आपका मुख है । पृथ्वी चरण है । सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं । आकाश नाभि है । दिशाएँ कान हैं । स्वर्ग सिर है । देवेन्द्रगण भुजाएँ हैं । समुद्र कोख है और यह वायु ही आपकी प्राणशक्तिके रूपमें उपासनाके लिये कल्पित हुई है ।१३। वृक्ष और ओषधियाँ रोम हैं । मेघ सिरके केश हैं । पर्वत आपके अस्थिसमूह और नख हैं । दिन और रात पलकोंका खोलना और मीचना है । प्रजापति जननेन्द्रिय हैं और वृष्टि ही आपका वीर्य है ॥ १४ ॥ अविनाशी भगवन् ! जैसे जलमें बहुत-से जलचर जीव और गूलर-के फलोंमें नन्हें-नन्हें कीट रहते हैं, उसी प्रकार उपासनाके लिये स्वीकृत आपके मनोमय पुरुषरूपमें अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए लोक और उनके लोकपाल कल्पित किये गये हैं ॥ १५ ॥ प्रभो ! आप क्रीडा करनेके लिये पृथ्वीपर जो-जो रूप धारण करते हैं, वे सब अवतार लोगोंके शोक-मोहको धो-बहा देते हैं और फिर सब लोग बड़े आनन्दसे आपके निर्मल यशका गान

१. ता विभो ।

नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च ।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥१७॥
अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे ।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः सूकरमूर्तये ॥१८॥
नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥१९॥
नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ।
नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥२०॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥२१॥
नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥२२॥
भगवञ्जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया ।
अहंममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥२३॥
अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु ।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो ॥२४॥

करते हैं ॥ १६ ॥ प्रभो ! आपने वेदों, ऋषियों, ओषधियों और सत्यव्रत आदिकी रक्षा-दीक्षाके लिये मत्स्यरूप धारण किया था और प्रलयके समुद्रमें स्वच्छन्द विहार किया था । आपके मत्स्यरूपको मैं नमस्कार करता हूँ । आपने ही मधु और कैटभ नामके असुरोंका संहार करनेके लिये हयग्रीव अवतार ग्रहण किया था । मैं आपके उस रूपको भी नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥ आपने ही वह विशाल कच्छपरूप ग्रहण करके मन्दराचलको धारण किया था, आपको मैं नमस्कार करता हूँ । आपने ही पृथ्वीके उद्धारकी लीला करनेके लिये वराहरूप स्वीकार किया था, आपको मेरे बार-बार नमस्कार ॥ १८ ॥ प्रह्लाद-जैसे साधुजनोंका भयभय मिटानेवाले प्रभो ! आपके उस अलौकिक नृसिंहरूपको मैं नमस्कार करता हूँ । आपने वामनरूप ग्रहण करके अपने पगोंसे तीनों लोक नाप लिये थे, आपको मैं नमस्कार करता हूँ ।१९। धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले घमंडी क्षत्रियोंके वनका छेदन कर देनेके लिये आपने भृगुपति परशुरामरूप ग्रहण किया था । मैं आपके उस रूपको नमस्कार करता हूँ । रावणका नाश करनेके लिये आपने रघुवंशमें भगवान् रामके रूपसे अवतार ग्रहण किया था । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥२०॥ वैष्णवजनों तथा यदुवंशियोंका पालन-पोषण करनेके लिये आपने ही अपनेको वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूहके रूपमें प्रकट किया है । मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥ दैत्य और दानवोंको मोहित करनेके लिये आप शुद्ध अहिंसामार्गके प्रवर्तक बुद्धका रूप ग्रहण करेंगे । मैं आपको नमस्कार करता हूँ । और पृथ्वीके क्षत्रिय जब म्लेच्छप्राय हो जायँगे, तब उनका नाश करनेके लिये आप ही कल्किके रूपमें अवतीर्ण होंगे । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २२ ॥

भगवन् ! ये सब-के-सब जीव आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं और इस मोहके कारण ही 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' इस झूठे दुराग्रहमें फँसकर कर्मके मार्गोंमें भटक रहे हैं ॥ २३ ॥ मेरे स्वामी ! इसी प्रकार मैं भी स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थोंके समान झूठे देह-गेह, पत्नी-पुत्र और धन-स्वजन आदिको सत्य समझकर उन्हींके मोहमें फँस रहा हूँ और भटक रहा हूँ ॥ २४ ॥

अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम् ।२५।

यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं पराङ्मुखः ॥२६॥

नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥२७॥

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥२८॥

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे ।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥२९॥

नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च ।

मेरी मूर्खता तो देखिये, प्रभो! मैंने अनित्य वस्तुओंको नित्य, अनात्माको आत्मा और दुःखको सुख समझ लिया। भला इस उलटी बुद्धिकी भी कोई सीमा है! इस प्रकार अज्ञानवश सांसारिक सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें ही रम गया और यह बात बिल्कुल भूल गया कि आप ही हमारे सच्चे प्यारे हैं ॥ २५ ॥ जैसे कोई अनजान मनुष्य जलके लिये तालाबपर जाय और उसे उसीसे पैदा हुए सिवार आदि घासोंसे ढका देखकर ऐसा समझ ले कि यहाँ जल नहीं है, तथा सूर्यकी किरणोंमें झूठमूठ प्रतीत होनेवाले जलके लिये मृगतृष्णाकी ओर दौड़ पड़े, वैसे ही मैं अपनी ही मायासे छिपे रहनेके कारण आपको छोड़कर विषयोंमें सुखकी आशासे भटक रहा हूँ ॥२६॥ मैं अविनाशी अक्षर वस्तुके ज्ञानसे रहित हूँ। इसीसे मेरे मनमें अनेक वस्तुओंकी कामना और उनके लिये कर्म करनेके सङ्कल्प उठते ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त ये इन्द्रियाँ भी बड़ी प्रबल एवं दुर्दमनीय हैं, मनको मथ-मथकर बलपूर्वक इधर-उधर घसीट ले जाती हैं। इसीलिये इस मनको मैं रोक नहीं पाता॥ २७ ॥ इस प्रकार भटकता हुआ मैं आपके उन चरणकमलोंकी छत्रछायामें आ पहुँचा हूँ, जो दुष्टोंके लिये दुर्लभ हैं। मेरे स्वामी! इसे भी मैं आपका कृपाप्रसाद ही मानता हूँ। क्योंकि पद्मनाभ! जब जीवके संसारसे मुक्त होने-का समय आता है, तब सत्पुरुषोंकी उपासनासे चित्तवृत्ति आपमें लगती है ॥ २८ ॥ प्रभो! आप केवल विज्ञान-स्वरूप हैं, विज्ञानघन हैं। जितनी भी प्रतीतियाँ होती हैं, जितनी भी वृत्तियाँ हैं, उन सबके आप ही कारण और अधिष्ठान हैं। जीवके रूपमें एवं जीवोंके सुख-दुःख आदिके निमित्त काल, कर्म, स्वभाव तथा प्रकृतिके रूपमें भी आप ही हैं। तथा आप ही उन सबके नियन्ता भी हैं। आपकी शक्तियाँ अनन्त हैं। आप स्वयं ब्रह्म हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ २९ ॥ प्रभो! आप ही वासुदेव, आप ही समस्त जीवोंके आश्रय (सङ्कर्षण) हैं; तथा आप ही बुद्धि और मनके अधिष्ठातृ-

१. हित्वाहं त्वां पदा०।

हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥३०॥

देवता हृषीकेश (प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) हैं मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। प्रभो! आप मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये ॥ ३० ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽक्रूर-स्तुतिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

अथैकचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका मथुराजीमें प्रवेश

श्रीशुक उवाच

स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः ।
भूयः समाहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः ॥ १ ॥
सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्ज्य सत्वरः ।
कृत्वा चावश्यकं सर्वं विस्मितो रथमागमत् ॥ २ ॥
तमपृच्छद्धृषीकेशः किं ते दृष्टमिवाद्भुतम् ।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अक्रूरजी इस प्रकार स्तुति कर रहे थे। उन्हें भगवान् श्रीकृष्णने जलमें अपने दिव्यरूपके दर्शन कराये और फिर उसे छिपा लिया, ठीक वैसे ही, जैसे कोई नट अभिनयमें कोई रूप दिखाकर फिर उसे परदेकी ओटमें छिपा दे ॥ १ ॥ जब अक्रूरजीने देखा कि भगवान्‌का वह दिव्यरूप अन्तर्धान हो गया, तब वे जलसे बाहर निकल आये और फिर जल्दी-जल्दी सारे आवश्यक कर्म समाप्त करके रथपर चले आये। उस समय वे बहुत ही विस्मित हो रहे थे ॥ २ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने उनसे पूछा—'चाचाजी! आपने पृथ्वी, आकाश या जलमें कोई अद्भुत वस्तु देखी है क्या? क्योंकि आपकी आकृति देखनेसे ऐसा ही जान पड़ता है' ॥ ३ ॥

अक्रूर उवाच

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले ।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः ॥ ४ ॥
यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले ।
तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मे दृष्टमिहाद्भुतम् ॥ ५ ॥
इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः ।
मथुरामनयद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये ॥ ६ ॥

अक्रूरजीने कहा—'प्रभो! पृथ्वी, आकाश या जलमें और सारे जगत्‌में जितने भी अद्भुत पदार्थ हैं, वे सब आपमें ही हैं। क्योंकि आप विश्वरूप हैं। जब मैं आपको ही देख रहा हूँ तब ऐसी कौन-सी अद्भुत वस्तु रह जाती है, जो मैंने न देखी हो ॥ ४ ॥ भगवन्! जितनी भी अद्भुत वस्तुएँ हैं, वे पृथ्वीमें हों या जल अथवा आकाशमें—सब-की-सब जिनमें हैं, उन्हीं आपको मैं देख रहा हूँ! फिर भला, मैंने यहाँ अद्भुत वस्तु कौन-सी देखी?' ॥ ५ ॥ गान्दिनीनन्दन अक्रूरजीने यह कहकर रथ हाँक दिया और भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीको लेकर दिन ढलते-ढलते वे मथुरापुरी जा

१. अक्रूरयाने महापुरुषस्तुतिश्रुत्वा० ।

मार्गे ग्रामजना राजंस्तत्र तत्रोपसंगताः ।
वसुदेवसुतौ वी[1]क्ष्य प्रीता दृष्टिं न चाददुः ॥ ७ ॥
तावद् व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोऽग्रतः ।
पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे ॥ ८ ॥
तान् समेत्याह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥ ९ ॥
भवान् प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम् ।
वयं त्विहावमुच्याथ ततो द्रक्ष्यामहे पुरीम् ॥ १० ॥

पहुँचे ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! मार्गमें स्थान-स्थानपर गाँवोंके लोग मिलनेके लिये आते और भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीको देखकर आनन्दमग्न हो जाते । वे एकटक उनकी ओर देखने लगते, अपनी दृष्टि हटा न पाते ॥ ७ ॥ नन्दबाबा आदि व्रजवासी तो पहलेसे ही वहाँ पहुँच गये थे, और मथुरापुरीके बाहरी उपवनमें रुककर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे ॥ ८ ॥ उनके पास पहुँचकर जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णने विनीतभावसे खड़े अक्रूरजीका हाथ अपने हाथमें लेकर मुसकराते हुए कहा—॥ ९ ॥ 'चाचाजी ! आप रथ लेकर पहले मथुरापुरीमें प्रवेश कीजिये और अपने घर जाइये । हमलोग पहले यहाँ उतरकर फिर नगर देखनेके लिये आयेंगे' ॥ १० ॥

अक्रूर उवाच

नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो ।
त्यक्तुं नार्हसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल ॥ ११ ॥
आगच्छ याम गेहान् नः सनाथान् कुर्वधोक्षज ।
सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम ॥ १२ ॥
पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम् ।
यच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः ॥ १३ ॥
अवनिज्याङ्घ्रियुगलमासीच्छ्लोक्यो बलिर्महान् ।
ऐश्वर्यमतुलं लेभे गतिं चैकान्तिनां तु या ॥ १४ ॥
आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यस्त्रीँल्लोकाञ्छुचयोऽपुनन् ।
शिरसाधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः ॥ १५ ॥
देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन ।
यदूत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोऽस्तु ते ॥ १६ ॥

अक्रूरजीने कहा—प्रभो ! आप दोनोंके बिना मैं मथुरामें नहीं जा सकता । स्वामी ! मैं आपका भक्त हूँ । भक्तवत्सल प्रभो ! आप मुझे मत छोड़िये ॥ ११ ॥ भगवन् ! आइये, चलें । मेरे परम हितैषी और सच्चे सुहृद् भगवन् ! आप बलरामजी, ग्वालबालों तथा नन्दरायजी आदि आत्मीयोंके साथ चलकर हमारा घर सनाथ कीजिये ॥ १२ ॥ हम गृहस्थ हैं । आप अपने चरणोंकी धूलिसे हमारा घर पवित्र कीजिये । आपके चरणोंकी धोवन (गङ्गाजल या चरणामृत) से अग्नि, देवता, पितर—सब-के-सब तृप्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥ प्रभो ! आपके युगल चरणोंको पखारकर महात्मा बलिने वह यश प्राप्त किया, जिसका गान संत पुरुष करते हैं । केवल यश ही नहीं—उन्हें अतुलनीय ऐश्वर्य तथा वह गति प्राप्त हुई, जो अनन्य प्रेमी भक्तोंको प्राप्त होती है ॥ १४ ॥ आपके चरणोदक—गङ्गाजीने तीनों लोक पवित्र कर दिये । सचमुच वे मूर्तिमान् पवित्रता हैं । उन्हींके स्पर्शसे सगरके पुत्रोंको सद्गति प्राप्त हुई और उसी जलको स्वयं भगवान् शङ्करने अपने सिरपर धारण किया ॥ १५ ॥ यदुवंशशिरोमणे ! आप देवताओंके भी आराध्यदेव हैं । जगत्के स्वामी हैं । आपके गुण और लीलाओंका श्रवण तथा कीर्तन बड़ा ही मङ्गलकारी है । उत्तम पुरुष आपके गुणोंका कीर्तन करते रहते हैं । नारायण ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥

१. दृष्ट्वा ।

श्रीभगवानुवाच

आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वितः ।
यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव ।
पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्मावेद्य गृहं ययौ ॥१८॥

अथापराह्णे भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः ।
मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः ॥१९॥

ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर-
द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-
मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥२०॥

सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः
श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमै-
र्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥२१॥

जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे-
ष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां
प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥२२॥

आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः
प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुभिः
स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥२३॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—चाचाजी ! मैं दाऊ भैयाके साथ आपके घर आऊँगा और पहले इस यदुवंशियोंके द्रोही कंसको मारकर तब अपने सभी सुहृद्-स्वजनोंका प्रिय करूँगा ॥ १७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर अक्रूरजी कुछ अनमने-से हो गये। उन्होंने पुरीमें प्रवेश करके कंससे श्रीकृष्ण और बलरामके ले आनेका समाचार निवेदन किया और फिर अपने घर गये॥ १८॥ दूसरे दिन तीसरे पहर बलरामजी और ग्वालबालों-के साथ भगवान् श्रीकृष्णने मथुरापुरीको देखनेके लिये नगरमें प्रवेश किया॥ १९ ॥ भगवान्‌ने देखा कि नगरके परकोटेमें स्फटिकमणि (बिल्लौर) के बहुत ऊँचे-ऊँचे गोपुर (प्रधान दरवाजे) तथा घरोंमें भी बड़े-बड़े फाटक बने हुए हैं। उनमें सोनेके बड़े-बड़े किंवाड़ लगे हैं और सोनेके ही तोरण (बाहरी दरवाजे) बने हुए हैं। नगरके चारों ओर ताँबे और पीतलकी चहारदीवारी बनी हुई है। खाईंके कारण और कहींसे उस नगरमें प्रवेश करना बहुत कठिन है। स्थान-स्थानपर सुन्दर-सुन्दर उद्यान और रमणीय उपवन (केवल स्त्रियोंके उपयोगमें आनेवाले बगीचे) शोभायमान हैं ॥ २० ॥ सुवर्णसे सजे हुए चौराहे, धनियोंके महल, उन्हींके साथ बगीचे, कारीगरोंके बैठनेके स्थान या प्रजावर्गके सभा-भवन (टाउनहाल) और साधारण लोगोंके निवासगृह नगरकी शोभा बढ़ा रहे हैं । वैदूर्य, हीरे, स्फटिक (बिल्लौर), नीलम, मूँगे, मोती और पन्ने आदिसे जड़े हुए छज्जे, चबूतरे, झरोखे एवं फर्श आदि जगमगा रहे हैं । उनपर बैठे हुए कबूतर, मोर आदि पक्षी भाँति-भाँतिकी बोली बोल रहे हैं । सड़क, बाजार, गली एवं चौराहोंपर खूब छिड़काव किया गया है । स्थान-स्थानपर फूलोंके गजरे, जवारे (जौके अङ्कुर), खील और चावल बिखरे हुए हैं ॥ २१-२२ ॥ घरोंके दरवाजोंपर दही और चन्दन आदिसे चर्चित जलसे भरे हुए कलश रक्खे हैं और वे फूल, दीपक, नयी-नयी कोंपलें, फलसहित केले और सुपारीके वृक्ष, छोटी-छोटी झंडियों और रेशमी वस्त्रोंसे भलीभाँति सजाये हुए हैं ॥ २३ ॥

तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ
वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना ।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो
हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृपोत्सुकाः ॥२४॥
काश्चिद् विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा
विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः ।
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा
नाङ्क्त्वा द्वितीयं त्वपराश्च लोचनम् ॥२५॥
अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा
अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः ।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं
प्रपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः ॥२६॥
मनांसि तासामरविन्दलोचनः
प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः ।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो
दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम् ॥२७॥
दृष्ट्वा मुहुःश्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं
तत्प्रेक्षणोत्स्मितसुधोक्षणलब्धमानाः ।
आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशाऽऽत्मलब्धं
हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम् ॥२८॥
प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः ।
अभ्यवर्षन् सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ ॥२९॥

परीक्षित् ! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने ग्वालबालोंके साथ राजपथसे मथुरा नगरीमें प्रवेश किया । उस समय नगरकी नारियाँ बड़ी उत्सुकतासे उन्हें देखनेके लिये झटपट अटारियोंपर चढ़ गयीं ॥२४॥ किसी-किसीने जल्दीके कारण अपने वस्त्र और गहने उलटे पहन लिये । किसीने भूलसे कुण्डल, कंगन आदि जोड़ेसे पहने जानेवाले आभूषणोंमेंसे एक ही पहना और चल पड़ी । कोई एक ही कानमें पत्रनामक आभूषण धारण कर पायी थी, तो किसीने एक ही पाँवमें पायजेब पहन रक्खा था । कोई एक ही आँखमें अञ्जन आँज पायी थी और दूसरीमें बिना आँजे ही चल पड़ी॥२५॥ कई रमणियाँ तो भोजन कर रही थीं, वे हाथका कौर फेंककर चल पड़ीं । सबका मन उत्साह और आनन्दसे भर रहा था । कोई-कोई उबटन लगवा रही थीं, वे बिना स्नान किये ही दौड़ पड़ीं । जो सो रही थीं, वे कोलाहल सुनकर उठ खड़ी हुईं और उसी अवस्थामें दौड़ चलीं । जो माताएँ बच्चोंको दूध पिला रही थीं, वे उन्हें गोदसे हटाकर भगवान् श्रीकृष्णको देखनेके लिये चल पड़ीं ॥ २६ ॥ कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण मतवाले गजराजके समान बड़ी मस्तीसे चल रहे थे । उन्होंने लक्ष्मीको भी आनन्दित करनेवाले अपने श्यामसुन्दर विग्रहसे नगरनारियोंके नेत्रोंको बड़ा आनन्द दिया और अपनी विलासपूर्ण प्रगल्भ हँसी तथा प्रेमभरी चितवनसे उनके मन चुरा लिये ॥२७॥ मथुराकी स्त्रियाँ बहुत दिनोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी अद्भुत लीलाएँ सुनती आ रही थीं । उनके चित्त चिरकालसे श्रीकृष्णके लिये चञ्चल-व्याकुल हो रहे थे । आज उन्होंने उन्हें देखा । भगवान् श्रीकृष्णने भी अपनी प्रेमभरी चितवन और मन्द मुसकानकी सुधासे सींचकर उनका सम्मान किया । परीक्षित् ! उन स्त्रियोंने नेत्रोंके द्वारा भगवान्‌को अपने हृदयमें ले जाकर उनके आनन्दमय स्वरूपका आलिङ्गन किया । उनका शरीर पुलकित हो गया और बहुत दिनोंकी विरह-व्याधि शान्त हो गयी ॥२८॥ मथुराकी नारियाँ अपने-अपने महलोंकी अटारियोंपर चढ़कर बलराम और श्रीकृष्णपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं । उस समय उन स्त्रियोंके मुखकमल प्रेमके आवेगसे खिल रहे थे ॥२९॥

१. निपा०

दध्यक्षतैः सोदपात्रैः स्रग्गन्धैरभ्युपायनैः ।

तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः ॥३०॥

ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन् महत् ।

या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ॥३१॥

रजकं कञ्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः ।

दृष्ट्वायाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च ॥३२॥

देह्यावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि चार्हतोः ।

भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥३३॥

स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः ।

साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञः सुदुर्मदः ॥३४॥

ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः ।

परिधत्त किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥३५॥

याताशु बालिशा मैवं प्राथ्यं यदि जिजीविषा ।

बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै ॥३६॥

एवं विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः ।

रजकस्य कराग्रेण शिरः कायादपातयत् ॥३७॥

तस्यानुजीविनः सर्वे वासःकोशान् विसृज्य वै ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंने स्थान-स्थानपर दही, अक्षत, जलसे भरे पात्र, फूलोंके हार, चन्दन और भेंटकी सामग्रियोंसे आनन्दमग्न होकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीकी पूजा की ॥ ३० ॥ भगवान्‌को देखकर सभी पुरवासी आपसमें कहने लगे—'धन्य है ! धन्य है !' गोपियोंने ऐसी कौन-सी महान् तपस्या की है, जिसके कारण वे मनुष्यमात्रको परमानन्द देनेवाले इन दोनों मनोहर किशोरोंको देखती रहती हैं ॥ ३१ ॥

इसी समय भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि एक धोबी, जो कपड़े रँगनेका भी काम करता था, उनकी ओर आ रहा है । भगवान् श्रीकृष्णने उससे धुले हुए उत्तम-उत्तम कपड़े माँगे ॥ ३२ ॥ भगवान्‌ने कहा—'भाई ! तुम हमें ऐसे वस्त्र दो, जो हमारे शरीरमें पूरे-पूरे आ जायँ । वास्तवमें हमलोग उन वस्त्रोंके अधिकारी हैं । इसमें सन्देह नहीं कि यदि तुम हमलोगोंको वस्त्र दोगे, तो तुम्हारा परम कल्याण होगा' ॥ ३३ ॥ परीक्षित् ! भगवान् सर्वत्र परिपूर्ण हैं । सब कुछ उन्हींका है । फिर भी उन्होंने इस प्रकार माँगनेकी लीला की । परन्तु वह मूर्ख राजा कंसका सेवक होनेके कारण मतवाला हो रहा था । भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को देना तो दूर रहा, उसने क्रोधमें भरकर आक्षेप करते हुए कहा—॥ ३४ ॥ 'तुमलोग रहते हो सदा पहाड़ और जंगलोंमें ! क्या वहाँ ऐसे ही वस्त्र पहनते हो ? तुमलोग बहुत उद्दण्ड हो गये हो, तभी ऐसी बढ़-बढ़कर बातें करते हो । अब तुम्हें राजाका धन लूटनेकी इच्छा हुई है ॥ ३५ ॥ अरे, मूर्खो ! जाओ, भाग जाओ ! यदि कुछ दिन जीनेकी इच्छा हो तो फिर इस तरह मत माँगना । राजकर्मचारी तुम्हारे-जैसे उच्छृङ्खलोंको कैद कर लेते हैं, मार डालते हैं और जो कुछ उनके पास होता है, छीन लेते हैं' ॥ ३६ ॥ जब वह धोबी इस प्रकार बहुत कुछ बहक-बहककर बातें करने लगा, तब भगवान् श्रीकृष्णने तनिक कुपित होकर उसे एक तमाचा जमाया और उसका सिर धड़ामसे धड़से नीचे जा गिरा ॥ ३७ ॥ यह देखकर उस धोबीके अधीन काम करनेवाले सब-के-सब कपड़ोंके

१. दुर्मुखः । २. बाह्यघोषैर्वितत्रसुः ।

दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं वासांसि जगृहेऽच्युतः ॥३८॥
वसित्वाऽऽत्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः सङ्कर्षणस्तथा ।
शेषाण्यादत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित् ॥३९॥

गट्ठर वहीं छोड़कर इधर-उधर भाग गये । भगवान्‌ने उन वस्त्रोंको ले लिया ॥३८॥ भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने मनमाने वस्त्र पहन लिये तथा बचे हुए वस्त्रोंमेंसे बहुत-से अपने साथी ग्वालबालोंको भी दिये । बहुत-से कपड़े तो वहीं जमीनपर ही छोड़कर चल दिये ॥३९॥

ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत् ।
विचित्रवर्णैश्चैलेयैराकल्पैरनुरूपतः ॥४०॥
नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः ।
स्वलङ्कृतौ बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ ॥४१॥
तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मनः ।
श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम् ॥४२॥

भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जब कुछ आगे बढ़े, तब उन्हें एक दर्जी मिला । भगवान्‌का अनुपम सौन्दर्य देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने उन रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्रोंको उनके शरीरपर ऐसे ढंगसे सजा दिया कि वे सब ठीक-ठीक फब गये ॥४०॥ अनेक प्रकारके वस्त्रोंसे विभूषित होकर दोनों भाई और भी अधिक शोभायमान हुए । ऐसे जान पड़ते, मानो उत्सवके समय श्वेत और श्याम गजशावक भलीभाँति सजा दिये गये हों ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण उस दर्जीपर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उसे इस लोकमें भरपूर धन-सम्पत्ति, बल-ऐश्वर्य, अपनी स्मृति और दूरतक देखने-सुनने आदिकी इन्द्रियसम्बन्धी शक्तियाँ दीं और मृत्युके बादके लिये अपना सारूप्य मोक्ष भी दे दिया ॥ ४२ ॥

ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः ।
तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि ॥४३॥
तयोरासनमानीय पाद्यं चार्घ्यार्हणादिभिः ।
पूजां सानुगयोश्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ॥४४॥
प्राह नः सार्थकं जन्म पावितं च कुलं प्रभो ।
पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥४५॥
भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम् ।
अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥४६॥
न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः ।
समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि ॥४७॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण सुदामा मालीके घर गये । दोनों भाइयोंको देखते ही सुदामा उठ खड़ा हुआ और पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ४३ ॥ फिर उनको आसनपर बैठाकर उनके पाँव पखारे, हाथ धुलाये और तदनन्तर ग्वालबालोंके सहित सबकी फूलोंके हार, पान, चन्दन आदि सामग्रियोंसे विधिपूर्वक पूजा की ॥ ४४ ॥ इसके पश्चात् उसने प्रार्थना की—'प्रभो ! आप दोनोंके शुभागमनसे हमारा जन्म सफल हो गया । हमारा कुल पवित्र हो गया । आज हम पितर, ऋषि और देवताओंके ऋणसे मुक्त हो गये । वे हमपर परमसन्तुष्ट हैं ॥ ४५ ॥ आप दोनों सम्पूर्ण जगत्‌के परम कारण हैं । आप संसारके अभ्युदय-उन्नति और निःश्रेयस—मोक्षके लिये ही इस पृथ्वीपर अपने ज्ञान, बल आदि अंशोंके साथ अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४६ ॥ यद्यपि आप प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं, भजन करनेवालोंको ही भजते हैं—फिर भी आपकी दृष्टिमें विषमता नहीं है । क्योंकि आप सारे जगत्‌के परम सुहृद् और आत्मा हैं । आप समस्त प्राणियों और

तावाज्ञापयतं भृत्यं किमहं करवाणि वाम् ।
पुंसोऽत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते ॥४८॥
इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतमानसः ।
शस्तैः सुगन्धैः कुसुमैर्माला विरचिता ददौ ॥४९॥
ताभिः स्वलङ्कृतौ प्रीतौ कृष्णरामौ सहानुगौ ।
प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥५०॥
सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥५१॥
इति तस्मै वरं दत्त्वा श्रियं चान्वयवर्धिनीम् ।
बलमायुर्यशः कान्तिं निर्जगाम सहाग्रजः ॥५२॥

पदार्थोंमें समरूपसे स्थित हैं ॥ ४७ ॥ मैं आपका दास हूँ। आप दोनों मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ। भगवन्! जीवपर आपका यह बहुत बड़ा अनुग्रह है, पूर्ण कृपा-प्रसाद है कि आप उसे आज्ञा देकर किसी कार्यमें नियुक्त करते हैं॥ ४८ ॥ राजेन्द्र! सुदामा मालीने इस प्रकार प्रार्थना करनेके बाद भगवान्‌का अभिप्राय जानकर बड़े प्रेम और आनन्दसे भरकर अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर तथा सुगन्धित पुष्पोंसे गूँथे हुए हार उन्हें पहनाये ॥ ४९ ॥ जब ग्वालबाल और बलरामजीके साथ भगवान् श्रीकृष्ण उन सुन्दर-सुन्दर मालाओंसे अलङ्कृत हो चुके, तब उन वरदायक प्रभुने प्रसन्न होकर विनीत और शरणागत सुदामाको श्रेष्ठ वर दिये।५०। सुदामा मालीने उनसे यही वर माँगा कि 'प्रभो! आप ही समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। सर्वस्वरूप! आपके चरणोंमें मेरी अविचल भक्ति हो। आपके भक्तोंसे मेरा सौहार्द, मैत्रीका सम्बन्ध हो और समस्त प्राणियोंके प्रति अहैतुक दयाका भाव बना रहे॥ ५१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने सुदामाको उसके माँगे हुए वर तो दिये ही—ऐसी लक्ष्मी भी दी, जो वंशपरम्पराके साथ-साथ बढ़ती जाय; और साथ ही बल, आयु, कीर्ति तथा कान्तिका भी वरदान दिया। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ वहाँसे विदा हुए॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[3]
पुरप्रवेशो नाम एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

कुब्जापर कृपा, धनुषभङ्ग और कंसकी घबड़ाहट

श्रीशुक उवाच[4]

अथ व्रजन् राजपथेन माधवः
स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् ।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां
पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण जब अपनी मण्डलीके साथ राजमार्गसे आगे बढ़े, तब उन्होंने एक युवती स्त्रीको देखा। उसका मुँह तो सुन्दर था, परन्तु वह शरीरसे कुबड़ी थी। इसीसे उसका नाम पड़ गया था 'कुब्जा'। वह अपने हाथमें चन्दनका पात्र लिये हुए जा रही थी। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमरसका दान करनेवाले हैं, उन्होंने कुब्जापर कृपा करनेके लिये हँसते हुए उससे पूछा—॥१॥

१. साक्षाज्ज्ञाप०। २. लां विरचितां। ३. प्राचीन प्रतिमें 'पूर्वार्धे' यह नहीं है। ४. बादरायणिरुवाच।

का त्वं वरोर्वेतदु हानुलेपनं
कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः ।
देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं
श्रेयस्ततस्ते न चिराद् भविष्यति ॥ २ ॥

'सुन्दरी ! तुम कौन हो ? यह चन्दन किसके लिये ले जा रही हो ? कल्याणी ! हमें सब बात सच-सच बतला दो । यह उत्तम चन्दन, यह अङ्गराग हमें भी दो । इस दानसे शीघ्र ही तुम्हारा परम कल्याण होगा' ॥ २ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससम्मता
त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि ।
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं
विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥ ३ ॥

रूपपेशलमाधुर्यहसितालापवीक्षितैः ।
धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥ ४ ॥

ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना ।
सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेऽनुरञ्जितौ ॥ ५ ॥

प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम् ।
ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम् ॥ ६ ॥

पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यङ्गुल्युत्तानपाणिना ।
प्रगृह्य चुबुकेऽध्यात्मसमुदनीनमदच्युतः ॥ ७ ॥

सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा ।
मुकुन्दस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥ ८ ॥

उबटन आदि लगानेवाली सैरन्ध्री कुब्जाने कहा—'परम सुन्दर ! मैं कंसकी प्रिय दासी हूँ । महाराज मुझे बहुत मानते हैं । मेरा नाम त्रिवक्रा (कुब्जा) है । मैं उनके यहाँ चन्दन, अङ्गराग लगानेका काम करती हूँ । मेरे द्वारा तैयार किये हुए चन्दन और अङ्गराग भोजराज कंसको बहुत भाते हैं । परन्तु आप दोनोंसे बढ़कर उसका और कोई उत्तम पात्र नहीं है' ॥ ३ ॥ भगवान्‌के सौन्दर्य, सुकुमारता, रसिकता, मन्दहास्य, प्रेमालाप और चारु चितवनसे कुब्जाका मन हाथसे निकल गया । उसने भगवान्‌पर अपना हृदय न्योछावर कर दिया । उसने दोनों भाइयोंको वह सुन्दर और गाढ़ा अङ्गराग दे दिया ॥ ४ ॥ तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने साँवले शरीरपर पीले रंगका और बलरामजीने अपने गोरे शरीरपर लाल रंगका अङ्गराग लगाया तथा नाभिसे ऊपरके भागमें अनुरञ्जित होकर वे अत्यन्त सुशोभित हुए ॥ ५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण उस कुब्जापर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने दर्शनका प्रत्यक्ष फल दिखलानेके लिये तीन जगहसे टेढ़ी किन्तु सुन्दर मुखवाली कुब्जाको सीधी करनेका विचार किया ॥ ६ ॥ भगवान्‌ने अपने चरणोंसे कुब्जा-के पैरके दोनों पंजे दबा लिये और हाथ ऊँचा करके दो अँगुलियाँ उसकी ठोड़ीमें लगायीं तथा उसके शरीरको तनिक उचका दिया ॥ ७ ॥ उचकाते ही उसके सारे अङ्ग सीधे और समान हो गये । प्रेम और मुक्तिके दाता भगवान्‌के स्पर्शसे वह तत्काल विशाल नितम्ब तथा पीन पयोधरोंसे युक्त एक उत्तम युवती बन गयी ॥ ८ ॥

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम् ।
उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया ॥ ९ ॥

उसी क्षण कुब्जा रूप, गुण और उदारतासे सम्पन्न हो गयी । उसके मनमें भगवान्‌के मिलनकी कामना जाग उठी । उसने उनके दुपट्टेका छोर पकड़कर

एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥१०॥
एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः ।
मुखं वीक्ष्यानुगानां च प्रहसंस्तामुवाच ह ॥११॥
एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः पुंसामाधिविकर्शनम् ।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम्॥१२॥
विसृज्य माध्व्या वाण्या तां व्रजन् मार्गे वणिक्पथैः ।
नानोपायनताम्बूलस्रग्गन्धैः साग्रजोऽर्चितः ॥१३॥
तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविदन् स्त्रियः ।
विस्रस्तवासःकबरवलयालेख्यमूर्तयः ॥१४॥

मुसकराते हुए कहा—॥ ९ ॥ 'वीरशिरोमणे ! आइये, घर चलें । अब मैं आपको यहाँ नहीं छोड़ सकती । क्योंकि आपने मेरे चित्तको मथ डाला है । पुरुषोत्तम ! मुझ दासीपर प्रसन्न होइये' ॥ १० ॥ जब बलरामजीके सामने ही कुब्जाने इस प्रकार प्रार्थना की, तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने साथी ग्वालबालोंके मुँहकी ओर देखकर हँसते हुए उससे कहा—॥ ११ ॥ 'सुन्दरी ! तुम्हारा घर संसारी लोगोंके लिये अपनी मानसिक व्याधि मिटानेका साधन है । मैं अपना कार्य पूरा करके अवश्य वहाँ आऊँगा । हमारे-जैसे बेघरके बटोहियोंको तुम्हारा ही तो आसरा' है ॥ १२ ॥ इस प्रकार मीठी-मीठी बातें करके भगवान् श्रीकृष्णने उसे विदा कर दिया । जब वे व्यापारियोंके बाजारमें पहुँचे, तब उन व्यापारियोंने उनका तथा बलरामजीका पान, फूलोंके हार, चन्दन और तरह-तरहकी भेंट—उपहारोंसे पूजन किया ॥ १३ ॥ उनके दर्शनमात्रसे स्त्रियोंके हृदयमें प्रेमका आवेग, मिलनकी आकाङ्क्षा जग उठती थी । यहाँतक कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध न रहती । उनके वस्त्र, जूड़े और कंगन ढीले पड़ जाते थे तथा वे चित्रलिखित मूर्तियोंके समान ज्यों-की-त्यों खड़ी रह जाती थीं ॥ १४ ॥

ततः पौरान् पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः ।
तस्मिन् प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम् ॥१५॥
पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत् ।
वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥१६॥
करेण वामेन सलीलमुद्धृतं
सज्यं च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् ।
नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो
यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥१७॥
धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं रोदसी दिशः ।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण पुरवासियोंसे धनुष-यज्ञका स्थान पूछते हुए रंगशालामें पहुँचे और वहाँ उन्होंने इन्द्रधनुषके समान एक अद्भुत धनुष देखा ॥ १५ ॥ उस धनुषमें बहुत-सा धन लगाया गया था, अनेक बहुमूल्य अलङ्कारोंसे उसे सजाया गया था । उसकी खूब पूजा की गयी थी और बहुत-से सैनिक उसकी रक्षा कर रहे थे । भगवान् श्रीकृष्णने रक्षकोंके रोकनेपर भी उस धनुषको बलात्कारसे उठा लिया ॥ १६ ॥ उन्होंने सबके देखते-देखते उस धनुषको बायें हाथसे उठाया, उसपर डोरी चढ़ायी और एक क्षणमें खींचकर बीचोंबीचसे उसी प्रकार उसके दो टुकड़े कर डाले, जैसे बहुत बलवान् मतवाला हाथी खेल-ही-खेलमें ईखको तोड़ डालता है ॥ १७ ॥ जब धनुष टूटा तब उसके शब्दसे आकाश, पृथ्वी और

१. दुः स्त्रियः ।

पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥१८॥
तद्रक्षिणः सानुचराः कुपिता आततायिनः ।
ग्रहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां बध्यतामिति ॥१९॥
अथ तान् दुरभिप्रायान् विलोक्य बलकेशवौ ।
क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः ॥२०॥
बलं च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात्ततः ।
निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥२१॥
तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशाम्य पुरवासिनः ।
तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ ॥२२॥
तयोर्विचरतोः स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान् ।
कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुराच्छकटमीयतुः ॥२३॥
गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या
आशासताशिष ऋता मधुपुर्यभूवन्।
सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं
हित्वेतरान् नु भजतश्चकमेऽयनं श्रीः॥२४॥
अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् ।
ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् ॥२५॥

दिशाएँ भर गयीं; उसे सुनकर कंस भी भयभीत हो गया ॥ १८ ॥ अब धनुषके रक्षक आततायी असुर अपने सहायकोंके साथ बहुत ही बिगड़े। वे भगवान् श्रीकृष्णको घेरकर खड़े हो गये और उन्हें पकड़ लेनेकी इच्छासे चिल्लाने लगे—'पकड़ लो, बाँध लो, जाने न पावे'॥ १९ ॥ उनका दुष्ट अभिप्राय जानकर बलरामजी और श्रीकृष्ण भी तनिक क्रोधित हो गये और उस धनुषके टुकड़ोंको उठाकर उन्हींसे उनका काम तमाम कर दिया ॥ २० ॥ उन्हीं धनुषखण्डोंसे उन्होंने उन असुरोंकी सहायताके लिये कंसकी भेजी हुई सेनाका भी संहार कर डाला। इसके बाद वे यज्ञशालाके प्रधान द्वारसे होकर बाहर निकल आये और बड़े आनन्दसे मथुरापुरीकी शोभा देखते हुए विचरने लगे॥ २१ ॥ जब नगरनिवासियोंने दोनों भाइयोंके इस अद्भुत पराक्रमकी बात सुनी और उनके तेज, साहस तथा अनुपम रूपको देखा तब उन्होंने यही निश्चय किया कि हो-न-हो ये दोनों कोई श्रेष्ठ देवता हैं॥ २२ ॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी पूरी स्वतन्त्रतासे मथुरापुरीमें विचरण करने लगे। जब सूर्यास्त हो गया, तब दोनों भाई ग्वालबालोंसे घिरे हुए नगरसे बाहर अपने डेरेपर, जहाँ छकड़े थे, लौट आये॥ २३ ॥ तीनों लोकोंके बड़े-बड़े देवता चाहते थे कि लक्ष्मी हमें मिलें, परन्तु उन्होंने सबका परित्याग कर दिया और न चाहनेवाले भगवान्का वरण किया। उन्हींको सदाके लिये अपना निवासस्थान बना लिया। मथुरावासी उन्हीं पुरुषभूषण भगवान् श्रीकृष्णके अङ्ग-अङ्गका सौन्दर्य देख रहे हैं। उनका कितना सौभाग्य है! व्रजमें भगवान्की यात्राके समय गोपियोंने विरहातुर होकर मथुरावासियोंके सम्बन्धमें जो-जो बातें कही थीं, वे सब वहाँ अक्षरशः सत्य हुईं। सचमुच वे परमानन्दमें मग्न हो गये॥ २४ ॥ फिर हाथ-पैर धोकर श्रीकृष्ण और बलरामजीने दूधसे बने हुए खीर आदि पदार्थोंका भोजन किया और कंस आगे क्या करना चाहता है, इस बातका पता लगाकर उस रातको वहीं आरामसे सो गये ॥ २५ ॥

१. तं।

कंसस्तु धनुषो भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च ।
वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम् ॥२६॥
दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः ।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च ॥२७॥
अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि ।
असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा ॥२८॥
छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः ।
स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥२९॥
स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं विषादनम् ।
यायान्नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः ॥३०॥
अन्यानि चेत्थंभूतानि स्वप्नजागरितानि च ।
पश्यन् मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया ॥३१॥

जब कंसने सुना कि श्रीकृष्ण और बलरामने धनुष तोड़ डाला, रक्षकों तथा उनकी सहायताके लिये भेजी हुई सेनाका भी संहार कर डाला और यह सब उनके लिये केवल एक खिलवाड़ ही था—इसके लिये उन्हें कोई श्रम या कठिनाई नहीं उठानी पड़ी ॥ २६ ॥ तब वह बहुत ही डर गया; उस दुर्बुद्धिको बहुत देरतक नींद न आयी। उसे जाग्रत्-अवस्थामें तथा स्वप्नमें भी बहुत-से ऐसे अपशकुन हुए, जो उसकी मृत्युके सूचक थे ॥ २७ ॥ जाग्रत्-अवस्थामें उसने देखा कि जल या दर्पणमें शरीरकी परछाईं तो पड़ती है, परन्तु सिर नहीं दिखायी देता; अँगुली आदिकी आड़ न होनेपर भी चन्द्रमा, तारे और दीपक आदिकी ज्योतियाँ उसे दो-दो दिखायी पड़ती हैं ॥ २८ ॥ छायामें छेद दिखायी पड़ता है और कानोंमें अँगुली डालकर सुननेपर भी प्राणोंका घूँ-घूँ शब्द नहीं सुनायी पड़ता। वृक्ष सुनहले प्रतीत होते हैं और बालू या कीचड़में अपने पैरोंके चिह्न नहीं दीख पड़ते ॥ २९ ॥ कंसने स्वप्नावस्थामें देखा कि वह प्रेतोंके गले लग रहा है, गधेपर चढ़कर चलता है और विष खा रहा है। उसका सारा शरीर तेलसे तर है, गलेमें जपाकुसुम (अड़हुल) की माला है और नग्न होकर कहीं जा रहा है ॥ ३० ॥ स्वप्न और जाग्रत्-अवस्थामें उसने इसी प्रकारके और भी बहुत-से अपशकुन देखे। उनके कारण उसे बड़ी चिन्ता हो गयी, वह मृत्युसे डर गया और उसे नींद न आयी ॥ ३१ ॥

व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थिते ।
कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम् ॥३२॥
आनर्चुः पुरुषा रङ्गं तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ।
मञ्चाश्चालङ्कृताः स्रग्भिः पताकाचैलतोरणैः ॥३३॥
तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः ।
यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः ॥३४॥

परीक्षित्! जब रात बीत गयी और सूर्यनारायण पूर्व समुद्रसे ऊपर उठे, तब राजा कंसने मल्ल-क्रीडा (दंगल) का महोत्सव प्रारम्भ कराया ॥ ३२ ॥ राज-कर्मचारियोंने रंगभूमिको भलीभाँति सजाया। तुरही, भेरी आदि बाजे बजने लगे। लोगोंके बैठनेके मञ्च फूलोंके गजरों, झंडियों, वस्त्र और बंदनवारोंसे सजा दिये गये ॥ ३३ ॥ उनपर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नागरिक तथा ग्रामवासी—सब यथास्थान बैठ गये। राजालोग भी अपने-अपने निश्चित स्थानपर जा डटे ॥ ३४ ॥

१. रूपेषु सत्स्वपि । २. चातिसमु० ।

कंसः परिवृतोऽमात्यै राजमञ्च उपाविशत् ।
मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता ॥३५॥
वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च ।
मल्लाः स्वलङ्कृता दृप्ताः सोपाध्यायाः समाविशन् ॥३६॥
चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तोशल एव च ।
त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥३७॥
नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहुताः ।
निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन् मञ्च आविशन् ॥३८॥

राजा कंस अपने मन्त्रियोंके साथ मण्डलेश्वरों (छोटे-छोटे राजाओं) के बीचमें सबसे श्रेष्ठ राजसिंहासनपर जा बैठा । इस समय भी अपशकुनोंके कारण उसका चित्त घबड़ाया हुआ था ॥ ३५ ॥ तब पहलवानोंके ताल ठोंकनेके साथ ही बाजे बजने लगे और गरबीले पहलवान खूब सज-धजकर अपने-अपने उस्तादोंके साथ अखाड़ेमें आ उतरे ॥ ३६ ॥ चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल आदि प्रधान-प्रधान पहलवान बाजोंकी सुमधुर ध्वनिसे उत्साहित होकर अखाड़ेमें आ-आकर बैठ गये ॥ ३७ ॥ इसी समय भोजराज कंसने नन्द आदि गोपोंको बुलवाया । उन लोगोंने आकर उसे तरह-तरहकी भेंटें दीं और फिर जाकर वे एक मञ्चपर बैठ गये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे मल्लरङ्गोपवर्णनं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

कुवलयापीड़का उद्धार और अखाड़ेमें प्रवेश

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परन्तप ।
मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः ॥ १ ॥
रङ्गद्वारं समासाद्य तस्मिन् नागमवस्थितम् ।
अपश्यत् कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम् ॥ २ ॥
बद्ध्वा परिकरं शौरिः समुह्य कुटिलालकान् ।
उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया ॥ ३ ॥
अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नौ देह्यपक्राम मा चिरम् ।
नो चेत् सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम् ॥ ४ ॥
एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—काम-क्रोधादि शत्रुओंको पराजित करनेवाले परीक्षित् ! अब श्रीकृष्ण और बलराम भी स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त हो दंगलके अनुरूप नगाड़ेकी ध्वनि सुनकर रङ्गभूमि देखनेके लिये चल पड़े ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने रंगभूमिके दरवाजेपर पहुँचकर देखा कि वहाँ महावतकी प्रेरणासे कुवलयापीड नामका हाथी खड़ा है ॥ २ ॥ तब भगवान् श्रीकृष्णने अपनी कमर कस ली और घुँघराली अलकें समेट लीं तथा मेघके समान गम्भीर वाणीसे महावतको ललकारकर कहा ॥ ३ ॥ 'महावत, ओ महावत ! हम दोनोंको रास्ता दे दे । हमारे मार्गसे हट जा । अरे, सुनता नहीं ? देर मत कर । नहीं तो मैं हाथीके साथ अभी तुझे यमराजके घर पहुँचाता हूँ' ॥ ४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने महावतको जब इस प्रकार धमकाया, तब वह क्रोधसे तिलमिला उठा और उसने काल, मृत्यु तथा यमराजके समान अत्यन्त

१. मल्लरङ्गोपवर्णनं द्विच० । २. बादरायणिरुवाच ।

चोदयामास कृष्णाय कालान्तकयमोपमम् ॥ ५ ॥
करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाग्रहीत् ।
कराद् विगलितः सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत ॥ ६ ॥
संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिः स केशवम् ।
परामृशत् पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः ॥ ७ ॥
पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पञ्चविंशतिम् ।
विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया ॥ ८ ॥
स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः ।
बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोवत्सेनेव बालकः ॥ ९ ॥
ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाऽऽहत्य वारणम् ।
प्राद्रवन् पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे ॥ १० ॥
स धावन् क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः ।
तं मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत्क्षितिम्[1] ॥ ११ ॥
स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षितः ।
चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद् रुषा ॥ १२ ॥
तमापतन्तमासाद्य भगवान् मधुसूदनः ।
निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले ॥ १३ ॥
पतितस्य पदाऽऽक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया ।
दन्तमुत्पाट्य तेनेभं हस्तिपांश्चाहनद्धरिः ॥ १४ ॥

भयङ्कर कुवलयापीड़को अङ्कुशकी मारसे क्रुद्ध करके श्रीकृष्णकी ओर बढ़ाया ॥ ५ ॥ कुवलयापीड़ने भगवान्‌की ओर झपटकर उन्हें बड़ी तेजीसे सूँड़में लपेट लिया; परन्तु भगवान् सूँड़से बाहर सरक आये और उसे एक घूँसा जमाकर उसके पैरोंके बीचमें जा छिपे ॥ ६ ॥ उन्हें अपने सामने न देखकर कुवलयापीड़को बड़ा क्रोध हुआ। उसने सूँघकर भगवान्‌को अपनी सूँड़से टटोल लिया और पकड़ा भी; परन्तु उन्होंने बलपूर्वक अपनेको उससे छुड़ा लिया ॥ ७ ॥ इसके बाद भगवान् उस बलवान् हाथीकी पूँछ पकड़कर खेल-खेलमें ही उसे सौ हाथतक पीछे घसीट लाये; जैसे गरुड़ साँपको घसीट लाते हैं ॥ ८ ॥ जिस प्रकार घूमते हुए बछड़ेके साथ बालक घूमता है अथवा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार बछड़ोंसे खेलते थे, वैसे ही वे उसकी पूँछ पकड़कर उसे घुमाने और खेलने लगे। जब वह दायेंसे घूमकर उनको पकड़ना चाहता, तब वे बायें आ जाते और जब वह बायेंकी ओर घूमता, तब वे दायें घूम जाते ॥ ९ ॥ इसके बाद हाथीके सामने आकर उन्होंने उसे एक घूँसा जमाया और वे उसे गिरानेके लिये इस प्रकार उसके सामनेसे भागने लगे, मानो वह अब छू लेता है, तब छू लेता है ॥ १० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने दौड़ते-दौड़ते एक बार खेल-खेलमें ही पृथ्वीपर गिरनेका अभिनय किया और झट वहाँसे उठकर भाग खड़े हुए। उस समय वह हाथी क्रोधसे जल-भुन रहा था। उसने समझा कि वे गिर पड़े और बड़े जोरसे अपने दोनों दाँत धरतीपर मारे ॥ ११ ॥ जब कुवलयापीड़का यह आक्रमण व्यर्थ हो गया, तब वह और भी चिढ़ गया। महावतोंकी प्रेरणासे वह क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्णपर टूट पड़ा ॥ १२ ॥ भगवान् मधुसूदनने जब उसे अपनी ओर झपटते देखा, तब उसके पास चले गये और अपने एक ही हाथसे उसकी सूँड़ पकड़कर उसे धरतीपर पटक दिया ॥ १३ ॥ उसके गिर जानेपर भगवान्‌ने सिंहके समान खेल-ही-खेलमें उसे पैरोंसे दबाकर उसके दाँत उखाड़ लिये और उन्हींसे हाथी और महावतोंका काम तमाम कर दिया ॥ १४ ॥

[1] पतितः ।

मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत् ।
अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः ।
विरूढस्वेदकणिकावदनाम्बुरुहो बभौ ॥१५॥
वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ ।
रङ्गं विविशतू राजन् गजदन्तवरायुधौ ॥१६॥
मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां
तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रङ्गं गतः साग्रजः ॥१७॥
हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ ।
कंसो मनस्व्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप ॥१८॥
तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ
विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ
मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् ॥१९॥
निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना
मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः
पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥२०॥

परीक्षित्! मरे हुए हाथीको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णने हाथमें उसके दाँत लिये-लिये ही रंगभूमिमें प्रवेश किया। उस समय उनकी शोभा देखने ही योग्य थी। उनके कंधेपर हाथीका दाँत रक्खा हुआ था, शरीर रक्त और मदकी बूँदोंसे सुशोभित था और मुखकमलपर पसीनेकी बूँदें झलक रही थीं ॥ १५ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंके ही हाथोंमें कुवलयापीड़के बड़े-बड़े दाँत शस्त्रके रूपमें सुशोभित हो रहे थे और कुछ ग्वालबाल उनके साथ-साथ चल रहे थे। इस प्रकार उन्होंने रंगभूमिमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥ जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रंगभूमिमें पधारे, उस समय वे पहलवानोंको वज्रकठोर शरीर, साधारण मनुष्योंको नर-रत्न, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिताके समान बड़े-बूढ़ोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट्, योगियोंको परम तत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्णि-वंशियोंको अपने इष्टदेव जान पड़े (सबने अपने-अपने भावानुरूप क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, बीभत्स, शान्त और प्रेमभक्ति-रसका अनुभव किया) ॥ १७ ॥ राजन्! वैसे तो कंस बड़ा धीर-वीर था; फिर भी जब उसने देखा कि इन दोनोंने कुवलयापीड़को मार डाला, तब उसकी समझमें यह बात आयी कि इनको जीतना तो बहुत कठिन है। उस समय वह बहुत घबड़ा गया ॥ १८ ॥ श्रीकृष्ण और बलरामकी बाँहें बड़ी लंबी-लंबी थीं। पुष्पोंके हार, वस्त्र और आभूषण आदिसे उनका वेष विचित्र हो रहा था; ऐसा जान पड़ता था, मानो उत्तम वेष धारण करके दो नट अभिनय करनेके लिये आये हों। जिनके नेत्र, एक बार उनपर पड़ जाते, बस, लग ही जाते। यही नहीं, वे अपनी कान्तिसे उसका मन भी चुरा लेते। इस प्रकार दोनों रंगभूमिमें शोभायमान हुए ॥ १९ ॥ परीक्षित्! मञ्चोंपर जितने लोग बैठे थे—वे मथुराके नागरिक और राष्ट्रके जन-समुदाय पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको देखकर इतने प्रसन्न हुए कि उनके नेत्र और मुखकमल खिल उठे, उत्कण्ठासे भर गये। वे नेत्रोंके द्वारा उनकी मुखमाधुरीका पान करते-

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः ॥२१॥
ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम्।
तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव ॥२२॥
एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि।
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि ॥२३॥
एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम्।
कालमेतं वसन् गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि ॥२४॥
पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानवः।
अर्जुनौ गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये च तद्विधाः ॥२५॥
गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः।
कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः ॥२६॥
सप्ताहमेकहस्तेन धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना।
वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम् ॥२७॥
गोप्योऽस्य नित्यमुदितहसितप्रेक्षणं मुखम्।
पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरन्ति स्माश्रमं मुदा ॥२८॥
वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः।
श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः ॥२९॥
अयं चास्याग्रजः श्रीमान् रामः कमललोचनः।
प्रलम्बो निहतो येन वत्सको ये बकादयः ॥३०॥
जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत् ॥३१॥
हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीरसंमतौ[१]।

करते तृप्त ही नहीं होते थे ॥ २० ॥ मानो वे उन्हें नेत्रोंसे पी रहे हों, जिह्वासे चाट रहे हों, नासिकासे सूँघ रहे हों और भुजाओंसे पकड़कर हृदयसे सटा रहे हों ॥ २१ ॥ उनके सौन्दर्य, गुण, माधुर्य और निर्भयताने मानो दर्शकोंको उनकी लीलाओंका स्मरण करा दिया और वे लोग आपसमें उनके सम्बन्धकी देखी-सुनी बातें कहने-सुनने लगे ॥ २२ ॥ 'ये दोनों साक्षात् भगवान् नारायणके अंश हैं। इस पृथ्वीपर वसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ २३ ॥ [अँगुलीसे दिखाकर] ये साँवले-सलोने कुमार देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। जन्मते ही वसुदेवजीने इन्हें गोकुल पहुँचा दिया था। इतने दिनोंतक ये वहाँ छिपकर रहे और नन्दजीके घरमें ही पलकर इतने बड़े हुए ॥२४॥ इन्होंने ही पूतना, तृणावर्त, शङ्खचूड़, केशी और धेनुक आदिका तथा और भी दुष्ट दैत्योंका वध तथा यमलार्जुनका उद्धार किया है ॥ २५ ॥ इन्होंने ही गौ और ग्वालोंको दावानलकी ज्वालासे बचाया था। कालिय नागका दमन और इन्द्रका मान-मर्दन भी इन्होंने ही किया था ॥२६॥ इन्होंने सात दिनोंतक एक ही हाथपर गिरिराज गोवर्धनको उठाये रक्खा और उसके द्वारा आँधी-पानी तथा वज्रपातसे गोकुलको बचा लिया ॥ २७ ॥ गोपियाँ इनकी मन्द-मन्द मुसुकान, मधुर चितवन और सर्वदा एकरस प्रसन्न रहनेवाले मुखारविन्दके दर्शनसे आनन्दित रहती थीं और अनायास ही सब प्रकारके तापोंसे मुक्त हो जाती थीं ॥ २८ ॥ कहते हैं कि ये यदुवंशकी रक्षा करेंगे। यह विख्यात वंश इनके द्वारा महान् समृद्धि, यश और गौरव प्राप्त करेगा ॥ २९ ॥ ये दूसरे इन्हीं श्यामसुन्दरके बड़े भाई कमलनयन श्रीबलरामजी हैं। हमने किसी-किसीके मुँहसे ऐसा सुना है कि इन्होंने ही प्रलम्बासुर, वत्सासुर और बकासुर आदिको मारा है' ॥ ३० ॥

जिस समय दर्शकोंमें यह चर्चा हो रही थी और अखाड़ेमें तुरही आदि बाजे बज रहे थे, उस समय चाणूरने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको सम्बोधन करके यह बात कही—॥ ३१ ॥ 'नन्दनन्दन श्रीकृष्ण और बलरामजी! तुम दोनों वीरोंके आदरणीय हो।

१. र्यसंमतौ।

नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाऽऽहूतौ दिदृक्षुणा ॥३२॥

प्रियं राज्ञः प्रकुर्वन्त्यः श्रेयो विन्दन्ति वै प्रजाः ।

मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा ॥३३॥

नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथा स्फुटम् ।

वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः ॥३४॥

तस्माद् राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवामहे ।

भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः ॥३५॥

तन्निशम्याब्रवीत् कृष्णो देशकालोचितं वचः ।

नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च ॥३६॥

प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः ।

करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः ॥३७॥

बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम् ।

भवेन्नियुद्धं माधर्मः स्पृशेन्मल्लसभासदः ॥३८॥

चाणूर उवाच

न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः ।

लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत् ॥३९॥

तस्माद् भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नानयोऽत्र वै ।

मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः ॥४०॥

हमारे महाराजने यह सुनकर कि तुमलोग कुश्ती लड़नेमें बड़े निपुण हो, तुम्हारा कौशल देखनेके लिये तुम्हें यहाँ बुलवाया है ॥ ३२ ॥ देखो भाई ! जो प्रजा मन, वचन और कर्मसे राजाका प्रिय कार्य करती है, उसका भला होता है और जो राजाकी इच्छाके विपरीत काम करती है, उसे हानि उठानी पड़ती है ॥ ३३ ॥ यह सभी जानते हैं कि गाय और बछड़े चरानेवाले ग्वालिये प्रतिदिन आनन्दसे जंगलोंमें कुश्ती लड़-लड़कर खेलते रहते हैं और गायें चराते रहते हैं ॥ ३४ ॥ इसलिये आओ, हम और तुम मिलकर महाराजको प्रसन्न करनेके लिये कुश्ती लड़ें । ऐसा करनेसे हमपर सभी प्राणी प्रसन्न होंगे, क्योंकि राजा सारी प्रजाका प्रतीक है' ॥ ३५ ॥

परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण तो चाहते ही थे कि इनसे दो-दो हाथ करें । इसलिये उन्होंने चाणूरकी बात सुनकर उसका अनुमोदन किया और देश-कालके अनुसार यह बात कही—॥ ३६ ॥ 'चाणूर ! हम भी इन भोजराज कंसकी वनवासी प्रजा हैं । हमें इनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये । इसीमें हमारा कल्याण है ॥ ३७ ॥ किन्तु चाणूर ! हमलोग अभी बालक हैं । इसलिये हम अपने समान बलवाले बालकोंके साथ ही कुश्ती लड़नेका खेल करेंगे । कुश्ती समान बलवालोंके साथ ही होनी चाहिये, जिससे देखनेवाले सभासदोंको अन्यायके समर्थक होनेका पाप न लगे' ॥ ३८ ॥

चाणूरने कहा—अजी ! तुम और बलराम न बालक हो और न तो किशोर । तुम दोनों बलवानोंमें श्रेष्ठ हो, तुमने अभी-अभी हजार हाथियोंका बल रखनेवाले कुवलयापीड़को खेल-ही-खेलमें मार डाला ॥ ३९ ॥ इसलिये तुम दोनोंको हम-जैसे बलवानोंके साथ ही लड़ना चाहिये । इसमें अन्यायकी कोई बात नहीं है । इसलिये श्रीकृष्ण ! तुम मुझपर अपना जोर आजमाओ और बलरामके साथ मुष्टिक लड़ेगा ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कुवलयापीडवधो नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

१.लसदः क्वचित् । २. मल्लक्रीडायां त्रिच० ।

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

चाणूर, मुष्टिक आदि पहलवानोंका तथा कंसका उद्धार

श्रीशुक उवाच

एवं चर्चितसङ्कल्पो भगवान् मधुसूदनः ।
आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥ १ ॥

हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः ।
विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥ २ ॥

अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी ।
शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ ३ ॥

परिभ्रामणविक्षेपपरिरम्भावपातनैः ।
उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं प्रत्यरुन्धताम् ॥ ४ ॥

उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि ।
परस्परं जिगीषन्तावपचक्रतुरात्मनः ॥ ५ ॥

तद् बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः ।
ऊचुः परस्परं राजन् सानुकम्पा वरूथशः ॥ ६ ॥

महानयं बताधर्म एषां राजसभासदाम् ।
ये बलाबलवद्युद्धं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥ ७ ॥

क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ ।
क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णने चाणूर आदिके वधका निश्चित संकल्प कर लिया। जोड़ बद दिये जानेपर श्रीकृष्ण चाणूरसे और बलरामजी मुष्टिकसे जा भिड़े ॥ १ ॥ वे लोग एक दूसरेको जीत लेनेकी इच्छासे हाथसे हाथ बाँधकर और पैरोंमें पैर अड़ाकर बलपूर्वक अपनी-अपनी ओर खींचने लगे ॥ २ ॥ वे पंजोंसे पंजे, घुटनोंसे घुटने, माथेसे माथा और छातीसे छाती भिड़ाकर एक-दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ३ ॥ इस प्रकार दाँव-पेंच करते-करते अपने-अपने जोड़ीदारको पकड़कर इधर-उधर घुमाते, दूर ढकेल देते, जोरसे जकड़ लेते, लिपट जाते, उठाकर पटक देते, छूटकर निकल भागते और कभी छोड़कर पीछे हट जाते थे। इस प्रकार एक-दूसरेको रोकते, प्रहार करते और अपने जोड़ीदारको पछाड़ देनेकी चेष्टा करते। कभी कोई नीचे गिर जाता, तो दूसरा उसे घुटनों और पैरोंमें दबाकर उठा लेता। हाथोंसे पकड़कर ऊपर ले जाता। गलेमें लिपट जानेपर ढकेल देता और आवश्यकता होनेपर हाथ-पाँव इकट्ठे करके गाँठ बाँध देता ॥ ४-५ ॥

परीक्षित् ! इस दंगलको देखनेके लिये नगरकी बहुत-सी महिलाएँ भी आयी हुई थीं। उन्होंने जब देखा कि बड़े-बड़े पहलवानोंके साथ ये छोटे-छोटे बल-हीन बालक लड़ाये जा रहे हैं, तब वे अलग-अलग टोलियाँ बनाकर करुणावश आपसमें बातचीत करने लगीं— ॥ ६ ॥ 'यहाँ राजा कंसके सभासद् बड़ा अन्याय और अधर्म कर रहे हैं। कितने खेदकी बात है कि राजाके सामने ही ये बली पहलवानों और निर्बल बालकोंके युद्धका अनुमोदन करते हैं ॥ ७ ॥ बहिन ! देखो, इन पहलवानोंका एक-एक अङ्ग वज्रके समान कठोर है। ये देखनेमें बड़े भारी पर्वत-से मालूम होते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण और बलराम अभी जवान भी नहीं हुए हैं। इनकी किशोर अवस्था है। इनका एक-एक अङ्ग अत्यन्त सुकुमार है। कहाँ ये और कहाँ वे ? ॥ ८ ॥

१. कोशा । २. बलयोर्युद्धं ।

धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत् ।
यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित् ॥ ९ ॥

जितने लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं, देख रहे हैं, उन्हें अवश्य-अवश्य धर्मोल्लङ्घनका पाप लगेगा । सखी ! अब हमें भी यहाँसे चल देना चाहिये । जहाँ अधर्मकी प्रधानता हो, वहाँ कभी न रहे; यही शास्त्रका नियम है ॥ ९ ॥

न सभां प्रविशेत् प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन् ।
अब्रुवन् विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते ॥ १० ॥

देखो, शास्त्र कहता है कि बुद्धिमान् पुरुषको सभासदोंके दोषोंको जानते हुए, सभामें जाना ठीक नहीं है । क्योंकि वहाँ जाकर उन अवगुणोंको कहना, चुप रह जाना अथवा मैं नहीं जानता ऐसा कह देना—ये तीनों ही बातें मनुष्यको दोषभागी बनाती हैं ॥ १० ॥

वल्गतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम् ।
वीक्ष्यतां श्रमवार्युप्तं पद्मकोशमिवाम्बुभिः ॥ ११ ॥

देखो, देखो, श्रीकृष्ण शत्रुके चारों ओर पैंतरा बदल रहे हैं । उनके मुखपर पसीनेकी बूँदें ठीक वैसे ही शोभा दे रही हैं, जैसे कमलकोशपर जलकी बूँदें ॥ ११ ॥

किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम् ।
मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितम् ॥ १२ ॥

सखियो ! क्या तुम नहीं देख रही हो कि बलरामजीका मुख मुष्टिकके प्रति क्रोधके कारण कुछ-कुछ लाल लोचनोंसे युक्त हो रहा है ! फिर भी हास्यका अनिरुद्ध आवेग कितना सुन्दर लग रहा है ॥ १२ ॥

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग-
गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः ।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं
विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः ॥ १३ ॥

सखी ! सच पूछो तो व्रजभूमि ही परम पवित्र और धन्य है । क्योंकि वहाँ ये पुरुषोत्तम मनुष्यके वेषमें छिपकर रहते हैं । स्वयं भगवान् शङ्कर और लक्ष्मीजी जिनके चरणोंकी पूजा करती हैं, वे ही प्रभु वहाँ रंग-बिरंगे जंगली पुष्पोंकी माला धारण कर लेते हैं तथा बलरामजीके साथ बाँसुरी बजाते, गौएँ चराते और तरह-तरहके खेल खेलते हुए आनन्दसे विचरते हैं ॥ १३ ॥

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्[1] ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥ १४ ॥

सखी ! पता नहीं, गोपियोंने कौन-सी तपस्या की थी, जो नेत्रोंके दोनोंसे नित्य निरन्तर इनकी रूप-माधुरीका पान करती रहती हैं । इनका रूप क्या है, लावण्यका सार ! संसारमें या उससे परे किसीका भी रूप इनके रूपके समान नहीं है, फिर बढ़कर होनेकी तो बात ही क्या है ! सो भी किसीके सँवारने-सजानेसे नहीं, गहने-कपड़ेसे भी नहीं, बल्कि स्वयंसिद्ध है । इस रूपको देखते-देखते तृप्ति भी नहीं होती । क्योंकि यह प्रतिक्षण नया होता जाता है, नित्य नूतन है । समग्र यश, सौन्दर्य और ऐश्वर्य इसीके आश्रित हैं । सखियो ! परन्तु इसका दर्शन तो औरोंके लिये बड़ा ही दुर्लभ है । वह तो गोपियोंके ही भाग्यमें बदा है ॥ १४ ॥

१. भनम् ।

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥१५॥
प्रातर्व्रजाद् व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम् ।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ॥१६॥

सखी ! व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं । निरन्तर श्रीकृष्णमें ही चित्त लगा रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे, आँसुओंके कारण गद्‌गद कण्ठसे वे इन्हींकी लीलाओंका गान करती रहती हैं । वे दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको झूला झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरोंको झाड़ते-बुहारते—कहाँतक कहें, सारे काम-काज करते समय श्रीकृष्णके गुणोंके गानमें ही मस्त रहती हैं ॥ १५ ॥ ये श्रीकृष्ण जब प्रातःकाल गौओंको चरानेके लिये व्रजसे वनमें जाते हैं और सायङ्काल उन्हें लेकर व्रजमें लौटते हैं, तब बड़े मधुर स्वरसे बाँसुरी बजाते हैं । उसकी टेर सुनकर गोपियाँ घरका सारा काम-काज छोड़कर झटपट रास्तेमें दौड़ आती हैं और श्रीकृष्णका मन्द-मन्द मुसकान एवं दयाभरी चितवनसे युक्त मुखकमल निहार-निहारकर निहाल होती हैं । सचमुच गोपियाँ ही परम पुण्यवती हैं' ॥ १६ ॥

एवं प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः ।
शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान् भरतर्षभ ॥१७॥
सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रस्नेहशुचाऽऽतुरौ ।
पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम् ॥१८॥
तैस्तैर्नियुद्धविधिभिर्विविधैरच्युतेतरौ ।
युयुधाते यथान्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ ॥१९॥
भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः ।
चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानिमवाप ह ॥२०॥
स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टीकृत्य करावुभौ ।
भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत ॥२१॥

भरतवंशशिरोमणे ! जिस समय पुरवासिनी स्त्रियाँ इस प्रकार बातें कर रही थीं, उसी समय योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने मन-ही-मन शत्रुको मार डालनेका निश्चय किया ॥ १७ ॥ स्त्रियोंकी ये भयपूर्ण बातें माता-पिता देवकी-वसुदेव भी सुन रहे थे* । वे पुत्रस्नेहवश शोकसे विह्वल हो गये । उनके हृदयमें बड़ी जलन, बड़ी पीड़ा होने लगी । क्योंकि वे अपने पुत्रोंके बल-वीर्यको नहीं जानते थे ॥ १८ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण और उनसे भिड़नेवाला चाणूर दोनों ही भिन्न-भिन्न प्रकारके दाँव-पेंचका प्रयोग करते हुए परस्पर जिस प्रकार लड़ रहे थे, वैसे ही बलरामजी और मुष्टिक भी भिड़े हुए थे ॥ १९ ॥ भगवान्‌के अङ्ग-प्रत्यङ्ग वज्रसे भी कठोर हो रहे थे । उनकी रगड़से चाणूरकी रग-रग ढीली पड़ गयी । बार-बार उसे ऐसा मालूम हो रहा था मानो उसके शरीरके सारे बन्धन टूट रहे हैं । उसे बड़ी ग्लानि, बड़ी व्यथा हुई ॥ २० ॥ अब वह अत्यन्त क्रोधित होकर बाजकी तरह झपटा और दोनों हाथोंके घूँसे बाँधकर उसने भगवान् श्रीकृष्ण-की छातीपर प्रहार किया ॥ २१ ॥ परन्तु उसके प्रहारसे

* स्त्रियाँ जहाँ बातें कर रही थीं, वहाँसे निकट ही वसुदेव-देवकी कैद थे, अतः वे उनकी बातें सुन सके ।

नाचलत्तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः ।
बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशो भ्रामयन् हरिः ॥२२॥
भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम् ।
विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत् ॥२३॥
तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै ।
बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम् ॥२४॥
प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन् मुखतोऽर्दितः ।
व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः ॥२५॥
ततः कूटमनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः ।
अवधील्लीलया राजन् सावज्ञं वाममुष्टिना ॥२६॥
तर्ह्येव हि शलः कृष्णपदापहतशीर्षकः ।
द्विधा विदीर्णस्तोशलक उभावपि निपेततुः ॥२७॥
चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते ।
शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥२८॥
गोपान् वयस्यानाकृष्य तैः संसृज्य विजह्रतुः ।
वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रुतनूपुरौ ॥२९॥
जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः ।
ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधु साध्विति ॥३०॥
हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट् ।
न्यवारयत् स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह ॥३१॥

भगवान् तनिक भी विचलित न हुए, जैसे फूलोंके गजरेकी मारसे गजराज। उन्होंने चाणूरकी दोनों भुजाएँ पकड़ लीं और उसे अन्तरिक्षमें बड़े वेगसे कई बार घुमाकर धरतीपर दे मारा। परीक्षित्! चाणूरके प्राण तो घुमानेके समय ही निकल गये थे। उसकी वेष-भूषा अस्त-व्यस्त हो गयी, केश और मालाएँ बिखर गयीं, वह इन्द्रध्वज (इन्द्रकी पूजाके लिये खड़े किये गये बड़े झंडे) के समान गिर पड़ा ॥ २२-२३ ॥ इसी प्रकार मुष्टिकने भी पहले बलरामजीको एक घूँसा मारा। इसपर बली बलरामजीने उसे बड़े जोरसे एक तमाचा जड़ दिया ॥२४॥ तमाचा लगनेसे वह काँप उठा और आँधीसे उखड़े हुए वृक्षके समान अत्यन्त व्यथित और अन्तमें प्राणहीन होकर खून उगलता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २५ ॥ हे राजन्! इसके बाद योद्धाओंमें श्रेष्ठ भगवान् बलरामजीने अपने सामने आते ही कूट नामक पहलवानको खेल-खेलमें ही बायें हाथके घूँसेसे उपेक्षापूर्वक मार डाला ॥ २६ ॥ उसी समय भगवान् श्रीकृष्णने पैरकी ठोकरसे शलका सिर धड़से अलग कर दिया और तोशलको तिनकेकी तरह चीरकर दो टुकड़े कर दिया। इस प्रकार दोनों धराशायी हो गये ॥ २७ ॥ जब चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल—ये पाँचों पहलवान मर चुके, तब जो बच रहे थे, वे अपने प्राण बचानेके लिये स्वयं वहाँसे भाग खड़े हुए ॥२८॥ उनके भाग जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी अपने समवयस्क ग्वालबालोंको खींच-खींचकर उनके साथ भिड़ने और नाच-नाचकर भेरीध्वनिके साथ अपने नूपुरोंकी झनकारको मिलाकर मल्लक्रीडा—कुश्तीके खेल करने लगे ॥२९॥

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी इस अद्भुत लीलाको देखकर सभी दर्शकोंको बड़ा आनन्द हुआ। श्रेष्ठ ब्राह्मण और साधु पुरुष 'धन्य है, धन्य है'—इस प्रकार कहकर प्रशंसा करने लगे। परन्तु कंसको इससे बड़ा दुःख हुआ। वह और भी चिढ़ गया ॥ ३० ॥ जब उसके प्रधान पहलवान मार डाले गये और बचे हुए सब-के-सब भाग गये, तब भोजराज कंसने अपने बाजे-गाजे बंद करा दिये और अपने सेवकोंको यह आज्ञा

१. स्रगिभर्हत इव।

निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात् ।
धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम् ॥३२॥
वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यतामाश्वसत्तमः ।
उग्रसेनः पिता चापि सानुगः परपक्षगः ॥३३॥
एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः ।
लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत् ॥३४॥
तमाविशन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात् ।
मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी ॥३५॥

तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु
श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे ।
समग्रहीद् दुर्विषहोग्रतेजा
यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य ॥३६॥

प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं
निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात् ।
तस्योपरिष्टात् स्वयमब्जनाभः
पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ॥३७॥

तं सम्परेतं विचकर्ष भूमौ
हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः ।
हाहेति शब्दः सुमहांस्तदाभू-
दुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र ॥३८॥

स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं
पिबन् वदन् वा विचरन् स्वपञ्श्वसन् ।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो य-
स्तदेव रूपं दुरवापमाप ॥३९॥

दी—॥ ३१ ॥ 'अरे, वसुदेवके इन दुश्चरित्र लड़कोंको नगरसे बाहर निकाल दो । गोपोंका सारा धन छीन लो और दुर्बुद्धि नन्दको कैद कर लो ॥ ३२ ॥ वसुदेव भी बड़ा कुबुद्धि और दुष्ट है । उसे शीघ्र मार डालो । और उग्रसेन मेरा पिता होनेपर भी अपने अनुयायियोंके साथ शत्रुओंसे मिला हुआ है । इसलिये उसे भी जीता मत छोड़ो' ॥३३॥ कंस इस प्रकार बढ़-बढ़कर बकवाद कर रहा था कि अविनाशी श्रीकृष्ण कुपित होकर फुर्तीसे वेगपूर्वक उछलकर लीलासे ही उसके ऊँचे मञ्चपर जा चढ़े ॥३४॥ जब मनस्वी कंसने देखा कि मेरे मृत्युरूप भगवान् श्रीकृष्ण सामने आ गये, तब वह सहसा अपने सिंहासनसे उठ खड़ा हुआ और हाथमें ढाल तथा तलवार उठा ली ॥३५॥ हाथमें तलवार लेकर वह चोट करनेका अवसर ढूँढ़ता हुआ पैंतरा बदलने लगा । आकाशमें उड़ते हुए बाजके समान वह कभी दायीं ओर जाता तो कभी बायीं ओर । परन्तु भगवान्का प्रचण्ड तेज अत्यन्त दुस्सह है । जैसे गरुड़ साँपको पकड़ लेते हैं, वैसे ही भगवान्ने बलपूर्वक उसे पकड़ लिया ॥ ३६ ॥ इसी समय कंसका मुकुट गिर गया और भगवान्ने उसके केश पकड़कर उसे भी उस ऊँचे मञ्चसे रंगभूमिमें गिरा दिया । फिर परम स्वतन्त्र और सारे विश्वके आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण उसके ऊपर स्वयं कूद पड़े ॥ ३७ ॥ उनके कूदते ही कंसकी मृत्यु हो गयी । सबके देखते-देखते भगवान् श्रीकृष्ण कंसकी लाशको धरतीपर उसी प्रकार घसीटने लगे, जैसे सिंह हाथीको घसीटे । नरेन्द्र ! उस समय सबके मुँहसे 'हाय ! हाय !' की बड़ी ऊँची आवाज सुनायी पड़ी ॥ ३८ ॥ कंस नित्य-निरन्तर बड़ी घबड़ाहटके साथ श्रीकृष्णका ही चिन्तन करता रहता था । वह खाते-पीते, सोते-चलते, बोलते और साँस लेते—सब समय अपने सामने चक्र हाथमें लिये भगवान् श्रीकृष्णको ही देखता रहता था । इस नित्य चिन्तनके फलस्वरूप—वह चाहे द्वेषभावसे ही क्यों न किया गया हो—उसे भगवान्के उसी रूपकी प्राप्ति हुई, सारूप्य-मुक्ति हुई, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े तपस्वी योगियोंके लिये भी कठिन है ॥ ३९ ॥

१. यतस्त० ।



कंस-उद्धार

[पृष्ठ ३९८

तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ कङ्कन्यग्रोधकादयः ।
अभ्यधावन्नभिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः ॥४०॥
तथातिरभसांस्तांस्तु संयत्तान् रोहिणीसुतः ।
अहन् परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः ॥४१॥
नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः ।
पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः ॥४२॥
तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः ।
तत्राभीयुर्विनिघ्नन्त्यः शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः ॥४३॥
शयानान् वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः ।
विलेपुः सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुः शुचः ॥४४॥
हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथवत्सल ।
त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः ॥ ४५॥
त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ ।
न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला ॥४६॥
अनागसां त्वं भूतानां कृतवान् द्रोहमुल्बणम् ।
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक् को लभेत शम् ॥४७॥
सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः ।
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित् सुखमेधते ॥४८॥

श्रीशुक उवाच

राजयोषित आश्वास्य भगवाँल्लोकभावनः ।
यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत् ॥४९॥

कंसके कङ्क और न्यग्रोध आदि आठ छोटे भाई थे। वे अपने बड़े भाईका बदला लेनेके लिये क्रोधसे आग-बबूले होकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी ओर दौड़े ॥ ४० ॥ जब भगवान् बलरामजीने देखा कि वे बड़े वेगसे युद्धके लिये तैयार होकर दौड़े आ रहे हैं, तब उन्होंने परिघ उठाकर उन्हें वैसे ही मार डाला, जैसे सिंह पशुओंको मार डालता है ॥ ४१ ॥ उस समय आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं । भगवान्‌के विभूति-स्वरूप ब्रह्मा, शङ्कर आदि देवता बड़े आनन्दसे पुष्पोंकी वर्षा करते हुए उनकी स्तुति करने लगे । अप्सराएँ नाचने लगीं ॥ ४२ ॥ महाराज ! कंस और उसके भाइयोंकी स्त्रियाँ अपने आत्मीय स्वजनोंकी मृत्युसे अत्यन्त दुःखित हुईं । वे अपने सिर पीटती हुई आँखोंमें आँसू भरे वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥ वीरशय्यापर सोये हुए अपने पतियोंसे लिपटकर वे शोकग्रस्त हो गयीं और बार-बार आँसू बहाती हुई ऊँचे स्वरसे विलाप करने लगीं ॥ ४४ ॥ 'हा नाथ ! हे प्यारे ! हे धर्मज्ञ ! हे करुणामय ! हे अनाथवत्सल ! आपकी मृत्युसे हम सबकी मृत्यु हो गयी । आज हमारे घर उजड़ गये । हमारी सन्तान अनाथ हो गयी ॥ ४५ ॥ पुरुषश्रेष्ठ ! इस पुरीके आप ही स्वामी थे । आपके विरहसे इसके उत्सव समाप्त हो गये और मङ्गलचिह्न उतर गये । यह हमारी ही भाँति विधवा होकर शोभाहीन हो गयी ॥ ४६ ॥ स्वामी ! आपने निरपराध प्राणियोंके साथ घोर द्रोह किया था, अन्याय किया था; इसीसे आपकी यह गति हुई । सच है, जो जगत्‌के जीवोंसे द्रोह करता है, उनका अहित करता है, ऐसा कौन पुरुष शान्ति पा सकता है ? ॥४७॥ ये भगवान् श्रीकृष्ण जगत्‌के समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके आधार हैं । यही रक्षक भी हैं । जो इनका बुरा चाहता है, इनका तिरस्कार करता है; वह कभी सुखी नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सारे संसारके जीवनदाता हैं । उन्होंने रानियोंको ढाढ़स बँधाया, सान्त्वना दी; फिर लोकरीतिके अनुसार मरनेवालोंका जैसा क्रिया-कर्म होता है, वह

मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात् ।
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसाऽऽस्पृश्य पादयोः ॥५०॥
देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न[1] शङ्कितौ ॥५१॥

सव कराया ॥ ४९ ॥ तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने जेलमें जाकर अपने माता-पिताको बन्धनसे छुड़ाया और सिरसे स्पर्श करके उनके चरणोंकी वन्दना की ॥ ५० ॥ किन्तु अपने पुत्रोंके प्रणाम करनेपर भी देवकी और वसुदेवने उन्हें जगदीश्वर समझकर अपने हृदयसे नहीं लगाया । उन्हें शङ्का हो गयी कि हम जगदीश्वरको पुत्र कैसे समझें ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[2]
कंसवधो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-बलरामका यज्ञोपवीत और गुरुकुलप्रवेश

श्रीशुक[3] उवाच

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः ।
मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ॥ १ ॥
उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः ।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ॥ २ ॥
नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि ।
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन् क्वचित् ॥ ३ ॥
न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके ।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम् ॥४॥
सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि माता-पिताको मेरे ऐश्वर्यका, मेरे भगवद्भावका ज्ञान हो गया है । परन्तु इन्हें ऐसा ज्ञान होना ठीक नहीं, (इससे तो ये पुत्र-स्नेहका सुख नहीं पा सकेंगे—) ऐसा सोचकर उन्होंने उनपर अपनी वह योगमाया फैला दी, जो उनके स्वजनोंको मुग्ध रखकर उनकी लीलामें सहायक होती है ॥ १ ॥ यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण बड़े भाई बलरामजीके साथ अपने माँ-बापके पास जाकर आदरपूर्वक और विनयसे झुककर 'मेरी अम्मा ! मेरे पिताजी !' इन शब्दोंसे उन्हें प्रसन्न करते हुए कहने लगे—॥ २ ॥ 'पिताजी ! माताजी ! हम आपके पुत्र हैं और आप हमारे लिये सर्वदा उत्कण्ठित रहे हैं, फिर भी आप हमारे बाल्य, पौगण्ड और किशोर अवस्थाका सुख हमसे नहीं पा सके ॥ ३ ॥ दुर्दैववश हमलोगोंको आपके पास रहनेका सौभाग्य ही नहीं मिला । इसीसे बालकोंको माता-पिताके घरमें रहकर जो लाड़-प्यारका सुख मिलता है, वह हमें भी नहीं मिल सका ॥४॥ पिता और माता ही इस शरीरको जन्म देते हैं और इसका लालन-पालन करते हैं । तब कहीं जाकर यह शरीर धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षकी प्राप्तिका साधन

१. अशङ्कि० । २. न्धे कंस० । ३. बादरायणिरुवाच ।

न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥ ५ ॥
यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च ।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ॥ ६ ॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् ।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः ॥ ७ ॥
तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः ।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः ॥ ८ ॥
तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः ।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा ।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ॥१०॥
सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ।
न किंचिदूचतू राजन् बाष्पकण्ठौ विमोहितौ ॥११॥
एवमाश्वास्य पितरौ भगवान् देवकीसुतः ।
मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम् ॥१२॥
आह चास्मान् महाराज प्रजाश्चाज्ञप्तुमर्हसि ।
ययातिशापाद् यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥१३॥
मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः ।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः[2] ॥१४॥

बनता है। यदि कोई मनुष्य सौ वर्षतक जीकर माता और पिताकी सेवा करता रहे, तब भी वह उनके उपकारसे उऋण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ जो पुत्र सामर्थ्य रहते भी अपने माँ-बापकी शरीर और धनसे सेवा नहीं करता, उसके मरनेपर यमदूत उसे उसके अपने शरीरका मांस खिलाते हैं ॥ ६ ॥ जो पुरुष समर्थ होकर भी बूढ़े माता-पिता, सती पत्नी, बालक, सन्तान, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतका भरण-पोषण नहीं करता—वह जीता हुआ भी मुर्देके समान ही है ! ॥ ७ ॥ पिताजी ! हमारे इतने दिन व्यर्थ ही बीत गये। क्योंकि कंसके भयसे सदा उद्विग्नचित्त रहनेके कारण हम आपकी सेवा करनेमें असमर्थ रहे ॥ ८ ॥ मेरी माँ और मेरे पिताजी ! आप दोनों हमें क्षमा करें। हाय ! दुष्ट कंसने आपको इतने-इतने कष्ट दिये, परन्तु हम परतन्त्र रहनेके कारण आपकी कोई सेवा-शुश्रूषा न कर सके' ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अपनी लीलासे मनुष्य बने हुए विश्वात्मा श्रीहरिकी इस वाणीसे मोहित हो देवकी-वसुदेवने उन्हें गोदमें उठा लिया और हृदयसे चिपकाकर परमानन्द प्राप्त किया ॥ १० ॥ राजन् ! वे स्नेह-पाशसे बँधकर पूर्णतः मोहित हो गये और आँसुओंकी धारासे उनका अभिषेक करने लगे। यहाँतक कि आँसुओंके कारण गला रुँध जानेसे वे कुछ बोल भी न सके ॥ ११ ॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार अपने माता-पिताको सान्त्वना देकर अपने नाना उग्रसेनको यदुवंशियोंका राजा बना दिया ॥ १२ ॥ और उनसे कहा—महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं। आप हमलोगोंपर शासन कीजिये। राजा ययातिका शाप होनेके कारण यदुवंशी राजसिंहासनपर नहीं बैठ सकते; (परन्तु मेरी ऐसी ही इच्छा है, इसलिये आपको कोई दोष न होगा।)' ॥ १३ ॥ जब मैं सेवक बनकर आपकी सेवा करता रहूँगा, तब बड़े-बड़े देवता भी सिर झुकाकर आपको भेंट देंगे।' दूसरे नरपतियोंके बारेमें तो कहना

१. किञ्चनोचतू। २. नृपादयः।

सर्वान् स्वाञ्ज्ञातिसंबन्धान् दिग्भ्यः कंसभयाकुलान्।
यदुवृष्ण्यन्धकमधुदाशार्हकुकुरादिकान् ॥१५॥
सभाजितान् समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान्।
न्यवासयत् स्वगेहेषु वित्तैः संतर्प्य विश्वकृत् ॥१६॥
कृष्णसंकर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः।
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामगतज्वराः ॥१७॥
वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम्।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत् सदयस्मितवीक्षणम् ॥१८॥
तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः ॥१९॥
अथ नन्दं समासाद्य भगवान् देवकीसुतः।
संकर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ॥२०॥
पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्।
पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि ॥२१॥
स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत्।
शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे ॥२२॥
यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान्।

ही क्या है ॥ १४ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सारे विश्वके विधाता हैं। उन्होंने, जो कंसके भयसे व्याकुल होकर इधर-उधर भाग गये थे, उन यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुकुर आदि वंशोंमें उत्पन्न समस्त सजातीय सम्बन्धियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर बुलवाया। उन्हें घरसे बाहर रहनेमें बड़ा क्लेश उठाना पड़ा था। भगवान्‌ने उनका सत्कार किया, सान्त्वना दी और उन्हें खूब धन-सम्पत्ति देकर तृप्त किया तथा अपने-अपने घरोंमें बसा दिया ॥ १५-१६ ॥ अब सारे-के-सारे यदुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीके बाहुबलसे सुरक्षित थे। उनकी कृपासे उन्हें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं थी, दुःख नहीं था। उनके सारे मनोरथ सफल हो गये थे। वे कृतार्थ हो गये थे। अब वे अपने-अपने घरोंमें आनन्दसे विहार करने लगे ॥ १७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णका वदन आनन्दका सदन है। वह नित्य प्रफुल्लित, कभी न कुम्हलानेवाला कमल है। उसका सौन्दर्य अपार है। सदय हास और चितवन उसपर सदा नाचती रहती है। यदुवंशी दिन-प्रतिदिन उसका दर्शन करके आनन्दमग्न रहते ॥ १८ ॥ मथुराके वृद्ध पुरुष भी युवकोंके समान अत्यन्त बलवान् और उत्साही हो गये थे; क्योंकि वे अपने नेत्रोंके दोनोंसे बारंबार भगवान्‌के मुखारविन्दका अमृतमय मकरन्द-रस पान करते रहते थे ॥ १९ ॥

प्रिय परीक्षित् ! अब देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों ही नन्दबाबाके पास आये और गले लगनेके बाद उनसे कहने लगे—॥ २० ॥ 'पिताजी ! आपने और माँ यशोदाने बड़े स्नेह और दुलारसे हमारा लालन-पालन किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि माता-पिता सन्तानपर अपने शरीरसे भी अधिक स्नेह करते हैं ॥ २१ ॥ जिन्हें पालन-पोषण न कर सकनेके कारण स्वजन-सम्बन्धियोंने त्याग दिया है, उन बालकोंको जो लोग अपने पुत्रके समान लाड़-प्यारसे पालते हैं, वे ही वास्तवमें उनके माँ-बाप हैं ॥ २२ ॥ पिताजी ! अब आपलोग व्रजमें जाइये। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे बिना वात्सल्य स्नेहके कारण आप

१. भयार्दितान्।

ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥२३॥

एवं सान्त्वय्य भगवान् नन्दं सव्रजमच्युतः ।

वासोऽलङ्कारकुप्याद्यैरर्हयामास सादरम् ॥२४॥

इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः ।

पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सह गोपैर्व्रजं ययौ ॥२५॥

अथ शूरसुतो राजन् पुत्रयोः समकारयत् ।

पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद् द्विजसंस्कृतिम् ॥२६॥

तेभ्योऽदाद् दक्षिणा गावो रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः ।

स्वलङ्कृतेभ्यः संपूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः ॥२७॥

याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः ।

ताश्चाददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः ॥२८॥

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ ।

गर्गाद् यदुकुलाचार्याद् गायत्रं व्रतमास्थितौ ॥२९॥

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ ।

नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः ॥३०॥

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः ।

काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥३१॥

यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम् ।

लोगोंको बहुत दुःख होगा। यहाँके सुहृद्-सम्बन्धियोंको सुखी करके हम आपलोगोंसे मिलनेके लिये आयेंगे' ॥ २३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने नन्दबाबा और दूसरे व्रजवासियोंको इस प्रकार समझा-बुझाकर बड़े आदरके साथ वस्त्र, आभूषण और अनेक धातुओंके बने बरतन आदि देकर उनका सत्कार किया ॥ २४ ॥ भगवान्‌की बात सुनकर नन्दबाबाने प्रेमसे अधीर होकर दोनों भाइयोंको गले लगा लिया और फिर नेत्रोंमें आँसू भरकर गोपोंके साथ व्रजके लिये प्रस्थान किया ॥२५॥

हे राजन्! इसके बाद वसुदेवजीने अपने पुरोहित गर्गाचार्य तथा दूसरे ब्राह्मणोंसे दोनों पुत्रोंका विधिपूर्वक द्विजाति-समुचित यज्ञोपवीत-संस्कार करवाया ॥ २६ ॥ उन्होंने विविध प्रकारके वस्त्र और आभूषणोंसे ब्राह्मणोंका सत्कार करके उन्हें बहुत-सी दक्षिणा तथा बछड़ोंवाली गौएँ दीं। सभी गौएँ गलेमें सोनेकी माला पहने हुए थीं तथा और भी बहुत-से आभूषणों एवं रेशमी वस्त्रोंकी मालाओंसे विभूषित थीं ॥ २७ ॥ महामति वसुदेवजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके जन्म-नक्षत्रमें जितनी गौएँ मन-ही-मन सङ्कल्प करके दी थीं, उन्हें पहले कंसने अन्यायसे छीन लिया था। अब उनका स्मरण करके उन्होंने ब्राह्मणोंको वे फिरसे दीं ॥ २८ ॥ इस प्रकार यदुवंशके आचार्य गर्गजीसे संस्कार कराकर बलरामजी और भगवान् श्रीकृष्ण द्विजत्वको प्राप्त हुए। उनका ब्रह्मचर्यव्रत अखण्ड तो था ही, अब उन्होंने गायत्रीपूर्वक अध्ययन करनेके लिये उसे नियमतः स्वीकार किया ॥ २९ ॥ श्रीकृष्ण और बलराम जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं। सर्वज्ञ हैं। सभी विद्याएँ उन्हींसे निकली हैं। उनका निर्मल ज्ञान स्वतः सिद्ध है। फिर भी उन्होंने मनुष्यकी-सी लीला करके उसे छिपा रक्खा था ॥३०॥

अब वे दोनों गुरुकुलमें निवास करनेकी इच्छासे काश्यपगोत्री सान्दीपनि मुनिके पास गये, जो अवन्तीपुर (उज्जैन) में रहते थे ॥ ३१ ॥ वे दोनों भाई विधिपूर्वक गुरुजीके पास रहने लगे। उस समय वे बड़े ही सुसंयत, अपनी चेष्टाओंको सर्वथा नियमित रक्खे हुए थे। गुरुजी तो उनका आदर करते ही थे, भगवान् श्रीकृष्ण

ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ ॥३२॥
तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः।
प्रोवाच वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदो गुरुः ॥३३॥
सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम्॥३४॥
सर्वं नरवरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ।
सकृन्निगदमात्रेण तौ संजगृहतुर्नृप ॥३५॥
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः।
गुरुदक्षिणयाऽऽचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ॥३६॥

और बलरामजी भी गुरुकी उत्तम सेवा कैसे करनी चाहिये, इसका आदर्श लोगोंके सामने रखते हुए बड़ी भक्तिसे इष्टदेवके समान उनकी सेवा करने लगे ॥३२॥ गुरुवर सान्दीपनिजी उनकी शुद्धभावसे युक्त सेवासे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों भाइयोंको छहों अङ्ग और उपनिषदोंके सहित सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा दी ॥३३॥ इनके सिवा मन्त्र और देवताओंके ज्ञानके साथ धनुर्वेद, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, मीमांसा आदि, वेदोंका तात्पर्य बतलानेवाले शास्त्र, तर्कविद्या (न्यायशास्त्र) आदिकी भी शिक्षा दी। साथ ही सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय—इन छः भेदोंसे युक्त राजनीतिका भी अध्ययन कराया ॥ ३४ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओंके प्रवर्तक हैं। इस समय केवल श्रेष्ठ मनुष्यका-सा व्यवहार करते हुए ही वे अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने गुरुजीके केवल एक बार कहनेमात्रसे सारी विद्याएँ सीख लीं ॥ ३५ ॥ केवल चौसठ दिन-रातमें ही संयमीशिरोमणि दोनों भाइयोंने चौसठों कलाओं*का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार अध्ययन समाप्त होनेपर उन्होंने सान्दीपनि मुनिसे प्रार्थना की कि 'आपकी जो इच्छा हो, गुरु-

* चौसठ कलाएँ ये हैं—

१ गानविद्या, २ वाद्य—भाँति-भाँतिके बाजे बजाना, ३ नृत्य, ४ नाट्य, ५ चित्रकारी, ६ बेल-बूटे बनाना, ७ चावल और पुष्पादिसे पूजाके उपहारकी रचना करना, ८ फूलोंकी सेज बनाना, ९ दाँत, वस्त्र और अङ्गोंको रँगना, १० मणियोंकी फर्श बनाना, ११ शय्या-रचना, १२ जलको बाँध देना, १३ विचित्र सिद्धियाँ दिखलाना, १४ हार-माला आदि बनाना, १५ कान और चोटीके फूलोंके गहने बनाना, १६ कपड़े और गहने बनाना, १७ फूलोंके आभूषणोंसे श्रृङ्गार करना, १८ कानोंके पत्तोंकी रचना करना, १९ सुगन्ध वस्तुएँ— इत्र, तैल आदि बनाना, २० इन्द्रजाल—जादूगरी, २१ चाहे जैसा वेष धारण कर लेना, २२ हाथकी फुर्तीके काम, २३ तरह-तरहकी खानेकी वस्तुएँ बनाना, २४ तरह-तरहके पीनेके पदार्थ बनाना, २५ सूईका काम, २६ कठपुतली बनाना, नचाना, २७ पहेली, २८ प्रतिमा आदि बनाना, २९ कूटनीति, ३० ग्रन्थोंके पढ़ानेकी चातुरी, ३१ नाटक, आख्यायिका आदिकी रचना करना, ३२ समस्यापूर्ति करना, ३३ पट्टी, बेंत, बाण आदि बनाना, ३४ गलीचे, दरी आदि बनाना, ३५ बढ़ईकी कारीगरी, ३६ गृह आदि बनानेकी कारीगरी, ३७ सोने, चाँदी आदि धातु तथा हीरे-पन्ने आदि रत्नोंकी परीक्षा, ३८ सोना-चाँदी आदि बना लेना, ३९ मणियोंके रंगको पहचानना, ४० खानोंकी पहचान, ४१ वृक्षोंकी चिकित्सा, ४२ भेड़ा, मुर्गा, बटेर आदिको लड़ानेकी रीति, ४३ तोता-मैना आदिकी बोलियाँ बोलना, ४४ उच्चाटनकी विधि, ४५ केशोंकी सफाईका कौशल, ४६ मुट्ठीकी चीज या मनकी बात-बता देना, ४७ म्लेच्छ-काव्योंका समझ लेना, ४८ विभिन्न देशोंकी भाषाका ज्ञान, ४९ शकुन-अपशकुन जानना, प्रश्नोंके उत्तरमें शुभाशुभ बतलाना, ५० नाना प्रकारके मातृकायन्त्र बनाना, ५१ रत्नोंको नाना प्रकारके आकारोंमें काटना, ५२ साङ्केतिक भाषा बनाना, ५३ मनमें कटकरचना करना, ५४ नयी-नयी बातें निकालना, ५५ छलसे काम निकालना, ५६ समस्त कोशोंका ज्ञान, ५७ समस्त छन्दोंका ज्ञान, ५८ वस्त्रोंको छिपाने या बदलनेकी विद्या, ५९ द्यूतक्रीड़ा, ६० दूरके मनुष्य या वस्तुओंका आकर्षण कर लेना, ६१ बालकोंके खेल, ६२ मन्त्रविद्या, ६३ विजय प्राप्त करानेवाली विद्या, ६४ वेताल आदिको वशमें रखनेकी विद्या।

द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं
संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम् ।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं
बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह ॥३७॥

तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं
प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ ।
वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षणं
सिन्धुर्विदित्वार्हणमाहरत्तयोः ॥३८॥

तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम् ।
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा ॥३९॥

समुद्र उवाच

नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् ।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः ॥४०॥
आस्ते तेनाहृतो नूनं तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः ।
जलमाविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ॥४१॥
तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् ।
ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ॥४२॥
गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः ।
शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ॥४३॥
तयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम् ।
उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम् ।
लीलामनुष्य हे विष्णो युवयोः करवाम किम् ॥४४॥

श्रीभगवानुवाच

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् ।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ॥४५॥

दक्षिणा माँग लें' ॥ ३६ ॥ महाराज ! सान्दीपनि मुनिने उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिक बुद्धिका अनुभव कर लिया था । इसलिये उन्होंने अपनी पत्नीसे सलाह करके यह गुरुदक्षिणा माँगी कि 'प्रभासक्षेत्रमें हमारा बालक समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसे तुमलोग ला दो' ॥ ३७ ॥ बलरामजी और श्रीकृष्णका पराक्रम अनन्त था । दोनों ही महारथी थे । उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर गुरुजीकी आज्ञा स्वीकार की और रथपर सवार होकर प्रभासक्षेत्रमें गये । वे समुद्रतटपर जाकर क्षणभर बैठे रहे । उस समय यह जानकर कि ये साक्षात् परमेश्वर हैं, अनेक प्रकारकी पूजा-सामग्री लेकर समुद्र उनके सामने उपस्थित हुआ ॥ ३८ ॥ भगवान्ने समुद्रसे कहा—'समुद्र ! तुम यहाँ अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे हमारे जिस गुरुपुत्रको बहा ले गये थे, उसे लाकर शीघ्र हमें दो' ॥ ३९ ॥

मनुष्यवेषधारी समुद्रने कहा—'देवाधिदेव श्रीकृष्ण ! मैंने उस बालकको नहीं लिया है । मेरे जलमें पञ्चजन नामका एक बड़ा भारी दैत्य जातिका असुर शङ्खके रूपमें रहता है । अवश्य ही उसीने वह बालक चुरा लिया होगा' ॥ ४० ॥ समुद्रकी बात सुनकर भगवान् तुरंत ही जलमें जा घुसे और शङ्खासुरको मार डाला । परन्तु वह बालक उसके पेटमें नहीं मिला ॥ ४१ ॥ तब उसके शरीरका शङ्ख लेकर भगवान् रथपर चले आये । वहाँसे बलरामजीके साथ श्रीकृष्णने यमराजकी प्रियपुरी संयमनीमें जाकर अपना शङ्ख बजाया । शङ्खका शब्द सुनकर सारी प्रजाका शासन करनेवाले यमराजने उनका स्वागत किया और भक्तिभावसे भरकर विधिपूर्वक उनकी बहुत बड़ी पूजा की । उन्होंने नम्रतासे झुककर समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'लीलासे ही मनुष्य बने हुए सर्वव्यापक परमेश्वर ! मैं आप दोनोंकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ४२—४४ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—'यमराज ! यहाँ अपने कर्म-बन्धनके अनुसार मेरा गुरुपुत्र लाया गया है । तुम मेरी आज्ञा स्वीकार करो और उसके कर्मपर ध्यान न देकर उसे मेरे पास ले आओ ॥ ४५ ॥

तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ ।
दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः ॥४६॥

यमराजने जो 'आज्ञा' कहकर भगवान्‌का आदेश स्वीकार किया और उनका गुरुपुत्र ला दिया। तब यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी उस बालकको लेकर उज्जैन लौट आये और उसे अपने गुरुदेवको सौंपकर कहा कि 'आप और जो कुछ चाहें, माँग लें' ॥ ४६ ॥

गुरुरुवाच

सम्यक् संपादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः[1] ।
को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ॥४७॥
गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥४८॥
गुरुणैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा ।
आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै ॥४९॥
समनन्दन् प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ ।
अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव ॥५०॥

गुरुजीने कहा—'बेटा! तुम दोनोंने भलीभाँति गुरुदक्षिणा दी। अब और क्या चाहिये? जो तुम्हारे-जैसे पुरुषोत्तमोंका गुरु है, उसका कौन-सा मनोरथ अपूर्ण रह सकता है? ॥ ४७ ॥ वीरो! अब तुम दोनों अपने घर जाओ। तुम्हें लोकोंको पवित्र करनेवाली कीर्ति प्राप्त हो। तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या इस लोक और परलोकमें सदा नवीन बनी रहे, कभी विस्मृत न हो ॥ ४८ ॥ बेटा परीक्षित्! फिर गुरुजीसे आज्ञा लेकर वायुके समान वेग और मेघके समान शब्दवाले रथपर सवार होकर दोनों भाई मथुरामें लौट आये ॥ ४९ ॥ मथुराकी प्रजा बहुत दिनोंतक श्रीकृष्ण और बलरामको न देखनेसे अत्यन्त दुखी हो रही थी। अब उन्हें आया हुआ देख सब-के-सब परमानन्दमें मग्न हो गये, मानो खोया हुआ धन मिल गया हो ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गुरुपुत्रानयनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उद्धवजीकी व्रजयात्रा

श्रीशुक[2] उवाच

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥ १ ॥
तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! उद्धवजी वृष्णिवंशियोंमें एक प्रधान पुरुष थे। वे साक्षात् बृहस्पतिजीके शिष्य और परम बुद्धिमान् थे। उनकी महिमाके सम्बन्धमें इससे बढ़कर और कौन-सी बात कही जा सकती है कि वे भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा तथा मन्त्री भी थे॥ १ ॥ एक दिन शरणागतोंके सारे दुःख हर लेनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय भक्त और एकान्तप्रेमी उद्धवजीका हाथ अपने हाथमें

१. गुरुकुलवृत्तिः पञ्च० । २. बादरायणिरुवाच ।

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥ ३ ॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥ ४ ॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥ ५ ॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् संदेशं भर्तुरादृतः ।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ ७ ॥
प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥ ८ ॥
वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः ।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान् ॥ ९ ॥

लेकर कहा— ॥ २ ॥ 'सौम्यस्वभाव उद्धव ! तुम व्रजमें जाओ । वहाँ मेरे पिता-माता नन्दबाबा और यशोदा मैया हैं, उन्हें आनन्दित करो; और गोपियाँ मेरे विरहकी व्याधिसे बहुत ही दुखी हो रही हैं, उन्हें मेरे सन्देश सुनाकर उस वेदनासे मुक्त करो ॥ ३ ॥ प्यारे उद्धव ! गोपियोंका मन नित्य-निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है । उनके प्राण, उनका जीवन उनका सर्वस्व मैं ही हूँ । मेरे लिये उन्होंने अपने पति-पुत्र आदि सभी सगे-सम्बन्धियोंको छोड़ दिया है । उन्होंने बुद्धिसे भी मुझीको अपना प्यारा, अपना प्रियतम—नहीं, नहीं, अपना आत्मा मान रक्खा है । मेरा यह व्रत है कि जो लोग मेरे लिये लौकिक और पारलौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनका भरण-पोषण मैं स्वयं करता हूँ ॥ ४ ॥ प्रिय उद्धव ! मैं उन गोपियोंका परम प्रियतम हूँ । मेरे यहाँ चले आनेसे वे मुझे दूरस्थ मानती हैं और मेरा स्मरण करके अत्यन्त मोहित हो रही हैं, बार-बार मूर्च्छित हो जाती हैं । वे मेरे विरहकी व्यथासे विह्वल हो रही हैं, प्रतिक्षण मेरे लिये उत्कण्ठित रहती हैं ॥ ५ ॥ मेरी गोपियाँ, मेरी प्रेयसियाँ इस समय बड़े ही कष्ट और यत्नसे अपने प्राणोंको किसी प्रकार रख रही हैं । मैंने उनसे कहा था कि 'मैं आऊँगा ।' वही उनके जीवनका आधार है । उद्धव ! और तो क्या कहूँ, मैं ही उनकी आत्मा हूँ । वे नित्य-निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं' ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब भगवान् श्रीकृष्णने यह बात कही, तब उद्धवजी बड़े आदरसे अपने स्वामीका सन्देश लेकर रथपर सवार हुए और नन्दगाँवके लिये चल पड़े ॥ ७ ॥ परम सुन्दर उद्धवजी सूर्यास्तके समय नन्दबाबाके व्रजमें पहुँचे । उस समय जंगलसे गौएँ लौट रही थीं । उनके खुरोंके आघातसे इतनी धूल उड़ रही थी कि उनका रथ ढक गया था ॥ ८ ॥ व्रजभूमिमें ऋतुमती गौओंके लिये मतवाले साँड़ आपसमें लड़ रहे थे । उनकी गर्जनासे सारा व्रज गूँज रहा था । थोड़े दिनोंकी ब्यायी हुई गौएँ अपने थनोंके भारी भारसे दबी होनेपर भी अपने-अपने बछड़ोंकी ओर दौड़ रही थीं ॥ ९ ॥

इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥१०॥
गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।
स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥११॥
अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥१२॥
सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम् ॥१३॥
तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियाऽर्चयत् ॥१४॥
भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् ।
गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः ॥१५॥
कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः ।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्व्रतः ॥१६॥
दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ॥१७॥
अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ।
गोपान् व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥१८॥

सफेद रंगके बछड़े इधर-उधर उछल-कूद मचाते हुए बहुत ही भले मालूम होते थे । गाय दुहनेकी 'घर-घर' ध्वनिसे और बाँसुरियोंकी मधुर टेरसे अब भी व्रजकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ १० ॥ गोपी और गोप सुन्दर-सुन्दर वस्त्र तथा गहनोंसे सज-धजकर श्रीकृष्ण तथा बलरामजीके मङ्गलमय चरित्रोंका गान कर रहे थे और इस प्रकार व्रजकी शोभा और भी बढ़ गयी थी ॥ ११ ॥ गोपोंके घरोंमें अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण और देवता-पितरोंकी पूजा की हुई थी । धूपकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी और दीपक जगमगा रहे थे । उन घरोंको पुष्पोंसे सजाया गया था । ऐसे मनोहर गृहोंसे सारा व्रज और भी मनोरम हो रहा था ॥ १२ ॥ चारों ओर वन-पंक्तियाँ फूलोंसे लद रही थीं । पक्षी चहक रहे थे और भौंरे गुंजार कर रहे थे । वहाँ जल और स्थल दोनों ही कमलोंके वनसे शोभायमान थे और हंस, बत्तख आदि पक्षी वनमें विहार कर रहे थे ॥ १३ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे अनुचर उद्धवजी व्रजमें आये, तब उनसे मिलकर नन्दबाबा बहुत ही प्रसन्न हुए । उन्होंने उद्धवजीको गले लगाकर उनका वैसे ही सम्मान किया, मानो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आ गये हों ॥ १४ ॥ समयपर उत्तम अन्नका भोजन कराया और जब वे आरामसे पलँगपर बैठ गये, सेवकोंने पाँव दबाकर, पंखा झलकर उनकी थकावट दूर कर दी ॥ १५ ॥ तब नन्दबाबाने उनसे पूछा—'परम भाग्यवान् उद्धवजी अब हमारे सखा वसुदेवजी जेलसे छूट गये । उनके आत्मीय स्वजन तथा पुत्र आदि उनके साथ हैं । इस समय वे सब कुशलसे तो हैं न ? ॥ १६ ॥ यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि अपने पापोंके फलस्वरूप पापी कंस अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया । क्योंकि स्वभावसे ही धार्मिक परम साधु यदुवंशियोंसे वह सदा द्वेष करता था ॥ १७ ॥ अच्छा उद्धवजी ! श्रीकृष्ण कभी हमलोगोंकी भी याद करते हैं ? यह उनकी माँ है, स्वजन-सम्बन्धी हैं, सखा हैं, गोप हैं; उन्हींको अपना स्वामी और सर्वस्व माननेवाला यह व्रज है; उन्हींकी गौएँ, वृन्दावन और यह गिरिराज है; क्या वे कभी इनका स्मरण करते हैं ? ॥ १८ ॥

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥१९॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥२०॥
स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥२१॥
सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥२२॥
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ॥२३॥
कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ॥२४॥
तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट्।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद् गिरिम् ॥२५॥

आप यह तो बतलाइये कि हमारे गोविन्द अपने सुहृद्-बान्धवोंको देखनेके लिये एक बार भी यहाँ आयेंगे क्या ? यदि वे यहाँ आ जाते तो हम उनकी वह सुघड़ नासिका, उनका मधुर हास्य और मनोहर चितवनसे युक्त मुखकमल देख तो लेते ॥ १९ ॥ उद्धवजी ! श्रीकृष्णका हृदय उदार है, उनकी शक्ति अनन्त है, उन्होंने दावानलसे, आँधी-पानीसे, वृषासुर और अजगर आदि अनेकों मृत्युके निमित्तोंसे—जिन्हें टालनेका कोई उपाय न था—एक बार नहीं, अनेक बार हमारी रक्षा की है ॥ २० ॥ उद्धवजी ! हम श्रीकृष्णके विचित्र चरित्र, उनकी विलासपूर्ण तिरछी चितवन, उन्मुक्त हास्य, मधुर भाषण आदिका स्मरण करते रहते हैं और उसमें इतने तन्मय रहते हैं कि अब हमसे कोई काम-काज नहीं हो पाता ॥ २१ ॥ जब हम देखते हैं कि यह वही नदी है, जिसमें श्रीकृष्ण जलक्रीडा करते थे; यह वही गिरिराज है, जिसे उन्होंने अपने एक हाथपर उठा लिया था; ये वे ही वनके प्रदेश हैं, जहाँ श्रीकृष्ण गौएँ चराते हुए बाँसुरी बजाते थे, और ये वे ही स्थान हैं, जहाँ वे अपने सखाओंके साथ अनेकों प्रकारके खेल खेलते थे; और साथ ही यह भी देखते हैं कि वहाँ उनके चरणचिह्न अभी मिटे नहीं हैं, तब उन्हें देखकर हमारा मन श्रीकृष्णमय हो जाता है ॥ २२ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि मैं श्रीकृष्ण और बलरामको देवशिरोमणि मानता हूँ और यह भी मानता हूँ कि वे देवताओंका कोई बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये यहाँ आये हुए हैं। स्वयं भगवान् गर्गाचार्यजीने मुझसे ऐसा ही कहा था ॥ २३ ॥ जैसे सिंह बिना किसी परिश्रमके पशुओंको मार डालता है, वैसे ही उन्होंने खेल-खेलमें ही दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले कंस, उसके दोनों अजेय पहलवानों और महान् बलशाली गजराज कुवलयापीड़को मार डाला ॥ २४ ॥ उन्होंने तीन ताल लंबे और अत्यन्त दृढ़ धनुषको वैसे ही तोड़ डाला, जैसे कोई हाथी किसी छड़ीको तोड़ डाले। हमारे प्यारे श्रीकृष्णने एक हाथसे सात दिनोंतक गिरिराजको उठाये रक्खा था ॥ २५ ॥

१. स्वजनं च्यात्र वीक्षितुम्।

प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः ।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया ॥२६॥

यहीं सबके देखते-देखते खेल-खेलमें उन्होंने प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त और बक आदि उन बड़े-बड़े दैत्योंको मार डाला, जिन्होंने समस्त देवता और असुरोंपर विजय प्राप्त कर ली थी' ॥ २६ ॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥२७॥
यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा ॥२८॥
तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥२९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! नन्दबाबाका हृदय यों ही भगवान् श्रीकृष्णके अनुराग-रंगमें रँगा हुआ था । जब इस प्रकार वे उनकी लीलाओंका एक-एक करके स्मरण करने लगे, तब तो उसमें प्रेमकी बाढ़ ही आ गयी, वे विह्वल हो गये और मिलनेकी अत्यन्त उत्कण्ठा होनेके कारण उनका गला रुँध गया । वे चुप हो गये ॥ २७ ॥ यशोदारानी भी वहीं बैठकर नन्दबाबाकी बातें सुन रही थीं, श्रीकृष्णकी एक-एक लीला सुनकर उनके नेत्रोंसे आँसू बहते जाते थे और पुत्र-स्नेहकी बाढ़से उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहती जा रही थी ॥ २८ ॥ उद्धवजी नन्दबाबा और यशोदारानीके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति कैसा अगाध अनुराग है—यह देखकर आनन्दमग्न हो गये और उनसे कहने लगे ॥ २९ ॥

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।
नारायणेऽखिलगुरौ यत् कृता मतिरीदृशी ॥३०॥
एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी
रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य
ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥३१॥
यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥३२॥
तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ
नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।

उद्धवजीने कहा—हे मानद ! इसमें संदेह नहीं कि आप दोनों समस्त शरीरधारियोंमें अत्यन्त भाग्यवान् हैं, सराहना करने योग्य हैं । क्योंकि जो सारे चराचर जगत्के बनानेवाले और उसे ज्ञान देनेवाले नारायण हैं, उनके प्रति आपके हृदयमें ऐसा वात्सल्यस्नेह—पुत्रभाव है ॥ ३० ॥ बलराम और श्रीकृष्ण पुराणपुरुष हैं; वे सारे संसारके उपादानकारण और निमित्तकारण भी हैं । भगवान् श्रीकृष्ण पुरुष हैं तो बलरामजी प्रधान (प्रकृति) । ये ही दोनों समस्त शरीरोंमें प्रविष्ट होकर उन्हें जीवन-दान देते हैं और उनमें उनसे अत्यन्त विलक्षण जो ज्ञानस्वरूप जीव है, उसका नियमन करते हैं ॥ ३१ ॥ जो जीव मृत्युके समय अपने शुद्ध मनको एक क्षणके लिये भी उनमें लगा देता है, वह समस्त कर्म-वासनाओंको धो बहाता है और शीघ्र ही सूर्यके समान तेजस्वी तथा ब्रह्ममय होकर परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥ वे भगवान् ही, जो सबके आत्मा और परम कारण हैं, भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करने और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मनुष्यका-सा शरीर ग्रहण करके प्रकट

भावं विधत्तां नितरां महात्मन्
किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥३३॥
आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ॥३४॥
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥३५॥
मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥३६॥
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः ।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा ॥३७॥
न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥३८॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥३९॥
सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥४०॥
यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ॥४१॥

हुए हैं। उनके प्रति आप दोनोंका ऐसा सुदृढ़ वात्सल्य-भाव है; फिर महात्माओ! आप दोनोंके लिये अब कौन-सा शुभ कर्म करना शेष रह जाता है ॥ ३३ ॥ भक्तवत्सल यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण थोड़े ही दिनोंमें व्रजमें आयेंगे और आप दोनोंको—अपने माँ-बापको आनन्दित करेंगे ॥ ३४ ॥ जिस समय उन्होंने समस्त यदुवंशियोंके द्रोही कंसको रंगभूमिमें मार डाला और आपके पास आकर कहा कि 'मैं व्रजमें आऊँगा', उस कथनको वे सत्य करेंगे ॥ ३५ ॥ नन्दबाबा और माता यशोदाजी! आप दोनों परम भाग्यशाली हैं। खेद न करें। आप श्रीकृष्णको अपने पास ही देखेंगे; क्योंकि जैसे काष्ठमें अग्नि सदा ही व्यापक रूपसे रहती है, वैसे ही वे समस्त प्राणियोंके हृदयमें सर्वदा विराजमान रहते हैं॥ ३६॥ एक शरीरके प्रति अभिमान न होनेके कारण न तो कोई उनका प्रिय है और न तो अप्रिय। वे सबमें और सबके प्रति समान हैं; इसलिये उनकी दृष्टिमें न तो कोई उत्तम है और न तो अधम। यहाँतक कि विषमताका भाव रखनेवाला भी उनके लिये विषम नहीं है ॥ ३७ ॥ न तो उनकी कोई माता है और न पिता। न पत्नी है और न तो पुत्र आदि। न अपना है और न तो पराया। न देह है और न तो जन्म ही ॥ ३८ ॥ इस लोकमें उनका कोई कर्म नहीं है फिर भी वे साधुओंके परित्राणके लिये, लीला करनेके लिये देवादि सात्त्विक, मत्स्यादि तामस एवं मनुष्य आदि मिश्र योनियोंमें शरीर धारण करते हैं ॥ ३९ ॥ भगवान् अजन्मा हैं। उनमें प्राकृत सत्त्व, रज आदिमेंसे एक भी गुण नहीं है। इस प्रकार इन गुणोंसे अतीत होनेपर भी लीलाके लिये खेल-खेलमें वे सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको स्वीकार कर लेते हैं और उनके द्वारा जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं ॥ ४० ॥ जब बच्चे घुमरीपरेता खेलने लगते हैं या मनुष्य वेगसे चक्कर लगाने लगते हैं, तब उन्हें सारी पृथ्वी घूमती हुई जान पड़ती है। वैसे ही वास्तवमें सब कुछ करनेवाला चित्त ही है; परन्तु उस चित्तमें अहंबुद्धि हो जानेके कारण, भ्रमवश उसे आत्मा—अपना 'मैं' समझ लेनेके कारण, जीव अपनेको कर्ता

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥४२॥

दृष्टं श्रुतं भूतभवद् भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः॥४३॥[1]

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता
नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्
वास्तून् समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन्॥४४॥

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू
रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल-
त्विषत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥४५॥

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं
व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो
निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥४६॥

भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः ।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥४७॥

अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।

समझने लगता है ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण केवल आप दोनोंके ही पुत्र नहीं हैं, वे समस्त प्राणियोंके आत्मा, पुत्र, पिता-माता और स्वामी भी हैं ॥ ४२ ॥ बाबा ! जो कुछ देखा या सुना जाता है—वह चाहे भूतसे सम्बन्ध रखता हो, वर्तमानसे अथवा भविष्यसे; स्थावर हो या जङ्गम हो, महान् हो अथवा अल्प हो—ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णसे पृथक् हो । बाबा ! श्रीकृष्णके अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कह सकें । वास्तवमें सब वे ही हैं, वे ही परमार्थ सत्य हैं ॥ ४३ ॥

परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके सखा उद्धव और नन्दबाबा इसी प्रकार आपसमें बात करते रहे और वह रात बीत गयी । कुछ रात शेष रहनेपर गोपियाँ उठीं, दीपक जलाकर उन्होंने घरकी देहलियोंपर वास्तुदेवका पूजन किया, अपने घरोंको झाड़-बुहारकर साफ किया और फिर दही मथने लगीं ॥ ४४ ॥ गोपियोंकी कलाइयोंमें कंगन शोभायमान हो रहे थे, रस्सी खींचते समय वे बहुत भली मालूम हो रही थीं । उनके नितम्ब, स्तन और गलेके हार हिल रहे थे । कानोंके कुण्डल हिल-हिलकर उनके कुङ्कुममण्डित कपोलोंकी लालिमा बढ़ा रहे थे । उनके आभूषणोंकी मणियाँ दीपककी ज्योतिसे और भी जगमगा रही थीं और इस प्रकार वे अत्यन्त शोभासे सम्पन्न होकर दही मथ रही थीं ॥४५॥ उस समय गोपियाँ—कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके मङ्गलमय चरित्रोंका गान कर रही थीं । उनका वह सङ्गीत दही मथनेकी ध्वनिसे मिलकर और भी अद्भुत हो गया तथा स्वर्गलोकतक जा पहुँचा, जिसकी स्वर-लहरी सब ओर फैलकर दिशाओंका अमङ्गल मिटा देती है ॥ ४६ ॥

जब भगवान् भुवनभास्करका उदय हुआ, 'तब व्रजाङ्गनाओंने देखा कि नन्दबाबाके दरवाजेपर एक सोनेका रथ खड़ा है' । वे एक-दूसरेसे पूछने लगीं 'यह किसका रथ है?' ॥ ४७ ॥ किसी गोपीने कहा—'कंसका 'प्रयोजन सिद्ध करनेवाला अक्रूर ही तो कहीं फिर नहीं

१. मात्मभूतः ।

येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥४८॥

आ गया है? जो कमलनयन प्यारे श्यामसुन्दरको यहाँसे मथुरा ले गया था' ॥ ४८ ॥ किसी दूसरी गोपीने कहा—'क्या अब वह हमें ले जाकर अपने मरे हुए स्वामी कंसका पिण्डदान करेगा? अब यहाँ उसके आनेका और क्या प्रयोजन हो सकता है?' व्रजवासिनी स्त्रियाँ इसी प्रकार आपसमें बातचीत कर रही थीं कि उसी समय नित्यकर्मसे निवृत्त होकर उद्धवजी आ पहुँचे ॥ ४९ ॥

किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम्।

इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात् कृताह्निकः ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नन्दशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

उद्धव तथा गोपियोंकी बातचीत और भ्रमरगीत

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः
प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लस-
न्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥ १ ॥
शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः[३]
कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुका-
स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥ २ ॥
तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! गोपियोंने देखा कि श्रीकृष्णके सेवक उद्धवजीकी आकृति और वेषभूषा श्रीकृष्णसे मिलती-जुलती है। घुटनोंतक लंबी-लंबी भुजाएँ हैं, नूतन कमलदलके समान कोमल नेत्र हैं, शरीरपर पीताम्बर धारण किये हुए हैं, गलेमें कमलपुष्पोंकी माला है, कानोंमें मणिजटित कुण्डल झलक रहे हैं और मुखारविन्द अत्यन्त प्रफुल्लित है ॥ १ ॥ पवित्र मुसकानवाली गोपियोंने आपसमें कहा—'यह पुरुष देखनेमें तो बहुत सुन्दर है। परन्तु यह है कौन? कहाँसे आया है? किसका दूत है? इसने श्रीकृष्ण-जैसी वेषभूषा क्यों धारण कर रक्खी है?' सब-की-सब गोपियाँ उनका परिचय प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो गयीं और उनमेंसे बहुत-सी पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके आश्रित तथा उनके सेवक-सखा उद्धवजीको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं ॥ २ ॥ जब उन्हें मालूम हुआ कि ये तो रमारमण भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश लेकर आये हैं, तब उन्होंने विनयसे झुककर सलज्ज हास्य, चितवन और मधुर वाणी आदिसे उद्धवजीका अत्यन्त सत्कार किया तथा एकान्तमें आसनपर बैठकर वे उनसे इस प्रकार कहने लगीं—॥ ३ ॥

१. तत्र। २. उद्धवयानं। ३. मपूर्वदर्शि०।

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम् ।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥
अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे ।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥ ५ ॥
अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम् ।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनस्स्विव षट्पदैः॥ ६ ॥
निस्स्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥ ७ ॥
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् ।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्॥ ८ ॥
इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः ।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥ ९ ॥
गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः ।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥१०॥
काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥११॥

'उद्धवजी! हम जानती हैं कि आप यदुनायकके पार्षद हैं। उन्हींका संदेश लेकर यहाँ पधारे हैं। आपके स्वामीने अपने माता-पिताको सुख देनेके लिये आपको यहाँ भेजा है।४। अन्यथा हमें तो अब इस नन्दगाँवमें—गौओंके रहनेकी जगहमें उनके स्मरण करने योग्य कोई भी वस्तु दिखायी नहीं पड़ती; माता-पिता आदि सगे-सम्बन्धियोंका स्नेह-बन्धन तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी बड़ी कठिनाईसे छोड़ पाते हैं ॥ ५ ॥ दूसरोंके साथ जो प्रेम-सम्बन्धका स्वाँग किया जाता है, वह तो किसी-न-किसी स्वार्थके लिये ही होता है। भौंरोंका पुष्पोंसे और पुरुषोंका स्त्रियोंसे ऐसा ही स्वार्थका प्रेम-सम्बन्ध होता है ॥ ६ ॥ जब वेश्या समझती है कि अब मेरे यहाँ आनेवालेके पास धन नहीं है, तब उसे वह धता बता देती है। जब प्रजा देखती है कि यह राजा हमारी रक्षा नहीं कर सकता, तब वह उसका साथ छोड़ देती है। अध्ययन समाप्त हो जानेपर कितने शिष्य अपने आचार्योंकी सेवा करते हैं? यज्ञकी दक्षिणा मिली कि ऋत्विज लोग चलते बने.॥ ७ ॥ जब वृक्षपर फल नहीं रहते, तब पक्षीगण वहाँसे बिना कुछ सोचे-विचारे उड़ जाते हैं। भोजन कर लेनेके बाद अतिथिलोग ही गृहस्थकी ओर कब देखते हैं? वनमें आग लगी कि पशु भाग खड़े हुए। चाहे स्त्रीके हृदयमें कितना भी अनुराग हो, जार पुरुष अपना काम बना लेनेके बाद उलटकर भी तो नहीं देखता' ॥८॥ परीक्षित्! गोपियोंके मन, वाणी और शरीर श्रीकृष्णमें ही तल्लीन थे। जब भगवान् श्रीकृष्णके दूत बनकर उद्धवजी व्रजमें आये, तब वे उनसे इस प्रकार कहते-कहते यह भूल ही गयीं कि कौन-सी बात किस तरह किसके सामने कहनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने बचपनसे लेकर किशोर अवस्थातक जितनी भी लीलाएँ की थीं, उन सबकी याद कर-करके गोपियाँ उनका गान करने लगीं। वे आत्मविस्मृत होकर स्त्री-सुलभ लज्जाको भी भूल गयीं और फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ९-१० ॥ एक गोपीको उस समय स्मरण हो रहा था भगवान् श्रीकृष्णके मिलनकी लीलाका। उसी समय उसने देखा कि पास ही एक भौंरा गुनगुना रहा है। उसने ऐसा समझा मानो मुझे रूठी हुई समझकर श्रीकृष्णने मनानेके लिये दूत भेजा हो। वह गोपी भौंरेसे इस प्रकार कहने लगी—।११।

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् १२

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥१३॥

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥१४॥

गोपीने कहा—रे मधुप! तू कपटीका सखा है; इसलिये तू भी कपटी है। तू हमारे पैरोंको मत छू। झूठे प्रणाम करके हमसे अनुनय-विनय मत कर। हम देख रही हैं कि श्रीकृष्णकी जो वनमाला हमारी सौतोंके वक्षःस्थलके स्पर्शसे मसली हुई है, उसका पीला-पीला कुङ्कुम तेरी मूँछोंपर भी लगा हुआ है। तू स्वयं भी तो किसी कुसुमसे प्रेम नहीं करता, यहाँ-से-वहाँ उड़ा करता है। जैसे तेरे स्वामी, वैसा ही तू! मधुपति श्रीकृष्ण मथुराकी मानिनी नायिकाओंको मनाया करें, उनका वह कुङ्कुमरूप कृपा-प्रसाद, जो यदुवंशियोंकी सभामें उपहास करनेयोग्य है, अपने ही पास रक्खें। उसे तेरे द्वारा यहाँ भेजनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ १२ ॥ जैसा तू काला है, वैसे ही वे भी हैं। तू भी पुष्पोंका रस लेकर उड़ जाता है, वैसे ही वे भी निकले (उन्होंने हमें केवल एक बार—हाँ, ऐसा ही लगता है—केवल एक बार अपनी तनिक-सी मोहिनी और परम मादक अधरसुधा पिलायी थी और फिर हम भोली-भाली गोपियों-को छोड़कर वे यहाँसे चले गये।) पता नहीं; सुकुमारी लक्ष्मी उनके चरणकमलोंकी सेवा कैसे करती रहती हैं! अवश्य ही वे छैल-छबीले श्रीकृष्णकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें आ गयी होंगी। चितचोरने उनका भी चित्त चुरा लिया होगा ॥ १३ ॥ अरे भ्रमर! हम वनवासिनी हैं। हमारे तो घर-द्वार भी नहीं है। तू हमलोगोंके सामने यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णका बहुत-सा गुणगान क्यों कर रहा है? यह सब भला हमलोगोंको मनानेके लिये ही तो? परन्तु नहीं-नहीं, वे हमारे लिये कोई नये नहीं हैं। हमारे लिये तो जाने-पहचाने, बिल्कुल पुराने हैं। तेरी चापलूसी हमारे पास नहीं चलेगी। तू जा, यहाँसे चला जा और जिनके साथ सदा विजय रहती है, उन श्रीकृष्णकी मधुपुरवासिनी सखियोंके सामने जाकर उनका गुणगान कर। वे नयी हैं, उनकी लीलाएँ कम जानती हैं और इस समय वे उनकी प्यारी हैं; उनके हृदयकी पीड़ा उन्होंने मिटा दी है। वे तेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगी, तेरी चापलूसीसे प्रसन्न होकर तुझे मुँहमाँगी वस्तु देंगी ॥ १४ ॥

१. ह्युत्तम०।

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः

कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।

चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का

अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥१५॥

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-

रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।

स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका

व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन् ॥१६॥

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा

स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।

भौंरे ! वे हमारे लिये छटपटा रहे हैं, ऐसा तू क्यों कहता है ? उनकी कपटभरी मनोहर मुसकान और भौंहोंके इशारेसे जो वशमें न हो जायँ, उनके पास दौड़ी न आवें—ऐसी कौन-सी स्त्रियाँ हैं ? अरे अनजान ! स्वर्गमें, पातालमें और पृथ्वीमें ऐसी एक भी स्त्री नहीं है । औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं लक्ष्मीजी भी उनके चरणरजकी सेवा किया करती हैं ! फिर हम श्रीकृष्णके लिये किस गिनतीमें हैं ? परन्तु तू उनके पास जाकर कहना कि 'तुम्हारा नाम तो 'उत्तमश्लोक' है, अच्छे-अच्छे लोग तुम्हारी कीर्तिका गान करते हैं; परन्तु इसकी सार्थकता तो इसीमें है कि तुम दीनोंपर दया करो । नहीं तो श्रीकृष्ण ! तुम्हारा 'उत्तमश्लोक' नाम झूठा पड़ जाता है ॥ १५ ॥ अरे मधुकर ! देख, तू मेरे पैरपर सिर मत टेक । मैं जानती हूँ कि तू अनुनय-विनय करनेमें, क्षमा-याचना करनेमें बड़ा निपुण है । मालूम होता है तू श्रीकृष्णसे ही यही सीखकर आया है कि रूठे हुएको मनानेके लिये दूतको—सन्देशवाहकको कितनी चाटुकारिता करनी चाहिये । परन्तु तू समझ ले कि यहाँ तेरी दाल नहीं गलनेकी । देख, हमने श्रीकृष्णके लिये ही अपने पति, पुत्र और दूसरे लोगोंको छोड़ दिया । परन्तु उनमें तनिक भी कृतज्ञता नहीं । वे ऐसे निर्मोही निकले कि हमें छोड़कर चलते बने । अब तू ही बता, ऐसे अकृतज्ञके साथ हम क्या सन्धि करें ? क्या तू अब भी कहता है कि उनपर विश्वास करना चाहिये ? ॥ १६ ॥ ऐ रे मधुप ! जब वे राम बने थे, तब उन्होंने कपिराज वालिको व्याधके समान छिपकर बड़ी निर्दयतासे मारा था । बेचारी शूर्पणखा कामवश उनके पास आयी थी, परन्तु उन्होंने अपनी स्त्रीके वश होकर उस बेचारीके नाक-कान काट लिये और इस प्रकार उसे कुरूप कर दिया । ब्राह्मणके घर वामनके रूपमें जन्म लेकर उन्होंने क्या किया ? बलिने तो उनकी पूजा की, उनकी मुँहमाँगी वस्तु दी और उन्होंने उसकी पूजा ग्रहण करके भी उसे वरुणपाशसे बाँधकर पातालमें डाल दिया । ठीक वैसे ही, जैसे कौआ बलि खाकर भी बलि देनेवालेको अपने अन्य

बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् य-

स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥१७॥

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-

सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना

बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥१८॥

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः

कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।

ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-

स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता ॥१९॥

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं

वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।

नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं

सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥२०॥

साथियोंके साथ मिलकर घेर लेता है और परेशान करता है। अच्छा, तो अब जाने दे; हमें कृष्णसे क्या, किसी भी काली वस्तुके साथ मित्रतासे कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु यदि तू यह कहे कि 'जब ऐसा है तब तुम-लोग उनकी चर्चा क्यों करती हो?' तो भ्रमर! हम सच कहती हैं, एक बार जिसे उसका चसका लग जाता है, वह उसे छोड़ नहीं सकता। ऐसी दशामें हम चाहनेपर भी उनकी चर्चा छोड़ नहीं सकतीं॥ १७॥ श्रीकृष्णकी लीलारूप कर्णामृतके एक कणका भी जो रसास्वादन कर लेता है, उसके राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्व छूट जाते हैं। यहाँतक कि बहुत-से लोग तो अपनी दुःखमय—दुःखसे सनी हुई घर-गृहस्थी छोड़कर अकिञ्चन हो जाते हैं, अपने पास कुछ भी संग्रह-परिग्रह नहीं रखते, और पक्षियोंकी तरह चुन-चुनकर—भीख माँगकर अपना पेट भरते हैं, दीन-दुनियासे जाते रहते हैं। फिर भी श्रीकृष्णकी लीला-कथा छोड़ नहीं पाते। वास्तवमें उसका रस, उसका चसका ऐसा ही है। यही दशा हमारी हो रही है॥१८॥ जैसे कृष्णसार मृगकी पत्नी भोली-भाली हरिनियाँ व्याधके सुमधुर गानका विश्वास कर लेती हैं और उसके जालमें फँसकर मारी जाती हैं, वैसे ही हम भोली-भाली गोपियाँ भी उस छलिया कृष्णकी कपटभरी मीठी-मीठी बातोंमें आकर उन्हें सत्यके समान मान बैठीं और उनके नखस्पर्शसे होने-वाली कामव्याधिका बार-बार अनुभव करती रहीं। इसलिये श्रीकृष्णके दूत भौंरे! अब इस विषयमें तू और कुछ मत कह। तुझे कहना ही हो तो कोई दूसरी बात कह॥ १९॥ हमारे प्रियतमके प्यारे सखा! जान पड़ता है तुम एक बार उधर जाकर फिर लौट आये हो। अवश्य ही हमारे प्रियतमने मनानेके लिये तुम्हें भेजा होगा। प्रिय भ्रमर! तुम सब प्रकारसे हमारे माननीय हो। कहो तुम्हारी क्या इच्छा है? हमसे जो चाहो, सो माँग लो। अच्छा तुम सच बताओ, क्या हमें वहाँ ले चलना चाहते हो? अजी, उनके पास जाकर लौटना बड़ा कठिन है। हम तो उनके पास जा चुकी हैं। परन्तु तुम हमें वहाँ ले जाकर करोगे क्या? प्यारे भ्रमर! उनके साथ—उनके वक्षःस्थलपर तो उनकी प्यारी पत्नी लक्ष्मीजी सदा रहती हैं न? तब

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान् ।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु ॥२१॥

वहाँ हमारा निर्वाह कैसे होगा ॥ २० ॥ अच्छा, हमारे प्रियतमके प्यारे दूत मधुकर! हमें यह बतलाओ कि आर्यपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण गुरुकुलसे लौटकर मधुपुरीमें अब सुखसे तो हैं न ? क्या वे कभी नन्दबाबा, यशोदारानी, यहाँके घर, सगे-सम्बन्धी और ग्वालबालोंकी भी याद करते हैं ? और क्या हम दासियोंकी भी कोई बात कभी चलाते हैं? प्यारे भ्रमर! हमें यह भी बतलाओ कि कभी वे अपनी अगरके समान दिव्य सुगन्धसे युक्त भुजा हमारे सिरोंपर रक्खेंगे ? क्या हमारे जीवनमें कभी ऐसा शुभ अवसर भी आयेगा ? ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।
सान्त्वयन् प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत ॥२२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्सुक—लालायित हो रही थीं, उनके लिये तड़प रही थीं। उनकी बातें सुनकर उद्धवजीने उन्हें उनके प्रियतमका सन्देश सुनाकर सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा ॥ २२ ॥

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥२३॥
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥२४॥
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥२५॥
दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च ।
हित्वावृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥२६॥
सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे ।
विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः ॥२७॥

उद्धवजीने कहा—अहो गोपियो! तुम कृतकृत्य हो! तुम्हारा जीवन सफल है। देवियो! तुम सारे संसारके लिये पूजनीय हो; क्योंकि तुमलोगोंने इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको अपना हृदय, अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है ॥ २३ ॥ दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदाध्ययन, ध्यान, धारणा, समाधि और कल्याणके अन्य विविध साधनोंके द्वारा भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो, यही प्रयत्न किया जाता है ॥ २४ ॥ यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमलोगोंने पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके प्रति वही सर्वोत्तम प्रेमभक्ति प्राप्त की है और उसीका आदर्श स्थापित किया है, जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २५ ॥ सचमुच यह कितने सौभाग्यकी बात है कि तुमने अपने पुत्र, पति, देह, स्वजन और घरोंको छोड़कर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको, जो सबके परम पति हैं, पतिके रूपमें वरण किया है ॥ २६ ॥ महाभाग्यवती गोपियो! भगवान् श्रीकृष्णके वियोगसे तुमने उन इन्द्रियातीत परमात्माके प्रति वह भाव प्राप्त कर लिया है, जो सभी वस्तुओंके रूपमें उनका दर्शन कराता है। तुमलोगोंका वह भाव मेरे सामने भी प्रकट हुआ, यह मेरे ऊपर तुम देवियोंकी

श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः ।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः ॥२८॥

बड़ी ही दया है ॥ २७ ॥ मैं अपने स्वामीका गुप्त काम करनेवाला दूत हूँ । तुम्हारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णने तुमलोगोंको परम सुख देनेके लिये यह प्रिय सन्देश भेजा है । कल्याणियो ! वही लेकर मैं तुमलोगोंके पास आया हूँ, अब उसे सुनो ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ।
तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः ॥२९॥
आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥३०॥
आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥३१॥
येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥३२॥
एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥३३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—मैं सबका उपादान कारण होनेसे सबका आत्मा हूँ, सबमें अनुगत हूँ; इसलिये मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता । जैसे संसारके सभी भौतिक पदार्थोंमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, इन्हींसे सब वस्तुएँ बनी हैं और यही उन वस्तुओंके रूपमें हैं ? वैसे ही मैं मन, प्राण, पञ्चभूत, इन्द्रिय और उनके विषयोंका आश्रय हूँ । वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ और सच पूछो तो मैं ही उनके रूपमें प्रकट हो रहा हूँ ॥ २९॥ मैं ही अपनी मायाके द्वारा भूत, इन्द्रिय और उनके विषयोंके रूपमें होकर उनका आश्रय बन जाता हूँ तथा स्वयं निमित्त भी बनकर अपने-आपको ही रचता हूँ, पालता हूँ और समेट लेता हूँ ॥ ३० ॥ आत्मा माया और मायाके कार्योंसे पृथक् है । वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप, जड प्रकृति, अनेक जीव तथा अपने ही अवान्तर भेदोंसे रहित सर्वथा शुद्ध है । कोई भी गुण उसका स्पर्श नहीं कर पाते । मायाकी तीन वृत्तियाँ हैं—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् । इनके द्वारा वही अखण्ड, अनन्त बोधस्वरूप आत्मा कभी प्राज्ञ, तो कभी तैजस और कभी विश्वरूप-से प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥ मनुष्यको चाहिये कि वह समझे कि स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थोंके समान ही जाग्रत् अवस्थामें इन्द्रियोंके विषय भी प्रतीत हो रहे हैं, वे मिथ्या हैं । इसीलिये उन विषयोंका चिन्तन करनेवाले मन और इन्द्रियोंको रोक ले और मानो सोकर उठा हो, इस प्रकार जगत्के स्वाप्निक विषयोंको त्यागकर मेरा साक्षात्कार करे ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार सभी नदियाँ घूम-फिरकर समुद्रमें ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार मनस्वी पुरुषोंका वेदाभ्यास, योग-साधन, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तपस्या, इन्द्रियसंयम और सत्य आदि समस्त धर्म, मेरी प्राप्तिमें ही समाप्त होते हैं । सबका सच्चा फल है मेरा साक्षात्कार; क्योंकि वे सब मनको निरुद्ध करके मेरे पास पहुँचाते हैं ॥ ३३॥

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।

मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥३४॥

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।

स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥३५॥

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।

अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥३६॥

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः ।

अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥३७॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः ।

ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥३८॥

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।

दिष्ट्याऽऽप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ॥३९॥

कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।

प्रीतिं न स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥४०॥

१. चित्तं । २. कृष्णे ।

गोपियो ! इसमें सन्देह नहीं कि मैं तुम्हारे नयनोंका ध्रुवतारा हूँ । तुम्हारा जीवन-सर्वस्व हूँ । किन्तु मैं जो तुमसे इतना दूर रहता हूँ, उसका कारण है । वह यही कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सको, शरीरसे दूर रहनेपर भी मनसे तुम मेरी सन्निधिका अनुभव करो, अपना मन मेरे पास रक्खो ॥ ३४ ॥ क्योंकि स्त्रियों और अन्यान्य प्रेमियोंका चित्त अपने परदेशी प्रियतममें जितना निश्चल भावसे लगा रहता है, उतना आँखोंके सामने, पास रहनेवाले प्रियतममें नहीं लगता ॥३५॥ अशेष वृत्तियोंसे रहित सम्पूर्ण मन मुझमें लगाकर जब तुमलोग मेरा अनुस्मरण करोगी, तब शीघ्र ही सदाके लिये मुझे प्राप्त हो जाओगी ॥ ३६ ॥ कल्याणियो ! जिस समय मैंने वृन्दावनमें शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिमें रास-क्रीडा की थी उस समय जो गोपियाँ स्वजनोंके रोक लेनेसे व्रजमें ही रह गयीं—मेरे साथ रास-विहारमें सम्मिलित न हो सकीं, वे मेरी लीलाओंका स्मरण करनेसे ही मुझे प्राप्त हो गयी थीं । (तुम्हें भी मैं मिलूँगा अवश्य, निराश होनेकी कोई बात नहीं है) ॥३७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अपने प्रियतम श्रीकृष्णका यह सँदेसा सुनकर गोपियोंको बड़ा आनन्द हुआ । उनके सन्देशसे उन्हें श्रीकृष्णके स्वरूप और एक-एक लीलाकी याद आने लगी । प्रेमसे भरकर उन्होंने उद्धवजीसे कहा ॥ ३८ ॥

गोपियोंने कहा—उद्धवजी ! यह बड़े सौभाग्यकी और आनन्दकी बात है कि यदुवंशियोंको सतानेवाला पापी कंस अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया । यह भी कम आनन्दकी बात नहीं है कि श्रीकृष्णके बन्धु-बान्धव और गुरुजनोंके सारे मनोरथ पूर्ण हो गये तथा अब हमारे प्यारे श्यामसुन्दर उनके साथ सकुशल निवास कर रहे हैं ॥ ३९ ॥ किन्तु उद्धवजी ! एक बात आप हमें बतलाइये । 'जिस प्रकार हम अपनी प्रेमभरी लजीली मुसकान और उन्मुक्त चितवनसे उनकी पूजा करती थीं और वे भी हमसे प्यार करते थे, उसी प्रकार मथुराकी स्त्रियोंसे भी वे प्रेम करते हैं या नहीं ? ॥४०॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः ॥४१॥

अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे ॥४२॥

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
र्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥४३॥

अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ।
सञ्जीवयन् नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः ॥४४॥

कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः ।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥४५॥

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥४६॥

तबतक दूसरी गोपी बोल उठी—'अरी सखी ! हमारे प्यारे श्यामसुन्दर तो प्रेमकी मोहिनी कलाके विशेषज्ञ हैं । सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ उनसे प्यार करती हैं, फिर भला जब नगरकी स्त्रियाँ उनसे मीठी-मीठी बातें करेंगी और हाव-भावसे उनकी ओर देखेंगी तब वे उनपर क्यों न रीझेंगे ?' ॥ ४१ ॥ दूसरी गोपियाँ बोलीं—'साधो ! आप यह तो बतलाइये कि जब कभी नागरी नारियोंकी मण्डलीमें कोई बात चलती है और हमारे प्यारे स्वच्छन्दरूपसे, बिना किसी सङ्कोचके जब प्रेमकी बातें करने लगते हैं, तब क्या कभी प्रसंगवश हम गँवार ग्वालिनोंकी भी याद करते हैं ?' ॥ ४२ ॥ कुछ गोपियोंने कहा—'उद्धवजी ! क्या कभी श्रीकृष्ण उन रात्रियोंका स्मरण करते हैं, जब कुमुदिनी तथा कुन्दके पुष्प खिले हुए थे, चारों ओर चाँदनी छिटक रही थी और वृन्दावन अत्यन्त रमणीय हो रहा था ! उन रात्रियोंमें ही उन्होंने रास-मण्डल बनाकर हमलोगोंके साथ नृत्य किया था । कितनी सुन्दर थी वह रास-लीला ! उस समय हमलोगोंके पैरोंके नूपुर रुनझुन-रुनझुन बज रहे थे । हम सब सखियाँ उन्हींकी सुन्दर-सुन्दर लीलाओंका गान कर रही थीं और वे हमारे साथ नाना प्रकारके विहार कर रहे थे' ॥ ४३ ॥ कुछ दूसरी गोपियाँ बोल उठीं—'उद्धवजी ! हम सब तो उन्हींके विरहकी आगसे जल रही हैं । देवराज इन्द्र जैसे जल बरसाकर वनको हरा-भरा कर देते हैं, उसी प्रकार क्या कभी श्रीकृष्ण भी अपने कर-स्पर्श आदिसे हमें जीवन-दान देनेके लिये यहाँ आवेंगे ?' ॥ ४४ ॥ तबतक एक गोपीने कहा—'अरी सखी ! अब तो उन्होंने शत्रुओंको मारकर राज्य पा लिया है; जिसे देखो, वही उनका सुहृद् बना फिरता है । अब वे बड़े-बड़े नरपतियोंकी कुमारियोंसे विवाह करेंगे, उनके साथ आनन्दपूर्वक रहेंगे; यहाँ हम गँवारियोंके पास क्यों आयेंगे ?' ॥ ४५ ॥ दूसरी गोपीने कहा—'नहीं सखी ! महात्मा श्रीकृष्ण तो स्वयं लक्ष्मीपति हैं । उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण ही हैं, वे कृतकृत्य हैं ! हम वनवासिनी ग्वालिनों अथवा दूसरी राजकुमारियोंसे उनका कोई प्रयोजन नहीं है । हमलोगोंके बिना उनका कौन-सा काम अटक रहा है ॥ ४६ ॥

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला ।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥४७॥

क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम् ।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित् ॥४८॥

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ॥४९॥

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत ।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥५०॥

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं[2] विस्मरामहे ॥५१॥

हे नाथ[3] हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ।

देखो, वेश्या होनेपर भी पिङ्गलाने क्या ही ठीक कहा है—'संसारमें किसीकी आशा न रखना ही सबसे बड़ा सुख है ।' यह बात हम जानती हैं, फिर भी हम भगवान् श्रीकृष्णके लौटनेकी आशा छोड़नेमें असमर्थ हैं । उनके शुभागमनकी आशा ही तो हमारा जीवन है ॥ ४७ ॥ हमारे प्यारे श्यामसुन्दरने, जिनकी कीर्तिका गान बड़े-बड़े महात्मा करते रहते हैं, हमसे एकान्तमें जो मीठी-मीठी प्रेमकी बातें की हैं उन्हें छोड़नेका, भुलानेका उत्साह भी हम कैसे कर सकती हैं? देखो तो, उनकी इच्छा न होनेपर भी स्वयं लक्ष्मीजी उनके चरणोंसे लिपटी रहती हैं, एक क्षणके लिये भी उनका अङ्ग-सङ्ग छोड़कर कहीं नहीं जातीं ॥ ४८ ॥ उद्धवजी ! यह वही नदी है, जिसमें वे विहार करते थे । यह वही पर्वत है, जिसके शिखरपर चढ़कर वे बाँसुरी बजाते थे । ये वे ही वन हैं, जिनमें वे रात्रिके समय रासलीला करते थे, और ये वे ही गौएँ हैं, जिनको चरानेके लिये वे सुबह-शाम हमलोगोंको देखते हुए जाते-आते थे । और यह ठीक वैसी ही वंशीकी तान हमारे कानोंमें गूँजती रहती है, जैसी वे अपने अधरोंके संयोगसे छेड़ा करते थे । बलरामजीके साथ श्रीकृष्णने इन सभीका सेवन किया है ॥ ४९ ॥ यहाँका एक-एक प्रदेश, एक-एक धूलिकण उनके परम सुन्दर चरणकमलोंसे चिह्नित है । इन्हें जब-जब हम देखती हैं, सुनती हैं—दिनभर यही तो करती रहती हैं—तब-तब वे हमारे प्यारे श्यामसुन्दर नन्दनन्दनको हमारे नेत्रोंके सामने लाकर रख देते हैं । उद्धवजी ! हम किसी भी प्रकार—मरकर भी उन्हें भूल नहीं सकतीं ॥ ५० ॥ उनकी वह हंसकी-सी सुन्दर, चाल, उन्मुक्त हास्य, विलासपूर्ण चितवन और मधुमयी वाणी ! ओह ! उन सबने हमारा चित्त चुरा लिया है, हमारा मन हमारे वशमें नहीं है; अब हम उन्हें भूलें तो किस तरह ? ॥ ५१ ॥ हमारे प्यारे श्रीकृष्ण ! तुम्हीं हमारे जीवनके स्वामी हो । सर्वस्व हो । प्यारे ! तुम लक्ष्मीनाथ हो तो क्या हुआ ? हमारे लिये तो व्रजनाथ ही हो । हम व्रजगोपियोंके एकमात्र तुम्हीं सच्चे स्वामी हो । श्यामसुन्दर ! तुमने बार-बार हमारी व्यथा मिटायी है, हमारे सङ्कट काटे

१. रिणी प्राह । २. तद्वि० । ३. कृष्ण ।

मय्यमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥५२॥

हैं। गोविन्द! तुम गौओंसे बहुत प्रेम करते हो। क्या हम गौएँ नहीं हैं? तुम्हारा यह सारा गोकुल—जिसमें ग्वालबाल, पिता-माता, गौएँ और हम गोपियाँ सब कोई हैं—दुःखके अपार सागरमें डूब रहा है। तुम इसे बचाओ, आओ, हमारी रक्षा करो' ॥ ५२ ॥

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम् ॥५३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय सन्देश सुनकर गोपियोंके विरहकी व्यथा शान्त हो गयी थी। वे इन्द्रियातीत भगवान् श्रीकृष्णको अपने आत्माके रूपमें सर्वत्र स्थित समझ चुकी थीं। अब वे बड़े प्रेम और आदरसे उद्धवजीका सत्कार करने लगीं ॥ ५३ ॥

उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदञ्छुचः।
कृष्णलीलाकथां गायन् रमयामास गोकुलम् ॥५४॥

उद्धवजी गोपियोंकी विरह-व्यथा मिटानेके लिये कई महीनोंतक वहीं रहे। वे भगवान् श्रीकृष्णकी अनेकों लीलाएँ और बातें सुना-सुनाकर व्रजवासियोंको आनन्दित करते रहते ॥ ५४ ॥

यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्तया ॥५५॥

नन्दबाबाके व्रजमें जितने दिनोंतक उद्धवजी रहे, उतने दिनोंतक भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकी चर्चा होते रहनेके कारण व्रजवासियोंको ऐसा जान पड़ा, मानो अभी एक ही क्षण हुआ हो ॥ ५५ ॥

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान्।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥५६॥

भगवान्‌के परमप्रेमी भक्त उद्धवजी कभी नदीतटपर जाते, कभी वनोंमें विहरते और कभी गिरिराजकी घाटियोंमें विचरते। कभी रंग-बिरंगे फूलोंसे लदे हुए वृक्षोंमें ही रम जाते और यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने कौन-सी लीला की है, यह पूछ-पूछकर व्रजवासियोंको भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी लीलाके स्मरणमें तन्मय कर देते ॥ ५६ ॥

दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥५७॥

उद्धवजीने व्रजमें रहकर गोपियोंकी इस प्रकारकी प्रेम-विकलता तथा और भी बहुत-सी प्रेम-चेष्टाएँ देखीं। उनकी इस प्रकार श्रीकृष्णमें तन्मयता देखकर वे प्रेम और आनन्दसे भर गये। अब वे गोपियोंको नमस्कार करते हुए इस प्रकार गान करने लगे—॥ ५७ ॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।

'इस पृथ्वीपर केवल इन गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रेममय दिव्य महाभावमें स्थित हो गयी हैं। प्रेमकी यह ऊँची-से-ऊँची स्थिति संसारके भयसे भीत मुमुक्षुजनोंके लिये ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े मुनियों—मुक्त पुरुषों तथा हम भक्तजनोंके लिये भी अभी

वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥५८॥

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥५९॥

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥६०॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥६१॥

वाञ्छनीय ही है! हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। सत्य है, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाके रसका चसका लग गया है, उन्हें कुलीनताकी, द्विजातिसमुचित संस्कारकी और बड़े-बड़े यज्ञ-यागोंमें दीक्षित होनेकी क्या आवश्यकता है? अथवा यदि भगवान्‌की कथाका रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं हुई, तो अनेक महाकल्पोंतक बार-बार ब्रह्मा होनेसे ही क्या लाभ? ॥ ५८ ॥ कहाँ ये वनचरी आचार, ज्ञान और जातिसे हीन गाँवकी गँवार ग्वालिनें और कहाँ सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णमें यह अनन्य परम प्रेम! अहो, धन्य है! धन्य है! इससे सिद्ध होता है कि यदि कोई भगवान्‌के स्वरूप और रहस्यको न जानकर भी उनसे प्रेम करे, उनका भजन करे, तो वे स्वयं अपनी शक्तिसे, अपनी कृपासे उसका परम कल्याण कर देते हैं; ठीक वैसे ही, जैसे कोई अनजानमें भी अमृत पी ले तो वह अपनी वस्तु-शक्तिसे ही पीनेवालेको अमर बना देता है ॥ ५९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने रासोत्सवके समय इन व्रजाङ्गनाओंके गलेमें बाँह डाल-डालकर इनके मनोरथ पूर्ण किये। इन्हें भगवान्‌ने जिस कृपा-प्रसादका वितरण किया, इन्हें जैसा प्रेमदान किया; वैसा भगवान्‌की परमप्रेमवती नित्यसङ्गिनी वक्षःस्थलपर विराजमान लक्ष्मीजीको भी नहीं प्राप्त हुआ। कमलकी-सी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त देवाङ्गनाओंको भी नहीं मिला। फिर दूसरी स्त्रियोंकी तो बात ही क्या करें? ॥ ६० ॥ मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावन-धाममें कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि—जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ! अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलि निरन्तर सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी। इनकी चरण-रजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ। देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्य-मर्यादाका परित्याग करके इन्होंने भगवान्‌की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरोंकी तो बात ही क्या—भगवद्वाणी, उनकी निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अबतक भगवान्‌के परम प्रेममय स्वरूपको ढूँढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं ॥ ६१ ॥

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद् भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥६२॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥६३॥

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥६४॥
तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥६५॥
मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥६६॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥६७॥
एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥६८॥

स्वयं भगवती लक्ष्मीजी जिनकी पूजा करती रहती हैं; ब्रह्मा, शङ्कर आदि परम समर्थ देवता, पूर्णकाम आत्माराम और बड़े-बड़े योगेश्वर अपने हृदयमें जिनका चिन्तन करते रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्णके उन्हीं चरणारविन्दोंको रास-लीलाके समय गोपियोंने अपने वक्षःस्थलपर रक्खा और उनका आलिङ्गन करके अपने हृदयकी जलन, विरह-व्यथा शान्त की ॥६२॥ नन्दबाबाके व्रजमें रहनेवाली गोपाङ्गनाओंकी चरणधूलको मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ—उसे सिरपर चढ़ाता हूँ। अहा! इन गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाके सम्बन्धमें जो कुछ गान किया है, वह तीनों लोकोंको पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा' ॥ ६३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार कई महीनोंतक व्रजमें रहकर उद्धवजीने अब मथुरा जानेके लिये गोपियोंसे, नन्दबाबा और यशोदा मैयासे आज्ञा प्राप्त की। ग्वालवालोंसे विदा लेकर वहाँसे यात्रा करनेके लिये वे रथपर सवार हुए ॥६४॥ जब उनका रथ व्रजसे बाहर निकला, तब नन्दबाबा आदि गोपगण बहुत-सी भेंटकी सामग्री लेकर उनके पास आये और आँखोंमें आँसू भरकर उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—॥६५॥ 'उद्धवजी! अब हम यही चाहते हैं कि हमारे मनकी एक-एक वृत्ति, एक-एक सङ्कल्प श्रीकृष्णके चरणकमलोंके ही आश्रित रहे। उन्हींकी सेवाके लिये उठे और उन्हींमें लगी भी रहे। हमारी वाणी नित्य-निरन्तर उन्हींके नामोंका उच्चारण करती रहे और शरीर उन्हींको प्रणाम करने, उन्हींके आज्ञा-पालन और सेवामें लगा रहे ॥६६॥ उद्धवजी! हम सच कहते हैं, हमें मोक्षकी इच्छा बिल्कुल नहीं है। हम भगवान्‌की इच्छासे अपने कर्मोंके अनुसार चाहे जिस योनिमें जन्म लें—वहाँ शुभ आचरण करें, दान करें और उसका फल यही पावें कि हमारे अपने ईश्वर श्रीकृष्णमें हमारी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे' ॥ ६७ ॥ प्रिय परीक्षित्! नन्दबाबा आदि गोपोंने इस प्रकार श्रीकृष्ण-भक्तिके द्वारा उद्धवजीका सम्मान किया। अब वे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित मथुरापुरीमें लौट आये ॥ ६८ ॥

कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥६९॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया और उन्हें व्रजवासियोंकी प्रेममयी भक्तिका उद्रेक, जैसा उन्होंने देखा था, कह सुनाया। इसके बाद नन्दबाबाने भेंटकी जो-जो सामग्री दी थी वह उनको, वसुदेवजी, बलरामजी और राजा उग्रसेनको दे दी ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे उद्धवप्रतियाने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

अथाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान्‌का कुब्जा और अक्रूरजीके घर जाना

श्रीशुक उवाच[२]

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
सैरन्ध्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन् गृहं ययौ ॥ १ ॥
महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम् ।
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गन्धैरपि[३] मण्डितम् ॥ २ ॥
गृहं तमायान्तमवेक्ष्य साऽऽसनात्
सद्यः समुत्थाय हि जातसम्भ्रमा ।
यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं
सभाजयामास सदासनादिभिः ॥ ३ ॥
तथोद्धवः साधु तयाभिपूजितो
न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! तदनन्तर सबके आत्मा तथा सब कुछ देखनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपनेसे मिलनकी आकाङ्क्षा रखकर व्याकुल हुई कुब्जाका प्रिय करने—उसे सुख देनेकी इच्छासे उसके घर गये ॥ १ ॥ कुब्जाका घर बहुमूल्य सामग्रियोंसे सम्पन्न था। उसमें शृङ्गार-रसका उद्दीपन करनेवाली बहुत-सी साधन-सामग्री भी भरी हुई थी। मोतीकी झालरें और स्थान-स्थानपर झंडियाँ भी लगी हुई थीं। चँदोवे तने हुए थे। सेजें बिछायी हुई थीं और बैठनेके लिये बहुत सुन्दर-सुन्दर आसन लगाये हुए थे। धूपकी सुगन्ध फैल रही थी। दीपककी शिखाएँ जगमगा रही थीं। स्थान-स्थानपर फूलोंके हार और चन्दन रक्खे हुए थे ॥ २ ॥ भगवान्‌को अपने घर आते देख कुब्जा तुरंत हड़बड़ाकर अपने आसनसे उठ खड़ी हुई और सखियोंके साथ आगे बढ़कर उसने विधिपूर्वक भगवान्‌का स्वागत-सत्कार किया। फिर श्रेष्ठ आसन आदि देकर विविध उपचारोंसे उनकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ ३ ॥ कुब्जाने भगवान्‌के परमभक्त उद्धवजीकी भी समुचित रीतिसे पूजा की; परन्तु वे उसके सम्मानके लिये उसका दिया हुआ आसन छूकर धरतीपर ही बैठ गये। (अपने स्वामीके सामने उन्होंने आसनपर बैठना उचित न

१. न्थे उद्धव० । २. बादरायणिरुवाच । ३. सुगन्धैरपि । ४. सुजात० ।

कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं
विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥ ४ ॥
सा मज्जनालेपदुकूलभूषण-
स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥ ५ ॥
आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया
विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे ।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया
रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥ ६ ॥
सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णो-
र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त-
मानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥ ७ ॥
सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् ।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥ ८ ॥
आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया ।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण ॥ ९ ॥
तस्यै कामवरं दत्त्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदर्चितम्[1] ॥ १० ॥
दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् ।

समझा ।) भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूप होनेपर भी लोकाचारका अनुकरण करते हुए तुरंत उसकी बहुमूल्य सेजपर जा बैठे ॥ ४ ॥ तब कुब्जा स्नान, अङ्गराग, वस्त्र, आभूषण, हार, गन्ध (इत्र आदि), ताम्बूल और सुधासव आदिसे अपनेको खूब सजाकर लीलामयी लजीली मुसकान तथा हाव-भावके साथ भगवान्‌की ओर देखती हुई उनके पास आयी ॥ ५ ॥ कुब्जा नवीन मिलनके सङ्कोचसे कुछ झिझक रही थी । तब श्यामसुन्दर श्रीकृष्णने उसे अपने पास बुला लिया और उसकी कङ्कणसे सुशोभित कलाई पकड़कर अपने पास बैठा लिया और उसके साथ क्रीडा करने लगे । परीक्षित् ! कुब्जाने इस जन्ममें केवल भगवान्‌को अङ्गराग अर्पित किया था, उसी एक शुभकर्मके फलस्वरूप उसे ऐसा अनुपम अवसर मिला ॥ ६ ॥ कुब्जा भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको अपने काम-संतप्त हृदय, वक्षःस्थल और नेत्रोंपर रखकर उनकी दिव्य सुगन्ध लेने लगी और इस प्रकार उसने अपने हृदयकी सारी आधि-व्याधि शान्ति कर ली । वक्षःस्थलसे सटे हुए आनन्द-मूर्ति प्रियतम श्यामसुन्दरका अपनी दोनों भुजाओंसे गाढ़ आलिङ्गन करके कुब्जाने दीर्घकालसे बढ़े हुए विरह-तापको शान्त किया ॥ ७ ॥ परीक्षित् ! कुब्जाने केवल अङ्गराग समर्पित किया था । उतनेसे ही उसे उन सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की प्राप्ति हुई, जो कैवल्य-मोक्षके अधीश्वर हैं और जिनकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है । परन्तु उस दुर्भगाने उन्हें प्राप्त करके भी व्रजगोपियोंकी भाँति सेवा न माँगकर यही माँगा—॥ ८ ॥ 'प्रियतम ! आप कुछ दिन यहीं रहकर मेरे साथ क्रीडा कीजिये । क्योंकि हे कमलनयन ! मुझसे आपका साथ नहीं छोड़ा जाता' ॥ ९ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण सबका मान रखनेवाले और सर्वेश्वर हैं । उन्होंने अभीष्ट वर देकर उसकी पूजा स्वीकार की और फिर अपने प्यारे भक्त उद्धवजीके साथ अपने सर्वसम्मानित घरपर लौट आये ॥ १० ॥ परीक्षित् ! भगवान् ब्रह्मा आदि समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं । उनको प्रसन्न कर लेना भी जीवके लिये बहुत ही कठिन है । जो कोई उन्हें

१. र्द्धिमत् ।

यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ ॥११॥

प्रसन्न करके उनसे विषय-सुख माँगता है, वह निश्चय ही दुर्बुद्धि है; क्योंकि वास्तवमें विषय-सुख अत्यन्त तुच्छ—नहींके बराबर है ॥ ११ ॥

अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः।
किञ्चिच्चिकीर्षयन् प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया ॥१२॥
स तान् नरवरश्रेष्ठानाराद् वीक्ष्य स्वबान्धवान्।
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभ्यनन्दत ॥१३॥
ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः।
पूजयामास विधिवत् कृतासनपरिग्रहान् ॥१४॥
पादावनेजनीरापो धारयञ्छिरसा नृप।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥१५॥
अर्चित्वा शिरसाऽऽनम्य पादावङ्कगतौ मृजन्।
प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥१६॥

तदनन्तर एक दिन सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी और उद्धवजीके साथ अक्रूरजीकी अभिलाषा पूर्ण करने और उनसे कुछ काम लेनेके लिये उनके घर गये ॥ १२ ॥ अक्रूरजीने दूरसे ही देख लिया कि हमारे परम बन्धु मनुष्यलोकशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी आदि पधार रहे हैं। वे तुरंत उठकर आगे गये तथा आनन्दसे भरकर उनका अभिनन्दन और आलिङ्गन किया ॥ १३ ॥ अक्रूरजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको नमस्कार किया तथा उद्धवजीके साथ उन दोनों भाइयोंने भी उन्हें नमस्कार किया। जब सब लोग आरामसे आसनोंपर बैठ गये, तब अक्रूरजी उन लोगोंकी विधिवत् पूजा करने लगे ॥ १४ ॥ परीक्षित्! उन्होंने पहले भगवान्‌के चरण धोकर चरणोदक सिरपर धारण किया और फिर अनेकों प्रकारकी पूजा-सामग्री, दिव्य वस्त्र, गन्ध, माला और श्रेष्ठ आभूषणोंसे उनका पूजन किया, सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणोंको अपनी गोदमें लेकर दबाने लगे। उसी समय उन्होंने विनयावनत होकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीसे कहा—॥ १५-१६ ॥

दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम्।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद् दुरन्ताच्च समेधितम्॥१७॥
युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चित् परमस्ति न चापरम्॥१८॥
आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः।
ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतप्रत्यक्षगोचरम् ॥१९॥
यथा हि भूतेषु चराचरेषु
मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना।

'भगवन्! यह बड़े ही आनन्द और सौभाग्यकी बात है कि पापी कंस अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया। उसे मारकर आप दोनोंने यदुवंशको बहुत बड़े सङ्कटसे बचा लिया है तथा उन्नत और समृद्ध किया है ॥१७॥ आप दोनों जगत्‌के कारण और जगत्‌रूप, आदिपुरुष हैं। आपके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, न कारण और न तो कार्य ॥ १८ ॥ परमात्मन्! आपने ही अपनी शक्तिसे इसकी रचना की है और आप ही अपनी काल, माया आदि शक्तियोंसे इसमें प्रविष्ट होकर जितनी भी वस्तुएँ देखी और सुनी जाती हैं, उनके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं ॥ १९ ॥ जैसे पृथ्वी आदि कारणतत्त्वोंसे ही उनके कार्य स्थावर-जङ्गम शरीर बनते हैं; वे उनमें अनुप्रविष्ट-से होकर अनेक रूपोंमें प्रतीत

१. वाद्य च। २. सा तस्य। ३. क्तितः।

एवं भवान् केवल आत्मयोनि-
ष्वात्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥२०॥
सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं
रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः ।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा
ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥२१॥
देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्
भवो न साक्षान्न भिदाऽऽत्मनः स्यात् ।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः
स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥२२॥
त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय
यदा यदा वेदपथः पुराणः ।
बाध्येत पाखण्डपथैरसद्भि-
स्तदा भवान् सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥२३॥
स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांश-
राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥२४॥
अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा
यः सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिः ।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत् पुनाति
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥२५॥
कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्
भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।

होते हैं, परन्तु वास्तवमें वे कारणरूप ही हैं । इसी प्रकार हैं तो केवल आप ही, परन्तु अपने कार्यरूप जगत्में स्वेच्छासे अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं । यह भी आपकी एक लीला ही है ॥ २० ॥ प्रभो ! आप रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणरूप अपनी शक्तियोंसे क्रमशः जगत्की रचना, पालन और संहार करते हैं; किन्तु आप उन गुणोंसे अथवा उनके द्वारा होनेवाले कर्मोंसे बन्धनमें नहीं पड़ते, क्योंकि आप शुद्ध ज्ञान-स्वरूप हैं । ऐसी स्थितिमें आपके लिये बन्धनका कारण ही क्या हो सकता है ? ॥ २१ ॥ प्रभो ! स्वयं आत्म-वस्तुमें स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह आदि उपाधियाँ न होनेके कारण न तो उसमें जन्म-मृत्यु है और न किसी प्रकारका भेदभाव । यही कारण है कि न आपमें बन्धन है और न मोक्ष । आपमें अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार बन्धन या मोक्षकी जो कुछ कल्पना होती है, उसका कारण केवल हमारा अविवेक ही है ॥ २२ ॥ आपने जगत्के कल्याणके लिये यह सनातन वेदमार्ग प्रकट किया है । जब-जब इसे पाखण्ड-पथसे चलनेवाले दुष्टोंके द्वारा क्षति पहुँचती है, तब-तब आप शुद्ध सत्त्वमय शरीर ग्रहण करते हैं ॥ २३ ॥ प्रभो ! वही आप इस समय अपने अंश श्रीबलरामजीके साथ पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये यहाँ वसुदेवजीके घर अवतीर्ण हुए हैं । आप असुरोंके अंशसे उत्पन्न नाममात्रके शासकोंकी सौ-सौ अक्षौहिणी सेनाका संहार करेंगे और यदुवंशके यशका विस्तार करेंगे ॥ २४ ॥ इन्द्रियातीत परमात्मन् ! सारे देवता, पितर, भूतगण और राजा आपकी मूर्ति हैं । आपके चरणोंकी धोवन गङ्गाजी तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं । आप सारे जगत्के एकमात्र पिता और शिक्षक हैं । वही आज आप हमारे घर पधारे । इसमें सन्देह नहीं कि आज हमारे घर धन्य-धन्य हो गये । उनके सौभाग्यकी सीमा न रही ॥ २५ ॥ प्रभो ! आप प्रेमी भक्तोंके परम प्रियतम, सत्यवक्ता, अकारण हितू और कृतज्ञ हैं—जरा-सी सेवाको भी मान लेते हैं । भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है जो आपको छोड़कर किसी दूसरेकी शरणमें जायगा ? आप अपना

सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥२६॥
दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ॥२७॥

भजन करनेवाले प्रेमी भक्तकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं। यहाँतक कि जिसकी कभी क्षति और वृद्धि नहीं होती—जो एकरस है, अपने उस आत्माका भी आप दान कर देते हैं ॥ २६ ॥ भक्तोंके कष्ट मिटानेवाले और जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ानेवाले प्रभो! बड़े-बड़े योगिराज और देवराज भी आपके स्वरूपको नहीं जान सकते। परन्तु हमें आपका साक्षात् दर्शन हो गया, यह कितने सौभाग्यकी बात है। प्रभो! हम स्त्री, पुत्र, धन, स्वजन, गेह और देह आदिके मोहकी रस्सीसे बँधे हुए हैं। अवश्य ही यह आपकी मायाका खेल है। आप कृपा करके इस गाढ़े बन्धनको शीघ्र काट दीजिये' ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान् हरिः ।
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः सम्मोहयन्निव ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार भक्त अक्रूरजीने भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा और स्तुति की। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराकर अपनी मधुर वाणीसे उन्हें मानो मोहित करते हुए कहा ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा ।
वयं तु रक्ष्याःपोष्याश्च अनुकम्प्याःप्रजा हि वः॥२९॥
भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः ।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥३०॥
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥३१॥
स भवान् सुहृदां वै नः श्रेयाञ्छ्रेयश्चिकीर्षया ।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम्॥३२॥
पितर्युपरते बालाः सह मात्रा सुदुःखिताः ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'तात! आप हमारे गुरु—हितोपदेशक और चाचा हैं। हमारे वंशमें अत्यन्त प्रशंसनीय तथा हमारे सदाके हितैषी हैं। हम तो आपके बालक हैं और सदा ही आपकी रक्षा, पालन और कृपाके पात्र हैं ॥२९॥ अपना परम कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको आप-जैसे परम पूजनीय और महाभाग्यवान् संतोंकी सर्वदा सेवा करनी चाहिये। आप-जैसे संत देवताओंसे भी बढ़कर हैं; क्योंकि देवताओंमें तो स्वार्थ रहता है, परन्तु संतोंमें नहीं ॥ ३० ॥ केवल जलके तीर्थ (नदी, सरोवर आदि) ही तीर्थ नहीं हैं, केवल मृत्तिका और शिला आदिकी बनी हुई मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। चाचाजी! उनकी तो बहुत दिनोंतक श्रद्धासे सेवा की जाय, तब वे पवित्र करते हैं। परन्तु संतपुरुष तो अपने दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं ॥३१॥ चाचाजी! आप हमारे हितैषी सुहृदोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिये आप पाण्डवोंका हित करनेके लिये तथा उनका कुशल-मङ्गल जाननेके लिये हस्तिनापुर जाइये ॥ ३२ ॥ हमने ऐसा सुना है कि राजा पाण्डुके मर जानेपर अपनी माता कुन्तीके साथ युधिष्ठिर आदि पाण्डव बड़े दुःखमें पड़

आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥३३॥

गये थे । अब राजा धृतराष्ट्र उन्हें अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें ले आये हैं और वे वहीं रहते हैं ॥३३॥

तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः ।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ॥३४॥

आप जानते ही हैं कि राजा धृतराष्ट्र एक तो अंधे हैं और दूसरे उनमें मनोबलकी भी कमी है । उनका पुत्र दुर्योधन बहुत दुष्ट है और उसके अधीन होनेके कारण वे पाण्डवोंके साथ अपने पुत्रों-जैसा—समान व्यवहार नहीं कर पाते ॥ ३४ ॥

गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा ।
विज्ञाय तद् विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ॥३५॥

इसलिये आप वहाँ जाइये और मालूम कीजिये कि उनकी स्थिति अच्छी है या बुरी । आपके द्वारा उनका समाचार जानकर मैं ऐसा उपाय करूँगा, जिससे उन सुहृदोंको सुख मिले' ॥३५॥

इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान् हरिरीश्वरः ।
सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ॥३६॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूरजीको इस प्रकार आदेश देकर बलरामजी और उद्धवजीके साथ वहाँसे अपने घर लौट आये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अक्रूरजीका हस्तिनापुर जाना

श्रीशुक उवाच[2]

स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रयशोऽङ्कितम् ।
ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम् ॥ १ ॥
सहपुत्रं च बाह्लिकं भारद्वाजं सगौतमम् ।
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान् सुहृदोऽपरान् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान्‌के आज्ञानुसार अक्रूरजी हस्तिनापुर गये । वहाँकी एक-एक वस्तुपर पुरुवंशी नरपतियोंकी अमरकीर्तिकी छाप लग रही है । वे वहाँ पहले धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, बाह्लीक और उनके पुत्र सोमदत्त, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव तथा अन्यान्य इष्ट-मित्रोंसे मिले ॥ १—२ ॥

यथावदुपसङ्गम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः ।
सम्पृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम् ॥ ३ ॥

जब गान्दिनीनन्दन अक्रूरजी सब इष्ट-मित्रों और सम्बन्धियोंसे भलीभाँति मिल चुके, तब उनसे उन लोगोंने अपने मथुरावासी स्वजन-सम्बन्धियोंकी कुशल-क्षेम पूछी । उनका उत्तर देकर अक्रूरजीने भी हस्तिनापुरवासियोंके कुशल-मङ्गलके सम्बन्धमें पूछताछ की ॥३॥

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया ।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य[3] खलच्छन्दानुवर्तिनः ॥ ४ ॥

परीक्षित् ! अक्रूरजी यह जाननेके लिये कि, धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, कुछ महीनोंतक वहीं रहे । सच पूछो तो, धृतराष्ट्रमें अपने दुष्ट पुत्रोंकी इच्छाके विपरीत कुछ भी करनेका साहस न था । वे शकुनि आदि दुष्टोंकी सलाहके अनुसार ही काम करते थे ॥ ४ ॥

१. न्धेऽष्टच० । २. बादरायणिरुवाच । ३. वीर्यस्य ।

तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्‌गुणान् ।
प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम् ॥ ५ ॥
कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद् गरदानाद्यपेशलम् ।
आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥ ६ ॥
पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम् ।
उवाच जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा ॥ ७ ॥
अपि स्मरन्ति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे ।
भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च ॥ ८ ॥
भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
पैतृष्वसेयान् स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ॥ ९ ॥
सापत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव ।
सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ॥ १० ॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन्[1] विश्वात्मन् विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ॥ ११ ॥
नान्यत्तव पदाम्भोजात् पश्यामि शरणं नृणाम् ।
बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात् ॥ १२ ॥
नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ।

अक्रूरजीको कुन्ती और विदुरने यह बतलाया कि धृतराष्ट्रके लड़के दुर्योधन आदि पाण्डवोंके प्रभाव, शस्त्रकौशल, बल, वीरता तथा विनय आदि सद्‌गुण देख-देखकर उनसे जलते रहते हैं। जब वे यह देखते हैं कि प्रजा पाण्डवोंसे ही विशेष प्रेम रखती है, तब तो वे और भी चिढ़ जाते हैं और पाण्डवोंका अनिष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं। अबतक दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंपर कई बार विषदान आदि बहुत-से अत्याचार किये हैं और आगे भी बहुत कुछ करना चाहते हैं ॥ ५-६ ॥

जब अक्रूरजी कुन्तीके घर आये, तब वह अपने भाईके पास जा बैठीं। अक्रूरजीको देखकर कुन्तीके मनमें अपने मायकेकी स्मृति जग गयी और नेत्रोंमें आँसू भर आये। उन्होंने कहा—॥ ७ ॥ 'प्यारे भाई! क्या कभी मेरे माँ-बाप, भाई-बहिन, भतीजे, कुलकी स्त्रियाँ और सखी-सहेलियाँ मेरी याद करती हैं? ॥८॥ मैंने सुना है कि हमारे भतीजे भगवान् श्रीकृष्ण और कमलनयन बलराम बड़े ही भक्तवत्सल और शरणागत-रक्षक हैं। क्या वे कभी अपने इन फुफेरे भाइयोंको भी याद करते हैं? ॥९॥ मैं शत्रुओंके बीच घिरकर शोकाकुल हो रही हूँ। मेरी वही दशा है, जैसे कोई हरिनी भेड़ियोंके बीचमें पड़ गयी हो। मेरे बच्चे बिना बापके हो गये हैं। क्या हमारे श्रीकृष्ण कभी यहाँ आकर मुझको और इन अनाथ बालकोंको सान्त्वना देंगे?' ॥१०॥ (श्रीकृष्णको अपने सामने समझकर कुन्ती कहने लगीं—) 'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! तुम महायोगी हो, विश्वात्मा हो और तुम सारे विश्वके जीवनदाता हो। गोविन्द! अपने बच्चोंके साथ दुःख-पर-दुःख भोग रही हूँ। तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। मेरी रक्षा करो। मेरे बच्चोंको बचाओ ॥ ११ ॥ मेरे श्रीकृष्ण! यह संसार मृत्युमय है और तुम्हारे चरण मोक्ष देनेवाले हैं। मैं देखती हूँ कि जो लोग इस संसारसे डरे हुए हैं, उनके लिये तुम्हारे चरणकमलोंके अतिरिक्त और कोई शरण, और कोई सहारा नहीं है ॥ १२ ॥ श्रीकृष्ण! तुम मायाके लेशसे रहित परम शुद्ध हो। तुम स्वयं परब्रह्म परमात्मा हो। समस्त साधनों,

[1] गिन् सर्वात्मन् विश्वपालक।

योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥१३॥

योगों और उपायोंके स्वामी हो तथा स्वयं योग भी हो। श्रीकृष्ण! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। तुम मेरी रक्षा करो'॥ १३॥

श्रीशुक उवाच

इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम्।
प्रारुदद् दुःखिता राजन् भवतां प्रपितामही ॥१४॥
समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः।
सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः॥१५॥
यास्यन् राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम्।
अवदत् सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम् ॥१६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! तुम्हारी परदादी कुन्ती इस प्रकार अपने सगे-सम्बन्धियों और अन्तमें जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णको स्मरण करके अत्यन्त दुःखित हो गयी और फफक-फफककर रोने लगी॥१४॥ अक्रूरजी और विदुरजी दोनों ही सुख और दुःखको समान दृष्टिसे देखते थे। दोनों यशस्वी महात्माओंने कुन्तीको उसके पुत्रोंके जन्मदाता धर्म, वायु आदि देवताओंकी याद दिलायी और यह कहकर कि, तुम्हारे पुत्र अधर्मका नाश करनेके लिये ही पैदा हुए हैं, बहुत कुछ समझाया-बुझाया और सान्त्वना दी॥१५॥ अक्रूरजी जब मथुरा जाने लगे, तब राजा धृतराष्ट्रके पास आये। अबतक यह स्पष्ट हो गया था कि राजा अपने पुत्रोंका पक्षपात करते हैं और भतीजोंके साथ अपने पुत्रोंका-सा बर्ताव नहीं करते। अब अक्रूरजीने कौरवोंकी भरी सभामें श्रीकृष्ण और बलरामजी आदिका हितैषितासे भरा सन्देश कह सुनाया॥ १६॥

अक्रूर उवाच

भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन।
भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनाऽऽसनमास्थितः ॥१७॥
धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रञ्जयन्।
वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि ॥१८॥
अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः।
तस्मात् समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥१९॥
नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित् केनचित् सह।

अक्रूरजीने कहा—महाराज धृतराष्ट्रजी! आप कुरुवंशियोंकी उज्ज्वल कीर्तिको और भी बढ़ाइये। आपको यह काम विशेषरूपसे इसलिये भी करना चाहिये कि अपने भाई पाण्डुके परलोक सिधार जानेपर अब आप राज्यसिंहासनके अधिकारी हुए हैं॥ १७॥ आप धर्मसे पृथ्वीका पालन कीजिये। अपने सद्व्यवहारसे प्रजाको प्रसन्न रखिये और अपने स्वजनोंके साथ समान बर्ताव कीजिये। ऐसा करनेसे ही आपको लोकमें यश और परलोकमें सद्गति प्राप्त होगी॥ १८॥ यदि आप इसके विपरीत आचरण करेंगे तो इस लोकमें आपकी निन्दा होगी और मरनेके बाद आपको नरकमें जाना पड़ेगा। इसलिये अपने पुत्रों और पाण्डवोंके साथ समानताका बर्ताव कीजिये॥ १९॥ आप जानते ही हैं कि इस संसारमें कभी कहीं कोई किसीके साथ सदा नहीं रह सकता। जिनसे जुड़े हुए हैं, उनसे एक दिन

१. ह्या०

राजन् स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ॥२०॥

एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।

एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२१॥

अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः ।

सम्भोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः ॥२२॥

पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् ।

तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः ॥२३॥

स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः ।

असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः ॥२४॥

तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम् ।

वीक्ष्यायम्यात्मनाऽऽत्मानं समः शान्तो भव प्रभो ॥२५॥

धृतराष्ट्र उवाच

यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान् ।

तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ॥२६॥

तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले ।

पुत्रानुरागविषमे विद्युत् सौदामनी यथा ॥२७॥

बिछुड़ना पड़ेगा ही । राजन् ! यह बात अपने शरीरके लिये भी सोलहों आने सत्य है । फिर स्त्री, पुत्र, धन आदि छोड़कर जाना पड़ेगा, इसके विषयमें तो कहना ही क्या है ॥ २० ॥ जीव अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरकर जाता है । अपनी करनी-धरनीका, पाप-पुण्यका फल भी अकेला ही भुगतता है ॥२१॥ जिन स्त्री-पुत्रोंको हम अपना समझते हैं, वे तो 'हम तुम्हारे अपने हैं, हमारा भरण-पोषण करना तुम्हारा धर्म है'—इस प्रकारकी बातें बनाकर मूर्ख प्राणीके अधर्मसे इकट्ठे किये हुए धनको लूट लेते हैं, जैसे जलमें रहनेवाले जन्तुओंके सर्वस्व जलको उन्हींके सम्बन्धी चाट जाते हैं ॥ २२ ॥ यह मूर्ख जीव जिन्हें अपना समझकर अधर्म करके भी पालता-पोसता है, वे ही प्राण, धन और पुत्र आदि इस जीवको असन्तुष्ट छोड़कर ही चले जाते हैं ॥ २३ ॥ जो अपने धर्मसे विमुख है—सच पूछिये, तो वह अपना लौकिक स्वार्थ भी नहीं जानता । जिनके लिये वह अधर्म करता है, वे तो उसे छोड़ें ही देंगे; उसे कभी सन्तोषका अनुभव न होगा और वह अपने पापोंकी गठरी सिरपर लादकर स्वयं घोर नरकमें जायगा ॥ २४ ॥ इसलिये महाराज ! यह बात समझ लीजिये कि यह दुनिया चार दिनकी चाँदनी है, सपनेका खिलवाड़ है, जादूका तमाशा है और है मनोराज्यमात्र ! आप अपने प्रयत्नसे, अपनी शक्तिसे चित्तको रोकिये; ममतावश पक्षपात न कीजिये । आप समर्थ हैं, समत्वमें स्थित हो जाइये और इस संसारकी ओरसे उपराम—शान्त हो जाइये ॥ २५ ॥

राजा धृतराष्ट्रने कहा—दानपते अक्रूरजी ! आप मेरे कल्याणकी, भलेकी बात कह रहे हैं । जैसे मरनेवालेको अमृत मिल जाय तो वह उससे तृप्त नहीं हो सकता, वैसे ही मैं भी आपकी इन बातोंसे तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ २६ ॥ फिर भी हमारे हितैषी अक्रूरजी ! मेरे चञ्चल चित्तमें आपकी यह प्रिय शिक्षा तनिक भी नहीं ठहर रही है; क्योंकि मेरा हृदय पुत्रोंकी ममताके कारण अत्यन्त विषम हो गया है । जैसे स्फटिक पर्वतके शिखरपर एक बार बिजली कौंधती है और दूसरे ही क्षण अन्तर्धान हो जाती है, वही दशा आपके उपदेशों-

ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान् ।
भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥२८॥
यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥२९॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः ।
सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥३०॥
शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् ।
पाण्डवान् प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ॥३१॥

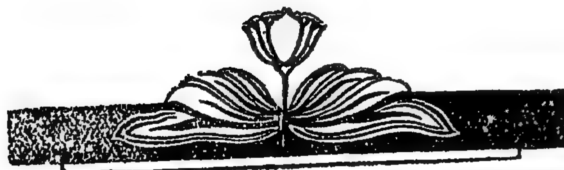
की है ॥ २७ ॥ अक्रूरजी ! सुना है कि सर्वशक्तिमान् भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं। ऐसा कौन पुरुष है, जो उनके विधानमें उलट-फेर कर सके ? उनकी जैसी इच्छा होगी, वही होगा ॥ २८॥ भगवान्‌की मायाका मार्ग अचिन्त्य है। उसी मायाके द्वारा इस संसारकी सृष्टि करके वे इसमें प्रवेश करते हैं और कर्म तथा कर्मफलोंका विभाजन कर देते हैं। इस संसार-चक्रकी बेरोक-टोक चालमें उनकी अचिन्त्य लीला-शक्तिके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है। मैं उन्हीं परमैश्वर्यशाली प्रभुको नमस्कार करता हूँ ॥ २९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार अक्रूरजी महाराज धृतराष्ट्रका अभिप्राय जानकर और कुरुवंशी स्वजन-सम्बन्धियोंसे प्रेमपूर्वक अनुमति लेकर मथुरा लौट आये ॥ ३० ॥ परीक्षित् ! उन्होंने वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके सामने धृतराष्ट्रका वह सारा व्यवहार-बर्ताव, जो वे पाण्डवोंके साथ करते थे, कह सुनाया। क्योंकि उनको हस्तिनापुर भेजनेका वास्तवमें उद्देश्य भी यही था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

समाप्तमिदं दशमस्कन्धस्य पूर्वार्द्धम्

श्रीकृष्णार्पणमस्तु



१. पे दशमस्कन्धे एकोन० ।



श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(उत्तरार्द्धः)



रुन्धानोऽरिगतिं वार्धिद्वारा द्वारावतीं गतः।
कृतदारोऽच्युतो दद्यात् सौमनस्यं मनस्यलम्॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः

(उत्तरार्धः)

अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

जरासन्धसे युद्ध और द्वारकापुरीका निर्माण

श्रीशुक[1] उवाच

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ ।
मृते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान् ॥ १ ॥
पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते ।
वेदयाञ्चक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥ २ ॥
स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप ।
अयादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ॥ ३ ॥
अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चापि संवृतः ।
यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत् सर्वतोदिशम् ॥ ४ ॥
निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम् ।
स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम् ॥ ५ ॥
चिन्तयामास भगवान् हरिः कारणमानुषः ।
तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥ ६ ॥
हनिष्यामि बलं ह्येतद् भुवि भारं समाहितम् ।
मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम् ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भरतवंशशिरोमणि परीक्षित्! कंसकी दो रानियाँ थीं—अस्ति और प्राप्ति। पतिकी मृत्युसे उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे अपने पिताकी राजधानीमें चली गयीं ॥ १ ॥ उन दोनोंका पिता था मगधराज जरासन्ध। उससे उन्होंने बड़े दुःखके साथ अपने विधवा होनेके कारणोंका वर्णन किया ॥ २ ॥ परीक्षित्! यह अप्रिय समाचार सुनकर पहले तो जरासन्धको बड़ा शोक हुआ, परन्तु पीछे वह क्रोधसे तिलमिला उठा। उसने यह निश्चय करके कि, मैं पृथ्वीपर एक भी यदुवंशी नहीं रहने दूँगा, युद्धकी बहुत बड़ी तैयारी की ॥ ३ ॥ और तेईस अक्षौहिणी सेनाके साथ यदुवंशियोंकी राजधानी मथुराको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने देखा—जरासन्धकी सेना क्या है, उमड़ता हुआ समुद्र है। उन्होंने यह भी देखा कि उसने चारों ओरसे हमारी राजधानी घेर ली है और हमारे स्वजन तथा पुरवासी भयभीत हो रहे हैं ॥ ५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ही मनुष्य-का-सा वेष धारण किये हुए हैं। अब उन्होंने विचार किया कि मेरे अवतारका क्या प्रयोजन है और इस समय इस स्थानपर मुझे क्या करना चाहिये ॥ ६ ॥ उन्होंने सोचा यह बड़ा अच्छा हुआ कि मगधराज जरासन्धने अपने अधीनस्थ नरपतियोंकी पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथियोंसे युक्त कई अक्षौहिणी सेना इकट्ठी कर ली है। यह सब तो पृथ्वीका भार ही जुटकर मेरे

[1] श्रीबादरायणिरुवाच ।

अक्षौहिणीभिः संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः ।
मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम् ॥ ८ ॥
एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे ।
संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥ ९ ॥
अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः सम्भ्रियते मया ।
विरामायाप्यधर्मस्य काले प्रभवतः क्वचित् ॥१०॥
एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात् सूर्यवर्चसौ ।
रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ ॥११॥
आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया ।
दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कर्षणमथाब्रवीत् ॥१२॥
पश्यार्य व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो ।
एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च ॥१३॥
यानमास्थाय जह्येतद् व्यसनात् स्वान् समुद्धर ।
एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत् ॥१४॥
त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारमपाकुरु ।
एवं सम्मन्त्र्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात् ॥१५॥
निर्जग्मतुःस्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसाऽऽवृतौ।
शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः ॥१६॥
ततोऽभूत् परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः ।

पास आ पहुँचा है । मैं इसका नाश करूँगा । परन्तु अभी मगधराज जरासन्धको नहीं मारना चाहिये । क्योंकि वह जीवित रहेगा तो फिरसे असुरोंकी बहुत-सी सेना इकट्ठी कर लायेगा ॥ ७-८ ॥ मेरे अवतारका यही प्रयोजन है कि मैं पृथ्वीका बोझ हल्का कर दूँ, साधु-सज्जनोंकी रक्षा करूँ और दुष्ट-दुर्जनोंका संहार ॥ ९ ॥ समय-समयपर धर्म-रक्षाके लिये और बढ़ते हुए अधर्मको रोकनेके लिये मैं और भी अनेकों शरीर ग्रहण करता हूँ ॥ १० ॥

परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि आकाशसे सूर्यके समान चमकते हुए दो रथ आ पहुँचे । उनमें युद्धकी सारी सामग्रियाँ सुसज्जित थीं और दो सारथी उन्हें हाँक रहे थे ॥ ११ ॥ इसी समय भगवान्‌के दिव्य और सनातन आयुध भी अपने-आप वहाँ आकर उपस्थित हो गये । उन्हें देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने बड़े भाई बलरामजीसे कहा—॥१२॥ 'भाईजी ! आप बड़े शक्तिशाली हैं ! इस समय जो यदुवंशी आपको ही अपना स्वामी और रक्षक मानते हैं, जो आपसे ही सनाथ हैं, उनपर बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी है । देखिये, यह आपका रथ है और आपके प्यारे आयुध हल-मूसल भी आ पहुँचे हैं ॥ १३ ॥ अब आप इस रथपर सवार होकर शत्रु-सेनाका संहार कीजिये और अपने स्वजनोंको इस विपत्तिसे बचाइये । भगवन् ! साधुओंका कल्याण करनेके लिये ही हम दोनोंने अवतार ग्रहण किया है ॥ १४ ॥ अतः अब आप यह तेईस अक्षौहिणी सेना, पृथ्वीका यह विपुल भार नष्ट कीजिये ।' भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने यह सलाह करके कवच धारण किये और रथपर सवार होकर वे मथुरासे निकले। उस समय दोनों भाई अपने-अपने आयुध लिये हुए थे और छोटी-सी सेना उनके साथ-साथ चल रही थी । श्रीकृष्णका रथ हाँक रहा था दारुक । पुरीसे बाहर निकलकर उन्होंने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया ॥ १५-१६ ॥ उनके शङ्खकी भयङ्कर ध्वनि सुनकर शत्रुपक्षकी सेनाके वीरोंका हृदय-डरके मारे थर्रा उठा । उन्हें देखकर मगधराज जरासन्ध-

तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम ॥१७॥
न त्वया योद्धुमिच्छामि बालेनैकेन लज्जया ।
गुप्तेन हि त्वया मन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन् ॥१८॥
तव राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह ।
हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि ॥१९॥

ने कहा— 'पुरुषाधम कृष्ण ! तू तो अभी निरा बच्चा है । अकेले तेरे साथ लड़नेमें मुझे लाज लग रही है । इतने दिनोंतक तू न जाने कहाँ-कहाँ छिपता फिरता था । और मन्द ! तू तो अपने मामाका हत्यारा है । इसलिये मैं तेरे साथ नहीं लड़ सकता । जा, मेरे सामनेसे भाग जा ॥ १७-१८ ॥ बलराम ! यदि तेरे चित्तमें यह श्रद्धा हो कि युद्धमें मरनेपर स्वर्ग मिलता है तो तू आ, हिम्मत बाँधकर मुझसे लड़ । मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए शरीरको यहाँ छोड़कर स्वर्गमें जा अथवा यदि तुझमें शक्ति हो तो मुझे ही मार डाल' ॥ १९ ॥

श्रीभगवानुवाच

न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् ।
न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः ॥२०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—मगधराज ! जो शूरवीर होते हैं, वे तुम्हारी तरह डींग नहीं हाँकते, वे तो अपना बल-पौरुष ही दिखलाते हैं । देखो, अब तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे सिरपर नाच रही है । तुम वैसे ही अकबक कर रहे हो, जैसे मरनेके समय कोई सन्निपातका रोगी करे । बक लो, मैं तुम्हारी बातपर ध्यान नहीं देता ॥ २० ॥

श्रीशुक उवाच

जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ
महाबलौघेन बलीयसाऽऽवृणोत् ।
ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी
सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः ॥२१॥
सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथा-
वलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे ।
स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं
समाश्रिताः संमुमुहुः शुचार्दिताः ॥२२॥
हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः
शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम् ।
स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरार्चितं
व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम् ॥२३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जैसे वायु बादलोंसे सूर्यको और धुएँसे आगको ढक लेती है, किन्तु वास्तवमें वे ढकते नहीं, उनका प्रकाश फिर फैलता ही है; वैसे ही मगधराज जरासन्धने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके सामने आकर अपनी बहुत बड़ी बलवान् और अपार सेनाके द्वारा उन्हें चारों ओरसे घेर लिया—यहाँतक कि उनकी सेना, रथ, ध्वजा, घोड़ों और सारथियोंका दीखना भी बंद हो गया ॥ २१ ॥ मथुरापुरीकी स्त्रियाँ अपने महलोंकी अटारियों, छज्जों और फाटकोंपर चढ़कर युद्धका कौतुक देख रही थीं । जब उन्होंने देखा कि युद्धभूमिमें भगवान् श्रीकृष्णकी गरुडचिह्नसे चिह्नित और बलरामजीकी तालचिह्नसे चिह्नित ध्वजावाले रथ नहीं दीख रहे हैं तब वे शोकके आवेगसे मूर्छित हो गयीं ॥ २२ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि शत्रु-सेनाके वीर हमारी सेनापर इस प्रकार बाणोंकी वर्षा कर रहे हैं, मानो बादल पानीकी अनगिनत बूँदें बरसा रहे हों और हमारी सेना उससे अत्यन्त पीड़ित, व्यथित हो रही है; तब उन्होंने अपने देवता और असुर—दोनोंसे सम्मानित शार्ङ्गधनुषका टङ्कार किया ॥ २३ ॥

१. चार्पिताः ।

पादारविन्दं न भजत्यसन्मति-

गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥४७॥

ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो

राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।

मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभू-

ष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४८॥

कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसन्निभे

निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।

वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै-

र्गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः ॥४९॥

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया

प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।

त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे

क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥५०॥

पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन्

मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।

स एव कालेन दुरत्ययेन ते

कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥५१॥

असत् संसारमें ही लगा देते हैं और तुच्छ विषयसुखके लिये ही सारा प्रयत्न करते हुए घर-गृहस्थीके अँधेरे कूएँमें पड़े रहते हैं—भगवान्‌के चरणकमलोंकी उपासना नहीं करते, भजन नहीं करते, वे तो ठीक उस पशुके समान हैं, जो तुच्छ तृणके लोभसे अँधेरे कूएँमें गिर जाता है ॥ ४७ ॥ भगवन् ! मैं राजा था, राज्यलक्ष्मीके मदसे मैं मतवाला हो रहा था । इस मरनेवाले शरीरको ही तो मैं आत्मा—अपना स्वरूप समझ रहा था और राजकुमार, रानी, खजाना तथा पृथ्वीके लोभ-मोहमें ही फँसा हुआ था । उन वस्तुओंकी चिन्ता दिन-रात मेरे गले लगी रहती थी । इस प्रकार मेरे जीवनका यह अमूल्य समय बिल्कुल निष्फल—व्यर्थ चला गया ॥४८॥ जो शरीर प्रत्यक्ष ही घड़े और भीतके समान मिट्टीका है और दृश्य होनेके कारण उन्हींके समान अपनेसे अलग भी है, उसीको मैंने अपना स्वरूप मान लिया था और फिर अपनेको मान बैठा था 'नरदेव !' इस प्रकार मैंने मदान्ध होकर आपको तो कुछ समझा ही नहीं । रथ, हाथी, घोड़े और पैदलकी चतुरङ्गिणी सेना तथा सेनापतियोंसे घिरकर मैं पृथ्वीमें इधर-उधर घूमता रहता ॥ ४९ ॥ मुझे यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये, इस प्रकार विविध कर्तव्य और अकर्तव्यों-की चिन्तामें पड़कर मनुष्य अपने एकमात्र कर्तव्य भगवत्प्राप्तिसे विमुख होकर प्रमत्त हो जाता है, असावधान हो जाता है । संसारमें बाँध रखनेवाले विषयोंके लिये उसकी लालसा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती ही जाती है । परन्तु जैसे भूखके कारण जीभ लपलपाता हुआ साँप असावधान चूहेको दबोच लेता है, वैसे ही कालरूपसे सदा-सर्वदा सावधान रहनेवाले आप एकाएक उस प्रमादग्रस्त प्राणीपर टूट पड़ते हैं और उसे ले बीतते हैं ॥ ५० ॥ जो पहले सोनेके रथोंपर अथवा बड़े-बड़े गजराजोंपर चढ़कर चलता था और नरदेव कहलाता था, वही शरीर आपके अबाध कालका ग्रास बनकर बाहर फेंक देनेपर पक्षियोंकी विष्ठा, धरतीमें गाड़ देनेपर सड़कर कीड़ा और आगमें जला देनेपर राखका

न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-
स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥३०॥

सेनाका इस प्रकार बात-की-बातमें सत्यानाश कर दें। तथापि जब वे मनुष्यका-सा वेष धारण करके मनुष्यकी-सी लीला करते हैं, तब उसका भी वर्णन किया ही जाता है ॥ ३० ॥

जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम्।
हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा ॥३१॥
बध्यमानं हतारातिं पाशैर्वारुणमानुषैः।
वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥३२॥
स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीर संमतः।
तपसे कृतसङ्कल्पो वारितः पथि राजभिः ॥३३॥
वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि।
स्वकर्मबन्धप्राप्तोऽयं यदुभिस्ते पराभवः ॥३४॥
हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा।
उपेक्षितो भगवता मगधान् दुर्मना ययौ ॥३५॥

इस प्रकार जरासन्धकी सारी सेना मारी गयी। रथ भी टूट गया। शरीरमें केवल प्राण बाकी रहे। तब भगवान् श्रीबलरामजीने जैसे एक सिंह दूसरे सिंहको पकड़ लेता है, वैसे ही बलपूर्वक महाबली जरासन्धको पकड़ लिया ॥ ३१ ॥ जरासन्धने पहले बहुतसे विपक्षी नरपतियोंका वध किया था, परन्तु आज उसे बलरामजी वरुणकी फाँसी और मनुष्योंके फंदेसे बाँध रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचकर कि यह छोड़ दिया जायगा तो और भी सेना इकट्ठी करके लायेगा तथा हम सहज ही पृथ्वीका भार उतार सकेंगे, बलरामजीको रोक दिया ॥ ३२ ॥ बड़े-बड़े शूरवीर जरासन्धका सम्मान करते थे। इसलिये उसे इस बातपर बड़ी लज्जा मालूम हुई कि मुझे श्रीकृष्ण और बलरामने दया करके दीनकी भाँति छोड़ दिया है! अब उसने तपस्या करनेका निश्चय किया। परन्तु रास्तेमें उसके साथी नरपतियोंने बहुत समझाया कि 'राजन्! यदुवंशियोंमें क्या रक्खा है? वे आपको बिल्कुल ही पराजित नहीं कर सकते थे। आपको प्रारब्धवश ही नीचा देखना पड़ा है।' उन लोगोंने भगवान्की इच्छा, फिर विजय प्राप्त करनेकी आशा आदि बतलाकर तथा लौकिक दृष्टान्त एवं युक्तियाँ दे-देकर यह बात समझा दी कि आपको तपस्या नहीं करनी चाहिये ॥ ३३-३४ ॥ परीक्षित्! उस समय मगधराज जरासन्धकी सारी सेना मर चुकी थी। भगवान् बलरामजीने उपेक्षापूर्वक उसे छोड़ दिया था। इससे वह बहुत उदास होकर अपने देश मगधको चला गया ॥ ३५ ॥

मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः।
विकीर्यमाणः कुसुमैस्त्रिदशैरनुमोदितः ॥३६॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णकी सेनामें किसीका बाल भी बाँका न हुआ और उन्होंने जरासन्धकी तेईस अक्षौहिणी सेनापर, जो समुद्रके समान थी, सहज ही विजय प्राप्त कर ली। उस समय बड़े-बड़े देवता उनपर नन्दनवनके पुष्पोंकी वर्षा और उनके इस महान् कार्यका अनुमोदन—प्रशंसा कर रहे थे ॥ ३६ ॥

माथुरैरुपसङ्गम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः ।
उपगीयमानविजयः सूतमागधवन्दिभिः ॥३७॥
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः ।
वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ ॥३८॥
सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलङ्कृताम् ।
निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम् ॥३९॥
निचीयमानो[1] नारीभिर्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः ।
निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः ॥४०॥
आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम् ।
यदुराजाय तत् सर्वमाहृतं प्रादिशत्प्रभुः ॥४१॥

जरासन्धकी सेनाके पराजयसे मथुरावासी भयरहित हो गये थे और भगवान् श्रीकृष्णकी विजयसे उनका हृदय आनन्दसे भर रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण आकर उनमें मिल गये। सूत, मागध और वन्दीजन उनकी विजयके गीत गा रहे थे ॥ ३७ ॥ जिस समय भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया, उस समय वहाँ शङ्ख, नगारे, भेरी, तुरही, वीणा, बाँसुरी और मृदङ्ग आदि बाजे बजने लगे थे ॥ ३८ ॥ मथुराकी एक-एक सड़क और गलीमें छिड़काव कर दिया गया था। चारों ओर हँसते-खेलते नागरिकोंकी चहल-पहल थी। सारा नगर छोटी-छोटी झंडियों और बड़ी-बड़ी विजय-पताकाओंसे सजा दिया गया था। ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि गूँज रही थी और सब ओर आनन्दोत्सवके सूचक बंदनवार बाँध दिये गये थे ॥ ३९ ॥ जिस समय श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश कर रहे थे, उस समय नगरकी नारियाँ प्रेम और उत्कण्ठासे भरे हुए नेत्रोंसे उन्हें स्नेहपूर्वक निहार रही थीं और फूलोंके हार, दही, अक्षत और जौ आदिके अङ्कुरोंकी उनके ऊपर वर्षा कर रही थीं ॥ ४० ॥ भगवान् श्रीकृष्ण रणभूमिसे अपार धन और वीरोंके आभूषण ले आये थे। वह सब उन्होंने यदुवंशियोंके राजा उग्रसेनके पास भेज दिया ॥ ४१ ॥

एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः ।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः ॥४२॥
अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा ।
हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽयादरिभिर्नृपः[2] ॥४३॥
अष्टादशमसंग्रामे आगामिनि तदन्तरा ।
नारदप्रेषितो[3] वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ॥४४॥
रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः ।
नृलोके चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीञ्छ्रुत्वाऽऽत्मसम्मितान् ॥४५॥

परीक्षित्! इस प्रकार सत्रह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके मगधराज जरासन्धने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित यदुवंशियोंसे युद्ध किया ॥ ४२ ॥ किन्तु यादवोंने भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिसे हर बार उसकी सारी सेना नष्ट कर दी। जब सारी सेना नष्ट हो जाती, तब यदुवंशियोंके उपेक्षापूर्वक छोड़ देनेपर जरासन्ध अपनी राजधानीमें लौट जाता ॥ ४३ ॥ जिस समय अठारहवाँ संग्राम छिड़नेहीवाला था, उसी समय नारदजीका भेजा हुआ वीर कालयवन दिखायी पड़ा ॥ ४४ ॥ युद्धमें कालयवनके सामने खड़ा होनेवाला वीर संसारमें दूसरा कोई न था। उसने जब यह सुना कि यदुवंशी हमारे ही-जैसे बलवान् हैं और हमारा सामना कर सकते हैं, तब तीन करोड़ म्लेच्छोंकी सेना लेकर उसने मथुराको घेर लिया ॥ ४५ ॥

१. विकीर्यमाणो। २. णीर्नृपः। ३. प्रेरितो।

तं दृष्ट्वाचिन्तयत् कृष्णः सङ्कर्षणसहायवान् ।
अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महत् ॥४६॥
यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः ।
मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वाऽऽगमिष्यति॥४७॥
आवयोर्युध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः ।
बन्धून् वधिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुरं बली ॥४८॥
तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम् ।
तत्र ज्ञातीन् समाधाय यवनं घातयामहे ॥४९॥
इति सम्मन्त्र्य भगवान् दुर्गं द्वादशयोजनम् ।
अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत् ॥५०॥
दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम् ।
रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम् ॥५१॥
सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम् ।
हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः ॥५२॥
राजतारकुटैः कोष्ठैर्हेमकुम्भैरलङ्कृतैः ।
रत्नकूटैर्गृहैर्हैमैर्महामरकतस्थलैः ॥५३॥
वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वल्लभीभिश्च निर्मितम् ।

कालयवनकी यह असमय चढ़ाई देखकर भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीके साथ मिलकर विचार किया—'अहो! इस समय तो यदुवंशियोंपर जरासन्ध और कालयवन—ये दो-दो विपत्तियाँ एक साथ ही मँडरा रही हैं ॥ ४६ ॥ आज इस परम बलशाली यवनने हमें आकर घेर लिया है और जरासन्ध भी आज, कल या परसोंमें आ ही जायगा ॥ ४७ ॥ यदि हम दोनों भाई इसके साथ लड़नेमें लग गये और उसी समय जरासन्ध आ पहुँचा, तो वह हमारे बन्धुओंको मार डालेगा या तो कैद करके अपने नगरमें ले जायगा। क्योंकि वह बहुत बलवान् है ॥ ४८ ॥ इसलिये आज हमलोग एक ऐसा दुर्ग—ऐसा किला बनायेंगे; जिसमें किसी भी मनुष्यका प्रवेश करना अत्यन्त कठिन होगा। अपने स्वजन-सम्बन्धियोंको उसी किलेमें पहुँचाकर फिर इस यवनका वध करायेंगे' ॥ ४९ ॥ बलरामजीसे इस प्रकार सलाह करके भगवान् श्रीकृष्णने समुद्रके भीतर एक ऐसा दुर्गम नगर बनवाया, जिसमें सभी वस्तुएँ अद्भुत थीं और उस नगरकी लंबाई-चौड़ाई अड़तालीस कोसकी थी ॥ ५० ॥ उस नगरकी एक-एक वस्तुमें विश्वकर्माका विज्ञान (वास्तुविज्ञान) और शिल्पकलाकी निपुणता प्रकट होती थी। उसमें वास्तुशास्त्रके अनुसार बड़ी-बड़ी सड़कों, चौराहों और गलियोंका यथास्थान ठीक-ठीक विभाजन किया गया था ॥ ५१ ॥ वह नगर ऐसे सुन्दर-सुन्दर उद्यानों और विचित्र-विचित्र उपवनोंसे युक्त था, जिनमें देवताओंके वृक्ष और लताएँ लहलहाती रहती थीं। सोनेके इतने ऊँचे-ऊँचे शिखर थे, जो आकाशसे बातें करते थे। स्फटिकमणिकी अटारियाँ और ऊँचे-ऊँचे दरवाजे बड़े ही सुन्दर लगते थे ॥५२॥ अन्न रखनेके लिये चाँदी और पीतलके बहुत-से कोठे बने हुए थे। वहाँके महल सोनेके बने हुए थे और उनपर कामदार सोनेके कलश सजे हुए थे। उनके शिखर रत्नोंके थे तथा गच पन्नेकी बनी हुई बहुत भली मालूम होती थी ॥ ५३ ॥ इसके अतिरिक्त उस नगरमें वास्तुदेवताके मन्दिर और छज्जे भी बहुत सुन्दर सुन्दर बने हुए थे। उसमें चारों वर्णके लोग निवास करते थे

चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत् ॥५४॥

सुधर्मां पारिजातं च महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः ।

यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते ॥५५॥

श्यामैककर्णान् वरुणो हयाञ्छुक्लान् मनोजवान् ।

अष्टौ निधिपतिःकोशान् लोकपालो निजोदयान्॥५६॥

यद् यद् भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये ।

सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप ॥५७॥

तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः ।

प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः ।

निर्जगाम पुरद्वारात् पद्ममाली निरायुधः ॥५८॥

और सबके बीचमें यदुवंशियोंके प्रधान उग्रसेनजी, वसुदेवजी, बलरामजी तथा भगवान् श्रीकृष्णके महल जगमगा रहे थे ॥ ५४ ॥ परीक्षित् ! उस समय देवराज इन्द्रने भगवान् श्रीकृष्णके लिये पारिजात वृक्ष और सुधर्मा-सभाको भेज दिया । वह सभा ऐसी दिव्य थी कि उसमें बैठे हुए मनुष्यको भूख-प्यास आदि मर्त्यलोकके धर्म नहीं छू पाते थे ॥ ५५ ॥ वरुणजीने ऐसे बहुत-से श्वेत घोड़े भेज दिये, जिनका एक-एक कान श्यामवर्णका था, और जिनकी चाल मनके समान तेज थी । धनपति कुबेरजीने अपनी आठों निधियाँ भेज दीं और दूसरे लोकपालोंने भी अपनी-अपनी विभूतियाँ भगवान्के पास भेज दीं ॥ ५६ ॥ परीक्षित् । सभी लोकपालोंको भगवान् श्रीकृष्णने ही उनके अधिकारके निर्वाहके लिये शक्तियाँ और सिद्धियाँ दी हैं । जब भगवान्-श्रीकृष्ण पृथ्वीपर अवतीर्ण होकर लीला करने लगे, तब सभी सिद्धियाँ उन्होंने भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दीं ॥ ५७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपने समस्त स्वजन-सम्बन्धियोंको अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाके द्वारा द्वारकामें पहुँचा दिया । शेष प्रजाकी रक्षाके लिये बलरामजीको मथुरापुरीमें रख दिया और उनसे सलाह लेकर गलेमें कमलोंकी माला पहने, बिना कोई अस्त्र-शस्त्र लिये स्वयं नगरके बड़े दरवाजेसे बाहर निकल आये ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] दुर्गनिवेशनं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

अथैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कालयवनका भस्म होना, मुचुकुन्दकी कथा

श्रीशुक उवाच

तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम् ।

दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित् ! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा नगरके मुख्य द्वारसे निकले, उस समय ऐसा मालूम पड़ा, मानो पूर्व दिशासे चन्द्रोदय हो रहा हो । उनका श्यामल शरीर अत्यन्त ही दर्शनीय था, उसपर रेशमी पीताम्बरकी छटा निराली

१. न्धे पञ्चाश० ।

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥ २ ॥
नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम् ।
मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥
वासुदेवो ह्ययमिति पुमाञ्छ्रीवत्सलाञ्छनः ।
चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥ ४ ॥
लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ।
निरायुधश्चलन् पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥ ५ ॥
इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् ।
अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥ ६ ॥
हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे ।
नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम् ॥ ७ ॥
पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ।
इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ॥ ८ ॥
एवं क्षिप्तोऽपि भगवान् प्राविशद् गिरिकन्दरम् ।
सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ॥ ९ ॥
नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत् ।
इति मत्वाच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत् ॥ १० ॥

ही थी; वक्षःस्थलपर स्वर्णरेखाके रूपमें श्रीवत्स-चिह्न शोभा पा रहा था और गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही थी। चार भुजाएँ थीं, जो लंबी-लंबी और कुछ मोटी-मोटी थीं। हालके खिले हुए कमलके समान कोमल और रतनारे नेत्र थे। मुखकमलपर राशि-राशि आनन्द खेल रहा था। कपोलोंकी छटा निराली ही थी। मन्द-मन्द मुसकान देखनेवालोंका मन चुराये लेती थी। कानोंमें मकराकृत कुण्डल झिलमिल-झिलमिल झलक रहे थे। उन्हें देखकर कालयवनने निश्चय किया कि 'यही पुरुष वासुदेव है। क्योंकि नारदजीने जो-जो लक्षण बतलाये थे—वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, चार भुजाएँ, कमलके-से नेत्र, गलेमें वनमाला और सुन्दरताकी सीमा; वे सब इसमें मिल रहे हैं। इसलिये यह कोई दूसरा नहीं हो सकता। इस समय यह बिना किसी अस्त्र-शस्त्रके पैदल ही इस ओर चला आ रहा है, इसलिये मैं भी इसके साथ बिना अस्त्र-शस्त्रके ही लड़ूँगा' ॥ १—५ ॥

ऐसा निश्चय करके जब कालयवन भगवान् श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा, तब वे दूसरी ओर मुँह करके रणभूमिसे भाग चले और उन योगिदुर्लभ प्रभुको पकड़नेके लिये कालयवन उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा ॥ ६ ॥ रणछोड़ भगवान् लीला करते हुए भग रहे थे; कालयवन पग-पगपर यही समझता था कि अब पकड़ा, तब पकड़ा। इस प्रकार भगवान् उसे बहुत दूर एक पहाड़की गुफामें ले गये ॥ ७ ॥ कालयवन पीछेसे बार-बार आक्षेप करता कि 'अरे भाई! तुम परम यशस्वी यदुवंशमें पैदा हुए हो, तुम्हारा इस प्रकार युद्ध छोड़कर भागना उचित नहीं है।' परन्तु अभी उसके अशुभ निःशेष नहीं हुए थे, इसलिये वह भगवान्‌को पानेमें समर्थ न हो सका ॥ ८ ॥ उसके आक्षेप करते रहनेपर भी भगवान् उस पर्वतकी गुफामें घुस गये। उनके पीछे कालयवन भी घुसा। वहाँ उसने एक दूसरे ही मनुष्यको सोते हुए देखा ॥ ९ ॥ उसे देखकर कालयवनने सोचा 'देखो तो सही, यह मुझे इस प्रकार इतनी दूर ले आया और अब इस तरह—मानो इसे कुछ पता ही न हो—साधुबाबा बनकर सो रहा है।' यह सोचकर उस मूढ़ने उसे कसकर

१. प्राप्यमि० ।

स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने ।
दिशो विलोकयन् पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम् ॥११॥
स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ।
देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभवत् क्षणात् ॥१२॥

एक लात मारी ॥ १० ॥ वह पुरुष वहाँ बहुत दिनोंसे सोया हुआ था । पैरकी ठोकर लगनेसे वह उठ पड़ा और धीरे-धीरे उसने अपनी आँखें खोलीं । इधर-उधर देखनेपर पास ही कालयवन खड़ा हुआ दिखायी दिया ॥११॥ परीक्षित्! वह पुरुष इस प्रकार ठोकर मारकर जगाये जानेसे कुछ रुष्ट हो गया था । उसकी दृष्टि पड़ते ही कालयवनके शरीरमें आग पैदा हो गयी और वह क्षणभरमें जलकर राखका ढेर हो गया ॥ १२ ॥

राजोवाच[1]

को नाम स पुमान् ब्रह्मन् कस्य किंवीर्य एव च ।
कस्माद् गुहां गतः शिश्ये किंतेजो यवनार्दनः ॥१३॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा--भगवन्! जिसके दृष्टि-पातमात्रसे कालयवन जलकर भस्म हो गया, वह पुरुष कौन था ? किस वंशका था ? उसमें कैसी शक्ति थी और वह किसका पुत्र था ? आप कृपा करके यह भी बतलाइये कि वह पर्वतकी गुफामें जाकर क्यों सो रहा था ? ॥ १३ ॥

श्रीशुक उवाच

स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान् ।
मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥१४॥
स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे ।
असुरेभ्यः परित्रस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥१५॥
लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन् ।
राजन् विरमतां कृच्छ्राद् भवान् नः परिपालनात् ॥१६॥
नरलोके परित्यज्य राज्यं निहतकण्टकम्[2] ।
अस्मान् पालयतो वीर कामास्ते सर्व उज्झिताः ॥१७॥
सुता महिष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः ।
प्रजाश्च तुल्यकालीया नाधुना सन्ति कालिताः ॥१८॥
कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः ।
प्रजाः कालयते क्रीडन् पशुपालो यथा पशून् ॥१९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! वे इक्ष्वाकु-वंशी महाराजा मान्धाताके पुत्र राजा मुचुकुन्द थे । वे ब्राह्मणोंके परम भक्त, सत्यप्रतिज्ञ, संग्रामविजयी और महापुरुष थे ॥ १४ ॥ एक बार इन्द्रादि देवता असुरोंसे अत्यन्त भयभीत हो गये थे । उन्होंने अपनी रक्षाके लिये राजा मुचुकुन्दसे प्रार्थना की और उन्होंने बहुत दिनोंतक उनकी रक्षा की ॥ १५ ॥ जब बहुत दिनोंके बाद देवताओंको सेनापतिके रूपमें स्वामिकार्तिकेय मिल गये, तब उन लोगोंने राजा मुचुकुन्दसे कहा—'राजन्! आपने हमलोगोंकी रक्षाके लिये बहुत श्रम और कष्ट उठाया है । अब आप विश्राम कीजिये ॥ १६ ॥ वीर-शिरोमणे ! आपने हमारी रक्षाके लिये मनुष्यलोकका अपना अकण्टक राज्य छोड़ दिया और जीवनकी अभिलाषाएँ तथा भोगोंका भी परित्याग कर दिया ॥१७॥ अब आपके पुत्र, रानियाँ, बन्धु-बान्धव और अमात्य-मन्त्री तथा आपके समयकी प्रजामेंसे कोई नहीं रहा है । सब-के-सब कालके गालमें चले गये ॥ १८ ॥ काल समस्त बलवानोंसे भी बलवान् है । वह स्वयं परम समर्थ अविनाशी और भगवत्स्वरूप है । जैसे ग्वाले पशुओंको अपने वशमें रखते हैं, वैसे ही वह खेल-खेलमें सारी

१. परीक्षिदुवाच । २. च हत० ।

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः ।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः ॥२०॥

एवमुक्तः स वै देवानभिवन्द्य महायशाः ।
अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया ॥२१॥

स्वापं यातं[1] यस्तु मध्ये बोधयेत्त्वामचेतनः ।
स त्वया दृष्टमात्रस्तु भस्मीभवतु तत्क्षणात् ॥२२॥

यवने भस्मसान्नीते भगवान् सात्वतर्षभः ।
आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ॥२३॥

तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥२४॥

चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥२५॥

प्रेक्षणीयं नृलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम् ।
अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥२६॥

पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः ।
शङ्कितः शनकै राजा दुर्धर्षमिव तेजसा ॥२७॥

मुचुकुन्द उवाच

को भवानिह सम्प्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे ।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके ॥२८॥

किंस्वित्तेजस्विनां तेजो[2] भगवान् वा विभावसुः ।
सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि[3] वा ॥२९॥

प्रजाको अपने अधीन रखना है ॥ १९ ॥ राजन्! आपका कल्याण हो। आपकी जो इच्छा हो हमसे माँग लीजिये। हम कैवल्य-मोक्षके अतिरिक्त आपको सब कुछ दे सकते हैं। क्योंकि कैवल्य-मोक्ष देनेकी सामर्थ्य तो केवल अविनाशी भगवान् विष्णुमें ही है ॥ २० ॥ परम यशस्वी राजा मुचुकुन्दने देवताओंके इस प्रकार कहनेपर उनकी वन्दना की और बहुत थके होनेके कारण निद्राका ही वर माँगा, तथा उनसे वर पाकर वे नींदसे भरकर पर्वतकी गुफामें जा सोये ॥ २१ ॥ उस समय देवताओंने कह दिया था कि 'राजन्! सोते समय यदि आपको कोई मूर्ख बीचमें ही जगा देगा, तो वह आपकी दृष्टि पड़ते ही उसी क्षण भस्म हो जायगा' ॥ २२ ॥

परीक्षित्! जब कालयवन भस्म हो गया, तब यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने परम बुद्धिमान् राजा मुचुकुन्दको अपना दर्शन दिया। भगवान् श्रीकृष्णका श्रीविग्रह वर्षाकालीन मेघके समान साँवला था। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे। वक्षःस्थलपर श्रीवत्स और गलेमें कौस्तुभमणि अपनी दिव्य ज्योति बिखेर रहे थे। चार भुजाएँ थीं। वैजयन्ती माला अलग ही घुटनोंतक लटक रही थी। मुखकमल अत्यन्त सुन्दर और प्रसन्नतासे खिला हुआ था। कानोंमें मकराकृत कुण्डल जगमगा रहे थे। होठोंपर प्रेमभरी मुसकराहट थी और नेत्रोंकी चितवन अनुरागकी वर्षा कर रही थी। अत्यन्त दर्शनीय तरुण अवस्था और मतवाले सिंहके समान निर्भीक चाल! राजा मुचुकुन्द यद्यपि बड़े बुद्धिमान् और धीर पुरुष थे, फिर भी भगवान्‌की यह दिव्य ज्योतिर्मयी मूर्ति देखकर कुछ चकित हो गये—उनके तेजसे हतप्रतिभ हो सकपका गये। भगवान् अपने तेजसे दुर्धर्ष जान पड़ते थे; राजाने तनिक शङ्कित होकर पूछा ॥ २३-२७ ॥

राजा मुचुकुन्दने कहा—'आप कौन हैं? इस काँटोंसे भरे हुए घोर जंगलमें आप कमलके समान कोमल चरणोंसे क्यों विचर रहे हैं? और इस पर्वतकी गुफामें ही पधारनेका क्या प्रयोजन था? ॥ २८ ॥ क्या आप समस्त तेजस्वियोंके मूर्तिमान् तेज अथवा भगवान् अग्निदेव तो नहीं हैं? क्या आप सूर्य, चन्द्रमा, देवराज

१. प्राचीन प्रतिमें 'स्वापं यातं'''यह पूरा श्लोक मूलमें नहीं टिप्पणीमें लिखा है। 'स्वापं यातं' के स्थानमें 'स्वापं भग्नं' यह पाठभेद है। २. तेजिष्ठम्। ३. अपीतः।

मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् ।
यद् बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा ॥३०॥
शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव ।
स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते ॥३१॥
वयं तु पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः ।
मुचुकुन्द इति प्रोक्तो यौवनाश्वात्मजः प्रभो ॥३२॥
चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयोपहतेन्द्रियः ।
शयेऽस्मिन् विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना ॥३३॥
सोऽपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव पाप्मना ।
अनन्तरं भवाञ्छ्रीमान् लक्षितोऽमित्रशातनः ॥३४॥
तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः ।
हतौजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम् ॥३५॥
एवं सम्भाषितो राज्ञा भगवान् भूतभावनः ।
प्रत्याह प्रहसन् वाण्या मेघनादगभीरया ॥३६॥

इन्द्र या कोई दूसरे लोकपाल हैं? ॥ २९ ॥ मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आप देवताओंके आराध्यदेव ब्रह्मा, विष्णु तथा शङ्कर—इन तीनोंमेंसे पुरुषोत्तम भगवान् नारायण ही हैं। क्योंकि जैसे श्रेष्ठ दीपक अँधेरेको दूर कर देता है, वैसे ही आप अपनी अङ्गकान्तिसे इस गुफाका अँधेरा भगा रहे हैं ॥ ३० ॥ पुरुषश्रेष्ठ! यदि आपको रुचे तो हमें अपना जन्म, कर्म और गोत्र बतलाइये; क्योंकि हम सच्चे हृदयसे उसे सुननेके इच्छुक हैं ॥ ३१ ॥ और पुरुषोत्तम! यदि आप हमारे बारेमें पूछें तो हम इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय हैं, मेरा नाम है मुचुकुन्द। और प्रभु! मैं युवनाश्वनन्दन महाराज मान्धाताका पुत्र हूँ ॥ ३२ ॥ बहुत दिनोंतक जागते रहनेके कारण मैं थक गया था। निद्राने मेरी समस्त इन्द्रियोंकी शक्ति छीन ली थी, उन्हें बेकाम कर दिया था, इसीसे मैं इस निर्जन स्थानमें निर्द्वन्द्व सो रहा था। अभी-अभी किसीने मुझे जगा दिया ॥ ३३ ॥ अवश्य उसके पापोंने ही उसे जलाकर भस्म कर दिया है। इसके बाद शत्रुओंके नाश करनेवाले परम सुन्दर आपने मुझे दर्शन दिया ॥ ३४ ॥ महाभाग! आप समस्त प्राणियोंके माननीय हैं। आपके परम दिव्य और असह्य तेजसे मेरी शक्ति खो गयी है। मैं आपको बहुत देरतक देख भी नहीं सकता ॥ ३५ ॥ जब राजा मुचुकुन्दने इस प्रकार कहा, तब समस्त प्राणियोंके जीवनदाता भगवान् श्रीकृष्णने हँसते हुए मेघध्वनिके समान गम्भीर वाणीसे कहा— ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः ।
न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ॥३७॥
क्वचिद् रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः ।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ॥३८॥
कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप ।
अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः ॥३९॥
तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय मुचुकुन्द! मेरे हजारों जन्म, कर्म और नाम हैं। वे अनन्त हैं, इसलिये मैं भी उनकी गिनती करके नहीं बतला सकता ॥ ३७ ॥ यह सम्भव है कि कोई पुरुष अपने अनेक जन्मोंमें पृथ्वीके छोटे-छोटे धूल-कणोंकी गिनती कर डाले; परन्तु मेरे जन्म, गुण, कर्म और नामोंको कोई कभी किसी प्रकार नहीं गिन सकता ॥ ३८ ॥ राजन्! सनक-सनन्दन आदि परमर्षिगण मेरे त्रिकालसिद्ध जन्म और कर्मोंका वर्णन करते रहते हैं, परन्तु कभी उनका पार नहीं पाते ॥ ३९ ॥ प्रिय मुचुकुन्द! ऐसा होनेपर भी मैं अपने वर्तमान जन्म, कर्म और नामोंका वर्णन करता

१. च इह विख्याता ऐक्ष्वा०। २. मात्मजेनैव। ३. नाशनः।

विज्ञापितो विरिञ्चेन पुराहं धर्मगुप्तये ।
भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च ॥४०॥
अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः ।
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम् ॥४१॥
कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः ।
अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा ॥४२॥
सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः ।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः ॥४३॥
वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते ।
मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ॥४४॥

हूँ, सुनो । पहले ब्रह्माजीने मुझसे धर्मकी रक्षा और पृथ्वीके भार बने हुए असुरोंका संहार करनेके लिये प्रार्थना की थी ॥ ४० ॥ उन्हींकी प्रार्थनासे मैंने यदुवंशमें वसुदेवजीके यहाँ अवतार ग्रहण किया है । अब मैं वसुदेवजीका पुत्र हूँ, इसलिये लोग मुझे 'वासुदेव' कहते हैं ॥ ४१ ॥ अबतक मैं कालनेमि असुरका, जो कंसके रूपमें पैदा हुआ था, तथा प्रलम्ब आदि अनेकों साधुद्रोही असुरोंका संहार कर चुका हूँ । राजन् ! यह कालयवन था, जो मेरी ही प्रेरणासे तुम्हारी तीक्ष्ण दृष्टि पड़ते ही भस्म हो गया ॥ ४२ ॥ वही मैं तुमपर कृपा करनेके लिये ही इस गुफामें आया हूँ । तुमने पहले मेरी बहुत आराधना की है और मैं हूँ भक्तवत्सल ॥४३॥ इसलिये राजर्षे ! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मुझसे माँग लो । मैं तुम्हारी सारी लालसा, अभिलाषाएँ पूर्ण कर दूँगा । जो पुरुष मेरी शरणमें आ जाता है उसके लिये फिर ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसके लिये वह शोक करे ॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः ।
ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन् ॥४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा, तब राजा मुचुकुन्दको वृद्ध गर्गका यह कथन याद आ गया कि यदुवंशमें भगवान् अवतीर्ण होनेवाले हैं । वे जान गये कि ये स्वयं भगवान् नारायण हैं । आनन्दसे भरकर उन्होंने भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार स्तुति की ॥ ४५ ॥

मुचुकुन्द उवाच

विमोहितोऽयं जन ईश मायया
त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक् ।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते
गृहेषु योषित् पुरुषश्च वञ्चितः ॥४६॥
लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं
कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।

मुचुकुन्दने कहा—प्रभो ! जगत्‌के सभी प्राणी आपकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहे हैं । वे आपसे विमुख होकर अनर्थमें ही फँसे रहते हैं और आपका भजन नहीं करते । वे सुखके लिये घर-गृहस्थीके उन झंझटोंमें फँस जाते हैं, जो सारे दुःखोंके मूल स्रोत हैं । इस तरह स्त्री और पुरुष सभी ठगे जा रहे हैं ॥ ४६ ॥ इस पापरूप संसारसे सर्वथा रहित प्रभो ! यह भूमि अत्यन्त पवित्र कर्मभूमि है, इसमें मनुष्यका जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है । मनुष्य-जीवन इतना पूर्ण है कि उसमें भजनके लिये कोई भी असुविधा नहीं है । अपने परम सौभाग्य और भगवान्‌की अहैतुक कृपासे उसे अनायास ही प्राप्त करके भी जो अपनी मति, गति

पादारविन्दं न भजत्यसन्मति-
गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥४७॥
ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो
राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभू-
ष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४८॥
कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसन्निभे
निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै-
र्गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः ॥४९॥
प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥५०॥
पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन्
मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते
कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥५१॥

असत् संसारमें ही लगा देते हैं और तुच्छ विषयसुखके लिये ही सारा प्रयत्न करते हुए घर-गृहस्थीके अँधेरे कूएँमें पड़े रहते हैं—भगवान्‌के चरणकमलोंकी उपासना नहीं करते, भजन नहीं करते, वे तो ठीक उस पशुके समान हैं, जो तुच्छ तृणके लोभसे अंधेरे कूएँमें गिर जाता है ॥ ४७ ॥ भगवन् ! मैं राजा था, राज्यलक्ष्मीके मदसे मैं मतवाला हो रहा था । इस मरनेवाले शरीरको ही तो मैं आत्मा—अपना स्वरूप समझ रहा था और राजकुमार, रानी, खजाना तथा पृथ्वीके लोभ-मोहमें ही फँसा हुआ था । उन वस्तुओंकी चिन्ता दिन-रात मेरे गले लगी रहती थी । इस प्रकार मेरे जीवनका यह अमूल्य समय बिल्कुल निष्फल—व्यर्थ चला गया ॥४८॥ जो शरीर प्रत्यक्ष ही घड़े और भीतके समान मिट्टीका है और दृश्य होनेके कारण उन्हींके समान अपनेसे अलग भी है, उसीको मैंने अपना स्वरूप मान लिया था और फिर अपनेको मान बैठा था 'नरदेव !' इस प्रकार मैंने मदान्ध होकर आपको तो कुछ समझा ही नहीं । रथ, हाथी, घोड़े और पैदलकी चतुरङ्गिणी सेना तथा सेनापतियोंसे घिरकर मैं पृथ्वीमें इधर-उधर घूमता रहता ॥ ४९ ॥ मुझे यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये, इस प्रकार विविध कर्तव्य और अकर्तव्यों-की चिन्तामें पड़कर मनुष्य अपने एकमात्र कर्तव्य भगवत्प्राप्तिसे विमुख होकर प्रमत्त हो जाता है, असावधान हो जाता है । संसारमें बाँध रखनेवाले विषयोंके लिये उसकी लालसा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती ही जाती है । परन्तु जैसे भूखके कारण जीभ लपलपाता हुआ साँप असावधान चूहेको दबोच लेता है, वैसे ही कालरूपसे सदा-सर्वदा सावधान रहनेवाले आप एकाएक उस प्रमादग्रस्त प्राणीपर टूट पड़ते हैं और उसे ले बीतते हैं ॥ ५० ॥ जो पहले सोनेके रथोंपर अथवा बड़े-बड़े गजराजोंपर चढ़कर चलता था और नरदेव कहलाता था, वही शरीर आपके अबाध कालका ग्रास बनकर बाहर फेंक देनेपर पक्षियोंकी विष्ठा, धरतीमें गाड़ देनेपर सड़कर कीड़ा और आगमें जला देनेपर राखका

निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो
वरासनस्थः समराजवन्दितः ।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां
क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥५२॥
करोति कर्माणि तपस्सुनिष्ठितो
निवृत्तभोगस्तदपेक्षया ददत् ।
पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति
प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥५३॥
भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥५४॥
मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो
राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया ।
यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया
वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः ॥५५॥
न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो ।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे
वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥५६॥
तस्माद् विसृज्याशिष ईश सर्वतो
रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।

ढेर बन जाता है ॥ ५१ ॥ प्रभो ! जिसने सारी दिशाओंपर विजय प्राप्त कर ली है और जिससे लड़नेवाला संसारमें कोई रह नहीं गया है, जो श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठता है और बड़े-बड़े नरपति, जो पहले उसके समान थे, अब जिसके चरणोंमें सिर झुकाते हैं, वही पुरुष जब विषय-सुख भोगनेके लिये, जो घर-गृहस्थीकी एक विशेष वस्तु है, स्त्रियोंके पास जाता है, तब उनके हाथका खिलौना, उनका पालतू पशु बन जाता है ॥५२॥ बहुत-से लोग विषय-भोग छोड़कर पुनः राज्यादि भोग मिलनेकी इच्छासे ही दान-पुण्य करते हैं और 'मैं फिर जन्म लेकर सबसे बड़ा परम स्वतन्त्र सम्राट् होऊँ ।' ऐसी कामना रखकर तपस्यामें भलीभाँति स्थित हो शुभकर्म करते हैं। इस प्रकार जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, वह कदापि सुखी नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥ अपने स्वरूपमें एकरस स्थित रहनेवाले भगवन् ! जीव अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटक रहा है । जब उस चक्करसे छूटनेका समय आता है, तब उसे सत्संग प्राप्त होता है । यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्संग प्राप्त होता है, उसी क्षण संतोंके आश्रय, कार्य-कारणरूप जगत्के एकमात्र स्वामी आपमें जीवकी बुद्धि अत्यन्त दृढ़तासे लग जाती है ॥ ५४ ॥ भगवन् ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपने मेरे ऊपर परम अनुग्रहकी वर्षा की, क्योंकि बिना किसी परिश्रमके—अनायास ही मेरे राज्यका बन्धन टूट गया । साधु-स्वभावके चक्रवर्ती राजा भी जब अपना राज्य छोड़कर एकान्तमें भजन-साधन करनेके उद्देश्यसे वनमें जाना चाहते हैं, तब उसके ममता-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये बड़े प्रेमसे आपसे प्रार्थना किया करते हैं ॥५५॥ अन्तर्यामी प्रभो ! आपसे क्या छिपा है ? मैं आपके चरणोंकी सेवाके अतिरिक्त और कोई भी वर नहीं चाहता; क्योंकि जिनके पास किसी प्रकारका संग्रह-परिग्रह नहीं है अथवा जो उसके अभिमानसे रहित हैं, वे लोग भी केवल उसीके लिये प्रार्थना करते रहते हैं । भगवन् ! भला, बतलाइये तो सही—मोक्ष देनेवाले आपकी आराधना करके ऐसा कौन श्रेष्ठ पुरुष होगा, जो अपनेको बाँधनेवाले सांसारिक विषयोंका वर माँगे ॥ ५६ ॥ इसलिये प्रभो ! मैं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त कामनाओंको छोड़कर केवल मायाके

निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं
त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥५७॥
चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै-
रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश ॥५८॥

लेशमात्र सम्बन्धसे रहित, गुणातीत, एक—अद्वितीय, चित्स्वरूप परमपुरुष आपकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥५७॥ भगवन् ! मैं अनादिकालसे अपने कर्मफलोंको भोगते-भोगते अत्यन्त आर्त हो रहा था, उनकी दुःखद ज्वाला रात-दिन मुझे जलाती रहती थी । मेरे छः शत्रु (पाँच इन्द्रिय और एक मन) कभी शान्त न होते थे, उनकी विषयोंकी प्यास बढ़ती ही जा रही थी । कभी किसी प्रकार एक क्षणके लिये भी मुझे शान्ति न मिली । शरणदाता ! अब मैं आपके भय, मृत्यु और शोकसे रहित चरणकमलोंकी शरणमें आया हूँ । सारे जगत्‌के एकमात्र स्वामी ! परमात्मन् ! आप मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये ॥ ५८ ॥

श्रीभगवानुवाच

सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता ।
वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥५९॥
प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत् ।
न धीर्मय्येकभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥६०॥
युञ्जानानामभक्तानां[1] प्राणायामादिभिर्मनः ।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्[2] ॥६१॥
विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः ।
अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥६२॥
क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः ।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः[3] ॥६३॥
जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः ।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥६४॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सार्वभौम महाराज ! तुम्हारी मति, तुम्हारा निश्चय बड़ा ही पवित्र और ऊँची कोटिका है । यद्यपि मैंने तुम्हें बार-बार वर देनेका प्रलोभन दिया, फिर भी तुम्हारी बुद्धि कामनाओंके अधीन न हुई ॥५९॥ मैंने तुम्हें जो वर देनेका प्रलोभन दिया, वह केवल तुम्हारी सावधानीकी परीक्षाके लिये । मेरे जो अनन्य भक्त होते हैं, उनकी बुद्धि कभी कामनाओंसे इधर-उधर नहीं भटकती ॥ ६० ॥ जो लोग मेरे भक्त नहीं होते, वे चाहे प्राणायाम आदिके द्वारा अपने मनको वशमें करनेका कितना ही प्रयत्न क्यों न करें उनकी वासनाएँ क्षीण नहीं होतीं, और राजन् ! उनका मन फिरसे विषयोंके लिये मचल पड़ता है ॥६१॥ तुम अपने मन और सारे मनोभावोंको मुझे समर्पित कर दो, मुझमें लगा दो, और फिर स्वच्छन्दरूपसे पृथ्वीपर विचरण करो । मुझमें तुम्हारी विषयवासनाशून्य निर्मल भक्ति सदा बनी रहेगी ॥ ६२ ॥ तुमने क्षत्रियधर्मका आचरण करते समय शिकार आदिके अवसरोंपर बहुत-से पशुओंका वध किया है । अब एकाग्रचित्तसे मेरी उपासना करते हुए तपस्याके द्वारा उस पापको धो डालो ॥ ६३ ॥ राजन् ! अगले जन्ममें तुम ब्राह्मण बनोगे और समस्त प्राणियोंके सच्चे हितैषी, परम सुहृद् होओगे तथा फिर मुझ विशुद्ध विज्ञानघन परमात्माको प्राप्त करोगे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[4] उत्तरार्धे
मुचुकुन्दस्तुतिर्नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

१. यु० । २. क्वचिद्दुत्थितम् । ३. पाश्रयः । ४. न्धे यवनवधो मुचुकुन्दस्तव एक० ।

अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

द्वारकागमन, श्रीबलरामजीका विवाह तथा श्रीकृष्णके पास रुक्मिणीजीका सन्देशा लेकर ब्राह्मणका आना

श्रीशुक उवाच

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः ।
तं परिक्रम्य सन्नम्य निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १ ॥
स वीक्ष्य क्षुल्लकान् मर्त्यान् पशून् वीरुद्वनस्पतीन् ।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥ २ ॥
तपःश्रद्धायुतो धीरो[१] निःसङ्गो मुक्तसंशयः ।
समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद् गन्धमादनम् ॥ ३ ॥
बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम् ।
सर्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाऽऽराधयद्धरिम् ॥ ४ ॥
भगवान् पुनराव्रज्य पुरीं[२] यवनवेष्टिताम् ।
हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां धनम् ॥ ५ ॥
नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः ।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥ ६ ॥
विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ ।
मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन् दुद्रुवतुर्द्रुतम् ॥ ७ ॥
विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत् ।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेरतुर्बहुयोजनम् ॥ ८ ॥
पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन् बली ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्यारे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार इक्ष्वाकुनन्दन राजा मुचुकुन्दपर अनुग्रह किया। अब उन्होंने भगवान्‌की परिक्रमा की, उन्हें नमस्कार किया और गुफासे बाहर निकले ॥ १ ॥ उन्होंने बाहर आकर देखा कि सब-के-सब मनुष्य, पशु, लता और वृक्ष-वनस्पति पहलेकी अपेक्षा बहुत छोटे-छोटे आकारके हो गये हैं। इससे यह जानकर कि कलियुग आ गया, वे उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ॥ २ ॥ महाराज मुचुकुन्द तपस्या, श्रद्धा, धैर्य तथा अनासक्तिसे युक्त एवं संशय-सन्देहसे मुक्त थे। वे अपना चित्त भगवान् श्रीकृष्णमें लगाकर गन्धमादन पर्वतपर जा पहुँचे ॥ ३ ॥ भगवान् नर-नारायणके नित्य निवासस्थान बदरिकाश्रममें जाकर बड़े शान्तभावसे गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्व सहते हुए वे तपस्याके द्वारा भगवान्‌की आराधना करने लगे ॥ ४ ॥

इधर भगवान् श्रीकृष्ण मथुरापुरीमें लौट आये। अबतक कालयवनकी सेनाने उसे घेर रक्खा था। अब उन्होंने म्लेच्छोंकी सेनाका संहार किया और उसका सारा धन छीनकर द्वारकाको ले चले ॥ ५ ॥ जिस समय भगवान् श्रीकृष्णके आज्ञानुसार मनुष्यों और बैलोंपर वह धन ले जाया जाने लगा, उसी समय मगधराज जरासन्ध फिर (अठारहवीं बार) तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर आ धमका ॥ ६ ॥ परीक्षित्! शत्रु-सेनाका प्रबल वेग देखकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम मनुष्योंकी-सी लीला करते हुए उसके सामनेसे बड़ी फुर्तीके साथ भाग निकले ॥ ७ ॥ उनके मनमें तनिक भी भय न था। फिर भी मानो अत्यन्त भयभीत हो गये हों—इस प्रकारका नाट्य करते हुए, वह सब-का-सब धन वहीं छोड़कर अनेक योजनोंतक वे अपने कमलदलके समान सुकोमल चरणोंसे ही—पैदल भागते चले गये ॥ ८ ॥ जब महाबली मगधराज जरासन्धने देखा कि श्रीकृष्ण और बलराम तो भाग रहे हैं, तब वह हँसने लगा और

१. वीरो। २. मथुरां यवने हते।

अन्वधावद् रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित् ॥ ९ ॥

प्रद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम् ।
प्रवर्षणाख्यं भगवान् नित्यदा यत्र वर्षति ॥ १० ॥

गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप ।
ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन् ॥ ११ ॥

तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ ।
दशैकयोजनोत्तुङ्गान्निपेततुरधो भुवि ॥ १२ ॥

अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ ।
स्वपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिखां नृप ॥ १३ ॥

सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ ।
बलमाकृष्य सुमहन्मगधान् मागधो ययौ ॥ १४ ॥

आनर्ताधिपतिः श्रीमान् रैवतो रेवतीं सुताम् ।
ब्रह्मणा चोदितः प्रादाद् बलायेति पुरोदितम् ॥ १५ ॥

भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह ।
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयंवरे ॥ १६ ॥

प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान् ।
पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव ॥ १७ ॥

राजोवाच

भगवान् भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम् ।
राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम् ॥ १८ ॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः ।

अपनी रथ-सेनाके साथ उनका पीछा करने लगा। उसे भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके ऐश्वर्य, प्रभाव आदिका ज्ञान न था ॥ ९ ॥ बहुत दूरतक दौड़नेके कारण दोनों भाई कुछ थक-से गये। अब वे बहुत ऊँचे प्रवर्षण पर्वतपर चढ़ गये। उस पर्वतका 'प्रवर्षण' नाम इसलिये पड़ा था कि वहाँ सदा ही—मेघ वर्षा किया करते थे ॥ १० ॥ परीक्षित्! जब जरासन्धने देखा कि वे दोनों पहाड़में छिप गये और बहुत ढूँढ़नेपर भी पता न चला, तब उसने ईंधनसे भरे हुए प्रवर्षण पर्वतके चारों ओर आग लगवाकर उसे जला दिया ॥ ११ ॥ जब भगवान्ने देखा कि पर्वतके छोर जलने लगे हैं, तब दोनों भाई जरासन्धकी सेनाके घेरेको लाँघते हुए बड़े वेगसे उस ग्यारह योजन (चौवालीस कोस) ऊँचे पर्वतसे एकदम नीचे धरतीपर कूद आये ॥ १२ ॥ राजन्! उन्हें जरासन्धने अथवा उसके किसी सैनिकने देखा नहीं और वे दोनों भाई वहाँसे चलकर फिर अपनी समुद्रसे घिरी हुई द्वारकापुरीमें चले आये ॥ १३ ॥ जरासन्धने झूठमूठ ऐसा मान लिया कि श्रीकृष्ण और बलराम तो जल गये, और फिर वह अपनी बहुत बड़ी सेना लौटाकर मगधदेशको चला गया ॥ १४ ॥

यह बात मैं तुमसे पहले ही (नवम स्कन्धमें) कह चुका हूँ कि आनर्तदेशके राजा श्रीमान् रैवतजीने अपनी रेवती नामकी कन्या ब्रह्माजीकी प्रेरणासे बलरामजीके साथ ब्याह दी ॥ १५ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण भी स्वयंवरमें आये हुए शिशुपाल और उसके पक्षपाती शाल्व आदि नरपतियोंको बलपूर्वक हराकर सबके देखते-देखते, जैसे गरुडने सुधाका हरण किया था, वैसे ही विदर्भदेशकी राजकुमारी रुक्मिणीको हर लाये और उनसे विवाह कर लिया। रुक्मिणीजी राजा भीष्मककी कन्या और स्वयं भगवती लक्ष्मीजीका अवतार थीं ॥ १६-१७ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन्! हमने सुना है कि भगवान् श्रीकृष्णने भीष्मकनन्दिनी परमसुन्दरी रुक्मिणीदेवीको बलपूर्वक हरण करके राक्षसविधिसे उनके साथ विवाह किया था ॥ १८ ॥ महाराज! अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि परम तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णने

यथा मागधशाल्वादीन् जित्वा कन्यामुपाहरत्॥१९॥

ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः ।

को नु तृप्येत शृण्वानः श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः ॥२०॥

जरासन्ध, शाल्व आदि नरपतियोंको जीतकर किस प्रकार रुक्मिणीका हरण किया? ॥ १९ ॥ ब्रह्मर्षे! भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें क्या कहना है? वे स्वयं तो पवित्र हैं ही, सारे जगत्‌का मल धो-बहाकर उसे भी पवित्र कर देनेवाली हैं। उनमें ऐसी लोकोत्तर माधुरी है, जिसे दिन-रात सेवन करते रहनेपर भी नित्य नया-नया रस मिलता रहता है। भला ऐसा कौन रसिक, कौन मर्मज्ञ है, जो उन्हें सुनकर तृप्त न हो जाय ॥ २० ॥

श्रीशुक उवाच[1]

राजाऽऽसीद् भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान्।

तस्य पञ्चाभवन् पुत्राः कन्यैका च वरानना ॥२१॥

रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः।

रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती ॥२२॥

सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः।

गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम् ॥२३॥

तां[2] बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणाश्रयाम् ।

कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे ॥२४॥

बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप।

ततो निवार्य कृष्णद्विड् रुक्मी चैद्यममन्यत ॥२५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! महाराज भीष्मक विदर्भदेशके अधिपति थे। उनके पाँच पुत्र और एक सुन्दरी कन्या थी॥ २१ ॥ सबसे बड़े पुत्रका नाम था रुक्मी और चार छोटे थे—जिनके नाम थे क्रमशः रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली। इनकी बहिन थी सती रुक्मिणी॥ २२ ॥ जब उसने भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्य, पराक्रम, गुण और वैभवकी प्रशंसा सुनी—जो उसके महलमें आनेवाले अतिथि प्रायः गाया ही करते थे—तब उसने यही निश्चय किया कि भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे अनुरूप पति हैं॥ २३ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण भी समझते थे कि 'रुक्मिणीमें बड़े सुन्दर-सुन्दर लक्षण हैं, वह परम बुद्धिमती है; उदारता, सौन्दर्य, शीलस्वभाव और गुणोंमें भी अद्वितीय है। इसलिये रुक्मिणी ही मेरे अनुरूप पत्नी है।' अतः भगवान्‌ने रुक्मिणीजीसे विवाह करनेका निश्चय किया॥ २४ ॥ रुक्मिणीजीके भाई-बन्धु भी चाहते थे कि हमारी बहिनका विवाह श्रीकृष्णसे ही हो। परन्तु रुक्मी श्रीकृष्णसे बड़ा द्वेष रखता था, उसने उन्हें विवाह करनेसे रोक दिया और शिशुपालको ही अपनी बहिनके योग्य वर समझा॥ २५ ॥

तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम्।

विचिन्त्याप्तं द्विजं कंचित् कृष्णाय प्राहिणोद् द्रुतम्॥२६

जब परमसुन्दरी रुक्मिणीको यह मालूम हुआ कि मेरा बड़ा भाई रुक्मी शिशुपालके साथ मेरा विवाह करना चाहता है, तब वे बहुत उदास हो गयीं। उन्होंने बहुत कुछ सोच-विचारकर एक विश्वासपात्र ब्राह्मणको

१. बादरायणिरुवाच। २. मानं तं।

द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः प्रवेशितः ।
अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं काञ्चनासने ॥२७॥
दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात् ।
उपवेश्यार्हयाञ्चक्रे यथाऽऽत्मानं दिवौकसः ॥२८॥
तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः ।
पाणिनाभिमृशन् पादावव्यग्रस्तमपृच्छत ॥२९॥
कच्चिद् द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसम्मतः ।
वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा ॥३०॥
संतुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित् ।
अहीयमानः स्वाद्धर्मात् स ह्यस्याखिलकामधुक् ॥३१॥
असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः ।
अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः ॥३२॥
विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् साधून् भूतसुहृत्तमान् ।
निरहङ्कारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसासकृत् ॥३३॥
कच्चिद् वः कुशलं ब्रह्मन् राजतो यस्य हि प्रजाः ।
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः ॥३४॥
यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया ।
सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत् किं कार्यं करवाम ते ॥३५॥

तुरंत श्रीकृष्णके पास भेजा ॥ २६ ॥ जब वे ब्राह्मण-देवता द्वारिकापुरीमें पहुँचे, तब द्वारपाल उन्हें राजमहलके भीतर ले गये। वहाँ जाकर ब्राह्मणदेवताने देखा कि आदि-पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण सोनेके सिंहासनपर विराजमान हैं ॥ २७ ॥ ब्राह्मणोंके परमभक्त भगवान् श्रीकृष्ण उन ब्राह्मणदेवताको देखते ही अपने आसनसे नीचे उतर गये और उन्हें अपने आसनपर बैठाकर वैसी ही पूजा की; जैसे देवतालोग उनकी (भगवान्‌की) किया करते हैं ॥ २८ ॥ आदर-सत्कार, कुशल-प्रश्नके अनन्तर जब ब्राह्मणदेवता खा-पी चुके, आराम-विश्राम कर चुके तब संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास गये और अपने कोमल हाथोंसे उनके पैर सहलाते हुए बड़े शान्त-भावसे पूछने लगे—॥ २९ ॥ 'ब्राह्मणशिरोमणे ! आपका चित्त तो सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रहता है न ? आपको अपने पूर्वपुरुषोंद्वारा स्वीकृत धर्मका पालन करनेमें कोई कठिनाई तो नहीं होती ॥ ३० ॥ ब्राह्मण यदि जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहे और अपने धर्मका पालन करे, उससे च्युत न हो, तो वह सन्तोष ही उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण कर देता है ॥ ३१ ॥ यदि इन्द्रका पद पाकर भी किसीको सन्तोष न हो तो उसे सुखके लिये एक लोकसे दूसरे लोकमें बार-बार भटकना पड़ेगा, वह कहीं भी शान्तिसे बैठ नहीं सकेगा। परन्तु जिसके पास तनिक भी संग्रह-परिग्रह नहीं है, और जो उसी अवस्थामें सन्तुष्ट है, वह सब प्रकारसे सन्तापरहित होकर सुखकी नींद सोता है ॥ ३२ ॥ जो स्वयं प्राप्त हुई वस्तुसे सन्तोष कर लेते हैं, जिनका स्वभाव बड़ा ही मधुर है और जो समस्त प्राणियोंके परम हितैषी, अहङ्काररहित और शान्त हैं—उन ब्राह्मणोंको मैं सदा सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणदेवता ! राजाकी ओरसे तो आप लोगोंको सब प्रकारकी सुविधा है न ? जिसके राज्यमें प्रजाका अच्छी तरह पालन होता है और वह आनन्दसे रहती है, वह राजा मुझे बहुत ही प्रिय है ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणदेवता ! आप कहाँसे, किस हेतुसे और किस अभिलाषासे इतना कठिन मार्ग तय करके यहाँ पधारे हैं ? यदि कोई बात विशेष गोपनीय न हो तो हमसे कहिये। हम आपकी क्या सेवा

१. कर्मकृत्।

एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना ।
लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥

करें ?' ॥३५॥ परीक्षित्! लीलासे ही मनुष्यरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार ब्राह्मण-देवतासे पूछा, तब उन्होंने सारी बात कह सुनायी। इसके बाद वे भगवान्‌से रुक्मिणीजीका सन्देश कहने लगे ॥ ३६ ॥

रुक्मिण्युवाच

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥३७॥
का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥३८॥
तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्ग जाया-
मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्
गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥३९॥
पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र-
गुर्वर्चनादिभिरलं भगवान् परेशः।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं
गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये॥४०॥

रुक्मिणीजीने कहा है—त्रिभुवनसुन्दर ! आपके गुणोंको जो सुननेवालोंके कानोंके रास्ते हृदयमें प्रवेश करके एक-एक अङ्गके ताप, जन्म-जन्मकी जलन बुझा देते हैं तथा अपने रूप-सौन्दर्यको जो नेत्रवाले जीवोंके नेत्रोंके लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके फल एवं स्वार्थ-परमार्थ, सब कुछ हैं, श्रवण करके प्यारे अच्युत ! मेरा चित्त लज्जा, शर्म सब कुछ छोड़कर आपमें ही प्रवेश कर रहा है ॥ ३७ ॥ प्रेमस्वरूप श्यामसुन्दर ! चाहे जिस दृष्टिसे देखें; कुल, शील, स्वभाव, सौन्दर्य, विद्या, अवस्था, धन-धाम—सभीमें आप अद्वितीय हैं, अपने ही समान हैं। मनुष्य-लोकमें जितने भी प्राणी हैं, सबका मन आपको देखकर शान्तिका अनुभव करता है, आनन्दित होता है। अब पुरुषभूषण ! आप ही बतलाइये—ऐसी कौन-सी कुलवती, महागुणवती और धैर्यवती कन्या होगी, जो विवाहके योग्य समय आनेपर आपको ही पतिके रूपमें वरण न करेगी ॥ ३८ ॥ इसीलिये प्रियतम ! मैंने आपको पतिरूपसे वरण किया है। मैं आपको आत्मसमर्पण कर चुकी हूँ। आप अन्तर्यामी हैं। मेरे हृदयकी बात आपसे छिपी नहीं है। आप यहाँ पधारकर मुझे अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये। कमलनयन ! प्राणवल्लभ ! मैं आप-सरीखे वीरको समर्पित हो चुकी हूँ, आपकी हूँ। अब जैसे सिंहका भाग सियार छू जाय, वैसे कहीं शिशुपाल निकटसे आकर मेरा स्पर्श न कर जाय॥३९॥ मैंने यदि जन्म-जन्ममें पूर्त (कूआँ, बावली आदि खुदवाना), इष्ट (यज्ञादि करना), दान, नियम, व्रत तथा देवता, ब्राह्मण और गुरु आदिकी पूजाके द्वारा भगवान् परमेश्वरकी ही आराधना की हो और वे मुझपर प्रसन्न हों, तो भगवान् श्रीकृष्ण आकर मेरा पाणिग्रहण करें; शिशुपाल अथवा दूसरा कोई भी पुरुष मेरा स्पर्श

श्वोभाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्
गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य
मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् ॥४१॥
अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धूं-
स्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् ।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा
यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात् ॥४२॥
यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात् ॥४३॥

ब्राह्मण उवाच

इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाऽऽहृताः ।
विमृश्य कर्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम् ॥४४॥

न कर सके ॥ ४० ॥ प्रभो ! आप अजित हैं। जिस दिन मेरा विवाह होनेवाला हो उसके एक दिन पहले आप हमारी राजधानीमें गुप्तरूपसे आ जाइये और फिर बड़े-बड़े सेनापतियोंके साथ शिशुपाल तथा जरासन्धकी सेनाओंको मथ डालिये, तहस-नहस कर दीजिये और बलपूर्वक राक्षस-विधिसे वीरताका मूल्य देकर मेरा पाणिग्रहण कीजिये ॥ ४१ ॥ यदि आप यह सोचते हों कि 'तुम तो अन्तःपुरमें—भीतरके जनाने महलोंमें पहरेके अंदर रहती हो, तुम्हारे भाई-बन्धुओंको मारे बिना मैं तुम्हें कैसे ले जा सकता हूँ ?,' तो इसका उपाय मैं आपको बतलाये देती हूँ। हमारे कुलका ऐसा नियम है कि विवाहके पहले दिन कुलदेवीका दर्शन करनेके लिये एक बहुत बड़ी यात्रा होती है, जुलूस निकलता है—जिसमें विवाही जानेवाली कन्याको—दुलहिनको नगरके बाहर गिरिजादेवीके मन्दिरमें जाना पड़ता है ॥ ४२ ॥ कमलनयन ! उमापति भगवान् शङ्करके समान बड़े-बड़े महापुरुष भी आत्मशुद्धिके लिये आपके चरणकमलोंकी धूलसे स्नान करना चाहते हैं। यदि मैं आपका वह प्रसाद, आपकी वह चरणधूल नहीं प्राप्त कर सकी तो व्रतद्वारा शरीरको सुखाकर प्राण छोड़ दूँगी। चाहे उसके लिये सैकड़ों जन्म क्यों न लेने पड़ें, कभी-न-कभी तो आपका वह प्रसाद अवश्य ही मिलेगा ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणदेवताने कहा—यदुवंशशिरोमणे ! यही रुक्मिणीके अत्यन्त गोपनीय सन्देश हैं, जिन्हें लेकर मैं आपके पास आया हूँ। इसके सम्बन्धमें जो कुछ करना हो, विचार कर लीजिये और तुरंत ही उसके अनुसार कार्य कीजिये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे रुक्मिण्युद्वाहप्रस्तावे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

रुक्मिणीहरण

श्रीशुक उवाच

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णने विदर्भराजकुमारी रुक्मिणीजीका यह सन्देश

१. न्धे रुक्मिण्युद्वाहे द्विप० ।

प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि ।

वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः ॥ २ ॥

तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान् मृधे ।

मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव ॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच

उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः ।

रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥ ४ ॥

स चाश्वैः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ।

युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५ ॥

आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः ।

आनर्त्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः ॥ ६ ॥

राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः ।

शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन् कर्माण्यकारयत् ॥७॥

पुरं सम्मृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम् ।

चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणैः समलङ्कृतम् ॥ ८ ॥

स्रग्गन्धमाल्याभरणैर्विरजोऽम्बरभूषितैः ।

जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगुरुधूपितैः ॥ ९ ॥

पितॄन् देवान् समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिवन्नृप ।

भोजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम् ॥१०॥

सुनकर अपने हाथसे ब्राह्मणदेवताका हाथ पकड़ लिया और हँसते हुए यों बोले ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—ब्राह्मणदेवता ! जैसे विदर्भराजकुमारी मुझे चाहती हैं, वैसे ही मैं भी उन्हें चाहता हूँ । मेरा चित्त उन्हींमें लगा रहता है । कहाँ-तक कहूँ, मुझे रातके समय नींदतक नहीं आती । मैं जानता हूँ कि रुक्मीने द्वेषवश मेरा विवाह रोक दिया है ॥ २ ॥ परन्तु ब्राह्मणदेवता ! आप देखियेगा, जैसे लकड़ियोंको मथकर—एक-दूसरेसे रगड़कर मनुष्य उनमेंसे आग निकाल लेता है, वैसे ही युद्धमें उन नाम-धारी क्षत्रियकुलकलङ्कोंको तहस-नहस करके अपनेसे प्रेम करनेवाली परमसुन्दरी राजकुमारीको मैं निकाल लाऊँगा ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! मधुसूदन श्री-कृष्णने यह जानकर कि रुक्मिणीके विवाहकी लग्न परसों रात्रिमें ही है, सारथिको आज्ञा दी कि 'दारुक ! तनिक भी विलम्ब न करके रथ जोत लाओ' ॥ ४ ॥ दारुक भगवान्के रथमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामके चार घोड़े जोतकर उसे ले आया और हाथ जोड़कर भगवान्के सामने खड़ा हो गया ॥५॥ शूरनन्दन श्रीकृष्ण ब्राह्मणदेवताको पहले रथपर चढ़ाकर फिर आप भी सवार हुए और उन शीघ्रगामी घोड़ोंके द्वारा एक ही रातमें आनर्तदेशसे विदर्भदेशमें जा पहुँचे ॥ ६ ॥

कुण्डिननरेश महाराज भीष्मक अपने बड़े लड़के रुक्मीके स्नेहवश अपनी कन्या शिशुपालको देनेके लिये विवाहोत्सवकी तैयारी करा रहे थे ॥७॥ नगरके राजपथ, चौराहे तथा गली-कूचे झाड़-बुहार दिये गये थे, उनपर छिड़काव किया जा चुका था । चित्र-विचित्र, रंग-बिरंगी, छोटी-बड़ी झंडियाँ और पताकाएँ लगा दी गयी थीं । तोरन बाँध दिये गये थे ॥ ८ ॥ वहाँके स्त्री पुरुष पुष्प-माल, हार, इत्र-फुलेल, चन्दन, गहने और निर्मल वस्त्रोंसे सजे हुए थे । वहाँके सुन्दर-सुन्दर घरोंमेंसे अगरके धूपकी सुगन्ध फैल रही थी ॥९॥ परीक्षित् ! राजा भीष्मकने पितर और देवताओंका विधिपूर्वक पूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन कराया और नियमानुसार स्वस्तिवाचन भी ॥१०॥

सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम् ।
अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥११॥
चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः ।
पुरोहितोऽथर्वविद् वै जुहाव ग्रहशान्तये ॥१२॥
हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान् ।
प्रादाद् धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः ॥१३॥

सुशोभित दाँतोंवाली परमसुन्दरी राजकुमारी रुक्मिणीजीको स्नान कराया गया, उनके हाथोंमें मङ्गल-सूत्र कङ्कण पहनाये गये, कोहबर बनाया गया, दो नये-नये वस्त्र उन्हें पहनाये गये और वे उत्तम-उत्तम आभूषणों-से विभूषित की गयीं ॥ ११ ॥ श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने साम, ऋक् और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे उनकी रक्षा की और अथर्व-वेदके विद्वान् पुरोहितने ग्रह शान्तिके लिये हवन किया।१२। राजा भीष्मक कुलपरम्परा और शास्त्रीय विधियोंके बड़े जानकार थे । उन्होंने सोना, चाँदी, वस्त्र, गुड़ मिले हुए तिल और गौएँ ब्राह्मणोंको दीं ॥ १३ ॥

एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै ।
कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम् ॥१४॥
मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनैर्हेममालिभिः ।
पत्त्यश्वसङ्कुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ ॥१५॥
तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च ।
निवेशयामास मुदा कल्पितान्यनिवेशने ॥१६॥
तत्र शाल्वो जरासन्धो दन्तवक्त्रो विदूरथः ।
आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः ॥१७॥
कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम् ।
यद्यागत्य हरेत् कृष्णो रामाद्यैर्यदुभिर्वृतः ॥१८॥
योत्स्यामः संहतास्तेन इति निश्चितमानसाः ।
आजग्मुर्भूभुजः सर्वे समग्रबलवाहनाः ॥१९॥

इसी प्रकार चेदिनरेश राजा दमघोषने भी अपने पुत्र शिशुपालके लिये मन्त्रज्ञ ब्राह्मणोंसे अपने पुत्रके विवाह-सम्बन्धी मङ्गलकृत्य कराये ॥ १४ ॥ इसके बाद वे मद चुआते हुए हाथियों, सोनेकी मालाओंसे सजाये हुए रथों, पैदलों तथा घुड़सवारोंकी चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर कुण्डिनपुर जा पहुँचे ॥ १५ ॥ विदर्भराज भीष्मकने आगे आकर उनका स्वागत-सत्कार और प्रथाके अनुसार अर्चन-पूजन किया । इसके बाद उन लोगोंको पहलेसे ही निश्चित किये हुए जनवासोंमें आनन्दपूर्वक ठहरा दिया ॥१६॥ उस बारातमें शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र, विदूरथ और पौण्ड्रक आदि शिशुपालके सहस्रों मित्र नरपति आये थे ॥ १७ ॥ वे सब राजा श्रीकृष्ण और बलरामजीके विरोधी थे और राजकुमारी रुक्मिणी शिशुपाल-को ही मिले, इस विचारसे आये थे । उन्होंने अपने-अपने मनमें यह पहलेसे ही निश्चय कर रक्खा था कि यदि श्रीकृष्ण, बलराम आदि यदुवंशियोंके साथ आकर कन्याको हरनेकी चेष्टा करेगा तो हम सब मिलकर उससे लड़ेंगे । यही कारण था कि उन राजाओंने अपनी-अपनी पूरी सेना और रथ, घोड़े, हाथी आदि भी अपने साथ ले लिये थे ॥ १८-१९ ॥

श्रुत्वैतद् भगवान् रामो विपक्षीयनृपोद्यमम् ।
कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः ॥२०॥

विपक्षी राजाओंकी इस तैयारीका पता भगवान् बलरामजीको लग गया और जब उन्होंने यह सुना कि भैया श्रीकृष्ण अकेले ही राजकुमारीका हरण करनेके लिये चले गये हैं, तब उन्हें वहाँ लड़ाई-झगड़ेकी बड़ी

१. विन्द्रिर्हा० । २. भिः सह ।

बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः ।
त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद् गजाश्वरथपत्तिभिः ॥२१॥

आशङ्का हुई ॥ २० ॥ यद्यपि वे श्रीकृष्णका बल-विक्रम जानते थे, फिर भी भ्रातृस्नेहसे उनका हृदय भर आया; वे तुरंत ही हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंकी बड़ी भारी चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर कुंण्डिनपुरके लिये चल पड़े ॥ २१ ॥

भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः ।
प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा ॥२२॥
अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः ।
नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम् ।
सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः ॥२३॥
अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम्।
मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः ॥२४॥
दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः ।
देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिजा सती ॥२५॥
एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा ।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ॥२६॥
एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ।
वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिणः ॥२७॥
अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः ।
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह ॥२८॥
सा तं प्रहृष्टवदनमव्यग्रात्मगतिं सती ।

इधर, परमसुन्दरी रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं । उन्होंने देखा श्री-कृष्णकी तो कौन कहे, अभी ब्राह्मणदेवता भी नहीं लौटे! वे बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं; सोचने लगीं ॥२२॥ 'अहो! अब मुझ अभागिनीके विवाहमें केवल एक रातकी देरी है । परन्तु मेरे जीवनसर्वस्व कमलनयन भगवान् अब भी नहीं पधारे ! इसका क्या कारण हो सकता है, कुछ निश्चय नहीं मालूम पड़ता । यही नहीं, मेरे सन्देश ले जानेवाले ब्राह्मणदेवता भी तो अभीतक नहीं लौटे ।२३॥ इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप परम शुद्ध है और विशुद्ध पुरुष ही उनसे प्रेम कर सकते हैं । उन्होंने मुझमें कुछ-न-कुछ बुराई देखी होगी, तभी तो मेरा हाथ पकड़नेके लिये—मुझे स्वीकार करनेके लिये उद्यत होकर वे यहाँ नहीं पधार रहे हैं ? ॥२४॥ ठीक है, मेरे भाग्य ही मन्द हैं ! विधाता और भगवान् शङ्कर भी मेरे अनुकूल नहीं जान पड़ते । यह भी सम्भव है कि रुद्रपत्नी गिरिराजकुमारी सती पार्वतीजी मुझसे अप्रसन्न हों ॥ २५ ॥ परीक्षित् ! रुक्मिणीजी इसी उधेड़-बुनमें पड़ी हुई थी । उनका सम्पूर्ण मन और उनके सारे मनोभाव भक्तमनचोर भगवान्‌ने चुरा लिये थे । उन्होंने उन्हींको सोचते-सोचते 'अभी समय है' ऐसा समझकर अपने आँसूभरे नेत्र बन्द कर लिये ।२६। परीक्षित ! इस प्रकार रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं । उसी समय उनकी बायीं जाँघ, भुजा और नेत्र फड़कने लगे, जो प्रियतमके आगमनका प्रिय संवाद सूचित कर रहे थे ॥ २७ ॥ इतनेमें ही भगवान् श्रीकृष्णके भेजे हुए वे ब्राह्मणदेवता आ गये और उन्होंने अन्तःपुरमें राज-कुमारी रुक्मिणीको इस प्रकार देखा, मानो कोई ध्यान-मग्न देवी हो ॥ २८ ॥ सती रुक्मिणीजीने देखा ब्राह्मण-देवताका मुख प्रफुल्लित है ; उनके मन और चेहरेपर

आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता ॥२९॥

तस्या आवेदयत् प्राप्तं शशंस यदुनन्दनम् ।

उक्तं च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति ॥३०॥

तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा ।

न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥३१॥

प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ ।

अभ्ययात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः ॥३२॥

मधुपर्कमुपानीय वासांसि विरजांसि सः ।

उपायनान्यभीष्टानि विधिवत् समपूजयत् ॥३३॥

तयोर्निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः ।

ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे यथा ॥३४॥

एवं राज्ञां समेतानां यथावीर्यं यथावयः ।

यथाबलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समर्हयत् ॥३५॥

कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः ।

आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तन्मुखपङ्कजम् ॥३६॥

अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा ।

असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ॥३७॥

किञ्चित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत् ।

किसी प्रकारकी घबड़ाहट नहीं है । वे उन्हें देखकर लक्षणोंसे ही समझ गयीं कि भगवान् श्रीकृष्ण आ गये ! फिर प्रसन्नतासे खिलकर उन्होंने ब्राह्मणदेवतासे पूछा ॥ २९ ॥ तब ब्राह्मणदेवताने निवेदन किया कि 'भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधार गये हैं ।' और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । यह भी बतलाया कि 'राजकुमारीजी ! आपको ले जानेकी उन्होंने सत्य प्रतिज्ञा की है' ॥३०॥ भगवान्‌के शुभागमनका समाचार सुनकर रुक्मिणीजीका हृदय आनन्दातिरेकसे भर गया । उन्होंने इसके बदलेमें ब्राह्मणके लिये भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ प्रिय न देखकर उन्होंने केवल नमस्कार कर लिया । अर्थात् जगत्‌की समग्र लक्ष्मी ब्राह्मणदेवताको सौंप दी ॥३१॥

राजा भीष्मकने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी मेरी कन्याका विवाह देखनेके लिये उत्सुकतावश यहाँ पधारे हैं । तब तुरही, भेरी आदि बाजे बजवाते हुए पूजाकी सामग्री लेकर उन्होंने उनकी अगवानी की ॥ ३२ ॥ और मधुपर्क, निर्मल वस्त्र तथा उत्तम-उत्तम भेंट देकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की ॥ ३३ ॥ भीष्मकजी बड़े बुद्धिमान् थे । भगवान्‌के प्रति उनकी बड़ी भक्ति थी । उन्होंने भगवान्‌को सेना और साथियोंके सहित समस्त सामग्रियोंसे युक्त निवासस्थानमें ठहराया और उनका यथावत् आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ३४ ॥ विदर्भराज भीष्मकजीके यहाँ निमन्त्रणमें जितने राजा आये थे, उन्होंने उनके पराक्रम, अवस्था, बल और धनके अनुसार सारी इच्छित वस्तुएँ देकर सबका खूब सत्कार किया ॥ ३५ ॥ विदर्भदेशके नागरिकोंने जब सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारे हैं, तब वे लोग भगवान्‌के निवासस्थानपर आये और अपने नयनोंकी अंजलिमें भर-भरकर उनके वदनारविन्दका मधुर मकरन्द-रस पान करने लगे ॥ ३६ ॥ वे आपसमें इस प्रकार बातचीत करते थे—रुक्मिणी इन्हींकी अर्द्धाङ्गिनी होनेके योग्य है, और ये परम पवित्रमूर्ति श्यामसुन्दर रुक्मिणीके ही योग्य पति हैं । दूसरी कोई इनकी पत्नी होनेके योग्य नहीं है ॥ ३७ ॥ यदि हमने अपने पूर्वजन्म या इस जन्ममें कुछ भी सत्कर्म किया हो, तो त्रिलोक-विधाता

अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः ॥३८॥

भगवान् हमपर प्रसन्न हों और ऐसी कृपा करें कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही विदर्भराजकुमारी रुक्मिणीजीका पाणिग्रहण करें' ॥ ३८ ॥

एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः।
कन्या चान्तःपुरात् प्रागाद् भटैर्गुप्ताम्बिकालयम्॥३९॥
पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम्।
सा चानुध्यायती सम्यङ् मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥४०॥
यतवाङ्मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता।
गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायुधैः।
मृदङ्गशङ्खपणवास्तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे॥४१॥
नानोपहारबलिभिर्वारमुख्याः सहस्रशः।
स्रग्गन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्यः स्वलङ्कृताः॥४२॥
गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः।
परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधवन्दिनः॥४३॥
आसाद्य देवीसदनं धौतपादकराम्बुजा।
उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम्॥४४॥
तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः।
भवानीं वन्दयाञ्चक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम्॥४५॥
नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम्।
भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम्॥४६॥
अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैर्वासःस्रङ्माल्यभूषणैः[2]।

परीक्षित्! जिस समय प्रेम-परवश होकर पुरवासी-लोग परस्पर इस प्रकार बातचीत कर रहे थे, उसी समय रुक्मिणीजी अन्तःपुरसे निकलकर देवीजीके मन्दिरके लिये चलीं। बहुत-से सैनिक उनकी रक्षामें नियुक्त थे ॥ ३९ ॥ वे प्रेममूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-कमलोंका चिन्तन करती हुई भगवती भवानीके पाद-पल्लवोंका दर्शन करनेके लिये पैदल ही चलीं ॥ ४० ॥ वे स्वयं मौन थीं और माताएँ तथा सखी-सहेलियाँ सब ओरसे उन्हें घेरे हुए थीं। शूरवीर राजसैनिक हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र उठाये, कवच पहने उनकी रक्षा कर रहे थे। उस समय मृदङ्ग, शङ्ख, ढोल, तुरही और भेरी आदि बाजे बज रहे थे ॥ ४१ ॥ बहुत-सी ब्राह्मणपत्नियाँ पुष्पमाला, चन्दन आदि सुगन्ध-द्रव्य और गहने-कपड़ोंसे सज-धजकर साथ-साथ चल रही थीं और अनेकों प्रकारके उपहार तथा पूजन आदिकी सामग्री लेकर सहस्रों श्रेष्ठ वाराङ्गनाएँ भी साथ थीं ॥ ४२ ॥ गवैये गाते जाते थे, बाजेवाले बाजे बजाते चलते थे और सूत, मागध तथा वंदीजन दुलहिनके चारों ओर जय-जयकार करते—विरद बखानते जा रहे थे ॥४३॥ देवीजीके मन्दिरमें पहुँचकर रुक्मिणीजीने अपने कमलके सदृश सुकोमल हाथ-पैर धोये, आचमन किया; इसके बाद बाहर-भीतरसे पवित्र एवं शान्तभावसे युक्त होकर अम्बिकादेवीके मन्दिरमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥ बहुत-सी विधि-विधान जाननेवाली बड़ी-बूढ़ी ब्राह्मणियाँ उनके साथ थीं। उन्होंने भगवान् शङ्करकी अर्द्धाङ्गिनी भवानीको और भगवान् शङ्करजीको भी रुक्मिणीजीसे प्रणाम करवाया ॥४५॥ रुक्मिणीजीने भगवतीसे प्रार्थना की—'अम्बिका माता! आपकी गोदमें बैठे हुए आपके प्रिय पुत्र गणेशजीको तथा आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ। आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मेरी अभिलाषा पूर्ण हो। भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों' ॥ ४६ ॥ इसके बाद रुक्मिणीजीने जल-गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, पुष्पमाला, हार, आभूषण, अनेकों

१. वैदर्भ्या विधिवत्पाणि०। २. दीपैर्वा०।

नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक् ॥४७॥
विप्रस्त्रियः पतिमतीस्तथा तैः समपूजयत् ।
लवणापूपताम्बूलकण्ठसूत्रफलेक्षुभिः ॥४८॥
तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषां युयुजुराशिषः ।
ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः ॥४९॥
मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात् ।
प्रगृह्य पाणिना भृत्यां रत्नमुद्रोपशोभिना ॥५०॥

तां देवमायामिव वीरमोहिनीं
सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम्[1] ।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां
व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम् ॥५१॥
शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युति-
शोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम् ।
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं
शिञ्जत्कलानूपुरधामशोभिना[2] ।
विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता
यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः ॥५२॥
यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास-
व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः ।

प्रकारके नैवेद्य, भेंट और आरती आदि सामग्रियोंसे अम्बिकादेवीकी पूजा की ॥ ४७ ॥ तदनन्तर उक्त सामग्रियोंसे तथा नमक, पूआ, पान, कण्ठसूत्र, फल और ईखसे सुहागिन ब्राह्मणियोंकी भी पूजा की ॥ ४८ ॥ तब ब्राह्मणियोंने उन्हें प्रसाद देकर आशीर्वाद दिये और दुलहिनने ब्राह्मणियों और माता अम्बिकाको नमस्कार करके प्रसाद ग्रहण किया ॥ ४९ ॥ पूजा-अर्चाकी विधि समाप्त हो जानेपर उन्होंने मौनव्रत तोड़ दिया और रत्नजटित अँगूठीसे जगमगाते हुए करकमलके द्वारा एक सहेलीका हाथ पकड़कर वे गिरिजामन्दिरसे बाहर निकलीं ॥ ५० ॥

परीक्षित् ! रुक्मिणीजी भगवान्‌की मायाके समान ही बड़े-बड़े धीर-वीरोंको भी मोहित कर लेनेवाली थीं। उनका कटिभाग बहुत ही सुन्दर और पतला था। मुखमण्डलपर कुण्डलोंकी शोभा जगमगा रही थी। वे किशोर और तरुण अवस्थाकी सन्धिमें स्थित थीं। नितम्बपर जड़ाऊ करधनी शोभायमान हो रही थी, वक्षःस्थल कुछ उभरे हुए थे और उनकी दृष्टि लटकती हुई अलकोंके कारण कुछ चञ्चल हो रही थी ॥ ५१ ॥ उनके होठोंपर मनोहर मुसकान थी। उनके दाँतोंकी पाँत थी तो कुन्दकलीके समान परम उज्ज्वल, परन्तु पके हुए कुँदरूके समान लाल-लाल होठोंकी चमकसे उसपर भी लालिमा आ गयी थी। उनके पाँवोंके पायजेब चमक रहे थे और उनमें लगे हुए छोटे-छोटे घुँघरू रुनझुन-रुनझुन कर रहे थे। वे अपने सुकुमार चरण-कमलोंसे पैदल ही राजहंसकी गतिसे चल रही थीं। उनकी वह अपूर्व छबि देखकर वहाँ आये हुए बड़े-बड़े यशस्वी वीर सब मोहित हो गये। कामदेवने ही भगवान्‌का कार्य सिद्ध करनेके लिये अपने बाणोंसे उनका हृदय जर्जर कर दिया ॥ ५२ ॥ रुक्मिणीजी इस प्रकार इस उत्सव-यात्राके बहाने मन्द-मन्द गतिसे चलकर भगवान् श्रीकृष्णपर अपना राशि-राशि सौन्दर्य निछावर कर रही थीं। उन्हें देखकर और उनकी खुली मुसकान

१. कुण्डल० । २. शोभिताम् ।

पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥५३॥
सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ
प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ।
उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः
प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं सा ॥५४॥
तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं
जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ।
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं
राजन्यचक्रं परिभूय माधवः ॥५५॥
ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः
सृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः ॥५६॥
तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षयं
परे जरासन्धवशा न सेहिरे ।
अहो धिगस्मान् यश आत्तधन्वनां
गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव ॥५७॥

तथा लजीली चितवनपर अपना चित्त लुटाकर वे बड़े-बड़े नरपति एवं वीर इतने मोहित और बेहोश हो गये कि उनके हाथोंसे अस्त्र-शस्त्र छूटकर गिर पड़े और वे स्वयं भी रथ, हाथी तथा घोड़ोंसे धरतीपर आ गिरे ॥ ५३ ॥ इस प्रकार रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा करती हुई अपने कमलकी कलीके समान सुकुमार चरणोंको बहुत ही धीरे-धीरे आगे बढ़ा रही थीं। उन्होंने अपने बायें हाथकी अँगुलियोंसे मुखकी ओर लटकती हुई अलकें हटायीं और वहाँ आये हुए नरपतियोंकी ओर लजीली चितवनसे देखा। उसी समय उन्हें श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हुए ॥ ५४ ॥ राजकुमारी रुक्मिणीजी रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि भगवान् श्रीकृष्णने समस्त शत्रुओंके देखते-देखते उनकी भीड़मेंसे रुक्मिणीजीको उठा लिया और उन सैकड़ों राजाओंके सिरपर पाँव रखकर उन्हें अपने उस रथपर बैठा लिया, जिसकी ध्वजापर गरुडका चिह्न लगा हुआ था ॥ ५५ ॥ इसके बाद जैसे सिंह सियारोंके बीचमेंसे अपना भाग ले जाय, वैसे ही रुक्मिणीजीको लेकर भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी आदि यदुवंशियोंके साथ वहाँसे चल पड़े ॥ ५६ ॥ उस समय जरासन्धके वशवर्ती अभिमानी राजाओंको अपना यह बड़ा भारी तिरस्कार और यश-कीर्तिका नाश सहन न हुआ। वे सब-के-सब चिढ़कर कहने लगे—'अहो, हमें धिक्कार है ? आज हमलोग धनुष धारण करके खड़े ही रहे और ये ग्वाले, जैसे सिंहके भागको हरिन ले जायँ, उसी प्रकार हमारा सारा यश छीन ले गये' ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1]
उत्तरार्धे रुक्मिणीहरणं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥



अथ चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शिशुपालके साथी राजाओंकी और रुक्मीकी हार तथा श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-विवाह

श्रीशुक उवाच

इति सर्वे सुसंरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस प्रकार कह-सुनकर सब-के-सब राजा क्रोधसे आगबबूला हो उठे और कवच पहनकर अपने-अपने वाहनोंपर सवार

१. न्धे त्रिप० ।

स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः ॥ १ ॥
तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः ।
तस्थुस्तत्सम्मुखा राजन्विस्फूर्ज्य स्वधनूंषि ते ॥ २ ॥
अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः ।
मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा ॥ ३ ॥
पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा ।
सव्रीडमैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥ ४ ॥
प्रहस्य भगवानाह मा स्म भैर्वामलोचने ।
विनङ्क्ष्यत्यधुनैवैतत् तावकैः शात्रवं बलम् ॥ ५ ॥
तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कर्षणादयः ।
अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान् रथान् ॥ ६ ॥
पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि ।
सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः ॥ ७ ॥
हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः ।
अश्वाश्वतरनागोष्ट्रखरमर्त्यशिरांसि च ॥ ८ ॥
हन्यमानबलानीका वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः ।
राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरःसराः ॥ ९ ॥
शिशुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरम् ।
नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन् ॥ १० ॥
भो भोः पुरुषशार्दूल दौर्मनस्यमिदं त्यज ।
न प्रियाप्रिययो राजन् निष्ठा देहिषु दृश्यते ॥ ११ ॥

हो गये ! अपनी-अपनी सेनाके साथ सब धनुष ले-लेकर भगवान् श्रीकृष्णके पीछे दौड़े ॥ १ ॥ राजन् ! जब यदुवंशियोंके सेनापतियोंने देखा कि शत्रुदल हमपर चढ़ा आ रहा है, तब उन्होंने भी अपने-अपने धनुषका टङ्कार किया और घूमकर उनके सामने डट गये ॥ २ ॥ जरासन्धकी सेनाके लोग कोई घोड़ेपर, कोई हाथीपर तो कोई रथपर चढ़े हुए थे । वे सभी धनुर्वेदके बड़े मर्मज्ञ थे । वे यदुवंशियोंपर इस प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, मानो दल-के-दल बादल पहाड़ोंपर मूसलधार पानी बरसा रहे हों ॥ ३ ॥ परमसुन्दरी रुक्मिणीजीने देखा कि उनके पति श्रीकृष्णकी सेना बाण-वर्षासे ढक गयी है । तब उन्होंने लज्जाके साथ भयभीत नेत्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखा ॥ ४ ॥ भगवान्‌ने हँसकर कहा—'सुन्दरी ! डरो मत । तुम्हारी सेना अभी तुम्हारे शत्रुओंकी सेनाको नष्ट किये डालती है' ॥ ५ ॥ इधर गद और सङ्कर्षण आदि यदुवंशी वीर अपने शत्रुओंका पराक्रम और अधिक न सह सके । वे अपने बाणोंसे शत्रुओंके हाथी, घोड़े तथा रथोंको छिन्न-भिन्न करने लगे ।६। उनके बाणोंसे रथ, घोड़े और हाथियोंपर बैठे विपक्षी वीरोंके कुण्डल, किरीट और पगड़ियोंसे सुशोभित करोड़ों सिर, खड्ग, गदा और धनुषयुक्त हाथ, पहुँचे, जाँघें और पैर कट-कटकर पृथ्वीपर गिरने लगे । इसी प्रकार घोड़े, खच्चर, हाथी, ऊँट, गधे और मनुष्योंके सिर भी कट-कटकर रणभूमिमें लोटने लगे ॥ ७-८ ॥ अन्तमें विजयकी सच्ची आकाङ्क्षावाले यदुवंशियोंने शत्रुओंकी सेना तहस-नहस कर डाली । जरासन्ध आदि सभी राजा युद्धसे पीठ दिखाकर भाग खड़े हुए ॥ ९ ॥

उधर शिशुपाल अपनी भावी पत्नीके छिन जानेके कारण मरणासन्न-सा हो रहा था । न तो उसके हृदयमें उत्साह रह गया था और न तो शरीरपर कान्ति । उसका मुँह सूख रहा था । उसके पास जाकर जरासन्ध कहने लगा—॥ १० ॥ 'शिशुपालजी ! आप तो एक श्रेष्ठ पुरुष हैं । यह उदासी छोड़ दीजिये । क्योंकि राजन् ! कोई भी बात सर्वदा अपने मनके अनुकूल ही हो या प्रतिकूल ही हो, इस सम्बन्धमें कुछ स्थिरता किसी भी प्राणीके जीवनमें

१. मेघास्तोयं यथाद्रिषु ।

यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया ।
एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥१२॥
शौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः ।
त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्य एकमहं परम् ॥१३॥
तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित् ।
कालेन दैवयुक्तेन जानन् विद्रावितं जगत् ॥१४॥
अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः ।
पराजिताः फल्गुतन्त्रैर्यदुभिः कृष्णपालितैः ॥१५॥
रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि ।
तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः ॥१६॥
एवं प्रबोधितो मित्रैश्चैद्योऽगात् सानुगः पुरम् ।
हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः ॥१७॥
रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन् स्वसुः ।
पृष्ठतोऽन्वगमत् कृष्णमक्षौहिण्या वृतो हली ॥१८॥
रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः ॥१९॥
अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् ।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि वः ॥२०॥
इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः ।
चोदयाश्वान् यतः कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत् ॥२१॥

नहीं देखी जाती ॥ ११ ॥ जैसे कठपुतली बाजीगरकी इच्छाके अनुसार नाचती है, वैसे ही यह जीव भी भगवदिच्छाके अधीन रहकर सुख और दुःखके सम्बन्धमें यथाशक्ति चेष्टा करता रहता है ॥ १२ ॥ देखिये, श्रीकृष्णने मुझे तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेनाओंके साथ सत्रह बार हरा दिया, मैंने केवल एक बार—अठारहवीं बार उनपर विजय प्राप्त की ॥ १३ ॥ फिर भी इस बातको लेकर मैं न तो कभी शोक करता हूँ और न तो कभी हर्ष; क्योंकि मैं जानता हूँ कि प्रारब्धके अनुसार कालभगवान् ही इस चराचर जगत्को झकझोरते रहते हैं ॥ १४ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि हमलोग बड़े-बड़े वीर सेनापतियोंके भी नायक हैं। फिर भी, इस समय श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित यदुवंशियोंकी थोड़ी-सी सेनाने हमें हरा दिया है ॥ १५ ॥ इस बार हमारे शत्रुओंकी ही जीत हुई, क्योंकि काल उन्हींके अनुकूल था। जब काल हमारे दाहिने होगा, तब हम भी उन्हें जीत लेंगे' ॥ १६ ॥ परीक्षित्! जब मित्रोंने इस प्रकार समझाया, तब चेदिराज शिशुपाल अपने अनुयायियोंके साथ अपनी राजधानीको लौट गया और उसके मित्र राजा भी, जो मरनेसे बचे थे, अपने-अपने नगरोंको चले गये ॥ १७ ॥

रुक्मिणीजीका बड़ा भाई रुक्मी भगवान् श्रीकृष्णसे बहुत द्वेष रखता था। उसको यह बात बिल्कुल सहन न हुई कि मेरी बहिनको श्रीकृष्ण हर ले जायँ और राक्षसरीतिसे बलपूर्वक उसके साथ विवाह करें। रुक्मी बली तो था ही, उसने एक अक्षौहिणी सेना साथ ले ली और श्रीकृष्णका पीछा किया ॥ १८ ॥ महाबाहु रुक्मी क्रोधके मारे जल रहा था। उसने कवच पहनकर और धनुष धारण करके समस्त नरपतियोंके सामने यह प्रतिज्ञा की—॥ १९ ॥ 'मैं आपलोगोंके बीचमें यह शपथ करता हूँ कि यदि मैं युद्धमें श्रीकृष्णको न मार सका और अपनी बहिन रुक्मिणीको न लौटा सका तो अपनी राजधानी कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा' ॥ २० ॥ परीक्षित्! यह कहकर वह रथपर सवार हो गया और सारथीसे बोला—'जहाँ कृष्ण हो वहाँ शीघ्र-से-शीघ्र मेरा रथ ले चलो। आज मेरा उसीके साथ युद्ध होगा ॥ २१ ॥

अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मतेः ।
नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता ॥२२॥

विकत्थमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित् ।
रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठे[1]त्यथाह्वयत् ॥२३॥

धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः ।
आह चात्र क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन ॥२४॥

कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः ।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द[2] मायिनः कूटयोधिनः ॥२५॥

यावन्न मे हतो बाणैः शयीथा मुञ्च दारिकाम् ।
स्मयन् कृष्णो धनुश्छित्त्वा षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम् ॥२६॥

अष्टभिश्चतुरो वाहान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः ।
स चान्यद् धनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः ॥२७॥

तैस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः ।
पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनद[4]व्ययः ॥२८॥

परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासी[3] शक्तितोमरौ ।
यद् यदायुधमादत्त तत् सर्वं सोऽच्छिनद्धरिः ॥२९॥

ततो रथा(क्षा)दवप्लुत्य खड्गपाणिर्जिघांसया ।
कृष्णमभ्यद्रवत् क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम् ॥३०॥

तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्म चेषुभिः ।

आज मैं अपने तीखे बाणोंसे उस खोटी बुद्धिवाले ग्वालेके बलवीर्यका घमंड चूर-चूर कर दूँगा। देखो तो उसका साहस, वह हमारी बहिनको बलपूर्वक हर ले गया है' ॥ २२ ॥ परीक्षित् ! रुक्मीकी बुद्धि बिगड़ गयी थी। वह भगवान्‌के तेज-प्रभावको बिल्कुल नहीं जानता था। इसीसे इस प्रकार बहक-बहककर बातें करता हुआ वह एक ही रथसे श्रीकृष्णके पास पहुँचकर ललकारने लगा—'खड़ा रह ! खड़ा रह !'॥२३॥ उसने अपने धनुषको बलपूर्वक खींचकर भगवान् श्रीकृष्णको तीन बाण मारे और कहा—'एक क्षण मेरे सामने ठहर ! यदुवंशियोंके कुलकलङ्क ! जैसे कौआ होमकी सामग्री चुराकर उड़ जाय, वैसे ही तू मेरी बहिनको चुराकर कहाँ भागा जा रहा है ? अरे मन्द ! तू बड़ा मायावी और कपट-युद्धमें कुशल है। आज मैं तेरा सारा गर्व खर्व किये डालता हूँ ॥ २४-२५ ॥ देख ! जबतक मेरे बाण तुझे धरतीपर सुला नहीं देते, उसके पहले ही इस बच्चीको छोड़कर भाग जा।' रुक्मीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराने लगे। उन्होंने उसका धनुष काट डाला और उसपर छः बाण छोड़े ॥ २६ ॥ साथ ही भगवान् श्रीकृष्णने आठ बाण उसके चार घोड़ोंपर और दो सारथीपर छोड़े और तीन बाणोंसे उसके रथकी ध्वजाको काट डाला। तब रुक्मीने दूसरा धनुष उठाया और भगवान् श्रीकृष्णको पाँच बाण मारे ॥ २७ ॥ उन बाणोंके लगनेपर उन्होंने उसका वह धनुष भी काट डाला। रुक्मीने इसके बाद एक और धनुष लिया, परन्तु हाथमें लेते-ही-लेते अविनाशी अच्युतने उसे भी काट डाला ॥ २८ ॥ इस प्रकार रुक्मीने परिघ, पट्टिश, शूल, ढाल, तलवार, शक्ति और तोमर—जितने अस्त्र-शस्त्र उठाये, उन सभीको भगवान्‌ने प्रहार करनेके पहले ही काट डाला ॥ २९ ॥ अब रुक्मी क्रोधवश हाथमें तलवार लेकर भगवान् श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे रथसे कूद पड़ा और इस प्रकार उनकी ओर झपटा, जैसे पतिंगा आगकी ओर लपकता है ॥३०॥ जब भगवान्‌ने देखा कि रुक्मी मुझपर चोट करना चाहता है, तब उन्होंने अपने बाणोंसे उसकी ढाल-

१. तिष्ठेति च ब्रुवन्। २. दच्युतः। ३. चर्मासिशक्तितोमरान्। ४. दद्यात्ततदच्छिनदच्युतः।

छित्वासिमाददे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः ॥३१॥

दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला ।

पतित्वा पादयोर्भर्तुरुवाच करुणं सती ॥३२॥

योगेश्वराप्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते ।

हन्तुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज ॥३३॥

श्रीशुकउवाच[1]

तया परित्रासविकम्पिताङ्गया
शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया ।
कातर्यविस्रंसितहेममालया
गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥३४॥

चैलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं
सश्मश्रुकेशं प्रवपन् व्यरूपयत् ।
तावन्ममर्दुः परसैन्यमद्भुतं
यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः ॥३५॥

कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम् ।

तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा सङ्कर्षणो विभुः ।

विमुच्य बद्धं करुणो भगवान् कृष्णमब्रवीत् ॥३६॥

असाध्विदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम् ।

वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः ॥३७॥

मैवास्मान् साध्व्यसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया ।

तलवारको तिल-तिल करके काट दिया और उसको मार डालनेके लिये हाथमें तीखी तलवार निकाल ली ॥३१॥ जब रुक्मिणीजीने देखा कि ये तो हमारे भाईको अब मार ही डालना चाहते हैं, तब वे भयसे विह्वल हो गयीं और अपने प्रियतम पति भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर गिरकर करुण-स्वरमें बोलीं—॥ ३२ ॥ 'देवताओंके भी आराध्यदेव ! जगत्पते ! आप योगेश्वर हैं। आपके स्वरूप और इच्छाओंको कोई जान नहीं सकता। आप परम बलवान् हैं। परन्तु कल्याणस्वरूप भी तो हैं । प्रभो ! मेरे भैयाको मारना आपके योग्य काम नहीं है' ॥ ३३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—रुक्मिणीजीका एक-एक अंग भयके मारे थर-थर काँप रहा था। शोककी प्रबलतासे मुँह सूख गया था, गला रुँध गया था। आतुरतावश सोनेका हार गलेसे गिर पड़ा था और इसी अवस्थामें वे भगवान्‌के चरणकमल पकड़े हुए थीं । परमदयालु भगवान् उन्हें भयभीत देखकर करुणासे द्रवित हो गये । उन्होंने रुक्मीको मार डालनेका विचार छोड़ दिया ॥ ३४ ॥ फिर भी रुक्मी उनके अनिष्टकी चेष्टासे विमुख न हुआ। तब भगवान् श्रीकृष्णने उसको उसीके दुपट्टेसे बाँध दिया और उसकी दाढ़ी-मूँछ तथा केश कई जगहसे मूँड़कर उसे कुरूप बना दिया। तबतक यदुवंशी वीरोंने शत्रुकी अद्भुत सेनाको तहस-नहस कर डाला—ठीक वैसे ही, जैसे हाथी कमलवनको रौंद डालता है ॥ ३५ ॥ फिर वे लोग उधरसे लौटकर श्रीकृष्णके पास आये, तो देखा कि रुक्मी दुपट्टेसे बँधा हुआ अधमरी अवस्थामें पड़ा हुआ है। उसे देखकर सर्वशक्तिमान् भगवान् बलरामजीको बड़ी दया आयी और उन्होंने उसके बन्धन खोलकर उसे छोड़ दिया तथा श्रीकृष्णसे कहा—॥ ३६ ॥ 'कृष्ण ! तुमने यह अच्छा नहीं किया। यह निन्दित कार्य हमलोगोंके योग्य नहीं है। अपने सम्बन्धीकी दाढ़ी-मूँछ मूँड़कर उसे कुरूप कर देना, यह तो एक प्रकारका वध ही है' ॥ ३७ ॥ इसके बाद बलरामजीने रुक्मिणीको सम्बोधन करके कहा—'साध्वी ! तुम्हारे भाईका रूप विकृत कर दिया

[1] बादरायणिरुवाच ।

सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक् पुमान् ३८

बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति ।

त्याज्यः स्वेनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः ॥३९॥

क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः ।

भ्रातापि भ्रातरं हन्याद् येन घोरतरस्ततः ॥४०॥

राज्यस्य भूमेर्वित्तस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः ।

मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि४१

तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम् ।

यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमज्ञवत् ॥४२॥

आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया ।

सुहृद् दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम् ॥४३॥

एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।

नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः ॥४४॥

देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः ।

आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः संसारयति देहिनम् ॥४५॥

गया है, यह सोचकर हमलोगोंसे बुरा न मानना; क्योंकि जीवको सुख-दुःख देनेवाला कोई दूसरा नहीं है। उसे तो अपने ही कर्मका फल भोगना पड़ता है ॥३८॥ अब श्रीकृष्णसे बोले—'कृष्ण! यदि अपना सगा-सम्बन्धी वध करने योग्य अपराध करे, तो भी अपने ही सम्बन्धियोंके द्वारा उसका मारा जाना उचित नहीं है। उसे छोड़ देना चाहिये। वह तो अपने अपराधसे ही मर चुका है, मरे हुएको फिर क्या मारना ?' ॥ ३९ ॥ फिर रुक्मिणीजीसे बोले—साध्वी! ब्रह्माजीने क्षत्रियोंका धर्म ही ऐसा बना दिया है कि सगा भाई भी अपने भाईको मार डालता है। इसलिये यह क्षात्रधर्म अत्यन्त घोर है' ॥ ४० ॥ इसके बाद श्रीकृष्णसे बोले—'भाई कृष्ण! यह ठीक है कि जो लोग धनके नशेमें अंधे हो रहे हैं और अभिमानी हैं, वे, राज्य, पृथ्वी, पैसा, स्त्री, मान, तेज अथवा किसी और कारणसे अपने बन्धुओंका भी तिरस्कार कर दिया करते हैं' ॥ ४१ ॥ अब वे रुक्मिणीजीसे बोले—'साध्वी! तुम्हारे भाई-बन्धु समस्त प्राणियोंके प्रति दुर्भाव रखते हैं। हमने उनको मङ्गलके लिये ही उनके प्रति दण्डविधान किया है। उसे तुम अज्ञानियोंकी भाँति अमङ्गल मान रही हो, यह तुम्हारी बुद्धिकी विषमता है॥ ४२ ॥ देवि! जो लोग भगवान्‌की मायासे मोहित होकर देहको ही आत्मा मान बैठते हैं, उन्हींको ऐसा आत्ममोह होता है कि यह मित्र है, यह शत्रु है और यह उदासीन है ॥ ४३ ॥ समस्त देहधारियोंकी आत्मा एक ही है और कार्य-कारणसे, मायासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जल और घड़ा आदि उपाधियोंके भेदसे जैसे सूर्य, चन्द्रमा आदि प्रकाशयुक्त पदार्थ और आकाश भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं; परन्तु हैं एक ही; वैसे ही मूर्ख लोग शरीरके भेदसे आत्माका भेद मानते हैं ॥ ४४ ॥ यह शरीर आदि और अन्तवाला है। पञ्चभूत, पञ्चप्राण, तन्मात्रा और त्रिगुण ही इसका स्वरूप है। आत्मामें उसके अज्ञानसे ही इसकी कल्पना हुई है और वह कल्पित शरीर ही, जो उसे 'मैं' समझता है, उसको जन्म-मृत्युके चक्करमें ले जाता है ॥ ४५ ॥

१. श्रियो।

नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चासतः सति ।
तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः ॥४६॥
जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित् ।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव ॥४७॥
यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च ।
अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाऽऽप्नोत्यबुधो भवम् ॥४८॥
तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम् ।
तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥४९॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता ।
वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे ॥५०॥
प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभः ।
स्मरन् विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः ॥५१॥
चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत् पुरम् ।
अहत्वा दुर्मतिं कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम् ।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद् रुषा ॥५२॥

साध्वी ! नेत्र और रूप दोनों ही सूर्यके द्वारा प्रकाशित होते हैं । सूर्य ही उनका कारण है । इसलिये सूर्यके साथ नेत्र और रूपका न तो कभी वियोग होता है और न संयोग । इसी प्रकार समस्त संसारकी सत्ता आत्मसत्ताके कारण जान पड़ती है, समस्त संसारका प्रकाशक आत्मा ही है । फिर आत्माके साथ दूसरे असत् पदार्थोंका संयोग या वियोग हो ही कैसे सकता है ? ॥४६॥ जन्म लेना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और मरना—ये सारे विकार शरीरके ही होते हैं, आत्माके नहीं । जैसे कृष्णपक्षमें कलाओंका ही क्षय होता है, चन्द्रमाका नहीं, परन्तु अमावस्याके दिन व्यवहारमें लोग चन्द्रमाका ही क्षय हुआ कहते-सुनते हैं; वैसे ही जन्म-मृत्यु आदि सारे विकार शरीरके ही होते हैं, परन्तु लोग उसे भ्रमवश अपना—अपने आत्माका मान लेते हैं ॥४७॥ जैसे सोया हुआ पुरुष किसी पदार्थके न होनेपर भी स्वप्नमें भोक्ता, भोग्य और भोगरूप फलोंका अनुभव करता है, उसी प्रकार अज्ञानीलोग झूठमूठ संसार-चक्रका अनुभव करते हैं ॥४८॥ इसलिये साध्वी ! अज्ञानके कारण होनेवाले इस शोकको त्याग दो । यह शोक अन्तःकरणको मुरझा देता है, मोहित कर देता है । इसलिये इसे छोड़कर तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ' ॥४९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब बलरामजीने इस प्रकार समझाया, तब परमसुन्दरी रुक्मिणीजीने अपने मनका मैल मिटाकर विवेक-बुद्धिसे उसका समाधान किया ॥५०॥ रुक्मीकी सेना और उसके तेजका नाश हो चुका था । केवल प्राण बच रहे थे । उसके चित्तकी सारी आशा-अभिलाषाएँ व्यर्थ हो चुकी थीं और शत्रुओंने अपमानित करके उसे छोड़ दिया था । उसे अपने विरूप किये जानेकी कष्टदायक स्मृति भूल नहीं पाती थी ॥५१॥ अतः उसने अपने रहनेके लिये भोजकट नामकी एक बहुत बड़ी नगरी बसायी । उसने पहले ही यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि 'दुर्बुद्धि कृष्णको मारे बिना और अपनी छोटी बहिनको लौटाये बिना मैं कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा ।' इसलिये क्रोध करके वह वहीं रहने लगा ॥५२॥

भगवान् भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान् ।
पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह ॥५३॥
तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे गृहे ।
अभूदनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप ॥५४॥
नरा नार्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ।
पारिबर्हमुपाजह्रुर्वरयोश्चित्रवाससोः ॥५५॥
सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभि-
र्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः ।
बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलै-
रापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः ॥५६॥
सिक्तमार्गा मदच्युद्भिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम् ।
गजैर्द्वाःसु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता ॥५७॥
कुरुसृञ्जयकैकेयविदर्भयदुकुन्तयः ।
मिथो मुमुदिरे तस्मिन् संभ्रमात् परिधावताम् ॥५८॥
रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः ।
राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्भृशविस्मिताः ॥५९॥
द्वारकायामभूद् राजन् महामोदः पुरौकसाम् ।
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम् ॥६०॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सब राजाओंको जीत लिया और विदर्भराजकुमारी रुक्मिणीजीको द्वारकामें लाकर उनका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ॥ ५३ ॥ हे राजन्! उस समय द्वारकापुरीमें घर-घर बड़ा ही उत्सव मनाया जाने लगा। क्यों न हो, वहाँके सभी लोगोंका यदुपति श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम जो था ॥५४॥ वहाँके सभी नर-नारी मणियोंके चमकीले कुण्डल धारण किये हुए थे। उन्होंने आनन्दसे भरकर चित्र-विचित्र वस्त्र पहने दूल्हा और दुलहिनको अनेकों भेंटकी सामग्रियाँ उपहारमें दीं ॥५५॥ उस समय द्वारकाकी अपूर्व शोभा हो रही थी। कहीं बड़ी-बड़ी पताकाएँ बहुत ऊँचेतक फहरा रही थीं। चित्र-विचित्र मालाएँ, वस्त्र और रत्नोंके तोरन बँधे हुए थे। द्वार-द्वारपर दूब, खील आदि मङ्गलकी वस्तुएँ सजायी हुई थीं। जलभरे कलश, अरगजा और धूपकी सुगन्ध तथा दीपावलीसे बड़ी ही विलक्षण शोभा हो रही थी ॥५६॥ मित्र नरपति आमन्त्रित किये गये थे। उनके मतवाले हाथियोंके मदसे द्वारकाकी सड़क और गलियोंका छिड़काव हो गया था। प्रत्येक दरवाजेपर केलोंके खंभे और सुपारीके पेड़ रोपे हुए बहुत ही भले मालूम होते थे ॥ ५७ ॥ उस उत्सवमें कुतूहलवश इधर-उधर दौड़-धूप करते हुए बन्धुवर्गोंमें कुरु, सृञ्जय, कैकय, विदर्भ, यदु और कुन्ति आदि वंशोंके लोग परस्पर आनन्द मना रहे थे ॥५८॥ जहाँ-तहाँ रुक्मिणी-हरणकी ही गाथा गायी जाने लगी। उसे सुनकर राजा और राजकन्याएँ अत्यन्त विस्मित हो गयीं ॥५९॥ महाराज! भगवती लक्ष्मीजीको रुक्मिणीके रूपमें साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णके साथ देखकर द्वारकावासी नर-नारियोंको परम आनन्द हुआ ॥६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे रुक्मिण्युद्वाहे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

प्रद्युम्नका जन्म और शम्बरासुरका वध

श्रीशुक[3] उवाच

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग् रुद्रमन्युना ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कामदेव भगवान् वासुदेवके ही अंश हैं। वे पहले रुद्रभगवान्की क्रोधाग्नि-

१. राजन्। २. न्धे रुक्मिण्युद्वाहोत्सवो नाम चतुः ०। ३. बादरायणिरुवाच।

देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥
स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः ।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥ २ ॥
तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम् ।
स विदित्वाऽऽत्मनः शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगाद् गृहम् ३
तं निर्जगार बलवान् मीनः सोऽप्यपरैः सह ।
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः ॥ ४ ॥
तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रुरुपायनम् ।
सूदा महानसं नीत्वावद्यन् स्वधितिनाद्भुतम् ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन् ।
नारदोऽकथयत् सर्वं तस्याः शङ्कितचेतसः ।
बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम् ॥ ६ ॥
सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी ।
पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती ॥ ७ ॥
निरूपिता शम्बरेण सा सूपौदनसाधने ।
कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं तदार्भके ॥ ८ ॥
नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढयौवनः ।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनां च विभ्रमम् ॥ ९ ॥
सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं
प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम् ।

से भस्म हो गये थे । अब फिर शरीर-प्राप्तिके लिये उन्होंने अपने अंशी भगवान् वासुदेवका ही आश्रय लिया ॥ १ ॥ वे ही काम अबकी बार भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा रुक्मिणीजीके गर्भसे उत्पन्न हुए और प्रद्युम्न नामसे जगत्में प्रसिद्ध हुए । सौन्दर्य, वीर्य, सौशील्य आदि सद्गुणोंमें भगवान् श्रीकृष्णसे वे किसी प्रकार कम न थे ॥ २ ॥ बालक प्रद्युम्न अभी दस दिनके भी न हुए थे कि काम-रूपी शम्बरासुर वेष बदलकर सूतिकागृहसे उन्हें हर ले गया और समुद्रमें फेंककर अपने घर लौट गया । उसे मालूम हो गया था कि यह मेरा भावी शत्रु है ॥ ३ ॥ समुद्रमें बालक प्रद्युम्नको एक बड़ा भारी मच्छ निगल गया । तदनन्तर मछुओंने अपने बहुत बड़े जालमें फँसाकर दूसरी मछलियोंके साथ उस मच्छको भी पकड़ लिया ॥ ४ ॥ और उन्होंने उसे ले जाकर शम्बरासुर-को भेंटके रूपमें दे दिया । शम्बरासुरके रसोइये उस अद्भुत मच्छको उठाकर रसोईघरमें ले आये और कुल्हाड़ियोंसे उसे काटने लगे ॥ ५ ॥ रसोइयोंने मत्स्यके पेटमें बालक देखकर उसे शम्बरासुरकी दासी मायावती-को समर्पित किया । उसके मनमें बड़ी शंका हुई । तब नारदने आकर बालकका कामदेव होना, श्रीकृष्णकी पत्नी रुक्मिणीके गर्भसे जन्म लेना, मच्छके पेटमें जाना सब कुछ कह सुनाया ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! वह मायावती कामदेवकी यशस्विनी पत्नी रति ही थी । जिस दिन शङ्करजीके क्रोधसे कामदेवका शरीर भस्म हो गया था, उसी दिनसे वह उसकी देहके पुनः उत्पन्न होनेकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ७ ॥ उसी रतिको शम्बरासुरने अपने यहाँ दाल-भात बनानेके काममें नियुक्त कर रक्खा था । जब उसे मालूम हुआ कि इस शिशुके रूपमें मेरे पति कामदेव ही हैं, तब वह उसके प्रति बहुत प्रेम करने लगी ॥ ८ ॥ श्रीकृष्णकुमार भगवान् प्रद्युम्न बहुत थोड़े दिनोंमें जवान हो गये । उनका रूप-लावण्य इतना अद्भुत था कि जो स्त्रियाँ उनकी ओर देखतीं, उनके मनमें शृङ्गार-रसका उद्दीपन हो जाता ॥ ९ ॥ कमलदलके समान कोमल एवं विशाल नेत्र घुटनोंतक लंबी-लंबी बाँहें और मनुष्यलोकमें सबसे सुन्दर शरीर ! रति सलज्ज

१. न्मत्स्यः ।

सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती
प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतैः ॥१०॥
तामाह भगवान् कार्ष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा ।
मातृभावमतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा ॥११॥

रतिरुवाच

भवान् नारायणसुतः शम्बरेणाहृतो गृहात् ।
अहं तेऽधिकृता पत्नी रतिः कामो भवान् प्रभो ॥१२॥
एष त्वानिर्दशं सिन्धावक्षिपच्छम्बरोऽसुरः ।
मत्स्योऽग्रसीत्तदुदरादिह प्राप्तो भवान् प्रभो ॥१३॥
तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुमात्मनः ।
मायाशतविदं त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः ॥१४॥
परिशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा ।
पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा ॥१५॥
प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने ।
मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम् ॥१६॥
स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत् ।
अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन् सञ्जनयन् कलिम् ॥१७॥
सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पादाहत इवोरगः ।
निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात्ताम्रलोचनः ॥१८॥

हास्यके साथ भौंह मटकाकर उनकी ओर देखती और प्रेमसे भरकर स्त्री-पुरुषसम्बन्धी भाव व्यक्त करती हुई उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती ॥१०॥ श्रीकृष्णनन्दन भगवान् प्रद्युम्नने उसके भावोंमें परिवर्तन देखकर कहा—'देवि तुम तो मेरी माँके समान हो। तुम्हारी बुद्धि उलटी कैसे हो गयी ? मैं देखता हूँ कि तुम माताका भाव छोड़कर कामिनीके समान हाव-भाव दिखा रही हो' ॥११॥

रतिने कहा—'प्रभो! आप स्वयं भगवान् नारायणके पुत्र हैं। शम्बरासुर आपको सूतिकागृहसे चुरा लाया था। आप मेरे पति स्वयं कामदेव हैं और मैं आपकी सदाकी धर्म-पत्नी रति हूँ ॥१२॥ मेरे स्वामी' जब आप दस दिनके भी न थे, तब इस शम्बरासुरने आपको हरकर समुद्रमें डाल दिया था। वहाँ एक मच्छ आपको निगल गया और उसीके पेटसे आप यहाँ मुझे प्राप्त हुए हैं ॥१३॥ यह शम्बरासुर सैकड़ों प्रकारकी माया जानता है। इसको अपने वशमें कर लेना या जीत लेना बहुत ही कठिन है। आप अपने इस शत्रुको मोहन आदि मायाओंके द्वारा नष्ट कर डालिये ॥१४॥ स्वामिन्! अपनी सन्तान आपके खो जानेसे आपकी माता पुत्रस्नेहसे व्याकुल हो रही हैं, वे आतुर होकर अत्यन्त दीनतासे रात-दिन चिन्ता करती रहती हैं। उनकी ठीक वैसी ही दशा हो रही है, जैसी बच्चा खो जानेपर कुररी पक्षीकी अथवा बछड़ा खो जानेपर बेचारी गायकी होती है ॥१५॥ मायावती रतिने इस प्रकार कहकर परमशक्तिशाली प्रद्युम्नको महामाया नामकी विद्या सिखायी। यह विद्या ऐसी है, जो सब प्रकारकी मायाओंका नाश कर देती है ॥१६॥ अब प्रद्युम्नजी शम्बरासुरके पास जाकर उसपर बड़े कटु-कटु आक्षेप करने लगे। वे चाहते थे कि यह किसी प्रकार झगड़ा कर बैठे। इतना ही नहीं, उन्होंने युद्धके लिये उसे स्पष्टरूपसे ललकारा ॥१७॥

प्रद्युम्नजीके कटुवचनोंकी चोटसे शम्बरासुर तिलमिला उठा। मानो किसीने विषैले साँपको पैरसे ठोकर मार दी हो। उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वह हाथमें गदा लेकर बाहर निकल आया ॥१८॥

गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने ।
प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् ॥१९॥
तामापतन्तीं भगवान् प्रद्युम्नो गदया गदाम् ।
अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत् स्वगदां नृप ॥२०॥
स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम् ।
मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः ॥२१॥
बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः ।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम् ॥२२॥
ततो गौह्यकगान्धर्वपैशाचोरगराक्षसीः ।
प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णिर्व्यधमयत् स ताः ॥२३॥
निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम् ।
शम्बरस्य शिरः कायात् ताम्रश्मश्र्वोजसाहरत् ॥२४॥
आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः ।
भार्ययाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा ॥२५॥
अन्तःपुरवरं राजन् ललनाशतसङ्कुलम् ।
विवेश पत्न्या गगनाद् विद्युतेव बलाहकः ॥२६॥
तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम् ॥२७॥
स्वलङ्कृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालिभिः ।

उसने अपनी गदा बड़े जोरसे आकाशमें घुमायी और इसके बाद प्रद्युम्नजीपर चला दी। गदा चलते समय उसने इतना कर्कश सिंहनाद किया, मानो बिजली कड़क रही हो ॥१९॥ परीक्षित्! भगवान् प्रद्युम्नने देखा कि उसकी गदा बड़े वेगसे मेरी ओर आ रही है। तब उन्होंने अपनी गदाके प्रहारसे उसकी गदा गिरा दी और क्रोधमें भरकर अपनी गदा उसपर चलायी ॥२०॥ तब वह दैत्य मयासुरकी बतलायी हुई आसुरी मायाका आश्रय लेकर आकाशमें चला गया और वहींसे प्रद्युम्नजी-पर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगा ॥२१॥ महारथी प्रद्युम्नजीपर बहुत-सी अस्त्र-वर्षा करके जब वह उन्हें पीड़ित करने लगा, तब उन्होंने समस्त मायाओंको शान्त करनेवाली सत्त्वमयी महाविद्याका प्रयोग किया ॥२२॥ तदनन्तर शम्बरासुरने यक्ष, गन्धर्व, पिशाच, नाग और राक्षसोंकी सैकड़ों मायाओंका प्रयोग किया; परन्तु श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नजीने अपनी महाविद्यासे उन सबका नाश कर दिया ॥२३॥ इसके बाद उन्होंने एक तीक्ष्ण तलवार उठायी और शम्बरासुरका किरीट एवं कुण्डलसे सुशोभित सिर, जो लाल-लाल दाढ़ी-मूँछोंसे बड़ा भयङ्कर लग रहा था, काटकर धड़से अलग कर दिया ॥२४॥ देवता लोग पुष्पोंकी वर्षा करते हुए स्तुति करने लगे और इसके बाद मायावती रति, जो आकाशमें चलना जानती थी, अपने पति प्रद्युम्नजीको आकाशमार्गसे द्वारकापुरीमें ले गयी ॥२५॥

परीक्षित्! आकाशमें अपनी गोरी पत्नीके साथ साँवले प्रद्युम्नजीकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो बिजली और मेघका जोड़ा हो। इस प्रकार उन्होंने भगवान्‌के उस उत्तम अन्तःपुरमें प्रवेश किया, जिसमें सैकड़ों श्रेष्ठ रमणियाँ निवास करती थीं ॥२६॥ अन्तःपुरकी नारियोंने देखा प्रद्युम्नजीका शरीर वर्षाकालीन मेघके समान श्यामवर्ण है। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए हैं। घुटनोंतक लम्बी भुजाएँ हैं, रतनारे नेत्र हैं। और सुन्दर मुखपर मन्द मन्द मुसकानकी अनूठी ही छटा है। उनके मुखारविन्दपर घुँघराली और नीली अलकें इस प्रकार शोभायमान हो रही हैं, मानो भौंरे खेल रहे

१. नदन्। २. मोदकरीं मायां पिशाचोरगराक्षसाम्।

कृष्णं मत्वा स्त्रियो हीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह ॥२८॥
अवधार्य[1] शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः ।
उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं सुविस्मिताः ॥२९॥
अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी ।
अस्मरत् स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा ॥३०॥
को न्वयं नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः ।
धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा ॥३१॥
मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो यः सूतिकागृहात् ।
एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित् ॥३२॥
कथं त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः ।
आकृत्यावयवैर्गत्या[2] स्वरहासावलोकनैः ॥३३॥
स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः ।
अमुष्मिन् प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः ॥३४॥
एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः ।
देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमश्लोक आगमत् ॥३५॥
विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः ।
नारदोऽकथयत् सर्वं शम्बराहरणादिकम् ॥३६॥
तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः ।

हों। वे सब उन्हें श्रीकृष्ण समझकर सकुचा गयीं और घरोंमें इधर-उधर लुक-छिप गयीं ॥२७-२८॥ फिर धीरे-धीरे स्त्रियोंको यह मालूम हो गया कि ये श्रीकृष्ण नहीं हैं। क्योंकि उनकी अपेक्षा इनमें कुछ विलक्षणता अवश्य है। अब वे अत्यन्त आनन्द और विस्मयसे भर-कर इस श्रेष्ठ दम्पतिके पास आ गयीं ॥ २९ ॥ इसी समय वहाँ रुक्मिणीजी आ पहुँचीं। परीक्षित्! उनके नेत्र कजरारे और वाणी अत्यन्त मधुर थी। इस नवीन दम्पतिको देखते ही उन्हें अपने खोये हुए पुत्रकी याद हो आयी। वात्सल्यस्नेहकी अधिकतासे उनके स्तनोंसे दूध झरने लगा ॥ ३० ॥ रुक्मिणीजी सोचने लगीं—'यह नररत्न कौन है? यह कमलनयन किसका पुत्र है? किस बड़-भागिनीने इसे अपने गर्भमें धारण किया होगा? इसे यह कौन सौभाग्यवती पत्नीरूपमें प्राप्त हुई है? ॥ ३१ ॥ मेरा भी एक नन्हा-सा शिशु खो गया था! न जाने कौन उसे सूतिकागृहसे उठा ले गया! यदि वह कहीं जीता-जागता होगा तो उसकी अवस्था तथा रूप भी इसीके समान हुआ होगा ॥ ३२ ॥ मैं तो इस बातसे हैरान हूँ कि इसे भगवान् श्यामसुन्दरकी-सी रूप-रेखा, अङ्गोंकी गठन, चाल-ढाल, मुसकान-चितवन और बोल-चाल कहाँसे प्राप्त हुई? ॥ ३३ ॥ हो न हो यह वही बालक है, जिसे मैंने अपने गर्भमें धारण किया था। क्योंकि स्वभावसे ही मेरा स्नेह इसके प्रति उमड़ रहा है और मेरी बायीं बाँह भी फड़क रही है' ॥ ३४ ॥

जिस समय रुक्मिणीजी इस प्रकार सोच-विचार कर रही थीं—निश्चय और सन्देहके झूलेमें झूल रही थीं, उसी समय पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवजीके साथ वहाँ पधारे ॥ ३५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण सब कुछ जानते थे। परन्तु वे कुछ न बोले, चुपचाप खड़े रहे। इतनेमें ही नारदजी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने प्रद्युम्नजीको शम्बरासुरका हर ले जाना, समुद्रमें फेंक देना आदि जितनी भी घटनाएँ घटित हुई थीं, वे सब कह सुनायीं ॥ ३६ ॥ नारदजी-के द्वारा यह महान् आश्चर्यमयी घटना सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके अन्तःपुरकी स्त्रियाँ चकित हो गयीं और

१. उपधार्य। २. कालयात्।

अभ्यनन्दन् बहूनब्दान् नष्टं मृतमिवागतम् ॥३७॥
देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः ।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम् ॥३८॥
नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः ।
अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति हाब्रुवन् ॥३९॥
यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावा-
स्तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः ।
चित्रं न तत् खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे
कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनार्यः ॥४०॥

बहुत वर्षोंतक खोये रहनेके बाद लौटे हुए प्रद्युम्नजीका इस प्रकार अभिनन्दन करने लगीं, मानो कोई मरकर जी उठा हो ॥ ३७ ॥ देवकीजी, वसुदेवजी, भगवान् श्रीकृष्ण, बलरामजी, रुक्मिणीजी और स्त्रियाँ—सब उस नव-दम्पतिको हृदयसे लगाकर बहुत ही आनन्दित हुए ॥ ३८॥ जब द्वारकावासी नर-नारियोंको यह मालूम हुआ कि खोये हुए प्रद्युम्नजी लौट आये हैं, तब वे परस्पर कहने लगे—'अहो, कैसे सौभाग्यकी बात है कि यह बालक मानो मरकर फिर लौट आया' ॥३९॥ परीक्षित् ! प्रद्युम्नजीका रूप-रंग भगवान् श्रीकृष्णसे इतना मिलता-जुलता था कि उन्हें देखकर उनकी माताएँ भी उन्हें अपना पतिदेव श्रीकृष्ण समझकर मधुरभावमें मग्न हो जाती थीं और उनके सामनेसे हटकर एकान्तमें चली जाती थीं । श्रीनिकेतन भगवान्‌के प्रतिबिम्बस्वरूप कामावतार भगवान् प्रद्युम्नके दीख जानेपर ऐसा होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । फिर उन्हें देखकर दूसरी स्त्रियोंकी विचित्र दशा हो जाती थी, इसमें तो कहना ही क्या है ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे[1] प्रद्युम्नोत्पत्तिनिरूपणं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्यमन्तकमणिकी कथा, जाम्बवती और सत्यभामाके साथ श्रीकृष्णका विवाह

श्रीशुक उवाच

सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः ।
स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! सत्राजित्‌ने श्रीकृष्णको झूठा कलङ्क लगाया था । फिर उस अपराधका मार्जन करनेके लिये उसने स्वयं स्यमन्तकमणिसहित अपनी कन्या सत्यभामा भगवान् श्रीकृष्णको सौंप दी ॥ १ ॥

राजोवाच

सत्राजितः किमकरोद् ब्रह्मन् कृष्णस्य किल्बिषम् ।
स्यमन्तकः कुतस्तस्य कस्माद् दत्ता सुता हरेः ॥ २ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! सत्राजित्‌ने भगवान् श्रीकृष्णका क्या अपराध किया था ? उसे स्यमन्तकमणि कहाँसे मिली ? और उसने अपनी कन्या उन्हें क्यों दी ? ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

आसीत् सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा ।

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! सत्राजित् भगवान् सूर्यका बहुत बड़ा भक्त था । वे उसकी भक्तिसे प्रसन्न

1. ०ध्ये शम्बरवधः पञ्च० ।

प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात् सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम् ॥ ३ ॥
स तं बिभ्रन् मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः ।
प्रविष्टो द्वारकां राजंस्तेजसा नोपलक्षितः ॥ ४ ॥
तं विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टदृष्टयः ।
दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसुः सूर्यशङ्किताः ॥ ५ ॥
नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ।
दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन ॥ ६ ॥
एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते ।
मुष्णन् गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः ॥ ७ ॥
नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः ।
ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो ॥ ८ ॥

होकर उसके बहुत बड़े मित्र बन गये थे। सूर्य भगवान्‌ने ही प्रसन्न होकर बड़े प्रेमसे उसे स्यमन्तकमणि दी थी ॥ ३॥ सत्राजित् उस मणिको गलेमें धारणकर ऐसा चमकने लगा, मानो स्वयं सूर्य ही हो। परीक्षित्! जब सत्राजित् द्वारकामें आया, तब अत्यन्त तेजस्विताके कारण लोग उसे पहचान न सके ॥ ४ ॥ दूरसे ही उसे देखकर लोगोंकी आँखें उसके तेजसे चौंधिया गयीं। लोगोंने समझा कि कदाचित् स्वयं भगवान् सूर्य आ रहे हैं। उन लोगोंने भगवान्‌के पास आकर उन्हें इस बातकी सूचना दी। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण चौसर खेल रहे थे ॥ ५ ॥ लोगोंने कहा—'शङ्ख-चक्र-गदाधारी नारायण! कमलनयन दामोदर! यदुवंशशिरोमणि गोविन्द! आपको नमस्कार है ॥६॥ जगदीश्वर! देखिये! अपनी चमकीली किरणोंसे लोगोंके नेत्रोंको चौंधियाते हुए प्रचण्डरश्मि भगवान् सूर्य आपका दर्शन करने आ रहे हैं ॥ ७ ॥ प्रभो! सभी श्रेष्ठ देवता त्रिलोकीमें आपकी प्राप्तिका मार्ग ढूँढ़ते रहते हैं; किन्तु उसे पाते नहीं। आज आपको यदुवंशमें छिपा हुआ जानकर स्वयं सूर्यनारायण आपका दर्शन करने आ रहे हैं' ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः ।
प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन् ॥ ९ ॥
सत्राजित् स्वगृहं श्रीमत् कृतकौतुकमङ्गलम् ।
प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवेशयत् ॥१०॥
दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो ।
दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्पाधिव्याधयोऽशुभाः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अनजान पुरुषोंकी यह बात सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण हँसने लगे। उन्होंने कहा—'अरे ये सूर्यदेव नहीं हैं। यह तो सत्राजित् है, जो मणिके कारण इतना चमक रहा है ॥ ९ ॥ इसके बाद सत्राजित् अपने समृद्ध घरमें चला आया। घरपर उसके शुभागमनके उपलक्ष्यमें मङ्गल-उत्सव मनाया जा रहा था। उसने ब्राह्मणोंके द्वारा स्यमन्तकमणिको एक देवमन्दिरमें स्थापित करा दिया।१०। परीक्षित्! वह मणि प्रतिदिन आठ भार* सोना दिया करती थी। और जहाँ वह पूजित होकर रहती थी, वहाँ दुर्भिक्ष, महामारी, ग्रहपीडा, सर्पभय, मानसिक और

* भारका परिमाण इस प्रकार है—

चतुर्भिर्व्रीहिभिर्गुञ्जं गुञ्जान्पञ्च पणं पणान्।
अष्टौ धरणमष्टौ च कर्षं तांश्चतुरः पलम्।
तुलां पलशतं प्राहुर्भारं स्याद्विंशतिस्तुलाः ॥

अर्थात् 'चार व्रीहि (धान) की एक गुञ्जा, पाँच गुञ्जाका एक पण, आठ पणका एक धरण, आठ धरणका एक कर्ष, चार कर्षका एक पल, सौ पलकी एक तुला और बीस तुलाका एक भार कहलाता है।

न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणिः ॥११॥
स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा ।
नैवार्थकामुकः प्रादात् याच्ञाभङ्गमतर्कयन् ॥१२॥

शारीरिक व्यथा तथा मायावियोंका उपद्रव आदि कोई भी अशुभ नहीं होता था ॥ ११ ॥ एक बार भगवान् श्रीकृष्णने प्रसङ्गवश कहा—'सत्राजित् ! तुम अपनी मणि राजा उग्रसेनको दे दो ।' परन्तु वह इतना अर्थ-लोलुप—लोभी था कि भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन होगा, इसका कुछ भी विचार न करके उसे अस्वीकार कर दिया ॥ १२ ॥

तमेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम् ।
प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद् वने ॥१३॥
प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केसरी ।
गिरिं विशञ्जाम्बवता निहतो मणिमिच्छता ॥१४॥
सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले ।
अपश्यन् भ्रातरं भ्राता सत्राजित् पर्यतप्यत ॥१५॥
प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः ।
भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः ॥१६॥
भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनि ।
मार्ष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः ॥१७॥
हतं प्रसेनमश्वं च वीक्ष्य केसरिणा वने ।
तं चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः ॥१८॥

एक दिन सत्राजित्‌के भाई प्रसेनने उस परम प्रकाश-मयी मणिको अपने गलेमें धारण कर लिया और फिर वह घोड़ेपर सवार होकर शिकार खेलने वनमें चला गया ॥ १३॥ वहाँ एक सिंहने घोड़ेसहित प्रसेनको मार डाला और उस मणिको छीन लिया । वह अभी पर्वतकी गुफामें प्रवेश कर ही रहा था कि मणिके लिये ऋक्षराज जाम्बवान्‌ने उसे मार डाला ॥ १४ ॥ उन्होंने वह मणि अपनी गुफामें ले जाकर बच्चेको खेलनेके लिये दे दी । अपने भाई प्रसेनके न लौटनेसे उसके भाई सत्राजित्‌को बड़ा दुःख हुआ ॥ १५ ॥ वह कहने लगा, 'बहुत सम्भव है श्री-कृष्णने ही मेरे भाईको मार डाला हो । क्योंकि वह मणि गलेमें डालकर वनमें गया था ।' सत्राजित्‌की यह बात सुनकर लोग आपसमें काना-फूँसी करने लगे ॥१६॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने सुना कि यह कलङ्कका टीका मेरे ही सिर लगाया गया है, तब वे उसे धो बहानेके उद्देश्यसे नगरके कुछ सभ्य पुरुषोंको साथ लेकर प्रसेनको ढूँढ़नेके लिये वनमें गये ॥ १७ ॥ वहाँ खोजते-खोजते लोगोंने देखा कि घोर जंगलमें सिंहने प्रसेन और उसके घोड़ेको मार डाला है । जब वे लोग सिंहके पैरोंका चिह्न देखते हुए आगे बढ़े, तब उन लोगोंने यह भी देखा कि पर्वतपर एक रीछने सिंहको भी मार डाला है ॥ १८ ॥

ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसाऽऽवृतम् ।
एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः ॥१९॥
तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम् ।
हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके ॥२०॥

भगवान् श्रीकृष्णने सब लोगोंको बाहर ही बिठा दिया और अकेले ही घोर अन्धकारसे भरी हुई ऋक्ष-राजकी भयङ्कर गुफामें प्रवेश किया ॥ १९ ॥ भगवान्‌ने वहाँ जाकर देखा कि श्रेष्ठ मणि स्यमन्तकको बच्चोंका खिलौना बना दिया गया है । वे उसे हर लेनेकी इच्छासे

तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत् ।
तच्छ्रुत्वाभ्यद्रवत् क्रुद्धो जाम्बवान् बलिनां वरः ॥२१॥
स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनाऽऽत्मनः ।
पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित् ॥२२॥
द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलमुभयोर्विजिगीषतोः ।
आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव ॥२३॥
आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः ।
वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम् ॥२४॥
कृष्णमुष्टिविनिष्पातनिष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः ।
क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः ॥२५॥
जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलम् ।
विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम् ॥२६॥
त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानामपि यच्च सत् ।
कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथाऽऽत्मनाम् ॥२७॥
यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै-
र्वर्त्मादिशत् क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः ।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लङ्का
रक्षः शिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि ॥२८॥

बच्चेके पास जा खड़े हुए ॥ २० ॥ उस गुफामें एक अपरिचित मनुष्यको देखकर बच्चेकी धाय भयभीतकी भाँति चिल्ला उठी । उसकी चिल्लाहट सुनकर परम बली ऋक्षराज जाम्बवान् क्रोधित होकर वहाँ दौड़ आये ॥२१॥ परीक्षित् ! जाम्बवान् उस समय कुपित हो रहे थे । *उन्हें भगवान्‌की महिमा, उनके प्रभावका* पता न चला । उन्होंने उन्हें एक साधारण मनुष्य समझ लिया और वे अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्णसे युद्ध करने लगे ॥ २२ ॥ जिस प्रकार मांसके लिये दो बाज आपसमें लड़ते हैं, वैसे ही विजयाभिलाषी भगवान् श्रीकृष्ण और जाम्बवान् आपसमें घमासान युद्ध करने लगे । पहले तो उन्होंने अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार किया, फिर शिलाओंका । तत्पश्चात् वे वृक्ष उखाड़कर एक दूसरेपर फेंकने लगे । अन्तमें उनमें बाहुयुद्ध होने लगा ॥२३॥ परीक्षित् ! वज्र-प्रहारके समान कठोर घूँसोंसे आपसमें वे अट्ठाईस दिनतक बिना विश्राम किये रात-दिन लड़ते रहे ॥ २४ ॥ अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णके घूँसोंकी चोटसे जाम्बवान्‌के शरीरकी एक-एक गाँठ टूट-फूट गयी । उत्साह जाता रहा । शरीर पसीनेसे लथ-पथ हो गया । तब उन्होंने अत्यन्त विस्मित—चकित होकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—॥ २५ ॥ प्रभो ! मैं जान गया । आप ही समस्त प्राणियोंके स्वामी, रक्षक, पुराणपुरुष भगवान् विष्णु हैं । आप ही सबके प्राण, इन्द्रियबल, मनोबल और शरीरबल हैं ॥ २६ ॥ आप विश्वके रचयिता ब्रह्मा आदिको भी बनानेवाले हैं । बनाये हुए पदार्थोंमें भी सत्तारूपसे आप ही विराजमान हैं । कालके जितने भी अवयव हैं, उनके नियामक परम काल आप ही हैं और शरीर-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीयमान अन्तरात्माओंके परम आत्मा भी आप ही हैं ॥ २७ ॥ प्रभो ! मुझे स्मरण है, आपने अपने नेत्रोंमें तनिक-सा क्रोधका भाव लेकर तिरछी दृष्टिसे समुद्रकी ओर देखा था । उस समय समुद्रके अंदर रहनेवाले बड़े-बड़े नाक (घड़ियाल) और मगरमच्छ क्षुब्ध हो गये थे और समुद्रने आपको मार्ग दे दिया था । तब आपने उसपर सेतु बाँधकर सुन्दर यशकी स्थापना की तथा लङ्काका विध्वंस किया । आपके बाणोंसे कट-कटकर राक्षसोंके सिर पृथ्वीपर लोट रहे थे । (अवश्य ही आप मेरे वे ही 'रामजी' श्रीकृष्णके

नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चासतः सति ।
तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः ॥४६॥

साध्वी ! नेत्र और रूप दोनों ही सूर्यके द्वारा प्रकाशित होते हैं । सूर्य ही उनका कारण हैं । इसलिये सूर्यके साथ नेत्र और रूपका न तो कभी वियोग होता है और न संयोग । इसी प्रकार समस्त संसारकी सत्ता आत्मसत्ताके कारण जान पड़ती है, समस्त संसारका प्रकाशक आत्मा ही है । फिर आत्माके साथ दूसरे असत् पदार्थोंका संयोग या वियोग हो ही कैसे सकता है ? ॥४६॥

जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित् ।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव ॥४७॥

जन्म लेना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और मरना—ये सारे विकार शरीरके ही होते हैं, आत्माके नहीं । जैसे कृष्णपक्षमें कलाओंका ही क्षय होता है, चन्द्रमाका नहीं, परन्तु अमावस्याके दिन व्यवहारमें लोग चन्द्रमाका ही क्षय हुआ कहते-सुनते हैं; वैसे ही जन्म-मृत्यु आदि सारे विकार शरीरके ही होते हैं, परन्तु लोग उसे भ्रमवश अपना—अपने आत्माका मान लेते हैं ॥४७॥

यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च ।
अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाऽऽप्नोत्यबुधो भवम् ॥४८॥

जैसे सोया हुआ पुरुष किसी पदार्थके न होनेपर भी स्वप्नमें भोक्ता, भोग्य और भोगरूप फलोंका अनुभव करता है, उसी प्रकार अज्ञानीलोग झूठमूठ संसार-चक्रका अनुभव करते हैं ॥४८॥

तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम् ।
तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥४९॥

इसलिये साध्वी ! अज्ञानके कारण होनेवाले इस शोकको त्याग दो । यह शोक अन्तःकरणको मुरझा देता है, मोहित कर देता है । इसलिये इसे छोड़कर तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ' ॥४९॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता ।
वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे ॥५०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब बलरामजीने इस प्रकार समझाया, तब परमसुन्दरी रुक्मिणीजीने अपने मनका मैल मिटाकर विवेक-बुद्धिसे उसका समाधान किया ॥५०॥

प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभः ।
स्मरन् विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः ॥५१॥

रुक्मीकी सेना और उसके तेजका नाश हो चुका था । केवल प्राण बच रहे थे । उसके चित्तकी सारी आशा-अभिलाषाएँ व्यर्थ हो चुकी थीं और शत्रुओंने अपमानित करके उसे छोड़ दिया था । उसे अपने विरूप किये जानेकी कष्टदायक स्मृति भूल नहीं पाती थी ॥५१॥

चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत् पुरम् ।
अहत्वा दुर्मतिं कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम् ।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद् रुषा ॥५२॥

अतः उसने अपने रहनेके लिये भोजकट नामकी एक बहुत बड़ी नगरी बसायी । उसने पहले ही यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि 'दुर्बुद्धि कृष्णको मारे बिना और अपनी छोटी बहिनको लौटाये बिना मैं कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा ।' इसलिये क्रोध करके वह वहीं रहने लगा ॥५२॥

अनुतप्यमानो भवनमगमत् स्वेन पाप्मना ॥३९॥

सोऽनुध्यायंस्तदेवाघं बलवद्विग्रहाकुलः ।

कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद् वाच्युतः कथम् ॥४०॥

किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद् वा जनो यथा ।

अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम् ॥४१॥

दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च ।

उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा ॥४२॥

एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित् स्वसुतां शुभाम् ।

मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह ॥४३॥

तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि ।

बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम् ॥४४॥

भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप ।

तवास्तां देवभक्तस्य वयं च फलभागिनः ॥४५॥

बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था, किसी प्रकार वह अपने घर पहुँचा ॥ ३९ ॥ उसके मनकी आँखोंके सामने निरन्तर अपना अपराध नाचता रहता । बलवान्के साथ विरोध करनेके कारण वह भयभीत भी हो गया था । अब वह यही सोचता रहता कि 'मैं अपने अपराधका मार्जन कैसे करूँ ? मुझपर भगवान् श्रीकृष्ण कैसे प्रसन्न हों ॥ ४० ॥ मैं ऐसा कौन-सा काम करूँ, जिससे मेरा कल्याण हो और लोग मुझे कोसें नहीं । सचमुच मैं अदूरदर्शी, क्षुद्र हूँ । धनके लोभसे मैं बड़ी मूढ़ताका काम कर बैठा ॥ ४१ ॥ अब मैं रमणियोंमें रत्नके समान अपनी कन्या सत्यभामा और वह स्यमन्तकमणि दोनों ही श्रीकृष्णको दे दूँ । यह उपाय बहुत अच्छा है । इसीसे मेरे अपराधका मार्जन हो सकता है, और कोई उपाय नहीं है' ॥ ४२ ॥ सत्राजित्ने अपनी विवेक-बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके स्वयं ही इसके लिये उद्योग किया और अपनी कन्या तथा स्यमन्तकमणि दोनों ही ले जाकर श्रीकृष्णको अर्पण कर दीं ॥ ४३ ॥ सत्यभामा शील-स्वभाव, सुन्दरता, उदारता आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न थीं । बहुत-से लोग चाहते थे कि सत्यभामा हमें मिलें और उन लोगोंने उन्हें माँगा भी था । परन्तु अब भगवान् श्रीकृष्णने विधिपूर्वक उनका पाणिग्रहण किया ॥ ४४ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णने सत्राजित्से कहा—'हम स्यमन्तकमणि न लेंगे । आप सूर्य-भगवान्के भक्त हैं, इसलिये वह आपके ही पास रहे । हम तो केवल उसके फलके, अर्थात् उससे निकले हुए सोनेके अधिकारी हैं । वही आप हमें दे दिया करें' ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[6] उत्तरार्धे स्यमन्तकोपाख्याने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्यमन्तक-हरण, शतधन्वाका उद्धार और अक्रूरजीको फिरसे द्वारका बुलाना

श्रीशुक उवाच

विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णको इस बातका पता था कि लाक्षागृहकी आगसे पाण्डवोंका बाल भी बाँका नहीं हुआ है, तथापि जब

१. सन्तप्यमानो । २. देदच्युतः । ३. सः । ४. तव । ५. भवांस्तु देवभक्तश्च । ६. न्धे स्यमन्तकाहरणं षट्पञ्चा० ।

कुन्तीं च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून् ॥ १ ॥
भीष्मं कृपं सविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च ।
तुल्यदुःखौ च सङ्गम्य हा कष्टमिति होचतुः ॥ २ ॥

उन्होंने सुना कि कुन्ती और पाण्डव जल मरे, तब उस समयका कुल परम्परोचित व्यवहार करनेके लिये वे बलराम-जीके साथ हस्तिनापुर गये ॥ १ ॥ वहाँ जाकर भीष्म-पितामह, कृपाचार्य, विदुर, गान्धारी और द्रोणाचार्यसे मिलकर उनके साथ समवेदना—सहानुभूति प्रकट की और उन लोगोंसे कहने लगे—'हाय हाय ! यह तो बड़े ही दुःखकी बात हुई' ॥ २ ॥

लब्ध्वैतदन्तरं राजन् शतधन्वानमूचतुः ।
अक्रूरकृतवर्माणौ मणिः कस्मान्न गृह्यते ॥ ३ ॥
योऽस्मभ्यं संप्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगर्ह्य नः ।
कृष्णायादान्न सत्राजित् कस्माद् भ्रातरमन्वियात्॥४॥
एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः ।
शयानमवधील्लोभात् स पापः क्षीणजीवितः ॥५॥
स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत् ।
हत्वा पशून् सौनिकवन्मणिमादाय जग्मिवान् ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके हस्तिनापुर चले जानेसे द्वारकामें अक्रूर और कृतवर्माको अवसर मिल गया । उन लोगोंने शतधन्वासे आकर कहा—'तुम सत्राजित्से मणि क्यों नहीं छीन लेते ? ॥ ३ ॥ सत्राजित्ने अपनी श्रेष्ठ कन्या सत्यभामाका विवाह हमसे करनेका वचन दिया था और अब उसने हमलोगोंका तिरस्कार करके उसे श्रीकृष्णके साथ ब्याह दिया है । अब सत्राजित् भी अपने भाई प्रसेनकी तरह क्यों न यमपुरीमें जाय ?' ॥४॥ शतधन्वा पापी था और अब तो उसकी मृत्यु भी उसके सिरपर नाच रही थी । अक्रूर और कृतवर्माके इस प्रकार बहकानेपर शतधन्वा उनकी बातोंमें आ गया और उस महादुष्टने लोभवश सोये हुए सत्राजित्को मार डाला ॥ ५ ॥ इस समय स्त्रियाँ अनाथके समान रोने-चिल्लाने लगीं; परन्तु शतधन्वाने उनकी ओर तनिक भी ध्यान न दिया, जैसे कसाई पशुओंकी हत्या कर डालता है वैसे ही वह सत्राजित्को मारकर और मणि लेकर वहाँसे चंपत हो गया ॥ ६ ॥

सत्यभामा च पितरं हतं वीक्ष्य शुचार्पिता ।
व्यलपत्तात तातेति हा हतास्मीति मुह्यती ॥७॥
तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम् ।
कृष्णाय विदितार्थाय तप्ताऽऽचख्यौ पितुर्वधम्॥८॥
तदाकर्ण्येश्वरौ राजन्ननुसृत्य नृलोकताम् ।

सत्यभामाजीको यह देखकर कि मेरे पिता मार डाले गये हैं, बड़ा शोक हुआ और वे 'हाय पिताजी ! हाय पिताजी ! मैं मारी गयी'—इस प्रकार पुकार-पुकारकर विलाप करने लगीं । बीच-बीचमें वे बेहोश हो जातीं और होशमें आनेपर फिर विलाप करने लगतीं ॥ ७ ॥ इसके बाद उन्होंने अपने पिताके शवको तेलके कड़ाहेमें रखवा दिया और आप हस्तिनापुरको गयीं । उन्होंने बड़े दुःखसे भगवान् श्रीकृष्णको अपने पिताकी हत्याका वृत्तान्त सुनाया— यद्यपि इन बातोंको भगवान् श्रीकृष्ण पहलेसे जानते थे ॥ ८ ॥ परीक्षित् ! सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने सब सुनकर मनुष्योंकी-सी लीला करते हुए अपनी आँखोंमें

अहो नः परमं कष्टमित्यस्राक्षौ विलेपतुः ॥ ९ ॥

आँसू भर लिये और विलाप करने लगे कि 'अहो ! हमलोगोंपर तो यह बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी !' ॥९॥

आगत्य भगवांस्तस्मात् सभार्यः साग्रजः पुरम् ।
शतधन्वानमारेभे हन्तुं हर्तुं मणिं ततः ॥१०॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामाजी और बलरामजीके साथ हस्तिनापुरसे द्वारका लौट आये और शतधन्वाको मारने तथा उससे मणि छीननेका उद्योग करने लगे ॥ १० ॥

सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया।
साहाय्ये कृतवर्माणमयाचत स चाब्रवीत् ॥ ११ ॥

जब शतधन्वाको यह मालूम हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण मुझे मारनेका उद्योग कर रहे हैं, तब वह बहुत डर गया और अपने प्राण बचानेके लिये उसने कृतवर्मासे सहायता माँगी । तब कृतवर्माने कहा—॥ ११ ॥

नाहमीश्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः ।
को नु क्षेमाय कल्पेत तयोर्वृजिनमाचरन् ॥ १२ ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं । मैं उनका सामना नहीं कर सकता । भला, ऐसा कौन है, जो उनके साथ वैर बाँधकर इस लोक और परलोकमें सकुशल रह सके ? ॥ १२ ॥

कंसः सहानुगोऽपीतो यद्द्वेषात्त्याजितः श्रिया।
जरासन्धः सप्तदश संयुगान् विरथो गतः ॥१३॥

तुम जानते हो कि कंस उन्हींसे द्वेष करनेके कारण राज्यलक्ष्मीको खो बैठा और अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया । जरासन्ध-जैसे शूरवीरको भी उनके सामने सत्रह बार मैदानमें हारकर बिना रथके ही अपनी राजधानीमें लौट जाना पड़ा था' ॥ १३ ॥

प्रत्याख्यातः स चाक्रूरं पार्ष्णिग्राहमयाचत ।
सोऽप्याह को विरुध्येत विद्वानीश्वरयोर्बलम् ॥१४॥
य इदं लीलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च ।
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया ॥१५॥
यः सप्तहायनः शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना ।
दधार लीलया बाल उच्छिलीन्ध्रमिवार्भकः ॥१६॥
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे ।
अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः ॥१७॥

जब कृतवर्माने उसे इस प्रकार टका-सा जवाब दे दिया, तब शतधन्वाने सहायताके लिये अक्रूरजीसे प्रार्थना की । उन्होंने कहा—'भाई ! ऐसा कौन है, जो सर्वशक्तिमान् भगवान्का बल-पौरुष जानकर भी उनसे वैर-विरोध ठाने । जो भगवान् खेल-खेलमें ही इस विश्वकी रचना, रक्षा और संहार करते हैं तथा जो कब क्या करना चाहते हैं—इस बातको मायासे मोहित ब्रह्मा आदि विश्व-विधाता भी नहीं समझ पाते; जिन्होंने सात वर्षकी अवस्थामें—जब वे निरे बालक थे, एक हाथसे ही गिरिराज गोवर्द्धनको उखाड़ लिया और जैसे नन्हे नन्हे बच्चे बरसाती छत्तेको उखाड़कर हाथमें रख लेते हैं, वैसे ही खेल-खेलमें सात दिनोंतक उसे उठाये रक्खा; मैं तो उन भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ । उनके कर्म अद्भुत हैं । वे अनन्त, अनादि, एकरस और आत्मस्वरूप हैं । मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ' ॥ १४–१७ ॥

प्रत्याख्यातः स तेनापि शतधन्वा महामणिम् ।

जब इस प्रकार अक्रूरजीने भी उसे कोरा जवाब दे दिया, तब शतधन्वाने स्यमन्तक-

तस्मिन् न्यस्याश्वमारुह्य शतयोजनगं ययौ ॥१८॥

मणि उन्हींके पास रख दी और आप चार सौ कोस लगातार चलनेवाले घोड़ेपर सवार होकर वहाँसे बड़ी फुर्तीसे भागा ॥ १८ ॥

गरुडध्वजमारुह्य रथं रामजनार्दनौ ।
अन्वयातां महावेगैरश्वै राजन् गुरुद्रुहम् ॥१९॥
मिथिलायामुपवने विसृज्य पतितं हयम् ।
पद्भ्यामधावत् सन्त्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद् रुषा ॥२०॥
पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना ।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससो व्यचिनोन्मणिम् ॥२१॥
अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम् ।
वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते ॥२२॥
तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना ।
कस्मिंश्चित् पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष पुरं व्रज ॥२३॥
अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम ।
इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दनः ॥२४॥
तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः ।
अर्हयामास विधिवदर्हणीयं समर्हणैः ॥२५॥
उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः ।
मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना ।
ततोऽशिक्षद् गदां काले धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ॥२६॥
केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः ।
अप्राप्तिं च मणेः प्राह प्रियायाः प्रियकृद् विभुः ॥२७॥

परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाई अपने उस रथपर सवार हुए, जिसपर गरुड़चिह्नसे चिह्नित ध्वजा फहरा रही थी और बड़े वेगवाले घोड़े जुते हुए थे। अब उन्होंने अपने श्वशुर सत्राजित्को मारनेवाले शतधन्वाका पीछा किया ॥ १९ ॥ मिथिलापुरीके निकट एक उपवनमें शतधन्वाका घोड़ा गिर पड़ा, अब वह उसे छोड़कर पैदल ही भागा। वह अत्यन्त भयभीत हो गया था। भगवान् श्रीकृष्ण भी क्रोध करके उसके पीछे दौड़े ॥ २० ॥ शतधन्वा पैदल ही भाग रहा था, इसलिये भगवान्ने भी पैदल ही दौड़कर अपने तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे उसका सिर उतार लिया और उसके वस्त्रोंमें स्यमन्तकमणिको ढूँढ़ा ॥ ॥ २१ ॥ परन्तु जब मणि मिली नहीं, तब भगवान् श्रीकृष्णने बड़े भाई बलरामजीके पास आकर कहा—'हमने शतधन्वाको व्यर्थ ही मारा। क्योंकि उसके पास स्यमन्तकमणि तो है ही नहीं' ॥ २२ ॥ बलरामजीने कहा—'इसमें सन्देह नहीं कि शतधन्वाने स्यमन्तकमणिको किसी-न-किसीके पास रख दिया है। अब तुम द्वारका जाओ और उसका पता लगाओ ॥ २३ ॥ मैं विदेहराजसे मिलना चाहता हूँ; क्योंकि वे मेरे बहुत ही प्रिय मित्र हैं।' परीक्षित् ! यह कहकर यदुवंशशिरोमणि बलरामजी मिथिला नगरीमें चले गये ॥ २४ ॥ जब मिथिलानरेशने देखा कि पूजनीय बलरामजी महाराज पधारे हैं, तब उनका हृदय आनन्दसे भर गया। उन्होंने झटपट अपने आसनसे उठकर अनेक सामग्रियोंसे उनकी पूजा की ॥ २५ ॥ इसके बाद भगवान् बलरामजी कई वर्षोंतक मिथिलापुरीमें ही रहे। महात्मा जनकने बड़े प्रेम और सम्मानसे उन्हें रक्खा। इसके बाद समयपर धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने बलरामजीसे गदायुद्धकी शिक्षा ग्रहण की ॥ २६ ॥ अपनी प्रिया सत्यभामाका प्रिय कार्य करके भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका लौट आये और उनको यह समाचार सुना दिया कि शतधन्वाको मार डाला गया, परन्तु स्यमन्तकमणि उसके पास न मिली ॥२७॥

१. ने। २. वदर्हण्यं वै तमर्हणैः।

ततः स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै ।
साकं सुहृद्भिर्भगवान् या याः स्युः साम्परायिकाः ॥२८॥

इसके बाद उन्होंने भाई-बन्धुओंके साथ अपने श्वशुर सत्राजित्‌की वे सब और्ध्वदैहिक क्रियाएँ करवायीं, जिनसे मृतक प्राणीका परलोक सुधरता है ॥ २८ ॥

अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् ।
व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ ॥२९॥

अक्रूर और कृतवर्माने शतधन्वाको सत्राजित्‌के वधके लिये उत्तेजित किया था । इसलिये जब उन्होंने सुना कि भगवान् श्रीकृष्णने शतधन्वाको मार डाला है, तब वे अत्यन्त भयभीत होकर द्वारकासे भाग खड़े हुए ॥२९॥

अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन् वै द्वारकौकसाम् ।
शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः ॥३०॥
इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् ।
मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् ॥३१॥

परीक्षित् ! कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अक्रूरके द्वारकासे चले जानेपर द्वारका-वासियोंको बहुत प्रकारके अनिष्टों और अरिष्टोंका सामना करना पड़ा । दैविक और भौतिक निमित्तोंसे बार-बार वहाँके नागरिकोंको शारीरिक और मानसिक कष्ट सहना पड़ा । परन्तु जो लोग ऐसा कहते हैं, वे पहले कही हुई बातोंको भूल जाते हैं । भला, यह भी कभी सम्भव है कि जिन भगवान् श्रीकृष्णमें समस्त ऋषि-मुनि निवास करते हैं, उनके निवासस्थान द्वारकामें उनके रहते कोई उपद्रव खड़ा हो जाय ॥ ३०-३१ ॥

देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायागताय वै ।
स्वसुतां गान्दिनीं प्रादात् ततोऽवर्षत् स्म[१] काशिषु ॥३२॥
तत्सुतस्तत्प्रभावोऽसावक्रूरो यत्र यत्र ह ।
देवोऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारिकाः ॥३३॥
इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम् ।
इति मत्वा समानाय्य[२] प्राहाक्रूरं[३] जनार्दनः ॥३४॥

उस समय नगरके बड़े-बूढ़े लोगोंने कहा—'एक बार काशी-नरेशके राज्यमें वर्षा नहीं हो रही थी, सूखा पड़ गया था । तब उन्होंने अपने राज्यमें आये हुए अक्रूरके पिता श्वफल्कको अपनी पुत्री गान्दिनी व्याह दी । तब उस प्रदेशमें वर्षा हुई । अक्रूर भी श्वफल्कके ही पुत्र हैं और इनका प्रभाव भी वैसा ही है । इसलिये जहाँ-जहाँ अक्रूर रहते हैं; वहाँ-वहाँ खूब वर्षा होती है तथा किसी प्रकारका कष्ट और महामारी आदि उपद्रव नहीं होते ।' परीक्षित् ! उन लोगोंकी बात सुनकर भगवान्‌ने सोचा कि 'इस उपद्रवका यही कारण नहीं है' यह जानकर भी भगवान्‌ने दूत भेजकर अक्रूरजीको ढुँढ़वाया और आनेपर उनसे बातचीत की ॥३२—३४॥

पूजयित्वाभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः ।
विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह ॥३५॥

भगवान्‌ने उनका खूब स्वागत-सत्कार किया और मीठी-मीठी प्रेमकी बातें कहकर उनसे सम्भाषण किया । परीक्षित् ! भगवान् सबके चित्तका एक-एक सङ्कल्प देखते रहते हैं । इसलिये उन्होंने मुसकराते हुए अक्रूरसे कहा—॥ ३५ ॥

ननु दानपते न्यस्तस्त्वय्यास्ते शतधन्वना ।

'चाचाजी ! आप दान-धर्मके पालक हैं । हमें यह बात पहलेसे ही मालूम है कि शतधन्वा

१. सार्द्धं । २. सः । ३. दूतैः ।

स्यमन्तको मणिः श्रीमान् विदितः पूर्वमेव नः ॥३६॥

सत्राजितोऽनपत्यत्वाद् गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः ।

दायं निनीयापःपिण्डान् विमुच्यर्णं च शेषितम् ॥३७॥

तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः ।

किन्तु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति ॥३८॥

दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्तिमावह ।

अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः ॥३९॥

एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम् ।

आदाय वाससाच्छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम् ॥४०॥

स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः ।

विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयत् प्रभुः ॥४१॥

यस्त्वेतद् भगवत ईश्वरस्य विष्णो-

वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं च ।

आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद् वा

दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम् ॥४२॥

आपके पास वह स्यमन्तकमणि छोड़ गया है, जो बड़ी ही प्रकाशमान और धन देनेवाली है ॥ ३६ ॥ आप जानते ही हैं कि सत्राजित्के कोई पुत्र नहीं है। इसलिये उनकी लड़कीके लड़के—उनके नाती ही उन्हें तिलाञ्जलि और पिण्डदान करेंगे, उनका ऋण चुकायेंगे और जो कुछ बच रहेगा, उसके उत्तराधिकारी होंगे ॥३७॥ इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टिसे यद्यपि स्यमन्तकमणि हमारे पुत्रोंको ही मिलनी चाहिये, तथापि वह मणि आपके ही पास रहे। क्योंकि आप बड़े व्रतनिष्ठ और पवित्रात्मा हैं तथा दूसरोंके लिये उस मणिको रखना अत्यन्त कठिन भी है। परन्तु हमारे सामने एक बहुत बड़ी कठिनाई यह आ गयी है कि हमारे बड़े भाई बलरामजी मणिके सम्बन्धमें मेरी बातका पूरा विश्वास नहीं करते ॥३८॥ इसलिये महाभाग्यवान् अक्रूरजी! आप वह मणि दिखाकर हमारे इष्ट-मित्र—बलरामजी, सत्यभामा और जाम्बवतीका सन्देह दूर कर दीजिये और उनके हृदयमें शान्तिका सञ्चार कीजिये। हमें पता है कि उसी मणिके प्रतापसे आजकल आप लगातार ही ऐसे यज्ञ करते रहते हैं, जिनमें सोनेकी वेदियाँ बनती हैं' ॥३९॥ परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सान्त्वना देकर उन्हें समझाया-बुझाया, तब अक्रूरजीने वस्त्रमें लपेटी हुई सूर्यके समान प्रकाशमान वह मणि निकाली और भगवान् श्रीकृष्णको दे दी ॥ ४० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने वह स्यमन्तकमणि अपने जाति-भाइयोंको दिखाकर अपना कलङ्क दूर किया और उसे अपने पास रखनेमें समर्थ होनेपर भी पुनः अक्रूरजीको लौटा दिया ॥ ४१ ॥

सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णके पराक्रमोंसे परिपूर्ण यह आख्यान समस्त पापों, अपराधों और कलङ्कोंका मार्जन करनेवाला तथा परम मङ्गलमय है। जो इसे पढ़ता, सुनता अथवा स्मरण करता है, वह सब प्रकारकी अपकीर्ति और पापोंसे छूटकर शान्तिका अनुभव करता है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे स्यमन्तकोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

१. न्ये सह० ।

अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके अन्यान्य विवाहोंकी कथा

श्रीशुक[1] उवाच

एकदा पाण्डवान् द्रष्टुं प्रतीतान् पुरुषोत्तमः ।
इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभिर्वृतः ॥ १ ॥
दृष्ट्वा तमागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम् ।
उत्तस्थुर्युगपद् वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम् ॥ २ ॥
परिष्वज्याच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतैनसः ।
सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
फाल्गुनं परिरभ्याथ यमाभ्यां चाभिवन्दितः[2] ॥ ४ ॥
परमासने[3] आसीनं कृष्णा कृष्णमनिन्दिता ।
नवोढा व्रीडिता किञ्चिच्छनैरेत्याभ्यवन्दत ॥ ५ ॥
तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिवन्दितः[4] ।
निषसादासने[5]ऽन्ये च पूजिताः पर्युपासत ॥ ६ ॥
पृथां समागत्य कृताभिवादन-
स्तयातिहार्दार्द्रदृशाभिरम्भितः[6] ।
आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां
पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः ॥ ७ ॥
तमाह प्रेमवैक्लव्यरुद्धकण्ठाश्रुलोचना[7] ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब पाण्डवोंका पता चल गया था कि वे लाक्षाभवनमें जले नहीं हैं । एक बार भगवान् श्रीकृष्ण उनसे मिलनेके लिये इन्द्रप्रस्थ पधारे । उनके साथ सात्यकि आदि बहुत-से यदुवंशी भी थे ॥ १ ॥ जब वीर पाण्डवोंने देखा कि सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण पधारे हैं तो जैसे प्राणका सञ्चार होनेपर सभी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं, वैसे ही वे सब-के-सब एक साथ उठ खड़े हुए ॥ २ ॥ वीर पाण्डवोंने भगवान् श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया, उनके अङ्ग-सङ्गसे इनके सारे पाप-ताप धुल गये । भगवान्की प्रेमभरी मुसकराहटसे सुशोभित मुख-सुषमा देखकर वे आनन्दमें मग्न हो गये ॥ ३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिर और भीमसेनके चरणोंमें प्रणाम किया और अर्जुनको हृदयसे लगाया । नकुल और सहदेवने भगवान्के चरणोंकी वन्दना की ॥ ४ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हो गये; तब परमसुन्दरी श्यामवर्णा द्रौपदी, जो नवविवाहिता होनेके कारण तनिक लजा रही थी, धीरे-धीरे भगवान् श्रीकृष्णके पास आयी और उन्हें प्रणाम किया ॥ ५ ॥ पाण्डवोंने भगवान् श्रीकृष्णके समान ही वीर सात्यकिका भी स्वागत-सत्कार और अभिनन्दन-वन्दन किया । वे एक आसनपर बैठ गये । दूसरे यदुवंशियोंका भी यथायोग्य सत्कार किया गया तथा वे भी श्रीकृष्णके चारों ओर आसनोंपर बैठ गये ॥ ६ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपनी फूआ कुन्तीके पास गये और उनके चरणोंमें प्रणाम किया । कुन्तीजीने अत्यन्त स्नेहवश उन्हें अपने हृदयसे लगा लिया । उस समय उनके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छलक आये । कुन्तीजीने श्रीकृष्णसे अपने भाई-बन्धुओंकी कुशल-क्षेम पूछी और भगवान्ने भी उनका यथोचित उत्तर देकर उनसे उनकी पुत्रवधू द्रौपदी और स्वयं उनका कुशल-मङ्गल पूछा ॥ ७ ॥ उस समय प्रेमकी विह्वलतासे कुन्तीजीका गला रुँध गया था, नेत्रोंसे आँसू बह रहे थे । भगवान्के पूछनेपर उन्हें

१. बादरायणिरुवाच । २. वादितः । ३. नमासी० । ४. नन्दितः । ५. ने रम्ये । ६. वीक्षितः । ७. बद्ध० ।

स्मरन्ती तान् बहून् क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम् ॥८॥
तदैव कुशलं नोऽभूत् सनाथास्ते कृता वयम् ।
ज्ञातीन् नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया ॥९॥
न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः ।
तथापि स्मरतां शश्वत् क्लेशान् हंसि हृदि स्थितः ॥१०॥

युधिष्ठिर उवाच

किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर ।
योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम् ॥११॥
इति वै वार्षिकान् मासान् राज्ञा सोऽभ्यर्थितः सुखम् ।
जनयन् नयनानन्दमिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः ॥१२॥
एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम् ।
गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ ॥१३॥
साकं कृष्णेन सन्नद्धो विहर्तुं विपिनं वनम् ।
बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत् परवीरहा ॥१४॥
तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान् सूकरान् महिषान् रुरून् ।
शरभान् गवयान् खड्गान् हरिणाञ्छशशल्लकान् ॥१५॥

अपने पहलेके क्लेश-पर-क्लेश याद आने लगे और वे अपनेको बहुत सम्हालकर, जिनका दर्शन समस्त क्लेशोंका अन्त करनेके लिये ही हुआ करता है, उन भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगीं—॥ ८ ॥ 'श्रीकृष्ण ! जिस समय तुमने हमलोगोंको अपना कुटुम्बी, सम्बन्धी समझकर स्मरण किया और हमारा कुशल-मङ्गल जाननेके लिये भाई अक्रूरको भेजा, उसी समय हमारा कल्याण हो गया, हम अनाथोंको तुमने सनाथ कर दिया ॥ ९ ॥ मैं जानती हूँ कि तुम सम्पूर्ण जगत्के परम हितैषी सुहृद् और आत्मा हो । यह अपना है और यह पराया, इस प्रकारकी भ्रान्ति तुम्हारे अंदर नहीं है । ऐसा होनेपर भी, श्रीकृष्ण ! जो सदा तुम्हें स्मरण करते हैं, उनके हृदयमें आकर तुम बैठ जाते हो और उनकी क्लेश-परम्पराको सदाके लिये मिटा देते हो' ॥ १० ॥

युधिष्ठिरजीने कहा—'सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ! हमें इस बातका पता नहीं है कि हमने अपने पूर्वजन्मोंमें या इस जन्ममें कौन-सा कल्याण-साधन किया है ? आपका दर्शन बड़े-बड़े योगेश्वर भी बड़ी कठिनतासे प्राप्त कर पाते हैं और हम कुबुद्धियोंको घर बैठे ही आपके दर्शन हो रहे हैं' ॥ ११ ॥ राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार भगवान्का खूब सम्मान किया और कुछ दिन वहीं रहनेकी प्रार्थना की । इसपर भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थके नर-नारियोंको अपनी रूपमाधुरीसे नयनानन्दका दान करते हुए बरसात-के चार महीनोंतक सुखपूर्वक वहीं रहे ॥ १२ ॥

परीक्षित् ! एक बार वीरशिरोमणि अर्जुनने गाण्डीव धनुष और अक्षय बाणवाले दो तरकस लिये तथा भगवान् श्रीकृष्णके साथ कवच पहनकर अपने उस रथपर सवार हुए, जिसपर वानर-चिह्नसे चिह्नित ध्वजा लगी हुई थी । इसके बाद विपक्षी वीरोंका नाश करनेवाले अर्जुन उस गहन वनमें शिकार खेलने गये, जो बहुत-से सिंह, बाघ आदि भयङ्कर जानवरोंसे भरा हुआ था ॥ १३-१४ ॥ वहाँ उन्होंने बहुत-से बाघ, सूअर, भैंसे, काले हरिन, शरभ, गवय (नीलापन लिये हुए भूरे रंगका एक बड़ा हिरन), गैंडे, हरिन, खरगोश और शल्लक (साही) आदि पशुओंपर अपने बाणोंका निशाना लगाया ॥ १५ ॥

तान् निन्युः किङ्करा राज्ञे मेध्यान् पर्वण्युपागते ।
तृट्परीतः परिश्रान्तो बीभत्सुर्यमुनामगात् ॥१६॥
तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ ।
कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम् ॥१७॥
तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम् ।
पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमाम् ॥१८॥
का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतोऽसि किं चिकीर्षसि ।
मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने ॥१९॥

उनमेंसे जो यज्ञके योग्य थे, उन्हें सेवकगण पर्वका समय जानकर राजा युधिष्ठिरके पास ले गये। अर्जुन शिकार खेलते-खेलते थक गये थे। अब वे प्यास लगनेपर यमुनाजीके किनारे गये ॥ १६ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों महारथियोंने यमुनाजीमें हाथ-पैर धोकर उनका निर्मल जल पीया और देखा कि एक परमसुन्दरी कन्या वहाँ तपस्या कर रही है ॥ १७ ॥ उस श्रेष्ठ सुन्दरीकी जंघा, दाँत और मुख अत्यन्त सुन्दर थे। अपने प्रिय मित्र श्रीकृष्णके भेजनेपर अर्जुनने उसके पास जाकर पूछा—॥ १८ ॥ 'सुन्दरी! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? कहाँसे आयी हो? और क्या करना चाहती हो? मैं ऐसा समझता हूँ कि तुम अपने योग्य पति चाह रही हो। हे कल्याणि! तुम अपनी सारी बात बतलाओ' ॥ १९ ॥

कालिन्द्युवाच

अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती ।
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थिता ॥२०॥
नान्यं पतिं वृणे वीर[१] तमृते श्रीनिकेतनम्[२] ।
तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः ॥२१॥
कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले ।
निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम् ॥२२॥
तथावदद् गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम् ।
रथमारोप्य तद् विद्वान् धर्मराजमुपागमत् ॥२३॥
यदैव[३] कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम् ।
कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा ॥२४॥
भगवांस्तत्र निवसन् स्वानां प्रियचिकीर्षया ।
अग्नये खाण्डवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः ॥२५॥

कालिन्दीने कहा—'मैं भगवान् सूर्यदेवकी पुत्री हूँ। मैं सर्वश्रेष्ठ वरदानी भगवान् विष्णुको पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती हूँ और इसीलिये यह कठोर तपस्या कर रही हूँ ॥ २० ॥ वीर अर्जुन! मैं लक्ष्मीके परम आश्रय भगवान्‌को छोड़कर और किसीको अपना पति नहीं बना सकती। अनाथोंके एकमात्र सहारे, प्रेम वितरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों ॥२१॥ मेरा नाम है कालिन्दी। यमुनाजलमें मेरे पिता सूर्यने मेरे लिये एक भवन भी बनवा दिया है। उसीमें मैं रहती हूँ। जबतक भगवान्‌का दर्शन न होगा, मैं यहीं रहूँगी' ॥२२॥ अर्जुनने जाकर भगवान् श्रीकृष्णसे सारी बातें कहीं। वे तो पहलेसे ही यह सब कुछ जानते थे, अब उन्होंने कालिन्दीको अपने रथपर बैठा लिया और धर्मराज युधिष्ठिरके पास ले आये ॥ २३ ॥

इसके बाद पाण्डवोंकी प्रार्थनासे भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके रहनेके लिये एक अत्यन्त अद्भुत और विचित्र नगर विश्वकर्माके द्वारा बनवा दिया ॥ २४ ॥ भगवान् इस बार पाण्डवोंको आनन्द देनेे और उनका हित करनेके लिये वहाँ बहुत दिनोंतक रहे। इसी बीच अग्निदेवको खाण्डव-वन दिलानेके लिये वे अर्जुनके सारथी भी

१. तो वा किं। २. रमृते पुरुषमीश्वरम्। ३. यथैव।

सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद्धयाञ्छ्वेतान् रथं नृप ।
अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः ॥२६॥

बने ॥ २५ ॥ खाण्डव-वनका भोजन मिल जानेसे अग्निदेव बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने अर्जुनको गाण्डीव धनुष, चार श्वेत घोड़े, एक रथ, दो अटूट बाणोंवाले तरकस और एक ऐसा कवच दिया, जिसे कोई अस्त्र-शस्त्रधारी भेद न सके ॥ २६ ॥

मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत् ।
यस्मिन् दुर्योधनस्यासीज्जलस्थलदृशिभ्रमः ॥२७॥

खाण्डवदाहके समय अर्जुनने मय दानवको जलनेसे बचा लिया था । इसलिये उसने अर्जुनसे मित्रता करके उनके लिये एक परम अद्भुत सभा बना दी । उसी सभामें दुर्योधनको जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम हो गया था ॥ २७ ॥

स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भिश्चानुमोदितः ।
आयया[1] द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखैर्वृतः ॥२८॥

कुछ दिनोंके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी अनुमति एवं अन्य सम्बन्धियोंका अनुमोदन प्राप्त करके सात्यकि आदिके साथ द्वारका लौट आये ॥ २८ ॥

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते ।
वितन्वन् परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम् ॥२९॥

वहाँ आकर उन्होंने विवाहके योग्य ऋतु और ज्यौतिषशास्त्रके अनुसार प्रशंसित पवित्र लग्नमें कालिन्दीजीका पाणिग्रहण किया । इससे उनके स्वजन-सम्बन्धियोंको परम मङ्गल और परमानन्दकी प्राप्ति हुई ॥ २९ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ ।
स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां न्यषेधताम् ॥३०॥

अवन्ती (उज्जैन) देशके राजा थे विन्द और अनुविन्द । वे दुर्योधनके वशवर्ती तथा अनुयायी थे । उनकी बहिन मित्रविन्दाने स्वयंवरमें भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना पति बनाना चाहा । परन्तु विन्द और अनुविन्दने अपनी बहिनको रोक दिया ॥ ३० ॥

राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः ।
प्रसह्य हृतवान् कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम् ॥३१॥

परीक्षित् ! मित्रविन्दा श्रीकृष्णकी फूआ राजाधिदेवीकी कन्या थी । भगवान् श्रीकृष्ण राजाओंकी भरी सभामें उसे बलपूर्वक हर ले गये, सब लोग अपना-सा मुँह लिये देखते ही रह गये ॥ ३१ ॥

नग्नजिन्नाम कौसल्य आसीद् राजातिधार्मिकः ।
तस्य सत्याभवत् कन्या देवी नाग्नजिती नृप ॥३२॥

न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्त गोवृषान् ।
तीक्ष्णशृङ्गान् सुदुर्धर्षान् वीरगन्धासहान् खलान् ॥३३॥

परीक्षित् ! कोसलदेशके राजा थे नग्नजित् । वे अत्यन्त धार्मिक थे । उनकी परमसुन्दरी कन्याका नाम था सत्या; नग्नजित्की पुत्री होनेसे वह नाग्नजिती भी कहलाती थी । परीक्षित् ! राजाकी प्रतिज्ञाके अनुसार सात दुर्दान्त बैलोंपर विजय प्राप्त न कर सकनेके कारण कोई राजा उस कन्यासे विवाह न कर सके । क्योंकि उनके सींग बड़े तीखे थे और वे बैल किसी वीर पुरुषकी गन्ध भी नहीं सह सकते थे ॥ ३२-३३ ॥

तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवान् सात्वतां पतिः ।
जगाम कौसल्यपुरं[2] सैन्येन महता वृतः ॥३४॥

जब यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने यह समाचार सुना कि जो पुरुष उन बैलोंको जीत लेगा, उसे ही सत्या प्राप्त होगी; तब वे बहुत बड़ी सेना लेकर

१. प्रययौ । २. ल्पुरीं ।

स कोसलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः ।

अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन् प्रतिनन्दितः ॥३५॥

वरं विलोक्याभिमतं समागतं

नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम् ।

भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः

करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतैः[1]॥३६॥

यत्पादपङ्कजरजः[2] शिरसा बिभर्ति

श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालैः ।

लीलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सयेशः

काले दधत् स भगवान् मम केन तुष्येत्॥३७॥

अर्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते ।

आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः ॥३८॥

श्रीशुक उवाच

तमाह भगवान् हृष्टः[3] कृतासनपरिग्रहः ।

मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

नरेन्द्र याच्ञा कविभिर्विगर्हिता

राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः ।

तथापि याचे तव सौहृदेच्छया

कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम्॥४०॥

कोसलपुरी (अयोध्या) पहुँचे ॥३४॥ कोसलनरेश महाराज नग्नजित्‌ने बड़ी प्रसन्नतासे उनकी अगवानी की और आसन आदि देकर बहुत बड़ी पूजा-सामग्रीसे उनका सत्कार किया । भगवान् श्रीकृष्णने भी उनका बहुत-बहुत अभिनन्दन किया ॥ ३५ ॥ राजा नग्नजित्‌की कन्या सत्याने देखा कि मेरे चिर-अभिलषित रमारमण भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारे हैं; तब उसने मन-ही-मन यह अभिलाषा की कि 'यदि मैंने व्रत-नियम आदिका पालन करके इन्हींका चिन्तन किया है तो ये ही मेरे पति हों और मेरी विशुद्ध लालसाको पूर्ण करें' ॥ ३६ ॥ नाग्नजिती सत्या मन-ही-मन सोचने लगी—'भगवती लक्ष्मी, ब्रह्मा, शङ्कर और बड़े-बड़े लोकपाल जिनके पद-पङ्कजका पराग अपने सिरपर धारण करते हैं और जिन प्रभुने अपनी बनायी हुई मर्यादाका पालन करनेके लिये ही समय-समयपर अनेकों लीलावतार ग्रहण किये हैं, वे प्रभु मेरे किस धर्म, व्रत अथवा नियमसे प्रसन्न होंगे ? वे तो केवल अपनी कृपासे ही प्रसन्न हो सकते हैं' ॥३७॥ परीक्षित् ! राजा नग्नजित्‌ने भगवान् श्रीकृष्णकी विधिपूर्वक अर्चा-पूजा करके यह प्रार्थना की—'जगत्‌के एकमात्र स्वामी नारायण ! आप अपने स्वरूपभूत आनन्दसे ही परिपूर्ण हैं और मैं हूँ एक तुच्छ मनुष्य ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ३८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! राजा नग्नजित्‌का दिया हुआ आसन, पूजा आदि स्वीकार करके भगवान् श्रीकृष्ण बहुत सन्तुष्ट हुए । उन्होंने मुसकराते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीसे कहा ॥ ३९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! जो क्षत्रिय अपने धर्ममें स्थित है, उसका कुछ भी माँगना उचित नहीं । धर्मज्ञ विद्वानोंने उसके इस कर्मकी निन्दा की है । फिर भी मैं आपसे सौहार्दका—प्रेमका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये आपकी कन्या चाहता हूँ । हमारे यहाँ इसके बदलेमें कुछ शुल्क देनेकी प्रथा नहीं है ॥ ४० ॥

१. व्रतः । २. प्राचीन प्रतिमें 'यत्पादपङ्कज...' इत्यादि पूरा श्लोक 'अर्चितं पुनरित्याह...' इस पूरे श्लोकके बाद लिखा है । ३. कृष्णः ।

राजोवाच

कोऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः ।
गुणैकधाम्नो यस्याङ्गे श्रीर्वसत्यनपायिनी ॥४१॥
किं त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्वतर्षभ ।
पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीप्सया ॥४२॥
सप्तैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरवग्रहाः ।
एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः ॥४३॥
यदिमे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन ।
वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियः पते ॥४४॥
एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः ।
आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णाल्लीलयैव तान् ॥४५॥
बद्ध्वा तान् दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान् हतौजसः ।
व्यकर्षल्लीलया बद्धान् बालो दारुमयान् यथा ॥४६॥
ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः ।
तां प्रत्यगृह्णाद् भगवान् विधिवत् सदृशीं प्रभुः ॥४७॥
राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् ।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः ॥४८॥
शङ्खभेर्यानका नेदुर्गीतवाद्यद्विजाशिषः ।
नरा नार्यः प्रमुदिताः सुवासःस्रगलङ्कृताः ॥४९॥
दशधेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद् विभुः ।
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम् ॥५०॥

राजा नग्नजित्‌ने कहा—'प्रभो ! आप समस्त गुणोंके धाम हैं, एकमात्र आश्रय हैं। आपके वक्षःस्थलपर भगवती लक्ष्मी नित्य-निरन्तर निवास करती हैं। आपसे बढ़कर कन्याके लिये अभीष्ट वर भला और कौन हो सकता है ? ॥ ४१ ॥ परन्तु यदुवंशशिरोमणे ! हमने पहले ही इस विषयमें एक प्रण कर लिया है। कन्याके लिये कौन-सा वर उपयुक्त है, उसका बल-पौरुष कैसा है—इत्यादि बातें जाननेके लिये ही ऐसा किया गया है ॥ ४२ ॥ वीरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! हमारे ये सातों बैल किसीके वशमें न आनेवाले और बिना सधाये हुए हैं। इन्होंने बहुत-से राजकुमारोंके अङ्गोंको खण्डित करके उनका उत्साह तोड़ दिया है ॥ ४३ ॥ श्रीकृष्ण ! यदि इन्हें आप ही नाथ लें, अपने वशमें कर लें तो लक्ष्मीपते ! आप ही हमारी कन्याके लिये अभीष्ट वर होंगे' ॥ ४४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने राजा नग्नजित्‌का ऐसा प्रण सुनकर कमरमें फेंट कस ली और अपने सात रूप बनाकर खेल-खेलमें ही उन बैलोंको नाथ लिया ॥ ४५ ॥ इससे बैलोंका घमंड चूर हो गया और उनका बल-पौरुष भी जाता रहा। अब भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें रस्सीसे बाँधकर इस प्रकार खींचने लगे, जैसे खेलते समय नन्हा-सा बालक काठके बैलोंको घसीटता है ॥ ४६ ॥ राजा नग्नजित्‌को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णको अपनी कन्याका दान कर दिया और सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने अनुरूप पत्नी सत्याका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ॥ ४७ ॥ रानियोंने देखा कि हमारी कन्याको उसके अत्यन्त प्यारे भगवान् श्रीकृष्ण ही पतिके रूपमें प्राप्त हो गये हैं। उन्हें बड़ा आनन्द हुआ और चारों ओर बड़ा भारी उत्सव मनाया जाने लगा ॥ ४८ ॥ शङ्ख, ढोल, नगारे बजने लगे। सब ओर गाना-बजाना होने लगा। ब्राह्मण आशीर्वाद देने लगे। सुन्दर वस्त्र, पुष्पोंके हार और गहनोंसे सज-धजकर नगरके नर-नारी आनन्द मनाने लगे ॥ ४९ ॥ राजा नग्नजित्‌ने दस हजार गौएँ और तीन हजार ऐसी नवयुवती दासियाँ, जो सुन्दर वस्त्र तथा गलेमें स्वर्णहार पहने हुए थीं,

१. प्रियः पतिः ।

नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान् ।
रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान् नरान् ॥५१॥
दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ ।
स्नेहप्रक्लिन्नहृदयो यापयामास कोसलः ॥५२॥
श्रुत्वैतद् रुरुधुर्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम् ।
भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषैः पुरा ॥५३॥
तानस्यतः शरव्रातान् बन्धुप्रियकृदर्जुनः ।
गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥५४॥
पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया ।
रेमे यदूनामृषभो भगवान् देवकीसुतः ॥५५॥
श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रामुपयेमे पितृष्वसुः ।
कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां कृष्णः सन्तर्दनादिभिः ॥५६॥
सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युताम् ।
स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव ॥५७॥
अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन् सहस्रशः ।
भौमं हत्वा तन्निरोधादाहृताश्चारुदर्शनाः ॥५८॥

दहेजमें दीं । इनके साथ ही नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े और नौ अरब सेवक भी दहेजमें दिये ॥ ५०-५१ ॥ कोसलनरेश राजा नग्नजित्ने कन्या और दामादको रथपर चढ़ाकर एक बड़ी सेनाके साथ विदा किया । उस समय उनका हृदय वात्सल्य-स्नेहके उद्रेकसे द्रवित हो रहा था ॥ ५२ ॥

परीक्षित् ! यदुवंशियोंने और राजा नग्नजित्के बैलोंने पहले बहुत-से राजाओंका बल-पौरुष धूलमें मिला दिया था । जब उन राजाओंने यह समाचार सुना, तब उनसे भगवान् श्रीकृष्णकी यह विजय सहन न हुई । उन लोगोंने नाग्नजिती सत्याको लेकर जाते समय मार्गमें भगवान् श्रीकृष्णको घेर लिया ॥ ५३ ॥ और वे बड़े वेगसे उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे । उस समय पाण्डववीर अर्जुनने अपने मित्र भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिये गाण्डीव धनुष धारण करके—जैसे सिंह छोटे-मोटे पशुओंको खदेड़ दे, वैसे ही उन नरपतियोंको मार-पीटकर भगा दिया ॥ ५४ ॥ तदनन्तर यदुवंशशिरोमणि देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण उस दहेज और सत्याके साथ द्वारकामें आये और वहाँ रहकर गृहस्थोचित विहार करने लगे ॥ ५५ ॥

परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णकी फूआ श्रुतकीर्ति केकय-देशमें ब्याही गयी थीं । उनकी कन्याका नाम था भद्रा । उसके भाई सन्तर्दन आदिने उसे स्वयं ही भगवान् श्रीकृष्णको दे दिया और उन्होंने उसका पाणिग्रहण किया ॥ ५६ ॥ मद्रप्रदेशके राजाकी एक कन्या थी लक्ष्मणा । वह अत्यन्त सुलक्षणा थी । जैसे गरुड़ने स्वर्गसे अमृतका हरण किया था, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने स्वयंवरमें अकेले ही उसे हर लिया ॥ ५७ ॥

परीक्षित् ! इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी और भी सहस्रों स्त्रियाँ थीं । उन परम सुन्दरियोंको वे भौमासुरको मारकर उसके बंदीगृहसे छुड़ा लाये थे ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अष्टमहिष्युद्वाहो नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

१. व्रातैर्बन्धु० । २. प्राचीन प्रतिमें 'उत्तरार्धे' पाठ नहीं है ।

अथैकोनषष्टितमोऽध्यायः

भौमासुरका उद्धार और सोलह हजार एक सौ राजकन्याओंके साथ भगवान्‌का विवाह

राजोवाच

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः ।

निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! भगवान् श्रीकृष्णने भौमासुरको, जिसने उन स्त्रियोंको बंदीगृहमें डाल रक्खा था, क्यों और कैसे मारा? आप कृपा करके शार्ङ्ग-धनुषधारी भगवान् श्रीकृष्णका वह विचित्र चरित्र सुनाइये ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रेण हृतच्छत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना ।

हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम् ।

सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ ॥ २ ॥

गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम् ।

मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्वत आवृतम् ॥ ३ ॥

गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः ।

चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना ॥ ४ ॥

शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम् ।

प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधरः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! भौमासुरने वरुणका छत्र, माता अदितिके कुण्डल और मेरु पर्वतपर स्थित देवताओंका मणिपर्वत नामक स्थान छीन लिया था। इसपर सबके राजा इन्द्र द्वारकामें आये और उसकी एक-एक करतूत उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको सुनायी। अब भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रिय पत्नी सत्यभामाके साथ गरुडपर सवार हुए और भौमासुरकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुरमें गये ॥ २ ॥ प्राग्ज्योतिषपुरमें प्रवेश करना बहुत कठिन था। पहले तो उसके चारों ओर पहाड़ोंकी किलेबंदी थी, उसके बाद शस्त्रोंका घेरा लगाया हुआ था। फिर जलसे भरी खाईं थी, उसके बाद आग या बिजलीकी चहारदीवारी थी और उसके भीतर वायु (गैस) बंद करके रक्खा गया था। इससे भी भीतर मुर दैत्यने नगरके चारों ओर अपने दस हजार घोर एवं सुदृढ़ फंदे (जाल) बिछा रक्खे थे ॥ ३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गदाकी चोटसे पहाड़ोंको तोड़-फोड़ डाला और शस्त्रोंकी मोरचेबंदीको बाणोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया। चक्रके द्वारा अग्नि, जल और वायुकी चहारदीवारियोंको तहस-नहस कर दिया और मुर दैत्यके फंदोंको तलवारसे काट-कूटकर अलग रख दिया ॥ ४ ॥ जो बड़े-बड़े यन्त्र—मशीनें वहाँ लगी हुई थीं, उनको, तथा वीरपुरुषोंके हृदयको शङ्खनादसे विदीर्ण कर दिया और नगरके परकोटेका गदाधर भगवान्‌ने अपनी भारी गदासे ध्वंस कर डाला ॥ ५ ॥

पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम् ।

भगवान्‌के पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि प्रलयकालीन बिजलीकी कड़कके समान महाभयङ्कर थी। उसे सुनकर

१. मैः ।

मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात् ॥ ६ ॥
त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो
युगान्तसूर्यानलरोचिरुल्बणः ।
ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखै-
रभ्यद्रवत्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः ॥ ७ ॥
आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते
निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत् स पञ्चभिः ।
स रोदसी सर्वदिशोऽन्तरं महा-
नापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् ॥ ८ ॥
तदापतद् वै त्रिशिखं गरुत्मते
हरिः शराभ्यामभिनत्त्रिधौजसा ।
मुखेषु तं चापि शरैरताडयत्
तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत ॥ ९ ॥
तामापतन्तीं गदया गदां मृधे
गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा ।
उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः
शिरांसि चक्रेण जहार लीलया ॥ १० ॥
व्यसुः पपाताम्भसि कृत्तशीर्षो
निकृत्तशृङ्गोऽद्रिरिवेन्द्रतेजसा ।
तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः
प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः ॥ ११ ॥
ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसु-
र्वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः ।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे
भौमप्रयुक्ता निरगन् धृतायुधाः ॥ १२ ॥

मुर दैत्यकी नींद टूटी और वह बाहर निकल आया। उसके पाँच सिर थे और अबतक वह जलके भीतर सो रहा था ॥ ६ ॥ वह दैत्य प्रलयकालीन सूर्य और अग्निके समान प्रचण्ड तेजस्वी था। वह इतना भयङ्कर था कि उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी आसान काम नहीं था। उसने त्रिशूल उठाया और इस प्रकार भगवान्की ओर दौड़ा, जैसे साँप गरुडजीपर टूट पड़े। उस समय ऐसा मालूम होता था मानो वह अपने पाँचों मुखोंसे त्रिलोकीको निगल जायगा ॥ ७ ॥ उसने अपने त्रिशूलको बड़े वेगसे घुमाकर गरुडजीपर चलाया और फिर अपने पाँचों मुखोंसे घोर सिंहनाद करने लगा। उसके सिंहनादका महान् शब्द पृथ्वी, आकाश, पाताल और दसों दिशाओंमें फैलकर सारे ब्रह्माण्डमें भर गया ॥ ८ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मुर दैत्यका त्रिशूल गरुडकी ओर बड़े वेगसे आ रहा है। तब अपना हस्तकौशल दिखाकर फुर्तीसे उन्होंने दो बाण मारे, जिनसे वह त्रिशूल कटकर तीन टूक हो गया। इसके साथ ही मुर दैत्यके मुखोंमें भी भगवान्ने बहुत-से बाण मारे। इससे वह दैत्य अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और उसने भगवान्पर अपनी गदा चलायी ॥ ९ ॥ परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गदाके प्रहारसे मुर दैत्यकी गदाको अपने पास पहुँचनेके पहले ही चूर-चूर कर दिया। अब वह अस्त्र-हीन हो जानेके कारण अपनी भुजाएँ फैलाकर श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा और उन्होंने खेल-खेलमें ही चक्रसे उसके पाँचों सिर उतार लिये ॥ १० ॥ सिर कटते ही मुर दैत्यके प्राण-पखेरू उड़ गये और वह ठीक वैसे ही जलमें गिर पड़ा, जैसे इन्द्रके वज्रसे शिखर कट जानेपर कोई पर्वत समुद्रमें गिर पड़ा हो। मुर दैत्यके सात पुत्र थे—ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् और अरुण—ये अपने पिताकी मृत्युसे, अत्यन्त शोकाकुल हो उठे और फिर बदला लेनेके लिये क्रोधसे भरकर शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित हो गये तथा पीठ नामक दैत्यको अपना सेनापति बनाकर भौमासुरके आदेशसे श्रीकृष्णपर चढ़ आये ॥ ११-१२ ॥

१. णं। २. णम्।

प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः
शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः ।
तच्छस्त्रकूटं भगवान् स्वमार्गणै-
रमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह ॥१३॥
तान् पीठमुख्याननयद् यमक्षयं
निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्मणः ।
स्वानीकपानच्युतचक्रसायकै-
स्तथा निरस्तान् नरको धरासुतः ॥१४॥
निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदै-
र्गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत् ।
दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरि स्थितं
सूर्योपरिष्टात् सतडिद्घनं यथा ।
कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं
योधाश्च सर्वे युगपत् स विव्यधुः ॥१५॥
तद् भौमसैन्यं भगवान् गदाग्रजो
विचित्रवाजैर्निशितैः शिलीमुखैः ।
निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहं
चकार तत्रैव हताश्वकुञ्जरम् ॥१६॥
यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह ।
हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः ॥१७॥[1]
उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान् ।
गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजाः ॥१८॥
पुरमेवाविशन्नार्ता नरको युध्ययुध्यत ।
दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम् ॥१९॥

वे वहाँ आकर बड़े क्रोधसे भगवान् श्रीकृष्णपर बाण, खड्ग, गदा, शक्ति, ऋष्टि और त्रिशूल आदि प्रचण्ड शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। परीक्षित्! भगवान्‌की शक्ति अमोघ और अनन्त है। उन्होंने अपने बाणोंसे उनके कोटि-कोटि शस्त्रास्त्र तिल-तिल करके काट गिराये॥१३॥ भगवान्‌के शस्त्रप्रहारसे सेनापति पीठ और उसके साथी दैत्योंके सिर, जाँघें, भुजा, पैर और कवच कट गये और उन सभीको भगवान्‌ने यमराजके घर पहुँचा दिया। जब पृथ्वीके पुत्र नरकासुर (भौमासुर) ने देखा कि भगवान् श्रीकृष्णके चक्र और बाणोंसे हमारी सेना और सेनापतियोंका संहार हो गया, तब उसे असह्य क्रोध हुआ। वह समुद्रतटपर पैदा हुए बहुत-से मदवाले हाथियोंकी सेना लेकर नगरसे बाहर निकला। उसने देखा भगवान् श्रीकृष्ण अपनी पत्नीके साथ आकाशमें गरुडपर स्थित हैं, जैसे सूर्यके ऊपर बिजलीके साथ वर्षाकालीन श्याममेघ शोभायमान हो। भौमासुरने स्वयं भगवान्‌के ऊपर शतघ्नी नामकी शक्ति चलायी और उसके सब सैनिकोंने भी एक ही साथ उनपर अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़े॥ १४-१५॥ अब भगवान् श्रीकृष्ण भी चित्र-विचित्र पंखवाले तीखे-तीखे बाण चलाने लगे। इससे उसी समय भौमासुरके सैनिकोंकी भुजाएँ, जाँघें, गर्दन और धड़ कट-कटकर गिरने लगे; हाथी और घोड़े भी मरने लगे॥ १६॥

परीक्षित्! भौमासुरके सैनिकोंने भगवान्‌पर जो-जो अस्त्र-शस्त्र चलाये थे, उनमेंसे प्रत्येकको भगवान्‌ने तीन-तीन तीखे बाणोंसे काट गिराया॥ १७॥ उस समय भगवान् श्रीकृष्ण गरुडजीपर सवार थे और गरुडजी अपने पंखोंसे हाथियोंको मार रहे थे। उनकी चोंच, पंख और पंजोंकी मारसे हाथियोंको बड़ी पीडा हुई और वे सब-के-सब आर्त होकर युद्धभूमिसे भागकर नगरमें घुस गये। अब वहाँ अकेला भौमासुर ही लड़ता रहा। जब उसने देखा कि गरुडजीकी मारसे पीड़ित होकर मेरी सेना भाग रही है, तब उसने उनपर वह शक्ति चलायी, जिसने वज्रको भी विफल कर दिया था। परन्तु उसकी

१. प्राचीन प्रतिमें 'यानि योधैः''''कशस्त्रिभिः' इस श्लोककी जगह ऐसा पाठ है—मुक्तानि चास्त्राणि कुरुद्वहामुना तान्यच्छिनत्तीक्ष्णशरैस्त्रिभिस्त्रिभिः।

तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः ।
नाकम्पत तया विद्धो मालाहत[1] इव द्विपः ॥२०॥

शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः ।
तद्विसर्गात् पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः ।
अपाहरद् गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना ॥२१॥

सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं
बभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत् ।
हाहेति साध्वित्यृषयः सुरेश्वरा
माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे ॥२२॥

ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले
प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे ।
सवैजयन्त्या वनमालयार्पयत्
प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम् ॥२३॥

अस्तौषीदथ विश्वेशं देवी देववरार्चितम् ।
प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया ॥२४॥

भूमिरुवाच[2]

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर ।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते ॥२५॥

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२६॥

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे[3] ।

१. मालाविद्ध । २. भूरुवाच । ३. चक्रिणे ।

चोटसे पक्षिराज गरुड तनिक भी विचलित न हुए, मानो किसीने मतवाले गजराजपर फूलोंकी मालासे प्रहार किया हो ॥ १८–२० ॥ अब भौमासुरने देखा कि मेरी एक भी चाल नहीं चलती, सारे उद्योग विफल होते जा रहे हैं, तब उसने श्रीकृष्णको मार डालनेके लिये एक त्रिशूल उठाया । परन्तु उसे अभी वह छोड़ भी न पाया था कि भगवान् श्रीकृष्णने छुरेके समान तीखी धारवाले चक्रसे हाथीपर बैठे हुए भौमासुरका सिर काट डाला ॥२१॥ उसका जगमगाता हुआ सिर कुण्डल और सुन्दर किरीटके सहित पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसे देखकर भौमासुरके सगे-सम्बन्धी हाय-हाय पुकार उठे, ऋषिलोग 'साधु-साधु' कहने लगे और देवतालोग भगवान्पर पुष्पोंकी वर्षा करते हुए स्तुति करने लगे ॥ २२ ॥

अब पृथ्वी भगवान्के पास आयी । उसने भगवान् श्रीकृष्णके गलेमें वैजयन्तीके साथ वनमाला पहना दी और अदिति माताके जगमगाते हुए कुण्डल, जो तपाये हुए सोनेके एवं रत्नजटित थे, भगवान्को दे दिये तथा वरुणका छत्र और साथ ही एक महामणि भी उनको दी ॥ २३ ॥ राजन् ! इसके बाद पृथ्वीदेवी बड़े-बड़े देवताओंके द्वारा पूजित विश्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके हाथ जोड़कर भक्तिभावभरे हृदयसे उनकी स्तुति करने लगीं ॥ २४ ॥

पृथ्वीदेवीने कहा—शङ्खचक्रगदाधारी देवदेवेश्वर ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ । परमात्मन् ! आप अपने भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसीके अनुसार रूप प्रकट किया करते हैं । आपको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ २५ ॥ प्रभो ! आपकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है । आप कमलकी माला पहनते हैं । आपके नेत्र कमल-से खिले हुए और शान्तिदायक हैं । आपके चरण कमलके समान सुकुमार और भक्तोंके हृदयको शीतल करनेवाले हैं । आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ ॥ २६ ॥ आप समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, सम्पत्ति, ज्ञान और वैराग्यके आश्रय हैं । आप सर्वव्यापक होनेपर भी स्वयं वसुदेवनन्दनके रूपमें प्रकट हैं । मैं आपको नमस्कार

पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥२७॥
अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥२८॥
त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो
तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः ।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते
कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः ॥२९॥
अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो
मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि ।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं
त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ॥३०॥
तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं
भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः ।
तत् पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं
शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

इति भूम्यर्थितो वाग्भिर्भगवान् भक्तिनम्रया ।
दत्त्वाभयं भौमगृहं प्राविशत् सकलर्द्धिमत् ॥३२॥
तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम् ।
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः ॥३३॥
तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवीरं विमोहिताः ।

करती हूँ। आप ही पुरुष हैं और समस्त कारणोंके भी परम कारण हैं। आप स्वयं पूर्ण ज्ञानस्वरूप हैं। मैं आपको नमस्कार करती हूँ॥ २७॥ आप स्वयं तो हैं जन्मरहित, परन्तु इस जगत्के जन्मदाता आप ही हैं। आप ही अनन्त शक्तियोंके आश्रय ब्रह्म हैं। जगत्का जो कुछ भी कार्य-कारणमय रूप है, जितने भी प्राणी या अप्राणी हैं—सब आपके ही स्वरूप हैं। परमात्मन्! आपके चरणोंमें मेरे बार-बार नमस्कार॥ २८॥ प्रभो! जब आप जगत्की रचना करना चाहते हैं, तब उत्कट रजोगुणको, और जब इसका प्रलय करना चाहते हैं तब तमोगुणको, तथा जब इसका पालन करना चाहते हैं तब सत्त्वगुणको स्वीकार करते हैं। परन्तु यह सब करनेपर भी आप इन गुणोंसे ढकते नहीं, लिप्त नहीं होते। जगत्पते! आप स्वयं ही प्रकृति, पुरुष और दोनोंके संयोग-वियोगके हेतु काल हैं, तथा उन तीनोंसे परे भी हैं॥ २९॥ भगवन्! मैं (पृथ्वी), जल, अग्नि, वायु, आकाश, पञ्चतन्मात्राएँ, मन, इन्द्रिय और इनके अधिष्ठातृ-देवता, अहङ्कार और महत्तत्त्व—कहाँतक कहूँ, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपके अद्वितीय स्वरूपमें भ्रमके कारण ही पृथक् प्रतीत हो रहा है॥ ३०॥ शरणागत-भय-भञ्जन प्रभो! मेरे पुत्र भौमासुरका यह पुत्र भगदत्त अत्यन्त भयभीत हो रहा है। मैं इसे आपके चरणकमलोंकी शरणमें ले आयी हूँ। प्रभो! आप इसकी रक्षा कीजिये और इसके सिरपर अपना वह करकमल रखिये जो सारे जगत्के समस्त पाप-तापोंको नष्ट करनेवाला है॥ ३१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब पृथ्वीने भक्तिभावसे विनम्र होकर इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति-प्रार्थना की, तब उन्होंने भगदत्तको अभयदान दिया और भौमासुरके समस्त सम्पत्तियोंसे सम्पन्न महलमें प्रवेश किया॥ ३२॥ वहाँ जाकर भगवान्‌ने देखा कि भौमासुरने बलपूर्वक राजाओंसे सोलह हजार राजकुमारियाँ छीनकर अपने यहाँ रख छोड़ी थीं॥ ३३॥ जब उन राजकुमारियोंने अन्तःपुरमें पधारे हुए नरश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णको देखा, तब वे मोहित हो गयीं और उन्होंने उनकी

१. परावराय भूतानां। २. स्वयं।

मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम् ॥३४॥
भूयात् पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम् ।
इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः ॥३५॥
ताः प्राहिणोद् द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बराः ।
नरयानैर्महाकोशान् रथाश्वान् द्रविणं महत् ॥३६॥
ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तांस्तरस्विनः ।
पाण्डुरांश्च चतुःषष्टिं प्रेषयामास केशवः ॥३७॥
गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्त्वादित्यै च कुण्डले ।
पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः ॥३८॥
चोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति ।
आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान् निर्जित्योपानयत् पुरम् ३९
स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः ।
अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात् तद्गन्धासवलम्पटाः ॥४०॥
ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः
पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् ।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महा-
नहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् ॥४१॥
अथो मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु ताः स्त्रियः ।

अहैतुकी कृपा तथा अपना सौभाग्य समझकर मन-ही-मन भगवान्‌को अपने परम प्रियतम पतिके रूपमें वरण कर लिया ॥ ३४ ॥ उन राजकुमारियोंमेंसे प्रत्येकने अलग-अलग अपने मनमें यही निश्चय किया कि 'ये श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों और विधाता मेरी इस अभिलाषाको पूर्ण करें ।' इस प्रकार उन्होंने प्रेम-भावसे अपना हृदय भगवान्‌के प्रति निछावर कर दिया ॥ ३५ ॥ तब भगवान् श्रीकृष्णने उन राजकुमारियोंको सुन्दर-सुन्दर निर्मल वस्त्राभूषण पहनाकर पालकियोंसे द्वारका भेज दिया और उनके साथ ही बहुत-से खजाने, रथ, घोड़े तथा अतुल सम्पत्ति भी भेजी ॥ ३६ ॥ ऐरावतके वंशमें उत्पन्न हुए अत्यन्त वेगवान् चार-चार दाँतोंवाले सफेद रंगके चौसठ हाथी भी भगवान्‌ने वहाँसे द्वारका भेजे ॥ ३७ ॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अमरावतीमें स्थित देवराज इन्द्रके महलोंमें गये । वहाँ देवराज इन्द्रने अपनी पत्नी इन्द्राणीके साथ सत्यभामाजी और भगवान् श्रीकृष्ण-की पूजा की, तब भगवान्‌ने अदितिके कुण्डल उन्हें दे दिये ॥ ३८ ॥ वहाँसे लौटते समय सत्यभामाजीकी प्रेरणासे भगवान् श्रीकृष्णने कल्पवृक्ष उखाड़कर गरुडपर रख लिया और देवराज इन्द्र तथा समस्त देवताओंको जीतकर उसे द्वारकामें ले आये ॥ ३९ ॥ भगवान्‌ने उसे सत्यभामाके महलके बगीचेमें लगा दिया । इससे उस बगीचेकी शोभा अत्यन्त बढ़ गयी । कल्पवृक्षके साथ उसके गन्ध और मकरन्दके लोभी भौंरे स्वर्गसे द्वारकामें चले आये थे ॥ ४० ॥ परीक्षित् ! देखो तो सही, जब इन्द्रको अपना काम बनाना था, तब तो उन्होंने अपना सिर झुकाकर मुकुटकी नोकसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श करके उनसे सहायताकी भिक्षा माँगी थी, परन्तु जब काम बन गया, तब उन्होंने उन्हीं भगवान् श्री-कृष्णसे लड़ाई ठान ली । सचमुच ये देवता भी बड़े तमोगुणी हैं और सबसे बड़ा दोष तो उनमें धनाढ्यता-का है । धिक्कार है ऐसी धनाढ्यताको ॥ ४१ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने एक ही मुहूर्तमें अलग-अलग भवनोंमें अलग-अलग रूप धारण करके एक ही

१. कृतचेतसः ।

यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः ॥४२॥

गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृ-
न्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः ।
रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो
यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् ॥४३॥

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसङ्गमजल्पलज्जाः ॥४४॥

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यै-
र्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स दास्यम् ॥४५॥

साथ सब राजकुमारियोंका शास्त्रोक्त विधिसे पाणिग्रहण किया । सर्वशक्तिमान् अविनाशी भगवान्‌के लिये इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ॥ ४२ ॥ परीक्षित् ! भगवान्‌की पत्नियोंके अलग-अलग महलोंमें ऐसी दिव्य सामग्रियाँ भरी हुई थीं, जिनके बराबर जगत्‌में कहीं भी और कोई भी सामग्री नहीं है; फिर अधिककी तो बात ही क्या है । उन महलोंमें रहकर मति-गतिके परेकी लीला करनेवाले अविनाशी भगवान् श्रीकृष्ण अपने आत्मानन्दमें मग्न रहते हुए लक्ष्मीजीकी अंशस्वरूपा उन पत्नियोंके साथ ठीक वैसे ही विहार करते थे, जैसे कोई साधारण मनुष्य घर-गृहस्थीमें रहकर गृहस्थ-धर्मके अनुसार आचरण करता हो ॥ ४३ ॥ परीक्षित् ! ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको और उनकी प्राप्तिके मार्गको नहीं जानते । उन्हीं रमारमण भगवान् श्रीकृष्णको उन स्त्रियोंने पतिके रूपमें प्राप्त किया था । अब नित्य-निरन्तर उनके प्रेम और आनन्दकी अभिवृद्धि होती रहती थी और वे प्रेमभरी मुसकराहट, मधुर चितवन, नवसमागम, प्रेमालाप तथा भाव बढ़ानेवाली लज्जासे युक्त होकर सब प्रकारसे भगवान्‌की सेवा करती रहती थीं ॥ ४४ ॥ उनमेंसे सभी पत्नियोंके साथ सेवा करनेके लिये सैकड़ों दासियाँ रहतीं, फिर भी जब उनके महलमें भगवान् पधारते तब वे स्वयं आगे जाकर आदरपूर्वक उन्हें लिवा लातीं, श्रेष्ठ आसनपर बैठातीं, उत्तम सामग्रियोंसे पूजा करतीं, चरणकमल पखारतीं, पान लगाकर खिलातीं, पाँव दबाकर थकावट दूर करतीं, पंखा झलतीं, इत्र-फुलेल, चन्दन आदि लगातीं, फूलोंके हार पहनातीं, केश सँवारतीं, सुलातीं, स्नान करातीं और अनेक प्रकारके भोजन कराकर अपने ही हाथों भगवान्‌की सेवा करतीं ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे पारिजातहरणनरकवधो नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

१. न्धे पारिजातहरणं नरकवध एकोन० ।

अथ षष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-संवाद

श्रीशुक उवाच[1]

कर्हिचित् सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।
पतिं पर्यचरद् भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः ॥ १ ॥

यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः।
स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः ॥ २ ॥

तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना।
विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि ॥ ३ ॥

मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादितैः।
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽमलैः ॥ ४ ॥

पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना।
धूपैरगुरुजै राजन् जालरन्ध्रविनिर्गतैः ॥ ५ ॥

पयःफेननिभे शुभ्रे पर्यङ्के कशिपूत्तमे।
उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम् ॥ ६ ॥

वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात्।
तेन वीजयती देवी उपासाञ्चक्र ईश्वरम् ॥ ७ ॥

सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्यां
रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता।
वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहार-
भासा नितम्बधृतया च परार्ध्यकाञ्च्या ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक दिन समस्त जगत्के परमपिता और ज्ञानदाता भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके पलँगपर आरामसे बैठे हुए थे। भीष्मक-नन्दिनी श्रीरुक्मिणीजी सखियोंके साथ अपने पतिदेवकी सेवा कर रही थीं, उन्हें पंखा झल रही थीं ॥ १ ॥ परीक्षित्! जो सर्वशक्तिमान् भगवान् खेल-खेलमें ही इस जगत्की रचना, रक्षा और प्रलय करते हैं—वही अजन्मा प्रभु अपनी बनायी हुई धर्म-मर्यादाओंकी रक्षा करनेके लिये यदुवंशियोंमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ २ ॥ रुक्मिणीजीका महल बड़ा ही सुन्दर था। उसमें ऐसे-ऐसे चँदोवे तने हुए थे, जिनमें मोतियोंकी लड़ियोंकी झालरें लटक रही थीं। मणियोंके दीपक जगमगा रहे थे ॥ ३ ॥ बेला-चमेलीके फूल और हार महँ-महँ महक रहे थे। फूलोंपर झुंड-के-झुंड भौंरे गुंजार कर रहे थे। सुन्दर-सुन्दर झरोखों-की जालियोंमेंसे चन्द्रमाकी शुभ्र किरणें महलके भीतर छिटक रही थीं ॥ ४ ॥ उद्यानमें पारिजातके उपवनकी सुगन्ध लेकर मन्द-मन्द शीतल वायु चल रही थी। झरोखोंकी जालियोंमेंसे अगरके धूपका धूआँ बाहर निकल रहा था ॥ ५ ॥ ऐसे महलमें दूधके फेनके समान कोमल और उज्ज्वल बिछौनोंसे युक्त सुन्दर पलँगपर भगवान् श्रीकृष्ण बड़े आनन्दसे विराजमान थे और रुक्मिणीजी त्रिलोकीके स्वामीको पतिरूपमें प्राप्त करके उनकी सेवा कर रही थीं ॥ ६ ॥ रुक्मिणीजीने अपनी सखीके हाथसे वह चँवर ले लिया, जिसमें रत्नोंकी डाँडी लगी थी और परमरूपवती लक्ष्मीरूपिणी देवी रुक्मिणीजी उसे डुला-डुलाकर भगवान्की सेवा करने लगीं ॥ ७ ॥ उनके करकमलोंमें जड़ाऊ अँगूठियाँ, कंगन और चँवर शोभा पा रहे थे। चरणोंमें मणिजटित पायजेब रुनझुन-रुनझुन कर रहे थे। अञ्चलके नीचे छिपे हुए स्तनोंकी केशरकी लालिमासे हार लाल-लाल जान पड़ता था और चमक रहा था। नितम्बभागमें बहुमूल्य करधनीकी लड़ियाँ लटक रही थीं। इस प्रकार वे भगवान्के पास ही रहकर उनकी सेवामें संलग्न थीं ॥ ८ ॥

१. बादरायणिरुवाच। २. भिर्मृष्टैर्द्वि०। ३. शोऽरुणैः। ४. साप्यच्युतं।

तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य
या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा ।
प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ-
वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिराबभाषे ॥९॥

रुक्मिणीजीकी घुँघराली अलकें, कानोंके कुण्डल और गलेके स्वर्णहार अत्यन्त विलक्षण थे। उनके मुखचन्द्रसे मुसकराहटकी अमृतवर्षा हो रही थी। ये रुक्मिणीजी अलौकिक रूपलावण्यवती लक्ष्मीजी ही तो हैं। उन्होंने जब देखा कि भगवान्‌ने लीलाके लिये मनुष्यका-सा शरीर ग्रहण किया है, तब उन्होंने भी उनके अनुरूप रूप प्रकट कर दिया। भगवान् श्रीकृष्ण यह देखकर बहुत प्रसन्न हुए कि रुक्मिणीजी मेरे परायण हैं, मेरी अन्य प्रेयसी हैं। तब उन्होंने बड़े प्रेमसे मुसकराते हुए उनसे कहा ॥ ९ ॥

श्रीभगवानुवाच

राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः ।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः ॥१०॥
तान् प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन् स्मरदुर्मदान् ।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान् ॥११॥
राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रूः समुद्रं शरणं गतान् ।
बलवद्भिः कृतद्वेषान् प्रायस्त्यक्तनृपासनान् ॥१२॥
अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम् ।
आस्थिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः ॥१३॥
निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः ।
तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥१४॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजकुमारी! बड़े-बड़े नरपति, जिनके पास लोकपालोंके समान ऐश्वर्य और सम्पत्ति है, जो बड़े महानुभाव और श्रीमान् हैं तथा सुन्दरता, उदारता और बलमें भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं, तुमसे विवाह करना चाहते थे ॥ १० ॥ तुम्हारे पिता और भाई भी उन्हींके साथ तुम्हारा विवाह करना चाहते थे, यहाँतक कि उन्होंने वाग्दान भी कर दिया था। शिशुपाल आदि बड़े-बड़े वीरोंको, जो कामोन्मत्त होकर तुम्हारे याचक बन रहे थे, तुमने छोड़ दिया और मेरे-जैसे व्यक्तिको, जो किसी प्रकार तुम्हारे समान नहीं है, अपना पति स्वीकार किया। ऐसा तुमने क्यों किया? ॥ ११ ॥ सुन्दरी! देखो, हम जरासन्ध आदि राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आ बसे हैं। बड़े-बड़े बलवानोंसे हमने वैर बाँध रक्खा है और प्रायः राज-सिंहासनके अधिकारसे भी हम वञ्चित ही हैं ॥ १२ ॥ सुन्दरी! हम किस मार्गके अनुयायी हैं, हमारा कौन-सा मार्ग है, यह भी लोगोंको अच्छी तरह मालूम नहीं है। हमलोग लौकिक व्यवहारका भी ठीक-ठीक पालन नहीं करते, अनुनय-विनयके द्वारा स्त्रियोंको रिझाते भी नहीं। जो स्त्रियाँ हमारे-जैसे पुरुषोंका अनुसरण करती हैं, उन्हें प्रायः क्लेश-ही-क्लेश भोगना पड़ता है ॥ १३ ॥ सुन्दरी! हम तो सदाके अकिञ्चन हैं। न तो हमारे पास कभी कुछ था और न रहेगा। ऐसे ही अकिञ्चन लोगोंसे हम प्रेम भी करते हैं, और वे लोग भी हमसे प्रेम करते हैं। यही कारण है कि अपनेको धनी समझनेवाले लोग प्रायः हमसे प्रेम नहीं करते, हमारी सेवा नहीं

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः ।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥१५॥
वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयादीर्घसमीक्षया ।
वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा ॥१६॥
अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम् ।
येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे ॥१७॥
चैद्यशाल्वजरासन्धदन्तवक्त्रादयो नृपाः ।
मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः ॥१८॥
तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये ।
आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहरतासताम् ॥१९॥
उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः ।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः ॥२०॥

श्रीशुक[1] उवाच

एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव ।
मन्यमानामविश्लेषात् तद्दर्पघ्न उपारमत् ॥२१॥

इति त्रिलोकेशपतेस्तदाऽऽत्मनः
प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् ।
आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथु-
श्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह ॥२२॥
पदा सुजातेन नखारुणश्रिया
भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः ।

करते ॥ १४ ॥ जिनका धन, कुल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य और आय अपने समान होती है—उन्हींसे विवाह और मित्रताका सम्बन्ध करना चाहिये । जो अपनेसे श्रेष्ठ या अधम हों, उनसे नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥ विदर्भराज-कुमारी ! तुमने अपनी अदूरदर्शिताके कारण इन बातोंका विचार नहीं किया और बिना जाने-बूझे भिक्षुकोंसे मेरी झूठी प्रशंसा सुनकर मुझ गुणहीनको वरण कर लिया ॥ १६ ॥ अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है । तुम अपने अनुरूप किसी श्रेष्ठ क्षत्रियको वरण कर लो । जिसके द्वारा तुम्हारी इहलोक और परलोककी सारी आशा-अभिलाषाएँ पूरी हो सकें ॥ १७ ॥ सुन्दरी ! तुम जानती ही हो कि शिशुपाल, शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र आदि नरपति और तुम्हारा बड़ा भाई रुक्मी—सभी मुझसे द्वेष करते थे ॥ १८ ॥ कल्याणी ! वे सब बल-पौरुषके मदसे अंधे हो रहे थे, अपने सामने किसीको कुछ नहीं गिनते थे । उन दुष्टोंका मान मर्दन करनेके लिये ही मैंने तुम्हारा हरण किया था । और कोई कारण नहीं था ॥ १९ ॥ निश्चय ही हम उदासीन हैं । हम स्त्री, सन्तान और धनके लोलुप नहीं हैं । निष्क्रिय और देह-गेहसे सम्बन्धरहित दीपशिखाके समान साक्षीमात्र हैं । हम अपने आत्माके साक्षात्कारसे ही पूर्णकाम हैं । कृतकृत्य हैं ॥ २० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके क्षणभरके लिये भी अलग न होनेके कारण रुक्मिणीजीको यह अभिमान हो गया था कि मैं इनकी सबसे अधिक प्यारी हूँ । इसी गर्वकी शान्तिके लिये इतना कहकर भगवान् चुप हो गये ॥ २१ ॥ परीक्षित् ! जब रुक्मिणीजीने अपने परम प्रियतम पति त्रिलोकेश्वर भगवान्‌की यह अप्रिय वाणी सुनी—जो पहले कभी नहीं सुनी थी, तब वे अत्यन्त भयभीत हो गयीं; उनका हृदय धड़कने लगा, वे रोते-रोते चिन्ताके अगाध समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं ॥ २२ ॥ वे अपने कमलके समान कोमल और नखोंकी लालिमासे कुछ-कुछ लाल प्रतीत होनेवाले चरणोंसे धरती कुरेदने लगीं । अञ्जनसे मिले

[1] बादरायणिरुवाच ।

आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ
तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक् ॥२३॥
तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धे-
र्हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन्
रम्भेव वायुविहता प्रविकीर्य केशान् ॥२४॥
तद् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम्।
हास्यप्रौढिमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत ॥२५॥
पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः।
केशान् समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना ॥२६॥
प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा।
आश्लिष्य बाहुना राजन्ननन्यविषयां सतीम् ॥२७॥
सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः।
हास्यप्रौढिभ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम्।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याऽऽचरितमङ्गने ॥२९॥
मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम्।

हुए काले-काले आँसू केशरसे रँगे हुए वक्षःस्थलको धोने लगे। मुँह नीचेको लटक गया। अत्यन्त दुःखके कारण उनकी वाणी रुक गयी और वे ठिठकी-सी रह गयीं।२३। अत्यन्त व्यथा, भय और शोकके कारण विचारशक्ति लुप्त हो गयी, वियोगकी सम्भावनासे वे तत्क्षण इतनी दुबली हो गयीं कि उनकी कलाईका कंगनतक खिसक गया। हाथका चँवर गिर पड़ा, बुद्धिकी विकलताके कारण वे एकाएक अचेत हो गयीं, केश बिखर गये और वे वायु-वेगसे उखड़े हुए केलेके खंभेकी तरह धरतीपर गिर पड़ीं ॥ २४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरी प्रेयसी रुक्मिणीजी हास्य-विनोदकी गम्भीरता नहीं समझ रही हैं और प्रेम-पाशकी दृढ़ताके कारण उनकी यह दशा हो रही है। स्वभावसे ही परम कारुणिक भगवान् श्रीकृष्णका हृदय उनके प्रति करुणासे भर गया ॥२५॥ चार भुजाओंवाले वे भगवान् उसी समय पलँगसे उतर पड़े और रुक्मिणीजीको उठा लिया तथा उनके खुले हुए केशपाशोंको बाँधकर अपने शीतल करकमलोंसे उनका मुँह पोंछ दिया ॥ २६ ॥ भगवान्‌ने उनके नेत्रोंके आँसू और शोकके आँसुओंसे भींगे हुए स्तनोंको पोंछकर अपने प्रति अनन्य प्रेमभाव रखनेवाली उन सती रुक्मिणीजीको बाँहोंमें भरकर छातीसे लगा लिया ॥२७॥ भगवान् श्रीकृष्ण समझाने-बुझानेमें बड़े कुशल और अपने प्रेमी भक्तोंके एकमात्र आश्रय हैं। जब उन्होंने देखा कि हास्यकी गम्भीरताके कारण रुक्मिणीजीकी बुद्धि चक्करमें पड़ गयी है और वे अत्यन्त दीन हो रही हैं; तब उन्होंने इस अवस्थाके अयोग्य अपनी प्रेयसी रुक्मिणी-जीको समझाया ॥ २८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—विदर्भनन्दिनी! तुम मुझसे बुरा मत मानना। मुझसे रूठना नहीं। मैं जानता हूँ कि तुम एकमात्र मेरे ही परायण हो। मेरी प्रिय सहचरी! तुम्हारी प्रेमभरी बात सुननेके लिये ही मैंने हँसी-हँसीमें यह छलना की थी ॥ २९ ॥ मैं देखना चाहता था कि मेरे यों कहनेपर तुम्हारे लाल-लाल होठ प्रणय-कोपसे किस प्रकार फड़कने लगते हैं। तुम्हारे

१. हास्यैः प्रौढैर्भ्र०।

कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम् ॥३०॥

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।

यन्नर्मैर्नीयते याम प्रियया भीरु भामिनि ॥३१॥

कटाक्षपूर्वक देखनेसे नेत्रोंमें कैसी लाली छा जाती है और भौंहें चढ़ जानेके कारण तुम्हारा मुँह कैसा सुन्दर लगता है ॥ ३० ॥ मेरी परमप्रिये ! सुन्दरी ! घरके काम-धंधोंमें रात-दिन लगे रहनेवाले गृहस्थोंके लिये घर-गृहस्थीमें इतना ही तो परम लाभ है कि अपनी प्रिय अर्द्धाङ्गिनीके साथ हास-परिहास करते हुए कुछ घड़ियाँ सुखसे बिता ली जाती हैं ॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच

सैवं भगवता राजन् वैदर्भी परिसान्त्विता ।

ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ ॥३२॥

बभाष ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम् ।

सव्रीडहासरुचिरस्निग्धापाङ्गेन भारत ॥३३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! जब भगवान् श्रीकृष्णने अपनी प्राणप्रियाको इस प्रकार समझाया-बुझाया, तब उन्हें इस बातका विश्वास हो गया कि मेरे प्रियतमने केवल परिहासमें ही ऐसा कहा था । अब उनके हृदयसे यह भय जाता रहा कि प्यारे हमें छोड़ देंगे ॥ ३२ ॥ परीक्षित् ! अब वे सलज्ज हास्य और प्रेमपूर्ण मधुर चितवनसे पुरुषभूषण भगवान् श्रीकृष्णका मुखारविन्द निरखती हुई उनसे कहने लगीं— ॥ ३३ ॥

रुक्मिण्युवाच

नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह

यद् वै भवान् भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ।

क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः

क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा ॥३४॥

सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः

शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा ।

नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं

त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम् ॥३५॥

रुक्मिणीजीने कहा—कमलनयन ! आपका यह कहना ठीक है कि ऐश्वर्य आदि समस्त गुणोंसे युक्त, अनन्त भगवान्‌के अनुरूप मैं नहीं हूँ । आपकी समानता मैं किसी प्रकार नहीं कर सकती । कहाँ तो अपनी अखण्ड महिमामें स्थित, तीनों गुणोंके स्वामी तथा ब्रह्मा आदि देवताओंसे सेवित आप भगवान्; और कहाँ तीनों गुणोंके अनुसार स्वभाव रखनेवाली गुणमयी प्रकृति मैं, जिसकी सेवा कामनाओंके पीछे भटकनेवाले अज्ञानी लोग ही करते हैं ॥ ३४ ॥ भला, मैं आपके समान कब हो सकती हूँ । स्वामिन् ! आपका यह कहना भी ठीक ही है कि आप राजाओंके भयसे समुद्रमें आ छिपे हैं । परन्तु राजा शब्दका अर्थ पृथ्वीके राजा नहीं, तीनों गुणरूप राजा हैं । मानो आप उन्हींके भयसे अन्तःकरणरूप समुद्रमें चैतन्यघन अनुभूतिस्वरूप आत्माके रूपमें विराजमान रहते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि आप राजाओंसे वैर रखते हैं, परन्तु वे राजा कौन हैं ? यही अपनी दुष्ट इन्द्रियाँ । इनसे तो आपका वैर है ही । और प्रभो ! आप राजसिंहासनसे रहित हैं, यह भी ठीक ही है । क्योंकि आपके चरणोंकी सेवा करनेवालोंने भी राजाके पदको घोर अज्ञानान्धकार समझकर दूरसे ही दुत्कार रक्खा है । फिर आपके

त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां

वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम् ।

यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य

भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम् ॥३६॥

निष्किञ्चनो ननु भवान् न यतोऽस्ति किञ्चिद्

यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः ।

न त्वा विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धाः

प्रेष्ठो भवान् बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् ॥३७॥

त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा

यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम् ।

तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः

पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न ॥३८॥

त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव[1]

आत्माऽऽत्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि ।

लिये तो कहना ही क्या है ॥ ३५ ॥ आप कहते हैं कि हमारा मार्ग स्पष्ट नहीं है और हम लौकिक पुरुषों-जैसा आचरण भी नहीं करते; यह बात भी निस्सन्देह सत्य है। क्योंकि जो ऋषि-मुनि आपके पादपद्मोंका मकरन्द-रस सेवन करते हैं, उनका मार्ग भी अस्पष्ट रहता है और विषयोंमें उलझे हुए नरपशु उसका अनुमान भी नहीं लगा सकते। और हे अनन्त! आपके मार्गपर चलनेवाले आपके भक्तोंकी भी चेष्टाएँ जब प्रायः अलौकिक ही होती हैं, तब समस्त शक्तियों और ऐश्वर्योंके आश्रय आपकी चेष्टाएँ अलौकिक हों इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ३६ ॥ आपने अपनेको अकिञ्चन बतलाया है; परन्तु आपकी अकिञ्चनता दरिद्रता नहीं है। उसका अर्थ यह है कि आपके अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण आप ही सब कुछ हैं। आपके पास रखनेके लिये कुछ नहीं है। परन्तु जिन ब्रह्मा आदि देवताओंकी पूजा सब लोग करते हैं, भेंट देते हैं, वे ही लोग आपकी पूजा करते रहते हैं। आप उनके प्यारे हैं और वे आपके प्यारे हैं। (आपका यह कहना भी सर्वथा उचित है कि धनाढ्य लोग मेरा भजन नहीं करते;) जो लोग अपनी धनाढ्यताके अभिमानसे अंधे हो रहे हैं और इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे हैं, वे न तो आपका भजन-सेवन ही करते और न तो यह जानते हैं कि आप मृत्युके रूपमें उनके सिरपर सवार हैं ॥ ३७ ॥ जगत्‌में जीवके लिये जितने भी वाञ्छनीय पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—उन सबके रूपमें आप ही प्रकट हैं। आप समस्त वृत्तियों—प्रवृत्तियों, साधनों, सिद्धियों और साध्योंके फलस्वरूप हैं। विचारशील पुरुष आपको प्राप्त करनेके लिये सब कुछ छोड़ देते हैं। भगवन्! उन्हीं विवेकी पुरुषोंका आपके साथ सम्बन्ध होना चाहिये। जो लोग स्त्री-पुरुषके सहवाससे प्राप्त होनेवाले सुख या दुःखके वशीभूत हैं; वे कदापि आपका सम्बन्ध प्राप्त करने योग्य नहीं हैं ॥ ३८ ॥ यह ठीक है कि भिक्षुकोंने आपकी प्रशंसा की है। परन्तु किन भिक्षुकोंने? उन परमशान्त संन्यासी महात्माओंने आपकी महिमा और प्रभावका वर्णन किया है, जिन्होंने अपराधी-से-अपराधी व्यक्तिको भी दण्ड न देनेका निश्चय कर लिया है। मैंने अदूरदर्शितासे नहीं, इस बातको समझते हुए

[1] भिर्हृदि भावितात्मा ।

हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेग-

ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन् कुतोऽन्ये ३९

आपको वरण किया है कि आप सारे जगत्के आत्मा हैं और अपने प्रेमियोंको आत्मदान करते हैं। मैंने जान-बूझकर उन ब्रह्मा और देवराज इन्द्र आदिका भी इसलिये परित्याग कर दिया है कि आपकी भौंहोंके इशारेसे पैदा होनेवाला काल अपने वेगसे उनकी आशा-अभिलाषाओं-पर पानी फेर देता है। फिर दूसरोंकी—शिशुपाल, दन्तवक्त्र या जरासन्धकी तो बात ही क्या है? ॥ ३९ ॥

जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यस्तु भूपान्

विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम्।

सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून् स्वभागं

तेभ्यो भयाद् यदुदधिं शरणं प्रपन्नः ॥४०॥

यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्य-

जायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम्।

राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष

सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम्॥४१॥

कान्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्ध-

माघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्गम्।

लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य

मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः ॥४२॥

सर्वेश्वर आर्यपुत्र! आपकी यह बात किसी प्रकार युक्ति-सङ्गत नहीं मालूम होती कि आप राजाओंसे भय-भीत होकर समुद्रमें आ बसे हैं। क्योंकि आपने केवल अपने शार्ङ्गधनुषके टङ्कारसे मेरे विवाहके समय आये हुए समस्त राजाओंको भगाकर अपने चरणोंमें समर्पित मुझ दासीको उसी प्रकार हरण कर लिया, जैसे सिंह अपनी कर्कश ध्वनिसे वन-पशुओंको भगाकर अपना भाग ले आवे ॥ ४० ॥ कमलनयन! आप कैसे कहते हैं कि जो मेरा अनुसरण करता है, उसे प्रायः कष्ट ही उठाना पड़ता है। प्राचीनकालके अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि जो बड़े-बड़े राजराजेश्वर अपना-अपना एकछत्र साम्राज्य छोड़कर आपको पानेकी अभिलाषासे तपस्या करने वनमें चले गये थे, वे आपके मार्गका अनुसरण करनेके कारण क्या किसी प्रकारका कष्ट उठा रहे हैं ॥ ४१ ॥ आप कहते हैं कि तुम और किसी राज-कुमारका वरण कर लो। भगवन्! आप समस्त गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं। बड़े-बड़े संत आपके चरणकमलोंकी सुगन्धका बखान करते रहते हैं। उसका आश्रय लेने-मात्रसे लोग संसारके पाप-तापसे मुक्त हो जाते हैं। लक्ष्मी सर्वदा उन्हींमें निवास करती हैं। फिर आप बतलाइये कि अपने स्वार्थ और परमार्थको भलीभाँति समझनेवाली ऐसी कौन-सी स्त्री है, जिसे एक बार उन चरणकमलोंकी सुगन्ध सूँघनेको मिल जाय और फिर वह उनका तिरस्कार करके ऐसे लोगोंको वरण करे जो सदा मृत्यु, रोग, जन्म, जरा आदि भयोंसे युक्त हैं! कोई भी बुद्धिमती स्त्री ऐसा नहीं कर सकती ॥ ४२ ॥

१. यक्ष।

तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीश-
मात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या
यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः ॥४३॥

प्रभो ! आप सारे जगत्के एकमात्र स्वामी हैं। आप ही इस लोक और परलोकमें समस्त आशाओंको पूर्ण करनेवाले एवं आत्मा हैं। मैंने आपको अपने अनुरूप समझकर ही वरण किया है। मुझे अपने कर्मोंके अनुसार विभिन्न योनियोंमें भटकना पड़े, इसकी मुझको परवा नहीं है। मेरी एकमात्र अभिलाषा यही है कि मैं सदा अपना भजन करनेवालोंका मिथ्या संसारभ्रम निवृत्त करनेवाले तथा उन्हें अपना स्वरूपतक दे डालनेवाले आप परमेश्वरके चरणोंकी शरणमें रहूँ ॥ ४३ ॥

तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः
स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वविडालभृत्याः ।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयायाद्
युष्मत्कथा मृडविरिञ्चसभासु गीता ॥४४॥

अच्युत ! शत्रुसूदन ! गधोंके समान घरका बोझा ढोनेवाले, बैलोंके समान गृहस्थीके व्यापारोंमें जुते रहकर कष्ट उठानेवाले, कुत्तोंके समान तिरस्कार सहनेवाले, बिलावके समान कृपण और हिंसक तथा क्रीत दासोंके समान स्त्रीकी सेवा करनेवाले शिशुपाल आदि राजालोग, जिन्हें वरण करनेके लिये आपने मुझे संकेत किया है—उसी अभागिनी स्त्रीके पति हों, जिनके कानोंमें भगवान् शङ्कर, ब्रह्मा आदि देवेश्वरोंकी सभामें गायी जानेवाली आपकी लीलाकथाने प्रवेश नहीं किया है ॥ ४४ ॥

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
र्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥४५॥

यह मनुष्यका शरीर जीवित होनेपर भी मुर्दा ही है। ऊपर चमड़ी, दाढ़ी-मूँछ, रोएँ, नख और केशोंसे ढका हुआ है; परन्तु इसके भीतर मांस, हड्डी, खून, कीड़े, मल-मूत्र, कफ, पित्त और वायु भरे पड़े हैं। इसे वही मूढ़ स्त्री अपना प्रियतम पति समझकर सेवन करती है, जिसे कभी आपके चरणारविन्दके मकरन्दकी सुगन्ध सूँघनेको नहीं मिली है ॥ ४५ ॥

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन् रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः ।
यर्हस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो
मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा ॥४६

कमलनयन ! आप आत्माराम हैं। मैं सुन्दरी अथवा गुणवती हूँ, इन बातोंपर आपकी दृष्टि नहीं जाती। अतः आपका उदासीन रहना स्वाभाविक है, फिर भी आपके चरणकमलोंमें मेरा सुदृढ अनुराग हो, यही मेरी अभिलाषा है। जब आप इस संसारकी अभिवृद्धिके लिये उत्कट रजोगुण स्वीकार करके मेरी ओर देखते हैं, तब वह भी आपका परम अनुग्रह ही है ॥ ४६ ॥

नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन ।
अम्बाया इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद् रतिः क्वचित् ४७

मधुसूदन ! आपने कहा कि किसी अनुरूप वरको वरण कर लो। मैं आपकी इस बातको भी झूठ नहीं मानती। क्योंकि कभी-कभी एक पुरुषके द्वारा जीती जानेपर भी काशीनरेशकी कन्या अम्बाके समान किसी-किसीकी दूसरे पुरुषमें भी प्रीति

व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम् ।
बुधोऽसतीं न बिभृयात् तां बिभ्रदुभयच्युतः ॥४८॥

श्रीभगवानुवाच

साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रि प्रलम्भिता ।
मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत् सत्यमेव हि ॥४९॥
यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय भामिनि ।[1]
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा ॥५०॥
उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे ।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता ॥५१॥
ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया ।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया ॥५२॥[2]
मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं
वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम् ।
ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां
मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः ॥५३॥
दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया
कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः ।

रहती है ॥ ४७ ॥ कुलटा स्त्रीका मन तो विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषोंकी ओर खिंचता रहता है । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह ऐसी कुलटा स्त्रीको अपने पास न रक्खे । उसे अपनानेवाला पुरुष लोक और परलोक दोनों खो बैठता है, उभयभ्रष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—साध्वी ! राजकुमारी ! यही बातें सुननेके लिये तो मैंने तुमसे हँसी-हँसीमें तुम्हारी वञ्चना की थी, तुम्हें छकाया था । तुमने मेरे वचनोंकी जैसी व्याख्या की है, वह अक्षरशः सत्य है ॥ ४९ ॥ सुन्दरी ! तुम मेरी अनन्य प्रेयसी हो । मेरे प्रति तुम्हारा अनन्य प्रेम है । तुम मुझसे जो-जो अभिलाषाएँ करती हो, वे तो तुम्हें सदा-सर्वदा प्राप्त ही हैं । और यह बात भी है कि मुझसे की हुई अभिलाषाएँ सांसारिक कामनाओंके समान बन्धनमें डालनेवाली नहीं होतीं, बल्कि वे समस्त कामनाओंसे मुक्त कर देती हैं ॥ ५० ॥ पुण्यमयी प्रिये ! मैंने तुम्हारा पतिप्रेम और पातिव्रत्य भी भलीभाँति देख लिया । मैंने उलटी-सीधी बात कह-कहकर तुम्हें विचलित करना चाहा था; परन्तु तुम्हारी बुद्धि मुझसे तनिक भी इधर-उधर न हुई ॥ ५१ ॥ प्रिये ! मैं मोक्षका स्वामी हूँ । लोगोंको संसार-सागरसे पार करता हूँ । जो सकाम पुरुष अनेक प्रकारके व्रत और तपस्या करके दाम्पत्य-जीवनके विषय-सुखकी अभिलाषासे मेरा भजन करते हैं, वे मेरी मायासे मोहित हैं ॥ ५२ ॥ मानिनी प्रिये ! मैं मोक्ष तथा सम्पूर्ण सम्पदाओंका आश्रय हूँ, अधीश्वर हूँ । मुझ परमात्माको प्राप्त करके भी जो लोग केवल विषय-सुखके साधन-सम्पत्तिकी ही अभिलाषा करते हैं, मेरी पराभक्ति नहीं चाहते, वे बड़े मन्दभागी हैं, क्योंकि विषयसुख तो नरकमें और नरकके ही समान सूकर-कूकर आदि योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं । परन्तु उन लोगोंका मन तो विषयोंमें ही लगा रहता है, इसलिये उन्हें नरकमें जाना भी अच्छा जान पड़ता है ॥ ५३ ॥ गृहेश्वरी प्राणप्रिये ! यह बड़े आनन्दकी बात है कि तुमने अबतक निरन्तर संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाली मेरी सेवा की है । दुष्ट पुरुष ऐसा कभी नहीं कर

१. यं यं कामयसे कामं म० । २. मायया हि मे ।

सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो
ह्यसुम्भराया निकृतिञ्जुषः स्त्रियाः ॥५४॥
न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु
पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले ।
प्राप्तान् नृपानवगणय्य रहोहरो मे
प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥५५॥
भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य
प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम् ।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या
नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ॥५६॥
दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविविक्तमन्त्रः
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् ।
मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं
तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ॥५७॥

श्रीशुक उवाच

एवं सौरतसंलापैर्भगवाञ्जगदीश्वरः ।
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन् ॥५८॥
तथान्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव ।
आस्थितो गृहमेधीयान् धर्माँल्लोकगुरुर्हरिः ॥५९॥

सकते । जिन स्त्रियोंका चित्त दूषित कामनाओंसे भरा हुआ है और जो अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही लगी रहनेके कारण अनेकों प्रकारके छल-छन्द रचती रहती हैं, उनके लिये तो ऐसा करना और भी कठिन है ॥ ५४ ॥ मानिनि ! मुझे अपने घरभरमें तुम्हारे समान प्रेम करनेवाली भार्या और कोई दिखायी नहीं देती । क्योंकि जिस समय तुमने मुझे देखा न था, केवल मेरी प्रशंसा सुनी थी, उस समय भी अपने विवाहमें आये हुए राजाओंकी उपेक्षा करके ब्राह्मणके द्वारा मेरे पास गुप्त सन्देश भेजा था ॥ ५५ ॥ तुम्हारा हरण करते समय मैंने तुम्हारे भाईको युद्धमें जीतकर उसे विरूप कर दिया था और अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें चौसर खेलते समय बलरामजीने तो उसे मार ही डाला । किन्तु हमसे वियोग हो जानेकी आशङ्कासे तुमने चुपचाप वह सारा दुःख सह लिया । मुझसे एक बात भी नहीं कही । तुम्हारे इस गुणसे मैं तुम्हारे वश हो गया हूँ ॥ ५६ ॥ तुमने मेरी प्राप्तिके लिये दूतके द्वारा अपना गुप्त सन्देश भेजा था; परन्तु जब तुमने मेरे पहुँचनेमें कुछ विलम्ब होता देखा; तब तुम्हें यह सारा संसार सूना दीखने लगा । उस समय तुमने अपना यह सर्वाङ्गसुन्दर शरीर किसी दूसरेके योग्य न समझकर इसे छोड़नेका सङ्कल्प कर लिया था । तुम्हारा यह प्रेमभाव तुम्हारे ही अंदर रहे । हम इसका बदला नहीं चुका सकते । तुम्हारे इस सर्वोच्च प्रेम-भावका केवल अभिनन्दन करते हैं ॥ ५७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं । वे जब मनुष्योंकी-सी लीला कर रहे हैं, तब उसमें दाम्पत्य-प्रेमको बढ़ानेवाले विनोदभरे वार्तालाप भी करते हैं और इस प्रकार लक्ष्मी-रूपिणी रुक्मिणीजीके साथ विहार करते हैं ॥ ५८ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जगत्‌को शिक्षा देनेवाले और सर्वव्यापक हैं । वे इसी प्रकार दूसरी पत्नियोंके महलोंमें भी गृहस्थोंके समान रहते और गृहस्थोचित धर्मका पालन करते थे ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे[1] कृष्णरुक्मिणीसंवादो नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

१. प्राचीन प्रतिमें यहाँ 'उत्तरार्धे' इतना अंश नहीं है ।

अथैकषष्टितमोऽध्यायः

भगवान्‌की सन्ततिका वर्णन तथा अनिरुद्धके विवाहमें रुक्मीका मारा जाना

श्रीशुक उवाच

एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान् दश दशाबलाः ।
अजीजनन्ननवमान्पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥ १ ॥

गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।
प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वं न तत्तत्त्वविदः[1] स्त्रियः ॥ २ ॥

चार्वब्जकोशवदनायतबाहुनेत्र-
सप्रेमहासरसविक्षितवल्गुजल्पैः ।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं
स्वैर्विभ्रमैः समशकन् वनिता विभूम्नः ॥ ३ ॥

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः ॥ ४ ॥

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसङ्गमलालसाद्यम् ॥ ५ ॥

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णकी प्रत्येक पत्नीके गर्भसे दस-दस पुत्र उत्पन्न हुए । वे रूप, बल आदि गुणोंमें अपने पिता भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम न थे ॥ १ ॥ राजकुमारियाँ देखतीं कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारे महलसे कभी बाहर नहीं जाते । सदा हमारे ही पास बने रहते हैं । इससे वे यही समझतीं कि श्रीकृष्णको मैं ही सबसे प्यारी हूँ । परीक्षित् ! सच पूछो तो वे अपने पति भगवान् श्रीकृष्णका तत्त्व—उनकी महिमा नहीं समझती थीं ॥ २ ॥ वे सुन्दरियाँ अपने आत्मानन्दमें एकरस स्थित भगवान् श्रीकृष्णके कमल-कलीके समान सुन्दर मुख, विशाल बाहु, कर्णस्पर्शी नेत्र, प्रेमभरी मुसकान, रसमयी चितवन और मधुर वाणीसे स्वयं ही मोहित रहती थीं । वे अपने शृङ्गारसम्बन्धी हावभावोंसे उनके मनको अपनी ओर खींचनेमें समर्थ न हो सकीं ॥ ३ ॥ वे सोलह हजारसे अधिक थीं । अपनी मन्द-मन्द मुसकान और तिरछी चितवनसे युक्त मनोहर भौंहोंके इशारेसे ऐसे प्रेमके बाण चलाती थीं, जो काम-कलाके भावोंसे परिपूर्ण होते थे । परन्तु किसी भी प्रकारसे, किन्हीं साधनोंके द्वारा वे भगवान्‌के मन एवं इन्द्रियोंमें चञ्चलता नहीं उत्पन्न कर सकीं ॥ ४ ॥ परीक्षित् ! ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता भी भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको या उनकी प्राप्तिके मार्गको नहीं जानते । उन्हीं रमारमण भगवान् श्रीकृष्णको उन स्त्रियोंने पतिके रूपमें प्राप्त किया था ! अब नित्य-निरन्तर उनके प्रेम और आनन्दकी अभिवृद्धि होती रहती थी और वे प्रेम भरी मुसकराहट, मधुर चितवन, नवसमागमकी लालसा आदिसे भगवान्‌की सेवा करती रहती थीं ॥ ५ ॥ उनमेंसे सभी पत्नियोंके साथ सेवा करनेके लिये सैकड़ों दासियाँ रहतीं । फिर भी जब उनके महलमें भगवान् पधारते तब वे स्वयं आगे जाकर आदरपूर्वक उन्हें लिवा लातीं, श्रेष्ठ आसनपर बैठातीं, उत्तम सामग्रियोंसे उनकी पूजा

[1] तात्मानं न तु तत्त्वविदः ।

केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यैः-

दासीशता अपि विभोर्विदधुः स दास्यम् ॥ ६ ॥

तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् गृणामि ते॥ ७ ॥
चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्यवान्।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः ॥ ८ ॥
चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः ॥ ९ ॥
भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा।
चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः ॥१०॥
श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश।
साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित् ॥११॥
विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान् द्रविडः क्रतुः।
जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसंमताः॥१२॥
वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान् वृषः।
आमः शङ्कुर्वसुः श्रीमान् कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः॥१३॥
श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः॥१४॥
प्रघोषो गात्रवान्सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः।
माद्र्याः पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः॥१५॥
वृको हर्षोऽनिलो गृध्रो वर्धनोऽन्नाद एव च।
महाशः पावनो वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः ॥१६॥
संग्रामजिद् बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित्।
जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः ॥१७॥
दीप्तिमांस्ताम्रतप्ताद्या रोहिण्यास्तनया हरेः।
प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूद्रुक्मवत्यां महाबलः ॥१८॥

करतीं, चरणकमल पखारतीं, पान लगाकर खिलातीं, पाँव दबाकर थकावट दूर करतीं, पंखा झलतीं, इत्र-फुलेल, चन्दन आदि लगातीं, फूलोंके हार पहनातीं, केश सँवारतीं, सुलातीं, स्नान करातीं और अनेक प्रकारके भोजन कराकर अपने हाथों भगवान्‌की सेवा करतीं ॥ ६ ॥

परीक्षित्! मैं कह चुका हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णकी प्रत्येक पत्नीके दस-दस पुत्र थे। उन रानियोंमें आठ पटरानियाँ थीं, जिनके विवाहका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। अब उनके प्रद्युम्न आदि पुत्रोंका वर्णन करता हूँ ॥ ७ ॥ रुक्मिणीके गर्भसे दस पुत्र हुए—प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, पराक्रमी चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु और दसवाँ चारु। ये अपने पिता भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम न थे ॥ ८-९ ॥ सत्यभामाके भी दस पुत्र थे—भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु, भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु, अतिभानु, श्रीभानु और प्रतिभानु। जाम्बवतीके भी साम्ब आदि दस पुत्र थे—साम्ब, सुमित्र, पुरुजित्, शतजित्, सहस्रजित्, विजय, चित्रकेतु वसुमान्, द्रविड और क्रतु। ये सब श्रीकृष्णको बहुत प्यारे थे ॥ १०–१२ ॥ नाग्नजिती सत्याके भी दस पुत्र हुए—वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगु, वेगवान्, वृष, आम, शङ्कु, वसु और परम तेजस्वी कुन्ति ॥ १३ ॥ कालिन्दीके दस पुत्र ये थे—श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्र, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सबसे छोटा सोमक ॥ १४ ॥ मद्रदेशकी राजकुमारी लक्ष्मणाके गर्भसे प्रघोष, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह, ओज और अपराजित-का जन्म हुआ ॥ १५ ॥ मित्रविन्दाके पुत्र थे—वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धन, अन्नाद, महाश, पावन, वह्नि और क्षुधि ॥ १६ ॥ भद्राके पुत्र थे—संग्रामजित्, बृहत्सेन, शूर, प्रहरण, अरिजित्, जय, सुभद्र, वाम, आयु और सत्यक ॥ १७ ॥ इन पटरानियोंके अतिरिक्त भगवान्‌की रोहिणी आदि सोलह हजार एक सौ और भी पत्नियाँ थीं। उनके दीप्तिमान् और ताम्रतप्त आदि दस-दस पुत्र हुए। रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नका मायावती

१. आर्ता। २. दीप्तिश्च। ३. पितृवत्सलाः। ४. चारुचन्द्रोऽश्वसेनश्च। ५. पत्राद्याः।

पुत्र्यां तु रुक्मिणो राजन् नाम्ना भोजकटे पुरे।
एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप।
मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश ॥१९॥

रतिके अतिरिक्त भोजकट-नगरनिवासी रुक्मीकी पुत्री रुक्मवतीसे भी विवाह हुआ था। उसीके गर्भसे परम बलशाली अनिरुद्धका जन्म हुआ। परीक्षित्! श्रीकृष्णके पुत्रोंकी माताएँ ही सोलह हजारसे अधिक थीं। इसलिये उनके पुत्र-पौत्रोंकी संख्या करोड़ोंतक पहुँच गयी ॥ १८-१९ ॥

राजोवाच

कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद् दुहितरं युधि।
कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते।
एतदाख्याहि मे विद्वन् द्विषोर्वैवाहिकं मिथः ॥२०॥
अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ॥२१॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—परम ज्ञानी मुनीश्वर! भगवान् श्रीकृष्णने रणभूमिमें रुक्मीका बड़ा तिरस्कार किया था। इसलिये वह सदा इस बातकी घातमें रहता था कि अवसर मिलते ही श्रीकृष्णसे उसका बदला लूँ और उनका काम तमाम कर डालूँ। ऐसी स्थितिमें उसने अपनी कन्या रुक्मवती अपने शत्रुके पुत्र प्रद्युम्नजीको कैसे ब्याह दी? कृपा करके बतलाइये! दो शत्रुओंमें—श्रीकृष्ण और रुक्मीमें फिरसे परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध कैसे हुआ? ॥ २० ॥ आपसे कोई बात छिपी नहीं है। क्योंकि योगीजन भूत, भविष्य और वर्तमानकी सभी बातें भलीभाँति जानते हैं! उनसे ऐसी बातें भी छिपी नहीं रहतीं; जो इन्द्रियोंसे परे हैं, बहुत दूर हैं अथवा बीचमें किसी वस्तुकी आड़ होनेके कारण नहीं दीखतीं ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

वृतः[1] स्वयंवरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तया।
राज्ञः समेतान् निर्जित्य जहारैकरथो युधि ॥२२॥
यद्यप्यनुस्मरन् वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः।
व्यतरद् भागिनेयाय सुतां कुर्वन् स्वसुः प्रियम् ॥२३॥
रुक्मिण्यास्तनयां राजन् कृतवर्मसुतो बली।
उपयेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल ॥२४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! प्रद्युम्नजी मूर्तिमान् कामदेव थे। उनके सौन्दर्य और गुणोंपर रीझकर रुक्मवतीने स्वयंवरमें उन्हींको वरमाला पहना दी। प्रद्युम्नजीने युद्धमें अकेले ही वहाँ इकट्ठे हुए नरपतियोंको जीत लिया और रुक्मवतीको हर लाये॥२२॥यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णसे अपमानित होनेके कारण रुक्मीके हृदयकी क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई थी, वह अब भी उनसे वैर गाँठे हुए था, फिर भी अपनी बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिये उसने अपने भानजे प्रद्युम्नको अपनी बेटी ब्याह दी ॥ २३ ॥ परीक्षित्! दस पुत्रोंके अतिरिक्त रुक्मिणीजीके एक परम सुन्दरी बड़े-बड़े नेत्रोंवाली कन्या थी। उसका नाम था चारुमती। कृतवर्माके पुत्र बलीने उसके साथ विवाह किया ॥ २४ ॥

१. तोऽसौ। २. प्राचीन प्रतिमें 'वृतः स्वयंवरे······रथो युधि' यह श्लोक 'यद्यप्यनुस्मरन्···' इस तेईसवें श्लोकके बाद है।

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः ।
रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
जानन्नधर्मं तद् यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः ॥२५॥
तस्मिन्नभ्युदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ ।
पुरं भोजकटं जग्मुः साम्बप्रद्युम्नकादयः ॥२६॥
तस्मिन् निवृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः ।
दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय ॥२७॥
अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत् ।
इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत ॥२८॥
शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणम् ।
तं तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिङ्गः प्राहसद् बलम् ।
दन्तान् सन्दर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत्तद्धलायुधः ॥२९॥
ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद् ग्लहं तत्राजयद् बलः ।
जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः ॥३०॥
मन्युना क्षुभितः श्रीमान् समुद्र इव पर्वणि ।
जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमाददे ॥३१॥
तं चापि जितवान् रामो धर्मेणच्छलमाश्रितः ।
रुक्मी जितं मयात्रेमे वदन्तु[1] प्राश्निका इति ॥३२॥
तदाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः ।

परीक्षित् ! रुक्मीका भगवान् श्रीकृष्णके साथ पुराना वैर था । फिर भी अपनी बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिये उसने अपनी पौत्री रोचनाका विवाह रुक्मिणीके पौत्र, अपने नाती (दौहित्र) अनिरुद्धके साथ कर दिया । यद्यपि रुक्मीको इस बातका पता था कि इस प्रकारका विवाह-सम्बन्ध धर्मके अनुकूल नहीं है, फिर भी स्नेह-बन्धनमें बँधकर उसने ऐसा कर दिया ॥ २५ ॥ परीक्षित् ! अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण, बलरामजी, रुक्मिणीजी, प्रद्युम्न, साम्ब आदि द्वारकावासी भोजकट नगरमें पधारे ॥ २६ ॥ जब विवाहोत्सव निर्विघ्न समाप्त हो गया, तब कलिङ्गनरेश आदि घमंडी नरपतियोंने रुक्मीसे कहा कि 'तुम बलरामजीको पासोंके खेलमें जीत लो ॥ २७ ॥ राजन् ! बलरामजीको पासे डालने तो आते नहीं, परन्तु उन्हें खेलनेका बहुत बड़ा व्यसन है ।' उन लोगोंके बहकानेसे रुक्मीने बलरामजीको बुलवाया और वह उनके साथ चौसर खेलने लगा ॥२८॥ बलरामजीने पहले सौ, फिर हजार और इसके बाद दस हजार मुहरोंका दाँव लगाया । उन्हें रुक्मीने जीत लिया । रुक्मीकी जीत होनेपर कलिङ्गनरेश दाँत दिखा-दिखाकर, ठहाका मार-कर बलरामजीकी हँसी उड़ाने लगा । बलरामजीसे वह हँसी सहन न हुई । वे कुछ चिढ़ गये ॥२९॥ इसके बाद रुक्मीने एक लाख मुहरोंका दाँव लगाया । उसे बलरामजीने जीत लिया । परन्तु रुक्मी धूर्ततासे यह कहने लगा कि 'मैंने जीता है' ॥ ३० ॥ इसपर श्रीमान् बलरामजी क्रोधसे तिलमिला उठे । उनके हृदयमें इतना क्षोभ हुआ, मानो पूर्णिमाके दिन समुद्रमें ज्वार आ गया हो । उनके नेत्र एक तो स्वभावसे ही लाल-लाल थे, दूसरे अत्यन्त क्रोधके मारे वे और भी दहक उठे । अब उन्होंने दस करोड़ मुहरोंका दाँव रक्खा ॥ ३१ ॥ इस बार भी द्यूतनियमके अनुसार बलरामजीकी ही जीत हुई । परन्तु रुक्मीने छल करके कहा—'मेरी जीत है । इस विषयके विशेषज्ञ कलिङ्गनरेश आदि सभासद् इसका निर्णय कर दें' ॥ ३२ ॥ उस समय आकाशवाणीने कहा—'यदि धर्मपूर्वक कहा जाय, तो बलरामजीने ही यह दाँव जीता

[1] ब्रुवन्तु ।

धर्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा ॥३३॥
तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः ।
सङ्कर्षणं परिहसन् बभाषे कालचोदितः ॥३४॥
नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः ।
अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः ॥३५॥
रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः ।
क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृम्णसंसदि ॥३६॥
कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे ।
दन्तानपातयत् क्रुद्धो योऽहसद् विवृतैर्द्विजैः ॥३७॥
अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः ।
राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः ॥३८॥
निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवीत् साध्वसाधु वा ।
रुक्मिणीबलयो राजन् स्नेहभङ्गभयाद्धरिः ॥३९॥
ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं
रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम् ।
रामादयो भोजकटाद् दशार्हाः
सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः ॥४०॥

है। रुक्मीका यह कहना सरासर झूठ है कि उसने जीता है' ॥३३॥ एक तो रुक्मीके सिरपर मौत सवार थी और दूसरे उसके साथी दुष्ट राजाओंने भी उसे उभाड़ रक्खा था। इससे उसने आकाशवाणीपर कोई ध्यान न दिया और बलरामजीकी हँसी उड़ाते हुए कहा—॥३४॥ 'बलरामजी! आखिर आपलोग वन-वन भटकनेवाले ग्वाले ही तो ठहरे! आप पासा खेलना क्या जानें? पासों और बाणोंसे तो केवल राजालोग ही खेला करते हैं, आप-जैसे नहीं' ॥३५॥ रुक्मीके इस प्रकार आक्षेप और राजाओंके उपहास करनेपर बलरामजी क्रोधसे आगबबूला हो उठे। उन्होंने एक मुद्‌गर उठाया और उस माङ्गलिक सभामें ही रुक्मीको मार डाला ॥३६॥ पहले कलिङ्गनरेश दाँत दिखा-दिखाकर हँसता था, अब रंगमें भंग देखकर वहाँसे भागा; परन्तु बलरामजीने दस ही कदमपर उसे पकड़ लिया और क्रोधसे उसके दाँत तोड़ डाले ॥३७॥ बलरामजीने अपने मुद्‌गरकी चोटसे दूसरे राजाओंकी भी बाँह, जाँघ और सिर आदि तोड़-फोड़ डाले। वे खूनसे लथपथ और भयभीत होकर वहाँसे भागते बने ॥ ३८ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचकर कि बलरामजीका समर्थन करनेसे रुक्मिणीजी अप्रसन्न होंगी और रुक्मीके वधको बुरा बतलानेसे बलरामजी रुष्ट होंगे, अपने साले रुक्मीकी मृत्युपर भला-बुरा कुछ भी न कहा ॥ ३९ ॥ इसके बाद अनिरुद्धजीका विवाह और शत्रुका वध दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर भगवान्‌के आश्रित बलरामजी आदि यदुवंशी नवविवाहिता दुलहिन रोचनाके साथ अनिरुद्धजीको श्रेष्ठ रथपर चढ़ाकर भोजकट नगरसे द्वारकापुरीको चले आये ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अनिरुद्धविवाहे रुक्मिवधो नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः

ऊषा-अनिरुद्ध-मिलन

राजोवाच

बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—महायोगसम्पन्न मुनीश्वर! मैंने सुना है कि यदुवंशशिरोमणि अनिरुद्धजीने बाणासुर-

१. तातं कुसंसदि। २. न्वे एकषष्टि०।

तत्र युद्धमभूद् घोरं हरिशङ्करयोर्महत् ।
एतत् सर्वं महायोगिन् समाख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १ ॥

की पुत्री ऊषासे विवाह किया था और इस प्रसङ्गमें भगवान् श्रीकृष्ण और शङ्करजीका बहुत बड़ा घमासान युद्ध हुआ था। आप कृपा करके यह वृत्तान्त विस्तारसे सुनाइये ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः ।
येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी ॥ २ ॥
तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा ।
मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ॥ ३ ॥
शोणिताख्ये पुरे रम्ये स राज्यमकरोत् पुरा ।
तस्य शम्भोः प्रसादेन किङ्करा इव तेऽमराः ।
सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ॥ ४ ॥
भगवान् सर्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
वरेणच्छन्दयामास स तं वव्रे पुराधिपम् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! महात्मा बलिकी कथा तो तुम सुन ही चुके हो। उन्होंने वामनरूपधारी भगवान्‌को सारी पृथ्वीका दान कर दिया था। उनके सौ लड़के थे। उनमें सबसे बड़ा था बाणासुर ॥२॥ दैत्यराज बलिका औरस पुत्र बाणासुर भगवान् शिवकी भक्तिमें सदा रत रहता था। समाजमें उसका बड़ा आदर था। उसकी उदारता और बुद्धिमत्ता प्रशंसनीय थी। उसकी प्रतिज्ञा अटल होती थी और सचमुच वह बातका धनी था ॥ ३ ॥ उन दिनों वह परम रमणीय शोणितपुरमें राज्य करता था। भगवान् शङ्करकी कृपासे इन्द्रादि देवता नौकर-चाकरकी तरह उसकी सेवा करते थे। उसके हजार भुजाएँ थीं। एक दिन जब भगवान् शङ्कर ताण्डवनृत्य कर रहे थे, तब उसने अपने हजार हाथोंसे अनेकों प्रकारके बाजे बजाकर उन्हें प्रसन्न कर लिया ॥४॥ सचमुच भगवान् शङ्कर बड़े ही भक्तवत्सल और शरणागतरक्षक हैं। समस्त भूतोंके एकमात्र स्वामी प्रभुने बाणासुरसे कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो।' बाणासुरने कहा—'भगवन्! आप मेरे नगरकी रक्षा करते हुए यहीं रहा करें' ॥ ५ ॥

स एकदाऽऽह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्यदुर्मदः ।
किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम् ॥ ६ ॥
नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम् ।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥ ७ ॥
दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत् ।
त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते समम् ॥ ८ ॥

एक दिन बल-पौरुषके घमंडमें चूर बाणासुरने अपने समीप ही स्थित भगवान् शङ्करके चरणकमलोंको सूर्यके समान चमकीले मुकुटसे छूकर प्रणाम किया और कहा—॥ ६ ॥ 'देवाधिदेव! आप समस्त चराचर जगत्‌के गुरु और ईश्वर हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। जिन लोगोंके मनोरथ अबतक पूरे नहीं हुए हैं, उनको पूर्ण करनेके लिये आप कल्पवृक्ष हैं ॥७॥ भगवन्! आपने मुझे एक हजार भुजाएँ दी हैं, परन्तु वे मेरे लिये केवल भाररूप हो रही हैं। क्योंकि त्रिलोकीमें आपको छोड़कर मुझे अपनी बराबरीका कोई वीर-योद्धा ही नहीं मिलता,

१. हावलः ।

कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम् ।
आद्यायां चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धः केतुस्ते भज्यते यदा ।
त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते ॥१०॥
इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप ।
प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं कुधीः ॥११॥
तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् ।
कन्यालभत कान्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन सा ॥१२॥
सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी ।
सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम्॥१३॥
बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता ।
सख्यपृच्छत् सखीमूषां कौतूहलसमन्विता ॥१४॥
कं त्वं मृगयसे सुभ्रूः कीदृशस्ते मनोरथः ।
हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये ॥१५॥

उषोवाच

दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने श्यामः कमललोचनः ।
पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः ॥१६॥

जो मुझसे लड़ सके ॥ ८ ॥ आदिदेव ! एक बार मेरी बाँहोंमें लड़नेके लिये इतनी खुजलाहट हुई कि मैं दिग्गजोंकी ओर चला । परन्तु वे भी डरके मारे भाग खड़े हुए । उस समय मार्गमें अपनी बाँहोंकी चोटसे मैंने बहुत-से पहाड़ोंको तोड़-फोड़ डाला था' ॥ ९ ॥ बाणासुरकी यह प्रार्थना सुनकर भगवान् शङ्करने तनिक क्रोधसे कहा—'रे मूढ ! जिस समय तेरी ध्वजा टूटकर गिर जायगी, उस समय मेरे ही समान योद्धासे तेरा युद्ध होगा और वह युद्ध तेरा घमंड चूर-चूर कर देगा' ॥१०॥ परीक्षित् ! बाणासुरकी बुद्धि इतनी बिगड़ गयी थी कि भगवान् शङ्करकी बात सुनकर उसे बड़ा हर्ष हुआ और वह अपने घर लौट गया । अब वह मूर्ख भगवान् शङ्करके आदेशानुसार उस युद्धकी प्रतीक्षा करने लगा, जिसमें उसके बल-वीर्यका नाश होनेवाला था ॥ ११ ॥

परीक्षित् ! बाणासुरकी एक कन्या थी, उसका नाम था ऊषा । अभी वह कुमारी ही थी कि एक दिन स्वप्नमें उसने देखा कि 'परम सुन्दर अनिरुद्धजीके साथ मेरा समागम हो रहा है ।' आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उसने अनिरुद्धजीको न तो कभी देखा था और न सुना ही था ॥ १२ ॥ स्वप्नमें ही उन्हें न देखकर वह बोल उठी—'प्राणप्यारे ! तुम कहाँ हो ?' और उसकी नींद टूट गयी । वह अत्यन्त विह्वलताके साथ उठ बैठी और यह देखकर कि मैं सखियोंके बीचमें हूँ, बहुत ही लज्जित हुई ॥ १३ ॥ परीक्षित् ! बाणासुरके मन्त्रीका नाम था कुम्भाण्ड । उसकी एक कन्या थी, जिसका नाम था चित्रलेखा । ऊषा और चित्रलेखा एक-दूसरेकी सहेलियाँ थीं । चित्रलेखाने ऊषासे कौतूहलवश पूछा—॥ १४ ॥ 'सुन्दरी ! राजकुमारी ! मैं देखती हूँ कि अभीतक किसीने तुम्हारा पाणिग्रहण भी नहीं किया है । फिर तुम किसे ढूँढ़ रही हो और तुम्हारे मनोरथका क्या स्वरूप है ?' ॥ १५ ॥

ऊषाने कहा—सखी ! मैंने स्वप्नमें एक बहुत ही सुन्दर नवयुवकको देखा है । उसके शरीरका रंग साँवला-साँवला-सा है । नेत्र कमलदलके समान हैं । शरीरपर पीला-पीला पीताम्बर फहरा रहा है । भुजाएँ लंबी-लंबी हैं और वह स्त्रियोंका चित्त चुरानेवाला है ॥१६॥

तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु ।
क्कापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे ॥१७॥

उसने पहले तो अपने अधरोंका मधुर मधु मुझे पिलाया, परन्तु मैं उसे अघाकर पी ही न पायी थी कि वह मुझे दुःखके सागरमें डालकर न जाने कहाँ चला गया । मैं तरसती ही रह गयी । सखी ! मैं अपने उसी प्राणवल्लभको ढूँढ़ रही हूँ ॥ १७ ॥

चित्रलेखोवाच

व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते ।
तमानेष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश ॥१८॥

चित्रलेखाने कहा—'सखी ! यदि तुम्हारा चित्तचोर त्रिलोकीमें कहीं भी होगा और उसे तुम पहचान सकोगी, तो मैं तुम्हारी विरह-व्यथा अवश्य शान्त कर दूँगी । मैं चित्र बनाती हूँ, तुम अपने चित्तचोर प्राणवल्लभको पहचानकर बतला दो । फिर वह चाहे कहीं भी होगा, मैं उसे तुम्हारे पास ले आऊँगी' ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा देवगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगान् ।
दैत्यविद्याधरान् यक्षान् मनुजांश्च यथालिखत् ॥१९॥

यों कहकर चित्रलेखाने बात-की-बातमें बहुत-से देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्योंके चित्र बना दिये ॥ १९ ॥

मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम् ।
व्यलिखद् रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता ॥२०॥

मनुष्योंमें उसने वृष्णिवंशी वसुदेवजीके पिता शूर, स्वयं वसुदेवजी, बलरामजी और भगवान् श्रीकृष्ण आदिके चित्र बनाये । प्रद्युम्नका चित्र देखते ही ऊषा लज्जित हो गयी ॥ २० ॥

अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया ।
सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते ॥२१॥

परीक्षित् ! जब उसने अनिरुद्धका चित्र देखा, तब तो लज्जाके मारे उसका सिर नीचा हो गया । फिर मन्द-मन्द मुसकराते हुए उसने कहा—'मेरा वह प्राणवल्लभ यही है, यही है' ॥ २१ ॥

चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी ।
ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥२२॥

परीक्षित् ! चित्रलेखा योगिनी थी । वह जान गयी कि ये भगवान् श्रीकृष्णके पौत्र हैं । अब वह आकाश-मार्गसे रात्रिमें ही भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित द्वारकापुरीमें पहुँची ॥ २२ ॥

तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के प्राद्युम्निं योगमास्थिता ।
गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत् ॥२३॥

वहाँ अनिरुद्धजी बहुत ही सुन्दर पलँगपर सो रहे थे । चित्रलेखा योगसिद्धिके प्रभावसे उन्हें उठाकर शोणितपुर ले आयी और अपनी सखी ऊषाको उसके प्रियतमका दर्शन करा दिया ॥ २३ ॥

सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदितानना ।
दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम् ॥२४॥

अपने परम सुन्दर प्राणवल्लभको पाकर आनन्दकी अधिकतासे उसका मुखकमल प्रफुल्लित हो उठा और वह अनिरुद्धजीके साथ अपने महलमें विहार करने लगी । परीक्षित् ! उसका अन्तःपुर इतना सुरक्षित था कि उसकी ओर कोई पुरुष झाँकतक नहीं सकता था ॥ २४ ॥

१. नेष्यामि ।

परार्घ्यवासःस्रग्गन्धधूपदीपासनादिभिः ।
पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषयार्चितः ॥२५॥
गूढः कन्यापुरे शश्वत् प्रवृद्धस्नेहया तया ।
नाहर्गणान् स बुबुधे ऊषयापहृतेन्द्रियः ॥२६॥

ऊषाका प्रेम दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा था। वह बहुमूल्य वस्त्र, पुष्पोंके हार, इत्र-फुलेल, धूप-दीप, आसन आदि सामग्रियोंसे, सुमधुर पेय (पीनेयोग्य पदार्थ—दूध, शरबत आदि), भोज्य (चबाकर खानेयोग्य) और भक्ष्य (निगल जानेयोग्य) पदार्थोंसे तथा मनोहर वाणी एवं सेवा-शुश्रूषासे अनिरुद्धजीका बड़ा सत्कार करती। ऊषाने अपने प्रेमसे उनके मनको अपने वशमें कर लिया। अनिरुद्धजी उस कन्याके अन्तःपुरमें छिपे रहकर अपने-आपको भूल गये। उन्हें इस बातका भी पता न चला कि मुझे यहाँ आये कितने दिन बीत गये॥ २५-२६ ॥

तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम् ।
हेतुभिर्लक्षयाञ्चक्रुरप्रीतां दुरवच्छदैः ॥२७॥
भटा आवेदयाञ्चक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम् ।
विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम् ॥२८॥
अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो ।
कन्याया दूषणं पुम्भिर्दुष्प्रेक्षाया न विद्महे ॥२९॥

परीक्षित्! यदुकुमार अनिरुद्धजीके सहवाससे ऊषाका कुआँरपन नष्ट हो चुका था। उसके शरीरपर ऐसे चिह्न प्रकट हो गये, जो स्पष्ट इस बातकी सूचना दे रहे थे और जिन्हें किसी प्रकार छिपाया नहीं जा सकता था। ऊषा बहुत प्रसन्न भी रहने लगी। पहरेदारोंने समझ लिया कि इसका किसी-न-किसी पुरुषसे सम्बन्ध अवश्य हो गया है। उन्होंने जाकर बाणासुरसे निवेदन किया—'राजन्! हमलोग आपकी अविवाहिता राजकुमारीका जैसा रंग-ढंग देख रहे हैं, वह आपके कुलपर बट्टा लगानेवाला है॥ २७-२८ ॥ प्रभो! इसमें सन्देह नहीं कि हमलोग बिना क्रम टूटे, रात-दिन महलका पहरा देते रहते हैं। आपकी कन्याको बाहरके मनुष्य देख भी नहीं सकते। फिर भी वह कलङ्कित कैसे हो गयी? इसका कारण हमारी समझमें नहीं आ रहा है'॥ २९ ॥

ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः ।
त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद् यदूद्वहम् ॥३०॥
कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं
श्यामं पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणम् ।

परीक्षित्! पहरेदारोंसे यह समाचार जानकर कि कन्याका चरित्र दूषित हो गया है, बाणासुरके हृदयमें बड़ी पीड़ा हुई। वह झटपट ऊषाके महलमें जा धमका और देखा कि अनिरुद्धजी वहाँ बैठे हुए हैं॥ ३० ॥ प्रिय परीक्षित्! अनिरुद्धजी स्वयं कामावतार प्रद्युम्नजीके पुत्र थे। त्रिभुवनमें उनके-जैसा सुन्दर और कोई न था। साँवरा-सलोना शरीर और उसपर पीताम्बर फहराता हुआ, कमलदलके समान बड़ी-बड़ी कोमल आँखें,

१. षणार्चितः। २. व्रताम्।

बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा
स्मितावलोकेन च मण्डिताननम् ॥३१॥
दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाभिनृम्णया
तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजम् ।
बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां
तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः ॥३२॥
स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभि-
र्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः ।
उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो
यथान्तको दण्डधरो जिघांसया ॥३३॥
जिघृक्षया तान् परितः प्रसर्पतः
शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत् ।
ते हन्यमाना भवनाद् विनिर्गता
निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः ॥३४॥
तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली
घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह ।
ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला
बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौदिषीत् ॥३५॥

लंबी-लंबी भुजाएँ, कपोलोंपर घुँघराली अलकें और कुण्डलोंकी झिलमिलाती हुई ज्योति, होठोंपर मन्द-मन्द मुसकान और प्रेमभरी चितवनसे मुखकी शोभा अनूठी हो रही थी ॥ ३१ ॥ अनिरुद्धजी उस समय अपनी सब ओरसे सज-धजकर बैठी हुई प्रियतमा ऊषाके साथ पासे खेल रहे थे । उनके गलेमें बसंती बेलाके बहुत सुन्दर पुष्पोंका हार सुशोभित हो रहा था और उस हारमें ऊषाके अङ्गका सम्पर्क होनेसे उसके वक्षःस्थलकी केशर लगी हुई थी । उन्हें ऊषाके सामने ही बैठा देखकर बाणासुर विस्मित—चकित हो गया ॥ ३२ ॥ जब अनिरुद्धजीने देखा कि बाणासुर बहुत-से आक्रमणकारी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित वीर सैनिकोंके साथ महलमें घुस आया है, तब वे उन्हें धराशायी कर देनेके लिये लोहेका एक भयङ्कर परिघ लेकर डट गये, मानो स्वयं कालदण्ड लेकर मृत्यु (यम) खड़ा हो ॥ ३३ ॥ बाणासुरके साथ आये हुए सैनिक उनको पकड़नेके लिये ज्यों-ज्यों उनकी ओर झपटते त्यों-त्यों वे उन्हें मार-मारकर गिराते जाते—ठीक वैसे ही, जैसे सूअरोंके दलका नायक कुत्तोंको मार डाले । अनिरुद्धजीकी चोटसे उन सैनिकोंके सिर, भुजा, जंघा आदि अङ्ग टूट-फूट गये और वे महलसे निकल भागे ॥ ३४ ॥ जब बली बाणासुरने देखा कि यह तो मेरी सारी सेनाका संहार कर रहा है, तब वह क्रोधसे तिलमिला उठा और उसने नागपाशसे उन्हे बाँध लिया । ऊषाने जब सुना कि उसके प्रियतमको बाँध लिया गया है, तब वह अत्यन्त शोक और विषादसे विह्वल हो गयी; उसके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहने लगी, वह रोने लगी ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धेऽनिरुद्धबन्धो नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके साथ बाणासुरका युद्ध

श्रीशुक उवाच
अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! बरसातके चार महीने बीत गये । परन्तु अनिरुद्धजीका कहीं पता न

१. भितुष्या । २. न्धे द्विष० ।

चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम् ॥ १ ॥
नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च ।
प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥ २ ॥
प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ सारणः ।
नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः ॥ ३ ॥
अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतोदिशम् ।
रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात् सात्वतर्षभाः ॥ ४ ॥
भज्यमानपुरोद्यानप्राकाराट्टालगोपुरम् ।
प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ ॥ ५ ॥
बाणार्थे भगवान् रुद्रः ससुतैः[1] प्रमथैर्वृतः ।
आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः ॥ ६ ॥
आसीत् सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम् ।
कृष्णशङ्करयो राजन् प्रद्युम्नगुहयोरपि ॥ ७ ॥
कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः ।
साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः ॥ ८ ॥
ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः ।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन् ॥ ९ ॥
शङ्करानुचराञ्छौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान् ।
डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान् सविनायकान् ॥ १० ॥
प्रेतमातृपिशाचांश्च[2] कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान् ।
द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गधनुश्च्युतैः[3] ॥ ११ ॥
पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे ।
प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः ॥ १२ ॥
ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्वतम् ।

चला । उनके घरके लोग, इस घटनासे बहुत ही शोकाकुल हो रहे थे ॥ १ ॥ एक दिन नारदजीने आकर अनिरुद्धका शोणितपुर जाना, वहाँ बाणासुरके सैनिकोंको हराना और फिर नागपाशमें बाँधा जाना—यह सारा समाचार सुनाया । तब श्रीकृष्णको ही अपना आराध्यदेव माननेवाले यदुवंशियोंने शोणितपुरपर चढ़ाई कर दी ॥ २ ॥ अब श्रीकृष्ण और बलरामजीके साथ उनके अनुयायी सभी यदुवंशी—प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, सारण, नन्द, उपनन्द और भद्र आदिने बारह अक्षौहिणी सेनाके साथ व्यूह बनाकर चारों ओरसे बाणासुरकी राजधानीको घेर लिया ॥ ३-४ ॥ जब बाणासुरने देखा कि यदुवंशियोंकी सेना नगरके उद्यान, परकोटों, बुर्जों और सिंहद्वारोंको तोड़-फोड़ रही है, तब उसे बड़ा क्रोध आया और वह भी बारह अक्षौहिणी सेना लेकर नगरसे निकल पड़ा ॥ ५ ॥ बाणासुरकी ओरसे साक्षात् भगवान् शङ्कर वृषभराज नन्दीपर सवार होकर अपने पुत्र कार्तिकेय और गणोंके साथ रण-भूमिमें पधारे और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीसे युद्ध किया ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! वह युद्ध इतना अद्भुत और घमासान हुआ कि उसे देखकर रोंगटे खड़े हो जाते थे । भगवान् श्रीकृष्णसे शङ्करजीका और प्रद्युम्नसे स्वामिकार्तिकका युद्ध हुआ ॥ ७ ॥ बलरामजीसे कुम्भाण्ड और कूपकर्णका युद्ध हुआ । बाणासुरके पुत्रके साथ साम्ब और स्वयं बाणासुरके साथ सात्यकि भिड़ गये ॥ ८ ॥ ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता, ऋषि-मुनि, सिद्ध-चारण, गन्धर्व-अप्सराएँ और यक्ष विमानोंपर चढ़-चढ़कर युद्ध देखनेके लिये आ पहुँचे ॥ ९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपने शार्ङ्गधनुषके तीखी नोकवाले बाणोंसे शङ्करजीके अनुचरों—भूत, प्रेत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, यातुधान, वेताल, विनायक, प्रेतगण, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षसोंको मार-मारकर खदेड़ दिया ॥ १०-११ ॥ पिनाकपाणि शङ्करजीने भगवान् श्रीकृष्णपर भाँति-भाँतिके अगणित अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग किया, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने बिना किसी प्रकारके विस्मयके उन्हें विरोधी शस्त्रास्त्रोंसे शान्त कर दिया ॥ १२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मास्त्रकी शान्तिके लिये ब्रह्मास्त्रका, वायव्यास्त्रके लिये पार्वतास्त्रका,

१. सपुत्रः । २. भूतमातृ० । ३. शार्ङ्गच्युतैर्भृशम् ।

आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च ॥१३॥
मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम्।
बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगदेषुभिः ॥१४॥
स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः।
असृग् विमुञ्चन् गात्रेभ्यः शिखिनापाक्रमद् रणात्॥१५॥
कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुर्मुसलार्दितौ।
दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः ॥१६॥

आग्नेयास्त्रके लिये पर्जन्यास्त्रका और पाशुपतास्त्रके लिये नारायणास्त्रका प्रयोग किया ॥ १३ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने जृम्भणास्त्रसे (जिससे मनुष्यको जँभाई पर जँभाई आने लगती है) महादेवजीको मोहित कर दिया। वे युद्धसे विरत होकर जँभाई लेने लगे, तब भगवान् श्रीकृष्ण शङ्करजीसे छुट्टी पाकर तलवार, गदा और बाणोंसे बाणासुरकी सेनाका संहार करने लगे ॥ १४ ॥ इधर प्रद्युम्नने बाणोंकी बौछारसे स्वामिकार्तिकको घायल कर दिया, उनके अङ्ग-अङ्गसे रक्तकी धारा बह चली, वे रणभूमि छोड़कर अपने वाहन मयूरद्वारा भाग निकले ॥ १५ ॥ बलरामजीने अपने मूसलकी चोटसे कुम्भाण्ड और कूपकर्णको घायल कर दिया, वे रणभूमिमें गिर पड़े। इस प्रकार अपने सेनापतियोंको हताहत देखकर बाणासुरकी सारी सेना तितर-बितर हो गयी॥ १६॥

विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः।
कृष्णमभ्यद्रवत् संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम् ॥१७॥
धनूंष्याकृष्य युगपद् बाणः पञ्चशतानि वै।
एकैकस्मिञ्छरौ द्वौ द्वौ सन्दधे रणदुर्मदः ॥१८॥
तानि चिच्छेद भगवान् धनूंषि युगपद्धरिः।
सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत् ॥१९॥
तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा।
पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया ॥२०॥
ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन् गदाग्रजः।
बाणश्च तावद् विरथश्छिन्नधन्वाविशत् पुरम् ॥२१॥
विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात्।

जब रथपर सवार बाणासुरने देखा कि श्रीकृष्ण आदिके प्रहारसे हमारी सेना तितर-बितर और तहस-नहस हो रही है, तब उसे बड़ा क्रोध आया। उसने चिढ़कर सात्यकिको छोड़ दिया और वह भगवान् श्रीकृष्णपर आक्रमण करनेके लिये दौड़ पड़ा ॥ १७ ॥ परीक्षित्! रणोन्मत्त बाणासुरने अपने एक हजार हाथोंसे एक साथ ही पाँच सौ धनुष खींचकर एक-एकपर दो-दो बाण चढ़ाये ॥ १८ ॥ परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने एक साथ ही उसके सारे धनुष काट डाले और सारथी, रथ तथा घोड़ोंको भी धराशायी कर दिया एवं शङ्खध्वनि की ॥ १९ ॥ कोटरा नामकी एक देवी बाणासुरकी धर्ममाता थी। वह अपने उपासक पुत्रके प्राणोंकी रक्षाके लिये बाल बिखेरकर नंग-धड़ंग भगवान् श्रीकृष्णके सामने आकर खड़ी हो गयी ॥ २० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने, इसलिये कि कहीं उसपर दृष्टि न पड़ जाय, अपना मुँह फेर लिया और वे दूसरी ओर देखने लगे। तबतक बाणासुर धनुष कट जाने और रथहीन हो जानेके कारण अपने नगरमें चला गया ॥ २१ ॥

इधर जब भगवान् शङ्करके भूतगण इधर-उधर भाग गये, तब उनका छोड़ा हुआ तीन सिर और तीन पैरवाला ज्वर

१. हरिः शंभुं। २. पञ्चशतानि पञ्च सन्दधे। ३. तत्र वि०। ४. पतौ।

अभ्यधावत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश ॥२२॥
अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम् ।
माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ ॥२३॥
माहेश्वरः समाक्रन्दन् वैष्णवेन बलार्दितः ।
अलब्ध्वाभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः ।
शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः ॥२४॥

ज्वर उवाच

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं
सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं
यत्तद् ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ॥२५॥
कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो
द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।
तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाह-
स्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥२६॥
नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नै-
र्देवान् साधूँल्लोकसेतून् बिभर्षि ।
हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्तमानान्
जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥२७॥
तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन
शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं
नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽस्मि[3] व्येतु ते मज्ज्वराद् भयम् ।

दसों दिशाओंको जलाता हुआ-सा भगवान् श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा ॥ २२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपनी ओर आते देखकर उसका मुकाबला करनेके लिये अपना ज्वर छोड़ा । अब वैष्णव और माहेश्वर दोनों ज्वर आपसमें लड़ने लगे ॥ २३ ॥ अन्तमें वैष्णव ज्वरके तेजसे माहेश्वर ज्वर पीड़ित होकर चिल्लाने लगा और अत्यन्त भयभीत हो गया । जब उसे अन्यत्र कहीं त्राण न मिला, तब वह अत्यन्त नम्रतासे हाथ जोड़कर शरणमें लेनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना करने लगा ॥ २४ ॥

ज्वरने कहा—प्रभो ! आपकी शक्ति अनन्त है । आप ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी परम महेश्वर हैं । आप सबके आत्मा और सर्वस्वरूप हैं । आप अद्वितीय और केवल ज्ञानस्वरूप हैं । संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके कारण आप ही हैं । श्रुतियोंके द्वारा आपका ही वर्णन और अनुमान किया जाता है । आप समस्त विकारोंसे रहित स्वयं ब्रह्म हैं । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥२५॥ काल, दैव (अदृष्ट), कर्म, जीव, स्वभाव, सूक्ष्मभूत, शरीर, सूत्रात्मा प्राण, अहङ्कार, एकादश इन्द्रियाँ और पञ्चभूत—इन सबका संघात लिङ्गशरीर और बीजाङ्कुरन्याय-के अनुसार उससे कर्म और कर्मसे फिर लिङ्गशरीरकी उत्पत्ति—यह सब आपकी माया है । आप मायाके निषेधकी परम अवधि हैं । मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ २६ ॥ प्रभो ! आप अपनी लीलासे ही अनेकों रूप धारण कर लेते हैं और देवता, साधु तथा लोक-मर्यादाओंका पालन-पोषण करते हैं । साथ ही उन्मार्ग-गामी और हिंसक असुरोंका संहार भी करते हैं । आपका यह अवतार पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ही हुआ है ॥ २७ ॥ प्रभो ! आपके शान्त, उग्र और अत्यन्त भयानक दुस्सह तेज ज्वरसे मैं अत्यन्त सन्तप्त हो रहा हूँ । भगवन् ! देहधारी जीवोंको तभीतक ताप-सन्ताप रहता है, जबतक वे आशाके फंदोंमें फँसे रहनेके कारण आपके चरणकमलोंकी शरण नहीं ग्रहण करते ॥ २८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'त्रिशिरा ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । अब तुम मेरे ज्वरसे निर्भय हो जाओ ।

१. यद्वं । २. बन्धाः । ३. ऽहं ।

यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद् भयम् ॥२९॥
इत्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः ।
बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्योत्स्यञ्जनार्दनम् ॥३०॥
ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः ।
मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप ॥३१॥
तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
चिच्छेद भगवान् बाहून् शाखा इव वनस्पतेः ॥३२॥
बाहुषु छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान् भवः ।
भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत ॥३३॥

श्रीरुद्र उवाच

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥३४॥
नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बु रेतो
द्यौः शीर्षमाशा श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी ।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा
अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥३५॥
रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः
केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः ।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः
स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः ॥३६॥
तवावतारोऽयमकुण्ठधामन्
धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय ।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता
विभावयामो भुवनानि सप्त ॥३७॥
त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीय-
स्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीशः ।

संसारमें जो कोई हम दोनोंके संवादका स्मरण करेगा, उसे तुमसे कोई भय न रहेगा' ॥ २९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार कहनेपर माहेश्वर ज्वर उन्हें प्रणाम करके चला गया । तबतक बाणासुर रथपर सवार होकर भगवान् श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये फिर आ पहुँचा ॥ ३० ॥ परीक्षित् ! बाणासुरने अपने हजार हाथोंमें तरह-तरहके हथियार ले रक्खे थे । अब वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर चक्रपाणि भगवान्पर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ३१ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि बाणासुरने तो बाणोंकी झड़ी लगा दी है, तब वे छुरेकी समान तीखी धारवाले चक्रसे उसकी भुजाएँ काटने लगे, मानो कोई किसी वृक्षकी छोटी-छोटी डालियाँ काट रहा हो ॥ ३२ ॥ जब भक्तवत्सल भगवान् शङ्करने देखा कि बाणासुरकी भुजाएँ कट रही हैं, तब वे चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णके पास आये और स्तुति करने लगे ॥ ३३ ॥

भगवान् शङ्करने कहा—प्रभो ! आप वेदमन्त्रोंमें तात्पर्यरूपसे छिपे हुए परमज्योतिःस्वरूप परब्रह्म हैं । शुद्धहृदय महात्मागण आपके आकाशके समान सर्वव्यापक और निर्विकार (निर्लेप) स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं ॥ ३४ ॥ आकाश आपकी नाभि है, अग्नि मुख है और जल वीर्य । स्वर्ग सिर, दिशाएँ कान और पृथ्वी चरण हैं । चन्द्रमा मन, सूर्य नेत्र और मैं शिव आपका अहङ्कार हूँ । समुद्र आपका पेट है और इन्द्र भुजा ॥ ३५ ॥ धान्यादि ओषधियाँ रोम हैं, मेघ केश हैं और ब्रह्मा बुद्धि । प्रजापति लिङ्ग हैं और धर्म हृदय । इस प्रकार समस्त लोक और लोकान्तरोंके साथ जिसके शरीरकी तुलना की जाती है, वे परमपुरुष आप ही हैं ॥ ३६ ॥ अखण्ड ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! आपका यह अवतार धर्मकी रक्षा और संसारके अभ्युदय—अभिवृद्धिके लिये हुआ है । हम सब भी आपके प्रभावसे ही प्रभावान्वित होकर सातों भुवनोंका पालन करते हैं ॥ ३७ ॥ आप सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित हैं—एक और अद्वितीय आदिपुरुष हैं । मायाकृत जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंमें अनुगत और उनसे अतीत तुरीयतत्त्व भी आप ही हैं । आप किसी दूसरी वस्तुके द्वारा प्रकाशित नहीं होते,

१. युतो ।

प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं
स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्धयै ॥३८॥
यथैव सूर्यः पिहितश्छायया स्वया
छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्व-
मात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥३९॥
यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे ॥४०॥
देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः ।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ॥४१॥
यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् ।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन् ॥४२॥
अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः ।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ॥४३॥
तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं
समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् ।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं
भवापवर्गाय भजाम देवम् ॥४४॥
अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती
मयाभयं दत्तममुष्य देव ।

१. अथ०।

स्वयंप्रकाश हैं । आप सबके कारण हैं, परन्तु आपका न तो कोई कारण है और न तो आपमें कारणपना ही है । भगवन् ! ऐसा होनेपर भी आप तीनों गुणोंकी विभिन्न विषमताओंको प्रकाशित करनेके लिये अपनी मायासे देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि शरीरोंके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत होते हैं ॥ ३८ ॥ प्रभो ! जैसे सूर्य अपनी छाया बादलोंसे ही ढक जाता है और उन बादलों तथा विभिन्न रूपोंको प्रकाशित करता है उसी प्रकार आप तो स्वयंप्रकाश हैं, परन्तु गुणोंके द्वारा मानो ढक-से जाते हैं और समस्त गुणों तथा गुणाभिमानी जीवोंको प्रकाशित करते हैं । वास्तवमें आप अनन्त हैं ॥ ३९ ॥

भगवन् ! आपकी मायासे मोहित होकर लोग स्त्री-पुत्र, देह-गेह आदिमें आसक्त हो जाते हैं और फिर दुःखके अपार सागरमें डूबने-उतराने लगते हैं ॥ ४० ॥ संसारके मानवोंको यह मनुष्य-शरीर आपने अत्यन्त कृपा करके दिया है । जो पुरुष इसे पाकर भी अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं करता और आपके चरणकमलोंका आश्रय नहीं लेता—उनका सेवन नहीं करता, उसका जीवन अत्यन्त शोचनीय है और वह स्वयं अपने-आपको धोखा दे रहा है ॥४१॥ प्रभो ! आप समस्त प्राणियोंके आत्मा, प्रियतम और ईश्वर हैं । जो मृत्युका ग्रास मनुष्य आपको छोड़ देता है और अनात्म, दुःखरूप एवं तुच्छ विषयोंमें सुख-बुद्धि करके उनके पीछे भटकता है, वह इतना मूर्ख है कि अमृतको छोड़कर विष पी रहा है ॥ ४२ ॥ मैं, ब्रह्मा, सारे देवता और विशुद्ध हृदयवाले ऋषि-मुनि सब प्रकारसे और सर्वात्मभावसे आपके शरणागत हैं; क्योंकि आप ही हमलोगोंके आत्मा, प्रियतम और ईश्वर हैं ॥ ४३ ॥ आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं । आप सबमें सम, परम शान्त, सबके सुहृद् आत्मा और इष्टदेव हैं । आप एक, अद्वितीय और जगत्के आधार तथा अधिष्ठान हैं । हे प्रभो ! हम सब संसारसे मुक्त होनेके लिये आपका भजन करते हैं ॥ ४४ ॥ देव ! यह बाणासुर मेरा परमप्रिय, कृपापात्र और सेवक है । मैंने इसे अभयदान दिया है । प्रभो ! जिस प्रकार

सम्पाद्यतां तद् भवतः प्रसादो
यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥४५॥

इसके परदादा दैत्यराज प्रह्लादपर आपका कृपाप्रसाद है, वैसा ही कृपाप्रसाद आप इसपर भी करें ॥ ४५ ॥

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ भगवंस्त्वन्नः करवाम प्रियं तव ।
भवतो यद् व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥४६॥
अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसुतोऽसुरः ।
प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः ॥४७॥
दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया ।
सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः ॥४८॥
चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः।
पार्षदमुख्यो भवतो नकुतश्चिद्भयोऽसुरः ॥४९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भगवन्! आपकी बात मानकर—जैसा आप चाहते हैं, मैं इसे निर्भय किये देता हूँ। आपने पहले इसके सम्बन्धमें जैसा निश्चय किया था—मैंने इसकी भुजाएँ काटकर उसीका अनुमोदन किया है ॥ ४६ ॥ मैं जानता हूँ कि बाणासुर दैत्यराज बलिका पुत्र है। इसलिये मैं भी इसका वध नहीं कर सकता; क्योंकि मैंने प्रह्लादको वर दे दिया है कि 'मैं तुम्हारे वंशमें पैदा होनेवाले किसी भी दैत्यका वध नहीं करूँगा' ॥ ४७ ॥ इसका घमंड चूर करनेके लिये ही मैंने इसकी भुजाएँ काट दी हैं। इसकी बहुत बड़ी सेना पृथ्वीके लिये भार हो रही थी, इसीलिये मैंने उसका संहार कर दिया है ॥ ४८ ॥ अब इसकी चार भुजाएँ बच रही हैं। ये अजर, अमर बनी रहेंगी। यह बाणासुर आपके पार्षदोंमें मुख्य होगा। अब इसको किसीसे किसी प्रकारका भय नहीं है ॥ ४९ ॥

इति लब्ध्वाभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसासुरः ।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वा समुपानयत् ॥५०॥
अक्षौहिण्या परिवृतं सुवासःसमलङ्कृतम् ।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥५१॥
स्वराजधानीं समलङ्कृतां ध्वजैः
सतोरणैरुक्षितमार्गचत्वराम् ।
विवेश शङ्खानकदुन्दुभिस्वनै-
रभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः ॥५२॥

श्रीकृष्णसे इस प्रकार अभयदान प्राप्त करके बाणासुरने उनके पास आकर धरतीमें माथा टेका, प्रणाम किया और अनिरुद्धजीको अपनी पुत्री ऊषाके साथ रथपर बैठाकर भगवान्‌के पास ले आया ॥ ५० ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने महादेवजीकी सम्मतिसे वस्त्रालङ्कारविभूषित ऊषा और अनिरुद्धजीको एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आगे करके द्वारकाके लिये प्रस्थान किया ॥ ५१ ॥ इधर द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्ण आदिके शुभागमनका समाचार सुनकर झंडियों और तोरणोंसे नगरका कोना-कोना सजा दिया गया। बड़ी-बड़ी सड़कों और चौराहोंको चन्दन-मिश्रित जलसे सींच दिया गया। नगरके नागरिकों, बन्धु-बान्धवों और ब्राह्मणोंने आगे आकर खूब धूमधामसे भगवान्‌का स्वागत किया। उस समय शङ्ख, नगारों और ढोलोंकी तुमुल ध्वनि हो रही थी। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपनी राजधानीमें प्रवेश किया ॥ ५२ ॥

१. प्रकृत्ता। २. स राज०। ३. मनोरमैर्भूषितमार्ग०।

य एवं कृष्णविजयं शङ्करेण च संयुगम्।
संस्मरेत् प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात् पराजयः ॥५३॥

परीक्षित्! जो पुरुष श्रीशङ्करजीके साथ भगवान् श्रीकृष्णका युद्ध और उनकी विजयकी कथाका प्रातःकाल उठकर स्मरण करता है, उसकी पराजय नहीं होती ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धेऽनिरुद्धानयनं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः

नृग राजाकी कथा

श्रीशुक उवाच

एकदोपवनं राजन् जग्मुर्यदुकुमारकाः।
विहर्तुं साम्बप्रद्युम्नचारुभानुगदादयः ॥ १ ॥
क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः।
जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ॥ २ ॥
कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ॥ ३ ॥
चर्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः।
नाशक्नुवन् समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः ॥ ४ ॥
तत्रागत्यारविन्दाक्षो भगवान् विश्वभावनः।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥ ५ ॥
स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो
विहाय सद्यः कृकलासरूपम्।
सन्तप्तचामीकरचारुवर्णः
स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बरस्रक् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारुभानु और गद आदि यदुवंशी राजकुमार घूमनेके लिये उपवनमें गये ॥ १ ॥ वहाँ बहुत देरतक खेल खेलते हुए उन्हें प्यास लग आयी। अब वे इधर-उधर जलकी खोज करने लगे। वे एक कूएँके पास गये; उसमें जल तो था नहीं, एक बड़ा विचित्र जीव दीख पड़ा ॥ २ ॥ वह जीव पर्वतके समान आकारका एक गिरगिट था। उसे देखकर उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। उनका हृदय करुणासे भर आया और वे उसे बाहर निकालनेका प्रयत्न करने लगे ॥ ३ ॥ परन्तु जब वे राजकुमार उस गिरे हुए गिरगिटको चमड़े और सूतकी रस्सियोंसे बाँधकर बाहर न निकाल सके, तब कुतूहलवश उन्होंने यह आश्चर्यमय वृत्तान्त भगवान् श्रीकृष्णके पास जाकर निवेदन किया ॥ ४ ॥ जगत्के जीवनदाता कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण उस कुएँपर आये। उसे देखकर उन्होंने बायें हाथसे खेल-खेलमें—अनायास ही उसको बाहर निकाल लिया ॥ ५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके करकमलोंका स्पर्श होते ही उसका गिरगिट-रूप जाता रहा और वह एक स्वर्गीय देवताके रूपमें परिणत हो गया। अब उसके शरीरका रंग तपाये हुए सोनेके समान चमक रहा था। और उसके शरीरपर अद्भुत वस्त्र, आभूषण और पुष्पोंके

१. न्धे बाणासुरसंग्रामे कृष्णविजयः। २. बादरायणिरुवाच। ३. चेतसः। ४. तं बद्ध्वा तान्तवैः पाशैः पतितं च तमर्भकाः। ५. तत्र गत्वारवि०। ६. णोपपन्नः।

पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं
जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो
देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम् ॥ ७ ॥
दशामिमां वा कतमेन कर्मणा
सम्प्रापितोऽस्यतदर्हः सुभद्र ।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो
यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुम् ॥ ८ ॥

श्रीशुक[1] उवाच

इति स राजा सम्पृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्तिना ।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥ ९ ॥

नृग उवाच

नृगो नाम [2]नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो ।
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥१०॥
किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥११॥
यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः ।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददां स्म गाः ॥१२॥
पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूप-
गुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः ।
न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा
दुकूलमालाभरणा ददावहम् ॥१३॥
स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः
सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः
प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥१४॥

हार शोभा पा रहे थे ॥ ६ ॥ यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण जानते थे कि इस दिव्य पुरुषको गिरगिट-योनि क्यों मिली थी, फिर भी वह कारण सर्वसाधारणको मालूम हो जाय, इसलिये उन्होंने उस दिव्य पुरुषसे पूछा—'महाभाग ! तुम्हारा रूप तो बहुत ही सुन्दर है । तुम हो कौन ? मैं तो ऐसा समझता हूँ कि तुम अवश्य ही कोई श्रेष्ठ देवता हो ॥ ७ ॥ कल्याणमूर्ते ! किस कर्मके फलसे तुम्हें इस योनिमें आना पड़ा था ? वास्तवमें तुम इसके योग्य नहीं हो । हमलोग तुम्हारा वृत्तान्त जानना चाहते हैं । यदि तुम हमलोगोंको वह बतलाना उचित समझो तो अपना परिचय अवश्य दो' ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब अनन्त-मूर्ति भगवान् श्रीकृष्णने राजा नृगसे [क्योंकि वे ही इस रूपमें प्रकट हुए थे] इस प्रकार पूछा, तब उन्होंने अपना सूर्यके समान जाज्वल्यमान मुकुट झुकाकर भगवान्को प्रणाम किया और वे इस प्रकार कहने लगे ॥ ९ ॥

राजा नृगने कहा—प्रभो ! मैं महाराज इक्ष्वाकुका पुत्र राजा नृग हूँ । जब कभी किसीने आपके सामने दानियोंकी गिनती की होगी, तब उसमें मेरा नाम भी अवश्य ही आपके कानोंमें पड़ा होगा ॥ १० ॥ प्रभो ! आप समस्त प्राणियोंकी एक-एक वृत्तिके साक्षी हैं । भूत और भविष्यका व्यवधान भी आपके अखण्ड ज्ञानमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाल सकता । अतः आपसे छिपा ही क्या है ? फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये कहता हूँ ॥ ११ ॥ भगवन् ! पृथ्वीमें जितने धूलिकण हैं, आकाशमें जितने तारे हैं और वर्षामें जितनी जलकी धाराएँ गिरती हैं, मैंने उतनी ही गौएँ दान की थीं ॥ १२ ॥ वे सभी गौएँ दुधार, नौजवान, सीधी, सुन्दर, सुलक्षणा और कपिला थीं । उन्हें मैंने न्यायके धनसे प्राप्त किया था । सबके साथ बछड़े थे । उनके सींगोंमें सोना मढ़ दिया गया था और खुरोंमें चाँदी । उन्हें वस्त्र, हार और गहनोंसे सजा दिया जाता था । ऐसी गौएँ मैंने दी थीं ॥ १३ ॥ भगवन् ! मैं युवावस्थासे सम्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मणकुमारोंको—जो सद्-गुणी, शीलसम्पन्न, कष्टमें पड़े हुए कुटुम्बवाले, दम्भरहित

१. बादरायणिरुवाच । २. ऽहं मानवे वरुणात्मजः ।

गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः
कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः ।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान् रथा-
निष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तम् ॥१५॥

तपस्वी, वेदपाठी, शिष्योंको विद्यादान करनेवाले तथा सच्चरित्र होते—वस्त्राभूषणसे अलङ्कृत करता और उन गौओंका दान करता ॥ १४ ॥ इस प्रकार मैंने बहुत-सी गौएँ, पृथ्वी, सोना, घर, घोड़े, हाथी, दासियोंके सहित कन्याएँ, तिलोंके पर्वत, चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न, गृह-सामग्री और रथ आदि दान किये। अनेकों यज्ञ किये और बहुत-से कूएँ, बावली आदि बनवाये ॥ १५ ॥

कस्यचिद् द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
सम्पृक्ताविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६॥
तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम् ।
ममेति प्रतिग्राह्याह नृगो मे दत्तवानिति ॥१७॥
विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ।
भवान् दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद् भ्रमः ॥१८॥
अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रगतेन वै ।
गवां लक्षं प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् ॥१९॥
भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याविजानतः ।
समुद्धरत मां कृच्छ्रात् पतन्तं निरयेऽशुचौ ॥२०॥
नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् ।[1]
नान्यद् गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ ॥२१॥
एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो[2] यमक्षयम् ।
यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते ॥२२॥

एक दिन किसी अप्रतिग्रही (दान न लेनेवाले), तपस्वी ब्राह्मणकी एक गाय बिछुड़कर मेरी गौओंमें आ मिली। मुझे इस बातका बिल्कुल पता न चला। इसलिये मैंने अनजानमें उसे किसी दूसरे ब्राह्मणको दान कर दिया ॥ १६ ॥ जब उस गायको वे ब्राह्मण ले चले, तब उस गायके असली स्वामीने कहा—'यह गौ मेरी है। दान ले जानेवाले ब्राह्मणने कहा—'यह तो मेरी है, क्योंकि राजा नृगने मुझे इसका दान किया है ॥ १७ ॥ वे दोनों ब्राह्मण आपसमें झगड़ते हुए अपनी-अपनी बात कायम करनेके लिये मेरे पास आये। एकने कहा—'यह गाय अभी-अभी आपने मुझे दी है' और दूसरेने कहा कि 'यदि ऐसी बात है तो तुमने मेरी गाय चुरा ली है।' भगवन्! उन दोनों ब्राह्मणोंकी बात सुनकर मेरा चित्त भ्रमित हो गया ॥ १८ ॥ मैंने धर्म-संकटमें पड़कर उन दोनोंसे बड़ी अनुनय-विनय की और कहा कि 'मैं बदलेमें एक लाख उत्तम गौएँ दूँगा। आपलोग मुझे यह गाय दे दीजिये ॥ १९ ॥ मैं आपलोगोंका सेवक हूँ। मुझसे अनजानमें यह अपराध बन गया है। मुझपर आपलोग कृपा कीजिये और मुझे इस घोर कष्टसे तथा घोर नरकमें गिरनेसे बचा लीजिये ॥ २० ॥ 'राजन्! मैं इसके बदलेमें कुछ नहीं लूँगा।' यह कहकर गायका स्वामी चला गया। 'तुम इसके बदलेमें एक लाख ही नहीं, दस हजार गौएँ और दो तो भी मैं लेनेका नहीं।' इस प्रकार कहकर दूसरा ब्राह्मण भी चला गया ॥ २१ ॥ देवाधिदेव जगदीश्वर! इसके बाद आयु समाप्त होनेपर यमराजके दूत आये और मुझे यमपुरी ले गये। वहाँ यमराजने मुझसे

१. तौ। २. नान्यां प्रतीच्छे राजेन्द्र इत्युक्त्वा स्वाम्युपा०। ३. दूतैर्याम्यैर्नीतो।

पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम् ।
नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वतः ॥२३॥
पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः ।
तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन् प्रभो ॥२४॥
ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः ॥२५॥
स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२६॥
देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम ।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥२७॥
अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं प्रभो ।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥२८॥
नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥२९॥
इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना ।

पूछा—॥ २२ ॥ राजन्! तुम पहले अपने पापका फल भोगना चाहते हो या पुण्यका? तुम्हारे दान और धर्मके फलस्वरूप तुम्हें ऐसा तेजस्वी लोक प्राप्त होनेवाला है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं ॥ २३ ॥ भगवन्! तब मैंने यमराजसे कहा—'देव! पहले मैं अपने पापका फल भोगना चाहता हूँ।' और उसी क्षण यमराजने कहा—'तुम गिर जाओ।' उनके ऐसा कहते ही मैं वहाँसे गिरा और गिरते ही समय मैंने देखा कि मैं गिरगिट हो गया हूँ ॥ २४ ॥ प्रभो! मैं ब्राह्मणोंका सेवक उदार दानी और आपका भक्त था। मुझे इस बातकी उत्कट अभिलाषा थी कि किसी प्रकार आपके दर्शन हो जायँ। इस प्रकार आपकी कृपासे मेरे पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट न हुई ॥ २५ ॥ भगवन्! आप परमात्मा हैं। बड़े-बड़े शुद्ध-हृदय योगीश्वर उपनिषदोंकी दृष्टिसे (अभेद-दृष्टिसे) अपने हृदयमें आपका ध्यान करते रहते हैं। इन्द्रियातीत परमात्मन्! साक्षात् आप मेरे नेत्रोंके सामने कैसे आ गये! क्योंकि मैं तो अनेक प्रकारके व्यसनों, दुःखद कर्मोंमें फँसकर अंधा हो रहा था। आपका दर्शन तो तब होता है, जब संसारके चक्करसे छुटकारा मिलनेका समय आता है ॥ २६ ॥ देवताओंके भी आराध्यदेव! पुरुषोत्तम गोविन्द! आप ही व्यक्त और अव्यक्त जगत् तथा जीवोंके स्वामी हैं। अविनाशी अच्युत! आपकी कीर्ति पवित्र है। अन्तर्यामी नारायण! आप ही समस्त वृत्तियों और इन्द्रियोंके स्वामी हैं ॥ २७ ॥ प्रभो! श्रीकृष्ण! मैं अब देवताओंके लोकमें जा रहा हूँ। आप मुझे आज्ञा दीजिये। आप ऐसी कृपा कीजिये कि मैं चाहे कहीं भी क्यों न रहूँ, मेरा चित्त सदा आपके चरणकमलोंमें ही लगा रहे ॥ २८ ॥ आप समस्त कार्यों और कारणोंके रूपमें विद्यमान हैं। आपकी शक्ति अनन्त है और आप स्वयं ब्रह्म हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ। सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वान्तर्यामी वासुदेव श्रीकृष्ण! आप समस्त योगोंके स्वामी योगेश्वर हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ २९ ॥

राजा नृगने इस प्रकार कहकर भगवान्‌की परिक्रमा की और अपने मुकुटसे उनके चरणोंका स्पर्श करके

१. अथवा।

अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुहत् पश्यतां नृणाम् ॥३०॥
कृष्णः परिजनं प्राह भगवान् देवकीसुतः ।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ॥३१॥
दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि ।
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम् ॥३२॥
नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ।
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिविधिर्भुवि ॥३३॥
हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति ।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥३४॥
ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम् ।
प्रसह्य तु बलाद् भुक्तं दश पूर्वान् दशापरान् ॥३५॥
राजानो राजलक्ष्म्यान्धा नात्मपातं विचक्षते ।
निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः ॥३६॥
गृह्णन्ति यावतः पांसून् क्रन्दतामश्रुबिन्दवः ।
विप्राणां हृतवृत्तीनां वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ॥३७॥
राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरङ्कुशाः ।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ॥३८॥
स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः ।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥३९॥

प्रणाम किया । फिर उनसे आज्ञा लेकर सबके देखते-देखते ही वे श्रेष्ठ विमानपर सवार हो गये ॥ ३० ॥

राजा नृगके चले जानेपर ब्राह्मणोंके परम प्रेमी, धर्मके आधार देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने क्षत्रियोंको शिक्षा देनेके लिये वहाँ उपस्थित अपने कुटुम्बके लोगोंसे कहा—॥ ३१ ॥ 'जो लोग अग्निके समान तेजस्वी हैं वे भी ब्राह्मणोंका थोड़े-से-थोड़ा धन हड़पकर नहीं पचा सकते । फिर जो अभिमानवश झूठमूठ अपनेको लोगों-का स्वामी समझते हैं, वे राजा तो क्या पचा सकते हैं ? ॥ ३२ ॥ मैं हलाहल विषको विष नहीं मानता, क्योंकि उसकी चिकित्सा होती है । वस्तुतः ब्राह्मणोंका धन ही परम विष है; उसको पचा लेनेके लिये पृथ्वीमें कोई औषध, कोई उपाय नहीं है ॥ ३३ ॥ हलाहल विष केवल खानेवालेका प्राण लेता है, और आग भी जलके द्वारा बुझायी जा सकती है; परन्तु ब्राह्मणके धनरूप अरणिसे जो आग पैदा होती है, वह सारे कुलको समूल जला डालती है ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणका धन यदि उसकी पूरी-पूरी सम्मति लिये बिना भोगा जाय तब तो वह भोगनेवाले, उसके लड़के और पौत्र—इन तीन पीढ़ियोंको ही चौपट करता है । परन्तु यदि बल-पूर्वक हठ करके उसका उपभोग किया जाय, तब तो पूर्वपुरुषोंकी दस पीढ़ियाँ और आगेकी भी दस पीढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ ३५ ॥ जो मूर्ख राजा अपनी राजलक्ष्मी-के घमंडसे अंधे होकर ब्राह्मणोंका धन हड़पना चाहते हैं, समझना चाहिये कि वे जान-बूझकर नरकमें जानेका रास्ता साफ कर रहे हैं । वे देखते नहीं कि उन्हें अधःपतनके कैसे गहरे गड्ढेमें गिरना पड़ेगा ॥ ३६ ॥ जिन उदार-हृदय और बहुकुटुम्बी ब्राह्मणोंकी वृत्ति छीन ली जाती है, उनके रोनेपर उनके आँसूकी बूँदोंसे धरतीके जितने धूलिकण भीगते हैं, उतने वर्षोंतक ब्राह्मणके स्वत्वको छीननेवाले उस उच्छृङ्खल राजा और उसके वंशजोंको कुम्भीपाक नरकमें दुःख भोगना पड़ता है ॥ ३७-३८ ॥ जो मनुष्य अपनी या दूसरोंकी दी हुई ब्राह्मणोंकी वृत्ति, उनकी जीविकाके साधन छीन लेते हैं, वे साठ हजार वर्षतक विष्ठाके कीड़े होते हैं ॥ ३९ ॥

न मे ब्रह्मधनं भूयाद् यद् गृद्ध्वाल्पायुषो नराः ।
पराजिताश्च्युता राज्याद् भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः ॥४०॥
विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः ।
घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥४१॥
यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः ।
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥४२॥
ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः ।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥४३॥
एवं विश्राव्य भगवान् मुकुन्दो द्वारकौकसः ।
पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ॥४४॥

इसलिये मैं तो यही चाहता हूँ कि ब्राह्मणोंका धन कभी भूलसे भी मेरे कोषमें न आये, क्योंकि जो लोग ब्राह्मणोंके धनकी इच्छा भी करते हैं—उसे छीननेकी बात तो अलग रही—वे इस जन्ममें अल्पायु, शत्रुओंसे पराजित और राज्यभ्रष्ट हो जाते हैं और मृत्युके बाद भी वे दूसरोंको कष्ट देनेवाले साँप ही होते हैं ॥ ४० ॥ इसलिये मेरे आत्मीयो ! यदि ब्राह्मण अपराध करे, तो भी उससे द्वेष मत करो । वह मार ही क्यों न बैठे या बहुत-सी गालियाँ या शाप ही क्यों न दे, उसे तुमलोग सदा नमस्कार ही करो ॥ ४१ ॥ जिस प्रकार मैं बड़ी सावधानीसे तीनों समय ब्राह्मणोंको प्रणाम करता हूँ, वैसे ही तुमलोग भी किया करो । जो मेरी इस आज्ञाका उल्लङ्घन करेगा, उसे मैं क्षमा नहीं करूँगा। दण्ड दूँगा ॥ ४२ ॥ यदि ब्राह्मणके धनका अपहरण हो जाय तो वह अपहृत धन उस अपहरण करनेवाले-को—अनजानमें उसके द्वारा यह अपराध हुआ हो तो भी—अधःपतनके गड्ढेमें डाल देता है । जैसे ब्राह्मणकी गायने अनजानमें उसे लेनेवाले राजा नृगको नरकमें डाल दिया था ॥ ४३ ॥ परीक्षित् ! समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकावासियोंको इस प्रकार उपदेश देकर अपने महलमें चले गये' ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नृगोपाख्यानं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

श्रीबलरामजीका व्रजगमन

श्रीशुक उवाच

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥
परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् बलरामजीके मनमें व्रजके नन्दबाबा आदि स्वजन-सम्बन्धियोंसे मिलनेकी बड़ी इच्छा और उत्कण्ठा थी । अब वे रथपर सवार होकर द्वारकासे नन्दबाबाके व्रजमें आये ॥ १ ॥ इधर उनके लिये व्रजवासी गोप और गोपियाँ भी बहुत दिनोंसे उत्कण्ठित थीं । उन्हें अपने बीचमें पाकर सबने

१. नृपाः । २. हि ये । ३. द्वारकाप्रजाः । ४. प्राचीन प्रतिमें 'उत्तरार्धे' इतना अंश नहीं है । ५. बादरायणिरुवाच । ६. गोपगोपी० ।

रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः ॥ २ ॥
चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः ।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः ॥ ३ ॥
गोपवृद्धांश्च विधिवद् यविष्ठैरभिवन्दितः[1] ।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥ ४ ॥
समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः ।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः ॥ ५ ॥
पृष्टाश्चानामयं स्वेषु प्रेमगद्गदया गिरा ।
कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः ॥ ६ ॥
कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे[2] कुशलमासते ।
कच्चित् स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः ॥ ७ ॥
दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः ।
निहत्य निर्जित्य रिपून् दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः ॥ ८ ॥
गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः ।
कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥ ९ ॥
कच्चित् स्मरति वा बन्धून् पितरं मातरं च सः ।
अप्यसौ[3] मातरं द्रष्टुं सकृदप्यागमिष्यति ।
अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥ १० ॥

बड़े प्रेमसे गले लगाया । बलरामजीने माता यशोदा और नन्दबाबाको प्रणाम किया । उन लोगोंने भी आशीर्वाद देकर उनका अभिनन्दन किया ॥ २ ॥ यह कहकर कि 'बलरामजी ! तुम जगदीश्वर हो, अपने छोटे भाई श्रीकृष्णके साथ सर्वदा हमारी रक्षा करते रहो', उनको गोदमें ले लिया और अपने प्रेमाश्रुओंसे उन्हें भिगो दिया ॥ ३ ॥ इसके बाद बड़े-बड़े गोपोंको बलरामजीने और छोटे-छोटे गोपोंने बलरामजीको नमस्कार किया । वे अपनी आयु, मेल-जोल और सम्बन्धके अनुसार सबसे मिले-जुले ॥ ४ ॥ ग्वालबालोंके पास जाकर किसीसे हाथ मिलाया, किसीसे मीठी-मीठी बातें कीं, किसीको खूब हँस-हँसकर गले लगाया । इसके बाद जब बलरामजीकी थकावट दूर हो गयी, वे आरामसे बैठ गये, तब सब ग्वाल उनके पास आये, इन ग्वालोंने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके लिये समस्त भोग, स्वर्ग और मोक्षतक त्याग रक्खा था । बलरामजीने जब उनके और उनके घरवालोंके सम्बन्धमें कुशलप्रश्न किया, तब उन्होंने प्रेम-गद्गद वाणीसे उनसे प्रश्न किया ॥ ५-६ ॥ बलरामजी ! वसुदेवजी आदि हमारे सब भाई-बन्धु सकुशलसे हैं न ? अब आपलोग स्त्री-पुत्र आदिके साथ रहते हैं, बाल-बच्चेदार हो गये हैं; क्या कभी आपलोगोंको हमारी याद भी आती है ? ॥ ७ ॥ यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि पापी कंसको आपलोगोंने मार डाला और अपने सुहृद्-सम्बन्धियोंको बड़े कष्टसे बचा लिया । यह भी कम आनन्दकी बात नहीं है कि आपलोगोंने और भी बहुत शत्रुओंको मार डाला या जीत लिया और अब अत्यन्त सुरक्षित दुर्ग (किले) में आपलोग निवास करते हैं' ॥ ८ ॥

परीक्षित् ! भगवान् बलरामजीके दर्शनसे, उनकी प्रेमभरी चितवनसे गोपियाँ निहाल हो गयीं । उन्होंने हँसकर पूछा—'क्यों बलरामजी ! नगर-नारियोंके प्राण-वल्लभ श्रीकृष्ण अब सकुशल तो हैं न ? ॥ ९ ॥ क्या कभी उन्हें अपने भाई-बन्धु और पिता-माताकी भी याद आती है ! क्या वे अपनी माताके दर्शनके लिये एक बार भी यहाँ आ सकेंगे ! क्या महाबाहु श्रीकृष्ण कभी हमलोगोंकी सेवाका भी कुछ स्मरण करते हैं ॥ १० ॥

१. ष्ठैश्चाभिवादितः । २. ते वै० । ३. प्राचीन प्रतिमें 'अप्यसौ'.....'मिष्यति' यह श्लोकार्ध नहीं है ।

मातरं पितरं भ्रातॄन् पतीन् पुत्रान् स्वसॄरपि ।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो ॥ ११ ॥
ता नः सद्यः परित्यज्य गतः संछिन्नसौहृदः ।
कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम् ॥ १२ ॥
कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो
वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ।
गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दर-
स्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥ १३ ॥
किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः ।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः ॥ १४ ॥
इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम् ।
गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः ॥ १५ ॥
सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः ।
सान्त्वयामास भगवान् नानानुनयकोविदः ॥ १६ ॥
द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च ।
रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन् ॥ १७ ॥

आप जानते हैं कि स्वजन-सम्बन्धियोंको छोड़ना बहुत ही कठिन है । फिर भी हमने उनके लिये माँ-बाप, भाई-बन्धु, पति-पुत्र और बहिन-बेटियोंको भी छोड़ दिया । परन्तु प्रभो ! वे बात-की-बातमें हमारे सौहार्द और प्रेमका बन्धन काटकर, हमसे नाता तोड़कर परदेश चले गये; हमलोगोंको बिल्कुल ही छोड़ दिया । हम चाहतीं तो उन्हें रोक लेतीं; परन्तु जब वे कहते कि हम तुम्हारे ऋणी हैं—तुम्हारे उपकारका बदला कभी नहीं चुका सकते, तब ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो उनकी मीठी-मीठी बातोंपर विश्वास न कर लेती ॥ ११-१२ ॥ एक गोपीने कहा—'बलरामजी ! हम तो गाँवकी गँवार ग्वालिनें ठहरीं, उनकी बातोंमें आ गयीं । परन्तु नगरकी स्त्रियाँ तो बड़ी चतुर होती हैं । भला, वे चञ्चल और कृतघ्न श्रीकृष्णकी बातोंमें क्यों फँसने लगीं; उन्हें तो वे नहीं छका पाते होंगे !' दूसरी गोपीने कहा—'नहीं सखी, श्रीकृष्ण बातें बनानेमें तो एक ही हैं । ऐसी रंग-बिरंगी मीठी-मीठी बातें गढ़ते हैं कि क्या कहना ! उनकी सुन्दर मुसकराहट और प्रेमभरी चितवनसे नगर-नारियाँ भी प्रेमावेशसे व्याकुल हो जाती होंगी और वे अवश्य उनकी बातोंमें आकर अपनेको निछावर कर देती होंगी, ॥ १३ ॥ तीसरी गोपीने कहा—'अरी गोपियो ! हमलोगोंको उसकी बातसे क्या मतलब है ? यदि समय ही काटना है तो कोई दूसरी बात करो । यदि उस निष्ठुरका समय हमारे बिना बीत जाता है तो हमारा भी उसीकी तरह भले ही दुःखसे क्यों न हो, कट ही जायगा ॥ १४ ॥ अब गोपियोंके भाव-नेत्रोंके सामने भगवान् श्रीकृष्णकी हँसी, प्रेमभरी बातें, चारु चितवन, अनूठी चाल और प्रेमालिङ्गन आदि मूर्तिमान् होकर नाचने लगे । वे उन बातोंकी मधुर स्मृतिमें तन्मय होकर रोने लगीं ॥ १५ ॥

परीक्षित् ! भगवान् बलरामजी नाना प्रकारसे अनुनय-विनय करनेमें बड़े निपुण थे । उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके हृदयस्पर्शी और लुभावने सन्देश सुना-सुनाकर गोपियोंको सान्त्वना दी ॥ १६ ॥ और वसन्तके दो महीने—चैत और वैशाख वहीं बिताये । वे रात्रिके समय गोपियोंमें रहकर उनके प्रेमकी अभिवृद्धि करते । क्यों न हो, भगवान्

पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना ।
यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥१८॥
वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ।
पतन्ती तद् वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत् ॥१९॥
तं गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः ।
आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥
उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः ।
वनेषु व्यचरत् क्षीबो मदविह्वललोचनः ॥२१॥
स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया ।
बिभ्रत् स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयभूषितम् ॥२२॥
स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः ।
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥२३॥
पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाऽऽहुता ।
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् ॥२४॥
एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ।
उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप ॥२५॥
राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम् ।

राम ही जो ठहरे ! ॥ १७ ॥ उस समय कुमुदिनीकी सुगन्ध लेकर भीनी-भीनी वायु चलती रहती, पूर्ण चन्द्रमाकी चाँदनी छिटककर यमुनाजीके तटवर्ती उपवनको उज्ज्वल कर देती और भगवान् बलराम गोपियोंके साथ वहीं विहार करते ॥ १८ ॥ वरुणदेवने अपनी पुत्री वारुणीदेवीको वहाँ भेज दिया था । वह एक वृक्षके खोड़रसे बह निकली । उसने अपनी सुगन्धसे सारे वनको सुगन्धित कर दिया।१९। मधुधाराकी वह सुगन्ध वायुने बलरामजीके पास पहुँचायी, मानो उसने उन्हें उपहार दिया हो ! उसकी महँकसे आकृष्ट होकर बलरामजी गोपियोंको लेकर वहाँ पहुँच गये और उनके साथ उसका पान किया ॥ २० ॥ उस समय गोपियाँ बलरामजीके चारों ओर उनके चरित्रका गान कर रही थीं, और वे मतवाले-से होकर वनमें विचर रहे थे । उनके नेत्र आनन्दमदसे विह्वल हो रहे थे ॥२१॥ गलेमें पुष्पोंका हार शोभा पा रहा था । वैजयन्तीकी माला पहने हुए आनन्दोन्मत्त हो रहे थे । उनके एक कानमें कुण्डल झलक रहा था । मुखारविन्दपर मुसकराहटकी शोभा निराली ही थी । उसपर पसीनेकी बूँदें हिमकणके समान जान पड़ती थीं ॥ २२ ॥ सर्वशक्तिमान् बलरामजीने जलक्रीडा करनेके लिये यमुनाजीको पुकारा । परन्तु यमुनाजीने यह समझकर कि ये तो मतवाले हो रहे हैं, उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर दिया; वे नहीं आयीं । तब बलरामजीने क्रोधपूर्वक अपने हलकी नोकसे उन्हें खींचा ॥ २३ ॥ और कहा—'पापिनी यमुने ! मेरे बुलानेपर भी तू मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करके यहाँ नहीं आ रही है, मेरा तिरस्कार कर रही है ! देख, अब मैं तुझे तेरे स्वेच्छाचारका फल चखाता हूँ । अभी-अभी तुझे हलकी नोकसे सौ-सौ टुकड़े किये देता हूँ' ॥ २४ ॥ जब बलरामजीने यमुनाजीको इस प्रकार डाँटा-फटकारा, तब वे चकित और भयभीत होकर बलरामजीके चरणोंपर गिर पड़ीं और गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगीं—॥ २५ ॥लोकाभिराम बलरामजी ! महाबाहो ! मैं आपका पराक्रम भूल

१. पपौ समम् । २. नैति ।

यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ॥२६॥

परं भावं भगवतो भगवन् मामजानतीम् ।
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥२७॥

ततो व्यमुञ्चद् यमुनां याचितो भगवान् बलः[1]।
विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट् ॥२८॥

कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे ।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् ।२९।

वसित्वा वाससी नीले मालामामुच्य काञ्चनीम् ।
रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः ॥३०॥

अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाऽऽकृष्टवर्त्मना ।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥३१॥

एवं सर्वा निशा याता एकेव रमतो व्रजे ।
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ॥३२॥

गयी थी। जगत्पते! अब मैं जान गयी कि आपके अंशमात्र शेषजी इस सारे जगत्‌को धारण करते हैं।२६। भगवन्! आप परम ऐश्वर्यशाली हैं। आपके वास्तविक स्वरूपको न जाननेके कारण ही मुझसे यह अपराध बन गया है। सर्वस्वरूप भक्तवत्सल! मैं आपकी शरणमें हूँ। आप मेरी भूल-चूक क्षमा कीजिये, मुझे छोड़ दीजिये' ॥ २७ ॥

अब यमुनाजीकी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् बलरामने उन्हें क्षमा कर दिया और फिर जैसे गजराज हथिनियोंके साथ क्रीडा करता है, वैसे ही वे गोपियोंके साथ जलक्रीडा करने लगे ॥ २८ ॥ जब वे यथेष्ट जल-विहार करके यमुनाजीसे बाहर निकले, तब लक्ष्मी-जीने उन्हें नीलाम्बर, बहुमूल्य आभूषण और सोनेका सुन्दर हार दिया ॥२९॥ बलरामजीने नीले वस्त्र पहन लिये और सोनेकी माला गलेमें डाल ली। वे अङ्गराग लगाकर, सुन्दर भूषणोंसे विभूषित होकर इस प्रकार शोभायमान हुए मानो इन्द्रका श्वेतवर्ण ऐरावत हाथी हो ॥३०॥ परीक्षित्! यमुनाजी अब भी बलरामजीके खींचे हुए मार्गसे बहती हैं और वे ऐसी जान पड़ती हैं, मानो अनन्तशक्ति भगवान् बलरामजीका यश गान कर रही हों ॥ ३१ ॥ बलरामजीका चित्त व्रजवासिनी गोपियोंके माधुर्यसे इस प्रकार मुग्ध हो गया कि उन्हें समयका कुछ ध्यान ही न रहा, बहुत-सी रात्रियाँ एक रातके समान व्यतीत हो गयीं। इस प्रकार बलरामजी व्रजमें विहार करते रहे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे
बलदेवविजये यमुनाकर्षणं नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः

पौण्ड्रक और काशिराजका उद्धार

श्रीशुक[3] उवाच
नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् बलरामजी नन्दबाबाके व्रजमें गये हुए थे, तब पीछेसे करूष

१. मुञ्चद्भगवान् याचितो यमुनां बलः। २. न्धे यमुनाकर्षणं पञ्चप०। ३. बादरायणिरुवाच।

वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥ १ ॥
त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम् ॥ २ ॥
दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने ।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः ॥ ३ ॥
दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम् ।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत् ॥ ४ ॥
वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः ।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥ ५ ॥
यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद् बिभर्षि सात्वत ।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद् देहि ममाहवम् ॥ ६ ॥

देशके अज्ञानी राजा पौण्ड्रकने भगवान् श्रीकृष्णके पास एक दूत भेजकर यह कहलाया कि 'भगवान् वासुदेव मैं हूँ' ॥ १ ॥ मूर्खलोग उसे बहकाया करते थे कि 'आप ही भगवान् वासुदेव हैं और जगत्‌की रक्षाके लिये पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं ।' इसका फल यह हुआ कि वह मूर्ख अपनेको ही भगवान् मान बैठा ॥ २ ॥ जैसे बच्चे आपसमें खेलते समय किसी बालकको ही राजा मान लेते हैं और वह राजाकी तरह उनके साथ व्यवहार करने लगता है, वैसे ही मन्दमति अज्ञानी पौण्ड्रकने अचिन्त्यगति भगवान् श्रीकृष्णकी लीला और रहस्य न जानकर द्वारकामें उनके पास दूत भेज दिया ॥ ३ ॥ पौण्ड्रकका दूत द्वारका आया और राजसभामें बैठे हुए कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको उसने अपने राजाका यह सन्देश कह सुनाया— ॥ ४ ॥ 'एकमात्र मैं ही वासुदेव हूँ । दूसरा कोई नहीं है । प्राणियोंपर कृपा करनेके लिये मैंने ही अवतार ग्रहण किया है । तुमने झूठ-मूठ अपना नाम वासुदेव रख लिया है, अब उसे छोड़ दो ॥ ५ ॥ यदुवंशी ! तुमने मूर्खतावश मेरे चिह्न धारण कर रक्खे हैं । उन्हें छोड़कर मेरी शरणमें आओ और यदि मेरी बात तुम्हें स्वीकार न हो, तो मुझसे युद्ध करो' ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥ ७ ॥
उवाच दूतं भगवान् परिहासकथामनु ।
उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे ॥ ८ ॥
मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्कगृध्रवटैर्वृतः ।
शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥ ९ ॥
इति दूतस्तदाक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! मन्दमति पौण्ड्रककी यह बहक सुनकर उग्रसेन आदि सभासद् जोर-जोरसे हँसने लगे ॥७॥ उन लोगोंकी हँसी समाप्त होनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने दूतसे कहा—'तुम जाकर अपने राजासे कह देना कि 'रे मूढ़ ! मैं अपने चक्र आदि चिह्न यों नहीं छोड़ूँगा । इन्हें मैं तुझपर छोड़ूँगा और केवल तुमपर ही नहीं, तेरे उन सब साथियोंपर भी, जिनके बहकानेसे तू इस प्रकार बहक रहा है । उस समय मूर्ख ! तू अपना मुँह छिपाकर—औंधे मुँह गिरकर चील, गीध, बटेर आदि मांसभोजी पक्षियोंसे घिरकर सो जायगा, और तू मेरा शरणदाता नहीं, उन कुत्तोंकी शरण होगा, जो तेरा मांस चींथ-चींथकर खा जायँगे' ॥८-९॥ परीक्षित् ! भगवान्‌का यह तिरस्कारपूर्ण संवाद लेकर पौण्ड्रकका दूत अपने स्वामीके पास गया और उसे कह सुनाया । इधर भगवान् श्रीकृष्णने भी

कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥१०॥

रथपर सवार होकर काशीपर चढ़ाई कर दी। (क्योंकि वह करूषका राजा उन दिनों वहीं अपने मित्र काशिराजके पास रहता था) ॥ १० ॥

पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद् द्रुतम्॥११॥
तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत् पौण्ड्रकं हरिः ॥१२॥

भगवान् श्रीकृष्णके आक्रमणका समाचार पाकर महारथी पौण्ड्रक भी दो अक्षौहिणी सेनाके साथ शीघ्र ही नगरसे बाहर निकल आया ॥११॥ काशीका राजा पौण्ड्रकका मित्र ;था। अतः वह भी उसकी सहायता करनेके लिये तीन अक्षौहिणी सेनाके साथ उसके पीछे-पीछे आया। परीक्षित् ! अब भगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकको देखा ॥ १२ ॥

शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गश्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥१३॥
कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ।
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥१४॥
दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यवेषं कृत्रिममास्थितम् ।
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः ॥१५॥

पौण्ड्रकने भी शङ्ख-चक्र, तलवार, गदा, शार्ङ्गधनुष और श्रीवत्सचिह्न आदि धारण कर रक्खे थे। उसके वक्षःस्थलपर बनावटी कौस्तुभमणि और वनमाला भी लटक रही थी ॥ १३ ॥ उसने रेशमी पीले वस्त्र पहन रक्खे थे और रथकी ध्वजापर गरुडका चिह्न भी लगा रक्खा था। उसके सिरपर अमूल्य मुकुट था और कानोंमें मकराकृत कुण्डल जगमगा रहे थे ॥ १४ ॥ उसका यह सारा-का-सारा वेष बनावटी था, मानो कोई अभिनेता रंगमंचपर अभिनय करनेके लिये आया हो। उसकी वेष-भूषा अपने समान देखकर भगवान् श्रीकृष्ण खिलखिलाकर हँसने लगे ॥ १५ ॥

शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः ।
असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम् ॥१६॥

अब शत्रुओंने भगवान् श्रीकृष्णपर त्रिशूल, गदा, मुद्गर, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, तोमर, तलवार, पट्टिश और बाण आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार किया ॥१६॥

कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयो-
र्बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत् ।
गदासिचक्रेषुभिरार्दयद् भृशं
यथा युगान्ते हुतभुक् पृथक् प्रजाः ॥१७॥

प्रलयके समय जिस प्रकार आग सभी प्रकारके प्राणियोंको जला देती है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने भी गदा, तलवार, चक्र और बाण आदि शस्त्रास्त्रोंसे पौण्ड्रक तथा काशिराजके हाथी, रथ, घोड़े और पैदलकी चतुरङ्गिणी सेनाको तहस-नहस कर दिया ॥ १७ ॥

आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जर-
द्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः ।
बभौ चितं मोदवहं मनस्विना-
माक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम् ॥१८॥

वह रणभूमि भगवान्के चक्रसे खण्ड-खण्ड हुए रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य, गधे और ऊँटोंसे पट गयी। उस समय ऐसा मालूम हो रहा था, मानो वह भूतनाथ शङ्करकी भयङ्कर क्रीडास्थली हो। उसे देख-देखकर शूरवीरोंका उत्साह और भी बढ़ रहा था ॥ १८ ॥

अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भो भोः पौण्ड्रक यद् भवान्।
दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥१९॥

अब भगवान् श्रीकृष्णने पौण्ड्रकसे कहा—'रे पौण्ड्रक ! तूने दूतके द्वारा कहलाया था कि मेरे चिह्न अस्त्र-शस्त्रादि छोड़ दो। सो अब मैं उन्हें तुझपर छोड़ रहा हूँ ॥१९॥

त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत्त्वयाज्ञ मृषा धृतम् ।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥२०॥
इति क्षिप्त्वा शितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् ।
शिरोऽवृश्चद् रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ॥२१॥
तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः ।
न्यपातयत् काशिपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः ॥२२॥
एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः ।
द्वारकामाविशत् सिद्धैर्गीयमानकथामृतः ॥२३॥
स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः ।
बिभ्राणश्च हरे राजन् स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥२४॥
शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम् ।
किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिशियिरे जनाः॥२५॥
राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः ।
पौराश्च हा हता राजन् नाथ नाथेति प्रारुदन् ॥२६॥
सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः ।
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ॥२७॥
इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम् ।
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥
प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद् भवः ।
पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम् ॥२९॥

तूने झूठमूठ मेरा नाम रख लिया है । अतः मूर्ख ! अब मैं तुझसे उन नामोंको भी छुड़ाकर रहूँगा । रही तेरे शरणमें आनेकी बात; सो यदि मैं तुझसे युद्ध न कर सकूँगा तो तेरी शरण ग्रहण करूँगा' ॥ २० ॥ भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार पौण्ड्रकका तिरस्कार करके अपने तीखे बाणोंसे उसके रथको तोड़-फोड़ डाला और चक्रसे उसका सिर वैसे ही उतार लिया, जैसे इन्द्रने अपने वज्रसे पहाड़की चोटियोंको उड़ा दिया था ॥२१॥ इसी प्रकार भगवान्‌ने अपने बाणोंसे काशिनरेशका सिर भी धड़से ऊपर उड़ाकर काशीपुरीमें गिरा दिया जैसे वायु कमलका पुष्प गिरा देती है ॥ २२ ॥ इस प्रकार अपने साथ डाह रखनेवाले पौण्ड्रकको और उसके सखा काशिनरेशको मारकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी राजधानी द्वारकामें लौट आये । उस समय सिद्धगण भगवान्‌की अमृतमयी कथाका गान कर रहे थे ॥ २३ ॥ परीक्षित् ! पौण्ड्रक भगवान्‌के रूपका, चाहे वह किसी भावसे हो, सदा चिन्तन करता रहता था । इससे उसके सारे बन्धन कट गये । वह भगवान्‌का बनावटी वेष धारण किये रहता था, इससे बार-बार उसीका स्मरण होनेके कारण वह भगवान्‌के सारूप्यको ही प्राप्त हुआ ॥२४॥

इधर काशीमें राजमहलके दरवाजेपर एक कुण्डल-मण्डित मुण्ड गिरा देखकर लोग तरह-तरहका सन्देह करने लगे और सोचने लगे कि 'यह क्या है, यह किसका सिर है ?' ॥ २५ ॥ जब यह मालूम हुआ कि वह तो काशिनरेशका ही सिर है, तब रानियाँ, राज-कुमार, राजपरिवारके लोग तथा नागरिक रो-रोकर विलाप करने लगे—'हा नाथ ! हा राजन् ! हाय-हाय ! हमारा तो सर्वनाश हो गया' ॥ २६ ॥ काशिनरेशका पुत्र था सुदक्षिण । उसने अपने पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करके मन-ही-मन यह निश्चय किया कि अपने पितृघातीको मारकर ही मैं पिताके ऋणसे उऋण हो सकूँगा । निदान वह अपने कुलपुरोहित और आचार्योंके साथ अत्यन्त एकाग्रतासे भगवान् शङ्करकी आराधना करने लगा ॥ २७-२८ ॥ काशी नगरीमें उसकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने वर देनेको कहा । सुदक्षिणने यह अभीष्ट वर माँगा कि मुझे मेरे पितृघाती-

दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम् ।
अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः ॥३०॥
साधयिष्यति संकल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः ।
इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् व्रती ॥३१॥
ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभीषणः ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुरङ्गारोद्गारिलोचनः ॥३२॥
दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया ।
आलिहन् सृक्विणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिखं ज्वलन् ॥३३॥
पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम् ।
सोऽभ्यधावद् वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन् दिशः ॥३४॥
तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः ।
विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे मृगा यथा ॥३५॥
अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः ।
त्राहि त्राहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम् ॥३६॥
श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम् ।
शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम् ॥३७॥

के वधका उपाय बतलाइये ॥ २९ ॥ भगवान् शङ्करने कहा—'तुम ब्राह्मणोंके साथ मिलकर यज्ञके देवता ऋत्विग्भूत दक्षिणाग्निकी अभिचारविधिसे आराधना करो। इससे वह अग्नि प्रमथगणोंके साथ प्रकट होकर यदि ब्राह्मणोंके अभक्तपर प्रयोग करोगे तो वह तुम्हारा संकल्प सिद्ध करेगा।' भगवान् शङ्करकी ऐसी आज्ञा प्राप्त करके सुदक्षिणने अनुष्ठानके उपयुक्त नियम ग्रहण किये और वह भगवान् श्रीकृष्णके लिये अभिचार (मारणका पुरश्चरण) करने लगा ॥ ३०-३१ ॥ अभिचार पूर्ण होते ही यज्ञकुण्डसे अति भीषण अग्नि मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ। उसके केश और दाढ़ी-मूँछ तपे हुए ताँबेके समान लाल-लाल थे। आँखोंसे अंगारे बरस रहे थे॥ ३२ ॥ उग्र दाढ़ों और टेढ़ी भृकुटियोंके कारण उसके मुखसे क्रूरता टपक रही थी। वह अपनी जीभसे मुँहके दोनों कोने चाट रहा था। शरीर नंग-धड़ंग था। हाथमें त्रिशूल लिये हुए था, जिसे वह बार-बार घुमाता जाता था और उसमेंसे अग्निकी लपटें निकल रही थीं ॥३३॥ ताड़के पेड़के समान बड़ी-बड़ी टाँगें थीं। वह अपने वेगसे धरतीको कँपाता हुआ और ज्वालाओंसे दसों दिशाओंको दग्ध करता हुआ द्वारकाकी ओर दौड़ा और बात-की-बातमें द्वारकाके पास जा पहुँचा। उसके साथ बहुत-से भूत भी थे ॥ ३४ ॥ उस अभिचारकी आगको बिल्कुल पास आयी हुई देख द्वारकावासी वैसे ही डर गये, जैसे जंगलमें आग लगनेपर हरिन डर जाते हैं ॥ ३५ ॥ वे लोग भयभीत होकर भगवान्के पास दौड़े हुए आये; भगवान् उस समय सभामें चौसर खेल रहे थे। उन लोगोंने भगवान्से प्रार्थना की—तीनों लोकोंके एकमात्र स्वामी! द्वारका नगरी इस आगसे भस्म होना चाहती है। आप हमारी रक्षा कीजिये। आपके सिवा इसकी रक्षा और कोई नहीं कर सकता ॥ ३६ ॥ शरणागतवत्सल भगवान्ने देखा कि हमारे स्वजन भयभीत हो गये हैं और पुकार-पुकारकर विकलताभरे स्वरसे हमारी प्रार्थना कर रहे हैं; तब उन्होंने हँसकर कहा—डरो मत, मैं तुमलोगोंकी रक्षा करूँगा' ॥ ३७ ॥

१. चण्ड० । २. द्रुतैः पादैर्द्वा० । ३. यथा मृगाः ।

सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् ॥३८॥

तत् सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं
जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम् ।
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी
चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्दयत् ॥३९॥

कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणे-
रस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः ।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं
सर्त्विग्जनं समदहत् स्वकृतोऽभिचारः ॥४०॥[1]

चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं
वाराणसीं साट्टसभालयापणाम् ।
सगोपुराट्टालककोष्ठसङ्कुलां
सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् ॥४१॥

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम्[2] ।
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः ॥४२॥

य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोकविक्रमम् ।
समाहितो वा शृणुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥

परीक्षित् ! भगवान् सबके बाहर-भीतरकी जाननेवाले हैं । वे जान गये कि यह काशीसे चली हुई माहेश्वरी कृत्या है । उन्होंने उसके प्रतिकारके लिये अपने पास ही विराजमान चक्रसुदर्शनको आज्ञा दी ॥ ३८ ॥ भगवान् मुकुन्दका प्यारा अस्त्र सुदर्शन-चक्र कोटि-कोटि सूर्योंके समान तेजस्वी और प्रलयकालीन अग्निके समान जाज्वल्यमान है । उसके तेजसे आकाश, दिशाएँ और अन्तरिक्ष चमक उठे और अब उसने उस अभिचार-अग्निको कुचल डाला ॥ ३९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके अस्त्र सुदर्शनचक्रकी शक्तिसे कृत्यारूप आगका मुँह टूट-फूट गया, उसका तेज नष्ट हो गया, शक्ति कुण्ठित हो गयी और वह वहाँसे लौटकर काशी आ गयी तथा उसने ऋत्विज आचार्योंके साथ सुदक्षिणको जलाकर भस्म कर दिया । इस प्रकार उसका अभिचार उसीके विनाशका कारण हुआ ॥ ४० ॥ कृत्याके पीछे-पीछे सुदर्शनचक्र भी काशी पहुँचा । काशी बड़ी विशाल नगरी थी । वह बड़ी-बड़ी अटारियों, सभाभवन, बाजार, नगरद्वार, द्वारोंके शिखर, चहारदीवारियों, खजाने, हाथी, घोड़े, रथ और अन्नोंके गोदामसे सुसज्जित थी । भगवान् श्रीकृष्णके सुदर्शनचक्रने सारी काशीको जलाकर भस्म कर दिया और फिर वह परमानन्दमयी लीला करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास लौट आया ॥ ४१-४२ ॥

जो मनुष्य पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके इस चरित्रको एकाग्रताके साथ सुनता या सुनाता है, वह सारे पापोंसे छूट जाता है ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[3] उत्तरार्धे पौण्ड्रकादिवधो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः

द्विविदका उद्धार

राजोवाच

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवान् बलरामजी सर्वशक्तिमान् एवं सृष्टि-प्रलयकी सीमासे परे, अनन्त हैं । उनका स्वरूप, गुण, लीला आदि मन, बुद्धि और

१. तमृर्त्विक्समेतमदह० । २. विष्णुचक्रं । ३. न्धे पौण्ड्रककाशिराजवधः षट्० ।

अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत् कृतवान् प्रभुः ॥ १ ॥

वाणीके विषय नहीं हैं। उनकी एक-एक लीला लोक-मर्यादासे विलक्षण है, अलौकिक है। उन्होंने और जो कुछ अद्भुत कर्म किये हों, उन्हें मैं फिर सुनना चाहता हूँ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

नरकस्य सखा कश्चिद् द्विविदो नाम वानरः।
सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥ २ ॥
सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम्।
पुरग्रामाकरान् घोषानदहद् वह्निमुत्सृजन् ॥ ३ ॥
क्वचित् स शैलानुत्पाट्य तैर्देशान् समचूर्णयत्।
आनर्तान् सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः ॥ ४ ॥
क्वचित् समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुत्क्षिप्य तज्जलम्।
देशान् नागायुतप्राणो वेलाकूलानमज्जयत् ॥ ५ ॥
आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन्।
अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन् वैतानिकान् खलः ॥ ६ ॥
पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः।
निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलैः पेशस्कारीव कीटकम् ॥ ७ ॥
एवं देशान् विप्रकुर्वन् दूषयंश्च कुलस्त्रियः।
श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥ ८ ॥
तत्रापश्यद् यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम्।
सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! द्विविद नामका एक वानर था। वह भौमासुरका सखा, सुग्रीवका मन्त्री और मैन्दका शक्तिशाली भाई था॥ २ ॥ जब उसने सुना कि श्रीकृष्णने भौमासुरको मार डाला, तब वह अपने मित्रकी मित्रताके ऋणसे उऋण होनेके लिये राष्ट्र-विप्लव करनेपर उतारू हो गया। वह वानर बड़े-बड़े नगरों, गाँवों, खानों और अहीरोंकी बस्तियोंमें आग लगाकर उन्हें जलाने लगा॥ ३ ॥ कभी वह बड़े-बड़े पहाड़ोंको उखाड़कर उनसे प्रान्त-के-प्रान्त चकनाचूर कर देता और विशेष करके ऐसा काम वह आनर्त (काठियावाड़) देशमें ही करता था। क्योंकि उसके मित्रको मारनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण उसी देशमें निवास करते थे॥ ४ ॥ द्विविद वानरमें दस हजार हाथियोंका बल था। कभी-कभी वह दुष्ट समुद्रमें खड़ा हो जाता और हाथोंसे इतना जल उछालता कि समुद्रतटके देश डूब जाते॥५॥ वह दुष्ट बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंकी सुन्दर-सुन्दर लता-वनस्पतियोंको तोड़-मरोड़कर चौपट कर देता और उनके यज्ञसम्बन्धी अग्नि-कुण्डोंमें मलमूत्र डालकर अग्नियोंको दूषित कर देता॥ ६ ॥ जैसे भृङ्गी नामका कीड़ा दूसरे कीड़ोंको ले जाकर अपने बिलमें बंद कर देता है, वैसे ही वह मदोन्मत्त वानर स्त्रियों और पुरुषोंको ले जाकर पहाड़ोंकी घाटियों तथा गुफाओंमें डाल देता। फिर बाहरसे बड़ी-बड़ी चट्टानें रखकर उनका मुँह बंद कर देता॥ ७ ॥ इस प्रकार वह देशवासियोंका तो तिरस्कार करता ही, कुलीन स्त्रियोंको भी दूषित कर देता था। एक दिन वह दुष्ट सुललित संगीत सुनकर रैवतक पर्वतपर गया॥ ८ ॥

वहाँ उसने देखा कि यदुवंशशिरोमणि बलरामजी सुन्दर-सुन्दर युवतियोंके झुंडमें विराजमान हैं। उनका एक-एक अङ्ग अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय है और वक्षःस्थलपर कमलोंकी माला लटक रही है॥ ९ ॥

१. द्विना भृशम्। २. न्मुनिमुख्यानां।

गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम् ।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥
दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान् ।
चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥११॥
तस्य धाष्टर्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः ।
हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः ॥१२॥
ता हेलयामास कपिर्भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः ।
दर्शयन् स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः ॥१३॥
तं ग्राव्णा प्राहरत् क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ।
स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ॥१४॥
गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन् ।
निर्भिद्य कलशं दुष्टो वासांस्यास्फालयद् बलम्॥१५॥
कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः ।
तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ॥१६॥
क्रुद्धो मुसलमादत्त हलं चारिजिघांसया ।
द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुद्यम्य पाणिना ॥१७॥
अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ।
तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ॥१८॥
प्रतिजग्राह बलवान् सुनन्देनाहनच्च तम् ।
मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ॥१९॥
गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन् ।

वे मधुपान करके मधुर संगीत गा रहे थे और उनके नेत्र आनन्दोन्मादसे विह्वल हो रहे थे। उनका शरीर इस प्रकार शोभायमान हो रहा था, मानो कोई मदमत्त गजराज हो ॥ १० ॥ वह दुष्ट वानर वृक्षोंकी शाखाओंपर चढ़ जाता और उन्हें झकझोर देता। कभी स्त्रियोंके सामने आकर किलकारी भी मारने लगता ॥ ११ ॥ युवती स्त्रियाँ स्वभावसे ही चञ्चल और हास-परिहासमें रुचि रखनेवाली होती हैं। बलरामजीकी स्त्रियाँ उस वानरकी ढिठाई देखकर हँसने लगीं ॥ १२ ॥ अब वह वानर भगवान् बलरामजीके सामने ही उन स्त्रियोंकी अवहेलना करने लगा। वह उन्हें कभी अपनी गुदा दिखाता तो कभी भौंहें मटकाता, फिर कभी-कभी गरज-तरजकर मुँह बनाता, घुड़कता ॥ १३ ॥ वीरशिरोमणि बलरामजी उसकी यह चेष्टा देखकर क्रोधित हो गये। उन्होंने उसपर पत्थरका एक टुकड़ा फेंका। परन्तु द्विविदने उससे अपनेको बचा लिया और झपटकर मधुकलश उठा लिया तथा बलरामजीकी अवहेलना करने लगा। उस धूर्तने मधुकलशको तो फोड़ ही डाला, स्त्रियोंके वस्त्र भी फाड़ डाले और अब वह दुष्ट हँस-हँसकर बलरामजीको क्रोधित करने लगा ॥ १४-१५ ॥ परीक्षित्! जब इस प्रकार बलवान् और मदोन्मत्त द्विविद बलरामजीको नीचा दिखाने तथा उनका घोर तिरस्कार करने लगा, तब उन्होंने उसकी ढिठाई देखकर और उसके द्वारा सताये हुए देशोंकी दुर्दशापर विचार करके उस शत्रुको मार डालनेकी इच्छासे क्रोधपूर्वक अपना हल-मूसल उठाया। द्विविद भी बड़ा बलवान् था। उसने अपने एक ही हाथसे शालका पेड़ उखाड़ लिया और बड़े वेगसे दौड़कर बलरामजीके सिर-पर उसे दे मारा। भगवान् बलराम पर्वतकी तरह अविचल खड़े रहे। उन्होंने अपने हाथसे उस वृक्षको सिरपर गिरते-गिरते पकड़ लिया और अपने सुनन्द नामक मूसलसे उसपर प्रहार किया। मूसल लगनेसे द्विविदका मस्तक फट गया और उससे खूनकी धारा बहने लगी। उस समय उसकी ऐसी शोभा हुई, मानो किसी पर्वतसे गेरूका सोता बह रहा हो। परन्तु द्विविदने अपने सिर फटनेकी कोई परवा नहीं की। उसने कुपित होकर एक दूसरा

१. प्रमत्तमिव । २. यन्दृषा ।

पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा ॥२०॥
तेनाहनत् सुसंक्रुद्धस्तं बलः शतधाच्छिनत् ।
ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाच्छिनत्॥२१॥
एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः ।
आकृष्य सर्वतो वृक्षान् निर्वृक्षमकरोद् वनम् ॥२२॥
ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः ।
तत् सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥२३॥
स बाहू तालसङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः ।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् ॥२४॥
यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललाङ्गले ।
जत्रावभ्यर्दयत्क्रुद्धः सोऽपतद् रुधिरं वमन् ॥२५॥
चकम्पे तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः ।
पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्भसि ॥२६॥
जयशब्दो नमःशब्दः साधु साध्विति चाम्बरे।
सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत् कुसुमवर्षिणाम् ॥२७॥
एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम् ।
संस्तूयमानो भगवाञ्जनैः स्वपुरमाविशत् ॥२८॥

वृक्ष उखाड़ा, उसे झाड़-झूड़कर बिना पत्तेका कर दिया और फिर उससे बलरामजीपर बड़े जोरका प्रहार किया। बलरामजीने उस वृक्षके सैकड़ों टुकड़े कर दिये। इसके बाद द्विविदने बड़े क्रोधसे दूसरा वृक्ष चलाया, परन्तु भगवान् बलरामजीने उसे भी शतधा छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ १६—२१ ॥ इस प्रकार वह उनसे युद्ध करता रहा। एक वृक्षके टूट जानेपर दूसरा वृक्ष उखाड़ता और उससे प्रहार करनेकी चेष्टा करता। इस तरह सब ओरसे वृक्ष उखाड़-उखाड़कर लड़ते-लड़ते उसने सारे वनको ही वृक्षहीन कर दिया ॥ २२ ॥ वृक्ष न रहे, तब द्विविदका क्रोध और भी बढ़ गया तथा वह बहुत चिढ़कर बलरामजीके ऊपर बड़ी-बड़ी चट्टानोंकी वर्षा करने लगा। परन्तु भगवान् बलरामजीने अपने मूसलसे उन सभी चट्टानोंको खेल-खेलमें ही चकनाचूर कर दिया ॥ २३ ॥ अन्तमें कपिराज द्विविद अपनी ताड़के समान लंबी बाँहोंसे घूँसा बाँधकर बलरामजीकी ओर झपटा और पास जाकर उसने उनकी छातीपर प्रहार किया ॥ २४ ॥ अब यदुवंशशिरोमणि बलरामजीने हल और मूसल अलग रख दिये तथा क्रुद्ध होकर दोनों हाथोंसे उसके जत्रुस्थान (हँसली) पर प्रहार किया। इससे वह वानर खून उगलता हुआ धरतीपर गिर पड़ा ॥ २५ ॥ परीक्षित्! आँधी आनेपर जैसे जलमें डोंगी डगमगाने लगती है, वैसे ही उसके गिरनेसे बड़े-बड़े वृक्षों और चोटियोंके साथ सारा पर्वत हिल गया ॥ २६ ॥ आकाशमें देवता लोग 'जय-जय' सिद्ध लोग 'नमो नमः' और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि 'साधु-साधु'के नारे लगाने और बलरामजीपर फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ २७ ॥ परीक्षित्! द्विविदने जगत्में बड़ा उपद्रव मचा रक्खा था, अतः भगवान् बलरामजीने उसे इस प्रकार मार डाला और फिर वे द्वारकापुरीमें लौट आये। उस समय सभी पुरजन-परिजन भगवान् बलरामकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे द्विविदवधो नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

१ ञ्जलो। २. न्धे द्विविदवधः सप्त०।

अथाष्टषष्टितमोऽध्यायः

कौरवोंपर बलरामजीका कोप और साम्बका विवाह

श्रीशुक उवाच

दुर्योधनसुतां राजन् लक्ष्मणां समितिञ्जयः ।
स्वयंवरस्थामहरत् साम्बो जाम्बवतीसुतः ॥ १ ॥
कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोऽयमर्भकः ।
कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद् बलात् ॥ २ ॥
बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः ।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम् ॥ ३ ॥
निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः ।
भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ॥ ४ ॥
इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः ।
साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः ॥ ५ ॥
दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान् महारथः ।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥ ६ ॥
तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः ।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन् ॥ ७ ॥
सोऽपविद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः ।
नामृष्यत्तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव ॥ ८ ॥
विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान् विव्याध सायकैः ।
कर्णादीन् षड्रथान् वीरांस्तावद्भिर्युगपत् पृथक् ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जाम्बवती-नन्दन साम्ब अकेले ही बहुत बड़े-बड़े वीरोंपर विजय प्राप्त करनेवाले थे । वे स्वयंवरमें स्थित दुर्योधनकी कन्या लक्ष्मणाको हर लाये ॥ १ ॥ इससे कौरवोंको बड़ा क्रोध हुआ । वे बोले—'यह बालक बहुत ढीठ है । देखो तो सही, इसने हमलोगोंको नीचा दिखाकर बलपूर्वक हमारी कन्याका अपहरण कर लिया । वह तो इसे चाहती भी न थी ॥ २ ॥ अतः इस ढीठको पकड़कर बाँध लो । यदि यदुवंशीलोग रुष्ट भी होंगे तो वे हमारा क्या बिगाड़ लेंगे ? वे लोग हमारी ही कृपासे हमारी ही दी हुई धन-धान्यसे परिपूर्ण पृथ्वीका उपभोग कर रहे हैं ॥ ३ ॥ यदि वे लोग अपने इस लड़केके बंदी होनेका समाचार सुनकर यहाँ आयेंगे, तो हमलोग उनका सारा घमंड चूर-चूर कर देंगे और उन लोगोंके मिजाज वैसे ही ठंडे हो जायँगे, जैसे संयमी पुरुषके द्वारा प्राणायाम आदि उपायोंसे वशमें की हुई इन्द्रियाँ ॥ ४ ॥ ऐसा विचार करके कर्ण, शल, भूरिश्रवा, यज्ञकेतु और दुर्योधनादि वीरोंने कुरुवंशके बड़े-बूढ़ोंकी अनुमति ली तथा साम्बको पकड़ लेनेकी तैयारी की ॥ ५ ॥

जब महारथी साम्बने देखा कि धृतराष्ट्रके पुत्र मेरा पीछा कर रहे हैं, तब वे एक सुन्दर धनुष चढ़ाकर सिंहके समान अकेले ही रणभूमिमें डट गये ॥ ६ ॥ इधर कर्णको मुखिया बनाकर कौरववीर धनुष चढ़ाये हुए साम्बके पास आ पहुँचे और क्रोधमें भरकर उनको पकड़ लेनेकी इच्छासे 'खड़ा रह ! खड़ा रह !' इस प्रकार ललकारते हुए बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥ परीक्षित् ! यदुनन्दन साम्ब अचिन्त्यैश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्णके पुत्र थे । कौरवोंके प्रहारसे वे उनपर चिढ़ गये, जैसे सिंह तुच्छ हरिनोंका पराक्रम देखकर चिढ़ जाता है ॥ ८ ॥ साम्बने अपने सुन्दर धनुषका टंकार करके कर्ण आदि छः वीरोंपर, जो अलग-अलग छः रथोंपर सवार थे, छः-छः बाणोंसे एक साथ अलग-अलग

१. ताः प्रोचु० । २. ऽति० ।

चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन् ।
रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ॥१०॥

तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान् ।
एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम्॥११॥

तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि ।
कुमारं स्वस्य कन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ॥१२॥

तच्छ्रुत्वा नारदोक्तेन राजन् सञ्जातमन्यवः ।
कुरून् प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः ॥१३॥

सान्त्वयित्वा तु तान् रामः सन्नद्धान् वृष्णिपुङ्गवान् ।
नैच्छत् कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ॥१४॥

जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा ।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥१५॥

गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः ।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रं बुभुत्सया ॥१६॥

सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम् ।
दुर्योधनं च विधिवद् राममागतमब्रवीत् ॥१७॥

तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् ।
तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥१८॥

प्रहार किया ॥ ९ ॥ उनमेंसे चार-चार बाणं उनके चार-चार घोड़ोंपर, एक-एक उनके सारथियोंपर और एक-एक उन महान् धनुषधारी रथी वीरोंपर छोड़ा । साम्बके इस अद्भुत हस्तलाघवको देखकर विपक्षी वीर भी मुक्त-कण्ठसे उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १० ॥ इसके बाद उन छहों वीरोंने एक साथ मिलकर साम्बको रथहीन कर दिया । चार वीरोंने एक-एक बाणसे उनके चार घोड़ोंको मारा, एकने सारथीको और एकने साम्बका धनुष काट डाला ॥ ११ ॥ इस प्रकार कौरवोंने युद्धमें बड़ी कठिनाई और कष्टसे साम्बको रथहीन करके बाँध लिया । इसके बाद वे उन्हें तथा अपनी कन्या लक्ष्मणाको लेकर जय मनाते हुए हस्तिनापुर लौट आये ॥ १२ ॥

परीक्षित् ! नारदजीसे यह समाचार सुनकर यदु-वंशियोंको बड़ा क्रोध आया । वे महाराज उग्रसेनकी आज्ञासे कौरवोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारी करने लगे ॥ १३ ॥ बलरामजी कलहप्रधान कलियुगके सारे पाप-तापको मिटाने-वाले हैं । उन्होंने कुरुवंशियों और यदुवंशियोंके लड़ाई-झगड़ेको ठीक न समझा । यद्यपि यदुवंशी अपनी तैयारी पूरी कर चुके थे, फिर भी उन्होंने उन्हें शान्त कर दिया और स्वयं सूर्यके समान तेजस्वी रथपर सवार होकर हस्तिनापुर गये । उनके साथ कुछ ब्राह्मण और यदुवंशके बड़े-बूढ़े भी गये । उनके बीचमें बलरामजीकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो चन्द्रमा ग्रहोंसे घिरे हुए हों ॥ १४-१५ ॥ हस्तिनापुर पहुँचकर बलरामजी नगरके बाहर एक उप-वनमें ठहर गये और कौरवलोग क्या करना चाहते हैं, इस बातका पता लगानेके लिये उन्होंने उद्धवजीको धृत-राष्ट्रके पास भेजा ॥ १६ ॥

उद्धवजीने कौरवोंकी सभामें जाकर धृतराष्ट्र, भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य, बाह्लीक और दुर्योधनकी विधिपूर्वक अभ्यर्थना-वन्दना की और निवेदन किया कि 'बलरामजी पधारे हैं' ॥ १७ ॥ अपने परम हितैषी और प्रियतम बलरामजीका आगमन सुनकर कौरवोंकी प्रसन्नताकी सीमा न रही । वे उद्धवजीका विधिपूर्वक सत्कार करके अपने हाथोंमें माङ्गलिक सामग्री लेकर बलरामजीकी

१. राजंस्तेषां क्रुद्ध० ।

तं सङ्गम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन् ।
तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम् ॥१९॥

बन्धून् कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम् ।
परस्परमथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः ॥२०॥

उग्रसेनः क्षितीशेशो यद् व आज्ञापयत् प्रभुः ।
तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं माविलम्बितम् ॥२१॥

यद् यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाधर्मेण धार्मिकम् ।
अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया ॥२२॥

वीर्यशौर्यबलोन्नद्धमात्मशक्तिसमं वचः ।
कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥२३॥

अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया ।
आरुरुक्षत्युपानद् वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥२४॥

एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः ।
वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः ॥२५॥

चामरव्यजने शङ्खमातपत्रं च पाण्डुरम् ।
किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया ॥२६॥

अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनै-
र्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम् ।

अगवानी करने चले ॥ १८ ॥ फिर अपनी-अपनी अवस्था और सम्बन्धके अनुसार सब लोग बलरामजीसे मिले तथा उनके सत्कारके लिये उन्हें गौ अर्पण की एवं अर्घ्य प्रदान किया। उनमें जो लोग भगवान् बलरामजीका प्रभाव जानते थे, उन्होंने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥ १९ ॥ तदनन्तर उन लोगोंने परस्पर एक-दूसरेका कुशल-मङ्गल पूछा और यह सुनकर कि सब भाई-बन्धु सकुशल हैं, बलरामजीने बड़ी धीरता और गम्भीरताके साथ यह बात कही—॥ २० ॥ 'सर्वसमर्थ राजाधिराज महाराज उग्रसेनने तुमलोगोंको एक आज्ञा दी है। उसे तुमलोग एकाग्रता और सावधानीके साथ सुनो और अविलम्ब उसका पालन करो ॥ २१ ॥ उग्रसेनजीने कहा है—हम जानते हैं कि तुमलोगोंने कइयोंने मिलकर अधर्मसे अकेले धर्मात्मा साम्बको हरा दिया और बंदी कर लिया है। यह सब हम इसलिये सह लेते हैं कि हम सम्बन्धियोंमें परस्पर फूट न पड़े, एकता बनी रहे। (अतः अब झगड़ा मत बढ़ाओ, साम्बको उसकी नववधूके साथ हमारे पास भेज दो)॥ २२॥

परीक्षित्! बलरामजीकी वाणी वीरता, शूरता और बल-पौरुषके उत्कर्षसे परिपूर्ण और उनकी शक्तिके अनुरूप थी। यह बात सुनकर कुरुवंशी क्रोधसे तिलमिला उठे। वे कहने लगे—॥ २३ ॥ 'अहो, यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है! सचमुच कालकी चालको कोई टाल नहीं सकता। तभी तो आज पैरोंकी जूती उस सिरपर चढ़ना चाहती है, जो श्रेष्ठ मुकुटसे सुशोभित है ॥ २४ ॥ इन यदुवंशियोंके साथ किसी प्रकार हमलोगोंने विवाह-सम्बन्ध कर लिया। ये हमारे साथ सोने-बैठने और एक पंक्तिमें खाने लगे। हमलोगोंने ही इन्हें राजसिंहासन देकर राजा बनाया और अपने बराबर बना लिया ॥ २५॥ ये यदुवंशी चँवर, पंखा, शङ्ख, श्वेतछत्र, मुकुट, राजसिंहासन और राजोचित शय्याका उपयोग-उपभोग इसलिये कर रहे हैं कि हमने जान-बूझकर इस विषयमें उपेक्षा कर रक्खी है ॥ २६ ॥ बस-बस, अब हो चुका। यदुवंशियोंके पास अब राजचिह्न रहनेकी आवश्यकता नहीं, उन्हें उनसे छीन लेना चाहिये। जैसे साँपको दूध पिलाना पिलानेवालेके लिये ही घातक है, वैसे ही हमारे दिये हुए राजचिह्नोंको

येऽसत्प्रसादोपचिता हि यादवा
आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥२७॥
कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः।
अदत्तमवरुन्धीत सिंहग्रस्तमिवोरणः ॥२८॥

लेकर ये यदुवंशी हमसे ही विपरीत हो रहे हैं। देखो तो भला हमारे ही कृपा-प्रसादसे तो इनकी बढ़ती हुई और अब ये निर्लज्ज होकर हमींपर हुकुम चलाने चले हैं। शोक है! शोक है! ॥ २७ ॥ जैसे सिंहका ग्रास कभी भेड़ा नहीं छीन सकता, वैसे ही यदि भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि कौरववीर जान-बूझकर न छोड़ दें, न दे दें तो स्वयं देवराज इन्द्र भी किसी वस्तुका उपभोग कैसे कर सकते हैं? ॥ २८ ॥

श्रीशुक उवाच[1]

जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ।
आश्राव्य रामं दुर्वाच्यमसभ्याः पुरमाविशन् ॥२९॥
दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वावाच्यानि चाच्युतः।
अवोचत् कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन् मुहुः ॥३०॥
नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा ॥३१॥
अहो यदून् सुसंरब्धान् कृष्णं च कुपितं शनैः।
सान्त्वयित्वाहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः ॥३२॥
त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः।
तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाषान् मानिनोऽब्रुवन् ॥३३॥
नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः।
शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः ॥३४॥
सुधर्माऽऽक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कुरुवंशी अपनी कुलीनता, बान्धवों-परिवारवालों (भीष्मादि) के बल और धनसम्पत्तिके घमंडमें चूर हो रहे थे। उन्होंने साधारण शिष्टाचारकी भी परवा नहीं की और वे भगवान् बलरामजीको इस प्रकार दुर्वचन कहकर हस्तिनापुर लौट गये ॥ २९ ॥ बलरामजीने कौरवोंकी दुष्टता—अशिष्टता देखी और उनके दुर्वचन भी सुने। अब उनका चेहरा क्रोध-से तमतमा उठा। उस समय उनकी ओर देखातक नहीं जाता था। वे बार-बार जोर-जोरसे हँसकर कहने लगे—॥ ३० ॥ 'सच है, जिन दुष्टोंको अपनी कुलीनता, बलपौरुष और धनका घमंड हो जाता है, वे शान्ति नहीं चाहते। उनको दमन करनेका, रास्तेपर लानेका उपाय समझाना-बुझाना नहीं, बल्कि दण्ड देना है—ठीक वैसे ही जैसे पशुओंको ठीक करनेके लिये डंडेका प्रयोग आवश्यक होता है ॥ ३१ ॥ भला, देखो तो सही—सारे यदुवंशी और कृष्ण भी क्रोधसे भरकर लड़ाईके लिये तैयार हो रहे थे। मैं उन्हें शनैः-शनैः समझा-बुझाकर इन लोगोंको शान्त करनेके लिये, सुलह करनेके लिये यहाँ आया ॥ ३२ ॥ फिर भी ये मूर्ख ऐसी दुष्टता कर रहे हैं। इन्हें शान्ति प्यारी नहीं, कलह प्यारी है। ये इतने घमंडी हो रहे हैं कि बार-बार मेरा तिरस्कार करके गालियाँ बक गये हैं ॥ ३३ ॥ ठीक है, भाई! ठीक है! पृथ्वीके राजाओंकी तो बात ही क्या, त्रिलोकीके स्वामी इन्द्र आदि लोकपाल जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं, वे उग्रसेन राजाधिराज नहीं हैं; वे तो केवल भोज, वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके ही स्वामी हैं! ॥ ३४ ॥ क्यों? जो सुधर्मासभाको अधिकारमें करके उसमें विराजते हैं और जो देवताओंके

१. बादरायणिरुवाच।

आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः ॥३५॥

यस्य पादयुगं साक्षात् श्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी ।

स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥३६॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालै-

मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।

ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः

श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ॥३७॥

भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल ।

उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरवः शिरः ॥३८॥

अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् ।

असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता ॥३९॥

अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ।

गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥४०॥

लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ।

विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥

वृक्ष पारिजातको उखाड़कर ले आते और उसका उपभोग करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण भी राजसिंहासनके अधिकारी नहीं हैं ! अच्छी बात है ! ॥ ३५ ॥ सारे जगत्की स्वामिनी भगवती लक्ष्मी स्वयं जिनके चरण-कमलोंकी उपासना करती हैं, वे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र छत्र, चँवर आदि राजोचित सामग्रियोंको नहीं रख सकते ॥ ३६ ॥ ठीक है भाई ! जिनके चरणकमलोंकी धूल संत पुरुषोंके द्वारा सेवित गङ्गा आदि तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाली है, सारे लोकपाल अपने-अपने श्रेष्ठ मुकुटपर जिनके चरणकमलोंकी धूल धारण करते हैं; ब्रह्मा, शङ्कर, मैं और लक्ष्मीजी जिनकी कला-की भी कला हैं और जिनके चरणोंकी धूल सदा-सर्वदा धारण करते हैं; उन भगवान् श्रीकृष्णके लिये भला राजसिंहासन कहाँ रक्खा है ! ॥३७॥ बेचारे यदुवंशी तो कौरवोंका दिया हुआ पृथ्वीका एक टुकड़ा भोगते हैं ! क्या खूब ! हमलोग जूती हैं और ये कुरुवंशी स्वयं सिर हैं ॥ ३८ ॥ ये लोग ऐश्वर्यसे उन्मत्त, घमंडी कौरव पागल-सरीखे हो रहे हैं । इनकी एक-एक बात कटुतासे भरी और बेसिर-पैरकी है । मेरे-जैसा पुरुष—जो इनका शासन कर सकता है, इन्हें दण्ड देकर इनके होश ठिकाने ला सकता है—भला, इनकी बातोंको कैसे सहन कर सकता है ? ॥ ३९ ॥ आज मैं सारी पृथ्वीको कौरवहीन कर डालूँगा, इस प्रकार कहते-कहते बलरामजी क्रोधसे ऐसे भर गये, मानो त्रिलोकीको भस्म कर देंगे । वे अपना हल लेकर खड़े हो गये ॥४०॥ उन्होंने उसकी नोकसे बार-बार चोट करके हस्तिनापुर-को उखाड़ लिया और उसे डुबानेके लिये बड़े क्रोधसे गङ्गाजीकी ओर खींचने लगे ॥ ४१ ॥

जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।

आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥४२॥

तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीविषवः ।

सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम् ॥४३॥

हलसे खींचनेपर हस्तिनापुर इस प्रकार काँपने लगा मानो जलमें कोई नाव डगमगा रही हो । जब कौरवोंने देखा कि हमारा नगर तो गङ्गाजीमें गिर रहा है, तब वे घबड़ा उठे ॥ ४२ ॥ फिर उन लोगोंने लक्ष्मणाके साथ साम्बको आगे किया और अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये कुटुम्बके साथ हाथ जोड़कर सर्वशक्तिमान् उन्हीं भगवान् बलरामजीकी शरणमें गये ॥ ४३ ॥

राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदाम ते ।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् ॥४४॥
स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः ।
लोकान् क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि ॥४५॥
त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त लीलया
भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्धन् ।
अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः
शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥४६॥
कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं[1] न द्वेषान्न च मत्सरात् ।
बिभ्रतो भगवन् सत्त्वं स्थितिपालनतत्परः ॥४७॥
नमस्ते सर्वभूतात्मन् सर्वशक्तिधराव्यय ।
विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥४८॥

श्रीशुक उवाच[2]

एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः ।
प्रसादितः सुप्रसन्नो मा भैष्टेत्यभयं ददौ ॥४९॥
दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान् षष्टिहायनान् ।
ददौ च[3] द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान् ॥५०॥
रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥५१॥
प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं भगवान् सात्वतर्षभः ।
ससुतः सस्नुषः प्रागात् सुहृद्भिरभिवन्दितः ॥५२॥

और कहने लगे—'लोकाभिराम बलरामजी! आप सारे जगत्के आधार शेषजी हैं। हम आपका प्रभाव नहीं जानते। प्रभो हमलोग मूढ़ हो रहे हैं, हमारी बुद्धि बिगड़ गयी है; इसलिये आप हमलोगोंका अपराध क्षमा कर दीजिये ॥४४॥ आप जगत्की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयके एकमात्र कारण हैं और स्वयं निराधार स्थित हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभो! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि कहते हैं कि आप खिलाड़ी हैं और ये सब-के-सब लोक आपके खिलौने हैं ॥ ४५ ॥ अनन्त! आपके सहस्र-सहस्र सिर हैं और आप खेल-खेलमें ही इस भूमण्डलको अपने सिरपर रक्खे रहते हैं। जब प्रलयका समय आता है, तब आप सारे जगत्को अपने भीतर लीन कर लेते हैं और केवल आप ही बचे रहकर अद्वितीयरूपसे शयन करते हैं ॥ ४६ ॥ भगवन्! आप जगत्की स्थिति और पालनके लिये विशुद्ध सत्त्वमय शरीर ग्रहण किये हुए हैं। आपका यह क्रोध द्वेष या मत्सरके कारण नहीं है। यह तो समस्त प्राणियोंको शिक्षा देनेके लिये है ॥ ४७ ॥ समस्त शक्तियोंको धारण करनेवाले सर्वप्राणिस्वरूप अविनाशी भगवन्! आपको हम नमस्कार करते हैं। समस्त विश्वके रचयिता देव! हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं। हम आपकी शरणमें हैं। आप कृपा करके हमारी रक्षा कीजिये' ॥ ४८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कौरवोंका नगर डगमगा रहा था और वे अत्यन्त घबराहटमें पड़े हुए थे। जब सब-के-सब कुरुवंशी इस प्रकार भगवान् बलरामजीकी शरणमें आये और उनकी स्तुति-प्रार्थना की, तब वे प्रसन्न हो गये और 'डरो मत' ऐसा कहकर उन्हें अभयदान दिया ॥ ४९ ॥ परीक्षित्! दुर्योधन अपनी पुत्री लक्ष्मणासे बड़ा प्रेम करता था। उसने दहेजमें साठ-साठ वर्षके बारह सौ हाथी, दस हजार घोड़े, सूर्यके समान चमकते हुए सोनेके छः हजार रथ और सोनेके हार पहनी हुई एक हजार दासियाँ दीं ॥ ५०-५१ ॥ यदुवंशशिरोमणि भगवान् बलरामजीने वह सब दहेज स्वीकार किया और नवदम्पति लक्ष्मणा तथा साम्बके साथ कौरवोंका अभिनन्दन स्वीकार करके द्वारकाकी यात्रा की ॥ ५२ ॥

१. स्ते खलु शिक्षा०। २. बादरायणिरुवाच। ३. द्विशतसाहस्रं हयानामयुतानि च।

ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः
समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः ।
शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां
मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥

अब बलरामजी द्वारकापुरीमें पहुँचे और अपने प्रेमी तथा समाचार जाननेके लिये उत्सुक बन्धु-बान्धवोंसे मिले। उन्होंने यदुवंशियोंकी भरी सभामें अपना वह सारा चरित्र कह सुनाया, जो हस्तिनापुरमें उन्होंने कौरवोंके साथ किया था ॥ ५३ ॥

अद्यापि च पुरं ह्येतत् सूचयद् रामविक्रमम् ।
समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनुदृश्यते ॥५४॥

परीक्षित्! यह हस्तिनापुर आज भी दक्षिणकी ओर ऊँचा और गङ्गाजीकी ओर कुछ झुका हुआ है और इस प्रकार यह भगवान् बलराम-जीके पराक्रमकी सूचना दे रहा है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे हास्तिनपुरकर्षणरूपसङ्कर्षणविजयो नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः[1] ॥ ६८ ॥

अथैकोनसप्ततितमोऽध्यायः

देवर्षि नारदजीका भगवान्‌की गृहचर्या देखना

श्रीशुक उवाच[2]

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम् ।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद् दिदृक्षुः स्म नारदः ॥ १ ॥
चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्[3] ॥ २ ॥
इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ।
पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम् ॥ ३ ॥
उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकह्लारकुमुदोत्पलैः ।
छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥ ४ ॥
प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः ।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब देवर्षि नारदने सुना कि भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुर (भौमासुर) को मारकर अकेले ही हजारों राजकुमारियोंके साथ विवाह कर लिया है, तब उनके मनमें भगवान्‌की रहन-सहन देखनेकी बड़ी अभिलाषा हुई ॥ १ ॥ वे सोचने लगे—अहो, यह कितने आश्चर्यकी बात है कि भगवान् श्रीकृष्णने एक ही शरीरसे एक ही समय सोलह हजार महलोंमें अलग-अलग सोलह हजार राजकुमारियोंका पाणिग्रहण किया ॥ २ ॥ देवर्षि नारद इस उत्सुकतासे प्रेरित होकर भगवान्‌की लीला देखनेके लिये द्वारका आ पहुँचे। वहाँके उपवन और उद्यान खिले हुए रंग-बिरंगे पुष्पोंसे लदे वृक्षोंसे परिपूर्ण थे, उनपर तरह-तरहके पक्षी चहक रहे थे और भौंरे गुञ्जार कर रहे थे ॥ ३ ॥ निर्मल जलसे भरे सरोवरोंमें नीले, लाल और सफेद रंगके भाँति-भाँतिके कमल खिले हुए थे। कुमुद (कोईं) और नवजात कमलोंकी मानो भीड़ ही लगी हुई थी। उनमें हंस और सारस कलरव कर रहे थे। ॥ ४ ॥ द्वारकापुरीमें स्फटिकमणि और चाँदीके नौ लाख महल थे। वे फर्श आदिमें जड़ी हुई महामरकतमणि (पन्ने) की प्रभासे जगमगा रहे थे और उनमें सोने तथा हीरोंकी

१. न्धे बलदेवविजयोऽष्टष०। २. बादरायणिरुवाच। ३. उवाह यत्।

विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः

शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।

संसिक्तमार्गाङ्गणवीथिदेहलीं

पतत्पताकाध्वजवारितातपाम्[२] ॥ ६ ॥

तस्यामन्तःपुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः ।

हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम्[३] ॥ ७ ॥

तत्र षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतम् ।

विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ॥ ८ ॥

विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैर्वैदूर्यफलकोत्तमैः[४] ।

इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा ॥ ९ ॥

वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।

दान्तैरासनपर्यङ्कैर्मण्युत्तमपरिष्कृतैः ॥ १० ॥

दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम् ।

पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीषसुवस्त्रमणिकुण्डलैः[५] ॥ ११ ॥

रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्त-

ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ।

नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-

र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥ १२ ॥

बहुत-सी सामग्रियाँ शोभायमान थीं ॥ ५ ॥ उसके राज-पथ (बड़ी-बड़ी सड़कें), गलियाँ, चौराहे और बाजार बहुत ही सुन्दर-सुन्दर थे । घुड़साल आदि पशुओंके रहनेके स्थान, सभा-भवन और देव-मन्दिरोंके कारण उसका सौन्दर्य और भी चमक उठा था । उसकी सड़कों, चौक, गली और दरवाजोंपर छिड़काव किया गया था । छोटी-छोटी झंडियाँ और बड़े-बड़े झंडे जगह-जगह फहरा रहे थे, जिनके कारण रास्तोंपर धूप नहीं आ पाती थी ॥ ६ ॥

उसी द्वारका नगरीमें भगवान् श्रीकृष्णका बहुत ही सुन्दर अन्तःपुर था । बड़े-बड़े लोकपाल उसकी पूजा-प्रशंसा किया करते थे । उसका निर्माण करनेमें विश्वकर्माने अपना सारा कला-कौशल, सारी कारीगरी लगा दी थी ॥ ७ ॥ उस अन्तःपुर (रनिवास) में भगवान्‌की रानियोंके सोलह हजारसे अधिक महल शोभायमान थे, उनमेंसे एक बड़े भवनमें देवर्षि नारद-जीने प्रवेश किया ॥ ८ ॥ उस महलमें मूँगोंके खंभे, वैदूर्यके उत्तम-उत्तम छज्जे तथा इन्द्रनील-मणिकी दीवारें जगमगा रही थीं और वहाँकी गचें भी ऐसी इन्द्रनील मणियोंसे बनी हुई थीं, जिनकी चमक किसी प्रकार कम नहीं होती ॥ ९ ॥ विश्वकर्माने बहुत-से ऐसे चँदोवे बना रक्खे थे, जिनमें मोतीकी लड़ियोंकी झालरें लटक रही थीं । हाथी-दाँतके बने हुए आसन और पलँग थे, जिनमें श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मणि जड़ी हुई थी ॥ १० ॥ बहुत-सी दासियाँ गलेमें सोनेका हार पहने और सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित होकर तथा बहुत-से सेवक भी जामा-पगड़ी और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहने तथा जड़ाऊ कुण्डल धारण किये अपने-अपने काममें व्यस्त थे और महलकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ११ ॥ अनेकों रत्न-प्रदीप अपनी जगमगाहटसे उसका अन्धकार दूर कर रहे थे । अगरकी धूप देनेके कारण झरोखोंसे धूआँ निकल रहा था । उसे देखकर रंग-बिरंगे मणिमय छज्जोंपर बैठे हुए मोर बादलोंके भ्रमसे कूक-कूककर नाचने लगते ॥ १२ ॥

---

१. धिशोभां । २. प्रा० प्रतिमें '''वारितातपाम् ॥' इस श्लोकके बाद 'उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकह्लारकुमुदोत्पलैः । छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥ पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम् ।' इस डेढ़ श्लोकका पाठ है, इसके पहले नहीं । ३. सर्वविस्मापकं यत्रात्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन निर्मितम् । ४. जालैर्मरकतोत्तमैः । ५. षः सुवासोमणि० ।

तस्मिन् समानगुणरूपवयस्सुवेष-
दासीसहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या ।
विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्म-
दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥१३॥

देवर्षि नारदजीने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण उस महल-की स्वामिनी रुक्मिणीजीके साथ बैठे हुए हैं और वे अपने हाथों भगवान्को सोनेकी डाँड़ीवाले चँवरसे हवा कर रही हैं। यद्यपि उस महलमें रुक्मिणीजीके समान ही गुण, रूप, अवस्था और वेष-भूषावाली सहस्रों दासियाँ भी हर समय विद्यमान रहती थीं ॥ १३ ॥

तं सन्निरीक्ष्य भगवान् सहसोत्थितः श्री-
पर्यङ्कतः सकलधर्मभृतां वरिष्ठः ।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-
जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ॥१४॥
तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना-
बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि ।
ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं
तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम् ॥१५॥

नारदजीको देखते ही समस्त धार्मिकोंके मुकुटमणि भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके पलँगसे सहसा उठ खड़े हुए। उन्होंने देवर्षि नारदके युगलचरणोंमें मुकुटयुक्त सिरसे प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उन्हें अपने आसनपर बैठाया ॥ १४ ॥ परीक्षित्! इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् श्रीकृष्ण चराचर जगत्के परम गुरु हैं और उनके चरणोंका धोवन गङ्गाजल सारे जगत्को पवित्र करनेवाला है। फिर भी वे परमभक्तवत्सल और संतोंके परम आदर्श, उनके स्वामी हैं। उनका एक असाधारण नाम ब्रह्मण्यदेव भी है। वे ब्राह्मणोंको ही अपना आराध्यदेव मानते हैं। उनका यह नाम उनके गुणके अनुरूप एवं उचित ही है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही नारदजीके पाँव पखारे और उनका चरणामृत अपने सिरपर धारण किया ॥ १५ ॥

सम्पूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो
नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं
प्राह प्रभो भगवते करवाम हे किम् ॥१६॥

नर-शिरोमणि नरके सखा सर्वदर्शी पुराणपुरुष भगवान् नारायणने शास्त्रोक्त विधिसे देवर्षिशिरोमणि भगवान् नारदकी पूजा की। इसके बाद अमृतसे भी मीठे किन्तु थोड़े शब्दोंमें उनका स्वागत-सत्कार किया और फिर कहा—'प्रभो! आप तो स्वयं समग्र ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री और ऐश्वर्यसे पूर्ण हैं। आपकी हम क्या सेवा करें?' ॥ १६ ॥

नारद उवाच

नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे
मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम् ।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥१७॥

देवर्षि नारदने कहा—भगवन्! आप समस्त लोकोंके एकमात्र स्वामी हैं। आपके लिये यह कोई नयी बात नहीं है कि आप अपने भक्तजनोंसे प्रेम करते हैं और दुष्टोंको दण्ड देते हैं। परमयशस्वी प्रभो! आपने जगत्की स्थिति और रक्षाके द्वारा समस्त जीवोंका कल्याण करनेके लिये स्वेच्छासे अवतार ग्रहण किया है। भगवन्! यह बात हम भलीभाँति जानते

दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात्॥१८॥

हैं ॥ १७ ॥ यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मुझे आपके चरणकमलोंके दर्शन हुए हैं । आपके ये चरणकमल सम्पूर्ण जनताको परम साम्य, मोक्ष देनेमें समर्थ हैं । जिनके ज्ञानकी कोई सीमा ही नहीं है वे ब्रह्मा, शङ्कर आदि सदा-सर्वदा अपने हृदयमें उनका चिन्तन करते रहते हैं । वास्तवमें वे श्रीचरण ही संसाररूप कूएँमें गिरे हुए लोगोंके बाहर निकलनेके लिये अवलम्बन हैं । आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपके उन चरणकमलोंकी स्मृति सर्वदा बनी रहे और मैं चाहे जहाँ जैसे रहूँ, उनके ध्यानमें तन्मय रहूँ ॥ १८ ॥

ततोऽन्यदाविशद् गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।
योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया ॥१९॥

परीक्षित् ! इसके बाद देवर्षि नारदजी योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी योगमायाका रहस्य जाननेके लिये उनकी दूसरी पत्नीके महलमें गये ॥ १९ ॥

दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च ।
पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥२०॥

वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्राणप्रिया और उद्धवजीके साथ चौसर खेल रहे हैं । वहाँ भी भगवान्‌ने खड़े होकर उनका स्वागत किया, आसनपर बैठाया और विविध सामग्रियोंद्वारा बड़ी भक्तिसे उनकी अर्चा-पूजा की ॥ २० ॥

पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदाऽऽयातो भवानिति ।
क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥२१॥

इसके बाद भगवान्‌ने नारदजीसे अनजानकी तरह पूछा—'आप यहाँ कब पधारे ! आप तो परिपूर्ण आत्माराम—आप्तकाम हैं और हमलोग हैं अपूर्ण । ऐसी अवस्थामें भला हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं ॥ २१ ॥

अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन् जन्मैतच्छोभनं कुरु ।
स तु विस्मित उत्थाय तूष्णीमन्यदगाद् गृहम् ॥२२॥

फिर भी ब्रह्मस्वरूप नारदजी ! आप कुछ-न-कुछ आज्ञा अवश्य कीजिये और हमें सेवाका अवसर देकर हमारा जन्म सफल कीजिये ।' नारदजी यह सब देख-सुनकर चकित और विस्मित हो रहे थे । वे वहाँसे उठकर चुपचाप दूसरे महलमें चले गये ॥ २२ ॥

तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुतान्[1] शिशून् ।
ततोऽन्यस्मिन् गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥२३॥

उस महलमें भी देवर्षि नारदने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने नन्हे-नन्हे बच्चोंको दुलार रहे हैं । वहाँसे फिर दूसरे महलमें गये तो क्या देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण स्नानकी तैयारी कर रहे हैं ॥ २३ ॥

जुह्वन्तं च वितानाग्नीन् यजन्तं पञ्चभिर्मखैः ।
भोजयन्तं द्विजान् क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ॥२४॥

(इसी प्रकार देवर्षि नारदने विभिन्न महलोंमें भगवान्‌को भिन्न-भिन्न कार्य करते देखा ।) कहीं वे यज्ञकुण्डोंमें हवन कर रहे हैं तो कहीं पञ्चमहायज्ञोंसे देवता आदिकी आराधना कर रहे हैं । कहीं ब्राह्मणोंको भोजन करा रहे हैं, तो कहीं यज्ञका अवशेष स्वयं भोजन कर रहे

१. शिशून् सुतान् ।

क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम्[1] ।
एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥२५॥
अश्वैर्गजै रथैः क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।
क्वचिच्छयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च वन्दिभिः ॥२६॥
मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः ।
जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम् ॥२७॥
कुत्रचिद् द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलंकृताः ।
इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ॥२८॥
हसन्तं हास्यकथया कदाचित् प्रियया गृहे ।
क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥२९॥
ध्यायन्तमेकमासीनं[2] पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
शुश्रूषन्तं गुरून् क्वापि कामैर्भोगैः[3] सपर्यया ॥३०॥
कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित् सन्धिं चान्यत्र केशवम् ।
कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ॥३१॥
पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपयापनम् ।
दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः ॥३२॥
प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान् ।
वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ॥३३॥
यजन्तं सकलान् देवान् क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः ।
पूर्तयन्तं क्वचिद् धर्मं कूपाराममठादिभिः ॥३४॥
चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।
घ्नन्तं ततः पशून् मेध्यान् परीतं यदुपुङ्गवैः ॥३५॥

हैं ॥ २४ ॥ कहीं सन्ध्या कर रहे हैं, तो कहीं मौन होकर गायत्रीका जप कर रहे हैं । कहीं हाथोंमें ढाल-तलवार लेकर उनको चलानेके पैंतरे बदल रहे हैं ॥ २५ ॥ कहीं घोड़े, हाथी अथवा रथपर सवार होकर श्रीकृष्ण विचरण कर रहे हैं । कहीं पलंगपर सो रहे हैं तो कहीं वंदीजन उनकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २६ ॥ किसी महलमें उद्धव आदि मन्त्रियोंके साथ किसी गम्भीर विषयपर परामर्श कर रहे हैं, तो कहीं उत्तमोत्तम वाराङ्गनाओंसे घिरकर जलक्रीडा कर रहे हैं ॥ २७ ॥ कहीं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणसे सुसज्जित गौओंका दान कर रहे हैं, तो कहीं मङ्गलमय इतिहास-पुराणोंका श्रवण कर रहे हैं ॥ २८ ॥ कहीं किसी पत्नीके महलमें अपनी प्राणप्रियाके साथ हास्य-विनोदकी बातें करके हँस रहे हैं, तो कहीं धर्मका सेवन कर रहे हैं । कहीं अर्थका सेवन कर रहे हैं—धन-संग्रह और धनवृद्धिके कार्यमें लगे हुए हैं, तो कहीं धर्मानुकूल गृहस्थोचित विषयोंका उपभोग कर रहे हैं ॥ २९ ॥ कहीं एकान्तमें बैठकर प्रकृतिसे अतीत पुराण-पुरुषका ध्यान कर रहे हैं, तो कहीं गुरुजनोंको इच्छित भोग-सामग्री समर्पित करके उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं ॥ ३० ॥ देवर्षि नारदने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण किसीके साथ युद्धकी बात कर रहे हैं, तो किसीके साथ सन्धिकी । कहीं भगवान् बलरामजीके साथ बैठकर सत्पुरुषोंके कल्याणके बारेमें विचार कर रहे हैं ॥ ३१ ॥ कहीं उचित समयपर पुत्र और कन्याओंका उनके सदृश पत्नी और वरोंके साथ बड़ी धूमधामसे विधिवत् विवाह कर रहे हैं ॥ ३२ ॥ कहीं घरसे कन्याओंको विदा कर रहे हैं, तो कहीं बुलानेकी तैयारीमें लगे हुए हैं । योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके इन विराट् उत्सवोंको देखकर सभी लोग विस्मित-चकित हो जाते थे ॥ ३३ ॥ कहीं बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा समस्त देवताओंका यजन-पूजन और कहीं कूएँ, बगीचे तथा मठ आदि बनवाकर इष्टापूर्त धर्मका आचरण कर रहे हैं ॥ ३४ ॥ कहीं श्रेष्ठ यादवोंसे घिरे हुए सिन्धुदेशीय घोड़ेपर चढ़कर मृगया कर रहे हैं, और उसमें यज्ञके लिये मेध्य पशुओंका ही वध कर रहे

१. गायन्तं । २. ध्यायन्नास्ते क्व चात्मानं । ३. मभोगै० ।

अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।
क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया ॥३६॥

हैं ॥ ३५ ॥ और कहीं प्रजामें तथा अन्तःपुरके महलोंमें वेष बदलकर छिपे रूपसे सबका अभिप्राय जाननेके लिये विचरण कर रहे हैं । क्यों न हो, भगवान् योगेश्वर जो हैं ॥ ३६ ॥

अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम् ॥३७॥
विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि मायिनाम् ।
योगेश्वरात्मन् निर्भाता भवत्पादनिषेवया ॥३८॥
अनुजानीहि मां देव लोकांस्ते यशसाऽऽप्लुतान् ।
पर्यटामि तवोद्गायन् लीलां भुवनपावनीम् ॥३९॥

परीक्षित्! इस प्रकार मनुष्यकी-सी लीला करते हुए हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णकी योगमायाका वैभव देखकर देवर्षि नारदजीने मुसकराते हुए उनसे कहा—॥ ३७ ॥ 'योगेश्वर! आत्मदेव! आपकी योगमाया ब्रह्माजी आदि बड़े-बड़े मायावियोंके लिये भी अगम्य है। परन्तु हम आपकी योगमायाका रहस्य जानते हैं; क्योंकि आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे वह स्वयं ही हमारे सामने प्रकट हो गयी है ॥ ३८ ॥ देवताओंके भी आराध्यदेव भगवन्! चौदहों भुवन आपके सुयशसे परिपूर्ण हो रहे हैं। अब मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपकी त्रिभुवन-पावनी लीलाका गान करता हुआ उन लोकोंमें विचरण करूँ' ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ॥४०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवर्षि नारदजी! मैं ही धर्मका उपदेशक, पालन करनेवाला और उसका अनुष्ठान करनेवालोंका अनुमोदनकर्ता भी हूँ। इसलिये संसारको धर्मकी शिक्षा देनेके उद्देश्यसे ही मैं इस प्रकार धर्मका आचरण करता हूँ। मेरे प्यारे पुत्र! तुम मेरी यह योगमाया देखकर मोहित मत होना ॥ ४० ॥

श्रीशुक उवाच

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम् ।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ॥४१॥
कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद् विस्मितो जातकौतुकः ॥४२॥
इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना ।
सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन् ययौ ॥४३॥
एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो
नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थोंको पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ धर्मोंका आचरण कर रहे थे। यद्यपि वे एक ही हैं, फिर भी देवर्षि नारदजीने उनको उनकी प्रत्येक पत्नीके महलमें अलग-अलग देखा ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी शक्ति अनन्त है। उनकी योगमायाका परम ऐश्वर्य बार-बार देखकर देवर्षि नारदके विस्मय और कौतूहलकी सीमा न रही ॥ ४२ ॥ द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थकी भाँति ऐसा आचरण करते थे, मानो धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थोंमें उनकी बड़ी श्रद्धा हो। उन्होंने देवर्षि नारदका बहुत सम्मान किया। वे अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान्‌का

रेमेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गनानां
सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः ॥४४॥
यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा
भक्तिर्भवेद् भगवति ह्यपवर्गमार्गे ॥४५॥

स्मरण करते हुए वहाँसे चले गये ॥ ४३ ॥ राजन्! भगवान् नारायण सारे जगत्‌के कल्याणके लिये अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाको स्वीकार करते हैं और इस प्रकार मनुष्योंकी-सी लीला करते हैं। द्वारकापुरीमें सोलह हजारसे भी अधिक पत्नियाँ अपनी सलज्ज एवं प्रेमभरी चितवन तथा मन्द-मन्द मुसकानसे उनकी सेवा करती थीं और वे उनके साथ विहार करते थे ॥ ४४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने जो लीलाएँ की हैं, उन्हें दूसरा कोई नहीं कर सकता। परीक्षित्! वे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं। जो उनकी लीलाओंका गान, श्रवण और गान-श्रवण करनेवालोंका अनुमोदन करता है, उसे मोक्षके मार्गस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें परम प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
कृष्णगार्हस्थ्यदर्शनं नामैकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

अथ सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी नित्यचर्या और उनके पास जरासन्धके कैदी राजाओंके दूतका आना

श्रीशुक उवाच[2]

अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः ॥ १ ॥
वयांस्यरूरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥ २ ॥
मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम्।
परिरम्भणविश्लेषात् प्रियबाह्वन्तरं गता ॥ ३ ॥
ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब सवेरा होने लगता, कुक्कुट (मुरगे) बोलने लगते, तब वे श्रीकृष्ण-पत्नियाँ, जिनके कण्ठमें श्रीकृष्णने अपनी भुजा डाल रखी है, उनके बिछोहकी आशङ्कासे व्याकुल हो जातीं और उन मुरगोंको कोसने लगतीं ॥ १ ॥ उस समय पारिजातकी सुगन्धसे सुवासित भीनी-भीनी वायु बहने लगती। भौंरे तालस्वरसे अपने सङ्गीतकी तान छेड़ देते। पक्षियोंकी नींद उचट जाती और वे वंदीजनोंकी भाँति भगवान् श्रीकृष्णको जगानेके लिये मधुर स्वरसे कलरव करने लगते ॥ २ ॥ रुक्मिणीजी अपने प्रियतमके भुजपाशसे बँधी रहनेपर भी आलिङ्गन छूट जानेकी आशङ्कासे अत्यन्त सुहावने और पवित्र ब्राह्ममुहूर्तको भी असह्य समझने लगती थीं ॥ ३ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठ जाते और हाथ-मुँह धोकर अपने मायातीत आत्मस्वरूपका ध्यान करने लगते। उस समय उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठता था ॥४॥

१. न्धे एकोन०। २. बादरायणिरुवाच।

एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥ ५ ॥

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥ ६ ॥

उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः ।
देवानृषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥ ७ ॥

धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ॥ ८ ॥

ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह ।
अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने ॥ ९ ॥

गोविप्रदेवतावृद्धगुरून् भूतानि सर्वशः ।

परीक्षित् ! भगवान्‌का वह आत्मस्वरूप सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित एक, अखण्ड है। क्योंकि उसमें किसी प्रकारकी उपाधि या उपाधिके कारण होनेवाला अन्य वस्तुका अस्तित्व नहीं है। और यही कारण है कि वह अविनाशी सत्य है। जैसे चन्द्रमा-सूर्य आदि नेत्र-इन्द्रियके द्वारा और नेत्र-इन्द्रिय चन्द्रमा-सूर्य आदिके द्वारा प्रकाशित होती है, वैसे वह आत्म-स्वरूप दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयंप्रकाश है। इसका कारण यह है कि अपने स्वरूपमें ही सदा-सर्वदा और कालकी सीमाके परे भी एकरस स्थित रहनेके कारण अविद्या उसका स्पर्श भी नहीं कर सकती। इसीसे प्रकाश्य-प्रकाशकभाव उसमें नहीं है। जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और नाशकी कारणभूता ब्रह्मशक्ति, विष्णुशक्ति और रुद्रशक्तियोंके द्वारा केवल इस बातका अनुमान हो सकता है कि वह स्वरूप एकरस सत्तारूप और आनन्दस्वरूप है। उसीको समझानेके लिये 'ब्रह्म' नामसे कहा जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने उसी आत्मस्वरूपका प्रतिदिन ध्यान करते ॥ ५ ॥ इसके बाद वे विधिपूर्वक निर्मल और पवित्र जलमें स्नान करते। फिर शुद्ध धोती पहनकर, दुपट्टा ओढ़कर यथाविधि नित्यकर्म सन्ध्या-वन्दन आदि करते। इसके बाद हवन करते और मौन होकर गायत्रीका जप करते। क्यों न हो, वे सत्पुरुषोंके पात्र आदर्श जो हैं ॥ ६ ॥ इसके बाद सूर्योदय होनेके समय सूर्योपस्थान करते और अपने कलास्वरूप देवता, ऋषि तथा पितरोंका तर्पण करते। फिर कुलके बड़े-बूढ़ों और ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा करते। इसके बाद परम मनस्वी श्रीकृष्ण दुधार, पहले-पहल ब्यायी हुई, बछड़ोंवाली सीधी-शान्त गौओंका दान करते। उस समय उन्हें सुन्दर वस्त्र और मोतियोंकी माला पहना दी जाती। सींगमें सोना और खुरोंमें चाँदी मढ़ दी जाती। वे ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित करके रेशमी वस्त्र, मृगचर्म और तिलके साथ प्रतिदिन तेरह हजार चौरासी गौएँ इस प्रकार दान करते ॥ ७–९ ॥ तदनन्तर अपनी विभूतिरूप गौ, ब्राह्मण, देवता, कुलके बड़े-बूढ़े, गुरुजन और समस्त

१. मद्व्यं। २. वृद्धान् गुरून्।

नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥१०॥

आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् ।

वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यस्रगनुलेपनैः ॥११॥

अवेक्ष्याज्यं तथाऽऽदर्शं गोवृषद्विजदेवताः ।

कामांश्च सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम् ।

प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥१२॥

संविभज्याग्रतो विप्रान् स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ।

सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् ॥१३॥

तावत् सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।

सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥१४॥

गृहीत्वा पाणिना पाणी सारथेस्तमथारुहत् ।

सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ॥१५॥

ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः ।

कृच्छ्राद् विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन् मनः ॥१६॥

सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।

प्राविशद् यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्मयः ॥१७॥

तत्रोपविष्टः परमासने विभु-

र्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।

प्राणियोंको प्रणाम करके माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करते ॥ १० ॥ परीक्षित् ! यद्यपि भगवान्‌के शरीरका सहज सौन्दर्य ही मनुष्यलोकका अलङ्कार है, फिर भी वे अपने पीताम्बरादि दिव्य वस्त्र, कौस्तुभादि आभूषण, पुष्पोंके हार और चन्दनादि दिव्य अङ्गरागसे अपनेको आभूषित करते ॥ ११ ॥ इसके बाद वे घी और दर्पणमें अपना मुखारविन्द देखते; गाय, बैल, ब्राह्मण और देव-प्रतिमाओंका दर्शन करते । फिर पुरवासी और अन्तःपुरमें रहनेवाले चारों वर्णोंके लोगोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते और फिर अपनी अन्य (ग्रामवासी) प्रजाकी कामनापूर्ति करके उसे सन्तुष्ट करते और इन सबको प्रसन्न देखकर स्वयं बहुत ही आनन्दित होते ॥ १२ ॥ वे पुष्पमाला, ताम्बूल, चन्दन और अङ्गराग आदि वस्तुएँ पहले ब्राह्मण, स्वजन-सम्बन्धी, मन्त्री और रानियोंको बाँट देते; और उनसे बची हुई स्वयं अपने काममें लाते ॥ १३ ॥ भगवान् यह सब करते होते, तबतक दारुक नामका सारथी सुग्रीव आदि घोड़ोंसे जुता हुआ अत्यन्त अद्भुत रथ ले आता और प्रणाम करके भगवान्‌के सामने खड़ा हो जाता ॥ १४ ॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण सात्यकि और उद्धवजीके साथ अपने हाथसे सारथीका हाथ पकड़कर रथपर सवार होते—ठीक वैसे ही जैसे भुवनभास्कर भगवान् सूर्य उदयाचलपर आरूढ होते हैं ॥ १५ ॥ उस समय रनिवासकी स्त्रियाँ लज्जा एवं प्रेमसे भरी चितवनसे उन्हें निहारने लगतीं और बड़े कष्टसे उन्हें बिदा करतीं । भगवान् मुसकराकर उनके चित्तको चुराते हुए महलसे निकलते ॥ १६ ॥

परीक्षित् ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यदुवंशियोंके साथ सुधर्मा नामकी सभामें प्रवेश करते । उस सभाकी ऐसी महिमा है कि जो लोग उस सभामें जा बैठते हैं, उन्हें भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ नहीं सतातीं ॥ १७ ॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण सब रानियोंसे अलग-अलग बिदा होकर एक ही रूपमें सुधर्मा-सभामें प्रवेश करते और वहाँ जाकर श्रेष्ठ सिंहासनपर विराज जाते । उनकी

१. त्मनो भूती० । २. वीक्षणैः । ३. भो विराजयन् ।

घृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो
यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ॥१८॥

तत्रोपमन्त्रिणो राजन् नानाहास्यरसैर्विभुम् ।
उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक् ॥१९॥

मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः ।
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधवन्दिनः ॥२०॥

तत्राहुर्ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ।
पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन् कथाः ॥२१॥

तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः ।
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥२२॥

स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।
राज्ञामावेदयद् दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥२३॥

ये च दिग्विजये तस्य सन्नतिं न ययुर्नृपाः ।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥२४॥

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जन ।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥२५॥

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै २६

अङ्गकान्तिसे दिशाएँ प्रकाशित होती रहतीं । उस समय यदुवंशी वीरोंके बीचमें यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णकी ऐसी शोभा होती, जैसे आकाशमें तारोंसे घिरे हुए चन्द्रदेव शोभायमान होते हैं ॥ १८ ॥ परीक्षित् ! सभामें विदूषकलोग विभिन्न प्रकारके हास्य-विनोदसे, नटाचार्य अभिनयसे और नर्तकियाँ कलापूर्ण नृत्योंसे अलग-अलग अपनी टोलियोंके साथ भगवान्‌की सेवा करतीं ॥ १९ ॥ उस समय मृदङ्ग, वीणा, पखावज, बाँसुरी, झाँझ और शङ्ख बजने लगते और सूत, मागध तथा वंदीजन नाचते-गाते और भगवान्‌की स्तुति करते ॥ २० ॥ कोई-कोई व्याख्याकुशल ब्राह्मण वहाँ बैठकर वेदमन्त्रोंकी व्याख्या करते और कोई पूर्वकालीन पवित्रकीर्ति नरपतियोंके चरित्र कह-कहकर सुनाते ॥ २१ ॥

एक दिनकी बात है, द्वारकापुरीमें राजसभाके द्वारपर एक नया मनुष्य आया । द्वारपालोंने भगवान्‌को उसके आनेकी सूचना देकर उसे सभाभवनमें उपस्थित किया ॥ २२ ॥ उस मनुष्यने परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको हाथ जोड़कर नमस्कार किया और उन राजाओंका, जिन्होंने जरासन्धके दिग्विजयके समय उसके सामने सिर नहीं झुकाया था और बलपूर्वक कैद कर लिये गये थे, जिनकी संख्या बीस हजार थी, जरासन्धके बंदी बननेका दुःख श्रीकृष्णके सामने निवेदन किया—॥ २३-२४ ॥ 'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! आप मन और वाणीके अगोचर हैं । जो आपकी शरणमें आता है, उसके सारे भय आप नष्ट कर देते हैं । प्रभो ! हमारी भेद-बुद्धि मिटी नहीं है । हम जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करसे भयभीत होकर आपकी शरणमें आये हैं ॥ २५ ॥ भगवन् ! अधिकांश जीव ऐसे सकाम और निषिद्ध कर्मोंमें फँसे हुए हैं कि वे आपके बतलाये हुए अपने परम कल्याणकारी कर्म, आपकी उपासनासे विमुख हो गये हैं और अपने जीवन एवं जीवनसम्बन्धी आशा-अभिलाषाओंमें भ्रम-भटक रहे हैं । परन्तु आप बड़े बलवान् हैं । आप कालरूपसे सदा-सर्वदा सावधान रहकर उनकी आशालताका तुरंत समूल उच्छेद कर डालते हैं । हम आपके उस

१. सन्धविरो० । २. ण्यपि ।

लोके भवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।
कश्चित् त्वदीयमतियाति निदेशमीश
किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥२७॥

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं
क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२८॥

तन्नो भवान् प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो
बद्धान् वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको
बिभ्रद् रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥२९॥

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।

कालरूपको नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥ आप स्वयं जगदीश्वर हैं और आपने जगत्में अपने ज्ञान, बल आदि कलाओंके साथ इसलिये अवतार ग्रहण किया है कि संतोंकी रक्षा करें और दुष्टोंको दण्ड दें। ऐसी अवस्थामें प्रभो! जरासन्ध आदि कोई दूसरे राजा आपकी इच्छा और आज्ञाके विपरीत हमें कैसे कष्ट दे रहे हैं, यह बात हमारी समझमें नहीं आती। यदि यह कहा जाय कि जरासन्ध हमें कष्ट नहीं देता, उसके रूपमें—उसे निमित्त बनाकर हमारे अशुभ कर्म ही हमें दुःख पहुँचा रहे हैं; तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जब हमलोग आपके अपने हैं, तब हमारे दुष्कर्म हमें फल देनेमें कैसे समर्थ हो सकते हैं! इसलिये आप कृपा करके अवश्य ही हमें इस क्लेशसे मुक्त कीजिये ॥ २७ ॥ प्रभो! हम जानते हैं कि राजापनेका सुख प्रारब्धके अधीन एवं विषयसाध्य है। और सच कहें तो स्वप्न-सुखके समान अत्यन्त तुच्छ और असत् है। साथ ही उस सुखको भोगनेवाला यह शरीर भी एक प्रकारसे मुर्दा ही है और इसके पीछे सदा-सर्वदा सैकड़ों प्रकारके भय लगे रहते हैं। परन्तु हम तो इसीके द्वारा जगत्के अनेकों भार ढो रहे हैं और यही कारण है कि हमने अन्तःकरणके निष्कामभाव और निस्सङ्कल्प स्थितिसे प्राप्त होनेवाले आत्मसुखका परित्याग कर दिया है। सचमुच हम अत्यन्त अज्ञानी हैं और आपकी मायाके फंदेमें फँसकर क्लेश-पर-क्लेश भोगते जा रहे हैं ॥ २८ ॥ भगवन्! आपके चरणकमल शरणागत पुरुषोंके समस्त शोक और मोहोंको नष्ट कर देनेवाले हैं। इसलिये आप ही जरासन्धरूप कर्मोंके बन्धनसे हमें छुड़ाइये। प्रभो! यह अकेला ही दस हजार हाथियोंकी शक्ति रखता है और हमलोगोंको उसी प्रकार बंदी बनाये हुए है, जैसे सिंह भेड़ोंको घेर रक्खे ॥ २९ ॥ चक्रपाणे! आपने अठारह बार जरासन्धसे युद्ध किया और सत्रह बार उसका मान-मर्दन करके उसे छोड़ दिया। परन्तु एक बार उसने आपको जीत लिया। हम जानते हैं कि आपकी शक्ति, आपका बल-पौरुष अनन्त है। फिर भी मनुष्योंका-सा आचरण करते हुए आपने हारनेका

जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद् विधेहि॥३०॥

अभिनय किया। परन्तु इसीसे उसका घमंड बढ़ गया है। हे अजित! अब वह यह जानकर हमलोगोंको और भी सताता है कि हम आपके भक्त हैं, आपकी प्रजा हैं। अब आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिये' ॥ ३० ॥

दूत उवाच

इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ॥३१॥

दूतने कहा—भगवन्! जरासन्धके बंदी नरपतियोंने इस प्रकार आपसे प्रार्थना की है। वे आपके चरणकमलोंकी शरणमें हैं और आपका दर्शन चाहते हैं। आप कृपा करके उन दीनोंका कल्याण कीजिये ॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः।
बिभ्रत् पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद् यथा रविः ॥३२॥
तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः।
ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा॥३३॥
सभाजयित्वा विधिवत् कृतासनपरिग्रहम्।
बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन् मुनिम् ॥३४॥
अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम्।
ननु भूयान् भगवतो लोकान् पर्यटतो गुणः ॥३५॥
न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु।
अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम्॥३६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! राजाओंका दूत इस प्रकार कह ही रहा था कि परमतेजस्वी देवर्षि नारदजी वहाँ आ पहुँचे। उनकी सुनहरी जटाएँ चमक रही थीं। उन्हें देखकर ऐसा मालूम हो रहा था, मानो साक्षात् भगवान् सूर्य ही उदय हो गये हों ॥ ३२ ॥ ब्रह्मा आदि समस्त लोकपालोंके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें देखते ही सभासदों और सेवकोंके साथ हर्षित होकर उठ खड़े हुए और सिर झुकाकर उनकी वन्दना करने लगे ॥ ३३ ॥ जब देवर्षि नारद आसन स्वीकार करके बैठ गये, तब भगवान्‌ने उनकी विधिपूर्वक पूजा की और अपनी श्रद्धासे उनको सन्तुष्ट करते हुए वे मधुर वाणीसे बोले—॥३४॥ 'देवर्षे! इस समय तीनों लोकोंमें कुशल-मङ्गल तो है न? आप तीनों लोकोंमें विचरण करते रहते हैं, इससे हमें यह बहुत बड़ा लाभ है कि घर बैठे सबका समाचार मिल जाता है ॥ ३५ ॥ ईश्वरके द्वारा रचे हुए तीनों लोकोंमें ऐसी कोई बात नहीं है, जिसे आप न जानते हों। अतः हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि युधिष्ठिर आदि पाण्डव इस समय क्या करना चाहते हैं?' ॥ ३६ ॥

श्रीनारद उवाच

दृष्टा मया ते बहुशो दुरत्यया
माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः।

देवर्षि नारदजीने कहा—सर्वव्यापक अनन्त! आप विश्वके निर्माता हैं और इतने बड़े मायावी हैं कि बड़े-बड़े मायावी ब्रह्माजी आदि भी आपकी मायाका पार नहीं पा सकते। प्रभो! आप सबके घट-घटमें अपनी अचिन्त्य शक्तिसे व्याप्त रहते हैं—ठीक वैसे ही; जैसे

भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभि-

र्वह्नेरिवच्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥३७॥

तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं

स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ।

यद् विद्यमानात्मतयावभासते

तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥३८॥

जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं

न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।

लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं

प्राज्वालयत्त्वा तमहं प्रपद्ये ॥३९॥

अथाप्याश्रावये ब्रह्म नरलोकविडम्बनम् ।

राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥४०॥

यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।

पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद् भवाननुमोदताम् ॥४१॥

तस्मिन् देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः ।

दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥४२॥

श्रवणात् कीर्तनाद् ध्यानात् पूयन्तेऽन्तेवसायिनः ।

तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ॥४३॥

अग्नि लकड़ियोंमें अपनेको छिपाये रखता है । लोगोंकी दृष्टि सत्त्व आदि गुणोंपर ही अटक जाती है, इससे आपको वे नहीं देख पाते । मैंने एक बार नहीं, अनेकों बार आपकी माया देखी है । इसलिये आप जो यों अनजान बनकर पाण्डवोंका समाचार पूछते हैं, इससे मुझे कोई कौतूहल नहीं हो रहा है ॥ ३७ ॥ भगवन्! आप अपनी मायासे ही इस जगत्की रचना और संहार करते हैं, और आपकी मायाके कारण ही यह असत्य होनेपर भी सत्यके समान प्रतीत होता है । आप कब क्या करना चाहते हैं, यह बात भलीभाँति कौन समझ सकता है । आपका स्वरूप सर्वथा अचिन्तनीय है । मैं तो केवल बार-बार आपको नमस्कार करता हूँ ।३८। शरीर और इससे सम्बन्ध रखनेवाली वासनाओंमें फँसकर जीव जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता रहता है तथा यह नहीं जानता कि मैं इस शरीरसे कैसे मुक्त हो सकता हूँ । वास्तवमें उसीके हितके लिये आप नाना प्रकारके लीलावतार ग्रहण करके अपने पवित्र यशका दीपक जला देते हैं, जिसके सहारे वह इस अनर्थकारी शरीरसे मुक्त हो सके । इसलिये मैं आपकी शरणमें हूँ ॥३९॥ प्रभो ! आप स्वयं परब्रह्म हैं, तथापि मनुष्योंकी-सी लीलाका नाट्य करते हुए मुझसे पूछ रहे हैं । इसलिये आपके फुफेरे भाई और प्रेमी भक्त राजा युधिष्ठिर क्या करना चाहते हैं, यह बात मैं आपको सुनाता हूँ ।४०। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मलोकमें किसीको जो भोग प्राप्त हो सकता है, वह राजा युधिष्ठिरको यहीं प्राप्त है । उन्हें किसी वस्तुकी कामना नहीं है । फिर भी वे श्रेष्ठ यज्ञ राजसूयके द्वारा आपकी प्राप्तिके लिये आपकी आराधना करना चाहते हैं । आप कृपा करके उनकी इस अभिलाषाका अनुमोदन कीजिये ॥ ४१ ॥ भगवन्! उस श्रेष्ठ यज्ञमें आपका दर्शन करनेके लिये बड़े-बड़े देवता और यशस्वी नरपतिगण एकत्र होंगे ॥ ४२ ॥ प्रभो ! आप स्वयं विज्ञानानन्दघन ब्रह्म हैं । आपके श्रवण, कीर्तन और ध्यान करनेमात्रसे अन्त्यज भी पवित्र हो जाते हैं । फिर जो आपका दर्शन और स्पर्श प्राप्त करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ।४३।

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ॥४४॥

त्रिभुवनमङ्गल ! आपकी निर्मल कीर्ति समस्त दिशाओंमें छा रही है तथा स्वर्ग, पृथ्वी और पातालमें व्याप्त हो रही है; ठीक वैसे ही, जैसे आपकी चरणामृतधारा स्वर्गमें मन्दाकिनी, पातालमें भोगवती और मर्त्यलोकमें गङ्गाके नामसे प्रवाहित होकर सारे विश्वको पवित्र कर रही है ॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच

तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृह्णत्सु विजिगीषया ।
वाचः पेशैः स्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! सभामें जितने यदुवंशी बैठे थे, वे सब इस बातके लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे कि पहले जरासन्धपर चढ़ाई करके उसे जीत लिया जाय । अतः उन्हें नारदजीकी बात पसंद न आयी । तब ब्रह्मा आदिके शासक भगवान् श्रीकृष्णने तनिक मुसकराकर बड़ी मीठी वाणीमें उद्धव-जीसे कहा—॥ ४५ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
तथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत् ॥४६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'उद्धव ! तुम मेरे हितैषी सुहृद् हो ! शुभ सम्मति देनेवाले और कार्यके तत्त्वको भली-भाँति समझनेवाले हो, इसीलिये हम तुम्हें अपना उत्तम नेत्र मानते हैं । अब तुम्हीं बताओ कि इस विषयमें हमें क्या करना चाहिये । तुम्हारी बातपर हमारी श्रद्धा है । इसलिये हम तुम्हारी सलाहके अनुसार ही काम करेंगे' ॥ ४६ ॥

इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ।
निदेशं शिरसाऽऽधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥४७॥

जब उद्धवजीने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ होनेपर भी अनजानकी तरह सलाह पूछ रहे हैं, तब वे उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके बोले ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे भगवद्यानविचारे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

अथैकसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णभगवान्‌का इन्द्रप्रस्थ पधारना

श्रीशुक उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् ।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके वचन सुनकर महामति उद्धवजीने देवर्षि नारद, सभासद् और भगवान् श्रीकृष्णके मतपर विचार किया और फिर वे कहने लगे ॥ १ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें यहाँ अध्याय समाप्त नहीं है और अग्रिम अध्यायके बीसवें श्लोकके पूर्वार्धतकका पाठ खण्डित है ।

उद्धव उवाच

यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ।

कार्यं पैतृष्वसेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥ २ ॥

यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो ।

अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ॥ ३ ॥

अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति ।

यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बद्धान् विमुञ्चतः ॥ ४ ॥

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले ।

बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥ ५ ॥

द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः ।

ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥ ६ ॥

ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः ।

हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे तव सन्निधौ ॥ ७ ॥

निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।

हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥ ८ ॥

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो

राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ।

उद्धवजीने कहा—भगवन्! देवर्षि नारदजीने आपको यह सलाह दी है कि फुफेरे भाई पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें सम्मिलित होकर उनकी सहायता करनी चाहिये। उनका यह कथन ठीक ही है और साथ ही यह भी ठीक है कि शरणागतोंकी रक्षा अवश्यकर्तव्य है ॥ २ ॥ प्रभो! जब हम इस दृष्टिसे विचार करते हैं कि राजसूय यज्ञ वही कर सकता है, जो दसों दिशाओंपर विजय प्राप्त कर ले, तब हम इस निर्णयपर बिना किसी दुविधाके पहुँच जाते हैं कि पाण्डवोंके यज्ञ और शरणागतोंकी रक्षा दोनों कामोंके लिये जरासन्धको जीतना आवश्यक है ॥ ३ ॥ प्रभो! केवल जरासन्धको जीत लेनेसे ही हमारा महान् उद्देश्य सफल हो जायगा, साथ ही उससे बंदी राजाओंकी मुक्ति और उसके कारण आपको सुयशकी भी प्राप्ति हो जायगी ॥ ४ ॥ राजा जरासन्ध बड़े-बड़े लोगोंके भी दाँत खट्टे कर देता है; क्योंकि दस हजार हाथियोंका बल उसे प्राप्त है। उसे यदि हरा सकते हैं तो केवल भीमसेन, क्योंकि वे भी वैसे ही बली हैं ॥ ५ ॥ उसे आमने-सामनेके युद्धमें एक वीर जीत ले, यही सबसे अच्छा है। सौ अक्षौहिणी सेना लेकर जब वह युद्धके लिये खड़ा होगा, उस समय उसे जीतना आसान न होगा। जरासन्ध बहुत बड़ा ब्राह्मणभक्त है। यदि ब्राह्मण उससे किसी बातकी याचना करते हैं, तो वह कभी कोरा जवाब नहीं देता ॥ ६ ॥ इसलिये भीमसेन ब्राह्मणके वेषमें जायँ और उससे युद्धकी भिक्षा माँगें। भगवन्! इसमें सन्देह नहीं कि यदि आपकी उपस्थितिमें भीमसेन और जरासन्धका द्वन्द्वयुद्ध हो, तो भीमसेन उसे मार डालेंगे ॥ ७ ॥ प्रभो! आप सर्वशक्तिमान्, रूपरहित कालस्वरूप हैं। विश्वकी सृष्टि और प्रलय आपकी ही शक्तिसे होता है। ब्रह्मा और शङ्कर तो उसमें निमित्तमात्र हैं। (इसी प्रकार जरासन्धका वध तो होगा आपकी शक्तिसे, भीमसेन केवल उसमें निमित्तमात्र बनेंगे) ॥ ८ ॥ जब इस प्रकार आप जरासन्धका वध कर डालेंगे, तब कैदमें पड़े हुए राजाओंकी रानियाँ अपने महलोंमें आपकी इस विशुद्ध लीलाका गान करेंगी कि आपने उनके शत्रुका नाश कर दिया और उनके प्राणपतियोंको छुड़ा दिया। ठीक वैसे ही, जैसे

गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥ ९ ॥

गोपियाँ शङ्खचूड़से छुड़ानेकी लीलाका, आपके शरणागत मुनिगण गजेन्द्र और जानकीजीके उद्धारकी लीलाका तथा हमलोग आपके माता-पिताको कंसके कारागारसे छुड़ानेकी लीलाका गान करते हैं ॥९॥

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते ।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥१०॥

इसलिये प्रभो ! जरासन्धका वध स्वयं ही बहुत-से प्रयोजन सिद्ध कर देगा । बंदी नरपतियोंके पुण्य-परिणामसे अथवा जरासन्धके पाप-परिणामसे सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! आप भी तो इस समय राजसूय यज्ञका होना ही पसंद करते हैं (इसलिये पहले आप वहीं पधारिये) ॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धववचो राजन् सर्वतोभद्रमच्युतम् ।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥११॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! उद्धवजीकी यह सलाह सब प्रकारसे हितकर और निर्दोष थी । देवर्षि नारद, यदुवंशके बड़े-बूढ़े और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी उनकी बातका समर्थन किया ॥ ११ ॥

अथादिशत् प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः ।
भृत्यान् दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून् विभुः ॥१२॥

अब अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने वसुदेव आदि गुरुजनोंसे अनुमति लेकर दारुक, जैत्र आदि सेवकोंको इन्द्रप्रस्थ जानेकी तैयारी करनेके लिये आज्ञा दी ॥१२॥

निर्गमय्यावरोधान् स्वान् ससुतान् सपरिच्छदान् ।
सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन् ।
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद् गरुडध्वजम् ॥१३॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने यदुराज उग्रसेन और बलरामजीसे आज्ञा लेकर बाल-बच्चोंके साथ रानियों और उनके सब सामानको आगे चला दिया और फिर दारुकके लाये हुए गरुड़ध्वज रथपर स्वयं सवार हुए ॥ १३ ॥

ततो रथद्विपभटसादिनायकैः
करालया परिवृत आत्मसेनया ।
मृदङ्गभेर्यानकशङ्खगोमुखैः
प्रघोषघोषितककुभो निराक्रमत् ॥१४॥

इसके बाद रथों, हाथियों, घुड़सवारों और पैदलोंकी बड़ी भारी सेनाके साथ उन्होंने प्रस्थान किया । उस समय मृदङ्ग, नगारे, ढोल, शङ्ख और नरसिंगोंकी ऊँची ध्वनिसे दसों दिशाएँ गूँज उठीं ॥ १४ ॥

नृवाजिकाञ्चनशिविकाभिरच्युतं
सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।
वराम्बराभरणविलेपनस्रजः
सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥१५॥

सतीशिरोमणि रुक्मिणीजी आदि सहस्रों श्रीकृष्ण-पत्नियाँ अपनी सन्तानोंके साथ सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण, चन्दन, अङ्गराग और पुष्पोंके हार आदिसे सज-धजकर डोलियों, रथों और सोनेकी बनी हुई पालकियोंमें चढ़कर अपने पतिदेव भगवान् श्रीकृष्णके पीछे पीछे चलीं । पैदल सिपाही हाथोंमें ढाल-तलवार लेकर उनकी रक्षा करते हुए चल रहे थे ॥१५॥

नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनः-
करेणुभिः परिजनवारयोषितः ।
स्वलङ्कृताः कटकुटिकम्बलाम्बरा-
द्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वतः ॥१६॥

इसी प्रकार अनुचरोंकी स्त्रियाँ और वाराङ्गनाएँ भलीभाँति शृङ्गार करके खस आदिकी झोपड़ियों, भाँति-भाँतिके तंबुओं, कनातों, कम्बलों और ओढ़ने-बिछाने आदिकी सामग्रियोंको बैलों, भैंसों, गधों और खच्चरोंपर लादकर तथा स्वयं पालकी, ऊँट, छकड़ों और हथिनियोंपर

बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरै-

र्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।

दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवे-

र्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः॥१७॥

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः

प्रणम्य तं हृदि विदधद् विहायसा ।

निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो

मुकुन्दसन्दर्शननिर्वृतेन्द्रियः ॥१८॥

राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा ।

मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥१९॥

इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान् ।

तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन् यन्मुमुक्षवः ॥२०॥

आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः ।

गिरीन् नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान् ॥२१॥

ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् ।

पञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत् ॥२२॥

तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम् ।

अजातशत्रुर्निरगात् सोपाध्यायः सुहृद्वृतः ॥२३॥

गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।

सवार होकर चलीं ॥ १६ ॥ जैसे मगरमच्छों और लहरोंकी उछल-कूदसे क्षुब्ध समुद्रकी शोभा होती है, ठीक वैसे ही अत्यन्त कोलाहलसे परिपूर्ण, फहराती हुई बड़ी-बड़ी पताकाओं, छत्रों, चँवरों, श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्रों, वस्त्राभूषणों, मुकुटों, कवचों और दिनके समय उनपर पड़ती हुई सूर्यकी किरणोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी सेना अत्यन्त शोभायमान हुई ॥ १७ ॥ देवर्षि नारदजी भगवान् श्रीकृष्णसे सम्मानित होकर और उनके निश्चयको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। भगवान्‌के दर्शनसे उनका हृदय और समस्त इन्द्रियाँ परमानन्दमें मग्न हो गयीं। विदा होनेके समय भगवान् श्रीकृष्णने उनका नाना प्रकारकी सामग्रियोंसे पूजन किया। अब देवर्षि नारदने उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया और उनकी दिव्य मूर्तिको हृदयमें धारण करके आकाशमार्गसे प्रस्थान किया ॥१८॥ इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने जरासन्धके बंदी नरपतियोंके दूतको अपनी मधुर वाणीसे आश्वासन देते हुए कहा—'दूत! तुम अपने राजाओंसे जाकर कहना—'डरो मत। तुमलोगोंका कल्याण हो। मैं जरासन्धको मरवा डालूँगा' ॥ १९ ॥ भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर वह दूत गिरिव्रज चला गया और नरपतियोंको भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश ज्यों-का-त्यों सुना दिया। वे राजा भी कारागारसे छूटनेके लिये शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌के शुभ दर्शनकी बाट जोहने लगे ॥ २० ॥

परीक्षित्! अब भगवान् श्रीकृष्ण आनर्त, सौवीर, मरु, कुरुक्षेत्र और उनके बीचमें पड़नेवाले पर्वत, नदी, नगर, गाँव, अहीरोंकी बस्तियाँ तथा खानोंको पार करते हुए आगे बढ़ने लगे ॥ २१ ॥ भगवान् मुकुन्द मार्गमें दृषद्वती एवं सरस्वती नदी पार करके पाञ्चाल और मत्स्य देशोंमें होते हुए इन्द्रप्रस्थ जा पहुँचे ॥ २२ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। जब अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरको यह समाचार मिला कि भगवान् श्रीकृष्ण पधार गये हैं, तब उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठा। वे अपने आचार्यों और स्वजन-सम्बन्धियोंके साथ भगवान्‌की अगवानी करनेके लिये नगरसे बाहर आये ॥ २३ ॥ मङ्गल-गीत गाये जाने लगे, बाजे बजने लगे, बहुत-से ब्राह्मण मिलकर ऊँचे स्वरसे वेदमन्त्रोंका उच्चारण करने

अभ्ययात् स हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवादृतः ॥२४॥
दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।
चिराद् दृष्टं प्रियतमं सस्वजेऽथ पुनः पुनः ॥२५॥

दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं
मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो
हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥२६॥

तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो
भीमः स्मयन् प्रेमजलाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा
प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥२७॥

अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ॥२८॥
मानितो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान् ।
सूतमागधगन्धर्वा वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ॥२९॥
मृदङ्गशङ्खपटहवीणापणवगोमुखैः ।
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥३०॥
एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः ।
संस्तूयमानो भगवान् विवेशालङ्कृतं पुरम् ॥३१॥

लगे। इस प्रकार वे बड़े आदरसे हृषीकेश भगवान्‌का स्वागत करनेके लिये चले, जैसे इन्द्रियाँ मुख्य प्राणसे मिलने जा रही हों ॥ २४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णको देखकर राजा युधिष्ठिरका हृदय स्नेहातिरेकसे गद्गद हो गया। उन्हें बहुत दिनोंपर अपने प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अतः वे उन्हें बार-बार अपने हृदयसे लगाने लगे ॥ २५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णका श्रीविग्रह भगवती लक्ष्मीजीका पवित्र और एकमात्र निवासस्थान है। राजा युधिष्ठिर अपनी दोनों भुजाओंसे उसका आलिङ्गन करके समस्त पाप-तापोंसे छुटकारा पा गये। वे सर्वतोभावेन परमानन्दके समुद्रमें मग्न हो गये। नेत्रोंमें आँसू छलक आये, अङ्ग-अङ्ग पुलकित हो गया, उन्हें इस विश्व-प्रपञ्चके भ्रमका तनिक भी स्मरण न रहा ॥ २६ ॥ तदनन्तर भीमसेनने मुसकराकर अपने ममेरे भाई श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया। इससे उन्हें बड़ा आनन्द मिला। उस समय उनके हृदयमें इतना प्रेम उमड़ा कि उन्हें बाह्य विस्मृति-सी हो गयी। नकुल, सहदेव और अर्जुनने भी अपने परम प्रियतम और हितैषी भगवान् श्रीकृष्णका बड़े आनन्दसे आलिङ्गन प्राप्त किया। उस समय उनके नेत्रोंमें आँसुओंकी बाढ़-सी आ गयी थी ॥ २७ ॥ अर्जुनने पुनः भगवान् श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया, नकुल और सहदेवने अभिवादन किया और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणों और कुरुवंशी वृद्धोंको यथायोग्य नमस्कार किया ॥ २८ ॥ कुरु, सृञ्जय और केकय देशके नरपतियोंने भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान किया और भगवान् श्रीकृष्णने भी उनका यथोचित सत्कार किया। सूत, मागध, वंदीजन और ब्राह्मण भगवान्‌की स्तुति करने लगे तथा गन्धर्व, नट, विदूषक आदि मृदङ्ग, शङ्ख, नगारे, वीणा, ढोल और नरसिंगे बजा-बजाकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये नाचने-गाने लगे ॥ २९-३० ॥ इस प्रकार परमयशस्वी भगवान् श्रीकृष्णने अपने सुहृद्-स्वजनोंके साथ सब प्रकारसे सुसज्जित इन्द्रप्रस्थ नगरमें प्रवेश किया। उस समय लोग आपसमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करते चल रहे थे ॥ ३१ ॥

१. जलाकु० । २. मानिनो । ३. ववेणुभिः ।

संसिक्तवर्त्मकरिणां मदगन्धतोयै-

श्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः ।

मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्र-

ग्गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥३२॥

उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्मजाल-

निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।

मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै-

र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ॥३३॥

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-

मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।

सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे

द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ॥३४॥

तस्मिन् सुसङ्कुल इभाश्वरथद्विपद्भिः

कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः ।

नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य

सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन ॥३५॥

ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-

स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ।

यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-

लीलावलोककलयोत्सवमातनोति ॥३६॥

तत्र तत्रोपसङ्गम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।

इन्द्रप्रस्थ नगरकी सड़कें और गलियाँ मतवाले हाथियोंके मदसे तथा सुगन्धित जलसे सींच दी गयी थीं। जगह-जगह रंग-बिरंगी झंडियाँ लगा दी गयी थीं। सुनहले तोरन बाँधे हुए थे और सोनेके जल भरे कलश स्थान-स्थानपर शोभा पा रहे थे। नगरके नर-नारी नहा-धोकर तथा नये वस्त्र, आभूषण, पुष्पोंके हार, इत्र-फुलेल आदिसे सज-धजकर घूम रहे थे ॥ ३२ ॥ घर-घरमें ठौर-ठौरपर दीपक जलाये गये थे, जिनसे दीपावलीकी-सी छटा हो रही थी। प्रत्येक घरके झरोखोंसे धूपका धूआँ निकलता हुआ बहुत ही भला मालूम होता था। सभी घरोंके ऊपर पताकाएँ फहरा रही थीं तथा सोनेके कलश और चाँदीके शिखर जगमगा रहे थे। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारके महलोंसे परिपूर्ण पाण्डवोंकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ नगरको देखते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ३३ ॥ जब युवतियोंने सुना कि मानव-नेत्रोंके पानपात्र अर्थात् अत्यन्त दर्शनीय भगवान् श्रीकृष्ण राजपथपर आ रहे हैं, तब उनके दर्शनकी उत्सुकताके आवेगसे उनकी चोटियों और साड़ियोंकी गाँठें ढीली पड़ गयीं। उन्होंने घरका काम-काज तो छोड़ ही दिया, सेजपर सोये हुए अपने पतियोंको भी छोड़ दिया और भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये राजपथपर दौड़ आयीं ॥ ३४ ॥ सड़कपर हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेनाकी भीड़ लग रही थी। उन स्त्रियोंने अटारियोंपर चढ़कर रानियोंके सहित भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन किया, उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा की और मन-ही मन आलिङ्गन किया तथा प्रेमभरी मुसकान एवं चितवनसे उनका सुस्वागत किया ॥ ३५ ॥ नगरकी स्त्रियाँ राजपथ-पर चन्द्रमाके साथ विराजमान ताराओंके समान श्रीकृष्ण-की पत्नियोंको देखकर आपसमें कहने लगीं—'सखी! इन बड़भागिनी रानियोंने न जाने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है, जिसके कारण पुरुषशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण अपने उन्मुक्त हास्य और विलासपूर्ण कटाक्षसे उनकी ओर देखकर उनके नेत्रोंको परम आनन्द प्रदान करते हैं ॥ ३६ ॥ इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण राज-पथसे चल रहे थे। स्थान-स्थानपर बहुत-से निष्पाप

चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ॥३७॥

धनी-मानी और शिल्पजीवी नागरिकोंने अनेकों माङ्गलिक वस्तुएँ ला-लाकर उनकी पूजा-अर्चा और स्वागत-सत्कार किया ॥ ३७ ॥

अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।
ससम्भ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद् राजमन्दिरम् ॥३८॥
पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात् सस्नुषा परिषस्वजे ॥३९॥
गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।
पूजायां नाविदत् कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥४०॥
पितृस्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् ।
स्वयं च कृष्णया राजन् भगिन्या चाभिवन्दितः॥४१॥
श्वश्र्वा संचोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्वशः ।
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥४२॥
कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम् ।
अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्रङ्मण्डनादिभिः॥४३॥
सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥४४॥
तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः ।
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ॥४५॥
उवास कतिचिन्मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।

अन्तःपुरकी स्त्रियाँ भगवान् श्रीकृष्णको देखकर प्रेम और आनन्दसे भर गयीं । उन्होंने अपने प्रेमविह्वल और आनन्दसे खिले नेत्रोंके द्वारा भगवान्का स्वागत किया और श्रीकृष्ण उनका स्वागत-सत्कार स्वीकार करते हुए राजमहलमें पधारे ॥ ३८ ॥ जब कुन्तीने अपने त्रिभुवन-पति भतीजे श्रीकृष्णको देखा, तब उनका हृदय प्रेमसे भर आया । वे पलंगसे उठकर अपनी पुत्रवधू द्रौपदीके साथ आगे गयीं और भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगा लिया ॥ ३९ ॥ देवदेवेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको राज-महलके अंदर लाकर राजा युधिष्ठिर आदरभाव और आनन्दके उद्रेकसे आत्मविस्मृत हो गये; उन्हें इस बातकी भी सुधि न रही कि किस क्रमसे भगवान्की पूजा करनी चाहिये ॥ ४० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने अपनी फूआ कुन्ती और गुरुजनोंकी पत्नियोंका अभिवादन किया । उनकी बहिन सुभद्रा और द्रौपदीने भगवान्को नमस्कार किया ॥ ४१ ॥ अपनी सास कुन्तीकी प्रेरणासे द्रौपदीने वस्त्र, आभूषण, माला आदिके द्वारा रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा और परम साध्वी सत्या—भगवान् श्रीकृष्णकी इन पटरानियोंका तथा वहाँ आयी हुई श्रीकृष्णकी अन्यान्य रानियोंका भी यथायोग्य सत्कार किया ॥ ४२-४३ ॥ धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णको उनकी सेना, सेवक, मन्त्री और पत्नियोंके साथ ऐसे स्थानमें ठहराया जहाँ उन्हें नित्य नयी-नयी सुखकी सामग्रियाँ प्राप्त हों ॥ ४४ ॥ अर्जुनके साथ रहकर भगवान् श्रीकृष्णने खाण्डव वनका दाह करवाकर अग्निको तृप्त किया था और मयासुरको उससे बचाया था । परीक्षित् ! उस मयासुरने ही धर्मराज युधिष्ठिरके लिये भगवान्की आज्ञासे एक दिव्य सभा तैयार कर दी ॥ ४५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिरको आनन्दित करनेके लिये कई महीनोंतक इन्द्रप्रस्थमें ही रहे । वे समय-समयपर अर्जुनके

१. तथा ।

विहरन् रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥४६॥

रथपर सवार होकर विहार करनेके लिये इधर-उधर चले जाया करते थे। उस समय बड़े-बड़े वीर सैनिक भी उनकी सेवाके लिये साथ-साथ जाते ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे कृष्णस्येन्द्रप्रस्थगमनं नामैकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः

पाण्डवोंके राजसूययज्ञका आयोजन और जरासन्धका उद्धार

श्रीशुक[2] उवाच

एकदा तु सभामध्ये आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! एक दिन महाराज युधिष्ठिर बहुत-से मुनियों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, भीमसेन आदि भाइयों, आचार्यों, कुलके बड़े-बूढ़ों, जाति-बन्धुओं, सम्बन्धियों एवं कुटुम्बियोंके साथ राजसभामें बैठे हुए थे। उन्होंने सबके सामने ही भगवान् श्रीकृष्णको सम्बोधित करके यह बात कही ॥ १-२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो ॥ ३ ॥
त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥ ४ ॥
तद् देवदेव भवतश्चरणारविन्द-
सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥ ५ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—गोविन्द ! मैं सर्वश्रेष्ठ राजसूय यज्ञके द्वारा आपका और आपके परम पावन विभूतिस्वरूप देवताओंका यजन करना चाहता हूँ। प्रभो ! आप कृपा करके मेरा यह सङ्कल्प पूरा कीजिये ॥ ३ ॥ कमलनाभ ! आपके चरणकमलोंकी पादुकाएँ समस्त अमङ्गलोंको नष्ट करनेवाली हैं। जो लोग निरन्तर उनकी सेवा करते हैं, ध्यान और स्तुति करते हैं, वास्तवमें वे ही पवित्रात्मा हैं। वे जन्म-मृत्युके चक्रसे छुटकारा पा जाते हैं। और यदि वे सांसारिक विषयोंकी अभिलाषा करें, तो उन्हें उनकी भी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु जो आपके चरणकमलोंकी शरण ग्रहण नहीं करते, उन्हें मुक्ति तो मिलती ही नहीं, सांसारिक भोग भी नहीं मिलते ॥ ४ ॥ देवताओंके भी आराध्यदेव ! मैं चाहता हूँ कि संसारी लोग आपके चरणकमलोंकी सेवाका प्रभाव देखें। प्रभो ! कुरुवंशी और सृञ्जयवंशी नरपतियोंमें जो लोग आपका भजन करते हैं, और जो नहीं करते, उनका अन्तर आप जनताको दिखला

१. न्धे एक० । २. बादरायणिरुवाच ।

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुवाच

सम्यग् व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्शन ।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति ॥ ७ ॥
ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो ।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥ ८ ॥
विजित्य नृपतीन् सर्वान् कृत्वा च जगतीं वशे ।
सम्भृत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥ ९ ॥
एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसम्भवाः ।
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहंदुर्जयो योऽकृतात्मभिः॥१०॥
न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ।
विभूतिभिर्वाभिभवेद् देवोऽपि किमु पार्थिवः ॥११॥

श्रीशुक उवाच

निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः ।
भ्रातृन् दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान्॥१२॥

दीजिये ॥ ५ ॥ प्रभो ! आप सबके आत्मा, समदर्शी और स्वयं आत्मानन्दके साक्षात्कार हैं, स्वयं ब्रह्म हैं। आपमें 'यह मैं हूँ और यह दूसरा, यह अपना है और यह पराया'—इस प्रकारका भेदभाव नहीं है। फिर भी जो आपकी सेवा करते हैं उन्हें, उनकी भावनाके अनुसार फल मिलता ही है—ठीक वैसे ही, जैसे कल्पवृक्षकी सेवा करनेवालेको। उस फलमें जो न्यूनाधिकता होती है, वह तो न्यूनाधिक सेवाके अनुरूप ही होती है। इससे आपमें विषमता या निर्दयता आदि दोष नहीं आते ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—शत्रु-विजयी धर्मराज! आपका निश्चय बहुत ही उत्तम है। राजसूय यज्ञ करनेसे समस्त लोकोंमें आपकी मङ्गलमयी कीर्तिका विस्तार होगा ॥ ७ ॥ राजन्! आपका यह महायज्ञ ऋषियों, पितरों, देवताओं, सगे-सम्बन्धियों, हमें—और कहाँतक कहें, समस्त प्राणियोंको अभीष्ट है ॥ ८ ॥ महाराज! पृथ्वीके समस्त नरपतियोंको जीतकर, सारी पृथ्वीको अपने वशमें करके और यज्ञोचित सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित करके फिर इस महायज्ञका अनुष्ठान कीजिये ॥ ९ ॥ महाराज! आपके चारों भाई वायु, इन्द्र आदि लोकपालोंके अंशसे पैदा हुए हैं। वे सब-के-सब बड़े वीर हैं। आप तो परम मनस्वी और संयमी हैं ही। आपलोगोंने अपने सद्गुणोंसे मुझे अपने वशमें कर लिया है। जिन लोगोंने अपनी इन्द्रियों और मनको वशमें नहीं किया है, वे मुझे अपने वशमें नहीं कर सकते ॥ १० ॥ संसारमें कोई बड़े-से-बड़ा देवता भी तेज, यश, लक्ष्मी, सौन्दर्य और ऐश्वर्य आदिके द्वारा मेरे भक्तका तिरस्कार नहीं कर सकता। फिर कोई राजा उसका तिरस्कार कर दे, इसकी तो सम्भावना ही क्या है ? ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान्‌की बात सुनकर महाराज युधिष्ठिरका हृदय आनन्दसे भर गया। उनका मुखकमल प्रफुल्लित हो गया। अब उन्होंने अपने भाइयोंको दिग्विजय करनेका आदेश दिया। भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंमें अपनी शक्तिका सञ्चार करके उनको

१. वया। २. चरिष्यति।

सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत् सह सृञ्जयैः ।
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम्।
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥१३॥
ते विजित्य नृपान् वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ।
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥१४॥
श्रुत्वाजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥१५॥
भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः ।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥१६॥
ते गत्वाऽऽतिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।
ब्रह्मण्यं समयाचेरन् राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ॥१७॥
राजन् विद्ध्यतिथीन् प्राप्तानर्थिनो[1] दूरमागतान् ।
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद् वयं कामयामहे ॥१८॥
किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ॥१९॥
योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः॥२०॥
हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।

अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया था ॥ १२ ॥ धर्मराज युधिष्ठिरने सृञ्जयवंशी वीरोंके साथ सहदेवको दक्षिण दिशामें दिग्विजय करनेके लिये भेजा । नकुलको मत्स्य-देशीय वीरोंके साथ पश्चिममें, अर्जुनको केकयदेशीय वीरोंके साथ उत्तरमें और भीमसेनको मद्रदेशीय वीरोंके साथ पूर्व दिशामें दिग्विजय करनेका आदेश दिया ॥ १३ ॥ परीक्षित् ! उन भीमसेन आदि वीरोंने अपने बल-पौरुषसे सब ओरके नरपतियोंको जीत लिया और यज्ञ करनेके लिये उद्यत महाराज युधिष्ठिरको बहुत-सा धन लाकर दिया ॥ १४ ॥ जब महाराज युधिष्ठिरने यह सुना कि अबतक जरासन्धपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकी, तब वे चिन्तामें पड़ गये । उस समय भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें वही उपाय कह सुनाया, जो उद्धवजीने बतलाया था ।१५। परीक्षित् ! इसके बाद भीमसेन, अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण—ये तीनों ही ब्राह्मणका वेष धारण करके गिरिव्रज गये । वहीं जरासन्धकी राजधानी थी ॥ १६ ॥ राजा जरासन्ध ब्राह्मणोंका भक्त और गृहस्थोचित धर्मोंका पालन करनेवाला था । उपर्युक्त तीनों क्षत्रिय ब्राह्मणका वेष धारण करके अतिथि-अभ्यागतोंके सत्कारके समय जरासन्धके पास गये और उससे इस प्रकार याचना की—॥ १७ ॥ 'राजन् ! आपका कल्याण हो । हम तीनों आपके अतिथि हैं और बहुत दूरसे आ रहे हैं । अवश्य ही हम यहाँ किसी विशेष प्रयोजनसे ही आये हैं । इसलिये हम आपसे जो कुछ चाहते हैं, वह आप हमें अवश्य दीजिये ॥ १८ ॥ तितिक्षु पुरुष क्या नहीं सह सकते । दुष्ट पुरुष बुरा-से-बुरा क्या नहीं कर सकते । उदार पुरुष क्या नहीं दे सकते और समदर्शीके लिये पराया कौन है ? ॥ १९ ॥ जो पुरुष स्वयं समर्थ होकर भी इस नाशवान् शरीरसे ऐसे अविनाशी यशका संग्रह नहीं करता, जिसका बड़े-बड़े सत्पुरुष भी गान करें; सच पूछिये तो उसकी जितनी निन्दा की जाय, थोड़ी है । उसका जीवन शोक करनेयोग्य है ॥ २० ॥ राजन् ! आप तो जानते ही होंगे—राजा हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, केवल अन्नके दाने बीन-चुनकर निर्वाह करने-वाले महात्मा मुद्गल, शिबि, बलि, व्याध और कपोत आदि बहुत-से व्यक्ति अतिथिको अपना सर्वस्व देकर

१. थीनसानर्थिनो ।

व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥२१॥

इस नाशवान् शरीरके द्वारा अविनाशी पदको प्राप्त हो चुके हैं। इसलिये आप भी हमलोगोंको निराश मत कीजिये ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

स्वैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि ।
राजन्यबन्धून् विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ॥२२॥
राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।
ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥२३॥
बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्विततता दिक्ष्वकल्मषा ।
ऐश्वर्याद् भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥२४॥
श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे ।
जानन्नपि महीं प्रादाद् वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ॥२५॥
जीवता ब्राह्मणार्थाय को न्वर्थः क्षत्रबन्धुना ।
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ॥२६॥
इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान् ।
हे विप्रा व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ॥२७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जरासन्धने उन लोगोंकी आवाज, सूरत-शकल और कलाइयोंपर पड़े हुए धनुषकी प्रत्यञ्चाकी रगड़के चिह्नोंको देखकर पहचान लिया कि ये तो ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय हैं। अब वह सोचने लगा कि मैंने कहीं-न-कहीं इन्हें देखा भी अवश्य है ॥ २२ ॥ फिर उसने मन-ही-मन यह विचार किया कि 'ये क्षत्रिय होनेपर भी मेरे भयसे ब्राह्मणका वेष बनाकर आये हैं। जब ये भिक्षा माँगनेपर ही उतारू हो गये हैं, तब चाहे जो कुछ माँग लें, मैं इन्हें दूँगा। याचना करनेपर अपना अत्यन्त प्यारा और दुस्त्यज शरीर देनेमें भी मुझे हिचकिचाहट न होगी ॥ २३ ॥ विष्णुभगवान्‌ने ब्राह्मणका वेष धारण करके बलिका धन, ऐश्वर्य—सब कुछ छीन लिया; फिर भी बलिकी पवित्र कीर्ति सब ओर फैली हुई है और आज भी लोग बड़े आदरसे उसका गान करते हैं ॥ २४ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि विष्णुभगवान्‌ने देवराज इन्द्रकी राज्यलक्ष्मी बलिसे छीनकर उन्हें लौटानेके लिये ही ब्राह्मणरूप धारण किया था। दैत्यराज बलिको यह बात मालूम हो गयी थी और शुक्राचार्यने उन्हें रोका भी; परन्तु उन्होंने पृथ्वीका दान कर ही दिया ॥ २५ ॥ मेरा तो यह पक्का निश्चय है कि यह शरीर नाशवान् है। इस शरीरसे जो विपुल यश नहीं कमाता और जो क्षत्रिय ब्राह्मणके लिये ही जीवन नहीं धारण करता, उसका जीना व्यर्थ है' ॥ २६ ॥ परीक्षित् ! सचमुच जरासन्धकी बुद्धि बड़ी उदार थी। उपर्युक्त विचार करके उसने ब्राह्मण-वेषधारी श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनसे कहा—'ब्राह्मणो ! आपलोग मनचाही वस्तु माँग लें, आप चाहें तो मैं आपलोगोंको अपना सिर भी दे सकता हूँ' ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे ।
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः ॥२८॥
असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्राताऽर्जुनो ह्ययम् ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'राजेन्द्र ! हमलोग अन्नके इच्छुक ब्राह्मण नहीं हैं, क्षत्रिय हैं; हम आपके पास युद्धके लिये आये हैं। यदि आपकी इच्छा हो तो हमें द्वन्द्वयुद्धकी भिक्षा दीजिये ॥ २८ ॥ देखो, ये पाण्डुपुत्र भीमसेन हैं और यह इनका भाई अर्जुन है, और मैं

अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥२९॥
एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स मागधः ।
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ॥३०॥
न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा ।
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ॥३१॥
अयं तु वयसा तुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ।
अर्जुनो न भवेद् योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥३२॥
इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद् बहिः ॥३३॥
ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ ।
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥३४॥
मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ॥३५॥
ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसन्निभः ।
गदयोः क्षिप्तयो राजन् दन्तयोरिव दन्तिनोः ॥३६॥
ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने
अन्योन्यतोंऽसकटिपादकरोरुजत्रून् ।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे
संयुध्यतोर्द्विरदयोरिव दीप्तमन्व्योः ॥३७॥
इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ
क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्पर्शैरपिष्टाम् ।

इन दोनोंका ममेरा भाई तथा आपका पुराना शत्रु कृष्ण हूँ' ॥ २९ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार अपना परिचय दिया, तब राजा जरासन्ध ठठाकर हँसने लगा। और चिढ़कर बोला—'अरे मूर्खो ! यदि तुम्हें युद्धकी ही इच्छा है तो लो मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हूँ ॥ ३० ॥ परन्तु कृष्ण ! तुम तो बड़े डरपोक हो। युद्धमें तुम घबरा जाते हो। यहाँतक कि मेरे डरसे तुमने अपनी नगरी मथुरा भी छोड़ दी तथा समुद्रकी शरण ली है। इसलिये मैं तुम्हारे साथ नहीं लड़ूँगा ।३१। यह अर्जुन भी कोई योद्धा नहीं है। एक तो अवस्थामें मुझसे छोटा, दूसरे कोई विशेष बलवान् भी नहीं है। इसलिये यह भी मेरे जोड़का वीर नहीं है। मैं इसके साथ भी नहीं लड़ूँगा। रहे भीमसेन, ये अवश्य ही मेरे समान बलवान् और मेरे जोड़के हैं' ॥३२॥ जरासन्धने यह कहकर भीमसेनको एक बहुत बड़ी गदा दे दी और स्वयं दूसरी गदा लेकर नगरसे बाहर निकल आया ॥ ३३ ॥ अब दोनों रणोन्मत्त वीर अखाड़ेमें आकर एक दूसरेसे भिड़ गये और अपनी वज्रके समान कठोर गदाओंसे एक दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ३४ ॥ वे दायें-बायें तरह-तरहके पैंतरे बदलते हुए ऐसे शोभायमान हो रहे थे—मानो दो श्रेष्ठ नट रंगमंचपर युद्धका अभिनय कर रहे हों ॥ ३५ ॥ परीक्षित् ! जब एककी गदा दूसरेकी गदासे टकराती, तब ऐसा मालूम होता मानो युद्ध करनेवाले दो हाथियोंके दाँत आपसमें भिड़कर चटचटा रहे हों, या बड़े जोरसे बिजली तड़क रही हो ॥ ३६ ॥ जब दो हाथी क्रोधमें भरकर लड़ने लगते हैं और आककी डालियाँ तोड़-तोड़कर एक-दूसरेपर प्रहार करते हैं, उस समय एक-दूसरेकी चोटसे वे डालियाँ चूर-चूर हो जाती हैं; वैसे ही जब जरासन्ध और भीमसेन बड़े वेगसे गदा चला-चलाकर एक-दूसरेके कंधों, कमरों, पैरों, हाथों, जाँघों और हसलियोंपर चोट करने लगे; तब उनकी गदाएँ उनके अङ्गोंसे टकरा-टकराकर चकनाचूर होने लगीं ॥ ३७ ॥ इस प्रकार जब गदाएँ चूर-चूर हो गयीं, तब दोनों वीर क्रोधमें भरकर अपने घूँसोंसे एक-दूसरेको कुचल डालनेकी चेष्टा करने लगे। उनके घूँसे

१. दानि । २. निर्घोष० । ३. स्यःस्पर्शैः ।

शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासी-

न्निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥३८॥

तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।

निर्विशेषमभूद् युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥३९॥

एवं तयोर्महाराज युध्यतोः सप्तविंशतिः ।

दिनानि निरगंस्तत्र सुहृद्वन्निशि तिष्ठतोः ॥४०॥

एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन् वृकोदरः ।

न शक्तोऽहं जरासन्धं निर्जेतुं युधि माधव ॥४१॥

शत्रोर्जन्ममृती विद्वान् जीवितं च जराकृतम् ।

पार्थमाप्याययन् स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः ॥४२॥

सञ्चिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः ।

दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४३॥

तद् विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः ।

गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥४४॥

एकं पादं पदाऽऽक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ।

गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः ॥४५॥

एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके ।

एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः ॥४६॥

हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे ।

पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ ॥४७॥

ऐसी चोट करते, मानो लोहेका घन गिर रहा हो । एक-दूसरेपर खुलकर चोट करते हुए दो हाथियोंकी तरह उनके थप्पड़ों और घूँसोंका कठोर शब्द बिजलीकी कड़कड़ाहटके समान जान पड़ता था ॥ ३८ ॥ परीक्षित् ! जरासन्ध और भीमसेन दोनोंकी गदा-युद्धमें कुशलता, बल और उत्साह समान थे । दोनोंकी शक्ति तनिक भी क्षीण नहीं हो रही थी । इस प्रकार लगातार प्रहार करते रहनेपर भी दोनोंमेंसे किसीकी जीत या हार न हुई । ३९ । दोनों वीर रातके समय मित्रके समान रहते और दिनमें छूटकर एक दूसरेपर प्रहार करते और लड़ते । महाराज ! इस प्रकार उनके लड़ते-लड़ते सत्ताईस दिन बीत गये । ४० ।

प्रिय परीक्षित् ! अट्ठाईसवें दिन भीमसेनने अपने ममेरे भाई श्रीकृष्णसे कहा—'श्रीकृष्ण ! मैं युद्धमें जरासन्धको जीत नहीं सकता ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण जरासन्धके जन्म और मृत्युका रहस्य जानते थे और यह भी जानते थे कि जरा राक्षसीने जरासन्धके शरीरके दो टुकड़ोंको जोड़कर इसे जीवन-दान दिया है । इसलिये उन्होंने भीमसेनके शरीरमें अपनी शक्तिका सञ्चार किया और जरासन्धके वधका उपाय सोचा ॥ ४२ ॥ परीक्षित् ! भगवान्‌का ज्ञान अबाध है । अब उन्होंने उसकी मृत्युका उपाय जानकर एक वृक्षकी डालीको बीचोबीचसे चीर दिया और इशारेसे भीमसेनको दिखाया ॥ ४३ ॥ वीरशिरोमणि एवं परम शक्तिशाली भीमसेनने भगवान् श्रीकृष्णका अभिप्राय समझ लिया और जरासन्धके पैर पकड़कर उसे धरतीपर दे मारा ॥ ४४ ॥ फिर उसके एक पैरको अपने पैरके नीचे दबाया और दूसरेको अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया । इसके बाद भीमसेनने उसे गुदाकी ओरसे इस प्रकार चीर डाला, जैसे गजराज वृक्षकी डाली चीर डाले ॥ ४५ ॥ लोगोंने देखा कि जरासन्धके शरीरके दो टुकड़े हो गये हैं, और इस प्रकार उनके एक-एक पैर, जाँघ, अण्डकोश, कमर, पीठ, स्तन, कंधा, भुजा, नेत्र, भौंह और कान अलग-अलग हो गये हैं ॥ ४६ ॥ मगधराज जरासन्धकी मृत्यु हो जानेपर वहाँकी प्रजा बड़े जोरसे 'हाय-हाय !' पुकारने लगी । भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भीमसेनका आलिङ्गन करके उनका सत्कार किया ॥ ४७ ॥

सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः ।
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं प्रभुः ।
मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये ॥४८॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप और विचारोंको कोई समझ नहीं सकता । वास्तवमें वे ही समस्त प्राणियोंके जीवनदाता हैं । उन्होंने जरासन्धके राजसिंहासनपर उसके पुत्र सहदेवका अभिषेक कर दिया और जरासन्धने जिन राजाओंको कैदी बना रक्खा था, उन्हें कारागारसे मुक्त कर दिया ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
जरासन्धवधो[1] नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

जरासन्धके जेलसे छूटे हुए राजाओंकी विदाई और भगवान्का इन्द्रप्रस्थ लौट आना

श्रीशुक उवाच

अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः ।
ते निर्गता गिरिद्रोण्यां मलिना मलवाससः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जरासन्धने अनायास ही बीस हजार आठ सौ राजाओंको जीतकर पहाड़ोंकी घाटीमें एक किलेके भीतर कैद कर रक्खा था । भगवान् श्रीकृष्णके छोड़ देनेपर जब वे वहाँसे निकले, तब उनके शरीर और वस्त्र मैले हो रहे थे ॥ १ ॥

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ २ ॥

वे भूखसे दुर्बल हो रहे थे और उनके मुँह सूख गये थे । जेलमें बंद रहनेके कारण उनके शरीरका एक-एक अङ्ग ढीला पड़ गया था । वहाँसे निकलते ही उन नरपतियोंने देखा कि सामने भगवान् श्रीकृष्ण खड़े हैं । वर्षाकालीन मेघके समान उनका साँवला-सलोना शरीर है और उसपर पीले रंगका रेशमी वस्त्र फहरा रहा है ॥ २ ॥

श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥
पद्महस्तं गदाशङ्खरथाङ्गैरुपलक्षितम् ।
किरीटहारकटककटिसूत्राङ्गदाचितम् ॥ ४ ॥

चार भुजाएँ हैं—जिनमें गदा, शङ्ख, चक्र और कमल सुशोभित हैं । वक्षःस्थलपर सुनहली रेखा—श्रीवत्सका चिह्न है और कमलके भीतरी भागके समान कोमल, रतनारे नेत्र हैं । सुन्दर वदन प्रसन्नताका सदन है । कानोंमें मकराकृति कुण्डल झिलमिला रहे हैं । सुन्दर मुकुट, मोतियोंका हार, कड़े, करधनी और बाजूबंद अपने-अपने स्थानपर शोभा पा रहे हैं ॥ ३-४ ॥

भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥ ५ ॥
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः ।

गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है और वनमाला लटक रही है । भगवान् श्रीकृष्णको देखकर उन राजाओंकी ऐसी स्थिति हो गयी, मानो वे नेत्रोंसे उन्हें पी रहे हैं । जीभसे चाट रहे हैं, नासिकासे सूँघ रहे हैं और बाहुओंसे आलिङ्गन कर रहे हैं । उनके सारे पाप तो भगवान्के

[1] १. वधे एक स० ।

प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्हरेः ॥ ६ ॥

कृष्णसन्दर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।

प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥ ७ ॥

राजान ऊचुः

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।

प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः॥८॥

नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन ।

अनुग्रहो यद् भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥ ९ ॥

राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।

त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः॥१०॥

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।

एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥११॥

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो

जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।

घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो

मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः ॥१२॥

त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा

दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।

दर्शनसे ही धुल चुके थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर अपना सिर रखकर प्रणाम किया ॥ ५-६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे उन राजाओंको इतना अधिक आनन्द हुआ कि कैदमें रहनेका क्लेश बिल्कुल जाता रहा। वे हाथ जोड़कर विनम्र वाणीसे भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे ॥ ७ ॥

राजाओंने कहा—शरणागतोंके सारे दुःख और भय हर लेनेवाले देवदेवेश्वर! सच्चिदानन्दस्वरूप अविनाशी श्रीकृष्ण! हम आपको नमस्कार करते हैं। आपने जरासन्धके कारागारसे तो हमें छुड़ा ही दिया, अब इस जन्म-मृत्युरूप घोर संसार-चक्रसे भी छुड़ा दीजिये; क्योंकि हम संसारमें दुःखका कटु अनुभव करके उससे ऊब गये हैं और आपकी शरणमें आये हैं। प्रभो! अब आप हमारी रक्षा कीजिये ॥ ८ ॥ मधुसूदन! हमारे स्वामी! हम मगधराज जरासन्धका कोई दोष नहीं देखते। भगवन्! यह तो आपका बहुत बड़ा अनुग्रह है कि हम राजा कहलानेवाले लोग राज्यलक्ष्मीसे च्युत कर दिये गये ॥ ९ ॥ क्योंकि जो राजा अपने राज्य-ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो जाता है, उसको सच्चे सुखकी—कल्याणकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। वह आपकी मायासे मोहित होकर अनित्य सम्पत्तियोंको ही अचल मान बैठता है ॥ १० ॥ जैसे मूर्खलोग मृगतृष्णाके जलको ही जलाशय मान लेते हैं, वैसे ही इन्द्रियलोलुप और अज्ञानी पुरुष भी इस परिवर्तनशील मायाको सत्य वस्तु मान लेते हैं ॥ ११ ॥ भगवन्! पहले हमलोग धन-सम्पत्तिके नशेमें चूर होकर अंधे हो रहे थे। इस पृथ्वीको जीत लेनेके लिये एक दूसरेकी होड़ करते थे और अपनी ही प्रजाका नाश करते रहते थे। सचमुच हमारा जीवन अत्यन्त क्रूरतासे भरा हुआ था, और हमलोग इतने अधिक मतवाले हो रहे थे कि आप मृत्युरूपसे हमारे सामने खड़े हैं, इस बातकी भी हम तनिक परवा नहीं करते थे ॥ १२ ॥ सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण! कालकी गति बड़ी गहन है। वह इतना बलवान् है कि किसीके टाले टलता नहीं। क्यों न हो, वह आपका शरीर ही तो है। अब उसने हम-

१. नष्टबुद्धयो।

कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया
विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ॥१३॥
अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं
देहेन शश्वत् पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो
क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥१४॥
तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥१५॥
कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१६॥

लोगोंको श्रीहीन, निर्धन कर दिया है। आपकी अहैतुक अनुकम्पासे हमारा घमंड चूर-चूर हो गया। अब हम आपके चरणकमलोंका स्मरण करते हैं॥ १३॥ विभो! यह शरीर दिन-दिन क्षीण होता जा रहा है। रोगोंकी तो यह जन्मभूमि ही है। अब हमें इस शरीरसे भोगे जानेवाले राज्यकी अभिलाषा नहीं है। क्योंकि हम समझ गये हैं कि वह मृगतृष्णाके जलके समान सर्वथा मिथ्या है। यही नहीं, हमें कर्मके फल स्वर्गादि लोकोंकी भी, जो मरनेके बाद मिलते हैं, इच्छा नहीं है। क्योंकि हम जानते हैं कि वे निस्सार हैं; केवल सुननेमें ही आकर्षक जान पड़ते हैं॥ १४॥ अब हमें कृपा करके आप वह उपाय बतलाइये, जिससे आपके चरणकमलोंकी विस्मृति कभी न हो, सर्वदा स्मृति बनी रहे। चाहे हमें संसारकी किसी भी योनिमें जन्म क्यों न लेना पड़े॥ १५॥ प्रणाम करनेवालोंके क्लेशका नाश करनेवाले श्रीकृष्ण, वासुदेव, हरि, परमात्मा एवं गोविन्दके प्रति हमारा बार-बार नमस्कार है॥ १६॥

श्रीशुक उवाच

संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः ।
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ॥१७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! कारागारसे मुक्त राजाओंने जब इस प्रकार करुणावरुणालय भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की, तब शरणागतरक्षक प्रभुने बड़ी मधुर वाणीसे उनसे कहा॥ १७॥

श्रीभगवानुवाच

अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे ।
सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा ॥१८॥
दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः ।
श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥१९॥
हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे ।
श्रीमदाद् भ्रंशिताः स्थानाद् देवदैत्यनरेश्वराः ॥२०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—नरपतियो! तुमलोगोंने जैसी इच्छा प्रकट की है, उसके अनुसार आजसे मुझमें तुमलोगोंकी निश्चय ही सुदृढ भक्ति होगी। यह जान लो कि मैं सबका आत्मा और सबका स्वामी हूँ॥१८॥ नरपतियो! तुम लोगोंने जो निश्चय किया है, वह सचमुच तुम्हारे लिये बड़े सौभाग्य और आनन्दकी बात है। तुमलोगोंने मुझसे जो कुछ कहा है, वह बिल्कुल ठीक है। क्योंकि मैं देखता हूँ, धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे चूर होकर बहुत-से लोग उच्छृङ्खल और मतवाले हो जाते हैं॥ १९॥ हैहय, नहुष, वेन, रावण, नरकासुर आदि अनेकों देवता, दैत्य और नरपति श्रीमदके कारण अपने स्थानसे, पदसे च्युत हो

१. नमाम ।

भवन्त एतद् विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥२१॥

सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ ।
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥२२॥

उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः ।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥२३॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः ।
तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान् स्त्रियो मज्जनकर्मणि[1] ॥२४॥

सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ।
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ॥२५॥

भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान् ।
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥२६॥

ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात् प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥२७॥

रथान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।
प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत् ॥२८॥

त एवं मोचिताः कृच्छ्रात् कृष्णेन सुमहात्मना ।
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः ॥२९॥

गये ॥ २० ॥ तुमलोग यह समझ लो कि शरीर और इसके सम्बन्धी पैदा होते हैं, इसलिये उनका नाश भी अवश्यम्भावी है । अतः उनमें आसक्ति मत करो । बड़ी सावधानीसे मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर यज्ञोंके द्वारा मेरा यजन करो और धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करो ॥ २१ ॥ तुमलोग अपनी वंश-परम्पराकी रक्षाके लिये, भोगके लिये नहीं, सन्तान उत्पन्न करो और प्रारब्धके अनुसार जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, लाभ-हानि—जो कुछ भी प्राप्त हों, उन्हें समानभावसे मेरा प्रसाद समझकर सेवन करो और अपना चित्त मुझमें लगाकर जीवन बिताओ ॥ २२ ॥ देह और देहके सम्बन्धियोंसे किसी प्रकारकी आसक्ति न रखकर उदासीन रहो; अपने-आपमें, आत्मामें ही रमण करो और भजन तथा आश्रमके योग्य व्रतोंका पालन करते रहो । अपना मन भलीभाँति मुझमें लगाकर अन्तमें तुमलोग मुझ ब्रह्मस्वरूपको ही प्राप्त हो जाओगे ॥ २३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भुवनेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने राजाओंको यह आदेश देकर उन्हें स्नान आदि करानेके लिये बहुत-से स्त्री-पुरुष नियुक्त कर दिये ॥ २४ ॥ परीक्षित् ! जरासन्धके पुत्र सहदेवसे उनको राजोचित वस्त्र-आभूषण, माला-चन्दन आदि दिलवाकर उनका खूब सम्मान करवाया ॥२५॥ जब वे स्नान करके वस्त्राभूषणसे सुसज्जित हो चुके, तब भगवान्ने उन्हें उत्तम-उत्तम पदार्थोंका भोजन करवाया और पान आदि विविध प्रकारके राजोचित भोग दिलवाये ॥ २६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार उन बंदी राजाओंको सम्मानित किया । अब वे समस्त क्लेशोंसे छुटकारा पाकर तथा कानोंमें झिलमिलाते हुए सुन्दर-सुन्दर कुण्डल पहनकर ऐसे शोभायमान हुए, जैसे वर्षाऋतुका अन्त हो जानेपर तारे ॥ २७ ॥ फिर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें सुवर्ण और मणियोंसे भूषित एवं श्रेष्ठ घोड़ोंसे युक्त रथोंपर चढ़ाया, मधुर वाणीसे तृप्त किया और फिर उन्हें उनके देशोंको भेज दिया ॥ २८ ॥ इस प्रकार उदारशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने उन राजाओंको महान् कष्टसे मुक्त किया । अब वे जगत्पति भगवान् श्रीकृष्णके रूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन करते हुए अपनी-अपनी राजधानीको

1. तेषामयुङ्क्त ।

जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम् ।
यथान्वशासद् भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ॥३०॥
जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पूजितः ॥३१॥
गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान् दध्मुर्जितारयः[1] ।
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदां चासुखावहाः ॥३२॥
तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ॥३३॥
अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ।
सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥३४॥
निशम्य धर्मराजस्तत् केशवेनानुकम्पितम् ।
आनन्दाश्रुकलां मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥३५॥

चले गये ॥ २९ ॥ वहाँ जाकर उन लोगोंने अपनी-अपनी प्रजासे परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी अद्भुत कृपा और लीला कह सुनायी और फिर बड़ी सावधानीसे भगवान्‌के आज्ञानुसार वे अपना जीवन व्यतीत करने लगे ॥ ३० ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भीमसेनके द्वारा जरासन्धका वध करवाकर भीमसेन और अर्जुनके साथ जरासन्धनन्दन सहदेवसे सम्मानित होकर इन्द्रप्रस्थके लिये चले । उन विजयी वीरोंने इन्द्रप्रस्थके पास पहुँचकर अपने-अपने शङ्ख बजाये, जिससे उनके इष्टमित्रोंको सुख और शत्रुओंको बड़ा दुःख हुआ ॥ ३१-३२ ॥ इन्द्रप्रस्थनिवासियोंका मन उस शङ्खध्वनिको सुनकर खिल उठा । उन्होंने समझ लिया कि जरासन्ध मर गया और अब राजा युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ करनेका संकल्प एक प्रकारसे पूरा हो गया ॥ ३३ ॥ भीमसेन, अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णने राजा युधिष्ठिरकी वन्दना की और वह सब कृत्य कह सुनाया, जो उन्हें जरासन्धके वधके लिये करना पड़ा था ॥ ३४ ॥ धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके इस परम अनुग्रहकी बात सुनकर प्रेमसे भर गये, उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी बूँदें टपकने लगीं और वे उनसे कुछ भी कह न सके ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे कृष्णाद्यागमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

भगवान्‌की अग्रपूजा और शिशुपालका उद्धार

श्रीशुक उवाच[3]

एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं विभोः[4] ।
कृष्णस्य चानुभावं तं[5] श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! धर्मराज युधिष्ठिर जरासन्धका वध और सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी अद्भुत महिमा सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उनसे बोले ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकमहेश्वराः ।

धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! त्रिलोकीके स्वामी ब्रह्मा, शङ्कर आदि और इन्द्रादि लोकपाल—सब आपकी आज्ञा पानेके लिये

१. ङ्खं दध्मु० । २. न्धे राजसूयदिग्विजयो द्विसप्त० । ३. बादरायणिरुवाच । ४. प्रभोः । ५. च ।

वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ॥ २ ॥

स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् ।

धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३ ॥

न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।

कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ॥ ४ ॥

न वै तेऽजित भक्तानां ममाहमिति माधव ।

त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता[2] ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा यज्ञिये काले वव्रे युक्तान् स ऋत्विजः ।

कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ॥ ६ ॥

द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गोतमोऽसितः ।

वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥ ७ ॥

विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।

पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ॥ ८ ॥

अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।

वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ॥ ९ ॥

उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः ।

धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥१०॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।

तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ॥११॥

तरसते रहते हैं और यदि वह मिल जाती है तो बड़ी श्रद्धासे उसको शिरोधार्य करते हैं ॥ २ ॥ अनन्त ! हमलोग हैं तो अत्यन्त दीन, परन्तु मानते हैं अपनेको भूपति और नरपति । ऐसी स्थितिमें हैं तो हम दण्डके पात्र, परन्तु आप हमारी आज्ञा स्वीकार करते हैं और उसका पालन करते हैं । सर्वशक्तिमान् कमलनयन भगवान्‌के लिये यह मनुष्य-लीलाका अभिनयमात्र है ॥ ३ ॥ जैसे उदय अथवा अस्तके कारण सूर्यके तेजमें घटती या बढ़ती नहीं होती, वैसे ही किसी भी प्रकारके कर्मोंसे न तो आपका उल्लास होता है और न तो ह्रास ही । क्योंकि आप सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं ॥ ४ ॥ किसीसे पराजित न होनेवाले माधव ! 'यह मैं हूँ और यह मेरा है तथा यह तू है और यह तेरा'—इस प्रकारकी विकारयुक्त भेदबुद्धि तो पशुओंकी होती है । जो आपके अनन्य भक्त हैं, उनके चित्तमें ऐसे पागलपनके विचार कभी नहीं आते । फिर आपमें तो होंगे ही कहाँसे ? (इसलिये आप जो कुछ कर रहे हैं, वह लीला-ही-लीला है) ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस प्रकार कहकर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमतिसे यज्ञके योग्य समय आनेपर यज्ञके कर्मोंमें निपुण वेदवादी ब्राह्मणोंको ऋत्विज, आचार्य आदिके रूपमें वरण किया ॥ ६ ॥ उनके नाम ये हैं—श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, परशुराम, शुक्राचार्य, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन और अकृतव्रण ॥ ७–९ ॥ इनके अतिरिक्त धर्मराजने द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, कृपाचार्य, धृतराष्ट्र और उनके दुर्योधन आदि पुत्रों और महामति विदुर आदिको भी बुलवाया ॥ १० ॥ राजन् ! राजसूय यज्ञका दर्शन करनेके लिये देशके सब राजा, उनके मन्त्री तथा कर्मचारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सब-के-सब वहाँ आये ॥ ११ ॥

१. शिरसा मेऽनु० । २. विक्रिया ।

ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयाञ्चक्रिरे नृपम् ॥१२॥
हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा ।
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिभवसंयुताः ॥१३॥
सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः ॥१४॥
राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ।
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ॥१५॥
मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।
अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः ।
राजसूयेन विधिवत् प्राचेतसमिवामराः ॥१६॥
सौत्येऽहन्यवनीपालो याजकान् सदसस्पतीन् ।
अपूजयन् महाभागान् यथावत् सुसमाहितः ॥१७॥
सदस्याग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः ।
नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत् ॥१८॥
अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः ।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥१९॥
यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः ।
अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः ॥२०॥
एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।

इसके बाद ऋत्विज ब्राह्मणोंने सोनेके हलोंसे यज्ञभूमिको जुतवाकर राजा युधिष्ठिरको शास्त्रानुसार यज्ञकी दीक्षा दी ॥ १२ ॥ प्राचीन कालमें जैसे वरुणदेवके यज्ञमें सब-के-सब यज्ञपात्र सोनेके बने हुए थे, वैसे ही युधिष्ठिरके यज्ञमें भी थे । पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिरके यज्ञमें निमन्त्रण पाकर ब्रह्माजी, शङ्करजी, इन्द्रादि लोकपाल, अपने गणोंके साथ सिद्ध और गन्धर्व, विद्याधर, नाग, मुनि, यक्ष, राक्षस, पक्षी, किन्नर, चारण, बड़े-बड़े राजा और रानियाँ—ये सभी उपस्थित हुए ॥ १३–१५ ॥ सबने बिना किसी प्रकारके कौतूहलके यह बात मान ली कि राजसूय यज्ञ करना युधिष्ठिरके योग्य ही है । क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णके भक्तके लिये ऐसा करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है । उस समय देवताओंके समान तेजस्वी याजकोंने धर्मराज युधिष्ठिरसे विधिपूर्वक राजसूय यज्ञ कराया; ठीक वैसे ही, जैसे पूर्वकालमें देवताओंने वरुणसे करवाया था ॥ १६ ॥ सोमलतासे रस निकालनेके दिन महाराज युधिष्ठिरने अपने परम भाग्यवान् याजकों और यज्ञकर्मकी भूल-चूकका निरीक्षण करनेवाले सदसस्पतियोंका बड़ी सावधानीसे विधिपूर्वक पूजन किया ॥ १७ ॥

अब सभासद् लोग इस विषयपर विचार करने लगे कि सदस्योंमें सबसे पहले किसकी पूजा—अग्रपूजा होनी चाहिये । जितनी मति, उतने मत । इसलिये सर्वसम्मतिसे कोई निर्णय न हो सका । ऐसी स्थितिमें सहदेवने कहा—॥ १८ ॥ 'यदुवंशशिरोमणि भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण ही सदस्योंमें सर्वश्रेष्ठ और अग्रपूजाके पात्र हैं; क्योंकि यही समस्त देवताओंके रूपमें हैं; और देश, काल, धन आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सबके रूपमें भी ये ही हैं ॥ १९ ॥ यह सारा विश्व श्रीकृष्णका ही रूप है । समस्त यज्ञ भी श्रीकृष्ण-स्वरूप ही हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ही अग्नि, आहुति और मन्त्रोंके रूपमें हैं । ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग—ये दोनों भी श्रीकृष्णकी प्राप्तिके ही हेतु हैं ॥ २० ॥ सभासदो ! मैं कहाँतक वर्णन करूँ, भगवान् श्रीकृष्ण वह एकरस अद्वितीय ब्रह्म हैं, जिसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नाममात्रका भी नहीं है ।

आत्मनाऽऽत्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥२१॥
विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया ।
ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२२॥
यस्मात् कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।
एवं चेत् सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥२३॥
सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने ।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता ॥२४॥
इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥२५॥
श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥२६॥
तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः ।
सभार्यः सानुजामात्यः सकुटुम्बोऽवहन्मुदा ॥२७॥
वासोभिः पीतकौशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः ।
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम् ॥२८॥
इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः ।
नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः ॥२९॥

यह सम्पूर्ण जगत् उन्हींका स्वरूप है । वे अपने-आपमें ही स्थित और जन्म, अस्तित्व, वृद्धि आदि छः भाव-विकारोंसे रहित हैं । वे अपने आत्मस्वरूप सङ्कल्पसे ही जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं ॥ २१ ॥ सारा जगत् श्रीकृष्णके ही अनुग्रहसे अनेकों प्रकारके कर्मका अनुष्ठान करता हुआ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थोंका सम्पादन करता है ॥ २२ ॥ इसलिये सबसे महान् भगवान् श्रीकृष्णकी ही अग्रपूजा होनी चाहिये । इनकी पूजा करनेसे समस्त प्राणियोंकी तथा अपनी भी पूजा हो जाती है ॥ २३ ॥ जो अपने दान-धर्मको अनन्त भावसे युक्त करना चाहता हो, उसे चाहिये कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंके अन्तरात्मा, भेदभावरहित, परम शान्त और परिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्णको ही दान करे ॥ २४ ॥ परीक्षित् ! सहदेव भगवान्की महिमा और उनके प्रभावको जानते थे । इतना कहकर वे चुप हो गये । उस समय धर्मराज युधिष्ठिरकी यज्ञसभामें जितने सत्पुरुष उपस्थित थे, सबने एक स्वरसे 'बहुत ठीक, बहुत ठीक' कहकर सहदेवकी बातका समर्थन किया ॥ २५ ॥ धर्मराज युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंकी यह आज्ञा सुनकर तथा सभासदोंका अभिप्राय जानकर बड़े आनन्दसे प्रेमोद्रेकसे विह्वल होकर भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की ॥ २६ ॥ अपनी पत्नी, भाई, मन्त्री और कुटुम्बियोंके साथ धर्मराज युधिष्ठिरने बड़े प्रेम और आनन्दसे भगवान्के पाँव पखारे तथा उनके चरणकमलोंका लोकपावन जल अपने सिरपर धारण किया ॥ २७ ॥ उन्होंने भगवान्को पीले-पीले रेशमी वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण समर्पित किये । उस समय उनके नेत्र प्रेम और आनन्दके आँसुओंसे इस प्रकार भर गये कि वे भगवान्को भलीभाँति देख भी नहीं सकते थे ॥ २८ ॥ यज्ञसभामें उपस्थित सभी लोग भगवान् श्रीकृष्णको इस प्रकार पूजित, सत्कृत देखकर हाथ जोड़े हुए 'नमो नमः ! जय-जय !' इस प्रकारके नारे लगाकर उन्हें नमस्कार करने लगे । उस समय आकाशसे स्वयं ही पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥ २९ ॥

१. जोऽव्यग्रः ।

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठा-

दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।

उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी

संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ॥३०॥

ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।

वृद्धानामपि यद् बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥३१॥

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम् ।

सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत् सम्मतोऽर्हणे ॥३२॥

तपोविद्याव्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।

परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपालैश्च पूजितान् ॥३३॥

सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः ।

यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ॥३४॥

वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः ।

स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ॥३५॥

ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम् ।

वृथापानरतं शश्वत् सपर्यां कथमर्हति ॥३६॥

ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान् हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम् ।

१. मन्य ।

परीक्षित् ! अपने आसनपर बैठा हुआ शिशुपाल यह सब देख-सुन रहा था । भगवान् श्रीकृष्णके गुण सुनकर उसे क्रोध हो आया और वह उठकर खड़ा हो गया । वह भरी सभामें हाथ उठाकर बड़ी असहिष्णुता किन्तु निर्भयताके साथ भगवान्‌को सुना-सुनाकर अत्यन्त कठोर बातें कहने लगा—॥ ३० ॥ 'सभासदो ! श्रुतियोंका यह कहना सर्वथा सत्य है कि काल ही ईश्वर है । लाख चेष्टा करनेपर भी वह अपना काम करा ही लेता है—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमने देख लिया कि यहाँ बच्चों और मूर्खोंकी बातसे बड़े-बड़े वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्धोंकी बुद्धि भी चकरा गयी है ॥ ३१ ॥ पर मैं मानता हूँ कि आपलोग अग्रपूजाके योग्य पात्रका निर्णय करनेमें सर्वथा समर्थ हैं । इसलिये सदसस्पतियो ! आप-लोग बालक सहदेवकी यह बात ठीक न मानें कि 'कृष्ण ही अग्रपूजाके योग्य है' ॥ ३२ ॥ यहाँ बड़े-बड़े तपस्वी विद्वान्, व्रतधारी, ज्ञानके द्वारा अपने समस्त पाप-तापोंको शान्त करनेवाले, परम ज्ञानी, परमर्षि, ब्रह्मनिष्ठ आदि उपस्थित हैं—जिनकी पूजा बड़े-बड़े लोकपाल भी करते हैं ॥३३॥ यज्ञकी भूल-चूक बतलानेवाले उन सदसस्पतियों-को छोड़कर यह कुलकलङ्क ग्वाला भला, अग्रपूजा-का अधिकारी कैसे हो सकता है ? क्या कौआ कभी यज्ञके पुरोडाशका अधिकारी हो सकता है ? ॥३४॥ न इसका कोई वर्ण है और न तो आश्रम । कुल भी इसका ऊँचा नहीं है । सारे धर्मोंसे यह बाहर है । वेद और लोकमर्यादाओंका उल्लङ्घन करके मनमाना आचरण करता है । इसमें कोई गुण भी नहीं है । ऐसी स्थितिमें यह अग्रपूजाका पात्र कैसे हो सकता है ? ॥ ३५ ॥ आपलोग जानते हैं कि राजा ययातिने इसके वंशको शाप दे रक्खा है । इसलिये सत्पुरुषोंने इस वंशका ही बहिष्कार कर दिया है । ये सब सर्वदा व्यर्थ मधुपानमें आसक्त रहते हैं । फिर ये अग्रपूजाके योग्य कैसे हो सकते हैं ? ॥ ३६ ॥ इन सबने ब्रह्मर्षियोंके द्वारा सेवित मथुरा आदि देशोंका परित्याग कर दिया और ब्रह्म-वर्चसके विरोधी (वेदचर्चारहित) समुद्रमें किला बना-

समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥३७॥

एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।
नोवाच किञ्चिद् भगवान् यथा सिंहः शिवारुतम्॥३८॥

भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत् सभासदः ।
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥३९॥

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥४०॥

ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृञ्जयाः ।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसवः ॥४१॥

ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।
भर्त्सयन् कृष्णपक्षीयान् राज्ञः सदसि भारत ॥४२॥

तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा ।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः ॥४३॥

शब्दः कोलाहलोऽप्यासीत् शिशुपाले हते महान् ।
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥४४॥

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥४५॥

जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया ।
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ॥४६॥

कर रहने लगे। वहाँसे जब ये बाहर निकलते हैं, तो डाकुओंकी तरह सारी प्रजाको सताते हैं' ॥ ३७ ॥ परीक्षित्! सच पूछो तो शिशुपालका सारा शुभ नष्ट हो चुका था। इसीसे उसने और भी बहुत-सी कड़ी-कड़ी बातें भगवान् श्रीकृष्णको सुनायीं। परन्तु जैसे सिंह कभी सियारकी 'हुआँ-हुआँ' पर ध्यान नहीं देता, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण चुप रहे, उन्होंने उसकी बातोंका कुछ भी उत्तर न दिया ॥ ३८ ॥ परन्तु सभासदोंके लिये भगवान्की निन्दा सुनना असह्य था। उनमेंसे कई अपने-अपने कान बन्द करके क्रोधसे शिशुपालको गाली देते हुए बाहर चले गये ॥ ३९ ॥ परीक्षित्! जो भगवान्की या भगवत्परायण भक्तोंकी निन्दा सुनकर वहाँसे हट नहीं जाता, वह अपने शुभकर्मोंसे च्युत हो जाता है और उसकी अधोगति होती है ॥ ४० ॥

परीक्षित्! अब शिशुपालको मार डालनेके लिये पाण्डव, मत्स्य, केकय और सृञ्जयवंशी नरपति क्रोधित होकर हाथोंमें हथियार ले उठ खड़े हुए ॥ ४१ ॥ परन्तु शिशुपालको इससे कोई घबड़ाहट न हुई। उसने बिना किसी प्रकारका आगा-पीछा सोचे अपनी ढाल-तलवार उठा ली और वह भरी सभामें श्रीकृष्णके पक्षपाती राजाओंको ललकारने लगा ॥ ४२ ॥ उन लोगोंको लड़ते-झगड़ते देख भगवान् श्रीकृष्ण उठ खड़े हुए। उन्होंने अपने पक्षपाती राजाओंको शान्त किया और स्वयं क्रोध करके अपने ऊपर झपटते हुए शिशुपालका सिर छुरेके समान तीखी धारवाले चक्रसे काट लिया ॥ ४३ ॥ शिशुपालके मारे जानेपर वहाँ बड़ा कोलाहल मच गया। उसके अनुयायी नरपति अपने-अपने प्राण बचानेके लिये वहाँसे भाग खड़े हुए ॥ ४४ ॥ जैसे आकाशसे गिरा हुआ लूक धरतीमें समा जाता है, वैसे ही सब प्राणियोंके देखते-देखते शिशुपालके शरीरसे एक ज्योति निकलकर भगवान् श्रीकृष्णमें समा गयी ॥४५॥ परीक्षित्! शिशुपालके अन्तःकरणमें लगातार तीन जन्मसे वैरभावकी अभिवृद्धि हो रही थी। और इस प्रकार, वैरभावसे ही सही, ध्यान करते-करते वह तन्मय हो गया—पार्षद हो गया। सच है—मृत्युके बाद होनेवाली गतिमें भाव

१. यथा।

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ।
सर्वान् सम्पूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ॥४७॥
साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः ॥४८॥
ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ।
ययौ सभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥४९॥
वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात् पुनः पुनः ॥५०॥
राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ॥५१॥
राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः ।
कृष्णं क्रतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा[1] ॥५२॥
दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ।
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥५३॥
य इदं कीर्तयेद् विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम्[2] ।
राजमोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५४॥

ही कारण है ॥ ४६ ॥ शिशुपालकी सद्गति होनेके बाद चक्रवर्ती धर्मराज युधिष्ठिरने सदस्य और ऋत्विजोंको पुष्कल दक्षिणा दी तथा सबका सत्कार करके विधिपूर्वक यज्ञान्त-स्नान—अवभृथ-स्नान किया ॥ ४७ ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ पूर्ण किया और अपने सगे-सम्बन्धी और सुहृदोंकी प्रार्थनासे कुछ महीनोंतक वहीं रहे ॥ ४८ ॥ इसके बाद राजा युधिष्ठिरकी इच्छा न होनेपर भी सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने उनसे अनुमति ले ली और अपनी रानियों तथा मन्त्रियोंके साथ इन्द्रप्रस्थसे द्वारकापुरीकी यात्रा की ॥ ४९ ॥ परीक्षित् ! मैं यह उपाख्यान तुम्हें बहुत विस्तारसे (सातवें स्कन्धमें) सुना चुका हूँ कि वैकुण्ठवासी जय और विजयको सनकादि ऋषियोंके शापसे बार-बार जन्म लेना पड़ा था ॥ ५० ॥ महाराज युधिष्ठिर राजसूयका यज्ञान्त-स्नान करके ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी सभामें देवराज इन्द्रके समान शोभायमान होने लगे ॥ ५१ ॥ राजा युधिष्ठिरने देवता, मनुष्य और आकाशचारियोंका यथायोग्य सत्कार किया तथा वे भगवान् श्रीकृष्ण एवं राजसूय यज्ञकी प्रशंसा करते हुए बड़े आनन्दसे अपने-अपने लोकको चले गये ॥ ५२ ॥ परीक्षित् ! सब तो सुखी हुए, परन्तु दुर्योधनसे पाण्डवोंकी यह उज्ज्वल राज्यलक्ष्मीका उत्कर्ष सहन न हुआ; क्योंकि वह स्वभावसे ही पापी, कलह-प्रेमी और कुरुकुलका नाश करनेके लिये एक महान् रोग था ॥ ५३ ॥

परीक्षित् ! जो पुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी इस लीलाका—शिशुपालवध, जरासन्धवध, बंदी राजाओंकी मुक्ति और यज्ञानुष्ठानका कीर्तन करेगा, वह समस्त पापोंसे छूट जायगा ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे शिशुपालवधो नाम चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

१. मुदा ययुः । २. वधन्निस० ।

अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

राजसूय यज्ञकी पूर्ति और दुर्योधनका अपमान

राजोवाच

अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा राजसूयमहोदयम्।
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन् नृदेवा ये समागताः ॥ १ ॥
दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्षयः सुराः।
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ॥ २ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमहोत्सवको देखकर, जितने मनुष्य, नरपति, ऋषि, मुनि और देवता आदि आये थे, वे सब आनन्दित हुए। परन्तु दुर्योधनको बड़ा दुःख, बड़ी पीड़ा हुई; यह बात मैंने आपके मुखसे सुनी है। भगवन्! आप कृपा करके इसका कारण बतलाइये ॥ १-२ ॥

ऋषिरुवाच[1]

पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः।
बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन् प्रेमबन्धनाः ॥ ३ ॥
भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥ ४ ॥
गुरुशुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने।
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महामनाः ॥ ५ ॥
युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः।
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः ॥ ६ ॥
निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा।
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी महाराजने कहा—परीक्षित्! तुम्हारे दादा युधिष्ठिर बड़े महात्मा थे। उनके प्रेमबन्धनसे बँधकर सभी बन्धु-बान्धवोंने राजसूय यज्ञमें विभिन्न सेवाकार्य स्वीकार किया था ॥ ३ ॥ भीमसेन भोजनालयकी देख-रेख करते थे। दुर्योधन कोषाध्यक्ष थे। सहदेव अभ्यागतोंके स्वागत-सत्कारमें नियुक्त थे और नकुल विविध प्रकारकी सामग्री एकत्र करनेका काम देखते थे ॥ ४ ॥ अर्जुन गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा करते थे और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आये हुए अतिथियोंके पाँव पखारनेका काम करते थे। देवी द्रौपदी भोजन परसनेका काम करतीं और उदारशिरोमणि कर्ण खुले हाथों दान दिया करते थे ॥ ५ ॥ परीक्षित्! इसी प्रकार सात्यकि, विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर, भूरिश्रवा आदि बाह्लीकके पुत्र और सन्तर्दन आदि राजसूय यज्ञमें विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त थे। वे सब-के-सब वैसा ही काम करते थे, जिससे महाराज युधिष्ठिरका प्रिय और हित हो ॥ ६-७ ॥

ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥ ८ ॥

परीक्षित्! जब ऋत्विज, सदस्य और बहुज्ञ पुरुषोंका तथा अपने इष्ट-मित्र एवं बन्धु-बान्धवोंका सुमधुर वाणी, विविध प्रकारकी पूजा-सामग्री और दक्षिणा आदिसे भलीभाँति सत्कार हो चुका तथा शिशुपाल भक्तवत्सल भगवान्‌के चरणोंमें समा गया, तब धर्मराज युधिष्ठिर गङ्गाजीमें यज्ञान्त स्नान करने गये ॥ ८ ॥

मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे ॥ ९ ॥
नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः।

उस समय जब वे अवभृथ-स्नान करने लगे, तब मृदङ्ग, शङ्ख, ढोल, नौबत, नगारे और नरसिंगे आदि तरह-तरहके बाजे बजने लगे ॥ ९ ॥ नर्तकियाँ आनन्दसे

[1] बादरायणिरुवाच। [2] सतां शु०।

वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत् ॥१०॥
चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः ॥११॥
यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकेकयकोसलाः ।
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरःसराः ॥१२॥
सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥१३॥
स्वलङ्कृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः ।
विलिम्पन्त्योऽभिषिञ्चन्त्यो विजह्रुर्विविधै रसैः ॥१४॥
तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः ।
पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥१५॥
गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्
देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ।
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः
सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥१६॥
ता देवरानुत सखीन् सिषिचुर्दृतीभिः[1]
क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।

झूम-झूमकर नाचने लगीं। झुंड-के-झुंड गवैये गाने लगे और वीणा, बाँसुरी तथा झाँझ-मँजीरे बजने लगे। इनकी तुमुल ध्वनि सारे आकाशमें गूँज गयी ॥ १० ॥ सोनेके हार पहने हुए यदु, सृञ्जय, कम्बोज, कुरु, केकय और कोसल देशके नरपति रंग विरंगी ध्वजा-पताकाओंसे युक्त और खूब सजे-धजे गजराजों, रथों, घोड़ों तथा सुसज्जित वीर सैनिकोंके साथ महाराज युधिष्ठिरको आगे करके पृथ्वीको कँपाते हुए चल रहे थे ॥ ११-१२ ॥ यज्ञके सदस्य, ऋत्विज और बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मण वेद-मन्त्रोंका ऊँचे स्वरसे उच्चारण करते हुए चले। देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा करते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ १३ ॥ इन्द्रप्रस्थके नर-नारी इत्र-फुलेल, पुष्पोंके हार, रंग-बिरंगे वस्त्र और बहुमूल्य आभूषणोंसे सज-धजकर एक दूसरेपर जल, तेल, दूध, मक्खन आदि रस डालकर भिगो देते, एक-दूसरेके शरीरमें लगा देते और इस प्रकार क्रीडा करते हुए चलने लगे ॥ १४ ॥ वाराङ्गनाएँ पुरुषोंको तेल, गोरस, सुगन्धित जल, हल्दी और गाढ़ी केसर मल देतीं और पुरुष भी उन्हें उन्हीं वस्तुओंसे सराबोर कर देते ॥ १५ ॥

उस समय इस उत्सवको देखनेके लिये जैसे उत्तम-उत्तम विमानोंपर चढ़कर आकाशमें बहुत-सी देवियाँ आयी थीं, वैसे ही सैनिकोंके द्वारा सुरक्षित इन्द्रप्रस्थकी बहुत-सी राजमहिलाएँ भी सुन्दर-सुन्दर पालकियोंपर सवार होकर आयी थीं। पाण्डवोंके ममेरे भाई श्रीकृष्ण और उनके सखा उन रानियोंके ऊपर तरह-तरहके रंग आदि डाल रहे थे। इससे रानियोंके मुख लजीली मुसकराहटसे खिल उठते थे और उनकी बड़ी शोभा होती थी ॥ १६ ॥ उन लोगोंके रंग आदि डालनेसे रानियोंके वस्त्र भीग गये। इससे उनके शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग—वक्षःस्थल, जंघा और कटिभाग कुछ-कुछ दीख-से रहे थे। वे भी पिचकारी और पात्रोंमें रंग भर-भरकर अपने देवरों और उनके सखाओंपर उड़ेल रही थीं। प्रेमभरी उत्सुकताके कारण उनकी चोटियों और जूड़ोंके

[1] णादिभिः।

औत्सुक्यमुक्तकबराच्च्यवमानमाल्याः
क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥१७॥
स सम्राड् रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम् ।
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥१८॥
पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ।
आचान्तं स्नापयाञ्चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ॥१९॥
देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम् ।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः ॥२०॥
सस्नुस्तत्र ततः सर्वे वर्णाश्रमयुता नराः ।
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ॥२१॥
अथ राजाहते क्षौमे परिधाय स्वलङ्कृतः ।
ऋत्विक्सदस्यविप्रादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥२२॥
बन्धुज्ञातिनृपान् मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ।
अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥२३॥
सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्र-
ग्गुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्घ्यहाराः ।
नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दजुष्ट-
वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः ॥२४॥
अथर्त्विजो महाशीलाः सदस्या ब्रह्मवादिनः ।
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा राजानो ये समागताः ॥२५॥
देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः ।

बन्धन ढीले पड़ गये थे तथा उनमें गुँथे हुए फूल गिरते जा रहे थे । परीक्षित् ! उनका यह रुचिर और पवित्र विहार देखकर मलिन अन्तःकरणवाले पुरुषोंका चित्त चञ्चल हो उठता था, काम-मोहित हो जाता था ॥ १७ ॥

चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर द्रौपदी आदि रानियोंके साथ सुन्दर घोड़ोंसे युक्त एवं सोनेके हारोंसे सुसज्जित रथपर सवार होकर ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो स्वयं राजसूय यज्ञ प्रयाज आदि क्रियाओंके साथ मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गया हो ॥ १८ ॥ ऋत्विजोंने पत्नी-संयाज (एक प्रकारका यज्ञकर्म) तथा यज्ञान्त-स्नान-सम्बन्धी कर्म करवाकर द्रौपदीके साथ सम्राट् युधिष्ठिर-को आचमन करवाया और इसके बाद गङ्गास्नान ॥१९॥ उस समय मनुष्योंकी दुन्दुभियोंके साथ ही देवताओंकी दुन्दुभियाँ भी बजने लगीं । बड़े-बड़े देवता, ऋषि-मुनि, पितर और मनुष्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ २० ॥ महाराज युधिष्ठिरके स्नान कर लेनेके बाद सभी वर्णों एवं आश्रमोंके लोगोंने गङ्गाजीमें स्नान किया; क्योंकि इस स्नानसे बड़े-से-बड़ा महापापी भी अपनी पाप-राशिसे तत्काल मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥ तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने नयी रेशमी धोती और दुपट्टा धारण किया तथा विविध प्रकारके आभूषणोंसे अपनेको सजा लिया । फिर ऋत्विज, सदस्य, ब्राह्मण आदिको वस्त्राभूषण दे-देकर उनकी पूजा की ॥२२॥ महाराज युधिष्ठिर भगवत्परायण थे, उन्हें सबमें भगवान्‌के ही दर्शन होते । इसलिये वे भाई-बन्धु, कुटुम्बी, नरपति, इष्ट-मित्र, हितैषी और सभी लोगोंकी बार-बार पूजा करते ॥ २३ ॥ उस समय सभी लोग जड़ाऊ कुण्डल, पुष्पोंके हार, पगड़ी, लंबी अँगरखी, दुपट्टा तथा मणियोंके बहुमूल्य हार पहनकर देवताओंके समान शोभायमान हो रहे थे । स्त्रियोंके मुखोंकी भी दोनों कानोंके कर्णफूल और घुँघराली अलकोंसे बड़ी शोभा हो रही थी तथा उनके कटिभागमें सोनेकी करधनियाँ तो बहुत ही भली मालूम हो रही थीं ॥ २४ ॥

परीक्षित् ! राजसूय यज्ञमें जितने लोग आये थे—परम शीलवान् ऋत्विज, ब्रह्मवादी सदस्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा, देवता, ऋषि, मुनि, पितर तथा अन्य

१. जनाः ।

पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ॥२६॥
हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।
नैवातृप्यन् प्रशंसन्तः पिबन् मर्त्योऽमृतं यथा॥२७॥
ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।
प्रेम्णा निवासयामास कृष्णं च त्यागकातरः ॥२८॥
भगवानपि तत्राङ्ग न्यवात्सीत्तत्प्रियङ्करः ।
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ॥२९॥
इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् ।
सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद् गतज्वरः ॥३०॥
एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।
अतप्यद् राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ॥३१॥
यस्मिन् नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मी-
नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः ।
ताभिः पतीन् द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥३२॥
यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं
श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् ।

प्राणी और अपने अनुयायियोंके साथ लोकपाल—इन सबकी पूजा महाराज युधिष्ठिरने की । इसके बाद वे लोग धर्मराजसे अनुमति लेकर अपने-अपने निवासस्थानको चले गये ॥ २५-२६॥ परीक्षित् ! जैसे मनुष्य अमृतपान करते-करते कभी तृप्त नहीं हो सकता, वैसे ही सब लोग भगवद्भक्त राजर्षि युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञकी प्रशंसा करते-करते तृप्त न होते थे ॥ २७ ॥ इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे अपने हितैषी सुहृद्-सम्बन्धियों भाई-बन्धुओं और भगवान् श्रीकृष्णको भी रोक लिया, क्योंकि उन्हें उनके बिछोहकी कल्पनासे ही बड़ा दुःख होता था ॥ २८ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णने यदुवंशी वीर साम्ब आदिको द्वारकापुरी भेज दिया और स्वयं राजा युधिष्ठिरकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये, उन्हें आनन्द देनेके लिये वहीं रह गये ॥ २९॥ इस प्रकार धर्मनन्दन महाराज युधिष्ठिर मनोरथोंके महान् समुद्रको, जिसे पार करना अत्यन्त कठिन है, भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे अनायास ही पार कर गये और उनकी सारी चिन्ता मिट गयी ॥ ३० ॥

एक दिनकी बात है, भगवान्के परमप्रेमी महाराज युधिष्ठिरके अन्तःपुरकी सौन्दर्य-सम्पत्ति और राजसूय यज्ञद्वारा प्राप्त महत्त्वको देखकर दुर्योधनका मन डाहसे जलने लगा ॥ ३१ ॥ परीक्षित् ! पाण्डवोंके लिये मय दानवने जो महल बना दिये थे, उनमे नरपति, दैत्यपति और सुरपतियोंका विविध विभूतियाँ तथा श्रेष्ठ सौन्दर्य स्थान-स्थानपर शोभायमान था । उनके द्वारा राजरानी द्रौपदी अपने पतियोंकी सेवा करती थीं । उस राजभवनमें उन दिनों भगवान् श्रीकृष्णकी सहस्रों रानियाँ निवास करती थीं । नितम्बके भारी भारके कारण जब वे उस राजभवनमें धीरे-धीरे चलने लगती थीं, तब उनके पायजेबोंकी झनकार चारों ओर फैल जाती थी । उनका कटिभाग बहुत ही सुन्दर था तथा उनके वक्षःस्थलपर लगी हुई केसरकी लालिमासे मोतियोंके सुन्दर श्वेत हार भी लाल-लाल जान पड़ते थे । कुण्डलोंकी और घुँघराली अलकोंकी चञ्चलतासे उनके मुखकी शोभा और भी

मध्ये सुचारु कुचकुङ्कुमशोणहारं
श्रीमन्मुखं प्रचलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ॥३३॥
सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट् ।
वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥३४॥
आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव ।
पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ॥३५॥
तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप ।
किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन् रुषा ॥३६॥
स्थलेऽभ्यगृह्णाद् वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत् ।
जले च स्थलवद् भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः ॥३७॥
जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे ।
निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ॥३८॥
स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन्
निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।
हाहेति शब्दः सुमहानभूत् सता-
मजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ।
बभूव तूष्णीं भगवान् भुवो भरं
समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ॥३९॥
एतत्तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्टोऽहमिह त्वया ।
सुयोधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥४०॥

बढ़ जाती थी । यह सब देखकर दुर्योधनके हृदयमें बड़ी जलन होती । परीक्षित् ! सच पूछो तो दुर्योधन-का चित्त द्रौपदीमें आसक्त था और यही उसकी जलन-का मुख्य कारण भी था ॥ ३२-३३ ॥

एक दिन राजाधिराज महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयों, सम्बन्धियों एवं अपने नयनोंके तारे परम हितैषी भगवान् श्रीकृष्णके साथ मयदानवकी बनायी सभामें स्वर्णसिंहा-सनपर देवराज इन्द्रके समान विराजमान थे । उनकी भोग-सामग्री, उनकी राज्यलक्ष्मी ब्रह्माजीके ऐश्वर्यके समान थी । वंदीजन उनकी स्तुति कर रहे थे ॥३४-३५॥ उसी समय अभिमानी दुर्योधन अपने दुःशासन आदि भाइयोंके साथ वहाँ आया । उसके सिरपर मुकुट, गलेमें माला और हाथमें तलवार थी । परीक्षित् ! वह क्रोधवश द्वारपालों और सेवकोंको झिड़क रहा था ॥ ३६ ॥ उस सभामें मयदानवने ऐसी माया फैला रक्खी थी कि दुर्योधनने उससे मोहित हो स्थलको जल समझकर अपने वस्त्र समेट लिये और जलको स्थल समझकर वह उसमें गिर पड़ा ॥ ३७ ॥ उसको गिरते देखकर भीमसेन, राजरानियाँ तथा दूसरे नरपति हँसने लगे । यद्यपि युधिष्ठिर उन्हें ऐसा करनेसे रोक रहे थे, परन्तु प्यारे परीक्षित् ! उन्हें इशारेसे श्रीकृष्णका अनुमोदन प्राप्त हो चुका था ॥ ३८ ॥ इससे दुर्योधन लज्जित हो गया, उसका रोम-रोम क्रोधसे जलने लगा । अब वह अपना मुँह लटकाकर चुपचाप सभाभवनसे निकलकर हस्तिना-पुर चला गया । इस घटनाको देखकर सत्पुरुषोंमें हाहा-कार मच गया और धर्मराज युधिष्ठिरका मन भी कुछ खिन्न-सा हो गया । परीक्षित् ! यह सब होनेपर भी भगवान् श्रीकृष्ण चुप थे । उनकी इच्छा थी कि किसी प्रकार पृथ्वीका भार उतर जाय; और सच पूछो, तो उन्हींकी दृष्टिसे दुर्योधनको वह भ्रम हुआ था ॥ ३९ ॥ परीक्षित् ! तुमने मुझसे यह पूछा था कि उस महान् राजसूय-यज्ञमें दुर्योधनको डाह क्यों हुआ ? जलन क्यों हुई ? सो वह सब मैंने तुम्हें बतला दिया ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1]
उत्तरार्धे दुर्योधनमानभङ्गो नाम पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

१. न्धे दुर्यो० ।

अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः

शाल्वके साथ यादवोंका युद्ध

श्रीशुक उवाच

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप ।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥ १ ॥

शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः[1] ।
यदुभिर्निर्जितः संख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥ २ ॥

शाल्वः प्रतिज्ञामकरोत् शृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥ ३ ॥

इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम् ।
आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृद् ग्रसन् ॥ ४ ॥

संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः ।
वरेणच्छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥ ५ ॥

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥ ६ ॥

तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरञ्जयः ।
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयसयम्[2] ॥ ७ ॥

स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब मनुष्य-की-सी लीला करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका एक और भी अद्‌भुत चरित्र सुनो । इसमें यह बताया जायगा कि सौभनामक विमानका अधिपति शाल्व किस प्रकार भगवान्‌के हाथसे मारा गया ॥ १ ॥ शाल्व शिशुपालका सखा था और रुक्मिणीके विवाहके अवसरपर बारातमें शिशुपालकी ओरसे आया हुआ था । उस समय यदुवंशियोंने युद्धमें जरासन्ध आदिके साथ-साथ शाल्वको भी जीत लिया था ॥ २ ॥ उस दिन सब राजाओंके सामने शाल्वने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं पृथ्वीसे यदुवंशियोंको मिटाकर छोड़ूँगा, सब लोग मेरा बल-पौरुष देखना' ॥ ३ ॥ परीक्षित् ! मूढ शाल्वने इस प्रकार प्रतिज्ञा करके देवाधिदेव भगवान् पशुपतिकी आराधना प्रारम्भ की । वह उन दिनों दिनमें केवल एक बार मुट्ठीभर राख फाँक लिया करता था ॥ ४ ॥ यों तो पार्वतीपति भगवान् शङ्कर आशुतोष हैं, औढरदानी हैं, फिर भी वे शाल्वका घोर सङ्कल्प जानकर एक वर्षके बाद प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने शरणागत शाल्वसे वर माँगनेके लिये कहा ॥ ५ ॥ उस समय शाल्वने यह वर माँगा कि 'मुझे आप एक ऐसा विमान दीजिये जो देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंसे तोड़ा न जा सके; जहाँ इच्छा हो, वहीं चला जाय और यदुवंशियोंके लिये अत्यन्त भयङ्कर हो' ॥ ६ ॥ भगवान् शङ्करने कह दिया 'तथास्तु !' इसके बाद उनकी आज्ञासे त्रिपक्षियोंके नगर जीतनेवाले मय दानवने लोहेका सौभनामक विमान बनाया और शाल्वको दे दिया ॥ ७ ॥ वह विमान क्या था एक नगर ही था । वह इतना अन्धकारमय था कि उसे देखना या पकड़ना अत्यन्त कठिन था । चलानेवाला उसे जहाँ ले जाना चाहता, वहीं वह उसके इच्छा

[1] तैः । [2] मयोमयम् ।

ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं[1] वृष्णिकृतं स्मरन् ॥ ८ ॥

करते ही चला जाता था। शाल्वने वह विमान प्राप्त करके द्वारकापर चढ़ाई कर दी, क्योंकि वह वृष्णिवंशी यादवोंद्वारा किये हुए वैरको सदा स्मरण रखता था ॥ ८ ॥

निरुद्ध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ ।
पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥ ९ ॥
सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः[2] ।
विहारान् स विमानाग्र्यान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः ॥ १० ॥

परीक्षित्! शाल्वने अपनी बहुत बड़ी सेनासे द्वारकाको चारों ओरसे घेर लिया और फिर उसके फल-फूलसे लदे हुए उपवन और उद्यानोंको उजाड़ने और नगरद्वारों, फाटकों, राजमहलों, अटारियों, दीवारों और नागरिकोंके मनोविनोदके स्थानोंको नष्ट-भ्रष्ट करने लगा। उस श्रेष्ठ विमानसे शस्त्रोंकी झड़ी लग गयी ॥ ९-१० ॥

शिला द्रुमाश्चाशनयः सर्पा आसारशर्कराः ।
प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद् रजसाऽऽच्छादिता दिशः ॥ ११ ॥

बड़ी-बड़ी चट्टानें, वृक्ष, वज्र, सर्प और ओले बरसने लगे। बड़े जोरका बवंडर उठ खड़ा हुआ। चारों ओर धूल-ही-धूल छा गयी ॥ ११ ॥

इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही ॥ १२ ॥

परीक्षित्! प्राचीन कालमें जैसे त्रिपुरासुरने सारी पृथ्वीको पीड़ित कर रक्खा था, वैसे ही शाल्वके विमानने द्वारकापुरीको अत्यन्त पीड़ित कर दिया। वहाँके नर-नारियोंको कहीं एक क्षणके लिये भी शान्ति न मिलती थी ॥ १२ ॥

प्रद्युम्नो भगवान् वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः ।
मा भैष्टेत्यभ्यधाद् वीरो रथारूढो महायशाः[3] ॥ १३ ॥

परमयशस्वी वीर भगवान् प्रद्युम्नने देखा—हमारी प्रजाको बड़ा कष्ट हो रहा है, तब उन्होंने रथपर सवार होकर सबको ढाढ़स बँधाया और कहा कि 'डरो मत' ॥ १३ ॥

सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः ।
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ॥ १४ ॥
अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ॥ १५ ॥

उनके पीछे-पीछे सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, भाइयोंके साथ अक्रूर, कृतवर्मा, भानुविन्द, गद, शुक, सारण आदि बहुत-से वीर बड़े-बड़े धनुष धारण करके निकले। ये सब-के-सब महारथी थे। सबने कवच पहन रक्खे थे और सबकी रक्षाके लिये बहुत-से रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना साथ-साथ चल रही थी ॥ १४-१५ ॥

ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ।
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

इसके बाद प्राचीन कालमें जैसे देवताओंके साथ असुरोंका घमासान युद्ध हुआ था, वैसे ही शाल्वके सैनिकों और यदुवंशियोंका युद्ध होने लगा। उसे देखकर लोगोंके रोंगटे खड़े हो जाते थे ॥ १६ ॥

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥ १७ ॥

प्रद्युम्नजीने अपने दिव्य अस्त्रोंसे क्षणभरमें ही सौभपति शाल्वकी सारी माया काट डाली; ठीक वैसे ही, जैसे सूर्य अपनी प्रखर किरणोंसे रात्रिका अन्धकार मिटा देते हैं ॥ १७ ॥

विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।

प्रद्युम्नजीके बाणोंमें सोनेके पंख एवं लोहेके फल लगे हुए थे। उनकी गाँठें जान नहीं पड़ती

१. वैरिकृष्णमनुसरन्। २. प्राकाराट्टाल०। ३. रथः।

शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ॥१८॥
शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।
दशभिर्दशभिर्नेतॄन् वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥१९॥
तदद्भुतं महत् कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥२०॥
बहुरूपैकरूपं तद् दृश्यते न च दृश्यते ।
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत् ॥२१॥
क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।
अलातचक्रवद् भ्राम्यत् सौभं तद् दुरवस्थितम् ॥२२॥
यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः ।
शाल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चन् शरान् सात्वतयूथपाः ॥२३॥
शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ।
पीड्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत् परेरितैः ॥२४॥
शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः ।
न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥२५॥
शाल्वामात्यो द्युमान् नाम प्रद्युम्नं प्राक् प्रपीडितः ।
आसाद्य गदया मौर्व्या[2] व्याहत्य व्यनदद् बली ॥२६॥

थीं। उन्होंने ऐसे ही पचीस बाणोंसे शाल्वके सेनापतिको घायल कर दिया ॥ १८ ॥ परममनस्वी प्रद्युम्नजीने सेनापतिके साथ ही शाल्वको भी सौ बाण मारे, फिर प्रत्येक सैनिकको एक-एक और सारथियोंको दस-दस तथा वाहनोंको तीन-तीन बाणोंसे घायल किया ॥ १९ ॥ महामना प्रद्युम्नजीके इस अद्भुत और महान् कर्मको देखकर अपने एवं पराये—सभी सैनिक उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ २० ॥ परीक्षित् ! मय दानवका बनाया हुआ शाल्वका वह विमान अत्यन्त मायामय था। वह इतना विचित्र था कि कभी अनेक रूपोंमें दीखता तो कभी एक रूपमें, कभी दीखता तो कभी न भी दीखता। यदुवंशियोंको इस बातका पता ही न चलता कि वह इस समय कहाँ है ॥ २१ ॥ वह कभी पृथ्वीपर आ जाता तो कभी आकाशमें उड़ने लगता। कभी पहाड़की चोटीपर चढ़ जाता, तो कभी जलमें तैरने लगता। वह अलात-चक्रके समान—मानो कोई दुमुँही लुकारियोंकी बनेठी भाँज रहा हो—घूमता रहता था, एक क्षणके लिये भी कहीं ठहरता न था ॥ २२ ॥ शाल्व अपने विमान और सैनिकोंके साथ जहाँ-जहाँ दिखायी पड़ता, वहीं-वहीं यदुवंशी सेनापति बाणोंकी झड़ी लगा देते थे ॥ २३ ॥ उनके बाण सूर्य और अग्निके समान जलते हुए तथा विषैले साँपकी तरह असह्य होते थे। उनसे शाल्वका नगराकार विमान और सेना अत्यन्त पीड़ित हो गयी, यहाँतक कि यदुवंशियोंके बाणोंसे शाल्व स्वयं मूर्छित हो गया ॥ २४ ॥

परीक्षित् ! शाल्वके सेनापतियोंने भी यदुवंशियोंपर खूब शस्त्रोंकी वर्षा कर रक्खी थी, इससे वे अत्यन्त पीड़ित थे; परन्तु उन्होंने अपना-अपना मोर्चा छोड़ा नहीं। वे सोचते थे कि मरेंगे तो परलोक बनेगा और जीतेंगे तो विजयकी प्राप्ति होगी ॥ २५ ॥ परीक्षित् ! शाल्वके मन्त्रीका नाम था द्युमान्, जिसे पहले प्रद्युम्नजीने पचीस बाण मारे थे। वह बहुत बली था। उसने झपटकर प्रद्युम्नजीपर अपनी फौलादी गदासे बड़े जोरसे प्रहार किया और 'मार लिया, मार लिया' कहकर

१. त्रय०। २. गुर्व्या।

प्रद्युम्नं गदया शीर्णवक्षःस्थलमरिन्दमम् ।
अपोवाह रणात् सूतो धर्मविद् दारुकात्मजः ॥२७॥
लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत् ।
अहो असाध्विदं सूतं यद् रणान्मेऽपसर्पणम् ॥२८॥
न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः ।
विना मत् क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात् ॥२९॥
किं नु वक्ष्येऽभिसङ्गम्य पितरौ रामकेशवौ ।
युद्धात् सम्यगपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥३०॥
व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।
क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥३१॥

सारथिरुवाच[2]

धर्मं विजानताऽऽयुष्मन् कृतमेतन्मया विभो ।
सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद् रथिनं सारथिं रथी ॥३२॥
एतद् विदित्वा तु भवान् मयापोवाहितो रणात् ।
उपसृष्टः परेणेति मूर्छितो गदया हतः ॥३३॥

गरजने लगा ॥ २६ ॥ परीक्षित् ! गदाकी चोटसे शत्रुदमन प्रद्युम्नजीका वक्षःस्थल फट-सा गया । दारुकका पुत्र उनका रथ हाँक रहा था । वह सारथिधर्मके अनुसार उन्हें रणभूमिसे हटा ले गया ॥ २७ ॥ दो घड़ीमें प्रद्युम्नजीकी मूर्छा टूटी । तब उन्होंने सारथीसे कहा—'सारथे ! तूने यह बहुत बुरा किया । हाय, हाय ! तू मुझे रणभूमिसे हटा लाया ? ॥ २८ ॥ सूत ! हमने ऐसा कभी नहीं सुना कि हमारे वंशका कोई भी वीर कभी रणभूमि छोड़कर अलग हट गया हो ! यह कलङ्कका टीका तो केवल मेरे ही सिर लगा । सचमुच सूत ! तू कायर है, नपुंसक है ॥ २९ ॥ बतला तो सही, अब मैं अपने ताऊ बलरामजी और पिता श्रीकृष्णके सामने जाकर क्या कहूँगा ? अब तो सब लोग यही कहेंगे न, कि मैं युद्धसे भग गया ? उनके पूछनेपर मैं अपने अनुरूप क्या उत्तर दे सकूँगा ॥३०॥ मेरी भाभियाँ हँसती हुई मुझसे साफ-साफ पूछेंगी कि 'कहो, वीर ! तुम नपुंसक कैसे हो गये ? दूसरोंने युद्धमें तुम्हें नीचा कैसे दिखा दिया ?' सूत ! अवश्य ही तुमने मुझे रणभूमिसे भगाकर अक्षम्य अपराध किया है !' ॥३१॥

सारथीने कहा—आयुष्मन् ! मैंने जो कुछ किया है, सारथीका धर्म समझकर ही किया है । मेरे समर्थ स्वामी ! युद्धका ऐसा धर्म है कि सङ्कट पड़नेपर सारथी रथीकी रक्षा कर ले और रथी सारथीकी ॥ ३२ ॥ इस धर्मको समझते हुए ही मैंने आपको रणभूमिसे हटाया है । शत्रुने आपपर गदाका प्रहार किया था, जिससे आप मूर्च्छित हो गये थे, बड़े सङ्कटमें थे; इसीसे मुझे ऐसा करना पड़ा ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[3] उत्तरार्धे शाल्वयुद्धे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

अथ सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

शाल्व-उद्धार

श्रीशुक उवाच[4]

स तूपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः ।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब प्रद्युम्नजीने हाथ-मुँह धोकर, कवच पहन धनुष धारण किया और सारथीसे कहा कि 'मुझे वीर द्युमान्के पास फिरसे ले चलो' ॥१॥

१. सकल्मषात् । २. सूत उवाच । ३. न्धे सौभवधे । ४. बादरायणिरुवाच ।

विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः ।
प्रतिहत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥ २ ॥
चतुर्भिश्चतुरो वाहान् सूतमेकेन चाहनत् ।
द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ॥ ३ ॥
गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ।
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे संछिन्नकन्धराः ॥ ४ ॥
एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।
युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥ ५ ॥
इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।
राजसूयेऽथ निर्वृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥ ६ ॥
कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन् द्वारवतीं ययौ ॥ ७ ॥
आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसङ्गतः ।
राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥ ८ ॥
वीक्ष्य तत् कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।
सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह केशवः ॥ ९ ॥
रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ।
सम्भ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥१०॥
इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥११॥
शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।

१. रथमा० ।

उस समय द्युमान् यादवसेनाको तहस-नहस कर रहा था। प्रद्युम्नजीने उसके पास पहुँचकर उसे ऐसा करनेसे रोक दिया और मुसकराकर आठ बाण मारे ॥२॥ चार बाणोंसे उसके चार घोड़े और एक-एक बाणसे सारथी, धनुष, ध्वजा और उसका सिर काट डाला ॥ ३ ॥ इधर गद, सात्यकि, साम्ब आदि यदुवंशी वीर भी शाल्वकी सेनाका संहार करने लगे। सौभ विमानपर चढ़े हुए सैनिकोंकी गरदनें कट जातीं और वे समुद्रमें गिर पड़ते ॥ ४ ॥ इस प्रकार यदुवंशी और शाल्वके सैनिक एक-दूसरेपर प्रहार करते रहे। बड़ा ही घमासान और भयङ्कर युद्ध हुआ और वह लगातार सत्ताईस दिनोंतक चलता रहा ॥ ५ ॥

उन दिनों भगवान् श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिरके बुलानेसे इन्द्रप्रस्थ गये हुए थे। राजसूय यज्ञ हो चुका था और शिशुपालकी भी मृत्यु हो गयी थी ॥६॥ वहाँ भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि बड़े भयङ्कर अपशकुन हो रहे हैं। तब उन्होंने कुरुवंशके बड़े-बूढ़ों, ऋषि-मुनियों, कुन्ती और पाण्डवोंसे अनुमति लेकर द्वारकाके लिये प्रस्थान किया ॥ ७ ॥ वे मन-ही-मन कहने लगे कि 'मैं पूज्य भाई बलरामजीके साथ यहाँ चला आया। अब शिशुपालके पक्षपाती क्षत्रिय अवश्य ही द्वारकापर आक्रमण कर रहे होंगे' ॥ ८ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकामें पहुँचकर देखा कि सचमुच यादवोंपर बड़ी विपत्ति आयी है। तब उन्होंने बलरामजीको नगरकी रक्षाके लिये नियुक्त कर दिया और सौभपति शाल्वको देखकर अपने सारथी दारुकसे कहा— ॥ ९ ॥ 'दारुक! तुम शीघ्र-से-शीघ्र मेरा रथ शाल्वके पास ले चलो। देखो, यह शाल्व बड़ा मायावी है, तो भी तुम तनिक भी भय न करना' ॥१०॥ भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर दारुक रथपर चढ़ गया और उसे शाल्वकी ओर ले चला। भगवान्‌के रथकी ध्वजा गरुड़-चिह्नसे चिह्नित थी। उसे देखकर यदुवंशियों तथा शाल्वकी सेनाके लोगोंने युद्धभूमिमें प्रवेश करते ही भगवान्‌को पहचान लिया ॥ ११ ॥ परीक्षित्! अबतक शाल्वकी सारी सेना प्रायः नष्ट हो चुकी थी। भगवान् श्रीकृष्णको

प्राहरत् कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां मृधे ॥१२॥
तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत् ॥१३॥
तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभं च खे भ्रमत् ।
अविध्यच्छरसन्दोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥१४॥
शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ।
बिभेद न्यपतद्धस्तात् शार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ॥१५॥
हाहाकारो महानासीद् भूतानां तत्र पश्यताम् ।
विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥१६॥
यत्त्वया मूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम् ।
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ॥१७॥
तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् ।
नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ।
पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥१९॥
इत्युक्त्वा भगवाञ्छाल्वं गदया भीमवेगया ।
तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ॥२०॥
गदायां सन्निवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत ।
ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम् ।

देखते ही उसने उनके सारथीपर एक बहुत बड़ी शक्ति चलायी। वह शक्ति बड़ा भयङ्कर शब्द करती हुई आकाशमें बड़े वेगसे चल रही थी और बहुत बड़े लूकके समान जान पड़ती थी। उसके प्रकाशसे दिशाएँ चमक उठी थीं। उसे सारथीकी ओर आते देख भगवान् श्रीकृष्णने अपने बाणोंसे उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये ॥१२-१३॥ इसके बाद उन्होंने शाल्वको सोलह बाण मारे और उसके विमानको भी, जो आकाशमें घूम रहा था, असंख्य बाणोंसे चलनी कर दिया—ठीक वैसे ही, जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे आकाशको भर देता है ॥ १४ ॥ शाल्वने भगवान् श्रीकृष्णकी बायीं भुजामें, जिसमें शार्ङ्गधनुष शोभायमान था, बाण मारा, इससे शार्ङ्गधनुष भगवान्‌के हाथसे छूटकर गिर पड़ा। यह एक अद्भुत घटना घट गयी ॥ १५ ॥ जो लोग आकाश या पृथ्वीसे यह युद्ध देख रहे थे, वे बड़े जोरसे 'हाय-हाय' पुकार उठे। तब शाल्वने गरजकर भगवान् श्रीकृष्णसे यों कहा—॥ १६ ॥ 'मूढ! तूने हमलोगोंके देखते-देखते हमारे भाई और सखा शिशुपालकी पत्नीको हर लिया तथा भरी सभामें, जब कि हमारा मित्र शिशुपाल असावधान था, तूने उसे मार डाला ॥१७॥ मैं जानता हूँ कि तू अपनेको अजेय मानता है। यदि मेरे सामने ठहर गया तो मैं आज तुझे अपने तीखे बाणोंसे वहाँ पहुँचा दूँगा, जहाँसे फिर कोई लौटकर नहीं आता' ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'रे मन्द! तू वृथा ही बहक रहा है। तुझे पता नहीं कि तेरे सिरपर मौत सवार है। शूरवीर व्यर्थकी बकवाद नहीं करते, वे अपनी वीरता ही दिखलाया करते हैं' ॥ १९ ॥ इस प्रकार कहकर भगवान् श्रीकृष्णने क्रोधित हो अपनी अत्यन्त वेगवती और भयङ्कर गदासे शाल्वके जत्रुस्थान (हँसली) पर प्रहार किया। इससे वह खून उगलता हुआ काँपने लगा ॥ २० ॥ इधर जब गदा भगवान्‌के पास लौट आयी, तब शाल्व अन्तर्धान हो गया। इसके बाद दो घड़ी बीतते-बीतते एक मनुष्यने भगवान्‌के पास पहुँचकर उनको सिर झुकाकर प्रणाम किया और वह

१. भिर्बाणैर्विद्ध्वा सौभं। २. द्भार्या।

देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥२१॥
कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः ॥२२॥
निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।
विमनस्को घृणी स्नेहाद् बभाषे प्राकृतो यथा ॥२३॥
कथं राममसम्भ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः ।
शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान् विधिः ॥२४॥
इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।
वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः ॥२५॥
एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि ।
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत् पाहि बालिश ॥२६॥
एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः ।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥२७॥
ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः
स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः ।
महानुभावस्तदबुद्ध्यदासुरीं
मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ॥२८॥
न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं
प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं
सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥२९॥

रोता हुआ बोला—'मुझे आपकी माता देवकीजीने भेजा है ॥ २१ ॥ उन्होंने कहा है कि अपने पिताके प्रति अत्यन्त प्रेम रखनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण ! शाल्व तुम्हारे पिताको उसी प्रकार बाँधकर ले गया है, जैसे कोई कसाई पशुको बाँधकर ले जाय !' ॥२२॥ यह अप्रिय समाचार सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य-से बन गये । उनके मुँहपर कुछ उदासी छा गयी । वे साधारण पुरुषके समान अत्यन्त करुणा और स्नेहसे कहने लगे—॥ २३ ॥ 'अहो ! मेरे भाई बलरामजीको तो देवता अथवा असुर कोई नहीं जीत सकता । वे सदा-सर्वदा सावधान रहते हैं । शाल्वका बल-पौरुष तो अत्यन्त अल्प है । फिर भी इसने उन्हें कैसे जीत लिया और कैसे मेरे पिताजीको बाँधकर ले गया ? सचमुच, प्रारब्ध बहुत बलवान् है' ॥ २४ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार कह ही रहे थे कि शाल्व वसुदेवजीके समान एक मायारचित मनुष्य लेकर वहाँ आ पहुँचा और श्रीकृष्णसे कहने लगा—॥ २५ ॥ 'मूर्ख ! देख; यही तुझे पैदा करनेवाला तेरा बाप है, जिसके लिये तू जी रहा है । तेरे देखते-देखते मैं इसका काम तमाम करता हूँ । कुछ बल-पौरुष हो, तो इसे बचा' ॥२६॥ मायावी शाल्वने इस प्रकार भगवान्‌को फटकार कर मायारचित वसुदेवका सिर तलवारसे काट लिया और उसे लेकर अपने आकाशस्थ विमानपर जा बैठा ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंसिद्ध ज्ञानस्वरूप और महानुभाव हैं । वे यह घटना देखकर दो घड़ीके लिये अपने स्वजन वसुदेवजीके प्रति अत्यन्त प्रेम होनेके कारण साधारण पुरुषोंके समान शोकमें डूब गये । परन्तु फिर वे जान गये कि यह तो शाल्वकी फैलायी हुई आसुरी माया ही है, जो उसे मय दानवने बतलायी थी ॥ २८ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने युद्धभूमिमें सचेत होकर देखा—न वहाँ दूत है और न पिताका वह शरीर; जैसे स्वप्नमें एक दृश्य दीखकर लुप्त हो गया हो ! उधर देखा तो शाल्व विमानपर चढ़कर आकाशमें विचर रहा है । तब वे उसका वध करनेके लिये उद्यत हो गये ॥ २९ ॥

१. द । २. स्वप्नं ।

एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः के च नान्विताः ।
यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥३०॥
क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसम्भवाः ।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्त्वखण्डितः ॥३१॥
यत्पादसेवोर्जितयाऽऽत्मविद्यया
हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं
कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥३२॥
तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा
शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ।
विद्ध्वाच्छिनद् वर्म धनुः शिरोमणिं
सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥३३॥
तत् कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं
पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद् भूतलमास्थितो गदा-
मुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद् द्रुतम्॥३४
आधावतः सगदं तस्य बाहुं
भल्लेन छित्त्वाथ रथाङ्गमद्भुतम् ।
वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं
बिभ्रद् बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥३५॥
जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं
किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो
बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥३६॥

प्रिय परीक्षित् ! इस प्रकारकी बात पूर्वापरका विचार न करनेवाले कोई-कोई ऋषि कहते हैं । अवश्य ही वे इस बातको भूल जाते हैं कि श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसा कहना उन्हींके वचनोंके विपरीत है ॥ ३० ॥ कहाँ अज्ञानियोंमें रहनेवाले शोक, मोह, स्नेह और भय, तथा कहाँ वे परिपूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण—जिनका ज्ञान, विज्ञान और ऐश्वर्य अखण्डित है, एकरस है ! (भला, उनमें वैसे भावोंकी सम्भावना ही कहाँ है ?) ॥ ३१ ॥ बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा करके आत्मविद्याका भलीभाँति सम्पादन करते हैं और उसके द्वारा शरीर आदिमें आत्मबुद्धिरूप अनादि अज्ञान-को मिटा डालते हैं तथा आत्मसम्बन्धी अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं । उन संतोंके परम गतिस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णमें भला, मोह कैसे हो सकता है ! ॥ ३२ ॥

अब शाल्व भगवान् श्रीकृष्णपर बड़े उत्साह और वेगसे शस्त्रोंकी वर्षा करने लगा था । अमोघशक्ति भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने बाणोंसे शाल्वको घायल कर दिया और उसके कवच, धनुष तथा सिरकी मणिको छिन्न-भिन्न कर दिया । साथ ही गदाकी चोटसे उसके विमानको भी जर्जर कर दिया ॥ ३३ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंसे चलायी हुई गदासे वह विमान चूर-चूर होकर समुद्रमें गिर पड़ा । गिरनेके पहले ही शाल्व हाथमें गदा लेकर धरतीपर कूद पड़ा और सावधान होकर बड़े वेगसे भगवान् श्रीकृष्णकी ओर झपटा ॥ ३४ ॥ शाल्वको आक्रमण करते देख उन्होंने भालेसे गदाके साथ उसका हाथ काट गिराया । फिर उसे मार डालनेके लिये उन्होंने प्रलयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी और अत्यन्त अद्भुत सुदर्शन चक्र धारण कर लिया । उस समय उनकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो सूर्यके साथ उदयाचल शोभायमान हो ॥॥ ३५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने उस चक्रसे परम मायावी शाल्वका कुण्डल-किरीटसहित सिर धड़से अलग कर दिया; ठीक वैसे ही, जैसे इन्द्रने वज्रसे वृत्रासुरका सिर काट डाला था । उस समय शाल्वके सैनिक अत्यन्त दुःखसे 'हाय-हाय' चिल्ला उठे ॥ ३६ ॥

१. वाज्ञानसम्भवम् ।

तस्मिन् निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्त्रो रुषाभ्यगात् ॥३७॥

परीक्षित् ! जब पापी शाल्व मर गया और उसका विमान भी गदाके प्रहारसे चूर-चूर हो गया, तब देवतालोग आकाशमें दुन्दुभियाँ बजाने लगे । ठीक इसी समय दन्तवक्त्र अपने मित्र शिशुपाल आदिका बदला लेनेके लिये अत्यन्त क्रोधित होकर आ पहुँचा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे सौभवधो नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

अथाष्टसप्ततितमोऽध्यायः

दन्तवक्त्र और विदूरथका उद्धार तथा तीर्थयात्रामें बलरामजीके हाथसे सूतजीका वध

श्रीशुक उवाच

शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः ।
परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम् ॥ १ ॥
एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् ।
पद्भ्यामिमां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ॥ २ ॥
तं तथाऽऽयान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः ।
अवप्लुत्य रथात् कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् ॥ ३ ॥
गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥ ४ ॥
त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्मां जिघांससि ।
अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥ ५ ॥
तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! शिशुपाल, शाल्व और पौण्ड्रकके मारे जानेपर उनकी मित्रताका ऋण चुकानेके लिये मूर्ख दन्तवक्त्र अकेला ही पैदल युद्धभूमिमें आ धमका । वह क्रोधके मारे आग-बबूला हो रहा था । शस्त्रके नामपर उसके हाथमें एकमात्र गदा थी । परन्तु परीक्षित् ! लोगोंने देखा, वह इतना शक्तिशाली है कि उसके पैरोंकी धमकसे पृथ्वी हिल रही है ॥ १-२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने जब उसे इस प्रकार आते देखा, तब झटपट हाथमें गदा लेकर वे रथसे कूद पड़े । फिर जैसे समुद्रके तटकी भूमि उसके ज्वार-भाटेको आगे बढ़नेसे रोक देती है, वैसे ही उन्होंने उसे रोक दिया ॥ ३ ॥ घमंडके नशेमें चूर करूषनरेश दन्तवक्त्रने गदा तानकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'बड़े सौभाग्य और आनन्दकी बात है कि आज तुम मेरी आँखोंके सामने पड़ गये ॥ ४ ॥ कृष्ण ! तुम मेरे मामाके लड़के हो, इसलिये तुम्हें मारना तो नहीं चाहिये; परन्तु एक तो तुमने मेरे मित्रोंको मार डाला है और दूसरे मुझे भी मारना चाहते हो । इसलिये मतिमन्द ! आज मैं तुम्हें अपनी वज्र-कर्कश गदासे चूर-चूर कर डालूँगा ॥ ५ ॥ मूर्ख ! वैसे तो तुम मेरे सम्बन्धी हो, फिर भी हो शत्रु ही, जैसे अपने ही शरीरमें रहनेवाला कोई रोग हो ! मैं

[1] १. न्धे सौभशाल्ववधः ।

बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥ ६ ॥
एवं रूक्षैस्तुदन् वाक्यैः कृष्णं तोत्त्रैरिव द्विपम् ।
गदयाताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद् व्यनदच्च सः ॥ ७ ॥
गदयाभिहतोऽप्याजौ न चचाल यदूद्वहः ।
कृष्णोऽपि तमहन् गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ॥८॥
गदानिर्भिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात् ।
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन् धरण्यां न्यपतद् व्यसुः॥ ९ ॥
ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् ।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ॥१०॥
विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।
आगच्छदसिचर्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥११॥
तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम् ॥१२॥
एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्त्रं सहानुजम् ।
हत्वा दुर्विषहानन्यैरीडितः सुरमानवैः ॥१३॥
मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।
अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किन्नरचारणैः ॥१४॥
उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालङ्कृतां पुरीम् ॥१५॥

अपने मित्रोंसे बड़ा प्रेम करता हूँ, उनका मुझपर ऋण है। अब तुम्हें मारकर ही मैं उनके ऋणसे उऋण हो सकता हूँ ॥ ६ ॥ जैसे महावत अङ्कुशसे हाथीको घायल करता है, वैसे ही दन्तवक्त्रने अपनी कड़वी बातोंसे श्रीकृष्णको चोट पहुँचानेकी चेष्टा की और फिर वह उनके सिरपर बड़े वेगसे गदा मारकर सिंहके समान गरज उठा ॥ ७ ॥ रणभूमिमें गदाकी चोट खाकर भी भगवान् श्रीकृष्ण टस-से-मस न हुए। उन्होंने अपनी बहुत बड़ी कौमोदकी गदा सम्हालकर उससे दन्तवक्त्रके वक्षःस्थलपर प्रहार किया ॥ ८ ॥ गदाकी चोटसे दन्तवक्त्रका कलेजा फट गया। वह मुँहसे खून उगलने लगा। उसके बाल बिखर गये, भुजाएँ और पैर फैल गये। निदान निष्प्राण होकर वह धरतीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥ परीक्षित्! जैसा कि शिशुपालकी मृत्युके समय हुआ था, सब प्राणियोंके सामने ही दन्तवक्त्रके मृत शरीरसे एक अत्यन्त सूक्ष्म ज्योति निकली और वह बड़ी विचित्र रीतिसे भगवान् श्रीकृष्णमें समा गयी ॥ १० ॥

दन्तवक्त्रके भाईका नाम था विदूरथ। वह अपने भाईकी मृत्युसे अत्यन्त शोकाकुल हो गया। अब वह क्रोधके मारे लंबी-लंबी साँस लेता हुआ हाथमें ढाल-तलवार लेकर भगवान् श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे आया ॥११॥ राजेन्द्र! जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि अब वह प्रहार करना ही चाहता है, तब उन्होंने अपने छुरेके समान तीखी धारवाले चक्रसे किरीट और कुण्डलके साथ उसका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ १२ ॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने शाल्व, उसके विमान सौभ, दन्तवक्त्र और विदूरथको, जिन्हें मारना दूसरोंके लिये अशक्य था, मारकर द्वारकापुरीमें प्रवेश किया। उस समय देवता और मनुष्य उनकी स्तुति कर रहे थे। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, सिद्ध-गन्धर्व, विद्याधर और वासुकि आदि महानाग, अप्सराएँ, पितर, यक्ष, किन्नर तथा चारण उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा करते हुए उनकी विजयके गीत गा रहे थे। भगवान्‌के प्रवेशके अवसरपर पुरी खूब सजा दी गयी थी और बड़े-बड़े वृष्णिवंशी यादव वीर उनके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ १३—१५ ॥

एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवाञ्जगदीश्वरः ।
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ॥१६॥
श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः ।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥१७॥
स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥१८॥
पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् ।
विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥१९॥
यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत ।
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते ॥२०॥
तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ॥२१॥
सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ।
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ॥२२॥
अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् ।
अध्यासीनं च तान् विप्रांश्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः॥२३॥
कस्मादसाविमान् विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।
धर्मपालांस्तथैवास्मान् वधमर्हति दुर्मतिः ॥२४॥

योगेश्वर एवं जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण इसी प्रकार अनेकों खेल खेलते रहते हैं। जो पशुओंके समान अविवेकी हैं, वे उन्हें कभी हारते भी देखते हैं। परन्तु वास्तवमें तो वे सदा-सर्वदा विजयी ही हैं ॥ १६ ॥

एक बार बलरामजीने सुना कि दुर्योधनादि कौरव पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी तैयारी कर रहे हैं। वे मध्यस्थ थे, उन्हें किसीका पक्ष लेकर लड़ना पसंद नहीं था। इसलिये वे तीर्थोंमें स्नान करनेके बहाने द्वारकासे चले गये ॥ १७ ॥ वहाँसे चलकर उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें स्नान किया; और तर्पण तथा ब्राह्मण-भोजनके द्वारा देवता, ऋषि, पितर और मनुष्योंको तृप्त किया। इसके बाद वे कुछ ब्राह्मणोंके साथ जिधरसे सरस्वती नदी आ रही थी, उधर ही चल पड़े ॥ १८ ॥ वे क्रमशः पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शनतीर्थ, विशालतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ और पूर्ववाहिनी सरस्वती आदि तीर्थोंमें गये ॥ १९ ॥ परीक्षित्! तदनन्तर यमुनातट और गङ्गातटके प्रधान-प्रधान तीर्थोंमें होते हुए वे नैमिषारण्य क्षेत्रमें गये। उन दिनों नैमिषारण्य क्षेत्रमें बड़े-बड़े ऋषि सत्सङ्गरूप महान् सत्र कर रहे थे ॥ २० ॥ दीर्घकालतक सत्सङ्ग-सत्रका नियम लेकर बैठे हुए ऋषियोंने बलरामजीको आया देख अपने-अपने आसनोंसे उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया और यथायोग्य प्रणाम-आशीर्वाद करके उनकी पूजा की ॥ २१ ॥ वे अपने साथियोंके साथ आसन ग्रहण करके बैठ गये और उनकी अर्चा-पूजा हो चुकी, तब उन्होंने देखा कि भगवान् व्यासके शिष्य रोमहर्षण व्यासगद्दीपर बैठे हुए हैं ॥ २२ ॥ बलरामजीने देखा कि रोमहर्षणजी सूत-जातिमें उत्पन्न होनेपर भी उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे ऊँचे आसनपर बैठे हुए हैं और उनके आनेपर न तो उठकर स्वागत करते हैं और न हाथ जोड़कर प्रणाम ही। इसपर बलरामजीको क्रोध आ गया ॥ २३ ॥ वे कहने लगे कि 'यह रोमहर्षण प्रतिलोम जातिका होनेपर भी इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे तथा धर्मके रक्षक हमलोगोंसे ऊपर बैठा हुआ है, इसलिये यह दुर्बुद्धि मृत्युदण्डका पात्र है ॥२४॥

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च।
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥२५॥
अदान्तस्याविनीतस्य वृथा पण्डितमानिनः।
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ॥२६॥
एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः।
वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः ॥२७॥
एतावदुक्त्वा भगवान् निवृत्तोऽसद्वधादपि।
भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत् प्रभुः ॥२८॥
हाहेति वादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः।
ऊचुः सङ्कर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभो ॥२९॥
अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन।
आयुश्चात्माक्लमं तावद् यावत् सत्रं समाप्यते ॥३०॥
अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ॥३१॥
यद्येतद् ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन।
चरिष्यति[1] भवाँल्लोकसङ्ग्रहोऽनन्यचोदितः ॥३२॥

श्रीभगवानुवाच

करिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया।
नियमः प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम् ॥३३॥

भगवान् व्यासदेवका शिष्य होकर इसने इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि बहुत-से शास्त्रोंका अध्ययन भी किया है; परन्तु अभी इसका अपने मनपर संयम नहीं है। यह विनयी नहीं, उद्दण्ड है। इस अजितात्माने झूठमूठ अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मान रक्खा है। जैसे नटकी सारी चेष्टाएँ अभिनयमात्र होती हैं, वैसे ही इसका सारा अध्ययन स्वाँगके लिये है। उससे न इसका लाभ है और न किसी दूसरेका ॥ २५-२६ ॥ जो लोग धर्मका चिह्न धारण करते हैं, परन्तु धर्मका पालन नहीं करते, वे अधिक पापी हैं और वे मेरे लिये वध करने योग्य हैं। इस जगत्में इसीलिये मैंने अवतार धारण किया है' ॥ २७ ॥ भगवान् बलराम यद्यपि तीर्थयात्राके कारण दुष्टोंके वधसे भी अलग हो गये थे, फिर भी इतना कहकर उन्होंने अपने हाथमें स्थित कुशकी नोकसे उनपर प्रहार कर दिया और वे तुरंत मर गये। होनहार ही ऐसी थी ॥ २८ ॥ सूतजीके मरते ही सब ऋषि-मुनि हाय-हाय करने लगे, सबके चित्त खिन्न हो गये। उन्होंने देवाधिदेव भगवान् बलरामजीसे कहा—'प्रभो! आपने यह बहुत बड़ा अधर्म किया ॥ २९ ॥ यदुवंशशिरोमणे! सूतजीको हमीं लोगोंने ब्राह्मणोचित आसनपर बैठाया था और जबतक हमारा यह सत्र समाप्त न हो, तबतकके लिये उन्हें शारीरिक कष्टसे रहित आयु भी दे दी थी ॥ ३० ॥ आपने अनजानमें यह ऐसा काम कर दिया, जो ब्रह्महत्याके समान है। हमलोग यह मानते हैं कि आप योगेश्वर हैं, वेद भी आपपर शासन नहीं कर सकता। फिर भी आपसे यह प्रार्थना है कि आपका अवतार लोगोंको पवित्र करनेके लिये हुआ है; यदि आप किसीकी प्रेरणाके बिना स्वयं अपनी इच्छासे ही इस ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त कर लेंगे तो इससे लोगोंको बहुत शिक्षा मिलेगी' ॥ ३१-३२ ॥

भगवान् बलरामने कहा—मैं लोगोंको शिक्षा देनेके लिये, लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये इस ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त अवश्य करूँगा, अतः इसके लिये प्रथम श्रेणीका जो प्रायश्चित्त हो, आपलोग उसीका विधान

१. चरि०।

दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च ।
आशासितं यत्तद् ब्रूत साधये योगमायया ॥३४॥

दीजिये ॥ ३३ ॥ आपलोग इस सूतको लंबी आयु, बल, इन्द्रिय-शक्ति आदि जो कुछ भी देना चाहते हों, मुझे बतला दीजिये, मैं अपने योगबलसे सब कुछ सम्पन्न किये देता हूँ ॥ ३४ ॥

ऋषय ऊचुः

अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।
यथा भवेद् वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥३५॥

ऋषियोंने कहा—बलरामजी ! आप ऐसा कोई उपाय कीजिये जिससे आपका शस्त्र, पराक्रम और इनकी मृत्यु भी व्यर्थ न हो और हमलोगोंने इन्हें जो वरदान दिया था, वह भी सत्य हो जाय ॥ ३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।
तस्मादस्य भवेद् वक्ता आयुरिन्द्रियसत्त्ववान् ॥३६॥
किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ ।
अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ॥३७॥

भगवान् बलरामने कहा—ऋषियो ! वेदोंका ऐसा कहना है कि आत्मा ही पुत्रके रूपमें उत्पन्न होता है । इसलिये रोमहर्षणके स्थानपर उनका पुत्र आपलोगोंको पुराणोंकी कथा सुनायेगा । उसे मैं अपनी शक्तिसे दीर्घायु, इन्द्रियशक्ति और बल दिये देता हूँ ॥ ३६ ॥ ऋषियो ! इसके अतिरिक्त आपलोग और जो कुछ भी चाहते हों, मुझसे कहिये । मैं आपलोगोंकी इच्छा पूर्ण करूँगा । अनजानमें मुझसे जो अपराध हो गया है, उसका प्रायश्चित्त भी आपलोग सोच विचारकर बतलाइये । क्योंकि आपलोग इस विषयके विद्वान् हैं ॥ ३७ ॥

ऋषय ऊचुः

इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ।
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥३८॥
तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम् ।
पूयशोणितविण्मूत्रसुरामांसाभिवर्षिणम् ॥३९॥
ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।
चरित्वा द्वादश मासांस्तीर्थस्नायी विशुद्ध्यसे ॥४०॥

ऋषियोंने कहा—बलरामजी ! इल्वलका पुत्र बल्वल नामका एक भयङ्कर दानव है । वह प्रत्येक पर्वपर यहाँ आ पहुँचता है और हमारे इस सत्रको दूषित कर देता है ॥ ३८ ॥ यदुनन्दन ! वह यहाँ आकर पीब, खून, विष्ठा, मूत्र, शराब और मांसकी वर्षा करने लगता है । आप उस पापीको मार डालिये । हमलोगोंकी यह बहुत बड़ी सेवा होगी ॥ ३९ ॥ इसके बाद आप एकाग्रचित्तसे तीर्थोंमें स्नान करते हुए बारह महीनोंतक भारतवर्षकी परिक्रमा करते हुए विचरण कीजिये । इससे आपकी शुद्धि हो जायगी ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे बलदेवचरित्रे बल्वलवधोपक्रमो नामाष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

अथैकोनाशीतितमोऽध्यायः

बल्वलका उद्धार और बलरामजीकी तीर्थयात्रा

श्रीशुक उवाच

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांसुवर्षणः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! पर्वका दिन आनेपर बड़ा भयङ्कर अंधड़ चलने लगा । धूलकी वर्षा

१. न्धे बलदेवतीर्थयात्रायां प्रद्व० ।

भीमो वायुरभूद् राजन् पूयगन्धस्तु सर्वशः ॥ १ ॥
ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम् ।
अभवद् यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक् ॥ २ ॥
तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥ ३ ॥
सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम् ।
हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः ॥ ४ ॥
तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ।
मुसलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥ ५ ॥
सोऽपतद् भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक् समुत्सृजन् ।
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥ ६ ॥
संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः ।
अभ्यषिञ्चन् महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥ ७ ॥
वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् ।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥ ८ ॥
अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।
स्नात्वा सरोवरमगाद् यतः सरयुरास्रवत् ॥ ९ ॥
अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः ।
स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीन् जगाम पुलहाश्रमम् ॥ १० ॥

होने लगी और चारों ओरसे पीबकी दुर्गन्ध आने लगी ॥ १ ॥ इसके बाद यज्ञशालामें बल्वल दानवने मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंकी वर्षा की। तदनन्तर हाथमें त्रिशूल लिये वह स्वयं दिखायी पड़ा ॥ २ ॥ उसका डील-डौल बहुत बड़ा था, ऐसा जान पड़ता मानो ढेर-का-ढेर कालिख इकट्ठा कर दिया गया हो। उसकी चोटी और दाढ़ी-मूँछ तपे हुए ताँबेके समान लाल-लाल थीं। बड़ी-बड़ी दाढ़ों और भौंहोंके कारण उसका मुँह बड़ा भयावना लगता था। उसे देखकर भगवान् बलरामजीने शत्रु-सेनाकी कुंदी करनेवाले मूसल और दैत्योंको चीर-फाड़ डालनेवाले हलका स्मरण किया। उनके स्मरण करते ही वे दोनों शस्त्र तुरंत वहाँ आ पहुँचे ॥ ३-४ ॥ बलरामजीने आकाशमें विचरनेवाले बल्वल दैत्यको अपने हलके अगले भागसे खींचकर उस ब्रह्मद्रोहीके सिरपर बड़े क्रोधसे एक मूसल कसकर जमाया, जिससे उसका ललाट फट गया और वह खून उगलता तथा आर्तस्वरसे चिल्लाता हुआ धरतीपर गिर पड़ा; ठीक वैसे ही जैसे वज्रकी चोट खाकर गेरू आदिसे लाल हुआ कोई पहाड़ गिर पड़ा हो ॥ ५-६ ॥ नैमिषारण्यवासी महाभाग्यवान् मुनियोंने बलरामजीकी स्तुति की, उन्हें कभी न व्यर्थ होनेवाले आशीर्वाद दिये, और जैसे देवतालोग देवराज इन्द्रका अभिषेक करते हैं वैसे ही उनका अभिषेक किया ॥ ७ ॥ इसके बाद ऋषियोंने बलरामजीको दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषण दिये तथा एक ऐसी वैजयन्ती माला भी दी, जो सौन्दर्यका आश्रय एवं कभी न मुरझानेवाले कमलके पुष्पोंसे युक्त है ॥ ८ ॥

तदनन्तर नैमिषारण्यवासी ऋषियोंसे विदा होकर उनके आज्ञानुसार बलरामजी ब्राह्मणोंके साथ कौशिकी नदीके तटपर आये। वहाँ स्नान करके वे उस सरोवरपर गये, जहाँसे सरयू नदी निकली है ॥ ९ ॥ वहाँसे सरयूके किनारे-किनारे चलने लगे, फिर उसे छोड़कर प्रयाग आये; और वहाँ स्नान तथा देवता, ऋषि एवं पितरोंका तर्पण करके वहाँसे पुलहाश्रम गये ॥ १० ॥

१. श्र । २. रमयन् ।

गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः।
गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमे ॥११॥
उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च।
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः ॥१२॥
स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम्।
द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ॥१३॥
कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम्।
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥१४॥
ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा।
सामुद्रं सेतुमगमन्महापातकनाशनम् ॥१५॥
तत्रायुतमदाद् धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः।
कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ॥१६॥
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च।
योजितस्तेन चाशीभिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम्।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥१७॥
ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम्।
विष्णुः सन्निहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद् गवायुतम् ॥१८॥
ततोऽभिव्रज्य भगवान् केरलांस्तु त्रिगर्तकान्।
गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ॥१९॥
आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद् बलः।
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् ॥२०॥

वहाँसे गण्डकी, गोमती तथा विपाशा नदियोंमें स्नान करके वे सोननदके तटपर गये और वहाँ स्नान किया। इसके बाद गयामें जाकर पितरोंका वसुदेवजीके आज्ञानुसार पूजन-यजन किया। फिर गङ्गा-सागर-संगमपर गये; वहाँ भी स्नान आदि तीर्थ-कृत्योंसे निवृत्त होकर महेन्द्र पर्वतपर गये। वहाँ परशुरामजीका दर्शन और अभिवादन किया। तदनन्तर सप्त गोदावरी, वेणा, पम्पा और भीमरथी आदिमें स्नान करते हुए स्वामि-कार्तिकका दर्शन करने गये तथा वहाँसे महादेवजीके निवास-स्थान श्रीशैलपर पहुँचे। इसके बाद भगवान् बलरामने द्रविड देशके परम पुण्यमय स्थान वेङ्कटाचल (बालाजी) का दर्शन किया और वहाँसे वे कामाक्षी—शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची होते हुए तथा श्रेष्ठ नदी कावेरीमें स्नान करते हुए पुण्यमय श्रीरङ्गक्षेत्रमें पहुँचे। श्रीरङ्गक्षेत्रमें भगवान् विष्णु सदा विराजमान रहते हैं ॥ ११—१४ ॥ वहाँसे उन्होंने विष्णुभगवान्‌के क्षेत्र ऋषभ पर्वत, दक्षिण मथुरा तथा बड़े-बड़े महापापोंको नष्ट करनेवाले सेतुबन्धकी यात्रा की ॥ १५ ॥ वहाँ बलरामजीने ब्राह्मणोंको दस हजार गौएँ दान कीं। फिर वहाँसे कृतमाला और ताम्रपर्णी नदियोंमें स्नान करते हुए वे मलयपर्वतपर गये। वह पर्वत सात कुलपर्वतोंमेंसे एक है ॥ १६ ॥ वहाँपर विराजमान अगस्त्य मुनिको उन्होंने नमस्कार और अभिवादन किया। अगस्त्यजीसे आशीर्वाद और अनुमति प्राप्त करके बलरामजीने दक्षिण समुद्रकी यात्रा की। वहाँ उन्होंने दुर्गादेवीका कन्याकुमारीके रूपमें दर्शन किया ॥ १७ ॥ इसके बाद वे फाल्गुन तीर्थ—अनन्तशयन क्षेत्रमें गये और वहाँके सर्वश्रेष्ठ पञ्चाप्सरस तीर्थमें स्नान किया। उस तीर्थमें सर्वदा विष्णुभगवान्‌का सान्निध्य रहता है। वहाँ बलरामजीने दस हजार गौएँ दान कीं ॥ १८ ॥

अब भगवान् बलराम वहाँसे चलकर केरल और त्रिगर्त देशोंमें होकर भगवान् शङ्करके क्षेत्र गोकर्णतीर्थमें आये। वहाँ सदा-सर्वदा भगवान् शङ्कर विराजमान रहते हैं ॥ १९ ॥ वहाँसे जलसे घिरे द्वीपमें निवास करने-वाली आर्यादेवीका दर्शन करने गये और फिर उस द्वीपसे चलकर शूर्पारक-क्षेत्रकी यात्रा की, इसके बाद तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या नदियोंमें स्नान करके वे दण्डका-

प्रविश्य रेवामगमद् यत्र माहिष्मती पुरी ।
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥२१॥
श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ।
सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥२२॥
स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे ।
वारयिष्यन् विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥२३॥

रण्यमें आये ॥ २० ॥ वहाँ होकर वे नर्मदाजीके तटपर गये । परीक्षित् ! इस पवित्र नदीके तटपर ही माहिष्मतीपुरी है । वहाँ मनुतीर्थमें स्नान करके वे फिर प्रभासक्षेत्रमें चले आये ॥ २१ ॥ वहीं उन्होंने ब्राह्मणोंसे सुना कि कौरव और पाण्डवोंके युद्धमें अधिकांश क्षत्रियों-का संहार हो गया । उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि अब पृथ्वीका बहुत-सा भार उतर गया ॥ २२ ॥ जिस दिन रणभूमिमें भीमसेन और दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे थे, उसी दिन बलरामजी उन्हें रोकनेके लिये कुरुक्षेत्र जा पहुँचे ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि ।
अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किंविवक्षुरिहागतः ॥२४॥
गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ॥२५॥
युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर ।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ॥२६॥
तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः ।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥२७॥
न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् ।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥२८॥
दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः ॥२९॥
तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन् मुदा ।

महाराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने बलरामजीको देखकर प्रणाम किया तथा चुप हो रहे । वे डरते हुए मन-ही-मन सोचने लगे कि ये न जाने क्या कहनेके लिये यहाँ पधारे हैं ? ॥ २४ ॥ उस समय भीमसेन और दुर्योधन दोनों ही हाथमें गदा लेकर एक-दूसरेको जीतनेके लिये क्रोधसे भरकर भाँति-भाँतिके पैंतरे बदल रहे थे । उन्हें देखकर बलरामजीने कहा—॥ २५ ॥ 'राजा दुर्योधन और भीमसेन ! तुम दोनों वीर हो । तुम दोनोंमें बल-पौरुष भी समान है । मैं ऐसा समझता हूँ कि भीमसेनमें बल अधिक है और दुर्योधनने गदायुद्धमें शिक्षा अधिक पायी है ॥ २६ ॥ इसलिये तुमलोगों-जैसे समान बलशालियोंमें किसी एककी जय या पराजय नहीं होती दीखती । अतः तुमलोग व्यर्थका युद्ध मत करो, अब इसे बंद कर दो' ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! बलरामजीकी बात दोनोंके लिये हितकर थी । परन्तु उन दोनोंका वैरभाव इतना दृढमूल हो गया था कि उन्होंने बलरामजीकी बात न मानी । वे एक-दूसरेकी कटुवाणी और दुर्व्यवहारोंका स्मरण करके उन्मत्त-से हो रहे थे ॥ २८ ॥ भगवान् बलरामजीने निश्चय किया कि इनका प्रारब्ध ऐसा ही है; इसलिये उसके सम्बन्धमें विशेष आग्रह न करके वे द्वारका लौट गये । द्वारकामें उग्रसेन आदि गुरुजनों तथा अन्य सम्बन्धियोंने बड़े प्रेमसे आगे आकर उनका स्वागत किया ॥ २९ ॥ वहाँसे बलरामजी फिर नैमिषारण्य क्षेत्रमें गये । वहाँ ऋषियोंने विरोधभावसे—युद्धादिसे निवृत्त बलरामजीके द्वारा बड़े प्रेमसे सब प्रकारके यज्ञ कराये ।

क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ॥३०॥
तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद् विभुः ।
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥३१॥
स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः ।
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृतः ॥३२॥
ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः ।
अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ॥३३॥
योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ॥३४॥

परीक्षित्! सच पूछो तो जितने भी यज्ञ हैं, वे बलरामजीके अंग ही हैं। इसलिये उनका यह यज्ञानुष्ठान लोक-संग्रहके लिये ही था ॥३०॥ सर्वसमर्थ भगवान् बलरामने उन ऋषियोंको विशुद्ध तत्त्वज्ञानका उपदेश किया, जिससे वे लोग इस सम्पूर्ण विश्वको अपने-आपमें और अपने-आपको सारे विश्वमें अनुभव करने लगे ॥ ३१ ॥ इसके बाद बलरामजीने अपनी पत्नी रेवतीके साथ यज्ञान्त-स्नान किया और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण पहनकर अपने भाई-बन्धु तथा स्वजन-सम्बन्धियोंके साथ इस प्रकार शोभायमान हुए, जैसे अपनी चन्द्रिका एवं नक्षत्रोंके साथ चन्द्रदेव होते हैं ॥ ३२ ॥ परीक्षित्! भगवान् बलराम स्वयं अनन्त हैं। उनका स्वरूप मन और वाणी-के परे है। उन्होंने लीलाके लिये ही यह मनुष्योंका-सा शरीर ग्रहण किया है। उन बलशाली बलरामजीके ऐसे-ऐसे चरित्रोंकी गिनती भी नहीं की जा सकती ।३३। जो पुरुष अनन्त, सर्वव्यापक, अद्भुतकर्मा भगवान् बलरामजीके चरित्रोंका सायं-प्रातः स्मरण करता है, वह भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो जाता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे बलदेव-तीर्थयात्रानिरूपणं नामैकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

अथाशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा सुदामाजीका स्वागत

राजोवाच

भगवन् यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो ॥ १ ॥
को नु श्रुत्वासकृद् ब्रह्मन्नुत्तमश्लोकसत्कथाः ।
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥ २ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन्! प्रेम और मुक्तिके दाता परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी शक्ति अनन्त है। इसलिये उनकी माधुर्य और ऐश्वर्यसे भरी लीलाएँ भी अनन्त हैं। अब हम उनकी दूसरी लीलाएँ, जिनका वर्णन आपने अबतक नहीं किया है, सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥ ब्रह्मन्! यह जीव विषय-सुखको खोजते-खोजते अत्यन्त दुखी हो गया है। वे बाणकी तरह इसके चित्तमें चुभते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें ऐसा कौन-सा रसिक—रसका विशेषज्ञ पुरुष होगा, जो बार-बार पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णकी मङ्गलमयी लीलाओं-का श्रवण करके भी उनसे विमुख होना चाहेगा ॥ २ ॥

१. त्वायां षट्सप्ततितमो। २. मुहुर्ब्रह्म०।

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥ ३ ॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमे-
त्तदेव यत् पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ४ ॥

जो वाणी भगवान्‌के गुणोंका गान करती है, वही सच्ची वाणी है । वे ही हाथ सच्चे हाथ हैं, जो भगवान्‌की सेवाके लिये काम करते हैं । वही मन सच्चा मन है, जो चराचर प्राणियोंमें निवास करनेवाले भगवान्‌का स्मरण करता है; और वे ही कान वास्तवमें कान कहने योग्य हैं, जो भगवान्‌की पुण्यमयी कथाओंका श्रवण करते हैं ॥ ३ ॥ वही सिर सिर है, जो चराचर जगत्‌को भगवान्‌की चल-अचल प्रतिमा समझकर नमस्कार करता है; और जो सर्वत्र भगवद्विग्रहका दर्शन करते हैं, वे ही नेत्र वास्तवमें नेत्र हैं । शरीरके जो अङ्ग भगवान् और उनके भक्तोंके चरणोदकका सेवन करते हैं, वे ही अङ्ग वास्तवमें अङ्ग हैं; सच पूछिये तो उन्हींका होना सफल है ॥ ४ ॥

सूत उवाच

विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान् बादरायणिः ।
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो ! जब राजा परीक्षित्‌ने इस प्रकार प्रश्न किया, तब भगवान् श्रीशुकदेवजीका हृदय भगवान् श्रीकृष्णमें ही तल्लीन हो गया । उन्होंने परीक्षित्‌से इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥ ७ ॥
पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा ।
दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाभिगम्य च ॥ ८ ॥
ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः ॥ ९ ॥
तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥ १० ॥
आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! एक ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके परम मित्र थे । वे बड़े ब्रह्मज्ञानी, विषयोंसे विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय थे ॥ ६ ॥ वे गृहस्थ होनेपर भी किसी प्रकारका संग्रह-परिग्रह न रखकर प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाता, उसीमें सन्तुष्ट रहते थे । उनके वस्त्र तो फटे-पुराने थे ही, उनकी पत्नीके भी वैसे ही थे । वह भी अपने पतिके समान ही भूखसे दुबली हो रही थी ॥ ७ ॥ एक दिन दरिद्रताकी प्रतिमूर्ति दुःखिनी पतिव्रता भूखके मारे काँपती हुई अपने पतिदेवके पास गयी और मुरझाये हुए मुँहसे बोली— ॥ ८ ॥ 'भगवन् ! साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण आपके सखा हैं । वे भक्तवाञ्छाकल्पतरु, शरणागतवत्सल और ब्राह्मणोंके परम भक्त हैं ॥ ९ ॥ परम भाग्यवान् आर्यपुत्र ! वे साधु-संतोंके, सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रय हैं । आप उनके पास जाइये । जब वे जानेंगे कि आप कुटुम्बी हैं और अन्नके बिना दुखी हो रहे हैं, तो वे आपको बहुत-सा धन देंगे ॥ १० ॥ आजकल वे भोज, वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके स्वामीके रूपमें द्वारकामें ही निवास कर रहे हैं । और

१. नं तदेव । २. ला च० ।

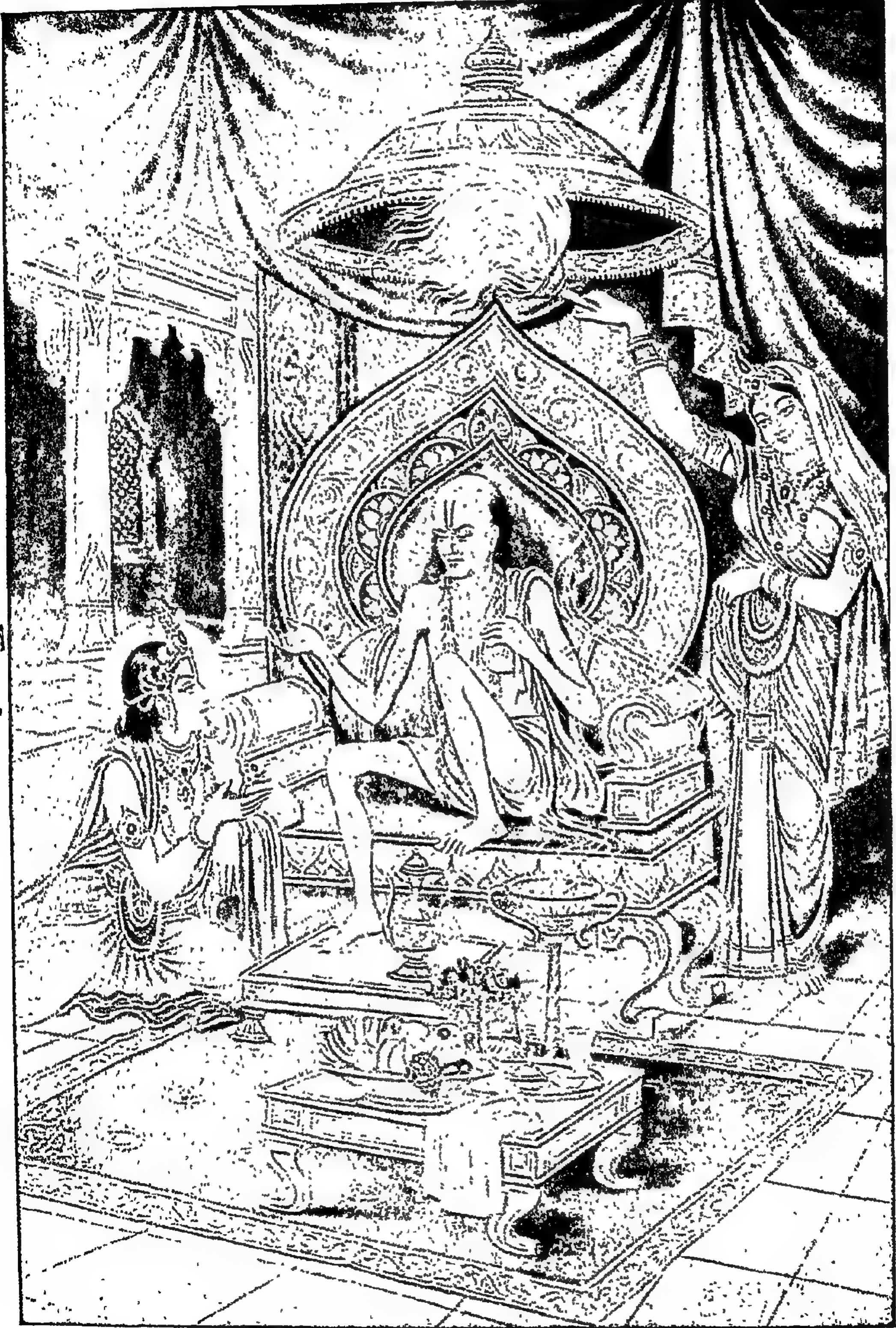
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं न्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टाञ्जगद्गुरुः ॥ ११ ॥
स एवं भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मृदु ।
अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ॥ १२ ॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे ।
अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद् गृहे कल्याणि दीयताम् ॥ १३ ॥
याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलान् ।
चैलखण्डेन तान् बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥ १४ ॥
स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥ १५ ॥
त्रीणि गुल्मान्यतीयाय[1] तिस्रः कक्षाश्च सद्विजः ।
विप्रोऽगम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् ॥ १६ ॥
गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेशैकतमं श्रीमद् ब्रह्मानन्दं गतो यथा ॥ १७ ॥
तं विलोक्याच्युतो दूरात् प्रियापर्यङ्कमास्थितः[2] ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥ १८ ॥
सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥ १९ ॥

इतने उदार हैं कि जो उनके चरणकमलोंका स्मरण करते हैं, उन प्रेमी भक्तोंको वे अपने-आपतकका दान कर डालते हैं। ऐसी स्थितिमें जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंको यदि धन और विषय-सुख, जो अत्यन्त वाञ्छनीय नहीं है, दे दें, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ?' ॥ ११ ॥ इस प्रकार जब उन ब्राह्मणदेवताकी पत्नीने अपने पतिदेवसे कई बार बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की, तब उन्होंने सोचा कि 'धनकी तो कोई बात नहीं है; परन्तु भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन हो जायगा, यह तो जीवनका बहुत बड़ा लाभ है' ॥ १२ ॥ यही विचार करके उन्होंने जानेका निश्चय किया और अपनी पत्नीसे बोले—'कल्याणी ! घरमें कुछ भेंट देनेयोग्य वस्तु भी है क्या ? यदि हो तो दे दो' ॥ १३ ॥ तब उस ब्राह्मणीने पास-पड़ोसके ब्राह्मणोंके घरसे चार मुट्ठी चिउड़े माँगकर एक कपड़ेमें बाँध दिये और भगवान्‌को भेंट देनेके लिये अपने पतिदेवको दे दिये ॥ १४ ॥ इसके बाद वे ब्राह्मणदेवता उन चिउड़ोंको लेकर द्वारका-के लिये चल पड़े। वे मार्गमें यह सोचते जाते थे कि 'मुझे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन कैसे प्राप्त होंगे ?' ॥ १५ ॥

परीक्षित् ! द्वारकामें पहुँचनेपर वे ब्राह्मणदेवता दूसरे ब्राह्मणोंके साथ सैनिकोंकी तीन छावनियाँ और तीन ड्योढ़ियाँ पार करके भगवद्धर्मका पालन करनेवाले अन्धक और वृष्णिवंशी यादवोंके महलोंमें, जहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है, जा पहुँचे ॥ १६ ॥ उनके बीच भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह हजार रानियोंके महल थे। उनमेंसे एकमें उन ब्राह्मणदेवताने प्रवेश किया। वह महल खूब सजा-सजाया—अत्यन्त शोभायुक्त था। उसमें प्रवेश करते समय उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो वे ब्रह्मानन्दके समुद्रमें डूब-उतरा रहे हों ! ॥ १७ ॥ उस समय भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्राणप्रिया रुक्मिणी-जीके पलंगपर विराजे हुए थे। ब्राह्मणदेवताको दूरसे ही देखकर वे सहसा उठ खड़े हुए और उनके पास आकर बड़े आनन्दसे उन्हें अपने भुजपाशमें बाँध लिया ॥ १८ ॥ परीक्षित् ! परमानन्दस्वरूप भगवान् अपने प्यारे सखा ब्राह्मणदेवताके अङ्ग-स्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित हुए। उनके कमलके समान कोमल नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बरसने

[1] गुल्मानि त्रीण्यती० । [2] माश्रितः ।

सुदामा-सत्कार



भगवान्‌ने स्वयं पूजनकी सामग्री लाकर सुदामाजीकी पूजा की ।

अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥२०॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कमैः ॥२१॥
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
अर्चित्वाऽऽवेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥२२॥
कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम् ।
देवी पर्यचरत् साक्षाच्चामरव्यजनेन वै ॥२३॥
अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना ।
विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ॥२४॥
किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च ॥२५॥
योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः ।
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥२६॥
कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।
आत्मनो ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम् ॥२७॥

श्रीभगवानुवाच

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात् ।
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥२८॥
प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहितं तथा ।

लगे ॥ १९ ॥ परीक्षित् ! कुछ समयके बाद भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें ले जाकर अपने पलंगपर बैठा दिया और स्वयं पूजनकी सामग्री लाकर उनकी पूजा की। प्रिय परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण सभीको पवित्र करनेवाले हैं; फिर भी उन्होंने अपने हाथों ब्राह्मणदेवताके पाँव पखारकर उनका चरणोदक अपने सिरपर धारण किया और उनके शरीरमें चन्दन, अरगजा, केसर आदि दिव्य गन्धोंका लेपन किया ॥ २०-२१ ॥ फिर उन्होंने बड़े आनन्दसे सुगन्धित धूप और दीपावलीसे अपने मित्रकी आरती उतारी। इस प्रकार पूजा करके पान एवं गाय देकर मधुर वचनोंसे 'भले पधारे' ऐसा कहकर उनका स्वागत किया ॥ २२ ॥ ब्राह्मणदेवता फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए थे। शरीर अत्यन्त मलिन और दुर्बल था। देहकी सारी नसें दिखायी पड़ती थीं। स्वयं भगवती रुक्मिणीजी चँवर डुलाकर उनकी सेवा करने लगीं ॥ २३ ॥ अन्तःपुरकी स्त्रियाँ यह देखकर अत्यन्त विस्मित हो गयीं कि पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण अतिशय प्रेमसे इस मैले-कुचैले अवधूत ब्राह्मणकी पूजा कर रहे हैं ॥ २४ ॥ वे आपसमें कहने लगीं—'इस नंगधड़ंग, निर्धन, निन्दनीय और निकृष्ट भिखमंगेने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है, जिससे त्रिलोकी-गुरु श्रीनिवास श्रीकृष्ण स्वयं इसका आदर-सत्कार कर रहे हैं। देखो तो सही, इन्होंने अपने पलंगपर सेवा करती हुई स्वयं लक्ष्मी-रूपिणी रुक्मिणीजीको छोड़कर इस ब्राह्मणको अपने बड़े भाई बलरामजीके समान हृदयसे लगाया है' ।२५-२६। प्रिय परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण और वे ब्राह्मण दोनों एक-दूसरेका हाथ पकड़कर अपने पूर्वजीवनकी उन आनन्ददायक घटनाओंका स्मरण और वर्णन करने लगे, जो गुरुकुलमें रहते समय घटित हुई थीं ॥ २७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धर्मके मर्मज्ञ ब्राह्मण-देव ! गुरुदक्षिणा देकर जब आप गुरुकुलसे लौट आये, तब आपने अपने अनुरूप स्त्रीसे विवाह किया या नहीं ? ॥ २८ मैं जानता हूँ कि आपका चित्त गृहस्थीमें रहनेपर भी प्रायः विषय-भोगोंमें आसक्त

१. मनिरतं तदा ।

नैवातिप्रीयसे विद्वन् धनेषु विदितं हि मे ॥२९॥

केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।

त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसङ्ग्रहम् ॥३०॥

कच्चिद् गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः ।

द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥३१॥

स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह सम्भवः ।

आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥३२॥

नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह ।

ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥३३॥

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।

तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥३४॥

अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ।

गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥३५॥

प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद् द्विज ।

वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ॥३६॥

सूर्यश्चास्तं गतस्तावत् तमसा चावृता दिशः ।

नहीं है। विद्वन्! यह भी मुझे मालूम है कि धन आदिमें भी आपकी कोई प्रीति नहीं है ॥ २९ ॥ जगत्‌में बिरले ही लोग ऐसे होते हैं, जो भगवान्‌की मायासे निर्मित विषयसम्बन्धी वासनाओंका त्याग कर देते हैं और चित्तमें विषयोंकी तनिक भी वासना न रहने पर भी मेरे समान केवल लोकशिक्षाके लिये कर्म करते रहते हैं ॥ ३० ॥ ब्राह्मणशिरोमणे! क्या आपको उस समयकी बात याद है, जब हम दोनों एक साथ गुरुकुलमें निवास करते थे। सचमुच गुरुकुलमें ही द्विजातियोंको अपने ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान होता है, जिसके द्वारा वे अज्ञानान्धकारसे पार हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ मित्र! इस संसारमें शरीरका कारण—जन्मदाता पिता प्रथम गुरु है। इसके बाद उपनयन-संस्कार करके सत्कर्मोंकी शिक्षा देनेवाला दूसरा गुरु है। वह मेरे ही समान पूज्य है। तदनन्तर ज्ञानोपदेश करके परमात्माको प्राप्त करानेवाला गुरु तो मेरा स्वरूप ही है। वर्णाश्रमियोंके ये तीन गुरु होते हैं ॥ ३२ ॥ मेरे प्यारे मित्र! गुरुके स्वरूपमें स्वयं मैं हूँ। इस जगत्‌में वर्णाश्रमियोंमें जो लोग अपने गुरुदेवके उपदेशानुसार अनायास ही भवसागर पार कर लेते हैं, वे अपने स्वार्थ और परमार्थके सच्चे जानकार हैं ॥ ३३ ॥ प्रिय मित्र! मैं सबका आत्मा हूँ, सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हूँ। मैं गृहस्थके धर्म पञ्चमहायज्ञ आदिसे, ब्रह्मचारीके धर्म उपनयन-वेदाध्ययन आदिसे, वानप्रस्थीके धर्म तपस्यासे और सब ओरसे उपरत हो जाना—इस संन्यासीके धर्मसे भी उतना सन्तुष्ट नहीं होता, जितना गुरुदेवकी सेवा-शुश्रूषासे सन्तुष्ट होता हूँ ॥ ३४ ॥

ब्रह्मन्! जिस समय हमलोग गुरुकुलमें निवास कर रहे थे, उस समयकी वह बात आपको याद है क्या, जब हम दोनोंको एक दिन हमारी गुरुपत्नीने ईंधन लानेके लिये जंगलमें भेजा था ॥ ३५ ॥ उस समय हमलोग एक घोर जंगलमें गये हुए थे और बिना ऋतुके ही बड़ा भयङ्कर आँधी-पानी आ गया था। आकाशमें बिजली कड़कने लगी थी ॥ ३६ ॥ अब सूर्यास्त हो गया; चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा फैल गया। धरतीपर

निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किंचन ॥३७॥
वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभि-
र्निहन्यमाना मुहुरम्बुसम्प्लवे ।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने
गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥३८॥
एतद् विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः ।
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ॥३९॥
अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।
आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥४०॥
एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।
यद् वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥४१॥
तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥४२॥
इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु ।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये ॥४३॥

ब्राह्मण उवाच

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो ।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत् ॥४४॥
यस्यच्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो ।

इस प्रकार पानी-ही-पानी हो गया कि कहाँ गड्ढा है, कहाँ किनारा, इसका पता ही न चलता था ॥ ३७ ॥ वह वर्षा क्या थी, एक छोटा-मोटा प्रलय ही था। आँधीके झटकों और वर्षाकी बौछारोंसे हमलोगोंको बड़ी पीड़ा हुई, दिशाका ज्ञान न रहा। हमलोग अत्यन्त आतुर हो गये और एक-दूसरेका हाथ पकड़कर जंगलमें इधर-उधर भटकते रहे ॥ ३८ ॥ जब हमारे गुरुदेव सान्दीपनि मुनिको इस बातका पता चला, तब वे सूर्योदय होनेपर अपने शिष्य हमलोगोंको ढूँढ़ते हुए जंगलमें पहुँचे और उन्होंने देखा कि हम अत्यन्त आतुर हो रहे हैं ॥ ३९ ॥ वे कहने लगे—'आश्चर्य है, आश्चर्य है! पुत्रो! तुमलोगोंने हमारे लिये अत्यन्त कष्ट उठाया। सभी प्राणियोंको अपना शरीर सबसे अधिक प्रिय होता है; परन्तु तुम दोनों उसकी भी परवा न करके हमारी सेवामें ही संलग्न रहे ॥ ४० ॥ गुरुके ऋणसे मुक्त होनेके लिये सत्-शिष्योंका इतना ही कर्तव्य है कि वे विशुद्ध-भावसे अपना सब कुछ और शरीर भी गुरुदेवकी सेवामें समर्पित कर दें ॥ ४१ ॥ द्विजशिरोमणियो! मैं तुमलोगोंसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारे सारे मनोरथ, सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हों और तुमलोगोंने हमसे जो वेदाध्ययन किया है, वह तुम्हें सर्वदा कण्ठस्थ रहे तथा इस लोक एवं परलोकमें कहीं भी निष्फल न हो ॥ ४२ ॥ प्रिय मित्र! जिस समय हमलोग गुरुकुलमें निवास कर रहे थे, हमारे जीवनमें ऐसी-ऐसी अनेकों घटनाएँ घटित हुई थीं। इसमें सन्देह नहीं कि गुरुदेवकी कृपासे ही मनुष्य शान्तिका अधिकारी होता और पूर्णताको प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणदेवताने कहा—देवताओंके आराध्यदेव जगद्गुरु श्रीकृष्ण! भला अब हमें क्या करना बाकी है? क्योंकि आपके साथ, जो सत्यसङ्कल्प परमात्मा हैं, हमें गुरुकुलमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था ॥ ४४ ॥ प्रभो! छन्दोमय वेद धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थके मूल स्रोत हैं; और वे हैं आपके शरीर। वही

१. श्रेष्ठ०। २. नि। ३. प्रभो।

श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥४५॥

आप वेदाध्ययनके लिये गुरुकुलमें निवास करें, यह मनुष्य-लीलाका अभिनय नहीं तो और क्या है ? ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे श्रीदामचरितेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

अथैकाशीतितमोऽध्यायः

सुदामाजीको ऐश्वर्यकी प्राप्ति

श्रीशुक उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन सह सङ्कथयन् हरिः ।
सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम् ॥ १ ॥
ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम् ।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात् ।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ ३ ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ४ ॥
इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ।
पृथुकप्रसृतिं[2] राजन् न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥
सर्वभूतात्मदृक् साक्षात् तस्यागमनकारणम् ।
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत् पुरा ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण सबके मनकी बात जानते हैं । वे ब्राह्मणोंके परम भक्त, उनके क्लेशोंके नाशक तथा संतोंके एकमात्र आश्रय हैं । वे पूर्वोक्त प्रकारसे उन ब्राह्मणदेवताके साथ बहुत देरतक बातचीत करते रहे । अब वे अपने प्यारे सखा उन ब्राह्मणसे तनिक मुसकराकर विनोद करते हुए बोले । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण उन ब्राह्मणदेवताकी ओर प्रेमभरी दृष्टिसे देख रहे थे ॥ १-२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'ब्रह्मन् ! आप अपने घरसे मेरे लिये क्या उपहार लाये हैं ? मेरे प्रेमी भक्त जब प्रेमसे थोड़ी-सी वस्तु भी मुझे अर्पण करते हैं, तो वह मेरे लिये बहुत हो जाती है । परन्तु मेरे अभक्त यदि बहुत-सी सामग्री भी मुझे भेंट करते हैं, तो उससे मैं सन्तुष्ट नहीं होता ॥ ३ ॥ जो पुरुष प्रेम-भक्तिसे फल-फूल अथवा पत्ता-पानीमेंसे कोई भी वस्तु मुझे समर्पित करता है, तो मैं उस शुद्धचित्त भक्तका वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि तुरंत भोग लगा लेता हूँ' ॥ ४ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर भी उन ब्राह्मणदेवताने लज्जावश उन लक्ष्मीपतिको वे चार मुट्ठी चिउड़े नहीं दिये । उन्होंने संकोचसे अपना मुँह नीचे कर लिया था । परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके हृदयका एक-एक सङ्कल्प और उनका अभाव भी जानते हैं । उन्होंने ब्राह्मणके आनेका कारण, उनके हृदयकी बात जान ली । अब वे विचार करने लगे कि 'एक तो यह मेरा प्यारा सखा है, दूसरे इसने पहले कभी लक्ष्मीकी कामना-

१. न्धे सप्तसप्ततितमो । २. ह । ३. ती पञ्च ।

पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया ।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥ ७ ॥
इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान्द्विजन्मनः ।
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान् ॥ ८ ॥
नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥ ९ ॥
इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां जग्धुमाददे ।
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥१०॥
एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसम्पत्समृद्धये ।
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥११॥
ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे ।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा ॥१२॥
श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः ।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥१३॥
स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान् स्वयम् ।
स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ॥१४॥
अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।
यद् दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥१५॥

से मेरा भजन नहीं किया है। इस समय यह अपनी पतिव्रता पत्नीको प्रसन्न करनेके लिये उसीके आग्रहसे यहाँ आया है। अब मैं इसे ऐसी सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ५–७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा विचार करके उनके वस्त्रमेसे चिथड़ेकी एक पोटली-में बँधा हुआ चिउड़ा 'यह क्या है'—ऐसा कहकर स्वयं ही छीन लिया ॥ ८ ॥ और बड़े आदरसे कहने लगे—'प्यारे मित्र! यह तो तुम मेरे लिये अत्यन्त प्रिय भेंट ले आये हो। ये चिउड़े न केवल मुझे, बल्कि सारे संसारको तृप्त करनेके लिये पर्याप्त हैं' ॥ ९ ॥ ऐसा कहकर वे उसमेंसे एक मुट्ठी चिउड़ा खा गये और दूसरी मुट्ठी ज्यों ही भरी, त्यों ही रुक्मिणीके रूपमें स्वयं भगवती लक्ष्मीजीने भगवान् श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया। क्योंकि वे तो एकमात्र भगवान्‌के परायण हैं, उन्हें छोड़कर और कहीं जा नहीं सकतीं ॥ १० ॥ रुक्मिणीजीने कहा—'विश्वात्मन्! बस, बस! मनुष्यको इस लोकमें तथा मरनेके बाद परलोकमें भी समस्त सम्पत्तियोंकी समृद्धि प्राप्त करनेके लिये यह एक मुट्ठी चिउड़ा ही बहुत है; क्योंकि आपके लिये इतना ही प्रसन्नताका हेतु बन जाता है ॥ ११ ॥

परीक्षित्! ब्राह्मणदेवता उस रातको भगवान् श्रीकृष्ण-के महलमें ही रहे। उन्होंने बड़े आरामसे वहाँ खाया-पिया और ऐसा अनुभव किया, मानो मैं वैकुण्ठमें ही पहुँच गया हूँ ॥ १२ ॥ परीक्षित्! श्रीकृष्णसे ब्राह्मण-को प्रत्यक्षरूपमें कुछ भी न मिला। फिर भी उन्होंने उनसे कुछ माँगा नहीं! वे अपने चित्तकी करतूतपर कुछ लज्जित-से होकर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनजनित आनन्द-में डूबते-उतराते अपने घरकी ओर चल पड़े ॥ १३-१४ ॥ वे मन-ही-मन सोचने लगे—'अहो, कितने आनन्द और आश्चर्यकी बात है! ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव माननेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी ब्राह्मणभक्ति आज मैंने अपनी आँखों देख ली। धन्य है! जिनके वक्षःस्थलपर स्वयं लक्ष्मीजी सदा विराजमान रहती हैं, उन्होंने मुझ अत्यन्त दरिद्रको अपने हृदयसे लगा लिया ॥ १५ ॥

१. इति सञ्चिन्त्य मनसा चीर०। २. परिष्वङ्गाति०। ३. सख्युर्न तु।

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥१६॥

कहाँ तो मैं अत्यन्त पापी और दरिद्र, और कहाँ लक्ष्मीके एकमात्र आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण ! परन्तु उन्होंने 'यह ब्राह्मण है'—ऐसा समझकर मुझे अपनी भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया ॥ १६ ॥

निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ।
महिष्या वीजितः श्रान्तो वालव्यजनहस्तया ॥१७॥

इतना ही नहीं, उन्होंने मुझे उस पलंगपर सुलाया, जिसपर उनकी प्राणप्रिया रुक्मिणीजी शयन करती हैं। मानो मैं उनका सगा भाई हूँ! कहाँतक कहूँ ? मैं थका हुआ था, इसलिये स्वयं उनकी पटरानी रुक्मिणीजीने अपने हाथों चँवर डुलाकर मेरी सेवा की ॥ १७ ॥

शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः ।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥१८॥

ओह, देवताओंके आराध्यदेव होकर भी ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव माननेवाले प्रभुने पाँव दबाकर, अपने हाथों खिला-पिलाकर मेरी अत्यन्त सेवा-शुश्रूषा की और देवताके समान मेरी पूजा की ॥ १८ ॥

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥१९॥

स्वर्ग, मोक्ष, पृथ्वी और रसातलकी सम्पत्ति तथा समस्त योगसिद्धियोंकी प्राप्तिका मूल उनके चरणोंकी पूजा ही है ॥ १९ ॥

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात् ॥२०॥

फिर भी परमदयालु श्रीकृष्णने यह सोचकर मुझे थोड़ा-सा भी धन नहीं दिया कि कहीं यह दरिद्र धन पाकर बिल्कुल मतवाला न हो जाय और मुझे न भूल बैठे ॥ २० ॥

इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो निजगृहान्तिकम् ।
सूर्यानलेन्दुसङ्काशैर्विमानैः[1] सर्वतो वृतम् ॥२१॥
विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः ।
प्रोत्फुल्लकुमुदाम्भोजकह्लारोत्पलवारिभिः ॥२२॥
जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः ।
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥२३॥

इस प्रकार मन-ही-मन विचार करते-करते ब्राह्मणदेवता अपने घरके पास पहुँच गये । वे वहाँ क्या देखते हैं कि सब-का-सब स्थान सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके समान तेजस्वी रत्ननिर्मित महलोंसे घिरा हुआ है । ठौर-ठौर चित्र-विचित्र उपवन और उद्यान बने हुए हैं तथा उनमें झुंड-के झुंड रंग-बिरंगे पक्षी कलरव कर रहे हैं । सरोवरोंमें कुमुदिनी तथा श्वेत, नील और सौगन्धिक—भाँति-भाँतिके कमल खिले हुए हैं; सुन्दर-सुन्दर स्त्री-पुरुष बन-ठनकर इधर-उधर विचर रहे हैं । उस स्थानको देखकर ब्राह्मणदेवता सोचने लगे—'मैं यह क्या देख रहा हूँ ? यह किसका स्थान है ? यदि यह वही स्थान है, जहाँ मैं रहता था, तो यह ऐसा कैसे हो गया' ॥ २१–२३ ॥

एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।
प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥२४॥

इस प्रकार वे सोच ही रहे थे कि देवताओंके समान सुन्दर-सुन्दर स्त्री-पुरुष गाजे-बाजेके साथ मङ्गलगीत गाते हुए उस महाभाग्यवान् ब्राह्मणकी अगवानी करनेके लिये आये ॥ २४ ॥

पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षातिसम्भ्रमा ।

पतिदेवका शुभागमन सुनकर ब्राह्मणीको अपार आनन्द हुआ और वह

[1] तिमानिता ।

निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् ॥२५॥

पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।

मीलिताक्ष्यनमद् बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ॥२६॥

पत्नीं वीक्ष्य विस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।

दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः ॥२७॥

प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम् ।

मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥२८॥

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।

पर्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥२९॥

आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ।

मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ॥३०॥

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।

रत्नदीपा भ्राजमाना ललनारत्नसंयुताः ॥३१॥

विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः[1] सर्वसम्पदाम् ।

तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम् ॥३२॥

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य
शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो
नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥३३॥
नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं
याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।

हड़बड़ाकर जल्दी-जल्दी घरसे निकल आयी, वह ऐसी मालूम होती थी मानो मूर्तिमती लक्ष्मीजी ही कमलवनसे पधारी हों ॥ २५ ॥ पतिदेवको देखते ही पतिव्रता पत्नीके नेत्रोंमें प्रेम और उत्कण्ठाके आवेगसे आँसू छलक आये । उसने अपने नेत्र बंद कर लिये । ब्राह्मणीने बड़े प्रेमभावसे उन्हें नमस्कार किया और मन-ही-मन आलिङ्गन भी ॥ २६ ॥

प्रिय परीक्षित् ! ब्राह्मणपत्नी सोनेका हार पहनी हुई दासियोंके बीचमें विमानस्थित देवाङ्गनाके समान अत्यन्त शोभायमान एवं देदीप्यमान हो रही थी । उसे इस रूपमें देखकर वे विस्मित हो गये ॥ २७ ॥ उन्होंने अपनी पत्नीके साथ बड़े प्रेमसे अपने महलमें प्रवेश किया । उनका महल क्या था, मानो देवराज इन्द्रका निवासस्थान । इसमें मणियोंके सैकड़ों खंभे खड़े थे ॥ २८ ॥ हाथीके दाँतके बने हुए और सोनेके पातसे मँढ़े हुए पलंगोंपर दूधके फेनकी तरह श्वेत और कोमल बिछौने बिछ रहे थे । बहुत-से चँवर वहाँ रक्खे हुए थे, जिनमें सोनेकी डंडियाँ लगी हुई थीं ॥ २९ ॥ सोनेके सिंहासन शोभायमान हो रहे थे, जिनपर बड़ी कोमल-कोमल गद्दियाँ लगी हुई थीं । ऐसे चँदोवे भी झिलमिला रहे थे, जिनमें मोतियोंकी लड़ियाँ लटक रही थीं ॥ ३० ॥ स्फटिकमणिकी स्वच्छ भीतोंपर पन्नेकी पच्चीकारी की हुई थी । रत्ननिर्मित स्त्रीमूर्तियोंके हाथोंमें रत्नोंके दीपक जगमगा रहे थे ॥ ३१ ॥ इस प्रकार समस्त सम्पत्तियोंकी समृद्धि देखकर और उसका कोई प्रत्यक्ष कारण न पाकर, बड़ी गम्भीरतासे ब्राह्मणदेवता विचार करने लगे कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति कहाँसे आ गयी ॥ ३२ ॥ वे मन-ही-मन कहने लगे—'मैं जन्मसे ही भाग्यहीन और दरिद्र हूँ । फिर मेरी इस सम्पत्ति-समृद्धिका कारण क्या है ? अवश्य ही परमैश्वर्यशाली यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके कृपाकटाक्षके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥ यह सब कुछ उनकी करुणाकी ही देन है । स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम और लक्ष्मीपति होनेके कारण अनन्त भोगसामग्रियोंसे युक्त हैं । इसलिये वे याचक भक्तको उसके मनका भाव जानकर बहुत कुछ दे देते

१. द्धिं ।

पर्जन्यवत्तत् स्वयमीक्षमाणो
दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥३४॥
किञ्चित्करोत्युर्वपि यत् स्वदत्तं
सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी ।
मयोपनीतां पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत् प्रीतियुतो महात्मा ॥३५॥
तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥३६॥
भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो
राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन् निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥३७॥
इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने ।
विषयाञ्जायया त्यक्ष्यन् बुभुजे नातिलम्पटः ॥३८॥
तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।
ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥३९॥
एवं स विप्रो भगवत्सुहृत्तदा
दृष्ट्वा स्वभृत्यैरजितं पराजितम् ।

हैं, परन्तु उसे समझते हैं बहुत थोड़ा; इसलिये सामने कुछ कहते नहीं । मेरे यदुवंशशिरोमणि सखा श्यामसुन्दर सचमुच उस मेघसे भी बढ़कर उदार हैं, जो समुद्रको भर देनेकी शक्ति रखनेपर भी किसानके सामने न बरसकर उसके सो जानेपर रातमें बरसता है और बहुत बरसनेपर भी थोड़ा ही समझता है ॥ ३४ ॥ मेरे प्यारे सखा श्रीकृष्ण देते हैं बहुत, पर उसे मानते हैं बहुत थोड़ा ! और उनका प्रेमी भक्त यदि उनके लिये कुछ भी कर दे, तो वे उसको बहुत मान लेते हैं । देखो तो सही ! मैंने उन्हें केवल एक मुट्ठी चिउड़ा भेंट किया था, पर उदार शिरोमणि श्रीकृष्णने उसे कितने प्रेमसे स्वीकार किया ॥ ३५ ॥ मुझे जन्म-जन्म उन्हींका प्रेम, उन्हींकी हितैषिता, उन्हींकी मित्रता और उन्हींकी सेवा प्राप्त हो । मुझे सम्पत्तिकी आवश्यकता नहीं, सदा सर्वदा उन्हीं गुणोंके एकमात्र निवासस्थान महानुभाव भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा अनुराग बढ़ता जाय और उन्हींके प्रेमी भक्तोंका सत्सङ्ग प्राप्त हो ॥ ३६ ॥ अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण सम्पत्ति आदिके दोष जानते हैं । वे देखते हैं कि बड़े-बड़े धनियोंका धन और ऐश्वर्यके मदसे पतन हो जाता है । इसलिये वे अपने अदूरदर्शी भक्तको उसके माँगते रहनेपर भी तरह-तरहकी सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य आदि नहीं देते । यह उनकी बड़ी कृपा है ॥ ३७ ॥ परीक्षित् ! अपनी बुद्धिसे इस प्रकार निश्चय करके वे ब्राह्मणदेवता त्यागपूर्वक अनासक्तभावसे अपनी पत्नीके साथ भगवत्प्रसादस्वरूप विषयोंको ग्रहण करने लगे और दिनोंदिन उनकी प्रेम-भक्ति बढ़ने लगी ॥ ३८ ॥

प्रिय परीक्षित् ! देवताओंके भी आराध्यदेव भक्तभयहारी यज्ञपति सर्वशक्तिमान् भगवान् स्वयं ब्राह्मणोंको अपना प्रभु, अपना इष्टदेव मानते हैं । इसलिये ब्राह्मणोंसे बढ़कर और कोई भी प्राणी जगत्में नहीं है ॥३९॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा उस ब्राह्मणने देखा कि 'यद्यपि भगवान् अजित हैं, किसीके अधीन नहीं हैं; फिर भी वे अपने सेवकोंके अधीन हो जाते हैं, उनसे पराजित हो जाते हैं, अब वे उन्हींके ध्यानमें

तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन-

स्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ॥४०॥

एतद् ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।

लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद् विमुच्यते ॥४१॥

तन्मय हो गये । ध्यानके आवेगसे उनकी अविद्याकी गाँठ कट गयी और उन्होंने थोड़े ही समयमें भगवान्‌का धाम, जो कि संतोंका एकमात्र आश्रय है, प्राप्त किया ॥ ४० ॥ परीक्षित्! ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव माननेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी इस ब्राह्मणभक्तिको जो सुनता है, उसे भगवान्‌के चरणोंमें प्रेमभाव प्राप्त हो जाता है और वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पृथुकोपाख्यानं नामैकाशीतितमोऽध्यायः ॥८१॥[1]

अथ द्व्यशीतितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण-बलरामसे गोप-गोपियोंकी भेंट

श्रीशुक उवाच[2]

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः ।

सूर्योपरागः सुमहानासीत् कल्पक्षये यथा ॥ १ ॥

तं[3] ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।

समन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥ २ ॥

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः ।

नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ॥ ३ ॥

ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ।

लोकं संग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ॥ ४ ॥

महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन् भारतीः प्रजाः ।

वृष्णयश्च तथाक्रूरवसुदेवाहुकादयः ॥ ५ ॥

ययुर्भारत तत् क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी द्वारकामें निवास कर रहे थे। एक बार सर्वग्रास सूर्यग्रहण लगा, जैसा कि प्रलयके समय लगा करता है ॥ १ ॥ परीक्षित्! मनुष्योंको ज्योतिषियोंके द्वारा उस ग्रहणका पता पहलेसे ही चल गया था, इसलिये सब लोग अपने-अपने कल्याणके उद्देश्यसे पुण्य आदि उपार्जन करनेके लिये समन्तपञ्चक-तीर्थ कुरुक्षेत्रमें आये ॥ २ ॥ समन्तपञ्चक क्षेत्र वह है, जहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने सारी पृथ्वीको क्षत्रियहीन करके राजाओंकी रुधिरधारासे पाँच बड़े-बड़े कुण्ड बना दिये थे ॥ ३ ॥ जैसे कोई साधारण मनुष्य अपने पापकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित्त करता है, वैसे ही सर्वशक्तिमान् भगवान् परशुरामने अपने साथ कर्मका कुछ सम्बन्ध न होनेपर भी लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये वहींपर यज्ञ किया था ॥ ४ ॥

परीक्षित्! इस महान् तीर्थयात्राके अवसरपर भारतवर्षके सभी प्रान्तोंकी जनता कुरुक्षेत्र आयी थी। उनमें अक्रूर, वसुदेव, उग्रसेन आदि बड़े-बूढ़े तथा गद, प्रद्युम्न, साम्ब आदि अन्य यदुवंशी भी अपने-अपने पापोंका नाश करनेके लिये कुरुक्षेत्र आये थे। प्रद्युम्ननन्दन अनिरुद्ध और यदुवंशी सेनापति कृतवर्मा—

[1] १. ध्ये पृथुकोपाख्यानऽष्टसप्ततितमो० । २. ऋषिरुवाच । ३. ज्ञात्वा तं ।

गदप्रद्युम्नसाम्बाद्याः सुचन्द्रशुकसारणैः ॥ ६ ॥
आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः ।
ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ॥ ७ ॥
गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ।
व्यरोचन्त महातेजाः पथिकाञ्चनमालिनः ॥ ८ ॥
दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा इव ।
तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ।
रामह्रदेषु विधिवत् पुनराप्लुत्य वृष्णयः ॥ १० ॥
ददुः स्वन्नं द्विजाग्र्येभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ।
स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥ ११ ॥
भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ।
तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् ॥ १२ ॥
मत्स्योशीनरकौशल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् ।
काम्बोजकैकयान् मद्रान् कुन्तीनानर्तकेरलान् ॥ १३ ॥
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान् परांश्च शतशो नृप ।

१. म्याश्च । २. ददुश्चान्नं ।

ये दोनों सुचन्द्र, शुक, सारण आदिके साथ नगरकी रक्षाके लिये द्वारकामें रह गये थे । यदुवंशी एक तो स्वभावसे ही परम तेजस्वी थे; दूसरे गलेमें सोनेकी माला, दिव्य पुष्पोंके हार, बहुमूल्य वस्त्र और कवचोंसे सुसज्जित होनेके कारण उनकी शोभा और भी बढ़ गयी थी । वे तीर्थयात्राके पथमें देवताओंके विमानके समान रथों, समुद्रकी तरङ्गके समान चलनेवाले घोड़ों, बादलोंके समान विशालकाय एवं गर्जना करते हुए हाथियों तथा विद्याधरोंके समान मनुष्योंके द्वारा ढोयी जानेवाली पालकियोंपर अपनी पत्नियोंके साथ इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे, मानो स्वर्गके देवता ही यात्रा कर रहे हों । महाभाग्यवान् यदुवंशियोंने कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर एकाग्रचित्तसे संयमपूर्वक स्नान किया और ग्रहणके उपलक्ष्यमें निश्चित कालतक उपवास किया ॥ ५–९ ॥ उन्होंने ब्राह्मणोंको गोदान किया । ऐसी गौओंका दान किया जिन्हें वस्त्रोंकी सुन्दर-सुन्दर झूलें, पुष्पमालाएँ एवं सोनेकी जंजीरें पहना दी गयी थीं । इसके बाद ग्रहणका मोक्ष हो जानेपर परशुरामजीके बनाये हुए कुण्डोंमें यदुवंशियोंने विधिपूर्वक स्नान किया और सत्पात्र ब्राह्मणोंको सुन्दर-सुन्दर पकवानोंका भोजन कराया । उन्होंने अपने मनमें यह सङ्कल्प किया था कि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें हमारी प्रेमभक्ति बनी रहे । भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना आदर्श और इष्टदेव माननेवाले यदुवंशियोंने ब्राह्मणोंसे अनुमति लेकर तब स्वयं भोजन किया और फिर घनी एवं ठंडी छायावाले वृक्षोंके नीचे अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार डेरा डालकर ठहर गये । परीक्षित् ! विश्राम कर लेनेके बाद यदुवंशियोंने अपने सुहृद् और सम्बन्धी राजाओंसे मिलना-भेंटना शुरू किया ॥ १०–१२ ॥ वहाँ मत्स्य, उशीनर, कोसल, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, कैकय, मद्र, कुन्ति, आनर्त, केरल एवं दूसरे अनेकों देशोंके—अपने पक्षके तथा शत्रुपक्षके—सैकड़ों नरपति आये हुए थे । परीक्षित् ! इनके अतिरिक्त यदुवंशियोंके परम हितैषी बन्धु नन्द आदि गोप तथा भगवान्‌के दर्शनके

नन्दादीन् सुहृदो गोपान् गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम्॥१४

अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा
प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः ।
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला
हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥१५॥

स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-
स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितान्
निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ॥१६॥

ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः ।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथा मिथः ॥१७॥

पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान् पितरावपि ।
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ संकथया शुचः ॥१८॥

कुन्त्युवाच

आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।
यद् वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ॥१९॥

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ॥२०॥

वसुदेव उवाच

अम्ब मास्मानसूयेथा दैवक्रीडनकान् नरान् ।

लिये चिरकालसे उत्कण्ठित गोपियाँ भी वहाँ आयी हुई थीं । यादवोंने इन सबको देखा ॥ १३-१४ ॥ परीक्षित् ! एक-दूसरेके दर्शन, मिलन और वार्तालापसे सभीको बड़ा आनन्द हुआ । सभीके हृदय-कमल एवं मुख-कमल खिल उठे। सब एक-दूसरेको भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगाते, उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाती, रोम-रोम खिल उठता, प्रेमके आवेगसे बोली बंद हो जाती और सब-के-सब आनन्द-समुद्रमें डूबने-उतराने लगते ॥ १५ ॥ पुरुषोंकी भाँति स्त्रियाँ भी एक-दूसरेको देखकर प्रेम और आनन्दसे भर गयीं । वे अत्यन्त सौहार्द, मन्द-मन्द मुसकान, परम पवित्र तिरछी चितवनसे देख-देखकर परस्पर भेंट-अँकवार भरने लगीं । वे अपनी भुजाओंमें भरकर केसर लगे हुए वक्षःस्थलोंको दूसरी स्त्रियोंके वक्षःस्थलोंसे दबातीं और अत्यन्त आनन्दका अनुभव करतीं । उस समय उनके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू छलकने लगते ॥ १६ ॥ अवस्था आदिमें छोटोंने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया और उन्होंने अपनेसे छोटोंका प्रणाम स्वीकार किया । वे एक-दूसरेका स्वागत करके तथा कुशल-मङ्गल आदि पूछकर फिर श्रीकृष्णकी मधुर लीलाएँ आपसमें कहने-सुनने लगे ॥ १७ ॥

परीक्षित् ! कुन्ती वसुदेव आदि अपने भाइयों, बहिनों, उनके पुत्रों, माता-पिता, भाभियों और भगवान् श्रीकृष्णको देखकर तथा उनसे बातचीत करके अपना सारा दुःख भूल गयीं ॥ १८ ॥

कुन्तीने वसुदेवजीसे कहा—भैया ! मैं सचमुच बड़ी अभागिन हूँ । मेरी एक भी साध पूरी न हुई । आप-जैसे साधु-स्वभाव सज्जन भाई आपत्तिके समय मेरी सुधि भी न लें, इससे बढ़कर दुःखकी बात क्या होगी ? ॥ १९ ॥ भैया ! विधाता जिसके बाँयें हो जाता है, उसे स्वजन-सम्बन्धी, पुत्र और माता-पिता भी भूल जाते हैं । इसमें आपलोगोंका कोई दोष नहीं ॥ २० ॥

वसुदेवजीने कहा—बहिन ! उलाहना मत दो । हमसे विलग न मानो । सभी मनुष्य दैवके खिलौने

1. त ।

ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथवा ॥२१॥

कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् ।

एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ॥२२॥

हैं। यह सम्पूर्ण लोक ईश्वरके वशमें रहकर कर्म करता है, और उसका फल भोगता है ॥ २१ ॥ बहिन ! कंससे सताये जाकर हमलोग इधर-उधर अनेक दिशाओंमें भगे हुए थे। अभी कुछ ही दिन हुए, ईश्वरकृपासे हम सब पुनः अपना स्थान प्राप्त कर सके हैं ॥ २२ ॥

श्रीशुक उवाच

वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ।

आसन्नच्युतसन्दर्शपरमानन्दनिर्वृताः ॥२३॥

भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।

सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सृञ्जयो विदुरः कृपः ॥२४॥

कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।

पुरुजिद् द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः सकाशिराट् ॥२५॥

दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ।

युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ॥२६॥

राजानो ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।

श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः ॥२७॥

अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक् प्राप्तसमर्हणाः ।

प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन् कृष्णपरिग्रहान् ॥२८॥

अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।

यत् पश्यथासकृत् कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥२९॥

यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति
पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! वहाँ जितने भी नरपति आये थे—वसुदेव, उग्रसेन आदि यदुवंशियोंने उनका खूब सम्मान-सत्कार किया। वे सब भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन पाकर परमानन्द और शान्तिका अनुभव करने लगे ॥ २३ ॥ परीक्षित् ! भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, दुर्योधनादि पुत्रोंके साथ गान्धारी, पत्नियोंके सहित युधिष्ठिर आदि पाण्डव, कुन्ती, सृञ्जय, विदुर, कृपाचार्य, कुन्तिभोज, विराट, भीष्मक, महाराज नग्नजित्, पुरुजित्, द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशीनरेश, दमघोष, विशालाक्ष, मिथिलानरेश, मद्रनरेश, केकयनरेश, युधामन्यु, सुशर्मा, अपने पुत्रोंके साथ बाह्लीक और दूसरे भी युधिष्ठिरके अनुयायी नृपति भगवान् श्रीकृष्णका परम सुन्दर श्रीनिकेतन विग्रह और उनकी रानियोंको देखकर अत्यन्त विस्मित हो गये ॥२४—२७॥ अब वे बलरामजी तथा भगवान् श्रीकृष्णसे भलीभाँति सम्मान प्राप्त करके बड़े आनन्दसे श्रीकृष्णके स्वजनों—यदुवंशियोंकी प्रशंसा करने लगे ॥ २८ ॥ उन लोगोंने मुख्यतया उग्रसेनजीको सम्बोधित कर कहा—'भोजराज उग्रसेनजी ! सच पूछिये तो इस जगत्के मनुष्योंमें आपलोगोंका जीवन ही सफल है, धन्य है ! धन्य है ! क्योंकि जिन श्रीकृष्णका दर्शन बड़े-बड़े योगियोंके लिये भी दुर्लभ है, उन्हींको आपलोग नित्य-निरन्तर देखते रहते हैं ॥ २९ ॥ वेदोंने बड़े आदरके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी कीर्तिका गान किया है। उनके चरणधोवनका जल—गङ्गाजल, उनकी वाणी—शास्त्र और उनकी कीर्ति इस जगत्को अत्यन्त पवित्र कर रही है। अभी हमलोगोंके जीवनकी

१. एतदेव। २. शैव्यो धृष्टकेतुश्च काशि०। ३. यदुश्चावन्तिकादयः।

भूः कालभर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्म-
स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान्॥३०॥

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-
शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः।
येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः
स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः॥३१॥

श्रीशुक उवाच

नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान्।
तत्रागमद् वृतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया॥३२॥

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः॥३३॥

वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः[1] प्रेमविह्वलः।
स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासं च गोकुले॥३४॥

कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह॥३५॥

ही बात है, समयके फेरसे पृथ्वीका सारा सौभाग्य नष्ट हो चुका था; परन्तु उनके चरणकमलोंके स्पर्शसे पृथ्वीमें फिर समस्त शक्तियोंका सञ्चार हो गया और अब वह फिर हमारी समस्त अभिलाषाओं—मनोरथोंको पूर्ण करने लगी ॥ ३० ॥ उग्रसेनजी ! आपलोगोंका श्रीकृष्णके साथ वैवाहिक एवं गोत्रसम्बन्ध है। यही नहीं, आप हर समय उनका दर्शन और स्पर्श प्राप्त करते रहते हैं। उनके साथ चलते हैं, बोलते हैं, सोते हैं, बैठते हैं और खाते-पीते हैं। यों तो आपलोग गृहस्थीकी झंझटोंमें फँसे रहते हैं—जो नरकका मार्ग है, परन्तु आपलोगोंके घर वे सर्वव्यापक विष्णुभगवान् मूर्तिमान् रूपसे निवास करते हैं, जिनके दर्शनमात्रसे स्वर्ग और मोक्षतककी अभिलाषा मिट जाती है ॥ ३१ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब नन्दबाबाको यह बात मालूम हुई कि श्रीकृष्ण आदि यदुवंशी कुरुक्षेत्रमें आये हुए हैं, तब वे गोपोंके साथ अपनी सारी सामग्री गाड़ियोंपर लादकर अपने प्रिय पुत्र श्रीकृष्ण-बलराम आदिको देखनेके लिये वहाँ आये ॥ ३२ ॥ नन्द आदि गोपोंको देखकर सब-के-सब यदुवंशी आनन्दसे भर गये। वे इस प्रकार उठ खड़े हुए, मानो मृत शरीरमें प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। वे लोग एक-दूसरेसे मिलनेके लिये बहुत दिनोंसे आतुर हो रहे थे। इसलिये एक-दूसरेको बहुत देरतक अत्यन्त गाढ़भावसे आलिङ्गन करते रहे ॥ ३३ ॥ वसुदेवजीने अत्यन्त प्रेम और आनन्दसे विह्वल होकर नन्दजीको हृदयसे लगा लिया। उन्हें एक-एक करके सारी बातें याद हो आयीं—कंस किस प्रकार उन्हें सताता था और किस प्रकार उन्होंने अपने पुत्रको गोकुलमें ले जाकर नन्दजीके घर रख दिया था ॥ ३४ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने माता यशोदा और पिता नन्दजीके हृदयसे लगकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। परीक्षित् ! उस समय प्रेमके उद्रेकसे दोनों भाइयोंका गला रुँध गया, वे कुछ भी बोल न सके ॥ ३५ ॥ महाभाग्यवती यशोदाजी और

[1] प्रतीतः।

तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥३६॥
रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः॥३७॥
का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि ।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥३८॥
एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः
सम्प्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि ।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो-
र्न्यस्तावकुत्रचभयौ न सतां परः स्वः ॥३९॥

श्रीशुक उवाच[2]

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम्॥४०॥

नन्दबाबाने दोनों पुत्रोंको अपनी गोदमें बैठा लिया और भुजाओंसे उनका गाढ़ आलिङ्गन किया। उनके हृदयमें चिरकालतक न मिलनेका जो दुःख था, वह सब मिट गया ॥ ३६ ॥ रोहिणी और देवकीजीने व्रजेश्वरी यशोदाको अपनी अँकवारमें भर लिया। यशोदाजीने उन लोगोंके साथ मित्रताका जो व्यवहार किया था, उसका स्मरण करके दोनों-का गला भर आया। वे यशोदाजीसे कहने लगीं—॥३७॥ 'यशोदारानी! आपने और व्रजेश्वर नन्दजीने हमलोगोंके साथ जो मित्रताका व्यवहार किया है, वह कभी मिटने-वाला नहीं है, उसका बदला इन्द्रका ऐश्वर्य पाकर भी हम किसी प्रकार नहीं चुका सकतीं । नन्दरानीजी! भला ऐसा कौन कृतघ्न है, जो आपके उस उपकारको भूल सके ! ॥ ३८ ॥ देवि! जिस समय बलराम और श्रीकृष्णने अपने मा-बापको देखातक न था और इनके पिताने धरोहरके रूपमें इन्हें आप दोनोंके पास रख छोड़ा था, उस समय आपने इन दोनोंकी इस प्रकार रक्षा की, जैसे पलकें पुतलियोंकी रक्षा करती हैं। तथा आपलोगोंने ही इन्हें खिलाया-पिलाया, दुलार किया और रिझाया; इनके मङ्गलके लिये अनेकों प्रकारके उत्सव मनाये। सच पूछिये तो इनके मा-बाप आप ही लोग हैं। आपलोगोंकी देख-रेखमें इन्हें किसीकी आँचतक न लगी, ये सर्वथा निर्भय रहे, ऐसा करना आपलोगोंके अनुरूप ही था। क्योंकि सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें अपने-परायेका भेद-भाव नहीं रहता। नन्दरानीजी! सचमुच आपलोग परम संत हैं' ॥ ३९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! मैं कह चुका हूँ कि गोपियोंके परम प्रियतम, जीवनसर्वस्व श्रीकृष्ण ही थे। जब उनके दर्शनके समय नेत्रोंकी पलकें गिर पड़तीं, तब वे पलकोंको बनानेवालेको ही कोसने लगतीं। उन्हीं प्रेमकी मूर्ति गोपियोंको आज बहुत दिनोंके बाद भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन हुआ। उनके मनमें इसके लिये कितनी लालसा थी, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। उन्होंने नेत्रोंके रास्ते अपने प्रियतम श्रीकृष्णको हृदयमें ले जाकर गाढ़ आलिङ्गन किया और मन-ही-मन आलिङ्गन करते-करते तन्मय हो गयीं। परीक्षित्! कहाँतक कहूँ, वे उस भावको प्राप्त हो गयीं, जो नित्य-निरन्तर अभ्यास करनेवाले योगियोंके

१. अपि प्राप्यैन्द्र० । २. ऋषिरुवाच।

भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः ।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥४१॥

अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥४२॥

अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशङ्कया ।
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥४३॥

वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ।
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ॥४४॥

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥४५॥

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥४६॥

एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः ।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥४७॥

श्रीशुक उवाच[1]

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।

लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४० ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि गोपियाँ मुझसे तादात्म्यको प्राप्त—एक हो रही हैं, तब वे एकान्तमें उनके पास गये, उनको हृदयसे लगाया, कुशल-मङ्गल पूछा और हँसते हुए यों बोले—॥ ४१ ॥ 'सखियो ! हमलोग अपने स्वजन-सम्बन्धियोंका काम करनेके लिये व्रजसे बाहर चले आये और इस प्रकार तुम्हारी-जैसी प्रेयसियोंको छोड़कर हम शत्रुओंका विनाश करनेमें उलझ गये । बहुत दिन बीत गये, क्या कभी तुमलोग हमारा स्मरण भी करती हो ? ॥ ४२ ॥ मेरी प्यारी गोपियो ! कहीं तुमलोगोंके मनमें यह आशङ्का तो नहीं हो गयी है कि मैं अकृतज्ञ हूँ और ऐसा समझकर तुमलोग हमसे बुरा तो नहीं मानने लगी हो ? निस्सन्देह भगवान् ही प्राणियोंके संयोग और वियोगके कारण हैं ॥ ४३ ॥ जैसे वायु बादलों, तिनकों, रूई और धूलके कणोंको एक दूसरेसे मिला देती है, और फिर स्वच्छन्दरूपसे उन्हें अलग-अलग कर देती है, वैसे ही समस्त पदार्थोंके निर्माता भगवान् भी सबका संयोग-वियोग अपने इच्छानुसार करते रहते हैं ॥ ४४ ॥ सखियो ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम सब लोगोंको मेरा वह प्रेम प्राप्त हो चुका है, जो मेरी ही प्राप्ति करानेवाला है । क्योंकि मेरे प्रति की हुई प्रेम-भक्ति प्राणियोंको अमृतत्व (परमानन्द-धाम) प्रदान करनेमें समर्थ है ॥ ४५ ॥ प्यारी गोपियो ! जैसे घट, पट आदि जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, उनके आदि, अन्त और मध्यमें, बाहर और भीतर, उनके मूल कारण पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश ही ओतप्रोत हो रहे हैं, वैसे ही जितने भी पदार्थ हैं, उनके पहले, पीछे, बीचमें, बाहर और भीतर केवल मैं-ही-मैं हूँ ॥ ४६ ॥ इसी प्रकार सभी प्राणियोंके शरीरमें यही पाँचों भूत कारणरूपसे स्थित हैं और आत्मा भोक्ताके रूपसे अथवा जीवके रूपसे स्थित है। परन्तु मैं इन दोनोंसे परे अविनाशी सत्य हूँ । ये दोनों मेरे ही अंदर प्रतीत हो रहे हैं; तुमलोग ऐसा अनुभव करो॥ ४७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार गोपियोंको अध्यात्मज्ञानकी शिक्षासे शिक्षित किया । उसी उपदेशके बार-बार स्मरणसे

१. ऋषिरुवाच ।

तदनुसरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥४८॥

गोपियोंका जीवकोश—लिङ्गशरीर नष्ट हो गया और वे भगवान्‌से एक हो गयीं, भगवान्‌को ही सदा-सर्वदाके लिये प्राप्त हो गयीं ॥४८॥

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ।४९।

उन्होंने कहा—'हे कमलनाभ ! अगाधबोधसम्पन्न बड़े-बड़े योगेश्वर अपने हृदय-कमलमें आपके चरणकमलोंका चिन्तन करते रहते हैं। जो लोग संसारके कूएँमें गिरे हुए हैं, उन्हें उससे निकलनेके लिये आपके चरणकमल ही एकमात्र अवलम्बन हैं। प्रभो ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपका वह चरणकमल, घर-गृहस्थके काम करते रहनेपर भी सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें विराजमान रहे, हम एक क्षणके लिये भी उसे न भूलें ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे वृष्णिगोपसङ्गमो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

अथ त्र्यशीतितमोऽध्यायः

भगवान्‌की पटरानियोंके साथ द्रौपदीकी बातचीत

श्रीशुक उवाच

तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः।
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥ १ ॥
त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः।
प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥ २ ॥
कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित्।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहम्भृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण ही गोपियोंको शिक्षा देनेवाले हैं और वही उस शिक्षाके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु हैं। इसके पहले, जैसा कि वर्णन किया गया है, भगवान् श्रीकृष्णने उनपर महान् अनुग्रह किया। अब उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर तथा अन्य समस्त सम्बन्धियोंसे कुशल-मङ्गल पूछा ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका दर्शन करनेसे ही उनके सारे अशुभ नष्ट हो चुके थे। अब जब भगवान् श्रीकृष्णने उनका सत्कार किया, कुशल-मङ्गल पूछा, तब वे अत्यन्त आनन्दित होकर उनसे कहने लगे—॥ २ ॥ 'भगवन् ! बड़े-बड़े महापुरुष मन-ही-मन आपके चरणारविन्दका मकरन्दरस पान करते रहते हैं। कभी-कभी उनके मुखकमलसे लीला-कथाके रूपमें वह रस छलक पड़ता है। प्रभो ! वह इतना अद्भुत दिव्य रस है कि कोई भी प्राणी उसको पी ले तो वह जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाली विस्मृति अथवा अविद्याको नष्ट कर देता है। उसी रसको जो लोग अपने कानोंके दोनोंमें भर भरकर जीभर पीते हैं, उनके अमङ्गलकी आशङ्का

[1] १. न्धे तीर्थमालायामेकोनसप्ततितमो ।

हित्वाऽऽत्मधामविधुतात्मकृतत्र्यवस्थ-

मानन्दसम्प्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ।

कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोग-

मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म ॥ ४ ॥

ऋषिरुवाच

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जने-

ष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः ।

समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणं-

स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥ ५ ॥

द्रौपद्युवाच

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।

हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥ ६ ॥

हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान् स्वयम् ।

उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥ ७ ॥

रुक्मिण्युवाच

चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु

राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ।

निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात्

तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥ ८ ॥

सत्यभामोवाच

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन

लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ।

ही क्या है? ॥ ३ ॥ भगवन्! आप एकरस ज्ञानस्वरूप और अखण्ड आनन्दके समुद्र हैं। बुद्धि वृत्तियोंके कारण होनेवाली जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ आपके स्वयंप्रकाश स्वरूपतक पहुँच ही नहीं पातीं, दूरसे ही नष्ट हो जाती हैं। आप परमहंसोंकी एकमात्र गति हैं। समयके फेरसे वेदोंका ह्रास होते देखकर उनकी रक्षाके लिये आपने अपनी अचिन्त्य योगमायाके द्वारा मनुष्यका-सा शरीर ग्रहण किया है। हम आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करते हैं' ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जिस समय दूसरे लोग इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे थे, उसी समय यादव और कौरव-कुलकी स्त्रियाँ एकत्र होकर आपसमें भगवान्की त्रिभुवन-विख्यात लीलाओंका वर्णन कर रही थीं। अब मैं तुम्हें उन्हींकी बातें सुनाता हूँ ॥ ५ ॥

द्रौपदीने कहा—हे रुक्मिणी, भद्रे, हे जाम्बवती, सत्ये, हे सत्यभामे, कालिन्दी, शैब्ये, लक्ष्मणे, रोहिणी और अन्यान्य श्रीकृष्णपत्नियो! तुमलोग हमें यह तो बताओ कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपनी मायासे लोगोंका अनुकरण करते हुए तुमलोगोंका किस प्रकार पाणिग्रहण किया? ॥ ६-७ ॥

रुक्मिणीजीने कहा—द्रौपदीजी! जरासन्ध आदि सभी राजा चाहते थे कि मेरा विवाह शिशुपालके साथ हो; इसके लिये सभी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होकर युद्धके लिये तैयार थे। परन्तु भगवान् मुझे वैसे ही हर लाये; जैसे सिंह बकरी और भेड़ोंके झुंडमेंसे अपना भाग छीन ले जाय। क्यों न हो—जगत्में जितने भी अजेय वीर हैं, उनके मुकुटोंपर इन्हींकी चरणधूलि शोभायमान होती है। द्रौपदीजी! मेरी तो यही अभिलाषा है कि भगवान्के वे ही समस्त सम्पत्ति और सौन्दर्योंके आश्रय चरणकमल जन्म-जन्म मुझे आराधना करनेके लिये प्राप्त होते रहें, मैं उन्हींकी सेवामें लगी रहूँ ॥ ८ ॥

सत्यभामाने कहा—द्रौपदीजी! मेरे पिताजी अपने भाई प्रसेनकी मृत्युसे बहुत दुखी हो रहे थे, अतः उन्होंने उनके वधका कलङ्क भगवान्पर ही लगाया। उस कलङ्कको दूर करनेके लिये भगवान्ने ऋक्षराज

१. आत्मयोग० ।

जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात् स तेन

भीतः पितादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम् ।९।

जाम्बवान्पर विजय प्राप्त की और वह रत्न लाकर मेरे पिताको दे दिया। अब तो मेरे पिताजी मिथ्या कलङ्क लगानेके कारण डर गये। अतः यद्यपि वे दूसरेको मेरा वाग्दान कर चुके थे, फिर भी उन्होंने मुझे स्यमन्तक-मणिके साथ भगवान्के चरणोंमें ही समर्पित कर दिया ॥ ९ ॥

जाम्बवत्युवाच

प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदेवं

सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत् ।

ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां

पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥१०॥

जाम्बवतीने कहा—द्रौपदीजी ! मेरे पिता ऋक्ष-राज जाम्बवान्को इस बातका पता न था कि यही मेरे स्वामी भगवान् सीतापति हैं। इसलिये वे इनसे सत्ताईस दिनतक लड़ते रहे। परन्तु जब परीक्षा पूरी हुई, उन्होंने जान लिया कि ये भगवान् राम ही हैं, तब इनके चरणकमल पकड़कर स्यमन्तकमणिके साथ उपहारके रूपमें मुझे समर्पित कर दिया। मैं यही चाहती हूँ कि जन्म-जन्म इन्हींकी दासी बनी रहूँ ॥ १० ॥

कालिन्द्युवाच

तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया ।

सख्योपेत्याग्रहीत् पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी ॥११॥

कालिन्दीने कहा—द्रौपदीजी ! जब भगवान्को यह मालूम हुआ कि मैं उनके चरणोंका स्पर्श करनेकी आशा-अभिलाषासे तपस्या कर रही हूँ, तब वे अपने सखा अर्जुनके साथ यमुना-तटपर आये और मुझे स्वीकार कर लिया। मैं उनका घर बुहारनेवाली उनकी दासी हूँ ॥ ११ ॥

मित्रविन्दोवाच

यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान्

निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः ।

भ्रातॄंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौक-

स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम् ॥१२॥

मित्रविन्दाने कहा—द्रौपदीजी ! मेरा स्वयंवर हो रहा था। वहाँ आकर भगवान्ने सब राजाओंको जीत लिया और जैसे सिंह झुंड-के-झुंड कुत्तोंमेंसे अपना भाग ले जाय, वैसे ही मुझे अपनी शोभामयी द्वारकापुरीमें ले आये। मेरे भाइयोंने भी मुझे भगवान्से छुड़ाकर मेरा अपकार करना चाहा, परन्तु उन्होंने उन्हें भी नीचा दिखा दिया। मैं ऐसा चाहती हूँ कि मुझे जन्म-जन्म उनके पाँव पखारनेका सौभाग्य प्राप्त होता रहे ॥ १२ ॥

सत्योवाच

सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान्

पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।

तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य

क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥१३॥

सत्याने कहा—द्रौपदीजी ! मेरे पिताजीने मेरे स्वयंवरमें आये हुए राजाओंके बल-पौरुषकी परीक्षाके लिये बड़े बलवान् और पराक्रमी, तीखे सींगवाले सात बैल रख छोड़े थे। उन बैलोंने बड़े-बड़े वीरोंका घमंड चूर-चूर कर दिया था। उन्हें भगवान्ने खेल-खेलमें ही झपटकर पकड़ लिया, नाथ लिया और बाँध दिया; ठीक वैसे ही, जैसे छोटे-छोटे बच्चे बकरीके बच्चोंको

य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् ।
पथि निर्जित्य राजन्यान् निन्ये तद्दास्यमस्तु मे॥१४॥

पकड़ लेते हैं ॥ १३ ॥ इस प्रकार भगवान् बल-पौरुषके द्वारा मुझे प्राप्त कर चतुरङ्गिणी सेना और दासियोंके साथ द्वारका ले आये । मार्गमें जिन क्षत्रियोंने विघ्न डाला, उन्हें जीत भी लिया । मेरी यही अभिलाषा है कि मुझे इनकी सेवाका अवसर सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहे ॥ १४ ॥

भद्रोवाच

पिता मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान् ।
कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखीजनैः॥१५॥
अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥१६॥

भद्राने कहा—द्रौपदीजी ! भगवान् मेरे मामाके पुत्र हैं । मेरा चित्त इन्हींके चरणोंमें अनुरक्त हो गया था । जब मेरे पिताजीको यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने स्वयं ही भगवान्‌को बुलाकर अक्षौहिणी सेना और बहुत-सी दासियोंके साथ मुझे इन्हींके चरणोंमें समर्पित कर दिया ॥ १५ ॥ मैं अपना परम कल्याण इसीमें समझती हूँ कि कर्मके अनुसार मुझे जहाँ-जहाँ जन्म लेना पड़े, सर्वत्र इन्हींके चरणकमलोंका संस्पर्श प्राप्त होता रहे ॥ १६ ॥

लक्ष्मणोवाच

ममापि राज्ञ्यच्युतजन्मकर्म
श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया
वृतः सुसंमृश्य विहाय लोकपान् ॥१७॥
ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।
बृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत् ॥१८॥
यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।
अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ॥१९॥
श्रुत्वैतत् सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः ॥२०॥
पित्रा सम्पूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः ।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः[1] ॥२१॥

लक्ष्मणाने कहा—रानीजी ! देवर्षि नारद बार-बार भगवान्‌के अवतार और लीलाओंका गान करते रहते थे । उसे सुनकर और यह सोचकर कि लक्ष्मीजीने समस्त लोकपालोंका त्याग करके भगवान्‌का ही वरण किया, मेरा चित्त भगवान्‌के चरणोंमें आसक्त हो गया ॥ १७ ॥ साध्वी ! मेरे पिता बृहत्सेन मुझपर बहुत प्रेम रखते थे । जब उन्हें मेरा अभिप्राय मालूम हुआ, तब उन्होंने मेरी इच्छाकी पूर्तिके लिये यह उपाय किया ॥ १८ ॥ महारानी ! जिस प्रकार पाण्डववीर अर्जुनकी प्राप्तिके लिये आपके पिताने स्वयंवरमें मत्स्य-वेधका आयोजन किया था, उसी प्रकार मेरे पिताने भी किया । आपके स्वयंवरकी अपेक्षा हमारे यहाँ यह विशेषता थी कि मत्स्य बाहरसे ढका हुआ था, केवल जलमें ही उसकी परछाईं दीख पड़ती थी ॥ १९ ॥ जब यह समाचार राजाओंको मिला, तब सब ओरसे समस्त अस्त्र-शस्त्रोंके तत्त्वज्ञ हजारों राजा अपने-अपने गुरुओंके साथ मेरे पिताजीकी राजधानीमें आने लगे ॥ २० ॥ मेरे पिताजीने आये हुए सभी राजाओंका बल-पौरुष और अवस्थाके अनुसार भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया । उन लोगोंने मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे स्वयंवर-सभामें रक्खे हुए धनुष और बाण उठाये ॥२१॥

---

१. प्रेम्णा ।

आदाय व्यसृजन् केचित् सज्यं कर्तुमनीश्वराः।
आकोटि ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुना हताः ॥२२॥
सज्यं कृत्वा परे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपाः ।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविन्दंस्तदवस्थितिम् ॥२३॥
मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम्।
पार्थो यत्तोऽसृजद् बाणं नाच्छिनत् पस्पृशे परम्॥२४॥
राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।
भगवान् धनुरादाय सज्यं कृत्वाथ लीलया ॥२५॥
तस्मिन् सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले।
छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ॥२६॥
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।
देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः ॥२७॥
तद् रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां
पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये
सव्रीडहासवदना कवरीधृतस्रक् ॥२८॥
उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्
गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः ।

उनमेंसे कितने ही राजा तो धनुषपर ताँत भी न चढ़ा सके। उन्होंने धनुषको ज्यों-का-त्यों रख दिया। कइयोंने धनुषकी डोरीको एक सिरेसे बाँधकर दूसरे सिरेतक खींच तो लिया, परन्तु वे उसे दूसरे सिरेसे बाँध न सके, उसका झटका लगनेसे गिर पड़े ॥ २२ ॥ रानीजी! बड़े-बड़े प्रसिद्ध वीर—जैसे जरासन्ध, अम्बष्ठ-नरेश, शिशुपाल, भीमसेन, दुर्योधन और कर्ण—इन लोगोंने धनुषपर डोरी तो चढ़ा ली; परन्तु उन्हें मछलीकी स्थितिका पता न चला ॥ २३ ॥ पाण्डववीर अर्जुनने जलमें उस मछलीकी परछाईं देख ली और यह भी जान लिया कि वह कहाँ है। बड़ी सावधानीसे उन्होंने बाण छोड़ा भी; परन्तु उससे लक्ष्यवेध न हुआ, उनके बाणने केवल उसका स्पर्शमात्र किया ॥ २४ ॥

रानीजी! इस प्रकार बड़े-बड़े अभिमानियोंका मान मर्दन हो गया। अधिकांश नरपतियोंने मुझे पानेकी लालसा एवं साथ-ही-साथ लक्ष्यवेधकी चेष्टा भी छोड़ दी। तब भगवान्‌ने धनुष उठाकर खेल-खेलमें—अनायास ही उसपर डोरी चढ़ा दी, बाण साधा और जलमें केवल एक बार मछलीकी परछाईं देखकर बाण मारा तथा उसे नीचे गिरा दिया। उस समय ठीक दोपहर हो रहा था, सर्वार्थसाधक 'अभिजित्' नामक मुहूर्त बीत रहा था ॥ २५-२६ ॥ देवीजी! उस समय पृथ्वीमें जय-जयकार होने लगा और आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। बड़े-बड़े देवता आनन्द-विह्वल होकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ २७ ॥ रानीजी! उसी समय मैंने रंगशालामें प्रवेश किया। मेरे पैरोंके पायजेब रुनझुन-रुनझुन बोल रहे थे। मैंने नये-नये उत्तम रेशमी वस्त्र धारण कर रक्खे थे। मेरी चोटियोंमें मालाएँ गुँथी हुई थीं और मुँहपर लज्जामिश्रित मुसकराहट थी। मैं अपने हाथोंमें रत्नोंका हार लिये हुए थी, जो बीच-बीचमें लगे हुए सोनेके कारण और भी दमक रहा था। रानीजी! उस समय मेरा मुखमण्डल घनी घुँघराली अलकोंसे सुशोभित हो रहा था तथा कपोलोंपर कुण्डलोंकी आभा पड़नेसे वह और भी दमक उठा था। मैंने एक बार अपना मुख उठाकर चन्द्रमाकी किरणोंके समान

१. विक्लवाः ।

राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥२९॥

तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः ।
निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः ॥३०॥

एवं वृते भगवति मयेशे नृपयूथपाः ।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः ॥३१॥

मां तावद् रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम् ।
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ॥३२॥

दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।
मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ॥३३॥

तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन ।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम् ॥३४॥

ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः ।
निपेतुः प्रधने केचिदेके सन्त्यज्य दुद्रुवुः ॥३५॥

ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृतां
रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां[3]
समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ॥३६॥

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।

सुशीतल हास्यरेखा और तिरछी चितवनसे चारों ओर बैठे हुए राजाओंकी ओर देखा, फिर धीरेसे अपनी वरमाला भगवान्‌के गलेमें डाल दी। यह तो कह ही चुकी हूँ कि मेरा हृदय पहलेसे ही भगवान्‌के प्रति अनुरक्त था ॥ २८-२९ ॥ मैंने ज्यों ही वरमाला पहनायी त्यों ही मृदङ्ग, पखावज, शङ्ख, ढोल, नगारे आदि बाजे बजने लगे। नट और नर्तकियाँ नाचने लगीं। गवैये गाने लगे ॥ ३० ॥

द्रौपदीजी! जब मैंने इस प्रकार अपने स्वामी प्रियतम भगवान्‌को वरमाला पहना दी, उन्हें वरण कर लिया, तब कामातुर राजाओंको बड़ा डाह हुआ। वे बहुत ही चिढ़ गये ॥ ३१ ॥ चतुर्भुज भगवान्‌ने अपने श्रेष्ठ चार घोड़ोंवाले रथपर मुझे चढ़ा लिया और हाथमें शार्ङ्गधनुष लेकर तथा कवच पहनकर युद्ध करनेके लिये वे रथपर खड़े हो गये ॥ ३२ ॥ पर रानीजी! दारुकने सोनेके साज-सामानसे लदे हुए रथको सब राजाओंके सामने ही द्वारकाके लिये हाँक दिया, जैसे कोई सिंह हरिनोंके बीचसे अपना भाग ले जाय ॥ ३३ ॥ उनमेंसे कुछ राजाओंने धनुष लेकर युद्धके लिये सज-धजकर इस उद्देश्यसे रास्तेमें पीछा किया कि हम भगवान्‌को रोक लें; परन्तु रानीजी! उनकी चेष्टा ठीक वैसी ही थी, जैसे कुत्ते सिंहको रोकना चाहें ॥ ३४ ॥ शार्ङ्गधनुषके छूटे हुए तीरोंसे किसीकी बाँह कट गयी तो किसीके पैर कटे और किसीकी गर्दन ही उतर गयी। बहुत-से लोग तो उस रणभूमिमें ही सदाके लिये सो गये और बहुत-से युद्धभूमि छोड़कर भाग खड़े हुए ॥ ३५ ॥

तदनन्तर यदुवंशशिरोमणि भगवान्‌ने सूर्यकी भाँति अपने निवासस्थान स्वर्ग और पृथ्वीमें सर्वत्र प्रशंसित द्वारका-नगरीमें प्रवेश किया। उस दिन वह विशेषरूपसे सजायी गयी थी। इतनी झंडियाँ, पताकाएँ और तोरण लगाये गये थे कि उनके कारण सूर्यका प्रकाश धरतीतक नहीं आ पाता था ॥ ३६ ॥ मेरी अभिलाषा पूर्ण हो जानेसे पिताजीको बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने हितैषी-सुहृदों, सगे-सम्बन्धियों और भाई-बन्धुओंको

१. मयेमे। २. नियोद्धुं। ३. सम्मतां।

महार्हवासोऽलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः ॥३७॥

बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, शय्या, आसन और विविध प्रकारकी सामग्रियाँ देकर सम्मानित किया ॥ ३७ ॥

दासीभिः सर्वसम्पद्भिर्भटेभरथवाजिभिः[1] ।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ॥३८॥

भगवान् परिपूर्ण हैं—तथापि मेरे पिताजीने प्रेमवश उन्हें बहुत-सी दासियाँ, सब प्रकारकी सम्पत्तियाँ, सैनिक, हाथी, रथ, घोड़े एवं बहुत-से बहुमूल्य अस्त्र-शस्त्र समर्पित किये ॥ ३८ ॥

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः ।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ॥३९॥

रानीजी ! हमने पूर्वजन्ममें सबकी आसक्ति छोड़कर कोई बहुत बड़ी तपस्या की होगी । तभी तो हम इस जन्ममें आत्माराम भगवान्‌की गृह-दासियाँ हुई हैं ॥ ३९ ॥

महिष्य ऊचुः

भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा
ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः ।
निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः[2] ॥४०॥

सोलह हजार पत्नियोंकी ओरसे रोहिणीजीने कहा—भौमासुरने दिग्विजयके समय बहुत-से राजाओंको जीतकर उनकी कन्या हमलोगोंको अपने महलमें बंदी बना रक्खा था । भगवान्‌ने यह जानकर युद्धमें भौमासुर और उसकी सेनाका संहार कर डाला और स्वयं पूर्णकाम होनेपर भी उन्होंने हमलोगोंको वहाँसे छुड़ाया तथा पाणिग्रहण करके अपनी दासी बना लिया । रानीजी ! हम सदा-सर्वदा उनके उन्हीं चरणकमलोंका चिन्तन करती रहती थीं, जो जन्म-मृत्युरूप संसारसे मुक्त करनेवाले हैं ॥ ४० ॥

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥४१॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥४२॥

साध्वी द्रौपदीजी ! हम साम्राज्य, इन्द्रपद अथवा इन दोनोंके भोग, अणिमा आदि ऐश्वर्य, ब्रह्माका पद, मोक्ष अथवा सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्तियाँ—कुछ भी नहीं चाहतीं । हम केवल इतना ही चाहती हैं कि अपने प्रियतम प्रभुके सुकोमल चरणकमलोंकी वह श्रीरज सर्वदा अपने सिरपर वहन किया करें, जो लक्ष्मीजीके वक्षःस्थलपर लगी हुई केशरकी सुगन्धसे युक्त है ॥ ४१-४२ ॥

व्रजस्त्रियो यद् वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥४३॥

उदारशिरोमणि भगवान्‌के जिन चरणकमलोंका स्पर्श उनके गौ चराते समय गोप, गोपियाँ, भीलिनें, तिनके और घास-लताएँतक करना चाहती थीं, उन्हींकी हमें भी चाह है ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे[3] त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

१. भटैर्द्विरदवाजिभिः । २. यदाप्तकामः । ३. प्राचीन प्रतिमें 'उत्तरार्धे' इतना अंश नहीं है ।

अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः

वसुदेवजीका यज्ञोत्सव

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ॥१॥

इति सम्भाषमाणासु[1] स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामदिदृक्षया ॥ २ ॥

द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः ।
विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥ ३ ॥

रामःसशिष्यो भगवान् वसिष्ठो गालवो भृगुः ।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥ ४ ॥

द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिराः ।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥ ५ ॥

तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान् ॥ ६ ॥

तानानर्चुर्यथा[2] सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥ ७ ॥

उवाच सुखमासीनान् भगवान् धर्मगुप्तनुः ।
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम् ।
देवानामपि दुष्प्रापं यद् योगेश्वरदर्शनम् ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! सर्वात्मा भक्त-भयहारी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति उनकी पत्नियोंका कितना प्रेम है—यह बात कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, दूसरी राजपत्नियों और भगवान्‌की प्रियतमा गोपियोंने भी सुनी । सब-की-सब उनका यह अलौकिक प्रेम देखकर अत्यन्त मुग्ध, अत्यन्त विस्मित हो गयीं । सबके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छलक आये ॥ १ ॥ इस प्रकार जिस समय स्त्रियोंसे स्त्रियाँ और पुरुषोंसे पुरुष बातचीत कर रहे थे, उसी समय बहुत-से ऋषि-मुनि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीका दर्शन करनेके लिये वहाँ आये ॥२॥ उनमें प्रधान ये थे—श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, अपने शिष्योंके सहित भगवान् परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, सनकसनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेव इत्यादि ॥३—५॥ ऋषियोंको देखकर पहलेसे बैठे हुए नरपतिगण, युधिष्ठिर आदि पाण्डव, भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी सहसा उठकर खड़े हो गये और सबने उन विश्ववन्दित ऋषियोंको प्रणाम किया।६। इसके बाद स्वागत, आसन, पाद्य अर्घ्य, पुष्पमाला, धूप और चन्दन आदिसे सब राजाओंने तथा बलरामजीके साथ स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उन सब ऋषियोंकी विधिपूर्वक पूजा की ॥७॥ जब सब ऋषि-मुनि आरामसे बैठ गये, तब धर्मरक्षाके लिये अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा । उस समय वह बहुत बड़ी सभा चुपचाप भगवान्‌का भाषण सुन रही थी ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धन्य है ! हमलोगोंका जीवन सफल हो गया, आज जन्म लेनेका हमें पूरा-पूरा फल मिल गया; क्योंकि जिन योगेश्वरोंका दर्शन बड़े-बड़े देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है, उन्हींका

१. भिः । २. यो नृप ।

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥१०॥
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥
नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥१२॥
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः ।
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः ॥१४॥
चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।
जनसङ्ग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् ॥१५॥

१. स्मरन्त० ।

दर्शन हमें प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥ जिन्होंने बहुत थोड़ी तपस्या की है और जो लोग अपने इष्टदेवको समस्त प्राणियोंके हृदयमें न देखकर केवल मूर्तिविशेषमें ही उनका दर्शन करते हैं, उन्हें आपलोगोंके दर्शन, स्पर्श, कुशल-प्रश्न, प्रणाम और पादपूजन आदिका सुअवसर भला कब मिल सकता है ? ॥ १० ॥ केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं कहलाते और केवल मिट्टी या पत्थरकी प्रतिमाएँ ही देवता नहीं होतीं, संत पुरुष ही वास्तवमें तीर्थ और देवता हैं, क्योंकि उनका बहुत समयतक सेवन किया जाय, तब वे पवित्र करते हैं, परन्तु संत पुरुष तो दर्शनमात्रसे ही कृतार्थ कर देते हैं ॥ ११ ॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मनके अधिष्ठातृ देवता उपासना करनेपर भी पापका पूरा-पूरा नाश नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी उपासनासे भेद-बुद्धिका नाश नहीं होता, वह और भी बढ़ती है । परन्तु यदि घड़ी-दो-घड़ी भी ज्ञानी महापुरुषोंकी सेवा की जाय तो वे सारे पाप-ताप मिटा देते हैं, क्योंकि वे भेद-बुद्धिके विनाशक हैं ॥ १२ ॥ महात्माओ और सभासदो ! जो मनुष्य वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे बने हुए शवतुल्य शरीरको ही आत्मा—अपना 'मैं', स्त्री-पुत्र आदिको ही अपना और मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव विकारोंको ही इष्टदेव मानता है तथा जो केवल जलको ही तीर्थ समझता है—ज्ञानी महापुरुषोंको नहीं, वह मनुष्य होनेपर भी पशुओंमें भी नीच गधा ही है ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण अखण्ड ज्ञानसम्पन्न हैं । उनका यह गूढ भाषण सुनकर सब-के-सब ऋषि-मुनि चुप रह गये । उनकी बुद्धि चक्करमें पड़ गयी, वे समझ न सके कि भगवान् यह क्या कह रहे हैं ॥ १४ ॥ उन्होंने बहुत देरतक विचार करनेके बाद यह निश्चय किया कि भगवान् सर्वेश्वर होनेपर भी जो इस प्रकार सामान्य, कर्म-परतन्त्र जीवकी भाँति व्यवहार कर रहे हैं—यह केवल लोकसंग्रहके लिये ही है । ऐसा समझकर वे मुसकराते हुए जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे ॥१५॥

मुनय ऊचुः

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१६॥
अनीह एतद् बहुधैक आत्मना
सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥१७॥
अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये
बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं
वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥१८॥
ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
यत्रोपलब्धं सद् व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥१९॥
तस्माद् ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः ।
सभाजयसि सद्धाम तद् ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥२०॥
अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया सङ्गम्य सद्गत्या यदन्तः श्रेयसां परः ॥२१॥
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।

मुनियोंने कहा—भगवन् ! आपकी मायासे प्रजापतियोंके अधीश्वर मरीचि आदि तथा बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी हमलोग मोहित हो रहे हैं । आप स्वयं ईश्वर होते हुए भी मनुष्यकी-सी चेष्टाओंसे अपनेको छिपाये रखकर जीवकी भाँति आचरण करते हैं । भगवन् ! सचमुच आपकी लीला अत्यन्त विचित्र है । परम आश्चर्यमयी है ॥१६॥ जैसे पृथ्वी अपने विकारों—वृक्ष, पत्थर, घट आदिके द्वारा बहुत-से नाम और रूप ग्रहण कर लेती है, वास्तवमें वह एक ही है, वैसे ही आप एक और चेष्टाहीन होनेपर भी अनेक रूप धारण कर लेते हैं और अपने आपसे ही इस जगत्की रचना, रक्षा और संहार करते हैं । पर यह सब करते हुए भी इन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते । जो सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदशून्य एकरस अनन्त है, उसका यह चरित्र लीलामात्र नहीं तो और क्या है ? धन्य है आपकी यह लीला ! ॥ १७ ॥ भगवन् ! यद्यपि आप प्रकृतिसे परे, स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं; तथापि समय-समयपर भक्तजनोंकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये विशुद्ध सत्त्वमय श्रीविग्रह प्रकट करते हैं और अपनी लीलाके द्वारा सनातन वैदिक मार्गकी रक्षा करते हैं; क्योंकि सभी वर्णों और आश्रमोंके रूपमें आप स्वयं ही प्रकट हैं ॥ १८ ॥ भगवन् ! वेद आपका विशुद्ध हृदय है; तपस्या, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा उसीमें आपके साकार निराकार रूप और दोनोंके अधिष्ठानस्वरूप परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार होता है ॥ १९ ॥ परमात्मन् ! ब्राह्मण ही वेदोंके आधारभूत आपके स्वरूपकी उपलब्धिके स्थान हैं; इसीसे आप ब्राह्मणोंका सम्मान करते हैं और इसीसे आप ब्राह्मण-भक्तोंमें अग्रगण्य भी हैं ॥ २० ॥ आप सर्वविध कल्याण-साधनोंकी चरम सीमा हैं और संत पुरुषोंकी एकमात्र गति हैं । आपसे मिलकर आज हमारे जन्म, विद्या, तप और ज्ञान सफल हो गये । वास्तवमें सबके परम फल आप ही हैं ॥ २१ ॥ प्रभो ! आपका ज्ञान अनन्त है, आप स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान् हैं ।

१. यः सर्वोत्त्वसाद्ब्रह्म० ।

स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥२२॥

न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।

मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥२३॥

यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।

नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥२४॥

एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया ।

मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥२५॥

तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष-

तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।

उत्सिक्तभक्त्युपहताशयजीवकोशा

आपुर्भवद्गतिमथोऽनुगृहाण भक्तान् ॥२६॥

श्रीशुक उवाच

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।

राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं मुनयो दधिरे मनः[1] ॥२७॥

तद् वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः ।

प्रणम्य चोपसंगृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥२८॥

आपने अपनी अचिन्त्य शक्ति योगमायाके द्वारा अपनी महिमा छिपा रक्खी है; हम आपको नमस्कार करते हैं ॥२२॥ ये सभामें बैठे हुए राजालोग और दूसरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं आपके साथ आहार-विहार करनेवाले यदुवंशी लोग भी आपको वास्तवमें नहीं जानते; क्योंकि आपने अपने स्वरूपको—जो सबका आत्मा, जगत्‌का आदिकारण और नियन्ता है—मायाके परदेसे ढक रक्खा है ॥ २३ ॥ जब मनुष्य स्वप्न देखने लगता है, उस समय स्वप्नके मिथ्या पदार्थोंको ही सत्य समझ लेता है और नाममात्रकी इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाले अपने स्वप्नशरीरको ही वास्तविक शरीर मान बैठता है। उसे उतनी देरके लिये इस बातका बिल्कुल ही पता नहीं रहता कि स्वप्नशरीरके अतिरिक्त एक जाग्रत्-अवस्थाका शरीर भी है ॥२४॥ ठीक इसी प्रकार, जाग्रत्-अवस्थामें भी इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिरूप मायासे चित्त मोहित होकर नाममात्रके विषयोंमें भटकने लगता है। उस समय भी चित्तके चक्करसे विवेकशक्ति ढक जाती है और जीव यह नहीं जान पाता कि आप इस जाग्रत् संसारसे परे हैं ॥ २५ ॥ प्रभो ! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि अत्यन्त परिपक्व योग-साधनाके द्वारा आपके उन चरणकमलोंको हृदयमें धारण करते हैं, जो समस्त पाप-राशिको नष्ट करनेवाले गङ्गाजलके भी आश्रयस्थान हैं। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज हमें उन्हींका दर्शन हुआ है। प्रभो ! हम आपके भक्त हैं, आप हमपर अनुग्रह कीजिये; क्योंकि आपके परम पदकी प्राप्ति उन्हीं लोगोंको होती है, जिनका लिङ्गशरीररूप जीव-कोश आपकी उत्कृष्ट भक्तिके द्वारा नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजर्षे ! भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करके और उनसे, राजा धृतराष्ट्रसे तथा धर्मराज युधिष्ठिरजीसे अनुमति लेकर उन लोगोंने अपने-अपने आश्रमपर जानेका विचार किया ॥ २७ ॥ परम यशस्वी वसुदेवजी उनका जानेका विचार देखकर उनके पास आये और उन्हें प्रणाम किया और उनके चरण पकड़कर बड़ी नम्रतासे निवेदन करने लगे ॥ २८ ॥

[1] मनाः ।

वसुदेव उवाच

नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥२९॥

नारद उवाच

नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥३०॥
सन्निकर्षो हि मर्त्यानामनादरणकारणम् ।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥३१॥
यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनास्य वै ।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ॥३२॥
तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै-
रव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ॥३३॥
अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुन्दुभिम् ।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः ॥३४॥
कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः ।
यच्छ्रद्धया यजेद् विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥३५॥
चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा ।
दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्ममुदावहः ॥३६॥

वसुदेवजीने कहा—ऋषियो ! आपलोग सर्वदेवस्वरूप हैं । मैं आपलोगोंको नमस्कार करता हूँ । आपलोग कृपा करके मेरी एक प्रार्थना सुन लीजिये । वह यह कि जिन कर्मोंके अनुष्ठानसे कर्मों और कर्मवासनाओंका आत्यन्तिक नाश—मोक्ष हो जाय, उनका आप मुझे उपदेश कीजिये ॥ २९ ॥

नारदजीने कहा—ऋषियो ! यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि वसुदेवजी श्रीकृष्णको अपना बालक समझकर शुद्ध जिज्ञासाके भावसे अपने कल्याणका साधन हमलोगोंसे पूछ रहे हैं ॥ ३० ॥ संसारमें बहुत पास रहना मनुष्योंके अनादरका कारण हुआ करता है । देखते हैं, गङ्गातटपर रहनेवाला पुरुष गङ्गाजल छोड़कर अपनी शुद्धिके लिये दूसरे तीर्थमें जाता है ॥ ३१ ॥ श्रीकृष्णकी अनुभूति समयके फेरसे होनेवाली जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलयसे मिटनेवाली नहीं है । वह स्वतः किसी दूसरे निमित्तसे, गुणोंसे और किसीसे भी क्षीण नहीं होती ॥ ३२ ॥ उनका ज्ञानमय स्वरूप अविद्या, राग-द्वेष आदि क्लेश, पुण्य-पापमय कर्म, सुख-दुःखादि कर्मफल तथा सत्त्व आदि गुणोंके प्रवाहसे खण्डित नहीं है । वे स्वयं अद्वितीय परमात्मा हैं । जब वे अपनेको अपनी ही शक्तियों—प्राण आदिसे ढक लेते हैं, तब मूर्खलोग ऐसा समझते हैं कि वे ढक गये; जैसे बादल, कुहरा या ग्रहणके द्वारा अपने नेत्रोंके ढक जानेपर सूर्यको ढका हुआ मान लेते हैं ॥ ३३ ॥

परीक्षित् ! इसके बाद ऋषियोंने भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी और अन्यान्य राजाओंके सामने ही वसुदेवजीको सम्बोधित करके कहा—॥३४॥ 'कर्मोंके द्वारा कर्मवासनाओं और कर्मफलोंका आत्यन्तिक नाश करनेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि यज्ञ आदिके द्वारा समस्त यज्ञोंके अधिपति भगवान् विष्णुकी श्रद्धापूर्वक आराधना करे ॥ ३५ ॥ त्रिकालदर्शी ज्ञानियोंने शास्त्रदृष्टिसे यही चित्तकी शान्तिका उपाय सुगम मोक्षसाधन और चित्तमें आनन्दका उल्लास करनेवाला धर्म बतलाया

१. नापि चि० ।

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।
यच्छ्रद्धयाऽऽप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः ॥३७॥

है ॥ ३६ ॥ अपने न्यायार्जित धनसे श्रद्धापूर्वक पुरुषोत्तम भगवान्‌की आराधना करना ही द्विजाति—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थके लिये परम कल्याणका मार्ग है ॥३७॥

वित्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम् ।
आत्मलोकैषणां देव कालेन विसृजेद् बुधः ।
ग्रामे त्यक्तैषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम् ॥३८॥

वसुदेवजी ! विचारवान् पुरुषको चाहिये कि यज्ञ, दान आदिके द्वारा धनकी इच्छाको, गृहस्थोचित भोगोंद्वारा स्त्री-पुत्रकी इच्छाको और कालक्रमसे स्वर्गादि भोग भी नष्ट हो जाते हैं—इस विचारसे लोकैषणाको त्याग दे। इस प्रकार धीर पुरुष घरमें रहते हुए ही तीनों प्रकारकी एषणाओं—इच्छाओंका परित्याग करके तपोवनका रास्ता लिया करते थे ॥ ३८ ॥

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितॄणां प्रभो ।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत् ॥३९॥

समर्थ वसुदेवजी ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों देवता, ऋषि और पितरोंका ऋण लेकर ही पैदा होते हैं। इनके ऋणोंसे छुटकारा मिलता है यज्ञ, अध्ययन और सन्तानोत्पत्तिसे। इनसे उऋण हुए बिना ही जो संसारका त्याग करता है, उसका पतन हो जाता है ॥ ३९ ॥

त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते ।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निरृणोऽशरणो भव ॥४०॥

परम बुद्धिमान् वसुदेवजी ! आप अबतक ऋषि और पितरोंके ऋणसे तो मुक्त हो चुके हैं। अब यज्ञोंके द्वारा देवताओंका ऋण चुका दीजिये; और इस प्रकार सबसे उऋण होकर गृहत्याग कीजिये, भगवान्‌की शरण हो जाइये ॥४०॥

वसुदेव भवान् नूनं भक्त्या परमया हरिम् ।
जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद् वां पुत्रतां गतः ॥४१॥

वसुदेवजी ! आपने अवश्य ही परम भक्तिसे जगदीश्वर भगवान्‌की आराधना की है; तभी तो वे आप दोनोंके पुत्र हुए हैं ॥ ४१ ॥

श्रीशुक[2] उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।
तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नाऽऽनम्य[3] प्रसाद्य च ॥४२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! परम मनस्वी वसुदेवजीने ऋषियोंकी यह बात सुनकर, उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया, उन्हें प्रसन्न किया और यज्ञके लिये ऋत्विजोंके रूपमें उनका वरण कर लिया ॥ ४२ ॥

त एनमृषयो राजन् वृता धर्मेण धार्मिकम् ।
तस्मिन्नयाजयन् क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥४३॥

राजन् ! जब इस प्रकार वसुदेवजीने धर्मपूर्वक ऋषियोंको वरण कर लिया, तब उन्होंने पुण्यक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें परम धार्मिक वसुदेवजीके द्वारा उत्तमोत्तम सामग्रीसे युक्त यज्ञ करवाये ॥ ४३ ॥

तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।
स्नाताः सुवाससो राजन् राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः ॥४४॥

परीक्षित् ! जब वसुदेवजीने यज्ञकी दीक्षा ले ली, तब यदुवंशियोंने स्नान करके सुन्दर वस्त्र और कमलोंकी मालाएँ धारण कर लीं; राजालोग वस्त्राभूषणोंसे खूब सुसज्जित हो गये ॥४४॥

तन्महिष्यश्च[4] मुदिता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।

वसुदेवजीकी पत्नियोंने सुन्दर वस्त्र, अङ्गराग और सोनेके हारोंसे अपनेको सजा लिया और फिर वे सब बड़े

१. वित्तै० । २. बादरायणिरुवाच । ३. नम्योपसर्प्य च । ४. तस्मिन् महिष्यो मुदि० ।

दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः ॥४५॥
नेदुर्मृदङ्गपटहशङ्खभेर्यानकादयः ।
ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुः सूतमागधाः ।
जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः सङ्गीतं सहभर्तृकाः ॥४६॥
तमभ्यषिञ्चन् विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः ।
पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः ॥४७॥
ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ।
स्वलङ्कृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ॥४८॥
तस्यर्त्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः ।
ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे ॥४९॥
तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ ।
रेजतुः स्वसुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः ॥५०॥
ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः ।
प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ॥५१॥
अथर्त्विग्भ्योऽददात् काले यथाम्नातं सदक्षिणाः ।
स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य गोभूकन्या महाधनाः ॥५२॥
पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः ।

आनन्दसे अपने-अपने हाथोंमें माङ्गलिक सामग्री लेकर यज्ञशालामें आयीं ॥ ४५ ॥ उस समय मृदङ्ग, पखावज, शङ्ख, ढोल और नगारे आदि बाजे बजने लगे। नट और नर्तकियाँ नाचने लगीं। सूत और मागध स्तुति-गान करने लगे। गन्धर्वोंके साथ सुरीले गलेवाली गन्धर्व-पत्नियाँ गान करने लगीं ॥ ४६ ॥ वसुदेवजीने पहले नेत्रोंमें अंजन और शरीरमें मक्खन लगा लिया; फिर उनकी देवकी आदि अठारह पत्नियोंके साथ उन्हें ऋत्विजोंने महाभिषेककी विधिसे वैसे ही अभिषेक कराया, जिस प्रकार प्राचीन कालमें नक्षत्रोंके साथ चन्द्रमाका अभिषेक हुआ था ॥ ४७ ॥ उस समय यज्ञमें दीक्षित होनेके कारण वसुदेवजी तो मृगचर्म धारण किये हुए थे; परन्तु उनकी पत्नियाँ सुन्दर-सुन्दर साड़ी, कंगन, हार, पायजेब और कर्णफूल आदि आभूषणोंसे खूब सजी हुई थीं। वे अपनी पत्नियोंके साथ भली-भाँति शोभायमान हुए ॥ ४८ ॥ महाराज! वसुदेवजीके ऋत्विज और सदस्य रत्नजटित आभूषण तथा रेशमी वस्त्र धारण करके वैसे ही सुशोभित हुए, जैसे पहले इन्द्रके यज्ञमें हुए थे ॥ ४९ ॥ उस समय भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी अपने-अपने भाई-बन्धु और स्त्री-पुत्रोंके साथ इस प्रकार शोभायमान हुए, जैसे अपनी शक्तियोंके साथ समस्त जीवोंके ईश्वर स्वयं भगवान् समष्टि जीवोंके अभिमानी श्रीसङ्कर्षण तथा अपने विशुद्ध नारायणस्वरूपमें शोभायमान होते हैं ॥ ५० ॥

वसुदेवजीने प्रत्येक यज्ञमें ज्योतिष्टोम, दर्श, पूर्णमास आदि प्राकृत यज्ञों, सौरसत्रादि वैकृत यज्ञों और अग्निहोत्र आदि अन्यान्य यज्ञोंके द्वारा द्रव्य, क्रिया और उनके ज्ञानके—मन्त्रोंके स्वामी विष्णुभगवान्‌की आराधना की ॥ ५१ ॥ इसके बाद उन्होंने उचित समयपर ऋत्विजोंको वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित किया और शास्त्रके अनुसार बहुत-सी दक्षिणा तथा प्रचुर धनके साथ अलङ्कृत गौएँ, पृथ्वी और सुन्दरी कन्याएँ दीं ॥ ॥ ५२ ॥ इसके बाद महर्षियोंने पत्नीसंयाज नामक यज्ञाङ्ग और अवभृथस्नान अर्थात्

१. द्वाः द्य० । २. कुण्डलनूपुरैः ।

सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरःसराः ॥५३॥
स्नातोऽलङ्कारवासांसि वन्दिभ्योऽदात्तथास्त्रियः।
ततः स्वलङ्कृतो वर्णानाश्वभ्योऽन्नेन पूजयत् ॥५४॥
बन्धून् सदारान् ससुतान् पारिबर्हेण भूयसा।
विदर्भकोसलकुरून् काशिकेकयसृञ्जयान् ॥५५॥
सदस्यर्त्विक्सुरगणान् नृभूतपितृचारणान्।
श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम् ॥५६॥
धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ।
नारदो भगवान् व्यासः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः॥५७॥
बन्धून् परिष्वज्य यदून् सौहृदात् क्लिन्नचेतसः।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः ॥५८॥
नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद् बन्धुवत्सलः ॥५९॥
वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम्।
सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन् ॥६०॥

यज्ञान्त-स्नानसम्बन्धी अवशेष कर्म कराकर वसुदेवजीको आगे करके परशुरामजीके बनाये ह्रदमें—रामह्रदमें स्नान किया ॥ ५३ ॥ स्नान करनेके बाद वसुदेवजी और उनकी पत्नियोंने वंदीजनोंको अपने सारे वस्त्राभूषण दे दिये तथा स्वयं नये वस्त्राभूषणसे सुसज्जित होकर उन्होंने ब्राह्मणोंसे लेकर कुत्तोंतकको भोजन कराया ॥ ५४ ॥ तदनन्तर अपने भाई-बन्धुओं, उनके स्त्री-पुत्रों तथा विदर्भ, कोसल, कुरु, काशी, केकय और सृञ्जय आदि देशोंके राजाओं, सदस्यों, ऋत्विजों, देवताओं, मनुष्यों, भूतों, पितरों और चारणोंको विदाईके रूपमें बहुत-सी भेंट देकर सम्मानित किया। वे लोग लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमति लेकर यज्ञकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घर चले गये ॥ ५५-५६ ॥ परीक्षित्! उस समय राजा धृतराष्ट्र, विदुर, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कुन्ती, नकुल, सहदेव, नारद, भगवान् व्यासदेव तथा दूसरे स्वजन, सम्बन्धी और बान्धव अपने हितैषी बन्धु यादवोंको छोड़कर जानेमें अत्यन्त विरह-व्यथाका अनुभव करने लगे। उन्होंने अत्यन्त स्नेहार्द्र चित्तसे यदुवंशियोंका आलिङ्गन किया और बड़ी कठिनाईसे किसी प्रकार अपने-अपने देशको गये। दूसरे लोग भी इनके साथ ही वहाँसे रवाना हो गये ॥ ५७-५८ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण, बलरामजी तथा उग्रसेन आदिने नन्दबाबा एवं अन्य सब गोपोंकी बहुत बड़ी-बड़ी सामग्रियोंसे अर्चा-पूजा की; उनका सत्कार किया, और वे प्रेम-परवश होकर बहुत दिनोंतक वहीं रहे ॥ ५९ ॥ वसुदेवजी अनायास ही अपने बहुत बड़े मनोरथका महासागर पार कर गये थे। उनके आनन्दकी सीमा न थी। सभी आत्मीय स्वजन उनके साथ थे। उन्होंने नन्दबाबाका हाथ पकड़कर कहा ॥ ६० ॥

वसुदेव उवाच

भ्रातरीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये शूराणामपि योगिनाम् ॥६१॥

वसुदेवजीने कहा—भाईजी! भगवान्‌ने मनुष्योंके लिये एक बहुत बड़ा बन्धन बना दिया है। उस बन्धनका नाम है स्नेह, प्रेमपाश। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि बड़े-बड़े शूरवीर और योगी-यति भी उसे तोड़नेमें

१. नानालं। २. श्चानपरे। ३. न्दश्च।

असमाभिरप्रतिकल्पेयं यत् कृताज्ञेषु सत्तमैः ।
मैत्र्यर्पिताफला वापि न निवर्तेत कर्हिचित् ॥६२॥
प्रागकल्पाच्च कुशलं भ्रातर्वो नाचराम हि ।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः॥६३॥
मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ।
स्वजनानुत बन्धून् वा न पश्यति ययान्धदृक् ॥६४॥

श्रीशुक उवाच

एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥६५॥
नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽवसत् ॥६६॥
ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः ।
परार्घ्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥६७॥
वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः ।
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥६८॥
नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः[1] ॥६९॥

असमर्थ हैं ॥ ६१ ॥ आपने हम अकृतज्ञोंके प्रति अनुपम मित्रताका व्यवहार किया है । क्यों न हो, आप-सरीखे संत-शिरोमणियोंका तो ऐसा स्वभाव ही होता है । हम इसका कभी बदला नहीं चुका सकते, आपको इसका कोई फल नहीं दे सकते । फिर भी हमारा यह मैत्री-सम्बन्ध कभी टूटनेवाला नहीं है । आप इसको सदा निभाते रहेंगे ॥ ६२ ॥ भाईजी ! पहले तो बंदी-गृहमें बंद होनेके कारण हम आपका कुछ भी प्रिय और हित न कर सके । अब हमारी यह दशा हो रही है कि हम धन-सम्पत्तिके नशेसे—श्रीमदसे अंधे हो रहे हैं; आप हमारे सामने हैं तो भी हम आपकी . ओर नहीं देख पाते ॥ ६३ ॥ दूसरोंको सम्मान देकर स्वयं सम्मान न चाहनेवाले भाईजी ! जो कल्याणकामी है उसे राज्यलक्ष्मी न मिले—इसीमें उसका भला है; क्योंकि मनुष्य राज्यलक्ष्मीसे अंधा हो जाता है और अपने भाई-बन्धु स्वजनोंतकको नहीं देख पाता ॥ ६४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इस प्रकार कहते-कहते वसुदेवजीका हृदय प्रेमसे गद्‌गद हो गया । उन्हें नन्दबाबाकी मित्रता और उपकार स्मरण हो आये । उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु उमड़ आये, वे रोने लगे ॥ ६५ ॥ नन्दजी अपने सखा वसुदेवजीको प्रसन्न करनेके लिये एवं भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके प्रेमपाशमें बँधकर आज-कल करते-करते तीन महीनेतक वहीं रह गये । यदुवंशियोंने जीभर उनका सम्मान किया ॥ ६६ ॥ इसके बाद बहुमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र, नाना प्रकारकी उत्तमोत्तम सामग्रियों और भोगोंसे नन्दबाबाको, उनके व्रजवासी साथियोंको और बन्धु-बान्धवोंको खूब तृप्त किया ॥ ६७ ॥ वसुदेवजी, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलराम, उद्धव आदि यदुवंशियोंने अलग-अलग उन्हें अनेकों प्रकारकी भेंटें दीं । उनके विदा करनेपर उन सब सामग्रियोंको लेकर नन्दबाबा अपने व्रजके लिये रवाना हुए ॥ ६८ ॥ नन्दबाबा, गोपों और गोपियोंका चित्त भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें इस प्रकार लग गया कि वे फिर प्रयत्न करनेपर भी उसे वहाँसे लौटा न सके । सुतरां बिना ही मनके उन्होंने मथुराकी यात्रा की ॥ ६९ ॥

१. मद्यत्ताः स्वाश्रमान् ययुः ।

बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ।
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥७०॥
जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम् ।
यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम् ॥७१॥

जब सब बन्धु-बान्धव वहाँसे विदा हो चुके, तब भगवान् श्रीकृष्णको ही एकमात्र इष्टदेव माननेवाले यदुवंशियोंने यह देखकर कि अब वर्षा ऋतु आ पहुँची है, द्वारकाके लिये प्रस्थान किया ॥ ७० ॥ वहाँ जाकर उन्होंने सब लोगोंसे वसुदेवजीके यज्ञ-महोत्सव, स्वजन-सम्बन्धियोंके दर्शन-मिलन आदि तीर्थयात्राके प्रसङ्गोंको कह सुनाया ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

श्रीभगवान्‌के द्वारा वसुदेवजीको ब्रह्मज्ञानका उपदेश तथा देवकीजीके छः पुत्रोंको लौटा लाना

श्रीबादरायणिरुवाच

अथैकदाऽऽत्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ ॥ १ ॥
मुनीनां स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् ।
तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत ॥ २ ॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन ।
जाने वामस्य यत् साक्षात् प्रधानपुरुषौ परौ ॥ ३ ॥
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! इसके बाद एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी प्रातःकालीन प्रणाम करनेके लिये माता-पिताके पास गये । प्रणाम कर लेनेपर वसुदेवजी बड़े प्रेमसे दोनों भाइयोंका अभिनन्दन करके कहने लगे ॥ १ ॥ वसुदेवजीने बड़े-बड़े ऋषियोंके मुँहसे भगवान्‌की महिमा सुनी थी तथा उनके ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र भी देखे थे । इससे उन्हें इस बातका दृढ़ विश्वास हो गया था कि ये साधारण पुरुष नहीं, स्वयं भगवान् हैं । इसलिये उन्होंने अपने पुत्रोंको प्रेमपूर्वक सम्बोधित करके यों कहा—॥ २ ॥ 'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! महायोगीश्वर सङ्कर्षण ! तुम दोनों सनातन हो । मैं जानता हूँ कि तुम दोनों सारे जगत्‌के साक्षात् कारणस्वरूप प्रधान और पुरुषके भी नियामक परमेश्वर हो ॥ ३ ॥ इस जगत्‌के आधार, निर्माता और निर्माणसामग्री भी तुम्हीं हो । इस सारे जगत्‌के स्वामी तुम दोनों हो और तुम्हारी ही क्रीडाके लिये इसका निर्माण हुआ है । यह जिस समय, जिस रूपमें जो कुछ रहता है, होता है—वह सब तुम्हीं हो । इस जगत्‌में प्रकृति-रूपसे भोग्य और पुरुषरूपसे भोक्ता तथा दोनोंसे परे दोनोंके नियामक साक्षात् भगवान् भी तुम्हीं हो ॥४॥

१. न्धे तीर्थ० । २. तद्वाक्यैर्जात० । ३. जगतः प्रधान० ।

एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज ।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राणो जीवो बिभर्ष्यज: ॥५॥
प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो या: परस्य ता: ।
पारतन्त्र्याद् वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥ ६ ॥
कान्तिस्तेज: प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत् स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥ ७ ॥
तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रस: ।
ओज: सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥ ८ ॥
दिशां त्वमवकाशोऽसि दिश: खं स्फोट आश्रय: ।
नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृति: ॥ ९ ॥
इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रह: ।
अवबोधो भवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृति: सती ॥१०॥
भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजस: ।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम् ॥११॥
नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ।

इन्द्रियातीत ! जन्म, अस्तित्व आदि भावविकारोंसे रहित परमात्मन् ! इस चित्र-विचित्र जगत्‌का तुम्हींने निर्माण किया है और इसमें स्वयं तुमने ही आत्मारूपसे प्रवेश भी किया है। तुम प्राण (क्रियाशक्ति) और जीव (ज्ञानशक्ति) के रूपमें इसका पालन-पोषण कर रहे हो ॥ ५ ॥ क्रियाशक्तिप्रधान प्राण आदिमें जो जगत्‌की वस्तुओंकी सृष्टि करनेकी सामर्थ्य है, वह उनकी अपनी सामर्थ्य नहीं, तुम्हारी ही है । क्योंकि वे तुम्हारे समान चेतन नहीं, अचेतन हैं; स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र हैं। अत: उन चेष्टाशील प्राण आदिमें केवल चेष्टामात्र होती है, शक्ति नहीं । शक्ति तो तुम्हारी ही है ॥ ६ ॥ प्रभो ! चन्द्रमाकी कान्ति, अग्निका तेज, सूर्यकी प्रभा, नक्षत्र और विद्युत् आदिकी स्फुरणरूपसे सत्ता, पर्वतोंकी स्थिरता, पृथ्वीकी साधारण-शक्तिरूप वृत्ति और गन्धरूप गुण—ये सब वास्तवमें तुम्हीं हो ॥ ७ ॥ परमेश्वर ! जलमें तृप्त करने, जीवन देने और शुद्ध करनेकी जो शक्तियाँ हैं, वे तुम्हारा ही स्वरूप हैं। जल और उसका रस भी तुम्हीं हो। प्रभो ! इन्द्रियशक्ति, अन्त:करणकी शक्ति, शरीरकी शक्ति, उसका हिलना डोलना, चलना-फिरना—ये सब वायुकी शक्तियाँ तुम्हारी ही हैं ॥ ८ ॥ दिशाएँ और उनके अवकाश भी तुम्हीं हो। आकाश और उसका आश्रयभूत स्फोट—शब्दतन्मात्रा या परा वाणी, नाद—पश्यन्ती, ओंकार—मध्यमा तथा वर्ण (अक्षर) एवं पदार्थोंका अलग-अलग निर्देश करनेवाले पद, रूप, वैखरी वाणी भी तुम्हीं हो ॥ ९ ॥ इन्द्रियाँ, उनकी विषयप्रकाशिनी शक्ति और अधिष्ठातृ-देवता तुम्हीं हो । बुद्धिकी निश्चयात्मिका शक्ति और जीवकी विशुद्ध स्मृति भी तुम्हीं हो ॥ १० ॥ भूतोंमें उनका कारण तामस अहङ्कार, इन्द्रियोंमें उनका कारण तैजस अहङ्कार और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंमें उनका कारण सात्त्विक अहङ्कार तथा जीवोंके आवा-गमनका कारण माया भी तुम्हीं हो ॥ ११ ॥ भगवन् ! जैसे मिट्टी आदि वस्तुओंके विकार घड़ा, वृक्ष आदिमें मिट्टी निरन्तर वर्तमान है और वास्तवमें वे कारण

१. स्तवेश्वर। २. इन्द्रियाणीन्द्रियाणां च देवाश्च त्वद०।

यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥१२॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥१३॥
तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः ।
त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाव्यावहारिकः ॥१४॥
गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ।
गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥१५॥
यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥१६॥
असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत् ॥१७॥
युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ ।
भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथाऽऽत्थ ह ॥१८॥
तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द-
मापन्नसंसृतिभयापहमार्तबन्धो ।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥१९॥

(मृत्तिका) रूप ही हैं—उसी प्रकार जितने भी विनाशवान् पदार्थ हैं, उनमें तुम कारणरूपसे अविनाशी तत्त्व हो । वास्तवमें वे सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं ॥ १२ ॥ प्रभो ! सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण और उनकी वृत्तियाँ (परिणाम)—महत्तत्त्वादि परब्रह्म परमात्मामें, तुममें योगमायाके द्वारा कल्पित हैं ॥१३॥ इसलिये ये जितने भी जन्म, अस्ति, वृद्धि, परिणाम आदि भाव-विकार हैं, वे तुममें सर्वथा नहीं हैं । जब तुममें इनकी कल्पना कर ली जाती है, तब तुम इन विकारोंमें अनुगत जान पड़ते हो । कल्पनाकी निवृत्ति हो जानेपर तो निर्विकल्प परमार्थस्वरूप तुम्हीं तुम रह जाते हो ॥ १४ ॥ यह जगत् सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंका प्रवाह है; देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, सुख, दुःख और राग-लोभादि उन्हींके कार्य हैं । इनमें जो अज्ञानी तुम्हारा, सर्वात्माका सूक्ष्मस्वरूप नहीं जानते, वे अपने देहाभिमानरूप अज्ञानके कारण ही कर्मोंके फंदेमें फँसकर बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकते रहते हैं ॥ १५ ॥ परमेश्वर ! मुझे शुभ प्रारब्धके अनुसार इन्द्रियादिकी सामर्थ्यसे युक्त अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ । किन्तु तुम्हारी मायाके वश होकर मैं अपने सच्चे स्वार्थ-परमार्थसे ही असावधान हो गया और मेरी सारी आयु यों ही बीत गयी ॥१६॥ प्रभो ! यह शरीर मैं हूँ और इस शरीरके सम्बन्धी मेरे अपने हैं, इस अहंता एवं ममतारूप स्नेहकी फाँसीसे तुमने इस सारे जगत्को बाँध रक्खा है ॥ १७ ॥ मैं जानता हूँ कि तुम दोनों मेरे पुत्र नहीं हो, सम्पूर्ण प्रकृति और जीवोंके स्वामी हो । पृथ्वीके भारभूत राजाओंके नाशके लिये ही तुमने अवतार ग्रहण किया है । यह बात तुमने मुझसे कही भी थी ॥ १८ ॥ इसलिये दीनजनोंके हितैषी, शरणागतवत्सल ! मैं अब तुम्हारे चरणकमलोंकी शरणमें हूँ; क्योंकि वे ही शरणागतोंके संसारभयको मिटानेवाले हैं । अब इन्द्रियोंकी लोलुपतासे भर पाया ! इसीके कारण मैंने मृत्युके ग्रास इस शरीरमें आत्मबुद्धि कर ली और तुममें, जो कि परमात्मा हो, पुत्रबुद्धि ॥ १९ ॥

१. ये हि । २. क्षपणार्थाय । ३. ऽस्मि शर० ।

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ
संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।
नानातनूर्गगनवद् विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगायविभूतिमायाम् ॥२०॥

प्रभो ! तुमने प्रसव-गृहमें ही हमसे कहा था कि 'यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, फिर भी मैं अपनी ही बनायी हुई धर्म-मर्यादाकी रक्षा करनेके लिये प्रत्येक युगमें तुम दोनोंके द्वारा अवतार ग्रहण करता रहा हूँ ।' भगवन् ! तुम आकाशके समान अनेकों शरीर ग्रहण करते और छोड़ते रहते हो । वास्तवमें तुम अनन्त, एकरस सत्ता हो । तुम्हारी आश्चर्यमयी शक्ति योगमायाका रहस्य भला, कौन जान सकता है ? सब लोग तुम्हारी कीर्तिका ही गान करते रहते हैं ॥ २० ॥

श्रीशुक[1] उवाच

आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान् सात्वतर्षभः ।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥२१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! वसुदेवजीके ये वचन सुनकर यदुवंशशिरोमणि भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराने लगे । उन्होंने विनयसे झुककर मधुर वाणीसे कहा ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे ।
यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥२२॥
अहं यूयमसावार्य[2] इमे च द्वारकौकसः ।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृग्याः सचराचरम् ॥२३॥
आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥२४॥
खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि ॥२५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पिताजी ! हम तो आपके पुत्र ही हैं । हमें लक्ष्य करके आपने यह ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया है । हम आपकी एक-एक बात युक्तियुक्त मानते हैं ॥ २२ ॥ पिताजी ! आपलोग, मैं, भैया बलरामजी, सारे द्वारकावासी, सम्पूर्ण चराचर जगत्—सब-के-सब आपने जैसा कहा, वैसे ही हैं, सबको ब्रह्मरूप ही समझना चाहिये ॥ २३ ॥ पिताजी ! आत्मा तो एक ही है । परन्तु वह अपनेमें ही गुणोंकी सृष्टि कर लेता है और गुणोंके द्वारा बनाये हुए पञ्चभूतोंमें एक होनेपर भी अनेक, स्वयंप्रकाश होनेपर भी दृश्य, अपना स्वरूप होनेपर भी अपनेसे भिन्न, नित्य होनेपर भी अनित्य और निर्गुण होनेपर भी सगुणके रूपमें प्रतीत होता है ॥ २४ ॥ जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पञ्चमहाभूत अपने कार्य घट, कुण्डल आदिमें प्रकट-अप्रकट, बड़े-छोटे, अधिक-थोड़े, एक और अनेक-से प्रतीत होते हैं—परन्तु वास्तवमें सत्तारूपसे वे एक ही रहते हैं; वैसे ही आत्मामें भी उपाधियोंके भेदसे ही नानात्वकी प्रतीति होती है । इसलिये जो मैं हूँ, वही सब हैं—इस दृष्टिसे आपका कहना ठीक ही है ॥ २५ ॥

१. बादरायणिरुवाच । २. प्रियो ममाचार्य ।

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम् ।
श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् ॥२६॥
अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता ।
श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥२७॥
कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान् ।
स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंको सुनकर वसुदेवजीने नानात्व-बुद्धि छोड़ दी, वे आनन्दमें मग्न होकर वाणीसे मौन और मनसे निस्सङ्कल्प हो गये ॥ २६ ॥ कुरुश्रेष्ठ ! उस समय वहाँ सर्वदेवमयी देवकीजी भी बैठी हुई थीं वे बहुत पहलेसे ही यह सुनकर अत्यन्त विस्मित थीं कि श्रीकृष्ण और बलरामजीने अपने मरे हुए गुरुपुत्रको यमलोकसे वापस ला दिया ॥ २७ ॥ अब उन्हें अपने उन पुत्रोंकी याद आ गयी, जिन्हें कंसने मार डाला था। उनके स्मरणसे देवकीजीका हृदय आतुर हो गया, नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। उन्होंने बड़े ही करुण-स्वरसे श्रीकृष्ण और बलरामजीको सम्बोधित करके कहा ॥ २८ ॥

देवक्युवाच

राम रामाप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥२९॥
कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ किलाद्य मे ॥३०॥
यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥३१॥
चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा कालचोदितौ ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद् गुरवे गुरुदक्षिणाम् ॥३२॥
तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥३३॥

देवकीजीने कहा—लोकाभिराम राम ! तुम्हारी शक्ति मन और वाणीके परे है। श्रीकृष्ण ! तुम योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। मैं जानती हूँ कि तुम दोनों प्रजापतियोंके भी ईश्वर, आदिपुरुष नारायण हो ॥ २९ ॥ यह भी मुझे निश्चित रूपसे मालूम है कि जिन लोगोंने कालक्रमसे अपना धैर्य, संयम और सत्त्वगुण खो दिया है तथा शास्त्रकी आज्ञाओंका उल्लङ्घन करके जो स्वेच्छाचारपरायण हो रहे हैं, भूमिके भारभूत उन राजाओंका नाश करनेके लिये ही तुम दोनों मेरे गर्भसे अवतीर्ण हुए हो ॥ ३० ॥ विश्वात्मन् ! तुम्हारे पुरुषरूप अंशसे उत्पन्न हुई मायासे गुणोंकी उत्पत्ति होती है और उनके लेशमात्रसे जगत्की उत्पत्ति, विकास तथा प्रलय होता है। आज मैं सर्वान्तःकरणसे तुम्हारी शरण हो रही हूँ ॥ ३१ ॥ मैंने सुना है कि तुम्हारे गुरु सान्दीपनिजीके पुत्रको मरे बहुत दिन हो गये थे। उनको गुरुदक्षिणा देनेके लिये उनकी आज्ञा तथा कालकी प्रेरणासे तुम दोनोंने उनके पुत्रको यमपुरीसे वापस ला दिया ॥ ३२ ॥ तुम दोनों योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। इसलिये आज मेरी भी अभिलाषा पूर्ण करो। मैं चाहती हूँ कि तुम दोनों मेरे उन पुत्रोंको, जिन्हें कंसने मार डाला था, ला दो और उन्हें मैं भर आँख देख लूँ ॥ ३३ ॥

ऋषिरुवाच

एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ।
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ॥३४॥
तस्मिन् प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड्
विश्वात्मदैवं सुतरां तथाऽऽत्मनः ।
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः
सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः ॥३५॥
तयोः समानीय वरासनं मुदा
निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ।
दधार पादाववनिज्य तज्जलं
सवृन्द आब्रह्म पुनद् यदम्बु ह ॥३६॥
समर्हयामास स तौ विभूतिभि-
र्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।
ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः
स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च ॥३७॥
स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं
बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ।
उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम् ॥३८॥

बलिरुवाच

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥३९॥
दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ।
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥४०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित् ! माता देवकीजीकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंने योगमायाका आश्रय लेकर सुतल लोकमें प्रवेश किया ॥ ३४ ॥ जब दैत्यराज बलिने देखा कि जगत्के आत्मा और इष्टदेव तथा मेरे परम स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी सुतल लोकमें पधारे हैं, तब उनका हृदय उनके दर्शनके आनन्दमें निमग्न हो गया । उन्होंने झटपट अपने कुटुम्बके साथ आसनसे उठकर भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ३५ ॥ अत्यन्त आनन्दसे भरकर दैत्यराज बलिने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको श्रेष्ठ आसन दिया और जब वे दोनों महापुरुष उसपर विराज गये, तब उन्होंने उनके पाँव पखारकर उनका चरणोदक परिवारसहित अपने सिरपर धारण किया । परीक्षित् ! भगवान्के चरणोंका जल ब्रह्मापर्यन्त सारे जगत्को पवित्र कर देता है ॥ ३६ ॥ इसके बाद दैत्यराज बलिने बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण, चन्दन, ताम्बूल, दीपक, अमृतके समान भोजन एवं अन्य विविध सामग्रियोंसे उनकी पूजा की और अपने समस्त परिवार, धन तथा शरीर आदिको उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया ॥ ३७ ॥ परीक्षित् ! दैत्यराज बलि बार-बार भगवान्के चरणकमलोंको अपने वक्षःस्थल और सिरपर रखने लगे, उनका हृदय प्रेमसे विह्वल हो गया । नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे । रोम-रोम खिल उठा । अब वे गद्गद स्वरसे भगवान्की स्तुति करने लगे ॥ ३८ ॥

दैत्यराज बलिने कहा—बलरामजी ! आप अनन्त हैं । आप इतने महान् हैं कि शेष आदि सभी विग्रह आपके अन्तर्भूत हैं । सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! आप सकल जगत्के निर्माता हैं । ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनोंके प्रवर्तक आप ही हैं । आप स्वयं ही परब्रह्म परमात्मा हैं । हम आप दोनोंको बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ ३९ ॥ भगवन् ! आप दोनोंका दर्शन प्राणियोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है । फिर भी आपकी कृपासे वह सुलभ हो जाता है । क्योंकि आज आपने कृपा करके हम रजोगुणी एवं तमोगुणी स्वभाववाले

१. स उत्था० । २. स्रग्धूपदीपा० । ३. क्षरः । ४. महते । ५. चातिदु० ।

दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥४१॥
विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥४२॥
केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः ॥४३॥
इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥४४॥
तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्मत्-
पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः
शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि ॥४५॥
शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो ।
पुमान् यच्छ्रद्धयाऽऽतिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

आसन् मरीचेः षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ।
देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम् ॥४७॥
तेनासुरीमगन् योनिमधुनावद्यकर्मणा ।
हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥४८॥
देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिताः ।

दैत्योंको भी दर्शन दिया है ॥ ४० ॥ प्रभो ! हम और हमारे ही समान दूसरे दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत और प्रमथनायक आदि आपका प्रेमसे भजन करना तो दूर रहा, आपसे सर्वदा दृढ़ वैरभाव रखते हैं; परन्तु आपका श्रीविग्रह साक्षात् वेदमय और विशुद्ध सत्त्वस्वरूप है । इसलिये हमलोगोंमेंसे बहुतोंने दृढ़ वैरभावसे, कुछने भक्तिसे और कुछने कामनासे आपका स्मरण करके उस पदको प्राप्त किया है, जिसे आपके समीप रहनेवाले सत्त्वप्रधान देवता आदि भी नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ४१—४३ ॥ योगेश्वरोंके अधीश्वर ! बड़े-बड़े योगेश्वर भी प्रायः यह बात नहीं जानते कि आपकी योगमाया यह है और ऐसी है; फिर हमारी तो बात ही क्या है ? ॥ ४४ ॥ इसलिये स्वामी ! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी चित्त-वृत्ति आपके उन चरणकमलोंमें लग जाय, जिसे किसीकी अपेक्षा न रखनेवाले परमहंसलोग ढूँढ़ा करते हैं; और उनका आश्रय लेकर मैं उससे भिन्न इस घर-गृहस्थीके अँधेरे कूएँसे निकल जाऊँ । प्रभो ! इस प्रकार आपके उन चरणकमलोंकी, जो सारे जगत्के एकमात्र आश्रय हैं, शरण लेकर शान्त हो जाऊँ और अकेला ही विचरण करूँ । यदि कभी किसीका सङ्ग करना ही पड़े तो सबके परम हितैषी संतोंका ही ॥ ४५ ॥ प्रभो ! आप समस्त चराचर जगत्के नियन्ता और स्वामी हैं । आप हमें आज्ञा देकर निष्पाप बनाइये, हमारे पापोंका नाश कर दीजिये; क्योंकि जो पुरुष श्रद्धाके साथ आपकी आज्ञाका पालन करता है, वह विधि-निषेधके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'दैत्यराज ! स्वायम्भुव मन्वन्तरमें प्रजापति मरीचिकी पत्नी ऊर्णाके गर्भसे छः पुत्र उत्पन्न हुए थे। वे सभी देवता थे । वे यह देखकर कि ब्रह्माजी अपनी पुत्रीसे समागम करनेके लिये उद्यत हैं, हँसने लगे ॥ ४७ ॥ इस परिहासरूप अपराधके कारण उन्हें ब्रह्माजीने शाप दे दिया और वे असुर-योनिमें हिरण्यकशिपुके पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए । अब योगमायाने उन्हें वहाँसे लाकर देवकीके गर्भमें रख दिया और उनको उत्पन्न होते ही कंसने मार डाला। दैत्यराज !

सा ताञ्छोचत्यात्मजान् स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके॥४९॥
इत एतान् प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये।
ततः शापाद् विनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः॥५०॥
स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद् घृणी।
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम्॥५१॥
इत्युक्त्वा तान् समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ।
पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम्॥५२॥
तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः॥५३॥
अपाययत् स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुता।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते॥५४॥
पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः।
नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः॥५५॥
ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम्।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम्॥५६॥
तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम्।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप॥५७॥
एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥५८॥

अपने माता देवकीजी उन पुत्रोंके लिये अत्यन्त शोकातुर हो रही हैं और वे तुम्हारे पास हैं॥ ४८-४९॥ अतः हम अपनी माताका शोक दूर करनेके लिये इन्हें यहाँसे ले जायँगे। इसके बाद ये शापसे मुक्त हो जायँगे और आनन्दपूर्वक अपने लोकमें चले जायँगे॥ ५०॥ इनके छः नाम हैं—स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृत् और घृणि। इन्हें मेरी कृपासे पुनः सद्गति प्राप्त होगी'॥५१॥ परीक्षित्! इतना कहकर भगवान् श्रीकृष्ण चुप हो गये। दैत्यराज बलिने उनकी पूजा की; इसके बाद श्रीकृष्ण और बलरामजी बालकोंको लेकर फिर द्वारका लौट आये तथा माता देवकीको उनके पुत्र सौंप दिये॥ ५२॥ उन बालकोंको देखकर देवी देवकीके हृदयमें वात्सल्य-स्नेहकी बाढ़ आ गयी। उनके स्तनोंसे दूध बहने लगा। वे बार-बार उन्हें गोदमें लेकर छातीसे लगातीं और उनका सिर सूँघतीं॥ ५३॥ पुत्रोंके स्पर्शके आनन्दसे सराबोर एवं आनन्दित देवकीने उनको स्तन-पान कराया। वे विष्णुभगवान्‌की उस मायासे मोहित हो रही थीं, जिससे यह सृष्टि-चक्र चलता है॥ ५४॥ परीक्षित्! देवकीजीके स्तनोंका दूध साक्षात् अमृत था; क्यों न हो, भगवान् श्रीकृष्ण जो उसे पी चुके थे! उन बालकोंने वही अमृतमय दूध पिया। उस दूधके पीनेसे और भगवान् श्रीकृष्णके अङ्गोंका संस्पर्श होनेसे उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो गया॥ ५५॥ इसके बाद उन लोगोंने भगवान् श्रीकृष्ण, माता देवकी, पिता वसुदेव और बलरामजीको नमस्कार किया। तदनन्तर सबके सामने ही वे देवलोकमें चले गये॥ ५६॥ परीक्षित्! देवी देवकी यह देखकर अत्यन्त विस्मित हो गयीं कि मरे हुए बालक लौट आये और फिर चले भी गये। उन्होंने ऐसा निश्चय किया कि यह श्रीकृष्णका ही कोई लीला-कौशल है॥ ५७॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं परमात्मा हैं, उनकी शक्ति अनन्त है। उनके ऐसे-ऐसे अद्भुत चरित्र इतने हैं कि किसी प्रकार उनका पार नहीं पाया जा सकता॥ ५८॥

१. मृतोपमं तत्तु पीत्वा०।

सूत उवाच

य इदमनुशृणोति श्रावयेद् वा मुरारे-

श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।

जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं

भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम॥५९॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! भगवान् श्रीकृष्णकी कीर्ति अमर है, अमृतमयी है। उनका चरित्र जगत्के समस्त पाप-तापोंको मिटानेवाला तथा भक्तजनोंके कर्णकुहरोंमें आनन्दसुधा प्रवाहित करनेवाला है। इसका वर्णन स्वयं व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीने किया है। जो इसका श्रवण करता है अथवा दूसरेको सुनाता है, उसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति भगवान्में लग जाती है और वह उन्हींके परम कल्याणस्वरूप धामको प्राप्त होता है॥५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे मृताग्रजानयनं नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः॥८५॥

अथ षडशीतितमोऽध्यायः

सुभद्राहरण और भगवान्‌का मिथिलापुरीमें राजा जनक और श्रुतदेव ब्राह्मणके घर एक ही साथ जाना

राजोवाच

ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामः[2] स्वसारं रामकृष्णयोः।

यथोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही॥१॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! मेरे दादा अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीकी बहिन सुभद्राजीसे, जो मेरी दादी थीं, किस प्रकार विवाह किया? मैं यह जाननेके लिये बहुत उत्सुक हूँ॥१॥

श्रीशुक उवाच

अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः।

गतः प्रभासमशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः॥२॥

दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे।

तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात्॥३॥

तत्र[3] वै वार्षिकान् मासानवात्सीत् स्वार्थसाधकः।

पौरैः[4] सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः॥४॥

एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम्।

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! एक बार अत्यन्त शक्तिशाली अर्जुन तीर्थयात्राके लिये पृथ्वीपर विचरण करते हुए प्रभासक्षेत्र पहुँचे। वहाँ उन्होंने यह सुना कि बलरामजी मेरे मामाकी पुत्री सुभद्राका विवाह दुर्योधनके साथ करना चाहते हैं और वसुदेव, श्रीकृष्ण आदि उनसे इस विषयमें सहमत नहीं हैं। अब अर्जुनके मनमें सुभद्राको पानेकी लालसा जग आयी। वे त्रिदण्डी वैष्णवका वेष धारण करके द्वारका पहुँचे॥२-३॥ अर्जुन सुभद्राको प्राप्त करनेके लिये वहाँ वर्षाकालमें चार महीनेतक रहे। वहाँ पुरवासियों और बलरामजीने उनका खूब सम्मान किया। उन्हें यह पता न चला कि ये अर्जुन हैं॥४॥

एक दिन बलरामजीने आतिथ्यके लिये उन्हें निमन्त्रित किया और उनको वे अपने घर ले आये। त्रिदण्डी-

१. न्धे मृता०। २. मि। ३. तत्रावो। ४. मानिन्ये।

श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥ ५ ॥

वेषधारी अर्जुनको बलरामजीने अत्यन्त श्रद्धाके साथ भोजन-सामग्री निवेदित की और उन्होंने बड़े प्रेमसे भोजन किया ॥ ५ ॥

सोऽपश्यत्तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम्।
प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे ॥ ६ ॥

अर्जुनने भोजनके समय वहाँ विवाहयोग्य परम सुन्दरी सुभद्राको देखा। उसका सौन्दर्य बड़े-बड़े वीरोंका मन हरनेवाला था। अर्जुनके नेत्र प्रेमसे प्रफुल्लित हो गये। उनका मन उसे पानेकी आकाङ्क्षासे क्षुब्ध हो गया और उन्होंने उसे पत्नी बनानेका दृढ निश्चय कर लिया ॥ ६ ॥

सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयङ्गमम्।
हसन्ती व्रीडितापाङ्गी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥ ७ ॥

परीक्षित्! तुम्हारे दादा अर्जुन भी बड़े ही सुन्दर थे। उनके शरीरकी गठन, भाव-भङ्गी स्त्रियोंका हृदय स्पर्श कर लेती थी। उन्हें देखकर सुभद्राने भी मनमें उन्हींको पति बनानेका निश्चय किया। वह तनिक मुसकराकर लजीली चितवनसे उनकी ओर देखने लगी। उसने अपना हृदय उन्हें समर्पित कर दिया ॥ ७ ॥

तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः।
न लेभे शं भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ॥ ८ ॥

अब अर्जुन केवल उसीका चिन्तन करने लगे और इस बातका अवसर ढूँढ़ने लगे कि इसे कब हर ले जाऊँ। सुभद्राको प्राप्त करनेकी उत्कट कामनासे उनका चित्त चक्कर काटने लगा, उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ८ ॥

महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम्।
जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ॥ ९ ॥

एक बार सुभद्राजी देव-दर्शनके लिये रथपर सवार होकर द्वारका-दुर्गसे बाहर निकलीं। उसी समय महारथी अर्जुनने देवकी-वसुदेव और श्रीकृष्णकी अनुमतिसे सुभद्रा-का हरण कर लिया ॥ ९ ॥

रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान्।
विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव ॥ १० ॥

रथपर सवार होकर [illegible] अर्जुनने धनुष उठा लिया और जो सैनिक उन्हें [illegible] लिये आये, उन्हें मार-पीटकर भगा दिया। [illegible] निज-जन रोते-चिल्लाते रह गये और अर्जुन [illegible] सिंह अपना भाग लेकर चल देता है, वैसे ही [illegible] को लेकर चल पड़े ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः।
गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चानुशाम्यत ॥ ११ ॥

यह समाचार [illegible] बलरामजी बहुत बिगड़े। वे वैसे ही क्षुब्ध हो [illegible] पूर्णिमाके दिन समुद्र। परन्तु भगवान् [illegible] अन्य सुहृद्-सम्बन्धियोंने उनके [illegible] पकड़कर उन्हें [illegible] कुछ समझाया-बुझाया, तब वे शान्त हुए [illegible] ॥

प्राहिणोत् पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः।
महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः ॥ १२ ॥

इसके बाद बलरामजीने प्रसन्न होकर वर-वधूके लिये बहुत-सा धन, सामग्री, हाथी, रथ, घोड़े और दा[illegible] दास दहेजमें भेजे ॥ १२ ॥

१. सरक्षु०। २. श्चानुसान्त्वितः।

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः ।
कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः ॥१३॥

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी ।
अनीहयाऽऽगताहार्यनिर्वर्तितनिजक्रियः ॥१४॥

यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवादुपनमत्युत ।
नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः ॥१५॥

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः ।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥१६॥

तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाहृतं रथम् ।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभुः ॥१७॥

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः ।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ॥१८॥

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ।
उपतस्थुः सार्घ्यहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम् ॥१९॥

आनर्तधन्वकुरुजाङ्गलकङ्कमत्स्य-
पाञ्चालकुन्तिमधुकेकयकोसलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-
स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः ॥२०॥

तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः
क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! विदेहकी राजधानी मिथिलामें एक गृहस्थ ब्राह्मण थे। उनका नाम था श्रुतदेव। वे भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे। वे एकमात्र भगवद्भक्तिसे ही पूर्णमनोरथ, परम शान्त, ज्ञानी और विरक्त थे ॥१३॥ वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी किसी प्रकारका उद्योग नहीं करते थे; जो कुछ मिल जाता, उसीसे अपना निर्वाह कर लेते थे ॥ १४ ॥ प्रारब्धवश प्रतिदिन उन्हें जीवन-निर्वाहभरके लिये सामग्री मिल जाया करती थी, अधिक नहीं। वे उतनेसे ही सन्तुष्ट भी थे, और अपने वर्णाश्रमके अनुसार धर्मपालन-में तत्पर रहते थे ॥ १५ ॥ प्रिय परीक्षित् ! उस देशके राजा भी ब्राह्मणके समान ही भक्तिमान् थे। मैथिल-वंशके उन प्रतिष्ठित नरपतिका नाम था बहुलाश्व। उनमें अहङ्कारका लेश भी न था। श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनों ही भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे भक्त थे ॥ १६ ॥

एक बार भगवान् श्रीकृष्णने उन दोनोंपर प्रसन्न होकर दारुकसे रथ मँगवाया और उसपर सवार होकर द्वारकासे विदेह देशकी ओर प्रस्थान किया ॥ १७ ॥ भगवान्‌के साथ नारद, वामदेव, अत्रि, वेदव्यास, परशुराम, असित, आरुणि, मैं (शुकदेव), बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय, च्यवन आदि ऋषि भी थे ॥ १८ ॥ परीक्षित् ! वे जहाँ-जहाँ पहुँचते, वहाँ-वहाँकी नागरिक और ग्राम-वासी प्रजा पूजाकी सामग्री लेकर उपस्थित होती। पूजा करनेवालोंको भगवान् ऐसे जान पड़ते, मानो ग्रहोंके साथ साक्षात् सूर्यनारायण उदय हो रहे हों ॥ १९ ॥ परीक्षित् ! उस यात्रामें आनर्त, धन्व, कुरु-जांगल, कङ्क, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोसल, अर्ण आदि अनेक देशोंके नर-नारियोंने अपने नेत्ररूपी दोनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके उन्मुक्त हास्य और प्रेमभरी चितवनसे युक्त मुखारविन्दके मकरन्द-रसका पान किया ॥ २० ॥ त्रिलोकगुरु भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे उन लोगोंकी अज्ञानदृष्टि नष्ट हो गयी। प्रभु दर्शन करनेवाले नर-नारियोंको अपनी दृष्टिसे परम कल्याण और तत्त्वज्ञानका दान करते चल रहे थे। स्थान-स्थानपर मनुष्य और देवता

१. मत्स्यम् ।

शृण्वन् दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं
गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान् ॥२१॥
तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप।
अभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥२२॥
दृष्ट्वा त उत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः।
कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वांस्तथा मुनीन् ॥२३॥
स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम्।
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ॥२४॥
न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत् संहताञ्जली ॥२५॥
भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया।
उभयोराविशद् गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥२६॥
श्रोतुमप्यसतां दूरान् जनकः स्वगृहागतान्।
आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान् महामनाः ॥२७॥
प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्राविलेक्षणः।
नत्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥२८॥
सकुटुम्बो वहन् मूर्ध्ना पूजयाञ्चक्र ईश्वरान्।
गन्धमाल्याम्बराकल्पधूपदीपार्घ्यगोवृषैः ॥२९॥
वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान्।

भगवान्‌की उस कीर्तिका गान करके सुनाते, जो समस्त दिशाओंको उज्ज्वल बनानेवाली एवं समस्त अशुभोंका विनाश करनेवाली है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण धीरे-धीरे विदेह देशमें पहुँचे ॥ २१ ॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनका समाचार सुनकर नागरिक और ग्रामवासियोंके आनन्दकी सीमा न रही। वे अपने हाथोंमें पूजाकी विविध सामग्रियाँ लेकर उनकी अगवानी करने आये ॥ २२ ॥ भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करके उनके हृदय और मुखकमल प्रेम और आनन्दसे खिल उठे। उन्होंने भगवान्‌को तथा उन मुनियोंको, जिनका नाम केवल सुन रक्खा था, देखा न था—हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ २३ ॥ मिथिलानरेश बहुलाश्व और श्रुतदेवने, यह समझकर कि जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण हमलोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही पधारे हैं, उनके चरणोंपर गिरकर प्रणाम किया ॥ २४ ॥ बहुलाश्व और श्रुतदेव दोनोंने ही एक साथ हाथ जोड़कर मुनि-मण्डलीके सहित भगवान् श्रीकृष्णको आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये निमन्त्रित किया ॥ २५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार करके दोनोंको ही प्रसन्न करनेके लिये एक ही समय पृथक्-पृथक्‌रूपसे दोनोंके घर पधारे और यह बात एक-दूसरेको मालूम न हुई कि भगवान् श्रीकृष्ण मेरे घरके अतिरिक्त और कहीं भी जा रहे हैं ॥२६॥ विदेहराज बहुलाश्व बड़े मनस्वी थे; उन्होंने यह देखकर कि दुष्ट-दुराचारी पुरुष जिनका नाम भी नहीं सुन सकते, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण और ऋषि-मुनि मेरे घर पधारे हैं, सुन्दर-सुन्दर आसन मँगाये और भगवान् श्रीकृष्ण तथा ऋषि-मुनि आरामसे उनपर बैठ गये। उस समय बहुलाश्वकी विचित्र दशा थी। प्रेम-भक्तिके उद्रेकसे उनका हृदय भर आया था। नेत्रोंमें आँसू उमड़ रहे थे। उन्होंने अपने पूज्यतम अतिथियोंके चरणोंमें नमस्कार करके पाँव पखारे और अपने कुटुम्बके साथ उनके चरणोंका लोकपावन जल सिरपर धारण किया और फिर भगवान् एवं भगवत्स्वरूप ऋषियोंको गन्ध, माला, वस्त्र, अलङ्कार, धूप, दीप, अर्घ्य, गौ, बैल आदि समर्पित करके उनकी पूजा की ॥ २७-२९ ॥ जब सब लोग

१. नृपाः। २. प्रतीयु०। ३. प्यथ तान्।

पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशञ्छनकैर्मुदा ॥३०॥

राजोवाच

भवान् हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग् विभो ।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥३१॥
स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।
यदात्थैकान्तभक्तान् मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥३२॥
को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद् विसृजेत् पुमान् ।
निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥३३॥
योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥३४॥
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥३५॥
दिनानि कतिचिद् भूमन् गृहान् नो निवस द्विजैः ।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥३६॥
इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः ।
उवास कुर्वन् कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ॥३७॥

भोजन करके तृप्त हो गये, तब राजा बहुलाश्व भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको अपने गोदमें लेकर बैठ गये। और बड़े आनन्दसे धीरे-धीरे उन्हें सहलाते हुए बड़ी मधुर वाणीसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥ ३० ॥

राजा बहुलाश्वने कहा—'प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके आत्मा, साक्षी एवं स्वयंप्रकाश हैं। हम सदा-सर्वदा आपके चरणकमलोंका स्मरण करते रहते हैं। इसीसे आपने हमलोगोंको दर्शन देकर कृतार्थ किया है॥ ३१ ॥ भगवन्! आपके वचन हैं कि मेरा अनन्यप्रेमी भक्त मुझे अपने स्वरूप बलरामजी, अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी और पुत्र ब्रह्मासे भी बढ़कर प्रिय है। अपने उन वचनोंको सत्य करनेके लिये ही आपने हमलोगोंको दर्शन दिया है॥ ३२ ॥ भला, ऐसा कौन पुरुष है, जो आपकी इस परम दयालुता और प्रेम-परवशताको जानकर भी आपके चरणकमलोंका परित्याग कर सके? प्रभो! जिन्होंने जगत्‌की समस्त वस्तुओंका एवं शरीर आदिका भी मनसे परित्याग कर दिया है उन परम शान्त मुनियोंको आप अपने-तकको भी दे डालते हैं॥ ३३ ॥ आपने यदुवंशमें अवतार लेकर जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े हुए मनुष्योंको उससे मुक्त करनेके लिये जगत्‌में ऐसे विशुद्ध यशका विस्तार किया है, जो त्रिलोकीके पाप-तापको शान्त करनेवाला है॥ ३४ ॥ प्रभो! आप अचिन्त्य, अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यकी निधि हैं; सबके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये आप सच्चिदानन्द-स्वरूप श्यामब्रह्म हैं। आपका ज्ञान अनन्त है। परम शान्तिका विस्तार करनेके लिये आप ही नारायण ऋषिके रूपमें तपस्या कर रहे हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ३५ ॥ एकरस अनन्त! आप कुछ दिनोंतक मुनिमण्डलीके साथ हमारे यहाँ निवास कीजिये और अपने चरणोंकी धूलसे इस निमिवंशको पवित्र कीजिये'॥ ३६ ॥ परीक्षित्! सबके जीवनदाता भगवान् श्रीकृष्ण राजा बहुलाश्वकी यह प्रार्थना स्वीकार करके मिथिलावासी नर-नारियोंका कल्याण करते हुए कुछ दिनोंतक वहीं रहे॥ ३७ ॥

१. जीवाना०। २. जं वन्दित्वा विप्र०।

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा ।
नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त ह ॥३८॥
तृणपीठबृसीष्वेतानानीतेषूपवेश्य सः ।
स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन् सभार्योऽवनिजे मुदा ॥३९॥
तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।
स्नापयाञ्चक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥४०॥
फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि-
र्मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुजैः ।
आराधयामास यथोपपन्नया
सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा ॥४१॥
स तर्कयामास कुतो ममान्वभूद्
गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः ।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः
कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ॥४२॥
सूपविष्टान् कृतातिथ्याञ्छ्रुतदेव उपस्थितः ।
सभार्यस्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः ॥४३॥

श्रुतदेव उवाच

नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥४४॥
यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।

प्रिय परीक्षित् ! जैसे राजा बहुलाश्व भगवान् श्रीकृष्ण और मुनि-मण्डलीके पधारनेपर आनन्दमग्न हो गये थे; वैसे ही श्रुतदेव ब्राह्मण भी भगवान् श्रीकृष्ण और मुनियोंको अपने घर आया देखकर आनन्दविह्वल हो गये; वे उन्हें नमस्कार करके अपने वस्त्र उछाल-उछालकर नाचने लगे ॥ ३८ ॥ श्रुतदेवने चटाई, पीढ़े और कुशासन बिछाकर उनपर भगवान् श्रीकृष्ण और मुनियोंको बैठाया, स्वागत-भाषण आदिके द्वारा उनका अभिनन्दन किया तथा अपनी पत्नीके साथ बड़े आनन्दसे सबके पाँव पखारे ॥ ३९ ॥ परीक्षित् ! महान् सौभाग्यशाली श्रुतदेवने भगवान् और ऋषियोंके चरणोदकसे अपने घर और कुटुम्बियोंको सींच दिया। इस समय उनके सारे मनोरथ पूर्ण हो गये थे। वे हर्षातिरेकसे मतवाले हो रहे थे ॥ ४० ॥ तदनन्तर उन्होंने फल, गन्ध, खससे सुवासित निर्मल एवं मधुर जल, सुगन्धित मिट्टी, तुलसी, कुश, कमल आदि अनायास-प्राप्त पूजा-सामग्री और सत्त्वगुण बढ़ानेवाले अन्नसे सबकी आराधना की ॥ ४१ ॥ उस समय श्रुतदेवजी मन-ही-मन तर्कना करने लगे कि 'मैं तो घर-गृहस्थीके अँधेरे कूएँमें गिरा हुआ हूँ, अभागा हूँ; मुझे भगवान् श्रीकृष्ण और उनके निवासस्थान ऋषि-मुनियोंका, जिनके चरणोंकी धूल ही समस्त तीर्थोंको तीर्थ बनानेवाली है, समागम कैसे प्राप्त हो गया ? ॥ ४२ ॥ जब सब लोग आतिथ्य स्वीकार करके आरामसे बैठ गये, तब श्रुतदेव अपने स्त्री-पुत्र तथा अन्य सम्बन्धियोंके साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुए। वे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्पर्श करते हुए कहने लगे ॥ ४३ ॥

श्रुतदेवने कहा—प्रभो ! आप व्यक्त-अव्यक्तरूप प्रकृति और जीवोंसे परे पुरुषोत्तम हैं। मुझे आपने आज ही दर्शन दिया हो, ऐसी बात नहीं है। आप तो तभीसे सब लोगोंसे मिले हुए हैं, जबसे आपने अपनी शक्तियोंके द्वारा इस जगत्की रचना करके आत्मसत्ताके रूपसे इसमें प्रवेश किया है ॥ ४४ ॥ जैसे सोया

१. वेद्मयन्। २. मालया। ३. यदिदं।

सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥४५॥

शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम् ।

नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥४६॥

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।

आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम्॥४७॥

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने

अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।

सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे

स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥४८॥

स त्वं शाधि स्वभृत्यान् नः किं देव करवामहे[2] ।

एतदन्तो नृणां क्लेशो यद् भवानक्षिगोचरः ॥४९॥

श्रीशुक उवाच

तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान् प्रणतार्तिहा ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह ॥५०॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्ध्यमून् मुनीन् ।

हुआ पुरुष स्वप्नावस्थामें अविद्यावश मन-ही-मन स्वप्न-जगत्‌की सृष्टि कर लेता है और उसमें स्वयं उपस्थित होकर अनेक रूपोंमें अनेक कर्म करता हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही आपने अपनेमें ही अपनी मायासे जगत्‌की रचना कर ली है और अब इसमें प्रवेश करके अनेकों रूपोंसे प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ४५ ॥ जो लोग सर्वदा आपकी लीलाकथाका श्रवण-कीर्तन तथा आपकी प्रतिमाओंका अर्चन-वन्दन करते हैं और आपसमें आपकी ही चर्चा करते हैं, उनका हृदय शुद्ध हो जाता है और आप उसमें प्रकाशित हो जाते हैं ॥ ४६ ॥ जिन लोगोंका चित्त लौकिक-वैदिक आदि कर्मोंकी वासनासे बहिर्मुख हो रहा है, उनके हृदयमें रहनेपर भी आप उनसे बहुत दूर हैं। किन्तु जिन लोगोंने आपके गुणगानसे अपने अन्तःकरणको सद्गुणसम्पन्न बना लिया है, उनके लिये चित्तवृत्तियोंसे अग्राह्य होनेपर भी आप अत्यन्त निकट हैं ॥ ४७ ॥ प्रभो ! जो लोग आत्मतत्त्वको जाननेवाले हैं, उनके आत्माके रूपमें ही आप स्थित हैं और जो शरीर आदिको ही अपना आत्मा मान बैठे हैं, उनके लिये आप अनात्माको प्राप्त होनेवाली मृत्युके रूपमें हैं। आप महत्तत्त्व आदि कार्यद्रव्य और प्रकृतिरूप कारणके नियामक हैं—शासक हैं। आपकी माया आपकी अपनी दृष्टिपर पर्दा नहीं डाल सकती, किन्तु उसने दूसरोंकी दृष्टिको ढक रक्खा है। आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४८ ॥ स्वयंप्रकाश प्रभो ! हम आपके सेवक हैं। हमें आज्ञा दीजिये कि हम आपकी क्या सेवा करें ? नेत्रोंके द्वारा आपका दर्शन होनेतक ही जीवोंके क्लेश रहते हैं। आपके दर्शनमें ही समस्त क्लेशोंकी परिसमाप्ति है ॥ ४९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! शरणागत-भयहारी भगवान् श्रीकृष्णने श्रुतदेवकी प्रार्थना सुनकर अपने हाथसे उनका हाथ पकड़ लिया और मुसकराते हुए कहा ॥ ५० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय श्रुतदेव ! ये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तुमपर अनुग्रह करनेके लिये ही यहाँ

१. चाभि० । २. ते ।

सञ्चरन्ति मया लोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः ॥५१॥
देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥५२॥
ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥५३॥
न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥५४॥
दुष्प्रज्ञा अविदित्वैनमवजानन्त्यसूयवः ।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥५५॥
चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥५६॥
तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयार्चय ।
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥५७॥

श्रीशुक[1] उवाच

स इत्थं प्रभुणाऽऽदिष्टः सहकृष्णान् द्विजोत्तमान् ।
आराध्यैकात्मभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम् ॥५८॥
एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान् ।

पधारे हैं। ये अपने चरणकमलोंकी धूलसे लोगों और लोकोंको पवित्र करते हुए मेरे साथ विचरण कर रहे हैं ॥ ५१ ॥ देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो दर्शन, स्पर्श, अर्चन आदिके द्वारा धीरे-धीरे बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं; परन्तु संत पुरुष अपनी दृष्टिसे ही सबको पवित्र कर देते हैं। यही नहीं; देवता आदिमें जो पवित्र करनेकी शक्ति है, वह भी उन्हें संतोंकी दृष्टिसे ही प्राप्त होती है ॥ ५२ ॥ श्रुतदेव! जगत्‌में ब्राह्मण जन्मसे ही सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ हैं। यदि वह तपस्या, विद्या, सन्तोष और मेरी उपासना—मेरी भक्तिसे युक्त हो तब तो कहना ही क्या है ॥५३॥ मुझे अपना यह चतुर्भुजरूप भी ब्राह्मणोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय नहीं है। क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय है और मैं सर्वदेवमय हूँ ॥ ५४ ॥ दुर्बुद्धि मनुष्य इस बातको न जानकर केवल मूर्ति आदिमें ही पूज्यबुद्धि रखते हैं और गुणोंमें दोष निकालकर मेरे स्वरूप जगद्गुरु ब्राह्मणका, जो कि उनका आत्मा ही है, तिरस्कार करते हैं ॥ ५५ ॥ ब्राह्मण मेरा साक्षात्कार करके अपने चित्तमें यह निश्चय कर लेता है कि यह चराचर जगत्, इसके सम्बन्धकी सारी भावनाएँ और इसके कारण प्रकृति-महत्तत्त्वादि सब-के-सब आत्मस्वरूप भगवान्‌के ही रूप हैं ॥ ५६ ॥ इसलिये श्रुतदेव! तुम इन ब्रह्मर्षियोंको मेरा ही स्वरूप समझकर पूरी श्रद्धासे इनकी पूजा करो। यदि तुम ऐसा करोगे, तब तो तुमने साक्षात् अनायास ही मेरा पूजन कर लिया, नहीं तो बड़ी-बड़ी बहुमूल्य सामग्रियोंसे भी मेरी पूजा नहीं हो सकती ॥ ५७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णका यह आदेश प्राप्त करके श्रुतदेवने भगवान् श्रीकृष्ण और उन ब्रह्मर्षियोंकी एकात्मभावसे आराधना की तथा उनकी कृपासे वे भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो गये। राजा बहुलाश्वने भी वही गति प्राप्त की ॥ ५८ ॥ प्रिय परीक्षित्! जैसे भक्त भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंकी भक्ति करते हैं। वे अपने

१. बादरायणिरुवाच।

उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥५९॥

दोनों भक्तोंको प्रसन्न करनेके लिये कुछ दिनोंतक मिथिलापुरीमें रहे और उन्हें साधु पुरुषोंके मार्गका उपदेश करके वे द्वारका लौट आये ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रुतदेवानुग्रहो नाम षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

अथ सप्ताशीतितमोऽध्यायः

वेदस्तुति

परीक्षिदुवाच[1]

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—भगवन् ! ब्रह्म कार्य और कारणसे सर्वथा परे है । सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण उसमें हैं ही नहीं । मन और वाणीसे सङ्केतरूपमें भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता । दूसरी ओर समस्त श्रुतियोंका विषय गुण ही है । (वे जिस विषयका वर्णन करती हैं उसके गुण, जाति, क्रिया अथवा रूढिका ही निर्देश करती हैं) ऐसी स्थितिमें श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन किस प्रकार करती हैं ? क्योंकि निर्गुण वस्तुका स्वरूप तो उनकी पहुँचके परे है ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच[2]

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! (भगवान् सर्वशक्तिमान् और गुणोंके निधान हैं । श्रुतियाँ स्पष्टतः सगुणका ही निरूपण करती हैं, परन्तु विचार करनेपर उनका तात्पर्य निर्गुण ही निकलता है । विचार करनेके लिये ही) भगवान्ने जीवोंके लिये बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणोंकी सृष्टि की है । इनके द्वारा वे स्वेच्छासे अर्थ, धर्म, काम अथवा मोक्षका अर्जन कर सकते हैं । (प्राणोंके द्वारा जीवन-धारण, श्रवणादि इन्द्रियोंके द्वारा महावाक्य आदिका श्रवण, मनके द्वारा मनन और बुद्धिके द्वारा निश्चय करनेपर श्रुतियोंके तात्पर्य निर्गुण स्वरूपका साक्षात्कार हो सकता है । इसलिये श्रुतियाँ सगुणका प्रतिपादन करनेपर भी वस्तुतः निर्गुण परक हैं)॥ २ ॥

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।

ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद्का यही स्वरूप है । इसे पूर्वजोंके भी पूर्वज सनकादि ऋषियोंने आत्मनिश्चयके द्वारा धारण किया है ।

[1] विष्णुरात उवाच । [2] ऋषिरुवाच ।

श्रद्धया धारयेद् यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥ ३ ॥

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ४ ॥

जो भी मनुष्य इसे श्रद्धापूर्वक धारण करता है, वह बन्धनके कारण समस्त उपाधियों—अनात्मभावोंसे मुक्त होकर अपने परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥ इस विषयमें मैं तुम्हें एक गाथा सुनाता हूँ। उस गाथाके साथ स्वयं भगवान् नारायणका सम्बन्ध है। वह गाथा देवर्षि नारद और ऋषिश्रेष्ठ नारायणका संवाद है ॥ ४ ॥

एकदा नारदो लोकान् पर्यटन् भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥ ५ ॥
यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥ ६ ॥
तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥ ७ ॥
तस्मै ह्यवोचद् भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥

एक समयकी बात है, भगवान्‌के प्यारे भक्त देवर्षि नारदजी विभिन्न लोकोंमें विचरण करते हुए सनातन-ऋषि भगवान् नारायणका दर्शन करनेके लिये बदरिकाश्रम गये ॥५॥ भगवान् नारायण मनुष्योंके अभ्युदय (लौकिक कल्याण) और परम निःश्रेयस (भगवत्स्वरूप अथवा मोक्षकी प्राप्ति) के लिये इस भारतवर्षमें कल्पके प्रारम्भसे ही धर्म, ज्ञान और संयमके साथ महान् तपस्या कर रहे हैं ॥ ६ ॥ परीक्षित्! एक दिन वे कलापग्रामवासी सिद्ध ऋषियोंके बीचमें बैठे हुए थे। उस समय नारदजीने उन्हें प्रणाम करके बड़ी नम्रतासे वही प्रश्न पूछा, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो ॥ ७ ॥ भगवान् नारायणने ऋषियोंकी उस भरी सभामें नारदजीको उनके प्रश्नका उत्तर दिया और वह कथा सुनायी, जो पूर्वकालीन जनलोकनिवासियोंमें परस्पर वेदोंके तात्पर्य और ब्रह्मके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार करते समय कही गयी थी ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत् पुरा ।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ९ ॥
श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।
तत्र हायमभूत् प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि ॥१०॥
तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।

भगवान् नारायणने कहा—नारदजी! प्राचीन कालकी बात है। एक बार जनलोकमें वहाँ रहनेवाले ब्रह्माके मानस पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनक, सनन्दन, सनातन आदि परमर्षियोंका ब्रह्मसत्र (ब्रह्मविषयक विचार या प्रवचन) हुआ था ॥ ९ ॥ उस समय तुम मेरी श्वेतद्वीपाधिपति अनिरुद्ध-मूर्तिका दर्शन करनेके लिये श्वेतद्वीप चले गये थे। उस समय वहाँ उस ब्रह्मके सम्बन्धमें बड़ी ही सुन्दर चर्चा हुई थी, जिसके विषयमें श्रुतियाँ भी मौन धारण कर लेती हैं, स्पष्ट वर्णन न करके तात्पर्यरूपसे लक्षित कराती हुई उसीमें सो जाती हैं। उस ब्रह्मसत्रमें यही प्रश्न उपस्थित किया गया था, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो ॥ १० ॥ सनक, सनन्दन, सनातन,

अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥११॥

सनत्कुमार—ये चारों भाई शास्त्रीय ज्ञान, तपस्या और शील-स्वभावमें समान हैं। उन लोगोंकी दृष्टिमें शत्रु, मित्र और उदासीन एक-से हैं। फिर भी उन्होंने अपनेमेंसे सनन्दनको तो वक्ता बना लिया और शेष भाई सुननेके इच्छुक बनकर बैठ गये ॥ ११ ॥

सनन्दन उवाच

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ।

तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥१२॥

यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।

प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥१३॥

सनन्दनजीने कहा—जिस प्रकार प्रातःकाल होनेपर सोते हुए सम्राट्को जगानेके लिये अनुजीवी बंदीजन उसके पास आते हैं और सम्राट्के पराक्रम तथा सुयशका गान करके उसे जगाते हैं, वैसे ही जब परमात्मा अपने बनाये हुए सम्पूर्ण जगत्को अपनेमें लीन करके अपनी शक्तियोंके सहित सोये रहते हैं; तब प्रलयके अन्तमें श्रुतियाँ उनका प्रतिपादन करनेवाले वचनोंसे उन्हें इस प्रकार जगाती हैं ॥ १२-१३ ॥

श्रुतय ऊचुः

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां

त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।

अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते

क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥१४॥

श्रुतियाँ कहती हैं—अजित ! आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं, आपपर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता। आपकी जय हो, जय हो ! प्रभो ! आप स्वभावसे ही समस्त ऐश्वर्योंसे पूर्ण हैं, इसलिये चराचर प्राणियोंको फँसानेवाली मायाका नाश कर दीजिये। प्रभो ! इस गुणमयी मायाने दोषके लिये—जीवोंके आनन्दादिमय सहज स्वरूपका आच्छादन करके उन्हें बन्धनमें डालनेके लिये ही सत्त्वादि गुणोंको ग्रहण किया है। जगत्में जितनी भी साधना, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ हैं, उन सबको जगानेवाले आप ही हैं। इसलिये आपके मिटाये बिना यह माया मिट नहीं सकती। (इस विषयमें यदि प्रमाण पूछा जाय, तो आपकी श्वासभूता श्रुतियाँ ही—हम ही प्रमाण हैं।) यद्यपि हम आपका स्वरूपतः वर्णन करनेमें असमर्थ हैं, परन्तु जब कभी आप मायाके द्वारा जगत्की सृष्टि करके सगुण हो जाते हैं या उसको निषेध करके स्वरूपस्थितिकी लीला करते हैं अथवा अपना सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीविग्रह प्रकट करके क्रीडा करते हैं, तभी हम यत्किञ्चित् आपका वर्णन करनेमें समर्थ होती हैं ॥ १४ ॥* इसमें सन्देह नहीं कि हमारे

---

* इन श्लोकोंपर श्रीश्रीधरस्वामीने बहुत सुन्दर श्लोक लिखे हैं; वे अर्थसहित यहाँ दिये जाते हैं—

जयजयाजित जह्यगजङ्गमावृतिमजामुपनीतमृषागुणान् ।

न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यमी निगमगीतगुणार्णवता तव ॥ १ ॥

अजित ! आपकी जय हो, जय हो ! झूठे गुण धारण करके चराचर जीवको आच्छादित करनेवाली इस मायाको नष्ट

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥१५॥

द्वारा इन्द्र, वरुण आदि देवताओंका भी वर्णन किया जाता है, परन्तु हमारे (श्रुतियोंके) सारे मन्त्र अथवा सभी मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रतीत होनेवाले इस सम्पूर्ण जगत्‌को ब्रह्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं। क्योंकि जिस समय यह सारा जगत् नहीं रहता, उस समय भी आप बच रहते हैं। जैसे घट, शराव (मिट्टीका प्याला—कसोरा) आदि सभी विकार मिट्टीसे ही उत्पन्न और उसीमें लीन होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलय आपमें ही होती है। तब क्या आप पृथ्वीके समान विकारी हैं? नहीं-नहीं, आप तो एकरस—निर्विकार हैं। इसीसे तो यह जगत् आपमें उत्पन्न नहीं, प्रतीत है। इसलिये जैसे घट, शराव आदिका वर्णन भी मिट्टीका ही वर्णन है, वैसे ही इन्द्र, वरुण आदि देवताओंका वर्णन भी आपका ही वर्णन है। यही कारण है कि विचारशील ऋषि, मनसे जो कुछ सोचा जाता है और वाणीसे जो कुछ कहा जाता है, उसे आपमें ही स्थित, आपका ही स्वरूप देखते हैं। मनुष्य अपना पैर चाहे कहीं भी रक्खे—ईंट, पत्थर या काठपर—होगा वह पृथ्वीपर ही; क्योंकि वे सब पृथ्वीस्वरूप ही हैं। इसलिये हम चाहे जिस नामया जिस रूपका वर्णन करें, वह आपका ही नाम, आपका ही रूप है *॥ १५ ॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।

भगवन्! लोग सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंकी मायासे बने हुए अच्छे-बुरे भावों या अच्छी-बुरी क्रियाओंमें उलझ जाया करते हैं, परन्तु आप तो उस माया-नटीके स्वामी, उसको नचानेवाले हैं। इसीलिये विचारशील पुरुष आपकी लीलाकथाके अमृतसागरमें गोते लगाते रहते हैं और इस प्रकार अपने सारे पाप-तापको धो-बहा देते हैं। क्यों न हो, आपकी लीला-कथा सभी जीवोंके

कर दीजिये। आपके बिना बेचारे जीव इसको नहीं मार सकेंगे—नहीं पार कर सकेंगे। वेद इस बातका गान करते रहते हैं कि आप सकल सद्गुणोंके समुद्र हैं ॥ १ ॥

* द्रुहिणवह्निरवीन्द्रमुखामरा जगदिदं न भवेत्पृथगुत्थितम् ।
बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरजस्त्वमुरुमूर्तिरतो विनिगद्यसे ॥ २ ॥

ब्रह्मा, अग्नि, सूर्य, इन्द्र आदि देवता तथा यह सम्पूर्ण जगत् प्रतीत होनेपर भी आपसे पृथक् नहीं है। इसलिये अनेक देवताओंका प्रतिपादन करनेवाले वेद-मन्त्र उन देवताओंके नामसे पृथक्-पृथक् आपकी ही विभिन्न मूर्तियोंका वर्णन करते हैं। वस्तुतः आप अजन्मा हैं; उन मूर्तियोंके रूपमें भी आपका जन्म नहीं होता ॥ २ ॥

किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥१६॥
दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१७॥

मायामलको नष्ट करनेवाली जो है। पुरुषोत्तम ! जिन महापुरुषोंने आत्मज्ञानके द्वारा अन्तःकरणके रागद्वेष आदि और शरीरके कालकृत जरा-मरण आदि दोष मिटा दिये हैं और निरन्तर आपके उस स्वरूपकी अनुभूतिमें मग्न रहते हैं, जो अखण्ड आनन्दस्वरूप हैं, उन्होंने अपने पाप-तापोंको सदाके लिये शान्त, भस्म कर दिया है—इसके विषयमें तो कहना ही क्या है * ॥ १६ ॥ भगवन् ! प्राणधारियोंके जीवनकी सफलता इसीमें है कि वे आपका भजन-सेवन करें, आपकी आज्ञाका पालन करें; यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनका जीवन व्यर्थ है और उनके शरीरमें श्वासका चलना ठीक वैसा ही है, जैसा लुहारकी धौंकनीमें हवाका आना-जाना। महत्तत्त्व, अहङ्कार आदिने आपके अनुग्रहसे—आपके उनमें प्रवेश करनेपर ही इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि की है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँचों कोशोंमें पुरुषरूपसे रहनेवाले, उनमें 'मैं-मैं' की स्फूर्ति करनेवाले भी आप ही हैं ! आपके ही अस्तित्वसे उन कोशोंके अस्तित्वका अनुभव होता है और उनके न रहनेपर भी अन्तिम अवधिरूपसे आप विराजमान रहते हैं। इस प्रकार सबमें अन्वित और सबकी अवधि होनेपर भी आप असंग ही हैं। क्योंकि वास्तवमें जो कुछ वृत्तियोंके द्वारा अस्ति अथवा नास्तिके रूपमें अनुभव होता है, उन समस्त कार्य-कारणोंसे आप परे हैं। 'नेति-नेति' के द्वारा इन सबका निषेध हो जानेपर भी आप ही शेष रहते हैं, क्योंकि आप उस निषेधके भी साक्षी हैं और वास्तवमें आप ही एकमात्र सत्य हैं। (इसलिये आपके भजनके बिना जीवका जीवन व्यर्थ ही है; क्योंकि वह इस महान् सत्यसे वञ्चित है) † ॥ १७ ॥

---

* सकलवेदगणेरितसद्गुणस्त्वमिति सर्वमनीषिजना रताः ।
त्वयि सुभद्रगुणश्रवणादिभिस्तव पदस्मरणेन गतक्लमाः ॥ ३ ॥

सारे वेद आपके सद्गुणोंका वर्णन करते हैं। इसलिये संसारके सभी विद्वान् आपके मङ्गलमय कल्याणकारी गुणोंके श्रवण, स्मरण आदिके द्वारा आपसे ही प्रेम करते हैं और आपके चरणोंका स्मरण करके सम्पूर्ण क्लेशोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

† नरवपुः प्रतिपद्य यदि त्वयि श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः ।
नरहरे ! न भजन्ति नृणामिदं दृतिवदुच्छ्वसितं विफलं ततः ॥ ४ ॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः

परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।

तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं

पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१८॥

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया

तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।

अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं

विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥१९॥

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं

तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ।

ऋषियोंने आपकी प्राप्तिके लिये अनेकों मार्ग माने हैं। उनमें जो स्थूल दृष्टिवाले हैं, वे मणिपूरक चक्रमें अग्निरूपसे आपकी उपासना करते हैं। अरुणवंशके ऋषि समस्त नाड़ियोंके निकलनेके स्थान हृदयमें आपके परम सूक्ष्मस्वरूप दहर ब्रह्मकी उपासना करते हैं। प्रभो! हृदयसे ही आपको प्राप्त करनेका श्रेष्ठ मार्ग सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्रतक गयी हुई है। जो पुरुष उस ज्योतिर्मय मार्गको प्राप्त कर लेता है और उससे ऊपरकी ओर बढ़ता है, वह फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ता * ॥ १८ ॥ भगवन्! आपने ही देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि योनियाँ बनायी हैं। सदा-सर्वत्र सब रूपोंमें आप हैं ही, इसलिये कारणरूपसे प्रवेश न करनेपर भी आप ऐसे जान पड़ते हैं, मानो उसमें प्रविष्ट हुए हों। साथ ही विभिन्न आकृतियोंका अनुकरण करके कहीं उत्तम, तो कहीं अधमरूपसे प्रतीत होते हैं, जैसे आग छोटी-बड़ी लकड़ियों और कर्मोंके अनुसार प्रचुर अथवा अल्प परिमाणमें या उत्तम-अधमरूपमें प्रतीत होती है। इसलिये संत पुरुष लौकिक-पारलौकिक कर्मोंकी दूकानदारीसे, उनके फलोंसे विरक्त हो जाते हैं और अपनी निर्मल बुद्धिसे सत्य-असत्य, आत्मा-अनात्माको पहचानकर जगत्के झूठे रूपोंमें नहीं फँसते; आपके सर्वत्र एकरस, समभावसे स्थित सत्य-स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं † ॥ १९ ॥

प्रभो! जीव जिन शरीरोंमें रहता है, वे उसके कर्मके द्वारा निर्मित होते हैं और वास्तवमें उन शरीरोंके कार्य-कारणरूप आवरणोंसे वह रहित है, क्योंकि वस्तुतः उन आवरणोंकी सत्ता ही नहीं है। तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि समस्त शक्तियोंको धारण करनेवाले आपका ही वह स्वरूप है। स्वरूप होनेके कारण अंश

नरहरे! मनुष्य-शरीर प्राप्त करके यदि जीव आपके श्रवण, वर्णन और संस्मरण आदिके द्वारा आपका भजन नहीं करते तो जीवोंका श्वास लेना धौंकनीके समान ही सर्वथा व्यर्थ है ॥ ४ ॥

* उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः ।
हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे ॥ ५ ॥

मनुष्य ऋषि-मुनियोंके द्वारा बतलायी हुई पद्धतियोंसे उदर आदि स्थानोंमें जिनका चिन्तन करते हैं और जो प्रभु उनके चिन्तन करनेपर मृत्यु-भयका नाश कर देते हैं, उन हृदयदेशमें विराजमान प्रभुकी हम उपासना करते हैं ॥ ५ ॥

† स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम् ।
सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तं भजामहे ॥ ६ ॥

इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥२०॥
दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥२१॥
त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव-
च्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च।

न होनेपर भी उसे अंश कहते हैं और निर्मित न होनेपर भी निर्मित कहते हैं। इसीसे बुद्धिमान् पुरुष जीवके वास्तविक स्वरूपपर विचार करके परम विश्वासके साथ आपके चरणकमलोंकी उपासना करते हैं। क्योंकि आपके चरण ही समस्त वैदिक कर्मोंके समर्पणस्थान और मोक्षस्वरूप हैं* ॥ २० ॥ भगवन्! परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। उसीका ज्ञान करानेके लिये आप विविध प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा ऐसी लीला करते हैं, जो अमृतके महासागरसे भी मधुर और मादक होती है। जो लोग उसका सेवन करते हैं, उनकी सारी थकावट दूर हो जाती है, वे परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं। कुछ प्रेमी भक्त तो ऐसे होते हैं, जो आपकी लीला-कथाओंको छोड़कर मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करते - स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या है। वे आपके चरण-कमलोंके प्रेमी परमहंसोंके सत्संगमें, जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं कि उसके लिये इस जीवनमें प्राप्त अपनी घर-गृहस्थीका भी परित्याग कर देते हैं† ॥ २१ ॥

प्रभो! यह शरीर आपकी सेवाका साधन होकर जब आपके पथका अनुरागी हो जाता है, तब आत्मा, हितैषी, सुहृद् और प्रिय व्यक्तिके समान आचरण करता है। आप जीवके सच्चे हितैषी, प्रियतम और आत्मा ही हैं और सदा-सर्वदा जीवको अपनानेके लिये तैयार भी रहते हैं। इतनी सुगमता होनेपर तथा अनुकूल मानव-शरीरको पाकर भी लोग सख्यभाव आदिके द्वारा आपकी उपासना नहीं करते, आपमें नहीं रमते, बल्कि

अपनेद्वारा निर्मित सम्पूर्ण कार्योंमें जो न्यूनाधिक श्रेष्ठ-कनिष्ठके भावसे रहित एवं सबमें भरपूर है, इस रूपमें अनुभवमें आनेवाली निर्विशेष सत्ताके रूपमें स्थित हैं, उन भगवान्का हम भजन करते हैं ॥ ६ ॥

* त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम्।
त्वदङ्घ्रिसेवामादिश्य परानन्द निवर्तय ॥ ७ ॥

मेरे परमानन्दस्वरूप स्वामी! मैं आपका अंश हूँ। अपने चरणोंकी सेवाका आदेश देकर अपनी मायाके द्वारा निर्मित मेरे बन्धनको निवृत्त कर दो ॥ ७ ॥

† त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥ ८ ॥

कोई-कोई विरले शुद्धान्तःकरण महापुरुष आपके अमृतमय कथा-समुद्रमें विहार करते हुए परमानन्दमें मग्न रहते हैं और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको तृणके समान तुच्छ बना देते हैं।

न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥२२॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥२३॥

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।

इस विनाशी और असत् शरीर तथा उसके सम्बन्धियोंमें ही रम जाते हैं, उन्हींकी उपासना करने लगते हैं और इस प्रकार अपने आत्माका हनन करते हैं, उसे अधोगतिमें पहुँचाते हैं। भला, यह कितने कष्टकी बात है! इसका फल यह होता है कि उनकी सारी वृत्तियाँ, सारी वासनाएँ शरीर आदिमें ही लग जाती हैं और फिर उनके अनुसार उनको पशु-पक्षी आदिके न जाने कितने बुरे-बुरे शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं और इस प्रकार अत्यन्त भयावह जन्म-मृत्युरूप संसारमें भटकना पड़ता है * ॥ २२ ॥ प्रभो! बड़े-बड़े विचारशील योगी-यति अपने प्राण, मन और इन्द्रियोंको वशमें करके दृढ़ योगाभ्यासके द्वारा हृदयमें आपकी उपासना करते हैं। परन्तु आश्चर्यकी बात तो यह है कि उन्हें जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसीकी प्राप्ति उन शत्रुओंको भी हो जाती है, जो आपसे वैर-भाव रखते हैं। क्योंकि स्मरण तो वे भी करते ही हैं। कहाँतक कहें, भगवन्! वे स्त्रियाँ, जो अज्ञानवश आपको परिच्छिन्न मानती हैं और आपकी शेषनागके समान मोटी, लंबी तथा सुकुमार भुजाओंके प्रति कामभावसे आसक्त रहती हैं, जिस परम पदको प्राप्त करती हैं, वही पद हम श्रुतियोंको भी प्राप्त होता है—यद्यपि हम आपको सदा-सर्वदा एकरस अनुभव करती हैं और आपके चरणारविन्दका मकरन्द-रस पान करती रहती हैं। क्यों न हो, आप समदर्शी जो हैं। आपकी दृष्टिमें उपासकके परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न भावमें कोई अन्तर नहीं है† ॥ २३ ॥

भगवन्! आप अनादि और अनन्त हैं। जिसका जन्म और मृत्यु कालसे सीमित है, वह भला, आपको कैसे जान सकता है। स्वयं ब्रह्माजी, निवृत्तिपरायण सनकादि तथा प्रवृत्तिपरायण मरीचि आदि भी बहुत पीछे आपसे ही उत्पन्न हुए हैं। जिस समय आप सबको समेटकर सो जाते हैं, उस समय ऐसा कोई साधन नहीं रह जाता, जिससे उनके साथ ही सोया

---

* त्वय्यात्मनि जगन्नाथे मन्मनो रमतामिह ।
कदा ममेदृशं जन्म मानुषं सम्भविष्यति ॥ ९ ॥

आप जगत्के स्वामी हैं और अपनी आत्मा ही हैं। इस जीवनमें ही मेरा मन आपमें रम जाय। मेरे स्वामी! मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा जब मुझे इस प्रकारका मनुष्य-जन्म प्राप्त होगा!

† चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव सुदुर्लभम् ।
यथाकथञ्चिन्नृहरे मम भूयादहर्निशम् ॥ १० ॥

तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥२४॥
जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥२५॥
सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः ।

हुआ जीव आपको जान सके। क्योंकि उस समय न तो आकाशादि स्थूल जगत् रहता है और न तो महत्तत्त्वादि सूक्ष्म जगत्। इन दोनोंसे बने हुए शरीर और उनके निमित्त क्षण-मुहूर्त आदि कालके अंग भी नहीं रहते। उस समय कुछ भी नहीं रहता। यहाँतक कि शास्त्र भी आपमें ही समा जाते हैं (ऐसी अवस्थामें आपको जाननेकी चेष्टा न करके आपका भजन करना ही सर्वोत्तम मार्ग है।) * ॥ २४ ॥ प्रभो! कुछ लोग मानते हैं कि असत् जगत्‌की उत्पत्ति होती है और कुछ लोग कहते हैं कि सत्-रूप दुःखोंका नाश होनेपर मुक्ति मिलती है। दूसरे लोग आत्माको अनेक मानते हैं, तो कई लोग कर्मके द्वारा प्राप्त होनेवाले लोक और परलोक-रूप व्यवहारको सत्य मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी बातें भ्रममूलक हैं और वे आरोप करके ही ऐसा उपदेश करते हैं। पुरुष त्रिगुणमय है—इस प्रकारका भेदभाव केवल अज्ञानसे ही होता है और आप अज्ञानसे सर्वथा परे हैं। इसलिये ज्ञानस्वरूप आपमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है† ॥ २५ ॥

यह त्रिगुणात्मक जगत् मनकी कल्पनामात्र है। केवल यही नहीं, परमात्मा और जगत्‌से पृथक् प्रतीत होनेवाला पुरुष भी कल्पनामात्र ही है। इस प्रकार वास्तवमें असत् होनेपर भी अपने सत्य अधिष्ठान आपकी सत्ताके कारण यह सत्य-सा प्रतीत हो रहा है। इसलिये भोक्ता, भोग्य और दोनोंके सम्बन्धको सिद्ध करनेवाली इन्द्रियाँ

देव! आपके चरणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण अत्यन्त दुर्लभ है। चाहे जैसे-कैसे भी हो, नृसिंह! मुझे तो आपके चरणोंका स्मरण दिन-रात बना रहे।

* क्वाहं बुद्ध्यादिसंरुद्धः क्व च भूमन्महस्तव।
दीनबन्धो दयासिन्धो भक्तिं मे नृहरे दिश ॥ ११ ॥

अनन्त! कहाँ बुद्धि आदि परिछिन्न उपाधियोंसे घिरा हुआ मैं और कहाँ आपका मन, वाणी आदिके अगोचर-स्वरूप! (आपका ज्ञान तो बहुत ही कठिन है) इसलिये दीनबन्धु, दयासिन्धु! नरहरि देव! मुझे तो अपनी भक्ति ही दीजिये।

† मिथ्यातर्कसुकर्कशेरितमहावादान्धकारान्तर-
भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वज्ज्ञानवर्त्मास्फुटम्।
श्रीमन्माधव वामन त्रिनयन श्रीशङ्कर श्रीपते
गोविन्देति मुदा वदन् मधुपते मुक्तः कदा स्यामहम् ॥ १२ ॥

अनन्त महिमाशाली प्रभो! जो मन्दमति पुरुष झूठे तर्कोंके द्वारा प्रेरित अत्यन्त कर्कश वाद-विवादके घोर अन्धकारमें भटक रहे हैं, उनके लिये आपके ज्ञानका मार्ग स्पष्ट सूझना सम्भव नहीं है। इसलिये मेरे जीवनमें ऐसी सौभाग्यकी घड़ी कब आवेगी कि मैं श्रीमन्माधव, वामन, त्रिलोचन, श्रीशङ्कर, श्रीपते, गोविन्द, मधुपते—इस प्रकार आपको आनन्दमें भरकर पुकारता हुआ मुक्त हो जाऊँगा।

न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥२६॥

आदि जितना भी जगत् है, सबको आत्मज्ञानी पुरुष आत्मरूपसे सत्य ही मानते हैं। सोनेसे बने हुए कड़े, कुण्डल आदि स्वर्णरूप ही तो हैं; इसलिये उनको इस रूपमें जाननेवाला पुरुष उन्हें छोड़ता नहीं, वह समझता है कि यह भी सोना है। इसी प्रकार यह जगत् आत्मामें ही कल्पित, आत्मासे ही व्याप्त है; इसलिये आत्मज्ञानी पुरुष इसे आत्मरूप ही मानते हैं* ॥ २६ ॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः॥२७॥

भगवन्! जो लोग यह समझते हैं कि आप समस्त प्राणियों और पदार्थोंके अधिष्ठान हैं, सबके आधार हैं और सर्वात्मभावसे आपका भजन-सेवन करते हैं, वे मृत्युको तुच्छ समझकर उसके सिरपर लात मारते हैं अर्थात् उसपर विजय प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग आपसे विमुख हैं, वे चाहे जितने बड़े विद्वान् हों, उन्हें आप कर्मोंका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे पशुओंके समान बाँध लेते हैं। इसके विपरीत जिन्होंने आपके साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़ रक्खा है, वे न केवल अपनेको बल्कि दूसरोंको भी पवित्र कर देते हैं—जगत्के बन्धनसे छुड़ा देते हैं। ऐसा सौभाग्य भला, आपसे विमुख लोगोंको कैसे प्राप्त हो सकता है † ॥ २७ ॥

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।

प्रभो! आप मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि करणों-से—चिन्तन, कर्म आदिके साधनोंसे सर्वथा रहित हैं। फिर भी आप समस्त अन्तःकरण और बाह्य करणोंकी शक्तियोंसे सदा-सर्वदा सम्पन्न हैं। आप स्वतःसिद्ध ज्ञान-वान्, स्वयंप्रकाश हैं; अतः कोई काम करनेके लिये आपको इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं है। जैसे छोटे-छोटे राजा अपनी-अपनी प्रजासे कर लेकर स्वयं अपने सम्राट्को कर देते हैं, वैसे ही मनुष्योंके पूज्य देवता

* यत्सत्त्वतः सदाभाति जगदेतदसत् स्वतः।
सदाभासमसत्यस्मिन् भगवन्तं भजाम तम्॥ १३॥

यह जगत् अपने स्वरूप, नाम और आकृतिके रूपमें असत् है, फिर भी जिस अधिष्ठान-सत्ताकी सत्यतासे यह सत्य जान पड़ता है तथा जो इस असत्य प्रपञ्चमें सत्यके रूपसे सदा प्रकाशमान रहता है, उस भगवान्का हम भजन करते हैं।

† तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥ १४॥

लोक पञ्चाग्नि आदि तापोंसे तप्त हों, पर्वतसे गिरकर आत्मघात कर लें, तीर्थोंका पर्यटन करें, वेदोंका पाठ करें, यज्ञोंके द्वारा यजन करें अथवा भिन्न-भिन्न मतवादोंके द्वारा आपसमें विवाद करें, परन्तु भगवान्के बिना इस मृत्युमय संसार-सागरसे पार नहीं जाते।

वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो

विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥२८॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो

विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।

न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्

वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥२९॥

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-

स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।

और देवताओंके पूज्य ब्रह्मा आदि भी अपने अधिकृत प्राणियोंसे पूजा स्वीकार करते हैं और मायाके अधीन होकर आपकी पूजा करते रहते हैं। वे इस प्रकार आपकी पूजा करते हैं कि आपने जहाँ जो कर्म करनेके लिये उन्हें नियुक्त कर दिया है, वे आपसे भयभीत रहकर वहीं वह काम करते रहते हैं*॥ २८ ॥ नित्यमुक्त! आप मायातीत हैं; फिर भी जब अपने ईक्षणमात्रसे—सङ्कल्पमात्रसे मायाके साथ क्रीडा करते हैं, तब आपका संकेत पाते ही जीवोंके सूक्ष्म शरीर और उनके सुप्त कर्म-संस्कार जग जाते हैं और चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। प्रभो! आप परम दयालु हैं। आकाशके समान सबमें सम होनेके कारण न तो कोई आपका अपना है और न तो पराया। वास्तवमें तो आपके स्वरूपमें मन और वाणीकी गति ही नहीं है। आपमें कार्य-कारणरूप प्रपञ्चका अभाव होनेसे बाह्य दृष्टिसे आप शून्यके समान ही जान पड़ते हैं; परन्तु उस दृष्टिके भी अधिष्ठान होनेके कारण आप परम सत्य हैं† ॥ २९ ॥

भगवन्! आप नित्य एकरस हैं। यदि जीव असंख्य हों और सब-के-सब नित्य एवं सर्वव्यापक हों, तब तो वे आपके समान ही हो जायँगे; उस हालतमें वे शासित हैं और आप शासक—यह बात बन ही नहीं सकती, और तब आप उनका नियन्त्रण कर ही नहीं सकते। उनका नियन्त्रण आप तभी कर सकते हैं, जब वे आपसे उत्पन्न एवं आपकी अपेक्षा न्यून हों। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब-के-सब जीव तथा इनकी एकता या विभिन्नता आपसे ही उत्पन्न हुई है। इसलिये आप

* अनिन्द्रियोऽपि यो देवः सर्वकारकशक्तिधृक्।
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम्॥ १५ ॥

जो प्रभु इन्द्रियरहित होनेपर भी समस्त बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियकी शक्तिको धारण करता है और सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता है, उस सबके सेवनीय प्रभुको मैं नमस्कार करता हूँ।

† त्वदीक्षणवशक्षोभमायाबोधितकर्मभिः।
जातान् संसरतः खिन्नान्नृहरे पाहि नः पितः॥ १६ ॥

नृसिंह! आपके दृष्टि-सङ्कल्पसे क्षुब्ध होकर मायाने कर्मोंको जाग्रत् कर दिया है। उन्हींके कारण हमलोगोंका जन्म हुआ और अब आवागमनके चक्करमें भटककर हम दुःखी हो रहे हैं। पिताजी! आप हमारी रक्षा कीजिये।

अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
समममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥३०॥

उनमें कारणरूपसे रहते हुए भी उनके नियामक हैं। वास्तवमें आप उनमें समरूपसे स्थित हैं। परन्तु यह जाना नहीं जा सकता कि आपका वह स्वरूप कैसा है। क्योंकि जो लोग ऐसा समझते हैं कि हमने जान लिया, उन्होंने वास्तवमें आपको नहीं जाना; उन्होंने तो केवल अपनी बुद्धिके विषयको जाना है, जिससे आप परे हैं; और साथ ही मतिके द्वारा जितनी वस्तुएँ जानी जाती हैं, वे मतियोंकी भिन्नताके कारण भिन्न-भिन्न होती हैं; इसलिये उनकी दुष्टता, एक मतके साथ दूसरे मतका विरोध प्रत्यक्ष ही है। अतएव आपका स्वरूप समस्त मतोंके परे है* ॥ ३० ॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥३१॥

स्वामिन्! जीव आपसे उत्पन्न होता है, यह कहनेका ऐसा अर्थ नहीं है कि आप परिणामके द्वारा जीव बनते हैं। सिद्धान्त तो यह है कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अजन्मा हैं। अर्थात् उनका वास्तविक स्वरूप—जो आप हैं—कभी वृत्तियोंके अंदर उतरता नहीं, जन्म नहीं लेता। तब प्राणियोंका जन्म कैसे होता है? अज्ञानके कारण प्रकृतिको पुरुष और पुरुषको प्रकृति समझ लेनेसे, एकका दूसरेके साथ संयोग हो जानेसे जैसे 'बुलबुला' नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, परन्तु उपादान-कारण जल और निमित्त-कारण वायुके संयोगसे उसकी सृष्टि हो जाती है। प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृतिका अध्यास (एकमें दूसरेकी कल्पना) हो जानेके कारण ही जीवोंके विविध नाम और गुण रख लिये जाते हैं। अन्तमें जैसे समुद्रमें नदियाँ और मधुमें समस्त पुष्पोंके रस समा जाते हैं, वैसे ही वे सब-के-सब उपाधिरहित आपमें समा जाते हैं, (इसलिये जीवोंकी भिन्नता और उनका पृथक् अस्तित्व आपके द्वारा नियन्त्रित है। उनकी पृथक् स्वतन्त्रता और सर्वव्यापकता आदि वास्तविक सत्यको न जाननेके कारण ही मानी जाती है)† ॥ ३१ ॥

* अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीतः श्रुत्या युक्त्या चैवमेवावसेयः।
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्नृसिंहः श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे ॥ १७ ॥

श्रुतिने समस्त दृश्यप्रपञ्चके अन्तर्यामीके रूपमें जिनका गान किया है, और युक्तिसे भी वैसा ही निश्चय होता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और नृसिंह—पुरुषोत्तम हैं, उन्हीं सर्वसौन्दर्य-माधुर्यनिधि प्रभुका मैं मन-ही-मन आश्रय ग्रहण करता हूँ।

† यस्मिन्नुद्यद् विलयमपि यद् भाति विश्वं लयादौ
जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे।
अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत्सिन्धुमध्ये
मध्येचित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम् ॥ १८ ॥

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद् भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥

भगवन् ! सभी जीव आपकी मायासे भ्रममें भटक रहे हैं, अपनेको आपसे पृथक् मानकर जन्म-मृत्युका चक्कर काट रहे हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष इस भ्रमको समझ लेते हैं और सम्पूर्ण भक्तिभावसे आपकी शरण ग्रहण करते हैं, क्योंकि आप जन्म-मृत्युके चक्करसे छुड़ानेवाले हैं। यद्यपि शीत, ग्रीष्म और वर्षा—इन तीन भागोंवाला कालचक्र आपका भ्रूविलासमात्र है, वह सभीको भयभीत करता है, परन्तु वह उन्हींको बार-बार भयभीत करता है, जो आपकी शरण नहीं लेते। जो आपके शरणागत भक्त हैं, उन्हें भला, जन्म-मृत्युरूप संसारका भय कैसे हो सकता है ?* ॥३२॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥३३॥

अजन्मा प्रभो ! जिन योगियोंने अपनी इन्द्रियों और प्राणोंको वशमें कर लिया है, वे भी, जब गुरुदेवके चरणोंकी शरण न लेकर उच्छृङ्खल एवं अत्यन्त चञ्चल मन-तुरंगको अपने वशमें करनेका यत्न करते हैं, तब अपने साधनोंमें सफल नहीं होते। उन्हें बार-बार खेद और सैकड़ों विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दुःख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है, जैसी समुद्रमें बिना कर्णधार-की नावपर यात्रा करनेवाले व्यापारियोंकी होती है। (तात्पर्य यह है कि जो मनको वशमें करना चाहते हैं, उनके लिये कर्णधार—गुरुकी अनिवार्य आवश्यकता है) † ॥ ३३ ॥

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।

भगवन् ! आप अखण्ड-आनन्दस्वरूप और शरणागतोंके आत्मा हैं। आपके रहते स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, महल, पृथ्वी, प्राण और रथ आदिसे क्या प्रयोजन है ? जो लोग इस सत्य सिद्धान्तको न जानकर स्त्री-पुरुषके सम्बन्धसे होनेवाले सुखोंमें ही रम रहे हैं, उन्हें

जीवोंके सहित यह सम्पूर्ण विश्व जिनमें उदय होता है और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें विलयको प्राप्त होता है तथा भान होता है, गुरुदेवकी करुणा प्राप्त होनेपर जब शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है, तब समुद्रमें नदीके समान सहसा यह जिनमें आत्यन्तिक प्रलयको प्राप्त हो जाता है, उन्हीं त्रिभुवनगुरु नृसिंह भगवान्‌की मैं अपने हृदयमें भावना करता हूँ।

* संसारचक्रक्रकचैर्विदीर्णमुदीर्णनानाभवतापतप्तम् ।
कथञ्चिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे नृलोकम् ॥ १९ ॥

नृसिंह ! यह जीव संसार-चक्रके आरेसे टुकड़े-टुकड़े हो रहा है और नाना प्रकारके सांसारिक पापोंकी धधकती हुई लपटोंसे झुलस रहा है। यह आपत्तिग्रस्त जीव किसी प्रकार आपकी कृपासे आपकी शरणमें आया है। आप इसका उद्धार कीजिये।

† यदा परानन्दगुरो भवत्पदे पदं मनो मे भगवँल्लभेत ।
तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपातः ॥ २० ॥

इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥३४॥

संसारमें भला, ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सुखी कर सके। क्योंकि संसारकी सभी वस्तुएँ स्वभावसे ही विनाशी हैं, एक-न-एक दिन मटियामेट हो जानेवाली हैं। और तो क्या, वे स्वरूपसे ही सारहीन और सत्ताहीन हैं; वे भला, क्या सुख दे सकती हैं*॥३४॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥३५॥

भगवन्! जो ऐश्वर्य, लक्ष्मी, विद्या, जाति, तपस्या आदिके घमंडसे रहित हैं, वे संतपुरुष इस पृथ्वीतलपर परम पवित्र और सबको पवित्र करनेवाले पुण्यमय सच्चे तीर्थ-स्थान हैं। क्योंकि उनके हृदयमें आपके चरणारविन्द सर्वदा विराजमान रहते हैं और यही कारण है कि उन संत पुरुषोंका चरणामृत समस्त पापों और तापोंको सदाके लिये नष्ट कर देनेवाला है। भगवन्! आप नित्य-आनन्दस्वरूप आत्मा ही हैं। जो एक बार भी आपको अपना मन समर्पित कर देते हैं—आपमें मन लगा देते हैं—वे उन देह-गेहोंमें कभी नहीं फँसते जो जीवके विवेक, वैराग्य, धैर्य, क्षमा और शान्ति आदि गुणोंका नाश करनेवाले हैं। वे तो बस, आपमें ही रम जाते हैं†॥ ३५॥

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।

भगवन्! जैसे मिट्टीसे बना हुआ घड़ा मिट्टीरूप ही होता है, वैसे ही सत्से बना हुआ जगत् भी सत् ही है—यह बात युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि कारण और कार्यका निर्देश ही उनके भेदका द्योतक है। यदि केवल भेदका निषेध करनेके लिये ही ऐसा कहा जा रहा हो तो पिता और पुत्रमें, दण्ड और घटनाशमें कार्य-कारण-भाव होनेपर भी वे एक दूसरेसे भिन्न हैं। इस प्रकार कार्य-कारणकी एकता सर्वत्र एक-सी नहीं देखी जाती। यदि कारण-शब्दसे निमित्त-कारण न लेकर केवल उपादान-कारण लिया जाय—जैसे कुण्डलका सोना—तो भी कहीं-कहीं कार्यकी असत्यता प्रमाणित होती है; जैसे रस्सीमें साँप। यहाँ उपादान-कारणके सत्य होनेपर भी उसका कार्य सर्प सर्वथा असत्य है। यदि यह कहा जाय कि प्रतीत होनेवाले सर्पका उपादान-

परमानन्दमय गुरुदेव! भगवन्! जब मेरा मन आपके चरणोंमें स्थान प्राप्त कर लेगा, तब मैं आपकी कृपासे समस्त साधनोंके परिश्रमसे छुटकारा पाकर परमानन्द प्राप्त करूँगा।

* भजतां हि भवान् साक्षात्परमानन्दचिद्घनः।
आत्मैव किमतः कृत्यं तुच्छदारसुतादिभिः॥ २१॥

जो आपका भजन करते हैं, उनके लिये आप स्वयं साक्षात् परमानन्दचिद्घन आत्मा ही हैं। इसलिये उन्हें तुच्छ स्त्री, पुत्र, धन आदिसे क्या प्रयोजन है?

† मुञ्चन्नङ्गतदङ्गसङ्गमनिशं त्वामेव सञ्चिन्तयन्
सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तानाश्रमानावसन्।

व्यवहृतये विकल्प

इषितोऽन्धपरम्परया

भ्रमयति भारती त

उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥३६॥

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-

दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।

कारण केवल रस्सी नहीं है, उसके साथ अविद्याका—भ्रमका मेल भी है, तो यह समझना चाहिये कि अविद्या और सत् वस्तुके संयोगसे ही इस जगत्की उत्पत्ति हुई है। इसलिये जैसे रस्सीमें प्रतीत होनेवाला सर्प मिथ्या है, वैसे ही सत् वस्तुमें अविद्याके संयोगसे प्रतीत होनेवाला नाम-रूपात्मक जगत् भी मिथ्या है। यदि केवल व्यवहारकी सिद्धिके लिये ही जगत्की सत्ता अभीष्ट हो, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि वह पारमार्थिक सत्य न होकर केवल व्यावहारिक सत्य है। यह भ्रम व्यावहारिक जगत्में माने हुए कालकी दृष्टिसे अनादि है; और अज्ञानीजन बिना विचार किये पूर्व-पूर्वके भ्रमसे प्रेरित होकर अन्धपरम्परासे इसे मानते चले आ रहे हैं। ऐसी स्थितिमें कर्मफलको सत्य बतलानेवाली श्रुतियाँ केवल उन्हीं लोगोंको भ्रममें डालती हैं, जो कर्ममें जड हो रहे हैं और यह नहीं समझते कि इनका तात्पर्य कर्मफलकी नित्यता बतलानेमें नहीं, बल्कि उनकी प्रशंसा करके उन कर्मोंमें लगानेमें है *॥ ३६ ॥ भगवन्! वास्तविक बात तो यह है कि यह जगत् उत्पत्तिके पहले नहीं था और प्रलयके बाद नहीं रहेगा; इससे यह सिद्ध होता है कि यह बीचमें भी एकरस परमात्मामें मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। इसीसे हम श्रुतियाँ इस जगत्का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि जैसे मिट्टीमें घड़ा, लोहेमें

नित्यं तन्मुखपङ्कजाद्विगलितत्वत्पुण्यगाथामृत-

स्रोतःसम्प्लवसंप्लुतो नरहरे न स्यामहं देहभृत् ॥२२॥

मैं शरीर और उसके सम्बन्धियोंकी आसक्ति छोड़कर रात-दिन आपका ही चिन्तन करूँगा और जहाँ-जहाँ निरभिमान सन्त निवास करते हैं, उन्हीं-उन्हीं आश्रमोंमें रहूँगा। उन सत्पुरुषोंके मुख-कमलसे निःसृत आपकी पुण्यमयी कथा-सुधाकी नदियोंकी धारामें प्रतिदिन स्नान करूँगा और नृसिंह! फिर मैं कभी देहके बन्धनमें नहीं पड़ूँगा।

* उद्भूतं भवतः सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्पः स्रजः

कुर्वत् कार्यमपीह कूटकनकं वेदोऽपि नैवंपरः ।

अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा

वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत हरे मा मुञ्च मामानतम् ॥ २३ ॥

मालामें प्रतीयमान सर्पके समान सत्यस्वरूप आपके उदय होनेपर भी यह त्रिभुवन सत्य नहीं है। झूठा सोना बाजारमें चल जानेपर भी सत्य नहीं हो जाता। वेदोंका तात्पर्य भी जगत्की सत्यतामें नहीं है। इसलिये आपका जो परम सत्य परमानन्दस्वरूप अद्वैत सुन्दर पद है, हे इन्दिरावन्दित श्रीहरे! मैं उसीकी वन्दना करता हूँ। मुझ शरणागतको मत छोड़िये।

अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥

मिट्टी और सोनेमें कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तवमें मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं। वैसे ही परमात्मामें वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मनकी कल्पना है। इसे नासमझ मूर्ख ही सत्य मानते हैं*।३७।

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः॥३८॥

भगवन्! जब जीव मायासे मोहित होकर अविद्याको अपना लेता है, उस समय उसके स्वरूपभूत आनन्दादि गुण ढक जाते हैं, वह गुणजन्य वृत्तियों, इन्द्रियों और देहोंमें फँस जाता है तथा उन्हींको अपना आपा मानकर उनकी सेवा करने लगता है। अब उनकी जन्म-मृत्युमें अपनी जन्म-मृत्यु मानकर उनके चक्करमें पड़ जाता है। परन्तु प्रभो! जैसे साँप अपने केंचुलसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, उसे छोड़ देता है—वैसे ही आप माया—अविद्यासे कोई सम्बन्ध नहीं रखते, उसे सदा-सर्वदा छोड़े रहते हैं। इसीसे आपके सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सदा-सर्वदा आपके साथ रहते हैं। अणिमा आदि अष्टसिद्धियोंसे युक्त परमैश्वर्यमें आपकी स्थिति है। इसीसे आपका ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य अपरिमित है, अनन्त है; वह देश, काल और वस्तुओंकी सीमासे आबद्ध नहीं है†॥ ३८॥

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः।

भगवन्! यदि मनुष्य योगी-यति होकर भी अपने हृदयकी विषय-वासनाओंको उखाड़ नही फेंकते तो उन असाधकोंके लिये आप हृदयमें रहनेपर भी वैसे ही दुर्लभ हैं, जैसे कोई अपने गलेमें मणि पहने हुए हो, परन्तु उसकी याद न रहनेपर उसे ढूँढ़ता फिरे इधर-उधर। जो साधक अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे रहते हैं, विषयोंसे विरत नहीं होते, उन्हें जीवनभर और जीवनके बाद

* मुकुटकुण्डलकङ्कणकिङ्किणीपरिणतं कनकं परमार्थतः।
महदहङ्कृतिखप्रमुखं तथा नरहरे न परं परमार्थतः॥ २४॥

सोना मुकुट, कुण्डल, कङ्कण और किङ्किणीके रूपमें परिणत होनेपर भी वस्तुतः सोना ही है। इसी प्रकार नृसिंह! महत्तत्त्व, अहङ्कार और आकाश, वायु आदिके रूपमें उपलब्ध होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः आपसे भिन्न नहीं है।

† नृत्यन्ती तव वीक्षणाङ्गणगता कालस्वभावादिभि-
र्भावान् सत्त्वरजस्तमोगुणमयानुन्मीलयन्ती बहून्।
मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं सम्मर्दयन्त्यातुरं
माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय॥ २५॥

प्रभो! आपकी यह माया आपकी दृष्टिके आँगनमें आकर नाच रही है और काल, स्वभाव आदिके द्वारा सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी अनेकानेक भावोंका प्रदर्शन कर रही है। साथ ही यह मेरे सिरपर सवार होकर मुझ आतुरको बलपूर्वक रौंद रही है। नृसिंह! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप ही इसे रोक दीजिये।

असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः ॥३९॥

भी दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है। क्योंकि वे साधक नहीं, दम्भी हैं। एक तो अभी उन्हें मृत्युसे छुटकारा नहीं मिला है, लोगोंको रिझाने, धन कमाने आदिके क्लेश उठाने पड़ रहे हैं, और दूसरे आपका स्वरूप न जाननेके कारण अपने धर्म-कर्मका उल्लङ्घन करनेसे परलोकमें नरक आदि प्राप्त होनेका भय भी बना ही रहता है* ॥ ३९ ॥

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४०॥

भगवन्! आपके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाला पुरुष आपके दिये हुए पुण्य और पाप-कर्मोंके फल सुख एवं दुःखोंको नहीं जानता, नहीं भोगता; वह भोग्य और भोक्तापनके भावसे ऊपर उठ जाता है। उस समय विधिनिषेधके प्रतिपादक शास्त्र भी उससे निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि वे देहाभिमानियोंके लिये हैं। उनकी ओर तो उसका ध्यान ही नहीं जाता। जिसे आपके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ है, वह भी यदि प्रतिदिन आपकी प्रत्येक युगमें की हुई लीलाओं, गुणोंका गान सुन-सुनकर उनके द्वारा आपको अपने हृदयमें बैठा लेता है तो अनन्त, अचिन्त्य, दिव्य गुणगणोंके निवासस्थान प्रभो! आपका वह प्रेमी भक्त भी पाप-पुण्योंके फल सुख-दुःखों और विधि-निषेधोंसे अतीत हो जाता है। क्योंकि आप ही उनकी मोक्षस्वरूप गति हैं। (परन्तु इन ज्ञानी और प्रेमियोंको छोड़कर और सभी शास्त्रबन्धनमें हैं तथा वे उसका उल्लङ्घन करनेपर दुर्गतिको प्राप्त होते हैं) † ॥४०॥

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।

भगवन्! स्वर्गादि लोकोंके अधिपति इन्द्र, ब्रह्मा प्रभृति भी आपकी थाह—आपका पार न पा सके; और आश्चर्यकी बात तो यह है कि आप भी उसे नहीं जानते। क्योंकि जब अन्त है ही नहीं, तब कोई जानेगा कैसे? प्रभो! जैसे आकाशमें हवासे धूलके नन्हे-नन्हे कण उड़ते रहते हैं, वैसे ही आपमें कालके वेगसे

* दम्भन्यासमिषेण वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं
सम्मुह्यन्तमहर्निशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम्।
आज्ञालङ्घिनमज्ञमज्ञजनतासम्माननासन्मदं
दीनानाथ दयानिधान परमानन्द प्रभो पाहि माम्॥ २६ ॥

प्रभो! मैं दम्भपूर्ण संन्यासके बहाने लोगोंको ठग रहा हूँ। एकमात्र भोगकी चिन्तासे ही आतुर हूँ तथा रात-दिन नाना प्रकारके उद्योगोंकी रचनाकी थकावटसे व्याकुल तथा बेसुध हो रहा हूँ। मैं आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता हूँ, अज्ञानी हूँ और अज्ञान लोगोंके द्वारा प्राप्त सम्मानसे 'मैं सन्त हूँ' ऐसा घमण्ड कर बैठा हूँ। दीनानाथ, दयानिधान, परमानन्द! मेरी रक्षा कीजिये।

† अवगमं तवं मे दिशि माधव स्फुरति यन्न सुखासुखसङ्गमः।
श्रवणवर्णनभावमथापि वा न हि भवामि यथा विधिकिङ्करः॥ २७ ॥

ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥४१॥

अपनेसे उत्तरोत्तर दसगुने सात आवरणोंके सहित असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ ही घूमते रहते हैं। तब भला, आपकी सीमा कैसे मिले। हम श्रुतियाँ भी आपके स्वरूपका साक्षात् वर्णन नहीं कर सकतीं, आपके अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते अन्तमें अपना भी निषेध कर देती हैं और आपमें ही अपनी सत्ता खोकर सफल हो जाती हैं* ॥ ४१ ॥

श्रीभगवानुवाच

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम्।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम्॥४२॥
इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥४३॥
त्वं चैतद् ब्रह्मदायाद श्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम्।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥४४॥

भगवान् नारायणने कहा—देवर्षे! इस प्रकार सनकादि ऋषियोंने आत्मा और ब्रह्मकी एकता बतलानेवाला उपदेश सुनकर आत्मस्वरूपको जाना और नित्य सिद्ध होनेपर भी इस उपदेशसे कृतकृत्य-से होकर उन लोगोंने सनन्दनकी पूजा की ॥४२॥ नारद! सनकादि ऋषि सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न हुए थे, अतएव वे सबके पूर्वज हैं। उन आकाशगामी महात्माओंने इस प्रकार समस्त वेद, पुराण और उपनिषदोंका रस निचोड़ लिया है, यह सबका सार-सर्वस्व है ॥ ४३ ॥ देवर्षे! तुम भी उन्हींके समान ब्रह्माके मानस-पुत्र हो—उनकी ज्ञान-सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हो। तुम भी श्रद्धाके साथ इस ब्रह्मात्मविद्याको धारण करो और स्वच्छन्दभावसे पृथ्वीमें विचरण करो। यह विद्या मनुष्योंकी समस्त वासनाओंको भस्म कर देनेवाली है ॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं स ऋषिणाऽऽदिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान्।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! देवर्षि नारद बड़े संयमी, ज्ञानी, पूर्णकाम और नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। वे जो कुछ सुनते हैं, उन्हें उसकी धारणा हो जाती है। भगवान् नारायणने उन्हें जब इस प्रकार उपदेश किया, तब उन्होंने बड़ी श्रद्धासे उसे ग्रहण किया और उनसे यह कहा ॥ ४५ ॥

माधव! आप मुझे अपने स्वरूपका अनुभव कराइये, जिससे फिर सुख-दुःखके संयोगकी स्फूर्ति नहीं होती। अथवा मुझे अपने गुणोंके श्रवण और वर्णनका प्रेम ही दीजिये, जिससे कि मैं विधि-निषेधका किङ्कर न होऊँ।

* द्युपतयो विदुरन्तमनन्त ते
न च भवान गिरः श्रुतिमौलयः।
त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो
जय जयेति भजे तव तत्पदम् ॥ २८ ॥

हे अनन्त! ब्रह्मा आदि देवता आपका अन्त नहीं जानते, न आप ही जानते और न तो वेदोंकी मुकुटमणि उपनिषदें ही जानती हैं; क्योंकि आप अनन्त हैं। उपनिषदें 'नमो नमः', 'जय हो, जय हो' यह कहकर आपमें चरितार्थ होती हैं। इसलिये मैं भी 'नमो नमः', 'जय हो, जय हो' यही कहकर आपके चरण-कमलकी उपासना करता हूँ।

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्त्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥४६॥

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥४७॥

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद् वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥४८॥

इत्येतद् वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥४९॥

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं संपद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥५०॥

देवर्षि नारदने कहा—भगवन्! आप सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण हैं। आपकी कीर्ति परम पवित्र है। आप समस्त प्राणियोंके परम कल्याण—मोक्षके लिये कमनीय कलावतार धारण किया करते हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ४६ ॥

परीक्षित्! इस प्रकार महात्मा देवर्षि नारद आदि-ऋषि भगवान् नारायणको और उनके शिष्योंको नमस्कार करके स्वयं मेरे पिता श्रीकृष्णद्वैपायनके आश्रमपर गये ॥ ४७ ॥ भगवान् वेदव्यासने उनका यथोचित सत्कार किया। वे आसन स्वीकार करके बैठ गये, इसके बाद देवर्षि नारदने जो कुछ भगवान् नारायणके मुँहसे सुना था, वह सब कुछ मेरे पिताजीको सुना दिया ॥ ४८ ॥ राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हें बतलाया कि मन-वाणीसे अगोचर और समस्त प्राकृत गुणोंसे रहित परब्रह्म परमात्माका वर्णन श्रुतियाँ किस प्रकार करती हैं और उसमें मनका कैसे प्रवेश होता है? यही तो तुम्हारा प्रश्न था ॥ ४९ ॥ परीक्षित्! भगवान् ही इस विश्वका सङ्कल्प करते हैं तथा उसके आदि, मध्य तथा अन्तमें स्थित रहते हैं। वे प्रकृति और जीव दोनोंके स्वामी हैं। उन्होंने ही इसकी सृष्टि करके जीवके साथ इसमें प्रवेश किया है और शरीरोंका निर्माण करके वे ही उनका नियन्त्रण करते हैं। जैसे गाढ़ निद्रा—सुषुप्तिमें मग्न पुरुष अपने शरीरका अनुसन्धान छोड़ देता है, वैसे ही भगवान्‌को पाकर यह जीव मायासे मुक्त हो जाता है। भगवान् ऐसे विशुद्ध, केवल चिन्मात्र तत्त्व हैं कि उनमें जगत्‌के कारण माया अथवा प्रकृतिका रत्तीभर भी अस्तित्व नहीं है। वे ही वास्तवमें अभय-स्थान हैं। उनका चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिये ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नारदनारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

अथाष्टाशीतितमोऽध्यायः

शिवजीका सङ्कटमोचन

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥ १ ॥
एतद् वेदितुमिच्छामः सन्देहोऽत्र महान् हि नः ।
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥ ३ ॥
ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कञ्चन ।
उपधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥ ४ ॥
हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत् ॥ ५ ॥
निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः ।
शृण्वन् भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥ ६ ॥
स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः ।
नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।

राजा परीक्षित‌्ने पूछा—भगवन् ! भगवान् शङ्करने समस्त भोगोंका परित्याग कर रक्खा है; परन्तु देखा यह जाता है कि जो देवता, असुर अथवा मनुष्य उनकी उपासना करते हैं, वे प्रायः धनी और भोगसम्पन्न हो जाते हैं। और भगवान् विष्णु लक्ष्मीपति हैं, परन्तु उनकी उपासना करनेवाले प्रायः धनी और भोगसम्पन्न नहीं होते ॥ १ ॥ दोनों प्रभु त्याग और भोगकी दृष्टिसे एक-दूसरेसे विरुद्ध स्वभाववाले हैं, परन्तु उनके उपासकोंको उनके स्वरूपके विपरीत फल मिलता है। मुझे इस विषयमें बड़ा सन्देह है कि त्यागीकी उपासनासे भोग और लक्ष्मीपतिकी उपासनासे त्याग कैसे मिलता है ? मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! शिवजी सदा अपनी शक्तिसे युक्त रहते हैं। वे सत्त्व आदि गुणोंसे युक्त तथा अहङ्कारके अधिष्ठाता हैं। अहङ्कारके तीन भेद हैं—वैकारिक, तैजस और तामस ॥ ३ ॥ त्रिविध अहङ्कारसे सोलह विकार हुए—दस इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और एक मन। अतः इन सबके अधिष्ठातृ-देवताओंमेंसे किसी एककी उपासना करनेपर समस्त ऐश्वर्योंकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ४ ॥ परन्तु परीक्षित् ! भगवान् श्रीहरि तो प्रकृतिसे परे स्वयं पुरुषोत्तम एवं प्राकृत गुणरहित हैं। वे सर्वज्ञ तथा सबके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं। जो उनका भजन करता है, वह स्वयं भी गुणातीत हो जाता है ॥ ५ ॥ परीक्षित् ! जब तुम्हारे दादा धर्मराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ कर चुके, तब भगवान्से विविध प्रकारके धर्मोंका वर्णन सुनते समय उन्होंने भी यही प्रश्न किया था ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। मनुष्योंके कल्याणके लिये ही उन्होंने यदुवंशमें अवतार धारण किया था। राजा युधिष्ठिरका प्रश्न सुनकर और उनकी सुननेकी इच्छा देखकर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार उत्तर दिया था ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसका सब धन धीरे-धीरे छीन लेता

ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥८॥

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया ।

मत्परैः कृतमैत्रश्च करिष्ये मदनुग्रहम् ॥ ९ ॥

तद्‌ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।

अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान् भजते जनः ॥१०॥

ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।

मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते ॥११॥

श्रीशुक उवाच

शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।

सद्यःशापप्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥१२॥

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाऽऽप सङ्कटम् ॥१३॥

वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् ।

दृष्ट्वाऽऽशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥१४॥

स आह देवं गिरिशमुपाधावाशु सिद्ध्यसि ।

योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति ॥१५॥

दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्वन्दिनोरिव ।

हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तब उसके सगे-सम्बन्धी उसके दुःखाकुल चित्तकी परवा न करके उसे छोड़ देते हैं ॥ ८ ॥ फिर वह धनके लिये उद्योग करने लगता है, तब मैं उसका वह प्रयत्न भी निष्फल कर देता हूँ। इस प्रकार बार-बार असफल होनेके कारण जब धन कमानेसे उसका मन विरक्त हो जाता है, उसे दुःख समझकर वह उधरसे अपना मुँह मोड़ लेता है और मेरे प्रेमी भक्तोंका आश्रय लेकर उनसे मेल-जोल करता है, तब मैं उसपर अपनी अहैतुक कृपाकी वर्षा करता हूँ ॥ ९ ॥ मेरी कृपासे उसे परम सूक्ष्म अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार मेरी प्रसन्नता, मेरी आराधना बहुत कठिन है। इसीसे साधारण लोग मुझे छोड़कर मेरे ही दूसरे रूप अन्यान्य देवताओंकी आराधना करते हैं ॥ १० ॥ दूसरे देवता आशुतोष हैं। वे झटपट पिघल पड़ते हैं और अपने भक्तोंको साम्राज्य-लक्ष्मी दे देते हैं। उसे पाकर वे उच्छृङ्खल, प्रमादी और उन्मत्त हो उठते हैं और अपने वरदाता देवताओंको भी भूल जाते हैं तथा उनका तिरस्कार कर बैठते हैं ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—ये तीनों शाप और वरदान देनेमें समर्थ हैं; परन्तु इनमें महादेव और ब्रह्मा शीघ्र ही प्रसन्न या रुष्ट होकर वरदान अथवा शाप दे देते हैं। परन्तु विष्णु-भगवान् वैसे नहीं हैं ॥ १२ ॥ इस विषयमें महात्मा-लोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। भगवान् शङ्कर एक बार वृकासुरको वर देकर सङ्कटमें पड़ गये थे ॥ १३ ॥ परीक्षित्! वृकासुर शकुनिका पुत्र था। उसकी बुद्धि बहुत बिगड़ी हुई थी। एक दिन कहीं जाते समय उसने देवर्षि नारदको देख लिया और उनसे पूछा कि 'तीनों देवताओंमें झटपट प्रसन्न होनेवाला कौन है?' ॥ १४ ॥ परीक्षित्! देवर्षि नारदने कहा—'तुम भगवान् शङ्करकी आराधना करो। इससे तुम्हारा मनो-रथ बहुत जल्दी पूरा हो जायगा। वे थोड़े ही गुणोंसे शीघ्र-से-शीघ्र प्रसन्न और थोड़े ही अपराधसे तुरंत क्रोध कर बैठते हैं ॥ १५ ॥ रावण और बाणासुरने केवल बंदीजनोंके समान शङ्करजीकी कुछ स्तुतियाँ की थीं। इसीसे वे उनपर प्रसन्न हो गये और उन्हें अतुलनीय

ऐश्वर्यमतुलं दत्त्वा तत आप सुसङ्कटम् ॥१६॥

ऐश्वर्य दे दिया। बादमें रावणके कैलास उठाने और बाणासुरके नगरकी रक्षाका भार लेनेसे वे उनके लिये सङ्कटमें भी पड़ गये थे' ॥ १६ ॥

इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत् स्वगात्रतः।
केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानोऽग्निमुखं हरम् ॥१७॥
देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात् सप्तमेऽहनि।
शिरोऽवृश्चत् स्वधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् ॥१८॥
तदा महाकारुणिकः स धूर्जटि-
र्यथा वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात्।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत्
तत्स्पर्शनाद् भूय उपस्कृताकृतिः ॥१९॥
तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे
यथाभिकामं वितरामि ते वरम्।
प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यता-
महो त्वयाऽऽत्मा भृशमर्द्यते वृथा ॥२०॥
देवं स वव्रे पापीयान् वरं भूतभयावहम्।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥२१॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् रुद्रो दुर्मना इव भारत।
ओमिति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा ॥२२॥

नारदजीका उपदेश पाकर वृकासुर केदारक्षेत्रमें गया और अग्निको भगवान् शङ्करका मुख मानकर अपने शरीरका मांस काट-काटकर उसमें हवन करने लगा ॥ १७ ॥ इस प्रकार छः दिनतक उपासना करनेपर भी जब उसे भगवान् शङ्करके दर्शन न हुए, तब उसे बड़ा दुःख हुआ। सातवें दिन केदारतीर्थमें स्नान करके उसने अपने भींगे बालवाले मस्तकको कुल्हाड़ेसे काटकर हवन करना चाहा ॥ १८ ॥ परीक्षित्! जैसे जगत्में कोई दुःखवश आत्महत्या करने जाता है तो हमलोग करुणावश उसे बचा लेते हैं, वैसे ही परम दयालु भगवान् शङ्करने वृकासुरके आत्मघातके पहले ही अग्निकुण्डसे अग्निदेवके समान प्रकट होकर अपने दोनों हाथोंसे उसके दोनों हाथ पकड़ लिये और गला काटनेसे रोक दिया। उनका स्पर्श होते ही वृकासुरके अङ्ग ज्यों-के-त्यों पूर्ण हो गये ॥ १९ ॥ भगवान् शङ्करने वृकासुरसे कहा—'प्यारे वृकासुर! बस करो, बस करो; बहुत हो गया। मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ। तुम मुँहमाँगा वर माँग लो। अरे भाई! मैं तो अपने शरणागत भक्तोंपर केवल जल चढ़ानेसे ही सन्तुष्ट हो जाया करता हूँ। भला, तुम झूठमूठ अपने शरीरको क्यों पीड़ा दे रहे हो?' ॥ २० ॥ परीक्षित्! अत्यन्त पापी वृकासुरने समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला यह वर माँगा कि 'मैं जिसके सिरपर हाथ रख दूँ, वही मर जाय' ॥ २१ ॥ परीक्षित्! उसकी यह याचना सुनकर भगवान् रुद्र पहले तो कुछ अनमने-से हो गये फिर हँसकर कह दिया—'अच्छा, ऐसा ही हो।' ऐसा वर देकर उन्होंने मानो साँपको अमृत पिला दिया ॥ २२ ॥

इत्युक्तः सोऽसुरो नूनं गौरीहरणलालसः।
स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत् स्वकृताच्छिवः ॥२३॥

भगवान् शङ्करके इस प्रकार कह देनेपर वृकासुरके मनमें यह लालसा हो आयी कि 'मैं पार्वतीजीको ही हर लूँ।' वह असुर शङ्करजीके वरकी परीक्षाके लिये उन्हींके सिरपर हाथ रखनेका उद्योग करने लगा। अब तो शङ्करजी अपने दिये हुए वरदानसे ही भयभीत हो

तेनोपसृष्टः संत्रस्तः पराधावन् सवेपथुः ।
यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक् ॥२४॥
अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन् सुरेश्वराः ।
ततो वैकुण्ठमगमद् भास्वरं तमसः परम् ॥२५॥
यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः ।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ॥२६॥
तं तथाव्यसनं दृष्ट्वा भगवान् वृजिनार्दनः ।
दूरात् प्रत्युदियाद् भूत्वा वटुको योगमायया ॥२७॥
मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वलन् ।
अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत् ॥२८॥

गये ॥ २३ ॥ वह उनका पीछा करने लगा और वे उससे डरकर काँपते हुए भागने लगे । वे पृथ्वी, स्वर्ग और दिशाओंके अन्ततक दौड़ते गये; परन्तु फिर भी उसे पीछा करते देखकर उत्तरकी ओर बढ़े ॥ २४ ॥ बड़े-बड़े देवता इस सङ्कटको टालनेका कोई उपाय न देखकर चुप रह गये । अन्तमें वे प्राकृतिक अंधकारसे परे परम प्रकाशमय वैकुण्ठलोकमें गये ॥ २५ ॥ वैकुण्ठमें स्वयं भगवान् नारायण निवास करते हैं । एकमात्र वे ही उन संन्यासियोंकी परम गति हैं, जो सारे जगत्को अभय दान करके शान्तभावमें स्थित हो गये हैं । वैकुण्ठमें जाकर जीवको फिर लौटना नहीं पड़ता ॥ २६ ॥ भक्तभयहारी भगवान्ने देखा कि शङ्करजी तो बड़े सङ्कटमें पड़े हुए हैं । तब वे अपनी योगमायासे ब्रह्मचारी बनकर दूरसे ही धीरे-धीरे वृकासुरकी ओर आने लगे ॥२७॥ भगवान्ने मूँजकी मेखला, काला मृगचर्म, दण्ड और रुद्राक्षकी माला धारण कर रक्खी थी । उनके एक-एक अंगसे ऐसी ज्योति निकल रही थी, मानो आग धधक रही हो । वे हाथमें कुश लिये हुए थे । वृकासुरको देखकर उन्होंने बड़ी नम्रतासे झुककर प्रणाम किया ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।
क्षणं विश्रम्यतां पुंस आत्मायं सर्वकामधुक् ॥२९॥
यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो ।
भण्यतां प्रायशः पुम्भिर्धृतैः स्वार्थान् समीहते ॥३०॥

ब्रह्मचारी-वेषधारी भगवान्ने कहा—शकुनिनन्दन वृकासुरजी ! आप स्पष्ट ही बहुत थके-से जान पड़ते हैं । आज आप बहुत दूरसे आ रहे हैं क्या ? तनिक विश्राम तो कर लीजिये । देखिये, यह शरीर ही सारे सुखोंकी जड़ है । इसीसे सारी कामनाएँ पूरी होती हैं । इसे अधिक कष्ट न देना चाहिये ॥ २९ ॥ आप तो सब प्रकारसे समर्थ हैं । इस समय आप क्या करना चाहते हैं ? यदि मेरे सुनने योग्य कोई बात हो तो बतलाइये । क्योंकि संसारमें देखा जाता है कि लोग सहायकोंके द्वारा बहुत-से काम बना लिया करते हैं ॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा ।
गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥३१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान्के एक-एक शब्दसे अमृत बरस रहा था । उनके इस प्रकार पूछनेपर पहले तो उसने तनिक ठहरकर अपनी थकावट दूर की; उसके बाद क्रमशः अपनी तपस्या, वरदान-प्राप्ति तथा भगवान् शङ्करके पीछे दौड़नेकी बात शुरूसे कह सुनायी ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ।
यो दक्षशापात् पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ॥३२॥
यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ ।
तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥३३॥
यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथञ्चिद् दानवर्षभ ।
तदैनं जह्यसद्वाचं न यद् वक्तानृतं पुनः ॥३४॥
इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः ।
भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्न्यधात् ॥३५॥
अथापतद् भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात् ।
जयशब्दो नमःशब्दः साधुशब्दोऽभवद् दिवि ॥३६॥
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे ।
देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचितः सङ्कटाच्छिवः ॥३७॥
मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान् पुरुषोत्तमः ।
अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ॥३८॥
हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः ।
क्षेमी स्यात् किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ ॥३९॥

य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः ।
गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा
विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः ॥४०॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—'अच्छा, ऐसी बात है ! तब तो भाई ! हम उसकी बातपर विश्वास नहीं करते । आप नहीं जानते हैं क्या ? वह तो दक्ष प्रजापतिके शापसे पिशाचभावको प्राप्त हो गया है । आजकल वही प्रेतों और पिशाचोंका सम्राट् है ॥ ३२ ॥ दानवराज ! आप इतने बड़े होकर ऐसी छोटी-छोटी बातोंपर विश्वास कर लेते हैं ! आप यदि अब भी उसे जगद्गुरु मानते हों और उसकी बातपर विश्वास करते हों, तो झटपट अपने सिरपर हाथ रखकर परीक्षा कर लीजिये ॥ ३३ ॥ दानवशिरोमणे ! यदि किसी प्रकार शङ्करकी बात असत्य निकले तो उस असत्यवादीको मार डालिये, जिससे फिर कभी वह झूठ न बोल सके' ॥ ३४ ॥ परीक्षित् ! भगवान्‌ने ऐसी मोहित करनेवाली अद्भुत और मीठी बात कही कि उसकी विवेक-बुद्धि जाती रही । उस दुर्बुद्धिने भूलकर अपने ही सिरपर हाथ रख लिया ॥ ३५ ॥ बस, उसी क्षण उसका सिर फट गया और वह वहीं धरतीपर गिर पड़ा, मानो उसपर बिजली गिर पड़ी हो । उस समय आकाशमें देवतालोग 'जय-जय, नमो नमः, साधु-साधु!' के नारे लगाने लगे ॥ ३६ ॥ पापी वृकासुरकी मृत्युसे देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व अत्यन्त प्रसन्न होकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे और भगवान् शङ्कर उस विकट सङ्कटसे मुक्त हो गये ॥ ३७ ॥ अब भगवान् पुरुषोत्तमने भयमुक्त शङ्करजीसे कहा कि 'देवाधिदेव ! बड़े हर्षकी बात है कि इस दुष्टको इसके पापोंने ही नष्ट कर दिया । परमेश्वर ! भला, ऐसा कौन प्राणी है जो महापुरुषोंका अपराध करके कुशलसे रह सके ! फिर स्वयं जगद्गुरु विश्वेश्वर ! आपका अपराध करके तो कोई सकुशल रह ही कैसे सकता है !' ॥ ३८-३९ ॥ भगवान् अनन्त शक्तियोंके समुद्र हैं । उनकी एक-एक शक्ति मन और वाणीकी सीमाके परे है । वे प्रकृतिसे अतीत स्वयं परमात्मा हैं । उनकी शङ्करजीको सङ्कटसे छुड़ानेकी यह लीला जो कोई कहता या सुनता है, वह संसारके बन्धनों और शत्रुओंके भयसे मुक्त हो जाता है ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे रुद्रमोक्षणं नामाष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

अथैकोननवतितमोऽध्यायः

भृगुजीके द्वारा त्रिदेवोंकी परीक्षा तथा भगवान्‌का मरे हुए ब्राह्मण-बालकोंको वापस लाना

श्रीशुक उवाच

सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत ।
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥ १ ॥

तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप ।
तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद् ब्रह्मणः सभाम् ॥२॥

न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।
तस्मै चुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तेजसा ॥ ३ ॥

स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः ।
अशीशमद् यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणाऽऽत्मभूः ॥४॥

ततः कैलासमगमत् स तं देवो महेश्वरः ।
परिरब्धुं समारेभे उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥ ५ ॥

नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह ।
शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः ॥ ६ ॥

पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा ।
अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ॥ ७ ॥

शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताडयत् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! एक बार सरस्वती नदीके पावन तटपर यज्ञ प्रारम्भ करनेके लिये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि एकत्र होकर बैठे। उन लोगोंमें इस विषयपर वाद-विवाद चला कि ब्रह्मा, शिव और विष्णुमें सबसे बड़ा कौन है ? ॥ १॥ परीक्षित् ! उन लोगोंने यह बात जाननेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे ब्रह्माके पुत्र भृगुजीको उनके पास भेजा । महर्षि भृगु सबसे पहले ब्रह्माजीकी सभामें गये ॥ २॥ उन्होंने ब्रह्माजीके धैर्य आदिकी परीक्षा करनेके लिये न उन्हें नमस्कार किया और न तो उनकी स्तुति ही की । इसपर ऐसा मालूम हुआ कि ब्रह्माजी अपने तेजसे दहक रहे हैं । उन्हें क्रोध आ गया ॥ ३ ॥ परन्तु जब समर्थ ब्रह्माजीने देखा कि यह तो मेरा पुत्र ही है, तब अपने मनमें उठे हुए क्रोधको भीतर-ही-भीतर विवेकबुद्धिसे दबा लिया; ठीक वैसे ही, जैसे कोई अरणिमन्थनसे उत्पन्न अग्निको जलसे बुझा दे ॥ ४ ॥

वहाँसे महर्षि भृगु कैलासमें गये । देवाधिदेव भगवान् शङ्करने जब देखा कि मेरे भाई भृगुजी आये हैं, तब उन्होंने बड़े आनन्दसे खड़े होकर उनका आलिङ्गन करनेके लिये भुजाएँ फैला दीं ॥ ५ ॥ परन्तु महर्षि भृगुने उनसे आलिङ्गन करना स्वीकार न किया और कहा—'तुम लोक और वेदकी मर्यादाका उल्लङ्घन करते हो, इसलिये मैं तुमसे नहीं मिलता ।' भृगुजीकी यह बात सुनकर भगवान् शङ्कर क्रोधके मारे तिलमिला उठे । उनकी आँखें चढ़ गयीं । उन्होंने त्रिशूल उठाकर महर्षि भृगुको मारना चाहा ॥ ६ ॥ परन्तु उसी समय भगवती सतीने उनके चरणोंपर गिरकर बहुत अनुनय-विनय की और किसी प्रकार उनका क्रोध शान्त किया । अब महर्षि भृगुजी भगवान् विष्णुके निवासस्थान वैकुण्ठमें गये ॥७॥ उस समय भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीकी गोदमें अपना सिर रखकर लेटे हुए थे । भृगुजीने जाकर

१. णा प्रभुः ।

तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गतिः ॥८॥
स्वतल्पादवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम् ।
आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम् ।
अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ ९ ॥
अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने ।
इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना ॥१०॥
पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान् ।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥११॥
अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम् ।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा ।
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ॥१३॥
पुनश्च सत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
स्वानुभूतमशेषेण राजन् भृगुरवर्णयत् ॥१४॥
तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥१५॥
धर्मः साक्षाद् यतो ज्ञानं वैराग्यं च तदन्वितम् ।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद् यशश्चात्ममलापहम् ॥१६॥
मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।
अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥१७॥
सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः ।

उनके वक्षःस्थलपर एक लात कसकर जमा दी। भक्त-वत्सल भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीके साथ उठ बैठे और झटपट अपनी शय्यासे नीचे उतरकर मुनिको सिर झुकाया, प्रणाम किया। भगवान्‌ने कहा—'ब्रह्मन्! आपका स्वागत है, आप भले पधारे। इस आसनपर बैठकर कुछ क्षण विश्राम कीजिये। प्रभो! मुझे आपके शुभागमनका पता न था। इसीसे मैं आपकी अगवानी न कर सका। मेरा अपराध क्षमा कीजिये ॥ ८-९ ॥ महामुने! आपके चरणकमल अत्यन्त कोमल हैं।' यों कहकर भृगुजीके चरणोंको भगवान् अपने हाथोंसे सहलाने लगे ॥१०॥ और बोले—'महर्षे! आपके चरणोंका जल तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाला है। आप उससे वैकुण्ठलोक, मुझे और मेरे अंदर रहनेवाले लोकपालोंको पवित्र कीजिये ॥११॥ भगवन्! आपके चरणकमलोंके स्पर्शसे मेरे सारे पाप धुल गये। आज मैं लक्ष्मीका एकमात्र आश्रय हो गया। अब आपके चरणोंसे चिह्नित मेरे वक्षःस्थलपर लक्ष्मी सदा-सर्वदा निवास करेंगी' ॥ १२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—जब भगवान्‌ने अत्यन्त गम्भीर वाणीसे इस प्रकार कहा, तब भृगुजी परम सुखी और तृप्त हो गये। भक्तिके उद्रेकसे उनका गला भर आया, आँखोंमें आँसू छलक आये और वे चुप हो गये ॥ १३ ॥ परीक्षित्! भृगुजी वहाँसे लौटकर ब्रह्मवादी मुनियोंके सत्सङ्गमें आये और उन्हें ब्रह्मा, शिव और विष्णुभगवान्‌के यहाँ जो कुछ अनुभव हुआ था, वह सब कह सुनाया ॥ १४ ॥ भृगुजीका अनुभव सुनकर सभी ऋषि-मुनियोंको बड़ा विस्मय हुआ, उनका सन्देह दूर हो गया। तबसे वे भगवान् विष्णुको ही सर्वश्रेष्ठ मानने लगे; क्योंकि वे ही शान्ति और अभयके उद्गमस्थान हैं ॥ १५ ॥ भगवान् विष्णुसे ही साक्षात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य, आठ प्रकारके ऐश्वर्य और चित्तको शुद्ध करनेवाला यश प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ शान्त, समचित्त, अकिञ्चन और सबको अभय देनेवाले साधु-मुनियोंकी वे ही एकमात्र परम गति हैं। ऐसा सारे शास्त्र कहते हैं ॥ १७ ॥ उनकी प्रिय मूर्ति है सत्त्व और इष्टदेव

१. अहो। २. मागमनं क्षन्तु०। ३. गुरुतं सान्द्रया।

भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥१८॥

त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः ।

गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ॥१९॥

श्रीशुक[1] उवाच

एवं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये ।

पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ॥२०॥

सूत उवाच

इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगन्ध-

पीयूषं भवभयभित् परस्य पुंसः ।

सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं

पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥२१॥

श्रीशुक उवाच

एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।

जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥२२॥

विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ।

इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥२३॥

ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।

क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात् पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ॥२४॥

हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।

प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥२५॥

एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च ।

विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥२६॥

हैं ब्राह्मण। निष्काम, शान्त और निपुणबुद्धि (विवेकसम्पन्न) पुरुष उनका भजन करते हैं ॥ १८ ॥ भगवान्‌की गुणमयी मायाने राक्षस, असुर और देवता—उनकी ये तीन मूर्तियाँ बना दी हैं। इनमें सत्त्वमयी देवमूर्ति ही उनकी प्राप्तिका साधन है। वे स्वयं ही समस्त पुरुषार्थस्वरूप हैं ॥ १९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! सरस्वतीतटके ऋषियोंने अपने लिये नहीं, मनुष्योंका संशय मिटानेके लिये ही ऐसी युक्ति रची थी। पुरुषोत्तम भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवा करके उन्होंने उनका परमपद प्राप्त किया ॥ २० ॥

सूतजी कहते हैं - शौनकादि ऋषियो! भगवान् पुरुषोत्तमकी यह कमनीय कीर्ति-कथा जन्म-मृत्युरूप संसारके भयको मिटानेवाली है। यह व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीके मुखारविन्दसे निकली हुई सुरभिमयी मधुमयी सुधाधारा है। इस संसारके लंबे पथका जो बटोही अपने कानोंके दोनोंसे इसका निरन्तर पान करता रहता है, उसकी सारी थकावट, जो जगत्‌में इधर-उधर भटकनेसे होती है, दूर हो जाती है ॥ २१ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! एक दिनकी बात है, द्वारकापुरीमें किसी ब्राह्मणीके गर्भसे एक पुत्र पैदा हुआ, परन्तु वह उसी समय पृथ्वीका स्पर्श होते ही मर गया ॥ २२ ॥ ब्राह्मण अपने बालकका मृत शरीर लेकर राजमहलके द्वारपर गया और वहाँ उसे रखकर अत्यन्त आतुरता और दुखी मनसे विलाप करता हुआ यह कहने लगा—॥ २३ ॥ 'इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणद्रोही, धूर्त, कृपण और विषयी राजाके कर्मदोषसे ही मेरे बालककी मृत्यु हुई है ॥ २४ ॥ जो राजा हिंसापरायण, दुःशील और अजितेन्द्रिय होता है, उसे राजा मानकर सेवा करनेवाली प्रजा दरिद्र होकर दुःख-पर-दुःख भोगती रहती है और उसके सामने सङ्कट-पर-सङ्कट आते रहते हैं' ॥ २५ ॥ परीक्षित्! इसी प्रकार अपने दूसरे और तीसरे बालकके भी पैदा होते ही मर जानेपर वह ब्राह्मण लड़केकी लाश राजमहलके दरवाजेपर डाल गया और वही बात कह गया ॥ २६ ॥

[1] बादरायणिरुवाच ।

तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित् केशवान्तिके ।
परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥२७॥
किंस्विद् ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः ।
राजन्यबन्धुरेते वै ब्राह्मणाः सत्र आसते ॥२८॥
धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।
ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥२९॥
अहं प्रजा वां भगवन् रक्षिष्ये दीनयोरिह ।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥३०॥

ब्राह्मण उवाच

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥३१॥
तत् कथं नु भवान् कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ।
चिकीर्षसि त्वं बालिश्यात् तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥३२॥

अर्जुन उवाच

नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन् न कृष्णः कार्ष्णिरेव च ।
अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥३३॥
मावमंस्था मम ब्रह्मन् वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम् ।
मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभो ॥३४॥
एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परंतप ।
जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥३५॥
प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः ।
पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥३६॥

नवें बालकके मरनेपर जब वह वहाँ आया, तब उस समय भगवान् श्रीकृष्णके पास अर्जुन भी बैठे हुए थे। उन्होंने ब्राह्मणकी बात सुनकर उससे कहा—॥ २७ ॥ 'ब्रह्मन्! आपके निवासस्थान द्वारकामें कोई धनुषधारी क्षत्रिय नहीं है क्या? मालूम होता है कि ये यदुवंशी ब्राह्मण हैं और प्रजापालनका परित्याग करके किसी यज्ञमें बैठे हुए हैं ! ॥ २८ ॥ जिनके राज्यमें धन, स्त्री अथवा पुत्रोंसे वियुक्त होकर ब्राह्मण दुखी होते हैं, वे क्षत्रिय नहीं हैं, क्षत्रियके वेषमें पेट पालनेवाले नट हैं। उनका जीवन व्यर्थ है ॥ २९ ॥ भगवन्! मैं समझता हूँ कि आप स्त्री-पुरुष अपने पुत्रोंकी मृत्युसे दीन हो रहे हैं। मैं आपकी सन्तानकी रक्षा करूँगा। यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका, तो आगमें कूदकर जल मरूँगा और इस प्रकार मेरे पापका प्रायश्चित्त हो जायगा' ।३०।

ब्राह्मणने कहा—अर्जुन! यहाँ बलरामजी, भगवान् श्रीकृष्ण, धनुर्धरशिरोमणि प्रद्युम्न, अद्वितीय योद्धा अनिरुद्ध भी जब मेरे बालकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं; इन जगदीश्वरोंके लिये भी यह काम कठिन हो रहा है; तब तुम इसे कैसे करना चाहते हो? सचमुच यह तुम्हारी मूर्खता है। हम तुम्हारी इस बातपर बिल्कुल विश्वास नहीं करते ॥ ३१-३२ ॥

अर्जुनने कहा—ब्रह्मन्! मैं बलराम, श्रीकृष्ण अथवा प्रद्युम्न नहीं हूँ। मैं हूँ अर्जुन, जिसका गाण्डीव नामक धनुष विश्वविख्यात है ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणदेवता! आप मेरे बल-पौरुषका तिरस्कार मत कीजिये। आप जानते नहीं, मैं अपने पराक्रमसे भगवान् शङ्करको सन्तुष्ट कर चुका हूँ। भगवन्! मैं आपसे अधिक क्या कहूँ, मैं युद्धमें साक्षात् मृत्युको भी जीतकर आपकी सन्तान ला दूँगा ॥ ३४ ॥

परीक्षित्! जब अर्जुनने उस ब्राह्मणको इस प्रकार विश्वास दिलाया, तब वह लोगोंसे उनके बल-पौरुषका बखान करता हुआ बड़ी प्रसन्नतासे अपने घर लौट गया ॥ ३५ ॥ प्रसवका समय निकट आनेपर ब्राह्मण आतुर होकर अर्जुनके पास आया और कहने लगा—'इस बार तुम मेरे बच्चेको मृत्युसे बचा लो' ॥ ३६ ॥

स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य सज्यं गाण्डीवमाददे ॥३७॥
न्यरुणत् सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः ।
तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ॥३८॥
ततः कुमारः संजातो विप्रपत्न्या रुदन् मुहुः ।
सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥३९॥
तदाऽऽह विप्रो विजयं विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ ।
मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ॥४०॥
न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।
यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेश्वरः ॥४१॥
धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।
दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ॥४२॥
एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः ।
ययौ संयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यमः ॥४३॥
विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात् पुरीम् ।
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ।
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ॥४४॥
ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः ।
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ॥४५॥
दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना ।

यह सुनकर अर्जुनने शुद्ध जलसे आचमन किया, तथा भगवान् शङ्करको नमस्कार किया। फिर दिव्य अस्त्रोंका स्मरण किया और गाण्डीव धनुषपर डोरी चढ़ाकर उसे हाथमें ले लिया ॥ ३७ ॥ अर्जुनने बाणोंको अनेक प्रकारके अस्त्र-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके प्रसवगृहको चारों ओरसे घेर दिया। इस प्रकार उन्होंने सूतिकागृहके ऊपर-नीचे, अगल-बगल बाणोंका एक पिंजड़ा-सा बना दिया ॥ ३८ ॥ इसके बाद ब्राह्मणीके गर्भसे एक शिशु पैदा हुआ, जो बार-बार रो रहा था। परन्तु देखते-ही-देखते वह सशरीर आकाशमें अन्तर्धान हो गया ॥३९॥ अब वह ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही अर्जुनकी निन्दा करने लगा। वह बोला—मेरी मूर्खता तो देखो, मैंने इस नपुंसककी डींगभरी बातोंपर विश्वास कर लिया ॥ ४० ॥ भला जिसे प्रद्युम्न, अनिरुद्ध यहाँतक कि बलराम और भगवान् श्रीकृष्ण भी न बचा सके, उसकी रक्षा करनेमें और कौन समर्थ है? ॥ ४१ ॥ मिथ्यावादी अर्जुनको धिक्कार है! अपने मुँह अपनी बड़ाई करनेवाले अर्जुनके धनुषको धिक्कार है!! इसकी दुर्बुद्धि तो देखो! यह मूढ़तावश उस बालकको लौटा लाना चाहता है, जिसे प्रारब्धने हमसे अलग कर दिया है' ॥ ४२ ॥

जब वह ब्राह्मण इस प्रकार उन्हें भला-बुरा कहने लगा, तब अर्जुन योगबलसे तत्काल संयमनीपुरीमें गये, जहाँ भगवान् यमराज निवास करते हैं ॥ ४३ ॥ वहाँ उन्हें ब्राह्मणका बालक नहीं मिला। फिर वे शस्त्र लेकर क्रमशः इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, सोम, वायु और वरुण आदिकी पुरियोंमें, अतलादि नीचेके लोकोंमें, स्वर्गसे ऊपरके महर्लोकादिमें एवं अन्यान्य स्थानोंमें गये ॥४४॥ परन्तु कहीं भी उन्हें ब्राह्मणका बालक न मिला। उनकी प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी। अब उन्होंने अग्निमें प्रवेश करनेका विचार किया। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें ऐसा करनेसे रोकते हुए कहा—॥ ४५ ॥ 'भाई अर्जुन! तुम अपने-आप अपना तिरस्कार मत करो। मैं तुम्हें ब्राह्मणके सब बालक अभी दिखाये देता हूँ।

१. न्यस्त्राणि च संस्मृ०। २. षेधितः।

ये ते नः कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति॥४६॥

इति सम्भाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः ।
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥४७॥
सप्त द्वीपान् सप्त सिन्धून् सप्तसप्तगिरीनथ ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥४८॥
तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकाः ।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ॥४९॥
तान् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।
सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत् पुरः ॥५०॥
तमः सुघोरं गहनं कृतं महद्
विदारयद् भूरितरेण रोचिषा ।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं
गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥५१॥
द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः-
परं परं ज्योतिरनन्तपारम् ।
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः
प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी उभे ॥५२॥
ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता
बलीयसैजद्बृहदूर्मिभूषणम् ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं
भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥५३॥
तस्मिन् महाभीममनन्तमद्भुतं
सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।

आज जो लोग तुम्हारी निन्दा कर रहे हैं, वे ही फिर हम-लोगोंकी निर्मल कीर्तिकी स्थापना करेंगे' ॥ ४६ ॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार समझा-बुझाकर अर्जुनके साथ अपने दिव्य रथपर सवार हुए और पश्चिम दिशाको प्रस्थान किया ॥ ४७ ॥ उन्होंने सात-सात पर्वतोंवाले सात द्वीप, सात समुद्र और लोका-लोकपर्वतको लाँघकर घोर अन्धकारमें प्रवेश किया॥ ४८॥ परीक्षित्! वह अन्धकार इतना घोर था कि उसमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामके चारों घोड़े अपना मार्ग भूलकर इधर-उधर भटकने लगे । उन्हें कुछ सूझता ही न था ॥ ४९ ॥ योगेश्वरोंके भी परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंकी यह दशा देखकर अपने सहस्र-सहस्र सूर्योंके समान तेजस्वी चक्रको आगे चलनेकी आज्ञा दी ॥ ५० ॥ सुदर्शन चक्र अपने ज्योतिर्मय तेजसे स्वयं भगवान्‌के द्वारा उत्पन्न उस घने एवं महान् अन्धकारको चीरता हुआ मनके समान तीव्र गतिसे आगे-आगे चला । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था, मानो भगवान् रामका बाण धनुषसे छूटकर राक्षसोंकी सेनामें प्रवेश कर रहा हो ॥५१॥ इस प्रकार सुदर्शन चक्रके द्वारा बतलाये हुए मार्गसे चलकर रथ अन्धकारकी अन्तिम सीमापर पहुँचा । उस अन्धकारके पार सर्वश्रेष्ठ पारावाररहित व्यापक परम ज्योति जगमगा रही थी । उसे देखकर अर्जुनकी आँखें चौंधिया गयीं और उन्होंने विवश होकर अपने नेत्र बंद कर लिये ॥ ५२ ॥ इसके बाद भगवान्‌के रथने दिव्य जलराशिमें प्रवेश किया । बड़ी तेज आँधी चलनेके कारण उस जलमें बड़ी-बड़ी तरङ्गें उठ रही थीं, जो बहुत ही भली मालूम होती थीं । वहाँ एक बड़ा सुन्दर महल था । उसमें मणियोंके सहस्र-सहस्र खंभे चमक-चमककर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे और उसके चारों ओर बड़ी उज्ज्वल ज्योति फैल रही थी ॥ ५३ ॥ उसी महलमें भगवान् शेषजी विराजमान थे । उनका शरीर अत्यन्त भयानक और अद्भुत था । उनके सहस्र सिर थे और प्रत्येक फणपर सुन्दर-सुन्दर मणियाँ जगमगा रही थीं । प्रत्येक

१. परात्परं । २. भीषणं । ३. द्युतिं ।

विभ्राजमानं द्विगुणोल्वणेक्षणं
सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम् ॥५४॥
ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं
महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं
प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥५५॥
महामणिव्रातकिरीटकुण्डल-
प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं
श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालया वृतम् ॥५६॥
सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदै-
श्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाखिलर्द्धिभि-
र्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥५७॥
ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो
जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभु-
र्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्जया गिरा ॥५८॥
द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा
मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्
हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥५९॥
पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी ।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसंग्रहम् ॥६०॥
इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना ।
ओमित्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान् ॥६१॥

सिरमें दो-दो नेत्र थे और वे बड़े ही भयङ्कर थे। उनका सम्पूर्ण शरीर कैलासके समान श्वेतवर्णका था, और गला तथा जीभ नीले रंगकी थी ॥ ५४ ॥ परीक्षित्! अर्जुनने देखा कि शेषभगवान्‌की सुखमयी शय्यापर सर्वव्यापक महान् प्रभावशाली परम पुरुषोत्तम भगवान् विराजमान हैं। उनके शरीरकी कान्ति वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल है। अत्यन्त सुन्दर पीला वस्त्र धारण किये हुए हैं। मुखपर प्रसन्नता खेल रही है और बड़े-बड़े नेत्र बहुत ही सुहावने लगते हैं ॥५५॥ बहुमूल्य मणियोंसे जटित मुकुट और कुण्डलोंकी कान्तिसे सहस्रों घुँघराली अलकें चमक रही हैं। लंबी-लंबी, सुन्दर आठ भुजाएँ हैं; गलेमें कौस्तुभमणि है; वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है और घुटनोंतक वनमाला लटक रही है ॥ ५६ ॥ अर्जुनने देखा कि उनके नन्द-सुनन्द आदि अपने पार्षद, चक्र-सुदर्शन आदि अपने मूर्तिमान् आयुध तथा पुष्टि, श्री, कीर्ति और अजा—ये चारों शक्तियाँ एवं सम्पूर्ण ऋद्धियाँ ब्रह्मादि लोकपालोंके अधीश्वर भगवान्‌की सेवा कर रही हैं ॥ ५७ ॥ परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही स्वरूप श्रीअनन्त भगवान्‌को प्रणाम किया। अर्जुन उनके दर्शनसे कुछ भयभीत हो गये थे, श्रीकृष्णके बाद उन्होंने भी उनको प्रणाम किया और वे दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो गये। अब ब्रह्मादि लोकपालोंके स्वामी भूमा पुरुषने मुसकराते हुए मधुर एवं गम्भीर वाणीसे कहा—॥ ५८ ॥ 'श्रीकृष्ण! और अर्जुन! मैंने तुम दोनोंको देखनेके लिये ही ब्राह्मणके बालक अपने पास मँगा लिये थे। तुम दोनोंने धर्मकी रक्षाके लिये मेरी कलाओंके साथ पृथ्वीपर अवतार ग्रहण किया है; पृथ्वीके भाररूप दैत्योंका संहार करके शीघ्र-से-शीघ्र तुमलोग फिर मेरे पास लौट आओ ॥ ५९ ॥ तुम दोनों ऋषिवर नर और नारायण हो। यद्यपि तुम पूर्णकाम और सर्वश्रेष्ठ हो, फिर भी जगत्‌की स्थिति और लोकसंग्रहके लिये धर्मका आचरण करो' ॥६०॥

जब भगवान् भूमा पुरुषने श्रीकृष्ण और अर्जुनको इस प्रकार आदेश दिया, तब उन लोगोंने उसे स्वीकार करके उन्हें नमस्कार किया और बड़े आनन्दके साथ ब्राह्मण-बालकोंको लेकर जिस रास्तेसे, जिस प्रकार आये

१. ण्ठभूषणं। २. जं तमच्युतं। ३. स चाह भूमा परः। ४. नौ।

न्यवर्तेतां स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम् ।
विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं यथावयः ॥६२॥
निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।
यत्किञ्चित् पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम्॥६३॥
इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।
बुभुजे विषयान् ग्राम्यानीजे चात्यूर्जितैर्मखैः ॥६४॥
प्रववर्षाखिलान् कामान् प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।
यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवाञ्छ्रैष्ठ्यमास्थितः ॥६५॥
हत्वा नृपानधर्मिष्ठान् घातयित्वार्जुनादिभिः ।
अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥६६॥

थे, उसीसे वैसे ही द्वारकामें लौट आये। ब्राह्मणके बालक अपनी आयुके अनुसार बड़े-बड़े हो गये थे। उनका रूप और आकृति वैसी ही थी, जैसी उनके जन्मके समय थी। उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने उनके पिताको सौंप दिया ॥ ६१-६२ ॥ भगवान् विष्णुके उस परमधामको देखकर अर्जुनके आश्चर्यकी सीमा न रही। उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि जीवोंमें जो कुछ बल-पौरुष है, वह सब भगवान् श्रीकृष्णकी ही कृपाका फल है ॥ ६३ ॥ परीक्षित्! भगवान्ने और भी ऐसी अनेकों ऐश्वर्य और वीरतासे परिपूर्ण लीलाएँ कीं। लोकदृष्टिमें साधारण लोगोंके समान सांसारिक विषयोंका भोग किया और बड़े-बड़े महाराजाओंके समान श्रेष्ठ-श्रेष्ठ यज्ञ किये ॥ ६४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने आदर्श महापुरुषोंका-सा आचरण करते हुए ब्राह्मण आदि समस्त प्रजावर्गोंके सारे मनोरथ पूर्ण किये, ठीक वैसे ही, जैसे इन्द्र प्रजाके लिये समयानुसार वर्षा करते हैं ॥ ६५ ॥ उन्होंने बहुत-से अधर्मी राजाओंको स्वयं मार डाला और बहुतों-को अर्जुन आदिके द्वारा मरवा डाला। इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर आदि धार्मिक राजाओंसे उन्होंने अनायास ही सारी पृथ्वीमें धर्ममर्यादाकी स्थापना करा दी ॥ ६६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे द्विजकुमारानयनं[2] नाम एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

अथ नवतितमोऽध्यायः

भगवान् कृष्णके लीला-विहारका वर्णन

श्रीशुक उवाच

सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः ।
सर्वसम्पत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥ १ ॥
स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः ।
कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! द्वारकानगरीकी छटा अलौकिक थी। उसकी सड़कें मद चूते हुए मतवाले हाथियों, सुसज्जित योद्धाओं, घोड़ों और स्वर्णमय रथोंकी भीड़से सदा-सर्वदा भरी रहती थीं। जिधर देखिये, उधर ही हरे-भरे उपवन और उद्यान लहरा रहे हैं। पाँत-के-पाँत वृक्ष फूलोंसे लदे हुए हैं। उनपर बैठकर भौंरे गुनगुना रहे हैं और तरह-तरहके पक्षी

१. तथा प्रभु। २. न्धे द्विजकुमाराहरणं।

नित्यं संकुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ॥ ३ ॥
उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ।
निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥ ४ ॥
रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः ।
तावद्विचित्ररूपोऽसौ तद्गृहेषु महर्द्धिषु ॥ ५ ॥
प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लारकुमुदाम्भोजरेणुभिः ।
वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु च ॥ ६ ॥
विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः ।
कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम् ॥ ७ ॥
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदङ्गपणवानकान् ।
वादयद्भिर्मुदा वीणां सूतमागधवन्दिभिः[1] ॥ ८ ॥
सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स रेचकैः ।
प्रतिसिञ्चन् विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव ॥ ९ ॥

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः
सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः ।

कलरव कर रहे हैं । वह नगरी सब प्रकारकी सम्पत्तियोंसे भरपूर थी । जगत्‌के श्रेष्ठ वीर यदुवंशी उसका सेवन करनेमें अपना सौभाग्य मानते थे । वहाँकी स्त्रियाँ सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित थीं और उनके अङ्ग-अङ्गसे जवानीकी छटा छिटकती रहती थी । वे जब अपने महलोंमें गेंद आदिके खेल खेलतीं और उनका कोई अङ्ग कभी दीख जाता तो ऐसा जान पड़ता, मानो बिजली चमक रही है । लक्ष्मीपति भगवान्‌की यही अपनी नगरी द्वारका थी । इसीमें वे निवास करते थे । भगवान् श्रीकृष्ण सोलह हजारसे अधिक पत्नियोंके एकमात्र प्राणवल्लभ थे । उन पत्नियोंके अलग-अलग महल भी परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न थे । जितनी पत्नियाँ थीं, उतने ही अद्भुत रूप धारण करके वे उनके साथ विहार करते थे ॥ १-५ ॥ सभी पत्नियोंके महलोंमें सुन्दर-सुन्दर सरोवर थे । उनका निर्मल जल खिले हुए नीले, पीले, श्वेत, लाल आदि भाँति-भाँतिके कमलोंके परागसे मँहकता रहता था । उनमें झुंड-के-झुंड हंस, सारस आदि सुन्दर-सुन्दर पक्षी चहकते रहते थे । भगवान् श्रीकृष्ण उन जलाशयोंमें तथा कभी-कभी नदियोंके जलमें भी प्रवेश कर अपनी पत्नियोंके साथ जलविहार करते थे । भगवान्‌के साथ विहार करनेवाली पत्नियाँ जब उन्हें अपने भुज-पाशमें बाँध लेतीं, आलिङ्गन करतीं, तब भगवान्‌के श्रीअङ्गोंमें उनके वक्षःस्थलकी केसर लग जाती थी ॥ ६-७ ॥ उस समय गन्धर्व उनके यशका गान करने लगते और सूत, मागध एवं वन्दीजन बड़े आनन्दसे मृदङ्ग, ढोल, नगारे और वीणा आदि बाजे बजाने लगते ॥ ८ ॥

भगवान्‌की पत्नियाँ कभी-कभी हँसते-हँसते पिच-कारियोंसे उन्हें भिगो देती थीं । वे भी उनको तर कर देते । इस प्रकार भगवान् अपनी पत्नियोंके साथ क्रीडा करते; मानो यक्षराज कुबेर यक्षिणियोंके साथ विहार कर रहे हों ॥ ९ ॥ उस समय भगवान्‌की पत्नियोंके वक्षः-स्थल और जंघा आदि अङ्ग वस्त्रोंके भीग जानेके कारण उनमेंसे झलकने लगते । उनकी बड़ी-बड़ी चोटियों और जूड़ोंमेंसे गुँथे हुए फूल गिरने लगते, वे उन्हें भिगोते-

[1] वादिभिः ।

कान्तं स रेचकजिहीरपयोपगुह्य
जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुः ॥१०॥
कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्
क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः ।
सिञ्चन् मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो
रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ॥११॥
नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम् ।
क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः ॥१२॥
कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः ।
नर्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः ॥१३॥
ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जडम् ।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥१४॥

महिष्य ऊचुः

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः ।
वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥१५॥

भिगोते पिचकारी छीन लेनेके लिये उनके पास पहुँच जातीं और इसी बहाने अपने प्रियतमका आलिङ्गन कर लेतीं। उनके स्पर्शसे पत्नियोंके हृदयमें प्रेम-भावकी अभिवृद्धि हो जाती, जिससे उनका मुखकमल खिल उठता। ऐसे अवसरोंपर उनकी शोभा और भी बढ़ जाया करती ॥१०॥ उस समय भगवान् श्रीकृष्णकी वन-माला उन रानियोंके वक्षःस्थलपर लगी हुई केसरके रंगसे रँग जाती। विहारमें अत्यन्त मग्न हो जानेके कारण घुँघराली अलकें उन्मुक्त भावसे लहराने लगतीं। वे अपनी रानियोंको बार-बार भिगो देते और रानियाँ भी उन्हें सराबोर कर देतीं। भगवान् श्रीकृष्ण उनके साथ इस प्रकार विहार करते, मानो कोई गजराज हथिनियोंसे घिरकर उनके साथ क्रीडा कर रहा हो ॥ ११ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पत्नियाँ क्रीडा करनेके बाद अपने-अपने वस्त्राभूषण उतारकर उन नटों और नर्तकियों-को दे देते, जिनकी जीविका केवल गाना-बजाना ही है ॥ १२ ॥ परीक्षित्! भगवान् इसी प्रकार उनके साथ विहार करते रहते। उनकी चाल-ढाल, बातचीत, चितवन-मुसकान, हास-विलास और आलिङ्गन आदिसे रानियोंकी चित्तवृत्ति उन्हींकी ओर खिंची रहती। उन्हें और किसी बातका स्मरण ही न होता ॥ १३ ॥ परीक्षित्! रानियोंके जीवन-सर्वस्व, उनके एकमात्र हृदयेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही थे। वे कमलनयन श्याम-सुन्दरके चिन्तनमें ही इतनी मग्न हो जातीं कि कई देरतक तो चुप हो रहतीं और फिर उन्मत्तके समान असम्बद्ध बातें कहने लगतीं। कभी-कभी तो भगवान् श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें ही प्रेमोन्मादके कारण उनके विरहका अनुभव करने लगतीं। और न जाने क्या-क्या कहने लगतीं। मैं उनकी बात तुम्हें सुनाता हूँ ॥१४॥

रानियाँ कहतीं—अरी कुररी! अब तो बड़ी रात हो गयी है। संसारमें सब ओर सन्नाटा छा गया है। देख, इस समय स्वयं भगवान् अपना अखण्ड बोध छिपाकर सो रहे हैं और तुझे नींद ही नहीं आती? तू इस तरह रात-रातभर जगकर विलाप क्यों कर रही है? सखी! कहीं कमलनयन भगवान्‌के मधुर हास्य और लीलाभरी उदार (स्वीकृतिसूचक) चितवनसे तेरा हृदय भी हमारी ही तरह बिंध तो नहीं गया है? ॥ १५ ॥

१. केलि०। २. स्त्रिय ऊचुः।

नेत्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धु-

स्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि ।

दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां

किं वा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम् ॥१६॥

अरी चकवी ! तूने रातके समय अपने नेत्र क्यों बंद कर लिये हैं ? क्या तेरे पतिदेव कहीं विदेश चले गये हैं कि तू इस प्रकार करुण स्वरसे पुकार रही है ? हाय-हाय ! तब तो तू बड़ी दुःखिनी है । परन्तु हो-न-हो तेरे हृदयमें भी हमारे ही समान भगवान्‌की दासी होनेका भाव जग गया है। क्या अब तू उनके चरणोंपर चढ़ायी हुई पुष्पोंकी माला अपनी चोटियोंमें धारण करना चाहती है ? ॥ १६ ॥

भो भोः सदा निष्टनसे उदन्व-

न्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।

किं वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः

प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम् ॥१७॥

अहो समुद्र ! तुम निरन्तर गरजते ही रहते हो । तुम्हें नींद नहीं आती क्या ? जान पड़ता है तुम्हें सदा जागते रहनेका रोग लग गया है । परन्तु नहीं-नहीं, हम समझ गयीं, हमारे प्यारे श्यामसुन्दरने तुम्हारे धैर्य, गाम्भीर्य आदि स्वाभाविक गुण छीन लिये हैं। क्या इसीसे तुम हमारे ही समान ऐसी व्याधिके शिकार हो गये हो, जिसकी कोई दवा नहीं है ? ॥ १७ ॥

त्वं यक्ष्मणा बलवतासि गृहीत इन्दो

क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि।

कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं

विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः ॥१८॥

चन्द्रदेव ! तुम्हें बहुत बड़ा रोग राजयक्ष्मा हो गया है । इसीसे तुम इतने क्षीण हो रहे हो । अरे राम-राम अब तुम अपनी किरणोंसे अँधेरा भी नहीं हटा सकते ! क्या हमारी ही भाँति हमारे प्यारे श्यामसुन्दरकी मीठी-मीठी रहस्यकी बातें भूल जानेके कारण तुम्हारी बोलती बंद हो गयी है ? क्या उसीकी चिन्तासे तुम मौन हो रहे हो ? ॥ १८ ॥

किन्त्वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम् ।

गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ॥१९॥

मलयानिल ! हमने तेरा क्या बिगाड़ा है, जो तू हमारे हृदयमें कामका सञ्चार कर रहा है ? अरे तू नहीं जानता क्या ? भगवान्‌की तिरछी चितवनसे हमारा हृदय तो पहलेसे ही घायल हो गया है ॥ १९ ॥

मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं

श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः ।

अत्युत्कण्ठः शवलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः

स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः ॥२०॥

श्रीमन् मेघ ! तुम्हारे शरीरका सौन्दर्य तो हमारे प्रियतम-जैसा ही है । अवश्य ही तुम यदुवंशशिरोमणि भगवान्‌के परम प्यारे हो । तभी तो तुम हमारी ही भाँति प्रेमपाशमें बँधकर उनका ध्यान कर रहे हो ! देखो-देखो ! तुम्हारा हृदय चिन्तासे भर रहा है, तुम उनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे हो ! तभी तो बार-बार उनकी याद करके हमारी ही भाँति आँसूकी धारा बहा रहे हो । श्यामघन ! सचमुच घनश्यामसे नाता जोड़ना घर बैठे पीड़ा मोल लेना है ॥ २० ॥

प्रियरावपदानि भाषसे
मृतसञ्जीविकयानया गिरा ।
करवाणि किमद्य ते प्रियं
वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल ॥२१॥

री कोयल ! तेरा गला बड़ा ही सुरीला है, मीठी बोली बोलनेवाले हमारे प्राणप्यारेके समान ही मधुर स्वरसे तू बोलती है । सचमुच तेरी बोलीमें सुधा घोली हुई है, जो प्यारेके विरहसे मरे हुए प्रेमियोंको जिलानेवाली है । तू ही बता, इस समय हम तेरा क्या प्रिय करें ? ॥ २१ ॥

न चलसि न वदस्युदारबुद्धे
क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।
अपि बत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिं
वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् ॥२२॥

प्रिय पर्वत ! तुम तो बड़े उदार विचारके हो । तुमने ही पृथ्वीको भी धारण कर रक्खा है । न तुम हिलते-डोलते हो और न कुछ कहते-सुनते हो । जान पड़ता है कि किसी बड़ी बातकी चिन्तामें मग्न हो रहे हो । ठीक है, ठीक है; हम समझ गयीं । तुम हमारी ही भाँति चाहते हो कि अपने स्तनोंके समान बहुत-से शिखरोंपर मैं भी भगवान् श्यामसुन्दरके चरणकमल धारण करूँ ॥ २२ ॥

शुष्यद्ध्रदाः कर्शिता बत सिन्धुपत्न्यः
सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय इष्टभर्तुः ।
यद्वद् वयं मधुपतेः प्रणयावलोक-
मप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म ॥२३॥

समुद्रपत्नी नदियो ! यह ग्रीष्म ऋतु है । तुम्हारे कुण्ड सूख गये हैं । अब तुम्हारे अंदर खिले हुए कमलोंका सौन्दर्य नहीं दीखता । तुम बहुत दुबली-पतली हो गयी हो । जान पड़ता है, जैसे हम अपने प्रियतम श्यामसुन्दरकी प्रेमभरी चितवन न पाकर अपना हृदय खो बैठी हैं और अत्यन्त दुबली-पतली हो गयी हैं, वैसे ही तुम भी मेघोंके द्वारा अपने प्रियतम समुद्रका जल न पाकर ऐसी दीन-हीन हो गयी हो ॥ २३ ॥

हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा ।
किं वा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद् भजामो वयं

हंस ! आओ, आओ ! भले आये, स्वागत है । आसनपर बैठो; लो, दूध पियो । प्रिय हंस ! श्यामसुन्दरकी कोई बात तो सुनाओ । हम समझती हैं कि तुम उनके दूत हो । किसीके वशमें न होनेवाले श्यामसुन्दर सकुशल तो हैं न ? अरे भाई ! उनकी मित्रता तो बड़ी अस्थिर है, क्षणभङ्गुर है । एक बात तो बतलाओ, उन्होंने हमसे कहा था कि तुम्हीं हमारी परम प्रियतमा हो । क्या अब उन्हें यह बात याद है? जाओ, जाओ; हम तुम्हारी अनुनय-विनय नहीं सुनतीं । जब वे हमारी परवा नहीं करते, तो हम उनके पीछे क्यों मरें ? क्षुद्रके दूत ! हम उनके पास नहीं जातीं । क्या कहा ? वे हमारी इच्छा पूर्ण करनेके लिये ही आना चाहते हैं, अच्छा ! तब उन्हें तो यहाँ बुला लाना, हमसे बातें कराना; परन्तु कहीं लक्ष्मीको साथ न ले

क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम् ॥

आना। तब क्या वे लक्ष्मीको छोड़कर यहाँ नहीं आना चाहते ? यह कैसी बात है ? क्या स्त्रियोंमें लक्ष्मी ही एक ऐसी हैं, जिनका भगवान्‌से अनन्य प्रेम है ? क्या हममेंसे कोई एक भी वैसी नहीं है ? ॥ २४ ॥

इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ॥२५॥
श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः ॥२६॥
याः सम्पर्यचरन् प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः ।
जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ॥२७॥

परीक्षित्! श्रीकृष्ण-पत्नियाँ योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें ऐसा ही अनन्य प्रेम-भाव रखती थीं। इसीसे उन्होंने परमपद प्राप्त किया ॥ २५ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाएँ अनेकों प्रकारसे अनेकों गीतोंद्वारा गान की गयी हैं। वे इतनी मधुर, इतनी मनोहर हैं कि उनके सुननेमात्रसे स्त्रियोंका मन बलात् उनकी ओर खिंच जाता है। फिर जो स्त्रियाँ उन्हें अपने नेत्रोंसे देखती थीं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥ २६ ॥ जिन बड़भागिनी स्त्रियोंने जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णको अपना पति मानकर परम प्रेमसे उनके चरणकमलोंको सहलाया, उन्हें नहलाया-धुलाया, खिलाया-पिलाया, तरह-तरहसे उनकी सेवा की, उनकी तपस्याका वर्णन तो भला, किया ही कैसे जा सकता है ॥ २७ ॥

एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन् सतां गतिः ।
गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत् पदम् ॥२८॥
आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम् ।
आसन् षोडशसाहस्रं महिष्यश्च शताधिकम् ॥२९॥
तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः ।
रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः ॥३०॥
एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् ।
यावत्य आत्मनो भार्या अमोघगतिरीश्वरः ॥३१॥
तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः ।
आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु ॥३२॥
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च दीप्तिमान् भानुरेव च ।
साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः ॥३३॥
पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः ।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ॥३४॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रय हैं। उन्होंने वेदोक्त धर्मका बार-बार आचरण करके लोगोंको यह बात दिखला दी कि घर ही धर्म, अर्थ और काम—साधनका स्थान है ॥ २८ ॥ इसीलिये वे गृहस्थोचित श्रेष्ठ धर्मका आश्रय लेकर व्यवहार कर रहे थे। परीक्षित्! मैं तुमसे कह ही चुका हूँ कि उनकी रानियोंकी संख्या थी सोलह हजार एक सौ आठ ॥ २९ ॥ उन श्रेष्ठ स्त्रियोंमेंसे रुक्मिणी आदि आठ पटरानियों और उनके पुत्रोंका तो मैं पहले ही क्रमसे वर्णन कर चुका हूँ ॥ ३० ॥ उनके अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णकी और जितनी पत्नियाँ थीं, उनसे भी प्रत्येकके दस-दस पुत्र उत्पन्न किये। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान् और सत्यसङ्कल्प हैं ॥ ३१ ॥ भगवान्‌के परम पराक्रमी पुत्रोंमें अठारह तो महारथी थे, जिनका यश सारे जगत्‌में फैला हुआ था। उनके नाम मुझसे सुनो ॥ ३२ ॥ प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, दीप्तिमान्, भानु, साम्ब, मधु, बृहद्भानु, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, वेदबाहु, श्रुतदेव, सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि और न्यग्रोध ॥३३-३४॥ राजेन्द्र!

एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः ।
प्रद्युम्न आसीत् प्रथमः पितृवद् रुक्मिणीसुतः ॥३५॥
स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।
तस्मात् सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागायुतबलान्वितः ॥३६॥
स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ।
वज्रस्तस्याभवद् यस्तु मौसलादवशेषितः ॥३७॥
प्रतिबाहुरभूत्तस्मात् सुबाहुस्तस्य चात्मजः ।
सुबाहोः शान्तसेनोऽभूच्छतसेनस्तु तत्सुतः ॥३८॥
न ह्येतस्मिन् कुले जाता अधना अबहुप्रजाः ।
अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे ॥३९॥
यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम् ।
संख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप ॥४०॥
तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च ।
आसन् यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम् ॥४१॥
संख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् ।
यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः ॥४२॥

भगवान् श्रीकृष्णके इन पुत्रोंमें भी सबसे श्रेष्ठ रुक्मिणी-नन्दन प्रद्युम्नजी थे। वे सभी गुणोंमें अपने पिताके समान ही थे ॥ ३५ ॥ महारथी प्रद्युम्नने रुक्मीकी कन्यासे अपना विवाह किया था। उसीके गर्भसे अनिरुद्धजीका जन्म हुआ। उनमें दस हजार हाथियोंका बल था ॥ ३६ ॥ रुक्मीके दौहित्र अनिरुद्धजीने अपने नानाकी पोतीसे विवाह किया। उसके गर्भसे वज्रका जन्म हुआ। ब्राह्मणोंके शापसे पैदा हुए मूसलके द्वारा यदुवंशका नाश हो जानेपर एकमात्र वे ही बच रहे थे ॥ ३७ ॥ वज्रके पुत्र हैं प्रतिबाहु, प्रतिबाहुके सुबाहु, सुबाहुके शान्तसेन और शान्तसेनके शतसेन। ३८। परीक्षित्! इस वंशमें कोई भी पुरुष ऐसा न हुआ जो बहुत-सी संतानवाला न हो तथा जो निर्धन, अल्पायु और अल्पशक्ति हो। वे सभी ब्राह्मणोंके भक्त थे ॥३९॥ परीक्षित्! यदुवंशमें ऐसे-ऐसे यशस्वी और पराक्रमी पुरुष हुए हैं, जिनकी गिनती भी हजारों वर्षोंमें पूरी नहीं हो सकती ॥४०॥ मैंने ऐसा सुना है कि यदुवंशके बालकोंको शिक्षा देनेके लिये तीन करोड़ अट्ठासी लाख आचार्य थे ॥४१॥ ऐसी स्थितिमें महात्मा यदुवंशियोंकी संख्या तो बतायी ही कैसे जा सकती है! स्वयं महाराज उग्रसेनके साथ एक नील (१०००००००००००००) के लगभग सैनिक रहते थे ॥ ४२ ॥

देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः ।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥४३॥
तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥४४॥
तेषां प्रमाणं भगवान् प्रभुत्वेनाभवद्धरिः ।
ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥४५॥
शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानादिकर्मसु ।

परीक्षित्! प्राचीन कालमें देवासुरसंग्रामके समय बहुत-से भयङ्कर असुर मारे गये थे। वे ही मनुष्योंमें उत्पन्न हुए और बड़े घमंडसे जनताको सताने लगे। ४३। उनका दमन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञासे देवताओंने ही यदुवंशमें अवतार लिया था। परीक्षित्! उनके कुलोंकी संख्या एक सौ एक थी ॥४४॥ वे सब भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी एवं आदर्श मानते थे। जो यदुवंशी उनके अनुयायी थे, उनकी सब प्रकारसे उन्नति हुई ॥ ४५ ॥ यदुवंशियोंका चित्त इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णमें लगा रहता था कि उन्हें सोने-बैठने, घूमने-फिरने, बोलने-खेलने और नहाने-धोने आदि कामोंमें

न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥४६॥

अपने शरीरकी भी सुधि न रहती थी। वे जानते ही न थे कि हमारा शरीर क्या कर रहा है। उनकी समस्त शारीरिक क्रियाएँ यन्त्रकी भाँति अपने-आप होती रहती थीं ॥ ४६ ॥

तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु
स्वःसरित्पादशौचं
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा
श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः ।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं
यत्कृतो गोत्रधर्मः
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं
कालचक्रायुधस्य ॥४७॥

परीक्षित्! भगवान्का चरणधोवन गङ्गाजी अवश्य ही समस्त तीर्थोंमें महान् एवं पवित्र हैं। परन्तु जब स्वयं परमतीर्थस्वरूप भगवान्ने ही यदुवंशमें अवतार ग्रहण किया, तब तो गङ्गाजलकी महिमा अपने-आप ही उनके सुयशतीर्थकी अपेक्षा कम हो गयी। भगवान्के स्वरूपकी यह कितनी बड़ी महिमा है कि उनसे प्रेम करनेवाले भक्त और द्वेष करनेवाले शत्रु दोनों ही उनके स्वरूपको प्राप्त हुए। जिस लक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े देवता यत्न करते रहते हैं, वे ही भगवान्की सेवामें नित्य-निरन्तर लगी रहती हैं। भगवान्का नाम एक बार सुनने अथवा उच्चारण करनेसे ही सारे अमङ्गलोंको नष्ट कर देता है। ऋषियोंके वंशजोंमें जितने भी धर्म प्रचलित हैं, सबके संस्थापक भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। वे अपने हाथमें कालस्वरूप चक्र लिये रहते हैं। परीक्षित्! ऐसी स्थितिमें वे पृथ्वीका भार उतार देते हैं, यह कौन बड़ी बात है॥ ४७ ॥

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपर्षत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्॥४८॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त जीवोंके आश्रयस्थान हैं। यद्यपि वे सदा-सर्वदा सर्वत्र उपस्थित ही रहते हैं, फिर भी कहनेके लिये उन्होंने देवकीजीके गर्भसे जन्म लिया है। यदुवंशी वीर पार्षदोंके रूपमें उनकी सेवा करते रहते हैं। उन्होंने अपने भुजबलसे अधर्मका अन्त कर दिया है। परीक्षित्! भगवान् स्वभावसे ही चराचर जगत्का दुःख मिटाते रहते हैं। उनका मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त सुन्दर मुखारविन्द व्रजस्त्रियों और पुरस्त्रियोंके हृदयमें प्रेम-भावका सञ्चार करता रहता है। वास्तवमें सारे जगत्पर वही विजयी हैं। उन्हींकी जय हो! जय हो!! ॥ ४८ ॥

इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयाऽऽत्त-
लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।

परीक्षित्! प्रकृतिसे अतीत परमात्माने अपनेद्वारा स्थापित धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिये दिव्य लीला-शरीर ग्रहण किया और उसके अनुरूप अनेकों अद्भुत चरित्रोंका अभिनय किया। उनका एक-एक कर्म स्मरण

कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य

श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥४९॥

मर्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्द-

श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।

तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं

ग्रामाद् वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः ॥५०॥

करनेवालोंके कर्मबन्धनोंको काट डालनेवाला है। जो यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाका अधिकार प्राप्त करना चाहे, उसे उनकी लीलाओं-का ही श्रवण करना चाहिये ॥ ४९ ॥ परीक्षित्! जब मनुष्य प्रतिक्षण भगवान् श्रीकृष्णकी मनोहारिणी लीला-कथाओंका अधिकाधिक श्रवण, कीर्तन और चिन्तन करने लगता है, तब उसकी यही भक्ति उसे भगवान्के परमधाममें पहुँचा देती है। यद्यपि कालकी गतिके परे पहुँच जाना बहुत ही कठिन है, परन्तु भगवान्के धाममें कालकी दाल नहीं गलती। वह वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता। उसी धामकी प्राप्तिके लिये अनेक सम्राटोंने अपना राजपाट छोड़कर तपस्या करनेके उद्देश्यसे जंगलकी यात्रा की है। इसलिये मनुष्यको उनकी लीला-कथाका ही श्रवण करना चाहिये ॥ ५० ॥



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रीकृष्णचरितानुवर्णनं नाम नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥



इति दशमस्कन्धोत्तरार्धः सम्पूर्णः



श्रीकृष्णार्पणमस्तु





श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कन्धः



निरस्तनिखिलाज्ञानं ज्ञानाज्ञानविलक्षणम् ।
पूर्णानन्दं किमपि तन्नीलरत्नमहं भजे ।।



परमधामगमनके पूर्वकी झाँकी

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

यदुवंशको ऋषियोंका शाप

श्रीबादरायणिरुवाच

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ।
भुवोऽवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम् ॥ १ ॥

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः ॥ २ ॥

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद् यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥ ३ ॥

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चि-
न्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।
अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥ ४ ॥

व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजी तथा अन्य यदुवंशियोंके साथ मिलकर बहुत-से दैत्योंका संहार किया तथा कौरव और पाण्डवोंमें भी शीघ्र मार-काट मचानेवाला अत्यन्त प्रबल कलह उत्पन्न करके पृथ्वीका भार उतार दिया ॥ १ ॥ कौरवोंने कपटपूर्ण जूएसे, तरह-तरहके अपमानोंसे तथा द्रौपदीके केश खींचने आदि अत्याचारोंसे पाण्डवोंको अत्यन्त क्रोधित कर दिया था। उन्हीं पाण्डवोंको निमित्त बनाकर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों पक्षोंमें एकत्र हुए राजाओंको मरवा डाला और इस प्रकार पृथ्वीका भार हल्का कर दिया ॥ २ ॥ अपने बाहुबलसे सुरक्षित यदुवंशियोंके द्वारा पृथ्वीके भार—राजा और उनकी सेनाका विनाश करके, प्रमाणोंके द्वारा ज्ञानके विषय न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि लोकदृष्टिसे पृथ्वीका भार दूर हो जानेपर भी वस्तुतः मेरी दृष्टिसे अभीतक दूर नहीं हुआ; क्योंकि जिसपर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता, वह यदुवंश अभी पृथ्वीपर विद्यमान है ॥ ३ ॥ यह यदुवंश मेरे आश्रित है और हाथी, घोड़े, जनबल, धनबल आदि विशाल वैभवके कारण उच्छृङ्खल हो रहा है। अन्य किसी देवता आदिसे भी इसकी किसी प्रकार पराजय नहीं हो सकती। बाँसके वनमें परस्पर संघर्षसे उत्पन्न अग्निके समान इस यदुवंशमें भी परस्पर कलह खड़ा करके मैं शान्ति प्राप्त कर सकूँगा और इसके बाद अपने

एवं व्यवसितो राजन् सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः ॥ ५ ॥
स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् ।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥६॥
आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः ॥ ७ ॥

राजोवाच

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् ।
विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥ ८ ॥
यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम ।
कथमेकात्मनां भेद एतद् सर्वं वदस्व मे ॥ ९ ॥

श्रीशुक[1] उवाच

बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ।

धाममें जाऊँगा ॥ ४ ॥ राजन् ! भगवान् सर्वशक्तिमान् और सत्यसङ्कल्प हैं । उन्होंने इस प्रकार अपने मनमें निश्चय करके ब्राह्मणोंके शापके बहाने अपने ही वंशका संहार कर डाला, सबको समेटकर अपने धाममें ले गये ॥ ५ ॥ परीक्षित् ! भगवान्‌की वह मूर्ति त्रिलोकीके सौन्दर्यका तिरस्कार करनेवाली थी । उन्होंने अपनी सौन्दर्य-माधुरीसे सबके नेत्र अपनी ओर आकर्षित कर लिये थे । उनकी वाणी, उनके उपदेश परम मधुर, दिव्यातिदिव्य थे । उनके द्वारा उन्हें स्मरण करनेवालोंके चित्त उन्होंने छीन लिये थे । उनके चरणकमल त्रिलोक-सुन्दर थे । जिसने उनके एक चरणचिह्नका भी दर्शन कर लिया, उसकी बहिर्मुखता दूर भाग गयी, वह कर्म-प्रपञ्चसे ऊपर उठकर उन्हींकी सेवामें लग गया । उन्होंने अनायास ही पृथ्वीमें अपनी कीर्तिका विस्तार कर दिया, जिसका बड़े-बड़े सुकवियोंने बड़ी ही सुन्दर भाषामें वर्णन किया है । वह इसलिये कि मेरे चले जानेके बाद लोग मेरी इस कीर्तिका गान, श्रवण और स्मरण करके इस अज्ञानरूप अन्धकारसे सुगमतया पार हो जायँगे । इसके बाद परमैश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्णने अपने धामको प्रयाण किया ॥ ६–७ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! यदुवंशी बड़े ब्राह्मणभक्त थे । उनमें बड़ी उदारता भी थी और वे अपने कुलवृद्धोंकी नित्य-निरन्तर सेवा करनेवाले थे । सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनका चित्त भगवान् श्रीकृष्णमें लगा रहता था; फिर उनसे ब्राह्मणोंका अपराध कैसे बन गया ? और क्यों ब्राह्मणोंने उन्हें शाप दिया ? ॥८॥ भगवान्‌के परम प्रेमी विप्रवर ! उस शापका कारण क्या था तथा क्या स्वरूप था ? समस्त यदु-वंशियोंके आत्मा, स्वामी और प्रियतम एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही थे; फिर उनमें फूट कैसे हुई ? दूसरी दृष्टिसे देखें तो वे सब ऋषि अद्वैतदर्शी थे, फिर उनको ऐसी भेददृष्टि कैसे हुई ? यह सब आप कृपा करके मुझे बतलाइये ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णने वह शरीर धारण करके जिसमें सम्पूर्ण सुन्दर पदार्थोंका सन्निवेश था (नेत्रोंमें मृगनयन, कन्धोंमें सिंहस्कन्ध, करोंमें करि-कर, चरणोंमें कमल आदिका विन्यास था ।) पृथ्वीमें मङ्गलमय कल्याणकारी कर्मोंका आचरण किया ।

१. श्रीबादरायणिरुवाच ।

आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥१०॥
कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन् मुनयो निसृष्टाः॥११॥
विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः ॥१२॥
क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः ।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत् ॥१३॥
ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम् ।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा ॥१४॥
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् प्रब्रूतामोघदर्शनाः ।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित् सञ्जनयिष्यति ॥१५॥
एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप ।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम् ॥१६॥
तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम् ।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन् मुसलं खल्वयस्मयम्[1] ॥१७॥
किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः ।

वे पूर्णकाम प्रभु द्वारकाधाममें रहकर क्रीडा करते रहे और उन्होंने अपनी उदार कीर्तिकी स्थापना की। (जो कीर्ति स्वयं अपने आश्रयतकका दान कर सके वह उदार है।) अन्तमें श्रीहरिने अपने कुलके संहार—उपसंहारकी इच्छा की; क्योंकि अब पृथ्वीका भार उतरनेमें इतना ही कार्य शेष रह गया था ॥ १० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे परम मङ्गलमय और पुण्य-प्रापक कर्म किये, जिनका गान करनेवाले लोगोंके सारे कलिमल नष्ट हो जाते हैं। अब भगवान् श्रीकृष्ण महाराज उग्रसेनकी राजधानी द्वारकापुरीमें वसुदेवजीके घर यादवोंका संहार करनेके लिये कालरूपसे ही निवास कर रहे थे। उस समय उनके विदा कर देनेपर—विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ और नारद आदि बड़े-बड़े ऋषि द्वारकाके पास ही पिण्डारकक्षेत्रमें जाकर निवास करने लगे थे ॥ ११-१२ ॥

एक दिन यदुवंशके कुछ उद्दण्ड कुमार खेलते-खेलते उनके पास जा निकले। उन्होंने बनावटी नम्रतासे उनके चरणोंमें प्रणाम करके प्रश्न किया ॥ १३ ॥ वे जाम्बवतीनन्दन साम्बको स्त्रीके वेषमें सजाकर ले गये और कहने लगे, 'ब्राह्मणो! यह कजरारी आँखोंवाली सुन्दरी गर्भवती है। यह आपसे एक बात पूछना चाहती है। परन्तु स्वयं पूछनेमें सकुचाती है। आपलोगोंका ज्ञान अमोघ—अबाध है, आप सर्वज्ञ हैं। इसे पुत्रकी बड़ी लालसा है और अब प्रसवका समय निकट आ गया है। आपलोग बताइये, यह कन्या जनेगी या पुत्र?' ॥ १४-१५ ॥ परीक्षित्! जब उन कुमारोंने इस प्रकार उन ऋषि-मुनियोंको धोखा देना चाहा, तब वे भगवत्प्रेरणासे क्रोधित हो उठे। उन्होंने कहा—'मूर्खो! यह एक ऐसा मूसल पैदा करेगी, जो तुम्हारे कुलका नाश करनेवाला होगा' ॥ १६ ॥ मुनियोंकी यह बात सुनकर वे बालक बहुत ही डर गये। उन्होंने तुरंत साम्बका पेट खोलकर देखा तो सचमुच उसमें एक लोहेका मूसल मिला ॥ १७ ॥ अब तो वे पछताने लगे और कहने लगे—'हम बड़े अभागे हैं। देखो, हमलोगोंने

[1] खल्वयोमयम् ।

इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥१८॥
तं[1]चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः ।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥१९॥
श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप ।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः ॥२०॥
तं[2]चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः ।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम् ॥२१॥
कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः ।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः ॥२२॥
मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे ।
तस्योदरगतं लोहं[3] स शल्ये लुब्धकोऽकरोत् ॥२३॥
भगवाञ्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा ।
कर्तुं नैच्छद् विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥२४॥

यह क्या अनर्थ कर डाला? अब लोग हमें क्या कहेंगे?' इस प्रकार वे बहुत ही घबरा गये तथा मूसल लेकर अपने निवासस्थानमें गये ॥ १८ ॥ उस समय उनके चेहरे फीके पड़ गये थे। मुख कुम्हला गये थे। उन्होंने भरी सभामें सब यादवोंके सामने ले जाकर वह मूसल रख दिया और राजा उग्रसेनसे सारी घटना कह सुनायी ॥ १९ ॥ राजन्! जब सब लोगोंने ब्राह्मणोंके शापकी बात सुनी और अपनी आँखोंसे उस मूसलको देखा, तब सब-के-सब द्वारकावासी विस्मित और भयभीत हो गये; क्योंकि वे जानते थे कि ब्राह्मणोंका शाप कभी झूठा नहीं होता ॥ २० ॥ यदुराज उग्रसेनने उस मूसलको चूरा-चूरा करा डाला और उस चूरे तथा लोहेके बचे हुए छोटे टुकड़ेको समुद्रमें फेंकवा दिया। (इसके सम्बन्धमें उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कोई सलाह न ली; ऐसी ही उनकी प्रेरणा थी) ॥ २१ ॥

परीक्षित्! उस लोहेके टुकड़ेको एक मछली निगल गयी और चूरा तरङ्गोंके साथ बह-बहकर समुद्रके किनारे आ लगा। वह थोड़े दिनोंमें एरक (बिना गाँठकी एक घास) के रूपमें उग आया ॥ २२ ॥ मछली मारनेवाले मछुओंने समुद्रमें दूसरी मछलियोंके साथ उस मछलीको भी पकड़ लिया। उसके पेटमें जो लोहेका टुकड़ा था, उसको जरा नामक व्याधने अपने बाणके नोकमें लगा लिया ॥ २३ ॥ भगवान् सब कुछ जानते थे। वे इस शापको उलट भी सकते थे। फिर भी उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा। कालरूपधारी प्रभुने ब्राह्मणोंके शापका अनुमोदन ही किया ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

वसुदेवजीके पास श्रीनारदजीका आना और उन्हें राजा जनक तथा नौ योगीश्वरोंका संवाद सुनाना

श्रीशुक उवाच

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कुरुनन्दन! देवर्षि नारदके मनमें भगवान् श्रीकृष्णकी सन्निधिमें रहनेकी बड़ी लालसा थी। इसलिये वे श्रीकृष्णके निज बाहुओंसे

१. तं चोपनीय। २. तं चूर्णयित्वा। ३. लौहं शूलेषु लु०।

अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः॥ १ ॥

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥ २ ॥

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वसुदेव उवाच[1]

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥ ४ ॥

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च ।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ ५ ॥

भजन्ति ये यथा देवान्[2] देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ ६ ॥

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव ।
याञ्छ्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतोभयात् ॥ ७ ॥

सुरक्षित द्वारकामें—जहाँ दक्ष आदिके शापका कोई भय नहीं था, विदा कर देनेपर भी पुनः-पुनः आकर प्रायः रहा ही करते थे ॥ १ ॥ राजन् ! ऐसा कौन प्राणी है, जिसे इन्द्रियाँ तो प्राप्त हों और वह भगवान्‌के ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवताओंके भी उपास्य चरणकमलोंकी दिव्य गन्ध, मधुर मकरन्द-रस, अलौकिक रूपमाधुरी, सुकुमार स्पर्श और मङ्गलमय ध्वनिका सेवन करना न चाहे ? क्योंकि यह बेचारा प्राणी सब ओरसे मृत्युसे ही घिरा हुआ है ॥ २ ॥ एक दिनकी बात है, देवर्षि नारद वसुदेवजीके यहाँ पधारे । वसुदेवजीने उनका अभिवादन किया तथा आरामसे बैठ जानेपर विधिपूर्वक उनकी पूजा की और इसके बाद पुनः प्रणाम करके उनसे यह बात कही ॥ ३ ॥

वसुदेवजीने कहा—संसारमें माता-पिताका आगमन पुत्रोंके लिये और भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेवाले साधु-संतोंका पदार्पण प्रपञ्चमें उलझे हुए दीन-दुखियोंके लिये बड़ा ही सुखकर और बड़ा ही मङ्गलमय होता है । परन्तु भगवन् ! आप तो स्वयं भगवन्मय, भगवत्स्वरूप हैं । आपका चलना-फिरना तो समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये ही होता है ॥ ४ ॥ देवताओंके चरित्र भी कभी प्राणियोंके लिये दुःखके हेतु, तो कभी सुखके हेतु बन जाते हैं । परन्तु जो आप-जैसे भगवत्प्रेमी पुरुष हैं—जिनका हृदय, प्राण, जीवन, सब कुछ भगवन्मय हो गया है—उनकी तो प्रत्येक चेष्टा समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये ही होती है ॥ ५ ॥ जो लोग देवताओंका जिस प्रकार भजन करते हैं, देवता भी परछाईंके समान ठीक उसी रीतिसे भजन करनेवालोंको फल देते हैं; क्योंकि देवता कर्मके मन्त्री हैं, अधीन हैं । परन्तु सत्पुरुष दीनवत्सल होते हैं अर्थात् जो सांसारिक सम्पत्ति एवं साधनसे भी हीन हैं, उन्हें अपनाते हैं ॥ ६ ॥ ब्रह्मन् ! (यद्यपि हम आपके शुभागमन और शुभ दर्शनसे ही कृतकृत्य हो गये हैं) तथापि आपसे उन धर्मोंके—साधनोंके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहे हैं, जिनको मनुष्य श्रद्धासे सुन भर ले तो इस सब ओरसे भयदायक

१. प्राचीन प्रतिमें 'वसुदेव उवाच' नहीं है । २. देवांस्तांस्तथैव विमत्सराः ।

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम् ।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥
यथा विचित्रव्यसनाद् भवद्भिर्विश्वतोभयात् ।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता ।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥१०॥

नारद उवाच

सम्यगेतद् व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।
यत् पृच्छसे भागवतान् धर्मांस्त्वं विश्वभावनान्॥११॥
श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ॥१२॥
त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥१३॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥१४॥
प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥१५॥
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।

संसारसे मुक्त हो जाय ॥ ७ ॥ पहले जन्ममें मैंने मुक्ति देनेवाले भगवान्‌की आराधना तो की थी, परन्तु इसलिये नहीं कि मुझे मुक्ति मिले । मेरी आराधनाका उद्देश्य था कि वे मुझे पुत्ररूपमें प्राप्त हों । उस समय मैं भगवान्‌की लीलासे मुग्ध हो रहा था ॥ ८ ॥ सुव्रत ! अब आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मैं इस जन्म-मृत्युरूप भयावह संसारसे—जिसमें दुःख भी सुखका विचित्र और मोहक रूप धारण करके सामने आते हैं—अनायास ही पार हो जाऊँ ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! बुद्धिमान् वसुदेवजीने भगवान्‌के स्वरूप और गुण आदिके श्रवणके अभिप्रायसे ही यह प्रश्न किया था । देवर्षि नारद उनका प्रश्न सुनकर भगवान्‌के अचिन्त्य अनन्त कल्याणमय गुणोंके स्मरणमें तन्मय हो गये और प्रेम एवं आनन्दमें भरकर वसुदेवजीसे बोले ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—यदुवंशशिरोमणे ! तुम्हारा यह निश्चय बहुत ही सुन्दर है; क्योंकि यह भागवतधर्मके सम्बन्धमें है, जो सारे विश्वको जीवन-दान देनेवाला है, पवित्र करनेवाला है ॥ ११ ॥ वसुदेवजी ! यह भागवत-धर्म एक ऐसी वस्तु है, जिसे कानोंसे सुनने, वाणीसे उच्चारण करने, चित्तसे स्मरण करने, हृदयसे स्वीकार करने या कोई इसका पालन करने जा रहा हो तो उसका अनुमोदन करनेसे ही मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है—चाहे वह सारे संसारका द्रोही ही क्यों न हो ॥ १२ ॥ जिनके गुण, लीला और नाम आदिका श्रवण तथा कीर्तन पतितोंको भी पावन करनेवाला है, उन्हीं परम कल्याणस्वरूप मेरे आराध्यदेव भगवान् नारायणका तुमने आज मुझे स्मरण कराया है ॥ १३ ॥ वसुदेवजी ! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है, इसके सम्बन्धमें संत पुरुष एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं । वह इतिहास है—ऋषभके पुत्र नौ योगीश्वरों और महात्मा विदेहका शुभ संवाद ॥ १४ ॥ तुम जानते ही हो कि स्वायम्भुव मनुके एक प्रसिद्ध पुत्र थे प्रियव्रत । प्रियव्रतके आग्नीध्र, आग्नीध्रके नाभि और नाभिके पुत्र हुए ऋषभ ॥ १५ ॥ शास्त्रोंने उन्हें भगवान् वासुदेवका अंश कहा है । मोक्षधर्मका उपदेश करनेके लिये उन्होंने

अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ॥१६॥
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥१७॥
स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥१८॥
तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥१९॥
नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥२०॥
कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥२१॥
त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम् ॥२२॥

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य-
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान्।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ॥२३॥

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः ॥२४॥
तान् दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान् महाभागवतान् नृपः।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥२५॥

अवतार ग्रहण किया था। उनके सौ पुत्र थे और सब-के-सब वेदोंके पारदर्शी विद्वान् थे ॥ १६ ॥ उनमें सबसे बड़े थे राजर्षि भरत। वे भगवान् नारायणके परम प्रेमी भक्त थे। उन्हींके नामसे यह भूमिखण्ड, जो पहले 'अजनाभवर्ष' कहलाता था, 'भारतवर्ष' कहलाया। यह भारतवर्ष भी एक अलौकिक स्थान है ॥ १७ ॥ राजर्षि भरतने सारी पृथ्वीका राज्यभोग किया, परन्तु अन्तमें इसे छोड़कर वनमें चले गये। वहाँ उन्होंने तपस्याके द्वारा भगवान्‌की उपासना की और तीन जन्मोंमें वे भगवान्‌को प्राप्त हुए ॥ १८ ॥ भगवान् ऋषभदेवजीके शेष निन्यानवे पुत्रोंमें नौ पुत्र तो इस भारतवर्षके सब ओर स्थित नौ द्वीपोंके अधिपति हुए और इक्यासी पुत्र कर्मकाण्डके रचयिता ब्राह्मण हो गये ॥ १९ ॥ शेष नौ संन्यासी हो गये। वे बड़े ही भाग्यवान् थे। उन्होंने आत्मविद्याके सम्पादनमें बड़ा परिश्रम किया था और वास्तवमें वे उसमें बड़े निपुण थे। वे प्रायः दिगम्बर ही रहते थे और अधिकारियोंको परमार्थ-वस्तुका उपदेश किया करते थे। उनके नाम थे—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ॥ २०-२१ ॥ वे इस कार्य-कारण और व्यक्त-अव्यक्त भगवद्रूप जगत्‌को अपने आत्मासे अभिन्न अनुभव करते हुए पृथ्वीपर स्वच्छन्द विचरण करते थे ॥ २२ ॥ उनके लिये कहीं भी रोक-टोक न थी। वे जहाँ चाहते, चले जाते। देवता, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागोंके लोकोंमें तथा मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओंके स्थानोंमें वे स्वच्छन्द विचरते थे। वसुदेवजी! वे सब-के-सब जीवन्मुक्त थे ॥ २३ ॥

एक बारकी बात है, इस अजनाभ (भारत) वर्षमें विदेहराज महात्मा निमि बड़े-बड़े ऋषियोंके द्वारा एक महान् यज्ञ करा रहे थे। पूर्वोक्त नौ योगीश्वर स्वच्छन्द विचरण करते हुए उनके यज्ञमें जा पहुँचे ॥ २४ ॥ वसुदेवजी! वे योगीश्वर भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त और सूर्यके समान तेजस्वी थे। उन्हें देखकर राजा निमि, आहवनीय आदि मूर्तिमान् अग्नि और ऋत्विज आदि ब्राह्मण सब-के-सब उनके स्वागतमें खड़े हो गये ॥ २५ ॥

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान् ।
प्रीतः सम्पूजयाञ्चक्रे आसनस्थान् यथार्हतः ॥२६॥
तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव ।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥२७॥

विदेह उवाच

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः ।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥२८॥
दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥२९॥
अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्॥३०
धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥३१॥

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः ।
प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥३२॥

कविरुवाच

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।

विदेहराज निमिने उन्हें भगवान्‌के परम प्रेमी भक्त जानकर यथायोग्य आसनोंपर बैठाया और प्रेम तथा आनन्दसे भरकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की ॥ २६ ॥ वे नवों योगीश्वर अपने अङ्गोंकी कान्तिसे इस प्रकार चमक रहे थे, मानो साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि मुनीश्वर ही हों ! राजा निमिने विनयसे झुककर परम प्रेमके साथ उनसे प्रश्न किया ॥ २७ ॥

विदेहराज निमिने कहा—भगवन् ! मैं ऐसा समझता हूँ कि आपलोग मधुसूदन भगवान्‌के पार्षद ही हैं, क्योंकि भगवान्‌के पार्षद संसारी प्राणियोंको पवित्र करनेके लिये विचरण किया करते हैं ॥ २८ ॥ जीवोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना दुर्लभ है । यदि यह प्राप्त भी हो जाता है तो प्रतिक्षण मृत्युका भय सिरपर सवार रहता है; क्योंकि यह क्षणभङ्गुर है । इसलिये अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्‌के प्यारे और उनको प्यार करने-वाले भक्तजनोंका, संतोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है ॥ २९ ॥ इसलिये त्रिलोकपावन महात्माओ ! हम आपलोगोंसे यह प्रश्न करते हैं कि परम कल्याणका स्वरूप क्या है ? और उसका साधन क्या है ? इस संसारमें आधे क्षणका सत्सङ्ग भी मनुष्योंके लिये परम निधि है ॥ ३० ॥ योगीश्वरो ! यदि हम सुननेके अधिकारी हों तो आप कृपा करके भागवत-धर्मोंका उपदेश कीजिये; क्योंकि उनसे जन्मादि विकारसे रहित, एकरस भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं और उन धर्मोंका पालन करने-वाले शरणागत भक्तोंको अपने-आपतकका दान कर डालते हैं ॥ ३१ ॥

देवर्षि नारदजीने कहा—वसुदेवजी ! जब राजा निमिने उन भगवत्प्रेमी संतोंसे यह प्रश्न किया, तब उन लोगोंने बड़े प्रेमसे उनका और उनके प्रश्नका सम्मान किया और सदस्य तथा ऋत्विजोंके साथ बैठे हुए राजा निमिसे बोले ॥ ३२ ॥

पहले उन नौ योगीश्वरोंमेंसे कविजीने कहा—राजन् ! भक्तजनोंके हृदयसे कभी दूर न होनेवाले अच्युत भगवान्‌के चरणोंकी नित्य-निरन्तर उपासना ही इस संसारमें परम कल्याण—आत्यन्तिक क्षेम है और

१. वपुषा । २. प्रपन्नाय भगवान् ।

उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्

विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥३३॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।

अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥३४॥

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।

धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥३५॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा

बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै

नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥३६॥

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-

दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।

तन्माययातो बुध आभजेत्तं

भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो-

र्ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।

तत् कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो

बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥३८॥

सर्वथा भय शून्य है, ऐसा मेरा निश्चित मत है। देह, गेह आदि तुच्छ एवं असत् पदार्थोंमें अहंता एवं ममता हो जानेके कारण जिन लोगोंकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासनाका अनुष्ठान करनेपर पूर्णतया निवृत्त हो जाता है ॥ ३३ ॥ भगवान्‌ने भोले-भाले अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे साक्षात् अपनी प्राप्तिके लिये जो उपाय स्वयं श्रीमुखसे बतलाये हैं, उन्हें ही 'भागवतधर्म' समझो ॥ ३४ ॥ राजन् ! इन भागवतधर्मोंका अवलम्बन करके मनुष्य कभी विघ्नोंसे पीड़ित नहीं होता और नेत्र बंद करके दौड़नेपर भी अर्थात् विधि विधानमें त्रुटि हो जानेपर भी न तो मार्गसे स्खलित ही होता है और न तो पतित—फलसे वञ्चित ही होता है ॥ ३५ ॥ (भागवतधर्मका पालन करनेवालेके लिये यह नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकारका कर्म ही करे।) वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे स्वभाववश जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे। (यही सरल-से-सरल, सीधा-सा भागवतधर्म है) ॥ ३६ ॥ ईश्वरसे विमुख पुरुषको उनकी मायासे अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृतिसे ही 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ,' इस प्रकारका भ्रम—विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तुमें अभिनिवेश, तन्मयता होनेके कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं। इसलिये अपने गुरुको ही आराध्यदेव परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्तिके द्वारा उस ईश्वरका भजन करना चाहिये ॥ ३७ ॥ राजन् ! सच पूछो तो भगवान्‌के अतिरिक्त, आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। परन्तु न होनेपर भी इसकी प्रतीति इसका चिन्तन करनेवालेको उसके चिन्तनके कारण, उधर मन लगनेके कारण ही होती है—जैसे स्वप्नके समय स्वप्नद्रष्टाकी कल्पनासे अथवा जाग्रत् अवस्थामें नाना प्रकारके मनोरथोंसे एक विलक्षण ही सृष्टि दीखने लगती है। इसलिये विचारवान् पुरुषको चाहिये कि सांसारिक कर्मोंके सम्बन्धमें सङ्कल्प-विकल्प करनेवाले मनको रोक दे—कैद कर ले। बस, ऐसा करते ही उसे अभय पदकी, परमात्माकी प्राप्ति हो

१. श्र।

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-

र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।

गीतानि नामानि तदर्थकानि

गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥३९॥

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या

जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।

हसत्यथो रोदिति रौति गाय-

त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥४०॥

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च

ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं

यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥४१॥

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-

रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।

प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-

स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥४२॥

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या

भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।

जायगी ॥३८॥ संसारमें भगवान्के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-सङ्कोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये ॥ ३९ ॥ जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत—नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे अनुरागका, प्रेमका अङ्कुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोगोंकी मान्यताओं, धारणाओंसे परे हो जाता है। और दम्भसे नहीं, स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्को पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है। कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमको अपने नेत्रोंके सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है ॥ ४० ॥ राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावसे भगवद्भावसे प्रणाम करता है ॥ ४१ ॥ जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि (जीवनशक्तिका सञ्चार) और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक साथ होते जाते हैं; वैसे ही जो मनुष्य भगवान्की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है ॥४२॥ राजन्! इस प्रकार जो प्रतिक्षण एक-एक वृत्तिके द्वारा भगवान्के चरण-कमलोंका ही भजन करता है, उसे भगवान्के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारके प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम

भवन्ति वै भागवतस्य राजं-

स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥४३॥

राजोवाच

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम् ।

यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥४४॥

हरिरुवाच

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।

भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥४५॥

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।

प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥४६॥

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥४७॥

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।

विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥४८॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो

जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।

भगवान्‌के स्वरूपकी स्फूर्ति—ये सब अवश्य ही प्राप्त होते हैं, वह भागवत हो जाता है और जब ये सब प्राप्त हो जाते हैं, तब वह स्वयं परम शान्तिका अनुभव करने लगता है ॥४३॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वर ! अब आप कृपा करके भगवद्भक्तका लक्षण वर्णन कीजिये । उसके क्या धर्म हैं ? और कैसा स्वभाव होता है ? वह मनुष्योंके साथ व्यवहार करते समय कैसा आचरण करता है ? क्या बोलता है ? और किन लक्षणोंके कारण भगवान्‌का प्यारा होता है ? ॥ ४४ ॥

अब नौ योगीश्वरोंमेंसे दूसरे हरिजी बोले-राजन् ! आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित हैं । जो कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और साथ ही समस्त प्राणी और समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्‌में ही आधेयरूपसे अथवा अध्यस्तरूपसे स्थित हैं, अर्थात् वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही हैं—इस प्रकारका जिसका अनुभव है, ऐसी जिसकी सिद्ध दृष्टि है, उसे भगवान्‌का परमप्रेमी उत्तम भागवत समझना चाहिये ॥ ४५॥ जो भगवान्‌से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुखी और अज्ञानियोंपर कृपा तथा भगवान्‌से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटिका भागवत है ॥४६॥ और जो भगवान्‌के अर्चा-विग्रह—मूर्ति आदिकी पूजा तो श्रद्धासे करता है, परन्तु भगवान्‌के भक्तों या दूसरे लोगोंकी विशेष सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, वह साधारण श्रेणीका भगवद्भक्त है ॥ ४७ ॥ जो श्रोत्र-नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्द-रूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है; परन्तु अपनी इच्छाके प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और अनुकूल विषयोंके मिलनेपर हर्षित नहीं होता—उसकी यह दृष्टि बनी रहती है कि यह सब हमारे भगवान्‌की माया है—वह पुरुष उत्तम भागवत है ॥ ४८ ॥ संसारके धर्म हैं—जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा । ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते ही रहते हैं । जो पुरुष भगवान्‌की स्मृतिमें इतना तन्मय रहता है कि

संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥४९॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥५०॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥५३॥

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥५४॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥

इनके बार-बार होते-जाते रहनेपर भी उनसे मोहित नहीं होता, पराभूत नहीं होता, वह उत्तम भागवत है ॥४९॥ जिसके मनमें विषय-भोगकी इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति और उनके बीज-वासनाओंका उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है ॥ ५० ॥ जिनका इस शरीरमें न तो सत्कुलमें जन्म, तपस्या आदि कर्मसे तथा न वर्ण, आश्रम एवं जातिसे ही अहंभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान्‌का प्यारा है ॥ ५१ ॥ जो धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें 'यह अपना है और यह पराया—' इस प्रकारका भेद-भाव नहीं रखता, समस्त पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता रहता है, समभाव रखता है तथा किसी भी घटना अथवा सङ्कल्पसे विक्षिप्त न होकर शान्त रहता है, वह भगवान्‌का उत्तम भक्त है ॥ ५२ ॥ राजन्! बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्‌के ऐसे चरणकमलोंसे आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी सन्निधि और सेवामें ही संलग्न रहता है; यहाँतक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृतिका तार नहीं तोड़ता, उस राज्यलक्ष्मीकी ओर ध्यान ही नहीं देता; वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५३ ॥ रास-लीलाके अवसरपर नृत्य-गतिसे भाँति-भाँतिके पाद-विन्यास करनेवाले निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-निधि भगवान्‌के चरणोंके अङ्गुलि-नखकी मणि-चन्द्रिकासे जिन शरणागत भक्तजनोंके हृदयका विरहजन्य संताप एक बार दूर हो चुका है, उनके हृदयमें वह फिर कैसे आ सकता है, जैसे चन्द्रोदय होनेपर सूर्यका ताप नहीं लग सकता ॥५४॥ विवशतासे नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण अघ-राशिको नष्ट कर देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरण कमलोंको बाँध रक्खा है, वास्तवमें ऐसा पुरुष ही भगवान्‌के भक्तोंमें प्रधान है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥ ७ ॥
धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥ ८ ॥
शतवर्षा[1] ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति ॥ ९ ॥
पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः ।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग् वर्धते वायुनेरितः ॥ १० ॥
सांवर्तको[2] मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥ ११ ॥
ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ॥ १२ ॥
वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥ १३ ॥
हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ॥ १४ ॥
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ।

लगता है। यह भगवान्‌की माया है ॥ ६ ॥ इस प्रकार यह जीव ऐसी अनेक अमङ्गलमय कर्मगतियोंको, उनके फलोंको प्राप्त होता है और महाभूतोंके प्रलयपर्यन्त विवश होकर जन्मके बाद मृत्यु और मृत्युके बाद जन्मको प्राप्त होता रहता है—यह भगवान्‌की माया है ॥ ७ ॥ जब पञ्चभूतोंके प्रलयका समय आता है, तब अनादि और अनन्त काल स्थूल तथा सूक्ष्म द्रव्य एवं गुणरूप इस समस्त व्यक्त सृष्टिको अव्यक्तकी ओर, उसके मूल कारणकी ओर खींचता है—यह भगवान्‌की माया है ॥ ८ ॥ उस समय पृथ्वीपर लगातार सौ वर्षतक भयङ्कर सूखा पड़ता है, वर्षा बिल्कुल नहीं होती; प्रलयकालकी शक्तिसे सूर्यकी उष्णता और भी बढ़ जाती है तथा वे तीनों लोकोंको तपाने लगते हैं—यह भगवान्‌की माया है ॥ ९ ॥ उस समय शेषनाग—सङ्कर्षणके मुँहसे आगकी प्रचण्ड लपटें निकलती हैं और वायुकी प्रेरणासे वे लपटें पाताल-लोकसे जलाना आरम्भ करती हैं तथा और भी ऊँची-ऊँची होकर चारों ओर फैल जाती हैं—यह भगवान्‌की माया है ॥ १० ॥ इसके बाद प्रलयकालीन सांवर्तक मेघगण हाथीकी सूँड़के समान मोटी-मोटी धाराओंसे सौ वर्षतक बरसता रहता है। उससे यह विराट् ब्रह्माण्ड जलमें डूब जाता है—यह भगवान्‌की माया है ॥ ११ ॥ राजन्! उस समय जैसे बिना ईंधनके आग बुझ जाती है, वैसे ही विराट् पुरुष ब्रह्मा अपने ब्रह्माण्ड-शरीरको छोड़कर सूक्ष्मस्वरूप अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं—यह भगवान्‌की माया है ॥ १२ ॥ वायु पृथ्वीकी गन्ध खींच लेती है, जिससे वह जलके रूपमें हो जाती है और जब वही वायु जलके रसको खींच लेती है, तब वह जल अपना कारण अग्नि बन जाता है—यह भगवान्‌की माया है ॥ १३ ॥ जब अन्धकार अग्निका रूप छीन लेता है, तब वह अग्नि वायुमें लीन हो जाती है और जब अवकाशरूप आकाश वायुकी स्पर्श-शक्ति छीन लेता है, तब वह आकाशमें लीन हो जाता है—यह भगवान्‌की माया है ॥ १४ ॥ राजन्! तदनन्तर कालरूप ईश्वर आकाशके शब्द-गुणको हरण कर लेता है जिससे वह तामस अहङ्कारमें लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ और बुद्धि राजस अहङ्कारमें लीन होती हैं। मन सात्त्विक

१. शतवर्षाण्यनावृष्टिः। २. सांवर्तकः।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥१५॥
एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१६॥

अहङ्कारसे उत्पन्न देवताओंके साथ सात्त्विक अहङ्कारमें प्रवेश कर जाता है तथा अपने तीन प्रकारके कार्योंके साथ अहङ्कार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है। महत्तत्त्व प्रकृतिमें और प्रकृति ब्रह्ममें लीन होती है। फिर इसीके उल्टे क्रमसे सृष्टि होती है। यह भगवान्की माया है ॥ १५ ॥ यह सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाली त्रिगुणमयी माया है। इसका हमने आपसे वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? ॥ १६ ॥

राजोवाच

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् ॥१७॥

राजा निमिने पूछा—महर्षिजी! इस भगवान्की माया-को पार करना उन लोगोंके लिये तो बहुत ही कठिन है, जो अपने मनको वशमें नहीं कर पाये हैं। अब आप कृपा करके यह बताइये कि जो लोग शरीर आदिमें आत्मबुद्धि रखते हैं तथा जिनकी समझ मोटी है, वे भी अनायास ही इसे कैसे पार कर सकते हैं? ॥१७॥

प्रबुद्ध उवाच

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥१८॥
नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥१९॥
एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।

अब चौथे योगीश्वर प्रबुद्धजी बोले—राजन्! स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध आदि बन्धनोंमें बँधे हुए संसारी मनुष्य सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये बड़े-बड़े कर्म करते रहते हैं। जो पुरुष मायाके पार जाना चाहता है, उसको विचार करना चाहिये कि उनके कर्मोंका फल किस प्रकार विपरीत होता जाता है। वे सुखके बदले दुःख पाते हैं और दुःख-निवृत्तिके स्थानपर दिनों-दिन दुःख बढ़ता ही जाता है ॥ १८ ॥ एक धनको ही लो। इससे दिन-पर-दिन दुःख बढ़ता ही है, इसको पाना भी कठिन है और यदि किसी प्रकार मिल भी जाय तो आत्माके लिये तो यह मृत्युस्वरूप ही है। जो इसकी उलझनोंमें पड़ जाता है, वह अपने आपको भूल जाता है। इसी प्रकार घर, पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, पशु-धन आदि भी अनित्य और नाशवान् ही हैं; यदि कोई इन्हें जुटा भी ले तो इनसे क्या सुख-शान्ति मिल सकती है? ॥ १९ ॥ इसी प्रकार जो मनुष्य मायासे पार जाना चाहता है, उसे यह भी समझ लेना चाहिये कि मरनेके बाद प्राप्त होनेवाले लोक—परलोक भी ऐसे ही नाशवान् हैं। क्योंकि इस लोककी वस्तुओंके समान वे भी कुछ सीमित कर्मोंके सीमित फलमात्र हैं। वहाँ भी पृथ्वीके छोटे-छोटे राजाओंके समान बराबरवालोंसे होड़

सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥२०॥
तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥२१॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥२२॥
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥२३॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥२४॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥२५॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।

अथवा लाग-डाँट रहती है, अधिक ऐश्वर्य और सुखवालोंके प्रति छिद्रान्वेषण तथा ईर्ष्या-द्वेषका भाव रहता है, कम सुख और ऐश्वर्यवालोंके प्रति घृणा रहती है एवं कर्मोंका फल पूरा हो जानेपर वहाँसे पतन तो होता ही है। उसका नाश निश्चित है। नाशका भय वहाँ भी नहीं छूट पाता ॥ २० ॥ इसलिये जो परम कल्याणका जिज्ञासु हो, उसे गुरुदेवकी शरण लेनी चाहिये। गुरुदेव ऐसे हों, जो शब्दब्रह्म—वेदोंके पारदर्शी विद्वान् हों, जिससे वे ठीक-ठीक समझा सकें; और साथ ही परब्रह्ममें परिनिष्ठित तत्त्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने अनुभवके द्वारा प्राप्त हुई रहस्यकी बातोंको बता सकें। उनका चित्त शान्त हो, व्यवहारके प्रपञ्चमें विशेष प्रवृत्त न हो ॥ २१ ॥ जिज्ञासुको चाहिये कि गुरुको ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। उनकी निष्कपटभावसे सेवा करे और उनके पास रहकर भागवतधर्मकी—भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले भक्तिभावके साधनोंकी क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनोंसे सर्वात्मा एवं भक्तको अपने आत्माका दान करनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥२२॥ पहले शरीर, सन्तान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखे। फिर भगवान्‌के भक्तोंसे प्रेम कैसा करना चाहिये—यह सीखे। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहण करे ॥ २३ ॥ मिट्टी, जल आदिसे बाह्य शरीरकी पवित्रता, छल-कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषादसे रहित होना सीखे ॥ २४ ॥ सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें चेतनरूपसे आत्मा और नियन्तारूपसे ईश्वरको देखना, एकान्त सेवन, 'यही मेरा घर है'—ऐसा भाव न रखना, गृहस्थ हो तो पवित्र वस्त्र पहनना और त्यागी हो तो फटे-पुराने पवित्र चिथड़े, जो कुछ प्रारब्धके अनुसार मिल जाय, उसीमें सन्तोष करना सीखे ॥ २५ ॥ भगवान्‌की प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले शास्त्रोंमें श्रद्धा और दूसरे किसी भी शास्त्रकी निन्दा न करना, प्राणायामके द्वारा मनका, मौनके द्वारा वाणीका और वासनाहीनताके अभ्याससे

मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥२६॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥२७॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् २८
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥३०॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ३१
क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।

कर्मोंका संयम करना, सत्य बोलना, इन्द्रियोंको अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर रखना और मनको कहीं बाहर न जाने देना सीखे ॥ २६ ॥ राजन् ! भगवान्‌की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना तथा शरीरसे जितनी भी चेष्टाएँ हों, सब भगवान्‌के लिये करना सीखे ॥ २७ ॥ यज्ञ, दान, तप अथवा जप, सदाचारका पालन और स्त्री, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण तथा जो कुछ अपनेको प्रिय लगता हो,—सब-का-सब भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन करना, उन्हें सौंप देना सीखे ॥ २८ ॥ जिन संत पुरुषोंने सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका अपने आत्मा और स्वामीके रूपमें साक्षात्कार कर लिया हो, उनसे प्रेम और स्थावर, जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणियोंकी सेवा; विशेष करके मनुष्योंकी, मनुष्योंमें भी परोपकारी सज्जनोंकी और उनमें भी भगवत्प्रेमी संतोंकी, करना सीखे ॥ २९ ॥ भगवान्‌के परम पावन यशके सम्बन्धमें ही एक-दूसरेसे बातचीत करना और इस प्रकारके साधकोंका इकट्ठे होकर आपसमें प्रेम करना, आपसमें सन्तुष्ट रहना और प्रपञ्चसे निवृत्त होकर आपसमें ही आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव करना सीखे ॥ ३० ॥ राजन् ! श्रीकृष्ण राशि-राशि पापोंको एक क्षणमें भस्म कर देते हैं। सब उन्हींका स्मरण करें और एक-दूसरेको स्मरण करावें। इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्तिका उदय हो जाता है और वे प्रेमोद्रेकसे पुलकित शरीर धारण करते हैं ॥ ३१ ॥ उनके हृदयकी बड़ी विलक्षण स्थिति होती है। कभी-कभी वे इस प्रकार चिन्ता करने लगते हैं कि अबतक भगवान् नहीं मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन मुझे उनकी प्राप्ति करावे ? इस तरह सोचते-सोचते वे रोने लगते हैं, तो कभी भगवान्‌की लीलाकी स्फूर्ति हो जानेसे ऐसा देखकर कि परमैश्वर्यशाली भगवान् गोपियोंके डरसे छिपे हुए हैं, खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। कभी-कभी उनके प्रेम और दर्शनकी अनुभूतिसे आनन्दमग्न हो जाते हैं तो कभी लोकातीत

१. प्राणान् परस्मै च ।

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं

भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥३२॥

भावमें स्थित होकर भगवान्‌के साथ बातचीत करने लगते हैं। कभी मानो उन्हें सुना रहे हों, इस प्रकार उनके गुणोंका गान छेड़ देते हैं और कभी नाच-नाचकर उन्हें रिझाने लगते हैं। कभी-कभी उन्हें अपने पास न पाकर इधर-उधर ढूँढ़ने लगते हैं, तो कभी-कभी उनसे एक होकर, उनकी सन्निधिमें स्थित होकर परम शान्तिका अनुभव करते और चुप हो जाते हैं॥ ३२ ॥

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।

नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥३३॥

राजन्! जो इस प्रकार भागवतधर्मोंकी शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेम-भक्तिकी प्राप्ति हो जाती है और वह भगवान् नारायणके परायण होकर उस मायाको अनायास ही पार कर जाता है, जिसके पंजेसे निकलना बहुत ही कठिन है॥ ३३ ॥

राजोवाच

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।

निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः ॥३४॥

राजा निमिने पूछा—महर्षियो! आपलोग परमात्माका वास्तविक स्वरूप जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिये मुझे यह बतलाइये कि जिस परब्रह्म परमात्माका 'नारायण' नामसे वर्णन किया जाता है, उनका स्वरूप क्या है? ॥ ३४ ॥

पिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य

यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च ।

देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन

सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥३५॥

अब पाँचवें योगीश्वर पिप्पलायनजीने कहा—राजन्! जो इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निमित्त-कारण और उपादान-कारण दोनों ही है, बननेवाला भी है और बनानेवाला भी—परन्तु स्वयं कारणरहित है; जो स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाओंमें उनके साक्षीके रूपमें विद्यमान रहता है और उनके अतिरिक्त समाधिमें भी ज्यों-का-त्यों एकरस रहता है; जिसकी सत्तासे ही सत्तावान् होकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण अपना-अपना काम करनेमें समर्थ होते हैं, उसी परम सत्य वस्तुको आप 'नारायण' समझिये ।३५।

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा

प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।

जैसे चिनगारियाँ न तो अग्निको प्रकाशित ही कर सकती हैं और न जला ही सकती हैं, वैसे ही उस परमतत्त्वमें—आत्मस्वरूपमें न तो मनकी गति है और न वाणीकी, नेत्र उसे देख नहीं सकते और बुद्धि सोच नहीं सकती, प्राण और इन्द्रियाँ तो उसके पासतक नहीं फटक पातीं। 'नेति-नेति'—इत्यादि श्रुतियोंके शब्द भी, वह यह है—इस रूपमें उसका वर्णन नहीं करते, बल्कि

शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल-

मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥३६॥

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ

सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।

ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति

ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥३७॥

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ

न क्षीयते सवनविद्[1] व्यभिचारिणां हि ।

सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं

प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥३८॥

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु

प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।

उसको बोध करानेवाले जितने भी साधन हैं, उनका निषेध करके तात्पर्यरूपसे अपना मूल—निषेधका मूल लखा देते हैं। क्योंकि यदि निषेधके आधारकी, आत्माकी सत्ता न हो तो निषेध कौन कर रहा है, निषेधकी वृत्ति किसमें है—इन प्रश्नोंका कोई उत्तर ही न रहे, निषेधकी ही सिद्धि न हो ॥ ३६ ॥ जब सृष्टि नहीं थी, तब केवल एक वही था। सृष्टिका निरूपण करनेके लिये उसीको त्रिगुण (सत्त्व-रज-तम) मयी प्रकृति कहकर वर्णन किया गया। फिर उसीको ज्ञानप्रधान होनेसे महत्तत्त्व, क्रियाप्रधान होनेसे सूत्रात्मा और जीवकी उपाधि होनेसे अहङ्कारके रूपमें वर्णन किया गया। वास्तवमें जितनी भी शक्तियाँ हैं—चाहे वे इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंके रूपमें हों, चाहे इन्द्रियोंके, उनके विषयोंके अथवा विषयोंके प्रकाशके रूपमें हों—सब-का-सब वह ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्मकी शक्ति अनन्त है। कहाँतक कहूँ ? जो कुछ दृश्य-अदृश्य, कार्य-कारण, सत्य और असत्य है—सब कुछ ब्रह्म है। इनसे परे जो कुछ है, वह भी ब्रह्म ही है ॥ ३७ ॥ वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न मरता है। वह न तो बढ़ता है और न घटता ही है। जितने भी परिवर्तनशील पदार्थ हैं—चाहे वे क्रिया, सङ्कल्प और उनके अभावके रूपमें ही क्यों न हों—सबकी भूत, भविष्यत् और वर्तमान सत्ताका वह साक्षी है। सबमें है। देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, अविनाशी है। वह उपलब्धि करनेवाला अथवा उपलब्धिका विषय नहीं है। केवल उपलब्धिस्वरूप—ज्ञानस्वरूप है। जैसे प्राण तो एक ही रहता है, परन्तु स्थानभेदसे उसके अनेक नाम हो जाते हैं—वैसे ही ज्ञान एक होनेपर भी इन्द्रियोंके सहयोगसे उसमें अनेकताकी कल्पना हो जाती है ॥ ३८ ॥ जगत्‌में चार प्रकारके जीव होते हैं—अंडा फोड़कर पैदा होनेवाले पक्षी-साँप आदि, नालमें बँधे पैदा होनेवाले पशु-मनुष्य, धरती फोड़कर निकलनेवाले वृक्ष-वनस्पति और पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले खटमल आदि। इन सभी जीव-शरीरोंमें प्राणशक्ति जीवके पीछे लगी रहती है। शरीरोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी प्राण एक ही रहता है।

१. निधनविद् व्यभिचारिणां।

सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते

कूटस्थ आशयमृते[1] तदनुस्मृतिर्नः ॥३९॥

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या

चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि ।

तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं

साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः[2] ॥४०॥

सुषुप्ति-अवस्थामें जब इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं, अहङ्कार भी सो जाता है—लीन हो जाता है, अर्थात् लिङ्गशरीर नहीं रहता, उस समय यदि कूटस्थ आत्मा भी न हो तो इस बातकी पीछेसे स्मृति ही कैसे हो कि मैं सुखसे सोया था ! पीछे होनेवाली यह स्मृति ही उस समय आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित करती है ॥ ३९ ॥ जब भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे तीव्र भक्ति की जाती है तब वह भक्ति ही अग्निकी भाँति गुण और कर्मोंसे उत्पन्न हुए चित्तके सारे मलोंको जला डालती है । जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है—जैसे नेत्रोंके निर्विकार हो जानेपर सूर्यके प्रकाशकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है ॥ ४० ॥

राजोवाच

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।

विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥४१॥

एवं प्रश्नमृषीन् पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ।

नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥४२॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो ! अब आपलोग हमें कर्मयोगका उपदेश कीजिये, जिसके द्वारा शुद्ध होकर मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र परम नैष्कर्म्य अर्थात् कर्तृत्व, कर्म और कर्मफलको निवृत्त करनेवाला ज्ञान प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥ एक बार यही प्रश्न मैंने अपने पिता महाराज इक्ष्वाकुके सामने ब्रह्माजीके मानस पुत्र सनकादि ऋषियोंसे पूछा था, परन्तु उन्होंने सर्वज्ञ होनेपर भी मेरे प्रश्नका उत्तर न दिया । इसका क्या कारण था ? कृपा करके मुझे बतलाइये ॥ ४२ ॥

आविर्होत्र उवाच

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।

वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥४३॥

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।

अब छठे योगीश्वर आविर्होत्रजीने कहा—राजन् ! कर्म (शास्त्रविहित), अकर्म (निषिद्ध) और विकर्म (विहितका उल्लङ्घन)—ये तीनों एकमात्र वेदके द्वारा जाने जाते हैं, इनकी व्यवस्था लौकिक रीतिसे नहीं होती । वेद अपौरुषेय हैं—ईश्वररूप हैं; इसलिये उनके तात्पर्यका निश्चय करना बहुत कठिन है । इसीसे बड़े-बड़े विद्वान् भी उनके अभिप्रायका निर्णय करनेमें भूल कर बैठते हैं । (इसीसे तुम्हारे बचपनकी ओर देखकर—तुम्हें अनधिकारी समझकर सनकादि ऋषियोंने तुम्हारे प्रश्नका उत्तर नहीं दिया) ॥ ४३ ॥ यह वेद परोक्षवादात्मक* है । यह कर्मोंकी निवृत्तिके लिये कर्मका विधान करता है, जैसे बालकको मिठाई आदिका लालच

१. आश्रयमृते । २. सवितुः प्रकाशः ।

* जिसमें शब्दार्थ कुछ और मालूम दे और तात्पर्यार्थ कुछ और हो—उसे परोक्षवाद कहते हैं ।

कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥४४॥
नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥४५॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥४६॥

देकर औषध खिलाते हैं, वैसे ही यह अनभिज्ञोंको स्वर्ग आदिका प्रलोभन देकर श्रेष्ठ कर्ममें प्रवृत्त करता है ॥ ४४ ॥ जिसका अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वह यदि मनमाने ढंगसे वेदोक्त कर्मोंका परित्याग कर देता है, तो वह विहित कर्मोंका आचरण न करनेके कारण विकर्मरूप अधर्म ही करता है। इसलिये वह मृत्युके बाद फिर मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥ इसलिये फलकी अभिलाषा छोड़कर और विश्वात्मा भगवान्‌को समर्पित कर जो वेदोक्त कर्मका ही अनुष्ठान करता है, उसे कर्मोंकी निवृत्तिसे प्राप्त होनेवाली ज्ञानरूप सिद्धि मिल जाती है। जो वेदोंमें स्वर्गादिरूप फलका वर्णन है, उसका तात्पर्य फलकी सत्यतामें नहीं है, वह तो कर्मोंमें रुचि उत्पन्न करानेके लिये है ॥ ४६ ॥

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥४७॥
लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः ॥४८॥
शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः।
पिण्डं विशोध्य संन्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥४९॥
अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥५०॥
पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः।

राजन्! जो पुरुष चाहता है कि शीघ्र-से-शीघ्र मेरे ब्रह्मस्वरूप आत्माकी हृदय-ग्रन्थि—मैं और मेरेकी कल्पित गाँठ खुल जाय, उसे चाहिये कि वह वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही पद्धतियोंसे भगवान्‌की आराधना करे ॥ ४७ ॥ पहले सेवा आदिके द्वारा गुरुदेवकी दीक्षा प्राप्त करे, फिर उनके द्वारा अनुष्ठानकी विधि सीखे; अपनेको भगवान्‌की जो मूर्ति प्रिय लगे, अभीष्ट जान पड़े, उसीके द्वारा पुरुषोत्तम भगवान्‌की पूजा करे ॥ ४८ ॥ पहले स्नानादिसे शरीर और सन्तोष आदिसे अन्तःकरणको शुद्ध करे, इसके बाद भगवान्‌की मूर्तिके सामने बैठकर प्राणायाम आदिके द्वारा भूत-शुद्धि—नाडी-शोधन करे, तत्पश्चात् विधिपूर्वक मन्त्र, देवता आदिके न्याससे अङ्गरक्षा करके भगवान्‌की पूजा करे ॥ ४९ ॥ पहले पुष्प आदि पदार्थोंका जन्तु आदि निकालकर, पृथ्वीको सम्मार्जन आदिसे, अपनेको अव्यग्र होकर और भगवान्‌की मूर्तिको पहलेहीकी पूजाके लगे हुए पदार्थोंके क्षालन आदिसे पूजाके योग्य बनाकर फिर आसनपर मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल छिड़ककर पाद्य, अर्घ्य आदि पात्रोंको स्थापित करे। तदनन्तर एकाग्रचित्त होकर हृदयमें भगवान्‌का ध्यान करके फिर उसे सामनेकी श्रीमूर्तिमें चिन्तन करे। तदनन्तर हृदय, सिर, शिखा (हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा) इत्यादि मन्त्रोंसे

हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥५१॥

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥५२॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम् ॥५३॥
आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः ।
शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥५४॥
एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥५५॥

न्यास करे और अपने इष्टदेवके मूलमन्त्रके द्वारा देश, काल आदिके अनुकूल प्राप्त पूजा-सामग्रीसे प्रतिमा आदिमें अथवा हृदयमें भगवान्‌की पूजा करे ॥५०-५१॥ अपने-अपने उपास्यदेवके विग्रहकी हृदयादि अङ्ग, आयुधादि उपाङ्ग और पार्षदोंसहित उसके मूलमन्त्रद्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, दधि-अक्षतके* तिलक, माला, धूप, दीप और नैवेद्य आदिसे विधिवत् पूजा करे तथा फिर स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करके सपरिवार भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करे ॥ ५२-५३ ॥ अपने आपको भगवन्मय ध्यान करते हुए ही भगवान्‌की मूर्तिका पूजन करना चाहिये । निर्माल्यको अपने सिरपर रक्खे और आदरके साथ भगवद्विग्रहको यथास्थान स्थापित कर पूजा समाप्त करनी चाहिये ॥ ५४ ॥ इस प्रकार जो पुरुष अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि और अपने हृदयमें आत्मरूप श्रीहरिकी पूजा करता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन

राजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

द्रुमिल[3] उवाच

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो ! भगवान् स्वतन्त्रतासे अपने भक्तोंकी भक्तिके वश होकर अनेकों प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं और अनेकों लीलाएँ करते हैं । आपलोग कृपा करके भगवान्‌की उन लीलाओंका वर्णन कीजिये, जो वे अबतक कर चुके हैं, कर रहे हैं या करेंगे ॥ १ ॥

अब सातवें योगीश्वर द्रुमिलजीने कहा—राजन् ! भगवान् अनन्त हैं । उनके गुण भी अनन्त हैं । जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणोंको गिन लूँगा, वह मूर्ख है, बालक है । यह तो सम्भव है कि

१. याद्यैर्नानावासोविभूषणैः । २. यजेदी । ३. द्रविड ।

* विष्णुभगवान्‌की पूजामें अक्षतोंका प्रयोग केवल तिलकालंकारमें ही करना चाहिये, पूजामें नहीं—'नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुं न केतक्या महेश्वरम् ।'

रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्
 कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥ २ ॥
भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
 पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
 मवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥
यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
 यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
 सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥ ४ ॥
आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
 विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
 इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥ ५ ॥
धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
 नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः ।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
 योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

कोई किसी प्रकार पृथ्वीके धूलि-कणोंको गिन ले, परन्तु समस्त शक्तियोंके आश्रय भगवान्के अनन्त गुणोंका कोई कभी किसी प्रकार पार नहीं पा सकता ॥ २ ॥ भगवान्ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—इन पाँच भूतोंकी अपने-आपसे अपने-आपमें सृष्टि की है । जब वे इनके द्वारा विराट् शरीर; ब्रह्माण्डका निर्माण करके उसमें लीलासे अपने अंश अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करते हैं' (भोक्ता-रूपसे नहीं, क्योंकि भोक्ता तो अपने पुण्योंके फलस्वरूप जीव ही होता है) तब उन आदि-देव नारायणको 'पुरुष' नामसे कहते हैं, यही उनका पहला अवतार है ॥ ३ ॥ उन्हींके इस विराट् ब्रह्माण्ड-शरीरमें तीनों लोक स्थित हैं । उन्हींकी इन्द्रियोंसे समस्त देहधारियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं । उनके स्वरूपसे ही स्वतःसिद्ध ज्ञानका सञ्चार होता है । उनके श्वास-प्रश्वाससे सब शरीरोंमें बल आता है तथा इन्द्रियोंमें ओज (इन्द्रियोंकी शक्ति) और कर्म करनेकी शक्ति प्राप्त होती है । उन्हींके सत्त्व आदि गुणोंसे संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय होते हैं । इस विराट् शरीरके जो शरीरी हैं, वे ही आदिकर्ता नारायण हैं ॥ ४ ॥ पहले-पहल जगत्की उत्पत्तिके लिये उनके रजोगुणके अंशसे ब्रह्मा हुए, फिर वे आदिपुरुष ही संसारकी स्थितिके लिये अपने सत्त्वांशसे धर्म तथा ब्राह्मणोंके रक्षक यज्ञपति विष्णु बन गये । फिर वे ही तमोगुणके अंशसे जगत्के संहारके लिये रुद्र बने । इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे परिवर्तनशील प्रजाकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होते रहते हैं ॥ ५ ॥

दक्ष प्रजापतिकी एक कन्याका नाम था मूर्ति । वह धर्मकी पत्नी थी । उसके गर्भसे भगवान्ने ऋषिश्रेष्ठ शान्तात्मा 'नर' और 'नारायण' के रूपमें अवतार लिया । उन्होंने आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाले उस भगवदाराधनरूप कर्मका उपदेश किया, जो वास्तवमें कर्मबन्धनसे छुड़ानेवाला और नैष्कर्म्य स्थितिको प्राप्त करानेवाला है । उन्होंने स्वयं भी वैसे ही कर्मका अनुष्ठान किया । बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनके चरणकमलोंकी सेवा करते रहते हैं । वे आज भी बदरिकाश्रममें उसी कर्मका आचरण करते हुए विराजमान हैं ॥ ६ ॥

१. सत्त्वधाम्नः । २. निविष्टः । ३. मूर्त्यां ।

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति

कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ।

गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः

स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७ ॥

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः

प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ।

मा[1] भैष्ट भो मदन मारुत देववध्वो

गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥ ८ ॥

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः

सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ।

नैतद् विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं

स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९ ॥

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः

स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।

नान्यस्य बर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान्

धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥ १० ॥

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्व्यशैश्न्या-

नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित् ।

ये अपनी घोर तपस्याके द्वारा मेरा धाम छीनना चाहते हैं—इन्द्रने ऐसी आशंका करके स्त्री, वसन्त आदि दल-बलके साथ कामदेवको उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये भेजा। कामदेवको भगवान्‌की महिमाका ज्ञान न था; इसलिये वह अप्सरागण, वसन्त, तथा मन्द-सुगन्ध वायुके साथ बदरिकाश्रममें जाकर स्त्रियोंके कटाक्ष-बाणोंसे उन्हें घायल करनेकी चेष्टा करने लगा॥ ७ ॥ आदिदेव नर-नारायणने यह जानकर कि यह इन्द्रका कुचक्र है, भयसे काँपते हुए काम आदिकोंसे हँसकर कहा—उस समय उनके मनमें किसी प्रकारका अभिमान या आश्चर्य नहीं था। 'कामदेव, मलयमारुत और देवाङ्गनाओ! तुमलोग डरो मत; हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। अभी यहीं ठहरो, हमारा आश्रम सूना मत करो' ॥ ८ ॥ राजन्! जब नर-नारायण ऋषिने उन्हें अभयदान देते हुए इस प्रकार कहा, तब कामदेव आदिके सिर लज्जासे झुक गये। उन्होंने दयालु भगवान् नर-नारायणसे कहा—'प्रभो! आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि आप मायासे परे और निर्विकार हैं। बड़े-बड़े आत्माराम और धीर पुरुष निरन्तर आपके चरणकमलोंमें प्रणाम करते रहते हैं॥ ९ ॥ आपके भक्त आपकी भक्तिके प्रभावसे देवताओंकी राजधानी अमरावतीका उल्लङ्घन करके आपके परमपदको प्राप्त होते हैं। इसलिये जब वे भजन करने लगते हैं, तब देवतालोग तरह-तरहसे उनकी साधनामें विघ्न डालते हैं। किन्तु जो लोग केवल कर्मकाण्डमें लगे रहकर यज्ञादिके द्वारा देवताओंको बलिके रूपमें उनका भाग देते रहते हैं, उन लोगोंके मार्गमें वे किसी प्रकारका विघ्न नहीं डालते। परन्तु प्रभो! आपके भक्तजन उनके द्वारा उपस्थित की हुई विघ्न-बाधाओंसे गिरते नहीं। बल्कि आपके कर-कमलोंकी छत्रछायामें रहते हुए वे विघ्नोंके सिरपर पैर रखकर आगे बढ़ जाते हैं, अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होते ॥ १० ॥ बहुत-से लोग तो ऐसे होते हैं जो भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी एवं आँधी-पानीके कष्टोंको तथा रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियके वेगोंको, जो अपार समुद्रोंके समान हैं, सह लेते हैं—पार कर जाते हैं।

[1] १. मा भैष्ट भो ।

क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥११॥

परन्तु फिर भी वे उस क्रोधके वशमें हो जाते हैं, जो गायके खुरसे बने गड्ढेके समान है और जिससे कोई लाभ नहीं है—आत्मनाशक है। और प्रभो! वे इस प्रकार अपनी कठिन तपस्याको खो बैठते हैं' ॥ ११ ॥

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः ।
दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः ॥१२॥

जब कामदेव, वसन्त आदि देवताओंने इस प्रकार स्तुति की तब सर्वशक्तिमान् भगवान्ने अपने योगबलसे उनके सामने बहुत-सी ऐसी रमणियाँ प्रकट करके दिखलायीं, जो अद्भुत रूप-लावण्यसे सम्पन्न और विचित्र वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित थीं तथा भगवान्की सेवा कर रही थीं ॥ १२ ॥

ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः ।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥१३॥

जब देवराज इन्द्रके अनुचरोंने उन लक्ष्मीजीके समान रूपवती स्त्रियोंको देखा, तब उनके महान् सौन्दर्यके सामने उनका चेहरा फीका पड़ गया, वे श्रीहीन होकर उनके शरीरसे निकलनेवाली दिव्य सुगन्धसे मोहित हो गये ॥ १३ ॥

तानाह देवदेवेशः प्रणतान् प्रहसन्निव ।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम् ॥१४॥

अब उनका सिर झुक गया। देवदेवेश भगवान् नारायण हँसते हुए-से उनसे बोले—'तुमलोग इनमेंसे किसी एक स्त्रीको, जो तुम्हारे अनुरूप हो, ग्रहण कर लो। वह तुम्हारे स्वर्गलोककी शोभा बढ़ानेवाली होगी॥ १४॥

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः ।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥१५॥

देवराज इन्द्रके अनुचरोंने 'जो आज्ञा' कहकर भगवान्के आदेशको स्वीकार किया तथा उन्हें नमस्कार किया। फिर उनके द्वारा बनायी हुई स्त्रियोंमेंसे श्रेष्ठ अप्सरा उर्वशीको आगे करके वे स्वर्गलोकमें गये ॥ १५ ॥

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ॥१६॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने इन्द्रको नमस्कार किया तथा भरी सभामें देवताओंके सामने भगवान् नर-नारायणके बल और प्रभावका वर्णन किया। उसे सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त भयभीत और चकित हो गये ॥ १६ ॥

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः ।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥१७॥

भगवान् विष्णुने अपने स्वरूपमें एकरस स्थित रहते हुए भी सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके लिये बहुत-से कलावतार ग्रहण किये हैं। विदेहराज! हंस, दत्तात्रेय, सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार और हमारे पिता ऋषभके रूपमें अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्मसाक्षात्कार-के साधनोंका उपदेश किया है। उन्होंने ही हयग्रीव-अवतार लेकर मधु-कैटभ नामक असुरोंका संहार करके उन लोगोंके द्वारा चुराये हुए वेदोंका उद्धार किया

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम् ।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥१८॥

संस्तुन्वतोऽब्धिपतिताञ्छ्रमणानृषींश्च
शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम् ।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा
जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥१९॥

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन् सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः ।
भूत्वाथ वामन इमामहरद् बलेः क्ष्मां
याच्ञाच्छलेन समदाददितेः सुतेभ्यः ॥२०॥

निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन् सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ॥२१॥

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।

है ॥ १७ ॥ प्रलयके समय मत्स्यावतार लेकर उन्होंने भावी मनु सत्यव्रत, पृथ्वी और ओषधियोंकी—धान्यादि-की रक्षा की और वराहावतार ग्रहण करके पृथ्वीका रसातलसे उद्धार करते समय हिरण्याक्षका संहार किया। कूर्मावतार ग्रहण करके उन्हीं भगवान्ने अमृत-मन्थनका कार्य सम्पन्न करनेके लिये अपनी पीठपर मन्दराचल धारण किया और उन्हीं भगवान् विष्णुने अपने शरणागत एवं आर्त भक्त गजेन्द्रको ग्राहसे छुड़ाया ॥ १८ ॥ एक बार बालखिल्य ऋषि तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। वे जब कश्यप ऋषिके लिये समिधा ला रहे थे, तो थककर गायके खुरसे बने हुए गड्ढेमें गिर पड़े, मानो समुद्रमें गिर गये हों। उन्होंने जब स्तुति की, तब भगवान्ने अवतार लेकर उनका उद्धार किया। वृत्रासुरको मारनेके कारण जब इन्द्रको ब्रह्महत्या लगी और वे उसके भयसे भागकर छिप गये, तब भगवान्ने उस हत्यासे इन्द्रकी रक्षा की; और जब असुरोंने अनाथ देवाङ्गनाओंको बंदी बना लिया, तब भी भगवान्ने ही उन्हें असुरोंके चंगुलसे छुड़ाया। जब हिरण्यकशिपुके कारण प्रह्लाद आदि संत पुरुषोंको भय पहुँचने लगा, तब उनको निर्भय करनेके लिये भगवान्ने नृसिंहावतार ग्रहण किया और हिरण्यकशिपुको मार डाला ॥ १९ ॥ उन्होंने देवताओंकी रक्षाके लिये देवासुरसंग्राममें दैत्यपतियोंका वध किया और विभिन्न मन्वन्तरोंमें अपनी शक्तिसे अनेकों कलावतार धारण करके त्रिभुवनकी रक्षा की। फिर वामन-अवतार ग्रहण करके उन्होंने याचनाके बहाने इस पृथ्वीको दैत्यराज बलिसे छीन लिया और अदितिनन्दन देवताओंको दे दिया ॥ २० ॥ परशुराम-अवतार ग्रहण करके उन्होंने ही पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियहीन किया। परशुरामजी तो हैहयवंशका प्रलय करनेके लिये मानो भृगुवंशमें अग्नि-रूपसे ही अवतीर्ण हुए थे। उन्हीं भगवान्ने रामावतारमें समुद्रपर पुल बाँधा एवं रावण और उसकी राजधानी लङ्काको मटियामेट कर दिया। उनकी कीर्ति समस्त लोकोंके मलको नष्ट करनेवाली है। सीतापति भगवान् राम सदा-सर्वदा, सर्वत्र विजयी-ही-विजयी हैं ॥ २१ ॥ राजन्! अजन्मा होनेपर भी पृथ्वीका भार उतारनेके लिये वे ही भगवान् यदुवंशमें जन्म लेंगे और ऐसे-ऐसे कर्म करेंगे, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं कर सकते।

वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्
शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते॥२२॥
एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज॥२३॥

फिर आगे चलकर भगवान् ही बुद्धके रूपमें प्रकट होंगे और यज्ञके अनधिकारियोंको यज्ञ करते देखकर अनेक प्रकारके तर्क-वितर्कोंसे मोहित कर लेंगे और कलियुगके अन्तमें कल्कि-अवतार लेकर वे ही शूद्र राजाओंका वध करेंगे॥ २२॥ महाबाहु विदेहराज! भगवान्‌की कीर्ति अनन्त है। महात्माओंने जगत्पति भगवान्‌के ऐसे-ऐसे अनेकों जन्म और कर्मोंका प्रचुरतासे गान भी किया है॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और भगवान्‌की पूजाविधिका वर्णन

राजोवाच

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनाम्॥ १॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो! आपलोग तो श्रेष्ठ आत्मज्ञानी और भगवान्‌के परमभक्त हैं। कृपा करके यह बतलाइये कि जिनकी कामनाएँ शान्त नहीं हुई हैं, लौकिक-पारलौकिक भोगोंकी लालसा मिटी नहीं है और मन एवं इन्द्रियाँ भी वशमें नहीं हैं तथा जो प्रायः भगवान्‌का भजन भी नहीं करते, ऐसे लोगोंकी क्या गति होती है?॥ १॥

चमस उवाच

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥ २॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥३॥
दूरेहरिकथाः केचिद् दूरेचाच्युतकीर्तनाः।

अब आठवें योगीश्वर चमसजीने कहा—राजन्! विराट् पुरुषके मुखसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, भुजाओंसे सत्त्व-रजप्रधान क्षत्रिय, जाँघोंसे रज-तम-प्रधान वैश्य और चरणोंसे तमःप्रधान शूद्रकी उत्पत्ति हुई है। उन्हींकी जाँघोंसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास—ये चार आश्रम प्रकट हुए हैं। इन चारों वर्णों और आश्रमोंके जन्मदाता स्वयं भगवान् ही हैं। वही इनके स्वामी, नियन्ता और आत्मा भी हैं। इसलिये इन वर्ण और आश्रममें रहनेवाला जो मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करता, बल्कि उलटा उनका अनादर करता है, वह अपने स्थान, वर्ण, आश्रम और मनुष्य-योनिसे भी च्युत हो जाता है; उसका अधःपतन हो जाता है॥ २-३॥ बहुत-सी स्त्रियाँ और शूद्र आदि भगवान्‌की कथा और उनके नामकीर्तन आदिसे कुछ दूर पड़ गये

१. स्थानभ्रष्टाः।

स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ॥ ४ ॥

विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥ ५ ॥

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः ॥ ६ ॥

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् ॥ ७ ॥

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥ ८ ॥

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः ॥ ९ ॥

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥ १० ॥

हैं। वे आप-जैसे भगवद्भक्तोंकी दयाके पात्र हैं। आपलोग उन्हें कथा-कीर्तनकी सुविधा देकर उनका उद्धार करें ॥ ४ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जन्मसे, वेदाध्ययनसे तथा यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंसे भगवान्‌के चरणोंके निकटतक पहुँच चुके हैं। फिर भी वे वेदोंका असली तात्पर्य न समझकर अर्थवादमें लगकर मोहित हो जाते हैं ॥ ५ ॥ उन्हें कर्मका रहस्य मालूम नहीं है। मूर्ख होनेपर भी वे अपनेको पण्डित मानते हैं और अभिमानमें अकड़े रहते हैं। मीठी-मीठी बातोंमें भूल जाते हैं और केवल वस्तु-शून्य शब्द-माधुरीके मोहमें पड़कर चटकीली-भड़कीली बातें कहा करते हैं ॥ ६ ॥ रजोगुणकी अधिकताके कारण उनके सङ्कल्प बड़े घोर होते हैं। कामनाओंकी तो सीमा ही नहीं रहती, उनका क्रोध भी ऐसा होता है जैसे साँपका, बनावट और घमंडसे उन्हें प्रेम होता है। वे पापीलोग भगवान्‌के प्यारे भक्तोंकी हँसी उड़ाया करते हैं ॥ ७ ॥ वे मूर्ख बड़े-बूढ़ोंकी नहीं, स्त्रियोंकी उपासना करते हैं। यही नहीं, वे परस्पर इकट्ठे होकर उस घर-गृहस्थीके सम्बन्धमें ही बड़े-बड़े मनसूबे बाँधते हैं, जहाँका सबसे बड़ा सुख स्त्री-सहवासमें ही सीमित है। वे यदि कभी यज्ञ भी करते हैं तो अन्न-दान नहीं करते, विधिका उल्लङ्घन करते और दक्षिणातक नहीं देते। वे कर्मका रहस्य न जाननेवाले मूर्ख केवल अपनी जीभको सन्तुष्ट करने और पेटकी भूख मिटाने—शरीरको पुष्ट करनेके लिये बेचारे पशुओंकी हत्या करते हैं ॥ ८ ॥ धन-वैभव, कुलीनता, विद्या, दान, सौन्दर्य, बल और कर्म आदिके घमंडसे अंधे हो जाते हैं तथा वे दुष्ट उन भगवत्प्रेमी संतों तथा ईश्वरका भी अपमान करते हैं ॥ ९ ॥ राजन्! वेदोंने इस बातको बार-बार दुहराया है कि भगवान् आकाशके समान नित्य-निरन्तर समस्त शरीरधारियोंमें स्थित हैं। वे ही अपने आत्मा और प्रियतम हैं। परन्तु वे मूर्ख इस वेदवाणीको तो सुनते ही नहीं और केवल बड़े-बड़े मनोरथोंकी बात आपसमें कहते-सुनते रहते हैं ॥ १० ॥

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥११॥

धनं च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति ।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥१२॥

यद् घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥१३॥

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः ।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥१४॥

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः ॥१५॥

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम् ।

(वेद-विधिके रूपमें ऐसे ही कर्मोंके करनेकी आज्ञा देता है, जिनमें मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती ।) संसारमें देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्यकी ओर प्राणीकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है । तब उसे उसमें प्रवृत्त करनेके लिये विधान तो हो ही नहीं सकता । ऐसी स्थितिमें विवाह, यज्ञ और सौत्रामणी यज्ञके द्वारा ही जो उनके सेवनकी व्यवस्था दी गयी है, उसका अर्थ है लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिका नियन्त्रण, उनका मर्यादामें स्थापन । वास्तवमें उनकी ओरसे लोगोंको हटाना ही श्रुतिको अभीष्ट है ॥ ११ ॥ धनका एकमात्र फल है धर्म; क्योंकि धर्मसे ही परमतत्त्वका ज्ञान और उसकी निष्ठा—अपरोक्ष अनुभूति सिद्ध होती है, और निष्ठामें ही परम शान्ति है । परन्तु यह कितने खेदकी बात है कि लोग उस धनका उपयोग घर-गृहस्थीके स्वार्थोंमें या कामभोगमें ही करते हैं और यह नहीं देखते कि हमारा यह शरीर मृत्युका शिकार है और वह मृत्यु किसी प्रकार भी टाली नहीं जा सकती ॥ १२ ॥ सौत्रामणी यज्ञमें भी सुराको सूँघनेका ही विधान है, पीनेका नहीं । यज्ञमें पशुका आलभन (स्पर्शमात्र) ही विहित है, हिंसा नहीं । इसी प्रकार अपनी धर्मपत्नीके साथ मैथुनकी आज्ञा भी विषयभोगके लिये नहीं, धार्मिक परम्पराकी रक्षाके निमित्त सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही दी गयी है । परन्तु जो लोग अर्थवादके वचनोंमें फँसे हैं, विषयी हैं, वे अपने इस विशुद्ध धर्मको जानते ही नहीं ॥ १३ ॥ जो इस विशुद्ध धर्मको नहीं जानते, वे घमंडी वास्तवमें तो दुष्ट हैं, परन्तु समझते हैं अपनेको श्रेष्ठ । वे धोखेमें पड़े हुए लोग पशुओंकी हिंसा करते हैं और मरनेके बाद वे पशु ही उन मारनेवालोंको खाते हैं ॥ १४ ॥ यह शरीर मृतक-शरीर है । इसके सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते हैं । जो लोग इस शरीरसे तो प्रेमकी गाँठ बाँध लेते हैं और दूसरे शरीरोंमें रहनेवाले अपने ही आत्मा एवं सर्वशक्तिमान् भगवान्से द्वेष करते हैं, उन मूर्खोंका अधःपतन निश्चित है ॥ १५ ॥ जिन लोगोंने आत्मज्ञान सम्पादन करके कैवल्य-मोक्ष नहीं प्राप्त किया है और जो पूरे-पूरे मूढ़ भी नहीं हैं, वे अधूरे न इधरके हैं और न

त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥१६॥

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः ॥१७॥

हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः ॥१८॥

उधरके। वे अर्थ, धर्म, काम—इन तीनों पुरुषार्थोंमें फँसे रहते हैं, एक क्षणके लिये भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती। वे अपने हाथों अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हैं। ऐसे ही लोगोंको आत्मघाती कहते हैं ॥ १६ ॥ अज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले इन आत्मघातियोंको कभी शान्ति नहीं मिलती, इनके कर्मोंकी परम्परा कभी शान्त नहीं होती। कालभगवान् सदा-सर्वदा इनके मनोरथोंपर पानी फेरते रहते हैं। इनके हृदयकी जलन, विषाद कभी मिटनेका नहीं ॥ १७ ॥ राजन्! जो लोग अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं, वे अत्यन्त परिश्रम करके गृह, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं; परन्तु उन्हें अन्तमें सब कुछ छोड़ देना पड़ता है और न चाहनेपर भी विवश होकर घोर नरकमें जाना पड़ता है। (भगवान्‌का भजन न करनेवाले विषयी पुरुषोंकी यही गति होती है) ॥ १८ ॥

राजोवाच

कस्मिन् काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशो नृभिः।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥१९॥

राजा निमिने पूछा—योगीश्वरो! आपलोग कृपा करके यह बतलाइये कि भगवान् किस समय किस रंगका, कौन-सा आकार स्वीकार करते हैं और मनुष्य किन नामों और विधियोंसे उनकी उपासना करते हैं ॥ १९ ॥

करभाजन उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥२०॥

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान् बिभ्रद् दण्डकमण्डलू ॥२१॥

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥२२॥

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥२३॥

अब नवें योगीश्वर करभाजनजीने कहा—राजन्! चार युग हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। इन युगोंमें भगवान्‌के अनेकों रंग, नाम और आकृतियाँ होती हैं तथा विभिन्न विधियोंसे उनकी पूजा की जाती है ॥ २० ॥ सत्ययुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका रंग होता है श्वेत। उनके चार भुजाएँ और सिरपर जटा होती है, तथा वे वल्कलका ही वस्त्र पहनते हैं। काले मृगका चर्म, यज्ञोपवीत, रुद्राक्षकी माला, दण्ड और कमण्डलु धारण करते हैं ॥ २१ ॥ सत्ययुगके मनुष्य बड़े शान्त, परस्पर वैररहित, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं। वे लोग इन्द्रियों और मनको वशमें रखकर ध्यानरूप तपस्याके द्वारा सबके प्रकाशक परमात्माकी आराधना करते हैं ॥ २२ ॥ वे लोग हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामोंके द्वारा भगवान्‌के गुण, लीला आदिका गान करते हैं ॥ २३ ॥

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥२४॥
तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥२५॥
विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः ।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥२६॥
द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः ।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च[1] लक्षणैरुपलक्षितः ॥२७॥
तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥२८॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥२९॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने ।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥३०॥
इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु ॥३१॥
कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्[2] ।

राजन् ! त्रेतायुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका रंग होता है लाल । चार भुजाएँ होती हैं और कटिभागमें वे तीन मेखला धारण करते हैं । उनके केश सुनहले होते हैं और वे वेदप्रतिपादित यज्ञके रूपमें रहकर स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञ-पात्रोंको धारण किया करते हैं ॥२४॥ उस युगके मनुष्य अपने धर्ममें बड़ी निष्ठा रखनेवाले और वेदोंके अध्ययन-अध्यापनमें बड़े प्रवीण होते हैं । वे लोग ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदरूप वेदत्रयीके द्वारा सर्वदेवस्वरूप देवाधिदेव भगवान् श्रीहरिकी आराधना करते हैं ॥ २५ ॥ त्रेतायुगमें अधिकांश लोग, विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामोंसे उनके गुण और लीला आदिका कीर्तन करते हैं ॥ २६ ॥ राजन् ! द्वापरयुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका रंग होता है साँवला । वे पीताम्बर तथा शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने आयुध धारण करते हैं । वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, भृगुलता, कौस्तुभमणि आदि लक्षणोंसे वे पहचाने जाते हैं ॥ २७ ॥ राजन् ! उस समय जिज्ञासु मनुष्य महाराजोंके चिह्न छत्र, चँवर आदिसे युक्त परमपुरुष भगवान्‌की वैदिक और तान्त्रिक विधिसे आराधना करते हैं ॥ २८ ॥ वे लोग इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करते हैं—'हे ज्ञानस्वरूप भगवान् वासुदेव एवं क्रियाशक्तिरूप सङ्कर्षण ! हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं । भगवान् प्रद्युम्न और अनिरुद्धके रूपमें हम आपको नमस्कार करते हैं । ऋषि नारायण, महात्मा नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप और सर्वभूतात्मा भगवान्‌को हम नमस्कार करते हैं ॥२९-३०॥ राजन् ! द्वापरयुगमें इस प्रकार लोग जगदीश्वर भगवान्‌की स्तुति करते हैं । अब कलियुगमें अनेक तन्त्रोंके विधि-विधानसे भगवान्‌की जैसी पूजा की जाती है, उसका वर्णन सुनो—॥ ३१ ॥

कलियुगमें भगवान्‌का श्रीविग्रह होता है कृष्णवर्ण—काले रंगका । जैसे नीलम मणिमेंसे उज्ज्वल कान्तिधारा निकलती रहती है, वैसे ही उनके अङ्गकी छटा भी उज्ज्वल होती है । वे हृदय आदि अङ्ग, कौस्तुभ आदि

[1] तथा । [2] साङ्गोपाङ्गं सपार्षदम् ।

यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥३२॥

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३३॥

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं[1]
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३४॥

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान् युगवर्तिभिः ।
मनुजैरिज्यते राजन् श्रेयसामीश्वरो हरिः ॥३५॥

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते[2] ॥३६॥

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।

उपाङ्ग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृति पार्षदोंसे संयुक्त रहते हैं । कलियुगमें श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करते हैं, जिनमें नाम, गुण, लीला आदिके कीर्तनकी प्रधानता रहती है ॥ ३२ ॥ वे लोग भगवान्‌की स्तुति इस प्रकार करते हैं—'प्रभो ! आप शरणागतरक्षक हैं । आपके चरणारविन्द सदा-सर्वदा ध्यान करनेयोग्य, माया-मोहके कारण होनेवाले सांसारिक पराजयोंका अन्त कर देनेवाले तथा भक्तोंकी समस्त अभीष्ट वस्तुओंका दान करनेवाले कामधेनुस्वरूप हैं । वे तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले स्वयं परम तीर्थस्वरूप हैं; शिव, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उन्हें नमस्कार करते हैं और चाहे जो कोई उनकी शरणमें आ जाय, उसे स्वीकार कर लेते हैं । सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिके नाशक तथा संसार-सागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं । महापुरुष ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ ॥ ३३ ॥ भगवन् ! आपके चरणकमलोंकी महिमा कौन कहे ? रामावतारमें अपने पिता दशरथजीके वचनोंसे देवताओंके लिये भी वाञ्छनीय और दुस्त्यज राज्यलक्ष्मीको छोड़कर आपके चरणकमल वन-वन घूमते फिरे ! सचमुच आप धर्मनिष्ठताकी सीमा हैं । और महापुरुष ! अपनी प्रेयसी सीताजीके चाहनेपर जान-बूझकर आपके चरणकमल मायामृगके पीछे दौड़ते रहे । सचमुच आप प्रेमकी सीमा हैं । प्रभो ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ ॥ ३४ ॥

राजन् ! इस प्रकार विभिन्न युगोंके लोग अपने-अपने युगके अनुरूप नाम-रूपोंद्वारा विभिन्न प्रकारसे भगवान्‌की आराधना करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सभी पुरुषार्थोंके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीहरि ही हैं ॥ ३५ ॥ कलियुगमें केवल सङ्कीर्तनसे ही सारे स्वार्थ और परमार्थ बन जाते हैं । इसलिये इस युगका गुण जाननेवाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुगकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, इससे बड़ा प्रेम करते हैं ॥ ३६ ॥ देहाभिमानी जीव संसारचक्रमें अनादि कालसे भटक रहे हैं । उनके लिये भगवान्‌की लीला,

१. राजलक्ष्मीम् । २. ऽपि लभ्यते ।

यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥३७॥

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥३८॥

क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ॥३९॥

कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ॥४०॥

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥४१॥

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥४२॥

नारद उवाच

धर्मान् भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः।
जायन्तेयान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत् ॥४३॥

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥४४॥

गुण और नामके कीर्तनसे बढ़कर और कोई परम लाभ नहीं है; क्योंकि इससे संसारमें भटकना मिट जाता है और परम शान्तिका अनुभव होता है ॥ ३७ ॥ राजन्! सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुगमें हो; क्योंकि कलियुगमें कहीं-कहीं भगवान् नारायणके शरणागत—उन्हींके आश्रयमें रहनेवाले बहुत-से भक्त उत्पन्न होंगे। महाराज विदेह! कलियुगमें द्रविड़देशमें अधिक भक्त पाये जाते हैं; जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, परम पवित्र कावेरी, महानदी और प्रतीची नामकी नदियाँ बहती हैं। राजन्! जो मनुष्य इन नदियोंका जल पीते हैं, प्रायः उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् वासुदेवके भक्त हो जाते हैं ॥ ३८-४० ॥ राजन्! जो मनुष्य 'यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्म-वासनाओंका अथवा भेदबुद्धिका परित्याग करके सर्वात्मभावसे शरणागतवत्सल, प्रेमके वरदानी भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है; वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, किसीके बन्धनमें नहीं रहता ॥ ४१ ॥ जो प्रेमी भक्त अपने प्रियतम भगवान्के चरणकमलोंका अनन्यभावसे—दूसरी भावनाओं, आस्थाओं, वृत्तियों और प्रवृत्तियोंको छोड़कर—भजन करता है, उससे, पहली बात तो यह है कि पापकर्म होते ही नहीं; परन्तु यदि कभी किसी प्रकार हो भी जायँ तो परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसके हृदयमें बैठकर वह सब धो-बहा देते और उसके हृदयको शुद्ध कर देते हैं ॥ ४२ ॥

नारदजी कहते हैं—वसुदेवजी! मिथिलानरेश राजा निमि नौ योगीश्वरोंसे इस प्रकार भागवतधर्मोंका वर्णन सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए। उन्होंने अपने ऋत्विज और आचार्योंके साथ ऋषभनन्दन नौ योगीश्वरोंकी पूजा की ॥ ४३ ॥ इसके बाद सब लोगोंके सामने ही वे सिद्ध अन्तर्धान हो गये। विदेहराज निमिने उनसे सुने हुए भागवतधर्मोंका आचरण किया और परमगति प्राप्त

त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवताञ्छुतान्।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम्॥४५॥
युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत् ।
पुत्रतामगमद् यद् वां भगवानीश्वरो हरिः ॥४६॥
दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः ।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः ॥४७॥
वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥४८॥
मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे ।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये ॥४९॥
भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम् ।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते ॥५०॥

श्रीशुक उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः ।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥५१॥
इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद् यः समाहितः ।

की ॥ ४४ ॥ महाभाग्यवान् वसुदेवजी ! मैंने तुम्हारे आगे जिन भागवतधर्मोंका वर्णन किया है, तुम भी यदि श्रद्धाके साथ इनका आचरण करोगे तो अन्तमें सब आसक्तियोंसे छूटकर भगवान्‌का परमपद प्राप्त कर लोगे ॥ ४५ ॥ वसुदेवजी ! तुम्हारे और देवकीके यशसे तो सारा जगत् भरपूर हो रहा है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे पुत्रके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४६ ॥ तुमलोगोंने भगवान्‌के दर्शन, आलिङ्गन तथा बातचीत करने एवं उन्हें सुलाने, बैठाने, खिलाने आदिके द्वारा वात्सल्य-स्नेह करके अपना हृदय शुद्ध कर लिया है; तुम परम पवित्र हो गये हो ॥४७॥ वसुदेवजी ! शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजाओंने तो वैरभावसे श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, लीला-विलास, चितवन-बोलन आदिका स्मरण किया था । वह भी नियमानुसार नहीं, सोते, बैठते, चलते, फिरते—स्वाभाविकरूपसे ही । फिर भी उनकी चित्तवृत्ति श्रीकृष्णाकार हो गयी और वे सारूप्य-मुक्तिके अधिकारी हुए । फिर जो लोग प्रेमभाव और अनुरागसे श्रीकृष्णका चिन्तन करते हैं, उन्हें श्रीकृष्णकी प्राप्ति होनेमें कोई सन्देह है क्या ?॥४८॥ वसुदेवजी ! तुम श्रीकृष्णको केवल अपना पुत्र ही मत समझो । वे सर्वात्मा, सर्वेश्वर, कारणातीत और अविनाशी हैं । उन्होंने लीलाके लिये मनुष्यरूप प्रकट करके अपना ऐश्वर्य छिपा रक्खा है ॥ ४९ ॥ वे पृथ्वीके भारभूत राजवेषधारी असुरोंका नाश और संतोंकी रक्षा करनेके लिये तथा जीवोंको परमशान्ति और मुक्ति देनेके लिये ही अवतीर्ण हुए हैं और इसीके लिये जगत्‌में उनकी कीर्ति भी गायी जाती है ॥ ५० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित् ! नारदजीके मुखसे यह सब सुनकर परम भाग्यवान् वसुदेवजी और परम भाग्यवती देवकीजीको बड़ा ही विस्मय हुआ । उनमें जो कुछ माया-मोह अवशेष था, उसे उन्होंने तत्क्षण छोड़ दिया ॥ ५१ ॥ राजन् ! यह इतिहास परम पवित्र है । जो एकाग्रचित्तसे इसे धारण करता है, वह अपना

१. सशय्यासनभोजनैः । २. शिशुपालशाल्वपौण्ड्रादयो । ३. आकृतिधियः । ४. शयनाशनादौ । ५. सर्वेश्वरे गुरौ । ६. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ७. तु ।

स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५२॥

सारा शोक-मोह दूर करके ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

देवताओंकी भगवान्से स्वधाम सिधारनेके लिये प्रार्थना तथा यादवोंको प्रभासक्षेत्र जानेकी तैयारी करते देखकर उद्धवका भगवान्के पास आना

श्रीशुक[1] उवाच

अथ ब्रह्माऽऽत्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात् ।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥ १ ॥
इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः ॥ २ ॥
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धचारणगुह्यकाः ।
ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः ॥ ३ ॥
द्वारकामुपसंजग्मुः सर्वे कृष्णदिदृक्षवः ।
वपुषा येन भगवान् नरलोकमनोरमः ।
यशो वितेने[2] लोकेषु सर्वलोकमलापहम् ॥ ४ ॥
तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभिः ।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम् ॥ ५ ॥
स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम् ।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब देवर्षि नारद वसुदेवजीको उपदेश करके चले गये, तब अपने पुत्र सनकादिकों, देवताओं और प्रजापतियोंके साथ ब्रह्माजी, भूतगणोंके साथ सर्वेश्वर महादेवजी और मरुद्गणोंके साथ देवराज इन्द्र द्वारकानगरीमें आये । साथ ही सभी आदित्यगण, आठों वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, अङ्गिराके वंशज ऋषि, ग्यारहों रुद्र, विश्वेदेव, साध्यगण, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषि, पितर, विद्याधर और किन्नर भी वहीं पहुँचे । इन लोगोंके आगमनका उद्देश्य यह था कि मनुष्यका-सा मनोहर वेष धारण करनेवाले और अपने श्यामसुन्दर विग्रहसे सभी लोगोंका मन अपनी ओर खींचकर रमा लेनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करें; क्योंकि इस समय उन्होंने अपना श्रीविग्रह प्रकट करके उसके द्वारा तीनों लोकोंमें ऐसी पवित्र कीर्तिका विस्तार किया है, जो समस्त लोकोंके पाप-तापको सदाके लिये मिटा देती है ॥ १—४ ॥ द्वारकापुरी सब प्रकारकी सम्पत्ति और ऐश्वर्योंसे समृद्ध तथा अलौकिक दीप्तिसे देदीप्यमान हो रही थी । वहाँ आकर उन लोगोंने अनूठी छबिसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन किये । भगवान्की रूप-माधुरीका निर्निमेष नयनोंसे पान करनेपर भी उनके नेत्र तृप्त न होते थे । वे एकटक बहुत देरतक उन्हें देखते ही रहे ॥ ५ ॥ उन लोगोंने स्वर्गके उद्यान नन्दन-वन, चैत्ररथ आदिके दिव्य पुष्पोंसे जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णको ढक दिया और चित्र-विचित्र पदों तथा अर्थोंसे युक्त वाणीके द्वारा उनकी स्तुति करने लगे ॥ ६ ॥

१. श्रीबादरायणिरुवाच । २. वितनुते लोके ।

देवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै-
र्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ ७ ॥
त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥ ८ ॥
शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात् ॥ ९ ॥
स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि-
र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥ १० ॥
यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ।

देवताओंने प्रार्थना की—स्वामी ! कर्मोंके विकट फंदोंसे छूटनेकी इच्छावाले मुमुक्षुजन भक्ति-भावसे अपने हृदयमें जिसका चिन्तन करते रहते हैं, आपके उसी चरणकमलको हमलोगोंने अपनी बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वाणीसे साक्षात् नमस्कार किया है। अहो ! आश्चर्य है ! * ॥ ७ ॥ अजित ! आप मायिक रज आदि गुणोंमें स्थित होकर इस अचिन्त्य नाम-रूपात्मक प्रपञ्चकी त्रिगुणमयी मायाके द्वारा अपने-आपमें ही रचना करते हैं, पालन करते और संहार करते हैं । यह सब करते हुए भी इन कर्मोंसे आप लिप्त नहीं होते हैं; क्योंकि आप राग-द्वेषादि दोषोंसे सर्वथा मुक्त हैं और अपने निरावरण अखण्ड स्वरूपभूत परमानन्दमें मग्न रहते हैं ॥ ८ ॥ स्तुति करनेयोग्य परमात्मन् ! जिन मनुष्योंकी चित्तवृत्ति राग-द्वेषादिसे कलुषित है, वे उपासना, वेदाध्ययन, दान, तपस्या और यज्ञ आदि कर्म भले ही करें परन्तु उनकी वैसी शुद्धि नहीं हो सकती, जैसी श्रवणके द्वारा संपुष्ट शुद्धान्तःकरण सज्जन पुरुषोंकी आपकी लीलाकथा, कीर्तिके विषयमें दिनोंदिन बढ़कर परिपूर्ण होनेवाली श्रद्धासे होती है ॥ ९ ॥ मननशील मुमुक्षुजन मोक्ष-प्राप्तिके लिये अपने प्रेमसे पिघले हुए हृदयके द्वारा जिन्हें लिये-लिये फिरते हैं, पाञ्चरात्र विधिसे उपासना करनेवाले भक्तजन समान ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूहके रूपमें जिनका पूजन करते हैं और जितेन्द्रिय धीरपुरुष स्वर्गलोकका अतिक्रमण करके भगवद्धामकी प्राप्तिके लिये तीनों समय जिनकी पूजा किया करते हैं, याज्ञिक लोग तीनों वेदोंके द्वारा बतलायी हुई विधिसे अपने संयत हाथोंमें हविष्य लेकर यज्ञकुण्डमें आहुति देते और उन्हींका चिन्तन करते हैं । आपकी आत्मस्वरूपिणी मायाके जिज्ञासु योगीजन हृदयके अन्तर्देशमें दहरविद्या आदिके द्वारा आपके चरणकमलोंका ही ध्यान करते हैं और आपके बड़े-बड़े प्रेमी भक्तजन उन्हींको अपना परम इष्ट

१. आत्मविद्भिः ।

* यहाँ साष्टाङ्ग प्रणामसे तात्पर्य है—
दोर्भ्यां पादाभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा । मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥
हाथोंसे, चरणोंसे, घुटनोंसे, वक्षःस्थलसे, शिरसे, नेत्रोंसे, मनसे और वाणीसे—इन आठ अङ्गोंसे किया गया प्रणाम साष्टाङ्ग प्रणाम कहलाता है ।

अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥११॥

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः ।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः ॥१२॥

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्
पादः पुनातु भगवन् भजतामघं नः ॥१३॥

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥१४॥

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥१५॥

आराध्यदेव मानते हैं। प्रभो! आपके वे ही चरणकमल हमारी समस्त अशुभ वासनाओं—विषयवासनाओंको भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप हों। वे अग्निके समान हमारे पाप-तापोंको भस्म कर दें॥ १०-११॥ प्रभो! यह भगवती लक्ष्मी आपके वक्षःस्थलपर मुरझायी हुई वासी वनमालासे भी सौतकी तरह स्पर्द्धा रखती हैं। फिर भी आप उनकी परवा न कर भक्तोंके द्वारा इस वासी मालासे की हुई पूजा भी प्रेमसे स्वीकार करते हैं। ऐसे भक्तवत्सल प्रभुके चरणकमल सर्वदा हमारी विषय-वासनाओंको जलानेवाले अग्निस्वरूप हों॥१२॥ अनन्त! वामनावतारमें दैत्यराज बलिकी दी हुई पृथ्वीको नापनेके लिये जब आपने अपना पग उठाया था और वह सत्यलोक-में पहुँच गया था, तब यह ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई बहुत बड़ा विजयध्वज हो। ब्रह्माजीके पखारनेके बाद उससे गिरती हुई गङ्गाजीके जलकी तीन धाराएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानो उसमें लगी हुई तीन पताकाएँ फहरा रही हों। उसे देखकर असुरोंकी सेना भयभीत हो गयी थी और देवसेना निर्भय। आपका वह चरण-कमल साधुस्वभाव पुरुषोंके लिये आपके धाम वैकुण्ठलोक-की प्राप्तिका और दुष्टोंके लिये अधोगतिका कारण है। भगवन्! आपका वही पादपद्म हम भजन करनेवालोंके सारे पाप-ताप धो-बहा दे॥ १३॥ ब्रह्मा आदि जितने भी शरीरधारी हैं, वे सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंके परस्पर विरोधी त्रिविध भावोंकी टक्करसे जीते-मरते रहते हैं। वे सुख-दुःखके थपेड़ोंसे बाहर नहीं हैं और ठीक वैसे ही आपके वशमें हैं, जैसे नथे हुए बैल अपने स्वामीके वशमें होते हैं। आप उनके लिये भी कालस्वरूप हैं। उनके जीवनका आदि, मध्य और अन्त आपके ही अधीन है। इतना ही नहीं, आप प्रकृति और पुरुषसे भी परे स्वयं पुरुषोत्तम हैं। आपके चरणकमल हमलोगोंका कल्याण करें॥ १४॥ प्रभो! आप इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं; क्योंकि शास्त्रोंने ऐसा कहा है कि आप प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वके भी नियन्त्रण करनेवाले काल हैं। शीत, ग्रीष्म और वर्षाकालरूप तीन नाभियोंवाले संवत्सरके रूपमें सबको क्षयकी ओर ले जानेवाले काल आप ही हैं। आपकी गति अबाध और गम्भीर है। आप

त्वत्तः पुमान् संमधिगम्य यया स्ववीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥१६॥
तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥१७॥
स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥१८॥
विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति ॥१९॥

बादरायणिरुवाच

इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम् ।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो ।

स्वयं पुरुषोत्तम हैं ॥ १५ ॥ यह पुरुष आपसे शक्ति प्राप्त करके अमोघवीर्य हो जाता है और फिर मायाके साथ संयुक्त होकर विश्वके महत्तत्त्वरूप गर्भका स्थापन करता है। इसके बाद वह महत्तत्त्व त्रिगुणमयी मायाका अनुसरण करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और मनरूप सात आवरणों (परतों) वाले इस सुवर्णवर्ण ब्रह्माण्डकी रचना करता है ॥ १६ ॥ इसलिये हृषीकेश! आप समस्त चराचर जगत्के अधीश्वर हैं। यही कारण है कि मायाकी गुण-विषमताके कारण बननेवाले विभिन्न पदार्थोंका उपभोग करते हुए भी आप उनमें लिप्त नहीं होते। यह केवल आपकी ही बात है। आपके अतिरिक्त दूसरे तो स्वयं उनका त्याग करके भी उन विषयोंसे डरते रहते हैं ॥ १७ ॥ सोलह हजारसे अधिक रानियाँ आपके साथ रहती हैं। वे सब अपनी मन्द-मन्द मुसकान और तिरछी चितवनसे युक्त मनोहर भौंहोंके इशारेसे और सुरतालापोंसे प्रौढ़ सम्मोहक कामबाण चलाती हैं और कामकलाकी विविध रीतियोंसे आपका मन आकर्षित करना चाहती हैं; परन्तु फिर भी वे अपने परिपुष्ट कामबाणोंसे आपका मन तनिक भी न डिगा सकीं, वे असफल ही रहीं ॥ १८ ॥ आपने त्रिलोकीकी पाप-राशिको धो-बहानेके लिये दो प्रकारकी पवित्र नदियाँ बहा रक्खी हैं—एक तो आपकी अमृतमयी लीलासे भरी कथानदी और दूसरी आपके पाद-प्रक्षालनके जलसे भरी गङ्गाजी। अतः सत्सङ्गसेवी विवेकीजन कानोंके द्वारा आपकी कथा-नदीमें और शरीरके द्वारा गङ्गाजीमें गोता लगाकर दोनों ही तीर्थोंका सेवन करते हैं और अपने पाप-ताप मिटा देते हैं ॥ १९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! समस्त देवताओं और भगवान् शङ्करके साथ ब्रह्माजीने इस प्रकार भगवान्की स्तुति की। इसके बाद वे प्रणाम करके अपने धाममें जानेके लिये आकाशमें स्थित होकर भगवान्से इस प्रकार कहने लगे ॥ २० ॥

ब्रह्माजीने कहा—सर्वात्मन् प्रभो! पहले हमलोगोंने आपसे अवतार लेकर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये

१. समधिकृत्य। २. शमलं निहन्तुम्। ३. सुरैः।

त्वमस्माभिरशेषात्मंस्तत्तथैवोपपादितम् ॥२१॥

धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया ।
कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा ॥२२॥

अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद् रूपमनुत्तमम् ।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः ॥२३॥

यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ ।
शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः ॥२४॥

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम ।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो ॥२५॥

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम् ।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥२६॥

ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे ।
सलोकाँल्लोकपालान् नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान् ॥२७॥

प्रार्थना की थी। सो वह काम आपने हमारी प्रार्थनाके अनुसार ही यथोचितरूपसे पूरा कर दिया ॥ २१ ॥ आपने सत्यपरायण साधुपुरुषोंके कल्याणार्थ धर्मकी स्थापना भी कर दी और दसों दिशाओंमें ऐसी कीर्ति फैला दी, जिसे सुन-सुनाकर सब लोग अपने मनका मैल मिटा देते हैं ॥ २२ ॥ आपने यह सर्वोत्तम रूप धारण करके यदुवंशमें अवतार लिया और जगत्‌के हितके लिये उदारता और पराक्रमसे भरी अनेकों लीलाएँ कीं ॥ २३ ॥ प्रभो! कलियुगमें जो साधुस्वभाव मनुष्य आपकी इन लीलाओंका श्रवण-कीर्तन करेंगे, वे सुगमतासे ही इस अज्ञानरूप अन्धकारसे पार हो जायँगे ॥ २४ ॥ पुरुषोत्तम सर्वशक्तिमान् प्रभो! आपको यदुवंशमें अवतार ग्रहण किये एक सौ पचीस वर्ष बीत गये हैं ॥ २५ ॥ सर्वाधार! अब हमलोगोंका ऐसा कोई काम बाकी नहीं है, जिसे पूर्ण करनेके लिये आपके यहाँ रहनेकी आवश्यकता हो। ब्राह्मणोंके शापके कारण आपका यह कुल भी एक प्रकारसे नष्ट हो ही चुका है ॥ २६ ॥ इसलिये वैकुण्ठनाथ! यदि आप उचित समझें तो अपने परम-धाममें पधारिये और अपने सेवक हम लोकपालोंका तथा हमारे लोकोंका पालन-पोषण कीजिये ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर ।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः ॥२८॥

तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम् ।
लोकं जिघृक्षद् रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः ॥२९॥

यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम् ।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति ॥३०॥

इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापतः ।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघ ॥३१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—ब्रह्माजी! आप जैसा कहते हैं, मैं पहलेसे ही वैसा निश्चय कर चुका हूँ। मैंने आपलोगोंका सब काम पूरा करके पृथ्वीका भार उतार दिया ॥ २८ ॥ परन्तु अभी एक काम बाकी है; वह यह कि यदुवंशी बल-विक्रम, वीरता-शूरता और धन-सम्पत्तिसे उन्मत्त हो रहे हैं। ये सारी पृथ्वीको ग्रस लेनेपर तुले हुए हैं। इन्हें मैंने ठीक वैसे ही रोक रक्खा है, जैसे समुद्रको उसके तटकी भूमि ॥ २९ ॥ यदि मैं घमंडी और उच्छृङ्खल यदुवंशियोंका यह विशाल वंश नष्ट किये बिना ही चला जाऊँगा तो ये सब मर्यादाका उल्लङ्घन करके सारे लोकोंका संहार कर डालेंगे ॥ ३० ॥ निष्पाप ब्रह्माजी! अब ब्राह्मणोंके शापसे इस वंशका नाश प्रारम्भ हो चुका है। इसका अन्त हो जानेपर मैं आपके धाममें होकर जाऊँगा ॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम् ।
सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत ॥३२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब अखिल-लोकाधिपति भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा, तब ब्रह्माजीने उन्हें प्रणाम किया और देवताओंके साथ वे अपने धामको चले गये ॥ ३२ ॥

अथ तस्यां महोत्पातान् द्वारवत्यां समुत्थितान् ।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान् समागतान् ॥३३॥

उनके जाते ही द्वारकापुरीमें बड़े-बड़े अपशकुन, बड़े-बड़े उत्पात उठ खड़े हुए । उन्हें देखकर यदुवंशके बड़े-बूढ़े भगवान् श्रीकृष्णके पास आये । भगवान् श्रीकृष्णने उनसे यह बात कही ॥ ३३ ॥

श्रीभगवानुवाच[1]

एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः[2] ।
शापश्च नः कुलस्यासीद् ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः ॥३४॥
न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः ।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं[3] यास्यामोऽद्यैव माचिरम् ॥३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—गुरुजनो ! आजकल द्वारकामें जिधर देखिये, उधर ही बड़े-बड़े अपशकुन और उत्पात हो रहे हैं । आपलोग जानते ही हैं कि ब्राह्मणोंने हमारे वंशको ऐसा शाप दे दिया है, जिसे टाल सकना बहुत ही कठिन है । मेरा ऐसा विचार है कि यदि हमलोग अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हों तो हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये । अब विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है । हमलोग आज ही परम पवित्र प्रभासक्षेत्रके लिये निकल पड़ें ॥ ३४-३५ ॥

यत्र स्नात्वा दक्षशापाद् गृहीतो यक्ष्मणोडुराट् ।
विमुक्तः किल्बिषात् सद्यो भेजे भूयः कलोदयम् ॥३६॥

प्रभासक्षेत्रकी महिमा बहुत प्रसिद्ध है । जिस समय दक्ष प्रजापतिके शापसे चन्द्रमाको राजयक्ष्मा रोगने ग्रस लिया था, उस समय उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें जाकर स्नान किया और वे तत्क्षण उस पापजन्य रोगसे छूट गये । साथ ही उन्हें कलाओंकी अभिवृद्धि भी प्राप्त हो गयी ॥३६॥

वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितॄन् सुरान् ।
भोजयित्वोशिजो विप्रान् नानागुणवतान्धसा ॥३७॥
तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै ।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम् ॥३८॥

हमलोग भी प्रभासक्षेत्रमें चलकर स्नान करेंगे, देवता एवं पितरोंका तर्पण करेंगे और साथ ही अनेकों गुणवाले पकवान तैयार करके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भोजन करायेंगे । वहाँ हमलोग उन सत्पात्र ब्राह्मणोंको पूरी श्रद्धासे बड़ी-बड़ी दान-दक्षिणा देंगे और इस प्रकार उनके द्वारा अपने बड़े-बड़े सङ्कटोंको वैसे ही पार कर जायँगे, जैसे कोई जहाजके द्वारा समुद्र पार कर जाय ! ॥ ३७-३८ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टा यादवाः कुलनन्दन[4] ।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान् समयूयुजन् ॥३९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कुलनन्दन ! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आज्ञा दी, तब यदुवंशियोंने एक मतसे प्रभास जानेका निश्चय कर लिया और सब अपने-अपने रथ सजाने-जोतने लगे ॥ ३९ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । २. सर्वशः । ३. सुमहापुण्यम् । ४. कुरुनन्दन ।

तन्निरीक्ष्योद्धवो राजन् श्रुत्वा भगवतोदितम् ।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः ॥४०॥
विविक्त उपसङ्गम्य जगतामीश्वरेश्वरम् ।
प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत ॥४१॥

परीक्षित्! उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णके बड़े प्रेमी और सेवक थे। उन्होंने जब यदुवंशियोंको यात्राकी तैयारी करते देखा, भगवान्‌की आज्ञा सुनी और अत्यन्त घोर अपशकुन देखे, तब वे जगत्‌के एकमात्र अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके पास एकान्तमें गये, उनके चरणोंपर अपना सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करने लगे ॥ ४०-४१ ॥

उद्धव उवाच

देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन ।
संहृत्यैतत् कुलं नूनं लोकं सन्त्यक्ष्यते भवान् ।
विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः ॥४२॥
नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव ।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥४३॥
तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम् ।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहां जनः[2] ॥४४॥
शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु ।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेमहि ॥४५॥
त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥४६॥

उद्धवजीने कहा—योगेश्वर! आप देवाधिदेवोंके भी अधीश्वर हैं। आपकी लीलाओंके श्रवण-कीर्तनसे जीव पवित्र हो जाता है। आप सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आप चाहते, तो ब्राह्मणोंके शापको मिटा सकते थे। परन्तु आपने वैसा किया नहीं। इससे मैं यह समझ गया कि अब आप यदुवंशका संहार करके, इसे समेटकर अवश्य ही इस लोकका परित्याग कर देंगे ॥ ४२ ॥ परन्तु घुँघराली अलकोंवाले श्यामसुन्दर! मैं आधे क्षणके लिये भी आपके चरणकमलोंके त्यागकी बात सोच भी नहीं सकता। मेरे जीवनसर्वस्व, मेरे स्वामी! आप मुझे भी अपने धाममें ले चलिये ॥४३॥ प्यारे कृष्ण! आपकी एक-एक लीला मनुष्योंके लिये परम मङ्गलमयी और कानोंके लिये अमृतस्वरूप है। जिसे एक बार उस रसका चसका लग जाता है, उसके मनमें फिर किसी दूसरी वस्तुके लिये लालसा ही नहीं रह जाती। प्रभो! हम तो उठते-बैठते, सोते-जागते, घूमते-फिरते आपके साथ रहे हैं, हमने आपके साथ स्नान किया, खेल खेले, भोजन किया; कहाँतक गिनावें, हमारी एक-एक चेष्टा आपके साथ होती रही। आप हमारे प्रियतम हैं; और तो क्या, आप हमारे आत्मा ही हैं। ऐसी स्थितिमें हम आपके प्रेमी भक्त आपको कैसे छोड़ सकते हैं? ॥ ४४-४५ ॥ हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपने-आपको सजाते रहे। हम आपकी जूठन खानेवाले सेवक हैं। इसलिये हम आपकी मायापर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। (अतः प्रभो! हमें आपकी मायाका डर नहीं है, डर है तो केवल आपके वियोगका) ॥४६॥

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है। २. त्यजन्त्यन्यस्पृहा जनाः।

वातरशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः ।

ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः ॥ ४७ ॥

वयं त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ।

त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥ ४८ ॥

स्मरन्तः कीर्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च ।

गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम् ॥ ४९ ॥

हम जानते हैं कि मायाको पार कर लेना बहुत ही कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दिगम्बर रहकर और आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करके अध्यात्मविद्याके लिये अत्यन्त परिश्रम करते हैं। इस प्रकारकी कठिन साधना-से उन संन्यासियोंके हृदय निर्मल हो पाते हैं और तब कहीं वे समस्त वृत्तियोंकी शान्तिरूप नैष्कर्म्य-अवस्थामें स्थित होकर आपके ब्रह्मनामक धामको प्राप्त होते हैं ॥ ४७ ॥ महायोगेश्वर ! हमलोग तो कर्ममार्गमें ही भ्रम-भटक रहे हैं ! परन्तु इतना निश्चित है कि हम आपके भक्तजनोंके साथ आपके गुणों और लीलाओंकी चर्चा करेंगे तथा मनुष्यकी-सी लीला करते हुए आपने जो कुछ किया या कहा है, उसका स्मरण-कीर्तन करते रहेंगे। साथ ही आपकी चाल-ढाल, मुसकान-चितवन और हास-परिहासकी स्मृतिमें तल्लीन हो जायँगे। केवल इसीसे हम दुस्तर मायाको पार कर लेंगे। (इसलिये हमें मायासे पार जानेकी नहीं, आपके विरहकी चिन्ता है। आप हमें छोड़िये नहीं, साथ ले चलिये) ॥ ४८-४९ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं विज्ञापितो राजन् भगवान् देवकीसुतः ।

एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत ॥ ५० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब उद्धवजीने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने अपने अनन्यप्रेमी सखा एवं सेवक उद्धव-जीसे कहा ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अवधूतोपाख्यान—पृथ्वीसे लेकर कबूतरतक आठ गुरुओंकी कथा

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे ।

ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः[1] ॥ १ ॥

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः ।

यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग्यवान् उद्धव ! तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, मैं वही करना चाहता हूँ। ब्रह्मा, शङ्कर और इन्द्रादि लोकपाल भी अब यही चाहते हैं कि मैं उनके लोकोंमें होकर अपने धामको चला जाऊँ ॥ १ ॥ पृथ्वीपर देवताओंका जितना काम करना था, उसे मैं पूरा कर चुका। इसी कामके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे मैं बलरामजीके साथ अवतीर्ण हुआ

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात् ।
समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥ ३ ॥
यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः ।
भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः ॥ ४॥
न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ।
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥ ५ ॥
त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु[1] ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥
यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७ ॥
पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥ ८ ॥
तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९ ॥
ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥ १० ॥

था ॥ २ ॥ अब यह यदुवंश, जो ब्राह्मणोंके शापसे भस्म हो चुका है, पारस्परिक फूट और युद्धसे नष्ट हो जायगा। आजके सातवें दिन समुद्र इस पुरी—द्वारकाको डुबो देगा ॥ ३ ॥ प्यारे उद्धव! जिस क्षण मैं मर्त्यलोकका परित्याग कर दूँगा, उसी क्षण इसके सारे मङ्गल नष्ट हो जायँगे और थोड़े ही दिनोंमें पृथ्वीपर कलियुगका बोलबाला हो जायगा ॥ ४ ॥ जब मैं इस पृथ्वीका त्याग कर दूँ, तब तुम इसपर मत रहना; क्योंकि साधु उद्धव! कलियुगमें अधिकांश लोगोंकी रुचि अधर्ममें ही होगी ॥ ५ ॥ अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवोंका स्नेह-सम्बन्ध छोड़ दो और अनन्यप्रेमसे मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टिसे पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचरण करो ॥ ६ ॥ इस जगत्‌में जो कुछ मनसे सोचा जाता है, वाणीसे कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है। सपनेकी तरह मनका विलास है। इसलिये मायामात्र है, मिथ्या है—ऐसा समझ लो ॥ ७ ॥ जिस पुरुषका मन अशान्त है, असंयत है, उसीको पागलकी तरह अनेकों वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं; वास्तवमें यह चित्तका भ्रम ही है। नानात्वका भ्रम हो जानेपर ही 'यह गुण है' और 'यह दोष' इस प्रकारकी कल्पना करनी पड़ती है। जिसकी बुद्धिमें गुण और दोषका भेद बैठ गया है, दृढ़मूल हो गया है, उसीके लिये कर्म*, अकर्म† और विकर्मरूप‡ भेदका प्रतिपादन हुआ है ॥ ८ ॥ इसलिये उद्धव! तुम पहले अपनी समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लो, उनकी बागडोर अपने हाथमें ले लो और केवल इन्द्रियोंको ही नहीं, चित्तकी समस्त वृत्तियोंको भी रोक लो और फिर ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत् अपने आत्मामें ही फैला हुआ है और आत्मा मुझ सर्वात्मा इन्द्रियातीत ब्रह्मसे एक है, अभिन्न है ॥ ९ ॥ जब वेदोंके मुख्य तात्पर्य—निश्चयरूप ज्ञान और अनुभवरूप विज्ञानसे भलीभाँति सम्पन्न होकर तुम अपने आत्माके अनुभवमें ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधारियोंके आत्मा हो जाओगे! इसलिये किसी भी विघ्नसे तुम पीडित नहीं हो सकोगे; क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न करनेवालोंकी

---

१. स्वजनबन्धनम् ।

* विहित कर्म । † विहित कर्मका लोप । ‡ निषिद्ध कर्म ।

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः ॥११॥
सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप ।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम् ॥१३॥

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव ।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः ॥१४॥
त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः ।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः ॥१५॥
सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे ।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥१६॥
सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे ।

आत्मा भी तुम्हीं होगे ॥ १० ॥ जो पुरुष गुण और दोष-बुद्धिसे अतीत हो जाता है, वह बालकके समान निषिद्ध कर्मसे निवृत्त होता है, परन्तु दोष-बुद्धिसे नहीं। वह विहित कर्मका अनुष्ठान भी करता है, परन्तु गुण-बुद्धिसे नहीं ॥ ११ ॥ जिसने श्रुतियोंके तात्पर्यका यथार्थ ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर लिया, बल्कि उनका साक्षात्कार भी कर लिया है और इस प्रकार जो अटल निश्चयसे सम्पन्न हो गया है, वह समस्त प्राणियोंका हितैषी सुहृद् होता है और उसकी वृत्तियाँ सर्वथा शान्त रहती हैं। वह समस्त प्रतीयमान विश्वको मेरा ही स्वरूप—आत्मस्वरूप देखता है; इसलिये उसे फिर कभी जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता ॥ १२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आदेश दिया, तब भगवान्‌के परम-प्रेमी उद्धवजीने उन्हें प्रणाम करके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे यह प्रश्न किया ॥ १३ ॥

उद्धवजीने कहा—भगवन् ! आप ही समस्त योगियोंकी गुप्त पूँजी योगोंके कारण और योगेश्वर हैं। आप ही समस्त योगोंके आधार, उनके कारण और योगस्वरूप भी हैं। आपने मेरे परमकल्याणके लिये उस संन्यासरूप त्यागका उपदेश किया है ॥ १४ ॥ परन्तु अनन्त ! जो लोग विषयोंके चिन्तन और सेवनमें घुल-मिल गये हैं, विषयात्मा हो गये हैं, उनके लिये विषय-भोगों और कामनाओंका त्याग अत्यन्त कठिन है । सर्वस्वरूप ! उनमें भी जो लोग आपसे विमुख हैं, उनके लिये तो इस प्रकारका त्याग सर्वथा असम्भव ही है—ऐसा मेरा निश्चय है ॥ १५ ॥ प्रभो ! मैं भी ऐसा ही हूँ; मेरी मति इतनी मूढ़ हो गयी है कि 'यह मैं हूँ,' 'यह मेरा है' इस भावसे मैं आपकी मायाके खेल, देह और देहके सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन आदिमें डूब रहा हूँ। अतः भगवन् ! आपने जिस संन्यासका उपदेश किया है, उसका तत्त्व मुझ सेवकको इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ ॥ १६ ॥ मेरे प्रभो ! आप भूत, भविष्य, वर्तमान—इन तीनों कालोंसे अबाधित, एकरस सत्य हैं। आप दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप हैं । प्रभो ! मैं समझता हूँ कि मेरे लिये आत्मतत्त्वका उपदेश करनेवाला आपके अतिरिक्त देवताओंमें भी कोई नहीं है । ब्रह्मा आदि

सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥१७॥
तस्माद् भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।
निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥१८॥

जितने बड़े-बड़े देवता हैं, वे सब शरीराभिमानी होनेके कारण आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं। उनकी बुद्धि मायाके वशमें हो गयी है। यही कारण है कि वे इन्द्रियोंसे अनुभव किये जानेवाले बाह्य विषयोंको सत्य मानते हैं। इसलिये मुझे तो आप ही उपदेश कीजिये ॥१७॥ भगवन्! इसीसे चारों ओरसे दुःखोंकी दावाग्निसे जलकर और विरक्त होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप निर्दोष देश-कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अविनाशी वैकुण्ठलोकके निवासी एवं नरके नित्य सखा नारायण हैं। (अतः आप ही मुझे उपदेश कीजिये) ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः ।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥१९॥
आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥२०॥
पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः ।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥२१॥
एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः ।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥२२॥
अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥२३॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! संसारमें जो मनुष्य 'यह जगत् क्या है? इसमें क्या हो रहा है?' इत्यादि बातोंका विचार करनेमें निपुण हैं, वे चित्तमें भरी हुई अशुभ वासनाओंसे अपने-आपको स्वयं अपनी विवेक-शक्तिसे ही प्रायः बचा लेते हैं ॥ १९ ॥ समस्त प्राणियोंका विशेषकर मनुष्यका आत्मा अपने हित और अहितका उपदेशक गुरु है। क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमानके द्वारा अपने हित-अहितका निर्णय करनेमें पूर्णतः समर्थ है ॥ २० ॥ सांख्य-योगविशारद धीर पुरुष इस मनुष्ययोनिमें इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति आदिके आश्रयभूत मुझ आत्मतत्त्वको पूर्णतः प्रकटरूपसे साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ २१ ॥ मैंने एक पैरवाले, दो पैरवाले, तीन पैरवाले, चार पैरवाले, चारसे अधिक पैरवाले और बिना पैरके— इत्यादि अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण किया है। उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्यका ही शरीर है ॥ २२ ॥ इस मनुष्य-शरीरमें एकाग्रचित्त तीक्ष्णबुद्धि पुरुष बुद्धि आदि ग्रहण किये जानेवाले हेतुओंसे जिनसे कि अनुमान भी होता है, अनुमानसे अग्राह्य अर्थात् अहङ्कार आदि विषयोंसे भिन्न मुझ सर्वप्रवर्तक ईश्वरको साक्षात् अनुभव करते हैं* ॥ २३ ॥ इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास परम

१. रिह मुहुः ।

* अनुसन्धानके दो प्रकार हैं— (१) एक स्वप्रकाश तत्त्वके बिना बुद्धि आदि जड पदार्थोंका प्रकाश नहीं हो सकता। इस प्रकार अर्थापत्तिके द्वारा और (२) जैसे बसौला आदि औंजार किसी कर्ताके द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार यह

अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥२४॥
अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥२५॥

यदुरुवाच[2]

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत् ॥२६॥
प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः ॥२७॥
त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः।
न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥२८॥
जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः ॥२९॥
त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम्।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥३०॥

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥३१॥

तेजस्वी अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदुके संवादके रूपमें है ॥ २४ ॥ एक बार धर्मके मर्मज्ञ राजा यदुने देखा कि एक त्रिकालदर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे हैं। तब उन्होंने उनसे यह प्रश्न किया ॥२५॥

राजा यदुने पूछा—ब्रह्मन्! आप कर्म तो करते नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई? जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान् होनेपर भी बालकके समान संसारमें विचरते हैं ॥ २६ ॥ ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य आयु, यश अथवा सौन्दर्य-सम्पत्ति आदिकी अभिलाषा लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासामें प्रवृत्त होते हैं; अकारण कहीं किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती ॥ २७ ॥ मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करनेमें समर्थ, विद्वान् और निपुण हैं। आपका भाग्य और सौन्दर्य भी प्रशंसनीय है। आपकी वाणीसे तो मानो अमृत टपक रहा है। फिर भी आप जड़, उन्मत्त अथवा पिशाचके समान रहते हैं; न तो कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं ॥२८॥ संसारके अधिकांश लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं। परन्तु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आप मुक्त हैं, आपतक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती; ठीक वैसे ही जैसे कोई हाथी वनमें दावाग्नि लगनेपर उससे छूटकर गङ्गाजलमें खड़ा हो ॥ २९ ॥ ब्रह्मन्! आप पुत्र, स्त्री, धन आदि संसारके स्पर्शसे भी रहित हैं। आप सदा-सर्वदा अपने केवल स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपको अपने आत्मामें ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कैसे होता है? आप कृपा करके अवश्य बतलाइये ॥३०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! हमारे पूर्वज महाराज यदुकी बुद्धि शुद्ध थी और उनके हृदयमें ब्राह्मणभक्ति थी। उन्होंने परमभाग्यवान् दत्तात्रेयजीका अत्यन्त सत्कार करके यह प्रश्न पूछा और बड़े विनम्र-भावसे सिर झुकाकर वे उनके सामने खड़े हो गये। अब दत्तात्रेयजीने कहा ॥ ३१ ॥

---

१. करुणम्। २. प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

बुद्धि आदि औजार किसी कर्ताके द्वारा ही प्रयुक्त हो रहे हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा आनुमानिक है। यह तो देहादिसे विलक्षण त्वंपदार्थके शोधनकी युक्तिमात्र है।

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु ॥३२॥
पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः ॥३३॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥३४॥
एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥३५॥
यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥३६॥

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मैंने अपनी बुद्धिसे बहुत-से गुरुओंका आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत्में मुक्तभावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ। तुम उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो ॥ ३२ ॥ मेरे गुरुओंके नाम हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिङ्गला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट ॥ ३३-३४ ॥ राजन्! मैंने इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया है और इन्हींके आचरणसे इस लोकमें अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है ॥ ३५ ॥ वीरवर ययातिनन्दन! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, वह सब ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ३६ ॥

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः ।
तद् विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥३७॥

मैंने पृथ्वीसे उसके धैर्यकी, क्षमाकी शिक्षा ली है। (1) लोग पृथ्वीपर कितना आघात और क्या-क्या उत्पात नहीं करते; परन्तु वह न तो किसीसे बदला लेती है और न रोती-चिल्लाती है। संसारके सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार चेष्टा कर रहे हैं, वे समय-समयपर भिन्न-भिन्न प्रकारसे जान या अनजानमें आक्रमण कर बैठते हैं। धीर पुरुषको चाहिये कि उनकी विवशता समझे, न तो अपना धीरज खोवे और न क्रोध करे। अपने मार्गपर ज्यों-का-त्यों चलता रहे ॥ ३७ ॥

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः ।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥३८॥

पृथ्वीके ही विकार पर्वत और वृक्षसे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा सर्वदा दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि उनका जन्म ही एकमात्र दूसरोंका हित करनेके लिये ही हुआ है, साधु पुरुषको चाहिये कि उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे ॥ ३८ ॥

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।

मैंने शरीरके भीतर रहनेवाले वायु—प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह आहारमात्रकी इच्छा रखता है और उसकी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधकको भी चाहिये कि जितनेसे

ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥३९॥

विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ।

गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥४०॥

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।

गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥४१॥

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु

ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।

व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो

मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥४२॥

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ।

जीवन-निर्वाह हो जाय, उतना भोजन कर ले। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये बहुत-से विषय न चाहे। संक्षेपमें उतने ही विषयोंका उपयोग करना चाहिये, जिनसे बुद्धि विकृत न हो, मन चञ्चल न हो और वाणी व्यर्थकी बातोंमें न लग जाय ॥ ३९ ॥ शरीरके बाहर रहनेवाले वायुसे मैंने यह सीखा है कि जैसे वायुको अनेक स्थानोंमें जाना पड़ता है, परन्तु वह कहीं भी आसक्त नहीं होता, किसीका भी गुण-दोष नहीं अपनाता, वैसे ही साधक पुरुष भी आवश्यकता होनेपर विभिन्न प्रकारके धर्म और स्वभाववाले विषयोंमें जाय, परन्तु अपने लक्ष्यपर स्थिर रहे। किसीके गुण या दोषकी ओर झुक न जाय, किसीसे आसक्ति या द्वेष न कर बैठे ॥ ४० ॥ गन्ध वायुका गुण नहीं, पृथ्वीका गुण है। परन्तु वायुको गन्धका वहन करना पड़ता है। ऐसा करनेपर भी वायु शुद्ध ही रहता है, गन्धसे उसका सम्पर्क नहीं होता। वैसे ही साधकका जबतक इस पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध है, तबतक उसे इसकी व्याधि-पीड़ा और भूख-प्यास आदिका भी वहन करना पड़ता है। परन्तु अपनेको शरीर नहीं, आत्माके रूपमें देखनेवाला साधक शरीर और उसके गुणोंका आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है ॥ ४१ ॥

राजन्! जितने भी घट-मठ आदि पदार्थ हैं, वे चाहे चल हों या अचल, उनके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आकाश एक और अपरिच्छिन्न (अखण्ड) ही है। वैसे ही चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मारूपसे सर्वत्र स्थित होनेके कारण ब्रह्म सभीमें है। साधकको चाहिये कि सूतके मनियोंमें व्याप्त सूतके समान आत्माको अखण्ड और असङ्गरूपसे देखे। वह इतना विस्तृत है कि उसकी तुलना कुछ-कुछ आकाशसे ही की जा सकती हैं। इसलिये साधकको आत्माकी आकाशरूपताकी भावना करनी चाहिये ॥ ४२ ॥ आग लगती है, पानी बरसता है, अन्न आदि पैदा होते और नष्ट होते हैं, वायुकी प्रेरणासे बादल आदि आते और चले जाते हैं; यह सब होनेपर भी आकाश अछूता रहता है। आकाशकी

न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥४३॥

दृष्टिसे यह सब कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्यके चक्करमें न जाने किन-किन नामरूपोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं; परन्तु आत्माके साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है ॥ ४३ ॥

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥४४॥

जिस प्रकार जल स्वभावसे ही स्वच्छ, चिकना, मधुर और पवित्र करनेवाला होता है तथा गङ्गा आदि तीर्थोंके दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे भी लोग पवित्र हो जाते हैं—वैसे ही साधकको भी स्वभावसे ही शुद्ध, स्निग्ध, मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये। जलसे शिक्षा ग्रहण करनेवाला अपने दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे लोगोंको पवित्र कर देता है ॥ ४४ ॥

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥४५॥

राजन्! मैंने अग्निसे यह शिक्षा ली है कि जैसे वह तेजस्वी और ज्योतिर्मय होती है, जैसे उसे कोई अपने तेजसे दबा नहीं सकता, जैसे उसके पास संग्रह-परिग्रहके लिये कोई पात्र नहीं—सब कुछ अपने पेटमें रख लेती है, और जैसे सब कुछ खा-पी लेनेपर भी विभिन्न वस्तुओंके दोषोंसे वह लिप्त नहीं होती; वैसे ही साधक भी परम तेजस्वी, तपस्यासे देदीप्यमान, इन्द्रियोंसे अपराभूत, भोजनमात्रका संग्रही और यथायोग्य सभी विषयोंका उपभोग करता हुआ भी अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रक्खे, किसीका दोष अपनेमें न आने दे ॥ ४५ ॥ जैसे अग्नि कहीं (लकड़ी आदिमें) अप्रकट रहती है और कहीं प्रकट, वैसे ही साधक भी कहीं गुप्त रहे और कहीं प्रकट हो जाय। वह कहीं-कहीं ऐसे रूपमें भी प्रकट हो जाता है, जिससे कल्याणकामी पुरुष उसकी उपासना कर सकें। वह अग्निके समान ही भिक्षारूप हवन करनेवालोंके अतीत और भावी अशुभको भस्म कर देता है तथा सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है ॥ ४६ ॥

क्वचिच्छन्नः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन् प्रागुत्तराशुभम् ॥४६॥

साधक पुरुषको इसका विचार करना चाहिये कि जैसे अग्नि लंबी-चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रहकर उनके समान ही सीधी-टेढ़ी या लंबी-चौड़ी दिखायी पड़ती है—वास्तवमें वह वैसी है नहीं; वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत्में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूपसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी उनके रूपमें प्रतीत होने लगता है ॥ ४७ ॥

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥४७॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥४८॥
कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥४९॥
गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति ।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥५०॥
बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः ।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥५१॥
नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ॥५२॥
कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः ॥५३॥

मैंने चन्द्रमासे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यद्यपि जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, तथापि चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही है, वह न घटता है और न बढ़ता ही है; वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं, सब शरीरकी हैं, आत्मासे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ४८ ॥ जैसे आगकी लपट अथवा दीपककी लौ क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है—उनका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, परन्तु दीख नहीं पड़ता—वैसे ही जलप्रवाहके समान वेगवान् कालके द्वारा क्षण-क्षणमें प्राणियोंके शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परन्तु अज्ञानवश वह दिखायी नहीं पड़ता ॥ ४९ ॥

राजन्! मैंने सूर्यसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचते और समयपर उसे बरसा देते हैं, वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा समयपर विषयोंका ग्रहण करता है और समय आनेपर उनका त्याग—उनका दान भी कर देता है। किसी भी समय उसे इन्द्रियके किसी भी विषयमें आसक्ति नहीं होती ॥ ५० ॥ स्थूलबुद्धि पुरुषोंको जलके विभिन्न पात्रोंमें प्रतिबिम्बित हुआ सूर्य उन्हींमें प्रविष्ट-सा होकर भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ता है। परन्तु इससे स्वरूपतः सूर्य अनेक नहीं हो जाता; वैसे ही चल-अचल उपाधियोंके भेदसे ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मा अलग-अलग है। परन्तु जिनको ऐसा मालूम होता है, उनकी बुद्धि मोटी है। असल बात तो यह है कि आत्मा सूर्यके समान एक ही है। स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है ॥ ५१ ॥

राजन्! कहीं किसीके साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति न करनी चाहिये, अन्यथा उसकी बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर दीन हो जायगी और उसे कबूतरकी तरह अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा ॥ ५२ ॥ राजन्! किसी जंगलमें एक कबूतर रहता था, उसने एक पेड़पर अपना घोंसला बना रक्खा था। अपनी मादा कबूतरीके साथ वह कई वर्षोंतक उसी घोंसलेमें रहा ॥ ५३ ॥

१. नाव्यक्तमूर्तिना। २. यथाकाले।

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः ॥५४॥
शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम् ।
मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥५५॥
यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता ।
तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥५६॥
कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते ।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती ॥५७॥
तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः ।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ॥५८॥
प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥५९॥
तासां पतत्त्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥६०॥
स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया ।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः ॥६१॥
एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥६२॥
दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चिद् यदृच्छातो वनेचरः ।

उस कबूतरके जोड़ेके हृदयमें निरन्तर एक-दूसरेके प्रति स्नेहकी वृद्धि होती जाती थी। वे गृहस्थधर्ममें इतने आसक्त हो गये थे कि उन्होंने एक-दूसरेकी दृष्टि-से-दृष्टि, अङ्ग-से-अङ्ग और बुद्धि-से-बुद्धिको बाँध रक्खा था ॥५४॥ उनका एक-दूसरेपर इतना विश्वास हो गया था कि वे निःशङ्क होकर वहाँकी वृक्षावलीमें एक साथ सोते, बैठते, घूमते-फिरते, ठहरते, बातचीत करते, खेलते और खाते-पीते थे ॥ ५५ ॥ राजन्! कबूतरीपर कबूतरका इतना प्रेम था कि वह जो कुछ चाहती, कबूतर बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाकर उसकी कामना पूर्ण करता; वह कबूतरी भी अपने कामुक पतिकी कामनाएँ पूर्ण करती ॥ ५६ ॥ समय आनेपर कबूतरीको पहला गर्भ रहा। उसने अपने पतिके पास ही घोंसलेमें अंडे दिये ॥५७॥ भगवान्‌की अचिन्त्य शक्तिसे समय आनेपर वे अंडे फूट गये और उनमेंसे हाथ-पैरवाले बच्चे निकल आये। उनका एक एक अङ्ग और रोएँ अत्यन्त कोमल थे ॥ ५८ ॥ अब उन कबूतर-कबूतरीकी आँखें अपने बच्चोंपर लग गयीं, वे बड़े प्रेम और आनन्दसे अपने बच्चोंका लालन-पालन, लाड़-प्यार करते और उनकी मीठी बोली, उनकी गुटर-गूँ सुन-सुनकर आनन्दमग्न हो जाते ॥ ५९ ॥ बच्चे तो सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते ही हैं; वे जब अपने सुकुमार-पंखोंसे मा-बापका स्पर्श करते, कूजते, भोली-भाली चेष्टाएँ करते और फुदक-फुदककर अपने मा-बापके पास दौड़ आते तब कबूतर-कबूतरी आनन्दमग्न हो जाते ॥ ६० ॥ राजन्! सच पूछो तो वे कबूतर-कबूतरी भगवान्‌की मायासे मोहित हो रहे थे। उनका हृदय एक-दूसरेके स्नेहबन्धनसे बँध रहा था। वे अपने नन्हे-नन्हे बच्चोंके पालन-पोषणमें इतने व्यग्र रहते कि उन्हें दीन-दुनिया, लोक-परलोककी याद ही न आती ॥ ६१ ॥ एक दिन दोनों नर-मादा अपने बच्चोंके लिये चारा लाने जंगलमें गये हुए थे। क्योंकि अब उनका कुटुम्ब बहुत बढ़ गया था। वे चारेके लिये चिरकालतक जंगलमें चारों ओर विचरते रहे ॥ ६२ ॥ इधर एक बहेलिया घूमता-घूमता संयोगवश उनके घोंसलेकी ओर आ निकला। उसने देखा

१. राजन्नत्यर्थमनु० ।

जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके ॥६३॥

कि घोंसलेके आस-पास कबूतरके बच्चे फुदक रहे हैं; उसने जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लिया ॥ ६३ ॥

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ[1]।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥६४॥

कबूतर-कबूतरी बच्चोंको खिलाने-पिलानेके लिये हर समय उत्सुक रहा करते थे। अब वे चारा लेकर अपने घोंसलेके पास आये ॥ ६४ ॥

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकाञ्जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता ॥६५॥

कबूतरीने देखा कि उसके नन्हे-नन्हे बच्चे, उनके हृदयके टुकड़े जालमें फँसे हुए हैं और दुःखसे चें-चें कर रहे हैं। उन्हें ऐसी स्थितिमें देखकर कबूतरीके दुःखकी सीमा न रही। वह रोती-चिल्लाती उनके पास दौड़ गयी ॥ ६५ ॥

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया।
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥६६॥

भगवान्‌की मायासे उसका चित्त अत्यन्त दीन-दुखी हो रहा था। वह उमड़ते हुए स्नेहकी रस्सीसे जकड़ी हुई थी; अपने बच्चोंको जालमें फँसा देखकर उसे अपने शरीरकी भी सुध-बुध न रही। और वह स्वयं ही जाकर जालमें फँस गयी ॥ ६६ ॥

कपोतश्चात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।
भार्यां[2] चात्मसमां दीनो[3] विललापातिदुःखितः ॥६७॥

जब कबूतरने देखा कि मेरे प्राणोंसे भी प्यारे बच्चे जालमें फँस गये और मेरी प्राणप्रिया पत्नी भी उसी दशामें पहुँच गयी, तब वह अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगा। सचमुच उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी ॥ ६७ ॥

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥६८॥

'मैं अभागा हूँ, दुर्मति हूँ। हाय, हाय! मेरा तो सत्यानाश हो गया। देखो, देखो न मुझे अभी तृप्ति हुई और न मेरी आशाएँ ही पूरी हुईं। तबतक मेरा धर्म, अर्थ और कामका मूल यह गृहस्थाश्रम ही नष्ट हो गया ॥ ६८ ॥

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता।
शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥६९॥

हाय! मेरी प्राणप्यारी मुझे ही अपना इष्टदेव समझती थी; मेरी एक-एक बात मानती थी, मेरे इशारेपर नाचती थी, सब तरहसे मेरे योग्य थी। आज वह मुझे सूने घरमें छोड़कर हमारे सीधे-सादे निश्छल बच्चोंके साथ स्वर्ग सिधार रही है ॥ ६९ ॥

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥७०॥

मेरे बच्चे मर गये। मेरी पत्नी जाती रही। मेरा अब संसारमें क्या काम है? मुझ दीनका यह विधुरजीवन—बिना गृहिणीका जीवन जलनका—व्यथाका जीवन है। अब मैं इस सूने घरमें किसके लिये जीऊँ?' ॥ ७० ॥

तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥७१॥

राजन्! कबूतरके बच्चे जालमें फँसकर तड़फड़ा रहे थे, स्पष्ट दीख रहा था कि वे मौतके पंजेमें हैं, परन्तु वह मूर्ख कबूतर यह सब देखते हुए भी इतना दीन हो रहा था कि स्वयं जान-बूझकर जालमें कूद पड़ा ॥ ७१ ॥

१. प्रजापोषणसोत्सुकौ। २. प्रजापोषण०। ३. दीनाम्।

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम् ।
कपोतकान् कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ॥७२॥

राजन्! वह बहेलिया बड़ा क्रूर था। गृहस्थाश्रमी कबूतर-कबूतरी और उनके बच्चोंके मिल जानेसे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई; उसने समझा मेरा काम बन गया और वह उन्हें लेकर चलता बना ॥ ७२ ॥

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत् ।
पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥७३॥

जो कुटुम्बी है, विषयों और लोगोंके सङ्ग-साथमें ही जिसे सुख मिलता है एवं अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही जो सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। वह उसी कबूतरके समान अपने कुटुम्बके साथ कष्ट पाता है ॥ ७३ ॥

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥७४॥

यह मनुष्य-शरीर मुक्तिका खुला हुआ द्वार है। इसे पाकर भी जो कबूतरकी तरह अपनी घर-गृहस्थीमें ही फँसा हुआ है, वह बहुत ऊँचेतक चढ़कर गिर रहा है। शास्त्रकी भाषामें वह 'आरूढच्युत' है ॥ ७४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अवधूतोपाख्यान—अजगरसे लेकर पिङ्गलातक नौ गुरुओंकी कथा

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च ।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥ १ ॥

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन्! प्राणियोंको जैसे बिना इच्छाके, बिना किसी प्रयत्नके, रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही स्वर्गमें या नरकमें—कहीं भी रहें, उन्हें इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख भी प्राप्त होते ही हैं। इसलिये सुख और दुःखका रहस्य जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इनके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकारका प्रयत्न न करे ॥ १ ॥

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २ ॥

बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल जाय—वह चाहे रूखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक हो या थोड़ा—बुद्धिमान् पुरुष अजगरके समान उसे ही खाकर जीवन-निर्वाह कर ले और उदासीन रहे ॥ २ ॥

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः ।
यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥

यदि भोजन न मिले तो उसे भी प्रारब्ध-भोग समझकर किसी प्रकारकी चेष्टा न करे, बहुत दिनोंतक भूखा ही पड़ा रहे। उसे चाहिये कि अजगरके समान केवल प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए भोजनमें ही सन्तुष्ट रहे ॥ ३ ॥

ओजः सहोबलयुतं बिभ्रद् देहमकर्मकम् ।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४ ॥

उसके शरीरमें मनोबल, इन्द्रियबल और देहबल तीनों हों तब भी वह निश्चेष्ट ही रहे । निद्रारहित होनेपर भी सोया हुआ-सा रहे और कर्मेन्द्रियोंके होनेपर भी उनसे कोई चेष्टा न करे । राजन् ! मैंने अजगरसे यही शिक्षा ग्रहण की है ॥ ४ ॥

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५ ॥
समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः ।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥ ६ ॥

समुद्रसे मैंने यह सीखा है कि साधकको सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना चाहिये, उसका भाव अथाह, अपार और असीम होना चाहिये तथा किसी भी निमित्तसे उसे क्षोभ न होना चाहिये । उसे ठीक वैसे ही रहना चाहिये, जैसे ज्वार-भाटे और तरङ्गोंसे रहित शान्त समुद्र ॥ ५ ॥ देखो, समुद्र वर्षाऋतुमें नदियोंकी बाढ़के कारण बढ़ता नहीं और न ग्रीष्म-ऋतुमें घटता ही है; वैसे ही भगवत्परायण साधकको भी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे प्रफुल्लित न होना चाहिये और न उनके घटनेसे उदास ही होना चाहिये ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ७ ॥
योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ८ ॥

राजन् ! मैंने पतिंगेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह रूपपर मोहित होकर आगमें कूद पड़ता है और जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला पुरुष जब स्त्रीको देखता है तो उसके हाव-भावपर लट्टू हो जाता है और घोर अन्धकारमें, नरकमें गिरकर अपना सत्यानाश कर लेता है । सचमुच स्त्री देवताओंकी वह माया है, जिससे जीव भगवान् या मोक्षकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाता है ॥ ७ ॥ जो मूढ़ कामिनी-कञ्चन, गहने-कपड़े आदि नाशवान् मायिक पदार्थोंमें फँसा हुआ है और जिसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति उनके उपभोगके लिये ही लालायित है, वह अपनी विवेक-बुद्धि खोकर पतिंगेके समान नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता ।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ॥ ९ ॥
अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।

राजन् ! संन्यासीको चाहिये कि गृहस्थोंको किसी प्रकारका कष्ट न देकर भौंरेकी तरह अपना जीवन-निर्वाह करे । वह अपने शरीरके लिये उपयोगी रोटीके कुछ टुकड़े कई घरोंसे माँग ले* ॥ ९ ॥ जिस प्रकार भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे—चाहे वे छोटे हों या बड़े—उनका सार संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुषको

* नहीं तो एक ही कमलके गन्धमें आसक्त हुआ भ्रमर जैसे रात्रिके समय उसमें बंद हो जानेसे नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्वादवासनासे एक ही गृहस्थका अन्न खानेसे उसके सांसर्गिक मोहमें फँसकर यति भी नष्ट हो जायगा ।

सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥१०॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम् ।

पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही ॥११॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः ।

मक्षिका इव सङ्गृह्णन् सह तेन विनश्यति ॥१२॥

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि ।

स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥१३॥

नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।

बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥१४॥

न[1] देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःखसञ्चितम् ।

भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥१५॥

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः ।

चाहिये कि छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सार—उनका रस निचोड़ ले ॥ १० ॥ राजन्! मैंने मधुमक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सायङ्काल अथवा दूसरे दिनके लिये भिक्षाका संग्रह न करना चाहिये। उसके पास भिक्षा लेनेको कोई पात्र हो तो केवल हाथ और रखनेके लिये कोई बर्तन हो तो पेट। वह कहीं संग्रह न कर बैठे, नहीं तो मधुमक्खियोंके समान उसका जीवन ही दूभर हो जायगा ॥ ११ ॥ यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि संन्यासी सवेरे-शामके लिये किसी प्रकारका संग्रह न करे; यदि संग्रह करेगा तो मधुमक्खियोंके समान अपने संग्रहके साथ ही जीवन भी गँवा बैठेगा ॥ १२ ॥

राजन्! मैंने हाथीसे यह सीखा कि संन्यासीको कभी पैरसे भी काठकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो जैसे हथिनीके अङ्ग-सङ्गसे हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह भी बँध जायगा* ॥ १३ ॥ विवेकी पुरुष किसी भी स्त्रीको कभी भी भोग्यरूपसे स्वीकार न करे; क्योंकि यह उसकी मूर्तिमती मृत्यु है। यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियोंसे हाथीकी तरह अधिक बलवान् अन्य पुरुषोंके द्वारा मारा जायगा ॥ १४ ॥

मैंने मधु निकालनेवाले पुरुषसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संसारके लोभी पुरुष बड़ी कठिनाईसे धनका सञ्चय तो करते रहते हैं, किन्तु वह सञ्चित धन न किसीको दान करते हैं और न स्वयं उसका उपभोग ही करते हैं। बस, जैसे मधु निकालनेवाला मधुमक्खियोंद्वारा सञ्चित रसको निकाल ले जाता है, वैसे ही उनके सञ्चित धनको भी उसकी टोह रखनेवाला कोई दूसरा पुरुष ही भोगता है ॥ १५ ॥ तुम देखते हो न कि मधुहारी मधुमक्खियोंका जोड़ा हुआ मधु उनके खानेसे पहले ही साफ कर जाता है; वैसे ही गृहस्थोंके बहुत कठिनाईसे सञ्चित किये पदार्थोंको, जिनसे

१. नो।

* हाथी पकड़नेवाले तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेपर कागजकी हथिनी खड़ी कर देते हैं। उसे देखकर हाथी वहाँ आता है और गड्ढेमें गिरकर फँस जाता है।

मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥१६॥

वे सुखभोगकी अभिलाषा रखते हैं, उनसे भी पहले संन्यासी और ब्रह्मचारी भोगते हैं। क्योंकि गृहस्थ तो पहले अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करेगा ॥ १६ ॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित्।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥१७॥

मैंने हरिनसे यह सीखा है कि वनवासी संन्यासीको कभी विषय-सम्बन्धी गीत नहीं सुनने चाहिये। वह इस बातकी शिक्षा उस हरिनसे ग्रहण करे, जो व्याधके गीतसे मोहित होकर बँध जाता है ॥ १७ ॥

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥१८॥

तुम्हें इस बातका पता है कि हरिनीके गर्भसे पैदा हुए ऋष्यशृङ्ग मुनि स्त्रियोंका विषय-सम्बन्धी गाना-बजाना, नाचना आदि देख-सुनकर उनके वशमें हो गये थे और उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे ॥ १८ ॥

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्‌बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥१९॥

अब मैं तुम्हें मछलीकी सीख सुनाता हूँ। जैसे मछली काँटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वादका लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपनी मनको मथकर व्याकुल कर देनेवाली जिह्वाके वशमें हो जाता है और मारा जाता है ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥२०॥

विवेकी पुरुष भोजन बंद करके दूसरी इन्द्रियोंपर तो बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इससे उनकी रसना-इन्द्रिय वशमें नहीं होती। वह तो भोजन बंद कर देनेसे और भी प्रबल हो जाती है ॥ २० ॥

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥२१॥

मनुष्य और सब इन्द्रियों-पर विजय प्राप्त कर लेनेपर भी तबतक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जबतक रसनेन्द्रियको अपने वशमें नहीं कर लेता। और यदि रसनेन्द्रियको वशमें कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं ॥ २१ ॥

पिङ्गला नाम वेश्याऽऽसीद् विदेहनगरे पुरा।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥२२॥

नृपनन्दन! प्राचीनकालकी बात है, विदेहनगरी मिथिलामें एक वेश्या रहती थी। उसका नाम था पिङ्गला। मैंने उससे जो कुछ शिक्षा ग्रहण की, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सावधान होकर सुनो ॥२२॥

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती।
अभूत् काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥२३॥

वह स्वेच्छाचारिणी तो थी ही, रूपवती भी थी। एक दिन रात्रिके समय किसी पुरुषको अपने रमणस्थानमें लानेके लिये खूब बन-ठनकर—उत्तम वस्त्राभूषणोंसे सजकर बहुत देरतक अपने घरके बाहरी दरवाजेपर खड़ी रही ॥ २३ ॥

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ।

नररत्न! उसे पुरुषकी नहीं, धनकी कामना थी और उसके मनमें यह कामना इतनी दृढ़मूल

तान्छुल्कदान् वित्तवतःकान्तान् मेनेऽर्थकामुका ।२४।

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी ।

अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ।।२५।।

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती ।

निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत ।।२६।।

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः ।

निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ।।२७।।

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम ।

निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ।।२८।।

न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति ।

यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ।।२९।।

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः ।

या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा ।।३०।।

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं

वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ।

हो गयी थी कि वह किसी भी पुरुषको उधरसे आते-जाते देखकर यही सोचती कि यह कोई धनी है और मुझे धन देकर उपभोग करनेके लिये ही आ रहा है ॥ २४ ॥ जब आने-जानेवाले आगे बढ़ जाते, तब फिर वह सङ्केतजीविनी वेश्या यही सोचती कि अवश्य ही अबकी बार कोई ऐसा धनी मेरे पास आवेगा जो मुझे बहुत-सा धन देगा ॥ २५ ॥ उसके चित्तकी यह दुराशा बढ़ती ही जाती थी। वह दरवाजेपर बहुत देरतक टँगी रही। उसकी नींद भी जाती रही। वह कभी बाहर आती, तो कभी भीतर जाती। इस प्रकार आधी रात हो गयी ॥ २६ ॥ राजन्! सचमुच आशा और सो भी धनकी—बहुत बुरी है। धनीकी बाट जोहते-जोहते उसका मुँह सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया। अब उसे इस वृत्तिसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसमें दुःख-बुद्धि हो गयी। इसमें सन्देह नहीं कि इस वैराग्य-का कारण चिन्ता ही थी। परन्तु ऐसा वैराग्य भी है तो सुखका ही हेतु ॥ २७ ॥ जब पिङ्गलाके चित्तमें इस प्रकार वैराग्यकी भावना जाग्रत् हुई, तब उसने एक गीत गाया। वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। राजन्! मनुष्य आशाकी फाँसीपर लटक रहा है। इसको तलवारकी तरह काटनेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य है ॥ २८ ॥ प्रिय राजन्! जिसे वैराग्य नहीं हुआ है, जो इन बखेड़ोंसे ऊबा नहीं है, वह शरीर और इसके बन्धनसे उसी प्रकार मुक्त नहीं होना चाहता, जैसा अज्ञानी पुरुष ममता छोड़नेकी इच्छा भी नहीं करता ॥ २९ ॥

पिङ्गलाने यह गीत गाया था—हाय! हाय! मैं इन्द्रियोंके अधीन हो गयी। भला! मेरे मोहका विस्तार तो देखो, मैं इन दुष्ट पुरुषोंसे, जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, विषयसुखकी लालसा करती हूँ। कितने दुःखकी बात है! मैं सचमुच मूर्ख हूँ ॥ ३० ॥ देखो तो सही, मेरे निकट-से-निकट हृदयमें ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान् विराजमान हैं। वे वास्तविक प्रेम सुख और परमार्थका सच्चा धन भी देनेवाले हैं। जगत्के पुरुष अनित्य हैं और वे नित्य हैं। हाय! हाय! मैंने उनको

१. लम्बिनी। २. निशीथः। ३. तथा। ४. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥३१॥
अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥३२॥
यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम् ।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥३३॥
विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः ।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात् ॥३४॥
सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् ।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥३५॥
कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः ।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः ॥३६॥
नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः ॥३७॥

तो छोड़ दिया और उन तुच्छ मनुष्योंका सेवन किया, जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते; उलटे दुःख-भय, आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं। यह मेरी मूर्खताकी हद है कि मैं उनका सेवन करती हूँ ॥ ३१ ॥ बड़े खेदकी बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय आजीविका वेश्यावृत्तिका आश्रय लिया और व्यर्थमें अपने शरीर और मनको क्लेश दिया, पीड़ा पहुँचायी। मेरा यह शरीर बिक गया है। लम्पट, लोभी और निन्दनीय मनुष्योंने इसे खरीद लिया है और मैं इतनी मूर्ख हूँ कि इसी शरीरसे धन और रति-सुख चाहती हूँ। मुझे धिक्कार है ! ॥ ३२ ॥ यह शरीर एक घर है। इसमें हड्डियोंके टेढ़े तिरछे बाँस और खंभे लगे हुए हैं; चाम, रोएँ और नाखूनोंसे यह छाया गया है। इसमें नौ दरवाजे हैं, जिनसे मल निकलते ही रहते हैं। इसमें सञ्चित सम्पत्तिके नामपर केवल मल और मूत्र है। मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन स्त्री है, जो इस स्थूलशरीरको अपना प्रिय समझकर सेवन करेगी ॥ ३३ ॥ यों तो यह विदेहोंकी—जीवन्मुक्तोंकी नगरी है, परन्तु इसमें मैं ही सबसे मूर्ख और दुष्ट हूँ; क्योंकि अकेली मैं ही तो आत्मदानी, अविनाशी एवं परमप्रियतम परमात्माको छोड़कर दूसरे पुरुषकी अभिलाषा करती हूँ ॥ ३४ ॥ मेरे हृदयमें विराजमान प्रभु, समस्त प्राणियोंके हितैषी, सुहृद्, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। अब मैं अपने आपको देकर इन्हें खरीद लूँगी और इनके साथ वैसे ही विहार करूँगी, जैसे लक्ष्मीजी करती हैं ॥ ३५ ॥ मेरे मूर्ख चित्त ! तू बतला तो सही, जगत्के विषय-भोगोंने और उनको देनेवाले पुरुषोंने तुझे कितना सुख दिया है। अरे ! वे तो स्वयं ही पैदा होते और मरते रहते हैं। मैं केवल अपनी ही बात नहीं कहती, केवल मनुष्योंकी भी नहीं; क्या देवताओंने भी भोगोंके द्वारा अपनी पत्नियोंको सन्तुष्ट किया है? वे बेचारे तो स्वयं-कालके गालमें पड़े-पड़े कराह रहे हैं ॥ ३६ ॥ अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्मसे विष्णुभगवान् मुझपर प्रसन्न हैं, तभी तो दुराशासे मुझे इस प्रकार वैराग्य हुआ है। अवश्य ही

मैवं स्युर्मन्दभाग्याया: क्लेशा निर्वेदहेतव: ।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुष: शममृच्छति ॥३८॥

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गता: ।
त्यक्त्वा दुराशा: शरणं व्रजामि तमधीश्वरम् ॥३९॥

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती ।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥४०॥

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् ।
ग्रस्तंकालाहिनाऽऽत्मानंकोऽन्यस्त्रातुमधीश्वर:॥४१॥

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात् ।
अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥४२॥

ब्राह्मण उवाच[1]

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् ।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥४३॥

आशा हि परमं दु:खं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥४४॥

मेरा यह वैराग्य सुख देनेवाला होगा ॥ ३७ ॥ यदि मैं मन्दभागिनी होती तो मुझे ऐसे दु:ख ही न उठाने पड़ते, जिनसे वैराग्य होता है । मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही घर आदिके सब बन्धनोंको काटकर शान्तिलाभ करता है ॥ ३८ ॥ अब मैं भगवान्‌का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषयभोगोंकी दुराशा छोड़कर उन्हीं जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ ॥ ३९ ॥ अब मुझे प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर लूँगी और बड़े सन्तोष तथा श्रद्धाके साथ रहूँगी । मैं अब किसी दूसरे पुरुषकी ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर, आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी ॥ ४० ॥ यह जीव संसारके कूएँमें गिरा हुआ है । विषयोंने इसे अंधा बना दिया है, कालरूपी अजगरने इसे अपने मुँहमें दबा रखा है । अब भगवान्‌को छोड़कर इसकी रक्षा करनेमें दूसरा कौन समर्थ है ॥ ४१ ॥ जिस समय जीव समस्त विषयोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है । इसलिये बड़ी सावधानीके साथ यह देखते रहना चाहिये, कि सारा जगत् कालरूपी अजगरसे ग्रस्त है ॥ ४२ ॥

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन् ! पिङ्गला वेश्याने ऐसा निश्चय करके अपने प्रिय धनियोंकी दुराशा, उनसे मिलनेकी लालसाका परित्याग कर दिया और शान्तभावसे जाकर वह अपनी सेजपर सो रही ॥ ४३ ॥ सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दु:ख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है; क्योंकि पिङ्गला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्याग दी, तभी वह सुखसे सो सकी ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धेऽष्टमोऽध्याय: ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्याय:

अवधूतोपाख्यान—कुररसे लेकर भृंगीतक सात गुरुओंकी कथा

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दु:खाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम् ।

अवधूत दत्तात्रेयजीने कहा—राजन् ! मनुष्योंको जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकट्ठा करना ही उनके दु:खका कारण है । जो बुद्धिमान् पुरुष यह

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः ॥१॥

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः ।

तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥ २ ॥

न मे मानावमानौ[1] स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।

आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह[2] बालवत् ॥ ३ ॥

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ ।

यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥ ४ ॥

क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान् ।

स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥ ५ ॥

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव ।

अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः ।

बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥

उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स शङ्खयोः ।

तत्राप्येकं निरभिदद्[3] एकस्मान्नाभवद् ध्वनिः ॥ ८ ॥

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम ।

बात समझकर अकिञ्चनभावसे रहता है—शरीरकी तो बात ही अलग, मनसे भी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता—उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥ एक कुररपक्षी अपनी चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये हुए था। उस समय दूसरे बलवान् पक्षी, जिनके पास मांस नहीं था, उससे छीननेके लिये उसे घेरकर चोंचें मारने लगे। जब कुरर पक्षीने अपनी चोंचसे मांसका टुकड़ा फेंक दिया, तभी उसे सुख मिला ॥ २ ॥

मुझे मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवारवालोंको जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मामें ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीडा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालकसे ली है। अतः उसीके समान मैं भी मौजसे रहता हूँ ॥ ३ ॥ इस जगत्‌में दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्दमें मग्न रहते हैं—एक तो भोलाभाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो ॥ ४ ॥

एक बार किसी कुमारी कन्याके घर उसे वरण करनेके लिये कई लोग आये हुए थे। उस दिन उसके घरके लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिये उसने स्वयं ही उनका आतिथ्यसत्कार किया ॥ ५ ॥ राजन्! उनको भोजन करानेके लिये वह घरके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाईमें पड़ी शंखकी चूड़ियाँ जोर-जोरसे बज रही थीं ॥ ६ ॥ इस शब्दको निन्दित समझकर कुमारीको बड़ी लज्जा मालूम हुई* और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं और दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं ॥ ७ ॥ अब वह फिर धान कूटने लगी। परन्तु वे दो-दो चूड़ियाँ भी बजने लगीं, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाइयोंमें केवल एक-एक चूड़ी रह गयी, तब किसी प्रकारकी आवाज नहीं हुई ॥ ८ ॥ रिपुदमन! उस समय लोगोंका आचार-विचार निरखने-परखनेके लिये इधर-उधर घूमता-

१. मानापमानौ। २. आत्मरतो विचरामि। ३. तम्।

* क्योंकि उससे उसका स्वयं धान कूटना सूचित होता था, जो कि उसकी दरिद्रताका द्योतक था।

लोकाननुचरन्नेतान् लोकतत्त्वविवित्सया ॥ ९ ॥
वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः ॥१०॥

घूमता मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मैंने उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं, तब कलह होता है और दो आदमी साथ रहते हैं तब भी बातचीत तो होती ही है; इसलिये कुमारी कन्याकी चूड़ीके समान अकेले ही विचरना चाहिये ॥ ९-१० ॥

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥११॥
यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून् ।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥१२॥
तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥१३॥

राजन्! मैंने बाण बनानेवालेसे यह सीखा है कि आसन और श्वासको जीतकर वैराग्य और अभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें कर ले और फिर बड़ी सावधानीके साथ उसे एक लक्ष्यमें लगा दे ॥ ११ ॥ जब परमानन्दस्वरूप परमात्मामें मन स्थिर हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओंकी धूलको धो बहाता है। सत्त्वगुणकी वृद्धिसे रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंका त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे ईंधनके बिना अग्नि ॥ १२ ॥ इस प्रकार जिसका चित्त अपने आत्मामें ही स्थिर—निरुद्ध हो जाता है, उसे बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबलके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसे पतातक न चला ॥ १३ ॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः ।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥१४॥
गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥१५॥

राजन्! मैंने साँपसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सर्पकी भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँधनी चाहिये, मठ तो बनाना ही नहीं चाहिये। वह एक स्थानमें न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाहरी आचारों-से पहचाना न जाय। किसीसे सहायता न ले और बहुत कम बोले ॥ १४ ॥ इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ और दुःखकी जड़ है। साँप दूसरोंके बनाये घरमें घुसकर बड़े आरामसे अपना समय काटता है ॥ १५ ॥

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया ।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ॥१६॥

अब मकड़ीसे ली हुई शिक्षा सुनो। सबके प्रकाशक और अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान्ने पूर्वकल्पमें बिना किसी अन्य सहायकके अपनी ही मायासे रचे हुए जगत्को कल्पके अन्तमें (प्रलयकाल उपस्थित

एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः[1] ॥१७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥१८॥
केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम ॥१९॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं[2] सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥२०॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः ।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥२१॥
यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया ।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥२२॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः ।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन्[3] ॥२३॥

होनेपर) कालशक्तिके द्वारा नष्ट कर दिया—उसे अपनेमें लीन कर लिया और सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेदसे शून्य अकेले ही शेष रह गये । वे सबके अधिष्ठान हैं, सबके आश्रय हैं; परन्तु स्वयं अपने आश्रय—अपने ही आधारसे रहते हैं, उनका कोई दूसरा आधार नहीं है । वे प्रकृति और पुरुष दोनोंके नियामक, कार्य और कारणात्मक जगत्के आदिकारण परमात्मा अपनी शक्ति कालके प्रभावसे सत्त्व-रज आदि समस्त शक्तियोंको साम्यावस्थामें पहुँचा देते हैं और स्वयं कैवल्यरूपसे एक और अद्वितीयरूप विराजमान रहते हैं । वे केवल अनुभवस्वरूप और आनन्दघनमात्र हैं । किसी भी प्रकारकी उपाधिका उनसे सम्बन्ध नहीं है । वे ही प्रभु केवल अपनी शक्ति कालके द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मायाको क्षुब्ध करते हैं और उससे पहले क्रियाशक्तिप्रधान सूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं । यह सूत्ररूप महत्तत्त्व ही तीनों गुणोंकी पहली अभिव्यक्ति है, वही सब प्रकारकी सृष्टिका मूल कारण है । उसीमें यह सारा विश्व, सूतमें ताने-बानेकी तरह ओतप्रोत है और इसीके कारण जीवको जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना पड़ता है ॥ १६—२० ॥ जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाला फैलाती है, उसीमें विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है, वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत्को अपनेमेंसे उत्पन्न करते हैं, उसमें जीवरूपसे विहार करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं ॥ २१ ॥

राजन् ! मैंने भृङ्गी (बिलनी) कीड़ेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी जान-बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥ राजन् ! जैसे भृङ्गी एक कीड़ेको ले जाकर दीवारपर अपने रहनेकी जगह बंद कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसी शरीरसे तद्रूप हो जाता है* ॥ २३ ॥

१. प्रधानः पुरुषेश्वरः । २. गुणां व्यक्तिम् । ३. मपि त्यजन् ।

* जब उसी शरीरसे चिन्तन किये रूपकी प्राप्ति हो जाती है; तब दूसरे शरीरसे तो कहना ही क्या है ? इसलिये मनुष्यको अन्य वस्तुका चिन्तन न करके केवल परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये ।

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः ।

स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥२४॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-

र्बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम् ।

तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि

पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥२५॥

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्

पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन् ।

स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः

सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा ॥२६॥

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा

शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।

घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-

र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥२७॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या

वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्[1] ।

राजन्! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओंसे ये शिक्षाएँ ग्रहण कीं। अब मैंने अपने शरीरसे जो कुछ सीखा है, वह तुम्हें बताता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ २४ ॥ यह शरीर भी मेरा गुरु ही है; क्योंकि यह मुझे विवेक और वैराग्यकी शिक्षा देता है। मरना और जीना तो इसके साथ लगा ही रहता है। इस शरीरको पकड़ रखनेका फल यह है कि दुःख-पर-दुःख भोगते जाओ। यद्यपि इस शरीरसे तत्त्वविचार करनेमें सहायता मिलती है, तथापि मैं इसे अपना कभी नहीं समझता; सर्वदा यही निश्चय रखता हूँ कि एक दिन इसे सियार-कुत्ते खा जायँगे। इसीलिये मैं इससे असङ्ग होकर विचरता हूँ ॥ २५ ॥ जीव जिस शरीरका प्रिय करनेके लिये ही अनेकों प्रकारकी कामनाएँ और कर्म करता है तथा स्त्री-पुत्र, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर, घर-द्वार और भाई-बन्धुओंका विस्तार करते हुए उनके पालन-पोषणमें लगा रहता है। बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सहकर धनसञ्चय करता है। आयुष्य पूरी होनेपर वही शरीर स्वयं तो नष्ट होता ही है, वृक्षके समान दूसरे शरीरके लिये बीज बोकर उसके लिये भी दुःखकी व्यवस्था कर जाता है ॥ २६ ॥ जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं वैसे ही जीवको जीभ एक ओर—स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है तो प्यास दूसरी ओर—जलकी ओर; जननेन्द्रिय एक ओर—स्त्रीसंभोगकी ओर ले जाना चाहती है तो त्वचा, पेट और कान दूसरी ओर—कोमल स्पर्श भोजन और मधुर शब्दकी ओर खींचने लगते हैं। नाक कहीं सुन्दर गन्ध सूँघनेके लिये ले जाना चाहती है तो चञ्चल नेत्र कहीं दूसरी ओर सुन्दर रूप देखनेके लिये। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ही इसे सताती रहती हैं ॥ २७ ॥ वैसे तो भगवान्‌ने अपनी अचिन्त्य शक्ति मायासे वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु) पशु, पक्षी, डाँस और मछली आदि अनेकों प्रकारकी योनियाँ रचीं; परन्तु उनसे उन्हें सन्तोष न हुआ। तब उन्होंने मनुष्य-

१. खगदन्दशूकान् ।

तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥२८॥

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु[1] याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥२९॥

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि ।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतिः[2] ॥३०॥

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं[3] स्यात् सुपुष्कलम् ।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः ।
वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम्॥३२॥

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः ।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥३३॥

शरीरकी सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धिसे युक्त है, जो ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकती है। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए ॥ २८ ॥ यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो अनित्य ही—मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है। परन्तु इससे परमपुरुषार्थकी प्राप्ति हो सकती है; इसलिये अनेक जन्मोंके बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्युके पहले ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले। इस जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय-भोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये ॥ २९ ॥ राजन्! यही सब सोच-विचारकर मुझे जगत्‌से वैराग्य हो गया। मेरे हृदयमें ज्ञान-विज्ञानकी ज्योति जगमगाती रहती है। न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहङ्कार ही। अब मैं स्वच्छन्दरूपसे इस पृथ्वीमें विचरण करता हूँ ॥ ३० ॥ राजन्! अकेले गुरुसे ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता, उसके लिये अपनी बुद्धिसे भी बहुत-कुछ सोचने-समझनेकी आवश्यकता है। देखो! ऋषियोंने एक ही अद्वितीय ब्रह्मका अनेकों प्रकारसे गान किया है। (यदि तुम स्वयं विचारकर निर्णय न करोगे, तो ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको कैसे जान सकोगे?) ॥ ३१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! गम्भीर-बुद्धि अवधूत दत्तात्रेयने राजा यदुको इस प्रकार उपदेश किया। यदुने उनकी पूजा और वन्दना की, दत्तात्रेयजी उनसे अनुमति लेकर बड़ी प्रसन्नतासे इच्छानुसार पधार गये ॥ ३२ ॥ हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज राजा यदु अवधूत दत्तात्रेयकी यह बात सुनकर समस्त आसक्तियोंसे छुटकारा पा गये और समदर्शी हो गये। (इसी प्रकार तुम्हें भी समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके समदर्शी हो जाना चाहिये) ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

१. मृत्युयोगात्। २. नहङ्कृतः। ३. सुस्थितम्।

अथ दशमोऽध्यायः

लौकिक तथा पारलौकिक भोगोंकी असारताका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ २ ॥

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।
नानात्मकत्वाद् विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ ३ ॥

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ॥ ४ ॥

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित् ।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासी[illegible]त मदात्मकम् ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव ! साधकको चाहिये कि सब तरहसे मेरी शरणमें रहकर (गीता, पाञ्चरात्र आदिमें) मेरे द्वारा उपदिष्ट अपने धर्मोंका सावधानीसे पालन करे । साथ ही जहाँतक उनसे विरोध न हो वहाँतक निष्कामभावसे अपने वर्ण, आश्रम और कुलके अनुसार सदाचारका भी अनुष्ठान करे ॥ १ ॥ निष्काम होनेका उपाय यह है कि स्वधर्मोंका पालन करनेसे शुद्ध हुए अपने चित्तमें यह विचार करे कि जगत्के विषयी प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयोंको सत्य समझकर उनकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न करते हैं, उसमें उनका उद्देश्य तो यह होता है कि सुख मिले, परन्तु मिलता है दुःख ॥२॥ इसके सम्बन्धमें ऐसा विचार करना चाहिये कि स्वप्न-अवस्थामें और मनोरथ करते समय जाग्रत्-अवस्थामें भी मनुष्य मन-ही-मन अनेकों प्रकारके विषयोंका अनुभव करता है, परन्तु उसकी वह सारी कल्पना वस्तुशून्य होनेके कारण व्यर्थ है । वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली भेदबुद्धि भी व्यर्थ ही है, क्योंकि यह भी इन्द्रियजन्य और नाना वस्तुविषयक होनेके कारण पूर्ववत् असत्य ही है ॥ ३ ॥ जो पुरुष मेरी शरणमें है, उसे अन्तर्मुख करनेवाले निष्काम अथवा नित्यकर्म ही करने चाहिये । उन कर्मोंका बिल्कुल परित्याग कर देना चाहिये, जो बहिर्मुख बनानेवाले अथवा सकाम हों । जब आत्मज्ञानकी उत्कट इच्छा जाग उठे, तब तो कर्मसम्बन्धी विधि-विधानोंका भी आदर नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥ अहिंसा आदि यमोंका तो आदरपूर्वक सेवन करना चाहिये, परन्तु शौच (पवित्रता) आदि नियमोंका पालन शक्तिके अनुसार और आत्मज्ञानके विरोधी न होनेपर ही करना चाहिये । जिज्ञासु पुरुषके लिये यम और नियमोंके पालनसे भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह अपने गुरुकी, जो मेरे स्वरूपको जाननेवाले और शान्त हों, मेरा ही स्वरूप समझकर

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥
जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्तमिवात्मनः ॥ ७ ॥
विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥
निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान् ।
अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान् परः ॥ ९ ॥
योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः ॥ १० ॥

सेवा करे ॥५॥ शिष्यको अभिमान न करना चाहिये। वह कभी किसीसे डाह न करे—किसीका बुरा न सोचे। वह प्रत्येक कार्यमें कुशल हो—उसे आलस्य छू न जाय। उसे कहीं भी ममता न हो, गुरुके चरणोंमें दृढ़ अनुराग हो। कोई काम हड़बड़ाकर न करे—उसे सावधानीसे पूरा करे। सदा परमार्थके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा बनाये रक्खे। किसीके गुणोंमें दोष न निकाले और व्यर्थकी बात न करे ॥ ६ ॥ जिज्ञासुका परम धन है आत्मा; इसलिये वह स्त्री-पुत्र, घर-खेत, स्वजन और धन आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक सम आत्माको देखे और किसीमें कुछ विशेषताका आरोप करके उससे ममता न करे, उदासीन रहे ॥ ७ ॥ उद्धव! जैसे जलनेवाली लकड़ीसे उसे जलाने और प्रकाशित करनेवाली आग सर्वथा अलग है। ठीक वैसे ही विचार करनेपर जान पड़ता है कि पञ्चभूतोंका बना स्थूलशरीर और मन-बुद्धि आदि सत्रह तत्त्वोंका बना सूक्ष्मशरीर दोनों ही दृश्य और जड हैं। तथा उनको जानने और प्रकाशित करनेवाला आत्मा साक्षी एवं स्वयंप्रकाश है। शरीर अनित्य, अनेक एवं जड हैं। आत्मा नित्य, एक एवं चेतन है। इस प्रकार देहकी अपेक्षा आत्मामें महान् विलक्षणता है। अतएव देहसे आत्मा भिन्न है ॥ ८ ॥ जब आग लकड़ीमें प्रज्वलित होती है, तब लकड़ीके उत्पत्ति-विनाश, बड़ाई-छोटाई और अनेकता आदि सभी गुण वह स्वयं ग्रहण कर लेती है। परन्तु सच पूछो, तो लकड़ीके उन गुणोंसे आगका कोई सम्बन्ध नहीं है। वैसे ही जब आत्मा अपनेको शरीर मान लेता है, तब वह देहके जडता, अनित्यता, स्थूलता, अनेकता आदि गुणोंसे सर्वथा रहित होनेपर भी उनसे युक्त जान पड़ता है ॥ ९ ॥ ईश्वरके द्वारा नियन्त्रित मायाके गुणोंने ही सूक्ष्म और स्थूल शरीरका निर्माण किया है। जीवको शरीर और शरीरको जीव समझ लेनेके कारण ही स्थूलशरीरके जन्म-मरण और सूक्ष्म-शरीरके आवागमनका आत्मापर आरोप किया जाता है। जीवको जन्म-मृत्युरूप संसार इसी भ्रम अथवा अध्यासके कारण प्राप्त होता है। आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेपर उसकी जड़ कट जाती है ॥ १० ॥

तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मानमात्मस्थं केवलं परम् ।
सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥११॥

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः ॥१२॥

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धि-
र्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम् ।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्
स्वयं च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः ॥१३॥

अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः ।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥१४॥
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ।

प्यारे उद्धव ! इस जन्म-मृत्युरूप संसारका कोई दूसरा कारण नहीं, केवल अज्ञान ही मूल कारण है । इसलिये अपने वास्तविक स्वरूपको, आत्माको जाननेकी इच्छा करनी चाहिये । अपना यह वास्तविक स्वरूप समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्से अतीत, द्वैतकी गन्धसे रहित एवं अपने आपमें ही स्थित है । उसका और कोई आधार नहीं है । उसे जानकर धीरे-धीरे स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर आदिमें जो सत्यत्वबुद्धि हो रही है, उसे क्रमशः मिटा देना चाहिये ॥ ११ ॥ (यज्ञमें जब अरणिमन्थन करके अग्नि उत्पन्न करते हैं, तो उसमें नीचे-ऊपर दो लकड़ियाँ रहती हैं और बीचमें मन्थन-काष्ठ रहता है; वैसे ही) विद्यारूप अग्निकी उत्पत्तिके लिये आचार्य और शिष्य तो नीचे-ऊपरकी अरणियाँ हैं तथा उपदेश मन्थनकाष्ठ है । इनसे जो ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है, वह विलक्षण सुख देनेवाली है । इस यज्ञमें बुद्धिमान् शिष्य सद्गुरुके द्वारा जो अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है, वह गुणोंसे बनी हुई विषयोंकी मायाको भस्म कर देता है । तत्पश्चात् वे गुण भी भस्म हो जाते हैं, जिनसे कि यह संसार बना हुआ है । इस प्रकार सबके भस्म हो जानेपर जब आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती, तब वह ज्ञानाग्नि भी ठीक वैसे ही अपने वास्तविक स्वरूपमें शान्त हो जाती है, जैसे समिधा न रहनेपर आग बुझ जाती है* ॥ १२-१३ ॥

प्यारे उद्धव ! यदि तुम कदाचित् कर्मोंके कर्ता और सुख-दुःखोंके भोक्ता जीवोंको अनेक तथा जगत्, काल, वेद और आत्माओंको नित्य मानते हो; साथ ही समस्त पदार्थोंकी स्थिति प्रवाहसे नित्य और यथार्थ स्वीकार करते हो तथा यह समझते हो कि घट-पट आदि बाह्य आकृतियोंके भेदसे उनके अनुसार ज्ञान ही उत्पन्न होता और बदलता रहता है; तो ऐसे मतके माननेसे बड़ा अनर्थ हो जायगा । (क्योंकि इस प्रकार

* यहाँतक यह बात स्पष्ट हो गयी कि स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप नित्य एक ही आत्मा है । कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म देहके कारण हैं । आत्माके अतिरिक्त जो कुछ है, सब अनित्य और मायामय है; इसलिये आत्मज्ञान होते ही समस्त विपत्तियोंसे मुक्ति मिल जाती है ।

तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥१५॥

एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः ।

कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥१६॥

अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ।

भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत् ॥१७॥

न देहिनां सुखं किञ्चिद् विद्यते विदुषामपि ।

तथा च दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम् ॥१८॥

यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः ।

तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद् यथा ॥१९॥

को[1] न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।

आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥२०॥

जगत्के कर्ता आत्माकी नित्य सत्ता और जन्म-मृत्युके चक्करसे मुक्ति भी सिद्ध न हो सकेगी।) यदि कदाचित् ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाय तो देह और संवत्सरादि कालावयवोंके सम्बन्धसे होनेवाली जीवोंकी जन्म-मरण आदि अवस्थाएँ भी नित्य होनेके कारण दूर न हो सकेंगी; क्योंकि तुम देहादि पदार्थ और कालकी नित्यता स्वीकार करते हो। इसके सिवा, यहाँ भी कर्मोंका कर्ता तथा सुख-दुःखका भोक्ता जीव परतन्त्र ही दिखायी देता है; यदि वह स्वतन्त्र हो तो दुःखका फल क्यों भोगना चाहेगा? इस प्रकार सुख-भोगकी समस्या सुलझ जानेपर भी दुःख-भोगकी समस्या तो उलझी ही रहेगी। अतः इस मतके अनुसार जीवको कभी मुक्ति या स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकेगी। जब जीव स्वरूपतः परतन्त्र है, विवश है, तब तो स्वार्थ या परमार्थ कोई भी उसका सेवन न करेगा। अर्थात् वह स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे ही वञ्चित रह जायगा ॥१४-१७॥ (यदि यह कहा जाय कि जो भलीभाँति कर्म करना जानते हैं, वे सुखी रहते हैं, और जो नहीं जानते उन्हें दुःख भोगना पड़ता है तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि) ऐसा देखा जाता है कि बड़े-बड़े कर्म-कुशल विद्वानोंको भी कुछ सुख नहीं मिलता और मूढ़ोंका भी कभी दुःखसे पाला नहीं पड़ता। इसलिये जो लोग अपनी बुद्धि या कर्मसे सुख पानेका घमंड करते हैं, उनका वह अभिमान व्यर्थ है ॥ १८ ॥ यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि वे लोग सुखकी प्राप्ति और दुःखके नाशका ठीक-ठीक उपाय जानते हैं, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हें भी ऐसे उपायका पता नहीं है, जिससे मृत्यु उनके ऊपर कोई प्रभाव न डाल सके और वे कभी मरें ही नहीं ॥ १९ ॥ जब मृत्यु उनके सिरपर नाच रही है, तब ऐसी कौन-सी भोग-सामग्री या भोग-कामना है जो उन्हें सुखी कर सके? भला, जिस मनुष्यको फाँसीपर लटकानेके लिये वधस्थानपर ले जाया जा रहा है, उसे क्या फूल-चन्दन-स्त्री आदि पदार्थ सन्तुष्ट कर सकते हैं? कदापि नहीं। (अतः पूर्वोक्त मत माननेवालोंकी दृष्टिसे न सुख ही सिद्ध होगा और न जीवका कुछ पुरुषार्थ ही रहेगा) ॥ २० ॥

[1] किन्त्वर्थः ।

श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥२१॥
अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः ।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥२२॥
इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान् ॥२३॥
स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।
गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् ॥२४॥
स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना ।
क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥२५॥
तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥२६॥

प्यारे उद्धव ! लौकिक सुखके समान पारलौकिक सुख भी दोषयुक्त ही है; क्योंकि वहाँ भी बराबरीवालोंसे होड़ चलती है, अधिक सुख भोगनेवालोंके प्रति असूया होती है—उनके गुणोंमें दोष निकाला जाता है और छोटोंसे घृणा होती है। प्रतिदिन पुण्य क्षीण होनेके साथ ही वहाँके सुख भी क्षयके निकट पहुँचते रहते हैं और एक दिन नष्ट हो जाते हैं। वहाँकी कामना पूर्ण होनेमें भी यजमान, ऋत्विज और कर्म आदिकी त्रुटियोंके कारण बड़े-बड़े विघ्नोंकी सम्भावना रहती है। जैसे हरी-भरी खेती भी अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदिके कारण नष्ट हो जाती है, वैसे ही स्वर्ग भी प्राप्त होते-होते विघ्नोंके कारण नहीं मिल पाता ॥ २१ ॥ यदि यज्ञ-यागादि धर्म बिना किसी विघ्नके पूरा हो जाय, तो उसके द्वारा जो स्वर्गादि लोक मिलते हैं, उनकी प्राप्तिका प्रकार मैं बतलाता हूँ, सुनो ॥ २२ ॥ यज्ञ करनेवाला पुरुष यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी आराधना करके स्वर्गमें जाता है और वहाँ अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा उपार्जित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है ॥ २३ ॥ उसे उसके पुण्योंके अनुसार एक चमकीला विमान मिलता है और वह उसपर सवार होकर सुर-सुन्दरियोंके साथ विहार करता है। गन्धर्वगण उसके गुणोंका गान करते हैं और उसके रूप-लावण्यको देखकर दूसरोंका मन लुभा जाता है ॥ २४ ॥ उसका विमान वह जहाँ ले जाना चाहता है, वहीं चला जाता है और उसकी घंटियाँ घनघनाकर दिशाओंको गुंजारित करती हैं। वह अप्सराओंके साथ नन्दनवन आदि देवताओंकी विहार-स्थलियोंमें क्रीड़ाएँ करते-करते इतना बेसुध हो जाता है कि उसे इस बातका पता ही नहीं चलता कि अब मेरे पुण्य समाप्त हो जायँगे और मैं यहाँसे ढकेल दिया जाऊँगा ॥ २५ ॥ जबतक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्गमें चैनकी वंशी बजाता रहता है; परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहनेपर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है, क्योंकि कालकी चाल ही ऐसी है ॥ २६ ॥

१. देवानाम्।

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥२७॥
पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन्।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥२८॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥२९॥
लोकानां लोकपालानां मद् भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः ॥३०॥
गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥३१॥
यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥३२॥
यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्।
य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥३३॥
काल आत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म एव च।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥३४॥

यदि कोई मनुष्य दुष्टोंकी संगतिमें पड़कर अधर्म-परायण हो जाय, अपनी इन्द्रियोंके वशमें होकर मनमानी करने लगे, लोभवश दाने-दानेमें कृपणता करने लगे, लम्पट हो जाय अथवा प्राणियोंको सताने लगे और विधि-विरुद्ध पशुओंकी बलि देकर भूत और प्रेतोंकी उपासनामें लग जाय, तब तो वह पशुओंसे भी गया-बीता हो जाता है और अवश्य ही नरकमें जाता है। उसे अन्तमें घोर अन्धकार, स्वार्थ और परमार्थसे रहित अज्ञानमें ही भटकना पड़ता है ॥ २७-२८ ॥ जितने भी सकाम और बहिर्मुख करनेवाले कर्म हैं, उनका फल दुःख ही है। जो जीव शरीरमें अहंता-ममता करके उन्हींमें लग जाता है, उसे बार-बार जन्म-पर-जन्म और मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती रहती है। ऐसी स्थितिमें मृत्यु-धर्मा जीवको क्या सुख हो सकता है? ॥ २९ ॥ सारे लोक और लोकपालोंकी आयु भी केवल एक कल्प है, इसलिये मुझसे भयभीत रहते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्मा भी मुझसे भयभीत रहते हैं; क्योंकि उनकी आयु भी कालसे सीमित—केवल दो परार्द्ध है ॥ ३० ॥ सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण इन्द्रियोंको उनके कर्मोंमें प्रेरित करते हैं और इन्द्रियाँ कर्म करती हैं। जीव अज्ञानवश सत्त्व, रज आदि गुणों और इन्द्रियोंको अपना स्वरूप मान बैठता है और उनके किये हुए कर्मोंका फल सुख-दुःख भोगने लगता है ॥ ३१ ॥ जबतक गुणोंकी विषमता है अर्थात् शरीरादिमें मैं और मेरेपनका अभिमान है; तभीतक आत्माके एकत्वकी अनुभूति नहीं होती—वह अनेक जान पड़ता है; और जबतक आत्माकी अनेकता है, तबतक तो उन्हें काल अथवा कर्म किसीके अधीन रहना ही पड़ेगा ॥ ३२ ॥ जबतक परतन्त्रता है, तब-तक ईश्वरसे भय बना ही रहता है। जो मैं और मेरेपनके भावसे ग्रस्त रहकर आत्माकी अनेकता, पर-तन्त्रता आदि मानते हैं और वैराग्य न ग्रहण करके बहिर्मुख करनेवाले कर्मोंका ही सेवन करते रहते हैं, उन्हें शोक और मोहकी प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥ प्यारे उद्धव! जब मायाके गुणोंमें क्षोभ होता है, तब मुझ आत्माको ही काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि अनेक नामोंसे निरूपण करने लगते हैं। (ये सब मायामय हैं। वास्तविक सत्य मैं आत्मा ही हूँ) ॥ ३४ ॥

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः ।
गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो ॥३५॥
कथं वर्तेत विहरेत् कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ।
किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा ॥३६॥
एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक एवेति मे भ्रमः ॥३७॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन् ! यह जीव देह आदि रूप गुणोंमें ही रह रहा है । फिर देहसे होनेवाले कर्मों या सुख-दुःख आदि रूप फलोंमें क्यों नहीं बँधता है ? अथवा यह आत्मा गुणोंसे निर्लिप्त है, देह आदिके सम्पर्कसे सर्वथा रहित है, फिर इसे बन्धनकी प्राप्ति कैसे होती है ? ॥ ३५ ॥ बद्ध अथवा मुक्त पुरुष कैसा बर्ताव करता है, वह कैसे विहार करता है, या वह किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है, कैसे भोजन करता है ? और मल-त्याग आदि कैसे करता है ? कैसे सोता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ॥ ३६ ॥ अच्युत ! प्रश्नका मर्म जाननेवालोंमें आप श्रेष्ठ हैं । इसलिये आप मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये—एक ही आत्मा अनादि गुणोंके संसर्गसे नित्यबद्ध भी मालूम पड़ता है और असङ्ग होनेके कारण नित्यमुक्त भी । इस बातको लेकर मुझे भ्रम हो रहा है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
भगवदुद्धवसंवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

बद्ध, मुक्त और भक्तजनोंके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १ ॥
शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया ।
स्वप्नो[1] यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥२॥
विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव ! आत्मा बद्ध है या मुक्त है, इस प्रकारकी व्याख्या या व्यवहार मेरे अधीन रहनेवाले सत्त्वादि गुणोंकी उपाधिसे ही होता है । वस्तुतः—तत्त्वदृष्टिसे नहीं । सभी गुण मायामूलक हैं—इन्द्रजाल हैं—जादूके खेलके समान हैं । इसलिये न मेरा मोक्ष है, न तो मेरा बन्धन ही है ॥१॥ जैसे स्वप्न बुद्धिका विवर्त है—उसमें बिना हुए ही भासता है—मिथ्या है, वैसे ही शोक-मोह, सुख-दुःख, शरीरकी उत्पत्ति और मृत्यु—यह सब संसारका बखेड़ा माया (अविद्या) के कारण प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं है ॥ २ ॥ उद्धव ! शरीरधारियोंको मुक्तिका अनुभव करानेवाली आत्मविद्या और बन्धनका अनुभव करानेवाली अविद्या—ये दोनों ही मेरी अनादि शक्तियाँ हैं । मेरी

[1] स्वप्ने ।

मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥ ३ ॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥ ४ ॥
अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ ५ ॥
सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६ ॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥
देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः ।

मायासे ही इनकी रचना हुई है । इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है ॥ ३ ॥ भाई ! तुम तो स्वयं बड़े बुद्धिमान् हो, विचार करो—जीव तो एक ही है। वह व्यवहारके लिये ही मेरे अंशके रूपमें कल्पित हुआ है, वस्तुतः मेरा स्वरूप ही है । आत्मज्ञानसे सम्पन्न होनेपर उसे मुक्त कहते हैं और आत्माका ज्ञान न होनेसे बद्ध । और यह अज्ञान अनादि होनेसे बन्धन भी अनादि कहलाता है ॥ ४ ॥ इस प्रकार मुझ एक ही धर्मीमें रहनेपर भी जो शोक और आनन्दरूप विरुद्ध धर्मवाले जान पड़ते हैं, उन बद्ध और मुक्त जीवका भेद मैं बतलाता हूँ ॥ ५ ॥ (वह भेद दो प्रकारका है—एक तो नित्यमुक्त ईश्वरसे जीवका भेद, और दूसरा मुक्त-बद्ध जीवका भेद । पहला सुनो) जीव और ईश्वर बद्ध और मुक्तके भेदसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही शरीरमें नियन्ता और नियन्त्रितके रूपसे स्थित हैं । ऐसा समझो कि शरीर एक वृक्ष है, इसमें हृदयका घोंसला बनाकर जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी रहते हैं । वे दोनों चेतन होनेके कारण समान हैं और कभी न बिछुड़नेके कारण सखा हैं । इनके निवास करनेका कारण केवल लीला ही है । इतनी समानता होनेपर भी जीव तो शरीररूप वृक्षके फल सुख-दुःख आदि भोगता है, परन्तु ईश्वर उन्हें न भोगकर कर्मफल सुख-दुःख आदि-से असङ्ग और उनका साक्षीमात्र रहता है । अभोक्ता होनेपर भी ईश्वरकी यह विलक्षणता है कि वह ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्य आदिमें भोक्ता जीवसे बढ़-कर है ॥ ६ ॥ साथ ही एक यह भी विलक्षणता है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तविक स्वरूप और इसके अतिरिक्त जगत्को भी जानता है, परन्तु भोक्ता जीव न अपने वास्तविक रूपको जानता है और न अपनेसे अतिरिक्तको । इन दोनोंमें जीव तो अविद्यासे युक्त होनेके कारण नित्यबद्ध है और ईश्वर विद्यास्वरूप होनेके कारण नित्यमुक्त है ॥ ७ ॥ प्यारे उद्धव ! ज्ञानसम्पन्न पुरुष भी मुक्त ही है; जैसे स्वप्न टूट जानेपर जगा हुआ पुरुष स्वप्नके स्मर्यमाण शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंमें रहनेपर भी उनसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता, परन्तु अज्ञानी

अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा ॥ ८ ॥
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च ।
गृह्यमाणेष्वहंकुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः ॥ ९ ॥
दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा ।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्ध्यते ॥१०॥

पुरुष वास्तवमें शरीरसे कोई सम्बन्ध न रखनेपर भी अज्ञानके कारण शरीरमें ही स्थित रहता है, जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न देखते समय स्वाप्निक शरीरमें बँध जाता है ॥ ८ ॥ व्यवहारमें इन्द्रियाँ शब्द-स्पर्शादि विषयोंको ग्रहण करती हैं; क्योंकि यह तो नियम ही है कि गुण ही गुणको ग्रहण करते हैं, आत्मा नहीं। इसलिये जिसने अपने निर्विकार आत्मस्वरूपको समझ लिया है, वह उन विषयोंके ग्रहण-त्यागमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं करता ॥ ९ ॥ यह शरीर प्रारब्धके अधीन है। इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं, सब गुणोंकी प्रेरणासे ही होते हैं। अज्ञानी पुरुष झूठमूठ अपनेको उन ग्रहण-त्याग आदि कर्मोंका कर्ता मान बैठता है और इसी अभिमानके कारण वह बँध जाता है ॥ १० ॥

एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने ।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥११॥
न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन् गुणान् ।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ॥१२॥
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः ।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्तते ॥१३॥
यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥१४॥
यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद् यदृच्छया ।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ॥१५॥

प्यारे उद्धव! पूर्वोक्त पद्धतिसे विचार करके विवेकी पुरुष समस्त विषयोंसे विरक्त रहता है और सोने-बैठने, घूमने-फिरने, नहाने, देखने, छूने, सूँघने, खाने और सुनने आदि क्रियाओंमें अपनेको कर्ता नहीं मानता, बल्कि गुणोंको ही कर्ता मानता है। गुण ही सभी कर्मोंके कर्ता-भोक्ता हैं—ऐसा जानकर विद्वान् पुरुष कर्मवासना और फलोंसे नहीं बँधते। वे प्रकृतिमें रहकर भी वैसे ही असङ्ग रहते हैं, जैसे स्पर्श आदिसे आकाश, जलकी आर्द्रता आदिसे सूर्य और गन्ध आदिसे वायु। उनकी विमल बुद्धिकी तलवार असङ्ग-भावनाकी सानसे और भी तीखी हो जाती है, और वे उससे अपने सारे संशय-सन्देहोंको काट-कूटकर फेंक देते हैं। जैसे कोई स्वप्नसे जाग उठा हो, उसी प्रकार वे इस भेदबुद्धिके भ्रमसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ११—१३ ॥ जिनके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ बिना सङ्कल्पके होती हैं। वे देहमें स्थित रहकर भी उसके गुणोंसे मुक्त हैं ॥ १४ ॥ उन तत्त्वज्ञ मुक्त पुरुषोंके शरीरको चाहे हिंसक लोग पीड़ा पहुँचायें और चाहे कभी कोई दैवयोगसे पूजा करने लगे—वे न तो किसीके सतानेसे दुःखी होते हैं और न पूजा करनेसे सुखी ॥ १५ ॥

१. च तु दुक्तो वै दे०।

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः ॥१६॥

जो समदर्शी महात्मा गुण और दोषकी भेददृष्टिसे ऊपर उठ गये हैं, वे न तो अच्छे काम करनेवालेकी स्तुति करते हैं और न बुरे काम करनेवालेकी निन्दा; न वे किसीकी अच्छी बात सुनकर उसकी सराहना करते हैं और न बुरी बात सुनकर किसीको झिड़कते ही हैं ।१६।

न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥१७॥

जीवन्मुक्त पुरुष न तो कुछ भला या बुरा काम करते हैं, न कुछ भला या बुरा कहते हैं और न सोचते ही हैं । वे व्यवहारमें अपनी समान वृत्ति रखकर आत्मानन्दमें ही मग्न रहते हैं और जडके समान मानो कोई मूर्ख हो, इस प्रकार विचरण करते रहते हैं ॥ १७ ॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि[1] ।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥१८॥

प्यारे उद्धव ! जो पुरुष वेदोंका तो पारगामी विद्वान् हो, परन्तु परब्रह्मके ज्ञानसे शून्य हो, उसके परिश्रमका कोई फल नहीं है । वह तो वैसा ही है, जैसे बिना दूधकी गायका पालनेवाला ॥ १८ ॥

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च ।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥१९॥

दूध न देनेवाली गाय, व्यभिचारिणी स्त्री, पराधीन शरीर, दुष्ट पुत्र, सत्पात्रके प्राप्त होनेपर भी दान न किया हुआ धन और मेरे गुणोंसे रहित वाणी व्यर्थ है । इन वस्तुओंकी रखवाली करनेवाला दुःख-पर-दुःख ही भोगता रहता है ॥ १९ ॥

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥२०॥

इसलिये उद्धव ! जिस वाणीमें जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप मेरी लोक-पावन लीलाका वर्णन न हो और लीलावतारोंमें भी मेरे लोकप्रिय राम-कृष्णादि अवतारोंका जिसमें यशोगान न हो, वह वाणी वन्ध्या है । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि ऐसी वाणीका उच्चारण एवं श्रवण न करे ॥ २० ॥

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि ।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥२१॥

प्रिय उद्धव ! जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, आत्मजिज्ञासा और विचारके द्वारा आत्मामें जो अनेकताका भ्रम है, उसे दूर कर दे और मुझ सर्वव्यापी परमात्मामें अपना निर्मल मन लगा दे तथा संसारके व्यवहारोंसे उपराम हो जाय ॥ २१ ॥

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥२२॥

यदि तुम अपना मन परब्रह्ममें स्थिर न कर सको, तो सारे कर्म निरपेक्ष होकर मेरे लिये ही करो ॥ २२ ॥

श्रद्धालुर्मे कथाः[2] शृण्वन् सुभद्रा[3] लोकपावनीः[4] ।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः ॥२३॥

मेरी कथाएँ समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली एवं कल्याणस्वरूपिणी हैं । श्रद्धाके साथ उन्हें सुनना चाहिये । बार-बार मेरे अवतार और लीलाओंका गान, स्मरण और अभिनय करना चाहिये ॥ २३ ॥

१. यदा । २. कथाम् । ३. सुभद्राम्मे । ४. पावनीम् ।

मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः ।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥२४॥
सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥२५॥

मेरे आश्रित रहकर मेरे ही लिये धर्म, काम और अर्थका सेवन करना चाहिये। प्रिय उद्धव! जो ऐसा करता है, उसे मुझ अविनाशी पुरुषके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥२४॥ भक्तिकी प्राप्ति सत्सङ्गसे होती है; जिसे भक्ति प्राप्त हो जाती है, वह मेरी उपासना करता है, मेरे सान्निध्यका अनुभव करता है। इस प्रकार जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह संतोंके उपदेशोंके अनुसार उनके द्वारा बताये हुए मेरे परमपदको—वास्तविक स्वरूपको सहजहीमें प्राप्त हो जाता है ॥ २५ ॥

उद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो[1] ।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत[2] कीदृशी सद्भिरादृता ॥२६॥
[3]एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो ।
[4]प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥२७॥
त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः ।
अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥२८॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! बड़े-बड़े संत आपकी कीर्तिका गान करते हैं। आप कृपया बतलाइये कि आपके विचारसे संत पुरुषका क्या लक्षण है? आपके प्रति कैसी भक्ति करनी चाहिये, जिसका संतलोग आदर करते हैं? ॥ २६ ॥ भगवन्! आप ही ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता, सत्यादि लोक और चराचर जगत्के स्वामी हैं। मैं आपका विनीत, प्रेमी और शरणागत भक्त हूँ। आप मुझे भक्ति और भक्तका रहस्य बतलाइये।२७। भगवन्! मैं जानता हूँ कि आप प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम एवं चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म हैं। आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है; फिर भी आपने लीलाके लिये स्वेच्छासे ही यह अलग शरीर धारण करके अवतार लिया है। इसलिये वास्तवमें आप ही भक्ति और भक्तका रहस्य बतला सकते हैं ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥२९॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखता और घोर-से-घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सहता है। उसके जीवनका सार है सत्य, और उसके मनमें किसी प्रकारकी पापवासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है।२९। उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह संयमी, मधुरस्वभाव और पवित्र होता है। संग्रह-परिग्रहसे सर्वथा दूर रहता है। किसी भी वस्तुके लिये वह कोई

१. विभो। २. त्वयि प्रयुज्येत। ३. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—'एतन्मे पुरुषेशाय प्रपन्नाय च कथ्यताम्'। ४. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥३०॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥३१॥
आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः ॥३२॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥३३॥
मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥३४॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥३५॥
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥३६॥
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥३७॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥३८॥

चेष्टा नहीं करता । परिमित भोजन करता है और शान्त रहता है । उसकी बुद्धि स्थिर होती है । उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है और वह आत्मतत्त्वके चिन्तनमें सदा संलग्न रहता है ॥ ३० ॥ वह प्रमादरहित गम्भीर स्वभाव और धैर्यवान् होता है । भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—ये छहों उसके वशमें रहते हैं । वह स्वयं तो कभी किसीसे किसी प्रकारका सम्मान नहीं चाहता, परन्तु दूसरोंका सम्मान करता रहता है । मेरे सम्बन्धकी बातें दूसरोंको समझानेमें बड़ा निपुण होता है और सभीके साथ मित्रताका व्यवहार करता है । उसके हृदयमें करुणा भरी होती है । मेरे तत्त्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है ॥ ३१ ॥ प्रिय उद्धव ! मैंने वेदों और शास्त्रोंके रूपमें मनुष्योंके धर्मका उपदेश किया है, उनके पालनसे अन्तःकरणशुद्धि आदि गुण और उल्लङ्घनसे नरकादि दुःख प्राप्त होते हैं; परन्तु मेरा जो भक्त उन्हें भी अपने ध्यान आदिमें विक्षेप समझकर त्याग देता है और केवल मेरे ही भजनमें लगा रहता है, वह परम संत है ॥ ३२ ॥ मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, कैसा हूँ—इन बातोंको जाने, चाहे न जाने; किन्तु जो अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं, वे मेरे विचारसे मेरे परम भक्त हैं ॥ ३३ ॥

प्यारे उद्धव ! मेरी मूर्ति और मेरे भक्तजनोंका दर्शन, स्पर्श, पूजा, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति और प्रणाम करे तथा मेरे गुण और कर्मोंका कीर्तन करे ॥ ३४ ॥ उद्धव ! मेरी कथा सुननेमें श्रद्धा रक्खे और निरन्तर मेरा ध्यान करता रहे । जो कुछ मिले, वह मुझे समर्पित कर दे और दास्यभावसे मुझे आत्मनिवेदन करे ॥ ३५ ॥ मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंकी चर्चा करे । जन्माष्टमी, रामनवमी आदि पर्वोंपर आनन्द मनावे और संगीत, नृत्य, बाजे और समाजोंद्वारा मेरे मन्दिरोंमें उत्सव करे-करावे ॥ ३६ ॥ वार्षिक त्यौहारोंके दिन मेरे स्थानोंकी यात्रा करे, जुलूस निकाले तथा विविध उपहारोंसे मेरी पूजा करे । वैदिक अथवा तान्त्रिक पद्धतिसे दीक्षा ग्रहण करे । मेरे व्रतोंका पालन करे ॥ ३७ ॥ मन्दिरोंमें मेरी मूर्तियोंकी स्थापनामें श्रद्धा रक्खे । यदि यह काम अकेला न कर सके, तो औरोंके साथ मिलकर उद्योग करे । मेरे लिये पुष्पवाटिका, बगीचे, क्रीडाके स्थान, नगर

संमार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यदमायया ॥३९॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥४०॥
यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥४१॥
सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥४२॥
सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥४३॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥४४॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥४५॥
धिष्ण्येष्वे[1]ष्विति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः ॥४६॥
इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥४७॥
प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।

और मन्दिर बनवावे ॥ ३८ ॥ सेवककी भाँति श्रद्धा-भक्तिके साथ निष्कपट भावसे मेरे मन्दिरोंकी सेवा-शुश्रूषा करे—झाड़े-बुहारे, लीपे-पोते, छिड़काव करे और तरह-तरहके चौक पूरे ॥ ३९ ॥ अभिमान न करे, दम्भ न करे। साथ ही अपने शुभ कर्मोंका ढिंढोरा भी न पीटे। प्रिय उद्धव! मेरे चढ़ावेकी, अपने काममें लगानेकी बात तो दूर रही, मुझे समर्पित दीपकके प्रकाशसे भी अपना काम न ले। किसी दूसरे देवताकी चढ़ायी हुई वस्तु मुझे न चढ़ावे ॥ ४० ॥ संसारमें जो वस्तु अपनेको सबसे प्रिय, सबसे अभीष्ट जान पड़े वह मुझे समर्पित कर दे। ऐसा करनेसे वह वस्तु अनन्त फल देनेवाली हो जाती है ॥ ४१ ॥

भद्र! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सब मेरी पूजाके स्थान हैं ॥ ४२ ॥ प्यारे उद्धव! ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा सूर्यमें मेरी पूजा करनी चाहिये। हवनके द्वारा अग्निमें, आतिथ्यद्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणमें और हरी-हरी घास आदिके द्वारा गौमें मेरी पूजा करे ॥ ४३ ॥ भाई-बन्धुके समान सत्कारके द्वारा वैष्णवमें, निरन्तर ध्यानमें लगे रहनेसे हृदयाकाशमें, मुख्य प्राण समझनेसे वायुमें और जल-पुष्प आदि सामग्रियोंद्वारा जलमें मेरी आराधना की जाती है ॥ ४४ ॥ गुप्तमन्त्रोंद्वारा न्यास करके मिट्टीकी वेदीमें, उपयुक्त भोगोंद्वारा आत्मामें और समदृष्टिद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी आराधना करनी चाहिये, क्योंकि मैं सभीमें क्षेत्रज्ञ आत्माके रूपसे स्थित हूँ ॥ ४५ ॥ इन सभी स्थानोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये चार भुजाओंवाले शान्तमूर्ति श्रीभगवान् विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करते हुए एकाग्रताके साथ मेरी पूजा करनी चाहिये ॥ ४६ ॥ इस प्रकार जो मनुष्य एकाग्रचित्तसे यज्ञ-यागादि इष्ट और कुआँ-बावली बनवाना आदि पूर्तकर्मोंके द्वारा मेरी पूजा करता है, उसे मेरी श्रेष्ठ भक्ति प्राप्त होती है तथा संत पुरुषोंकी सेवा करनेसे मेरे स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है ॥ ४७ ॥ प्यारे उद्धव! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्सङ्ग और भक्तियोग—इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना

1. ष्वेतेषु म० ।

नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥४८॥

चाहिये। प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि संतपुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ ॥ ४८ ॥

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥४९॥

प्यारे उद्धव! अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त गोपनीय परम रहस्यकी बात बतलाऊँगा; क्योंकि तुम मेरे प्रिय सेवक, हितैषी, सुहृद् और प्रेमी सखा हो; साथ ही सुननेके भी इच्छुक हो ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

सत्सङ्गकी महिमा और कर्म तथा कर्मत्यागकी विधि

श्रीभगवानुवाच

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ १ ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः[1]।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! जगत्में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणासे भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँतक कहूँ—व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सङ्गके समान मुझे वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ १-२ ॥

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥ ३ ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ[2] ॥ ४ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥ ५ ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥ ६ ॥

निष्पाप उद्धवजी! यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्सङ्गके द्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्सङ्गके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं ॥ ३—६ ॥

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥ ७ ॥

उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्सङ्गके प्रभावसे ही

[1] मखाः। [2] युगे युगे।

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ ८ ॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥९॥

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥१०॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥११॥

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥१२॥

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥१३॥

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥१४॥

वे मुझे प्राप्त हो गये ॥ ७ ॥ गोपियाँ, गायें, यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रजके हरिन आदि पशु, कालिय आदि नाग—ये तो साधन-साध्यके सम्बन्धमें सर्वथा ही मूढ़बुद्धि थे। इतने ही नहीं, ऐसे-ऐसे और भी बहुत हो गये हैं, जिन्होंने केवल प्रेमपूर्ण भावके द्वारा ही अनायास मेरी प्राप्ति कर ली और कृतकृत्य हो गये ॥ ८ ॥ उद्धव ! बड़े-बड़े प्रयत्नशील साधक योग, सांख्य दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, श्रुतियोंकी व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यास आदि साधनोंके द्वारा मुझे नहीं प्राप्त कर सकते; परन्तु सत्सङ्गके द्वारा तो मैं अत्यन्त सुलभ हो जाता हूँ ॥ ९ ॥ उद्धव ! जिस समय अक्रूरजी भैया बलरामजीके साथ मुझे व्रजसे मथुरा ले आये, उस समय गोपियोंका हृदय गाढ़ प्रेमके कारण मेरे अनुरागके रंगमें रँगा हुआ था। मेरे वियोगकी तीव्र व्याधिसे वे व्याकुल हो रही थीं और मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उन्हें सुखकारक नहीं जान पड़ती थी ॥ १० ॥ तुम जानते हो कि मैं ही उनका एकमात्र प्रियतम हूँ। जब मैं वृन्दावनमें था, तब उन्होंने बहुत-सी रात्रियाँ—वे रासकी रात्रियाँ मेरे साथ आधे क्षणके समान बिता दी थीं; परन्तु प्यारे उद्धव ! मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिये एक-एक कल्पके समान हो गयीं ॥ ११ ॥ जैसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि समाधिमें स्थित होकर तथा गङ्गा आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नाम-रूप खो देती हैं, वैसे ही वे गोपियाँ परम प्रेमके द्वारा मुझमें इतनी तन्मय हो गयी थीं कि उन्हें लोक-परलोक, शरीर और अपने कहलानेवाले पति-पुत्रादिकी भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी ॥ १२ ॥ उद्धव ! उन गोपियोंमें बहुत-सी तो ऐसी थीं, जो मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानती थीं। वे मुझे भगवान् न जानकर केवल प्रियतम ही समझती थीं और जारभावसे मुझसे मिलनेकी आकांक्षा किया करती थीं। उन साधनहीन सैकड़ों, हजारों अबलाओंने केवल सङ्गके प्रभावसे ही मुझ परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लिया ॥ १३ ॥

इसलिये उद्धव ! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और सुननेयोग्य तथा सुने हुए विषयका भी परित्याग करके सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियों-

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥१५॥

उद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर ।
न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः ॥१६॥[1]

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥१७॥
यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥१८॥
एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च ।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ॥१९॥

के आत्मस्वरूप मुझ एककी ही शरण सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण करो; क्योंकि मेरी शरणमें आ जानेसे तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे ॥ १४-१५ ॥

उद्धवजीने कहा—सनकादि योगेश्वरोंके भी परमेश्वर प्रभो ! यों तो मैं आपका उपदेश सुन रहा हूँ, परन्तु इससे मेरे मनका सन्देह मिट नहीं रहा है । मुझे स्वधर्मका पालन करना चाहिये या सब कुछ छोड़कर आपकी शरण ग्रहण करनी चाहिये, मेरा मन इसी दुविधामें लटक रहा है । आप कृपा करके मुझे भलीभाँति समझाइये ॥ १६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! जिस परमात्माका परोक्षरूपसे वर्णन किया जाता है, वे साक्षात् अपरोक्ष—प्रत्यक्ष ही हैं, क्योंकि वे ही निखिल वस्तुओंको सत्ता-स्फूर्ति—जीवन-दान करनेवाले हैं, वे ही पहले अनाहत नादस्वरूप परा वाणी नामक प्राणके साथ मूलाधारचक्रमें प्रवेश करते हैं। उसके बाद मणिपूरक चक्र (नाभिस्थान) में आकर पश्यन्ती वाणीका मनोमय सूक्ष्मरूप धारण करते हैं । तदनन्तर कण्ठदेशमें स्थित विशुद्ध नामक चक्रमें आते हैं और वहाँ मध्यमा वाणीके रूपमें व्यक्त होते हैं । फिर क्रमशः मुखमें आकर ह्रस्व-दीर्घादि मात्रा, उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर तथा ककारादि वर्णरूप स्थूल—वैखरी वाणीका रूप ग्रहण कर लेते हैं ॥ १७ ॥ अग्नि आकाशमें ऊष्मा अथवा विद्युत्के रूपसे अव्यक्तरूपमें स्थित है । जब बलपूर्वक काष्ठमन्थन किया जाता है, तब वायुकी सहायतासे वह पहले अत्यन्त सूक्ष्म चिनगारीके रूपमें प्रकट होती है और फिर आहुति देनेपर प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, वैसे ही मैं भी शब्दब्रह्मस्वरूपसे क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणीके रूपमें प्रकट होता हूँ ॥ १८ ॥ इसी प्रकार बोलना, हाथोंसे काम करना, पैरोंसे चलना, मूत्रेन्द्रिय तथा गुदासे मल-मूत्र त्यागना, सूँघना, चखना, देखना, छूना, सुनना, मनसे संकल्प-विकल्प करना, बुद्धिसे समझना, अहङ्कारके द्वारा अभिमान करना, महत्तत्त्वके रूपमें सबका ताना-बाना बुनना तथा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके सारे विकार; कहाँ तक कहूँ—समस्त कर्ता, करण और कर्म मेरी ही

[1] निवर्तेत ।

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनि-
रव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥२०॥

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥२१॥

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥२२॥

अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-
र्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥२३॥

अभिव्यक्तियाँ हैं ॥ १९ ॥ यह सबको जीवित करनेवाला परमेश्वर ही इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमलका कारण है। यह आदि-पुरुष पहले एक और अव्यक्त था। जैसे उपजाऊ खेतमें बोया हुआ बीज शाखा-पत्र-पुष्पादि अनेक रूप धारण कर लेता है, वैसे ही कालगतिसे मायाका आश्रय लेकर शक्ति-विभाजनके द्वारा परमेश्वर ही अनेक रूपोंमें प्रतीत होने लगता है ॥ २० ॥ जैसे तागोंके ताने-बानेमें वस्त्र ओतप्रोत रहता है, वैसे ही यह सारा विश्व परमात्मामें ही ओतप्रोत है। जैसे सूतके बिना वस्त्रका अस्तित्व नहीं है; किन्तु सूत वस्त्रके बिना भी रह सकता है, वैसे ही इस जगत्‌के न रहनेपर भी परमात्मा रहता है; किन्तु यह जगत् परमात्मस्वरूप ही है—परमात्माके बिना इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह संसारवृक्ष अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य है। इसका स्वरूप ही है—कर्मकी परम्परा तथा इस वृक्षके फल-फूल हैं—मोक्ष और भोग ॥ २१ ॥ इस संसार-वृक्षके दो बीज हैं—पाप और पुण्य। असंख्य वासनाएँ जड़ें हैं और तीन गुण तने हैं। पाँच भूत इसकी मोटी-मोटी प्रधान शाखाएँ हैं और शब्दादि पाँच विषय रस हैं, ग्यारह इन्द्रियाँ शाखा हैं तथा जीव और ईश्वर—दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर निवास करते हैं। इस वृक्षमें वात, पित्त और कफरूप तीन तरहकी छाल है। इसमें दो तरहके फल लगते हैं—सुख और दुःख। यह विशाल वृक्ष सूर्यमण्डलतक फैला हुआ है (इस सूर्यमण्डलका भेदन कर जानेवाले मुक्त पुरुष फिर संसार-चक्रमें नहीं पड़ते) ॥ २२ ॥ जो गृहस्थ शब्द-रूप-रस आदि विषयोंमें फँसे हुए हैं, वे कामनासे भरे हुए होनेके कारण गीधके समान हैं। वे इस वृक्षका दुःखरूप फल भोगते हैं, क्योंकि वे अनेक प्रकारके कर्मोंके बन्धनमें फँसे रहते हैं। जो अरण्यवासी परमहंस विषयोंसे विरक्त हैं, वे इस वृक्षमें राजहंसके समान हैं और वे इसका सुखरूप फल भोगते हैं। प्रिय उद्धव! वास्तवमें मैं एक ही हूँ। यह मेरा जो अनेकों प्रकारका रूप है, वह तो केवल मायामय है। जो इस बातको गुरुओंके द्वारा समझ लेता है, वही वास्तवमें समस्त

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥२४॥

वेदोंका रहस्य जानता है ॥ २३ ॥ अतः उद्धव ! तुम इस प्रकार गुरुदेवकी उपासनारूप अनन्य भक्तिके द्वारा अपने ज्ञानकी कुल्हाड़ीको तीखी कर लो और उसके द्वारा धैर्य एवं सावधानीसे जीवभावको काट डालो । फिर परमात्मस्वरूप होकर उस वृत्तिरूप अस्त्रो-को भी छोड़ दो और अपने अखण्ड स्वरूपमें ही स्थित हो रहो ॥ २४ ॥*

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

हंसरूपसे सनकादिको दिये हुए उपदेशका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥ १ ॥
सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥ २ ॥
धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥ ३ ॥
आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों बुद्धि (प्रकृति) के गुण हैं, आत्माके नहीं । सत्त्वके द्वारा रज और तम—इन दो गुणोंपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये । तदनन्तर सत्त्वगुणकी शान्तवृत्तिके द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियोंको भी शान्त कर देना चाहिये ॥ १ ॥ जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तभी जीवको मेरे भक्तिरूप स्वधर्मकी प्राप्ति होती है । निरन्तर सात्त्विक वस्तुओंका सेवन करनेसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और तब मेरे भक्तिरूप स्वधर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है ॥ २ ॥ जिस धर्मके पालनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही सबसे श्रेष्ठ है । वह धर्म रजोगुण और तमोगुणको नष्ट कर देता है । जब वे दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हींके कारण होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही मिट जाता है ॥ ३ ॥ शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ यदि

* ईश्वर अपनी मायाके द्वारा प्रपञ्चरूपसे प्रतीत हो रहा है । इस प्रपञ्चके अध्यासके कारण ही जीवोंको अनादि अविद्यासे कर्तापन आदिकी भ्रान्ति होती है । फिर 'यह करो, यह मत करो' इस प्रकारके विधि-निषेधका अधिकार होता है । तब 'अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करो'—यह बात कही जाती है । जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब कर्मसम्बन्धी दुराग्रह मिटानेके लिये यह बात कही जाती है कि भक्तिमें विक्षेप डालनेवाले कर्मोंके प्रति आदरभाव छोड़कर दृढ़ विश्वाससे भजन करो । तत्त्वज्ञान हो जानेपर कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता । यही इस प्रसङ्गका अभिप्राय है ।

ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥ ४ ॥

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते ।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम् ॥ ५ ॥

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये ।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम् ॥ ६ ॥

वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम् ।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥ ७ ॥

उद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम् ।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत् कथं श्वखराजवत् ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि ।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः ॥ ९ ॥

रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः ।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः ॥ १० ॥

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः ।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः ॥ ११ ॥

सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसिक हों तो रजोगुणकी और तामसिक हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं ॥ ४ ॥ इनमेंसे शास्त्रज्ञ महात्मा जिनकी प्रशंसा करते हैं, वे सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुएँ राजसिक हैं ॥ ५ ॥ जबतक अपने आत्माका साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणोंकी निवृत्ति न हो, तबतक मनुष्यको चाहिये कि सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये सात्त्विक शास्त्र आदिका ही सेवन करे; क्योंकि उससे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मकी वृद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है ॥ ६ ॥ बाँसोंकी रगड़से आग पैदा होती है और वह उनके सारे वनको जलाकर शान्त हो जाती है। वैसे ही यह शरीर गुणोंके वैषम्यसे उत्पन्न हुआ है। विचारद्वारा मन्थन करनेपर इससे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और वह समस्त शरीरों एवं गुणोंको भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ ७ ॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! प्रायः सभी मनुष्य इस बातको जानते हैं कि विषय विपत्तियोंके घर हैं; फिर भी वे कुत्ते, गधे और बकरेके समान दुःख सहन करके भी उन्हींको ही भोगते रहते हैं। इसका क्या कारण है? ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जीव जब अज्ञानवश अपने स्वरूपको भूलकर हृदयसे सूक्ष्म-स्थूलादि शरीरोंमें अहंबुद्धि कर बैठता है—जो कि सर्वथा भ्रम ही है—तब उसका सत्त्वप्रधान मन घोर रजोगुणकी ओर झुक जाता है; उससे व्याप्त हो जाता है ॥ ९ ॥ बस, जहाँ मनमें रजोगुणकी प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प-विकल्पोंका ताँता बँध जाता है। अब वह विषयोंका चिन्तन करने लगता है और अपनी दुर्बुद्धिके कारण कामके फंदेमें फँस जाता है, जिससे फिर छुटकारा होना बहुत ही कठिन है ॥ १० ॥ अब वह अज्ञानी कामवश अनेकों प्रकारके कर्म करने लगता है और इन्द्रियोंके वश होकर, यह जानकर भी कि इन कर्मोंका अन्तिम फल दुःख ही है, उन्हींको करता है, उस समय वह रजोगुणके तीव्र वेगसे अत्यन्त

१. हनी।

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीःपुनः ।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥१२॥
अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।
अनिर्विण्णो यथाकालं[1] जितश्वासो जितासनः ॥१३॥
एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा ॥१४॥

मोहित रहता है ॥ ११ ॥ यद्यपि विवेकी पुरुषका चित्त भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुणके वेगसे विक्षिप्त होता है, तथापि उसकी विषयोंमें दोषदृष्टि बनी रहती है; इसलिये वह बड़ी सावधानीसे अपने चित्तको एकाग्र करनेकी चेष्टा करता रहता है, जिससे उसकी विषयोंमें आसक्ति नहीं होती ॥ १२ ॥ साधकको चाहिये कि आसन और प्राणवायुपर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति और समयके अनुसार बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे मुझमें अपना मन लगावे और इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं, बल्कि और भी उत्साहसे उसीमें जुड़ जाय ॥ १३ ॥ प्रिय उद्धव ! मेरे शिष्य सनकादि परमर्षियोंने योगका यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मनको सब ओरसे खींचकर विराट् आदिमें नहीं, साक्षात् मुझमें ही पूर्ण-रूपसे लगा दें ॥ १४ ॥

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव ।
योगमादिष्टवानेतत् रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥१५॥

उद्धवजीने कहा—श्रीकृष्ण ! आपने जिस समय जिस रूपसे, सनकादि परमर्षियोंको योगका आदेश दिया था, उस रूपको मैं जानना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः ।
पप्रच्छुःपितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्॥१६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! सनकादि परमर्षि ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं । उन्होंने एक बार अपने पितासे योगकी सूक्ष्म अन्तिम सीमाके सम्बन्धमें इस प्रकार प्रश्न किया था ॥ १६ ॥

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो ।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः[2] ॥१७॥

सनकादि परमर्षियोंने पूछा—पिताजी ! चित्त गुणों अर्थात् विषयोंमें घुसा ही रहता है और गुण भी चित्तकी एक-एक वृत्तिमें प्रविष्ट रहते ही हैं । अर्थात् चित्त और गुण आपसमें मिले-जुले ही रहते हैं । ऐसी स्थितिमें जो पुरुष इस संसारसागरसे पार होकर मुक्ति-पद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनोंको एक-दूसरेसे अलग कैसे कर सकता है ? ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टो महादेवः स्वयंभूर्भूतभावनः ।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥१८॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! यद्यपि ब्रह्माजी सब देवताओंके शिरोमणि, स्वयम्भू और प्राणियोंके जन्मदाता हैं । फिर भी सनकादि परमर्षियोंके इस प्रकार पूछनेपर ध्यान करके भी वे इस प्रश्नका मूलकारण न समझ सके; क्योंकि उनकी बुद्धि कर्म-

१. यथाकामं । २. रतितीर्षया ।

स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया ।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥१९॥
दृष्ट्वा मां त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति ॥२०॥
इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे ॥२१॥
वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः ।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥२२॥
पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः ।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः ॥२३॥
मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥२४॥
गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः ।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥२५॥
गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया ।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥२६॥
जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥२७॥

प्रवण थी ॥ १८ ॥ उद्धव ! उस समय ब्रह्माजीने इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भक्तिभावसे मेरा चिन्तन किया । तब मैं हंसका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुआ ॥ १९ ॥ मुझे देखकर सनकादि ब्रह्माजीको आगे करके मेरे पास आये और उन्होंने मेरे चरणोंकी वन्दना करके मुझसे पूछा कि 'आप कौन हैं ?' ॥ २० ॥ प्रिय उद्धव ! सनकादि परमार्थतत्त्वके जिज्ञासु थे; इसलिये उनके पूछनेपर उस समय मैंने जो कुछ कहा वह तुम मुझसे सुनो— ॥ २१ ॥ 'ब्राह्मणो ! यदि परमार्थरूप वस्तु नानात्वसे सर्वथा रहित है, तब आत्माके सम्बन्धमें आपलोगोंका ऐसा प्रश्न कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ? अथवा मैं यदि उत्तर देनेके लिये बोलूँ भी तो किसी जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदिका आश्रय लेकर उत्तर दूँ ? ॥ २२ ॥ देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पञ्चभूतात्मक होनेके कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थरूपसे भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं ?' आपलोगोंका यह प्रश्न ही केवल वाणीका व्यवहार है। विचारपूर्वक नहीं है, अतः निरर्थक है ॥ २३ ॥ मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आपलोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये ॥ २४ ॥ पुत्रो ! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीवके देह हैं—उपाधि हैं। अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है ॥ २५ ॥ इसलिये बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें आसक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनोंको अपने वास्तविकसे अभिन्न परमात्माका साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ सत्त्वादि गुणोंके अनुसार होती हैं और बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, सच्चिदानन्दका स्वभाव नहीं। इन वृत्तियोंका साक्षी होनेके कारण जीव उनसे विलक्षण है। यह सिद्धान्त श्रुति, युक्ति और अनुभूतिसे युक्त है ॥ २७ ॥

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम्॥२८॥
अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत्॥२९॥
यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥३०॥
असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा ।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥३१॥
यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि यत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥३२॥
एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।

क्योंकि बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा होनेवाला यह बन्धन ही आत्मामें त्रिगुणमयी वृत्तियोंका दान करता है। इसलिये तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्वमें स्थित होकर इस बुद्धिके बन्धनका परित्याग कर दे। तब विषय और चित्त दोनोंका युगपत् त्याग हो जाता है॥ २८॥ यह बन्धन अहङ्कारकी ही रचना है और यही आत्माके परिपूर्णतम सत्य, अखण्डज्ञान और परमानन्दस्वरूपको छिपा देता है। इस बातको जानकर विरक्त हो जाय। और अपने तीन अवस्थाओंमें अनुगत तुरीयस्वरूपमें होकर संसारकी चिन्ताको छोड़ दे॥ २९॥ जबतक पुरुषकी भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें सत्यत्वबुद्धि, अहंबुद्धि और ममबुद्धि युक्तियोंके द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तबतक वह अज्ञानी यद्यपि जागता है तथापि सोता हुआ-सा रहता है—जैसे स्वप्नावस्थामें जान पड़ता है कि मैं जाग रहा हूँ॥ ३०॥ आत्मासे अन्य देह आदि प्रतीयमान नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका कुछ भी अस्तित्व नहीं है। इसलिये उनके कारण होनेवाले वर्णाश्रमादिभेद, स्वर्गादिफल और उनके कारणभूत कर्म—ये सब-के-सब इस आत्माके लिये वैसे ही मिथ्या हैं; जैसे स्वप्नदर्शी पुरुषके द्वारा देखे हुए सब-के-सब पदार्थ॥ ३१॥

जो जाग्रत् अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दीखनेवाले सम्पूर्ण क्षणभङ्गुर पदार्थोंको अनुभव करता है और स्वप्नावस्थामें हृदयमें ही जाग्रत्में देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका अनुभव करता है और सुषुप्ति-अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर उनके लयको भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत् अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्नावस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका भी वही स्वामी है। क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जिस मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'—इस स्मृतिके बलपर एक ही आत्माका समस्त अवस्थाओंमें होना सिद्ध हो जाता है॥ ३२॥ ऐसा विचारकर मन-की ये तीनों अवस्थाएँ गुणोंके द्वारा मेरी मायासे मेरे अंशस्वरूप जीवमें कल्पित की गयी हैं और आत्मामें ये

१. यो हि। २. स्वप्नयुक्तः। ३. किंकृता। ४. स्याम्। ५. श्रितार्थः।

संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्॥३३॥

नितान्त असत्य हैं, ऐसा निश्चय करके तुमलोग अनुमान, सत्पुरुषोंद्वारा किये गये उपनिषदोंके श्रवण और तीक्ष्ण ज्ञान खड्गके द्वारा सकल संशयोंके आधार अहंकारका छेदन करके हृदयमें स्थित मुझ परमात्माका भजन करो ॥ ३३ ॥

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥३४॥

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥३५॥

यह जगत् मनका विलास है, दीखनेपर भी नष्ट-प्राय है, अलातचक्र (लुकारियोंकी बनेठी) के समान अत्यन्त चञ्चल है और भ्रममात्र है—ऐसा समझे। ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अनेक-सा प्रतीत हो रहा है। यह स्थूल शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप तीन प्रकारका विकल्प गुणोंके परिणामकी रचना है और स्वप्नके समान माया-का खेल है, अज्ञानसे कल्पित है ॥ ३४ ॥ इसलिये उस देहादिरूप दृश्यसे दृष्टि हटाकर तृष्णारहित इन्द्रियोंके व्यापारसे हीन और निरीह होकर आत्मानन्दके अनुभवमें मग्न हो जाय। यद्यपि कभी-कभी आहार आदिके समय यह देहादिक प्रपञ्च देखनेमें आता है, तथापि यह पहले ही आत्मवस्तुसे अतिरिक्त और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है। इसलिये वह पुनः भ्रान्तिमूलक मोह उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। देहपातपर्यन्त केवल संस्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है ॥ ३५ ॥

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥३६॥

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरेद्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीरपर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीरसे उसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है—नश्वर शरीरसम्बन्धी इन बातोंपर दृष्टि नहीं डालता ॥ ३६ ॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥३७॥

प्राण और इन्द्रियोंके साथ यह शरीर भी प्रारब्धके अधीन है। इसलिये अपने आरम्भक (बनानेवाले) कर्म जबतक हैं, तबतक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है। परन्तु आत्मवस्तुका साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योगमें आरूढ़ पुरुष, स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपञ्चके सहित उस शरीरको फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता, जैसे जगा हुआ

१. विज्ञातमे०। २. त्यक्तुम्।

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः ।
जानीत माऽऽगतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया ॥३८॥
अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः ।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च ॥३९॥
मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् ।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः ॥४०॥
इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः ।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः ॥४१॥
तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः ।
प्रत्येयाय[1] स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः ॥४२॥

पुरुष स्वप्नावस्थाके शरीर आदिको ॥ ३७ ॥ सनकादि ऋषियो ! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सांख्य और योग दोनोंका गोपनीय रहस्य है । मैं स्वयं भगवान् हूँ, तुमलोगोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ, ऐसा समझो ॥ ३८ ॥ विप्रवरो ! मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत (मधुरभाषण), तेज, श्री, कीर्ति और दम (इन्द्रियनिग्रह) इन सबकी परम गति—परम अधिष्ठान हूँ ॥ ३९ ॥ मैं समस्त गुणोंसे रहित हूँ और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता । फिर भी साम्य, असङ्गता आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते हैं, मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हूँ । सच पूछो, तो उन्हें गुण कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वे सत्त्वादि गुणोंके परिणाम नहीं हैं और नित्य हैं ॥ ४० ॥

प्रिय उद्धव ! इस प्रकार मैंने सनकादि मुनियोंके संशय मिटा दिये । उन्होंने परम भक्तिसे मेरी पूजा की और स्तुतियोंद्वारा मेरी महिमाका गान किया ॥ ४१ ॥ जब उन परमर्षियोंने भलीभाँति मेरी पूजा और स्तुति कर ली, तब मैं ब्रह्माजीके सामने ही अदृश्य होकर अपने धाममें लौट आया ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

भक्तियोगकी महिमा तथा ध्यानविधिका वर्णन

उद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥ १ ॥
भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः ।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥ २ ॥

उद्धवजीने पूछा—श्रीकृष्ण ! ब्रह्मवादी महात्मा आत्मकल्याणके अनेकों साधन बतलाते हैं । उनमें अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार सभी श्रेष्ठ हैं अथवा किसी एककी प्रधानता है ? ॥ १ ॥ मेरे स्वामी ! आपने तो अभी-अभी भक्तियोगको ही निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र साधन बतलाया है; क्योंकि इसीसे सब ओरसे आसक्ति छोड़कर मन आपमें ही तन्मय हो जाता है ॥ २ ॥

१. प्रतीयाय ।

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥३॥
तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा ।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥४॥
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥५॥
किन्देवाः किन्नरा नागा रक्षः किम्पुरुषादयः ।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥६॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा ।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥७॥
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाखण्डमतयोऽपरे ॥८॥
मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥९॥
धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ॥१०॥
केचिद् यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान् ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! यह वेद-वाणी समयके फेरसे प्रलयके अवसरपर लुप्त हो गयी थी; फिर जब सृष्टिका समय आया, तब मैंने अपने सङ्कल्पसे ही इसे ब्रह्माको उपदेश किया, इसमें मेरे भागवतधर्मका ही वर्णन है ॥ ३ ॥ ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको उपदेश किया और उनसे भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु—इन सात प्रजापति-महर्षियोंने ग्रहण किया ॥ ४ ॥ तदनन्तर इन ब्रह्मर्षियोंकी सन्तान देवता, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किन्देव*, किन्नर†, नाग, राक्षस और किम्पुरुष‡ आदिने इसे अपने पूर्वज इन्हीं ब्रह्मर्षियोंसे प्राप्त किया। सभी जातियों और व्यक्तियोंके स्वभाव—उनकी वासनाएँ सत्त्व, रज और तमोगुणके कारण भिन्न-भिन्न हैं; इसलिये उनमें और उनकी बुद्धि-वृत्तियोंमें भी अनेकों भेद हैं। इसीलिये वे सभी अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उस वेदवाणीका भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं। वह वाणी ही ऐसी अलौकिक है कि उससे विभिन्न अर्थ निकलना स्वाभाविक ही है ॥ ५—७ ॥ इसी प्रकार स्वभावभेद तथा परम्परागत उपदेशके भेदसे मनुष्योंकी बुद्धिमें भिन्नता आ जाती है और कुछ लोग तो बिना किसी विचारके वेदविरुद्ध पाखण्डमतावलम्बी हो जाते हैं ॥ ८ ॥ प्रिय उद्धव! सभीकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित हो रही है; इसीसे वे अपने-अपने कर्म-संस्कार और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार आत्मकल्याणके साधन भी एक नहीं, अनेकों बतलाते हैं ॥ ९ ॥ पूर्वमीमांसक धर्मको, साहित्याचार्य यशको, कामशास्त्री कामको, योगवेत्ता सत्य और शम-दमादिको, दण्डनीतिकार ऐश्वर्यको, त्यागी त्यागको और लोकायतिक भोगको ही मनुष्य-जीवनका स्वार्थ—परम लाभ बतलाते हैं ॥ १० ॥ कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियम आदिको पुरुषार्थ बतलाते हैं। परन्तु ये सभी कर्म हैं; इनके फलस्वरूप जो लोक

१. ताभिः। २. वै।

* श्रम और स्वेदादि दुर्गन्धसे रहित होनेके कारण जिनके विषयमें 'ये देवता हैं या मनुष्य' ऐसा सन्देह हो, वे द्वीपान्तर-निवासी मनुष्य।

† मुख तथा शरीरकी आकृतिसे कुछ-कुछ मनुष्यके समान प्राणी।

‡ कुछ-कुछ पुरुषके समान प्रतीत होनेवाले वानरादि।

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः ।।११।।

मिलते हैं, वे उत्पत्ति और नाशवाले हैं । कर्मोंका फल समाप्त हो जानेपर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो, तो उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है । उनसे जो सुख मिलता है, वह तुच्छ है—नगण्य है और वे लोक भोगके समय भी असूया आदि दोषोंके कारण शोकसे परिपूर्ण हैं । (इसलिये इन विभिन्न साधनोंके फेरमें न पड़ना चाहिये) ॥ ११ ॥

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम् १२

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।।१३।।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत् ।।१४।।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ।।१५।।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्[3] ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।।१६।।

प्रिय उद्धव ! जो सब ओरसे निरपेक्ष—बेपरवाह हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदिकी आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्तःकरणको सब प्रकारसे मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्दस्वरूप मैं उसकी आत्माके रूपमें स्फुरित होने लगता हूँ । इससे वह जिस सुखका अनुभव करता है, वह विषयलोलुप प्राणियोंको किसी प्रकार मिल नहीं सकता ॥ १२ ॥ जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित—अकिञ्चन है, जो अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्तिसे ही मेरे सान्निध्यका अनुभव करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण सन्तोषका अनुभव करता है, उसके लिये आकाशका एक-एक कोना आनन्दसे भरा हुआ है ॥ १३ ॥ जिसने अपनेको मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका, उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ रसातलका ही स्वामी होना चाहता है । वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षतककी अभिलाषा नहीं करता ॥ १४ ॥ उद्धव ! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शङ्कर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है ॥ १५ ॥ जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे

१. शुचार्दिताः । २. शुद्धस्य । ३. समदर्शिनम् ।

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः

शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।

कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्

तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥१७॥

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।

प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥१८॥

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।

तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥१९॥

न साधयति मां योगो[2] न सांख्यं धर्म[1] उद्धव ।

न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥२०॥

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥२१॥

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।

मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥२२॥

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।

विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः

ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ ॥ १६ ॥ जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँतक कि शरीर आदिमें भी अहंता-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेमके रंगमें रँग गया है, जो संसारकी वासनाओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं और जो अपनी महत्ता—उदारताके कारण स्वभावसे ही समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामना जिनकी बुद्धिका स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्दस्वरूपका अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

उद्धवजी ! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी क्षण-क्षणमें बढ़नेवाली मेरी प्रगल्भ भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता ॥१८॥ उद्धव ! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियोंके बड़े ढेरको भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पाप-राशिको पूर्णतया जला डालती है ॥ १९ ॥ उद्धव ! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करानेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनों-दिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति ॥ २० ॥ मैं संतोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ । मुझे प्राप्त करनेका यह एक ही उपाय है । मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र—जाति-दोषसे मुक्त कर देती है, जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं ॥ २१ ॥ इसके विपरीत जो मेरी भक्तिसे वञ्चित हैं, उनके चित्तको सत्य और दयासे युक्त धर्म और तपस्यासे युक्त विद्या भी भलीभाँति पवित्र करनेमें असमर्थ है ॥ २२ ॥ जबतक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिघलकर गद्गद नहीं हो जाता, आनन्दके आँसू आँखोंसे छलकने नहीं लगते तथा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भक्तिकी बाढ़में चित्त डूबने-उतराने नहीं लगता, तबतक इसके शुद्ध होनेकी कोई सम्भावना

१. धर्मो । २. योग ।

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥२४॥
यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥२५॥
यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं[1]
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥२६॥
विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥२७॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥२८॥
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥२९॥
न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥३०॥

उद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि ॥३१॥

नहीं है ॥ २३ ॥ जिसकी वाणी प्रेमसे गद्‌गद हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षणके लिये भी रोनेका ताँता नहीं टूटता, परन्तु जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है, कहीं लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है, भैया उद्धव ! मेरा वह भक्त न केवल अपनेको बल्कि सारे संसारको पवित्र कर देता है ॥ २४ ॥ जैसे आगमें तपानेपर सोना मैल छोड़ देता है—निखर जाता है और अपने असली शुद्ध रूपमें स्थित हो जाता है, वैसे ही मेरे भक्तियोगके द्वारा आत्मा कर्म-वासनाओंसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ ॥ २५ ॥ उद्धवजी ! मेरी परमपावन लीला-कथाके श्रवण-कीर्तनसे ज्यों-ज्यों चित्तका मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों उसे सूक्ष्मवस्तुके—वास्तविक तत्त्वके दर्शन होने लगते हैं—जैसे अंजनके द्वारा नेत्रोंका दोष मिटनेपर उनमें सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है ॥ २६ ॥

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जाता है ॥ २७ ॥ इसलिये तुम दूसरे साधनों और फलोंका चिन्तन छोड़ दो। अरे भाई ! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ जान पड़ता है, वह ठीक वैसा ही है जैसे स्वप्न अथवा मनोरथका राज्य । इसलिये मेरे चिन्तनसे तुम अपना चित्त शुद्ध कर लो और उसे पूरी तरहसे—एकाग्रतासे मुझमें ही लगा दो ॥ २८ ॥ संयमी पुरुष स्त्रियों और उनके प्रेमियोंका सङ्ग दूरसे ही छोड़कर, पवित्र एकान्त स्थानमें बैठकर बड़ी सावधानीसे मेरा ही चिन्तन करे ॥ २९ ॥ प्यारे उद्धव ! स्त्रियोंके सङ्गसे और स्त्रीसङ्गियोंके—लम्पटोंके सङ्गसे पुरुषको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना पड़ता है, वैसा क्लेश और फँसावट और किसीके भी सङ्गसे नहीं होती ॥ ३० ॥

उद्धवजीने पूछा—कमलनयन श्यामसुन्दर ! आप कृपा करके यह बतलाइये कि मुमुक्षु पुरुष आपका किस रूपसे, किस प्रकार और किस भावसे ध्यान करे ? ॥ ३१ ॥

१. तत्त्वसूक्ष्मम् ।

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥३२॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥३३॥
हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम् ॥३४॥
एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् ।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः ॥३५॥
हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥३६॥
कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ।
वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम् ॥३७॥
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्[1] ।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ॥३८॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥३९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जो न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा ही—ऐसे आसनपर शरीरको सीधा रखकर आरामसे बैठ जाय, हाथोंको अपनी गोदमें रख ले और दृष्टि अपनी नासिकाके अग्रभागपर जमावे ॥ ३२ ॥ इसके बाद पूरक, कुम्भक और रेचक, तथा रेचक, कुम्भक और पूरक—इन प्राणायामों-के द्वारा नाड़ियोंका शोधन करे। प्राणायामका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये और उसके साथ-साथ इन्द्रियोंको जीतनेका भी अभ्यास करना चाहिये ॥ ३३ ॥ हृदयमें कमल-नालगत पतले सूतके समान ॐकारका चिन्तन करे, प्राणके द्वारा उसे ऊपर ले जाय और उसमें घण्टानादके समान स्वर स्थिर करे। उस स्वरका ताँता टूटने न पावे ॥ ३४ ॥ इस प्रकार प्रतिदिन तीन समय दस-दस बार ॐकारसहित प्राणायामका अभ्यास करे। ऐसा करनेसे एक महीनेके अंदर ही प्राणवायु वशमें हो जाता है ॥ ३५ ॥ इसके बाद ऐसा चिन्तन करे कि हृदय एक कमल है, वह शरीरके भीतर इस प्रकार स्थित है मानो उसकी डंडी तो ऊपरकी ओर है और मुँह नीचेकी ओर। अब ध्यान करना चाहिये कि उसका मुख ऊपरकी ओर होकर खिल गया है, उसके आठ दल (पँखुड़ियाँ) हैं और उनके बीचोबीच पीली-पीली अत्यन्त सुकुमार कर्णिका (गद्दी) है ॥ ३६ ॥ कर्णिकापर क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका न्यास करना चाहिये। तदनन्तर अग्निके अंदर मेरे इस रूपका स्मरण करना चाहिये। मेरा यह स्वरूप ध्यानके लिये बड़ा ही मङ्गलमय है ॥ ३७ ॥ मेरे अवयवोंकी गठन बड़ी ही सुडौल है। रोम-रोमसे शान्ति टपकती है। मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित और सुन्दर है। घुटनोंतक लंबी मनोहर चार भुजाएँ हैं। बड़ी ही सुन्दर और मनोहर गरदन है। मरकतमणिके समान सुस्निग्ध कपोल हैं। मुखपर मन्द-मन्द मुसकानकी अनोखी ही छटा है। दोनों ओरके कान बराबर हैं और उनमें मकराकृत कुण्डल झिलमिल-झिलमिल कर रहे हैं। वर्षा-कालीन मेघके समान श्यामल शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा है। श्रीवत्स एवं लक्ष्मीजीका चिह्न वक्षःस्थलपर दायें-बायें विराजमान है। हाथोंमें क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा

[1] दीर्घबाहुं च।

शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥४०॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥४१॥

एवं पद्म धारण किये हुए हैं। गलेमें वनमाला लटक रही है। चरणोंमें नूपुर शोभा दे रहे हैं, गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है। अपने-अपने स्थानपर चमचमाते हुए किरीट, कंगन, करधनी और बाजूबंद शोभायमान हो रहे हैं। मेरा एक-एक अङ्ग अत्यन्त सुन्दर एवं हृदयहारी है। सुन्दर मुख और प्यारभरी चितवन कृपा-प्रसादकी वर्षा कर रही है। उद्धव! मेरे इस सुकुमार रूपका ध्यान करना चाहिये और अपने मनको एक-एक अङ्गमें लगाना चाहिये ॥ ३८–४१ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥४२॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे खींच ले और मनको बुद्धिरूप सारथीकी सहायतासे मुझमें ही लगा दे, चाहे मेरे किसी भी अङ्गमें क्यों न लगे ॥ ४२ ॥

तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥४३॥

जब सारे शरीरका ध्यान होने लगे, तब अपने चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और अन्य अङ्गोंका चिन्तन न करके केवल मन्द-मन्द मुसकानकी छटासे युक्त मेरे मुखका ही ध्यान करे ॥ ४३ ॥

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥४४॥

जब चित्त मुखारविन्दमें ठहर जाय, तब उसे वहाँसे हटाकर आकाशमें स्थिर करे। तदनन्तर आकाशका चिन्तन भी त्याग कर मेरे स्वरूपमें आरूढ हो जाय और मेरे सिवा किसी भी वस्तुका चिन्तन न करे ॥ ४४ ॥

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि ।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥४५॥

जब इस प्रकार चित्त समाहित हो जाता है, तब जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योतिसे मिलकर एक हो जाती है, वैसे ही अपनेमें मुझे और मुझ सर्वात्मामें अपनेको अनुभव करने लगता है ॥ ४५ ॥

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥४६॥

जो योगी इस प्रकार तीव्र ध्यानयोगके द्वारा मुझमें ही अपने चित्तका संयम करता है, उसके चित्तसे वस्तुकी अनेकता, तत्सम्बन्धी ज्ञान और उनकी प्राप्तिके लिये होनेवाले कर्मोंका भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न सिद्धियोंके नाम और लक्षण

श्रीभगवानुवाच

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! जब साधक इन्द्रिय, प्राण और मनको अपने वशमें करके

मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ १ ॥

अपना चित्त मुझमें लगाने लगता है, मेरी धारणा करने लगता है, तब उसके सामने बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं ॥ १ ॥

उद्धव उवाच

कया धारणया कास्वित् कथंस्वित् सिद्धिरच्युत।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान्॥२॥

उद्धवजीने कहा—अच्युत! कौन-सी धारणा करनेसे किस प्रकार कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और उनकी संख्या कितनी है, आप ही योगियोंको सिद्धियाँ देते हैं, अतः आप इनका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ ३ ॥
अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥ ४ ॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका[1] मताः॥ ५ ॥
अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ ६ ॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहतागतिः ॥ ७ ॥
त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! धारणायोगके पारगामी योगियोंने अठारह प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी हैं। उनमें आठ सिद्धियाँ तो प्रधानरूपसे मुझमें ही रहती हैं और दूसरोंमें न्यून। और दस सत्त्वगुणके विकाससे भी मिल जाती हैं ॥ ३ ॥ उनमें तीन सिद्धियाँ तो शरीरकी हैं—'अणिमा', 'महिमा' और 'लघिमा'। इन्द्रियोंकी एक सिद्धि है—'प्राप्ति'। लौकिक और पारलौकिक पदार्थोंका इच्छानुसार अनुभव करनेवाली सिद्धि 'प्राकाम्य' है। माया और उसके कार्योंको इच्छानुसार सञ्चालित करना 'ईशिता' नामकी सिद्धि है ॥ ४ ॥ विषयोंमें रहकर भी उनमें आसक्त न होना 'वशिता' है और जिस-जिस सुखकी कामना करे, उसकी सीमातक पहुँच जाना 'कामावसायिता' नामकी आठवीं सिद्धि है। ये आठों सिद्धियाँ मुझमें स्वभावसे ही रहती हैं और जिन्हें मैं देता हूँ, उन्हींको अंशतः प्राप्त होती हैं ॥५॥ इनके अतिरिक्त और भी कई सिद्धियाँ हैं। शरीरमें भूख-प्यास आदि वेगोंका न होना, बहुत दूरकी वस्तु देख लेना और बहुत दूरकी बात सुन लेना, मनके साथ ही शरीरका उस स्थानपर पहुँच जाना, जो इच्छा हो वही रूप बना लेना; दूसरे शरीरमें प्रवेश करना, जब इच्छा हो तभी शरीर छोड़ना, अप्सराओंके साथ होनेवाली देवक्रीड़ाका दर्शन, सङ्कल्पकी सिद्धि, सब जगह सबके द्वारा बिना ननु-नचके आज्ञापालन—ये दस सिद्धियाँ सत्त्वगुणके विशेष विकाससे होती हैं ॥ ६-७ ॥ भूत, भविष्य और वर्तमानकी बात जान लेना; शीत-उष्ण, सुख-दुःख और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंके वशमें न होना, दूसरेके मन आदिकी बात जान लेना; अग्नि, सूर्य, जल, विष

[1] अष्टौ चौत्पत्तिका।

अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥ ८ ॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः ।
यया धारणया या स्याद् यथा वा स्यान्निबोध मे ॥ ९ ॥
भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः ।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ॥१०॥
महत्यात्मन्मयि परे यथासंस्थं मनो दधत् ।
महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक् पृथक् ॥११॥
परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन् ।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात् ॥१२॥
धारयन् मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम् ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ॥१३॥
महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम् ।
प्राकाम्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः ॥१४॥

आदिकी शक्तिको स्तम्भित कर देना और किसीसे भी पराजित न होना—ये पाँच सिद्धियाँ भी योगियोंको प्राप्त होती हैं ॥ ८ ॥ प्रिय उद्धव ! योग-धारणा करनेसे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका मैंने नाम-निर्देशके साथ वर्णन कर दिया । अब किस धारणासे कौन-सी सिद्धि कैसे प्राप्त होती है, यह बतलाता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥

प्रिय उद्धव ! पञ्चभूतोंकी सूक्ष्मतम मात्राएँ मेरा ही शरीर हैं । जो साधक केवल मेरे उसी शरीरकी उपासना करता है और अपने मनको तदाकार बनाकर उसीमें लगा देता है अर्थात् मेरे तन्मात्रात्मक शरीरके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता, उसे 'अणिमा' नामकी सिद्धि अर्थात् पत्थरकी चट्टान आदिमें भी प्रवेश करनेकी शक्ति—अणुता प्राप्त हो जाती है ॥ १० ॥ महत्तत्त्वके रूपमें भी मैं ही प्रकाशित हो रहा हूँ और उस रूपमें समस्त व्यावहारिक ज्ञानोंका केन्द्र हूँ । जो मेरे उस रूपमें अपने मनको महत्तत्त्वाकार करके तन्मय कर देता है, उसे 'महिमा' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है, और इसी प्रकार आकाशादि पञ्चभूतोंमें—जो मेरे ही शरीर हैं—अलग-अलग मन लगानेसे उन-उनकी महत्ता प्राप्त हो जाती है, यह भी 'महिमा' सिद्धिके ही अन्तर्गत है ॥ ११ ॥ जो योगी वायु आदि चार भूतोंके परमाणुओंको मेरा ही रूप समझकर चित्तको तदाकार कर देता है, उसे 'लघिमा' सिद्धि प्राप्त हो जाती है—उसे परमाणुरूप कालके* समान सूक्ष्म वस्तु बननेका सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥ जो सात्त्विक अहङ्कारको मेरा स्वरूप समझकर मेरे उसी रूपमें चित्तकी धारणा करता है, वह समस्त इन्द्रियोंका अधिष्ठाता हो जाता है । मेरा चिन्तन करनेवाला भक्त इस प्रकार 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥ जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मामें अपना चित्त स्थिर करता है, उसे मुझ अव्यक्त-जन्मा (सूत्रात्मा) की 'प्राकाम्य' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है—जिससे इच्छानुसार सभी भोग प्राप्त हो जाते

१. धारयन् ।

* पृथ्वी आदिके परमाणुओंमें गुरुत्व विद्यमान रहता है । इसीसे उसका भी निषेध करनेके लिये कालके परमाणुकी समानता बतायी है ।

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रंक्षेत्रज्ञचोदनाम् ॥१५॥
नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते।
मनो मय्यादधद् योगी मद्धर्मा वशितामियात्॥१६॥
निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥१७॥
श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि।
धारयञ्छ्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः ॥१८॥
मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन्।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ ॥१९॥
चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक्॥२०॥
मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ॥२१॥
यदा मन उपादाय यद् यद् रूपं बुभूषति।
तत्तद् भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः ॥२२॥
परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।

हैं ॥ १४ ॥ जो त्रिगुणमयी मायाके स्वामी मेरे काल-स्वरूप विश्वरूपकी धारणा करता है, वह शरीरों और जीवोंको अपने इच्छानुसार प्रेरित करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धिका नाम 'ईशित्व' है ॥ १५ ॥ जो योगी मेरे नारायण-स्वरूपमें—जिसे तुरीय और भगवान् भी कहते हैं—मनको लगा देता है, मेरे स्वाभाविक गुण उसमें प्रकट होने लगते हैं और उसे 'वशिता' नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ १६ ॥ निर्गुण ब्रह्म भी मैं ही हूँ। जो अपना निर्मल मन मेरे इस ब्रह्मस्वरूपमें स्थित कर लेता है, उसे परमानन्द-स्वरूपिणी 'कामावसायिता' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है। इसके मिलनेपर उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं ॥ १७ ॥ प्रिय उद्धव! मेरा वह रूप, जो श्वेतद्वीपका स्वामी है, अत्यन्त शुद्ध और धर्ममय है। जो उसकी धारणा करता है, वह भूख-प्यास, जन्म-मृत्यु और शोक-मोह—इन छः ऊर्मियोंसे मुक्त हो जाता है और उसे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होती है ॥ १८ ॥ मैं ही समष्टि-प्राणरूप आकाशात्मा हूँ। जो मेरे इस स्वरूपमें मनके द्वारा अनाहत नादका चिन्तन करता है, वह 'दूरश्रवण' नामकी सिद्धिसे सम्पन्न हो जाता है और आकाशमें उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियोंकी बोली सुन-समझ सकता है ॥ १९ ॥ जो योगी नेत्रोंको सूर्यमें और सूर्यको नेत्रोंमें संयुक्त कर देता है और दोनोंके संयोगमें मन-ही-मन मेरा ध्यान करता है, उसकी दृष्टि सूक्ष्म हो जाती है, उसे 'दूरदर्शन' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है और वह सारे संसारको देख सकता है ॥ २० ॥ मन और शरीरको प्राणवायुके सहित मेरे साथ संयुक्त कर दे और मेरी धारणा करे तो इससे 'मनोजव' नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके प्रभावसे वह योगी जहाँ भी जानेका संकल्प करता है, वहीं उसका शरीर उसी क्षण पहुँच जाता है ॥ २१ ॥ जिस समय योगी मनको उपादान-कारण बनाकर किसी देवता आदिका रूप धारण करना चाहता है तो वह अपने मनके अनुकूल वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसका कारण यह है कि उसने अपने चित्तको मेरे साथ जोड़ दिया है ॥ २२ ॥ जो योगी दूसरे शरीरमें प्रवेश करना चाहे, वह ऐसी भावना करे कि मैं उसी शरीरमें

१. क्षेत्रज्ञक्षेत्रचोदनात्। २. तु तुर्याख्ये।

पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत्॥२३॥

पार्ष्ण्याऽऽपीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु ।

आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम् ॥२४॥

विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत्।

विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः॥२५॥

यथा सङ्कल्पयेद् बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान्।

मयि सत्ये मनो युञ्जंस्तथा तत् समुपाश्नुते ॥२६॥

यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान् ।

कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम॥२७॥

मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः।

तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता ॥२८॥

अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः ।

मद्योगश्रान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा ॥२९॥

मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः ।

ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः ॥३०॥

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः ।

हूँ । ऐसा करनेसे उसका प्राण वायुरूप धारण कर लेता है । और वह एक फूलसे दूसरे फूलपर जानेवाले भौंरेके समान अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है ॥ २३ ॥ योगीको यदि शरीरका परित्याग करना हो तो एड़ीसे गुदाद्वारको दबाकर प्राणवायुको क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मस्तकमें ले जाय । फिर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा उसे ब्रह्ममें लीन करके शरीरका परित्याग कर दे ॥ २४ ॥ यदि उसे देवताओंके विहारस्थलोंमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा हो, तो मेरे शुद्ध सत्त्वमय स्वरूपकी भावना करे । ऐसा करनेसे सत्त्वगुणकी अंशस्वरूपा सुर-सुन्दरियाँ विमानपर चढ़कर उसके पास पहुँच जाती हैं ॥ २५ ॥ जिस पुरुषने मेरे सत्यसङ्कल्पस्वरूपमें अपना चित्त स्थिर कर दिया है, उसीके ध्यानमें संलग्न है, वह अपने मनसे जिस समय जैसा सङ्कल्प करता है, उसी समय उसका वह सङ्कल्प सिद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥ मैं 'ईशित्व' और 'वशित्व'—इन दोनों सिद्धियोंका स्वामी हूँ, इसलिये कभी कोई मेरी आज्ञा टाल नहीं सकता । जो मेरे उस रूपका चिन्तन करके उसी भावसे युक्त हो जाता है, मेरे समान उसकी आज्ञाको भी कोई टाल नहीं सकता ॥ २७ ॥ जिस योगीका चित्त मेरी धारणा करते-करते मेरी भक्तिके प्रभावसे शुद्ध हो गया है, उसकी बुद्धि जन्म-मृत्यु आदि अदृष्ट विषयोंको भी जान लेती है । और तो क्या—भूत, भविष्य और वर्तमानकी सभी बातें उसे मालूम हो जाती हैं ॥२८॥ जैसे जलके द्वारा जलमें रहनेवाले प्राणियोंका नाश नहीं होता, वैसे ही जिस योगीने अपना चित्त मुझमें लगाकर शिथिल कर दिया है, उसके योगमय शरीरको अग्नि, जल आदि कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं कर सकते ॥२९॥ जो पुरुष श्रीवत्स आदि चिह्न और शङ्ख-गदा-चक्र-पद्म आदि आयुधोंसे विभूषित तथा ध्वजा-छत्र-चँवर आदिसे सम्पन्न मेरे अवतारोंका ध्यान करता है, वह अजेय हो जाता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार जो विचारशील पुरुष मेरी उपासना करता है और योगधारणाके द्वारा मेरा चिन्तन करता है,

१. यथा । २. तत्त्वे । ३. न कुतश्चित् । ४. शुद्धतत्त्वस्य । ५. मध्येय श्रा० । ६. तम् ।

सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः ॥३१॥

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः ।

मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥३२॥

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ।

मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥३३॥

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः ।

योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥३४॥

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।

अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥३५॥

अहमात्माऽऽन्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम् ।

यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा ॥३६॥

उसे वे सभी सिद्धियाँ पूर्णतः प्राप्त हो जाती हैं, जिनका वर्णन मैंने किया है ॥ ३१ ॥ प्यारे उद्धव ! जिसने अपने प्राण, मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, जो संयमी है और मेरे ही स्वरूपकी धारणा कर रहा है, उसके लिये ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं, जो दुर्लभ हो । उसे तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त ही हैं ॥ ३२ ॥ परन्तु श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि जो लोग भक्तियोग अथवा ज्ञानयोगादि उत्तम योगोंका अभ्यास कर रहे हैं, जो मुझसे एक हो रहे हैं उनके लिये इन सिद्धियोंका प्राप्त होना एक विघ्न ही है; क्योंकि इनके कारण व्यर्थ ही उनके समयका दुरुपयोग होता है ॥ ३३ ॥ जगत्में जन्म, ओषधि, तपस्या और मन्त्रादिके द्वारा जितनी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सभी योगके द्वारा मिल जाती हैं; परन्तु योगकी अन्तिम सीमा—मेरे सारूप्य, सालोक्य आदिकी प्राप्ति बिना मुझमें चित्त लगाये किसी भी साधनसे नहीं प्राप्त हो सकती ॥ ३४ ॥ ब्रह्मवादियोंने बहुत-से साधन बतलाये हैं—योग, सांख्य और धर्म आदि । उनका एवं समस्त सिद्धियोंका एकमात्र मैं ही हेतु, स्वामी और प्रभु हूँ ॥ ३५ ॥ जैसे स्थूल पञ्चभूतोंमें बाहर, भीतर—सर्वत्र सूक्ष्म पञ्च-महाभूत ही हैं, सूक्ष्म भूतोंके अतिरिक्त स्थूल भूतोंकी कोई सत्ता ही नहीं है, वैसे ही मैं समस्त प्राणियोंके भीतर द्रष्टारूपसे और बाहर दृश्यरूपसे स्थित हूँ । मुझमें बाहर-भीतरका भेद भी नहीं है; क्योंकि मैं निरावरण, एक—अद्वितीय आत्मा हूँ ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

भगवान्‌की विभूतियोंका वर्णन

उद्धव उवाच

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम् ।

सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः ॥ १ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः ।

उद्धवजीने कहा—भगवन् ! आप स्वयं परब्रह्म हैं, न आपका आदि है और न अन्त । आप आवरणरहित, अद्वितीय तत्त्व हैं । समस्त प्राणियों और पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति, रक्षा और प्रलयके कारण भी आप ही हैं । आप ऊँचे-नीचे सभी प्राणियोंमें स्थित हैं; परन्तु जिन लोगोंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया

१. तान् ।

उपासते त्वां भगवन् याथातथ्येन ब्राह्मणाः ॥ २ ॥
येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः ।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद् वदस्व मे ॥ ३ ॥
गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन ।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते॥ ४ ॥
याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते ।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम् ।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः ॥ ७ ॥
स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः ।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि ॥ ८ ॥
अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः ।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥ ९ ॥
अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम् ।
गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः ॥ १० ॥

है, वे आपको नहीं जान सकते। आपकी यथोचित उपासना तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही करते हैं ॥ १-२ ॥ बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि आपके जिन रूपों और विभूतियोंकी परम भक्तिके साथ उपासना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं; वह आप मुझसे कहिये ॥ ३ ॥ समस्त प्राणियोंके जीवनदाता प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं। आप उनमें अपनेको गुप्त रखकर लीला करते रहते हैं। आप तो सबको देखते हैं, परन्तु जगत्‌के प्राणी आपकी मायासे ऐसे मोहित हो रहे हैं कि वे आपको नहीं देख पाते ॥ ४ ॥ अचिन्त्य ऐश्वर्यसम्पन्न प्रभो! पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल तथा दिशा-विदिशाओंमें आपके प्रभावसे युक्त जो-जो भी विभूतियाँ हैं, आप कृपा करके मुझसे उनका वर्णन कीजिये। प्रभो! मैं आपके उन चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जो समस्त तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले हैं ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! तुम प्रश्नका मर्म समझनेवालोंमें शिरोमणि हो। जिस समय कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डवोंका युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय शत्रुओंसे युद्धके लिये तत्पर अर्जुनने मुझसे यही प्रश्न किया था ॥ ६ ॥ अर्जुनके मनमें ऐसी धारणा हुई कि कुटुम्बियोंको मारना, और सो भी राज्यके लिये, बहुत ही निन्दनीय अधर्म है। साधारण पुरुषोंके समान वह यह सोच रहा था कि 'मैं मारनेवाला हूँ और ये सब मरनेवाले हैं।' यह सोचकर वह युद्धसे उपरत हो गया ॥ ७ ॥ तब मैंने रणभूमिमें बहुत-सी युक्तियाँ देकर वीर-शिरोमणि अर्जुनको समझाया था। उस समय अर्जुनने भी मुझसे यही प्रश्न किया था, जो तुम कर रहे हो ॥ ८ ॥ उद्धवजी! मैं समस्त प्राणियोंका आत्मा, हितैषी, सुहृद् और ईश्वर—नियामक हूँ। मैं ही इन समस्त प्राणियों और पदार्थोंके रूपमें हूँ और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयका कारण भी हूँ ॥ ९ ॥ गतिशील पदार्थोंमें मैं गति हूँ। अपने अधीन करनेवालोंमें मैं काल हूँ। गुणोंमें मैं उनकी मूलस्वरूपा साम्यावस्था हूँ और जितने भी गुणवान् पदार्थ हैं, उनमें उनका

गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम् ।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः ॥११॥
हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत् ।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानिच्छन्दसामहम् ॥१२॥
इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट् ।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः ॥१३॥
ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः ।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु ॥१४॥
सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्त्रिणाम् ।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितॄणामहमर्यमा ॥१५॥
मां विद्धयुद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम् ।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम् ॥१६॥
ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम् ।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम् ॥१७॥
उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम् ।
यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥१८॥
नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम् ।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ ॥१९॥
तीर्थानां स्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम् ।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम् ॥२०॥
धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः ।
वनस्पतीनामश्वत्थ ओषधीनामहं यवः ॥२१॥
पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः ।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां भगवानजः ॥२२॥
यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम् ।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः ।२३।
योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम् ।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम् २४

स्वाभाविक गुण हूँ ॥ १० ॥ गुणयुक्त वस्तुओंमें मैं क्रियाशक्तिप्रधान प्रथम कार्य सूत्रात्मा हूँ और महानोंमें ज्ञानशक्तिप्रधान प्रथम कार्य महत्तत्त्व हूँ । सूक्ष्म वस्तुओंमें मैं जीव हूँ और कठिनाईसे वशमें होनेवालोंमें मन हूँ ॥ ११ ॥ मैं वेदोंका अभिव्यक्तिस्थान हिरण्यगर्भ हूँ और मन्त्रोंमें तीन मात्राओं (अ+उ+म) वाला ओंकार हूँ। मैं अक्षरोंमें अकार, छन्दोंमें त्रिपदा गायत्री हूँ ॥ १२ ॥ समस्त देवताओंमें इन्द्र, आठ वसुओंमें अग्नि, द्वादश आदित्योंमें विष्णु और एकादश रुद्रोंमें नीललोहित नामका रुद्र हूँ ॥ १३ ॥ मैं ब्रह्मर्षियोंमें भृगु, राजर्षियोंमें मनु, देवर्षियोंमें नारद और गौओंमें कामधेनु हूँ ॥ १४ ॥ मैं सिद्धेश्वरोंमें कपिल, पक्षियोंमें गरुड़, प्रजापतियोंमें दक्ष प्रजापति और पितरोंमें अर्यमा हूँ ॥ १५ ॥ प्रिय उद्धव ! मैं दैत्योंमें दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, ओषधियोंमें सोमरस एवं यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर हूँ—ऐसा समझो ॥ १६ ॥ मैं गजराजोंमें ऐरावत, जलनिवासियोंमें उनका प्रभु वरुण, तपने और चमकनेवालोंमें सूर्य तथा मनुष्योंमें राजा हूँ ॥ १७ ॥ मैं घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सोना, दण्डधारियोंमें यम और सर्पोंमें वासुकि हूँ ॥ १८ ॥ निष्पाप उद्धवजी ! मैं नागराजोंमें शेषनाग, सींग और दाढ़वाले प्राणियोंमें उनका राजा सिंह, आश्रमोंमें संन्यास और वर्णोंमें ब्राह्मण हूँ ॥ १९ ॥ मैं तीर्थ और नदियोंमें गङ्गा, जलाशयोंमें समुद्र, अस्त्र-शस्त्रोंमें धनुष तथा धनुर्धरोंमें त्रिपुरारि शङ्कर हूँ ॥ २० ॥

मैं निवासस्थानोंमें सुमेरु, दुर्गम स्थानोंमें हिमालय, वनस्पतियोंमें पीपल और धान्योंमें जौ हूँ ॥ २१ ॥ मैं पुरोहितोंमें वसिष्ठ, वेदवेत्ताओंमें बृहस्पति, समस्त सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिक और सन्मार्गप्रवर्तकोंमें भगवान् ब्रह्मा हूँ ॥ २२ ॥ पञ्चमहायज्ञोंमें ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय-यज्ञ) हूँ, व्रतोंमें अहिंसाव्रत और शुद्ध करनेवाले पदार्थोंमें नित्यशुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी एवं आत्मा हूँ ॥ २३ ॥ आठ प्रकारके योगोंमें मैं मनोनिरोधरूप समाधि हूँ । विजयके इच्छुकोंमें रहनेवाला मैं मन्त्र (नीति) बल हूँ, कौशलोंमें आत्मा और अनात्माका विवेकरूप कौशल तथा ख्यातिवादियोंमें विकल्प हूँ ॥२४॥

१. मपि । २. प्रथमो ह्यहम् । ३. मश्वत्थम् । ४. यवाः । ५. सर्वसेनानामग्रणीर्भग० ।

स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः ।
नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम् ॥२५॥
धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः ।
गुह्यानां सूनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम् ॥२६॥
संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित् ॥२७॥
अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः ।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान् २८
वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम् ।
किम्पुरुषाणां हनुमान् विद्याध्राणां सुदर्शनः ॥२९॥
रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम् ।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम् ॥३०॥
व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः ।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३१॥
ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्त्वताम् ।
सात्त्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥३२॥
विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम् ।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः ॥३३॥
अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः ।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः ॥३४॥
ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः ।

मैं स्त्रियोंमें मनुपत्नी शतरूपा, पुरुषोंमें स्वायम्भुव मनु, मुनीश्वरोंमें नारायण और ब्रह्मचारियोंमें सनत्कुमार हूँ॥२५॥ मैं धर्मोंमें कर्मसंन्यास अथवा एषणात्रयके त्यागद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदानरूप सच्चा संन्यास हूँ। अभयके साधनोंमें आत्मस्वरूपका अनुसन्धान हूँ, अभिप्राय-गोपनके साधनोंमें मधुर वचन एवं मौन हूँ और स्त्री-पुरुषके जोड़ोंमें मैं प्रजापति हूँ—जिनके शरीरके दो भागोंसे पुरुष और स्त्रीका पहला जोड़ा पैदा हुआ ॥ २६ ॥ सदा सावधान रहकर जागनेवालोंमें संवत्सररूप काल मैं हूँ, ऋतुओंमें वसन्त, महीनोंमें मार्गशीर्ष और नक्षत्रोंमें अभिजित् हूँ ॥ २७ ॥ मैं युगोंमें सत्ययुग, विवेकियोंमें महर्षि देवल और असित, व्यासोंमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास तथा कवियोंमें मनस्वी शुक्राचार्य हूँ ॥ २८ ॥ सृष्टिकी उत्पत्ति और लय, प्राणियोंके जन्म और मृत्यु तथा विद्या और अविद्याके जाननेवाले भगवानोंमें (विशिष्ट महापुरुषोंमें) मैं वासुदेव हूँ। मेरे प्रेमी भक्तोंमें तुम (उद्धव), किम्पुरुषोंमें हनुमान्, विद्याधरोंमें सुदर्शन (जिसने अजगरके रूपमें नन्दबाबाको ग्रस लिया था और फिर भगवान्‌के पादस्पर्शसे मुक्त हो गया था) मैं हूँ॥२९॥ रत्नोंमें पद्मराग (लाल), सुन्दर वस्तुओंमें कमलकी कली, तृणोंमें कुश और हविष्योंमें गायका घी हूँ॥ ३० ॥ मैं व्यापारियोंमें रहनेवाली लक्ष्मी, छल-कपट करनेवालोंमें द्यूतक्रीडा, तितिक्षुओंकी तितिक्षा (कष्टसहिष्णुता) और सात्त्विक पुरुषोंमें रहनेवाला सत्त्वगुण हूँ ॥ ३१ ॥ मैं बलवानोंमें उत्साह और पराक्रम तथा भगवद्भक्तोंमें भक्तियुक्त निष्काम कर्म हूँ। वैष्णवोंकी पूज्य वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा—इन नौ मूर्तियोंमें मैं पहली एवं श्रेष्ठ मूर्ति वासुदेव हूँ ॥ ३२ ॥ मैं गन्धर्वोंमें विश्वावसु और अप्सराओंमें ब्रह्माजीके दरबारकी अप्सरा पूर्वचित्ति हूँ। पर्वतोंमें स्थिरता और पृथ्वीमें शुद्ध अविकारी गन्ध मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥ मैं जलमें रस, तेजस्वियोंमें परम तेजस्वी अग्नि; सूर्य, चन्द्र और तारोंमें प्रभा तथा आकाशमें उसका एकमात्र गुण शब्द हूँ ॥ ३४ ॥ उद्धवजी ! मैं ब्राह्मणभक्तोंमें बलि, वीरोंमें अर्जुन और प्राणियोंमें उनकी

१. सौनृतम् । २. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—'विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम्'। ३. कामः । ४. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध नहीं है ।

भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसङ्क्रमः ॥३५॥
गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम् ।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम् ॥३६॥
पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् ।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम् ॥३७॥
अहमेतत्प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः ।
मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना ।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥३८॥
संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया ।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः ॥३९॥
तेजःश्रीःकीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः ।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥४०॥
एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः सङ्क्षेपेण विभूतयः ।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते ॥४१॥
वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥४२॥
यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः ।

१. ऽव्यक्तो । २. प्राणम् ।

उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हूँ ॥ ३५ ॥ मैं ही पैरोंमें चलनेकी शक्ति, वाणीमें बोलनेकी शक्ति, पायुमें मल-त्यागकी शक्ति, हाथोंमें पकड़नेकी शक्ति और जननेन्द्रियमें आनन्दोपभोगकी शक्ति हूँ । त्वचामें स्पर्शकी, नेत्रोंमें दर्शनकी, रसनामें स्वाद लेनेकी, कानोंमें श्रवणकी और नासिकामें सूँघनेकी शक्ति भी मैं ही हूँ । समस्त इन्द्रियोंकी इन्द्रिय-शक्ति मैं ही हूँ ॥ ३६ ॥ पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहङ्कार, महत्तत्त्व, पञ्चमहाभूत, जीव, अव्यक्त, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम और उनसे परे रहनेवाला ब्रह्म—ये सब मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥ इन तत्त्वोंकी गणना, लक्षणोंद्वारा उनका ज्ञान तथा तत्त्वज्ञानरूप उसका फल भी मैं ही हूँ । मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही जीव हूँ, मैं ही गुण हूँ और मैं ही गुणी हूँ । मैं ही सबका आत्मा हूँ और मैं ही सब कुछ हूँ । मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं भी नहीं है ॥३८॥ यदि मैं गिनने लगूँ तो किसी समय परमाणुओंकी गणना तो कर सकता हूँ,परन्तु अपनी विभूतियोंकी गणना नहीं कर सकता। क्योंकि जब मेरे रचे हुए कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी भी गणना नहीं हो सकती, तब मेरी विभूतियोंकी गणना तो हो ही कैसे सकती है ॥ ३९ ॥ ऐसा समझो कि जिसमें भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों, वह मेरा ही अंश है ॥ ४० ॥

उद्धवजी ! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार संक्षेपसे विभूतियोंका वर्णन किया । ये सब परमार्थ-वस्तु नहीं हैं, मनोविकारमात्र हैं, क्योंकि मनसे सोची और वाणीसे कही हुई कोई भी वस्तु परमार्थ (वास्तविक) नहीं होती । उसकी एक कल्पना ही होती है ॥ ४१ ॥ इसलिये तुम वाणीको स्वच्छन्दभाषणसे रोको, मनके सङ्कल्प-विकल्प बंद करो । इसके लिये प्राणोंको वशमें करो और इन्द्रियोंका दमन करो । सात्त्विक बुद्धिके द्वारा प्रपञ्चाभिमुख बुद्धिको शान्त करो । फिर तुम्हें संसारके जन्म-मृत्युरूप बीहड़ मार्गमें भटकना नहीं पड़ेगा ॥४२॥ जो साधक बुद्धिके द्वारा वाणी और मनको पूर्णतया

तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥४३॥

तस्मान्मनोवचःप्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः।

मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥४४॥

वशमें नहीं कर लेता, उसके व्रत, तप और दान उसी प्रकार क्षीण हो जाते हैं, जैसे कच्चे घड़ेमें भरा हुआ जल ॥ ४३ ॥ इसलिये मेरे प्रेमी भक्तको चाहिये कि मेरे परायण होकर भक्तियुक्त बुद्धिसे वाणी, मन और प्राणोंका संयम करे । ऐसा कर लेनेपर फिर उसे कुछ करना शेष नहीं रहता। वह कृतकृत्य हो जाता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण

उद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।

वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥

यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् ।

स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तंत् समाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो ।

यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव ॥ ३ ॥

स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन ।

न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः ॥ ४ ॥

वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि ।

सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः ॥ ५ ॥

कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन ।

त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति ॥ ६ ॥

उद्धवजीने कहा—कमलनयन श्रीकृष्ण ! आपने पहले वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवालोंके लिये और सामान्यतः मनुष्यमात्रके लिये उस धर्मका उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है । अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि मनुष्य किस प्रकारसे अपने धर्मका अनुष्ठान करे, जिससे आपके चरणोंमें उसे भक्ति प्राप्त हो जाय ॥ १-२ ॥ प्रभो ! महाबाहु माधव ! पहले आपने हंसरूपसे अवतार ग्रहण करके ब्रह्माजीको अपने परमधर्मका उपदेश किया था ॥ ३ ॥ रिपुदमन ! बहुत समय बीत जानेके कारण वह इस समय मर्त्यलोकमें प्रायः नहीं-सा रह गया है, क्योंकि आपको उसका उपदेश किये बहुत दिन हो गये हैं ॥ ४ ॥ अच्युत ! पृथ्वीमें तथा ब्रह्माकी उस सभामें भी, जहाँ सम्पूर्ण वेद मूर्तिमान् होकर विराजमान रहते हैं, आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं है जो आपके इस धर्मका प्रवचन, प्रवर्त्तन अथवा संरक्षण कर सके ॥ ५ ॥ इस धर्मके प्रवर्तक, रक्षक और उपदेशक आप ही हैं । आपने पहले जैसे मधु दैत्यको मारकर वेदोंकी रक्षा की थी, वैसे ही अपने धर्मकी भी रक्षा कीजिये । स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! जब आप पृथ्वीतलसे अपनी लीला संवरण कर लेंगे, तब तो इस धर्मका लोप ही हो जायगा तो

१. वचोमनःप्राणान् । २. तन्ममा० ।

तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो ॥ ७॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान् हरिः।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम्।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे ॥ ९॥
आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः ॥१०॥
वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥११॥
त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥१२॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥१३॥
गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः॥१४॥

फिर उसे कौन बतावेगा ? ॥ ६ ॥ आप समस्त धर्मोंके मर्मज्ञ हैं; इसलिये प्रभो ! आप उस धर्मका वर्णन कीजिये, जो आपकी भक्ति प्राप्त करानेवाला है । और यह भी बतलाइये कि किसके लिये उसका कैसा विधान है ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब इस प्रकार भक्तशिरोमणि उद्धवजीने प्रश्न किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रसन्न होकर प्राणियोंके लिये उन्हें सनातन धर्मोंका उपदेश किया ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! तुम्हारा प्रश्न धर्ममय है, क्योंकि इससे वर्णाश्रमधर्मी मनुष्योंको परमकल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है । अतः मैं तुम्हें उन धर्मोंका उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ ९ ॥ जिस समय इस कल्पका प्रारम्भ हुआ था और पहला सत्ययुग चल रहा था, उस समय सभी मनुष्योंका 'हंस' नामक एक ही वर्ण था । उस युगमें सब लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे; इसीलिये उसका एक नाम कृतयुग भी है ॥ १० ॥ उस समय केवल प्रणव ही वेद था और तपस्या, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणोंसे युक्त मैं ही वृषभरूपधारी धर्म था । उस समयके निष्पाप एवं परमतपस्वी भक्तजन मुझ हंसस्वरूप शुद्ध परमात्माकी उपासना करते थे ॥ ११ ॥ परम भाग्यवान् उद्धव ! सत्ययुगके बाद त्रेतायुगका आरम्भ होनेपर मेरे हृदयसे श्वास-प्रश्वासके द्वारा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदरूप त्रयीविद्या प्रकट हुई और उस त्रयी-विद्यासे होता, अध्वर्यु और उद्गाताके कर्मरूप तीन भेदोंवाले यज्ञके रूपसे मैं प्रकट हुआ ॥ १२ ॥ विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, भुजासे क्षत्रिय, जंघासे वैश्य और चरणोंसे शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई । उनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरणसे होती है ॥ १३ ॥ उद्धवजी ! विराट् पुरुष भी मैं ही हूँ; इसलिये मेरे ही ऊरुस्थलसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थाश्रम और मस्तकसे संन्यासाश्रमकी उत्पत्ति हुई है ॥ १४ ॥

१. तत्त्वतः सर्व० । २. यस्मात् । ३. त्रेतायुगे । ४. तत्र । ५. वक्षःस्थलाद्वने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः ।

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः ।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥१५॥
शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥१६॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१७॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥१८॥
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१९॥
अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनाम् ॥२०॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥२१॥
द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः ॥२२॥
मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत् ॥२३॥
स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः ।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥२४॥

इन वर्ण और आश्रमोंके पुरुषोंके स्वभाव भी इनके जन्मस्थानोंके अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम हो गये । अर्थात् उत्तम स्थानोंसे उत्पन्न होनेवाले वर्ण और आश्रमोंके स्वभाव उत्तम और अधम स्थानोंसे उत्पन्न होनेवालोंके अधम हुए ॥ १५ ॥ शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमाशीलता, सीधापन, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण वर्णके स्वभाव हैं ॥ १६ ॥ तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मणभक्ति और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं ॥ १७ ॥ आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा करना और धनसञ्चयसे सन्तुष्ट न होना—ये वैश्य वर्णके स्वभाव हैं ॥ १८ ॥ ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्र वर्णके स्वभाव हैं ॥ १९ ॥ अपवित्रता, झूठ बोलना, चोरी करना, ईश्वर और परलोककी परवा न करना, झूठमूठ झगड़ना और काम, क्रोध एवं तृष्णाके वशमें रहना—ये अन्त्यजोंके स्वभाव हैं ॥ २० ॥ उद्धवजी ! चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लिये साधारण धर्म यह है कि मन, वाणी और शरीरसे किसीकी हिंसा न करें; सत्यपर दृढ़ रहें; चोरी न करें; काम, क्रोध तथा लोभसे बचें और जिन कामोंके करनेसे समस्त प्राणियोंकी प्रसन्नता और उनका भला हो, वही करें ॥ २१ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य गर्भाधान आदि संस्कारोंके क्रमसे यज्ञोपवीत संस्काररूप द्वितीय जन्म प्राप्त करके गुरुकुलमें रहे और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रक्खे । आचार्यके बुलानेपर वेदका अध्ययन करे और उसके अर्थका भी विचार करे ॥ २२ ॥ मेखला, मृगचर्म, वर्णके अनुसार दण्ड, रुद्राक्षकी माला, यज्ञोपवीत और कमण्डलु धारण करे । सिरपर जटा रक्खे, शौकीनीके लिये दाँत और वस्त्र न धोवे, रंगीन आसनपर न बैठे और कुश धारण करे ॥ २३ ॥ स्नान, भोजन, हवन, जप और मल-मूत्र-त्यागके समय मौन रहे । और कक्ष तथा गुप्तेन्द्रियके बाल और नाखूनोंको कभी न काटे ॥ २४ ॥

१. चारिणीः । २. आसन्वै गतयो नृणां । ३. विप्रसेवनम् । ४. हर्षश्च । ५. न्त्यावसायिनाम् । ६. चाप्यतः । ७. मन्त्रोच्चारे ।

रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम् ।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत् ॥२५॥
अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्छुचिः ।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ॥२६॥
आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥२७॥
सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत् ।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः ॥२८॥
शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत् ।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः ॥२९॥
एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः ।
विद्या समाप्यते यावद् बिभ्रद् व्रतमखण्डितम् ॥३०॥
यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम् ।
गुरवे विन्यसेद् देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः ॥३१॥
अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम् ।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥३२॥

पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करे । स्वयं तो कभी वीर्यपात करे ही नहीं । यदि स्वप्न आदिमें वीर्य स्खलित हो जाय, तो जलमें स्नान करके प्राणायाम करे एवं गायत्रीका जप करे ॥ २५ ॥ ब्रह्मचारीको पवित्रताके साथ एकाग्रचित्त होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओंकी उपासना करनी चाहिये तथा सायङ्काल और प्रातःकाल मौन होकर सन्ध्योपासन एवं गायत्रीका जप करना चाहिये ॥२६॥ आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझे, कभी उनका तिरस्कार न करे । उन्हें साधारण मनुष्य समझकर दोषदृष्टि न करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है ॥ २७ ॥ सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षामें मिले वह लाकर गुरुदेवके आगे रख दे । केवल भोजन ही नहीं, जो कुछ हो सब । तदनन्तर उनके आज्ञानुसार बड़े संयमसे भिक्षा आदिका यथोचित उपयोग करे ॥ २८ ॥ आचार्य यदि जाते हों तो उनके पीछे-पीछे चले, उनके सो जानेके बाद बड़ी सावधानीसे उनसे थोड़ी दूरपर सोवे। थके हों, तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों तो उनके आदेशकी प्रतीक्षामें हाथ जोड़कर पासमें ही खड़ा रहे । इस प्रकार अत्यन्त छोटे व्यक्तिकी भाँति सेवा-शुश्रूषाके द्वारा सदा-सर्वदा आचार्यकी आज्ञामें तत्पर रहे ॥२९॥ जबतक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाय, तबतक सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर इसी प्रकार गुरुकुलमें निवास करे और कभी अपना ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित न होने दे ॥ ३० ॥

यदि ब्रह्मचारीका विचार हो कि मैं मूर्तिमान् वेदोंके निवासस्थान ब्रह्मलोकमें जाऊँ, तो उसे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण कर लेना चाहिये । और वेदोंके स्वाध्यायके लिये अपना सारा जीवन आचार्यकी सेवामें ही समर्पित कर देना चाहिये ॥ ३१ ॥ ऐसा ब्रह्मचारी सचमुच ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो जाता है और उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । उसे चाहिये कि अग्नि, गुरु, अपने शरीर और समस्त प्राणियोंमें मेरी ही उपासना करे और यह भाव रक्खे कि मेरे तथा सबके हृदयमें एक ही

१. न विकिरेत् । २. वृद्धान् सुरानपि । ३. च न्यसेद्देहम् ।

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम् ।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥३३॥
शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपासनमार्जवम्[1] ।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासंभाष्यवर्जनम् ॥३४॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ॥३५॥
एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ॥३६॥
अथानन्तरमावेक्ष्यन् यथा जिज्ञासितागमः ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदितः ॥३७॥
गृहं वनं वोपविशेत् प्रव्रजेद् वा द्विजोत्तमः ।
आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत् ॥३८॥
गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम् ।
यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनु क्रमात् ॥३९॥

परमात्मा विराजमान है ॥ ३२ ॥ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियोंको चाहिये कि वे स्त्रियोंको देखना, स्पर्श करना, उनसे बातचीत या हँसी-मसखरी आदि करना दूरसे ही त्याग दें; मैथुन करते हुए प्राणियोंपर तो दृष्टिपाततक न करें ॥ ३३ ॥ प्रिय उद्धव ! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप, समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखना, मन, वाणी और शरीरका संयम—यह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—सभीके लिये एक-सा नियम है । अस्पृश्योंको न छूना, अभक्ष्य वस्तुओंको न खाना और जिनसे बोलना नहीं चाहिये उनसे न बोलना—ये नियम भी सबके लिये हैं ॥ ३४-३५ ॥ नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्राह्मण इन नियमोंका पालन करनेसे अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है । तीव्र तपस्याके कारण उसके कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

प्यारे उद्धव ! यदि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण करनेकी इच्छा न हो—गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहता हो, तो विधिपूर्वक वेदाध्ययन समाप्त करके आचार्यको दक्षिणा देकर और उनकी अनुमति लेकर समावर्तन-संस्कार करावे—स्नातक बनकर ब्रह्मचर्याश्रम छोड़ दे ॥३७॥ ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके बाद गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे । यदि ब्राह्मण हो तो संन्यास भी ले सकता है । अथवा उसे चाहिये कि क्रमशः एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रवेश करे । किन्तु मेरा आज्ञाकारी भक्त बिना आश्रमके रहकर अथवा विपरीत क्रमसे आश्रम-परिवर्तन कर स्वेच्छाचारमें न प्रवृत्त हो ॥ ३८ ॥

प्रिय उद्धव ! यदि ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थाश्रम स्वीकार करना हो तो ब्रह्मचारीको चाहिये कि अपने अनुरूप एवं शास्त्रोक्त लक्षणोंसे सम्पन्न कुलीन कन्यासे विवाह करे । वह अवस्थामें अपनेसे छोटी और अपने ही वर्णकी होनी चाहिये । यदि कामवश अन्य वर्णकी कन्यासे और विवाह करना हो, तो क्रमशः अपनेसे निम्न वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकता है ॥ ३९ ॥

१. सन्ध्योपास्तिर्समार्चनम् ।

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥४०॥
प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा[1] दोषदृक् तयोः ॥४१॥
ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥४२॥
शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठ-
न्नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥४३॥
समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम् ।
तानुद्धरिष्ये नचिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥४४॥
सर्वाः समुद्धरेद् राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः ।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान् ॥४५॥
एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा ।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते ॥४६॥
सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत् ।

यज्ञ-यागादि, अध्ययन और दान करनेका अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योंको समानरूपसे है । परन्तु दान लेने, पढ़ाने और यज्ञ करानेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही है ॥ ४० ॥ ब्राह्मणको चाहिये कि इन तीनों वृत्तियोंमें प्रतिग्रह अर्थात् दान लेनेकी वृत्तिको तपस्या, तेज और यशका नाश करनेवाली समझकर पढ़ाने और यज्ञ करानेके द्वारा ही अपना जीवननिर्वाह करे और यदि इन दोनों वृत्तियोंमें भी दोषदृष्टि हो—परावलम्बन, दीनता आदि दोष दीखते हों—तो अन्न कटनेके बाद खेतोंमें पड़े हुए दाने बीनकर ही अपने जीवनका निर्वाह कर ले ॥ ४१ ॥ उद्धव ! ब्राह्मणका शरीर अत्यन्त दुर्लभ है । यह इसलिये नहीं है कि इसके द्वारा तुच्छ विषय-भोग ही भोगे जायँ । यह तो जीवन-पर्यन्त कष्ट भोगने, तपस्या करने और अन्तमें अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करनेके लिये है ॥ ४२ ॥ जो ब्राह्मण घरमें रहकर अपने महान् धर्मका निष्कामभावसे पालन करता है और खेतोंमें तथा बाजारोंमें गिरे-पड़े दाने चुनकर सन्तोषपूर्वक अपने जीवनका निर्वाह करता है, साथ ही अपना शरीर, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा मुझे समर्पित कर देता है और कहीं भी अत्यन्त आसक्ति नहीं करता, वह बिना संन्यास लिये ही परमशान्ति-स्वरूप परमपद प्राप्त कर लेता है ॥ ४३ ॥ जो लोग विपत्तिमें पड़े कष्ट पा रहे मेरे भक्त ब्राह्मणको विपत्तियोंसे बचा लेते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही समस्त आपत्तियोंसे उसी प्रकार बचा लेता हूँ, जैसे समुद्रमें डूबते हुए प्राणीको नौका बचा लेती है ॥ ४४ ॥ राजा पिताके समान सारी प्रजाका कष्टसे उद्धार करे—उन्हें बचावे, जैसे गजराज दूसरे गजोंकी रक्षा करता है और धीर होकर स्वयं अपने आपसे अपना उद्धार करे ॥ ४५ ॥ जो राजा इस प्रकार प्रजाकी रक्षा करता है वह सारे पापोंसे मुक्त होकर अन्तसमयमें सूर्यके समान तेजस्वी विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकमें जाता है और इन्द्रके साथ सुख भोगता है ॥ ४६ ॥ यदि ब्राह्मण अध्यापन अथवा यज्ञ-यागादिसे अपनी जीविका न चला सके, तो वैश्य-वृत्तिका आश्रय ले ले, और जबतक विपत्ति दूर न हो

१. शिल्पैः ।

खड्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥४७॥

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययाऽऽपदि ।
चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥४८॥

शूद्रवृत्तिं भजेद् वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम् ।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥४९॥

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥५०॥

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून् ॥५१॥

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥५२॥

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥५३॥

जाय तबतक करे। यदि बहुत बड़ी आपत्तिका सामना करना हो तो तलवार उठाकर क्षत्रियोंकी वृत्तिसे भी अपना काम चला ले, परन्तु किसी भी अवस्थामें नीचोंकी सेवा—जिसे 'श्वानवृत्ति' कहते हैं—न करे ॥ ४७ ॥ इसी प्रकार यदि क्षत्रिय भी प्रजापालन आदिके द्वारा अपने जीवनका निर्वाह न कर सके तो वैश्यवृत्ति व्यापार आदि कर ले। बहुत बड़ी आपत्ति हो तो शिकारके द्वारा अथवा विद्यार्थियोंको पढ़ाकर अपनी आपत्तिके दिन काट दे, परन्तु नीचोंकी सेवा, 'श्वानवृत्तिका आश्रय कभी न ले ॥ ४८ ॥ वैश्य भी आपत्तिके समय शूद्रोंकी वृत्ति सेवासे अपना जीवन-निर्वाह कर ले और शूद्र चटाई बुनने आदि कारुवृत्तिका आश्रय ले ले; परन्तु उद्धव! ये सारी बातें आपत्तिकालके लिये ही हैं। आपत्तिका समय बीत जानेपर निम्नवर्णोंकी वृत्तिसे जीविकोपार्जन करनेका लोभ न करे ॥ ४९ ॥ गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वेदाध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ, तर्पणरूप पितृयज्ञ, हवनरूप देवयज्ञ, काकबलि आदि भूतयज्ञ और अन्नदानरूप अतिथियज्ञ आदिके द्वारा मेरे स्वरूपभूत ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य एवं अन्य समस्त प्राणियोंकी यथाशक्ति प्रतिदिन पूजा करता रहे ॥ ५० ॥ गृहस्थ पुरुष अनायास प्राप्त अथवा शास्त्रोक्त रीतिसे उपार्जित अपने शुद्ध धनसे अपने भृत्य, आश्रित प्रजाजनको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाते हुए न्याय और विधिके साथ ही यज्ञ करे ॥ ५१ ॥

प्रिय उद्धव! गृहस्थ पुरुष कुटुम्बमें आसक्त न हो। बड़ा कुटुम्ब होनेपर भी भजनमें प्रमाद न करे। बुद्धिमान् पुरुषको यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि जैसे इस लोककी सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं, वैसे ही स्वर्गादि परलोकके भोग भी नाशवान् ही हैं, ॥ ५२ ॥ यह जो स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु और गुरुजनोंका मिलना-जुलना है, यह वैसा ही है, जैसे किसी प्याऊपर कुछ बटोही इकट्ठे हो गये हों। सबको अलग-अलग रास्ते जाना है। जैसे स्वप्न नींद टूटनेतक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलनेवालोंका सम्बन्ध ही बस, शरीरके रहने-तक ही रहता है; फिर तो कौन किसको पूछता है ॥ ५३ ॥

१. शूद्रवृत्तिर्भवेद्वैश्यः। २. कारुकटक्रियः।

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः ॥५४॥

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद् वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत् ॥५५॥

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥५६॥

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः ।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥५७॥

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः ॥५८॥

गृहस्थको चाहिये कि इस प्रकार विचार करके घर-गृहस्थीमें फँसे नहीं, उसमें इस प्रकार अनासक्तभावसे रहे मानो कोई अतिथि निवास कर रहा हो। जो शरीर आदिमें अहङ्कार और घर आदिमें ममता नहीं करता, उसे घर-गृहस्थीके फंदे बाँध नहीं सकते ॥ ५४ ॥ भक्तिमान् पुरुष गृहस्थोचित शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा मेरी आराधना करता हुआ घरमें ही रहे, अथवा यदि पुत्रवान् हो तो वानप्रस्थ आश्रममें चला जाय या संन्यासाश्रम स्वीकार कर ले ॥५५॥ प्रिय उद्धव ! जो लोग इस प्रकारका गृहस्थजीवन न बिताकर घर-गृहस्थीमें ही आसक्त हो जाते हैं, स्त्री, पुत्र और धनकी कामनाओंमें फँसकर हाय-हाय करते रहते और मूढतावश स्त्रीलम्पट और कृपण होकर मैं-मेरेके फेरमें पड़ जाते हैं, वे बँध जाते हैं ॥ ५६ ॥ वे सोचते रहते हैं—'हाय ! हाय ! मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गये; पत्नीके बाल-बच्चे अभी छोटे-छोटे हैं, मेरे न रहनेपर ये दीन, अनाथ और दुखी हो जायँगे; फिर इनका जीवन कैसे रहेगा ?' ॥ ५७ ॥ इस प्रकार घर-गृहस्थीकी वासनासे जिसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वह मूढ-बुद्धि पुरुष विषयभोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता, उन्हींमें उलझकर अपना जीवन खो बैठता है और मरकर घोर तमोमय नरकमें जाता है ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! यदि गृहस्थ मनुष्य वानप्रस्थ आश्रममें जाना चाहे, तो अपनी पत्नीको पुत्रोंके हाथ सौंप दे अथवा अपने साथ ही ले ले और फिर शान्त चित्तसे अपनी आयुका तीसरा भाग वनमें ही रहकर व्यतीत करे ॥ १ ॥ उसे वनके पवित्र कन्द-मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करना चाहिये; वस्त्रकी जगह वृक्षोंकी छाल पहिने अथवा घास-पात और मृगछालासे ही काम निकाल ले ॥ २ ॥

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद् दतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥ ३॥
ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड् जले।
आकण्ठमग्नः शिशिरे एवंवृत्तस्तपश्चरेत्॥ ४॥
अग्निपक्वं समश्नीयात् कालपक्वमथापि वा।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा॥ ५॥
स्वयं संचिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम्।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम्॥ ६॥
वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान्।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी॥ ७॥
अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत्।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः॥ ८॥
एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम्॥ ९॥
यस्त्वेतत् कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत्।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद् बालिशः कोऽपरस्ततः॥ १०॥

केश, रोएँ, नख और मूँछ-दाढ़ीरूप शरीरके मलको हटावे नहीं। दातुन न करे। जलमें घुसकर त्रिकाल स्नान करे और धरतीपर ही पड़ रहे॥ ३॥ ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्नि तपे, वर्षा ऋतुमें खुले मैदानमें रहकर वर्षाकी बौछार सहे। जाड़ेके दिनोंमें गलेतक जलमें डूबा रहे। इस प्रकार घोर तपस्यामय जीवन व्यतीत करे॥ ४॥ कन्द-मूलोंको केवल आगमें भूनकर खा ले अथवा समयानुसार पके हुए फल आदिके द्वारा ही काम चला ले। उन्हें कूटनेकी आवश्यकता हो तो ओखलीमें या सिलपर कूट ले, अन्यथा दाँतोंसे ही चबा-चबाकर खा ले॥ ५॥ वानप्रस्थाश्रमीको चाहिये कि कौन-सा पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये, कौन कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं—इन बातोंको जानकर अपने जीवन-निर्वाहके लिये स्वयं ही सब प्रकारके कन्द-मूल-फल आदि ले आवे। देश-काल आदिसे अनभिज्ञ लोगोंसे लाये हुए अथवा दूसरे समयके सञ्चित पदार्थोंको अपने काममें न ले* ॥ ६॥ नीवार आदि जंगली अन्नसे ही चरु-पुरोडाश आदि तैयार करे और उन्हींसे समयोचित आग्रयण आदि वैदिक कर्म करे। वानप्रस्थ हो जानेपर वेदविहित पशुओंद्वारा मेरा यजन न करे॥ ७॥ वेदवेत्ताओंने वानप्रस्थीके लिये अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्य आदिका वैसा ही विधान किया है, जैसा गृहस्थोंके लिये है॥ ८॥ इस प्रकार घोर तपस्या करते-करते मांस सूख जानेके कारण वानप्रस्थीकी एक-एक नस दीखने लगती है। वह इस तपस्याके द्वारा मेरी आराधना करके पहले तो ऋषियोंके लोकमें जाता है और वहाँसे फिर मेरे पास आ जाता है; क्योंकि तप मेरा ही स्वरूप है॥ ९॥ प्रिय उद्धव! जो पुरुष बड़े कष्टसे किये हुए और मोक्ष देनेवाले इस महान् तपस्याको स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि छोटे-मोटे फलोंकी प्राप्तिके लिये करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा? इसलिये तपस्याका अनुष्ठान निष्कामभावसे ही करना चाहिये॥ १०॥

१. लोम। २. काल्चोदितम्। ३. पौर्णमासः।

* अर्थात् मुनि इस बातको जानकर कि अमुक पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये और कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं, स्वयं ही नवीन-नवीन कन्द-मूल-फल आदिका सञ्चय करे। देश-कालादिसे अनभिज्ञ अन्य जनोंके लाये हुए अथवा कालान्तरमें सञ्चय किये हुए पदार्थोंके सेवनसे व्याधि आदिके कारण तपस्यामें विघ्न होनेकी आशङ्का है।

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ॥ ११ ॥
यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु ।
विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः ॥ १२ ॥
इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे ।
अग्नीन् स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ १३ ॥
विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः ।
विघ्नान् कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात् परम् ॥ १४ ॥

प्यारे उद्धव ! वानप्रस्थी जब अपने आश्रमोचित नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हो जाय, बुढ़ापेके कारण उसका शरीर काँपने लगे, तब यज्ञाग्नियोंको भावनाके द्वारा अपने अन्तःकरणमें आरोपित कर ले और अपना मन मुझमें लगाकर अग्निमें प्रवेश कर जाय। (यह विधान केवल उनके लिये है, जो विरक्त नहीं हैं) ॥ ११ ॥ यदि उसकी समझमें यह बात आ जाय कि काम्य कर्मोंसे उनके फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, वे नरकोंके समान ही दुःखपूर्ण हैं और मनमें लोक-परलोकसे पूरा वैराग्य हो जाय तो विधिपूर्वक यज्ञाग्नियोंका परित्याग करके संन्यास ले ले ॥ १२ ॥ जो वानप्रस्थी संन्यासी होना चाहे, वह पहले वेदविधिके अनुसार आठों प्रकारके श्राद्ध और प्राजापत्य यज्ञसे मेरा यजन करे। इसके बाद अपना सर्वस्व ऋत्विजको दे दे। यज्ञाग्नियोंको अपने प्राणोंमें लीन कर ले और फिर किसी भी स्थान, वस्तु और व्यक्तियोंकी अपेक्षा न रखकर स्वच्छन्द विचरण करे ॥ १३ ॥ उद्धवजी ! जब ब्राह्मण संन्यास लेने लगता है, तब देवतालोग स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धियोंका रूप धारण करके उसके संन्यास-ग्रहणमें विघ्न डालते हैं। वे सोचते हैं कि 'अरे ! यह तो हमलोगोंकी अवहेलना कर, हमलोगोंको लाँघकर परमात्माको प्राप्त होने जा रहा है' ॥ १४ ॥

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किंचिदनापदि ॥ १५ ॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १६ ॥
मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।

यदि संन्यासी वस्त्र धारण करे तो केवल लँगोटी लगा ले और अधिक-से-अधिक उसके ऊपर एक ऐसा छोटा-सा टुकड़ा लपेट ले कि जिसमें लँगोटी ढक जाय। तथा आश्रमोचित दण्ड और कमण्डलुके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु अपने पास न रक्खे। यह नियम आपत्ति-कालको छोड़कर सदाके लिये है ॥ १५ ॥ नेत्रोंसे धरती देखकर पैर रक्खे, कपड़ेसे छानकर जल पीये, मुँहसे प्रत्येक बात सत्यपूत—सत्यसे पवित्र हुई ही निकाले और शरीरसे जितने भी काम करे, बुद्धिपूर्वक—सोच-विचार कर ही करे ॥ १६ ॥ वाणीके लिये मौन, शरीरके लिये निश्चेष्ट स्थिति और मनके लिये प्राणायाम दण्ड हैं। प्यारे उद्धव ! जिसके पास ये तीनों दण्ड नहीं

१. धर्मविपाकेषु । २. ह्यस्य । ३. विघ्नम् । ४. जलं पिबेत् ।

न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ॥१७॥

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत् ।
सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥१८॥

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः ।
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥१९॥

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः ॥२०॥

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः ।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥२१॥

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥२२॥

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः ।
विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्ध्वाऽऽत्मनि सुखं महत् ॥२३॥

पुरग्रामव्रजान् सार्थान् भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत् ।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम् ॥२४॥

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ।
संसिध्यत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ॥२५॥

हैं, वह केवल बाँसके दण्ड धारण करनेसे दण्डी स्वामी नहीं हो जाता है ॥ १७ ॥ संन्यासीको चाहिये कि जातिच्युत और गोघाती आदि पतितोंको छोड़कर चारों वर्णोंकी भिक्षा ले । केवल अनिश्चित सात घरोंसे जितना मिल जाय, उतनेसे ही सन्तोष कर ले ॥ १८ ॥ इस प्रकार भिक्षा लेकर बस्तीके बाहर जलाशयपर जाय, वहाँ हाथ-पैर धोकर जलके द्वारा भिक्षा पवित्र कर ले, फिर शास्त्रोक्त पद्धतिसे जिन्हें भिक्षाका भाग देना चाहिये, उन्हें देकर जो कुछ बचे उसे मौन होकर खा ले; दूसरे समयके लिये बचाकर न रखे और न अधिक माँगकर ही लावे ॥ १९ ॥ संन्यासीको पृथ्वीपर अकेले ही विचरना चाहिये । उसकी कहीं भी आसक्ति न हो, सब इन्द्रियाँ अपने वशमें हों । वह अपने-आपमें ही मस्त रहे, आत्म-प्रेममें ही तन्मय रहे, प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी धैर्य रखे और सर्वत्र समानरूपसे स्थित परमात्माका अनुभव करता रहे ॥ २० ॥ संन्यासीको निर्जन और निर्भय एकान्त-स्थानमें रहना चाहिये । उसका हृदय निरन्तर मेरी भावनासे विशुद्ध बना रहे । वह अपने आपको मुझसे अभिन्न और अद्वितीय, अखण्डके रूपमें चिन्तन करे ॥ २१ ॥ वह अपनी ज्ञाननिष्ठासे चित्तके बन्धन और मोक्षपर विचार करे तथा निश्चय करे कि इन्द्रियोंका विषयोंके लिये विक्षिप्त होना—चञ्चल होना बन्धन है और उनको संयममें रखना ही मोक्ष है ॥ २२ ॥ इसलिये संन्यासीको चाहिये कि मन एवं पाँचों ज्ञानेन्द्रियों-को जीत ले, भोगोंकी क्षुद्रता समझकर उनकी ओरसे सर्वथा मुँह मोड़ ले और अपने-आपमें ही परम आनन्द-का अनुभव करे । इस प्रकार वह मेरी भावनासे भरकर पृथ्वीमें विचरता रहे ॥ २३ ॥ केवल भिक्षाके लिये ही नगर, गाँव, अहीरोंकी बस्ती या यात्रियोंकी टोलीमें जाय । पवित्र देश, नदी, पर्वत, वन और आश्रमोंसे पूर्ण पृथ्वीमें बिना कहीं ममता जोड़े घूमता-फिरता रहे ॥ २४ ॥ भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियोंके आश्रमसे ही ग्रहण करे । क्योंकि कटे हुए खेतोंके दानेसे बनी हुई भिक्षा शीघ्र ही चित्तको शुद्ध कर देती है और उससे बचा-खुचा मोह दूर होकर सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥२५॥

१. ष्वांद्।

नैतद् वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति ।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात् ॥२६॥

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम् ।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत् ॥२७॥

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः ।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥२८॥

बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥२९॥

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः ।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित् पक्षं समाश्रयेत् ॥३०॥

नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
देहमुद्दिश्य पशुवद् वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥३१॥

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥३२॥

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।

विचारवान् संन्यासी दृश्यमान जगत्‌को सत्य वस्तु कभी न समझे; क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही नाशवान् है । इस जगत्‌में कहीं भी अपने चित्तको लगाये नहीं । इस लोक और परलोकमें जो कुछ करने-पानेकी इच्छा हो, उससे विरक्त हो जाय ॥ २६ ॥ संन्यासी विचार करे कि आत्मामें जो मन, वाणी और प्राणोंका सङ्घात-रूप यह जगत् है, वह सारा-का-सारा माया ही है । इस विचारके द्वारा इसका बाध करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय और फिर कभी उसका स्मरण भी न करे ॥ २७ ॥ ज्ञाननिष्ठ, विरक्त मुमुक्षु और मोक्षकी भी अपेक्षा न रखनेवाला मेरा भक्त आश्रमोंकी मर्यादामें बद्ध नहीं है । वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिह्नोंको छोड़-छाड़कर, वेद-शास्त्रके विधि-निषेधोंसे परे होकर स्वच्छन्द विचरे ॥ २८ ॥ वह बुद्धिमान् होकर भी बालकोंके समान खेले । निपुण होकर भी जडवत् रहे, विद्वान् होकर भी पागलकी तरह बातचीत करे और समस्त वेद-विधियोंका जानकार होकर भी पशुवृत्तिसे (अनियत आचारवान्) रहे ॥ २९ ॥ उसे चाहिये कि वेदोंके कर्मकाण्ड-भागकी व्याख्यामें न लगे, पाखण्ड न करे, तर्क-वितर्कसे बचे और जहाँ कोरा वाद-विवाद हो रहा हो, वहाँ कोई पक्ष न ले ॥ ३० ॥ वह इतना धैर्यवान् हो कि उसके मनमें किसी भी प्राणीसे उद्वेग न हो और वह स्वयं भी किसी प्राणीको उद्विग्न न करे । उसकी कोई निन्दा करे, तो प्रसन्नतासे सह ले; किसीका अपमान न करे । प्रिय उद्धव ! संन्यासी इस शरीरके लिये किसीसे भी वैर न करे । ऐसा वैर तो पशु करते हैं ॥ ३१ ॥ जैसे एक ही चन्द्रमा जलसे भरे हुए विभिन्न पात्रोंमें अलग-अलग दिखायी देता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त प्राणियोंमें और अपनेमें भी स्थित है । सबकी आत्मा तो एक है ही, पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीर भी सबके एक ही हैं, क्योंकि सब पाञ्च-भौतिक ही तो हैं । (ऐसी अवस्थामें किसीसे भी वैर-विरोध करना अपना ही वैर-विरोध है) ॥ ३२ ॥

प्रिय उद्धव ! संन्यासीको किसी दिन यदि समयपर भोजन न मिले, तो उसे दुखी नहीं होना चाहिये और

लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥३३॥

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत् प्राणधारणम् ।

तत्त्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते ॥३४॥

यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ।

तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥३५॥

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् ।

अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥३६॥

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता ।

आदेहान्तात् क्वचित् ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया॥३७॥

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान् ।

अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत्[1] ॥३८॥

तावत् परिचरेद् भक्तः श्रद्धावाननसूयकः ।

यावद् ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥३९॥

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।

यदि बराबर मिलता रहे, तो हर्षित न होना चाहिये । उसे चाहिये कि वह धैर्य रक्खे । मनमें हर्ष और विषाद दोनों प्रकारके विकार न आने दे; क्योंकि भोजन मिलना और न मिलना दोनों ही प्रारब्धके अधीन हैं ॥ ३३ ॥ भिक्षा अवश्य माँगनी चाहिये, ऐसा करना उचित ही है; क्योंकि भिक्षासे ही प्राणोंकी रक्षा होती है । प्राण रहनेसे ही तत्त्वका विचार होता है और तत्त्वविचारसे तत्त्वज्ञान होकर मुक्ति मिलती है ॥ ३४ ॥ संन्यासीको प्रारब्धके अनुसार अच्छी या बुरी—जैसी भी भिक्षा मिल जाय, उसीसे पेट भर ले । वस्त्र और बिछौने भी जैसे मिल जायँ, उन्हींसे काम चला ले । उनमें अच्छेपन या बुरेपनकी कल्पना न करे ॥ ३५ ॥ जैसे मैं परमेश्वर होनेपर भी अपनी लीलासे ही शौच आदि शास्त्रोक्त नियमोंका पालन करता हूँ, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ पुरुष भी शौच, आचमन, स्नान और दूसरे नियमोंका लीलासे ही आचरण करे । वह शास्त्रविधिके अधीन होकर—विधि-किङ्कर होकर न करे ॥ ३६ ॥ क्योंकि ज्ञाननिष्ठ पुरुष-को भेदकी प्रतीति ही नहीं होती । जो पहले थी, वह भी मुझ सर्वात्माके साक्षात्कारसे नष्ट हो गयी । यदि कभी-कभी मरणपर्यन्त बाधित भेदकी प्रतीति भी होती है, तब भी देहपात हो जानेपर वह मुझसे एक हो जाता है ॥ ३७ ॥

उद्धवजी ! (यह तो हुई ज्ञानवान्‌की बात, अब केवल वैराग्यवान्‌की बात सुनो ।) जितेन्द्रिय पुरुष, जब यह निश्चय हो जाय कि संसारके विषयोंके भोगका फल दुःख-ही-दुःख है, तब वह विरक्त हो जाय और यदि वह मेरी प्राप्तिके साधनोंको न जानता हो तो भगवच्चिन्तनमें तन्मय रहनेवाले ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी शरण ग्रहण करे ॥ ३८ ॥ वह गुरुकी दृढ़ भक्ति करे, श्रद्धा रक्खे और उनमें दोष कभी न निकाले । जबतक ब्रह्मका ज्ञान हो, तबतक बड़े आदरसे मुझे ही गुरुके रूपमें समझता हुआ उनकी सेवा करे ॥ ३९ ॥ किन्तु जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन, इन छहोंपर विजय नहीं प्राप्त की है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथी

[1] १. पव्रजेत् ।

ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥४०॥

सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा ।

अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥४१॥

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः[1] ।

गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥४२॥

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।

गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥४३॥

इति मां यः स्वधर्मेण भजन् नित्यमनन्यभाक् ।

सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ॥४४॥

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥४५॥

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः ।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो नचिरात् समुपैति माम् ॥४६॥

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः ।

स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥४७॥

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम् ।

यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम् ॥४८॥

बिगड़े हुए हैं और जिसके हृदयमें न ज्ञान है और न तो वैराग्य, वह यदि त्रिदण्डी संन्यासीका वेष धारणकर पेट पालता है तो वह संन्यासधर्मका सत्तानाश ही कर रहा है और अपने पूज्य देवताओंको, अपने-आपको और अपने हृदयमें स्थित मुझको ठगनेकी चेष्टा करता है। अभी उस वेषमात्रके संन्यासीकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं; इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनोंसे हाथ धो बैठता है ॥ ४०-४१ ॥ संन्यासीका मुख्य धर्म है—शान्ति और अहिंसा। वानप्रस्थीका मुख्य धर्म है—तपस्या और भगवद्भाव। गृहस्थका मुख्य धर्म है—प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ-याग तथा ब्रह्मचारीका मुख्य धर्म है—आचार्यकी सेवा ॥ ४२ ॥ गृहस्थ भी केवल ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रीका सहवास करे। उसके लिये भी ब्रह्मचर्य, तपस्या, शौच, सन्तोष और समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमभाव—ये मुख्य धर्म हैं। मेरी उपासना तो सभीको करनी चाहिये ॥ ४३ ॥ जो पुरुष इस प्रकार अनन्यभावसे अपने वर्णाश्रमधर्मके द्वारा मेरी सेवामें लगा रहता है और समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करता रहता है, उसे मेरी अविचल भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ४४ ॥ उद्धवजी! मैं सम्पूर्ण लोकोंका एकमात्र स्वामी, सबकी उत्पत्ति और प्रलयका परमकारण ब्रह्म हूँ। नित्य-निरन्तर बढ़नेवाली अखण्ड भक्तिके द्वारा वह मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥ इस प्रकार वह गृहस्थ अपने धर्मपालनके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध करके मेरे ऐश्वर्यको—मेरे स्वरूपको जान लेता है और ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥ मैंने तुम्हें यह सदाचाररूप वर्णाश्रमियोंका धर्म बतलाया है। यदि इस धर्मानुष्ठानमें मेरी भक्तिका पुट लग जाय, तब तो इससे अनायास ही परमकल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाय ॥ ४७ ॥ साधुस्वभाव उद्धव! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया और यह बतला दिया कि अपने धर्मका पालन करनेवाला भक्त मुझ परब्रह्मस्वरूपको किस प्रकार प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

१. वनौकसाम् ।

अथैकोनविंशोऽध्यायः

भक्ति, ज्ञान और यम-नियमादि साधनोंका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान् नानुमानिकः।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत्॥ १॥
ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः॥ २॥
ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्॥ ३॥
तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता॥ ४॥
तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः॥ ५॥
ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वाऽऽत्मानमात्मनि।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन्॥ ६॥
त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तराऽऽपतति नाद्यपवर्गयोर्यत्।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! जिसने उपनिषदादि शास्त्रोंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, जो श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ है, जिसका निश्चय केवल युक्तियों और अनुमानों-पर ही निर्भर नहीं करता, दूसरे शब्दोंमें—जो केवल परोक्षज्ञानी नहीं है, वह यह जानकर कि सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च और इसकी निवृत्तिका साधन वृत्तिज्ञान मायामात्र है, उन्हें मुझमें लीन कर दे, वे दोनों ही मुझ आत्मामें अध्यस्त हैं, ऐसा जान ले॥ १॥ ज्ञानी पुरुषका अभीष्ट पदार्थ मैं ही हूँ, उसके साधन-साध्य, स्वर्ग और अपवर्ग भी मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और किसी भी पदार्थसे वह प्रेम नहीं करता॥ २॥ जो ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न सिद्धपुरुष हैं, वे ही मेरे वास्तविक स्वरूपको जानते हैं। इसीलिये ज्ञानी पुरुष मुझे सबसे प्रिय है। उद्धवजी! ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानके द्वारा निरन्तर मुझे अपने अन्तःकरणमें धारण करता है॥ ३॥ तत्त्वज्ञानके लेशमात्रका उदय होनेसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह तपस्या, तीर्थ, जप, दान अथवा अन्तः-करणशुद्धिके और किसी भी साधनसे पूर्णतया नहीं हो सकती॥ ४॥ इसलिये मेरे प्यारे उद्धव! तुम ज्ञानके सहित अपने आत्मस्वरूपको जान लो और फिर ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर भक्तिभावसे मेरा भजन करो॥ ५॥ बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञके द्वारा अपने अन्तःकरणमें मुझ सब यज्ञोंके अधिपति आत्माका यजन करके परम सिद्धि प्राप्त की है॥ ६॥ उद्धव! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन विकारोंकी समष्टि ही शरीर है और वह सर्वथा तुम्हारे आश्रित है। यह पहले नहीं था और अन्तमें नहीं रहेगा; केवल बीचमें ही दीख रहा है। इसलिये इसे जादूके खेलके समान माया ही समझनी चाहिये। इसके जो जन्मना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट

१. सम्यद्धाः। २. शुद्धिम्।

जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये ॥ ७ ॥

होना—ये छः भावविकार हैं, इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं, ये विकार उसके भी नहीं हैं; क्योंकि वह स्वयं असत् है। असत् वस्तु तो पहले नहीं थी, बादमें भी नहीं रहेगी; इसलिये बीचमें भी उसका कोई अस्तित्व नहीं होता ॥ ७ ॥

उद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैत-
द्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम्।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम्॥ ८ ॥
तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
संतप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥
दष्टं जनं सम्पतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम्।
समुद्धरैनं कृपयाऽऽपवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव ॥ १० ॥

उद्धवजीने कहा—विश्वरूप परमात्मन्! आप ही विश्वके स्वामी हैं। आपका यह वैराग्य और विज्ञानसे युक्त सनातन एवं विशुद्ध ज्ञान जिस प्रकार सुदृढ हो जाय, उसी प्रकार मुझे स्पष्ट करके समझाइये और उस अपने भक्तियोगका भी वर्णन कीजिये, जिसे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ढूँढ़ा करते हैं ॥ ८ ॥ मेरे स्वामी! जो पुरुष इस संसारके विकट मार्गमें तीनों तापोंके थपेड़े खा रहे हैं और भीतर-बाहर जल-भुन रहे हैं, उनके लिये आपके अमृतवर्षी युगल चरणारविन्दोंकी छत्र-छायाके अतिरिक्त और कोई भी आश्रय नहीं दीखता ॥ ९ ॥ महानुभाव! आपका यह अपना सेवक अँधेरे कुएँमें पड़ा हुआ है, कालरूपी सर्पने इसे डस रक्खा है; फिर भी विषयोंके क्षुद्र सुख-भोगोंकी तीव्र तृष्णा मिटती नहीं, बढ़ती ही जा रही है। आप कृपा करके इसका उद्धार कीजिये और इससे मुक्त करनेवाली वाणीकी सुधा-धारासे इसे सराबोर कर दीजिये ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

इत्थमेतत् पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम्।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥ ११ ॥
निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः।
श्रुत्वा धर्मान् बहून् पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत ॥ १२ ॥
तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान्।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान्[2] ॥ १३ ॥
नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी! जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है, यही प्रश्न धर्मराज युधिष्ठिरने धार्मिकशिरोमणि भीष्मपितामहसे किया था। उस समय हम सभी लोग वहाँ विद्यमान थे ॥ ११ ॥ जब भारतीय महायुद्ध समाप्त हो चुका था और धर्मराज युधिष्ठिर अपने स्वजन-सम्बन्धियोंके संहारसे शोक-विह्वल हो रहे थे, तब उन्होंने भीष्मपितामहसे बहुत-से धर्मोंका विवरण सुननेके पश्चात् मोक्षके साधनोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया था ॥ १२ ॥ उस समय भीष्मपितामहके मुखसे सुने हुए मोक्ष धर्म मैं तुम्हें सुनाऊँगा। क्योंकि वे ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान, श्रद्धा और भक्तिके भावोंसे परिपूर्ण हैं ॥ १३ ॥ उद्धवजी! जिस ज्ञानसे प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—ये नौ, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और

१. प्राचीन प्रतिमें श्लोक ९। 'तापत्रयेणा' ' 'से ११ वें श्लोकके पूर्वार्द्ध ' ' 'धर्मभृतां वरम्।' तकका पाठ नहीं है।

२. ज्ञानविज्ञानवैराग्य०।

ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥१४॥

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।

स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात् ।

पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥१६॥

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।

प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते ॥१७॥

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम् ।

विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥१८॥

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।

पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥१९॥

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।

परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥२०॥

एक मन—ये ग्यारह, पाँच महाभूत और तीन गुण अर्थात् इन अट्ठाईस तत्त्वोंको ब्रह्मासे लेकर तृणतक सम्पूर्ण कार्योंमें देखा जाता है और इनमें भी एक परमात्म-तत्त्वको अनुगत रूपसे देखा जाता है—वह परोक्षज्ञान है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ १४ ॥ जब जिस एक तत्त्वसे अनुगत एकात्मक तत्त्वोंको पहले देखता था, उनको पहलेके समान न देखे, किन्तु एक परमकारण ब्रह्मको ही देखे, तब यही निश्चित विज्ञान (अपरोक्षज्ञान) कहा जाता है । (इस ज्ञान और विज्ञानको प्राप्त करनेकी युक्ति यह है कि) यह शरीर आदि जितने भी त्रिगुणात्मक सावयव पदार्थ हैं, उनकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयका विचार करे ॥ १५ ॥ जो तत्त्ववस्तु सृष्टिके प्रारम्भमें और अन्तमें कारणरूपसे स्थित रहती है, वही मध्यमें भी रहती है और वही प्रतीयमान कार्यसे प्रतीयमान कार्यान्तरमें अनुगत भी होती है । फिर उन कार्योंका प्रलय अथवा बाध होनेपर उसके साक्षी एवं अधिष्ठान रूपसे शेष रह जाती है। वही सत्य परमार्थ वस्तु है, ऐसा समझे ॥ १६ ॥ श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (महापुरुषोंमें प्रसिद्धि) और अनुमान—प्रमाणोंमें यह चार मुख्य हैं। इनकी कसौटीपर कसनेसे दृश्य प्रपञ्च अस्थिर, नश्वर एवं विकारी होनेके कारण सत्य सिद्ध नहीं होता, इसलिये विवेकी पुरुष इस विविध कल्पनारूप अथवा शब्दमात्र प्रपञ्चसे विरक्त हो जाता है ॥ १७ ॥ विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह स्वर्गादि फल देनेवाले यज्ञादि कर्मोंके परिणामी—नश्वर होनेके कारण ब्रह्मलोकपर्यन्त स्वर्गादि सुख—अदृष्टको भी इस प्रत्यक्ष विषय-सुखके समान ही अमङ्गल, दुःखदायी एवं नाशवान् समझे ॥ १८ ॥

निष्पाप उद्धवजी ! भक्तियोगका वर्णन मैं तुम्हें पहले ही सुना चुका हूँ; परन्तु उसमें तुम्हारी बहुत प्रीति है, इसलिये मैं तुम्हें फिरसे भक्ति प्राप्त होनेका श्रेष्ठ साधन बतलाता हूँ ॥ १९॥ जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह मेरी अमृतमयी कथामें श्रद्धा रक्खे; निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामोंका सङ्कीर्तन करे; मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा रक्खे और स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति करे ॥ २० ॥

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥२१॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥२२॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ॥२३॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते।२४।

मेरी सेवा-पूजामें प्रेम रक्खे और सामने साष्टाङ्ग लोटकर प्रणाम करे; मेरे भक्तोंकी पूजा मेरी पूजासे बढ़कर करे और समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखे ॥ २१ ॥ अपने एक-एक अङ्गकी चेष्टा केवल मेरे ही लिये करे, वाणीसे मेरे ही गुणोंका गान करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे तथा सारी कामनाएँ छोड़ दे ॥ २२ ॥ मेरे लिये धन, भोग और प्राप्त सुखका भी परित्याग कर दे और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाय, वह सब मेरे लिये ही करे ॥ २३ ॥ उद्धवजी ! जो मनुष्य इन धर्मोंका पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्म-निवेदन कर देते हैं, उनके हृदयमें मेरी प्रेममयी भक्तिका उदय होता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसके लिये और किस दूसरी वस्तुका प्राप्त होना शेष रह जाता है ? ॥ २४ ॥

यदाऽऽत्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते[1] ॥२५॥
यदर्पितं तद् विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥२६॥
धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ॥२७॥

इस प्रकारके धर्मोंका पालन करनेसे चित्तमें जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और वह शान्त होकर आत्मामें लग जाता है ! उस समय साधकको धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥ यह संसार विविध कल्पनाओंसे भरपूर है । सच पूछो तो इसका नाम तो है, किन्तु कोई वस्तु नहीं है । जब चित्त इसमें लगा दिया जाता है, तब इन्द्रियोंके साथ इधर-उधर भटकने लगता है । इस प्रकार चित्तमें रजोगुणकी बाढ़ आ जाती है, वह असत् वस्तुमें लग जाता है और उसके धर्म, ज्ञान आदि तो लुप्त हो ही जाते हैं, वह अधर्म, अज्ञान और मोहका भी घर बन जाता है ॥२६॥ उद्धव ! जिससे मेरी भक्ति हो, वही धर्म है; जिससे ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्कार हो, वही ज्ञान है; विषयोंसे असङ्ग—निर्लेप रहना ही वैराग्य है और अणिमादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं ॥ २७ ॥

उद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन ।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो।२८।
किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते ।

उद्धवजीने कहा—रिपुसूदन ! यम और नियम कितने प्रकारके हैं ? श्रीकृष्ण ! शम क्या है ? दम क्या है ? प्रभो ! तितिक्षा और धैर्य क्या है ? ॥ २८ ॥ आप मुझे दान, तपस्या, शूरता, सत्य और ऋतका भी

[1] १. वा प्रपद्यते ।

कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥२९॥
पुंसः किंस्विद् बलं श्रीमन् भगो लाभश्च केशव ।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥३०॥
कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः ।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम् ॥३१॥
क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः ।
एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते ॥३२॥

स्वरूप बतलाइये । त्याग क्या है ? अभीष्ट धन कौन-सा है ? यज्ञ किसे कहते हैं ? और दक्षिणा क्या वस्तु है ? ॥ २९ ॥ श्रीमान् केशव ! पुरुषका सच्चा बल क्या है ? भग किसे कहते हैं और लाभ क्या वस्तु है ? उत्तम विद्या, लज्जा, श्री तथा सुख और दुःख क्या हैं ? ॥ ३० ॥ पण्डित और मूर्खके लक्षण क्या हैं ? सुमार्ग और कुमार्गका क्या लक्षण है ? स्वर्ग और नरक क्या हैं ? भाई-बन्धु किसे मानना चाहिये ? और घर क्या है ? ॥ ३१ ॥ धनवान् और निर्धन किसे कहते हैं ? कृपण कौन है ? और ईश्वर किसे कहते हैं ? भक्तवत्सल प्रभो ! आप मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये और साथ ही इनके विरोधी भावोंकी भी व्याख्या कीजिये ॥ ३२ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥३३॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥३४॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥३५॥
शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥३६॥
दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं[1] च समदर्शनम् ॥३७॥
ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ॥३८॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'यम' बारह हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), असङ्गता, लज्जा, असञ्चय (आवश्यकतासे अधिक धन आदि न जोड़ना), आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय । नियमोंकी संख्या भी बारह ही हैं । शौच (बाहरी पवित्रता और भीतरी पवित्रता), जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथिसेवा, मेरी पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकारकी चेष्टा, सन्तोष और गुरुसेवा—इस प्रकार 'यम' और 'नियम' दोनोंकी संख्या बारह-बारह हैं । ये सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके साधकोंके लिये उपयोगी हैं । उद्धवजी ! जो पुरुष इनका पालन करते हैं, वे यम और नियम उनके इच्छानुसार उन्हें भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करते हैं ॥ ३३—३५ ॥ बुद्धिका मुझमें लग जाना ही 'शम' है । इन्द्रियोंके संयमका नाम 'दम' है । न्यायसे प्राप्त दुःखके सहनेका नाम 'तितिक्षा' है । जिह्वा और जननेन्द्रियपर विजय प्राप्त करना 'धैर्य' है ॥ ३६ ॥ किसीसे द्रोह न करना सबको अभय देना 'दान' है । कामनाओंका त्याग करना ही 'तप' है । अपनी वासनाओंपर विजय प्राप्त करना ही 'शूरता' है । सर्वत्र समस्वरूप, सत्यस्वरूप परमात्माका दर्शन ही 'सत्य' है ॥ ३७ ॥ इसी प्रकार सत्य और मधुर भाषणको ही महात्माओंने 'ऋत' कहा है । कर्मोंमें आसक्त न होना ही 'शौच' है । कामनाओंका त्याग ही सच्चा 'संन्यास' है ॥ ३८ ॥

१. सत्यं शौर्यं च ।

धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम् ॥३९॥
भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा हीरकर्मसु ॥४०॥
श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ॥४१॥
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥४२॥
नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥४३॥
दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ॥४४॥
एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः ।
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥४५॥

धर्म ही मनुष्योंका अभीष्ट 'धन' है । मैं परमेश्वर ही 'यज्ञ' हूँ । ज्ञानका उपदेश देना ही 'दक्षिणा' है। प्राणायाम ही श्रेष्ठ 'बल' है ।३९। मेरा ऐश्वर्य ही 'भग' है, मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही उत्तम 'लाभ' है, सच्ची 'विद्या' वही है जिससे ब्रह्म और आत्माका भेद मिट जाता है । पाप करनेसे घृणा होनेका नाम ही 'लज्जा' है ॥ ४०॥ निरपेक्षता आदि गुण ही शरीरका सच्चा सौन्दर्य—'श्री' है, दुःख और सुख दोनोंकी भावनाका सदाके लिये नष्ट हो जाना ही 'सुख' है । विषयभोगोंकी कामना ही 'दुःख' है । जो बन्धन और मोक्षका तत्त्व जानता है, वही 'पण्डित' है ॥ ४१ ॥ शरीर आदिमें जिसका मैंपन है, वही 'मूर्ख' है। जो संसारकी ओरसे निवृत्त करके मुझे प्राप्त करा देता है, वही सच्चा 'सुमार्ग' है । चित्तकी बहिर्मुखता ही 'कुमार्ग' है । सत्त्वगुणकी वृद्धि ही 'स्वर्ग' और सखे ! तमोगुणकी वृद्धि ही 'नरक' है । गुरु ही सच्चा 'भाई-बन्धु' है और वह गुरु मैं हूँ । यह मनुष्य-शरीर ही सच्चा 'घर' है तथा सच्चा 'धनी' वह है, जो गुणोंसे सम्पन्न है, जिसके पास गुणोंका खजाना है ॥४२-४३ ॥ जिसके चित्तमें असन्तोष है, अभावका बोध है, वही 'दरिद्र' है । जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही 'कृपण' है । समर्थ, स्वतन्त्र और 'ईश्वर' वह है जिसकी चित्तवृत्ति विषयोंमें आसक्त नहीं है । इसके विपरीत जो विषयोंमें आसक्त है, वही सर्वथा 'असमर्थ' है ॥ ४४ ॥ प्यारे उद्धव ! तुमने जितने प्रश्न पूछे थे, उनका उत्तर मैंने दे दिया; इनको समझ लेना मोक्ष-मार्गके लिये सहायक है । मैं तुम्हें गुण और दोषोंका लक्षण अलग-अलग कहाँतक बताऊँ ? सबका सारांश इतनेमें ही समझ लो कि गुणों और दोषोंपर दृष्टि जाना ही सबसे बड़ा दोष है और गुण-दोषोंपर दृष्टि न जाकर अपने शान्त निःसङ्कल्प स्वरूपमें स्थित रहे—वही सबसे बड़ा गुण है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

१. महेश्वरो ।

अथ विंशोऽध्यायः

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग

उद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥ १ ॥

वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् ।
द्रव्यदेशवयःकालान् स्वर्गं नरकमेव च ॥ २ ॥

गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव ।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥ ३ ॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥ ४ ॥

गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते[1] न हि स्वतः ।
निगमेनापवादश्च[2] भिदाया इति ह भ्रमः ॥ ५ ॥

उद्धवजीने कहा—कमलनयन श्रीकृष्ण ! आप सर्वशक्तिमान् हैं । आपकी आज्ञा ही वेद है; उसमें कुछ कर्मोंको करनेकी विधि है और कुछके करनेका निषेध है । यह विधि-निषेध कर्मोंके गुण और दोषकी परीक्षा करके ही तो होता है ॥ १ ॥ वर्णाश्रम-भेद, प्रतिलोम और अनुलोमरूप वर्णसंकर, कर्मोंके उपयुक्त और अनुपयुक्त द्रव्य, देश, आयु और काल तथा स्वर्ग और नरकके भेदोंका बोध भी वेदोंसे ही होता है ॥ २ ॥ इसमें संदेह नहीं कि आपकी वाणी ही वेद है, परन्तु उसमें विधि-निषेध ही तो भरा पड़ा है । यदि उसमें गुण और दोषमें भेद करनेवाली दृष्टि न हो, तो वह प्राणियोंका कल्याण करनेमें समर्थ ही कैसे हो ? ॥३॥ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ! आपकी वाणी वेद ही 'पितर' देवता और मनुष्योंके लिये श्रेष्ठ मार्ग-दर्शकका काम करता है; क्योंकि उसीके द्वारा स्वर्ग-मोक्ष आदि अदृष्ट वस्तुओंका बोध होता है और इस लोकमें भी किसका कौन-सा साध्य है और क्या साधन—इसका निर्णय भी उसीसे होता है ॥ ४ ॥ प्रभो ! इसमें सन्देह नहीं कि गुण और दोषोंमें भेददृष्टि आपकी वाणी वेदके ही अनुसार है, किसीकी अपनी कल्पना नहीं; परन्तु प्रश्न तो यह है कि आपकी वाणी ही भेदका निषेध भी करती है । यह विरोध देखकर मुझे भ्रम हो रहा है । आप कृपा करके मेरा यह भ्रम मिटाइये ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ ६ ॥

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! मैंने ही वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारिभेदसे तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है । वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति । मनुष्यके परम कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है ॥ ६ ॥ उद्धवजी ! जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं । इसके विपरीत जिनके

[1] नियमात् । [2] नियमेना० ।

तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥ ७ ॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥८॥

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।

मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।

न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥१०॥

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।

ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥११॥

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।

साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥१२॥

न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः ।

नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति ॥१३॥

एतद् विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः ।

चित्तमें कर्मों और उनके फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःखबुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं ॥ ७ ॥ जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्व जन्मके शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। उसे भक्तियोगके द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है ॥ ८ ॥ कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि-निषेध हैं, उनके अनुसार तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय ॥ ९ ॥ उद्धव ! इस प्रकार अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल धर्ममें स्थित रहकर यज्ञोंके द्वारा बिना किसी आशा और कामनाके मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मोंसे दूर रहकर केवल विहित कर्मोंका ही आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता ॥ १० ॥ अपने धर्ममें निष्ठा रखनेवाला पुरुष इस शरीरमें रहते-रहते ही निषिद्ध कर्मका परित्याग कर देता है और रागादि मलोंसे भी मुक्त—पवित्र हो जाता है। इसीसे अनायास ही उसे आत्मसाक्षात्काररूप विशुद्ध तत्त्वज्ञान अथवा द्रुत-चित्त होनेपर मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥ ११ ॥ यह विधि-निषेधरूप कर्मका अधिकारी मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। स्वर्ग और नरक दोनों ही लोकोंमें रहनेवाले जीव इसकी अभिलाषा करते रहते हैं; क्योंकि इसी शरीरमें अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ज्ञान अथवा भक्तिकी प्राप्ति हो सकती है, स्वर्ग अथवा नरकका भोगप्रधान शरीर किसी भी साधनके उपयुक्त नहीं है। बुद्धिमान् पुरुषको न तो स्वर्गकी अभिलाषा करनी चाहिये और न नरककी ही। और तो क्या, इस मनुष्य-शरीरकी भी कामना न करनी चाहिये; क्योंकि किसी भी शरीरमें गुणबुद्धि और अभिमान हो जानेसे अपने वास्तविक स्वरूपकी प्राप्तिके साधनमें प्रमाद होने लगता है ॥ १२-१३ ॥ यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो मृत्युग्रस्त ही, परन्तु इसके द्वारा परमार्थकी—सत्य वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि यह बात जानकर मृत्यु

१. एवं।

अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥१४॥

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ।

खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥१५॥

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः ।

मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥१६॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं

प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥१७॥

यदाऽऽरम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।

अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥१८॥

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।

अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥१९॥

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः ।

स ... बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥२०॥

होनेके पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना कर ले, जिससे वह जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूट जाय—मुक्त हो जाय ॥ १४ ॥ यह शरीर एक वृक्ष है । इसमें घोंसला बनाकर जीवरूप पक्षी निवास करता है । इसे यमराजके दूत प्रतिक्षण काट रहे हैं । जैसे पक्षी कटते हुए वृक्षको छोड़कर उड़ जाता है, वैसे ही अनासक्त जीव भी इस शरीरको छोड़कर मोक्षका भागी बन जाता है । परन्तु आसक्त जीव दुःख ही भोगता रहता है ॥ १५ ॥ प्रिय उद्धव ! ये दिन और रात क्षण-क्षणमें शरीरकी आयुको क्षीण कर रहे हैं । यह जानकर जो भयसे काँप उठता है, वह व्यक्ति इसमें आसक्ति छोड़कर परमतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर इसके जीवन-मरणसे निरपेक्ष होकर अपने आत्मामें ही शान्त हो जाता है ॥ १६ ॥ यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है । इस संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है । शरण-ग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका सञ्चालन करने लगते हैं और स्मरण-मात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ । इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार-सागरसे पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—अधःपतन कर रहा है ॥ १७ ॥

प्रिय उद्धव ! जब पुरुष दोषदर्शनके कारण कर्मोंसे उद्विग्न और विरक्त हो जाय, तब जितेन्द्रिय होकर वह योगमें स्थित हो जाय और अभ्यास—आत्मानुसन्धानके द्वारा अपना मन मुझ परमात्मामें निश्चलरूपसे धारण करे ॥ १८ ॥ जब स्थिर करते समय मन चञ्चल होकर इधर-उधर भटकने लगे, तब झटपट बड़ी सावधानीसे उसे मनाकर, समझा-बुझाकर, फुसलाकर अपने वशमें कर ले ॥ १९ ॥ इन्द्रियों और प्राणोंको अपने वशमें रक्खे और मनको एक क्षणके लिये भी स्वतन्त्र न छोड़े । उसकी एक-एक चाल, एक-एक हरकतको देखता रहे । इस प्रकार सत्त्वसम्पन्न बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे मनको अपने वशमें कर लेना चाहिये ॥ २० ॥

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः ।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥२१॥

सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति ॥२२॥

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः ।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं[1] चिन्िततस्यानुचिन्तया ॥२३॥

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिकया च विद्यया ।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं[2] स्मरेन्मनः ॥२४॥

यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥२५॥

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥२६॥

जैसे सवार घोड़ेको अपने वशमें करते समय उसे अपने मनोभावकी पहचान कराना चाहता है—अपनी इच्छाके अनुसार उसे चलाना चाहता है और बार-बार फुसलाकर उसे अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही मनको फुसलाकर उसे मीठी-मीठी बातें सुनाकर वशमें कर लेना भी परम योग है ॥ २१ ॥ सांख्यशास्त्रमें प्रकृतिसे लेकर शरीरपर्यन्त सृष्टिका जो क्रम बतलाया गया है, उसके अनुसार सृष्टि-चिन्तन करना चाहिये और जिस क्रमसे शरीर आदिका प्रकृतिमें लय बताया गया है, उस प्रकार लय-चिन्तन करना चाहिये । यह क्रम तबतक जारी रखना चाहिये, जबतक मन शान्त—स्थिर न हो जाय ॥ २२ ॥ जो पुरुष संसारसे विरक्त हो गया है और जिसे संसारके पदार्थोंमें दुःख-बुद्धि हो गयी है, वह अपने गुरुजनोंके उपदेशको भलीभाँति समझकर बार-बार अपने स्वरूपके ही चिन्तनमें संलग्न रहता है । इस अभ्याससे बहुत शीघ्र ही उसका मन अपनी वह चञ्चलता, जो अनात्मा शरीर आदिमें आत्मबुद्धि करनेसे हुई है, छोड़ देता है ॥ २३ ॥ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगमार्गोंसे, वस्तुतत्त्वका निरीक्षण-परीक्षण करनेवाली आत्मविद्यासे तथा मेरी प्रतिमाकी उपासनासे—अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे मन परमात्माका चिन्तन करने लगता है; और कोई उपाय नहीं है ॥ २४ ॥

उद्धवजी ! वैसे तो योगी कभी कोई निन्दित कर्म करता ही नहीं; परन्तु यदि कभी उससे प्रमादवश कोई अपराध बन जाय तो योगके द्वारा ही उस पापको जला डाले, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि दूसरे प्रायश्चित्त कभी न करे ॥ २५ ॥ अपने-अपने अधिकारमें जो निष्ठा है, वही गुण कहा गया है । इस गुण-दोष और विधि-निषेधके विधानसे यही तात्पर्य निकलता है कि किसी प्रकार विषयासक्तिका परित्याग हो जाय; क्योंकि कर्म तो जन्मसे ही अशुद्ध हैं, अनर्थके मूल हैं । शास्त्रका तात्पर्य उनका नियन्त्रण, नियम ही है । जहाँतक हो सके प्रवृत्तिका

१. दौर्भाग्यं । २. योगं ।

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥२७॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥२८॥
प्रोक्तेन[1] भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥२९॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥३०॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥३१॥
यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥३२॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥३३॥
न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥३४॥
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्[3] ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥३५॥
न मय्येकान्तभक्तानां[2] गुणदोषोद्भवा गुणाः ।

संकोच ही करना चाहिये ॥ २६ ॥ जो साधक समस्त कर्मोंसे विरक्त हो गया हो, उनमें दुःखबुद्धि रखता हो, मेरी लीलाकथाके प्रति श्रद्धालु हो और यह भी जानता हो कि सभी भोग और भोगवासनाएँ दुःखरूप हैं, किन्तु इतना सब जानकर भी जो उनके परित्यागमें समर्थ न हो, उसे चाहिये कि उन भोगोंको तो भोग ले; परन्तु उन्हें सच्चे हृदयसे दुःखजनक समझे और मन-ही-मन उसकी निन्दा करे तथा उसे अपना दुर्भाग्य ही समझे। साथ ही इस दुविधाकी स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये श्रद्धा, दृढ निश्चय और प्रेमसे मेरा भजन करे ॥ २७-२८ ॥ इस प्रकार मेरे बतलाये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं॥ २९ ॥ इस तरह जब उसे मुझ सर्वात्माका साक्षात्कार हो जाता है, तब तो उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्मवासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं॥ ३० ॥ इसीसे जो योगी मेरी भक्तिसे युक्त और मेरे चिन्तनमें मग्न रहता है, उसके लिये ज्ञान अथवा वैराग्यकी आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्तिके द्वारा ही हो जाता है ॥ ३१ ॥ कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म और दूसरे कल्याणसाधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग मेरा परम धाम अथवा कोई भी वस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोगके प्रभावसे ही, यदि चाहे तो, अनायास प्राप्त कर लेता है ॥ ३२-३३ ॥ मेरे अनन्यप्रेमी एवं धैर्यवान् साधु भक्त स्वयं तो कुछ चाहते ही नहीं; यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो भी दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या—वे कैवल्य-मोक्ष भी नहीं लेना चाहते ॥ ३४ ॥ उद्धवजी! सबसे श्रेष्ठ एवं महान् निःश्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षताका ही दूसरा नाम है। इसलिये जो निष्काम और निरपेक्ष होता है, उसीको मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥ मेरे अनन्य-प्रेमी भक्तोंका और उन समदर्शी महात्माओंका, जो बुद्धिसे अतीत परमतत्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, इन विधि और निषेधसे

१. विधिना यस्य भजतो मां महामते। २. महात्मनः। ३. मकल्पकम्।

साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुपाम् ॥३६॥
एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः ॥३७॥

होनेवाले पुण्य और पापसे कोई सम्बन्ध ही नहीं होता ॥ ३६ ॥ इस प्रकार जो लोग मेरे बतलाये हुए इन ज्ञान, भक्ति और कर्ममार्गोंका आश्रय लेते हैं, वे मेरे परम कल्याणस्वरूप धामको प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे परब्रह्म-तत्त्वको जान लेते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

गुण-दोष-व्यवस्थाका स्वरूप और रहस्य

श्रीभगवानुवाच

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान्।
क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥ १ ॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ २ ॥
शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ॥ ३ ॥
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ।
दर्शितोऽयं मयाऽऽचारो धर्ममुद्वहतां धुरम् ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! मेरी प्राप्तिके तीन मार्ग हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। जो इन्हें छोड़कर चञ्चल इन्द्रियोंके द्वारा क्षुद्र भोग भोगते रहते हैं, वे बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटकते रहते हैं ॥ १ ॥ अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना दोष है। तात्पर्य यह कि गुण और दोष दोनोंकी व्यवस्था अधिकारके अनुसार की जाती है, किसी वस्तुके अनुसार नहीं ॥ २ ॥ वस्तुओंके समान होनेपर भी शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभ आदिका जो विधान किया जाता है, उसका अभिप्राय यह है कि पदार्थका ठीक-ठीक निरीक्षण-परीक्षण हो सके और उनमें सन्देह उत्पन्न करके कि यह योग्य है कि अयोग्य, स्वाभाविक प्रवृत्तिको नियन्त्रित—संकुचित किया जा सके ॥ ३ ॥ उनके द्वारा धर्म-सम्पादन कर सके, समाजका व्यवहार ठीक-ठीक चला सके और अपने व्यक्तिगत जीवनके निर्वाहमें भी सुविधा हो। इससे यह लाभ भी है कि मनुष्य अपनी वासनामूलक सहज प्रवृत्तियोंके द्वारा इनके जालमें न फँसकर शास्त्रानुसार अपने जीवनको नियन्त्रित और मनको वशीभूत कर लेता है। निष्पाप उद्धव ! यह आचार मैंने ही मनु आदिका रूप धारण करके धर्मका भार ढोनेवाले कर्मजडोंके लिये उपदेश

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्च धातवः।

आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥ ५ ॥

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि ।

धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥ ६ ॥

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम ।

गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥ ७ ॥

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत् ।

कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम् ॥ ८ ॥

कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा ।

यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः ॥ ९ ॥

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च ।

संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाथवा ॥ १० ॥

शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने ।

किया है ॥ ४ ॥ पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चभूत ही ब्रह्मासे लेकर पर्वत-वृक्षपर्यन्त सभी प्राणियोंके शरीरोंके मूलकारण हैं। इस तरह वे सब शरीरकी दृष्टिसे तो समान हैं ही, सबका आत्मा भी एक ही है ॥ ५ ॥ प्रिय उद्धव! यद्यपि सबके शरीरोंके पञ्चभूत समान हैं; फिर भी वेदोंने इनके वर्णाश्रम आदि अलग-अलग नाम और रूप इसलिये बना दिये हैं कि ये अपनी वासना-मूलक प्रवृत्तियोंको संकुचित करके—नियन्त्रित करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध कर सकें ॥ ६ ॥ साधुश्रेष्ठ! देश, काल, फल, निमित्त, अधिकारी और धान्य आदि वस्तुओंके गुण-दोषोंका विधान भी मेरेद्वारा इसीलिये किया गया है कि कर्मोंमें लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति न हो, मर्यादाका भङ्ग न होने पावे ॥ ७ ॥ देशोंमें वह देश अपवित्र है, जिसमें कृष्णसार मृग न हों और जिसके निवासी ब्राह्मणभक्त न हों। कृष्णसार मृगके होनेपर भी, केवल उन प्रदेशोंको छोड़कर जहाँ संतपुरुष रहते हैं, कीकट देश अपवित्र ही है। संस्काररहित और ऊसर आदि स्थान भी अपवित्र ही होते हैं ॥ ८ ॥ समय वही पवित्र है, जिसमें कर्म करनेयोग्य सामग्री मिल सके तथा कर्म भी हो सके। जिसमें कर्म करनेकी सामग्री न मिले, आगन्तुक दोषोंसे अथवा स्वाभाविक दोषके कारण जिसमें कर्म ही न हो सके, वह समय अशुद्ध है ॥ ९ ॥ पदार्थोंकी शुद्धि और अशुद्धि, द्रव्य, वचन, संस्कार, काल, महत्त्व अथवा अल्पत्वसे भी होती है। (जैसे कोई पात्र जलसे शुद्ध और मूत्रादिसे अशुद्ध हो जाता है। किसी वस्तुकी शुद्धि अथवा अशुद्धिमें शंका होनेपर ब्राह्मणोंके वचनसे वह शुद्ध हो जाती है अन्यथा अशुद्ध रहती है। पुष्पादि जल छिड़कनेसे शुद्ध और सूँघनेसे अशुद्ध माने जाते हैं। तत्कालका पकाया हुआ अन्न शुद्ध और बासी अशुद्ध माना जाता है। बड़े सरोवर और नदी आदिका जल शुद्ध और छोटे गड्ढोंका अशुद्ध माना जाता है। इस प्रकार क्रमसे समझ लेना चाहिये।) ॥ १० ॥ शक्ति, अशक्ति, बुद्धि और वैभवके अनुसार भी पवित्रता और अपवित्रताकी व्यवस्था होती है। उसमें भी स्थान और उपयोग करनेवालेकी आयुका विचार करते हुए ही अशुद्ध

१. भूम्यम्न्यम्ब्वनि०।

अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः ॥११॥

धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम् ।

कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः ॥१२॥

अमेध्यलिप्तं यद् येन गन्धं लेपं व्यपोहति ।

भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते ॥१३॥

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।

मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद् द्विजः ॥१४॥

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ।

धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः ॥१५॥

क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः।

गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ॥१६॥

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम् ।

वस्तुओंके व्यवहारका दोष ठीक तरहसे आँका जाता है। (जैसे धनी-दरिद्र, बलवान्-निर्बल, बुद्धिमान्-मूर्ख, उपद्रव-पूर्ण और सुखद देश तथा तरुण एवं वृद्धावस्थाके भेदसे शुद्धि और अशुद्धिकी व्यवस्थामें अन्तर पड़ जाता है।) ॥ ११ ॥ अनाज, लकड़ी, हाथीदाँत आदि हड्डी, सूत, मधु, नमक, तेल, घी आदि रस, सोना, पारा आदि तैजस पदार्थ, चाम और घड़ा आदि मिट्टीके बने पदार्थ समयपर अपने-आप हवा लगनेसे, आगमें जलानेसे, मिट्टी लगानेसे अथवा जलमें धोनेसे शुद्ध हो जाते हैं। देश, काल और अवस्थाके अनुसार कहीं जल-मिट्टी आदि शोधक सामग्रीके संयोगसे शुद्धि करनी पड़ती है तो कहीं-कहीं एक-एकसे भी शुद्धि हो जाती है ॥ १२ ॥ यदि किसी वस्तुमें कोई अशुद्ध पदार्थ लग गया हो तो छीलनेसे या मिट्टी आदि मलनेसे जब उस पदार्थकी गन्ध और लेप न रहे और वह वस्तु अपने पूर्वरूपमें आ जाय, तब उसको शुद्ध समझना चाहिये ॥ १३ ॥ स्नान, दान, तपस्या, वय, सामर्थ्य, संस्कार, कर्म और मेरे स्मरणसे चित्तकी शुद्धि होती है। इनके द्वारा शुद्ध होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको विहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये ॥ १४ ॥ गुरुमुखसे सुनकर भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेनेसे मन्त्रकी और मुझे समर्पित कर देनेसे कर्मकी शुद्धि होती है। उद्धवजी! इस प्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्ता, मन्त्र और कर्म—इन छहोंके शुद्ध होनेसे धर्म और अशुद्ध होनेसे अधर्म होता है ॥ १५ ॥ कहीं-कहीं शास्त्रविधि-से गुण दोष हो जाता है और दोष गुण। (जैसे ब्राह्मण-के लिये सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप आदि गुण हैं; परन्तु शूद्रके लिये दोष हैं। और दूध आदिका व्यापार वैश्यके लिये विहित है; परन्तु ब्राह्मणके लिये अत्यन्त निषिद्ध है।) एक ही वस्तुके विषयमें किसीके लिये गुण और किसीके लिये दोषका विधान गुण और दोषोंकी वास्त-विकताका खण्डन कर देता है और इससे यह निश्चय होता है कि गुण-दोषका यह भेद कल्पित है ॥ १६ ॥ जो लोग पतित हैं, वे पतितोंका-सा आचरण करते हैं तो उन्हें पाप नहीं लगता, जब कि श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये वह सर्वथा त्याज्य होता है। जैसे गृहस्थोंके लिये

१. तथा।

औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥१७॥

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।

एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः[1] ॥१८॥

विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत् ।

सङ्गात्तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥१९॥

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते ।

तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥२०॥

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते ।

ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥२१॥

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम् ।

वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥२२॥

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।

श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥२३॥

स्वाभाविक होनेके कारण अपनी पत्नीका सङ्ग पाप नहीं है; परन्तु संन्यासीके लिये घोर पाप है। उद्धवजी! बात तो यह है कि जो नीचे सोया हुआ है, वह गिरेगा कहाँ? वैसे ही जो पहलेसे ही पतित हैं, उनका अब और पतन क्या होगा? ॥ १७ ॥ जिन-जिन दोषों और गुणोंसे मनुष्यका चित्त उपरत हो जाता है, उन्हीं वस्तुओंके बन्धनसे वह मुक्त हो जाता है। मनुष्योंके लिये यह निवृत्तिरूप धर्म ही परम कल्याणका साधन है; क्योंकि यही शोक, मोह और भयको मिटानेवाला है ॥ १८ ॥

उद्धवजी! विषयोंमें कहीं भी गुणोंका आरोप करनेसे उस वस्तुके प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होनेसे उसे अपने पास रखनेकी कामना हो जाती है और इस कामनाकी पूर्तिमें किसी प्रकारकी बाधा पड़नेपर लोगोंमें परस्पर कलह होने लगता है ॥ १९ ॥ कलहसे असह्य क्रोधकी उत्पत्ति होती है और क्रोधके समय अपने हित-अहितका बोध नहीं रहता, अज्ञान छा जाता है। इस अज्ञानसे शीघ्र ही मनुष्यकी कार्याकार्यका निर्णय करनेवाली व्यापक चेतनाशक्ति लुप्त हो जाती है ॥ २० ॥ साधो! चेतनाशक्ति अर्थात् स्मृतिके लुप्त हो जानेपर मनुष्यमें मनुष्यता नहीं रह जाती, पशुता आ जाती है और वह शून्यके समान अस्तित्वहीन हो जाता है। अब उसकी अवस्था वैसी ही हो जाती है, जैसे कोई मूर्च्छित या मुर्दा हो। ऐसी स्थितिमें न तो उसका स्वार्थ बनता है और न तो परमार्थ ॥ २१ ॥ विषयोंका चिन्तन करते-करते वह विषयरूप हो जाता है। उसका जीवन वृक्षोंके समान जड हो जाता है। उसके शरीरमें उसी प्रकार व्यर्थ श्वास चलता रहता है, जैसे लुहारकी धौंकनीकी हवा। उसे न अपना ज्ञान रहता है और न किसी दूसरेका। वह सर्वथा आत्मवञ्चित हो जाता है ॥२२॥

उद्धवजी! यह स्वर्गादिरूप फलका वर्णन करनेवाली श्रुति मनुष्योंके लिये उन-उन लोकोंको परम पुरुषार्थ नहीं बतलाती, परन्तु बहिर्मुख पुरुषोंके लिये अन्तःकरणशुद्धिके द्वारा परम कल्याणमय मोक्षकी विवक्षासे ही कर्मोंमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये वैसा वर्णन करती है। जैसे बच्चोंसे औषधमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये रोचक वाक्य कहे जाते हैं। (बेटा! प्रेमसे गिलोयका काढ़ा पी लो तो

[1] १. भवापहः ।

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च ।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥२४॥

न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ।
कथं युञ्ज्यात् पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः॥२५॥

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः ।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥२६॥

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः ।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते २७

न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः ।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥२८॥

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।
हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना ॥२९॥

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन्[1] खलाः ॥३०॥

तुम्हारी चोटी बढ़ जायगी) ॥ २३ ॥ इसमें सन्देह नहीं कि संसारके विषयभोगोंमें, प्राणोंमें और सगे-सम्बन्धियोंमें सभी मनुष्य जन्मसे ही आसक्त हैं और उन वस्तुओंकी आसक्ति उनकी आत्मोन्नतिमें बाधक एवं अनर्थका कारण है ॥ २४ ॥ वे अपने परम पुरुषार्थको नहीं जानते, इसलिये स्वर्गादिका जो वर्णन मिलता है, वह ज्यों-का-त्यों सत्य है—ऐसा विश्वास करके देवादि-योनियोंमें भटकते रहते हैं और फिर वृक्ष आदि योनियोंके घोर अन्धकारमें आ पड़ते हैं। ऐसी अवस्थामें कोई भी विद्वान् अथवा वेद फिरसे उन्हें उन्हीं विषयोंमें क्यों प्रवृत्त करेगा ? ॥ २५ ॥ दुर्बुद्धिलोग (कर्मवादी) वेदोंका यह अभिप्राय न समझकर कर्मासक्तिवश पुष्पोंके समान स्वर्गादि लोकोंका वर्णन देखते हैं और उन्हींको परम फल मानकर भटक जाते हैं। परन्तु वेदवेत्ता लोग श्रुतियोंका ऐसा तात्पर्य नहीं बतलाते ॥ २६ ॥ विषय-वासनाओंमें फँसे हुए दीन-हीन, लोभी पुरुष रंग-बिरंगे पुष्पोंके समान स्वर्गादि लोकोंको ही सब कुछ समझ बैठते हैं, अग्निके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञ-यागादि कर्मोंमें ही मुग्ध हो जाते हैं। उन्हें अन्तमें देवलोक, पितृलोक आदिकी ही प्राप्ति होती है। दूसरी ओर भटक जानेके कारण उन्हें अपने निजधाम आत्मपदका पता नहीं लगता ॥ २७ ॥ प्यारे उद्धव ! उनके पास साधना है तो केवल कर्मकी और उसका कोई फल है तो इन्द्रियोंकी तृप्ति। उनकी आँखें धुँधली हो गयी हैं; इसीसे वे यह बात नहीं जानते कि जिससे इस जगत्की उत्पत्ति हुई है, जो स्वयं इस जगत्के रूपमें है, वह परमात्मा मैं उनके हृदयमें ही हूँ ॥ २८ ॥ यदि हिंसा और उसके फल मांस-भक्षणमें राग ही हो, उसका त्याग न किया जा सकता हो, तो यज्ञमें ही करे—यह परिसंख्या विधि है, स्वाभाविक प्रवृत्तिका संकोच है, सन्ध्या-वन्दनादिके समान अपूर्व विधि नहीं है। इस प्रकार मेरे परोक्ष अभिप्रायको न जानकर विषयलोलुप पुरुष हिंसाका खिलवाड़ खेलते हैं और दुष्टतावश अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये वध किये हुए पशुओंके मांससे यज्ञ करके देवता, पितर तथा भूतपतियोंके यजनका ढोंग करते हैं ॥ २९-३० ॥

[1] पितॄन् भूत० ।

स्वप्नोपममम्रुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् ।
आशिषो हृदि सङ्कल्प्य त्यजन्त्यर्थान् यथा वणिक्३१

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम् ॥३२॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला[1] महाकुलाः ॥३३॥

एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् ।
मानिनां चातिस्तब्धानां[2] मद्वार्तापि न रोचते ३४

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम[3] च प्रियम् ॥३५॥

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥३६॥

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥३७॥

उद्धवजी ! स्वर्गादि परलोक स्वप्नके दृश्योंके समान हैं; वास्तवमें वे असत् हैं, केवल उनकी बातें सुननेमें बहुत मीठी लगती हैं । सकाम पुरुष वहाँके भोगोंके लिये मन-ही-मन अनेकों प्रकारके संकल्प कर लेते हैं और जैसे व्यापारी अधिक लाभकी आशासे मूलधनको भी खो बैठता है, वैसे ही वे सकाम यज्ञोंद्वारा अपने धनका नाश करते हैं ॥ ३१ ॥ वे स्वयं रजोगुण, सत्त्वगुण या तमोगुणमें स्थित रहते हैं और रजोगुणी, सत्त्वगुणी अथवा तमोगुणी इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करते हैं । वे उन्हीं सामग्रियोंसे उतने ही परिश्रमसे मेरी पूजा नहीं करते ॥ ३२ ॥ वे जब इस प्रकारकी पुष्पिता वाणी— रंग-बिरंगी मीठ-मीठी बातें सुनते हैं कि हमलोग इस लोकमें यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करके स्वर्गमें जायँगे और वहाँ दिव्य आनन्द भोगेंगे, उसके बाद जब फिर हमारा जन्म होगा, तब हम बड़े कुलीन परिवारमें पैदा होंगे, हमारे बड़े-बड़े महल होंगे और हमारा कुटुम्ब बहुत सुखी और बहुत बड़ा होगा, तब उनका चित्त क्षुब्ध हो जाता है और उन हेकड़ी जतानेवाले घमंडियोंको मेरे सम्बन्धकी बातचीत भी अच्छी नहीं लगती ।३३-३४।

उद्धवजी ! वेदोंमें तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान । इन तीनों काण्डोंके द्वारा प्रतिपादित विषय है ब्रह्म और आत्माकी एकता; सभी मन्त्र और मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस विषयको खोलकर नहीं, गुप्तभावसे बतलाते हैं और मुझे भी इस बातको गुप्तरूपसे कहना ही अभीष्ट है *॥ ३५॥ वेदोंका नाम है शब्दब्रह्म । वे मेरी मूर्त्ति हैं. इसीसे उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है । वह शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणीके रूपमें प्राण, मन और इन्द्रियमय है । समुद्रके समान सीमारहित और गहरा है । उसकी थाह लगाना अत्यन्त कठिन है । (इसीसे जैमिनि आदि बड़े-बड़े विद्वान् भी उसके तात्पर्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते) ॥३६॥ उद्धव ! मैं अनन्तशक्तिसम्पन्न एवं स्वयं अनन्त ब्रह्म हूँ । मैंने ही वेदवाणीका विस्तार किया है । जैसे कमल-नालमें पतला-सा सूत होता है वैसे ही वह वेदवाणी प्राणियोंके अन्तःकरणमें अनाहतनादके रूपमें प्रकट होती

१. महाशीलाः । २. चापि बद्धानां । ३. च मम प्रि० ।

* क्योंकि सब लोग इसके अधिकारी नहीं हैं, अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही वह बात समझमें आती है ।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।

आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥३८॥

छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ।

ओङ्काराद् व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम् ॥३९॥

विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ।

अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥४०॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ।

त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद् विराट् ॥४१॥

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।

इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन ॥४२॥

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।

मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥४३॥

है ॥ ३७ ॥ भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं वेदमूर्ति एवं अमृतमय हैं । उनकी उपाधि है प्राण और स्वयं अनाहत शब्दके द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति हुई है । जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुखद्वारा जाला उगलती और फिर निगल लेती है, वैसे ही वे स्पर्श आदि वर्णोंका संकल्प करनेवाले मनरूप निमित्तकारणके द्वारा हृदयाकाशसे अनन्त अपार अनेकों मार्गोंवाली वैखरीरूप वेदवाणीको स्वयं ही प्रकट करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं । वह वाणी हृद्गत सूक्ष्म ओंकारके द्वारा अभिव्यक्त स्पर्श ('क' से लेकर 'म' तक-२५), स्वर ('अ' से 'औ' तक—९), ऊष्मा (श, ष, स, ह) और अन्तःस्थ (य, र, ल, व)—इन वर्णोंसे विभूषित है । उसमें ऐसे छन्द हैं, जिनमें उत्तरोत्तर चार-चार वर्ण बढ़ते जाते हैं और उनके द्वारा विचित्र भाषाके रूपमें वह विस्तृत हुई है ॥ ३८-४० ॥ (चार-चार अधिक वर्णोंवाले छन्दोंमेंसे कुछ ये हैं—) गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती और विराट् ॥ ४१ ॥ वह वेदवाणी कर्मकाण्डमें क्या विधान करती है, उपासनाकाण्डमें किन देवताओंका वर्णन करती है, और ज्ञानकाण्डमें किन प्रतीतियोंका अनुवाद करके उनमें अनेकों प्रकारके विकल्प करती है—इन बातोंको, इस सम्बन्धमें श्रुतिके रहस्यको मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता ॥४२॥ मैं तुम्हें स्पष्ट बतला देता हूँ, सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें मेरा ही विधान करती हैं । उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें वे मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमें आकाशादिरूपसे मुझमें ही अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं । सम्पूर्ण श्रुतियोंका बस, इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेदका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमें सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती हैं और केवल अधिष्ठानरूपसे मैं ही शेष रह जाता हूँ ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

तत्त्वोंकी संख्या और पुरुष-प्रकृति विवेक

उद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश[1] संख्यातान्यृषिभिः प्रभो।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह[2] शुश्रुम ॥ १ ॥
केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम् ।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ॥ २ ॥
केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया ।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

उद्धवजीने कहा—प्रभो ! विश्वेश्वर ! ऋषियोंने तत्त्वोंकी संख्या कितनी बतलायी है ? आपने तो अभी (उन्नीसवें अध्यायमें) नौ, ग्यारह, पाँच और तीन अर्थात् कुल अट्ठाईस तत्त्व गिनाये हैं । यह तो हम सुन चुके हैं ॥ १ ॥ किन्तु कुछ लोग छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं तो कुछ पचीस; कोई सात, नौ अथवा छः स्वीकार करते हैं, कोई चार बतलाते हैं तो कोई ग्यारह ॥ २ ॥ इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं ऋषि-मुनियोंके मतमें उनकी संख्या सत्रह है, कोई सोलह और कोई तेरह बतलाते हैं । सनातन श्रीकृष्ण ! ऋषि-मुनि इतनी भिन्न संख्याएँ किस अभिप्रायसे बतलाते हैं ? आप कृपा करके हमें बतलाइये ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥ ४ ॥
नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा ।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥ ५ ॥
यासां व्यतिकरादासीद् विकल्पो वदतां पदम्[3] ।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनुशाम्यति ॥ ६ ॥
परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं[4] यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सभी ठीक है; क्योंकि सभी तत्त्व सबमें अन्तर्भूत हैं । मेरी मायाको स्वीकार करके क्या कहना असम्भव है ? ॥ ४ ॥ 'जैसा तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, जो मैं कहता हूँ, वही यथार्थ है'—इस प्रकार जगत्के कारणके सम्बन्धमें विवाद इसलिये होता है कि मेरी शक्तियों—सत्त्व, रज आदि गुणों और उनकी वृत्तियोंका रहस्य लोग समझ नहीं पाते; इसलिये वे अपनी-अपनी मनोवृत्तिपर ही आग्रह कर बैठते हैं ॥ ५ ॥ सत्त्व आदि गुणोंके क्षोभसे ही यह विविध कल्पनारूप प्रपञ्च—जो वस्तु नहीं केवल नाम है—उठ खड़ा हुआ है । यही वाद-विवाद करनेवालोंके विवादका विषय है । जब इन्द्रियाँ अपने वशमें हो जाती हैं तथा चित्त शान्त हो जाता है, तब यह प्रपञ्च भी निवृत्त हो जाता है और इसकी निवृत्तिके साथ ही सारे वाद-विवाद भी मिट जाते हैं ॥ ६ ॥ पुरुषशिरोमणे ! तत्त्वोंका एक-दूसरेमें अनुप्रवेश है, इसलिये वक्ता तत्त्वोंकी जितनी संख्या बतलाना चाहता है, उसके अनुसार कारणको कार्यमें अथवा कार्यको कारणमें मिलाकर अपनी इच्छित संख्या सिद्ध कर लेता है ॥ ७ ॥

---

१. देवेश । २. त्वमिति । ३. परम् । ४. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः॥ ८ ॥
पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम् ।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥ ९ ॥
अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥१०॥
पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥११॥
प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥१२॥
सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च ॥१३॥
पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः ।

ऐसा देखा जाता है कि एक ही तत्त्वमें बहुत-से दूसरे तत्त्वोंका अन्तर्भाव हो गया है । इसका कोई बन्धन नहीं है कि किसका किसमें अन्तर्भाव हो । कभी घट-पट आदि कार्य वस्तुओंका उनके कारण मिट्टी-सूत आदिमें, तो कभी मिट्टी-सूत आदिका घट-पट आदि कार्योंमें अन्तर्भाव हो जाता है ॥ ८ ॥ इसलिये वादी-प्रतिवादियोंमेंसे जिसकी वाणीने जिस कार्यको जिस कारणमें अथवा जिस कारणको जिस कार्यमें अन्तर्भूत करके तत्त्वोंकी जितनी संख्या स्वीकार की है, वह हम निश्चय ही स्वीकार करते हैं; क्योंकि उनका वह उपपादन युक्तिसङ्गत ही है ॥ ९॥

उद्धवजी ! जिन लोगोंने छब्बीस संख्या स्वीकार की है, वे ऐसा कहते हैं कि जीव अनादि कालसे अविद्यासे ग्रस्त हो रहा है । वह स्वयं अपने-आपको नहीं जान सकता । उसे आत्मज्ञान करानेके लिये किसी अन्य सर्वज्ञकी आवश्यकता है । (इसलिये प्रकृतिके कार्य-कारणरूप चौबीस तत्त्व, पचीसवाँ पुरुष और छब्बीसवाँ ईश्वर—इस प्रकार कुल छब्बीस तत्त्व स्वीकार करने चाहिये) ॥ १० ॥ पचीस तत्त्व माननेवाले कहते हैं कि इस शरीरमें जीव और ईश्वरका अणुमात्र भी अन्तर या भेद नहीं है, इसलिये उनमें भेदकी कल्पना व्यर्थ है । रही ज्ञानकी बात, सो तो सत्त्वात्मिका प्रकृतिका गुण है ॥ ११ ॥ तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है; इसलिये सत्त्व, रज आदि गुण आत्माके नहीं, प्रकृतिके ही हैं । इन्हींके द्वारा जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय हुआ करते हैं । इसलिये ज्ञान आत्माका गुण नहीं, प्रकृतिका ही गुण सिद्ध होता है ॥ १२ ॥ इस प्रसङ्गमें सत्त्वगुण ही ज्ञान है, रजोगुण ही कर्म है और तमोगुण ही अज्ञान कहा गया है । और गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला ईश्वर ही काल है और सूत्र अर्थात् महत्तत्त्व ही स्वभाव है । (इसलिये पचीस और छब्बीस तत्त्वोंकी—दोनों ही संख्या युक्तिसंगत है) ॥ १३ ॥

उद्धवजी ! (यदि तीनों गुणोंको प्रकृतिसे अलग मान लिया जाय, जैसा कि उनकी उत्पत्ति और प्रलयको देखते हुए मानना चाहिये, तो तत्त्वोंकी संख्या स्वयं ही

१. प्रकृतेर्गुण० । २. तत्त्वमेव वा ।

ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव॥१४॥

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः।

वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः॥१५॥

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः।

गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः॥१६॥

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी।

सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते॥१७॥

व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया।

लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात्॥१८॥

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः।

ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः॥१९॥

षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान्।

अट्ठाईस हो जाती है। उन तीनोंके अतिरिक्त पच्चीस ये हैं—) पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये नौ तत्त्व मैं पहले ही गिना चुका हूँ॥१४॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका और रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों ही हैं। इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय। इस प्रकार तीन, नौ, ग्यारह और पाँच—सब मिलाकर अट्ठाईस तत्त्व होते हैं। कर्मेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले पाँच कर्म—चलना, बोलना, मल त्यागना, पेशाब करना और काम करना—इनके द्वारा तत्त्वोंकी संख्या नहीं बढ़ती। इन्हें कर्मेन्द्रिय-स्वरूप ही मानना चाहिये॥१५-१६॥ सृष्टिके आरम्भमें कार्य (ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चभूत) और कारण (महत्तत्त्व आदि) के रूपमें प्रकृति ही रहती है। वही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी सहायतासे जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और संहारसम्बन्धी अवस्थाएँ धारण करती है। अव्यक्त पुरुष तो प्रकृति और उसकी अवस्थाओंका केवल साक्षीमात्र बना रहता है॥१७॥ महत्तत्त्व आदि कारण धातुएँ विकारको प्राप्त होते हुए पुरुषके ईक्षणसे शक्ति प्राप्त करके परस्पर मिल जाते हैं और प्रकृतिका आश्रय लेकर उसीके बलसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं॥१८॥

उद्धवजी! जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सात स्वीकार करते हैं, उनके विचारसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच भूत, छठा जीव और सातवाँ परमात्मा—जो साक्षी जीव और साक्ष्य जगत् दोनोंका अधिष्ठान है—ये ही तत्त्व हैं। देह, इन्द्रिय और प्राणादिकी उत्पत्ति तो पञ्चभूतोंसे ही हुई है [इसलिये वे इन्हें अलग नहीं गिनते]॥१९॥ जो लोग केवल छः तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि पाँच भूत हैं और छठा है परमपुरुष परमात्मा। वह परमात्मा अपने बनाये हुए पञ्चभूतोंसे युक्त होकर देह आदिकी सृष्टि करता

१. पञ्चा०।

तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत् ॥२०॥

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ।

जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥२१॥

संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।

पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥२२॥

तद्वत् षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते ।

भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥२३॥

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।

अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥२४॥[1]

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।

सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम्॥२५॥

उद्धव उवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।

अन्योन्यापाश्रयात् कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः॥२६॥

प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि ।

है और उनमें जीवरूपसे प्रवेश करता है। (इस मतके अनुसार जीवका परमात्मामें और शरीर आदिका पञ्च-भूतोंमें समावेश हो जाता है) ॥२०॥ जो लोग कारणके रूपमें चार ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि आत्मासे तेज, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है और जगत्में जितने पदार्थ हैं, सब इन्हींसे उत्पन्न होते हैं। वे सभी कार्योंका इन्हींमें समावेश कर लेते हैं ॥ २१ ॥ जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सत्रह बतलाते है, वे इस प्रकार गणना करते हैं—पाँच भूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एक मन और एक आत्मा ॥२२॥ जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सोलह बतलाते हैं, उनकी गणना भी इसी प्रकार है। अन्तर केवल इतना ही है कि वे आत्मामें मनका भी समावेश कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी तत्त्वसंख्या सोलह रह जाती है। जो लोग तेरह तत्त्व मानते हैं वे कहते हैं कि आकाशादि पाँच भूत, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन, एक जीवात्मा और परमात्मा—ये तेरह तत्त्व हैं॥२३॥ ग्यारह संख्या माननेवालोंने पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और इनके अतिरिक्त एक आत्माका अस्तित्व स्वीकार किया है। जो लोग नौ तत्त्व मानते हैं, वे आकाशादि पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार—ये आठ प्रकृतियाँ और नवाँ पुरुष—इन्हींको तत्त्व मानते हैं ॥ २४ ॥ उद्धवजी! इस प्रकार ऋषि-मुनियोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे तत्त्वोंकी गणना की है। सबका कहना उचित ही है, क्योंकि सबकी संख्या युक्तियुक्त है। जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं, उन्हें किसी भी मतमें बुराई नहीं दीखती। उनके लिये तो सब कुछ ठीक ही है ॥ २५ ॥

उद्धवजीने कहा—श्यामसुन्दर! यद्यपि स्वरूपतः प्रकृति और पुरुष दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, तथापि वे आपसमें इतने घुल-मिल गये हैं कि साधारणतः उनका भेद नहीं जान पड़ता। प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृति अभिन्न-से प्रतीत होते हैं। इनकी भिन्नता स्पष्ट कैसे हो? ॥२६॥ कमलनयन श्रीकृष्ण! मेरे हृदयमें इनकी भिन्नता और अभिन्नताको लेकर बहुत बड़ा सन्देह है।

[1] यह 'एकादशत्व' 'नवेत्यथ' श्लोक प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ।
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः ॥२७॥
त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः ।
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः ॥२८॥

आप तो सर्वज्ञ हैं, अपनी युक्तियुक्त वाणीसे मेरे सन्देहका निवारण कर दीजिये ॥ २७ ॥ भगवन् ! आपकी ही कृपासे जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी मायाशक्तिसे ही उनके ज्ञानका नाश होता है । अपनी आत्मस्वरूपिणी मायाकी विचित्र गति आप ही जानते हैं, और कोई नहीं जानता । अतएव आप ही मेरा सन्देह मिटानेमें समर्थ हैं ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥२९॥
ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत् ॥३०॥
दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे ।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ।
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥३१॥
योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः
प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! प्रकृति और पुरुष, शरीर और आत्मा—इन दोनोंमें अत्यन्त भेद है । इस प्राकृत जगत्में जन्म-मरण एवं वृद्धि-ह्रास आदि विकार लगे ही रहते हैं । इसका कारण यह है कि यह गुणोंके क्षोभसे ही बना है ॥ २९ ॥ प्रिय मित्र ! मेरी माया त्रिगुणात्मिका है । वही अपने सत्त्व, रज आदि गुणोंसे अनेकों प्रकारकी भेदवृत्तियाँ पैदा कर देती है । यद्यपि इसका विस्तार असीम है, फिर भी इस विकारात्मक सृष्टिको तीन भागोंमें बाँट सकते हैं । वे तीन भाग हैं—अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ॥ ३० ॥ उदाहरणार्थ—नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म है, उसका विषय रूप अधिभूत है और नेत्रगोलकमें स्थित सूर्यदेवताका अंश अधिदैव है । ये तीनों परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे सिद्ध होते हैं । और इसलिये अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं । परन्तु आकाशमें स्थित सूर्यमण्डल इन तीनोंकी अपेक्षासे मुक्त है, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है । इसी प्रकार आत्मा भी उपर्युक्त तीनों भेदोंका मूलकारण, उनका साक्षी और उनसे परे है । वही अपने स्वयंसिद्ध प्रकाशसे समस्त सिद्ध पदार्थोंकी मूलसिद्धि है । उसीके द्वारा सबका प्रकाश होता है । जिस प्रकार चक्षुके तीन भेद बताये गये, उसी प्रकार त्वचा, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका और चित्त आदिके भी तीन-तीन भेद हैं* ॥ ३१ ॥ प्रकृतिसे महत्तत्त्व बनता है और महत्तत्त्वसे अहङ्कार । इस प्रकार यह अहङ्कार गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न हुआ प्रकृतिका ही एक विकार है ।

१. देवेश । २. ह्यात्मनो योगगतिं । ३. मथाधिभूतमधिदैवमन्यत् । ४. स्वतोऽसौ ।

* यथा त्वचा, स्पर्श और वायु; श्रवण, शब्द और दिशा; जिह्वा, रस और वरुण; नासिका, गन्ध और अश्विनीकुमार; चित्त, चिन्तनका विषय और वासुदेव; मन, मनका विषय और चन्द्रमा; अहङ्कार, अहङ्कारका विषय और रुद्र; बुद्धि, समझनेका विषय और ब्रह्मा—इन सभी त्रिविध तत्त्वोंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
वैंकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥३२॥
आत्मा परिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥३३॥

अहङ्कारके तीन भेद हैं—सात्त्विक, तामस और राजस। यह अहङ्कार ही अज्ञान और सृष्टिकी विविधताका मूल-कारण है ॥ ३२ ॥ आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसका इन पदार्थोंसे न तो कोई सम्बन्ध है और न उसमें कोई विवादकी ही बात है। अस्ति नास्ति (है-नहीं), सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या आदि रूपसे जितने भी वाद-विवाद हैं, सबका मूलकारण भेददृष्टि ही है। इसमें सन्देह नहीं कि इस विवादका कोई प्रयोजन नहीं है; यह सर्वथा व्यर्थ है; तथापि जो लोग मुझसे—अपने वास्तविक स्वरूपसे विमुख हैं, वे इस विवादसे मुक्त नहीं हो सकते ॥ ३३ ॥

उद्धव उवाच

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥३४॥
तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः।
न ह्येतत् प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः ॥३५॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! आपसे विमुख जीव अपने किये हुए पुण्य-पापोंके फलस्वरूप ऊँची-नीची योनियोंमें जाते-आते रहते हैं। अब प्रश्न यह है कि व्यापक आत्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना, अकर्ता-का कर्म करना और नित्य-वस्तुका जन्म-मरण कैसे सम्भव है?॥ ३४ ॥ गोविन्द! जो लोग आत्मज्ञानसे रहित हैं, वे तो इस विषयको ठीक-ठीक सोच भी नहीं सकते। और इस विषयके विद्वान् संसारमें प्रायः मिलते नहीं, क्योंकि सभी लोग आपकी मायाकी भूल-भुलैयामें पड़े हुए हैं। इसलिये आप ही कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझाइये ॥ ३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥३६॥
ध्यायन् मनोऽनु विषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानथ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! मनुष्योंका मन कर्म-संस्कारोंका पुञ्ज है। उन संस्कारोंके अनुसार भोग प्राप्त करनेके लिये उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं। इसीका नाम है लिङ्गशरीर। वही कर्मोंके अनुसार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें, एक लोकसे दूसरे लोकमें आता-जाता रहता है। आत्मा इस लिङ्गशरीरसे सर्वथा पृथक् है। उसका आना-जाना नहीं होता; परन्तु जब वह अपनेको लिङ्गशरीर ही समझ बैठता है, उसीमें अहङ्कार कर लेता है, तब, उसे भी अपना जाना-आना प्रतीत होने लगता है ॥ ३६ ॥ मन कर्मोंके अधीन है। वह देखे हुए या सुने हुए विषयोंका चिन्तन करने लगता है और क्षणभरमें ही उनमें तदाकार हो जाता है तथा

१. कर्ममयै०। २. वाथ श्रुतांस्तथा।

उद्यत् सीदत् कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति ॥३७॥
विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः ।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः ॥३८॥
जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥३९॥
स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति ॥४०॥
इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि ।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद् यथा ॥४१॥
नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥४२॥
यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥४३॥
सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥४४॥

उन्हीं पूर्वचिन्तित विषयोंमें लीन हो जाता है। धीरे-धीरे उसकी स्मृति, पूर्वापरका अनुसन्धान भी नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥ उन देवादि शरीरोंमें इसका इतना अभिनिवेश, इतनी तल्लीनता हो जाती है कि जीवको अपने पूर्व शरीरका स्मरण भी नहीं रहता। किसी भी कारणसे शरीरको सर्वथा भूल जाना ही मृत्यु है ॥३८॥ उदार उद्धव! जब यह जीव किसी भी शरीरको अभेद-भावसे 'मैं' के रूपमें स्वीकार कर लेता है, तब उसे ही जन्म कहते हैं, ठीक वैसे ही, जैसे स्वप्नकालीन और मनोरथकालीन शरीरमें अभिमान करना ही स्वप्न और मनोरथ कहा जाता है ॥ ३९ ॥ यह वर्तमान देहमें स्थित जीव जैसे पूर्व देहका स्मरण नहीं करता, वैसे ही स्वप्न या मनोरथमें स्थित जीव भी पहलेके स्वप्न और मनोरथको स्मरण नहीं करता, प्रत्युत उस वर्तमान स्वप्न और मनोरथमें पूर्व सिद्ध होनेपर भी अपनेको नवीन-सा ही समझता है ॥ ४० ॥ इन्द्रियोंके आश्रय मन या शरीर-की सृष्टिसे आत्मवस्तुमें यह उत्तम, मध्यम और अधमकी त्रिविधता भासती है। उसमें अभिमान करनेसे ही आत्मा बाह्य और आभ्यन्तर भेदोंका हेतु मालूम पड़ने लगता है, जैसे दुष्ट पुत्रको उत्पन्न करनेवाला पिता पुत्रके शत्रु-मित्र आदिके लिये भेदका हेतु हो जाता है ॥ ४१ ॥ प्यारे उद्धव! कालकी गति सूक्ष्म है। उसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता। उसके द्वारा प्रतिक्षण ही शरीरों-की उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं। सूक्ष्म होनेके कारण ही प्रतिक्षण होनेवाले जन्म-मरण नहीं दीख पड़ते ॥ ४२ ॥ जैसे कालके प्रभावसे दियेकी लौ, नदियोंके प्रवाह अथवा वृक्षके फलोंकी विशेष-विशेष अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, वैसे ही समस्त प्राणियोंके शरीरोंकी आयु, अवस्था आदि भी बदलती रहती है ॥ ४३ ॥ जैसे यह उन्हीं ज्योतियोंका वही दीपक है, प्रवाहका यह वही जल है—ऐसा समझना और कहना मिथ्या है, वैसे ही विषय-चिन्तनमें व्यर्थ आयु बितानेवाले अविवेकी पुरुषोंका ऐसा कहना और समझना कि यह वही पुरुष है, सर्वथा

१. न भवन्ति भवन्ति च। २. सूक्ष्मत्वं तत्र।

मा ह्यस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् ।
म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः ॥४५॥
निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् ।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥४६॥
एता मनोरथमयीर्ह्यन्यस्योच्चावचास्तनूः ।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित् कश्चिज्जहाति च ॥४७॥
आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयो भवाप्ययौ ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥४८॥
तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥४९॥
प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् ।
तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥५०॥
सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान् ।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥५१॥
नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥५२॥

मिथ्या है ॥ ४४ ॥ यद्यपि वह भ्रान्त पुरुष भी अपने कर्मोंके बीजद्वारा न पैदा होता है और न तो मरता ही है; वह भी अजन्मा और अमर ही है, फिर भी भ्रान्तिसे वह उत्पन्न होता है और मरता-सा भी है, जैसे कि काष्ठसे युक्त अग्नि पैदा होता और नष्ट होता दिखायी पड़ता है ४५ उद्धवजी ! गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, जवानी, अधेड़ अवस्था, बुढ़ापा और मृत्यु—ये नौ अवस्थाएँ शरीरकी ही हैं ॥ ४६ ॥ यह शरीर जीवसे भिन्न है और ये ऊँची-नीची अवस्थाएँ उसके मनोरथके अनुसार ही हैं; परन्तु वह अज्ञानवश गुणोंके सङ्गसे इन्हें अपनी मानकर भटकने लगता है और कभी-कभी विवेक हो जानेपर इन्हें छोड़ भी देता है ॥ ४७ ॥ पिताको पुत्रके जन्मसे और पुत्रको पिताकी मृत्युसे अपने-अपने जन्म-मरणका अनुमान कर लेना चाहिये । जन्म-मृत्युसे युक्त देहोंका द्रष्टा जन्म और मृत्युसे युक्त शरीर नहीं है ॥ ४८ ॥ जैसे जौ-गेहूँ आदिकी फसल बोनेपर उग आती है और पक जानेपर काट दी जाती है किन्तु जो पुरुष उनके उगने और काटनेका जाननेवाला साक्षी है, वह उनसे सर्वथा पृथक् है; वैसे ही जो शरीर और उसकी अवस्थाओंका साक्षी है, वह शरीरसे सर्वथा पृथक् है ॥ ४९ ॥ अज्ञानी पुरुष इस प्रकार प्रकृति और शरीरसे आत्माका विवेचन नहीं करते । वे उसे उनसे तत्त्वतः अलग अनुभव नहीं करते और विषयभोगमें सच्चा सुख मानने लगते हैं तथा उसीमें मोहित हो जाते हैं । इसीसे उन्हें जन्म-मृत्युरूप संसारमें भटकना पड़ता है ॥ ५० ॥ जब अविवेकी जीव अपने कर्मोंके अनुसार जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकने लगता है, तब सात्त्विक कर्मोंकी आसक्तिसे वह ऋषिलोक और देवलोकमें राजसिक कर्मोंकी आसक्तिसे मनुष्य और असुरयोनियोंमें तथा तामसी कर्मोंकी आसक्तिसे भूत-प्रेत एवं पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जाता है ॥ ५१ ॥ जब मनुष्य किसीको नाचते-गाते देखता है, तब वह स्वयं भी उसका अनुकरण करने—तान तोड़ने लगता है । वैसे ही जब जीव बुद्धिके गुणोंको देखता है, तब स्वयं निष्क्रिय होनेपर भी उसका अनुकरण करनेके लिये बाध्य हो जाता है ॥ ५२ ॥

१. न्मादि ।

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥५३॥
यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा ।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥५४॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥५५॥

जैसे नदी-तालाब आदिके जलके हिलने या चंचल होनेपर उसमें प्रतिबिम्बित तटके वृक्ष भी उसके साथ हिलते-डोलते-से जान पड़ते हैं, जैसे घुमाये जानेवाले नेत्रके साथ-साथ पृथ्वी भी घूमती हुई-सी दिखायी देती है, जैसे मनके द्वारा सोचे गये तथा स्वप्नमें देखे गये भोग-पदार्थ सर्वथा अलीक ही होते हैं, वैसे ही हे दाशार्ह ! आत्माका विषयानुभवरूप संसार भी सर्वथा असत्य है । आत्मा तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ही है ॥५३-५४॥ विषयोंके सत्य न होनेपर भी जो जीव विषयोंका ही चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्नमें प्राप्त अनर्थ-परम्परा जागे बिना निवृत्त नहीं होती ॥ ५५ ॥

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्[1] ॥५६॥

प्रिय उद्धव ! इसलिये इन दुष्ट (कभी तृप्त न होनेवाली) इन्द्रियोंसे विषयोंको मत भोगो । आत्माके अज्ञानसे प्रतीत होनेवाला सांसारिक भेदभाव भ्रममूलक ही है, ऐसा समझो ॥ ५६ ॥

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथ वा[2] ।
ताडितः सन्निबद्धो[3] वा वृत्त्या[4] वा परिहापितः ॥५७॥
निष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः[5] ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत् ॥५८॥

असाधु पुरुष गर्दन पकड़कर बाहर निकाल दें, वाणीद्वारा अपमान करें, उपहास करें, निन्दा करें, मारें-पीटें, बाँधें, आजीविका छीन लें, ऊपर थूक दें, मूत दें अथवा तरह-तरहसे विचलित करें, निष्ठासे डिगानेकी चेष्टा करें; उनके किसी भी उपद्रवसे क्षुब्ध न होना चाहिये; क्योंकि वे तो बेचारे अज्ञानी हैं, उन्हें परमार्थका तो पता ही नहीं है । अतः जो अपने कल्याणका इच्छुक है, उसे सभी कठिनाइयोंसे अपनी विवेकबुद्धिद्वारा ही—किसी बाह्य साधनसे नहीं—अपनेको बचा लेना चाहिये । वस्तुतः आत्मदृष्टि ही समस्त विपत्तियोंसे बचनेका एकमात्र साधन है ॥ ५७-५८ ॥

उद्धव उवाच

यथैवमनुबुध्येयं वद नो[6] वदतां वर ।
सुदुःसहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम् ॥५९॥

उद्धवजीने कहा—भगवन् ! आप समस्त वक्ताओंके शिरोमणि हैं । मैं इस दुर्जनोंसे किये गये तिरस्कारको *अपने मनमें अत्यन्त असह्य समझता हूँ अतः* जैसे मैं इसको समझ सकूँ, आपका उपदेश जीवनमें धारण कर सकूँ, वैसे हमें बतलाइये ॥ ५९ ॥

विदुषामपि विश्वात्मन् प्रकृतिर्हि बलीयसी ।

विश्वात्मन् ! जो आपके भागवतधर्मके आचरणमें प्रेमपूर्वक संलग्न हैं, जिन्होंने आपके चरण-कमलोंका ही आश्रय ले लिया है, उन शान्त पुरुषोंके अतिरिक्त बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये

१. आत्माग्रहणनिष्पन्नं पश्यन् वैकल्पिकं भ्रमम् । २. ऽपि वा । ३. सन्निरुद्धो । ४. भृत्या । ५. प्रकल्पितः । ६. भो ।

ऋते त्वद्धर्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणालयान् ॥६०॥

भी दुष्टोंके द्वारा किया हुआ तिरस्कार सह लेना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि प्रकृति अत्यन्त बलवती है ॥ ६० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

एक तितिक्षु ब्राह्मणका इतिहास

बादरायणिरुवाच[1]

स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः[2] ।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥ २ ॥
न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः ।
यथा तुदन्ति[3] मर्मस्था ह्यसतां[4] परुषेषवः ॥ ३ ॥
कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव ।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥ ४ ॥
केनचिद् भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः ।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम्[5] ॥ ५ ॥
अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया ।
वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः ॥ ६ ॥
ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः[6] ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! वास्तवमें भगवान्‌की लीलाकथा ही श्रवण करने योग्य है । वे ही प्रेम और मुक्तिके दाता हैं । जब उनके परमप्रेमी भक्त उद्धवजीने इस प्रकार प्रार्थना की; तब यदुवंशविभूषण श्रीभगवान्‌ने उनके प्रश्नकी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य उद्धवजी ! इस संसारमें प्रायः ऐसे संत पुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनोंकी कटुवाणीसे बिंधे हुए अपने हृदयको सँभाल सकें ॥ २ ॥ मनुष्यका हृदय मर्मभेदी बाणोंसे बिंधनेपर भी उतनी पीडाका अनुभव नहीं करता, जितनी पीडा उसे दुष्टजनोंके मर्मान्तक एवं कठोर वाग्बाण पहुँचाते हैं ॥ ३ ॥ उद्धवजी ! इस विषयमें महात्मालोग एक बड़ा पवित्र प्राचीन इतिहास कहा करते हैं; मैं वही तुम्हें सुनाऊँगा, तुम मन लगाकर उसे सुनो ॥ ४ ॥ एक भिक्षुकको दुष्टोंने बहुत सताया था । उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसे अपने पूर्वजन्मके कर्मोंका फल समझकर कुछ अपने मानसिक उद्गार प्रकट किये थे । उन्हींका इस इतिहासमें वर्णन है ॥ ५ ॥

प्राचीन समयकी बात है, उज्जैनमें एक ब्राह्मण रहता था । उसने खेती-व्यापार आदि करके बहुत-सी धन-सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी । वह बहुत ही कृपण, कामी और लोभी था । क्रोध तो उसे बात-बातमें आ जाया करता था ॥ ६ ॥ उसने अपने जाति-बन्धु और अतिथियोंको कभी मीठी बातसे भी प्रसन्न नहीं किया, खिलाने-पिलानेकी तो बात ही क्या है । वह धर्म-कर्मसे रीते घरमें रहता

१. शुक उवाच । २. वर्यः । ३. रुजन्ति । ४.असतां । ५. निजकर्मणः । ६. णाप्यनर्चिताः ।

शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः ॥ ७ ॥

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ।

दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन् प्रियम् ॥ ८ ॥

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः ।

धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः ॥ ९ ॥

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य[1] भूरिद ।

अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः ॥ १० ॥

ज्ञातयो जगृहुः किञ्चित् किञ्चिद् दस्यव उद्धव ।

दैवतः कालतः किञ्चिद् ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात् ॥ ११ ॥

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः ।

उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥ १२ ॥

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।

खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥

स चाहेदमहो कष्टं वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः ।

न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः ॥ १४ ॥

और स्वयं भी अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा समयपर अपने शरीरको भी सुखी नहीं करता था ॥ ७ ॥ उसकी कृपणता और बुरे स्वभावके कारण उसके बेटे-बेटी, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर और पत्नी आदि सभी दुखी रहते और मन-ही-मन उसका अनिष्टचिन्तन किया करते थे। कोई भी उसके मनको प्रिय लगनेवाला व्यवहार नहीं करता था ॥ ८ ॥ वह लोक-परलोक दोनोंसे ही गिर गया था। बस, यक्षोंके समान धनकी रखवाली करता रहता था। उस धनसे वह न तो धर्म कमाता था और न भोग ही भोगता था। बहुत दिनोंतक इस प्रकार जीवन बितानेसे उसपर पञ्चमहायज्ञके भागी देवता बिगड़ उठे ॥ ९ ॥ उदार उद्धवजी! पञ्चमहायज्ञके भागियोंके तिरस्कारसे उसके पूर्व-पुण्योंका सहारा—जिसके बलसे अबतक धन टिका हुआ था—जाता रहा और जिसे उसने बड़े उद्योग और परिश्रमसे इकट्ठा किया था, वह धन उसकी आँखोंके सामने ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया ॥ १० ॥ उस नीच ब्राह्मणका कुछ धन तो उसके कुटुम्बियोंने ही छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये। कुछ आग लग जाने आदि दैवी कोपसे नष्ट हो गया, कुछ समयके फेरसे मारा गया। कुछ साधारण मनुष्योंने ले लिया और बचा-खुचा कर और दण्डके रूपमें शासकोंने हड़प लिया ॥ ११ ॥ उद्धवजी! इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति जाती रही। न तो उसने धर्म ही कमाया और न भोग ही भोगे। इधर उसके सगे-सम्बन्धियोंने भी उसकी ओरसे मुँह मोड़ लिया। अब उसे बड़ी भयानक चिन्ताने घेर लिया ॥ १२ ॥ धनके नाशसे उसके हृदयमें बड़ी जलन हुई। उसका मन खेदसे भर गया। आँसुओंके कारण गला रुँध गया। परन्तु इस तरह चिन्ता करते-करते ही उसके मनमें संसारके प्रति महान् दुःखबुद्धि और उत्कट वैराग्यका उदय हो गया ॥ १३ ॥

अब वह ब्राह्मण मन-ही-मन कहने लगा—'हाय! हाय!! बड़े खेदकी बात है, मैंने इतने दिनोंतक अपनेको व्यर्थ ही इस प्रकार सताया। जिस धनके लिये मैंने सरतोड़ परिश्रम किया, वह न तो धर्मकर्ममें लगा और

१. तदभिध्यान०।

प्रायेणार्था: कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥१५॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्१६
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥१७॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥१८॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥१९॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥२०॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धाः दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥२१॥
लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम् ।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥२२॥
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥२३॥
देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः ।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः ॥२४॥

न मेरे सुखभोगके ही काम आया ॥ १४ ॥ प्रायः देखा जाता है कि कृपण पुरुषोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता । इस लोकमें तो वे धन कमाने और रक्षाकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर धर्म न करनेके कारण नरकमें जाते हैं ॥ १५ ॥ जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणियोंके प्रशंसनीय गुणोंपर पानी फेर देता है ॥ १६ ॥ धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें—जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है ॥ १७ ॥ चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं । इसलिये कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थके विरोधी अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे ॥ १८-१९॥ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेहबन्धनसे बँधकर बिल्कुल एक हुए रहते हैं—सब-के-सब कौड़ीके कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक दूसरेके शत्रु बन जाते हैं ॥२०॥ ये लोग थोड़े-से धनके लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं । बात-की-बातमें सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं, लाग-डाँट रखने लगते हैं और एकाएक प्राण लेने-देनेपर उतारू हो जाते हैं । यहाँतक कि एक-दूसरेका सर्वनाश कर डालते हैं ॥ २१ ॥ देवताओंके भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मणशरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ-परमार्थका नाश करते हैं, वे अशुभ गतिको प्राप्त होते हैं ॥२२॥ यह मनुष्यशरीर मोक्ष और स्वर्गका द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनर्थोंके धाम धनके चक्करमें फँसा रहे ॥ २३ ॥ जो मनुष्य देवता, ऋषि, पितर, प्राणी, जाति-भाई, कुटुम्बी और धनके दूसरे भागीदारोंको उनका भाग देकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह यक्षके समान धनकी रखवाली करनेवाला कृपण तो

१. णार्थः । २. कारुणिकाः । ३. शु वृथा घ्न० । ४. ज्ञातीनन्यांश्च ।

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम् ।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये ॥२५॥

कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत् ।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ॥२६॥

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥२७॥

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः ॥२८॥

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे[1] यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि ॥२९॥

तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥३०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः ।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः ॥३१॥

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः ।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत् ॥३२॥

अवश्य ही अधोगतिको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ मैं अपने कर्तव्यसे च्युत हो गया हूँ । मैंने प्रमादमें अपनी आयु, धन और बल-पौरुष खो दिये । विवेकीलोग जिन साधनोंसे मोक्षतक प्राप्त कर लेते हैं, उन्हींको मैंने धन इकट्ठा करनेकी व्यर्थ चेष्टामें खो दिया । अब बुढ़ापेमें मैं कौन-सा साधन करूँगा ॥ २५ ॥ मुझे मालूम नहीं होता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धनकी व्यर्थ तृष्णासे निरन्तर क्यों दुखी रहते हैं ? हो-न-हो, अवश्य ही यह संसार किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहा है ॥ २६ ॥ यह मनुष्य-शरीर कालके विकराल गालमें पड़ा हुआ है । इसको धनसे, धन देनेवाले देवताओं और लोगोंसे, भोगवासनाओं और उनको पूर्ण करनेवालोंसे तथा पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले सकाम कर्मोंसे लाभ ही क्या है ? ॥ २७ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि सर्वदेवस्वरूप भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं । तभी तो उन्होंने मुझे इस दशामें पहुँचाया है और मुझे जगत्के प्रति यह दुःख-बुद्धि और वैराग्य दिया है । वस्तुतः वैराग्य ही इस संसार-सागरसे पार होनेके लिये नौकाके समान है ॥ २८ ॥ मैं अब ऐसी अवस्थामें पहुँच गया हूँ । यदि मेरी आयु शेष हो तो मैं आत्मलाभमें ही सन्तुष्ट रहकर अपने परमार्थके सम्बन्धमें सावधान हो जाऊँगा और अब जो समय बच रहा है, उसमें अपने शरीरको तपस्याके द्वारा सुखा डालूँगा ॥ २९ ॥ तीनों लोकोंके स्वामी देवगण मेरे इस सङ्कल्पका अनुमोदन करें । अभी निराश होनेकी कोई बात नहीं है, क्योंकि राजा खट्वाङ्गने तो दो घड़ीमें ही भगवद्धामकी प्राप्ति कर ली थी ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! उस उज्जैननिवासी ब्राह्मणने मन-ही-मन इस प्रकार निश्चय करके 'मैं' और 'मेरे' पनकी गाँठ खोल दी । इसके बाद वह शान्त होकर मौनी संन्यासी हो गया ॥ ३१ ॥ अब उसके चित्तमें किसी भी स्थान, वस्तु या व्यक्तिके प्रति आसक्ति न रही । उसने अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें कर लिया । वह पृथ्वीपर स्वच्छन्दरूपसे विचरने लगा । वह भिक्षाके लिये नगर और गाँवोंमें जाता अवश्य था, परन्तु इस प्रकार जाता था कि कोई

१. ऽखिलार्थेषु यदि ।

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः ।
दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः ॥३३॥
केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम् ।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन ॥३४॥
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः ।
अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे ॥३५॥
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि ।
यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत् ॥३६॥
तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः ।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद् बध्यतां बध्यतामिति॥३७॥
क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः ।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः ॥३८॥
अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव ।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद् दृढनिश्चयः ॥३९॥
इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च ।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥४०॥
एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत् ।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत ॥४१॥

उसे पहचान न पाता था ॥ ३२ ॥ उद्धवजी ! यह भिक्षुक अवधूत बहुत बूढ़ा हो गया था । दुष्ट उसे देखते ही टूट पड़ते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करके उसे तंग करते ॥ ३३ ॥ कोई उसका दण्ड छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्र ही झटक ले जाता । कोई कमण्डलु उठा ले जाता तो कोई आसन, रुद्राक्ष-माला और कंथा ही लेकर भाग जाता । कोई तो उसकी लँगोटी और वस्त्रको ही इधर-उधर डाल देते ॥ ३४ ॥ कोई-कोई वे वस्तुएँ देकर और कोई दिखला-दिखलाकर फिर छीन लेते । जब वह अवधूत मधुकरी माँगकर लाता और बाहर नदी-तटपर भोजन करने बैठता, तो पापी लोग कभी उसके सिरपर मूत देते, तो कभी थूक देते । वे लोग उस मौनी अवधूतको तरह-तरहसे बोलनेके लिये विवश करते और जब वह इसपर भी न बोलता तो उसे पीटते ॥ ३५-३६ ॥ कोई उसे चोर कहकर डाँटने-डपटने लगता । कोई कहता 'इसे बाँध लो, बाँध लो' और फिर उसे रस्सीसे बाँधने लगते ॥ ३७ ॥ कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि 'देखो-देखो, अब इस कृपणने धर्मका ढोंग रचा है । धन-सम्पत्ति जाती रही, स्त्री-पुत्रोंने घरसे निकाल दिया; तब इसने भीख माँगनेका रोजगार लिया है ॥ ३८ ॥ ओहो ! देखो तो सही, यह मोटा तगड़ा भिखारी धैर्यमें बड़े भारी पर्वतके समान है । यह मौन रहकर अपना काम बनाना चाहता है । सचमुच यह बगुलेसे भी बढ़कर ढोंगी और दृढनिश्चयी है' ॥ ३९ ॥ कोई उस अवधूतकी हँसी उड़ाता, तो कोई उसपर अधोवायु छोड़ता । जैसे लोग तोता-मैना आदि पालतू पक्षियोंको बाँध लेते या पिंजड़ेमें बंद कर लेते हैं, वैसे ही उसे भी वे लोग बाँध देते और घरोंमें बंद कर देते ॥ ४० ॥ किन्तु वह सब कुछ चुपचाप सह लेता । उसे कभी ज्वर आदिके कारण दैहिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गर्मी-सर्दी आदिसे दैवी कष्ट उठाना पड़ता और कभी दुर्जन लोग अपमान आदिके द्वारा उसे भौतिक पीडा पहुँचाते; परन्तु भिक्षुकके मनमें इससे कोई विकार न होता । वह समझता कि यह सब मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है और इसे

१. पर्यभवंस्तत्र । २. पात्र कमण्डलु । ३. दुर्वादयन्ति । ४. दैवं च ।

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः ।
पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥४२॥

मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ ४१ ॥ यद्यपि नीच मनुष्य तरह-तरहके तिरस्कार करके उसे उसके धर्मसे गिरानेकी चेष्टा किया करते, फिर भी वह बड़ी दृढ़तासे अपने धर्ममें स्थिर रहता और सात्त्विक धैर्यका आश्रय लेकर कभी-कभी ऐसे उद्गार प्रकट किया करता ॥ ४२ ॥

द्विज उवाच

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः ।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥४३॥
मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति ॥४४॥
अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥४५॥
दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥४६॥
समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम् ।
असंयतं[२] यस्य मनो विनश्यद्
दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः ॥४७॥
मनोवशेऽन्ये ह्यभवन्[३] स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः ॥४८॥

ब्राह्मण कहता—मेरे सुख अथवा दुःखका कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं । श्रुतियाँ और महात्माजन मनको ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सारे संसारचक्रको चला रहा है ॥ ४३ ॥ सचमुच यह मन बहुत बलवान् है । इसीने विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्तियोंकी सृष्टि की है । उन वृत्तियोंके अनुसार ही सात्त्विक, राजस और तामस—अनेकों प्रकारके कर्म होते हैं और कर्मोंके अनुसार ही जीवकी विविध गतियाँ होती हैं ॥ ४४ ॥ मन ही समस्त चेष्टाएँ करता है । उसके साथ रहनेपर भी आत्मा निष्क्रिय ही है । वह ज्ञानशक्तिप्रधान है, मुझ जीवका सनातन सखा है और अपने अलुप्त ज्ञानसे सब कुछ देखता रहता है । मनके द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है । जब वह मनको स्वीकार करके उसके द्वारा विषयोंका भोक्ता बन बैठता है, तब कर्मोंके साथ आसक्ति होनेके कारण वह उनसे बँध जाता है ॥ ४५ ॥ दान, अपने धर्मका पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत—इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान्में लग जाय । मनका समाहित हो जाना ही परम योग है ॥ ४६ ॥ जिसका मन शान्त और समाहित है, उसे दान आदि समस्त सत्कर्मोंका फल प्राप्त हो चुका है । अब उनसे कुछ लेना बाकी नहीं है । और जिसका मन चञ्चल है अथवा आलस्यसे अभिभूत हो रहा है, उसको इन दानादि शुभ कर्मोंसे अबतक कोई लाभ नहीं हुआ ॥ ४७ ॥ सभी इन्द्रियाँ मनके वशमें हैं । मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं है । यह मन बलवान्‌से भी बलवान्, अत्यन्त भयङ्कर देव है । जो इसको अपने वशमें कर लेता है, वही देव-देव—

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । २. न संयतं । ३. ह्यभवंश्च ।

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित् ।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः ॥४९॥

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥५०॥

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनश्चात्र ह भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥५१॥

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥५२॥

आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।
न ह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥५३॥

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।

इन्द्रियोंका विजेता है ॥ ४८ ॥ सचमुच मन बहुत बड़ा शत्रु है । इसका आक्रमण असह्य है । यह बाहरी शरीरको ही नहीं, हृदयादि मर्मस्थानोंको भी बेधता रहता है । इसे जीतना बहुत ही कठिन है । मनुष्यको चाहिये कि सबसे पहले इसी शत्रुपर विजय प्राप्त करे; परन्तु होता है यह कि मूर्ख लोग इसे तो जीतनेका प्रयत्न करते नहीं, दूसरे मनुष्योंसे झूठमूठ झगड़ा-बखेड़ा करते रहते हैं और इस जगत्के लोगोंको ही मित्र-शत्रु-उदासीन बना लेते हैं ॥ ४९ ॥ साधारणतः मनुष्योंकी बुद्धि अंधी हो रही है । तभी तो वे इस मनःकल्पित शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान बैठते हैं और फिर इस भ्रमके फंदेमें फँस जाते हैं कि 'यह मैं हूँ और यह दूसरा ।' इसका परिणाम यह होता है कि वे इस अनन्त अज्ञानान्धकारमें ही भटकते रहते हैं ॥ ५० ॥

यदि मान लें कि मनुष्य ही सुख-दुःखका कारण है, तो भी उनसे आत्माका क्या सम्बन्ध ? क्योंकि सुख-दुःख पहुँचानेवाला भी मिट्टीका शरीर है और भोगनेवाला भी । कभी भोजन आदिके समय यदि अपने दाँतोंसे ही अपनी जीभ कट जाय और उससे पीड़ा होने लगे, तो मनुष्य किसपर क्रोध करेगा ? ॥ ५१ ॥ यदि ऐसा मान लें कि देवता ही दुःखके कारण हैं, तो भी इस दुःखसे आत्माकी क्या हानि ? क्योंकि यदि दुःखके कारण देवता हैं, तो इन्द्रियाभिमानी देवताओंके रूपमें उनके भोक्ता भी तो वे ही हैं । और देवता सभी शरीरोंमें एक हैं; जो देवता एक शरीरमें हैं; वे ही दूसरेमें भी हैं । ऐसी दशामें यदि अपने ही शरीरके किसी एक अङ्गसे दूसरे अङ्गको चोट लग जाय तो भला, किसपर क्रोध किया जायगा? ॥ ५२ ॥ यदि ऐसा मानें कि आत्मा ही सुख-दुःखका कारण है तो वह तो अपना आप ही है, कोई दूसरा नहीं; क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ है ही नहीं । यदि दूसरा कुछ प्रतीत होता है, तो वह मिथ्या है । इसलिये न सुख है, न दुःख; फिर क्रोध कैसा ? क्रोधका निमित्त ही क्या ? ॥ ५३ ॥ यदि ग्रहोंको सुख-दुःखका निमित्त मानें तो उनसे भी अजन्मा आत्माकी क्या हानि ? उनका प्रभाव भी जन्म-मृत्युशील शरीरपर ही होता है ।

१. एव ।

ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥५४॥
कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम् ॥५५॥
कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥५६॥
न केनचित् क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य ।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥५७॥
एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥५८॥

ग्रहोंकी पीड़ा तो उनका प्रभाव ग्रहण करनेवाले शरीरको ही होती है और आत्मा उन ग्रहों और शरीरोंसे सर्वथा परे है। तब भला, वह किसपर क्रोध करे ? ॥ ५४ ॥ यदि कर्मोंको ही सुख-दुःखका कारण मानें, तो उनसे आत्माका क्या प्रयोजन ? क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड और चेतन—उभयरूप होनेपर ही हो सकते हैं। (जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है, उसीसे कर्म हो सकते हैं; अतः वह विकारयुक्त होनेके कारण जड होनी चाहिये और हिताहितका ज्ञान रखनेके कारण चेतन ।) किन्तु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षीरूपसे रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है । इस प्रकार कर्मोंका तो कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता । फिर क्रोध किसपर करें ? ॥ ५५ ॥ यदि ऐसा मानें कि काल ही सुख-दुःखका कारण है, तो आत्मापर उसका क्या प्रभाव ? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है । जैसे आग आगको नहीं जला सकती और बर्फ बर्फको नहीं गला सकता, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्माको ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता । फिर किसपर क्रोध किया जाय ? आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत है ॥ ५६ ॥ आत्मा प्रकृतिके स्वरूप, धर्म, कार्य, लेश, सम्बन्ध और गन्धसे भी रहित है । उसे कभी कहीं किसीके द्वारा किसी भी प्रकारसे द्वन्द्वका स्पर्श ही नहीं होता । वह तो जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकनेवाले अहङ्कारको ही होता है । जो इस बातको जान लेता है, वह फिर किसी भी भयके निमित्तसे भयभीत नहीं होता ॥ ५७ ॥ बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस परमात्मनिष्ठाका आश्रय ग्रहण किया है । मैं भी इसीका आश्रय ग्रहण करूँगा और मुक्ति तथा प्रेमके दाता भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा ही इस दुरन्त अज्ञानसागरको अनायास ही पार कर लूँगा ॥५८॥

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम् ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! उस ब्राह्मणका धन क्या नष्ट हुआ, उसका सारा क्लेश ही दूर हो गया । अब वह संसारसे विरक्त हो गया था और संन्यास लेकर पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचर रहा था । यद्यपि

निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम् ॥५९॥

दुष्टोंने उसे बहुत सताया, फिर भी वह अपने धर्ममें अटल रहा, तनिक भी विचलित न हुआ। उस समय वह मौनी अवधूत मन-ही-मन इस प्रकारका गीत गाया करता था ॥ ५९ ॥

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः ॥६०॥

उद्धवजी! इस संसारमें मनुष्यको कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्तका भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रुके भेद अज्ञानकल्पित हैं ॥ ६० ॥

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः ॥६१॥

इसलिये प्यारे उद्धव! अपनी वृत्तियोंको मुझमें तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मनको वशमें कर लो और फिर मुझमें ही नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योगसाधनका इतना ही सार-संग्रह है ॥ ६१ ॥

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः।
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥६२॥

यह भिक्षुकका गीत क्या है, मूर्तिमान् ब्रह्मज्ञान-निष्ठा ही है। जो पुरुष एकाग्रचित्तसे इसे सुनता, सुनाता और धारण करता है वह कभी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके वशमें नहीं होता। उनके बीचमें भी वह सिंहके समान दहाड़ता रहता है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

सांख्ययोग

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्।
यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम् ॥१॥

प्यारे उद्धव! अब मैं तुम्हें सांख्यशास्त्रका निर्णय सुनाता हूँ। प्राचीन कालके बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने इसका निश्चय किया है। जब जीव इसे भलीभाँति समझ लेता है, तो वह भेदबुद्धि-मूलक सुख-दुःखादिरूप भ्रमका तत्काल त्याग कर देता है ॥ १ ॥

आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥ २ ॥

युगोंसे पूर्व प्रलयकालमें आदिसत्ययुगमें और जब कभी मनुष्य विवेकनिपुण होते हैं—इन सभी अवस्थाओंमें यह सम्पूर्ण दृश्य और द्रष्टा, जगत् और जीव विकल्पशून्य किसी प्रकारके भेदभावसे रहित केवल ब्रह्म ही होते हैं ॥ २ ॥

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।

इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्ममें किसी प्रकारका विकल्प नहीं है, वह केवल—अद्वितीय सत्य है, मन और वाणीकी उसमें गति नहीं है। वह

वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत् ॥ ३ ॥
तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥ ४ ॥
तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥ ५ ॥
तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः ।
ततो विकुर्वतो जातोऽहङ्कारो यो विमोहनः ॥ ६ ॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥ ७ ॥
अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च ।
तैजसाद् देवता आसन्नेकादश च वैकृतात् ॥ ८ ॥
मया सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः ।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९ ॥
तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ ।
मम नाभ्यामभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥ १० ॥
सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवःस्वरिति त्रिधा ११
देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानां च भुवः पदम् ।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम् ।१२।

ब्रह्म ही माया और उसमें प्रतिबिम्बित जीवके रूपमें—दृश्य और द्रष्टाके रूपमें—दो भागोंमें विभक्त-सा हो गया ॥ ३ ॥ उनमेंसे एक वस्तुको प्रकृति कहते हैं। उसीने जगत्‌में कार्य और कारणका रूप धारण किया है। दूसरी वस्तुको, जो ज्ञानस्वरूप है, पुरुष कहते हैं ॥ ४ ॥ उद्धवजी ! मैंने ही जीवोंके शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार प्रकृतिको क्षुब्ध किया । तब उससे सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण प्रकट हुए ॥ ५ ॥ उनसे क्रिया-शक्तिप्रधान सूत्र और ज्ञानशक्तिप्रधान महत्तत्त्व प्रकट हुए । वे दोनों परस्पर मिले हुए ही हैं। महत्तत्त्वमें विकार होनेपर अहङ्कार व्यक्त हुआ। यह अहङ्कार ही जीवोंको मोहमें डालनेवाला है ॥ ६ ॥ वह तीन प्रकारका है—सात्त्विक, राजस और तामस। अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय और मनका कारण है; इसलिये वह जड-चेतन—उभयात्मक है ॥ ७ ॥ तामस अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्राएँ और उनसे पाँच भूतोंकी उत्पत्ति हुई। तथा राजस अहङ्कारसे इन्द्रियाँ और सात्त्विक अहङ्कारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह देवता * प्रकट हुए ॥ ८ ॥ ये सभी पदार्थ मेरी प्रेरणासे एकत्र होकर परस्पर मिल गये और इन्होंने यह ब्रह्माण्डरूप अण्ड उत्पन्न किया। यह अण्ड मेरा उत्तम निवासस्थान है ॥ ९ ॥ जब वह अण्ड जलमें स्थित हो गया, तब मैं नारायणरूपसे इसमें विराजमान हो गया। मेरी नाभिसे विश्वकमलकी उत्पत्ति हुई। उसीपर ब्रह्माका आविर्भाव हुआ ॥ १० ॥ विश्व-समष्टिके अन्तःकरण ब्रह्माने पहले बहुत बड़ी तपस्या की। उसके बाद मेरा कृपा-प्रसाद प्राप्त करके रजोगुणके द्वारा भूः, भुवः, स्वः अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—इन तीन लोकोंकी और इनके लोकपालोंकी रचना की ॥ ११ ॥ देवताओंके निवासके लिये स्वर्लोक, भूत-प्रेतादिके लिये भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) और मनुष्य आदिके लिये भूर्लोक (पृथ्वीलोक) का निश्चय किया गया। इन तीनों लोकोंसे ऊपर महर्लोक, तपलोक आदि

१. तिश्चोभयात्मिका। २. वा। ३. योऽहङ्कारो वि०। ४. तया। ५. सलिलसंस्थिते।

* पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह देवता हैं।

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्॥१३॥
योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः॥१४॥
मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत्।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति॥१५॥
अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च॥१६॥
यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः॥१७॥
यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥१८॥
प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥१९॥
सर्गः प्रवर्तते तावत् पौर्वापर्येण नित्यशः।
महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम्॥२०॥
विराण्मयाऽऽसाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः।

सिद्धोंके निवासस्थान हुए॥ १२॥ सृष्टिकार्यमें समर्थ ब्रह्माजीने असुर और नागोंके लिये पृथ्वीके नीचे अतल, वितल, सुतल आदि सात पाताल बनाये। इन्हीं तीनों लोकोंमें त्रिगुणात्मक कर्मोंके अनुसार विविध गतियाँ प्राप्त होती हैं॥ १३॥ योग, तपस्या और संन्यासके द्वारा महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोकरूप उत्तम गति प्राप्त होती है तथा भक्तियोगसे मेरा परम धाम मिलता है॥ १४॥ यह सारा जगत् कर्म और उनके संस्कारोंसे युक्त है। मैं ही कालरूपसे कर्मोंके अनुसार उनके फलका विधान करता हूँ। इस गुणप्रवाहमें पड़कर जीव कभी डूब जाता है और कभी ऊपर आ जाता है—कभी उसकी अधोगति होती है और कभी उसे पुण्यवश उच्चगति प्राप्त हो जाती है॥ १५॥ जगत्में छोटे-बड़े, मोटे-पतले—जितने भी पदार्थ बनते हैं, सब प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही सिद्ध होते हैं॥ १६॥ जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है। विकार तो केवल व्यवहारके लिये की हुई कल्पनामात्र है। जैसे कंगन-कुण्डल आदि सोनेके विकार, और घड़े-सकोरे आदि मिट्टीके विकार पहले सोना या मिट्टी ही थे, बादमें भी सोना या मिट्टी ही रहेंगे। अतः बीचमें भी वे सोना या मिट्टी ही हैं। पूर्ववर्ती कारण (महत्तत्त्व आदि) भी जिस परम कारणको उपादान बनाकर अपर (अहंकार आदि) कार्य-वर्गकी सृष्टि करते हैं, वही उनकी अपेक्षा भी परम सत्य है। तात्पर्य यह कि जब जो जिस किसी भी कार्यके आदि और अन्तमें विद्यमान रहता है, वही सत्य है॥ १७-१८॥ इस प्रपञ्चका उपादान-कारण प्रकृति है, परमात्मा अधिष्ठान है और इसको प्रकट करनेवाला काल है। व्यवहार-कालकी यह त्रिविधता वस्तुतः ब्रह्म-स्वरूप है और मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूँ॥ १९॥ जबतक परमात्माकी ईक्षणशक्ति अपना काम करती रहती है, जबतक उनकी पालन-प्रवृत्ति बनी रहती है, तबतक जीवोंके कर्मभोगके लिये कारण-कार्यरूपसे अथवा पिता-पुत्रादिके रूपसे यह सृष्टिचक्र निरन्तर चलता रहता है॥ २०॥

यह विराट् ही विविध लोकोंकी सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीलाभूमि है। जब मैं कालरूपसे इसमें व्याप्त

पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥२१॥

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते ।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥२२॥

अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे ।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥२३॥

रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे ।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु ॥२४॥

योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे ।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥२५॥

स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः ।
तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत् काले लीयतेऽव्यये॥२६॥

कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे ।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥२७॥

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः ।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः ॥२८॥

एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः ।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया ॥२९॥

होता हूँ, प्रलयका संकल्प करता हूँ, तब यह भुवनोंके साथ विनाशरूप विभागके योग्य हो जाता है ॥ २१ ॥ उसके लीन होनेकी प्रक्रिया यह है कि प्राणियोंके शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें और भूमि गन्ध-तन्मात्रामें लीन हो जाती है ॥ २२ ॥ गन्ध जलमें, जल अपने गुण रसमें, रस तेजमें और तेज रूपमें लीन हो जाता है ॥ २३ ॥ रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें तथा आकाश शब्दतन्मात्रामें लीन हो जाता है । इन्द्रियाँ अपने कारण देवताओंमें और अन्ततः राजस अहङ्कारमें समा जाती हैं ॥ २४॥ हे सौम्य ! राजस अहङ्कार अपने नियन्ता सात्त्विक अहङ्काररूप मनमें, शब्दतन्मात्रा पञ्चभूतोंके कारण तामस अहङ्कारमें और सारे जगत्को मोहित करनेमें समर्थ त्रिविध अहङ्कार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है ॥ २५ ॥ ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति-प्रधान महत्तत्त्व अपने कारण गुणोंमें लीन हो जाता है । गुण अव्यक्त प्रकृतिमें और प्रकृति अपने प्रेरक अविनाशी कालमें लीन हो जाती है ॥ २६ ॥ काल मायामय जीवमें और जीव मुझ अजन्मा आत्मामें लीन हो जाता है । आत्मा किसीमें लीन नहीं होता, वह उपाधिरहित अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है । वह जगत्की सृष्टि और लयका अधिष्ठान एवं अवधि है ॥ २७ ॥ उद्धवजी ! जो इस प्रकार विवेकदृष्टिसे देखता है, उसके चित्तमें यह प्रपञ्चका भ्रम हो ही नहीं सकता । यदि कदाचित् उसकी स्फूर्ति हो भी जाय, तो वह अधिक कालतक हृदयमें ठहर कैसे सकता है ? क्या सूर्योदय होनेपर भी आकाशमें अन्धकार ठहर सकता है ॥ २८ ॥ उद्धवजी ! मैं कार्य और कारण दोनोंका ही साक्षी हूँ । मैंने तुम्हें सृष्टिसे प्रलय और प्रलयसे सृष्टितककी सांख्यविधि बतला दी । इससे सन्देहकी गाँठ कट जाती है और पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

१. मर्त्योऽन्नं । २. भेषजः ।

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

गुणानामसमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत् ।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः ॥ १ ॥

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः ।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः॥२॥

काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम् ।
मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥ ३ ॥

क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः ।
शोकमोहौ विषादार्ती निद्राऽऽशा भीरनुद्यमः ॥ ४ ॥

सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः ।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु ॥ ५ ॥

सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥ ६ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे ।
स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥ ८ ॥

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पुरुषप्रवर उद्धवजी ! प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अलग गुणोंका प्रकाश होता है । उनके कारण प्राणियोंके स्वभावमें भी भेद हो जाता है । अब मैं बतलाता हूँ कि किस गुणसे कैसा-कैसा स्वभाव बनता है । तुम सावधानीसे सुनो ॥ १ ॥ सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं—शम (मनःसंयम), दम (इन्द्रियनिग्रह), तितिक्षा (सहिष्णुता), विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति, सन्तोष, त्याग, विषयोंके प्रति अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा (पाप करनेमें स्वाभाविक सङ्कोच), आत्मरति, दान, विनय और सरलता आदि ॥ २ ॥ रजोगुणकी वृत्तियाँ हैं—इच्छा, प्रयत्न, घमंड, तृष्णा (असन्तोष), ऐंठ या अकड़, देवताओंसे धन आदिकी याचना, भेदबुद्धि, विषयभोग, युद्धादिके लिये मदजनित उत्साह, अपने यशमें प्रेम, हास्य, पराक्रम और हठपूर्वक उद्योग करना आदि ॥ ३ ॥ तमोगुणकी वृत्तियाँ हैं—क्रोध (असहिष्णुता), लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, दीनता, निद्रा, आशा, भय और अकर्मण्यता आदि ॥ ४ ॥ इस प्रकार क्रमसे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी अधिकांश वृत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया । अब उनके मेलसे होनेवाली वृत्तियोंका वर्णन सुनो ॥ ५ ॥ उद्धवजी ! 'मैं हूँ और यह मेरा है' इस प्रकारकी बुद्धिमें तीनों गुणोंका मिश्रण है । जिन मन, शब्दादि विषय, इन्द्रिय और प्राणोंके कारण पूर्वोक्त वृत्तियोंका उदय होता है, वे सब-के-सब सात्त्विक, राजस और तामस हैं ॥ ६ ॥ जब मनुष्य धर्म, अर्थ और काममें संलग्न रहता है, तब उसे सत्त्वगुणसे श्रद्धा, रजोगुणसे रति और तमोगुणसे धनकी प्राप्ति होती है । यह भी गुणोंका मिश्रण ही है ॥ ७ ॥ जिस समय मनुष्य सकाम कर्म, गृहस्थाश्रम और स्वधर्माचरणमें अधिक प्रीति रखता है, उस समय भी उसमें तीनों गुणोंका मेल ही समझना चाहिये ॥ ८ ॥ मानसिक शान्ति और जितेन्द्रियता आदि गुणोंसे सत्त्वगुणी पुरुषकी, कामना आदिसे रजोगुणी पुरुषकी

कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥ ९ ॥
यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥१०॥
यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसामाशास्य तामसम् ॥११॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥१२॥
यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम्।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥१३॥
यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम्।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया ॥१४॥
यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम्।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाऽऽशया ॥१५॥
यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत् सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥१६॥
विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम्।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ॥१७॥
सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम्।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥१८॥

और क्रोध-हिंसा आदिसे तमोगुणी पुरुषकी पहचान करे ॥ ९ ॥ पुरुष हो, चाहे स्त्री—जब वह निष्काम होकर अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंद्वारा मेरी आराधना करे, तब उसे सत्त्वगुणी जानना चाहिये ॥ १० ॥ सकामभावसे अपने कर्मोंके द्वारा मेरा भजन-पूजन करनेवाला रजोगुणी है और जो अपने शत्रुकी मृत्यु आदिके लिये मेरा भजन-पूजन करे, उसे तमोगुणी समझना चाहिये ॥ ११ ॥ सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका कारण जीवका चित्त है। उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हीं गुणोंके द्वारा जीव शरीर अथवा धन आदिमें आसक्त होकर बन्धनमें पड़ जाता है ॥ १२ ॥ सत्त्वगुण प्रकाशक, निर्मल और शान्त है। जिस समय वह रजोगुण और तमोगुणको दबाकर बढ़ता है, उस समय पुरुष सुख, धर्म और ज्ञान आदिका भाजन हो जाता है ॥ १३ ॥ रजोगुण भेदबुद्धिका कारण है। उसका स्वभाव है आसक्ति और प्रवृत्ति। जिस समय तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है, उस समय मनुष्य दुःख, कर्म, यश और लक्ष्मीसे सम्पन्न होता है ॥ १४ ॥ तमोगुणका स्वरूप है अज्ञान। उसका स्वभाव है आलस्य और बुद्धिकी मूढ़ता। जब वह बढ़कर सत्त्वगुण और रजोगुणको दबा लेता है, तब प्राणी तरह-तरहकी आशाएँ करता है, शोक-मोहमें पड़ जाता है, हिंसा करने लगता है अथवा निद्रा-आलस्यके वशीभूत होकर पड़ रहता है ॥ १५ ॥ जब चित्त प्रसन्न हो, इन्द्रियाँ शान्त हों, देह निर्भय हो और मनमें आसक्ति न हो, तब सत्त्वगुणकी वृद्धि समझनी चाहिये। सत्त्वगुण मेरी प्राप्तिका साधन है ॥ १६ ॥ जब काम करते-करते जीवकी बुद्धि चञ्चल, ज्ञानेन्द्रियाँ असन्तुष्ट, कर्मेन्द्रियाँ विकारयुक्त, मन भ्रान्त और शरीर अस्वस्थ हो जाय, तब समझना चाहिये कि रजोगुण जोर पकड़ रहा है ॥ १७ ॥ जब चित्त ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि विषयोंको ठीक-ठीक समझनेमें असमर्थ हो जाय और खिन्न होकर लीन होने लगे, मन सूना-सा हो जाय तथा अज्ञान और विषादकी वृद्धि हो, तब समझना चाहिये कि तमोगुण वृद्धिपर है ॥ १८ ॥

१. यजेत।

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते ।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम् ॥१९॥
सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत् ।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ॥२०॥
उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः ।
तमसाधोऽध आमुख्याद् रजसान्तरचारिणः ॥२१॥
सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः ।
तमोलयास्तु निरयं[1] यान्ति मामेव निर्गुणाः ॥२२॥
मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् ।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥२३॥
कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् ।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥२४॥
वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते ।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥२५॥
सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥२६॥

उद्धवजी ! सत्त्वगुणके बढ़नेपर देवताओंका, रजोगुणके बढ़नेपर असुरोंका और तमोगुणके बढ़नेपर राक्षसोंका बल बढ़ जाता है (वृत्तियोंमें भी क्रमशः सत्त्वादि गुणोंकी अधिकता होनेपर देवत्व, असुरत्व और राक्षसत्वप्रधान निवृत्ति, प्रवृत्ति अथवा मोहकी प्रधानता हो जाती है) ॥ १९ ॥ सत्त्वगुणसे जाग्रत्-अवस्था, रजोगुणसे स्वप्नावस्था और तमोगुणसे सुषुप्ति-अवस्था होती है । तुरीय इन तीनोंमें एक-सा व्याप्त रहता है । वही शुद्ध और एकरस आत्मा है ॥ २० ॥ वेदोंके अभ्यासमें तत्पर ब्राह्मण सत्त्वगुणके द्वारा उत्तरोत्तर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं । तमोगुणसे जीवोंको वृक्षादिपर्यन्त अधोगति प्राप्त होती है और रजोगुणसे मनुष्यशरीर मिलता है ॥ २१ ॥ जिसकी मृत्यु सत्त्वगुणोंकी वृद्धिके समय होती है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है; जिसकी रजोगुणकी वृद्धिके समय होती है, उसे मनुष्यलोक मिलता है और जो तमोगुणकी वृद्धिके समय मरता है, उसे नरककी प्राप्ति होती है । परन्तु जो पुरुष त्रिगुणातीत—जीवन्मुक्त हो गये हैं, उन्हें मेरी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥ जब अपने धर्मका आचरण मुझे समर्पित करके अथवा निष्कामभावसे किया जाता है, तब वह सात्त्विक होता है । जिस कर्मके अनुष्ठानमें किसी फलकी कामना रहती है, वह राजसिक होता है और जिस कर्ममें किसीको सताने अथवा दिखाने आदिका भाव रहता है, वह तामसिक होता है ॥ २३ ॥ शुद्ध आत्माका ज्ञान सात्त्विक है । उसको कर्ता-भोक्ता समझना राजस ज्ञान है और उसे शरीर समझना तो सर्वथा तामसिक है । इन तीनोंसे विलक्षण मेरे स्वरूपका वास्तविक ज्ञान निर्गुण ज्ञान है ॥ २४ ॥ वनमें रहना सात्त्विक निवास है, गाँवमें रहना राजस है और जूआघरमें रहना तामसिक है । इन सबसे बढ़कर मेरे मन्दिरमें रहना निर्गुण निवास है ॥ २५ ॥ अनासक्तभावसे कर्म करनेवाला सात्त्विक है, रागान्ध होकर कर्म करनेवाला राजसिक है और पूर्वापरविचारसे रहित होकर करनेवाला तामसिक है । इनके अतिरिक्त जो पुरुष केवल मेरी शरणमें रहकर बिना अहङ्कारके कर्म करता है, वह निर्गुण कर्ता

१. नरकं ।

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥२७॥
पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम् ।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि ॥२८॥
सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम् ।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥२९॥
द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः ।
श्रद्धावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥३०॥
सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिता[1] ।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ ॥३१॥
एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः ।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥३२॥
तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥३३॥
निःसङ्गो मां भजेद् विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
रजस्तमश्चाभिजयेत् सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥३४॥

है ॥ २६ ॥ आत्मज्ञानविषयक श्रद्धा सात्त्विक श्रद्धा है, कर्मविषयक श्रद्धा राजस है और जो श्रद्धा अधर्ममें होती है, वह तामस है तथा मेरी सेवामें जो श्रद्धा है, वह निर्गुण श्रद्धा है ॥ २७ ॥ आरोग्यदायक, पवित्र और अनायास प्राप्त भोजन सात्त्विक है । रसनेन्द्रियको रुचिकर और स्वादकी दृष्टिसे युक्त आहार राजस है तथा दुःखदायी और अपवित्र आहार तामस है ॥ २८ ॥ अन्तर्मुखतासे—आत्मचिन्तनसे प्राप्त होनेवाला सुख सात्त्विक है । बहिर्मुखतासे—विषयोंसे प्राप्त होनेवाला राजस है तथा अज्ञान और दीनतासे प्राप्त होनेवाला सुख तामस है और जो सुख मुझसे मिलता है, वह तो गुणातीत और अप्राकृत है ॥ २९ ॥

उद्धवजी ! द्रव्य (वस्तु), देश (स्थान), फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, अवस्था, देव-मनुष्य-तिर्यगादि शरीर और निष्ठा—सभी त्रिगुणात्मक हैं ॥ ३० ॥ नररत्न ! पुरुष और प्रकृतिके आश्रित जितने भी भाव हैं, सभी गुणमय हैं—वे चाहे नेत्रादि इन्द्रियोंसे अनुभव किये हुए हों, शास्त्रोंके द्वारा लोक-लोकान्तरोंके सम्बन्धमें सुने गये हों अथवा बुद्धिके द्वारा सोचे-विचारे गये हों ॥ ३१ ॥ जीवको जितनी भी योनियाँ अथवा गतियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब उनके गुणों और कर्मोंके अनुसार ही होती हैं । हे सौम्य ! सब-के-सब गुण चित्तसे ही सम्बन्ध रखते हैं (इसलिये जीव उन्हें अनायास ही जीत सकता है) । जो जीव उनपर विजय प्राप्त कर लेता है, वह भक्तियोगके द्वारा मुझमें ही परिनिष्ठित हो जाता है और अन्ततः मेरा वास्तविक स्वरूप, जिसे मोक्ष भी कहते हैं, प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥ यह मनुष्यशरीर बहुत ही दुर्लभ है । इसी शरीरमें तत्त्वज्ञान और उसमें निष्ठारूप विज्ञानकी प्राप्ति सम्भव है, इसलिये इसे पाकर बुद्धिमान् पुरुषोंको गुणोंकी आसक्ति हटाकर मेरा भजन करना चाहिये ॥ ३३ ॥ विचारशील पुरुषको चाहिये कि बड़ी सावधानीसे सत्त्वगुणके सेवनसे रजोगुण और तमोगुणको जीत ले, इन्द्रियोंको वशमें कर ले और मेरे स्वरूपको समझकर मेरे भजनमें लग जाय । आसक्तिको लेशमात्र भी न रहने दे । ३४।

[1] निष्ठिताः ।

सत्त्वं चाभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः ।
सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ॥३५॥
जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः ।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत् ॥३६॥

योगयुक्तिसे चित्तवृत्तियोंको शान्त करके निरपेक्षताके द्वारा सत्त्वगुणपर भी विजय प्राप्त कर ले। इस प्रकार गुणोंसे मुक्त होकर जीव अपने जीवभावको छोड़ देता है और मुझसे एक हो जाता है ॥ ३५ ॥ जीव लिङ्गशरीररूप अपनी उपाधि जीवत्वसे तथा अन्तःकरणमें उदय होनेवाली सत्त्वादि गुणोंकी वृत्तियोंसे मुक्त होकर मुझ ब्रह्मकी अनुभूतिसे एकत्वदर्शनसे पूर्ण हो जाता है और वह फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी विषयमें नहीं जाता ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

पुरूरवाकी वैराग्योक्ति

श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः ।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥ १ ॥
गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया ।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः[1] ।
वर्तमानोऽपि न पुमान् युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥
सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् ।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥ ३ ॥
ऐलः[2] सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः ।
उर्वशीविरहान् मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे[3] ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! यह मनुष्य-शरीर मेरे स्वरूपज्ञानकी प्राप्तिका—मेरी प्राप्तिका मुख्य साधन है। इसे पाकर जो मनुष्य सच्चे प्रेमसे मेरी भक्ति करता है वह अन्तःकरणमें स्थित मुझ आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १ ॥ जीवोंकी सभी योनियाँ, सभी गतियाँ त्रिगुणमयी हैं। जीव ज्ञाननिष्ठाके द्वारा उनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। सत्त्व-रज आदि गुण जो दीख रहे हैं वे वास्तविक नहीं हैं, मायामात्र हैं। ज्ञान हो जानेके बाद पुरुष उनके बीचमें रहनेपर भी उनके द्वारा व्यवहार करनेपर भी उनसे बँधता नहीं। इसका कारण यह है कि उन गुणोंकी वास्तविक सत्ता ही नहीं है ॥ २ ॥ साधारण लोगोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि जो लोग विषयोंके सेवन और उदरपोषणमें ही लगे हुए हैं, उन असत् पुरुषोंका सङ्ग कभी न करें; क्योंकि उनका अनुगमन करनेवाले पुरुषकी वैसी ही दुर्दशा होती है, जैसे अंधेके सहारे चलनेवाले अंधेकी। उसे तो घोर अन्धकारमें ही भटकना पड़ता है ॥ ३ ॥ उद्धवजी! पहले तो परम यशस्वी सम्राट् इलानन्दन पुरूरवा उर्वशीके विरहसे अत्यन्त

१. ष्ववस्थितः। २. ऐडः। ३. शोकसंगरे।

त्यक्त्वाऽऽत्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः ।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः ॥ ५ ॥
कामानतृप्तोऽनुजुषन् क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः ।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः ॥ ६ ॥

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः ।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः ॥ ७ ॥
नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया ।
मुषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत ॥ ८ ॥
अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः ।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः ॥ ९ ॥
सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम् ।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद् रुदन् ॥ १० ॥
कुतस्तस्यानुभावः स्यात् तेज ईशत्वमेव वा ।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः ॥ ११ ॥
किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥ १२ ॥
स्वार्थस्याकोविदं धिङ् मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥ १३ ॥

१. यद्वौ ।

बेसुध हो गया था । पीछे शोक हट जानेपर उसे बड़ा वैराग्य हुआ और तब उसने यह गाथा गायी ॥ ४ ॥ राजा पुरूरवा नग्न होकर पागलकी भाँति अपनेको छोड़कर भागती हुई उर्वशीके पीछे अत्यन्त विह्वल होकर दौड़ने लगा और कहने लगा—'देवि! निष्ठुरहृदये! थोड़ी देर ठहर जा, भाग मत' ॥ ५ ॥ उर्वशीने उनका चित्त आकृष्ट कर लिया था । उन्हें तृप्ति नहीं हुई थी । वे क्षुद्र विषयोंके सेवनमें इतने डूब गये थे कि उन्हें वर्षोंकी रात्रियाँ न जाती मालूम पड़ीं और न तो आती ॥ ६ ॥

पुरूरवाने कहा—हाय-हाय ! भला, मेरी मूढ़ता तो देखो, कामवासनाने मेरे चित्तको कितना कलुषित कर दिया ! उर्वशीने अपनी बाहुओंसे मेरा ऐसा गला पकड़ा कि मैंने आयुके न जाने कितने वर्ष खो दिये ! ओह ! विस्मृतिकी भी एक सीमा होती है ॥ ७ ॥ हाय-हाय ! इसने मुझे लूट लिया । सूर्य अस्त हो गया या उदित हुआ—यह भी मैं न जान सका । बड़े खेदकी बात है कि बहुत-से वर्षोंके दिन-पर-दिन बीतते गये और मुझे मालूमतक न पड़ा ॥ ८ ॥ अहो आश्चर्य है ! मेरे मनमें इतना मोह बढ़ गया, जिसने नरदेव-शिखामणि चक्रवर्ती सम्राट् मुझ पुरूरवाको भी स्त्रियोंका क्रीडामृग (खिलौना) बना दिया ॥ ९ ॥ देखो, मैं प्रजाको मर्यादामें रखनेवाला सम्राट् हूँ । वह मुझे और मेरे राजपाटको तिनकेकी तरह छोड़कर जाने लगी और मैं मैं पागल होकर नंग-धड़ंग रोता-बिलखता उस स्त्रीके पीछे दौड़ पड़ा । हाय ! हाय ! यह भी कोई जीवन है । १० । मैं गधेकी तरह दुलत्तियाँ सहकर भी स्त्रीके पीछे-पीछे दौड़ता रहा; फिर मुझमें प्रभाव, तेज और स्वामित्व भला, कैसे रह सकता है ॥ ११ ॥ स्त्रीने जिसका मन चुरा लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है । उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्याससे भी कोई लाभ नहीं । और इसमें सन्देह नहीं कि उसका एकान्तसेवन और मौन भी निष्फल है ॥ १२ ॥ मुझे अपने ही हानि-लाभका पता नहीं, फिर भी अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानता हूँ । मुझ मूर्खको धिक्कार है ! हाय ! हाय मैं चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी गधे और बैलकी तरह स्त्रीके फँदेमें फँस

सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम् ।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥१४॥
पुंश्चल्यापहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥१५॥
बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः ॥१६॥
किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।
रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥१७॥
क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥१८॥
पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः ।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥१९॥
तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विपज्जते ।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च[1] मुखं स्त्रियः ॥२०॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विंण्मूत्रपूये[2] रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥२१॥
अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ।

गया ॥ १३ ॥ मैं वर्षोंतक उर्वशीके होंठोंकी मादक मदिरा पीता रहा, पर मेरी कामवासना तृप्त न हुई । सच है, कहीं आहुतियोंसे अग्निकी तृप्ति हुई है ॥ १४ ॥ उस कुलटाने मेरा चित्त चुरा लिया । आत्माराम जीवन्मुक्तोंके स्वामी इन्द्रियातीत भगवान्‌को छोड़कर और ऐसा कौन है, जो मुझे उसके फंदेसे निकाल सके ।१५। उर्वशीने तो मुझे वैदिक सूक्तके वचनोंद्वारा यथार्थ बात कहकर समझाया भी था; परन्तु मेरी बुद्धि ऐसी मारी गयी कि मेरे मनका वह भयङ्कर मोह तब भी मिटा नहीं । जब मेरी इन्द्रियाँ ही मेरे हाथके बाहर हो गयीं, तब मैं समझता भी कैसे ॥१६॥ जो रस्सीके स्वरूपको न जानकर उसमें सर्पकी कल्पना कर रहा है और दुखी हो रहा है, रस्सीने उसका क्या बिगाड़ा है ? इसी प्रकार इस उर्वशीने भी हमारा क्या बिगाड़ा ? क्योंकि स्वयं मैं ही अजितेन्द्रिय होनेके कारण अपराधी हूँ ॥ १७ ॥ कहाँ तो यह मैला-कुचैला, दुर्गन्धसे भरा अपवित्र शरीर और कहाँ सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध आदि पुष्पोचित गुण ! परन्तु मैंने अज्ञानवश असुन्दरमें सुन्दरका आरोप कर लिया ॥ १८ ॥ यह शरीर माता-पिताका सर्वस्व है अथवा पत्नीकी सम्पत्ति ? यह स्वामीकी मोल ली हुई वस्तु है, आगका ईंधन है अथवा कुत्ते और गीधोंका भोजन ? इसे अपना कहें अथवा सुहृद्-सम्बन्धियोंका ? बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई निश्चय नहीं होता ।१९। यह शरीर मल-मूत्रसे भरा हुआ अत्यन्त अपवित्र है । इसका अन्त यही है कि पक्षी खाकर विष्ठा कर दें, इसके सड़ जानेपर इसमें कीड़े पड़ जायँ अथवा जला देनेपर यह राखका ढेर हो जाय । ऐसे शरीरपर लोग लट्टू हो जाते हैं और कहने लगते हैं—अहो ! इस स्त्रीका मुखड़ा कितना सुन्दर है ! नाक कितनी सुघड़ है और मन्द-मन्द मुसकान कितनी मनोहर है ॥२०॥ यह शरीर त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेदा, मज्जा और हड्डियोंका ढेर और मल-मूत्र तथा पीवसे भरा हुआ है । यदि मनुष्य इसमें रमता है, तो मल-मूत्रके कीड़ोंमें और उसमें अन्तर ही क्या है ॥ २१ ॥ इसलिये अपनी भलाई समझनेवाले विवेकी मनुष्यको चाहिये कि स्त्रियों और स्त्रीलम्पट पुरुषोंका सङ्ग न करे । विषय और

१. सुमुखं । २. विण्मूत्रपूयैः ।

विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥२२॥
अदृष्टादश्रुतात् भावान्न भाव उपजायते ।
असम्प्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः ॥२३॥
तस्मात् सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।
विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम् ॥२४॥

इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है; अन्यथा विकारका कोई अवसर ही नहीं है ॥ २२ ॥ जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गयी है, उसके लिये मनमें विकार नहीं होता । जो लोग विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग नहीं होने देते, उनका मन अपने-आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है ॥ २३ ॥ अतः वाणी, कान और मन आदि इन्द्रियोंसे स्त्रियों और स्त्रीलम्पटोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये । मेरे-जैसे लोगोंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी अपनी इन्द्रियाँ और मन विश्वसनीय नहीं हैं ॥ २४ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय ।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥२५॥

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एतस्य च्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥२६॥
सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥२७॥
तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हिता नॄणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥२८॥
ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः[1] श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥२९॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! राजराजेश्वर पुरूरवाके मनमें जब इस तरहके उद्गार उठने लगे, तब उसने उर्वशीलोकका परित्याग कर दिया । अब ज्ञानोदय होनेके कारण उसका मोह जाता रहा और उसने अपने हृदयमें ही आत्मस्वरूपसे मेरा साक्षात्कार कर लिया और वह शान्त भावमें स्थित हो गया ॥ २५ ॥ इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि पुरूरवाकी भाँति कुसङ्ग छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे । संत पुरुष अपने सदुपदेशोंसे उसके मनकी आसक्ति नष्ट कर देंगे ॥ २६ ॥ संत पुरुषोंका लक्षण यह है कि उन्हें कभी किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती । उनका चित्त मुझमें लगा रहता है । उनके हृदयमें शान्तिका अगाध समुद्र लहराता रहता है; वे सदा-सर्वदा सर्वत्र सबमें सब रूपसे स्थित भगवान्‌का ही दर्शन करते हैं । उनमें अहङ्कारका लेश भी नहीं होता, फिर ममताकी तो सम्भावना ही कहाँ है । वे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें एकरस रहते हैं तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक और पदार्थ-सम्बन्धी किसी प्रकारका भी परिग्रह नहीं रखते ॥२७॥ परमभाग्यवान् उद्धवजी ! संतोंके सौभाग्यकी महिमा कौन कहे ? उनके पास सदा-सर्वदा मेरी लीला-कथाएँ हुआ करती हैं । मेरी कथाएँ मनुष्योंके लिये परम हितकर हैं; जो उनका सेवन करते हैं, उनके सारे पाप-तापोंको वे धो डालती हैं ॥ २८ ॥ जो लोग आदर और श्रद्धासे मेरी लीला-कथाओंका श्रवण, गान और अनुमोदन करते हैं, वे मेरे परायण हो जाते हैं और मेरी अनन्य प्रेममयी

१. परास् ।

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥३०॥

भक्ति प्राप्त कर लेते हैं ॥ २९ ॥ उद्धवजी ! मैं अनन्त अचिन्त्य कल्याणमय गुणगणोंका आश्रय हूँ । मेरा स्वरूप है—केवल आनन्द, केवल अनुभव, विशुद्ध आत्मा । मैं साक्षात् परब्रह्म हूँ । जिसे मेरी भक्ति मिल गयी, वह तो संत हो गया । अब उसे कुछ भी पाना शेष नहीं है ॥ ३० ॥

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥३१॥

उनकी तो बात ही क्या—जिसने उन संत पुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली, उसकी भी कर्मजडता, संसारभय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं । भला, जिसने अग्निभगवान्‌का आश्रय ले लिया उसे शीत, भय अथवा अन्धकारका दुःख हो सकता है ?।३१।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥३२॥

जो इस घोर संसारसागरमें डूब-उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त संत ही एकमात्र आश्रय हैं, जैसे जलमें डूब रहे लोगोंके लिये दृढ़ नौका ॥ ३२ ॥

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ।३३।

जैसे अन्नसे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा होती है, जैसे मैं ही दीन-दुखियोंका परम रक्षक हूँ, जैसे मनुष्यके लिये परलोकमें धर्म ही एकमात्र पूँजी है—वैसे ही जो लोग संसारसे भयभीत हैं, उनके लिये संतजन ही परम आश्रय हैं ॥ ३३ ॥

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः ।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥३४॥

जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर लोगोंको जगत् तथा अपनेको देखनेके लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपनेको तथा भगवान्‌को देखनेके लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं । संत अनुग्रहशील देवता हैं । संत अपने हितैषी सुहृद् हैं । संत अपने प्रियतम आत्मा हैं । और अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही संतके रूपमें विद्यमान हूँ ॥ ३४ ॥

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिःस्पृहः ।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥३५॥

प्रिय उद्धव ! आत्मसाक्षात्कार होते ही इलानन्दन पुरूरवाको उर्वशीके लोककी स्पृहा न रही । उसकी सारी आसक्तियाँ मिट गयीं और वह आत्माराम होकर स्वच्छन्दरूपसे इस पृथ्वीपर विचरण करने लगा ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

क्रियायोगका वर्णन

उद्धव उवाच

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो ।

उद्धवजीने पूछा—भक्तवत्सल श्रीकृष्ण ! जिस क्रिया-योगका आश्रय लेकर जो भक्तजन जिस प्रकारसे जिस

यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ ॥ १ ॥

एतद् वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम् ।

नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः ॥ २ ॥

निःसृतं ते मुखाम्भोजाद् यदाह भगवानजः ।

पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः ॥ ३ ॥

एतद् वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम् ।

श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद ॥ ४ ॥

एतत् कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम् ।

भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव ।

संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६ ॥

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।

त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥ ७ ॥

यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः ।

यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥ ८ ॥

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे ।

द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥ ९ ॥

पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये ।

उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना ॥ १० ॥

उद्देश्यसे आपकी अर्चा-पूजा करते हैं, आप अपने उस आराधनरूप क्रियायोगका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥ देवर्षि नारद, भगवान् व्यासदेव और आचार्य बृहस्पति आदि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि यह बात बार-बार कहते हैं कि क्रियायोगके द्वारा आपकी आराधना ही मनुष्योंके परम कल्याणकी साधना है ॥ २ ॥ यह क्रियायोग पहले-पहल आपके मुखारविन्दसे ही निकला था । आपसे ही ग्रहण करके इसे ब्रह्माजीने अपने पुत्र भृगु आदि महर्षियोंको और भगवान् शङ्करने अपनी अर्द्धाङ्गिनी भगवती पार्वतीजीको उपदेश किया था ॥ ३ ॥ मर्यादारक्षक प्रभो ! यह क्रियायोग ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णों और ब्रह्मचारी-गृहस्थ आदि आश्रमोंके लिये भी परम कल्याणकारी है । मैं तो ऐसा समझता हूँ कि स्त्री-शूद्रादिके लिये भी यही सबसे श्रेष्ठ साधना-पद्धति है ॥ ४ ॥ कमलनयन श्यामसुन्दर ! आप शङ्कर आदि जगदीश्वरोंके भी ईश्वर हैं और मैं आपके चरणोंका प्रेमी भक्त हूँ । आप कृपा करके मुझे यह कर्मबन्धनसे मुक्त करनेवाली विधि बतलाइये ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! कर्मकाण्डका इतना विस्तार है कि उसकी कोई सीमा नहीं है; इसलिये मैं उसे थोड़ेमें ही पूर्वापर-क्रमसे विधिपूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ ६ ॥ मेरी पूजाकी तीन विधियाँ हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित । इन तीनोंमेंसे मेरे भक्तको जो भी अपने अनुकूल जान पड़े, उसी विधिसे मेरी आराधना करनी चाहिये ॥ ७ ॥ पहले अपने अधिकारानुसार शास्त्रोक्त विधिसे समयपर यज्ञोपवीत-संस्कारके द्वारा संस्कृत होकर द्विजत्व प्राप्त करे, फिर श्रद्धा और भक्तिके साथ वह किस प्रकार मेरी पूजा करे, इसकी विधि तुम मुझसे सुनो ॥ ८ ॥ भक्तिपूर्वक निष्कपट भावसे अपने पिता एवं गुरुरूप मुझ परमात्माका पूजाकी सामग्रियोंके द्वारा मूर्तिमें, वेदीमें, अग्निमें, सूर्यमें, जलमें, हृदयमें अथवा ब्राह्मणमें—चाहे किसीमें भी आराधना करे ।९। उपासकको चाहिये कि प्रातःकाल दतुअन करके पहले शरीरशुद्धिके लिये स्नान करे और फिर वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिट्टी और भस्म आदिका

१. मैतत्सि० । २. सूर्येऽप्सु हृदि वा द्विजः ।

सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि मे[1] ।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक् सङ्कल्पः कर्मपावनीम् ॥११॥
शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥१२॥
चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने[2] ॥१३॥
अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥१४॥
द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥१५॥
स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव ।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः ॥१६॥
सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ॥१७॥
[3]भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ॥१८॥

लेप करके, पुनः स्नान करे ॥ १० ॥ इसके पश्चात् वेदोक्त सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म करने चाहिये। उसके बाद मेरी आराधनाका ही सुदृढ़ सङ्कल्प करके वैदिक और तान्त्रिक विधियोंसे कर्मबन्धनोंसे छुड़ानेवाली मेरी पूजा करे ॥ ११ ॥ मेरी मूर्ति आठ प्रकारकी होती है—पत्थरकी, लकड़ीकी, धातुकी, मिट्टी और चन्दन आदिकी, चित्रमयी, बालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी ॥ १२ ॥ चल और अचल भेदसे दो प्रकारकी प्रतिमा ही मुझ भगवान्का मन्दिर है। उद्धवजी! अचल प्रतिमाके पूजनमें प्रतिदिन आवाहन और विसर्जन नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥ चल प्रतिमाके सम्बन्धमें विकल्प है। चाहे करे और चाहे न करे। परन्तु बालुकामयी प्रतिमामें तो आवाहन और विसर्जन प्रतिदिन करना ही चाहिये। मिट्टी और चन्दनकी तथा चित्रमयी प्रतिमाओंको स्नान न करावे, केवल मार्जन कर दे; परन्तु और सबको स्नान कराना चाहिये ॥ १४ ॥ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पदार्थोंसे प्रतिमा आदिमें मेरी पूजा की जाती है, परन्तु जो निष्काम भक्त है, वह अनायास प्राप्त पदार्थोंसे और भावनामात्रसे ही हृदयमें मेरी पूजा कर ले ॥ १५ ॥ उद्धवजी! स्नान, वस्त्र, आभूषण आदि तो पाषाण अथवा धातुकी प्रतिमाके पूजनमें ही उपयोगी हैं। बालुकामयी मूर्ति अथवा मिट्टीकी वेदीमें पूजा करनी हो, तो उसमें मन्त्रोंके द्वारा अङ्ग और उसके प्रधान देवताओंकी यथास्थान पूजा करनी चाहिये। तथा अग्निमें पूजा करनी हो तो घृतमिश्रित हवन-सामग्रियोंसे आहुति देनी चाहिये ॥ १६ ॥ सूर्यको प्रतीक मानकर की जानेवाली उपासनामें मुख्यतः अर्घ्यदान एवं उपस्थान ही प्रिय है और जलमें तर्पण आदिसे मेरी उपासना करनी चाहिये। जब मुझे कोई भक्त हार्दिक श्रद्धासे जल भी चढ़ाता है, तब मैं उसे बड़े प्रेमसे स्वीकार करता हूँ ॥ १७ ॥ यदि कोई अभक्त मुझे बहुत-सी सामग्री निवेदन करे, तो भी मैं उससे सन्तुष्ट नहीं होता। जब मैं भक्ति-श्रद्धापूर्वक समर्पित जलसे ही प्रसन्न हो जाता हूँ, तब गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि वस्तुओंके समर्पणसे तो कहना ही क्या है ॥ १८ ॥

१. वेदमन्त्रोदितानि । २. मेतदुद्धव । ३. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

शुचिः सम्भृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः ।

आसीनः प्रागुदग् वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः ॥१९॥

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिना मृजेत् ।

कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत् ॥२०॥

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च ।

प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत् ।२१।

पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि दैशिकः ।

हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥२२॥

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम ।

अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम् ।२३।

तयाऽऽत्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः ।

आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् ॥२४॥

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान् प्रकल्पयेत् ।

उपासक पहले पूजाकी सामग्री इकट्ठी कर ले। फिर इस प्रकार कुश बिछाये कि उनके अगले भाग पूर्वकी ओर रहें। तदनन्तर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके पवित्रतासे उन कुशोंके आसनपर बैठ जाय। यदि प्रतिमा अचल हो तो उसके सामने ही बैठना चाहिये। इसके बाद पूजाकार्य प्रारम्भ करे ॥ १९ ॥ पहले विधिपूर्वक अङ्गन्यास और करन्यास कर ले। इसके बाद मूर्तिमें मन्त्रन्यास करे और हाथसे प्रतिमापरसे पूर्वसमर्पित सामग्री हटाकर उसे पोंछ दे। इसके बाद जलसे भरे हुए कलश और प्रोक्षणपात्र आदिकी पूजा गन्ध-पुष्प आदिसे करे ॥ २० ॥ प्रोक्षणपात्रके जलसे पूजासामग्री और अपने शरीरका प्रोक्षण कर ले। तदनन्तर पाद्य, अर्घ्य और आचमनके लिये तीन पात्रोंमें कलशमेंसे जल भरकर रख ले और उनमें पूजा-पद्धतिके अनुसार सामग्री डाले। (पाद्यपात्रमें श्यामाक—साँवेके दाने, दूब, कमल, विष्णुक्रान्ता और चन्दन, तुलसीदल आदि; अर्घ्यपात्रमें गन्ध, पुष्प, अक्षत, जौ, कुश, तिल, सरसों और दूब तथा आचमनपात्रमें जायफल, लौंग, आदि डाले।) इसके बाद पूजा करनेवालेको चाहिये कि तीनों पात्रोंको क्रमशः हृदयमन्त्र, शिरोमन्त्र और शिखामन्त्रसे अभिमन्त्रित करके अन्तमें गायत्रीमन्त्रसे तीनों-को अभिमन्त्रित करे ॥ २१-२२ ॥ इसके बाद प्राणायामके द्वारा प्राणवायु और भावनाओंद्वारा शरीरस्थ अग्निके शुद्ध हो जानेपर हृदयकमलमें परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ दीपकशिखाके समान मेरी जीवकलाका ध्यान करे। बड़े-बड़े सिद्ध ऋषि-मुनि ॐकारके अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद—इन पाँच कलाओंके अन्तमें उसी जीवकलाका ध्यान करते हैं ॥ २३ ॥ वह जीवकला आत्मस्वरूपिणी है। जब उसके तेजसे सारा अन्तःकरण और शरीर भर जाय, तब मानसिक उपचारोंसे मन-ही-मन उसकी पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर तन्मय होकर मेरा आवाहन करे और प्रतिमा आदिमें स्थापना करे। फिर मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास करके उसमें मेरी पूजा करे ॥ २४ ॥ उद्धवजी! मेरे आसनमें धर्म आदि गुणों और विमला आदि शक्तियोंकी भावना करे। अर्थात् आसनके चारों कोनोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूप चार पाये हैं, अधर्म, अज्ञान,

धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वाऽऽसनं मम ॥२५॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् ।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥२६॥
सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान् ।
मुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत् ॥२७॥
नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च ।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम् ॥२८॥
दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान् ।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः ।२९।
चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥३०॥
स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया ।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥३१॥
वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥३२॥
पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् ।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः ॥३३॥
गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥३४॥

अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये चार चारों दिशाओंमें डंडे हैं; सत्त्व-रज-तम-रूप तीन पटरियोंकी बनी हुई पीठ है; उसपर विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—ये नौ शक्तियाँ विराजमान हैं। उस आसनपर एक अष्टदल कमल है, उसकी कर्णिका अत्यन्त प्रकाशमान है और पीली-पीली केसरोंकी छठा निराली ही है। आसनके सम्बन्धमें ऐसी भावना करके पाद्य, आचमनीय और अर्घ्य आदि उपचार प्रस्तुत करे। तदनन्तर भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये वैदिक और तान्त्रिक विधिसे मेरी पूजा करे॥ २५-२६॥ सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा आठ दिशाओंमें करे और कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा श्रीवत्सचिह्नकी वक्षःस्थलपर यथास्थान पूजा करे॥२७॥ नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण—इन आठ पार्षदोंकी आठ दिशाओंमें; गरुडकी सामने; दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेनकी चारों कोनोंमें स्थापना करके पूजन करे। बायीं ओर गुरुकी और यथाक्रम पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि आठ लोकपालोंकी स्थापना करके प्रोक्षण, अर्घ्यदान आदि क्रमसे उनकी पूजा करनी चाहिये॥ २८-२९॥

प्रिय उद्धव! यदि सामर्थ्य हो तो प्रतिदिन चन्दन, खस, कपूर, केसर और अरगजा आदि सुगन्धित वस्तुओंद्वारा सुवासित जलसे मुझे स्नान कराये और उस समय 'सुवर्ण घर्म' इत्यादि स्वर्णघर्मानुवाक, 'जितं ते पुण्डरीकाक्ष' इत्यादि महापुरुषविद्या, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि पुरुषसूक्त और 'इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्त' इत्यादि मन्त्रोक्त राजनादि सामगायनका पाठ भी करता रहे॥ ३०-३१॥ मेरा भक्त वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पत्र, माला, गन्ध और चन्दनादिसे प्रेमपूर्वक यथावत् मेरा शृङ्गार करे॥ ३२॥ उपासक श्रद्धाके साथ मुझे पाद्य, आचमन, चन्दन, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप आदि सामग्रियाँ समर्पित करे॥ ३३॥ यदि हो सके तो गुड़, खीर, घृत, पूड़ी, पूए, लड्डू, हलुआ, दही और दाल

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुतान्वहम् ॥३५॥

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः ।
अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम् ॥३६॥

परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि ।
प्रोक्षण्याऽऽसाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम् ॥

तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम् ॥३८॥

स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवराङ्गदम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥३९॥

ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृतानि च ।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं हविः ॥४०॥

जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चावदानतः ।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टकृतं बुधः ॥४१॥

आदि विविध व्यञ्जनोंका नैवेद्य लगावे ॥ ३४ ॥ भगवान्के विग्रहको दतुअन कराये, उबटन लगाये, पञ्चामृत आदिसे स्नान कराये, सुगन्धित पदार्थोंका लेप करे, दर्पण दिखाये, भोग लगाये और शक्ति हो तो प्रतिदिन अथवा पर्वोंके अवसरपर नाचने-गाने आदिका भी प्रबन्ध करे ॥ ३५ ॥

उद्धवजी ! तदनन्तर पूजाके बाद शास्त्रोक्त विधिसे बने हुए कुण्डमें अग्निकी स्थापना करे । वह कुण्ड मेखला, गर्त और वेदीसे शोभायमान हो । उसमें हाथकी हवासे अग्नि प्रज्वलित करके उसका परिसमूहन करे, अर्थात् उसे एकत्र कर दे ॥ ३६ ॥ वेदीके चारों ओर कुशकण्डिका करके अर्थात् चारों ओर बीस-बीस कुश बिछाकर मन्त्र पढ़ता हुआ उनपर जल छिड़के । इसके बाद विधिपूर्वक समिधाओंका आधानरूप अन्वाधान कर्म करके अग्निके उत्तर भागमें होमोपयोगी सामग्री रक्खे और प्रोक्षणीपात्रके जलसे प्रोक्षण करे । तदनन्तर अग्निमें मेरा इस प्रकार ध्यान करे ॥ ३७ ॥ 'मेरी मूर्ति तपाये हुए सोनेके समान दम-दम दमक रही है । रोम-रोमसे शान्तिकी वर्षा हो रही है । लंबी और विशाल चार भुजाएँ शोभायमान हैं । उनमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म विराजमान हैं । कमलकी केसरके समान पीला-पीला वस्त्र फहरा रहा है ॥ ३८ ॥ सिरपर मुकुट, कलाइयोंमें कंगन, कमरमें करधनी और बाँहोंमें बाजूबंद झिलमिला रहे हैं । वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है । गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है । घुटनोंतक वनमाला लटक रही है' ॥ ३९ ॥ अग्निमें मेरी इस मूर्तिका ध्यान करके पूजा करनी चाहिये । इसके बाद सूखी समिधाओं-को घृतमें डुबोकर आहुति दे और आज्यभाग और आघार नामक दो-दो आहुतियोंसे और भी हवन करे । तदनन्तर घीसे भिगोकर अन्य हवन-सामग्रियोंसे आहुति दे ॥ ४० ॥ इसके बाद अपने इष्टमन्त्रसे अथवा 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रसे तथा पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंसे हवन करे । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि धर्मादि देवताओंके लिये भी विधिपूर्वक मन्त्रोंसे हवन करे और स्विष्टकृत आहुति भी दे ॥ ४१ ॥

१. अन्नादि गीतनृत्यादि मत्पर्वणि यथार्हतः । २. प्रोक्ष्याद्भिराज्यद्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नावावहेत माम् । ३. मुकुट० । ४. हविष्याणि घृतानि च । ५. चाज्याप्लुतं ।

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत् ।
मूलमन्त्रं जपेद् ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥४२॥
दत्त्वाऽऽचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत् ।
मुखवासं सुरभिमत् ताम्बूलाद्यमथार्हयेत् ॥४३॥
उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम ।
मत्कथाः श्रावयञ्छृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥४४॥
स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥४५॥
शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥४६॥
इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् ।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत् पुनः ॥४७॥
अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥४८॥
एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः ।

इस प्रकार अग्निमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित भगवान्‌की पूजा करके उन्हें नमस्कार करे और नन्द-सुनन्द आदि पार्षदोंको आठों दिशाओंमें हवनकर्माङ्ग बलि दे। तदनन्तर प्रतिमाके सम्मुख बैठकर परब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायणका स्मरण करे और भगवत्स्वरूप मूलमन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' का जप करे ॥ ४२ ॥ इसके बाद भगवान्‌को आचमन करावे और उनका प्रसाद विष्वक्सेन-को निवेदन करे। इसके पश्चात् अपने इष्टदेवकी सेवामें सुगन्धित ताम्बूल आदि मुखवास उपस्थित करे तथा पुष्पाञ्जलि समर्पित करे ॥ ४३ ॥ मेरी लीलाओंको गावे, उनका वर्णन करे और मेरी ही लीलाओंका अभिनय करे। यह सब करते समय प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगे। मेरी लीला-कथाएँ स्वयं सुने और दूसरोंको सुनावे। कुछ समयतक संसार और उसके रगड़ों-झगड़ोंको भूलकर मुझमें ही तन्मय हो जाय ॥ ४४ ॥ प्राचीन ऋषियोंके द्वारा अथवा प्राकृत भक्तोंके द्वारा बनाये हुए छोटे-बड़े स्तव और स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करके प्रार्थना करे—'भगवन्! आप मुझपर प्रसन्न हों। मुझे अपने कृपाप्रसादसे सराबोर कर दें।' तदनन्तर दण्डवत्-प्रणाम करे ॥ ४५ ॥ अपना सिर मेरे चरणों-पर रख दे और अपने दोनों हाथोंसे—दायेंसे दाहिना और बायेंसे बायाँ चरण पकड़कर कहे—'भगवन्! इस संसार-सागरमें मैं डूब रहा हूँ। मृत्युरूप मगर मेरा पीछा कर रहा है। मैं डरकर आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! आप मेरी रक्षा कीजिये' ॥ ४६ ॥ इस प्रकार स्तुति करके मुझे समर्पण की हुई माला आदरके साथ अपने सिरपर रक्खे और उसे मेरा दिया हुआ प्रसाद समझे। यदि विसर्जन करना हो तो ऐसी भावना करनी चाहिये कि प्रतिमामेंसे एक दिव्य ज्योति निकली है और वह मेरी हृदयस्थ ज्योतिमें लीन हो गयी है। बस, यही विसर्जन है ॥ ४७ ॥ उद्धवजी! प्रतिमा आदिमें जब जहाँ श्रद्धा हो तब, तहाँ मेरी पूजा करनी चाहिये, क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ और समस्त प्राणियोंमें तथा अपने हृदयमें भी स्थित हूँ ॥ ४८ ॥

उद्धवजी! जो मनुष्य इस प्रकार वैदिक, तान्त्रिक क्रियायोगके द्वारा मेरी पूजा करता है, वह इस लोक

अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्॥४९॥
मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम् ।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान्॥५०॥
पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम् ।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात् ॥५१॥
प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥५२॥
मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन[1] विन्दति ।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत् माम् ॥५३॥
यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः ।
वृत्तिं स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम् ॥५४॥
कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च ।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत् फलम्॥५५॥

और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥ यदि शक्ति हो, तो उपासक सुन्दर और सुदृढ़ मन्दिर बनवाये और उसमें मेरी प्रतिमा स्थापित करे। सुन्दर-सुन्दर फूलोंके बगीचे लगवा दे; नित्यकी पूजा, पर्वकी यात्रा और बड़े-बड़े उत्सवोंकी व्यवस्था कर दे ॥ ५० ॥ जो मनुष्य पर्वोंके उत्सव और प्रतिदिनकी पूजा लगातार चलनेके लिये खेत, बाजार, नगर अथवा गाँव मेरे नामपर समर्पित कर देते हैं, उन्हें मेरे समान ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥ मेरी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करनेसे पृथ्वीका एकछत्र राज्य, मन्दिर-निर्माणसे त्रिलोकीका राज्य, पूजा आदिकी व्यवस्था करनेसे ब्रह्मलोक और तीनोंके द्वारा मेरी समानता प्राप्त होती है ॥ ५२ ॥ जो निष्कामभावसे मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्तियोग प्राप्त हो जाता है और उस निरपेक्ष भक्तियोगके द्वारा वह स्वयं मुझे प्राप्त कर लेता है॥५३॥ जो अपनी दी हुई या दूसरोंकी दी हुई देवता और ब्राह्मणकी जीविका हरण कर लेता है, वह करोड़ों वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है ॥ ५४ ॥ जो लोग ऐसे कामोंमें सहायता, प्रेरणा अथवा अनुमोदन करते हैं, वे भी मरनेके बाद प्राप्त करनेवालेके समान ही फलके भागीदार होते हैं। यदि उनका हाथ अधिक रहा, तो फल भी उन्हें अधिक ही मिलता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

परमार्थ-निरूपण

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! यद्यपि व्यवहारमें पुरुष और प्रकृति—द्रष्टा और दृश्यके भेदसे दो प्रकारका जगत् जान पड़ता है, तथापि परमार्थ-दृष्टिसे देखनेपर यह सब एक अधिष्ठानस्वरूप ही है;

१. क्रियायोगेन।

विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १ ॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥ २ ॥
तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः ।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान् ॥ ३ ॥
किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् ।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥ ४ ॥
छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः ।
एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम् ॥ ५ ॥
आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।

इसलिये किसीके शान्त, घोर और मूढ़ स्वभाव तथा उनके अनुसार कर्मोंकी न स्तुति करनी चाहिये और न निन्दा। सर्वदा अद्वैत-दृष्टि रखनी चाहिये ॥ १ ॥ जो पुरुष दूसरोंके स्वभाव और उनके कर्मोंकी प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं, वे शीघ्र ही अपने यथार्थ परमार्थ-साधनसे च्युत हो जाते हैं, क्योंकि साधन तो द्वैतके अभिनिवेश-का—उसके प्रति सत्यत्व-बुद्धिका निषेध करता है और प्रशंसा तथा निन्दा उसकी सत्यताके भ्रमको और भी दृढ़ करती हैं ॥ २ ॥ उद्धवजी ! सभी इन्द्रियाँ राजस अहङ्कारके कार्य हैं। जब वे निद्रित हो जाती हैं, तब शरीरका अभिमानी जीव चेतनाशून्य हो जाता है अर्थात् उसे बाहरी शरीरकी स्मृति नहीं रहती। उस समय यदि मन बच रहा, तब तो वह सपनेके झूठे दृश्योंमें भटकने लगता है और वह भी लीन हो गया, तब तो जीव मृत्युके समान गाढ़ निद्रा—सुषुप्तिमें लीन हो जाता है। वैसे ही जब जीव अपने अद्वितीय आत्मा स्वरूपको भूलकर नाना वस्तुओंका दर्शन करने लगता है, तब वह स्वप्नके समान झूठे दृश्योंमें फँस जाता है अथवा मृत्युके समान अज्ञानमें लीन हो जाता है ॥ ३ ॥ उद्धवजी ! जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, तब उसमें अमुक वस्तु भली है और अमुक बुरी, अथवा इतनी भली और इतनी बुरी है—यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। विश्वकी सभी वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं अथवा मनसे सोची जा सकती हैं; इसलिये दृश्य एवं अनित्य होनेके कारण उनका मिथ्यात्व तो स्पष्ट ही है ॥ ४ ॥ परछाईं, प्रतिध्वनि और सीपी आदिमें चाँदी आदिके आभास यद्यपि हैं तो सर्वथा मिथ्या, परन्तु उनके द्वारा मनुष्यके हृदयमें भय-कम्प आदिका सञ्चार हो जाता है। वैसे ही देहादि सभी वस्तुएँ हैं तो सर्वथा मिथ्या ही, परन्तु जबतक ज्ञानके द्वारा इनकी असत्यताका बोध नहीं हो जाता, इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक ये भी अज्ञानियोंको भयभीत करती रहती हैं ॥ ५ ॥ उद्धवजी ! जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु है, वह आत्मा ही है। वही सर्वशक्तिमान् भी है। जो कुछ विश्व-सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसका वह निमित्त-कारण तो है ही,

१. यामाप्नोति ।

त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥ ६ ॥
तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः ।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि ।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥ ७ ॥
एतद् विद्वान् मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम् ।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत् ॥ ८ ॥
प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा ।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह ॥ ९ ॥

उपादान-कारण भी है। अर्थात् वही विश्व बनता है और वही बनाता भी है, वही रक्षक है और रक्षित भी वही है। सर्वात्मा भगवान् ही इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं ॥ ६ ॥ अवश्य ही व्यवहारदृष्टिसे देखनेपर आत्मा इस विश्वसे भिन्न है, परन्तु आत्मदृष्टिसे उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु ही नहीं है। उसके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका किसी भी प्रकार निर्वचन नहीं किया जा सकता और अनिर्वचनीय तो केवल आत्मस्वरूप ही है; इसलिये आत्मामें सृष्टि-स्थिति-संहार अथवा अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीन-तीन प्रकारकी प्रतीतियाँ सर्वथा निर्मूल ही हैं। न होनेपर भी यों ही प्रतीत हो रही हैं। यह सत्त्व, रज और तमके कारण प्रतीत होनेवाली द्रष्टा-दर्शन-दृश्य आदिकी त्रिविधता मायाका खेल है ॥ ७ ॥ उद्धवजी! तुमसे मैंने ज्ञान और विज्ञानकी उत्तम स्थितिका वर्णन किया है। जो पुरुष मेरे इन वचनोंका रहस्य जान लेता है, वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा। वह जगत्में सूर्यके समान समभावसे विचरता रहता है ॥ ८ ॥ प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और आत्मानुभूति आदि सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि यह जगत् उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण अनित्य एवं असत्य है। यह बात जानकर जगत्में असङ्गभावसे विचरना चाहिये ॥ ९ ॥

उद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः ।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते ॥ १० ॥
आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः ।
अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः ॥ ११ ॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! आत्मा है द्रष्टा और देह है दृश्य। आत्मा स्वयंप्रकाश है और देह है जड। ऐसी स्थितिमें जन्म-मृत्युरूप संसार न शरीरको हो सकता है और न आत्माको। परन्तु इसका होना भी उपलब्ध होता है। तब यह होता किसे है? ॥ १० ॥ आत्मा तो अविनाशी, प्राकृत-अप्राकृत गुणोंसे रहित, शुद्ध, स्वयंप्रकाश और सभी प्रकारके आवरणोंसे रहित है; तथा शरीर विनाशी, सगुण, अशुद्ध, प्रकाश्य और आवृत है। आत्मा अग्निके समान प्रकाशमान है, तो शरीर काठकी तरह अचेतन। फिर यह जन्म-मृत्युरूप संसार है किसे! ॥ ११ ॥

१. मतिरा०। २. अग्निवद्दारुवद्देहः कस्य ह्य कस्य संसृतिः।

श्रीभगवानुवाच

यावद् देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् ।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥१२॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥१३॥

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥१४॥

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥१५॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः
संसार आधावति कालतन्त्रः ॥१६॥

अमूलमेतद् बहुरूपरूपितं
मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन-
च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः ॥१७॥

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—वस्तुतः प्रिय उद्धव ! संसारका अस्तित्व नहीं है तथापि जबतक देह, इन्द्रिय और प्राणोंके साथ आत्माकी सम्बन्ध-भ्रान्ति है, तबतक अविवेकी पुरुषको वह सत्य-सा स्फुरित होता है ॥ १२ ॥ जैसे स्वप्नमें अनेकों विपत्तियाँ आती हैं पर वास्तवमें वे हैं नहीं, फिर भी स्वप्न टूटनेतक उनका अस्तित्व नहीं मिटता, वैसे ही संसारके न होनेपर भी जो उसमें प्रतीत होनेवाले विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उनके जन्म-मृत्युरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती ॥ १३ ॥ जब मनुष्य स्वप्न देखता रहता है, तब नींद टूटनेके पहले उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है; परन्तु जब उसकी नींद टूट जाती है, वह जग पड़ता है, तब न तो स्वप्नकी विपत्तियाँ रहती हैं और न उनके कारण होनेवाले मोह आदि विकार ॥ १४ ॥ उद्धवजी ! अहङ्कार ही शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्युका शिकार बनता है । आत्मासे तो इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है ॥ १५ ॥ उद्धवजी ! देह, इन्द्रिय, प्राण और मनमें स्थित आत्मा ही जब उनका अभिमान कर बैठता है—उन्हें अपना स्वरूप मान लेता है—तब उसका नाम 'जीव' हो जाता है । उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्माकी मूर्ति है—गुण और कर्मोंका बना हुआ लिङ्गशरीर । उसे ही कहीं सूत्रात्मा कहा जाता है और कहीं महत्तत्त्व । उसके और भी बहुत-से नाम हैं । वही कालरूप परमेश्वरके अधीन होकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें इधर-उधर भटकता रहता है ॥ १६ ॥ वास्तवमें मन, वाणी, प्राण और शरीर अहङ्कारके ही कार्य हैं । यह है तो निर्मूल, परन्तु देवता, मनुष्य आदि अनेक रूपोंमें इसीकी प्रतीति होती है । मननशील पुरुष उपासनाकी शानपर चढ़ाकर ज्ञानकी तलवारको अत्यन्त तीखी बना लेता है और उसके द्वारा देहाभिमान-का—अहङ्कारका मूलोच्छेद करके पृथ्वीमें निर्द्वन्द्व होकर विचरता है । फिर उसमें किसी प्रकारकी आशा-तृष्णा नहीं रहती ॥ १७ ॥ आत्मा और अनात्माके स्वरूपको पृथक्-पृथक् भलीभाँति समझ लेना ही ज्ञान है, क्योंकि विवेक होते ही द्वैतका अस्तित्व मिट जाता है । उसका साधन है तपस्याके द्वारा हृदयको शुद्ध करके वेदादि शास्त्रोंका श्रवण करना । इनके अतिरिक्त

१. संसारफलवान् । २. विपर्यास्तस्य । ३. मृत्युर्न वात्मनः ।

आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥१८॥
यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥१९॥
विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥२०॥
न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत्
तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा ॥२१॥
अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एषः ।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥२२॥
एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन ।

श्रवणानुकूल युक्तियाँ, महापुरुषोंके उपदेश और इन दोनोंसे अविरुद्ध स्वानुभूति भी प्रमाण हैं। सबका सार यही निकलता है कि इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही अद्वितीय, उपाधिशून्य परमात्मा बीचमें भी है। उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है ॥ १८ ॥ उद्धवजी! सोनेसे कंगन, कुण्डल आदि बहुत-से आभूषण बनते हैं; परन्तु जब वे गहने नहीं बने थे, तब भी सोना था और जब नहीं रहेंगे, तब भी सोना रहेगा। इसलिये जब बीचमें उसके कंगन-कुण्डल आदि अनेकों नाम रखकर व्यवहार करते हैं, तब भी वह सोना ही है। ठीक ऐसे ही जगत्‌का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। वास्तवमें मैं ही सत्य तत्त्व हूँ ॥ १९ ॥ भाई उद्धव! मनकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; इन अवस्थाओंके कारण तीन ही गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। और जगत्‌के तीन भेद हैं—अध्यात्म (इन्द्रियाँ), अधिभूत (पृथिव्यादि) और अधिदैव (कर्ता)। ये सभी त्रिविधताएँ जिसकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होती हैं और समाधि आदिमें यह त्रिविधता न रहनेपर भी जिसकी सत्ता बनी रहती है, वह तुरीयतत्त्व—इन तीनोंसे परे और इनमें अनुगत चौथा ब्रह्मतत्त्व ही सत्य है ॥ २० ॥ जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है। यह निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है, वही उसकी परमार्थ-सत्ता है—यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ २१ ॥ यह जो विकारमयी राजस सृष्टि है, यह न होनेपर भी दीख रही है। यह स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है। इसलिये इन्द्रिय, विषय, मन और पञ्चभूतादि जितने चित्र-विचित्र नाम-रूप हैं उनके रूपमें ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है ॥२२॥ ब्रह्मविचारके साधन हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और स्वानुभूति। उनमें सहायक हैं—आत्मज्ञानी गुरुदेव! इनके द्वारा विचार करके स्पष्टरूपसे देहादि अनात्म पदार्थोंका

१. एव।

छित्त्वाऽऽत्मसन्देहमुपारमेत

स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥२३॥

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि

देवा ह्यसुर्वायुर्जलं हुताशः ।

मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-

महङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥२४॥

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-

र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः[1] ।

विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं

घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥२५॥

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-

र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।

तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-

रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥२६॥

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो

गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।

मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्

रजो निरस्येत मनःकषायः ॥२७॥

यथाऽऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां

पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन् ।

निषेध कर देना चाहिये। इस प्रकार निषेधके द्वारा आत्मविषयक सन्देहोंको छिन्न-भिन्न करके अपने आनन्द-स्वरूप आत्मामें ही मग्न हो जाय और सब प्रकारकी विषयवासनाओंसे रहित हो जाय ॥ २३ ॥ निषेध करनेकी प्रक्रिया यह है कि पृथ्वीका विकार होनेके कारण शरीर आत्मा नहीं है। इन्द्रिय, उनके अधिष्ठातृ-देवता, प्राण, वायु, जल, अग्नि एवं मन भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि इनका धारण-पोषण शरीरके समान ही अन्नके द्वारा होता है। बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, आकाश, पृथ्वी, शब्दादि विषय और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि ये सब-के-सब दृश्य एवं जड हैं ॥ २४ ॥ उद्धवजी! जिसे मेरे स्वरूपका भलीभाँति ज्ञान हो गया है, उसकी वृत्तियाँ और इन्द्रियाँ यदि समाहित रहती हैं तो उसे उनसे लाभ क्या है? और यदि वे विक्षिप्त रहती हैं, तो उनसे हानि भी क्या है? क्योंकि अन्तः-करण और बाह्यकरण—सभी गुणमय हैं और आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। भला, आकाशमें बादलोंके छा जाने अथवा तितर-बितर हो जानेसे सूर्यका क्या बनता-बिगड़ता है? ॥२५॥ जैसे वायु आकाशको सुखा नहीं सकती, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, धूल-धुएँ मटमैला नहीं कर सकते और ऋतुओंके गुण गरमी-सर्दी आदि उसे प्रभावित नहीं कर सकते—क्योंकि ये सब आने-जानेवाले क्षणिक भाव हैं और आकाश इन सबका एकरस अधिष्ठान है—वैसे ही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियाँ तथा कर्म अविनाशी आत्माका स्पर्श नहीं कर पाते; वह तो इनसे सर्वथा परे है। इनके द्वारा तो केवल वही संसारमें भटकता है, जो इनमें अहङ्कार कर बैठता है ॥ २६ ॥ उद्धवजी! ऐसा होनेपर भी तबतक इन मायानिर्मित गुणों और उनके कार्योंका सङ्ग सर्वथा त्याग देना चाहिये, जबतक मेरे सुदृढ भक्तियोगके द्वारा मनका रजोगुणरूप मल एकदम निकल न जाय ॥ २७ ॥

उद्धवजी! जैसे भलीभाँति चिकित्सा न करनेपर रोगका समूल नाश नहीं होता, वह बार-बार उभरकर मनुष्यको सताया करता है; वैसे ही जिस मनकी वासनाएँ

[1] भवेन्न ह्यविवि० ।

एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥२८॥
कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥२९॥
करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात् ।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥३०॥
तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत् किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥३१॥
यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥३२॥
पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।

और कर्मोंके संस्कार मिट नहीं गये हैं, जो स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त है, वह बार-बार अधूरे योगीको वेधता रहता है और उसे कई बार योगभ्रष्ट भी कर देता है ॥२८॥ देवताओंके द्वारा प्रेरित शिष्य-पुत्र आदिके द्वारा किये हुए विघ्नोंसे यदि कदाचित् अधूरा योगी मार्गच्युत हो जाय तो भी वह अपने पूर्वाभ्यासके कारण पुनः योगाभ्यासमें ही लग जाता है। कर्म आदिमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती ॥ २९ ॥ उद्धवजी! जीव संस्कार आदिसे प्रेरित होकर जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त कर्ममें ही लगा रहता है और उनमें इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारोंको प्राप्त होता रहता है। परन्तु जो तत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है, वह प्रकृतिमें स्थित रहनेपर भी, संस्कारानुसार कर्म होते रहनेपर भी, उनमें इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारोंसे युक्त नहीं होता; क्योंकि आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कारसे उसकी संसारसम्बन्धी सभी आशा-तृष्णाएँ पहले ही नष्ट हो चुकी होती हैं ॥ ३० ॥ जो अपने स्वरूपमें स्थित हो गया है, उसे इस बातका भी पता नहीं रहता कि शरीर खड़ा है या बैठा, चल रहा है या सो रहा है, मल-मूत्र त्याग रहा है, भोजन कर रहा है अथवा और कोई स्वाभाविक कर्म कर रहा है; क्योंकि उसकी वृत्ति तो आत्मस्वरूपमें स्थित—ब्रह्माकार रहती है ॥ ३१ ॥ यदि ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें इन्द्रियोंके विविध बाह्य विषय, जो कि असत् हैं, आते भी हैं तो वह उन्हें अपने आत्मासे भिन्न नहीं मानता, क्योंकि वे युक्तियों, प्रमाणों और स्वानुभूतिसे सिद्ध नहीं होते। जैसे नींद टूट जानेपर स्वप्नमें देखे हुए और जागनेपर तिरोहित हुए पदार्थोंको कोई सत्य नहीं मानता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपनेसे भिन्न प्रतीयमान पदार्थोंको सत्य नहीं मानते ॥ ३२ ॥ उद्धवजी! (इसका यह अर्थ नहीं है कि अज्ञानीने आत्माका त्याग कर दिया है और ज्ञानी उसको ग्रहण करता है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि) अनेकों प्रकारके गुण और कर्मोंसे युक्त देह-इन्द्रिय आदि पदार्थ पहले अज्ञानके कारण आत्मासे

१. इति।

निवर्तते तत् पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥३३॥
यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमोनिहन्यान्न तु सद् विधत्ते ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥३४॥
एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेपिता वागसवश्चरन्ति ॥३५॥
एतावानात्मसम्मोहो यद् विकल्पस्तु केवले ।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ॥३६॥
यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् ।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ॥३७॥

अभिन्न मान लिये गये थे, उनका विवेक नहीं था। अब आत्मदृष्टि होनेपर अज्ञान और उसके कार्योंकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये अज्ञानकी निवृत्ति ही अभीष्ट है। वृत्तियोंके द्वारा न तो आत्माका ग्रहण हो सकता है और न त्याग॥ ३३ ॥ जैसे सूर्य उदय होकर मनुष्योंके नेत्रोंके सामनेसे अन्धकारका परदा हटा देते हैं, किसी नयी वस्तुका निर्माण नहीं करते, वैसे ही मेरे स्वरूपका दृढ अपरोक्षज्ञान पुरुषके बुद्धिगत अज्ञानका आवरण नष्ट कर देता है। वह इदंरूपसे किसी वस्तुका अनुभव नहीं करता ॥ ३४ ॥ उद्धवजी! आत्मा नित्य अपरोक्ष है, उसकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती। वह स्वयंप्रकाश है। उसमें अज्ञान आदि किसी प्रकारके विकार नहीं हैं। वह जन्मरहित है अर्थात् कभी किसी प्रकार भी वृत्तिमें आरूढ नहीं होता। इसलिये अप्रमेय है। ज्ञान आदिके द्वारा उसका संस्कार भी नहीं किया जा सकता। आत्मामें देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद न होनेके कारण अस्तित्व, वृद्धि, परिवर्तन, ह्रास और विनाश उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते। सबकी और सब प्रकारकी अनुभूतियाँ आत्मस्वरूप ही हैं। जब मन और वाणी आत्माको अपना अविषय समझकर निवृत्त हो जाते हैं, तब वही सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे शून्य एक अद्वितीय रह जाता है। व्यवहारदृष्टिसे उसके स्वरूपका वाणी और प्राण आदिके प्रवर्तकके रूपमें निरूपण किया जाता है ॥ ३५ ॥

उद्धवजी! अद्वितीय आत्मतत्त्वमें अर्थहीन नामोंके द्वारा विविधता मान लेना ही मनका भ्रम है, अज्ञान है। सचमुच यह बहुत बड़ा मोह है, क्योंकि अपने आत्माके अतिरिक्त उस भ्रमका भी और कोई अधिष्ठान नहीं है। अधिष्ठान-सत्तामें अध्यस्तकी सत्ता है ही नहीं। इसलिये सब कुछ आत्मा ही है ॥ ३६ ॥ बहुत-से पण्डिताभिमानी लोग ऐसा कहते हैं कि यह पाञ्चभौतिक द्वैत विभिन्न नामों और रूपोंके रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है, इसलिये सत्य है। परन्तु यह तो अर्थहीन वाणीका आडम्बरमात्र है; क्योंकि तत्त्वतः तो इन्द्रियोंकी पृथक् सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, फिर वे किसीको प्रमाणित कैसे करेंगी? ॥ ३७ ॥

१. विहन्यान्न। २. संविधत्ते। ३. विरामः।

योगिनोऽपक्कयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः ।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥३८॥
योगधारणया काश्चिदासनैर्धारणान्वितैः ।
तपोमन्त्रौषधैः काश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत् ॥३९॥
कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्तनादिभिः ।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः ॥४०॥
केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥
न हि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥४२॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः ॥४३॥
योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः ।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥४४॥

उद्धवजी ! यदि योगसाधना पूर्ण होनेके पहले ही किसी साधकका शरीर रोगादि उपद्रवोंसे पीडित हो, तो उसे इन उपायोंका आश्रय लेना चाहिये ॥३८॥ गरमी-ठंडक आदिको चन्द्रमा-सूर्य आदिकी धारणाके द्वारा, वात आदि रोगोंको वायुधारणायुक्त आसनोंके द्वारा और ग्रह-सर्पादिकृत विघ्नोंको तपस्या, मन्त्र एवं ओषधिके द्वारा नष्ट कर डालना चाहिये ॥ ३९ ॥ काम-क्रोध आदि विघ्नोंको मेरे चिन्तन और नाम-संकीर्तन आदिके द्वारा नष्ट करना चाहिये । तथा पतनकी ओर ले जानेवाले दम्भ-मद आदि विघ्नोंको धीरे-धीरे महापुरुषोंकी सेवाके द्वारा दूर कर देना चाहिये ॥ ४० ॥ कोई-कोई मनस्वी योगी विविध उपायोंके द्वारा इस शरीरको सुदृढ और युवावस्थामें स्थिर करके फिर अणिमा आदि सिद्धियोंके लिये योगसाधन करते हैं, परन्तु बुद्धिमान् पुरुष ऐसे विचारका समर्थन नहीं करते, क्योंकि यह तो एक व्यर्थ प्रयास है । वृक्षमें लगे हुए फलके समान इस शरीरका नाश तो अवश्यम्भावी है ॥ ४१-४२ ॥ यदि कदाचित् बहुत दिनोंतक निरन्तर और आदरपूर्वक योगसाधना करते रहनेपर शरीर सुदृढ भी हो जाय, तब भी बुद्धिमान् पुरुषको अपनी साधना छोड़कर उतनेमें ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये । उसे तो सर्वदा मेरी प्राप्तिके लिये ही संलग्न रहना चाहिये ॥ ४३ ॥ जो साधक मेरा आश्रय लेकर मेरे द्वारा कही हुई योग-साधनामें संलग्न रहता है, उसे कोई भी विघ्न-बाधा डिगा नहीं सकती । उसकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मानन्दकी अनुभूतिमें मग्न हो जाता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे-ऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

भागवतधर्मोंका निरूपण और उद्धवजीका बदरिकाश्रमगमन

उद्धव उवाच

सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः ।

उद्धवजीने कहा—अच्युत ! जो अपना मन वशमें नहीं कर सका है, उसके लिये आपकी बतलायी हुई इस योगसाधनाको तो मैं बहुत ही कठिन समझता हूँ ।

१. धारणादिभिः । २. दूरतः ।

यथाञ्जसा पुमान् सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत ॥१॥
प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः ।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥ २ ॥
अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन ।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥ ३ ॥
किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम् ।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥ ४ ॥
तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद् विसृजेत को नु ।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनु भूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः ॥ ५ ॥
नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।

अतः अब आप कोई ऐसा सरल और सुगम साधन बतलाइये, जिससे मनुष्य अनायास ही परमपद प्राप्त कर सके ॥ १ ॥ कमलनयन ! आप जानते ही हैं कि अधिकांश योगी जब अपने मनको एकाग्र करने लगते हैं, तब वे बार-बार चेष्टा करनेपर भी सफल न होनेके कारण हार मान लेते हैं और उसे वशमें न कर पानेके कारण दुखी हो जाते हैं ॥ २ ॥ पद्मलोचन ! आप विश्वेश्वर हैं ! आपके ही द्वारा सारे संसारका नियमन होता है । इसीसे सारासार-विचारमें चतुर मनुष्य आपके आनन्दवर्षी चरणकमलोंकी शरण लेते हैं और अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । आपकी माया उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती; क्योंकि उन्हें योगसाधन और कर्मानुष्ठानका अभिमान नहीं होता । परन्तु जो आपके चरणोंका आश्रय नहीं लेते, वे योगी और कर्मी अपने साधनके घमंडसे फूल जाते हैं; अवश्य ही आपकी मायाने उनकी मति हर ली है ॥ ३ ॥ प्रभो ! आप सबके हितैषी सुहृद् हैं । आप अपने अनन्य शरणागत बलि आदि सेवकोंके अधीन हो जायँ, यह आपके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आपने रामावतार ग्रहण करके प्रेमवश वानरोंसे भी मित्रताका निर्वाह किया । यद्यपि ब्रह्मा आदि लोकेश्वरगण भी अपने दिव्य किरीटोंको आपके चरणकमल रखनेकी चौकीपर रगड़ते रहते हैं ॥ ४ ॥ प्रभो ! आप सबके प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं । आप अपने अनन्य शरणागतोंको सब कुछ दे देते हैं । आपने बलि-प्रह्लाद आदि अपने भक्तोंको जो कुछ दिया है, उसे जानकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो आपको छोड़ देगा ? यह बात किसी प्रकार बुद्धिमें ही नहीं आती कि भला, कोई विचारवान् विस्मृतिके गर्तमें डालनेवाले तुच्छ विषयोंमें ही फँसा रखनेवाले भोगोंको क्यों चाहेगा ? हमलोग आपके चरणकमलोंकी रजके उपासक हैं । हमारे लिये दुर्लभ ही क्या है?॥५॥ भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे और बाहर गुरुरूपसे स्थित होकर उनके सारे पाप-ताप मिटा देते हैं और अपने वास्तविक स्वरूपको उनके प्रति प्रकट कर देते हैं । बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी

१. अथा० । २. न्त्यविरतिं ।

योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-

न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा

पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः ।

गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो

जगाद सप्रेममनोहरस्मितः ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान्[१] ।

याञ्छ्रद्धयाऽऽचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥ ८ ॥

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।

मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥ ९ ॥

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।

देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥ १० ॥

पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।

कारयेद् गीतनृत्याद्यैर्[२]महाराजविभूतिभिः ॥ ११ ॥

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।

ईक्षेतात्मनि चात्मानं[३] यथा खममलाशयः ॥ १२ ॥

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ।

सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥ १३ ॥

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।

अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः ॥ १४ ॥

ब्रह्माजीके समान लंबी आयु पाकर भी आपके उपकारोंका बदला नहीं चुका सकते। इसीसे वे आपके उपकारोंका स्मरण करके क्षण-क्षण अधिकाधिक आनन्दका अनुभव करते रहते हैं ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। वे ही सत्त्व-रज आदि गुणोंके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रका रूप धारण करके जगत्की उत्पत्ति-स्थिति आदिके खेल खेला करते हैं। जब उद्धवजीने अनुरागभरे चित्तसे उनसे यह प्रश्न किया, तब उन्होंने मन्द-मन्द मुसकराकर बड़े प्रेमसे कहना प्रारम्भ किया ॥ ७ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—प्रिय उद्धव! अब मैं तुम्हें अपने उन मङ्गलमय भागवतधर्मोंका उपदेश करता हूँ, जिनका श्रद्धापूर्वक आचरण करके मनुष्य संसाररूप दुर्जय मृत्युको अनायास ही जीत लेता है ॥ ८ ॥ उद्धवजी! मेरे भक्तको चाहिये कि अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करे और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ाये। कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त मुझमें समर्पित हो जायँगे। उसके मन और आत्मा मेरे ही धर्मोंमें रम जायँगे ॥ ९ ॥ मेरे भक्त साधुजन जिन पवित्र स्थानोंमें निवास करते हों, उन्हींमें रहे और देवता, असुर अथवा मनुष्योंमें जो मेरे अनन्य भक्त हों, उनके आचरणोंका अनुसरण करे ॥ १० ॥ पर्वके अवसरोंपर सबके साथ मिलकर अथवा अकेला ही नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजोचित ठाट-बाटसे मेरी यात्रा आदिके महोत्सव करे ॥ ११ ॥ शुद्धान्तःकरण पुरुष आकाशके समान बाहर और भीतर परिपूर्ण एवं आवरणशून्य मुझ परमात्माको ही समस्त प्राणियों और अपने हृदयमें स्थित देखे ॥ १२ ॥ निर्मलबुद्धि उद्धवजी! जो साधक केवल इस ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें मेरा दर्शन करता है और उन्हें मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मणभक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूरमें समानदृष्टि रखता है, उसे ही

१. महाफलान्। २. नृत्यगीताद्यैर्म०। ३. चात्मस्थम्।

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥१५॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥१६॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥१७॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया ।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः ॥१८॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥१९॥
न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः ॥२०॥
यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् ।
तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तम ॥२१॥
एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥२२॥
एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः ।

सच्चा ज्ञानी समझना चाहिये ॥ १३-१४ ॥ जब निरन्तर सभी नर-नारियोंमें मेरी ही भावना की जाती है, तब थोड़े ही दिनोंमें साधकके चित्तसे स्पर्द्धा (होड़), ईर्ष्या, तिरस्कार और अहङ्कार आदि दोष दूर हो जाते हैं ॥ १५ ॥ अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवा न करे; 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टिको और लोक-लज्जाको छोड़ दे और कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे ॥ १६ ॥ जबतक समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना—भगवद्-भावना न होने लगे, तबतक इस प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके सभी संकल्पों और कर्मोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे ॥१७॥ उद्धवजी ! जब इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि—ब्रह्मबुद्धिका अभ्यास किया जाता है, तब थोड़े ही दिनोंमें उसे ज्ञान होकर सब कुछ ब्रह्मस्वरूप दीखने लगता है । ऐसी दृष्टि हो जानेपर सारे संशय-सन्देह अपने-आप निवृत्त हो जाते हैं और वह सब कहीं मेरा साक्षात्कार करके संसारदृष्टिसे उपराम हो जाता है ॥ १८ ॥ मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय ॥१९॥ उद्धवजी ! यही मेरा अपना भागवतधर्म है; इसको एक बार आरम्भ कर देनेके बाद फिर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधासे इसमें रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि यह धर्म निष्काम है और स्वयं मैंने ही इसे निर्गुण होनेके कारण सर्वोत्तम निश्चय किया है ॥२०॥ भागवतधर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि पड़नी तो दूर रही—यदि इस धर्मका साधक भय-शोक आदिके अवसरपर होनेवाली भावना और रोने-पीटने, भागने-जैसा निरर्थक कर्म भी निष्कामभावसे मुझे समर्पित कर दे तो वे भी मेरी प्रसन्नताके कारण धर्म बन जाते हैं ॥ २१ ॥ विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें ॥ २२ ॥

उद्धवजी ! यह सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका रहस्य मैंने संक्षेप और विस्तारसे तुम्हें सुना दिया । इस रहस्यको

१. कर्मभिः । २. मर्त्यो वाप्नोति ।

समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥२३॥
अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् ।
एतद् विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥२४॥
सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत् ।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२५॥
य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात् सुपुष्कलम् ।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥२६॥
य एतत् समधीयीत पवित्रं परमं शुचि ।
स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥२७॥
य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः ।
मयि भक्तिं परां कुर्वन् कर्मभिर्न स बध्यते ॥२८॥
अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम्[1] ।
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः ॥२९॥
नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च ।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥३०॥
एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च ।
साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम् ॥३१॥
नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥३२॥
ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे ।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥३३॥

समझना मनुष्योंकी तो कौन कहे, देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ २३ ॥ मैंने जिस सुस्पष्ट और युक्तियुक्त ज्ञानका वर्णन बार-बार किया है, उसके मर्मको जो समझ लेता है, उसके हृदयकी संशय-ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और वह मुक्त हो जाता है ॥२४॥ मैंने तुम्हारे प्रश्नका भलीभाँति खुलासा कर दिया; जो पुरुष हमारे प्रश्नोत्तरको विचारपूर्वक धारण करेगा, वह वेदोंके भी परम रहस्य सनातन परब्रह्मको प्राप्त कर लेगा ॥ २५ ॥ जो पुरुष मेरे भक्तोंको इसे भलीभाँति स्पष्ट करके समझायेगा, उस ज्ञानदाताको मैं प्रसन्न मनसे अपना स्वरूपतक दे डालूँगा, उसे आत्मज्ञान करा दूँगा ॥ २६ ॥ उद्धवजी ! यह तुम्हारा और मेरा संवाद स्वयं तो परम पवित्र है ही, दूसरोंको भी पवित्र करनेवाला है । जो प्रतिदिन इसका पाठ करेगा और दूसरोंको सुनायेगा,-वह इस ज्ञानदीपके द्वारा दूसरोंको मेरा दर्शन करानेके कारण पवित्र हो जायगा ॥ २७ ॥ जो कोई एकाग्र चित्तसे इसे श्रद्धापूर्वक नित्य सुनेगा, उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होगी और वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ २८ ॥ प्रिय सखे ! तुमने भलीभाँति ब्रह्मका स्वरूप समझ लिया न ? और तुम्हारे चित्तका मोह एवं शोक तो दूर हो गया न ? ॥ २९ ॥ तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, शठ, अश्रद्धालु, भक्तिहीन और उद्धत पुरुषको कभी मत देना ॥ ३० ॥ जो इन दोषोंसे रहित हो, ब्राह्मणभक्त हो, प्रेमी हो, साधुस्वभाव हो और जिसका चरित्र पवित्र हो, उसीको यह प्रसङ्ग सुनाना चाहिये । यदि शूद्र और स्त्री भी मेरे प्रति प्रेम-भक्ति रखते हों, तो उन्हें भी इसका उपदेश करना चाहिये॥ ३१॥ जैसे दिव्य अमृतपान कर लेनेपर कुछ भी पीना शेष नहीं रहता वैसे ही यह जान लेनेपर जिज्ञासुके लिये और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता ॥ ३२ ॥ प्यारे उद्धव ! मनुष्योंको ज्ञान, कर्म, योग, वाणिज्य और राजदण्डादिसे क्रमशः मोक्ष, धर्म, काम और अर्थरूप फल प्राप्त होते हैं; परन्तु तुम्हारे-जैसे अनन्य भक्तोंके लिये वह चारों

१. समुपधारितम् ।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥३४॥

श्रीशुक उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमश्लोकवचो निशम्य ।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥३५॥
विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन् बहु मन्यमानः ।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम् ॥३६॥

उद्धव उवाच

विद्रावितो मोहमहान्धकारो[1]
य आश्रितो मे तव सन्निधानात् ।
विभावसोः किं नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य ॥३७॥
प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः ।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यत् समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥३८॥
वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु[2] ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥३९॥
नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥४०॥

प्रकारका फल केवल मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥ जिस समय मनुष्य समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है और मैं उसे उसके जीवत्वसे छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है ॥ ३४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब उद्धवजी योगमार्गका पूरा-पूरा उपदेश प्राप्त कर चुके थे । भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर उनकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये । प्रेमकी बाढ़से गला रुँध गया, चुपचाप हाथ जोड़े रह गये और वाणीसे कुछ बोला न गया ॥ ३५ ॥ उनका चित्त प्रेमावेशसे विह्वल हो रहा था, उन्होंने धैर्यपूर्वक उसे रोका और अपनेको अत्यन्त सौभाग्यशाली अनुभव करते हुए सिरसे यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको स्पर्श किया तथा हाथ जोड़कर उनसे यह प्रार्थना की ॥ ३६ ॥

उद्धवजीने कहा—प्रभो ! आप माया और ब्रह्मा आदिके भी मूल कारण हैं । मैं मोहके महान् अन्धकारमें भटक रहा था । आपके सत्सङ्गसे वह सदाके लिये भाग गया । भला, जो अग्निके पास पहुँच गया उसके सामने क्या शीत, अन्धकार और उसके कारण होनेवाला भय ठहर सकते हैं ? ॥ ३७ ॥ भगवन् ! आपकी मोहिनी मायाने मेरा ज्ञानदीपक छीन लिया था, परन्तु आपने कृपा करके वह फिर अपने सेवकको लौटा दिया । आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रहकी वर्षा की है । ऐसा कौन होगा, जो आपके इस कृपा-प्रसादका अनुभव करके भी आपके चरणकमलोंकी शरण छोड़ दे और किसी दूसरेका सहारा ले ? ॥ ३८ ॥ आपने अपनी मायासे सृष्टिवृद्धिके लिये दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक और सात्वतवंशी यादवोंके साथ मुझे सुदृढ स्नेहपाशसे बाँध दिया था । आज आपने आत्मबोधकी तीखी तलवारसे उस बन्धनको अनायास ही काट डाला ॥ ३९ ॥ महायोगेश्वर ! मेरा आपको नमस्कार है । अब आप कृपा करके मुझ शरणागतको ऐसी आज्ञा दीजिये, जिससे आपके चरणकमलोंमें मेरी अनन्य भक्ति बनी रहे ॥ ४० ॥

१. मोहमयोऽन्धकारः । २. न्त्यजस्रम् ।

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव मयाऽऽदिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम् ।

तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः ॥४१॥

ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः ।

वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक् सुखनिःस्पृहः ॥४२॥

तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः ।

शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥४३॥

मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन् ।

मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव ।

अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम् ॥४४॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! अब तुम मेरी आज्ञासे बदरीवनमें चले जाओ । वह मेरा ही आश्रम है । वहाँ मेरे चरणकमलोंके धोवन गङ्गाजलका स्नान-पानके द्वारा सेवन करके तुम पवित्र हो जाओगे ॥ ४१ ॥ अलकनन्दाके दर्शनमात्रसे तुम्हारे सारे पाप-ताप नष्ट हो जायँगे । प्रिय उद्धव ! तुम वहाँ वृक्षोंकी छाल पहनना, वनके कन्द-मूल-फल खाना और किसी भोगकी अपेक्षा न रखकर निःस्पृह-वृत्तिसे अपने-आपमें मस्त रहना ॥ ४२ ॥ सर्दी-गरमी, सुख-दुःख—जो कुछ आ पड़े, उसे सम रहकर सहना । स्वभाव सौम्य रखना, इन्द्रियोंको वशमें रखना । चित्त शान्त रहे, बुद्धि समाहित रहे और तुम स्वयं मेरे स्वरूपके ज्ञान और अनुभवमें डूबे रहना ॥ ४३ ॥ मैंने तुम्हें जो कुछ शिक्षा दी है, उसका एकान्तमें विचार-पूर्वक अनुभव करते रहना । अपनी वाणी और चित्त मुझमें ही लगाये रहना और मेरे बतलाये हुए भागवतधर्ममें प्रेमसे रम जाना । अन्तमें तुम त्रिगुण और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली गतियोंको पार करके उनसे परे मेरे परमार्थस्वरूप-में मिल जाओगे ॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः ।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
र्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे ॥४५॥

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः ।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः ॥४६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण-के स्वरूपका ज्ञान संसारके भेदभ्रमको छिन्न-भिन्न कर देता है । जब उन्होंने स्वयं उद्धवजीको ऐसा उपदेश किया तो उन्होंने उनकी परिक्रमा की और उनके चरणों-पर सिर रख दिया । इसमें सन्देह नहीं कि उद्धवजी संयोग-वियोगसे होनेवाले सुख-दुःखके जोड़ेसे परे थे, क्योंकि वे भगवान्‌के निर्द्वन्द्व चरणोंकी शरण ले चुके थे; फिर भी वहाँसे चलते समय उनका चित्त प्रेमावेशसे भर गया। उन्होंने अपने नेत्रोंकी झरती हुई अश्रुधारासे भगवान्‌के चरणकमलोंको भिगो दिया ॥ ४५ ॥ परीक्षित् ! भगवान्‌के प्रति प्रेम करके उसका त्याग करना सम्भव नहीं है । उन्हींके वियोगकी कल्पनासे उद्धवजी कातर हो गये, उनका त्याग करनेमें समर्थ न हुए । बार-बार विह्वल होकर मूर्च्छित होने लगे । कुछ समयके बाद उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी पादुकाएँ अपने सिर-पर रख लीं और बार-बार भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम करके

ततस्तमन्तर्हृदि[1] संनिवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम् ।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
तपः समास्थाय हरेरगाद् गतिम् ॥४७॥

य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम् ।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्य जगद् विमुच्यते॥४८॥

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम् ।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥४९॥

वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ४६ ॥ भगवान्‌के परमप्रेमी भक्त उद्धवजी हृदयमें उनकी दिव्य छवि धारण किये बदरिकाश्रम पहुँचे और वहाँ उन्होंने तपोमय जीवन व्यतीत करके जगत्‌के एकमात्र हितैषी भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशानुसार उनकी स्वरूपभूत परमगति प्राप्त की ॥ ४७ ॥ भगवान् शङ्कर आदि योगेश्वर भी सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवा किया करते हैं। उन्होंने स्वयं श्रीमुखसे अपने परमप्रेमी भक्त उद्धवके लिये इस ज्ञानामृतका वितरण किया। यह ज्ञानामृत आनन्दमहासागरका सार है। जो श्रद्धाके साथ इसका सेवन करता है, वह तो मुक्त हो ही जाता है, उसके सङ्गसे सारा जगत् मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥ परीक्षित्! जैसे भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे उनका सार-सार मधु संग्रह कर लेता है, वैसे ही स्वयं वेदोंको प्रकाशित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने भक्तोंको संसारसे मुक्त करनेके लिये यह ज्ञान और विज्ञानका सार निकाला है। उन्होंने जरा-रोगादि भयकी निवृत्तिके लिये क्षीरसमुद्रसे अमृत भी निकाला था तथा इन्हें क्रमशः अपने निवृत्तिमार्गी और प्रवृत्तिमार्गी भक्तोंको पिलाया। वे ही पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत्‌के मूल कारण हैं। मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

यदुकुलका संहार

राजोवाच

ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम् ।
द्वारवत्यां किमकरोद् भगवान् भूतभावनः ॥ १ ॥
ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः ।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत् ॥ २ ॥
प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न शेकुः
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत् सतामात्मलग्नम् ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! जब महाभागवत उद्धवजी बदरीवनको चले गये, तब भूतभावन भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकामें क्या लीला रची? ॥ १ ॥ प्रभो! यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने अपने कुलके ब्रह्मशापग्रस्त होनेपर सबके नेत्रादि इन्द्रियोंके परम प्रिय अपने दिव्य श्रीविग्रहकी लीलाका संवरण कैसे किया? ॥ २ ॥ भगवन्! जब स्त्रियोंके नेत्र उनके श्रीविग्रहमें लग जाते थे, तब वे उन्हें वहाँसे हटानेमें असमर्थ हो जाती थीं। जब संत पुरुष उनकी रूपमाधुरीका वर्णन सुनते हैं, तब वह श्रीविग्रह कानोंके रास्ते प्रवेश करके उनके चित्तमें गड़-सा जाता है, वहाँसे हटना नहीं जानता। उसकी

१. तमाद्यं हृदि ।

यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनां[1]
दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः ॥ ३ ॥

शोभा कवियोंकी काव्यरचनामें अनुरागका रंग भर देती है और उनका सम्मान बढ़ा देती है, इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। महाभारत-युद्धके समय जब वे हमारे दादा अर्जुनके रथपर बैठे हुए थे, उस समय जिन योद्धाओंने उसे देखते-देखते शरीर-त्याग किया; उन्हें सारूप्य-मुक्ति मिल गयी। उन्होंने अपना ऐसा अद्भुत श्रीविग्रह किस प्रकार अन्तर्धान किया? ॥ ३ ॥

ऋषिरुवाच

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान् समुत्थितान्।
दृष्ट्वाऽऽसीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम्॥४॥
एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः।
मुहूर्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुङ्गवाः ॥ ५ ॥
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक् सरस्वती ॥ ६ ॥
तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः ॥ ७ ॥
ब्राह्मणांस्तु महाभागान् कृतस्वस्त्ययना वयम्।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८ ॥
विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम्।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥ ९ ॥
इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः ॥१०॥
तस्मिन् भगवताऽऽदिष्टं यदुदेवेन यादवाः।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम् ॥११॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्षमें बड़े बड़े उत्पात—अशकुन हो रहे हैं; तब उन्होंने सुधर्मा सभामें उपस्थित सभी यदुवंशियोंसे यह बात कही—॥ ४ ॥ 'श्रेष्ठ यदुवंशियो! यह देखो, द्वारकामें बड़े-बड़े भयङ्कर उत्पात होने लगे हैं। ये साक्षात् यमराजकी ध्वजाके समान हमारे महान् अनिष्टके सूचक हैं। अब हमें यहाँ घड़ी-दो-घड़ी भी नहीं ठहरना चाहिये ॥ ५ ॥ स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े यहाँसे शंखोद्धार-क्षेत्रमें चले जायँ और हमलोग प्रभासक्षेत्रमें चलें। आप सब जानते हैं कि वहाँ सरस्वती पश्चिमकी ओर बहकर समुद्रमें जा मिली हैं ॥ ६ ॥ वहाँ हम स्नान करके पवित्र होंगे, उपवास करेंगे और एकाग्रचित्तसे स्नान एवं चन्दन आदि सामग्रियोंसे देवताओंकी पूजा करेंगे ॥ ७ ॥ वहाँ स्वस्तिवाचनके बाद हमलोग गौ, भूमि, सोना, वस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ और घर आदिके द्वारा महात्मा ब्राह्मणोंका सत्कार करेंगे ॥ ८ ॥ यह विधि सब प्रकारके अमङ्गलोंका नाश करनेवाली और परम मङ्गलकी जननी है। श्रेष्ठ यदुवंशियो! देवता, ब्राह्मण और गौओं-की पूजा ही प्राणियोंके जन्मका परम लाभ है' ॥ ९ ॥

परीक्षित्! सभी वृद्ध यदुवंशियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर 'तथास्तु' कहकर उसका अनुमोदन किया और तुरंत नौकाओंसे समुद्र पार करके रथोंद्वारा प्रभास-क्षेत्रकी यात्रा की ॥ १० ॥ वहाँ पहुँचकर यादवोंने यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके आदेशानुसार बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे शान्तिपाठ आदि तथा और भी सब प्रकारके

१. कीर्त्यमानां।

ततस्तस्मिन् महापानं पपुर्मैरेयकं मधु ।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥१२॥
महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम् ।
कृष्णमायाविमूढानां सङ्घर्षः सुमहानभूत् ॥१३॥
युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः ।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥१४॥
पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः
खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।
मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहन्शरैर्दद्भिरिव द्विपा वने ॥१५॥
प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्सरा-
वक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी ।
सुभद्रसङ्ग्रामजितौ सुदारुणौ
गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः ॥१६॥
अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः
सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता
जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम् ॥१७॥
दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता
मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः ।
विसर्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च
मिथस्ततस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम् ॥१८॥
पुत्रा अयुध्यन् पितृभिर्भ्रातृभिश्च
स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भि-
र्ज्ञातींस्त्वहन्ज्ञातय एव मूढाः ॥१९॥
शरेषु क्षीयमाणेषु भज्यमानेषु धन्वसु ।
शस्त्रेषु क्षीयमाणेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः ॥२०॥

मङ्गलकृत्य किये ॥ ११ ॥ यह सब तो उन्होंने किया; परन्तु दैवने उनकी बुद्धि हर ली और वे उस मैरेयक नामक मदिराका पान करने लगे, जिसके नशेसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । वह पीनेमें तो अवश्य मीठी लगती है, परन्तु परिणाममें सर्वनाश करनेवाली है ॥ १२ ॥ उस तीव्र मदिराके पानसे सब-के-सब उन्मत्त हो गये और वे घमंडी वीर एक-दूसरेसे लड़ने-झगड़ने लगे । सच पूछो तो श्रीकृष्णकी मायासे वे मूढ हो रहे थे ॥ १३ ॥ उस समय वे क्रोधसे भरकर एक-दूसरेपर आक्रमण करने लगे और धनुष-बाण, तलवार, भाले, गदा, तोमर और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे वहाँ समुद्रतटपर ही एक-दूसरेसे भिड़ गये ॥ १४ ॥ मतवाले यदुवंशी रथों, हाथियों, घोड़ों, गधों, ऊँटों, खच्चरों, बैलों, भैसों और मनुष्योंपर भी सवार होकर एक-दूसरेको बाणोंसे घायल करने लगे—मानो जंगली हाथी एक-दूसरेपर दाँतोंसे चोट कर रहे हों । सबकी सवारियोंपर ध्वजाएँ फहरा रही थीं, पैदल सैनिक भी आपसमें उलझ रहे थे ॥ १५ ॥ प्रद्युम्न साम्बसे, अक्रूर भोजसे, अनिरुद्ध सात्यकिसे, सुभद्र संग्रामजित्से, भगवान् श्रीकृष्णके भाई गद उसी नामके उनके पुत्रसे और सुमित्र सुरथसे युद्ध करने लगे । ये सभी बड़े भयङ्कर योद्धा थे और क्रोधमें भरकर एक दूसरेका नाश करनेपर तुल गये थे ॥ १६ ॥ इनके अतिरिक्त निशठ, उल्मुक, सहस्रजित्, शतजित् और भानु आदि यादव भी एक-दूसरेसे गुथ गये । भगवान् श्रीकृष्णकी मायाने तो इन्हें अत्यन्त मोहित कर ही रक्खा था, इधर मदिराके नशेने भी इन्हें अंधा बना दिया था ॥ १७ ॥ दाशार्ह वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुकुर और कुन्ति आदि वंशोंके लोग सौहार्द और प्रेमको भुलाकर आपसमें मार-काट करने लगे ॥ १८ ॥ मूढतावश पुत्र पिताका, भाई भाईका, भानजा मामाका, नाती नानाका, मित्र मित्रका, सुहृद् सुहृद्का, चाचा भतीजेका तथा एक गोत्रवाले आपसमें एक-दूसरेका खून करने लगे ॥ १९ ॥ अन्तमें जब उनके सब बाण समाप्त हो गये, धनुष टूट गये और शस्त्रास्त्र नष्ट-भ्रष्ट हो गये तब उन्होंने अपने हाथोंसे समुद्रतटपर लगी हुई एरका नामकी घास उखाड़नी शुरू की । यह वही घास थी, जो ऋषियोंके शापके कारण उत्पन्न हुए लोहमय मूसलके चूरेसे पैदा

ता वज्रकल्पा ह्यभवन् परिघा मुष्टिना भृताः[1] ।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तं च ते ॥२१॥
प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः ।
हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः[2] ॥२२॥
अथ तावपि संक्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन ।
एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि ॥२३॥
ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम् ।
स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम् ॥२४॥
एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः ।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः ॥२५॥
रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम् ।
तत्याज लोकं[3] मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि ॥२६॥
रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः ।
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम् ॥२७॥
बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया ।
दिशो वितिमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः ॥२८॥
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम् ।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम् ॥२९॥
सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम् ।

हुई थी ॥ २० ॥ हे राजन्! उनके हाथोंमें आते ही वह घास वज्रके समान कठोर मुद्गरोंके रूपमें परिणत हो गयी। अब वे रोषमें भरकर उसी घासके द्वारा अपने विपक्षियोंपर प्रहार करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें मना किया, तो उन्होंने उनको और बलरामजीको भी अपना शत्रु समझ लिया। उन आततायियोंकी बुद्धि ऐसी मूढ़ हो रही थी कि वे उन्हें मारनेके लिये उनकी ओर दौड़ पड़े ॥ २१-२२ ॥ कुरुनन्दन! अब भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी भी क्रोधमें भरकर युद्धभूमिमें इधर-उधर विचरने और मुट्ठी-की-मुट्ठी एरका घास उखाड़-उखाड़कर उन्हें मारने लगे। एरका घासकी मुट्ठी ही मुद्गरके समान चोट करती थी ॥ २३ ॥ जैसे बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न होकर दावानल बाँसोंको ही भस्म कर देता है, वैसे ही ब्रह्मशापसे ग्रस्त और भगवान् श्रीकृष्णकी मायासे मोहित यदुवंशियोंके स्पर्द्धामूलक क्रोधने उनका ध्वंस कर दिया ॥ २४ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि समस्त यदुवंशियोंका संहार हो चुका, तब उन्होंने यह सोचकर सन्तोषकी साँस ली कि पृथ्वीका बचा-खुचा भार भी उतर गया ॥ २५ ॥

परीक्षित्! बलरामजीने समुद्रतटपर बैठकर एकाग्रचित्तसे परमात्मचिन्तन करते हुए अपने आत्माको आत्मस्वरूपमें ही स्थिर कर लिया और मनुष्यशरीर छोड़ दिया ॥ २६ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरे बड़े भाई बलरामजी परमपदमें लीन हो गये, तब वे एक पीपलके पेड़के तले जाकर चुपचाप धरतीपर ही बैठ गये ॥ २७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपनी अङ्गकान्तिसे देदीप्यमान चतुर्भुज रूप धारण कर रक्खा था और धूमसे रहित अग्निके समान दिशाओंको अन्धकाररहित—प्रकाशमान बना रहे थे ॥ २८ ॥ वर्षाकालीन मेघके समान साँवले शरीरसे तपे हुए सोनेके समान ज्योति निकल रही थी। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न शोभायमान था। वे रेशमी पीताम्बरकी धोती और वैसा ही दुपट्टा धारण किये हुए थे। बड़ा ही मङ्गलमय रूप था ॥ २९ ॥ मुखकमलपर सुन्दर मुसकान और कपोलोंपर नीली-नीली अलकें बड़ी ही सुहावनी लगती थीं। कमलके समान

१. धृताः। २. न्नापतन्नाततायिनः। ३. लोकमाविश्य।

पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥३०॥

कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकाङ्गदैः ।

हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम् ॥३१॥

वनमालापरीताङ्गं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः ।

कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम् ॥३२॥

मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा ।

मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ॥३३॥

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः ।

भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः ॥३४॥

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन ।

क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ ॥३५॥

यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम् ।

वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो ॥३६॥

तन्माऽऽशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम् ।

यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम् ॥३७॥

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो

रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये ।

त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः

किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥३८॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे ।

सुन्दर-सुन्दर एवं सुकुमार नेत्र थे । कानोंमें मकराकृत कुण्डल झिलमिला रहे थे ॥३०॥ कमरमें करधनी, कंधेपर यज्ञोपवीत, माथेपर मुकुट, कलाइयोंमें कंगन, बाँहोंमें बाजूबंद, वक्षःस्थलपर हार, चरणोंमें नूपुर, अँगुलियोंमें अँगूठियाँ और गलेमें कौस्तुभमणि शोभायमान हो रही थी ॥ ३१ ॥ घुटनोंतक वनमाला लटकी हुई थी । शङ्ख, चक्र, गदा आदि आयुध मूर्तिमान् होकर प्रभुकी सेवा कर रहे थे । उस समय भगवान् अपनी दाहिनी जाँघपर बायाँ चरण रखकर बैठे हुए थे । लाल-लाल तलवा रक्त कमलके समान चमक रहा था ॥ ३२ ॥

परीक्षित् ! जरा नामका एक बहेलिया था । उसने मूसलके बचे हुए टुकड़ेसे अपने बाणकी गाँसी बना ली थी । उसे दूरसे भगवान्‌का लाल-लाल तलवा हरिनके मुखके समान जान पड़ा । उसने उसे सचमुच हरिन समझकर अपने उसी बाणसे बींध दिया ॥ ३३ ॥ जब वह पास आया, तब उसने देखा कि 'अरे ! ये तो चतुर्भुज पुरुष हैं !' अब तो वह अपराध कर चुका था, इसलिये डरके मारे काँपने लगा और दैत्यदलन भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर सिर रखकर धरतीपर गिर पड़ा ॥ ३४ ॥ उसने कहा—'हे मधुसूदन ! मैंने अनजानमें यह पाप किया है । सचमुच मैं बहुत बड़ा पापी हूँ; परन्तु आप परमयशस्वी और निर्विकार हैं । आप कृपा करके मेरा अपराध क्षमा कीजिये ॥ ३५ ॥ सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् प्रभो ! महात्मा-लोग कहा करते हैं कि आपके स्मरणमात्रसे मनुष्योंका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है । बड़े खेदकी बात है कि मैंने स्वयं आपका ही अनिष्ट कर दिया ॥ ३६ ॥ वैकुण्ठनाथ ! मैं निरपराध हरिणोंको मारनेवाला महापापी हूँ । आप मुझे अभी-अभी मार डालिये, क्योंकि मर जानेपर मैं फिर कभी आप-जैसे महापुरुषोंका ऐसा अपराध न करूँगा ॥ ३७ ॥ भगवन् ! सम्पूर्ण विद्याओंके पारदर्शी ब्रह्माजी और उनके पुत्र रुद्र आदि भी आपकी योगमायाका विलास नहीं समझ पाते; क्योंकि उनकी दृष्टि भी आपकी मायासे आवृत है । ऐसी अवस्थामें हमारे-जैसे पापयोनि लोग उसके विषयमें कह ही क्या सकते हैं !' ॥ ३८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे जरे ! तू डर मत, उठ-उठ ! यह तो तूने मेरे मनका काम किया है । जा,

याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥३९॥

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा ।

त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ ॥४०॥

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम् ।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ ॥४१॥

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं
ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम् ।
स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः ॥४२॥

अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो
दृष्टिः प्रणष्टा तमसि प्रविष्टा ।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं
यथा निशायामुडुपे प्रणष्टे ॥४३॥

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः ।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः ॥४४॥

तमन्वगच्छन् दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च ।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः ॥४५॥

गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः ।
सङ्कर्षणस्य निर्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम् ॥४६॥

द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः ।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥४७॥

स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः ।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ ॥४८॥

मेरी आज्ञासे तू उस स्वर्गमें निवास कर, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यवानोंको होती है ॥ ३९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण तो अपनी इच्छासे शरीर धारण करते हैं । जब उन्होंने जरा व्याधको यह आदेश दिया, तब उसने उनकी तीन बार परिक्रमा की, नमस्कार किया और विमानपर सवार होकर स्वर्गको चला गया ॥ ४० ॥

भगवान् श्रीकृष्णका सारथि दारुक उनके स्थानका पता लगाता हुआ उनके द्वारा धारण की हुई तुलसीकी गन्ध-से युक्त वायु सूँघकर और उससे उनके होनेके स्थानका अनुमान लगाकर सामनेकी ओर गया ॥ ४१ ॥ दारुकने वहाँ जाकर देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण पीपलके वृक्षके नीचे आसन लगाये बैठे हैं । असह्य तेजवाले आयुध मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें संलग्न हैं । उन्हें देखकर दारुकके हृदयमें प्रेमकी बाढ़ आ गयी । नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी । वह रथसे कूदकर भगवान्के चरणोंपर गिर पड़ा ॥ ४२ ॥ उसने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो ! रात्रिके समय चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर राह चलनेवालेकी जैसी दशा हो जाती है, आपके चरणकमलोंका दर्शन न पाकर मेरी भी वैसी ही दशा हो गयी है । मेरी दृष्टि नष्ट हो गयी है, चारों ओर अँधेरा छा गया है । अब न तो मुझे दिशाओंका ज्ञान है और न मेरे हृदयमें शान्ति ही है' ॥ ४३ ॥ परीक्षित् ! अभी दारुक इस प्रकार कह ही रहा था कि उसके सामने ही भगवान्का गरुडध्वज रथ पताका और घोड़ोंके साथ आकाशमें उड़ गया ॥ ४४ ॥ उसके पीछे-पीछे भगवान्के दिव्य आयुध भी चले गये । यह सब देखकर दारुकके आश्चर्यकी सीमा न रही । तब भगवान्ने उससे कहा—॥ ४५॥ 'दारुक ! अब तुम द्वारका चले जाओ और वहाँ यदुवंशियोंके पारस्परिक संहार, भैया बलरामजीकी परम गति और मेरे स्वधामगमनकी बात कहो' ॥ ४६॥ उनसे कहना कि 'अब तुमलोगोंको अपने परिवारवालोंके साथ द्वारकामें नहीं रहना चाहिये । मेरे न रहनेपर समुद्र उस नगरीको डुबो देगा ॥ ४७॥ सब लोग अपनी-अपनी धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब और मेरे माता-पिताको लेकर अर्जुनके संरक्षणमें इन्द्रप्रस्थ चले जायँ ॥ ४८ ॥

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः ।
मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥४९॥
इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम् ॥५०॥

दारुक ! तुम मेरे द्वारा उपदिष्ट भागवतधर्मका आश्रय लो और ज्ञाननिष्ठ होकर सबकी उपेक्षा कर दो तथा इस दृश्यको मेरी मायाकी रचना समझकर शान्त हो जाओ' ॥४९॥ भगवान्‌का यह आदेश पाकर दारुकने उनकी परिक्रमा की और उनके चरणकमल अपने सिरपर रखकर बारंबार प्रणाम किया । तदनन्तर वह उदास मनसे द्वारकाके लिये चल पड़ा ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे
त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

श्रीभगवान्‌का स्वधामगमन

श्रीशुक उवाच

अथ तत्रागमद् ब्रह्मा भवान्या च समं भवः ।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः ॥ १ ॥
पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
चारणा यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः ॥ २ ॥
द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः ।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च ॥ ३ ॥
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः ।
कुर्वन्तः सङ्कुलं राजन् भक्त्या परमया युताः ॥ ४ ॥
भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः ।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥ ५ ॥
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥६॥
दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात् ।
सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! दारुकके चले जानेपर ब्रह्माजी, शिव-पार्वती, इन्द्रादि लोकपाल, मरीचि आदि प्रजापति, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, पितर-सिद्ध, गन्धर्व-विद्याधर, नाग-चारण, यक्ष-राक्षस, किन्नर-अप्सराएँ तथा गरुडलोकके विभिन्न पक्षी अथवा मैत्रेय आदि ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम-प्रस्थानको देखनेके लिये बड़ी उत्सुकतासे वहाँ आये । वे सभी भगवान् श्रीकृष्णके जन्म और लीलाओंका गान अथवा वर्णन कर रहे थे । उनके विमानोंसे सारा आकाश भर-सा गया था । वे बड़ी भक्तिसे भगवान्‌पर पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १-४ ॥ सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजी और अपने विभूतिस्वरूप देवताओंको देखकर अपने आत्माको स्वरूपमें स्थित किया और कमलके समान नेत्र बंद कर लिये ॥ ५ ॥ भगवान्‌का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है; इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्निदेवतासम्बन्धी योगधारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें चले गये ॥ ६ ॥ उस समय स्वर्गमें नगारे बजने लगे और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी । परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके पीछे-पीछे इस लोकसे सत्य, धर्म, धैर्य,

देवादयो ब्रह्ममुख्या न[1] विशन्तं स्वधामनि ।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः ॥ ८ ॥
सौदामन्या[2] यथाऽऽकाशे यान्त्या[3] हित्वाभ्रमण्डलम् ।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः ॥ ९ ॥
ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः ।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा ॥ १० ॥

राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।
सृष्ट्वाऽऽत्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते ॥ ११ ॥

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥ १२ ॥

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये-
ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं
मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥ १३ ॥

य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम् ।

कीर्ति और श्रीदेवी भी चली गयीं ॥ ७ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी गति मन और वाणीके परे है; तभी तो जब भगवान् अपने धाममें प्रवेश करने लगे, तब ब्रह्मादि देवता भी उन्हें न देख सके। इस घटनासे उन्हें बड़ा ही विस्मय हुआ ॥ ८ ॥ जैसे बिजली मेघमण्डलको छोड़कर जब आकाशमें प्रवेश करती है, तब मनुष्य उसकी चाल नहीं देख पाते, वैसे ही बड़े-बड़े देवता भी श्रीकृष्णकी गतिके सम्बन्धमें कुछ न जान सके ॥ ९ ॥ ब्रह्माजी और भगवान् शङ्कर आदि देवता भगवान्‌की यह परमयोगमयी गति देखकर बड़े विस्मयके साथ उसकी प्रशंसा करते अपने-अपने लोकमें चले गये ॥ १० ॥

परीक्षित्! जैसे नट अनेकों प्रकारके स्वाँग बनाता है, परन्तु रहता है उन सबसे निर्लेप; वैसे ही भगवान्‌का मनुष्योंके समान जन्म लेना, लीला करना और फिर उसे संवरण कर लेना उनकी मायाका विलासमात्र है—अभिनयमात्र है। वे स्वयं ही इस जगत्‌की सृष्टि करके इसमें प्रवेश करके विहार करते हैं और अन्तमें संहार-लीला करके अपने अनन्त महिमामय स्वरूपमें ही स्थित हो जाते हैं ॥ ११ ॥ सान्दीपनि गुरुका पुत्र यमपुरी चला गया था, परन्तु उसे वे मनुष्य-शरीरके साथ लौटा लाये। तुम्हारा ही शरीर ब्रह्मास्त्रसे जल चुका था; परन्तु उन्होंने तुम्हें जीवित कर दिया। वास्तवमें उनकी शरणागतवत्सलता ऐसी ही है। और तो क्या कहूँ, उन्होंने कालोंके महाकाल भगवान् शङ्करको भी युद्धमें जीत लिया और अत्यन्त अपराधी—अपने शरीरपर ही प्रहार करनेवाले व्याधको भी सदेह स्वर्ग भेज दिया। प्रिय परीक्षित्! ऐसी स्थितिमें क्या वे अपने शरीरको सदाके लिये यहाँ नहीं रख सकते थे? अवश्य ही रख सकते थे ॥ १२ ॥ यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और संहारके निरपेक्ष कारण हैं, तथापि उन्होंने अपने शरीरको इस संसारमें बचा रखनेकी इच्छा नहीं की। इससे उन्होंने यह दिखाया कि इस मनुष्य-शरीरसे मुझे क्या प्रयोजन है? आत्मनिष्ठ पुरुषोंके लिये यही आदर्श है कि वे शरीर रखनेकी चेष्टा न करें ॥ १३ ॥ जो पुरुष प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमनकी इस कथाका एकाग्रता और भक्तिके

[1] निविशन्तं । [2] सौदामनी । [3] याति ।

प्रयतः कीर्तयेद् भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम्॥१४॥

दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः।
पतित्वा चरणावस्रैर्न्यषिञ्चत् कृष्णविच्युतः॥१५॥

कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्च्छिताः॥१६॥

तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः[1]।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम्॥१७॥

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम्॥१८॥

प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः।
उपगुह्य पतींस्तात[2] चितामारुरुहुः स्त्रियः॥१९॥

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन्।
वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन् हरेः स्नुषाः।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः॥२०॥

अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः॥२१॥

बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम्।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः॥२२॥

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्।
वर्जयित्वा महाराज[3] श्रीमद्भगवदालयम्॥२३॥

नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम्॥२४॥

स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान् धनञ्जयः।

साथ कीर्तन करेगा, उसे भगवान्‌का वही सर्वश्रेष्ठ परमपद प्राप्त होगा॥ १४॥

इधर दारुक भगवान् श्रीकृष्णके विरहसे व्याकुल होकर द्वारका आया और वसुदेवजी तथा उग्रसेनके चरणोंपर गिर-गिरकर उन्हें आँसुओंसे भिगोने लगा॥ १५॥ परीक्षित्! उसने अपनेको सँभालकर यदुवंशियोंके विनाश-का पूरा-पूरा विवरण कह सुनाया। उसे सुनकर लोग बहुत ही दुखी हुए और मारे शोकके मूर्च्छित हो गये॥ १६॥ भगवान् श्रीकृष्णके वियोगसे विह्वल होकर वे लोग सिर पीटते हुए वहाँ तुरंत पहुँचे, जहाँ उनके भाई-बन्धु निष्प्राण होकर पड़े हुए थे॥ १७॥ देवकी, रोहिणी और वसुदेवजी अपने प्यारे पुत्र श्रीकृष्ण और बलरामको न देखकर शोककी पीडासे बेहोश हो गये॥ १८॥ उन्होंने भगवद्विरहसे व्याकुल होकर वहीं अपने प्राण छोड़ दिये। स्त्रियोंने अपने-अपने पतियोंके शव पहचानकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और उनके साथ चितापर बैठकर भस्म हो गयीं॥ १९॥ बलरामजीकी पत्नियाँ उनके शरीरको, वसुदेवजीकी पत्नियाँ उनके शवको और भगवान्‌की पुत्रवधुएँ अपने पतियोंकी लाशोंको लेकर अग्निमें प्रवेश कर गयीं। भगवान् श्रीकृष्णकी रुक्मिणी आदि पटरानियाँ उनके ध्यानमें मग्न होकर अग्निमें प्रविष्ट हो गयीं॥ २०॥

परीक्षित्! अर्जुन अपने प्रियतम और सखा भगवान् श्रीकृष्णके विरहसे पहले तो अत्यन्त व्याकुल हो गये; फिर उन्होंने उन्हींके गीतोक्त सदुपदेशोंका स्मरण करके अपने मनको सँभाला॥ २१॥ यदुवंशके मृत व्यक्तियोंमें जिनको कोई पिण्ड देनेवाला न था, उनका श्राद्ध अर्जुनने क्रमशः विधिपूर्वक करवाया॥ २२॥ महाराज! भगवान्‌के न रहनेपर समुद्रने एकमात्र भगवान् श्रीकृष्णका निवास-स्थान छोड़कर एक ही क्षणमें सारी द्वारका डुबो दी॥२३॥ भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ अब भी सदा-सर्वदा निवास करते हैं। वह स्थान स्मरणमात्रसे ही सारे पाप-तापोंका नाश करनेवाला और सर्वमङ्गलोंको भी मङ्गल बनानेवाला है॥२४॥ प्रिय परीक्षित्! पिण्डदानके अनन्तर बची-खुची स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ोंको लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये।

१. कृष्ण कृष्णेति विह्वलाः। २. स्ता वै०। ३. महाभाग।

इन्द्रप्रस्थं समावेश्य[1] वज्रं तत्राभ्यषेचयत् ॥२५॥

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः ।

त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम् ॥२६॥

य एतद् देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।

कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२७॥

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-

वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।

अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो

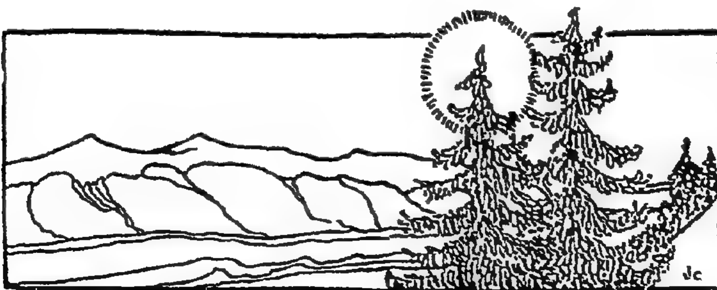
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥२८॥

वहाँ सबको यथायोग्य बसाकर अनिरुद्धके पुत्र वज्रका राज्याभिषेक कर दिया ॥ २५ ॥ राजन् ! तुम्हारे दादा युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंको अर्जुनसे ही यह बात मालूम हुई कि यदुवंशियोंका संहार हो गया है । तब उन्होंने अपने वंशधर तुम्हें राज्यपदपर अभिषिक्त करके हिमालयकी वीरयात्रा की ॥ २६ ॥ मैंने तुम्हें देवताओंके भी आराध्यदेव भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मलीला और कर्मलीला सुनायी । जो मनुष्य श्रद्धाके साथ इसका कीर्तन करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २७ ॥ परीक्षित् ! जो मनुष्य इस प्रकार भक्तभयहारी निखिल सौन्दर्यमाधुर्यनिधि श्रीकृष्णचन्द्रके अवतार-सम्बन्धी रुचिर पराक्रम और इस श्रीमद्भागवत महापुराणमें तथा दूसरे पुराणोंमें वर्णित परमानन्दमयी बाललीला, कैशोरलीला आदिका सङ्कीर्तन करता है, वह परमहंस मुनीन्द्रोंके अन्तिम प्राप्तव्य श्रीकृष्णके चरणोंमें पराभक्ति प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

॥ इत्येकादशः स्कन्धः समाप्तः ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥



[1] समाविश्य ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

द्वादशः स्कन्धः



सगुणो निर्गुणो भावः शून्याशून्यात्मकस्तथा ।
लीलाविलासो यस्यैव तं वन्दे बालवत्सपम् ॥

मार्कण्डेयपर शङ्करजीकी कृपा



भगवान् शङ्कर श्रीपार्वतीजी तथा अपने गणोंके साथ पधारे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

द्वादशः स्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

कलियुगके राजवंशोंका वर्णन

राजोवाच

स्वधामानुगते कृष्णे यदुवंशविभूषणे ।
कस्य वंशोऽभवत् पृथ्व्यामेतदाचक्ष्व मे मुने ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

योऽन्त्यः पुरञ्जयो नाम भाव्यो बार्हद्रथो नृप ।
तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम् ॥ २ ॥
प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्ता यत् पालकः सुतः ।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः ॥ ३ ॥
नन्दिवर्धनस्तत्पुत्रः पञ्च प्रद्योतना इमे ।
अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः ॥ ४ ॥
शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः ।
क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः ॥ ५ ॥
विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति ।
दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः ॥ ६ ॥
नन्दिवर्धन आजेयो महानन्दिः सुतस्ततः ।
शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ ७ ॥
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः ।
महानन्दिसुतो राजन् शूद्रीगर्भोद्भवो बली ॥ ८ ॥
महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण जब अपने परमधाम पधार गये, तब पृथ्वीपर किस वंशका राज्य हुआ ? तथा अब किसका राज्य होगा ? आप कृपा करके मुझे यह बतलाइये ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—प्रिय परीक्षित् ! मैंने तुम्हें नवें स्कन्धमें यह बात बतलायी थी कि जरासन्धके पिता बृहद्रथके वंशमें अन्तिम राजा होगा पुरञ्जय अथवा रिपुञ्जय । उसके मन्त्रीका नाम होगा शुनक । वह अपने स्वामीको मार डालेगा और अपने पुत्र प्रद्योतको राज-सिंहासनपर अभिषिक्त करेगा । प्रद्योतका पुत्र होगा पालक, पालकका विशाखयूप, विशाखयूपका राजक और राजकका पुत्र होगा नन्दिवर्द्धन । प्रद्योतवंशमें यही पाँच नरपति होंगे । इनकी संज्ञा होगी 'प्रद्योतन' । ये एक सौ अड़तीस वर्षतक पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ २-४ ॥

इसके पश्चात् शिशुनाग नामका राजा होगा । शिशुनागका काकवर्ण, उसका क्षेमधर्मा और क्षेमधर्माका पुत्र होगा क्षेत्रज्ञ ॥ ५ ॥ क्षेत्रज्ञका विधिसार, उसका अजातशत्रु, फिर दर्भक और दर्भकका पुत्र अजय होगा ॥ ६ ॥ अजयसे नन्दिवर्द्धन और उससे महानन्दिका जन्म होगा । शिशुनाग-वंशमें ये दस राजा होंगे । ये सब मिलकर कलियुगमें तीन सौ साठ वर्षतक पृथ्वीपर राज्य करेंगे । प्रिय परीक्षित् ! महानन्दिकी शूद्रा पत्नीके गर्भसे नन्द नामका पुत्र होगा । वह बड़ा बलवान् होगा । महानन्दि 'महापद्म' नामक निधिका अधिपति होगा । इसीलिये लोग उसे 'महापद्म' भी कहेंगे । वह क्षत्रिय राजाओंके विनाश-

१. फ० । २. भाव्यो । ३. जयोऽभवत् । ४. न्दिस्तु तत्सुतः । ५. भौम० । ६. च्छूद्रागर्भो० ।

ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः ॥९॥

स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लङ्घितशासनः ।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः ॥१०॥
तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्यप्रमुखाः सुताः ।
य इमां भोक्ष्यन्ति महीं राजानः स्म शतं समाः ॥११॥
नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति ।
तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ॥१२॥
स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति ।
तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धनः ॥१३॥
सुयशा भविता तस्य सङ्गतः सुयशःसुतः ।
शालिशूकस्ततस्तस्य सोमशर्मा भविष्यति ॥१४॥
शतधन्वा ततस्तस्य भविता तद् बृहद्रथः ।
मौर्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम् ।
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह ॥१५॥
हत्वा बृहद्रथं मौर्यं तस्य सेनापतिः कलौ ।
पुष्पमित्रस्तु शुङ्गाह्वः स्वयं राज्यं करिष्यति ।
अग्निमित्रस्ततस्तस्मात् सुज्येष्ठोऽथ भविष्यति ॥१६॥
वसुमित्रो भद्रकश्च पुलिन्दो भविता ततः ।
ततो घोषः सुतस्तस्माद् वज्रमित्रो भविष्यति ॥१७॥
ततो भागवतस्तस्माद् देवभूतिरिति श्रुतः ।
शुङ्गा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम् ॥१८॥
ततः कण्वानियं भूमिर्यास्यत्यल्पगुणान् नृप ।
शुङ्गं हत्वा देवभूतिं कण्वोऽमात्यस्तु कामिनम् ॥१९॥
स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवो महामतिः ।
तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः ।

का कारण बनेगा। तभीसे राजालोग प्रायः शूद्र और अधार्मिक हो जायँगे ॥ ७–९ ॥

महापद्म पृथ्वीका एकछत्र शासक होगा। उसके शासनका उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकेगा। क्षत्रियोंके विनाशमें हेतु होनेकी दृष्टिसे तो उसे दूसरा परशुराम ही समझना चाहिये ॥ १० ॥ उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र होंगे। वे सभी राजा होंगे और सौ वर्षतक इस पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ ११ ॥ कौटल्य, वात्स्यायन तथा चाणक्यके नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण विश्वविख्यात नन्द और उनके सुमाल्य आदि आठ पुत्रोंका नाश कर डालेगा। उनका नाश हो जानेपर कलियुगमें मौर्यवंशी नरपति पृथ्वीका राज्य करेंगे ॥ १२ ॥ वही ब्राह्मण पहले-पहल चन्द्रगुप्त मौर्यको राजाके पदपर अभिषिक्त करेगा। चन्द्रगुप्तका पुत्र होगा वारिसार और वारिसारका अशोकवर्द्धन ॥ १३ ॥ अशोकवर्द्धनका पुत्र होगा सुयश। सुयशका सङ्गत, सङ्गतका शालिशूक और शालिशूकका सोमशर्मा ॥ १४ ॥ सोमशर्माका शतधन्वा और शतधन्वाका पुत्र बृहद्रथ होगा। कुरुवंशविभूषण परीक्षित्! मौर्यवंशके ये दस* नरपति कलियुगमें एक सौ सैंतीस वर्षतक पृथ्वीका उपभोग करेंगे। बृहद्रथका सेनापति होगा पुष्पमित्र शुङ्ग। वह अपने स्वामीको मारकर स्वयं राजा बन बैठेगा। पुष्पमित्रका अग्निमित्र और अग्निमित्रका सुज्येष्ठ होगा ॥ १५-१६ ॥ सुज्येष्ठका वसुमित्र, वसुमित्रका भद्रक और भद्रकका पुलिन्द, पुलिन्दका घोष और घोषका पुत्र होगा वज्रमित्र ॥ १७ ॥ वज्रमित्रका भागवत और भागवतका पुत्र होगा देवभूति। शुङ्गवंशके ये दस नरपति एक सौ बारह वर्षतक पृथ्वीका पालन करेंगे ॥ १८ ॥

परीक्षित्! शुङ्गवंशी नरपतियोंका राज्यकाल समाप्त होनेपर यह पृथ्वी कण्ववंशी नरपतियोंके हाथमें चली जायगी। कण्ववंशी नरपति अपने पूर्ववर्ती राजाओंकी अपेक्षा कम गुणवाले होंगे। शुङ्गवंशका अन्तिम नरपति देवभूति बड़ा ही लम्पट होगा। उसे उसका मन्त्री कण्ववंशी वसुदेव मार डालेगा और अपने बुद्धिबलसे स्वयं राज्य करेगा। वसुदेवका पुत्र होगा भूमित्र, भूमित्रका

१. तच्चापि तत्सुतः। २. सुत। ३. ऽथ भविता ततः। ४. तिः कुरूद्वह। ५. महीपतिः। ६. स्ततो ना०।

* मौर्योंकी संख्या चन्द्रगुप्तको मिलाकर नौ ही होती है। विष्णुपुराणादिमें चन्द्रगुप्तसे पाँचवें दशरथ नामके एक और मौर्यवंशी राजाका उल्लेख मिलता है। उसीको लेकर यहाँ दस संख्या समझनी चाहिये।

नारायणस्य भविता सुशर्मा नाम विश्रुतः ॥२०॥
काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च।
शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां च कलौ युगे ॥२१॥
हत्वा काण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली।
गां भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयः कञ्चित् कालमसत्तमः ॥२२॥
कृष्णनामाथ तद्भ्राता भविता पृथिवीपतिः।
श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः ॥२३॥
लम्बोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माच्चिबिलको नृपः।
मेघस्वातिश्चिबिलकादटमानस्तु तस्य च ॥२४॥
अनिष्टकर्मा हालेयस्तलकस्तस्य चात्मजः।
पुरीषभीरुस्तत्पुत्रस्ततो राजा सुनन्दनः ॥२५॥
चकोरो बहवो यत्र शिवस्वातिररिन्दमः।
तस्यापि गोमतीपुत्रः पुरीमान् भविता ततः ॥२६॥
मेदःशिराः शिवस्कन्दो यज्ञश्रीस्तत्सुतस्ततः।
विजयस्तत्सुतो भाव्यश्चन्द्रविज्ञः सलोमधिः ॥२७॥
एते त्रिंशन्नृपतयश्चत्वार्यब्दशतानि च।
षट्पञ्चाशच्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति कुरुनन्दन ॥२८॥
सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्दभिनो नृपाः।
कङ्काः षोडश भूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपाः ॥२९॥
ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः।
भूयो दश गुरुण्डाश्च मौना एकादशैव तु ॥३०॥
एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च।
नवाधिकां च नवतिं मौना एकादश क्षितिम् ॥३१॥
भोक्ष्यन्त्यब्दशतान्यङ्ग त्रीणि तैः संस्थिते ततः।
किलिकिलायां नृपतयो भूतनन्दोऽथ वङ्गिरिः ॥३२॥
शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः।
इत्येते वै वर्षशतं भविष्यन्त्यधिकानि षट् ॥३३॥

नारायण और नारायणका सुशर्मा। सुशर्मा बड़ा यशस्वी होगा ॥ १९-२० ॥ कण्ववंशके ये चार नरपति काण्वायन कहलायेंगे और कलियुगमें तीन सौ पैंतालीस वर्षतक पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ २१ ॥ प्रिय परीक्षित्! कण्ववंशी सुशर्माका एक शूद्र सेवक होगा—बली। वह अन्ध्रजातिका एवं बड़ा दुष्ट होगा। वह सुशर्माको मारकर कुछ समयतक स्वयं पृथ्वीका राज्य करेगा ॥ २२ ॥ इसके बाद उसका भाई कृष्ण राजा होगा। कृष्णका पुत्र श्रीशान्तकर्ण और उसका पौर्णमास होगा ॥ २३ ॥ पौर्णमासका लम्बोदर और लम्बोदरका पुत्र चिबिलक होगा। चिबिलकका मेघस्वाति, मेघस्वातिका अटमान, अटमानका अनिष्टकर्मा, अनिष्टकर्माका हालेय, हालेयका तलक, तलकका पुरीषभीरु और पुरीषभीरुका पुत्र होगा राजा सुनन्दन ॥ २४-२५ ॥ परीक्षित्! सुनन्दनका पुत्र होगा चकोर; चकोरके आठ पुत्र होंगे, जो सभी 'बहु' कहलायेंगे। इनमें सबसे छोटेका नाम होगा शिवस्वाति। वह बड़ा वीर होगा और शत्रुओंका दमन करेगा। शिवस्वातिका गोमतीपुत्र और उसका पुत्र होगा पुरीमान् ॥ २६ ॥ पुरीमान्का मेदःशिरा, मेदःशिराका शिवस्कन्द, शिवस्कन्दका यज्ञश्री, यज्ञश्रीका विजय और विजयके दो पुत्र होंगे—चन्द्रविज्ञ और लोमधि ॥ २७ ॥ परीक्षित्! ये तीस राजा चार सौ छप्पन वर्षतक पृथ्वीका राज्य भोगेंगे ॥ २८ ॥

परीक्षित्! इसके पश्चात् अवभृति-नगरीके सात आभीर, दस गर्दभी और सोलह कङ्क पृथ्वीका राज्य करेंगे। ये सब-के-सब बड़े लोभी होंगे ॥ २९ ॥ इनके बाद आठ यवन और चौदह तुर्क राज्य करेंगे। इसके बाद दस गुरुण्ड और ग्यारह मौन नरपति होंगे ॥ ३० ॥ मौनोंके अतिरिक्त ये सब एक हजार निन्यानबे वर्षतक पृथ्वीका उपभोग करेंगे तथा ग्यारह मौन नरपति तीन सौ वर्षतक पृथ्वीका शासन करेंगे। जब उनका राज्य-काल समाप्त हो जायगा, तब किलिकिला नामकी नगरीमें भूतनन्द नामका राजा होगा। भूतनन्दका वङ्गिरि, वङ्गिरिका भाई शिशुनन्दि तथा यशोनन्दि और प्रवीरक

१. भविष्यत्यवनीपतिः। २. छिद्रस्वा०। ३. वीर्यः। ४. नन्दश्च। ५. प्रवर्तकः।

तेषां त्रयोदश सुता भवितारश्च बाह्लिकाः।
पुष्पमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च ॥३४॥
एककाला इमे भूपाः सप्तान्ध्राः सप्तकोसलाः।
विदूरपतयो भाव्या निषधास्तत एव हि ॥३५॥
मागधानां तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरञ्जयः।
करिष्यत्यपरो वर्णान् पुलिन्दयदुमद्रकान् ॥३६॥
प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः।
वीर्यवान् क्षत्रमुत्साद्य पद्मवत्यां स वै पुरि।
अनुगङ्गामाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥३७॥
सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूरा अर्बुदमालवाः।
व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः॥३८॥
सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम्।
भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्या म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः॥३९॥
तुल्यकाला इमे राजन् म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः।
एतेऽधर्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः ॥४०॥
स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः।
उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः ॥४१॥
असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसाऽऽवृताः।

ये एक सौ छः वर्षतक राज्य करेंगे ॥ ३१—३३ ॥ इनके तेरह पुत्र होंगे और वे सब-के-सब बाह्लिक कहलायेंगे। उनके पश्चात् पुष्पमित्र नामक क्षत्रिय और उसके पुत्र दुर्मित्रका राज्य होगा ॥ ३४ ॥ परीक्षित्! बाह्लिकवंशी नरपति एक साथ ही विभिन्न प्रदेशोंमें राज्य करेंगे। उनमेंसे सात अन्ध्र देशके तथा सात ही कोसलदेशके अधिपति होंगे, कुछ विदूर-भूमिके शासक और कुछ निषध देशके स्वामी होंगे ॥ ३५ ॥

इनके बाद मगध देशका राजा होगा विश्वस्फूर्जि। यह पूर्वोक्त पुरञ्जयके अतिरिक्त द्वितीय पुरञ्जय कहलायेगा। यह ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंको पुलिन्द, यदु और मद्र आदि म्लेच्छप्राय जातियोंके रूपमें परिणत कर देगा ॥ ३६ ॥ इसकी बुद्धि इतनी दुष्ट होगी कि यह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका नाश करके शूद्रप्राय जनताकी रक्षा करेगा। यह अपने बल-वीर्यसे क्षत्रियोंको उजाड़ देगा और पद्मवती पुरीको राजधानी बनाकर हरिद्वारसे लेकर प्रयागपर्यन्त सुरक्षित पृथ्वीका राज्य करेगा ॥ ३७ ॥ परीक्षित्! ज्यों-ज्यों घोर कलियुग आता जायगा त्यों-त्यों सौराष्ट्र, अवन्ती, आभीर, शूर, अर्बुद और मालव देशके ब्राह्मण-गण संस्कारशून्य हो जायँगे तथा राजालोग भी शूद्रतुल्य हो जायँगे ॥ ३८ ॥ सिन्धुतट, चन्द्रभागाका तटवर्ती प्रदेश, कौन्तीपुरी और काश्मीरमण्डलपर प्रायः शूद्रोंका, संस्कार एवं ब्रह्मतेजसे हीन नाममात्रके द्विजोंका और म्लेच्छोंका राज्य होगा ॥ ३९ ॥

परीक्षित्! ये सब-के-सब राजा आचार-विचारमें म्लेच्छप्राय होंगे। ये सब एक ही समय भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें राज्य करेंगे। ये सब-के सब परले सिरेके झूठे अधार्मिक और स्वल्प दान करनेवाले होंगे। छोटी-छोटी बातोंको लेकर ही ये क्रोधके मारे आगबबूला हो जाया करेंगे ॥ ४० ॥ ये दुष्ट लोग स्त्री, बच्चों, गौओं, ब्राह्मणोंको मारनेमें भी नहीं हिचकेंगे। दूसरेकी स्त्री और धन हथिया लेनेके लिये ये सर्वदा उत्सुक रहेंगे। न तो इन्हें बढ़ते देर लगेगी और न तो घटते। क्षणमें रुष्ट तो क्षणमें तुष्ट। इनकी शक्ति और आयु थोड़ी होगी ॥ ४१ ॥ इनमें परम्परागत संस्कार नहीं होंगे। ये अपने कर्तव्य-कर्मका पालन

१. पुष्पमित्रो। २. नैष०। ३. विस्फूर्जितपु०।

प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः॥४२॥

नहीं करेंगे। रजोगुण और तमोगुणसे अंधे बने रहेंगे। राजाके वेषमें वे म्लेच्छ ही होंगे। वे लूट-खसोटकर अपनी प्रजाका खून चूसेंगे ॥ ४२ ॥

तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः।
अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः॥४३॥

जब ऐसे लोगोंका शासन होगा, तो देशकी प्रजामें भी वैसे ही स्वभाव, आचरण और भाषणकी वृद्धि हो जायगी। राजालोग तो उनका शोषण करेंगे ही, वे आपसमें भी एक दूसरेको उत्पीडित करेंगे और अन्ततः सब-के-सब नष्ट हो जायँगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

कलियुगके धर्म

श्रीशुक उवाच

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया।
कालेन बलिना राजन् नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! समय बड़ा बलवान् है; ज्यों-ज्यों घोर कलियुग आता जायगा, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर धर्म, सत्य, पवित्रता, क्षमा, दया, आयु, बल और स्मरणशक्तिका लोप होता जायगा ॥ १ ॥

वित्तमेव कलौ नॄणां जन्माचारगुणोदयः।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि ॥ २ ॥

कलियुगमें जिसके पास धन होगा, उसीको लोग कुलीन, सदाचारी और सद्गुणी मानेंगे। जिसके हाथमें शक्ति होगी वही धर्म और न्यायकी व्यवस्था अपने अनुकूल करा सकेगा ॥ २ ॥

दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके।
स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि ॥ ३ ॥

विवाह-सम्बन्धके लिये कुल-शील-योग्यता आदिकी परख-निरख नहीं रहेगी, युवक-युवतीकी पारस्परिक रुचिसे ही सम्बन्ध हो जायगा। व्यवहारकी निपुणता सचाई और ईमानदारीमें नहीं रहेगी; जो जितना छल-कपट कर सकेगा, वह उतना ही व्यवहार-कुशल माना जायगा। स्त्री और पुरुषकी श्रेष्ठताका आधार उनका शील-संयम न होकर केवल रतिकौशल ही रहेगा। ब्राह्मणकी पहचान उसके गुण-स्वभावसे नहीं यज्ञोपवीतसे हुआ करेगी ॥ ३ ॥

लिङ्गमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम्।

वस्त्र, दण्ड-कमण्डलु आदिसे ही ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि आश्रमियोंकी पहचान होगी और एक-दूसरेका चिह्न स्वीकार कर लेना ही एकसे दूसरे आश्रममें प्रवेशका स्वरूप होगा। जो घूस देने या धन खर्च करनेमें असमर्थ होगा, उसे

अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः ॥ ४ ॥
अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु।
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम् ॥ ५ ॥
दूरे वार्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम्।
उदरम्भरता स्वार्थः सत्यत्वे धार्ष्ट्यमेव हि ॥ ६ ॥
दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्मसेवनम्।
एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले ॥ ७ ॥
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः।
प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः ॥ ८ ॥
आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्।
शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ॥ ९ ॥
अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः।
शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योन्यतः प्रजाः ॥१०॥
क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्स्यन्ते[1] च चिन्तया।

अदालतोंसे ठीक-ठीक न्याय न मिल सकेगा। जो बोल-चालमें जितना चालाक होगा, उसे उतना ही बड़ा पण्डित माना जायगा ॥ ४ ॥ असाधुताकी—दोषी होनेकी एक ही पहचान रहेगी—गरीब होना। जो जितना अधिक दम्भ-पाखण्ड कर सकेगा, उसे उतना ही बड़ा साधु समझा जायगा। विवाहके लिये एक-दूसरेकी स्वीकृति ही पर्याप्त होगी, शास्त्रीय विधि-विधानकी—संस्कार आदिकी कोई आवश्यकता न समझी जायगी। बाल आदि सँवारकर कपड़े-लत्तेसे लैस हो जाना ही स्नान समझा जायगा ॥ ५ ॥ लोग दूरके तालबको तीर्थ मानेंगे और निकटके तीर्थ गङ्गा-गोमती, माता-पिता आदिकी उपेक्षा करेंगे। सिरपर बड़े-बड़े बाल—काकुल रखाना ही शारीरिक सौन्दर्यका चिह्न समझा जायगा और जीवनका सबसे बड़ा पुरुषार्थ होगा—अपना पेट भर लेना। जो जितनी ढिठाईसे बात कर सकेगा, उसे उतना ही सच्चा समझा जायगा ॥६॥ योग्यता-चतुराईका सबसे बड़ा लक्षण यह होगा कि मनुष्य अपने कुटुम्बका पालन कर ले। धर्मका सेवन यशके लिये किया जायगा। इस प्रकार जब सारी पृथ्वीपर दुष्टोंका बोलबाला हो जायगा, तब राजा होनेका कोई नियम न रहेगा; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्रोंमें जो बली होगा, वही राजा बन बैठेगा। उस समयके नीच राजा अत्यन्त निर्दय एवं क्रूर होंगे; लोभी तो इतने होंगे कि उनमें और लुटेरोंमें कोई अन्तर न किया जा सकेगा। वे प्रजाकी पूँजी एवं पत्नियोंतकको छीन लेंगे। उनसे डरकर प्रजा पहाड़ों और जंगलोंमें भाग जायगी। उस समय प्रजा तरह-तरहके शाक, कन्द-मूल, मांस, मधु, फल-फूल और बीज-गुठली आदि खा-खाकर अपना पेट भरेगी ॥७—९॥ कभी वर्षा न होगी—सूखा पड़ जायगा; तो कभी कर-पर-कर लगाये जायँगे। कभी कड़ाकेकी सर्दी पड़ेगी तो कभी पाला पड़ेगा, कभी आँधी चलेगी, कभी गरमी पड़ेगी, तो कभी बाढ़ आ जायगी। इन उत्पातोंसे तथा आपसके सङ्घर्षसे प्रजा अत्यन्त पीड़ित होगी, नष्ट हो जायगी ॥ १० ॥ लोग भूख-प्यास तथा नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे दुखी रहेंगे। रोगोंसे तो उन्हें छुटकारा ही

१. सन्तप्यन्ते।

त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम् ॥११॥

क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः ।
वर्णाश्रमवतां धर्मे नष्टे वेदपथे नृणाम् ॥१२॥

पाखण्डप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु ।
चौर्यानृतवृथाहिंसानानावृत्तिषु वै नृषु ॥१३॥

शूद्रप्रायेषु वर्णेषुच्छागप्रायासु धेनुषु ।
गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु ॥१४॥

अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु ।
विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु ॥१५॥

इत्थं कलौ गतप्राये जने तु खरधर्मिणि[1] ।
धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति ॥१६॥

चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः ।
धर्मत्राणाय साधूनां जन्म कर्मापनुत्तये ॥१७॥

शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ॥१८॥

न मिलेगा । कलियुगमें मनुष्योंकी परमायु केवल बीस या तीस वर्षकी होगी ॥ ११ ॥

परीक्षित् ! कलिकालके दोषसे प्राणियोंके शरीर छोटे-छोटे, क्षीण और रोगग्रस्त होने लगेंगे । वर्ण और आश्रमोंका धर्म बतलानेवाला वेद-मार्ग नष्टप्राय हो जायगा ॥१२॥ धर्ममें पाखण्डकी प्रधानता हो जायगी । राजे-महाराजे डाकू-लुटेरोंके समान हो जायँगे । मनुष्य चोरी, झूठ तथा निरपराध हिंसा आदि नाना प्रकारके कुकर्मोंसे जीविका चलाने लगेंगे ॥ १३ ॥ चारों वर्णोंके लोग शूद्रोंके समान हो जायँगे । गौएँ बकरियोंकी तरह छोटी-छोटी और कम दूध देनेवाली हो जायँगी । वानप्रस्थी और संन्यासी आदि विरक्त आश्रमवाले भी घर-गृहस्थी जुटाकर गृहस्थोंका-सा व्यापार करने लगेंगे । जिनसे वैवाहिक सम्बन्ध है, उन्हींको अपना सम्बन्धी माना जायगा ॥ १४ ॥ धान, जौ, गेहूँ आदि धान्योंके पौदे छोटे-छोटे होने लगेंगे । वृक्षोंमें अधिकांश शमीके समान छोटे और कटीले वृक्ष ही रह जायँगे । बादलोंमें बिजली तो बहुत चमकेगी, परन्तु वर्षा कम होगी । गृहस्थोंके घर अतिथि-सत्कार या वेदध्वनिसे रहित होनेके कारण अथवा जन-संख्या घट जानेके कारण सूने-सूने हो जायँगे ॥ १५ ॥ परीक्षित् ! अधिक क्या कहें—कलियुगका अन्त होते-होते मनुष्योंका स्वभाव गधों-जैसा दुःसह बन जायगा, लोग प्रायः गृहस्थीका भार ढोनेवाले और विषयी हो जायँगे । ऐसी स्थितिमें धर्मकी रक्षा करनेके लिये सत्त्वगुण स्वीकार करके स्वयं भगवान् अवतार ग्रहण करेंगे ॥ १६ ॥

प्रिय परीक्षित् ! सर्वव्यापक भगवान् विष्णु सर्वशक्तिमान् हैं । वे सर्वस्वरूप होनेपर भी चराचर जगत्के सच्चे शिक्षक—सद्गुरु हैं । वे साधु—सज्जन पुरुषोंके धर्मकी रक्षाके लिये, उनके कर्मका बन्धन काटकर उन्हें जन्म-मृत्युके चक्रसे छुड़ानेके लिये अवतार ग्रहण करते हैं ॥ १७ ॥ उन दिनों शम्भल-ग्राममें विष्णुयशनामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण होंगे । उनका हृदय बड़ा उदार एवं भगवद्भक्तिसे पूर्ण होगा । उन्हींके घर कल्किभगवान्

[1] नेषु खरधर्मिषु ।

अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः ।
असिनासाधुदमनमष्टैश्वर्यगुणान्वितः ॥१९॥
विचरन्नाशुना क्षोण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः ।
नृपलिङ्गच्छदो दस्यून् कोटिशो निहनिष्यति ॥२०॥

अवतार ग्रहण करेंगे ॥ १८ ॥ श्रीभगवान् ही अष्टसिद्धियोंके और समस्त सद्गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं । समस्त चराचर जगत्के वे ही रक्षक और स्वामी हैं । वे देवदत्त नामक शीघ्रगामी घोड़ेपर सवार होकर दुष्टोंको तलवारके घाट उतारकर ठीक करेंगे ॥ १९ ॥ उनके रोम-रोमसे अतुलनीय तेजकी किरणें छिटकती होंगी । वे अपने शीघ्रगामी घोड़ेसे पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करेंगे और राजाके वेषमें छिपकर रहनेवाले कोटि-कोटि डाकुओंका संहार करेंगे ॥ २० ॥

अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विशदानि वै ।
वासुदेवाङ्गरागातिपुण्यगन्धानिलस्पृशाम् ।
पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु ॥२१॥
तेषां प्रजाविसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति ।
वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्तौ हृदि स्थिते ॥२२॥
यदावतीर्णो भगवान् कल्किर्धर्मपतिर्हरिः ।
कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी ॥२३॥
यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती ।
एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति तत् कृतम् ॥२४॥

प्रिय परीक्षित् ! जब सब डाकुओंका संहार हो चुकेगा, तब नगरकी और देशकी सारी प्रजाका हृदय पवित्रतासे भर जायगा; क्योंकि भगवान् कल्किके शरीरमें लगे हुए अङ्गरागका स्पर्श पाकर अत्यन्त पवित्र हुई वायु उनका स्पर्श करेगी और इस प्रकार वे भगवान्के श्रीविग्रहकी दिव्य गन्ध प्राप्त कर सकेंगे ॥ २१ ॥ उनके पवित्र हृदयोंमें सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेव विराजमान होंगे और फिर उनकी सन्तान पहलेकी भाँति हृष्ट-पुष्ट और बलवान् होने लगेगी ॥ २२ ॥ प्रजाके नयन-मनोहारी हरि ही धर्मके रक्षक और स्वामी हैं । वे ही भगवान् जब कल्किके रूपमें अवतार ग्रहण करेंगे, उसी समय सत्ययुगका प्रारम्भ हो जायगा और प्रजाकी सन्तान-परम्परा स्वयं ही सत्त्वगुणसे युक्त हो जायगी ॥ २३ ॥ जिस समय चन्द्रमा, सूर्य और बृहस्पति एक ही समय एक ही साथ पुष्य नक्षत्रके प्रथम पलमें प्रवेश करते हैं, एक राशिपर आते हैं, उसी समय सत्ययुगका प्रारम्भ होता है ॥ २४ ॥

येऽतीता वर्तमाना ये भविष्यन्ति च पार्थिवाः ।
ते त उद्देशतः प्रोक्ता वंशीयाः सोमसूर्ययोः ॥२५॥
आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।
एतद् वर्षसहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम् ॥२६॥
सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ दिवि ।
तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत् समं निशि ॥२७॥

परीक्षित् ! चन्द्रवंश और सूर्यवंशमें जितने राजा हो गये हैं या होंगे, उन सबका मैंने संक्षेपसे वर्णन कर दिया ॥ २५ ॥ तुम्हारे जन्मसे लेकर राजा नन्दके अभिषेकतक एक हजार, एक सौ पंद्रह वर्षका समय लगेगा ॥ २६ ॥ जिस समय आकाशमें सप्तर्षियोंका उदय होता है, उस समय पहले उनमेंसे दो ही तारे दिखायी पड़ते हैं । उनके बीचमें दक्षिणोत्तर रेखापर समभागमें अश्विनी आदि नक्षत्रोंमेंसे एक नक्षत्र दिखायी

१. त्वसिना । २. अतीता । ३. सूर्यसोमयोः । ४. पूर्वौ यौ ।

तेनैत ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम् ।
ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः ॥२८॥

पड़ता है ॥ २७ ॥ उस नक्षत्रके साथ सप्तर्षिगण मनुष्योंकी गणनासे सौ वर्षतक रहते हैं । वे तुम्हारे जन्मके समय और इस समय भी मघा नक्षत्रपर स्थित हैं॥ २८ ॥

विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः ।
तदाविशत् कलिर्लोकं पापे यद् रमते जनः ॥२९॥
यावत् स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः ।
तावत् कलिर्वै पृथिवीं पराक्रान्तुं न चाशकत् ॥३०॥
यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि ।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः ॥३१॥
यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः ।
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति ॥३२॥
यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि ।
प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः ॥३३॥
दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम् ।
भविष्यति यदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम् ॥३४॥

स्वयं सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् भगवान् ही शुद्ध सत्त्वमय विग्रहके साथ श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुए थे । वे जिस समय अपनी लीला संवरण करके परमधामको पधार गये, उसी समय कलियुगने संसारमें प्रवेश किया । उसीके कारण मनुष्योंकी मति-गति पापकी ओर ढुलक गयी॥ २९॥ जबतक लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणकमलोंसे पृथ्वीका स्पर्श करते रहे, तबतक कलियुग पृथ्वीपर अपना पैर न जमा सका ॥ ३० ॥ परीक्षित् ! जिस समय सप्तर्षि मघा-नक्षत्रपर विचरण करते रहते हैं, उसी समय कलियुगका प्रारम्भ होता है । कलियुगकी आयु देवताओंकी वर्षगणनासे बारह सौ वर्षोंकी अर्थात् मनुष्योंकी गणनाके अनुसार चार लाख, बत्तीस हजार वर्षकी है ॥ ३१ ॥ जिस समय सप्तर्षि मघासे चलकर पूर्वाषाढ़ा-नक्षत्रमें जा चुके होंगे, उस समय राजा नन्दका राज्य रहेगा । तभीसे कलियुगकी वृद्धि शुरू होगी ॥ ३२ ॥ पुरातत्त्ववेत्ता ऐतिहासिक विद्वानोंका कहना है कि जिस दिन भगवान् श्रीकृष्णने अपने परमधामको प्रयाण किया, उसी दिन, उसी समय कलियुगका प्रारम्भ हो गया ॥ ३३ ॥ परीक्षित् ! जब देवताओंकी वर्षगणनाके अनुसार एक हजार वर्ष बीत चुकेंगे, तब कलियुगके अन्तिम दिनोंमें फिरसे कल्किभगवान्‌की कृपासे मनुष्योंके मनमें सात्त्विकताका सञ्चार होगा, लोग अपने वास्तविक स्वरूपको जान सकेंगे और तभीसे सत्ययुगका प्रारम्भ भी होगा ॥ ३४ ॥

इत्येष मानवो वंशो यथा संख्यायते भुवि ।
तथा विट्शूद्रविप्राणां तास्ता ज्ञेया युगे युगे ॥३५॥
एतेषां नामलिङ्गानां पुरुषाणां महात्मनाम् ।
गाथामात्रावशिष्टानां कीर्तिरेव स्थिता भुवि ॥३६॥

परीक्षित् ! मैंने तो तुमसे केवल मनुवंशका, सो भी संक्षेपसे वर्णन किया है । जैसे मनुवंशकी गणना होती है, वैसे ही प्रत्येक युगमें ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रोंकी भी वंशपरम्परा समझनी चाहिये ॥ ३५ ॥ राजन् ! जिन पुरुषों और महात्माओंका वर्णन मैंने तुमसे किया है, अब केवल नामसे ही उनकी पहचान होती है । अब वे नहीं हैं, केवल उनकी कथा रह गयी है । अब उनकी कीर्ति ही पृथ्वीपर जहाँ-तहाँ सुननेको मिलती है ॥ ३६ ॥

देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥३७॥
ताविहैत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ[1]।
वर्णाश्रमयुतं धर्मं पूर्ववत् प्रथयिष्यतः॥३८॥
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते॥३९॥
राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथापरे।
भूमौ ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः॥४०॥
कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि[2] यस्य च।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥४१॥
कथं सेयमखण्डा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता।
मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य वा॥४२॥
तेजोऽबन्नमयं कायं गृहीत्वाऽऽत्मतयाबुधाः।
महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः॥४३॥
ये ये भूपतयो राजन् भुञ्जन्ति भुवमोजसा।
कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च॥४४॥

भीष्मपितामहके पिता राजा शन्तनुके भाई देवापि और इक्ष्वाकुवंशी मरु इस समय कलापग्राममें स्थित हैं। वे बहुत बड़े योगबलसे युक्त हैं ॥ ३७ ॥ कलियुगके अन्तमें कल्किभगवान्‌की आज्ञासे वे फिर यहाँ आयेंगे और पहलेकी भाँति ही वर्णाश्रमधर्मका विस्तार करेंगे ॥ ३८ ॥ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये ही चार युग हैं; ये पूर्वोक्त क्रमके अनुसार अपने-अपने समयमें पृथ्वीके प्राणियोंपर अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं ॥ ३९ ॥ परीक्षित्! मैंने तुमसे जिन राजाओंका वर्णन किया है, वे सब और उनके अतिरिक्त दूसरे राजा भी इस पृथ्वीको 'मेरी-मेरी' कहते रहे, परन्तु अन्तमें मरकर धूलमें मिल गये ॥ ४० ॥ इस शरीरको भले ही कोई राजा कह ले; परन्तु अन्तमें यह कीड़ा, विष्ठा अथवा राखके रूपमें ही परिणत होगा, राख ही होकर रहेगा। इसी शरीरके या इसके सम्बन्धियोंके लिये जो किसी भी प्राणीको सताता है, वह न तो अपना स्वार्थ जानता है और न तो परमार्थ। क्योंकि प्राणियोंको सताना तो नरकका द्वार है ॥ ४१ ॥ वे लोग यही सोचा करते हैं कि मेरे दादा-परदादा इस अखण्ड भूमण्डलका शासन करते थे; अब यह मेरे अधीन किस प्रकार रहे और मेरे बाद मेरे बेटे पोते, मेरे वंशज किस प्रकार इसका उपभोग करें ॥ ४२ ॥ वे मूर्ख इस आग, पानी और मिट्टीके शरीरको अपना आपा मान बैठते हैं और बड़े अभिमानके साथ डींग हाँकते हैं कि यह पृथ्वी मेरी है। अन्तमें वे शरीर और पृथ्वी दोनोंको छोड़कर स्वयं ही अदृश्य हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ प्रिय परीक्षित्! जो-जो नरपति बड़े उत्साह और बल-पौरुषसे इस पृथ्वीके उपभोगमें लगे रहे, उन सबको कालने अपने विकराल गालमें धर दबाया। अब केवल इतिहासमें उनकी कहानी ही शेष रह गयी है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

---

१. शासितौ। २. राजन्याम्नाधिपस्य।

अथ तृतीयोऽध्यायः

राज्य, युगधर्म और कलियुगके दोषोंसे बचनेका उपाय—नामसङ्कीर्तन

श्रीशुक उवाच

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये[1] व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम्।
अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः॥१॥

काम एष नरेन्द्राणां मोघः स्याद् विदुषामपि।
येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः॥२॥

पूर्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः।
ततः सचिवपौराप्तकरीन्द्रानस्य कण्टकान्॥३॥

एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलाम्।
इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम्॥४॥

समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम्॥५॥

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह।
गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः॥६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब पृथ्वी देखती है कि राजालोग मुझपर विजय प्राप्त करनेके लिये उतावले हो रहे हैं, तब वह हँसने लगती है और कहती है—"कितने आश्चर्यकी बात है कि ये राजालोग, जो स्वयं मौतके खिलौने हैं, मुझे जीतना चाहते हैं॥१॥ राजाओंसे यह बात छिपी नहीं है कि वे एक-न-एक दिन मर जायँगे, फिर भी वे व्यर्थमें ही मुझे जीतनेकी कामना करते हैं। सचमुच इस कामनासे अंधे होनेके कारण ही वे पानीके बुलबुलेके समान क्षणभङ्गुर शरीरपर विश्वास कर बैठते हैं और धोखा खाते हैं॥२॥ वे सोचते हैं कि 'हम पहले मनके सहित अपनी पाँचों इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करेंगे—अपने भीतरी शत्रुओंको वशमें करेंगे; क्योंकि इनको जीते बिना बाहरी शत्रुओंको जीतना कठिन है। उसके बाद अपने शत्रुके मन्त्रियों, अमात्यों, नागरिकों, नेताओं और समस्त सेनाको भी वशमें कर लेंगे। जो भी हमारे विजय-मार्गमें काँटे बोयेगा उसे हम अवश्य जीत लेंगे॥३॥ इस प्रकार धीरे-धीरे क्रमसे सारी पृथ्वी हमारे अधीन हो जायगी और फिर तो समुद्र ही हमारे राज्यकी खाईंका काम करेगा।' इस प्रकार वे अपने मनमें अनेकों आशाएँ बाँध लेते हैं और उन्हें यह बात बिल्कुल नहीं सूझती कि उनके सिरपर काल सवार है॥४॥ यहींतक नहीं, जब एक द्वीप उनके वशमें हो जाता है, तब वे दूसरे द्वीपपर विजय करनेके लिये बड़ी शक्ति और उत्साहके साथ समुद्रयात्रा करते हैं। अपने मनको, इन्द्रियोंको वशमें करके लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं, परन्तु ये लोग उनको वशमें करके भी थोड़ा-सा भूभाग ही प्राप्त करते हैं। इतने परिश्रम और आत्मसंयमका यह कितना तुच्छ फल है!"॥५॥ परीक्षित्! पृथ्वी कहती है कि "बड़े-बड़े मनु और उनके वीर पुत्र मुझे ज्यों-की-त्यों छोड़कर जहाँसे आये थे, वहीं खाली हाथ लौट गये, मुझे अपने साथ न ले जा सके। अब ये मूर्ख राजा मुझे युद्धमें

[1] यव्यग्रा०।

मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातृणां चापि विग्रहः ।
जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसाम् ॥ ७ ॥
ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः ।
स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः ॥ ८ ॥
पृथुः पुरूरवा गाधिर्नहुषो भरतोऽर्जुनः ।
मान्धाता सगरो रामः खट्वाङ्गो धुन्धुहा रघुः ॥ ९ ॥
तृणबिन्दुर्ययातिश्च शर्यातिः शन्तनुर्गयः ।
भगीरथः कुवलयाश्वः ककुत्स्थो नैषधो नृगः ॥१०॥
हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः ।
नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः ॥११॥
अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेश्वराः ।
सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः ॥१२॥
ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिणः ।
कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृता विभो ॥१३॥

जीतकर वशमें करना चाहते हैं ! ॥ ६ ॥ जिनके चित्तमें यह बात दृढ़मूल हो गयी है कि यह पृथ्वी मेरी है, उन दुष्टोंके राज्यमें मेरे लिये पिता-पुत्र और भाई-भाई भी आपसमें लड़ बैठते हैं ॥ ७ ॥ वे परस्पर इस प्रकार कहते हैं कि 'ओ मूढ़ ! 'यह सारी पृथ्वी मेरी ही है, तेरी नहीं', इस प्रकार राजालोग एक-दूसरेको कहते-सुनते हैं, एक-दूसरेसे स्पर्द्धा करते हैं, मेरे लिये एक-दूसरेको मारते हैं और स्वयं मर मिटते हैं ॥ ८ ॥ पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुष, भरत, सहस्रबाहु अर्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वाङ्ग, धुन्धुमार, रघु, तृणबिन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व, ककुत्स्थ, नल, नृग, हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, लोकद्रोही रावण, नमुचि, शम्बर, भौमासुर, हिरण्याक्ष और तारकासुर तथा और बहुत-से दैत्य एवं शक्तिशाली नरपति हो गये । ये सब लोग सब कुछ समझते थे । शूर थे, सभीने दिग्विजयमें दूसरोंको हरा दिया, किन्तु दूसरे लोग इन्हें न जीत सके, परन्तु सब-के-सब मृत्युके ग्रास बन गये । राजन् ! उन्होंने अपने पूरे अन्तःकरणसे मुझसे ममता की और समझा कि 'यह पृथ्वी मेरी है' । परन्तु विकराल कालने उनकी लालसा पूरी न होने दी । अब उनके बल-पौरुष और शरीर आदिका कुछ पता ही नहीं है । केवल उनकी कहानी-मात्र शेष रह गयी है ॥ ९–१३ ॥

कथा इमास्ते कथिता महीयसां
विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो
वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥१४॥
यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः
संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥१५॥

परीक्षित् ! संसारमें बड़े-बड़े प्रतापी और महान् पुरुष हुए हैं । वे लोकोंमें अपने यशका विस्तार करके यहाँसे चल बसे । मैंने तुम्हें ज्ञान और वैराग्यका उपदेश करनेके लिये ही उनकी कथा सुनायी है । यह सब वाणीका विलास है । इसमें पारमार्थिक सत्य कुछ भी नहीं है ॥ १४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णका गुणानुवाद समस्त अमङ्गलोंका नाश करनेवाला है, बड़े-बड़े महात्मा उसीका गान करते रहते हैं । जो भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्य प्रेममयी भक्तिकी लालसा रखता हो, उसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के दिव्य गुणानुवादका ही श्रवण करते रहना चाहिये ॥ १५ ॥

राजोवाच

केनोपायेन भगवन् कलेर्दोषान् कलौ जनाः ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! मुझे तो कलियुगमें राशि-राशि दोष ही दिखायी दे रहे हैं । उस समय

१. निर्भरतो नहुषो । २. नरेश्वराः ।

विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने ॥१६॥
युगानि युगधर्मांश्च मानं प्रलयकल्पयोः ।
कालस्येश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मनः ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥१८॥
सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥१९॥
त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः ।
अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः ॥२०॥
तदा क्रियातपोनिष्ठा नातिहिंस्रा न लम्पटाः ।
त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप ॥२१॥
तपःसत्यदयादानेष्वर्धं ह्रसति द्वापरे ।
हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः ॥२२॥
यशस्विनो महाशालाः स्वाध्यायाध्ययने रताः ।
आढ्याः कुटुम्बिनो हृष्टा वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तराः ॥२३॥
कलौ तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्महेतुभिः ।

लोग किस उपायसे उन दोषोंका नाश करेंगे । इसके अतिरिक्त युगोंका स्वरूप, उनके धर्म, कल्पकी स्थिति और प्रलयकालके मान एवं सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के कालरूपका भी यथावत् वर्णन कीजिये ॥ १६-१७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! सत्ययुगमें धर्मके चार चरण होते हैं; वे चरण हैं—सत्य, दया, तप और दान । उस समयके लोग पूरी निष्ठाके साथ अपने-अपने धर्मका पालन करते हैं । धर्म स्वयं भगवान्‌का स्वरूप है ॥ १८ ॥ सत्ययुगके लोग बड़े सन्तोषी और दयालु होते हैं । वे सबसे मित्रताका व्यवहार करते और शान्त रहते हैं । इन्द्रियाँ और मन उनके वशमें रहते हैं और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको वे समान भावसे सहन करते हैं । अधिकांश लोग तो समदर्शी और आत्माराम होते हैं और बाकी लोग स्वरूपस्थितिके लिये अभ्यासमें तत्पर रहते हैं ॥ १९ ॥ परीक्षित् ! धर्मके समान अधर्मके भी चार चरण हैं—असत्य, हिंसा, असन्तोष और कलह । त्रेतायुगमें इनके प्रभावसे धीरे-धीरे धर्मके सत्य आदि चरणोंका चतुर्थांश क्षीण हो जाता है ॥ २० ॥ राजन् ! उस समय वर्णोंमें ब्राह्मणोंकी प्रधानता अक्षुण्ण रहती है । लोगोंमें अत्यन्त हिंसा और लम्पटताका अभाव रहता है । सभी लोग कर्मकाण्ड और तपस्यामें निष्ठा रखते हैं और अर्थ, धर्म एवं कामरूप त्रिवर्गका सेवन करते हैं । अधिकांश लोग कर्मप्रतिपादक वेदोंके पारदर्शी विद्वान् होते हैं ॥ २१ ॥ द्वापरयुगमें हिंसा, असन्तोष, झूठ और द्वेष—अधर्मके इन चरणोंकी वृद्धि हो जाती है एवं इनके कारण धर्मके चारों चरण—तपस्या, सत्य, दया और दान आधे-आधे क्षीण हो जाते हैं ॥ २२ ॥ उस समयके लोग बड़े यशस्वी, कर्मकाण्डी और वेदोंके अध्ययन-अध्यापनमें बड़े तत्पर होते हैं । लोगोंके कुटुम्ब बड़े-बड़े होते हैं, प्रायः लोग धनाढ्य एवं सुखी होते हैं । उस समय वर्णोंमें क्षत्रिय और ब्राह्मण दो वर्णोंकी प्रधानता रहती है ॥ २३ ॥ कलियुगमें तो अधर्मके चारों चरण अत्यन्त बढ़ जाते हैं । उनके कारण धर्मके चारों चरण क्षीण होने लगते

१. ष्पादो जनै० । २. सुमहाजनाः । ३. सा । ४. तमाः ।

एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि त्रिनङ्क्ष्यति ।२४।

तस्मिँल्लुब्धा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः ।

दुर्भगा भूरितर्षाश्च शूद्रदाशोत्तराः प्रजाः ॥२५॥

सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः ।

कालसञ्चोदितास्ते वै परिवर्तन्त आत्मनि ॥२६॥

प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च ।

तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद् रुचिः ॥२७॥

यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम् ।

तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन् ॥२८॥

यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः ।

कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद् रजस्तमः ॥२९॥

यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम् ।

शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः॥३०॥

यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः।

कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः॥३१॥

दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पाखण्डदूषिताः ।

हैं और उनका चतुर्थांश ही बच रहता है । अन्तमें तो उस चतुर्थांशका भी लोप हो जाता है ॥ २४ ॥ कलियुगमें लोग लोभी, दुराचारी और कठोरहृदय होते हैं। वे झूठमूठ एक-दूसरेसे वैर मोल ले लेते हैं, एवं लालसा-तृष्णाकी तरङ्गोंमें बहते रहते हैं । उस समयके अभागे लोगोंमें शूद्र, केवट आदिकी ही प्रधानता रहती है ॥२५॥

सभी प्राणियोंमें तीन गुण होते हैं—सत्त्व, रज और तम । कालकी प्रेरणासे समय-समयपर शरीर, प्राण और मनमें उनका ह्रास और विकास भी हुआ करता है ॥ २६ ॥ जिस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सत्त्वगुणमें स्थित होकर अपना-अपना काम करने लगती हैं, उस समय सत्ययुग समझना चाहिये । सत्त्वगुणकी प्रधानताके समय मनुष्य ज्ञान और तपस्यासे अधिक प्रेम करने लगता है ॥ २७ ॥ जिस समय मनुष्योंकी प्रवृत्ति और रुचि धर्म, अर्थ और लौकिक-पारलौकिक सुख-भोगोंकी ओर होती है तथा शरीर, मन एवं इन्द्रियाँ रजोगुणमें स्थित होकर काम करने लगती हैं—बुद्धिमान् परीक्षित् ! समझना चाहिये कि उस समय त्रेतायुग अपना काम कर रहा है ॥२८॥ जिस समय लोभ, असन्तोष, अभिमान, दम्भ और मत्सर आदि दोषोंका बोलबाला हो और मनुष्य बड़े उत्साह तथा रुचिके साथ सकाम कर्मोंमें लगना चाहे, उस समय द्वापरयुग समझना चाहिये । अवश्य ही रजोगुण और तमोगुणकी मिश्रित प्रधानताका नाम ही द्वापरयुग है ।२९। जिस समय झूठ-कपट, तन्द्रा-निद्रा, हिंसा-विषाद, शोक-मोह, भय और दीनताकी प्रधानता हो, उसे तमोगुण-प्रधान कलियुग समझना चाहिये ॥३०॥ जब कलियुगका राज्य होता है, तब लोगोंकी दृष्टि क्षुद्र हो जाती है; अधिकांश लोग होते तो हैं अत्यन्त निर्धन, परन्तु खाते हैं बहुत अधिक । उनका भाग्य तो होता है बहुत ही मन्द और चित्तमें कामनाएँ होती हैं बहुत बड़ी-बड़ी । स्त्रियोंमें दुष्टता और कुलटापनकी वृद्धि हो जाती है ।३१। सारे देशमें, गाँव-गाँवमें लुटेरोंकी प्रधानता एवं प्रचुरता हो जाती है । पाखण्डी लोग अपने नये-नये मत चलाकर मनमाने ढंगसे वेदोंका तात्पर्य निकालने लगते हैं और इस प्रकार उन्हें कलंकित करते हैं । राजा कहलानेवाले

१. नश्यति । २. द्रा दा० । ३. संयोजि० । ४. यदा कर्मसु काम्येषु भक्तिर्यशसि देहिनाम् । ५. नीति बुद्धिमान् ।

राजानश्च प्रजाभक्षाः शिश्नोदरपरा द्विजाः ॥३२॥
अव्रता वटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः ।
तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः ॥३३॥
ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः ।
शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः ॥३४॥
पणयिष्यन्ति वै क्षुद्राः किराटाः कूटकारिणः ।
अनापद्यपि मंस्यन्ते वार्तां साधुजुगुप्सिताम् ॥३५॥
पतिं त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम् ।
भृत्यं विपन्नं पतयः कौलं गाश्चापयस्विनीः ॥३६॥
पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन् हित्वा सौरतसौहृदाः ।
ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः ॥३७॥
शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः ।
धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥३८॥

लोग प्रजाकी सारी कमाई हड़पकर उन्हें चूसने लगते हैं। ब्राह्मणनामधारी जीव पेट भरने और जननेन्द्रियको तृप्त करनेमें ही लग जाते हैं॥३२॥ ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य-व्रतसे रहित और अपवित्र रहने लगते हैं। गृहस्थ दूसरोंको भिक्षा देनेके बदले स्वयं भीख माँगने लगते हैं, वानप्रस्थी गाँवोंमें बसने लगते हैं और संन्यासी धनके अत्यन्त लोभी—अर्थपिशाच हो जाते हैं॥३३॥ स्त्रियोंका आकार तो छोटा हो जाता है, पर भूख बढ़ जाती है। उन्हें सन्तान बहुत अधिक होती है और वे अपनी कुल-मर्यादाका उल्लङ्घन करके लाज-हया—जो उनका भूषण है—छोड़ बैठती हैं। वे सदा-सर्वदा कड़वी बात कहती रहती हैं और चोरी तथा कपटमें बड़ी निपुण हो जाती हैं। उनमें साहस भी बहुत बढ़ जाता है॥३४॥ व्यापारियोंके हृदय अत्यन्त क्षुद्र हो जाते हैं। वे कौड़ी-कौड़ीसे लिपटे रहते और छदाम-छदामके लिये धोखाधड़ी करने लगते हैं। और तो क्या—आपत्तिकाल न होनेपर तथा धनी होनेपर भी वे निम्नश्रेणीके व्यापारोंको, जिनकी सत्पुरुष निन्दा करते हैं, ठीक समझने और अपनाने लगते हैं॥३५॥ स्वामी चाहे सर्वश्रेष्ठ ही क्यों न हो—जब सेवकलोग देखते हैं कि इसके पास धन-दौलत नहीं रही, तब उसे छोड़कर भाग जाते हैं। सेवक चाहे कितना ही पुराना क्यों न हो—परन्तु जब वह किसी विपत्तिमें पड़ जाता है, तब स्वामी उसे छोड़ देते हैं। और तो क्या, जब गौएँ बकेन हो जाती हैं—दूध देना बंद कर देती हैं, तब लोग उनका भी परित्याग कर देते हैं॥३६॥

प्रिय परीक्षित्! कलियुगके मनुष्य बड़े ही लम्पट हो जाते हैं, वे अपनी कामवासनाको तृप्त करनेके लिये ही किसीसे प्रेम करते हैं। वे विषयवासनाके वशीभूत होकर इतने दीन हो जाते हैं कि माता-पिता, भाई-बन्धु और मित्रोंको भी छोड़कर केवल अपनी साली और सालोंसे ही सलाह लेने लगते हैं॥३७॥ शूद्र तपस्वियोंका वेष बनाकर अपना पेट भरते और दान लेने लगते हैं। जिन्हें धर्मका रत्तीभर भी ज्ञान नहीं है, वे ऊँचे सिंहासनपर विराजमान होकर धर्मका उपदेश करने लगते हैं॥३८॥—

१. रपरायणाः। २. राताः कूट०। ३. पितॄन् भ्रातॄन् सु०।

नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्शिताः ।
निरन्ने भूतले राजन्नानावृष्टिभयातुराः ॥३९॥

वासोऽन्नपानशयनव्यवायस्नानभूषणैः ।
हीनाः पिशाचसन्दर्शा भविष्यन्ति कलौ प्रजाः ॥४०॥

कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः ।
त्यक्ष्यन्ति च प्रियान् प्राणान् हनिष्यन्ति स्वकानपि ॥४१॥

न रक्षिष्यन्ति मनुजाः स्थविरौ पितरावपि ।
पुत्रान् सर्वार्थकुशलान् क्षुद्राः शिश्नोदरम्भराः ॥४२॥

कलौ न राजञ्जगतां परं गुरुं
त्रिलोकनाथानतपादपङ्कजम् ।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं
यक्ष्यन्ति पाखण्डविभिन्नचेतसः ॥४३॥

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ।

प्रिय परीक्षित्! कलियुगकी प्रजा सूखा पड़नेके कारण अत्यन्त भयभीत और आतुर हो जाती है। एक तो दुर्भिक्ष और दूसरे शासकोंकी कर-वृद्धि! प्रजाके शरीरमें केवल अस्थिपञ्जर और मनमें केवल उद्वेग शेष रह जाता है। प्राण-रक्षाके लिये रोटीका टुकड़ा मिलना भी कठिन हो जाता है ॥ ३९ ॥ कलियुगमें प्रजा शरीर ढकनेके लिये वस्त्र और पेटकी ज्वाला शान्त करनेके लिये रोटी, पीनेके लिये पानी और सोनेके लिये दो हाथ जमीनसे भी वञ्चित हो जाती है। उसे दाम्पत्य-जीवन, स्नान और आभूषण पहननेतककी सुविधा नहीं रहती। लोगोंकी आकृति, प्रकृति और चेष्टाएँ पिशाचोंकी-सी हो जाती हैं ॥४०॥ कलियुगमें लोग, अधिक धनकी तो बात ही क्या, कुछ कौड़ियोंके लिये आपसमें वैर-विरोध करने लगते और बहुत दिनोंके सद्भाव तथा मित्रताको तिलाञ्जलि दे देते हैं। इतना ही नहीं, वे दमड़ी-दमड़ीके लिये अपने सगे-सम्बन्धियोंतककी हत्या कर बैठते और अपने प्रिय प्राणोंसे भी हाथ धो बैठते हैं ॥ ४१ ॥ परीक्षित्! कलियुगके क्षुद्र प्राणी केवल कामवासनाकी पूर्ति और पेट भरनेकी धुनमें ही लगे रहते हैं। पुत्र अपने बूढ़े मा-बापकी भी रक्षा—पालन-पोषण नहीं करते, उनकी उपेक्षा कर देते हैं और पिता अपने निपुण-से-निपुण, सब कामोंमें योग्य पुत्रोंकी भी परवा नहीं करते, उन्हें अलग कर देते हैं ॥ ४२ ॥ परीक्षित्! श्रीभगवान् ही चराचर जगत्के परम पिता और परम गुरु हैं। इन्द्र-ब्रह्मा आदि त्रिलोकाधिपति उनके चरणकमलोंमें अपना सिर झुकाकर सर्वस्व समर्पण करते रहते हैं। उनका ऐश्वर्य अनन्त है और वे एकरस अपने स्वरूपमें स्थित हैं। परन्तु कलियुगमें लोगोंमें इतनी मूढ़ता फैल जाती है, पाखण्डियोंके कारण लोगोंका चित्त इतना भटक जाता है कि प्रायः लोग अपने कर्म और भावनाओंके द्वारा भगवान्‌की पूजासे भी विमुख हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ मनुष्य मरनेके समय आतुरताकी स्थितिमें अथवा गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्‌के किसी एक नामका उच्चारण कर ले, तो उसके सारे कर्मबन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और

१. हि। २. भार्या च कुलजां क्षुद्राः।

विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥४४॥
पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः ॥४५॥
श्रुतः सङ्कीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम् ॥४६॥
यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम् ॥४७॥
विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥४८॥
तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम्।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम् ॥४९॥
म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः ॥५०॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।

उसे उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है। परन्तु हाय रे कलियुग! कलियुगसे प्रभावित होकर लोग उन भगवान्‌की आराधनासे भी विमुख हो जाते हैं॥ ४४॥

परीक्षित्! कलियुगके अनेकों दोष हैं। कुल वस्तुएँ दूषित हो जाती हैं, स्थानोंमें भी दोषकी प्रधानता हो जाती है। सब दोषोंका मूल स्रोत तो अन्तःकरण है ही, परन्तु जब पुरुषोत्तम भगवान् हृदयमें आ विराजते हैं, तब उनकी सन्निधिमात्रसे ही सब-के-सब दोष नष्ट हो जाते हैं ॥४५॥ भगवान्‌के रूप, गुण, लीला, धाम और नामके श्रवण, सङ्कीर्तन, ध्यान, पूजन और आदरसे वे मनुष्यके हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं। और एक-दो जन्मके पापोंकी तो बात ही क्या, हजारों जन्मोंके पापके ढेर-के-ढेर भी क्षणभरमें भस्म कर देते हैं॥४६॥ जैसे सोनेके साथ संयुक्त होकर अग्नि उसके धातुसम्बन्धी मलिनता आदि दोषोंको नष्ट कर देती है, वैसे ही साधकोंके हृदयमें स्थित होकर भगवान् विष्णु उनके अशुभ संस्कारोंको सदाके लिये मिटा देते हैं॥ ४७॥ परीक्षित्! विद्या, तपस्या, प्राणायाम, समस्त प्राणियोंके प्रति मित्र-भाव, तीर्थस्नान, व्रत, दान और जप आदि किसी भी साधनसे मनुष्यके अन्तःकरणकी वैसी वास्तविक शुद्धि नहीं होती, जैसी शुद्धि भगवान् पुरुषोत्तमके हृदयमें विराजमान हो जानेपर होती है॥ ४८॥

परीक्षित्! अब तुम्हारी मृत्युका समय निकट आ गया है। अब सावधान हो जाओ। पूरी शक्तिसे और अन्तःकरणकी सारी वृत्तियोंसे भगवान् श्रीकृष्णको अपने हृदयसिंहासनपर बैठा लो। ऐसा करनेसे अवश्य ही तुम्हें परमगतिकी प्राप्ति होगी॥ ४९॥ जो लोग मृत्युके निकट पहुँच रहे हैं, उन्हें सब प्रकारसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान्‌का ही ध्यान करना चाहिये। प्यारे परीक्षित्! सबके परम आश्रय और सर्वात्मा भगवान् अपना ध्यान करनेवालेको अपने स्वरूपमें लीन कर लेते हैं, उसे अपना स्वरूप बना लेते हैं॥५०॥ परीक्षित्! यों तो कलियुग दोषोंका खजाना है, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान्

१. नराः। २. म्रिय०। ३. याति। ४. सर्वसम्भवः।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥५१॥

श्रीकृष्णका सङ्कीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ॥५१॥

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥५२॥

सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधि-पूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे[1]
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

चार प्रकारके प्रलय

श्रीशुक उवाच

कालस्ते परमाण्वादिर्द्विपरार्धावधिर्नृप।
कथितो युगमानं च शृणु कल्पलयावपि ॥ १ ॥
चतुर्युगसहस्रं च[2] ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशाम्पते ॥ २ ॥
तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता।
त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥ ३ ॥
एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः[3] ॥ ४ ॥
द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥ ५ ॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! (तीसरे स्कन्धमें) परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त कालका स्वरूप और एक-एक युग कितने-कितने वर्षोंका होता है। यह मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। अब तुम कल्पकी स्थिति और उसके प्रलयका वर्णन भी सुनो ॥ १ ॥ राजन्! एक हजार चतुर्युगीका ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माके इस दिनको ही कल्प भी कहते हैं। एक कल्पमें चौदह मनु होते हैं ॥ २ ॥ कल्पके अन्तमें उतने ही समयतक प्रलय भी रहता है। प्रलयको ही ब्रह्माकी रात भी कहते हैं। उस समय ये तीनों लोक लीन हो जाते हैं, उनका प्रलय हो जाता है ॥३॥ इसका नाम नैमित्तिक प्रलय है। इस प्रलयके अवसरपर सारे विश्वको अपने अंदर समेटकर—लीन कर ब्रह्मा और तत्पश्चात् शेषशायी भगवान् नारायण भी शयन कर जाते हैं ॥ ४ ॥ इस प्रकार रातके बाद दिन और दिनके बाद रात होते-होते जब ब्रह्माजीकी अपने मानसे सौ वर्षकी और मनुष्योंकी दृष्टिमें दो परार्द्धकी आयु समाप्त हो जाती है, तब महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—ये सातों प्रकृतियाँ अपने कारण मूल प्रकृतिमें लीन हो जाती हैं ॥५॥ राजन्! इसीका नाम प्राकृतिक प्रलय है। इस प्रलयमें प्रलयका कारण उपस्थित होनेपर पञ्चभूतोंके मिश्रणसे बना हुआ

१. न्धे युगानुवर्णनं तृती० । २. तु । ३. विश्वभूः ।

आण्डकोशस्तु सङ्घातो विघात उपसादिते ॥ ६ ॥

पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन् न वर्षति ।
तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्षमाणाः क्षुधार्दिताः ॥ ७ ॥

क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः ।
सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्तको रविः ॥ ८ ॥

रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति ।
ततः संवर्तको वह्निः सङ्कर्षणमुखोत्थितः ॥ ९ ॥

दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भूविवरानथ ।
उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः ॥१०॥

दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् ।
ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम् ॥११॥

परः सांवर्तको वाति धूम्रं खं रजसाऽऽवृतम् ।
ततो मेघकुलान्यङ्ग चित्रवर्णान्यनेकशः ॥१२॥

शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः ।
तत एकोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरान्तरम् ॥१३॥

तदा भूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लवे ।
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ॥१४॥

अपां रसमथो तेजस्ता लीयन्तेऽथ नीरसाः ।
ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा ॥१५॥

लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम् ।

ब्रह्माण्ड अपना स्थूल रूप छोड़कर कारणरूपमें स्थित हो जाता है, घुल-मिल जाता है ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! प्रलयका समय आनेपर सौ वर्षतक मेघ पृथ्वीपर वर्षा नहीं करते । किसीको अन्न नहीं मिलता । उस समय प्रजा भूख-प्याससे व्याकुल होकर एक-दूसरेको खाने लगती है ॥ ७ ॥ इस प्रकार कालके उपद्रवसे पीडित होकर धीरे-धीरे सारी प्रजा क्षीण हो जाती है । प्रलयकालीन सांवर्तक सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समुद्र, प्राणियोंके शरीर और पृथ्वीका सारा रस खींच-खींचकर सोख जाते हैं और फिर उन्हें सदाकी भाँति पृथ्वीपर बरसाते नहीं । उस समय सङ्कर्षणभगवान्‌के मुखसे प्रलयकालीन संवर्तक अग्नि प्रकट होती है ॥ ८-९ ॥ वायुके वेगसे वह और भी बढ़ जाती है और तल-अतल आदि सातों नीचेके लोकोंको भस्म कर देती है । वहाँके प्राणी तो पहले ही मर चुके होते हैं । नीचेसे आगकी करारी लपटें और ऊपरसे सूर्यकी प्रचण्ड गरमी ! उस समय ऊपर-नीचे, चारों ओर यह ब्रह्माण्ड जलने लगता है और ऐसा जान पड़ता है, मानो गोबरका उपला जलकर अंगारेके रूपमें दहक रहा हो । इसके बाद प्रलयकालीन अत्यन्त प्रचण्ड सांवर्तक वायु सैकड़ों वर्षतक चलती रहती है । उस समयका आकाश धूएँ और धूलसे तो भरा ही रहता है, उसके बाद असंख्यों रंग-बिरंगे बादल आकाशमें मँडराने लगते हैं और बड़ी भयङ्करताके साथ गरज-गरजकर सैकड़ों वर्षतक वर्षा करते रहते हैं । उस समय ब्रह्माण्डके भीतरका सारा संसार एक समुद्र हो जाता है, सब कुछ जलमग्न हो जाता है ॥ १०—१३ ॥

इस प्रकार जब जल-प्रलय हो जाता है, तब जल पृथ्वीके विशेष गुण गन्धको ग्रस लेता है—अपनेमें लीन कर लेता है । गन्ध गुणके जलमें लीन हो जानेपर पृथ्वीका प्रलय हो जाता है, वह जलमें घुल-मिलकर जलरूप बन जाती है ॥१४॥ राजन् ! इसके बाद जलके गुण रसको तेजस्तत्त्व ग्रस लेता है और जल नीरस होकर तेजमें समा जाता है । तदनन्तर वायु तेजके गुण रूपको ग्रस लेता है और तेज रूपरहित होकर वायुमें लीन हो जाता है । अब आकाश वायुके गुण स्पर्शको अपनेमें मिला लेता है और वायु स्पर्शहीन होकर आकाशमें शान्त हो

स वै विशति खं राजंस्ततश्च नभसो गुणम् ॥१६॥
शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते ।
तैजसश्चेन्द्रियाण्यङ्ग देवान् वैकारिको गुणैः॥१७॥
महान् ग्रसत्यहङ्कारं गुणाः सत्त्वादयश्च तम् ।
ग्रसतेऽव्याकृतं राजन् गुणान् कालेन चोदितम् ।१८।
न तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः ।
अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम् ॥१९॥

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं
तमो रजो वा महदादयोऽमी ।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा
न सन्निवेशः खलु लोककल्पः ॥२०॥

न स्वप्नजाग्रन्न च तत् सुषुप्तं
न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः ।
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं
तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥२१॥

लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा ।
शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः ॥२२॥
बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम् ।
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२३॥

जाता है। इसके बाद तामस अहङ्कार आकाशके गुण शब्दको ग्रस लेता है और आकाश शब्दहीन होकर तामस अहङ्कारमें लीन हो जाता है। इसी प्रकार तैजस अहङ्कार इन्द्रियोंको और वैकारिक (सात्त्विक) अहङ्कार इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवता और इन्द्रियवृत्तियोंको अपनेमें लीन कर लेता है ॥१५–१७॥ तत्पश्चात् महत्तत्त्व अहङ्कारको और सत्त्वादि गुण महत्तत्त्वको ग्रस लेते हैं। परीक्षित्! यह सब कालकी महिमा है। उसीकी प्रेरणासे अव्यक्त प्रकृति गुणोंको ग्रस लेती है और तब केवल प्रकृति-ही-प्रकृति शेष रह जाती है ॥ १८ ॥ वही चराचर जगत्का मूल कारण है। वह अव्यक्त, अनादि, अनन्त, नित्य और अविनाशी है। जब वह अपने कार्योंको लीन करके प्रलयके समय साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाती है, तब कालके अवयव वर्ष, मास, दिन-रात, क्षण आदिके कारण उसमें परिणाम, क्षय, वृद्धि आदि किसी प्रकारके विकार नहीं होते ॥ १९ ॥ उस समय प्रकृतिमें स्थूल अथवा सूक्ष्मरूपसे वाणी, मन, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, महत्तत्त्व आदि विकार, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और उनके देवता आदि कुछ नहीं रहते। सृष्टिके समय रहनेवाले लोकोंकी कल्पना और उनकी स्थिति भी नहीं रहती ॥२०॥ उस समय स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ नहीं रहतीं। आकाश, जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि और सूर्य भी नहीं रहते। सब कुछ सोये हुएके समान शून्य-सा रहता है। उस अवस्थाका तर्कके द्वारा अनुमान करना भी असम्भव है। उस अव्यक्तको ही जगत्का मूलभूत तत्त्व कहते हैं ॥२१॥ इसी अवस्थाका नाम 'प्राकृत प्रलय' है। उस समय पुरुष और प्रकृति दोनोंकी शक्तियाँ कालके प्रभावसे क्षीण हो जाती हैं और विवश होकर अपने मूलस्वरूपमें लीन हो जाती हैं।२२।

परीक्षित्! (अब आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मोक्षका स्वरूप बतलाया जाता है।) बुद्धि, इन्द्रिय और उनके विषयोंके रूपमें उनका अधिष्ठान, ज्ञानस्वरूप वस्तु ही भासित हो रही है। उन सबका तो आदि भी है और अन्त भी। इसलिये वे सब सत्य नहीं हैं। वे दृश्य हैं और अपने अधिष्ठानसे भिन्न उनकी सत्ता भी नहीं है। इसलिये वे सर्वथा मिथ्या—मायामात्र हैं ॥ २३ ॥

दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग् भवेत् ।
एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् ॥२४॥
बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते ।
मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥२५॥
यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च ।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात्[1] ॥२६॥
सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह ।
विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः ॥२७॥
यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः ।
अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२८॥
विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा ।

जैसे दीपक, नेत्र और रूप—ये तीनों तेजसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही बुद्धि, इन्द्रिय और इनके विषय तन्मात्राएँ भी अपने अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं—यद्यपि वह इनसे सर्वथा भिन्न है; (जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानमें अध्यस्त सर्प अपने अधिष्ठानसे पृथक् नहीं है, परन्तु अध्यस्त सर्पसे अधिष्ठानका कोई सम्बन्ध नहीं है ।) । २४ । परीक्षित् ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी ही हैं । अतः इनके कारण अन्तरात्मामें जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप नानात्वकी प्रतीति होती है वह केवल मायामात्र है । बुद्धिगत नानात्वका एकमात्र सत्य आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ २५ ॥ यह विश्व उत्पत्ति और प्रलयसे ग्रस्त है, इसलिये अनेक अवयवोंका समूह अवयवी है । अतः यह कभी ब्रह्ममें होता है और कभी नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे आकाशमें मेघमाला कभी होती है और कभी नहीं होती ॥ २६ ॥ परीक्षित् ! जगत्के व्यवहारमें जितने भी अवयवी पदार्थ होते हैं, उनके न होनेपर भी उनके भिन्न-भिन्न अवयव सत्य माने जाते हैं । क्योंकि वे उनके कारण हैं । जैसे वस्त्ररूप अवयवीके न होनेपर भी उसके कारणरूप सूतका अस्तित्व माना ही जाता है, उसी प्रकार कार्यरूप जगत्के अभावमें भी इस जगत्के कारणरूप अवयवकी स्थिति हो सकती है ॥ २७ ॥ परन्तु ब्रह्ममें यह कार्य-कारणभाव भी वास्तविक नहीं है । क्योंकि देखो, कारण तो सामान्य वस्तु है और कार्य विशेष वस्तु । इस प्रकारका जो भेद दिखायी देता है, वह केवल भ्रम ही है । इसका हेतु यह है कि सामान्य और विशेष भाव आपेक्षिक हैं, अन्योन्याश्रित हैं । विशेषके बिना सामान्य और सामान्यके बिना विशेषकी स्थिति नहीं हो सकती । कार्य और कारणभावका आदि और अन्त दोनों ही मिलते हैं, इसलिये भी वह स्वाप्निक भेद-भावके समान सर्वथा अवस्तु है ॥२८॥ इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रपञ्चरूप विकार स्वाप्निक विकारके समान ही प्रतीत हो रहा है, तो भी यह अपने अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं है । कोई चाहे भी तो आत्मासे भिन्न रूपमें अणुमात्र भी इसका निरूपण नहीं कर सकता । यदि आत्मासे

[1] १. श्वं सम्भवत्युदया० ।

न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत्¹ ।२९।
न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते ।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयो²रिव ॥३०॥
यथा हिरण्यं बहुधा समीयते³
नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु ।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो
व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः ॥३१॥
यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः⁴ ।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ॥३२॥
घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥३३॥
तदैवमेतेन विवेकहेतिना
मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम् ।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते
तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग सम्प्लवम् ॥३४॥
नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप ।
उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥३५॥

पृथक् इसकी सत्ता मानी भी जाय तो यह भी चिद्रूप आत्माके समान स्वयंप्रकाश होगा, और ऐसी स्थितिमें वह आत्माकी भाँति ही एकरूप सिद्ध होगा ॥ २९ ॥ परन्तु इतना तो सर्वथा निश्चित है कि परमार्थ-सत्य वस्तुमें नानात्व नहीं है । यदि कोई अज्ञानी परमार्थ-सत्य वस्तुमें नानात्व स्वीकार करता है, तो उसका वह मानना वैसा ही है, जैसा महाकाश और घटाकाशका, आकाशस्थित सूर्य और जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका तथा बाह्य वायु और आन्तर वायुका भेद मानना ॥ ३० ॥

जैसे व्यवहारमें मनुष्य एक ही सोनेको अनेकों रूपोंमें गढ़-गलाकर तैयार कर लेते हैं और वह कंगन, कुण्डल, कड़ा आदि अनेकों रूपोंमें मिलता है; इसी प्रकार व्यवहारमें निपुण विद्वान् लौकिक और वैदिक वाणीके द्वारा इन्द्रियातीत आत्मस्वरूप भगवान्‌का भी अनेकों रूपोंमें वर्णन करते हैं ॥३१॥ देखो न, बादल सूर्यसे उत्पन्न होता है और सूर्यसे ही प्रकाशित । फिर भी वह सूर्यके ही अंश नेत्रोंके लिये सूर्यका दर्शन होनेमें बाधक बन बैठता है । इसी प्रकार अहङ्कार भी ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता, ब्रह्मसे ही प्रकाशित होता और ब्रह्मके अंश जीवके लिये ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कारमें बाधक बन बैठता है ॥ ३२ ॥ जब सूर्यसे प्रकट होनेवाला बादल तितर-बितर हो जाता है, तब नेत्र अपने स्वरूप सूर्यका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं । ठीक वैसे ही, जब जीवके हृदयमें जिज्ञासा जगती है, तब आत्माकी उपाधि अहङ्कार नष्ट हो जाता है और उसे अपने स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है ॥ ३३ ॥ प्रिय परीक्षित् ! जब जीव विवेकके खड्गसे मायामय अहङ्कारका बन्धन काट देता है, तब यह अपने एकरस आत्मस्वरूपके साक्षात्कारमें स्थित हो जाता है । आत्माकी यह मायामुक्त वास्तविक स्थिति ही आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है ॥ ३४ ॥

हे शत्रुदमन ! तत्त्वदर्शी लोग कहते हैं कि ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक जितने प्राणी या पदार्थ हैं, सभी हर समय पैदा होते और मरते रहते हैं । अर्थात् नित्यरूपसे उत्पत्ति और प्रलय होता ही रहता है ॥ ३५ ॥

१. आत्मवान् । २. योरपि । ३. प्रतीयते । ४. चाक्षुषं तमः ।

कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा ।
परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥३६॥
अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना ।
अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव ॥३७॥
नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः ।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी ॥३८॥
एताः कुरुश्रेष्ठ जगद्विधातु-
र्नारायणस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
लीलाकथास्ते कथिताः समासतः
कार्त्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः॥३९॥
संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥४०॥
पुराणसंहितामेतामृषिर्नारायणोऽव्ययः ।
नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः ॥४१॥
स वै मह्यं महाराज भगवान् बादरायणः ।
इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम् ॥४२॥
एतां वक्ष्यत्यसौ सूत ऋषिभ्यो नैमिषालये ।
दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ सम्पृष्टः शौनकादिभिः ॥४३॥

संसारके परिणामी पदार्थ नदी-प्रवाह और दीप-शिखा आदि क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। उनकी बदलती हुई अवस्थाओं-को देखकर यह निश्चय होता है कि देह आदि भी कालरूप सोतेके वेगमें बहते-बदलते जा रहे हैं। इसलिये क्षण-क्षणमें उनकी उत्पत्ति और प्रलय हो रहा है ॥ ३६ ॥ जैसे आकाशमें तारे हर समय चलते ही रहते हैं, परन्तु उनकी गति स्पष्टरूपसे नहीं दिखायी पड़ती, वैसे ही भगवान्के स्वरूपभूत अनादि-अनन्त कालके कारण प्राणियोंकी प्रतिक्षण होनेवाली उत्पत्ति और प्रलयका भी पता नहीं चलता ॥ ३७ ॥ परीक्षित्! मैंने तुमसे चार प्रकारके प्रलयका वर्णन किया; उनके नाम हैं—नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृतिक प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय। वास्तवमें कालकी सूक्ष्म गति ऐसी ही है॥ ३८॥

हे कुरुश्रेष्ठ! विश्व-विधाता भगवान् नारायण ही समस्त प्राणियों और शक्तियोंके आश्रय हैं। जो कुछ मैंने संक्षेपसे कहा है, वह सब उन्हींकी लीला-कथा है। भगवान्की लीलाओंका पूर्ण वर्णन तो स्वयं ब्रह्माजी भी नहीं कर सकते ॥ ३९ ॥ जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं अथवा जो लोग अनेकों प्रकारके दुःख-दावानलसे दग्ध हो रहे हैं, उनके लिये पुरुषोत्तम भगवान्की लीला-कथारूप रसके सेवनके अतिरिक्त और कोई साधन, कोई नौका नहीं है। ये केवल लीला-रसायनका सेवन करके ही अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं ॥ ४० ॥ जो कुछ मैंने तुम्हें सुनाया है, यही श्रीमद्भागवतपुराण है। इसे सनातन ऋषि नर-नारायणने पहले देवर्षि नारदको सुनाया था और उन्होंने मेरे पिता महर्षि कृष्णद्वैपायनको ॥ ४१ ॥ महाराज! उन्हीं बदरीवनविहारी भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने प्रसन्न होकर मुझे इस वेदतुल्य श्रीभागवतसंहिताका उपदेश किया ॥ ४२ ॥ कुरुश्रेष्ठ! आगे चलकर जब शौनकादि ऋषि नैमिषारण्य क्षेत्रमें बहुत बड़ा सत्र करेंगे, तब उनके प्रश्न करनेपर पौराणिक वक्ता श्रीसूतजी उन लोगोंको इस संहिताका श्रवण करायेंगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे[1] चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

---

१. न्धे परमार्थविनिर्णयो नाम ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुकदेवजीका अन्तिम उपदेश

श्रीशुक उवाच

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥ १ ॥

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि ।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥ २ ॥

न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान् ।
बीजाङ्कुरवद् देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः ॥ ३ ॥

स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम् ।
यस्मात् पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः ॥ ४॥

घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥ ५ ॥

मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि[1] चात्मनः ।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रिय परीक्षित् ! इस श्रीमद्भागवत महापुराणमें बार-बार और सर्वत्र विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिका ही सङ्कीर्तन हुआ है । ब्रह्मा और रुद्र भी श्रीहरिसे पृथक् नहीं हैं, उन्हींकी प्रसाद-लीला और क्रोध-लीलाकी अभिव्यक्ति हैं ॥ १ ॥ हे राजन् ! अब तुम यह पशुओंकी-सी अविवेकमूलक धारणा छोड़ दो कि मैं मरूँगा; जैसे शरीर पहले नहीं था और अब पैदा हुआ और फिर नष्ट हो जायेगा, वैसे ही तुम भी पहले नहीं थे, तुम्हारा जन्म हुआ, तुम मर जाओगे—यह बात नहीं है ॥ २ ॥ जैसे बीजसे अङ्कुर और अङ्कुरसे बीजकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही एक देहसे दूसरे देहकी और दूसरे देहसे तीसरेकी उत्पत्ति होती है । किन्तु तुम न तो किसीसे उत्पन्न हुए हो और न तो आगे पुत्र-पौत्रादिकोंके शरीरके रूपमें उत्पन्न होओगे। अजी, जैसे आग लकड़ीसे सर्वथा अलग रहती है—लकड़ीकी उत्पत्ति और विनाशसे सर्वथा परे, वैसे ही तुम भी शरीर आदिसे सर्वथा अलग हो ॥ ३ ॥ स्वप्नावस्थामें ऐसा मालूम होता है कि मेरा सिर कट गया है और मैं मर गया हूँ, मुझे लोग श्मशानमें जला रहे हैं; परन्तु ये सब शरीरकी ही अवस्थाएँ दीखती हैं, आत्माकी नहीं । देखनेवाला तो उन अवस्थाओंसे सर्वथा परे, जन्म और मृत्युसे रहित, शुद्ध-बुद्ध परमतत्त्वस्वरूप है ॥ ४ ॥ जैसे घड़ा फूट जानेपर आकाश पहलेकी ही भाँति अखण्ड रहता है, परन्तु घटाकाशताकी निवृत्ति हो जानेसे लोगोंको ऐसा प्रतीत होता है कि वह महाकाशसे मिल गया है—वास्तवमें तो वह मिला हुआ था ही, वैसे ही देहपात हो जानेपर ऐसा मालूम पड़ता है मानो जीव ब्रह्म हो गया । वास्तवमें तो वह ब्रह्म था ही, उसकी अब्रह्मता तो प्रतीतिमात्र थी ॥ ५ ॥ मन ही आत्माके लिये शरीर, विषय और कर्मोंकी कल्पना कर लेता है; और उस मनकी सृष्टि करती है माया (अविद्या)। वास्तवमें माया ही जीवके संसार-चक्रमें पड़नेका कारण

[1] गुणकर्माणि ।

स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते ।
ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः ।
रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति ॥ ७ ॥
न तत्रात्मा स्वयंज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः ।
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥ ८ ॥
एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो ।
बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥ ९ ॥
चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः ।
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम् ॥ १० ॥
अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥ ११ ॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥ १२ ॥
एतत्ते कथितं तात यथाऽऽत्मा पृष्टवान् नृप ।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १३ ॥

है॥ ६॥ जबतक तेल, तेल रखनेका पात्र, बत्ती और आगका संयोग रहता है, तभीतक दीपकमें दीपकपना है; वैसे ही उनके ही समान जबतक आत्माका कर्म, मन, शरीर और इनमें रहनेवाले चैतन्याध्यासके साथ सम्बन्ध रहता है तभीतक उसे जन्म-मृत्युके चक्र संसारमें भटकना पड़ता है और रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणकी वृत्तियोंसे उसे उत्पन्न, स्थित एवं विनष्ट होना पड़ता है ॥७॥ परन्तु जैसे दीपकके बुझ जानेसे तत्त्वरूप तेजका विनाश नहीं होता, वैसे ही संसारका नाश होनेपर भी स्वयंप्रकाश आत्माका नाश नहीं होता। क्योंकि वह कार्य और कारण, व्यक्त और अव्यक्त सबसे परे है, वह आकाशके समान सबका आधार है, नित्य और निश्चल है, वह अनन्त है। सचमुच आत्माकी उपमा आत्मा ही है ॥ ८ ॥

हे राजन्! तुम अपनी विशुद्ध एवं विवेकवती बुद्धिको परमात्माके चिन्तनसे भरपूर कर लो और स्वयं ही अपने अन्तरमें स्थित परमात्माका साक्षात्कार करो ॥ ९ ॥ देखो, तुम मृत्युओंकी भी मृत्यु हो। तुम स्वयं ईश्वर हो। ब्राह्मणके शापसे प्रेरित तक्षक तुम्हें भस्म न कर सकेगा। अजी, तक्षककी तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु और मृत्युओंका समूह भी तुम्हारे पासतक न फटक सकेंगे ॥ १० ॥ तुम इस प्रकार अनुसन्धान—चिन्तन करो कि 'मैं ही सर्वाधिष्ठान परब्रह्म हूँ। सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ।' इस प्रकार तुम अपने-आपको अपने वास्तविक एकरस अनन्त अखण्ड स्वरूपमें स्थित कर लो ॥ ११ ॥ उस समय अपनी विषैली जीभ लपलपाता हुआ, अपने होठोंके कोने चाटता हुआ तक्षक आये और अपने विषपूर्ण मुखोंसे तुम्हारे पैरोंमें डस ले—कोई परवा नहीं। तुम अपने आत्मस्वरूपमें स्थित होकर इस शरीरको—और तो क्या, सारे विश्वको भी अपनेसे पृथक् न देखोगे ॥ १२ ॥ आत्मस्वरूप बेटा परीक्षित्! तुमने विश्वात्मा भगवान्‌की लीलाके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया, अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ १३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे[3] ब्रह्मोपदेशो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

१. तावद्दीप० । २. यदात्मा । ३. न्धे प्रलयप्रमाणलक्षणं ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

परीक्षित्‌की परमगति, जनमेजयका सर्पसत्र और वेदोंके शाखाभेद

सूत उवाच

एतन्निशम्य मुनिनाभिहितं परीक्षिद्
व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन।
तत्पादमूलमुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना
बद्धाञ्जलिस्तमिदमाह स विष्णुरातः॥ १॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! व्यास-नन्दन श्रीशुकदेव मुनि समस्त चराचर जगत्‌को अपनी आत्माके रूपमें अनुभव करते हैं और व्यवहारमें सबके प्रति समदृष्टि रखते हैं। भगवान्‌के शरणागत एवं उनके द्वारा सुरक्षित राजर्षि परीक्षित्‌ने उनका सम्पूर्ण उपदेश बड़े ध्यानसे श्रवण किया। अब वे सिर झुकाकर उनके चरणोंके तनिक और पास खिसक आये तथा अञ्जलि बाँधकर उनसे यह प्रार्थना करने लगे॥ १॥

राजोवाच[3]

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः॥ २॥
नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम्।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः॥ ३॥
पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम्।
यस्यां खलूत्तमश्लोको भगवाननुवर्ण्यते॥ ४॥
भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्।
प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया॥ ५॥
अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून्॥ ६॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन्! आप करुणाके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। आपने मुझपर परम कृपा करके अनादि-अनन्त, एकरस, सत्य भगवान् श्रीहरिके स्वरूप और लीलाओंका वर्णन किया है। अब मैं आपकी कृपासे परम अनुगृहीत और कृतकृत्य हो गया हूँ॥ २॥ संसारके प्राणी अपने स्वार्थ और परमार्थके ज्ञानसे शून्य हैं और विभिन्न प्रकारके दुःखोंके दावानलसे दग्ध हो रहे हैं। उनके ऊपर भगवन्मय महात्माओंका अनुग्रह होना कोई नयी घटना अथवा आश्चर्यकी बात नहीं है। यह तो उनके लिये स्वाभाविक ही है॥ ३॥ मैंने और मेरे साथ और बहुत-से लोगोंने आपके मुखारविन्दसे इस श्रीमद्भागवत महापुराणका श्रवण किया है। इस पुराणमें पद-पदपर भगवान् श्रीहरिके उस स्वरूप और उन लीलाओं-का वर्णन हुआ है, जिसके गानमें बड़े-बड़े आत्माराम पुरुष रमते रहते हैं॥ ४॥ भगवन्! आपने मुझे अभयपदका, ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्कार करा दिया है। अब मैं परम शान्तिस्वरूप ब्रह्ममें स्थित हूँ। अब मुझे तक्षक आदि किसी भी मृत्युके निमित्तसे अथवा दल-के-दल मृत्युओंसे भी भय नहीं है। मैं अभय हो गया हूँ॥ ५॥ ब्रह्मन्! अब आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपनी वाणी बंद कर लूँ, मौन हो जाऊँ और साथ ही कामनाओंके संस्कारसे भी रहित चित्तको इन्द्रियातीत परमात्माके स्वरूपमें विलीन करके अपने

१. पद्ममुप०। २. स्तदिद०। ३. परीक्षिदुवाच। ४. दृभगवान्मधुसूदनः। ५. तमिदं।

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया ।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम् ॥ ७ ॥

सूत उवाच

इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान् बादरायणिः ।
जगाम भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः ॥ ८ ॥
परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मानमात्मना ।
समाधाय परं दध्यावस्पन्दासुर्यथा तरुः ॥ ९ ॥
प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः ।
ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः ॥१०॥
तक्षकः प्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना ।
हन्तुकामो नृपं गच्छन् ददर्श पथि कश्यपम् ॥११॥
तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्य विषहारिणम् ।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम् ॥१२॥
ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना ।
बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥१३॥
हाहाकारो महानासीद् भुवि खे दिक्षु सर्वतः ।
विस्मिता ह्यभवन् सर्वे देवासुरनरादयः ॥१४॥

प्राणोंका त्याग कर दूँ ॥ ६ ॥ आपके द्वारा उपदेश किये हुए ज्ञान और विज्ञानमें परिनिष्ठित हो जानेसे मेरा अज्ञान सर्वदाके लिये नष्ट हो गया । आपने भगवान्‌के परम कल्याणमय स्वरूपका मुझे साक्षात्कार करा दिया है ॥ ७ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो ! राजा परीक्षित्‌ने भगवान् श्रीशुकदेवजीसे इस प्रकार कहकर बड़े प्रेमसे उनकी पूजा की । अब वे परीक्षित्‌से विदा लेकर समागत त्यागी महात्माओं, भिक्षुओंके साथ वहाँसे चले गये ॥ ८ ॥ राजर्षि परीक्षित्‌ने भी बिना किसी बाह्य सहायताके स्वयं ही अपने अन्तरात्माको परमात्माके चिन्तनमें समाहित किया और ध्यानमग्न हो गये । उस समय उनका श्वास-प्रश्वास भी नहीं चलता था, ऐसा जान पड़ता था मानो कोई वृक्षका ठूँठ हो ॥ ९ ॥ उन्होंने गङ्गाजीके तटपर कुशोंको इस प्रकार बिछा रक्खा था, जिसमें उनका अग्रभाग पूर्वकी ओर हो और उनपर स्वयं उत्तर मुँह होकर बैठे हुए थे । उनकी आसक्ति और संशय तो पहले ही मिट चुके थे । अब वे ब्रह्म और आत्माकी एकतारूप महायोगमें स्थित होकर ब्रह्म-स्वरूप हो गये ॥ १० ॥

शौनकादि ऋषियो ! मुनिकुमार शृङ्गीने क्रोधित होकर परीक्षित्‌को शाप दे दिया था । अब उनका भेजा हुआ तक्षक सर्प राजा परीक्षित्‌को डसनेके लिये उनके पास चला । रास्तेमें उसने कश्यप नामके एक ब्राह्मणको देखा ॥ ११ ॥ कश्यप ब्राह्मण सर्पविषकी चिकित्सा करनेमें बड़े निपुण थे । तक्षकने बहुत-सा धन देकर कश्यपको वहींसे लौटा दिया, उन्हें राजाके पास न जाने दिया । और स्वयं ब्राह्मणके रूपमें छिपकर, क्योंकि वह इच्छानुसार रूप धारण कर सकता था, राजा परीक्षित्‌के पास गया और उन्हें डस लिया ॥ १२ ॥ राजर्षि परीक्षित् तक्षकके डसनेके पहले ही ब्रह्ममें स्थित हो चुके थे । अब तक्षकके विषकी आगसे उनका शरीर सबके सामने ही जलकर भस्म हो गया ॥ १३ ॥ पृथ्वी, आकाश और सब दिशाओंमें बड़े जोरसे 'हाय-हाय' की ध्वनि होने लगी । देवता, असुर, मनुष्य आदि सब-के-सब परीक्षित्‌की यह परम गति देखकर

देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः ।
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः ॥१५॥

जनमेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम् ।
यथा जुहाव संक्रुद्धो नागान् सत्रे सह द्विजैः ॥१६॥

सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान् महोरगान् ।
दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ ॥१७॥

अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान् ।
उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्येतोरगाधमः ॥१८॥

तं गोपायति राजेन्द्र शक्रः शरणमागतम् ।
तेन संस्तम्भितः सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ॥१९॥

पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः ।
सहेन्द्रस्तक्षको विप्रा नाग्नौ किमिति पात्यते॥२०॥

तच्छ्रुत्वाऽऽजुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे ।
तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्वता ॥२१॥

इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः।
बभूव सम्भ्रान्तमतिः सविमानः सतक्षकः ॥२२॥

तं पतन्तं विमानेन सहतक्षकमम्बरात् ।
विलोक्याङ्गिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः॥२३॥

नैष त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हति सर्पराट् ।
अनेन पीतममृतमथ वा अजरामरः ॥२४॥

विस्मित हो गये ॥ १४ ॥ देवताओंकी दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं । गन्धर्व और अप्सराएँ गान करने लगीं । देवतालोग 'साधु-साधु' के नारे लगाकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ १५ ॥

जब जनमेजयने सुना कि तक्षकने मेरे पिताजीको डस लिया है, तो उसे बड़ा क्रोध हुआ। अब वह ब्राह्मणों-के साथ विधिपूर्वक सर्पोंका अग्निकुण्डमें हवन करने लगा ॥ १६ ॥ तक्षकने देखा कि जनमेजयके सर्प-सत्र-की प्रज्वलित अग्निमें बड़े-बड़े महासर्प भस्म होते जा रहे हैं, तब वह अत्यन्त भयभीत होकर देवराज इन्द्रकी शरणमें गया ॥ १७ ॥ बहुत सर्पोंके भस्म होनेपर भी तक्षक न आया, यह देखकर परीक्षित्-नन्दन राजा जन-मेजयने ब्राह्मणोंसे कहा कि 'ब्राह्मणो! अबतक सर्पाधम तक्षक क्यों नहीं भस्म हो रहा है ?' ॥१८॥ ब्राह्मणोंने कहा—'राजेन्द्र ! तक्षक इस समय इन्द्रकी शरणमें चला गया है और वे उसकी रक्षा कर रहे हैं । उन्होंने ही तक्षकको स्तम्भित कर दिया है, इसीसे वह अग्नि-कुण्डमें गिरकर भस्म नहीं हो रहा है' ॥१९॥ परीक्षित्-नन्दन जनमेजय बड़े ही बुद्धिमान् और वीर थे । उन्होंने ब्राह्मणोंकी बात सुनकर ऋत्विजोंसे कहा कि 'ब्राह्मणो ! आपलोग इन्द्रके साथ तक्षकको क्यों नहीं अग्निमें गिरा देते ?' ॥ २० ॥ जनमेजयकी बात सुनकर ब्राह्मणोंने उस यज्ञमें इन्द्रके साथ तक्षकका अग्निकुण्डमें आवाहन किया । उन्होंने कहा—'रे तक्षक ! तू मरुद्गणके सह-चर इन्द्रके साथ इस अग्निकुण्डमें शीघ्र आ पड़' ॥२१॥ जब ब्राह्मणोंने इस प्रकार आकर्षणमन्त्रका पाठ किया, तब तो इन्द्र अपने स्थान—स्वर्गलोकसे विचलित हो गये । विमानपर बैठे हुए इन्द्र तक्षकके साथ ही बहुत घबड़ा गये और उनका विमान भी चक्कर काटने लगा ॥ २२ ॥ अङ्गिरानन्दन बृहस्पतिजीने देखा कि आकाशसे देवराज इन्द्र विमान और तक्षकके साथ ही अग्निकुण्डमें गिर रहे हैं; तब उन्होंने राजा जनमेजयसे कहा—॥ २३ ॥ 'नरेन्द्र ! सर्पराज तक्षकको मार डालना आपके योग्य काम नहीं है । यह अमृत पी चुका है । इसलिये यह अजर और अमर है ॥ २४ ॥

१. तत्रैव च भ्रान्त० । २. पन्नगः । ३. रोऽमरः ।

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा ।
राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः ॥२५॥

सर्पचौराग्निविद्युद्भ्यः क्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप ।
पञ्चत्वमृच्छते जन्तुर्भुङ्क्त आरब्धकर्म तत् ॥२६॥

तस्मात् सत्रमिदं राजन् संस्थीयेताभिचारिकम् ।
सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते ॥२७॥

सूत उवाच

इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानयन् वचः ।
सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिम् ॥२८॥

सैषा विष्णोर्महामायावाध्ययालक्षणा यया ।
मुह्यन्त्यस्यैवात्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः ॥२९॥

न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता
मायाऽऽत्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः ।
न यद्विवादो विविधस्तदाश्रयो
मनश्च सङ्कल्पविकल्पवृत्ति यत् ॥३०॥

राजन्! जगत्के प्राणी अपने-अपने कर्मके अनुसार ही जीवन, मरण और मरणोत्तर गति प्राप्त करते हैं। कर्मके अतिरिक्त और कोई भी किसीको सुख-दुःख नहीं दे सकता ॥ २५ ॥ जनमेजय! यों तो बहुत-से लोगोंकी मृत्यु साँप, चोर, आग, बिजली आदिसे तथा भूख, प्यास, रोग आदि निमित्तोंसे होती है, परन्तु यह तो कहनेकी बात है। वास्तवमें तो सभी प्राणी अपने प्रारब्ध-कर्मका ही उपभोग करते हैं ॥ २६ ॥ राजन्! तुमने बहुत-से निरपराध सर्पोंको जला दिया है। इस अभिचार-यज्ञका फल केवल प्राणियोंकी हिंसा ही है। इसलिये इसे बंद कर देना चाहिये। क्योंकि जगत्के सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्धकर्मका ही भोग कर रहे हैं ॥ २७ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! महर्षि बृहस्पतिजीकी बातका सम्मान करके जनमेजयने कहा कि 'आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।' उन्होंने सर्प-सत्र बंद कर दिया और देवगुरु बृहस्पतिजीकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ २८ ॥ ऋषिगण! (जिससे विद्वान् ब्राह्मणको भी क्रोध आया, राजाको शाप हुआ, मृत्यु हुई, फिर जनमेजयको क्रोध आया, सर्प मारे गये) यह वही भगवान् विष्णुकी महामाया है। यह अनिर्वचनीय है, इसीसे भगवान्के स्वरूपभूत जीव क्रोधादि गुण-वृत्तियोंके द्वारा शरीरोंमें मोहित हो जाते हैं, एक दूसरेको दुःख देते और भोगते हैं, और अपने प्रयत्नसे इसको निवृत्त नहीं कर सकते ॥ २९ ॥ (विष्णुभगवान्के स्वरूपका निश्चय करके उनका भजन करनेसे ही मायासे निवृत्ति होती है; इसलिये उनके स्वरूपका निरूपण सुनो—) यह दम्भी है, कपटी है—इत्याकारक बुद्धिमें बार-बार जो दम्भ-कपटका स्फुरण होता है, वही माया है। जब आत्मवादी पुरुष आत्मचर्चा करने लगते हैं, तब वह परमात्माके स्वरूपमें निर्भय रूपसे प्रकाशित नहीं होती; किन्तु भयभीत होकर अपना मोह आदि कार्य न करती हुई ही किसी प्रकार रहती है। इस रूपमें उसका प्रतिपादन किया गया है। मायाके आश्रित नाना प्रकारके विवाद, मतवाद भी परमात्माके स्वरूपमें नहीं हैं; क्योंकि वे विशेषविषयक हैं और परमात्मा निर्विशेष हैं। केवल वाद-विवादकी तो बात ही क्या है, लोक-परलोकके विषयोंके सम्बन्धमें सङ्कल्प-विकल्प करनेवाला मन भी

न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं

श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्त्वहम्[1] ।

तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं

निषिध्य चोर्मीन्[2] विरमेत् स्वयं मुनिः ॥३१॥

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्

यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः[3] ।

विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा

हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः ॥३२॥

त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत् परमं पदम् ।

अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥३३॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥३४॥

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।

यत्पादाम्बुरुहध्यानात् संहितामध्यगामिमाम् ॥३५॥

शौनक उवाच

पैलादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः ।

शान्त हो जाता है ॥ ३० ॥ कर्म, उसके सम्पादनकी सामग्री और उनके द्वारा साध्यकर्म—इन तीनोंसे अन्वित अहङ्कारात्मक जीव—यह सब जिसमें नहीं हैं, वह आत्मस्वरूप परमात्मा न तो कभी किसीके द्वारा बाधित होता है और न तो किसीका विरोधी ही है । जो पुरुष उस परमपदके स्वरूपका विचार करता है, वह मनकी मायामयी लहरों, अहङ्कार आदिका बाध करके स्वयं अपने आत्मस्वरूपमें विहार करने लगता है ॥ ३१ ॥ जो मुमुक्षु एवं विचारशील पुरुष परमपदके अतिरिक्त वस्तुका परित्याग करते हुए 'नेति-नेति' के द्वारा उसका निषेध करके ऐसी वस्तु प्राप्त करते हैं, जिसका कभी निषेध नहीं हो सकता और न तो कभी त्याग ही, वही विष्णुभगवान्का परमपद है; यह बात सभी महात्मा और श्रुतियाँ एक मतसे स्वीकार करती हैं । अपने चित्तको एकाग्र करनेवाले पुरुष अन्तःकरणकी अशुद्धियोंको, अनात्म-भावनाओंको सदा-सर्वदाके लिये मिटाकर अनन्य प्रेमभावसे परिपूर्ण हृदयके द्वारा उसी परम पदका आलिङ्गन करते हैं और उसीमें समा जाते हैं ॥ ३२ ॥ विष्णुभगवान्का यही वास्तविक स्वरूप है, यही उनका परम पद है । इसकी प्राप्ति उन्हीं लोगोंको होती है, जिनके अन्तःकरणमें शरीरके प्रति अहंभाव नहीं है और न तो इसके सम्बन्धी गृह आदि पदार्थोंमें ममता ही । सचमुच जगत्की वस्तुओंमें मैंपन और मेरेपनका आरोप बहुत बड़ी दुर्जनता है ॥ ३३ ॥ शौनकजी ! जिसे इस परमपदकी प्राप्ति अभीष्ट है, उसे चाहिये कि वह दूसरोंकी कटु वाणी सहन कर ले और बदलेमें किसीका अपमान न करे । इस क्षणभङ्गुर शरीरमें अहंता-ममता करके किसी भी प्राणीसे कभी वैर न करे ॥ ३४ ॥ भगवान् श्रीकृष्णका ज्ञान अनन्त है । उन्हींके चरणकमलोंके ध्यानसे मैंने इस श्रीमद्भागवत महापुराणका अध्ययन किया है । मैं अब उन्हींको नमस्कार करके यह पुराण समाप्त करता हूँ ॥ ३५ ॥

शौनकजीने पूछा—साधुशिरोमणि सूतजी ! वेदव्यासजीके शिष्य पैल आदि महर्षि बड़े महात्मा और

१. तः स्वयम् । २. भोगान् विरमेत तन्मुनिः । ३. त्यसदु० ।

वेदाश्च कतिधा व्यस्ता एतत् सौम्याभिधेहि नः ॥३६॥

सूत उवाच

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते ॥३७॥
यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः ।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥३८॥
ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥३९॥
शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक् ।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥४०॥
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥४१॥
तस्य ह्यासंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह ।

वेदोंके आचार्य थे। उन लोगोंने कितने प्रकारसे वेदोंका विभाजन किया, यह बात आप कृपा करके हमें सुनाइये ॥ ३६ ॥

सूतजीने कहा—ब्रह्मन् ! जिस समय परमेष्ठी ब्रह्माजी पूर्वसृष्टिका ज्ञान सम्पादन करनेके लिये एकाग्रचित्त हुए, उस समय उनके हृदयाकाशसे कण्ठ-तालु आदि स्थानोंके सङ्घर्षसे रहित एक अत्यन्त विलक्षण अनाहत नाद प्रकट हुआ। जब जीव अपनी मनोवृत्तियोंको रोक लेता है, तब उसे भी उस अनाहत नादका अनुभव होता है ॥ ३७ ॥ शौनकजी ! बड़े-बड़े योगी उसी अनाहत नादकी उपासना करते हैं और उसके प्रभावसे अन्तःकरणके द्रव्य (अधिभूत), क्रिया (अध्यात्म) और कारक (अधिदैव) रूप मलको नष्ट करके वह परमगतिरूप मोक्ष प्राप्त करते हैं, जिसमें जन्म-मृत्युरूप संसारचक्र नहीं है ॥ ३८ ॥ उसी अनाहत नादसे 'अ'कार, 'उ'कार और 'म'काररूप तीन मात्राओंसे युक्त ॐकार प्रकट हुआ। इस ॐकारकी शक्तिसे ही प्रकृति अव्यक्तसे व्यक्तरूपमें परिणत हो जाती है। ॐकार स्वयं भी अव्यक्त एवं अनादि है और परमात्मस्वरूप होनेके कारण स्वयंप्रकाश भी है। जिस परम वस्तुको भगवान् ब्रह्म अथवा परमात्माके नामसे कहा जाता है, उसके स्वरूपका बोध भी ॐकारके द्वारा ही होता है ॥ ३९ ॥ जब श्रवणेन्द्रियकी शक्ति लुप्त हो जाती है, तब भी इस ॐकारको—समस्त अर्थोंको प्रकाशित करनेवाले स्फोट तत्त्वको जो सुनता है और सुषुप्ति एवं समाधि-अवस्थाओंमें सबके अभावको भी जानता है, वही परमात्माका विशुद्ध स्वरूप है। वही ॐकार परमात्मासे हृदयाकाशमें प्रकट होकर वेदरूपा वाणीको अभिव्यक्त करता है ॥ ४० ॥ ॐकार अपने आश्रय परमात्मा परब्रह्मका साक्षात् वाचक है। और ॐकार ही सम्पूर्ण मन्त्र, उपनिषद् और वेदोंका सनातन बीज है ॥ ४१ ॥

शौनकजी ! ॐकारके तीन वर्ण हैं—'अ', 'उ' और 'म्'। ये ही तीनों वर्ण सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों, ऋक्, यजुः, साम— इन तीन नामों; भूः,

धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ॥४२॥

ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः ।
अन्तःस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम् ॥४३॥

तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः ।
सव्याहृतिकान् सोङ्कारांश्चातुर्होत्रविवक्षया ॥४४॥

पुत्रानध्यापयत्तांस्तु ब्रह्मर्षीन् ब्रह्मकोविदान् ।
ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन् ॥४५॥

ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः ।
चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः ॥४६॥

क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः ।
वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युतचोदिताः ॥४७॥

अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवाँल्लोकभावनः ।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये ॥४८॥

पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः ।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥४९॥

ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः ।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव ॥५०॥

तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः ।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः ॥५१॥

पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह ।

भुवः, स्वः—इन तीन अर्थों और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन वृत्तियोंके रूपमें तीन-तीनकी संख्यावाले भावोंको धारण करते हैं ॥ ४२ ॥ इसके बाद सर्वशक्तिमान् ब्रह्माजीने ॐकारसे ही अन्तःस्थ (य, र, ल, व), ऊष्म (श, ष, स, ह), स्वर ('अ' से 'औ'तक), स्पर्श ('क'से 'म'तक) तथा ह्रस्व और दीर्घ आदि लक्षणोंसे युक्त अक्षर-समाम्नाय अर्थात् वर्णमालाकी रचना की ॥ ४३ ॥ उसी वर्णमालाद्वारा उन्होंने अपने चार मुखोंसे होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजोंके कर्म बतलानेके लिये ॐकार और व्याहृतियोंके सहित चार वेद प्रकट किये और अपने पुत्र ब्रह्मर्षि मरीचि आदिको वेदाध्ययनमें कुशल देखकर उन्हें वेदोंकी शिक्षा दी। वे सभी जब धर्मका उपदेश करनेमें निपुण हो गये, तब उन्होंने अपने पुत्रोंको उनका अध्ययन कराया ॥ ४४-४५ ॥ तदनन्तर, उन्हीं लोगोंके नैष्ठिक ब्रह्मचारी शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा चारों युगोंमें सम्प्रदायके रूपमें वेदोंकी रक्षा होती रही। द्वापरके अन्तमें महर्षियोंने उनका विभाजन भी किया ॥ ४६ ॥ जब ब्रह्मवेत्ता ऋषियोंने देखा कि समयके फेरसे लोगोंकी आयु, शक्ति और बुद्धि क्षीण हो गयी है, तब उन्होंने अपने हृदय-देशमें विराजमान परमात्माकी प्रेरणासे वेदोंके अनेकों विभाग कर दिये ॥ ४७ ॥

शौनकजी! इस वैवस्वत मन्वन्तरमें भी ब्रह्मा-शङ्कर आदि लोकपालोंकी प्रार्थनासे अखिल विश्वके जीवनदाता भगवान्‌ने धर्मकी रक्षाके लिये महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीके गर्भसे अपने अंशांश-कलास्वरूप व्यासके रूपमें अवतार ग्रहण किया है। परम भाग्यवान् शौनकजी! उन्होंने ही वर्तमान युगमें वेदके चार विभाग किये हैं ॥ ४८-४९ ॥ जैसे मणियोंके समूहोंसे विभिन्न जातिकी मणियाँ छाँटकर अलग-अलग कर दी जाती हैं वैसे ही महामति भगवान् व्यासदेवने मन्त्रसमुदायमेंसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके अनुसार मन्त्रोंका संग्रह करके उनसे ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार संहिताएँ बनायीं और अपने चार शिष्योंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक संहिताकी शिक्षा दी। ५०-५१। उन्होंने 'बह्वृच' नामकी पहली ऋक्संहिता पैलको,

१. त्तांश्च महर्षीन्। २. तस्मिन्। ३. सूत्रे। ४. ततः।

वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं[1] यजुर्गणम् ॥५२॥
साम्नां[2] जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् ।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ॥५३॥
पैलः स्वसंहितामूचे इन्द्रप्रमितये[3] मुनिः ।
बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम्॥५४॥
चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव ।
पराशरायाग्निमित्रे इन्द्रप्रमितिरात्मवान्[4] ॥५५॥
अध्यापयत् संहितां स्वां माण्डूकेयमृषिं कविम् ।
तस्य शिष्यो देवमित्रः सौभर्यादिभ्य ऊचिवान्॥५६॥
शाकल्यस्तत्सुतः स्वां तु पञ्चधा व्यस्य संहिताम् ।
वात्स्यमुद्गलशालीयगोखल्यशिशिरेष्वधात्[5] ॥५७॥
जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम् ।
बलाकपैजवैतालविरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥५८॥
बाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो बालखिल्याख्यसंहिताम् ।
चक्रे वालायनिर्भज्यः[6] कासारश्चैव तां दधुः ॥५९॥
बह्वृचाः संहिता ह्येता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः ।
श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६०॥
वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन् ।
यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहःक्षपणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥६१॥
याज्ञवल्क्यश्च[7] तच्छिष्य आहाहो भगवन् कियत् ।
चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् ॥६२॥

'निगद' नामकी दूसरी यजुःसंहिता वैशम्पायनको, सामश्रुतियोंकी 'छन्दोगसंहिता' जैमिनिको और अपने शिष्य सुमन्तुको 'अथर्वाङ्गिरससंहिता' का अध्ययन कराया ॥ ५२-५३ ॥ शौनकजी ! पैल मुनिने अपनी संहिताके दो विभाग करके एकका अध्ययन इन्द्रप्रमितिको और दूसरेका बाष्कलको कराया । बाष्कलने भी अपनी शाखाके चार विभाग करके उन्हें अलग-अलग अपने शिष्य बोध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर और अग्निमित्रको पढ़ाया। परमसंयमी इन्द्रप्रमितिने प्रतिभाशाली माण्डूकेय ऋषिको अपनी संहिताका अध्ययन कराया । माण्डूकेयके शिष्य थे—देवमित्र । उन्होंने सौभरि आदि ऋषियोंको वेदोंका अध्ययन कराया ॥ ५४-५६ ॥ माण्डूकेयके पुत्रका नाम था शाकल्य। उन्होंने अपनी संहिताके पाँच विभाग करके उन्हें वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य और शिशिर नामक शिष्योंको पढ़ाया ॥ ५७ ॥ शाकल्यके एक और शिष्य थे—जातूकर्ण्य मुनि । उन्होंने अपनी संहिताके तीन विभाग करके तत्सम्बन्धी निरुक्तके साथ अपने शिष्य बलाक, पैज, वैताल और विरजको पढ़ाया ॥ ५८ ॥ बाष्कलके पुत्र बाष्कलिने सब शाखाओंसे एक 'बालखिल्य' नामकी शाखा रची । उसे बालायनि, भज्य एवं कासारने ग्रहण किया ॥ ५९ ॥ इन ब्रह्मर्षियोंने पूर्वोक्त सम्प्रदायके अनुसार ऋग्वेदसम्बन्धी बह्वृच शाखाओंको धारण किया। जो मनुष्य यह वेदोंके विभाजनका इतिहास श्रवण करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ६० ॥

शौनकजी ! वैशम्पायनके कुछ शिष्योंका नाम था चरकाध्वर्यु । इन लोगोंने अपने गुरुदेवके ब्रह्महत्या-जनित पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये एक व्रतका अनुष्ठान किया । इसीलिये इनका नाम 'चरकाध्वर्यु' पड़ा ॥ ६१ ॥ वैशम्पायनके एक शिष्य याज्ञवल्क्य मुनि भी थे । उन्होंने अपने गुरुदेवसे कहा—'अहो भगवन् ! ये चरकाध्वर्यु ब्राह्मण तो बहुत ही थोड़ी शक्ति रखते हैं । इनके व्रत-पालनसे लाभ ही कितना है ? मैं आपके प्रायश्चित्तके लिये बहुत ही कठिन तपस्या करूँगा' ॥ ६२ ॥

१. माख्यं । २. सामानि जैमिनेः प्रा० । ३. प्रम० । ४. प्रमति० । ५. मौद्गलशालीय गाधिने शिशिरेऽभ्यधात् । ६. वाताय० । ७. क्यस्तु ।

इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया ।
विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति ॥६३॥
देवरातसुतः सोऽपिच्छर्दित्वा यजुषां गणम् ।
ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान् यजुर्गणान् ॥६४॥
यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाऽऽददुः ।
तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन् सुपेशलाः॥६५॥
याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दांस्यधिगवेषयन् ।
गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम् ॥६६॥

याज्ञवल्क्य उवाच

ॐ नमो भगवते आदित्यायाखिलजगतामात्मस्वरूपेण कालस्वरूपेण चतुर्विधभूतनिकायानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चाकाश इवोपाधिनाव्यवधीयमानो भवानेक एव क्षणलवनिमेषावयवोपचितसंवत्सरगणेनापामादानविसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति ॥ ६७ ॥

यद्दु ह वाव विबुधर्षभ सवितरदस्तपत्यनुसवनमहरहराम्नायविधिनोपतिष्ठमानानामखिलदुरितवृजिनबीजावभर्जन भगवतः समभिधीमहि तपनमण्डलम् ॥६८ ॥

याज्ञवल्क्य मुनिकी यह बात सुनकर वैशम्पायन मुनिको क्रोध आ गया । उन्होंने कहा—'बस-बस, चुप रहो। तुम्हारे-जैसे ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले शिष्यकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है । देखो, अबतक तुमने मुझसे जो कुछ अध्ययन किया है, उसका शीघ्र-से-शीघ्र त्याग कर दो और यहाँसे चले जाओ॥ ६३ ॥ याज्ञवल्क्यजी देवरातके पुत्र थे । उन्होंने गुरुजीकी आज्ञा पाते ही उनके पढ़ाये हुए यजुर्वेदका वमन कर दिया और वे वहाँसे चले गये । जब मुनियोंने देखा कि याज्ञवल्क्यने तो यजुर्वेदका वमन कर दिया, तब उनके चित्तमें इस बातके लिये बड़ा लालच हुआ कि हमलोग किसी प्रकार इसको ग्रहण कर लें । परन्तु ब्राह्मण होकर उगले हुए मन्त्रोंको ग्रहण करना अनुचित है, ऐसा सोचकर वे तीतर बन गये और उस संहिताको चुग लिया । इसीसे यजुर्वेदकी वह परम रमणीय शाखा 'तैत्तिरीय' के नामसे प्रसिद्ध हुई ॥ ६४-६५ ॥ शौनकजी ! अब याज्ञवल्क्यने सोचा कि मैं ऐसी श्रुतियाँ प्राप्त करूँ, जो मेरे गुरुजीके पास भी न हों । इसके लिये वे सूर्यभगवान्‌का उपस्थान करने लगे ॥ ६६ ॥

याज्ञवल्क्यजी इस प्रकार उपस्थान करते—मैं ॐकारस्वरूप भगवान् सूर्यको नमस्कार करता हूँ। आप सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा और कालस्वरूप हैं । ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जितने भी जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—चार प्रकारके प्राणी हैं, उन सबके हृदयदेशमें और बाहर आकाशके समान व्याप्त रहकर भी आप उपाधिके धर्मोंसे असङ्ग रहनेवाले अद्वितीय भगवान् ही हैं । आप ही क्षण, लव, निमेष आदि अवयवोंसे सङ्घटित संवत्सरोंके द्वारा एवं जलके आकर्षण-विकर्षण—आदान-प्रदानके द्वारा समस्त लोकोंकी जीवनयात्रा चलाते हैं ॥ ६७ ॥ प्रभो ! आप समस्त देवताओंमें श्रेष्ठ हैं । जो लोग प्रतिदिन तीनों समय वेद-विधिसे आपकी उपासना करते हैं, उनके सारे पाप और दुःखोंके बीजोंको आप भस्म कर देते हैं । सूर्यदेव ! आप सारी सृष्टिके मूल कारण एवं समस्त ऐश्वर्योंके स्वामी हैं । इसलिये हम आपके इस तेजोमय मण्डलका पूरी एकाग्रताके साथ

१. गणान् । २. गत्वाथ । ३. सोप० । ४. रिव । ५. यद्दुत ।

य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिकेतनानां मनइन्द्रियासुगणाननात्मनः स्वयमात्मान्तर्यामी प्रचोदयति ॥ ६९ ॥

य एवेमं लोकमतिकरालवदनान्धकारसंज्ञाजगरग्रहगिलितं मृतकमिव विचेतनमवलोक्यानुकम्पया परमकारुणिक ईक्षयैवोत्थाप्याहरहरनुसवनं श्रेयसि स्वधर्माख्यात्मावस्थाने प्रवर्तयत्यवनिपतिरिवासाधूनां भयमुदीरयन्नटति ॥ ७० ॥

परित आशापालैस्तत्र तत्र कमलकोशाञ्जलिभिरुपहृतार्हणः ॥ ७१ ॥

अथ ह भगवंस्तव चरणनलिनयुगलं त्रिभुवनगुरुभिर्वन्दितमहमयातयामयजुःकाम उपसरामीति ॥ ७२ ॥

सूत उवाच

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः ।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः ॥७३॥
यजुर्भिरकरोच्छाखा दशपञ्च शतैर्विभुः ।
जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः ॥७४॥
जैमिनेः सामगस्यासीत् सुमन्तुस्तनयो मुनिः ।
सुन्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम् ॥७५॥
सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान् ।

ध्यान करते हैं ॥ ६८ ॥ आप सबके आत्मा और अन्तर्यामी हैं । जगत्‌में जितने चराचर प्राणी हैं, सब आपके ही आश्रित हैं । आप ही उनके अचेतन मन, इन्द्रिय और प्राणोंके प्रेरक हैं* ॥ ६९ ॥ यह लोक प्रतिदिन अन्धकाररूप अजगरके विकराल मुँहमें पड़कर अचेत और मुर्दा-सा हो जाता है । आप परम करुणास्वरूप हैं; इसलिये कृपा करके अपनी दृष्टिमात्रसे ही इसे सचेत कर देते हैं और परम कल्याणके साधन समय-समयके धर्मानुष्ठानोंमें लगाकर आत्माभिमुख करते हैं । जैसे राजा दुष्टोंको भयभीत करता हुआ अपने राज्यमें विचरण करता है, वैसे ही आप चोर-जार आदि दुष्टोंको भयभीत करते हुए विचरते रहते हैं ॥ ७० ॥ चारों ओर सभी दिक्पाल स्थान-स्थानपर अपनी कमलकी कलीके समान अञ्जलियोंसे आपको उपहार समर्पित करते हैं ॥ ७१ ॥ भगवन् ! आपके दोनों चरणकमल तीनों लोकोंके गुरु-सदृश महानुभावोंसे भी वन्दित हैं । मैंने आपके युगलचरणकमलोंकी इसलिये शरण ली है कि मुझे ऐसे यजुर्वेदकी प्राप्ति हो, जो अबतक किसीको न मिला हो ॥ ७२ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो ! जब याज्ञवल्क्य मुनिने भगवान् सूर्यकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे प्रसन्न होकर उनके सामने अश्वरूपसे प्रकट हुए और उन्हें यजुर्वेदके उन मन्त्रोंका उपदेश किया, जो अबतक किसीको प्राप्त न हुए थे ॥ ७३ ॥ इसके बाद याज्ञवल्क्य मुनिने यजुर्वेदके असंख्य मन्त्रोंसे उसकी पंद्रह शाखाओंकी रचना की । वही वाजसनेय शाखाके नामसे प्रसिद्ध हैं । उन्हें कण्व, माध्यन्दिन आदि ऋषियोंने ग्रहण किया ॥ ७४ ॥

यह बात मैं पहले ही कह चुका हूँ कि महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनने जैमिनि मुनिको सामसंहिताका अध्ययन कराया । उनके पुत्र थे सुमन्तु मुनि और पौत्र थे सुन्वान् । जैमिनि मुनिने अपने पुत्र और पौत्रको एक-एक संहिता पढ़ायी ॥ ७५ ॥ जैमिनि मुनिके एक शिष्यका नाम था सुकर्मा । वह एक महान् पुरुष था । जैसे एक वृक्षमें

१. गृहीतं । २. भिरभिव० । ३. नेः ।

* ६७, ६८, ६९—इन तीनों वाक्योंद्वारा क्रमशः गायत्रीमन्त्रके 'तत्सवितुर्वरेण्यम्,' 'भर्गो देवस्य धीमहि' और 'धियो यो नः प्रचोदयात्'—इन तीन चरणोंकी व्याख्या करते हुए भगवान् सूर्यकी स्तुति की गयी है ।

सहस्रसंहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः ॥७६॥
हिरण्यनाभः कौसल्यः पौष्यञ्जिश्च सुकर्मणः।
शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः॥७७॥
उदीच्याः सामगाः शिष्या आसन् पञ्चशतानि वै।
पौष्यञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च प्राच्यान् प्रचक्षते॥७८॥
लौगाक्षिर्माङ्गलिः कुल्यः कुसीदः कुक्षिरेव च।
पौष्यञ्जिशिष्या जगृहुः संहितास्ते शतं शतम्॥७९॥
कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशतिसंहिताः।
शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषा आवन्त्य आत्मवान्॥८०॥

बहुत-सी डालियाँ होती हैं, वैसे ही सुकर्माने सामवेदकी एक हजार संहिताएँ बना दीं ॥ ७६ ॥ सुकर्माके शिष्य कोसलदेशनिवासी हिरण्यनाभ, पौष्यञ्जि और ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आवन्त्यने उन शाखाओंको ग्रहण किया ॥ ७७ ॥ पौष्यञ्जि और आवन्त्यके पाँच सौ शिष्य थे। वे उत्तर दिशाके निवासी होनेके कारण औदीच्य सामवेदी कहलाते थे। उन्हींको प्राच्य सामवेदी भी कहते हैं। उन्होंने एक-एक संहिताका अध्ययन किया ॥ ७८॥ पौष्यञ्जिके और भी शिष्य थे—लौगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुसीद और कुक्षि। इनमेंसे प्रत्येकने सौ-सौ संहिताओंका अध्ययन किया ॥ ७९ ॥ हिरण्यनाभका शिष्य था—कृत। उसने अपने शिष्योंको चौबीस संहिताएँ पढ़ायीं। शेष संहिताएँ परम संयमी आवन्त्यने अपने शिष्योंको दीं। इस प्रकार सामवेदका विस्तार हुआ ॥ ८० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे वेदशाखाप्रणयनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथर्ववेदकी शाखाएँ और पुराणोंके लक्षण

सूत उवाच

अथर्ववित् सुमन्तुश्च शिष्यमध्यापयत् स्वकाम्[3]।
संहितां सोऽपि पथ्याय वेददर्शाय चोक्तवान्॥ १ ॥
शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिर्मोदोषः पिप्पलायनिः।
वेददर्शस्य शिष्यास्ते पथ्यशिष्यानथो शृणु ॥ २ ॥
कुमुदः शुनको ब्रह्मन् जाजलिश्चाप्यथर्ववित्।
बभ्रुः शिष्योऽथाङ्गिरसः सैन्धवायन एव च।
अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्यास्तथापरे ॥ ३ ॥
नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपाङ्गिरसादयः।
एते आथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान् मुने ॥ ४ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! मैं कह चुका हूँ कि अथर्ववेदके ज्ञाता सुमन्तु मुनि थे। उन्होंने अपनी संहिता अपने प्रिय शिष्य कबन्धको पढ़ायी। कबन्धने उस संहिताके दो भाग करके पथ्य और वेददर्शको उसका अध्ययन कराया ॥ १ ॥ वेददर्शके चार शिष्य हुए—शौक्लायनि, ब्रह्मबलि, मोदोष और पिप्पलायनि। अब पथ्यके शिष्योंके नाम सुनो ॥ २ ॥ शौनकजी! पथ्यके तीन शिष्य थे—कुमुद, शुनक और अथर्ववेत्ता जाजलि। अङ्गिरा-गोत्रोत्पन्न शुनकके दो शिष्य थे—बभ्रु और सैन्धवायन। उन लोगोंने दो संहिताओंका अध्ययन किया। अथर्ववेदके आचार्योंमें इनके अतिरिक्त सैन्धवायनादिके शिष्य सावर्ण्य आदि तथा नक्षत्रकल्प, शान्ति, कश्यप, आंगिरस आदि कई विद्वान् और भी हुए। अब मैं तुम्हें पौराणिकोंके सम्बन्धमें सुनाता हूँ ॥ ३-४ ॥

१. लौकाक्षिर्लाङ्ग०। २. ता द्विशतं। ३. ष्यानध्यापयत् सकान्।

त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः ।
वैशम्पायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे ॥५॥
अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां मत्पितुर्मुखात् ।
एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगाम् ॥६॥
कश्यपोऽहं च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः ।
अधीमहि व्यासशिष्याच्चतस्रो मूलसंहिताः ॥७॥
पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् ।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः ॥८॥
सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥९॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया ॥१०॥
अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥११॥
पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम् ॥१२॥
वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।

शौनकजी ! पुराणोंके छः आचार्य प्रसिद्ध हैं—त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन और हारीत ॥५॥ इन लोगोंने मेरे पिताजीसे एक-एक पुराण-संहिता पढ़ी थी और मेरे पिताजीने स्वयं भगवान् व्याससे उन संहिताओंका अध्ययन किया था । मैंने उन छहों आचार्योंसे सभी संहिताओंका अध्ययन किया था ॥६॥ उन छः संहिताओंके अतिरिक्त और भी चार मूल संहिताएँ थीं । उन्हें भी कश्यप, सावर्णि, परशुरामजीके शिष्य अकृतव्रण और उन सबके साथ मैंने व्यासजीके शिष्य श्रीरोमहर्षणजीसे, जो मेरे पिता थे, अध्ययन किया था ॥ ७ ॥

शौनकजी ! महर्षियोंने वेद और शास्त्रोंके अनुसार पुराणोंके लक्षण बतलाये हैं । अब तुम स्वस्थ होकर सावधानीसे उनका वर्णन सुनो ॥ ८ ॥ शौनकजी ! पुराणोंके पारदर्शी विद्वान् बतलाते हैं कि पुराणोंके दस लक्षण हैं—विश्व-सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था (प्रलय), हेतु (ऊति) और अपाश्रय । कोई-कोई आचार्य पुराणोंके पाँच ही लक्षण मानते हैं । दोनों ही बातें ठीक हैं, क्योंकि महापुराणोंमें दस लक्षण होते हैं और छोटे पुराणोंमें पाँच । विस्तार करके दस बतलाते हैं और संक्षेप करके पाँच ॥ ९-१० ॥ (अब इनके लक्षण सुनो) जब मूलप्रकृतिमें लीन गुण क्षुब्ध होते हैं, तब महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है । महत्तत्त्वसे तामस, राजस और वैकारिक (सात्त्विक)—तीन प्रकारके अहङ्कार बनते हैं । त्रिविध अहङ्कारसे ही पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय और विषयोंकी उत्पत्ति होती है । इसी उत्पत्ति-क्रमका नाम 'सर्ग' है ॥ ११ ॥ परमेश्वरके अनुग्रहसे सृष्टिका सामर्थ्य प्राप्त करके महत्तत्त्व आदि पूर्वकर्मोंके अनुसार अच्छी और बुरी वासनाओंकी प्रधानतासे जो यह चराचर शरीरात्मक जीवकी उपाधिकी सृष्टि करते हैं, एक बीजसे दूसरे बीजके समान, इसीको विसर्ग कहते हैं ॥ १२ ॥ चर प्राणियोंकी अचर-पदार्थ 'वृत्ति' अर्थात् जीवन-निर्वाहकी सामग्री है । चर प्राणियोंके दुग्ध आदि

१. शिंशपायन० । २. सपुत्राच्च० ।

कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥१३॥
रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥१४॥
मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः ।
ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥१५॥
राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।
वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ॥१६॥
नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धास्य स्वभावतः ॥१७॥
हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः ।
यं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥१८॥
व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥१९॥
पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु ।

१. राः ।

भी । इनमेंसे मनुष्योंने कुछ तो स्वभाववश कामनाके अनुसार निश्चित कर ली है और कुछने शास्त्रके आज्ञानुसार ॥ १३ ॥ भगवान् युग-युगमें पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, देवता आदिके रूपमें अवतार ग्रहण करके अनेकों लीलाएँ करते हैं। इन्हीं अवतारोंमें वे वेदधर्मके विरोधियोंका संहार भी करते हैं । उनकी यह अवतार-लीला विश्वकी रक्षाके लिये ही होती है, इसीलिये उसका नाम 'रक्षा' है ॥ १४ ॥ मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान्‌के अंशावतार—इन्हीं छः बातोंकी विशेषतासे युक्त समयको 'मन्वन्तर' कहते हैं॥ १५ ॥ ब्रह्माजीसे जितने राजाओंकी सृष्टि हुई है, उनकी भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन सन्तानपरम्पराको 'वंश' कहते हैं । उन राजाओंके तथा उनके वंशधरोंके चरित्रका नाम 'वंशानुचरित' है ॥ १६ ॥ इस विश्वब्रह्माण्डका स्वभावसे ही प्रलय हो जाता है । उसके चार भेद हैं—नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक । तत्त्वज्ञ विद्वानोंने इन्हींको 'संस्था' कहा है ॥ १७ ॥ पुराणोंके लक्षणमें 'हेतु' नामसे जिसका व्यवहार होता है, वह जीव ही है। क्योंकि वास्तवमें वही सर्ग-विसर्ग आदिका हेतु है और अविद्यावश अनेकों प्रकारके कर्मकलापमें उलझ गया है। जो लोग उसे चैतन्यप्रधानकी दृष्टिसे देखते हैं, वे उसे अनुशयी अर्थात् प्रकृतिमें शयन करनेवाला कहते हैं; और जो उपाधिकी दृष्टिसे कहते हैं, वे उसे अव्याकृत अर्थात् प्रकृतिरूप कहते हैं ॥ १८ ॥ जीवकी वृत्तियोंके तीन विभाग हैं,—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति । जो इन अवस्थाओंमें इनके अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञके मायामय रूपोंमें प्रतीत होता है और इन अवस्थाओंसे परे तुरीयतत्त्वके रूपमें भी लक्षित होता है, वही ब्रह्म है, उसीको यहाँ 'अपाश्रय' शब्दसे कहा गया है ॥१९॥ नामविशेष और रूपविशेषसे युक्त पदार्थोंपर विचार करें, तो वे सत्तामात्र वस्तुके रूपमें सिद्ध होते हैं । उनकी विशेषताएँ लुप्त हो जाती हैं । असलमें वह सत्ता ही उन विशेषताओंके रूपमें प्रतीत भी हो रही है और उनसे पृथक् भी है । ठीक इसी न्यायसे शरीर और विश्वब्रह्माण्डकी उत्पत्तिसे लेकर मृत्यु और महाप्रलयपर्यन्त जितनी

बीजादिपञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम् ॥२०॥
विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम् ।
योगेन वा तदाऽऽत्मानं वेदेहाया निवर्तते ॥२१॥
एवंलक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः ।
मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च॥२२॥
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् ।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम् ॥२३॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् ।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्॥२४॥
ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः ।
शिष्यशिष्यप्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविवर्धनम् ॥२५॥

भी विशेष अवस्थाएँ हैं, उनके रूपमें परम सत्यस्वरूप ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है और वह उनसे सर्वथा पृथक् भी है। यही वाक्य-भेदसे अधिष्ठान और साक्षीके रूपमें ब्रह्म ही पुराणोक्त आश्रयतत्त्व है ॥ २० ॥ जब चित्त स्वयं आत्मविचार अथवा योगाभ्यासके द्वारा सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुणसम्बन्धी व्यावहारिक वृत्तियों और जाग्रत्-स्वप्न आदि स्वाभाविक वृत्तियोंका त्याग करके उपराम हो जाता है, तब शान्तवृत्तिमें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके द्वारा आत्मज्ञानका उदय होता है। उस समय आत्मवेत्ता पुरुष अविद्याजनित कर्म-वासना और कर्मप्रवृत्तिसे निवृत्त हो जाता है ॥ २१ ॥

शौनकादि ऋषियो ! पुरातत्त्ववेत्ता ऐतिहासिक विद्वानोंने इन्हीं लक्षणोंके द्वारा पुराणोंकी यह पहचान बतलायी है। ऐसे लक्षणोंसे युक्त छोटे-बड़े अठारह पुराण हैं ॥ २२ ॥ उनके नाम ये हैं—ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, लिङ्गपुराण, गरुडपुराण, नारदपुराण, भागवतपुराण, अग्निपुराण, स्कन्दपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, मार्कण्डेयपुराण, वामनपुराण, वराहपुराण, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण और ब्रह्माण्डपुराण यह अठारह हैं ॥ २३-२४ ॥ शौनकजी ! व्यासजीकी शिष्य-परम्पराने जिस प्रकार वेदसंहिता और पुराणसंहिताओंका अध्ययन-अध्यापन, विभाजन आदि किया वह मैंने तुम्हें सुना दिया। यह प्रसङ्ग सुनने और पढ़नेवालोंके ब्रह्मतेजकी अभिवृद्धि करता है ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे[2]
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीकी तपस्या और वर-प्राप्ति

शौनक उवाच

सूत जीव चिरं साधो वद नो वदतां वर ।

शौनकजीने कहा—साधुशिरोमणि सूतजी ! आप आयुष्मान् हों। सचमुच आप वक्ताओंके सिरमौर हैं। जो लोग संसारके अपार अन्धकारमें भूल-भटक रहे हैं,

१. ह्यन्नेतत्समा० । २. न्धे वेदशाखप्रणयनं ।

तमस्यपारे भ्रमतां नृणां त्वं पारदर्शनः ॥ १ ॥
आहुश्चिरायुषमृषिं मृकण्डतनयं जनाः ।
यः कल्पान्ते उर्वरितो येन ग्रस्तमिदं जगत् ॥ २ ॥
स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन् भार्गवर्षभः[1] ।
नैवाधुनापि भूतानां सम्प्लवः कोऽपि जायते ॥ ३ ॥
एक एवार्णवे भ्राम्यन् ददर्श पुरुषं किल ।
वटपत्रपुटे तोकं शयानं त्वेकमद्भुतम् ॥ ४ ॥
एष नः संशयो भूयान् सूत कौतूहलं यतः ।
तं नश्छिन्धि महायोगिन् पुराणेष्वपि सम्मतः ॥ ५ ॥

सूत उवाच

प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः ।
नारायणकथा यत्र गीता कलिमलापहा ॥ ६ ॥
प्राप्तद्विजातिसंस्कारो मार्कण्डेयः पितुः क्रमात् ।
छन्दांस्यधीत्य धर्मेण तपःस्वाध्यायसंयुतः ॥ ७ ॥
बृहद्व्रतधरः शान्तो जटिलो वल्कलाम्बरः ।
बिभ्रत् कमण्डलुं दण्डमुपवीतं समेखलम् ॥ ८ ॥
कृष्णाजिनं साक्षसूत्रं कुशांश्च नियमर्द्धये ।

उन्हें आप वहाँसे निकालकर प्रकाशस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करा देते हैं। आप कृपा करके हमारे एक प्रश्नका उत्तर दीजिये ॥ १ ॥ लोग कहते हैं कि मृकण्ड-ऋषिके पुत्र मार्कण्डेय ऋषि चिरायु हैं और जिस समय प्रलयने सारे जगत्‌को निगल लिया था, उस समय भी वे बचे रहे ॥ २ ॥ परन्तु सूतजी! वे तो इसी कल्पमें हमारे ही वंशमें उत्पन्न हुए एक श्रेष्ठ भृगुवंशी हैं और जहाँतक हमें मालूम है, इस कल्पमें अबतक प्राणियोंका कोई प्रलय नहीं हुआ है ॥ ३ ॥ ऐसी स्थितिमें यह बात कैसे सत्य हो सकती है कि जिस समय सारी पृथ्वी प्रलयकालीन समुद्रमें डूब गयी थी, उस समय मार्कण्डेयजी उसमें डूब-उतरा रहे थे और उन्होंने अक्षयवटके पत्तेके दोनेमें अत्यन्त अद्भुत और सोये हुए बालमुकुन्दका दर्शन किया ॥ ४ ॥ सूतजी! हमारे मनमें बड़ा सन्देह है और इस बातको जाननेकी बड़ी उत्कण्ठा है। आप बड़े योगी हैं, पौराणिकोंमें सम्मानित हैं। आप कृपा करके हमारा यह सन्देह मिटा दीजिये ॥ ५ ॥

श्रीसूतजीने कहा—शौनकजी! आपने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया। इससे लोगोंका भ्रम मिट जायगा। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस कथामें भगवान् नारायणकी महिमा है। जो इसका गान करता है, उसके सारे कलिमल नष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥ शौनकजी! मृकण्ड ऋषिने अपने पुत्र मार्कण्डेयके सभी संस्कार समय-समयपर किये। मार्कण्डेयजी विधिपूर्वक वेदोंका अध्ययन करके तपस्या और स्वाध्यायसे सम्पन्न हो गये थे ॥ ७ ॥ उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यका व्रत ले रक्खा था। शान्तभावसे रहते थे। सिरपर जटाएँ बढ़ा रक्खी थीं। वृक्षोंकी छालका ही वस्त्र पहनते थे। वे अपने हाथोंमें कमण्डलु और दण्ड धारण करते, शरीरपर यज्ञोपवीत और मेखला शोभायमान रहती ॥ ८ ॥ काले मृगका चर्म, रुद्राक्षमाला और कुश—यही उनकी पूँजी थी। यह सब उन्होंने अपने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतकी पूर्तिके लिये ही ग्रहण किया था। वे सायङ्काल और प्रातःकाल अग्निहोत्र, सूर्योपस्थान, गुरुवन्दन, ब्राह्मण-

१. वोत्तमः ।

अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्चयन् सन्ध्ययोर्हरिम् ॥ ९ ॥
सायं प्रातः स गुरवे भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यतः ।
बुभुजे गुर्वनुज्ञातः सकृन्नो चेदुपोषितः ॥१०॥
एवं तपःस्वाध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम् ।
आराधयन् हृषीकेशं जिग्ये मृत्युं सुदुर्जयम् ॥११॥
ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च ये परे ।
नृदेवपितृभूतानि तेनासन्नतिविस्मिताः ॥१२॥
इत्थं बृहद्व्रतधरस्तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
दध्यावधोक्षजं योगी ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना ॥१३॥
तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं महायोगेन योगिनः ।
व्यतीयाय महान् कालो मन्वन्तरषडात्मकः ॥१४॥
एतत् पुरन्दरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन् किलान्तरे ।
तपोविशङ्कितो ब्रह्मन्नारेभे तद्विघातनम् ॥१५॥
गन्धर्वाप्सरसः कामं वसन्तमलयानिलौ ।
मुनये प्रेषयामास रजस्तोकमदौ तथा ॥१६॥
ते वै तदाश्रमं जग्मुर्हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे[2] ।
पुष्पभद्रा नदी यत्र चित्राख्या च शिला विभो ॥१७॥
[3]तदाश्रमपदं पुण्यं पुण्यद्रुमलताञ्चितम् ।
पुण्यद्विजकुलाकीर्णं पुण्यामलजलाशयम् ॥१८॥

सत्कार, मानस-पूजा और 'मैं परमात्माका स्वरूप ही हूँ' इस प्रकारकी भावना आदिके द्वारा भगवान्‌की आराधना करते ॥ ९ ॥ सायं-प्रातः भिक्षा लाकर गुरुदेवके चरणोंमें निवेदन कर देते और मौन हो जाते । गुरुजी की आज्ञा होती तो एक बार खा लेते, अन्यथा उपवास कर जाते ॥ १० ॥ मार्कण्डेयजीने इस प्रकार तपस्या और स्वाध्यायमें तत्पर रहकर करोड़ों वर्षोंतक भगवान्‌की आराधना की और इस प्रकार उस मृत्युपर भी विजय प्राप्त कर ली, जिसको जीतना बड़े-बड़े योगियोंके लिये भी कठिन है ॥ ११ ॥ मार्कण्डेयजीकी मृत्यु-विजयको देखकर ब्रह्मा, भृगु, शङ्कर, दक्ष प्रजापति, ब्रह्माजीके अन्यान्य पुत्र तथा मनुष्य, देवता, पितर एवं अन्य सभी प्राणी अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ १२ ॥ आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतधारी एवं योगी मार्कण्डेयजी इस प्रकार तपस्या, स्वाध्याय और संयम आदिके द्वारा अविद्या आदि सारे क्लेशोंको मिटाकर शुद्ध अन्तःकरणसे इन्द्रियातीत परमात्माका ध्यान करने लगे ॥ १३ ॥ योगी मार्कण्डेयजी महायोगके द्वारा अपना चित्त भगवान्‌के स्वरूपमें जोड़ते रहे । इस प्रकार साधन करते-करते बहुत समय—छः मन्वन्तर व्यतीत हो गये ॥ १४ ॥ ब्रह्मन् ! इस सातवें मन्वन्तरमें जब इन्द्रको इस बातका पता चला, तब तो वे उनकी तपस्यासे शंकित और भयभीत हो गये । इसलिये उन्होंने उनकी तपस्यामें विघ्न डालना आरम्भ कर दिया ॥ १५ ॥

शौनकजी ! इन्द्रने मार्कण्डेयजीकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये उनके आश्रमपर गन्धर्व, अप्सराएँ, काम, वसन्त, मलयानिल, लोभ और मदको भेजा ॥ १६ ॥ भगवन् ! वे सब उनकी आज्ञाके अनुसार उनके आश्रमपर गये । मार्कण्डेयजीका आश्रम हिमालयके उत्तरकी ओर है । वहाँ पुष्पभद्रा नामकी नदी बहती है और उसके पास ही चित्रा नामकी एक शिला है ॥ १७ ॥ शौनकजी ! मार्कण्डेयजीका आश्रम बड़ा ही पवित्र है । चारों ओर हरे-भरे पवित्र वृक्षोंकी पंक्तियाँ हैं, उनपर लताएँ लहलहाती रहती हैं । वृक्षोंके झुरमुटमें स्थान-

१. भवो भृगुः । २. रम् । ३. तत्वा० ।

मत्तभ्रमरसङ्गीतं मत्तकोकिलकूजितम् ।
मत्तबर्हिनटाटोपं मत्तद्विजकुलाकुलम् ॥१९॥

वायुः प्रविष्ट आदाय हिमनिर्झरशीकरान् ।
सुमनोभिः परिष्वक्तो ववावुत्तम्भयन् स्मरम् ॥२०॥

उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्रः प्रवालस्तबकालिभिः ।
गोपद्रुमलताजालैस्तत्रासीत् कुसुमाकरः॥२१॥

अन्वीयमानो गन्धर्वैर्गीतवादित्रयूथकैः ।
अदृश्यतात्तचापेषुः स्वःस्त्रीयूथपतिः स्मरः ॥२२॥

हुत्वाग्निं समुपासीनं ददृशुः शक्रकिङ्कराः ।
मीलिताक्षं दुराधर्षं मूर्तिमन्तमिवानलम् ॥२३॥

ननृतुस्तस्य पुरतः स्त्रियोऽथो गायका जगुः ।
मृदङ्गवीणापणवैर्वाद्यं चक्रुर्मनोरमम् ॥२४॥

१. त्सुषमा० । २. तमुपा० ।

स्थानपर पुण्यात्मा ऋषिगण निवास करते हैं और बड़े ही पवित्र एवं निर्मल जलसे भरे जलाशय सब ऋतुओंमें एक-से ही रहते हैं ॥ १८ ॥ कहीं मतवाले भौंरे अपनी सङ्गीतमयी गुंजारसे लोगोंका मन आकर्षित करते रहते हैं तो कहीं मतवाले कोकिल पञ्चम स्वरमें 'कुहू-कुहू' कूकते रहते हैं; कहीं मतवाले मोर अपने पंख फैलाकर कलापूर्ण नृत्य करते रहते हैं तो कहीं अन्य मतवाले पक्षियोंका झुंड खेलता रहता है ॥ १९ ॥ मार्कण्डेय मुनिके ऐसे पवित्र आश्रममें इन्द्रके भेजे हुए वायुने प्रवेश किया । वहाँ उसने पहले शीतल झरनोंकी नन्ही-नन्ही फुहियाँ संग्रह कीं । इसके बाद सुगन्धित पुष्पोंका आलिङ्गन किया और फिर कामभावको उत्तेजित करते हुए धीरे-धीरे बहने लगा ॥ २० ॥ कामदेवके प्यारे सखा वसन्तने भी अपनी माया फैलायी । सन्ध्याका समय था । चन्द्रमा उदित हो अपनी मनोहर किरणोंका विस्तार कर रहे थे । सहस्र-सहस्र डालियोंवाले वृक्ष लताओंका आलिङ्गन पाकर धरतीतक झुके हुए थे । नयी-नयी कोंपलों, फलों और फूलोंके गुच्छे अलग ही शोभायमान हो रहे थे ॥ २१ ॥ वसन्तका साम्राज्य देखकर कामदेवने भी वहाँ प्रवेश किया । उसके साथ गाने-बजानेवाले गन्धर्व झुंड-के-झुंड चल रहे थे । उसके चारों ओर बहुत-सी स्वर्गीय अप्सराएँ चल रही थीं और अकेला काम ही सबका नायक था । उसके हाथमें पुष्पोंका धनुष और उसपर सम्मोहन आदि बाण चढ़े हुए थे ॥ २२ ॥

उस समय मार्कण्डेय मुनि अग्निहोत्र करके भगवान्‌की उपासना कर रहे थे । उनके नेत्र बंद थे । वे इतने तेजस्वी थे, मानो स्वयं अग्निदेव ही मूर्तिमान् होकर बैठे हों । उनको देखनेसे ही मालूम हो जाता था कि इनको पराजित कर सकना बहुत ही कठिन है । इन्द्रके आज्ञाकारी सेवकोंने मार्कण्डेय मुनिको इसी अवस्थामें देखा ॥ २३ ॥ अब अप्सराएँ उनके सामने नाचने लगीं । कुछ गन्धर्व मधुर गान करने लगे तो कुछ मृदङ्ग, वीणा, ढोल आदि बाजे बड़े मनोहर स्वरमें बजाने

सन्दधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पञ्चमुखं तदा ।
मधुर्मनो रजस्तोक इन्द्रभृत्या व्यकम्पयन् ॥ २५॥
क्रीडन्त्याः पुञ्जिकस्थल्याः कन्दुकैः स्तनगौरवात् ।
भृशमुद्विग्नमध्यायाः केशविस्रंसितस्रजः ॥२६॥
इतस्ततोभ्रमद्दृष्टेश्चलन्त्या अनुकन्दुकम् ।
वायुर्जहार तद्वासः सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम् ॥२७॥
विससर्ज तदा बाणं मत्वा तं स्वजितं स्मरः ।
सर्वं तत्राभवन्मोघमनीशस्य यथोद्यमः ॥२८॥
त इत्थमपकुर्वन्तो मुनेस्तत्तेजसा मुने ।
दह्यमाना निववृतुः प्रबोध्याहिमिवार्भकाः ॥२९॥
इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महामुनिः ।
यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि ॥३०॥
दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान् स्वराट् ।
श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात् परम् ॥३१॥

लगे ॥ २४ ॥ शौनकजी ! अब कामदेवने अपने पुष्प-निर्मित धनुषपर पञ्चमुख बाण चढ़ाया । उसके बाणके पाँच मुख हैं—शोषण, दीपन, सम्मोहन, तापन और उन्मादन । जिस समय वह निशाना लगानेकी ताकमें था, उस समय इन्द्रके सेवक वसन्त और लोभ मार्कण्डेय मुनिका मन विचलित करनेके लिये प्रयत्नशील थे ॥ २५ ॥ उनके सामने ही पुञ्जिकस्थली नामकी सुन्दरी अप्सरा गेंद खेल रही थी । स्तनोंके भारसे बार-बार उसकी कमर लचक जाया करती थी । साथ ही उसकी चोटियोंमें गुँथे हुए सुन्दर-सुन्दर पुष्प और मालाएँ बिखरकर धरतीपर गिरती जा रही थीं ॥ २६ ॥ कभी-कभी वह तिरछी चितवनसे इधर-उधर देख लिया करती थी । उसके नेत्र कभी गेंदके साथ आकाशकी ओर जाते, कभी धरतीकी ओर और कभी हथेलियोंकी ओर वह बड़े हाव-भावके साथ गेंदकी ओर दौड़ती थी । उसी समय उसकी करधनी टूट गयी और वायुने उसकी झीनी-सी साड़ीको शरीरसे अलग कर दिया ॥२७॥ कामदेवने अपना उपयुक्त अवसर देखकर और यह समझकर कि अब मार्कण्डेय मुनिको मैंने जीत लिया, उनके ऊपर अपना बाण छोड़ा । परन्तु उसकी एक न चली । मार्कण्डेय मुनिपर उसका सारा उद्योग निष्फल हो गया—ठीक वैसे ही, जैसे असमर्थ और अभागे पुरुषोंके प्रयत्न विफल हो जाते हैं ॥२८॥ शौनकजी ! मार्कण्डेय मुनि अपरिमित तेजस्वी थे । काम, वसन्त आदि आये तो थे इसलिये कि उन्हें तपस्यासे भ्रष्ट कर दें; परन्तु अब उनके तेजसे जलने लगे और ठीक उसी प्रकार भाग गये, जैसे छोटे-छोटे बच्चे सोते हुए साँपको जगाकर भाग जाते हैं ॥ २९ ॥ शौनकजी ! इन्द्रके सेवकोंने इस प्रकार मार्कण्डेयजीको पराजित करना चाहा, परन्तु वे रत्तीभर भी विचलित न हुए । इतना ही नहीं, उनके मनमें इस बातको लेकर तनिक भी अहङ्कारका भाव न हुआ । सच है, महापुरुषोंके लिये यह कौन-सी आश्चर्यकी बात है ॥ ३० ॥ जब देवराज इन्द्रने देखा कि कामदेव अपनी सेनाके साथ निस्तेज—हतप्रभ होकर लौटा है और सुना कि ब्रह्मर्षि मार्कण्डेयजी परम प्रभावशाली हैं, तब उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥ ३१ ॥

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
अनुग्रहायाविरासीन्नरनारायणो हरिः ॥३२॥
तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ
चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ ।
पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत्
कमण्डलुं दण्डमृजुं च वैणवम् ॥३३॥
पद्माक्षमालामुत जन्तुमार्जनं
वेदं च साक्षात्तप एव रूपिणौ ।
तपत्तडिद्वर्णपिशङ्गरोचिषा
प्रांशू दधानौ विबुधर्षभार्चितौ ॥३४॥
ते वै भगवतो रूपे नरनारायणावृषी ।
दृष्ट्वोत्थायादरेणोच्चैर्ननामाङ्गेन दण्डवत् ॥३५॥
स तत्सन्दर्शनानन्दनिर्वृतात्मेन्द्रियाशयः ।
हृष्टरोमाश्रुपूर्णाक्षो न सेहे तावुदीक्षितुम् ॥३६॥
उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व औत्सुक्यादाश्लिषन्निव ।
नमो नम इतीशानौ बभाषे गद्गदाक्षरैः ॥३७॥
तयोरासनमादाय पादयोरवनिज्य च ।
अर्हणेनानुलेपेन धूपमाल्यैरपूजयत् ॥३८॥

१. वीत्यो० । २. रम ।

शौनकजी ! मार्कण्डेय मुनि तपस्या, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा भगवान्में चित्त लगानेका प्रयत्न करते रहते थे। अब उनपर कृपा-प्रसादकी वर्षा करनेके लिये मुनिजन-नयन-मनोहारी नरोत्तम नर और भगवान् नारायण प्रकट हुए ॥ ३२ ॥ उन दोनोंमें एकका शरीर गौरवर्ण था और दूसरेका श्याम। दोनोंके ही नेत्र तुरंतके खिले हुए कमलके समान कोमल और विशाल थे। चार-चार भुजाएँ थीं। एक मृगचर्म पहने हुए थे, तो दूसरे वृक्षकी छाल। हाथोंमें कुश लिये हुए थे और गलेमें तीन-तीन सूतके यज्ञोपवीत शोभायमान थे। वे कमण्डलु और बाँसका सीधा दण्ड ग्रहण किये हुए थे ॥ ३३ ॥ कमलगट्टेकी माला और जीवोंको हटानेके लिये वस्त्रकी कूँची भी रक्खे हुए थे। ब्रह्मा, इन्द्र आदिके भी पूज्य भगवान् नर-नारायण कुछ ऊँचे कदके थे और वेद धारण किये हुए थे। उनके शरीरसे चमकती हुई बिजलीके समान पीले-पीले रंगकी कान्ति निकल रही थी। वे ऐसे मालूम होते थे, मानो स्वयं तप ही मूर्तिमान् हो गया हो ॥ ३४ ॥ जब मार्कण्डेय मुनिने देखा कि भगवान्के साक्षात् स्वरूप नर-नारायण ऋषि पधारे हैं, तब वे बड़े आदरभावसे उठकर खड़े हो गये और धरतीपर दण्डवत् लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ ३५ ॥ भगवान्के दिव्य दर्शनसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उनका रोम-रोम, उनकी सारी इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण शान्तिके समुद्रमें गोता खाने लगे। शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंमें आँसू उमड़ आये, जिनके कारण वे उन्हें भर आँख देख भी न सकते ॥ ३६ ॥ तदनन्तर वे हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए। उनका अङ्ग-अङ्ग भगवान्के सामने झुका जा रहा था। उनके हृदयमें उत्सुकता तो इतनी थी, मानो वे भगवान्का आलिङ्गन कर लेंगे। उनसे और कुछ तो बोला न गया, गद्गद वाणीसे केवल इतना ही कहा—'नमस्कार ! नमस्कार' ॥ ३७ ॥ इसके बाद उन्होंने दोनोंको आसनपर बैठाया, बड़े प्रेमसे उनके चरण पखारे और अर्घ्य, चन्दन, धूप और माला आदिसे उनकी पूजा

सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनी ।
पुनरानम्य पादाभ्यां गरिष्ठाविदमब्रवीत् ॥३९॥

करने लगे ॥ ३८ ॥ भगवान् नर-नारायण सुखपूर्वक आसनपर विराजमान थे और मार्कण्डेयजीपर कृपा-प्रसादकी वर्षा कर रहे थे । पूजाके अनन्तर मार्कण्डेय मुनिने उन सर्वश्रेष्ठ मुनिवेषधारी नर-नारायणके चरणोंमें प्रणाम किया और यह स्तुति की ॥ ३९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि ।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः ॥४०॥

मूर्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः
क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै ।
नाना बिभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं
सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः ॥४१॥

तस्यावितुः स्थिरचरेशितुरङ्घ्रिमूलं
यत्स्थं न कर्मगुणकालरुजः स्पृशन्ति ।
यद् वै स्तुवन्ति निनमन्ति यजन्त्यभीक्ष्णं
ध्यायन्ति वेदहृदया मुनयस्तदाप्त्यै ॥४२॥

नान्यं तवाङ्घ्र्युपनयादपवर्गमूर्तेः
क्षेमं जनस्य परितोभिय ईश विद्मः ।
ब्रह्मा बिभेत्यलमतो द्विपरार्धधिष्ण्यः
कालस्य ते किमुत तत्कृतभौतिकानाम् ॥४३॥

मार्कण्डेय मुनिने कहा—भगवन् ! मैं अल्पज्ञ जीव भला, आपकी अनन्त महिमाका कैसे वर्णन करूँ ! आपकी प्रेरणासे ही सम्पूर्ण प्राणियों—ब्रह्मा, शङ्कर तथा मेरे शरीरमें भी प्राणशक्तिका सञ्चार होता है और फिर उसीके कारण वाणी, मन तथा इन्द्रियोंमें भी बोलने, सोचने-विचारने और करने-जाननेकी शक्ति आती है । इस प्रकार सबके प्रेरक और परम स्वतन्त्र होनेपर भी आप अपना भजन करनेवाले भक्तोंके प्रेम-बन्धनमें बँधे हुए हैं ॥ ४० ॥ प्रभो ! आपने केवल विश्वकी रक्षाके लिये ही जैसे मत्स्य-कूर्म आदि अनेकों अवतार ग्रहण किये हैं, वैसे ही आपने ये दोनों रूप भी त्रिलोकीके कल्याण, उसकी दुःख-निवृत्ति और विश्वके प्राणियोंको मृत्युपर विजय प्राप्त करानेके लिये ग्रहण किया है । आप रक्षा तो करते ही हैं, मकड़ीके समान अपनेसे ही इस विश्वको प्रकट करते हैं और फिर स्वयं अपनेमें ही लीन भी कर लेते हैं ॥ ४१ ॥ आप चराचरका पालन और नियमन करनेवाले हैं । मैं आपके चरण-कमलोंमें प्रणाम करता हूँ । जो आपके चरणकमलोंकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उन्हें कर्म, गुण और कालजनित क्लेश स्पर्श भी नहीं कर सकते । वेदके मर्मज्ञ ऋषि-मुनि आपकी प्राप्तिके लिये निरन्तर आपका स्तवन, वन्दन, पूजन और ध्यान किया करते हैं ॥ ४२ ॥ प्रभो ! जीवके चारों ओर भय-ही-भयका बोलबाला है । औरोंकी तो बात ही क्या, आपके कालस्वरूपसे स्वयं ब्रह्मा भी अत्यन्त भयभीत रहते हैं; क्योंकि उनकी आयु भी सीमित—केवल दो परार्धकी है । फिर उनके बनाये हुए भौतिक शरीरवाले प्राणियोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है । ऐसी अवस्थामें आपके चरणकमलोंकी शरण ग्रहण करनेके अतिरिक्त और कोई भी परम कल्याण तथा सुख-शान्तिका उपाय हमारी समझमें नहीं आता; क्योंकि आप स्वयं ही मोक्षस्वरूप हैं ॥ ४३ ॥

तद्वै भजाम्यृतधियस्तव पादमूलं
हित्वेदमात्मच्छदि चात्मगुरोः परस्य ।
देहाद्यपार्थमसदन्त्यमभिज्ञमात्रं
विन्देत ते तर्हि सर्वमनीषितार्थम् ॥४४॥

सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो
मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य ।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै
नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम् ॥४५॥

तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां
शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजन्ति ।
यत् सात्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं
लोको यतोऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत् ॥४६॥

तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने
विश्वाय विश्वगुरवे परदेवतायै ।
नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय
हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय ॥४७॥

यं वै न वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः
सन्तं स्वखेष्वसुषु हृद्यपि दृक्पथेषु ।
तन्माययाऽऽवृतमतिः स उ एव साक्षा-
दाद्यस्तवाखिलगुरोरुपसाद्य वेदम् ॥४८॥

भगवन् ! आप समस्त जीवोंके परम गुरु, सबसे श्रेष्ठ और सत्य ज्ञानस्वरूप हैं। इसलिये आत्मस्वरूपको ढक देनेवाले देह-गेह आदि निष्फल, असत्य, नाशवान् और प्रतीतिमात्र पदार्थोंको त्याग कर मैं आपके चरणकमलोंकी ही शरण ग्रहण करता हूँ। कोई भी प्राणी यदि आपकी शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह उससे अपने सारे अभीष्ट पदार्थ प्राप्त कर लेता है ॥ ४४ ॥ जीवोंके परम सुहृद् प्रभो ! यद्यपि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण आपकी ही मूर्ति हैं—इन्हींके द्वारा आप जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि अनेकों मायामयी लीलाएँ करते हैं फिर भी आपकी सत्त्वगुणमयी मूर्ति ही जीवोंको शान्ति प्रदान करती है। रजोगुणी और तमोगुणी मूर्तियोंसे जीवोंको शान्ति नहीं मिल सकती। उनसे तो दुःख, मोह और भयकी वृद्धि ही होती है ॥ ४५ ॥ भगवन् ! इसलिये बुद्धिमान् पुरुष आपकी और आपके भक्तोंकी परम प्रिय एवं शुद्ध मूर्ति नर-नारायणकी ही उपासना करते हैं। पाञ्चरात्र-सिद्धान्तके अनुयायी विशुद्ध सत्त्वको ही आपका श्रीविग्रह मानते हैं। उसीकी उपासनासे आपके नित्य धाम वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है। उस धामकी यह विलक्षणता है कि वह लोक होनेपर भी सर्वथा भयरहित और भोगयुक्त होनेपर भी आत्मानन्दसे परिपूर्ण है। वे रजोगुण और तमोगुणको आपकी मूर्ति स्वीकार नहीं करते ॥४६॥ भगवन् ! आप अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप, जगद्गुरु, परमाराध्य और शुद्धस्वरूप हैं। समस्त लौकिक और वैदिक वाणी आपके अधीन है। आप ही वेदमार्गके प्रवर्तक हैं। मैं आपके इस युगल-स्वरूप नरोत्तम नर और ऋषिवर नारायणको नमस्कार करता हूँ ॥ ४७ ॥ आप यद्यपि प्रत्येक जीवकी इन्द्रियों तथा उनके विषयोंमें, प्राणोंमें तथा हृदयमें भी विद्यमान हैं तो भी आपकी मायासे जीवकी बुद्धि इतनी मोहित हो जाती है—ढक जाती है कि वह निष्फल और झूठी इन्द्रियोंके जालमें फँसकर आपकी झाँकीसे वञ्चित हो जाता है। किन्तु सारे जगत्‌के गुरु तो आप ही हैं। इसलिये पहले अज्ञानी होनेपर भी जब आपकी कृपासे उसे आपके ज्ञान-भण्डार वेदोंकी प्राप्ति होती है, तब वह आपके साक्षात् दर्शन कर लेता है ॥ ४८ ॥

१. सुखेष्व० । २. दन्यस्तवा० । ३. पा० ।

यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं
मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः।
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं
वन्दे महापुरुषमात्मनि गूढबोधम्॥४९॥

प्रभो! वेदमें आपका साक्षात्कार करानेवाला वह ज्ञान पूर्णरूपसे विद्यमान है, जो आपके स्वरूपका रहस्य प्रकट करता है। ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े प्रतिभाशाली मनीषी उसे प्राप्त करनेका यत्न करते रहनेपर भी मोहमें पड़ जाते हैं। आप भी ऐसे लीलाविहारी हैं कि विभिन्न मतवाले आपके सम्बन्धमें जैसा सोचते विचारते हैं, वैसा ही शील-स्वभाव और रूप ग्रहण करके आप उनके सामने प्रकट हो जाते हैं। वास्तवमें आप देह आदि समस्त उपाधियोंमें छिपे हुए विशुद्ध विज्ञानघन ही हैं। हे पुरुषोत्तम! मैं आपकी वन्दना करता हूँ॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीका माया-दर्शन

सूत उवाच

संस्तुतो भगवानित्थं मार्कण्डेयेन धीमता।
नारायणो नरसखः प्रीत आह भृगूद्वहम्॥ १॥

श्रीसूतजी कहते हैं—जब ज्ञानसम्पन्न मार्कण्डेय मुनिने इस प्रकार स्तुति की, तब भगवान् नर-नारायणने प्रसन्न होकर मार्कण्डेयजीसे कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

भो भो ब्रह्मर्षिवर्योसि सिद्ध आत्मसमाधिना।
मयि भक्त्यानपायिन्या तपःस्वाध्यायसंयमैः॥ २॥
वयं ते परितुष्टाः स्म त्वद्बृहद्व्रतचर्यया।
वरं प्रतीच्छ भद्रं ते वरदेशादभीप्सितम्॥ ३॥

भगवान् नारायणने कहा—सम्मान्य ब्रह्मर्षिशिरोमणि! तुम चित्तकी एकाग्रता, तपस्या, स्वाध्याय, संयम और मेरी अनन्य भक्तिसे सिद्ध हो गये हो॥ २॥ तुम्हारे इस आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतकी निष्ठा देखकर हम तुमपर बहुत ही प्रसन्न हुए हैं। तुम्हारा कल्याण हो! मैं समस्त वर-देनेवालोंका स्वामी हूँ। इसलिये तुम अपना अभीष्ट वर मुझसे माँग लो॥ ३॥

ऋषिरुवाच

जितं ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराच्युत।
वरेणैतावतालं नो यद् भवान् समदृश्यत॥ ४॥
गृहीत्वाजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम्।
मनसा योगपक्वेन स भवान् मेऽक्षगोचरः॥ ५॥

मार्कण्डेय मुनिने कहा—देवदेवेश! शरणागत-भयहारी अच्युत! आपकी जय हो! जय हो! हमारे लिये बस इतना ही वर पर्याप्त है कि आपने कृपा करके अपने मनोहर स्वरूपका दर्शन कराया॥ ४॥ ब्रह्मा-शङ्कर आदि देवगण योग-साधनाके द्वारा एकाग्र हुए मनसे ही आपके परम सुन्दर श्रीचरणकमलोंका दर्शन प्राप्त करके कृतार्थ हो गये हैं। आज उन्हीं आपने मेरे नेत्रोंके सामने प्रकट होकर मुझे धन्य बनाया है॥५॥

१. जप०। २. वरदोऽसि त्वदीप्सितम्। ३. युक्तेन।

अथाप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे ।

द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदाम्॥ ६ ॥

पवित्रकीर्ति महानुभावोंके शिरोमणि कमलनयन ! फिर भी आपकी आज्ञाके अनुसार मैं आपसे वर माँगता हूँ। मैं आपकी वह माया देखना चाहता हूँ, जिससे मोहित होकर सभी लोक और लोकपाल अद्वितीय वस्तु ब्रह्ममें अनेकों प्रकारके भेद-विभेद देखने लगते हैं ॥ ६ ॥

सूत उवाच

इतीडितोऽर्चितः काममृषिणा भगवान् मुने ।

तथेति स स्मयन् प्रागाद् बदर्याश्रममीश्वरः ॥ ७ ॥

तमेव चिन्तयन्नर्थमृषिः स्वाश्रम एव सः ।

वसन्नग्न्यर्कसोमाम्बुभूवायुवियदात्मसु ॥ ८ ॥

ध्यायन् सर्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत् ।

क्वचित् पूजां विसस्मार प्रेमप्रसरसम्प्लुतः ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! जब इस प्रकार मार्कण्डेय मुनिने भगवान् नर-नारायणकी इच्छानुसार स्तुति-पूजा कर ली एवं वरदान माँग लिया, तब उन्होंने मुसकराते हुए कहा—'ठीक है, ऐसा ही होगा ।' इसके बाद वे अपने आश्रम बदरीवनको चले गये ॥७॥ मार्कण्डेय मुनि अपने आश्रमपर ही रहकर निरन्तर इस बातका चिन्तन करते रहते कि मुझे मायाके दर्शन कब होंगे। वे अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, पृथ्वी, वायु, आकाश एवं अन्तःकरणमें—और तो क्या, सर्वत्र भगवान्‌का ही दर्शन करते हुए मानसिक वस्तुओंसे उनका पूजन करते रहते। कभी-कभी तो उनके हृदयमें प्रेमकी ऐसी बाढ़ आ जाती कि वे उसके प्रवाहमें डूबने-उतराने लगते, उन्हें इस बातकी भी याद न रहती कि कब कहाँ किस प्रकार भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये ? ॥ ८-९ ॥

तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ पुष्पभद्रातटे मुनेः ।

उपासीनस्य सन्ध्यायां ब्रह्मन् वायुरभून्महान्॥१०॥

तं चण्डशब्दं समुदीरयन्तं
बलाहका अन्वभवन् करालाः ।
अक्षस्थविष्ठा मुमुचुस्तडिद्भिः
स्वनन्त उच्चैरभि वर्षधाराः ॥११॥

ततो व्यदृश्यन्त चतुःसमुद्राः
समन्ततः क्ष्मातलमाग्रसन्तः ।
समीरवेगोर्मिभिरुग्रनक्र-
महाभयावर्तगभीरघोषाः ॥१२॥

अन्तर्बहिश्चाद्भिरतिद्युभिः खरैः
शतह्रदाभीरुपतापितं जगत् ।

शौनकजी ! एक दिनकी बात है, सन्ध्याके समय पुष्पभद्रा नदीके तटपर मार्कण्डेय मुनि भगवान्‌की उपासनामें तन्मय हो रहे थे। ब्रह्मन् ! उसी समय एकाएक बड़े जोरकी आँधी चलने लगी ॥ १० ॥ उस समय आँधीके कारण बड़ी भयङ्कर आवाज होने लगी और बड़े विकराल बादल आकाशमें मँडराने लगे। बिजली चमक-चमककर कड़कने लगी और रथके धुरेके समान जलकी मोटी-मोटी धाराएँ पृथ्वीपर गिरने लगीं ॥११॥ यही नहीं, मार्कण्डेय मुनिको ऐसा दिखायी पड़ा कि चारों ओरसे चारों समुद्र समूची पृथ्वीको निगलते हुए उमड़े आ रहे हैं। आँधीके वेगसे समुद्रमें बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं, बड़े भयङ्कर भँवर पड़ रहे हैं और भयङ्कर ध्वनि कान फाड़े डालती है। स्थान-स्थानपर बड़े-बड़े मगर उछल रहे हैं ॥ १२ ॥ उस समय बाहर-भीतर, चारों ओर जल-ही-जल दीखता था। ऐसा जान पड़ता था कि उस जलराशिमें पृथ्वी ही नहीं, स्वर्ग भी डूबा जा रहा है; ऊपरसे बड़े वेगसे आँधी चल रही है और बिजली चमक रही है,

१. भक्ति० । २. मुनि० । ३. रविद्यु० ।

चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनि-
जर्लाप्लुतां[1] क्ष्मां विमनाः समत्रसत् ॥ १३ ॥
तस्यैवमुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणः
प्रभञ्जनाघूर्णितवार्महार्णवः ।
आपूर्यमाणो वर्षद्भिरम्बुदैः[2]
क्ष्मामप्यधाद्द्वीपवर्षाद्रिभिः समम् ॥ १४ ॥
सक्ष्मान्तरिक्षं सदिवं सभागणं
त्रैलोक्यमासीत् सह दिग्भिराप्लुतम् ।
स एक एवोर्वरितो[3] महामुनि-
र्बभ्राम विक्षिप्य जटा जडान्धवत् ॥ १५ ॥
क्षुत्तृट्परीतो[4] मकरैस्तिमिङ्गिलै-
रुपद्रुतो[6] वीचिनभस्वता हतः ।
तमस्यपारे पतितो भ्रमन् दिशो
न वेद खं गां च परिश्रमेषितः ॥ १६ ॥
क्वचिद् गतो महावर्ते[5] तरलैस्ताडितः क्वचित् ।
यादोभिर्भक्ष्यते क्वापि स्वयमन्योन्यघातिभिः ॥ १७ ॥
क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहं क्वचिद् दुःखं सुखं भयम् ।
क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति व्याध्यादिभिरुतार्दितः ॥ १८ ॥
अयुतायुतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च ।
व्यतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन्[7] विष्णुमायावृतात्मनः ॥ १९ ॥

जिससे सम्पूर्ण जगत् संतप्त हो रहा है। जब मार्कण्डेय मुनिने देखा कि इस जल-प्रलयसे सारी पृथ्वी डूब गयी है, उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—चारों प्रकारके प्राणी तथा स्वयं वे भी अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं, तब वे उदास हो गये और साथ ही अत्यन्त भयभीत भी ॥ १३ ॥ उनके सामने ही प्रलयसमुद्रमें भयङ्कर लहरें उठ रही थीं, आँधीके वेगसे जलराशि उछल रही थी और प्रलयकालीन बादल बरस-बरसकर समुद्रको और भी भरते जा रहे थे। उन्होंने देखा कि समुद्रने द्वीप, वर्ष और पर्वतोंके साथ सारी पृथ्वीको डुबा दिया ॥ १४ ॥ पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, ज्योतिर्मण्डल (ग्रह, नक्षत्र एवं तारोंका समूह) और दिशाओंके साथ तीनों लोक जलमें डूब गये। बस, उस समय एकमात्र महामुनि मार्कण्डेय ही बच रहे थे। उस समय वे पागल और अंधेके समान जटा फैलाकर यहाँसे वहाँ और वहाँसे यहाँ भाग-भागकर अपने प्राण बचानेकी चेष्टा कर रहे थे ॥ १५ ॥ वे भूख-प्याससे व्याकुल हो रहे थे। किसी ओर बड़े-बड़े मगर तो किसी ओर बड़े-बड़े तिमिङ्गिल मच्छ उनपर टूट पड़ते। किसी ओरसे हवाका झोंका आता, तो किसी ओरसे लहरोंके थपेड़े उन्हें घायल कर देते। इस प्रकार इधर-उधर भटकते-भटकते वे अपार अज्ञानान्धकारमें पड़ गये—बेहोश हो गये और इतने थक गये कि उन्हें पृथ्वी और आकाशका भी ज्ञान न रहा ॥ १६ ॥ वे कभी बड़े भारी भँवरमें पड़ जाते, कभी तरल तरङ्गोंकी चोटसे चञ्चल हो उठते। जब कभी जलजन्तु आपसमें एक दूसरेपर आक्रमण करते, तब ये अचानक ही उनके शिकार बन जाते ॥ १७ ॥ कहीं शोकग्रस्त हो जाते, तो कहीं मोहग्रस्त। कभी दुःख-ही-दुःखके निमित्त आते, तो कभी तनिक सुख भी मिल जाता। कभी भयभीत होते, कभी मर जाते, तो कभी तरह-तरहके रोग उन्हें सताने लगते ॥ १८ ॥ इस प्रकार मार्कण्डेय मुनि विष्णुभगवान्‌की मायाके चक्करमें मोहित हो रहे थे। उस प्रलयकालके समुद्रमें भटकते-भटकते उन्हें सैकड़ों-हजारों ही नहीं, लाखों-करोड़ों वर्ष बीत गये ॥ १९ ॥

१. जैलप्लु० । २. वर्षद्भि० । ३. वोद्गरि० । ४. परितो । ५. क्वचिन्मायामहावर्ते । ६. रुपद्रुतः । ७. अतीयु० ।

स कदाचिद् भ्रमंस्तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि द्विजः ।
न्यग्रोधपोतं ददृशे फलपल्लवशोभितम् ॥२०॥
प्रागुत्तरस्यां शाखायां तस्यापि ददृशे शिशुम् ।
शयानं पर्णपुटके ग्रसन्तं प्रभया तमः ॥२१॥
महामरकतश्यामं श्रीमद्वदनपङ्कजम् ।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं सुनासं सुन्दरभ्रुवम् ॥२२॥
श्वासैजदलकाभातं कम्बुश्रीकर्णदाडिमम् ।
विद्रुमाधरभासेषच्छोणायितसुधास्मितम् ॥२३॥
पद्मगर्भारुणापाङ्गं हृद्यहासावलोकनम् ।
श्वासैजद्वलिसंविग्ननिम्ननाभिदलोदरम् ॥२४॥
चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम् ।
मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः ॥२५॥

शौनकजी ! मार्कण्डेय मुनि इसी प्रकार प्रलयके जलमें बहुत समयतक भटकते रहे । एक बार उन्होंने पृथ्वीके एक टीलेपर एक छोटा-सा बरगदका पेड़ देखा । उसमें हरे-हरे पत्ते और लाल-लाल फल शोभायमान हो रहे थे ॥२०॥ बरगदके पेड़में ईशानकोणपर एक डाल थी, उसमें एक पत्तोंका दोना-सा बन गया था । उसीपर एक बड़ा सुन्दर नन्हा-सा शिशु लेट रहा था । उसके शरीरसे ऐसी उज्ज्वल छटा छिटक रही थी, जिससे आस-पासका अँधेरा दूर हो रहा था ॥ २१ ॥ वह शिशु मरकतमणिके समान साँवला-साँवला था । मुखकमलपर सारा सौन्दर्य फूटा पड़ता था । गरदन शङ्खके समान उतार-चढ़ाववाली थी । छाती चौड़ी थी । तोतेकी चोंचके समान सुन्दर नासिका और भौंहें बड़ी मनोहर थीं ॥२२॥ काली-काली घुँघराली अलकें कपोलोंपर लटक रही थीं और श्वास लगनेसे कभी-कभी हिल भी जाती थीं । शङ्खके समान घुमावदार कानोंमें अनारके लाल-लाल फूल शोभायमान हो रहे थे । मूँगेके समान लाल-लाल होठोंकी कान्तिसे उनकी सुधामयी श्वेत मुसकान कुछ लालिमा-मिश्रित हो गयी थी ॥ २३ ॥ नेत्रोंके कोने कमलके भीतरी भागके समान तनिक लाल-लाल थे । मुसकान और चितवन बरबस हृदयको पकड़ लेती थी । बड़ी गम्भीर नाभि थी । छोटी-सी तोंद पीपलके पत्तेके समान जान पड़ती और श्वास लेनेके समय उसपर पड़ी हुई बलें तथा नाभि भी हिल जाया करती थी ॥ २४ ॥ नन्हे-नन्हे हाथोंमें बड़ी सुन्दर-सुन्दर अँगुलियाँ थीं । वह शिशु अपने दोनों करकमलोंसे एक चरणकमलको मुखमें डालकर चूस रहा था । मार्कण्डेय मुनि यह दिव्य दृश्य देखकर अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ २५ ॥

तद्दर्शनाद् वीतपरिश्रमो मुदा
प्रोत्फुल्लहृत्पद्मविलोचनाम्बुजः ।
प्रहृष्टरोमाद्भुतभावशङ्कितः
प्रष्टुं पुरस्तं प्रससार बालकम् ॥२६॥

शौनकजी ! उस दिव्य शिशुको देखते ही मार्कण्डेय मुनिकी सारी थकावट जाती रही । आनन्दसे उनके हृदय-कमल और नेत्रकमल खिल गये । शरीर पुलकित हो गया । उस नन्हे-से शिशुके इस अद्भुत भावको देखकर उनके मनमें तरह तरहकी शङ्काएँ—'यह कौन है' इत्यादि—आने लगीं और वे उस शिशुसे ये बातें पूछनेके लिये उसके सामने सरक गये ॥ २६ ॥

१. श्वासोर्जद्वलि० । २. विधाय । ३. पुनस्तम् ।

तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः
सोऽन्तःशरीरं मशको यथाविशत् ।
तत्राप्यदो न्यस्तमचष्ट कृत्स्नशो
यथा पुरामुह्यदतीव विस्मितः ॥२७॥
खं रोदसी भगणानद्रिसागरान्
द्वीपान् सवर्षान् ककुभः सुरासुरान् ।
वनानि देशान् सरितः पुराकरान्
खेटान् व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः ॥२८॥
महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ
कालं च नानायुगकल्पकल्पनम् ।
यत् किञ्चिदन्यद् व्यवहारकारणं
ददर्श विश्वं सदिवावभासितम् ॥२९॥
हिमालयं पुष्पवहां च तां नदीं
निजाश्रमं तत्र ऋषीनपश्यत् ।
विश्वं विपश्यञ्छ्वसिताच्छिशोर्वै
बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ ॥३०॥
तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं
वटं च तत्पर्णपुटे शयानम् ।
तोकं च तत्प्रेमसुधास्मितेन
निरीक्षितोऽपाङ्गनिरीक्षणेन ॥३१॥
अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां धिष्ठितं हृदि ।
अभ्ययादतिसंक्लिष्टः परिष्वक्तुमधोक्षजम् ॥३२॥
तावत् स भगवान् साक्षाद् योगाधीशो गुहाशयः ।

अभी मार्कण्डेयजी पहुँच भी न पाये थे कि उस शिशुके श्वासके साथ उसके शरीरके भीतर उसी प्रकार घुस गये, जैसे कोई मच्छर किसीके पेटमें चला जाय। उस शिशुके पेटमें जाकर उन्होंने सब-की-सब वही सृष्टि देखी, जैसी प्रलयके पहले उन्होंने देखी थी। वे वह सब विचित्र दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हो गये। वे मोहवश कुछ सोच-विचार भी न सके ॥ २७ ॥ उन्होंने उस शिशुके उदरमें आकाश, अन्तरिक्ष, ज्योतिर्मण्डल, पर्वत, समुद्र, द्वीप, वर्ष, दिशाएँ, देवता, दैत्य, वन, देश, नदियाँ, नगर, खानें, किसानोंके गाँव, अहीरोंकी बस्तियाँ, आश्रम, वर्ण, उनके आचार-व्यवहार, पञ्चमहाभूत, भूतोंसे बने हुए प्राणियोंके शरीर तथा पदार्थ, अनेक युग और कल्पोंके भेदसे युक्त काल आदि सब कुछ देखा। केवल इतना ही नहीं; जिन देशों, वस्तुओं और कालोंके द्वारा जगत्‌का व्यवहार सम्पन्न होता है, वह सब कुछ वहाँ विद्यमान था। कहाँतक कहें, यह सम्पूर्ण विश्व न होनेपर भी वहाँ सत्यके समान प्रतीत होते देखा ॥ २८-२९ ॥ हिमालय पर्वत, वही पुष्पभद्रा नदी, उसके तटपर अपना आश्रम और वहाँ रहनेवाले ऋषियोंको भी मार्कण्डेयजीने प्रत्यक्ष ही देखा। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वको देखते-देखते ही वे उस दिव्य शिशुके श्वासके द्वारा ही बाहर आ गये और फिर प्रलयकालीन समुद्रमें गिर पड़े ॥ ३० ॥ अब फिर उन्होंने देखा कि समुद्रके बीचमें पृथ्वीके टीलेपर वही बरगदका पेड़ ज्यों-का-त्यों विद्यमान है और उसके पत्तेके दोनेमें वही शिशु सोया हुआ है। उसके अधरोंपर प्रेमामृतसे परिपूर्ण मन्द-मन्द मुसकान है और अपनी प्रेमपूर्ण चितवनसे वह मार्कण्डेयजीकी ओर देख रहा है ॥३१॥ अब मार्कण्डेय मुनि इन्द्रियातीत भगवान्‌को जो शिशुके रूपमें क्रीडा कर रहे थे और नेत्रोंके मार्गसे पहले ही हृदयमें विराजमान हो चुके थे, आलिङ्गन करनेके लिये बड़े श्रम और कठिनाईसे आगे बढ़े ॥ ३२ ॥ परन्तु शौनकजी! भगवान् केवल योगियोंके ही नहीं, स्वयं योगके भी स्वामी और सबके हृदयमें छिपे रहनेवाले हैं। अभी मार्कण्डेय मुनि उनके पास पहुँच भी न पाये थे कि वे

१. कानि कालन्। २. यत्र। ३. तद्भवाब्धौ। ४. हृदि धिष्ठितम्।

अन्तर्दधॄ ऋषे सद्यो यथेहानीशनिर्मिता ॥३३॥
तमन्वथ वटो ब्रह्मन् सलिलं लोकसम्प्लवः ।
तिरोधायि क्षणादस्य स्वाश्रमे पूर्ववत् स्थितः ॥३४॥

तुरंत अन्तर्धान हो गये—ठीक वैसे ही, जैसे अभागे और असमर्थ पुरुषोंके परिश्रमका पता नहीं चलता कि वह फल दिये बिना ही क्या हो गया ? ॥ ३३ ॥ शौनकजी ! उस शिशुके अन्तर्धान होते ही वह बरगदका वृक्ष तथा प्रलयकालीन दृश्य एवं जल भी तत्काल लीन हो गया और मार्कण्डेय मुनिने देखा कि मैं तो पहलेके समान ही अपने आश्रममें बैठा हुआ हूँ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे माया-दर्शनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीको भगवान् शङ्करका वरदान

सूत उवाच

स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम् ।
वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ ॥ १ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो ! मार्कण्डेय मुनिने इस प्रकार नारायण-निर्मित योगमाया-वैभवका अनुभव किया । अब यह निश्चय करके कि इस मायासे मुक्त होनेके लिये मायापति भगवान्‌की शरण ही एकमात्र उपाय है, उन्हींकी शरणमें स्थित हो गये ॥ १ ॥

मार्कण्डेय[3] उवाच

प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलं ते प्रपन्नाभयदं हरे ।
यन्माययापि विबुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाशया ॥ २ ॥

मार्कण्डेयजीने मन-ही-मन कहा—प्रभो ! आपकी माया वास्तवमें प्रतीतिमात्र होनेपर भी सत्य ज्ञानके समान प्रकाशित होती है और बड़े-बड़े विद्वान् भी उसके खेलोंमें मोहित हो जाते हैं । आपके श्रीचरणकमल ही शरणागतोंको सब प्रकारसे अभयदान करते हैं । इसलिये मैंने उन्हींकी शरण ग्रहण की है ॥ २ ॥

सूत उवाच

तमेवं निभृतात्मानं वृषेण दिवि पर्यटन् ।
रुद्राण्या भगवान् रुद्रो ददर्श स्वगणैर्वृतः ॥ ३ ॥
अथोमा तमृषिं वीक्ष्य गिरिशं समभाषत ।
पश्येमं भगवन् विप्रं निभृतात्मेन्द्रियाशयम् ॥ ४ ॥

सूतजी कहते हैं—मार्कण्डेयजी इस प्रकार शरणागतिकी भावनामें तन्मय हो रहे थे । उसी समय भगवान् शङ्कर भगवती पार्वतीजीके साथ नन्दीपर सवार होकर आकाशमार्गसे विचरण करते हुए उधर आ निकले और मार्कण्डेयजीको उसी अवस्थामें देखा । उनके साथ बहुत-से गण भी थे ॥ ३ ॥ जब भगवती पार्वतीने मार्कण्डेय मुनिको ध्यानकी अवस्थामें देखा, तब उनका हृदय वात्सल्य-स्नेहसे उमड़ आया । उन्होंने शङ्करजीसे कहा—'भगवन् ! तनिक इस ब्राह्मणकी ओर तो देखिये । जैसे तूफान शान्त हो जानेपर समुद्रकी लहरें और मछलियाँ

१. धे च सद्योऽसौ यथे० । २. मार्कण्डेयोपाख्याने नव० । ३. ऋषिरुवाच । ४. कालकाश० । ५. तमित्थम् ।

निभृतोदझषव्रातं वातापाये यथार्णवम् ।
कुर्वस्य तपसः साक्षात् संसिद्धिं सिद्धिदो भवान्॥ ५॥

शान्त हो जाती हैं और समुद्र धीर-गम्भीर हो जाता है, वैसे ही इस ब्राह्मणका शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण शान्त हो रहा है । समस्त सिद्धियोंके दाता आप ही हैं। इसलिये कृपा करके आप इस ब्राह्मणकी तपस्याका प्रत्यक्ष फल दीजिये' ॥ ४-५ ॥

श्रीभगवानुवाच

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥ ६ ॥
अथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना ।
अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥७॥

भगवान् शङ्करने कहा—देवि ! ये ब्रह्मर्षि लोक अथवा परलोककी कोई भी वस्तु नहीं चाहते। और तो क्या, इनके मनमें कभी मोक्षकी भी आकाङ्क्षा नहीं होती। इसका कारण यह है कि घट-घटवासी अविनाशी भगवान्‌के चरणकमलोंमें इन्हें परम भक्ति प्राप्त हो चुकी है ॥ ६ ॥ प्रिये ! यद्यपि इन्हें हमारी कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी मैं इनके साथ बातचीत करूँगा; क्योंकि ये महात्मा पुरुष हैं । जीवमात्रके लिये सबसे बड़े लाभकी बात यही है कि संत पुरुषोंका समागम प्राप्त हो ॥७॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा तमुपेयाय भगवान् स सतां गतिः ।
ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम् ॥ ८ ॥
तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः ।
न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च ॥ ९ ॥
भगवांस्तदभिज्ञाय गिरिशो योगमायया ।
आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः ॥१०॥
आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तडित्पिङ्गजटाधरम् ।
त्र्यक्षं दशभुजं[1] प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम् ॥११॥

सूतजी कहते हैं—शौनकजी ! भगवान् शङ्कर समस्त विद्याओंके प्रवर्तक और सारे प्राणियोंके हृदयमें विराजमान अन्तर्यामी प्रभु हैं। जगत्‌के जितने भी संत हैं, उनके एकमात्र आश्रय और आदर्श भी वही हैं । भगवती पार्वतीसे इस प्रकार कहकर भगवान् शङ्कर मार्कण्डेय मुनिके पास गये ॥ ८ ॥ उस समय मार्कण्डेय मुनिकी समस्त मनोवृत्तियाँ भगवद्भावमें तन्मय थीं । उन्हें अपने शरीर और जगत्‌का बिल्कुल पता न था । इसलिये उस समय वे यह भी न जान सके कि मेरे सामने सारे विश्वके आत्मा स्वयं भगवान् गौरी-शङ्कर पधारे हुए हैं ॥ ९ ॥ शौनकजी ! सर्वशक्तिमान् भगवान् कैलास-पतिसे यह बात छिपी न रही कि मार्कण्डेय मुनि इस समय किस अवस्थामें हैं । इसलिये जैसे वायु अवकाशके स्थानमें अनायास ही प्रवेश कर जाती है; वैसे ही वे अपनी योगमायासे मार्कण्डेय मुनिके हृदयाकाशमें प्रवेश कर गये ॥ १० ॥ मार्कण्डेय मुनिने देखा कि उनके हृदयमें तो भगवान् शङ्करके दर्शन हो रहे हैं । शङ्करजी-के शिरपर बिजलीके समान चमकीली पीली-पीली जटाएँ शोभायमान हो रही हैं । तीन नेत्र हैं और दस भुजाएँ । लंबा-तगड़ा शरीर उदयकालीन सूर्यके

१. त्र्यक्षमष्टभुजम् ।

व्याघ्रचर्माम्बरधरं शूलखट्वाङ्गचर्मभिः ।
अक्षमालाडमरुककपालासिधनुः सह ॥१२॥

बिभ्राणं सहसा भातं विचक्ष्य हृदि विस्मितः ।
किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः ॥१३॥

नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयाऽऽगतम् ।
रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं ननाम शिरसा मुनिः ॥१४॥

तस्मै सपर्यां व्यदधात् सगणाय सहोमया ।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यगन्धस्रग्धूपदीपकैः ॥१५॥

आह चात्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो ।
करवाम किमीशान येनेदं निर्वृतं जगत् ॥१६॥

नमः शिवाय शान्ताय सत्त्वाय प्रमृडाय च ।
रजोजुषेऽप्यघोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे ॥१७॥

सूत उवाच

एवं स्तुतः स भगवानादिदेवः सतां गतिः ।
परितुष्टः प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

वरं वृणीष्व नः कामं वरदेशा वयं त्रयः ।
अमोघं दर्शनं येषां मर्त्यो यद् विन्दतेऽमृतम् ॥१९॥

समान तेजस्वी है ॥११॥ शरीरपर बाघम्बर धारण किये हुए हैं और हाथोंमें शूल, खट्वाङ्ग, ढाल, रुद्राक्ष-माला, डमरू, खप्पर, तलवार और धनुष लिये हैं ॥१२॥ मार्कण्डेय मुनि अपने हृदयमें अकस्मात् भगवान् शङ्करका यह रूप देखकर विस्मित हो गये। 'यह क्या है? कहाँसे आया?' इस प्रकारकी वृत्तियोंका उदय हो जानेसे उन्होंने अपनी समाधि खोल दी ॥ १३ ॥ जब उन्होंने आँखें खोलीं, तब देखा कि तीनों लोकोंके एकमात्र गुरु भगवान् शङ्कर श्रीपार्वतीजी तथा अपने गणोंके साथ पधारे हुए हैं। उन्होंने उनके चरणोंमें माथा टेककर प्रणाम किया ॥१४॥ तदनन्तर मार्कण्डेय मुनिने स्वागत, आसन, पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, पुष्पमाला, धूप और दीप आदि उपचारोंसे भगवान् शङ्कर, भगवती पार्वती और उनके गणोंकी पूजा की ॥ १५ ॥ इसके पश्चात् मार्कण्डेय मुनि उनसे कहने लगे—'सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् प्रभो! आप अपनी आत्मानुभूति और महिमासे ही पूर्णकाम हैं। आपकी शान्ति और सुखसे ही सारे जगत्‌में सुख-शान्तिका विस्तार हो रहा है, ऐसी अवस्थामें मैं आपकी क्या सेवा करूँ? ॥१६॥ मैं आपके त्रिगुणातीत सदाशिव स्वरूपको और सत्त्वगुणसे युक्त शान्तस्वरूपको नमस्कार करता हूँ। मैं आपके रजोगुणयुक्त सर्वप्रवर्तक स्वरूप एवं तमोगुणयुक्त अघोर स्वरूपको नमस्कार करता हूँ' ॥ १७ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकजी! जब मार्कण्डेय मुनिने संतोंके परम आश्रय देवाधिदेव भगवान् शङ्करकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे उनपर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और बड़े प्रसन्न चित्तसे हँसते हुए कहने लगे ॥ १८॥

भगवान् शङ्करने कहा—मार्कण्डेयजी! ब्रह्मा, विष्णु तथा मैं—हम तीनों ही वरदाताओंके स्वामी हैं, हमलोगोंका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। हमलोगोंसे ही मरणशील मनुष्य भी अमृतत्वकी प्राप्ति कर लेता है। इसलिये तुम्हारी जो इच्छा हो, वही वर मुझसे माँग लो ॥१९॥

१. तोमरैः। २. विलोक्यैक०। ३. प्राचीन प्रतिमें 'तस्मै……सहोमया' इस श्लोकार्धके स्थानमें 'विमुच्यात्मसमाधानं तरसा नियमैर्यमैः' ऐसा पाठ है। इसके सिवा वर्तमान प्रतिमें जो २५ वीं संख्याका 'श्रवणाद्दर्शना०……किन्तु सम्भाषणादिभिः' यह श्लोक है। इसको वहाँ न पढ़कर यहाँ ही ('विमुच्या०……यमैः' इसके बाद) पढ़ा गया है। इसके पश्चात् 'स्वागतासन०……' इत्यादि श्लोकोंका पाठ है। ४. देवाय नित्याय प्रमृ०। ५. जुषे च घो०। ६. त्मसहादेवः। ७. प्राचीन प्रतिमें 'परितुष्टः……भाषत।' इस श्लोकार्धके स्थानमें 'उवाच……परवचो देवदेवो महेश्वरः।' ऐसा पाठ है। ८. श्रीमहादेव उवाच।

ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः ॥२०॥
सलोका लोकपाला[1]स्तान् वदन्त्यर्चन्त्युपासते।
अहं च भगवान् ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः ॥२१॥
न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते।
नात्मनश्च जनस्यापि तद् युष्मान् वयमीमहि ॥२२॥
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः।
ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः ॥२३॥
ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो येऽस्मद्रूपं त्रयीमयम्।
बिभ्रत्यात्मसमाधानतपःस्वाध्यायसंयमैः ॥२४॥
श्रवणाद् दर्शनाद् वापि महापातकिनोऽपि वः।
शुध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु सम्भाषणादिभिः ॥२५॥

ब्राह्मण स्वभावसे ही परोपकारी, शान्तचित्त एवं अनासक्त होते हैं। वे किसीके साथ वैरभाव नहीं रखते और समदर्शी होनेपर भी प्राणियोंका कष्ट देखकर उसके निवारणके लिये पूरे हृदयसे जुट जाते हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह होती है कि वे हमारे अनन्य प्रेमी एवं भक्त होते हैं॥ २०॥ सारे लोक और लोकपाल ऐसे ब्राह्मणोंकी वन्दना, पूजा और उपासना किया करते हैं। केवल वे ही क्यों; मैं, भगवान् ब्रह्मा तथा स्वयं साक्षात् ईश्वर विष्णु भी उनकी सेवामें संलग्न रहते हैं॥ २१॥ ऐसे शान्त महापुरुष मुझमें, विष्णुभगवान्में, ब्रह्मामें, अपनेमें और सब जीवोंमें अणुमात्र भी भेद नहीं देखते। सदा-सर्वदा, सर्वत्र और सर्वथा एकरस आत्माका ही दर्शन करते हैं। इसलिये हम तुम्हारे-जैसे महात्माओं-की स्तुति और सेवा करते हैं॥ २२॥ मार्कण्डेयजी! केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं होते तथा केवल जड मूर्तियाँ ही देवता नहीं होतीं। सबसे बड़े तीर्थ और देवता तो तुम्हारे-जैसे संत हैं; क्योंकि वे तीर्थ और देवता बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं, परन्तु तुमलोग दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हो॥ २३॥ हमलोग तो ब्राह्मणोंको ही नमस्कार करते हैं; क्योंकि वे चित्तकी एकाग्रता, तपस्या, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा हमारे वेदमय शरीरको धारण करते हैं॥ २४॥ मार्कण्डेयजी! बड़े-बड़े महापापी और अन्त्यज भी तुम्हारे-जैसे महापुरुषोंके चरित्रश्रवण और दर्शनसे ही शुद्ध हो जाते हैं; फिर वे तुमलोगोंके सम्भाषण और सहवास आदिसे शुद्ध हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है॥ २५॥

सूत उवाच

इति चन्द्रललामस्य धर्मगुह्योपबृंहितम्।
वचोऽमृतायनमृषिर्नातृप्यत् कर्णयोः पिबन् ॥२६॥
स चिरं मायया विष्णोर्भ्रामितः कर्शितो[2] भृशम्।

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकादि ऋषियो! चन्द्र-भूषण भगवान् शङ्करकी एक-एक बात धर्मके गुप्ततम रहस्यसे परिपूर्ण थी। उसके एक-एक अक्षरमें अमृतका समुद्र भरा हुआ था। मार्कण्डेय मुनि अपने कानोंके द्वारा पूरी तन्मयताके साथ उसका पान करते रहे, परन्तु उन्हें तृप्ति न हुई॥ २६॥ वे चिरकालतक विष्णुभगवान्की मायासे भटक चुके थे और बहुत थके हुए भी थे। भगवान् शिवकी कल्याणी वाणीका अमृतपान करनेसे

१. लाश्च न मा विन्दन्त्युपासितुम्। २. कृशितो।

शिववागमृतध्वस्तक्लेशपुञ्जस्तमब्रवीत् ॥२७॥

ऋषिरुवाच

अहो ईश्वरलीलेयं दुर्विभाव्या शरीरिणाम्।
यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवन्ति जगदीश्वराः ॥२८॥
धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम्।
आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च ॥२९॥
नैतावता भगवतः स्वमायामयवृत्तिभिः।
न दुष्येतानुभावस्तैर्मायिनः कुहकं यथा ॥३०॥
सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनानुप्रविश्य यः।
गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्तेव स्वप्नदृग् यथा ॥३१॥
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ॥३२॥
कं वृणे नु परं भूमन् वरं त्वद् वरदर्शनात्।
यद्दर्शनात् पूर्णकामः सत्यकामः पुमान् भवेत् ॥३३॥
वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात् कामाभिवर्षणात्।
भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि ॥३४॥

सूत उवाच

इत्यर्चितोऽभिष्टुतश्च मुनिना सूक्तया गिरा।
तमाह भगवाञ्छर्वः शर्वया चाभिनन्दितः ॥३५॥

उनके सारे क्लेश नष्ट हो गये। उन्होंने भगवान् शङ्करसे इस प्रकार कहा॥ २७॥

मार्कण्डेयजीने कहा—सचमुच सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की यह लीला सभी प्राणियोंकी समझके परे है। भला, देखो तो सही—ये सारे जगत्‌के स्वामी होकर भी अपने अधीन रहनेवाले मेरे-जैसे जीवोंकी वन्दना और स्तुति करते हैं॥ २८॥ धर्मके प्रवचनकार प्रायः प्राणियोंको धर्मका रहस्य और स्वरूप समझानेके लिये उसका आचरण और अनुमोदन करते हैं तथा कोई धर्मका आचरण करता है, तो उसकी प्रशंसा भी करते हैं॥ २९॥ जैसे जादूगर अनेकों खेल दिखलाता है और उन खेलोंसे उसके प्रभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, वैसे ही आप अपनी स्वजनमोहिनी मायाकी वृत्तियोंको स्वीकार करके किसीकी वन्दना-स्तुति आदि करते हैं तो केवल इस कामके द्वारा आपकी महिमामें कोई त्रुटि नहीं आती॥ ३०॥ आपने स्वप्नद्रष्टाके समान अपने मनसे ही सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि की है और इसमें स्वयं प्रवेश करके कर्ता न होनेपर भी कर्म करनेवाले गुणोंके द्वारा कर्ताके समान प्रतीत होते हैं॥ ३१॥ भगवन्! आप त्रिगुणस्वरूप होनेपर भी उनके परे उनकी आत्माके रूपमें स्थित हैं। आप ही समस्त ज्ञानके मूल, केवल, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ३२॥ अनन्त! आपके श्रेष्ठ दर्शनसे बढ़कर ऐसी और कौन-सी वस्तु है, जिसे मैं वरदानके रूपमें माँगूँ! मनुष्य आपके दर्शनसे ही पूर्णकाम और सत्यसङ्कल्प हो जाता है॥ ३३॥ आप स्वयं तो पूर्ण हैं ही, अपने भक्तोंकी भी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। इसलिये मैं आपका दर्शन प्राप्त कर लेनेपर भी एक वर और माँगता हूँ। वह यह कि भगवान्‌में, उनके शरणागत भक्तोंमें और आपमें मेरी अविचल भक्ति सदा-सर्वदा बनी रहे॥ ३४॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकजी! जब मार्कण्डेय मुनिने सुमधुर वाणीसे इस प्रकार भगवान् शङ्करकी स्तुति और पूजा की, तब उन्होंने भगवती पार्वतीकी प्रसाद-

१. रचयेयं। २. यिनां। ३. सद्यो देवः। ४. व०।

कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे ।
आ कल्पान्ताद् यशः पुण्यमजरामरता तथा ॥३६॥
ज्ञानं त्रैकालिकं ब्रह्मन् विज्ञानं च विरक्तिमत् ।
ब्रह्मवर्चस्विनो भूयात् पुराणाचार्यतास्तु ते ॥३७॥

सूत उवाच

एवं वरान् स मुनये दत्त्वागात्त्र्यक्ष ईश्वरः ।
देव्यै तत्कर्म कथयन्ननुभूतं पुरामुना ॥३८॥
सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तमः ।
विचरत्यधुनाप्यद्धा हरावेकान्ततां गतः ॥३९॥
अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम् ॥४०॥
एतत् केचिदविद्वांसो मायासंसृतिमात्मनः ।
अनाद्यावर्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते ॥४१॥
य एवमेतद् भृगुवर्य वर्णितं
रथाङ्गपाणेरनुभावभावितम् ।
संश्रावयेत् संशृणुयादु तावुभौ
तयोर्न कर्माशयसंसृतिर्भवेत् ॥४२॥

प्रेरणासे यह बात कही ॥ ३५ ॥ 'महर्षे ! तुम्हारी सारी कामनाएँ पूर्ण हों । इन्द्रियातीत परमात्मामें तुम्हारी अनन्य भक्ति सदा-सर्वदा बनी रहे । कल्पपर्यन्त तुम्हारा पवित्र यश फैले और तुम अजर एवं अमर हो जाओ ॥ ३६ ॥ ब्रह्मन् ! तुम्हारा ब्रह्मतेज तो सर्वदा अक्षुण्ण रहेगा ही । तुम्हें भूत, भविष्य और वर्तमानके समस्त विशेष ज्ञानोंका एक अधिष्ठानरूप ज्ञान और वैराग्ययुक्त स्वरूपस्थितिकी प्राप्ति हो जाय । तुम्हें पुराणका आचार्यत्व भी प्राप्त हो ॥ ३७ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—शौनकजी ! इस प्रकार त्रिलोचन भगवान् शङ्कर मार्कण्डेय मुनिको वर देकर भगवती-पार्वतीसे मार्कण्डेय मुनिकी तपस्या और उनके प्रलय-सम्बन्धी अनुभवोंका वर्णन करते हुए वहाँसे चले गये ॥ ३८ ॥ भृगुवंशशिरोमणि मार्कण्डेय मुनिको उनके महायोगका परम फल प्राप्त हो गया । वे भगवान्‌के अनन्यप्रेमी हो गये । अब भी वे भक्तिभावभरित हृदयसे पृथ्वीपर विचरण किया करते हैं ॥ ३९ ॥ परम ज्ञान-सम्पन्न मार्कण्डेय मुनिने भगवान्‌की योगमायासे जिस अद्भुत लीलाका अनुभव किया था, वह मैंने आपलोगोंको सुना दिया ॥ ४० ॥ शौनकजी ! यह जो मार्कण्डेयजीने अनेक कल्पोंका—सृष्टिप्रलयोंका अनुभव किया, वह भगवान्‌की मायाका ही वैभव था, तात्कालिक था और उन्हींके लिये था, सर्वसाधारणके लिये नहीं । कोई-कोई इस मायाकी रचनाको न जानकर अनादिकालसे बार-बार होनेवाले सृष्टि-प्रलय ही इसको भी बतलाते हैं । (इसलिये आपको यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि इसी कल्पके हमारे पूर्वज मार्कण्डेयजीकी आयु इतनी लंबी कैसे हो गयी ?) ॥ ४१ ॥ भृगुवंशशिरोमणे ! मैंने आपको यह जो मार्कण्डेयचरित्र सुनाया है, वह भगवान् चक्रपाणिके प्रभाव और महिमासे भरपूर है । जो इसका श्रवण एवं कीर्तन करते हैं, वे दोनों ही कर्म-वासनाओंके कारण प्राप्त होनेवाले आवागमनके चक्करसे सर्वदाके लिये छूट जाते हैं ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

१. त्रिका० । २. यात्र्य० । ३. न्ति० । ४. यः श्रा० ।

अथैकादशोऽध्यायः

भगवान्‌के अङ्ग, उपाङ्ग और आयुधोंका रहस्य तथा विभिन्न सूर्यगणोंका वर्णन

शौनक उवाच

अथेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुवित्तमम् ।
समस्ततन्त्रराद्धान्ते भवान् भागवततत्त्ववित् ॥ १ ॥
तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः ।
अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथा च यैः[1] ॥ २ ॥
तन्नो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं बुभुत्सताम् ।
येन क्रियानैपुणेन मर्त्यो यायादमर्त्यताम् ॥ ३ ॥

शौनकजीने कहा—सूतजी! आप भगवान्‌के परम-भक्त और बहुज्ञोंमें शिरोमणि हैं। हमलोग समस्त शास्त्रोंके सिद्धान्तके सम्बन्धमें आपसे एक विशेष प्रश्न पूछना चाहते हैं, क्योंकि आप उसके मर्मज्ञ हैं ॥ १ ॥ हमलोग क्रियायोगका यथावत् ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं; क्योंकि उसका कुशलतापूर्वक ठीक-ठीक आचरण करनेसे मरणधर्मा पुरुष अमरत्व प्राप्त कर लेता है। अतः आप हमें यह बतलाइये कि पाञ्चरात्रादि तन्त्रोंकी विधि जाननेवाले लोग केवल श्रीलक्ष्मीपति भगवान्‌की आराधना करते समय किन-किन तत्त्वोंसे उनके चरणादि अङ्ग, गरुडादि उपाङ्ग, सुदर्शनादि आयुध और कौस्तुभादि आभूषणोंकी कल्पना करते हैं? भगवान् आपका कल्याण करें ॥ २-३ ॥

सूत उवाच

नमस्कृत्य गुरून् वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि ।
याः[2] प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः ॥ ४ ॥
मायाद्यैर्नवभिस्तत्त्वैः स विकारमयो विराट् ।
निर्मितो दृश्यते यत्र सचित्के भुवनत्रयम् ॥ ५ ॥
एतद् वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः ।
नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः ॥ ६ ॥
प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः ।
तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः ॥ ७ ॥
लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः ।
रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्धजाः ॥ ८ ॥
यावानयं वै[3] पुरुषो यावत्या संस्थया मितः ।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया ॥ ९ ॥

श्रीसूतजीने कहा—शौनकजी! ब्रह्मादि आचार्योंने, वेदोंने और पाञ्चरात्रादि तन्त्र-ग्रन्थोंने विष्णुभगवान्‌की जिन विभूतियोंका वर्णन किया है, मैं श्रीगुरुदेवके चरणोंमें नमस्कार करके आपलोगोंको वही सुनाता हूँ ॥ ४ ॥ भगवान्‌के जिस चेतनाधिष्ठित विराट् रूपमें यह त्रिलोकी दिखायी देती है, वह प्रकृति, सूत्रात्मा, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—इन नौ तत्त्वोंके सहित ग्यारह इन्द्रिय तथा पञ्चभूत—इन सोलह विकारोंसे बना हुआ है ॥ ५ ॥ यह भगवान्‌का ही पुरुषरूप है। पृथ्वी इसके चरण हैं, स्वर्ग मस्तक है, अन्तरिक्ष नाभि है, सूर्य नेत्र हैं, वायु नासिका है और दिशाएँ कान हैं ॥ ६ ॥ प्रजापति लिङ्ग है, मृत्यु गुदा है, लोकपालगण भुजाएँ हैं, चन्द्रमा मन है और यमराज भौंहें हैं ॥ ७ ॥ लज्जा ऊपरका होठ है, लोभ नीचेका होठ है, चन्द्रमाकी चाँदनी दन्तावली है, भ्रम मुसकान है, वृक्ष रोम हैं और बादल ही विराट् पुरुषके सिरपर उगे हुए बाल हैं ॥ ८ ॥ शौनकजी! जिस प्रकार यह व्यष्टि पुरुष अपने परिमाणसे सात बित्तेका है उसी प्रकार वह समष्टि पुरुष भी इस लोकसंस्थितिके साथ अपने सात बित्तेका है ॥ ९ ॥

१. तथैव ये। २. या वेदतन्त्राभ्यां प्रोक्ता आचा०। ३. हि।

कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः ।
तत्प्रभा व्यापिनी साक्षात् श्रीवत्समुरसा विभुः ॥ १० ॥
स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत् ।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत् स्वरम् ॥ ११ ॥
बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले ।
मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकाभयङ्करम् ॥ १२ ॥
अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः ।
धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते ॥ १३ ॥
ओजःसहोबलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत् ।
अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम् ॥ १४ ॥
नभोनिभं नभस्तत्त्वमसिं चर्म तमोमयम् ।
कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम् ॥ १५ ॥
इन्द्रियाणि शरानाहुराकूतीरस्य स्यन्दनम् ।
तन्मात्राण्यस्याभिव्यक्तिं मुद्रयार्थक्रियात्मताम् ॥ १६ ॥
मण्डलं देवयजनं दीक्षा संस्कार आत्मनः ।
परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः ॥ १७ ॥
भगवान् भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन् ।
धर्मं यशश्च भगवांश्चामरव्यजनेऽभजत् ॥ १८ ॥
आतपत्रं तु वैकुण्ठं द्विजा धामाकुतोभयम् ।
त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम् ॥ १९ ॥
अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः ।

स्वयं भगवान् अजन्मा हैं । वे कौस्तुभमणिके बहाने जीव-चैतन्यरूप आत्मज्योतिको ही धारण करते हैं और उसकी सर्वव्यापिनी प्रभाको ही वक्षःस्थलपर श्रीवत्स-रूपसे ॥ १० ॥ वे अपनी सत्त्व, रज आदि गुणोंवाली मायाको वनमालाके रूपसे, छन्दको पीताम्बरके रूपसे तथा अ+उ+म्—इन तीन मात्रावाले प्रणवको यज्ञोपवीतके रूपमें धारण करते हैं ॥ ११ ॥ देवाधिदेव भगवान् सांख्य और योगरूप मकराकृत कुण्डल तथा सब लोकोंको अभय करनेवाले ब्रह्मलोकको ही मुकुटके रूपमें धारण करते हैं ॥ १२ ॥ मूलप्रकृति ही उनकी शेषशय्या है, जिसपर वे विराजमान रहते हैं और धर्म-ज्ञानादियुक्त सत्त्वगुण ही उनके नाभिकमलके रूपमें वर्णित हुआ है ॥ १३ ॥ वे मन, इन्द्रिय और शरीरसम्बन्धी शक्तियोंसे युक्त प्राणतत्त्वरूप कौमोदकी गदा, जलतत्त्वरूप पाञ्चजन्य शङ्ख और तेजस्तत्त्वरूप सुदर्शनचक्रको धारण करते हैं ॥ १४ ॥ आकाशके समान निर्मल आकाशस्वरूप खड्ग, तमोमय अज्ञानरूप ढाल, कालरूप शार्ङ्गधनुष और कर्मका ही तरकस धारण किये हुए हैं ॥ १५ ॥ इन्द्रियों-को ही भगवान्‌के बाणोंके रूपमें कहा गया है । क्रिया-शक्तियुक्त मन ही रथ है । तन्मात्राएँ रथके बाहरी भाग हैं और वर-अभय आदि मुद्राओंसे उनकी वरदान, अभयदान आदिके रूपमें क्रियाशीलता प्रकट होती है ॥ १६ ॥ सूर्यमण्डल अथवा अग्निमण्डल ही भगवान्‌की पूजाका स्थान है, अन्तःकरणकी शुद्धि ही मन्त्रदीक्षा है और अपने समस्त पापोंको नष्ट कर देना ही भगवान्‌की पूजा है ॥ १७ ॥

ब्राह्मणो ! समग्र ऐश्वर्य धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य—इन छः पदार्थोंका नाम ही लीला-कमल है, जिसे भगवान् अपने करकमलमें धारण करते हैं । धर्म और यशको क्रमशः चँवर एवं व्यजन (पंखे) के रूपसे तथा अपने निर्भय धाम वैकुण्ठको छत्ररूपसे धारण किये हुए हैं । तीनों वेदोंका ही नाम गरुड है । वे ही अन्तर्यामी परमात्माका वहन करते हैं ॥ १८-१९ ॥ आत्मस्वरूप भगवान्‌की उनसे कभी न बिछुड़नेवाली आत्मशक्तिका ही नाम लक्ष्मी है । भगवान्‌के पार्षदोंके

१. दिव्ये । २. कनमस्कृतम् । ३. स्यं सत्त्वं ।

विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्षदाधिपः।
नन्दादयोऽष्टौ द्वाःस्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः॥२०॥
वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते॥२१॥
स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः।
अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते॥२२॥
अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम्।
बिभर्ति स्म चतुर्मूर्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः॥२३॥
द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक्
स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत्।
सृजति हरति पातीत्याख्ययानावृताक्षो
विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः॥२४॥
श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रु-
ग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत-
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान्॥२५॥

नायक विश्वविश्रुत विष्वक्सेन पाञ्चरात्रादि आगमरूप हैं। भगवान्‌के स्वाभाविक गुण अणिमा, महिमा आदि अष्टसिद्धियोंको ही नन्द-सुनन्दादि आठ द्वारपाल कहते हैं॥२०॥ शौनकजी! स्वयं भगवान् ही वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार मूर्तियोंके रूपमें अवस्थित हैं; इसलिये उन्हींको चतुर्व्यूहके रूपमें कहा जाता है॥२१॥ वे ही जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी 'विश्व' बनकर शब्द, स्पर्श आदि बाह्य विषयोंको ग्रहण करते और वे ही स्वप्नावस्थाके अभिमानी 'तैजस' बनकर बाह्य विषयोंके बिना ही मन-ही-मन अनेक विषयोंको देखते और ग्रहण करते हैं। वे ही सुषुप्ति-अवस्थाके अभिमानी 'प्राज्ञ' बनकर विषय और मनके संस्कारोंसे युक्त अज्ञानसे ढक जाते हैं और वही सबके साक्षी 'तुरीय' रहकर समस्त ज्ञानोंके अधिष्ठान रहते हैं॥२२॥ इस प्रकार अङ्ग, उपाङ्ग, आयुध और आभूषणोंसे युक्त तथा वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चार मूर्तियोंके रूपमें प्रकट सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि ही क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीयरूपसे प्रकाशित होते हैं॥२३॥

शौनकजी! वही सर्वस्वरूप भगवान् वेदोंके मूल कारण हैं, वे स्वयं प्रकाश एवं अपनी महिमासे परिपूर्ण हैं। वे अपनी मायासे ब्रह्मा आदि रूपों एवं नामोंसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहार सम्पन्न करते हैं। इन सब कर्मों और नामोंसे उनका ज्ञान कभी आवृत नहीं होता। यद्यपि शास्त्रोंमें भिन्नके समान उनका वर्णन हुआ है अवश्य, परन्तु वे अपने भक्तोंको आत्म-स्वरूपसे ही प्राप्त होते हैं॥२४॥ सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! आप अर्जुनके सखा हैं। आपने यदुवंशशिरोमणिके रूपमें अवतार ग्रहण करके पृथ्वीके द्रोही भूपालोंको भस्म कर दिया है। आपका पराक्रम सदा एकरस रहता है। व्रजकी गोपबालाएँ और आपके नारदादि प्रेमी निरन्तर आपके पवित्र यशका गान करते रहते हैं। गोविन्द! आपके नाम, गुण और लीलादिका श्रवण करनेसे ही जीवका मङ्गल हो जाता है। हम सब आपके सेवक हैं। आप कृपा करके हमारी रक्षा कीजिये॥२५॥

१. यः।

य इदं कल्य उत्थाय महापुरुषलक्षणम् ।

तच्चित्तः प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेद गुहाशयम् ॥२६॥

शौनक उवाच

शुको यदाह भगवान् विष्णुरातायं शृण्वते ।

सौरो गणो मासि मासि नाना वसति सप्तकः ॥२७॥

तेषां नामानि कर्माणि संयुक्तानामधीश्वरैः ।

ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः ॥२८॥

सूत उवाच

अनाद्यविद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनाम् ।

निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं लोकेषु परिवर्तते ॥२९॥

एक एव हि लोकानां सूर्य आत्माऽऽदिकृद्धरिः ।

सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितः ॥३०॥

कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः ।

द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः ॥३१॥

मध्वादिषु द्वादशसु भगवान् कालरूपधृक् ।

लोकतन्त्राय चरति पृथग्द्वादशभिर्गणैः ॥३२॥

धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने ।

पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी ॥३३॥

पुरुषोत्तम भगवान्के चिह्नभूत अङ्ग, उपाङ्ग और आयुध आदिके इस वर्णनका जो मनुष्य भगवान्में ही चित्त लगाकर पवित्र होकर प्रातःकाल पाठ करेगा, उसे सबके हृदयमें रहनेवाले ब्रह्मस्वरूप परमात्माका ज्ञान हो जायगा ॥ २६ ॥

शौनकजीने कहा— सूतजी ! भगवान् श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतकथा सुनाते समय राजर्षि परीक्षित्से (पञ्चम स्कन्धमें) कहा था कि ऋषि, गन्धर्व, नाग, अप्सरा, यक्ष, राक्षस और देवताओंका एक सौरगण होता है और ये सातों प्रत्येक महीनेमें बदलते रहते हैं । ये बारह गण अपने स्वामी द्वादश आदित्योंके साथ रहकर क्या काम करते हैं और उनके अन्तर्गत व्यक्तियोंके नाम क्या हैं ? सूर्यके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही हैं; इसलिये उनके विभागको हम बड़ी श्रद्धाके साथ सुनना चाहते हैं, आप कृपा करके कहिये ॥ २७-२८ ॥

श्रीसूतजीने कहा—समस्त प्राणियोंके आत्मा भगवान् विष्णु ही हैं । अनादि अविद्यासे अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूपके अज्ञानसे ही समस्त लोकोंके व्यवहार-प्रवर्तक प्राकृत सूर्यमण्डलका निर्माण हुआ है । वही लोकोंमें भ्रमण किया करता है ॥ २९ ॥ असलमें समस्त लोकोंके आत्मा एवं आदिकर्ता एकमात्र श्रीहरि ही अन्तर्यामीरूपसे सूर्य बने हुए हैं । वे यद्यपि एक ही हैं, तथापि ऋषियोंने उनका बहुत रूपोंमें वर्णन किया है । वे ही समस्त वैदिक क्रियाओंके मूल हैं ॥ ३० ॥ शौनकजी ! एक भगवान् ही मायाके द्वारा काल, देश, यज्ञादि क्रिया, कर्ता, स्रुवा आदि करण, यागादि कर्म, वेदमन्त्र, शाकल्य आदि द्रव्य और फलरूपसे नौ प्रकारके कहे जाते हैं ॥३१॥ कालरूपधारी भगवान् सूर्य लोगोंका व्यवहार ठीक-ठीक चलानेके लिये चैत्रादि बारह महीनोंमें अपने भिन्न-भिन्न बारह गणोंके साथ चक्कर लगाया करते हैं ॥ ३२ ॥

शौनकजी ! धाता नामक सूर्य, कृतस्थली अप्सरा, हेति राक्षस, वासुकि सर्प, रथकृत् यक्ष, पुलस्त्य ऋषि और तुम्बुरु गन्धर्व—ये चैत्र मासमें अपना-अपना कार्य

१. नियु० ।

अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली ।
नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम् ॥३४॥
मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः ।
रथस्वन इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी ॥३५॥
वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्यस्तथा हुहूः ।
शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी ॥३६॥
इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथाङ्गिराः ।
प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी ॥३७॥
विवस्वानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः ।
अनुम्लोचा शङ्खपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी ॥३८॥
पूषा धनञ्जयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा ।
घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी ॥३९॥
क्रतुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनजित्तथा ।
विश्व ऐरावतश्चैव तपस्याख्यं नयन्त्यमी ॥४०॥
अथांशुः कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेनस्तथोर्वशी ।
विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी ॥४१॥
भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण आयुश्च पञ्चमः ।
कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पुष्यमासं नयन्त्यमी ॥४२॥
त्वष्टा ऋचीकतनयः[2] कम्बलश्च तिलोत्तमा ।
ब्रह्मापेतोऽथ[3] शतजिद् धृतराष्ट्र इषम्भराः ॥४३॥
विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् ।
विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी ॥४४॥

सम्पन्न करते हैं ॥ ३३ ॥ अर्यमा सूर्य, पुलह ऋषि, अथौजा यक्ष, प्रहेति राक्षस, पुञ्जिकस्थली अप्सरा, नारद गन्धर्व और कच्छनीर सर्प—ये वैशाख मासके कार्यनिर्वाहक हैं ॥ ३४ ॥ मित्र सूर्य, अत्रि ऋषि, पौरुषेय राक्षस, तक्षक सर्प, मेनका अप्सरा, हाहा गन्धर्व और रथस्वन यक्ष—ये ज्येष्ठ मासके कार्यनिर्वाहक हैं ॥३५॥ आषाढ़में वरुण नामक सूर्यके साथ वसिष्ठ ऋषि, रम्भा अप्सरा, सहजन्य यक्ष, हूहू गन्धर्व, शुक्र नाग और चित्रस्वन राक्षस अपने-अपने कार्यका निर्वाह करते हैं ॥३६॥ श्रावण मास इन्द्र नामक सूर्यका कार्यकाल है । उनके साथ विश्वावसु गन्धर्व, श्रोता यक्ष, एलापत्र नाग, अङ्गिरा ऋषि, प्रम्लोचा अप्सरा एवं वर्य नामक राक्षस अपने कार्यका सम्पादन करते हैं ॥ ३७ ॥ भाद्रपदके सूर्यका नाम है विवस्वान् । उनके साथ उग्रसेन गन्धर्व, व्याघ्र राक्षस, आसारण यक्ष, भृगु ऋषि, अनुम्लोचा अप्सरा और शङ्खपाल नाग रहते हैं ॥ ३८ ॥ शौनकजी ! माघ मासमें पूषा नामके सूर्य रहते हैं । उनके साथ धनञ्जय नाग, वात राक्षस, सुषेण गन्धर्व, सुरुचि यक्ष, घृताची अप्सरा और गौतम ऋषि रहते हैं ॥ ३९ ॥ फाल्गुन मासका कार्यकाल पर्जन्य नामक सूर्यका है । उनके साथ क्रतु यक्ष, वर्चा राक्षस, भरद्वाज ऋषि, सेनजित् अप्सरा, विश्व गन्धर्व और ऐरावत सर्प रहते हैं ॥ ४० ॥ मार्गशीर्ष मासमें सूर्यका नाम होता है अंशु । उनके साथ कश्यप ऋषि, तार्क्ष्य यक्ष, ऋतसेन गन्धर्व, उर्वशी अप्सरा, विद्युच्छत्रु राक्षस और महाशङ्ख नाग रहते हैं ॥४१॥ पौष मासमें भग नामक सूर्यके साथ स्फूर्ज राक्षस, अरिष्टनेमि गन्धर्व, ऊर्ण यक्ष, आयु ऋषि, पूर्वचित्ति अप्सरा और कर्कोटक नाग रहते हैं ॥ ४२ ॥ आश्विन मासमें त्वष्टा सूर्य, जमदग्नि ऋषि, कम्बल नाग, तिलोत्तमा अप्सरा, ब्रह्मापेत राक्षस, शतजित् यक्ष और धृतराष्ट्र गन्धर्वका कार्यकाल है ॥ ४३ ॥ तथा कार्तिकमें विष्णु नामक सूर्यके साथ अश्वतर नाग, रम्भा अप्सरा, सूर्यवर्चा गन्धर्व, सत्यजित् यक्ष, विश्वामित्र ऋषि और मखापेत राक्षस अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं ॥ ४४ ॥

१. यन्ति ते । २. रिची० । ३. ब्रह्मपोतो ।

एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः ।
स्मरतां सन्ध्ययोर्नॄणां हरन्त्यंहो दिने दिने ॥४५॥
द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै ।
चरन् समन्तात्तनुते परत्रेह च सन्मतिम् ॥४६॥
सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिङ्गैर्ऋषयः संस्तुवन्त्यमुम् ।
गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः ॥४७॥
उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः ।
चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैर्ऋता बलशालिनः ॥४८॥
वालखिल्याः सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।
पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम् ॥४९॥
एवं ह्यनादिनिधनो भगवान् हरिरीश्वरः ।
कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यजः ॥५०॥

शौनकजी! वे सब सूर्यरूप भगवान्‌की विभूतियाँ हैं। जो लोग इनका प्रतिदिन प्रातःकाल और सायङ्काल स्मरण करते हैं, उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥४५॥ ये सूर्यदेव अपने छः गणोंके साथ बारहों महीने सर्वत्र विचरते रहते हैं और इस लोक तथा परलोकमें विवेक-बुद्धिका विस्तार करते हैं ॥४६॥ सूर्यभगवान्‌के गणोंमें ऋषिलोग तो सूर्यसम्बन्धी ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं और गन्धर्व उनके सुयशका गान करते रहते हैं। अप्सराएँ आगे-आगे नृत्य करती चलती हैं ॥४७॥ नागगण रस्सीकी तरह उनके रथको कसे रहते हैं। यक्षगण रथका साज सजाते हैं और बलवान् राक्षस उसे पीछेसे ढकेलते हैं ॥४८॥ इनके सिवा वालखिल्य नामके साठ हजार निर्मलस्वभाव ब्रह्मर्षि सूर्यकी ओर मुँह करके उनके आगे-आगे स्तुति-पाठ करते चलते हैं ॥४९॥ इस प्रकार अनादि, अनन्त, अजन्मा भगवान् श्रीहरि ही कल्प-कल्पमें अपने स्वरूपका विभाग करके लोकोंका पालन-पोषण करते रहते हैं ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे आदित्यव्यूहविवरणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतकी संक्षिप्त विषय-सूची

सूत[1] उवाच[2]

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्ये सनातनान् ॥ १ ॥
एतद् वः कथितं विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम् ।
भवद्भिर्यदहं पृष्टो नराणां पुरुषोचितम् ॥ २ ॥
अत्र सङ्कीर्तितः[3] साक्षात् सर्वपापहरो हरिः ।
नारायणो हृषीकेशो भगवान् सात्वतां पतिः ॥ ३ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—भगवद्भक्तिरूप महान् धर्मको नमस्कार है। विश्वविधाता भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। अब मैं ब्राह्मणोंको नमस्कार करके श्रीमद्भागवतोक्त सनातनधर्मोंका संक्षिप्त विवरण सुनाता हूँ ॥ १ ॥ शौनकादि ऋषियो! आपलोगोंने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने भगवान् विष्णुका यह अद्भुत चरित्र सुनाया। यह सभी मनुष्योंके श्रवण करने योग्य है ॥२॥ इस श्रीमद्भागवतपुराणमें सर्वपापापहारी स्वयं भगवान् श्रीहरि-का ही संकीर्तन हुआ है। वे ही सबके हृदयमें विराजमान, सबकी इन्द्रियोंके स्वामी और प्रेमी भक्तोंके जीवनधन

१. लि० । २. प्राचीन प्रतिमें 'सूत उवाच' यह अंश 'नमो धर्माय''''सनातनान्' इस श्लोकके बाद है। ३. सङ्कीर्त्यते ।

अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
ज्ञानं च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम् ॥ ४ ॥
भक्तियोगः समाख्यातो वैराग्यं च तदाश्रयम् ।
पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च ॥ ५ ॥
प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रशापात् परीक्षितः ।
शुकस्य ब्रह्मर्षभस्य संवादश्च परीक्षितः ॥ ६ ॥
योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः ।
अवतारानुगीतं च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः ॥ ७ ॥
विदुरोद्धवसंवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः ।
पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः ॥ ८ ॥
ततः प्राकृतिकः सर्गः सप्त वैकृतिकाश्च ये ।
ततो ब्रह्माण्डसम्भूतिर्वैराजः पुरुषो यतः ॥ ९ ॥
कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य गतिः पद्मसमुद्भवः ।
भुव उद्धरणेऽम्भोधेर्हिरण्याक्षवधो यथा ॥१०॥
ऊर्ध्वतिर्यगवाक्सर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च ।
अर्धनारीनरस्याथ यतः स्वायम्भुवो मनुः ॥११॥
शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमा ।
सन्तानो धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः ॥१२॥

हैं ॥ ३ ॥ इस श्रीमद्भागवतपुराणमें परम-रहस्यमय—अत्यन्त गोपनीय ब्रह्मतत्त्वका वर्णन हुआ है । उस ब्रह्ममें ही इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है । इस पुराणमें उसी परमतत्त्वका अनुभवात्मक ज्ञान और उसकी प्राप्तिके साधनोंका स्पष्ट निर्देश है ॥ ४ ॥

शौनकजी ! इस महापुराणके प्रथम स्कन्धमें भक्तियोगका भलीभाँति निरूपण हुआ है और साथ ही भक्तियोगसे उत्पन्न एवं उसको स्थिर रखनेवाले वैराग्यका भी वर्णन किया गया है । परीक्षित्‌की कथा और व्यास-नारद-संवादके प्रसङ्गसे नारदचरित्र भी कहा गया है ॥ ५ ॥ राजर्षि परीक्षित् ब्राह्मणका शाप हो जानेपर किस प्रकार गङ्गातटपर अनशन-व्रत लेकर बैठ गये और ऋषिप्रवर श्रीशुकदेवजीके साथ किस प्रकार उनका संवाद प्रारम्भ हुआ, यह कथा भी प्रथम स्कन्धमें ही है ॥ ६ ॥

योगधारणाके द्वारा शरीरत्यागकी विधि, ब्रह्मा और नारदका संवाद, अवतारोंकी संक्षिप्त चर्चा तथा महत्तत्त्व आदिके क्रमसे प्राकृतिक सृष्टिकी उत्पत्ति आदि विषयोंका वर्णन द्वितीय स्कन्धमें हुआ है ॥ ७ ॥

तीसरे स्कन्धमें पहले-पहल विदुरजी और उद्धवजीके और तदनन्तर विदुर तथा मैत्रेयजीके समागम और संवादका प्रसङ्ग है । इसके पश्चात् पुराणसंहिताके विषयमें प्रश्न है और फिर प्रलयकालमें परमात्मा किस प्रकार स्थित रहते हैं, इसका निरूपण है ॥ ८ ॥ गुणोंके क्षोभसे प्राकृतिक सृष्टि और महत्तत्त्व आदि सात प्रकृति-विकृतियोंके द्वारा कार्य-सृष्टिका वर्णन है । इसके बाद ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और उसमें विराट् पुरुषकी स्थितिका स्वरूप समझाया गया है ॥ ९ ॥ तदनन्तर स्थूल और सूक्ष्म कालका स्वरूप, लोक-पद्मकी उत्पत्ति, प्रलय-समुद्रसे पृथ्वीका उद्धार करते समय वराहभगवान्‌के द्वारा हिरण्याक्षका वध; देवता, पशु, पक्षी और मनुष्योंकी सृष्टि एवं रुद्रोंकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग है । इसके पश्चात् उस अर्द्ध-नारी-नरके स्वरूपका विवेचन है, जिससे स्वायम्भुव मनु और स्त्रियोंकी अत्यन्त उत्तम आद्या प्रकृति शतरूपाका जन्म हुआ था । कर्दम प्रजापतिका चरित्र, उनसे मुनि-

१. गश्च व्याख्यातो । २. धर्मसंस्थानमेव । ३. ब्रह्मवर्यस्य । ४. सर्वा प्राधानिकी गतिः । ५. नं ।

अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः ।
देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता ॥१३॥
नवब्रह्मसमुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम् ।
ध्रुवस्य चरितं पश्चात्पृथोः प्राचीनबर्हिषः ॥१४॥
नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं द्विजाः ।
नाभेस्ततोऽनुचरितमृषभस्य भरतस्य च ॥१५॥
द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम् ।
ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः ॥१६॥
दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्रीणां च सन्ततिः ।
यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः ॥१७॥
त्वाष्ट्रस्य जन्म निधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः ।
दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः ॥१८॥
मन्वन्तरानुकथनं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम् ।
मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः ॥१९॥
कौर्मं धान्वन्तरं मात्स्यं वामनं च जगत्पतेः ।
क्षीरोदमथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसाम् ॥२०॥
देवासुरमहायुद्धं राजवंशानुकीर्तनम् ।
इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशः सुद्युम्नस्य महात्मनः ॥२१॥
इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च ।
सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृगादयः ॥२२॥
सौकन्यं चाथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः ।
खट्वाङ्गस्य च मान्धातुः सौभरेः सगरस्य च ॥२३॥
रामस्य कोसलेन्द्रस्य चरितं किल्बिपापहम् ।
निमेरङ्गपरित्यागो जनकानां च सम्भवः ॥२४॥
रामस्य भार्गवेन्द्रस्य निःक्षत्रीकरणं भुवः[1] ।
ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च ॥२५॥
दौष्यन्तेर्भरतस्यापि शन्तनोस्तत्सुतस्य च ।

पत्नियोंका जन्म, महात्मा भगवान् कपिलका अवतार और फिर कपिलदेव तथा उनकी माता देवहूतिके संवादका प्रसङ्ग आता है ॥ १०–१३ ॥

चौथे स्कन्धमें मरीचि आदि नौ प्रजापतियोंकी उत्पत्ति, दक्षयज्ञका विध्वंस, राजर्षि ध्रुव एवं पृथुका चरित्र तथा प्राचीनबर्हि और नारदजीके संवादका वर्णन है। पाँचवें स्कन्धमें प्रियव्रतका उपाख्यान; नाभि, ऋषभ और भरतके चरित्र; द्वीप, वर्ष, समुद्र, पर्वत और नदियोंका वर्णन; ज्योतिश्चक्रके विस्तार एवं पाताल तथा नरकोंकी स्थितिका निरूपण हुआ है ॥ १४–१६ ॥

शौनकादि ऋषियो! छठे स्कन्धमें ये विषय आये हैं—प्रचेताओंसे दक्षकी उत्पत्ति; दक्ष-पुत्रियोंकी सन्तान देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पर्वत और पक्षियोंका जन्म-कर्म, वृत्रासुरकी उत्पत्ति और उसकी परम गति। (अब सातवें स्कन्धके विषय बतलाये जाते हैं—) इस स्कन्धमें मुख्यतः दैत्यराज हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षके जन्म-कर्म एवं दैत्यशिरोमणि महात्मा प्रह्लादके उत्कृष्ट चरित्रका निरूपण है ॥ १७-१८ ॥

आठवें स्कन्धमें मन्वन्तरोंकी कथा, गजेन्द्रमोक्ष, विभिन्न मन्वन्तरोंमें होनेवाले जगदीश्वर भगवान् विष्णुके अवतार—कूर्म, मत्स्य, वामन, धन्वन्तरि, हयग्रीव आदि; अमृत-प्राप्तिके लिये देवताओं और दैत्योंका समुद्र-मन्थन और देवासुर-संग्राम आदि विषयोंका वर्णन है। नवें स्कन्धमें मुख्यतः राजवंशोंका वर्णन है। इक्ष्वाकुके जन्म-कर्म, वंश-विस्तार; महात्मा सुद्युम्न, इला एवं ताराके उपाख्यान —इन सबका वर्णन किया गया है। सूर्यवंशका वृत्तान्त, शशाद और नृग आदि राजाओंका वर्णन, सुकन्याका चरित्र; शर्याति, खट्वाङ्ग, मान्धाता, सौभरि, सगर, बुद्धिमान् ककुत्स्थ और कोसलेन्द्र भगवान् रामके सर्वपापहारी चरित्रका वर्णन भी इसी स्कन्धमें है। तदनन्तर निमिका देह-त्याग और जनकोंकी उत्पत्तिका वर्णन है ॥ १९–२४ ॥

भृगुवंशशिरोमणि परशुरामजीका क्षत्रिय-संहार, चन्द्रवंशी नरपति पुरूरवा, ययाति, नहुष, दुष्यन्तनन्दन भरत, शन्तनु और उनके पुत्र भीष्म आदिकी संक्षिप्त कथाएँ

१. त्रीकर० ।

ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्तितः ॥२६॥
यत्रावतीर्णो भगवान्कृष्णाख्यो जगदीश्वरः।
वसुदेवगृहे जन्म ततो वृद्धिश्च गोकुले ॥२७॥
तस्य कर्माण्यपाराणि कीर्तितान्यसुरद्विषः।
पूतनासुपयःपानं शकटोच्चाटनं शिशोः ॥२८॥
तृणावर्तस्य निष्पेषस्तथैव बकवत्सयोः।
धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च संक्षयः ॥२९॥
गोपानां च परित्राणं दावाग्नेः परिसर्पतः।
दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नन्दमोक्षणम् ॥३०॥
व्रतचर्या तु कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः।
प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणां चानुतापनम् ॥३१॥
गोवर्धनोद्धारणं च शक्रस्य सुरभेरथ।
यज्ञाभिषेकं कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु ॥३२॥
शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः।
अक्रूरागमनं पश्चात् प्रस्थानं रामकृष्णयोः ॥३३॥
व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः।
गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां च यो वधः ॥३४॥
मृतस्यानयनं सूनोः पुनः सान्दीपनेर्गुरोः।
मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यत्प्रियम्।
कृतमुद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः ॥३५॥
जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः।

भी नवम स्कन्धमें ही हैं। सबके अन्तमें ययातिके बड़े लड़के यदुका वंशविस्तार कहा गया है ॥ २५-२६ ॥

शौनकादि ऋषियो! इसी यदुवंशमें जगत्पति भगवान् श्रीकृष्णने अवतार ग्रहण किया था। उन्होंने अनेक असुरोंका संहार किया। उनकी लीलाएँ इतनी हैं कि कोई पार नहीं पा सकता। फिर भी दशम स्कन्धमें उनका कुछ कीर्तन किया गया है। वसुदेवकी पत्नी देवकीके गर्भसे उनका जन्म हुआ। गोकुलमें नन्दबाबाके घर जाकर बढ़े। पूतनाके प्राणोंको दूधके साथ पी लिया। बचपनमें ही छकड़ेको उलट दिया ॥ २७-२८ ॥ तृणावर्त, बकासुर एवं वत्सासुरको पीस डाला। सपरिवार धेनुकासुर और प्रलम्बासुरको मार डाला ॥ २९ ॥ दावानलसे घिरे गोपोंकी रक्षा की। कालिय नागका दमन किया। अजगरसे नन्दबाबाको छुड़ाया ॥ ३० ॥ इसके बाद गोपियोंने भगवान्‌को पतिरूपसे प्राप्त करनेके लिये व्रत किया और भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर उन्हें अभिमत वर दिया। भगवान्‌ने यज्ञपत्नियोंपर कृपा की। उनके पतियों—ब्राह्मणोंको बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥ ३१ ॥ गोवर्द्धनधारणकी लीला करनेपर इन्द्र और कामधेनुने आकर भगवान्‌का यज्ञाभिषेक किया। शरद् ऋतुकी रात्रियोंमें व्रजसुन्दरियोंके साथ रासक्रीडा की ॥ ३२ ॥ दुष्ट शङ्खचूड, अरिष्ट और केशीके वधकी लीला हुई। तदनन्तर अक्रूरजी मथुरासे वृन्दावन आये और उनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीने मथुराके लिये प्रस्थान किया ॥ ३३ ॥ उस प्रसंगपर व्रज-सुन्दरियोंने जो विलाप किया था, उसका वर्णन है। राम और श्यामने मथुरामें जाकर वहाँकी सजावट देखी और कुवलयापीड़ हाथी, मुष्टिक, चाणूर एवं कंस आदिका संहार किया ॥ ३४ ॥ सान्दीपनि गुरुके यहाँ विद्याध्ययन करके उनके मृत पुत्रको लौटा लाये। शौनकादि ऋषियो! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें निवास कर रहे थे, उस समय उन्होंने उद्धव और बलरामजीके साथ यदुवंशियोंका सब प्रकारसे प्रिय और हित किया ॥ ३५ ॥ जरासन्ध कई बार बड़ी-बड़ी सेनाएँ लेकर आया और भगवान्‌ने उनका उद्धार करके पृथ्वीका

१. तस्य। २. मोक्षणम्। ३. प्रस्थितं।

घातनं यवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम् ॥३६॥
आदानं पारिजातस्य सुधर्मायाः सुरालयात् ।
रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः ॥३७॥
हरस्य जृम्भणं युद्धे बाणस्य भुजकृन्तनम् ।
प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणं च यत् ॥३८॥
चैद्यपौण्ड्रकशाल्वानां दन्तवक्त्रस्य दुर्मतेः ।
शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पञ्चजनादयः ॥३९॥
माहात्म्यं च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम् ।
भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान् ॥४०॥
विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च ।
उद्धवस्य च संवादो वासुदेवस्य चाद्भुतः ॥४१॥
यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः ।
ततो मर्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः ॥४२॥
युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः ।
चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा ॥४३॥
देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः ।
शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा ।
महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः ॥४४॥
इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठा यत्पृष्टोऽहमिहास्मि वः ।

भार हल्का किया । कालयवनको मुचुकुन्दसे भस्म करा दिया । द्वारकापुरी बसाकर रातों-रात सबको वहाँ पहुँचा दिया ॥ ३६ ॥ स्वर्गसे कल्पवृक्ष एवं सुधर्मा सभा ले आये । भगवान्‌ने दल-के-दल शत्रुओंको युद्धमें पराजित करके रुक्मिणीका हरण किया ॥ ३७ ॥ बाणासुरके साथ युद्धके प्रसङ्गमें महादेवजीपर ऐसा बाण छोड़ा कि वे जँभाई लेने लगे और इधर बाणासुरकी भुजाएँ काट डालीं । प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी भौमासुरको मारकर सोलह हजार कन्याएँ ग्रहण कीं ॥ ३८ ॥ शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व, दुष्ट दन्तवक्त्र, शम्बरासुर, द्विविद, पीठ, मुर, पञ्चजन आदि दैत्योंके बल-पौरुषका वर्णन करके यह बात बतलायी गयी कि भगवान्‌ने उन्हें कैसे-कैसे मारा । भगवान्‌के चक्रने काशीको जला दिया और फिर उन्होंने भारतीय युद्धमें पाण्डवोंको निमित्त बनाकर पृथ्वी-का बहुत बड़ा भार उतार दिया ॥ ३९-४० ॥

शौनकादि ऋषियो ! ग्यारहवें स्कन्धमें इस बातका वर्णन हुआ है कि भगवान्‌ने ब्राह्मणोंके शापके बहाने किस प्रकार यदुवंशका संहार किया । इस स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण और उद्धवका संवाद बड़ा ही अद्भुत है ॥ ४१ ॥ उसमें सम्पूर्ण आत्मज्ञान और धर्म-निर्णयका निरूपण हुआ है और अन्तमें यह बात बतायी गयी है कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने आत्मयोगके प्रभावसे किस प्रकार मर्त्यलोकका परित्याग किया ॥४२॥ बारहवें स्कन्धमें विभिन्न युगोंके लक्षण और उनमें रहनेवाले लोगोंके व्यवहारका वर्णन किया गया है तथा यह भी बतलाया गया है कि कलियुगमें मनुष्योंकी गति विपरीत होती है । चार प्रकारके प्रलय और तीन प्रकारकी उत्पत्तिका वर्णन भी इसी स्कन्धमें है ॥ ४३ ॥ इसके बाद परमज्ञानी राजर्षि परीक्षित्‌के शरीरत्यागकी बात कही गयी है। तदनन्तर वेदोंके शाखा-विभाजनका प्रसङ्ग आया है । मार्कण्डेयजीकी सुन्दर कथा, भगवान्‌के अङ्ग-उपाङ्गोंका स्वरूपकथन और सबके अन्तमें विश्वात्मा भगवान् सूर्यके गणोंका वर्णन है ॥ ४४ ॥ शौनकादि ऋषियो ! आपलोगोंने इस सत्सङ्गके अवसरपर मुझसे जो कुछ पूछा था, उसका वर्णन मैंने कर दिया । इसमें

१. कर्म० । २. दत्तस्य ।

लीलावतारकर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः ॥४५॥

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्[1] ॥४६॥

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥४७॥

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥४८॥

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥४९॥

न तद् वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद् ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं
यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः ॥५०॥

सन्देह नहीं कि इस अवसरपर मैंने हर तरहसे भगवान्‌की लीला और उनके अवतार-चरित्रोंका ही कीर्तन किया है ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'हरये नमः' वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४६ ॥ यदि देश, काल एवं वस्तुसे अपरिच्छिन्न भगवान् श्रीकृष्णके नाम, लीला, गुण आदिका सङ्कीर्तन किया जाय अथवा उनके प्रभाव, महिमा आदिका श्रवण किया जाय तो वे स्वयं ही हृदयमें आ विराजते हैं और श्रवण तथा कीर्तन करनेवाले पुरुषके सारे दुःख मिटा देते हैं—ठीक वैसे ही, जैसे सूर्य अन्धकारको और आँधी बादलोंको तितर-बितर कर देती है ॥ ४७ ॥ जिस वाणीके द्वारा घट-घटवासी अविनाशी भगवान्‌के नाम, लीला, गुण आदिका उच्चारण नहीं होता, वह वाणी भावपूर्ण होनेपर भी निरर्थक है—सारहीन है, सुन्दर होनेपर भी असुन्दर है और उत्तमोत्तम विषयोंका प्रतिपादन करनेवाली होनेपर भी असत्कथा है। जो वाणी और वचन भगवान्‌के गुणोंसे परिपूर्ण रहते हैं, वे ही परम पावन हैं, वे ही मङ्गलमय हैं और वे ही परम सत्य हैं ॥ ४८ ॥ जिस वचनके द्वारा भगवान्‌के परम पवित्र यशका गान होता है, वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उससे अनन्त कालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है ॥ ४९ ॥ जिस वाणीसे—चाहे वह रस, भाव, अलङ्कार आदिसे युक्त ही क्यों न हो—जगत्‌को पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके यशका कभी गान नहीं होता, वह तो कौओंके लिये उच्छिष्ट फेंकनेके स्थानके समान अत्यन्त अपवित्र है। मानससरोवरनिवासी हंस अथवा ब्रह्मधाममें विहार करनेवाले भगवच्चरणारविन्दाश्रित परमहंस भक्त उसका कभी सेवन नहीं करते। निर्मल हृदयवाले साधुजन तो वहीं निवास करते हैं,

[1] हरयेऽस्तु नमश्चोच्चै०।

स वाग्विसर्गो जनताघसम्प्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥५१॥
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम् ॥५२॥
यशःश्रियामेव परिश्रमः परो
वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-
र्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः ॥५३॥
अविस्मृतिः[1] कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥५४॥
यूयं द्विजाग्र्या बत भूरिभागा
यच्छश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम् ।
नारायणं देवमदेवमीश-
मजस्रभावा[2] भजताविवेश्य ॥५५॥
अहं च संस्मारित आत्मतत्त्वं
श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात् ।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः
सदस्यृषीणां महतां च शृण्वताम् ॥५६॥

जहाँ भगवान् रहते हैं ॥ ५० ॥ इसके विपरीत जिसमें सुन्दर रचना भी नहीं है और जो व्याकरण आदिकी दृष्टिसे दूषित शब्दोंसे युक्त भी है, परन्तु जिसके प्रत्येक श्लोकमें भगवान्‌के सुयशसूचक नाम जड़े हुए हैं, वह वाणी लोगोंके सारे पापोंका नाश कर देती है; क्योंकि सत्पुरुष ऐसी ही वाणीका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं ॥ ५१ ॥ वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती । फिर जो कर्म भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है—वह चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो—सर्वदा अमङ्गलरूप, दुःख देनेवाला ही है; वह तो शोभन—वरणीय हो ही कैसे सकता है ? ॥५२॥ वर्णाश्रमके अनुकूल आचरण, तपस्या और अध्ययन आदिके लिये जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है उसका फल है—केवल यश अथवा लक्ष्मीकी प्राप्ति । परन्तु भगवान्‌के गुण, लीला, नाम आदिका श्रवण, कीर्तन आदि तो उनके श्रीचरणकमलोंकी अविचल स्मृति प्रदान करता है ॥ ५३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती और परम शान्तिका विस्तार करती है । उसीके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है एवं परवैराग्यसे युक्त भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है ॥५४॥ शौनकादि ऋषियो ! आपलोग बड़े भाग्यवान् हैं । धन्य हैं, धन्य हैं ! क्योंकि आपलोग बड़े प्रेमसे निरन्तर अपने हृदयमें सर्वान्तर्यामी, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् आदिदेव सबके आराध्यदेव एवं स्वयं दूसरे आराध्यदेवसे रहित नारायण भगवान्‌को स्थापित करके भजन करते रहते हैं ॥ ५५ ॥ जिस समय राजर्षि परीक्षित् अनशन करके बड़े-बड़े ऋषियोंकी भरी सभामें सबके सामने श्रीशुकदेवजी महाराजसे श्रीमद्भागवतकी कथा सुन रहे थे, उस समय वहीं बैठकर मैंने भी उन्हीं परमर्षिके मुखसे इस आत्मतत्त्वका श्रवण किया था । आपलोगोंने उसका स्मरण कराकर मुझपर बड़ा अनुग्रह किया । मैं इसके लिये आपलोगोंका बड़ा ऋणी हूँ ॥ ५६ ॥

१. विस्मृ० । २. मनन्यमी० ।

एतद्वः कथितं विप्राः कथनीयोरुकर्मणः ।
माहात्म्यं वासुदेवस्य सर्वाशुभविनाशनम् ॥५७
य एवं श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः ।
श्रद्धावान् योऽनुश्रृणुयात् पुनात्यात्मानमेव सः ॥५८
द्वादश्यामेकादश्यां वा श्रृण्वन्नायुष्यवान् भवेत् ।
पठत्यनश्नन् प्रयतस्ततो भवत्यपातकी ॥५९॥
पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान् ।
उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात् ॥६०॥
देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः ।
यच्छन्ति कामान् गृणतः श्रृण्वतो यस्य कीर्तनात् ॥६१॥
ऋचो यजूंषि सामानि द्विजोऽधीत्यानुविन्दते ।
मधुकुल्या घृतकुल्याः पयःकुल्याश्च तत् फलम् ॥६२॥
पुराणसंहितामेतामधीत्य प्रयतो द्विजः ।
प्रोक्तं भगवता यत्तु तत्पदं परमं व्रजेत् ॥६३॥
विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम् ।
वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात् ॥६४॥

कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो
हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम् ।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्तिः
परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गैः ॥६५॥

शौनकादि ऋषियो! भगवान् वासुदेवकी एक-एक लीला सर्वदा श्रवण-कीर्तन करनेयोग्य है। मैंने इस प्रसङ्गमें उन्हींकी महिमाका वर्णन किया है, जो सारे अशुभ संस्कारोंको धो बहाती है ॥ ५७ ॥ जो मनुष्य एकाग्र-चित्तसे एक पहर अथवा एक क्षण ही प्रतिदिन इसका कीर्तन करता है और जो श्रद्धाके साथ इसका श्रवण करता है, वह अवश्य ही शरीरसहित अपने अन्तःकरणको पवित्र बना लेता है ॥ ५८ ॥ जो पुरुष द्वादशी अथवा एकादशीके दिन इसका श्रवण करता है, वह दीर्घायु हो जाता है और जो संयमपूर्वक निराहार रहकर पाठ करता है, उसके पहलेके पाप तो नष्ट हो ही जाते हैं, पापकी प्रवृत्ति भी नष्ट हो जाती है ॥ ५९ ॥ जो मनुष्य इन्द्रियों और अन्तःकरणको अपने वशमें करके उपवास-पूर्वक पुष्कर, मथुरा अथवा द्वारकामें इस पुराणसंहिताका पाठ करता है, वह सारे भयोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥ जो मनुष्य इसका श्रवण या उच्चारण करता है, उसके कीर्तनसे देवता, मुनि, सिद्ध, पितर, मनु और नरपति सन्तुष्ट होते हैं और उसकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते हैं ॥ ६१ ॥ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके पाठसे ब्राह्मणको मधुकुल्या, घृतकुल्या और पयःकुल्या (मधु, घी एवं दूधकी नदियाँ अर्थात् सब प्रकारकी सुख-समृद्धि) की प्राप्ति होती है। वही फल श्रीमद्भागवतके पाठसे भी मिलता है ॥ ६२ ॥ जो द्विज संयमपूर्वक इस पुराण-संहिताका अध्ययन करता है, उसे उसी परमपदकी प्राप्ति होती है, जिसका वर्णन स्वयं भगवान्‌ने किया है ॥ ६३ ॥ इसके अध्ययनसे ब्राह्मणको ऋतम्भरा प्रज्ञा (तत्त्वज्ञानको प्राप्त करानेवाली बुद्धि) की प्राप्ति होती है और क्षत्रियको समुद्रपर्यन्त भूमण्डलका राज्य प्राप्त होता है। वैश्य कुबेरका पद प्राप्त करता है और शूद्र सारे पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ६४ ॥

भगवान् ही सबके स्वामी हैं और समूह-के-समूह कलिमलोंको ध्वंस करनेवाले हैं। यों तो उनका वर्णन करनेके लिये बहुत-से पुराण हैं, परन्तु उनमें सर्वत्र और निरन्तर भगवान्‌का वर्णन नहीं मिलता। श्रीमद्भागवत महापुराणमें तो प्रत्येक कथा-प्रसङ्गमें पद-पदपर सर्वस्वरूप

१. तां सर्वां ।

तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं
जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिम्।
द्युपतिभिरजशक्रशङ्कराद्यै-
र्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि ॥६६॥

भगवान्‌का ही वर्णन हुआ है ॥ ६५ ॥ वे जन्म-मृत्यु आदि विकारोंसे रहित, देशकालादिकृत परिच्छेदोंसे मुक्त एवं स्वयं आत्मतत्त्व ही हैं। जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति, प्रलय करनेवाली शक्तियाँ भी उनकी स्वरूपभूत ही हैं, भिन्न नहीं। ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र आदि लोकपाल भी उनकी स्तुति करना लेशमात्र भी नहीं जानते। उन्हीं एकरस सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ॥६६॥

उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्म-
न्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय[1]।
भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने
सुरऋषभाय नमः सनातनाय ॥६७॥

जिन्होंने अपने स्वरूपमें ही प्रकृति आदि नौ शक्तियोंका सङ्कल्प करके इस चराचर जगत्‌की सृष्टि की है और जो इसके अधिष्ठानरूपसे स्थित हैं तथा जिनका परम-पद केवल अनुभूतिस्वरूप है, उन्हीं देवताओंके आराध्य-देव सनातन भगवान्‌के चरणोंमें मैं नमस्कार करता हूँ।६७।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥६८॥

श्रीशुकदेवजी महाराज अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थितिसे उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर-की मधुमयी, मङ्गलमयी, मनोहारिणी लीलाओंने उनकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत्‌के प्राणियोंपर कृपा करके भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इस महापुराणका विस्तार किया। मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ ॥ ६८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे द्वादश-स्कन्धार्थनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

विभिन्न पुराणोंकी श्लोक-संख्या और श्रीमद्भागवतकी महिमा

सूत उवाच

यं[2] ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैःस्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।

श्रीसूतजी कहते हैं—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तुतियोंके द्वारा जिनके गुण-गानमें संलग्न रहते हैं; साम-सङ्गीतके मर्मज्ञ ऋषि-मुनि अङ्ग, पद, क्रम एवं उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिनका गान करते रहते हैं; योगीलोग ध्यानके द्वारा निश्चल एवं तल्लीन मनसे

१. न्युपनमितस्थिर०। २. प्राचीन प्रतिमें 'यं ब्रह्मा·······विश्राम्यति' ये श्लोक (नं० १ और २) यहाँ नहीं पढ़े गये हैं। वर्तमान प्रतिमें जो उन्नीसवाँ श्लोक है, उसके बाद (अर्थात् '·······धीमहि' ॥१९॥ के बाद) उक्त दोनों श्लोकोंका उल्लेख है।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥१॥

जिनका भावमय दर्शन प्राप्त करते रहते हैं; किन्तु यह सब करते रहनेपर भी देवता, दैत्य, मनुष्य—कोई भी जिनके वास्तविक स्वरूपको पूर्णतया न जान सका उन स्वयंप्रकाश परमात्माको नमस्कार है ॥ १ ॥

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ।२।

जिस समय भगवान्‌ने कच्छपरूप धारण किया था और उनकी पीठपर बड़ा भारी मन्दराचल मथानीकी तरह घूम रहा था, उस समय मन्दराचलकी चट्टानोंके नोकसे खुजलानेके कारण भगवान्‌को तनिक सुख मिला। वे सो गये और श्वासकी गति तनिक बढ़ गयी। उस समय उस श्वासवायुसे जो समुद्रके जलको धक्का लगा था, उसका संस्कार आज भी उसमें शेष है। आज भी समुद्र उसी श्वासवायुके थपेड़ोंके फलस्वरूप ज्वार-भाटोंके रूपमें दिन-रात चढ़ता-उतरता रहता है, उसे अबतक विश्राम न मिला। भगवान्‌की वही परमप्रभावशाली श्वासवायु आपलोगोंकी रक्षा करे ॥ २ ॥

पुराणसंख्यासम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने ।
दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत ॥ ३ ॥
ब्राह्मं दशसहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च ।
श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम् ॥ ४ ॥
दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः ।
मार्कण्डं नव वाह्नं च दशपञ्च चतुःशतम् ॥ ५ ॥
चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च ।
दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लिङ्गमेकादशैव तु ॥ ६ ॥
चतुर्विंशति वाराहमेकाशीतिसहस्रकम् ।
स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दश कीर्तितम् ॥ ७ ॥
कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्दश ।
एकोनविंशत्सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु ॥ ८ ॥
एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः ।
तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते॥ ९ ॥

शौनकजी ! अब पुराणोंकी अलग-अलग श्लोक-संख्या, उनका जोड़, श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय और उसका प्रयोजन भी सुनिये। इसके दानकी पद्धति तथा दान और पाठ आदिकी महिमा भी आपलोग श्रवण कीजिये ॥ ३ ॥ ब्रह्मपुराणमें दस हजार श्लोक, पद्मपुराणमें पचपन हजार, श्रीविष्णुपुराणमें तेईस हजार और शिवपुराणकी श्लोकसंख्या चौबीस हजार है ॥ ४ ॥ श्रीमद्भागवतमें अठारह हजार, नारदपुराणमें पचीस हजार, मार्कण्डेयपुराणमें नौ हजार तथा अग्निपुराणमें पंद्रह हजार, चार सौ श्लोक हैं ॥ ५ ॥ भविष्यपुराणकी श्लोक-संख्या चौदह हजार, पाँच सौ है और ब्रह्मवैवर्तपुराणकी अठारह हजार और लिङ्गपुराणमें ग्यारह हजार श्लोक हैं ॥ ६ ॥ वराहपुराणमें चौबीस हजार, स्कन्दपुराणकी श्लोक-संख्या इक्यासी हजार, एक सौ है और वामन-पुराणकी दस हजार ॥ ७ ॥ कूर्मपुराण सत्रह हजार श्लोकोंका और मत्स्यपुराण चौदह हजार श्लोकोंका है। गरुड़पुराणमें उन्नीस हजार श्लोक हैं और ब्रह्माण्डपुराणमें बारह हजार ॥ ८ ॥ इस प्रकार सब पुराणोंकी श्लोक-संख्या कुल मिलाकर चार लाख होती है। उनमें श्रीमद्भागवत, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अठारह हजार श्लोकोंका है ॥ ९ ॥

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे ।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम् ॥१०॥
आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम् ।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ॥११॥
सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥१२॥
प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम् ।
ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम् ॥१३॥
राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे ।
यावन्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम् ॥१४॥
सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥१५॥
निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥१६॥
क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा ।
तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः ॥१७॥
श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥१८॥
कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा ।

शौनकजी! पहले पहल भगवान् विष्णुने अपने नाभिकमलपर स्थित एवं संसारसे भयभीत ब्रह्मापर परम करुणा करके इस पुराणको प्रकाशित किया था॥१०॥ इसके आदि, मध्य और अन्तमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाली बहुत-सी कथाएँ हैं। इस महापुराणमें जो भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथाएँ हैं, वे तो अमृतस्वरूप हैं ही; उनके सेवनसे सत्पुरुष और देवताओंको बड़ा ही आनन्द मिलता है॥११॥ आपलोग जानते हैं कि समस्त उपनिषदोंका सार है ब्रह्म और आत्माका एकत्वरूप अद्वितीय सद्वस्तु। वही श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय है। इसके निर्माणका प्रयोजन है एकमात्र कैवल्य-मोक्ष॥१२॥

जो पुरुष भाद्रपद मासकी पूर्णिमाके दिन श्रीमद्भागवतको सोनेके सिंहासनपर रखकर उसका दान करता है, उसे परमगति प्राप्त होती है॥१३॥ संतोंकी सभामें तभीतक दूसरे पुराणोंकी शोभा होती है, जबतक सर्वश्रेष्ठ स्वयं श्रीमद्भागवत महापुराणके दर्शन नहीं होते॥१४॥ यह श्रीमद्भागवत समस्त उपनिषदोंका सार है। जो इस रस-सुधाका पान करके छक चुका है, वह किसी और पुराण-शास्त्रमें रम नहीं सकता॥१५॥ जैसे नदियोंमें गङ्गा, देवताओंमें विष्णु और वैष्णवोंमें श्रीशङ्करजी सर्वश्रेष्ठ हैं, वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवत है॥१६॥ शौनकादि ऋषियो! जैसे सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें काशी सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवतका स्थान सबसे ऊँचा है॥१७॥ यह श्रीमद्भागवतपुराण सर्वथा निर्दोष है। भगवान्के प्यारे भक्त वैष्णव इससे बड़ा प्रेम करते हैं। इस पुराणमें जीवन्मुक्त परमहंसोंके सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय एवं मायाके लेशसे रहित ज्ञानका गान किया गया है। इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि इसका नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति भी ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिसे युक्त है। जो इसका श्रवण, पठन और मनन करने लगता है, उसे भगवान्की भक्ति प्राप्त हो जाती है और वह मुक्त हो जाता है॥१८॥

यह श्रीमद्भागवत भगवत्तत्त्वज्ञानका एक श्रेष्ठ प्रकाशक है। इसकी तुलनामें और कोई भी पुराण नहीं है। इसे पहले-पहल स्वयं भगवान् नारायणने ब्रह्माजीके लिये प्रकट किया था। फिर उन्होंने ही ब्रह्माजीके रूपसे देवर्षि नारदको उपदेश किया और नारदजीके रूपमें भगवान्-

योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-

स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥१९॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे ।

य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे ॥२०॥

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे ।

संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत् ॥२१॥

भवे[1] भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते ।

तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ॥२२॥

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।

प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥२३॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको । तदनन्तर उन्होंने ही व्यास-रूपसे योगीन्द्र शुकदेवजीको और श्रीशुकदेवजीके रूपसे अत्यन्त करुणावश राजर्षि परीक्षित्को उपदेश किया। वे भगवान् परम शुद्ध एवं मायामलसे रहित हैं। शोक और मृत्यु उनके पासतक नहीं फटक सकते। हम सब उन्हीं परम सत्यस्वरूप परमेश्वरका ध्यान करते हैं ॥१९॥ हम उन सर्वसाक्षी भगवान् वासुदेवको नमस्कार करते हैं, जिन्होंने कृपा करके मोक्षाभिलाषी ब्रह्माजीको इस श्रीमद्भागवत महापुराणका उपदेश किया ॥ २० ॥ साथ ही हम उन योगिराज ब्रह्मस्वरूप श्रीशुकदेवजीको भी नमस्कार करते हैं, जिन्होंने श्रीमद्भागवत महापुराण सुनाकर संसार-सर्पसे डसे हुए राजर्षि परीक्षित्को मुक्त किया ॥ २१ ॥ देवताओंके आराध्यदेव सर्वेश्वर ! आप ही हमारे एकमात्र स्वामी एवं सर्वस्व हैं। अब आप ऐसी कृपा कीजिये कि बार-बार जन्म ग्रहण करते रहनेपर भी आपके चरणकमलोंमें हमारी अविचल भक्ति बनी रहे ।२२। जिन भगवान्के नामोंका सङ्कीर्तन सारे पापोंको सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान्के चरणोंमें आत्मसमर्पण; उनके चरणोंमें प्रणति सर्वदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंको शान्त कर देती है, उन्हीं परमतत्त्वस्वरूप श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां
पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इति द्वादशः स्कन्धः समाप्तः

सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
तेन त्वदङ्घ्रिकमले रतिं मे यच्छ शाश्वतीम् ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'भवे भवे ...... हरिं परम ॥' ये दो (बाईसवाँ और तेईसवाँ) श्लोक नहीं हैं।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

परीक्षित् और वज्रनाभका समागम, शाण्डिल्यमुनिके मुखसे भगवान्‌की लीलाके रहस्य और व्रजभूमिके महत्त्वका वर्णन

व्यास उवाच

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे
कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे
नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥ १ ॥

महर्षि व्यास कहते हैं—जिनका स्वरूप है सच्चिदानन्दघन, जो अपने सौन्दर्य और माधुर्यादि गुणोंसे सबका मन अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं और सदा-सर्वदा अनन्त सुखकी वर्षा करते रहते हैं, जिनकी ही शक्तिसे इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं—उन भगवान् श्रीकृष्णको हम भक्तिरसका आस्वादन करनेके लिये नित्य-निरन्तर प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम् ।
कथामृतरसास्वादकुशला ऋषयोऽब्रुवन् ॥ २ ॥

नैमिषारण्यक्षेत्रमें श्रीसूतजी स्वस्थ चित्तसे अपने आसनपर बैठे हुए थे । उस समय भगवान्‌की अमृतमयी लीलाकथाके रसिक, उसके रसास्वादनमें अत्यन्त कुशल शौनकादि ऋषियोंने सूतजीको प्रणाम करके उनसे यह प्रश्न किया ॥ २ ॥

ऋषय ऊचुः

वज्रं श्रीमाथुरे देशे स्वपौत्रं हस्तिनापुरे ।
अभिषिच्य गते राज्ञि तौ कथं किं च चक्रतुः ॥ ३ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! धर्मराज युधिष्ठिर जब श्रीमथुरामण्डलमें अनिरुद्धनन्दन वज्रका और हस्तिनापुरमें अपने पौत्र परीक्षित्‌का राज्याभिषेक करके हिमालयपर चले गये, तब राजा वज्र और परीक्षित्‌ने कैसे-कैसे कौन-कौन-सा कार्य किया ? ॥ ३ ॥

सूत उवाच

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ ४ ॥

श्रीसूतजीने कहा—भगवान् नारायण, नरोत्तम नर, देवी सरस्वती और महर्षि व्यासको नमस्कार करके शुद्ध-चित्त होकर भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इतिहास-पुराणरूप 'जय'का उच्चारण करना चाहिये ॥ ४ ॥

महापथं गते राज्ञि परीक्षित् पृथिवीपतिः ।
जगाम मथुरां विप्रा वज्रनाभदिदृक्षया ॥ ५ ॥

शौनकादि ब्रह्मर्षियो ! जब धर्मराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवगण स्वर्गारोहणके लिये हिमालय चले गये, तब सम्राट् परीक्षित् एक दिन मथुरा गये । उनकी इस यात्राका उद्देश्य इतना ही था कि वहाँ चलकर वज्रनाभसे मिल-

पितृव्यमागतं ज्ञात्वा वज्रः प्रेमपरिप्लुतः ।
अभिगम्याभिवाद्याथ निनाय निजमन्दिरम् ॥ ६ ॥
परिष्वज्य स तं वीरः कृष्णैकगतमानसः ।
रोहिण्याद्या हरेः पत्नीर्ववन्दायतनागतः ॥ ७ ॥
ताभिः सम्मानितोऽत्यर्थं परीक्षित् पृथिवीपतिः ।
विश्रान्तः सुखमासीनो वज्रनाभमुवाच ह ॥ ८ ॥

परीक्षिदुवाच

तात त्वत्पितृभिर्नूनमस्मत्पितृपितामहाः ।
उद्धृता भूरिदुःखौघादहं च परिरक्षितः ॥ ९ ॥
न पारयाम्यहं तात साधु कृत्वोपकारतः ।
त्वामतः प्रार्थयाम्यङ्ग सुखं राज्येऽनुयुज्यताम् ॥ १० ॥
कोशसैन्यादिजा चिन्ता तथारिदमनादिजा ।
मनागपि न कार्या ते सुसेव्याः किन्तु मातरः ॥ ११ ॥
निवेद्य मयि कर्तव्यं सर्वाधिपरिवर्जनम् ।
श्रुत्वैतत् परमप्रीतो वज्रस्तं प्रत्युवाच ह ॥ १२ ॥

वज्रनाभ उवाच

राजन्नुचितमेतत्ते यदस्मासु प्रभाषते ।
त्वत्पित्रोपकृतश्चाहं धनुर्विद्याप्रदानतः ॥ १३ ॥
तस्मान्नाल्पापि मे चिन्ता क्षात्रं दृढमुपेयुषः ।

जुल आये ॥ ५ ॥ जब वज्रनाभको यह समाचार मालूम हुआ कि मेरे पितातुल्य परीक्षित् मुझसे मिलनेके लिये आ रहे हैं, तब उनका हृदय प्रेमसे भर गया। उन्होंने नगरसे आगे बढ़कर उनकी अगवानी की, चरणोंमें प्रणाम किया और बड़े प्रेमसे उन्हें अपने महलमें ले आये ॥ ६ ॥ वीर परीक्षित् भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रेमी भक्त थे। उनका मन नित्य-निरन्तर आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रमें ही रमता रहता था। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभका बड़े प्रेमसे आलिङ्गन किया। इसके बाद अन्तःपुरमें जाकर भगवान् श्रीकृष्णकी रोहिणी आदि पत्नियोंको नमस्कार किया ॥ ७ ॥ रोहिणी आदि श्रीकृष्ण-पत्नियोंने भी सम्राट् परीक्षित्‌का अत्यन्त सम्मान किया। वे विश्राम करके जब आरामसे बैठ गये, तब उन्होंने वज्रनाभसे यह बात कही ॥ ८ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—'हे तात! तुम्हारे पिता और पितामहोंने मेरे पिता-पितामहको बड़े-बड़े सङ्कटोंसे बचाया है। मेरी रक्षा भी उन्होंने ही की है ॥ ९ ॥ प्रिय वज्रनाभ! यदि मैं उनके उपकारोंका बदला चुकाना चाहूँ तो किसी प्रकार नहीं चुका सकता। इसलिये मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम सुखपूर्वक अपने राज-काजमें लगे रहो ॥ १० ॥ तुम्हें अपने खजानेकी, सेनाकी तथा शत्रुओंको दबाने आदिकी तनिक भी चिन्ता न करनी चाहिये। तुम्हारे लिये कोई कर्तव्य है तो केवल एक ही; वह यह कि तुम्हें अपनी इन माताओंकी खूब प्रेमसे भलीभाँति सेवा करते रहना चाहिये ॥ ११ ॥ यदि कभी तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति-विपत्ति आये अथवा किसी कारणवश तुम्हारे हृदयमें अधिक क्लेशका अनुभव हो, तो मुझसे बताकर निश्चिन्त हो जाना; मैं तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर कर दूँगा।' सम्राट् परीक्षित्‌की यह बात सुनकर वज्रनाभको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने राजा परीक्षित्‌से कहा—॥ १२ ॥

वज्रनाभने कहा—'महाराज! आप मुझसे जो कुछ कह रहे हैं, वह सर्वथा आपके अनुरूप है। आपके पिताने भी मुझे धनुर्वेदकी शिक्षा देकर मेरा महान् उपकार किया है ॥ १३ ॥ इसलिये मुझे किसी बातकी तनिक भी चिन्ता नहीं है; क्योंकि उनकी कृपासे मैं

किन्त्वेका परमा चिन्ता तत्र किञ्चिद् विचार्यताम्॥
माथुरे त्वभिषिक्तोऽपि स्थितोऽहं निर्जने वने।
क्व गता वै प्रजात्रत्या यत्र राज्यं प्ररोचते॥१५॥
इत्युक्तो विष्णुरातस्तु नन्दादीनां पुरोहितम्।
शाण्डिल्यमाजुहावाशु वज्रसन्देहनुत्तये॥१६॥
अथोटजं विहायाशु शाण्डिल्यः समुपागतः।
पूजितो वज्रनाभेन निषसादासनोत्तमे॥१७॥
उपोद्घातं विष्णुरातश्चकाराशु ततस्त्वसौ।
उवाच परमप्रीतस्तावुभौ परिसान्त्वयन्॥१८॥

शाण्डिल्य उवाच

शृणुतं दत्तचित्तौ मे रहस्यं व्रजभूमिजम्।
व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते॥१९॥
गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते।
सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्॥२०॥
तस्मिन् नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दाङ्गविग्रहः।
आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमाक्तैरनुभूयते॥२१॥
आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः॥२२॥
कामास्तु वाञ्छितास्तस्य गावो गोपाश्च गोपिकाः।
नित्याः सर्वे विहाराद्या आप्तकामस्ततस्त्वयम्॥२३॥

क्षत्रियोचित शूरवीरतासे भलीभाँति सम्पन्न हूँ। मुझे केवल एक बातकी बहुत बड़ी चिन्ता है, आप उसके सम्बन्धमें कुछ विचार कीजिये॥ १४॥ यद्यपि मैं मथुरा-मण्डलके राज्यपर अभिषिक्त हूँ, तथापि मैं यहाँ निर्जन वनमें ही रहता हूँ। इस बातका मुझे कुछ भी पता नहीं है कि यहाँकी प्रजा कहाँ चली गयी; क्योंकि राज्यका सुख तो तभी है, जब प्रजा रहे'॥ १५॥ जब वज्रनाभने परीक्षित्‌से यह बात कही, तब उन्होंने वज्रनाभका सन्देह मिटानेके लिये महर्षि शाण्डिल्यको बुलवाया। ये ही महर्षि शाण्डिल्य पहले नन्द आदि गोपोंके पुरोहित थे॥ १६॥ परीक्षित्‌का सन्देश पाते ही महर्षि शाण्डिल्य अपनी कुटी छोड़कर वहाँ आ पहुँचे। वज्रनाभने विधि-पूर्वक उनका स्वागत-सत्कार किया और वे एक ऊँचे आसनपर विराजमान हुए॥ १७॥ राजा परीक्षित्‌ने वज्रनाभकी बात उन्हें कह सुनायी। इसके बाद महर्षि शाण्डिल्य बड़ी प्रसन्नतासे उनको सान्त्वना देते हुए कहने लगे—॥ १८॥

शाण्डिल्यजीने कहा—प्रिय परीक्षित् और वज्रनाभ! मैं तुमलोगोंसे व्रजभूमिका रहस्य बतलाता हूँ। तुम दत्तचित्त होकर सुनो। 'व्रज' शब्दका अर्थ है व्याप्ति। इस वृद्ध-वचनके अनुसार व्यापक होनेके कारण ही इस भूमिका नाम 'व्रज' पड़ा है॥ १९॥ सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे अतीत जो परब्रह्म है, वही व्यापक है। इसलिये उसे 'व्रज' कहते हैं। वह सदानन्दस्वरूप, परम ज्योतिर्मय और अविनाशी है। जीवन्मुक्त पुरुष उसीमें स्थित रहते हैं॥ २०॥ इस परब्रह्मस्वरूप व्रजधाममें नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निवास है। उनका एक-एक अङ्ग सच्चिदानन्दस्वरूप है। वे आत्माराम और आप्तकाम हैं। प्रेमरसमें डूबे हुए रसिकजन ही उनका अनुभव करते हैं॥ २१॥ भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं—राधिका; उनसे रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष उन्हें 'आत्माराम' कहते हैं॥ २२॥ 'काम' शब्दका अर्थ है कामना—अभिलाषा। व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णके वाञ्छित पदार्थ हैं—गौएँ, ग्वालबाल, गोपियाँ और उनके साथ लीला-विहार आदि; वे सब-के-सब यहाँ नित्य प्राप्त हैं। इसीसे श्रीकृष्णको 'आप्तकाम' कहा गया

रहस्यं त्विदमेतस्य प्रकृतेः परमुच्यते ।
प्रकृत्या खेलतस्तस्य लीलान्यैरनुभूयते ॥२४॥
सर्गस्थित्यप्यया यत्र रजःसत्त्वतमोगुणैः ।
लीलैवं द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी ॥२५॥
वास्तवी तत्स्वसंवेद्या जीवानां व्यावहारिकी ।
आद्यां विना द्वितीया न द्वितीया नाद्यगा क्वचित् ॥२६
युवयोर्गोचरेयं तु तल्लीला व्यावहारिकी ।
यत्र भूरादयो लोका भुवि माथुरमण्डलम् ॥२७॥
अत्रैव व्रजभूमिः सा यत्र तत्त्वं सुगोपितम् ।
भासते प्रेमपूर्णानां कदाचिदपि सर्वतः ॥२८॥
कदाचिद् द्वापरस्यान्ते रहोलीलाधिकारिणः ।
समवेता यदात्र स्युर्यथेदानीं तदा हरिः ॥२९॥
स्वैः सहावतरेत् स्वेषु समावेशार्थमीप्सिताः।
तदा देवादयोऽप्यन्येऽवतरन्ति समन्ततः॥३०॥
सर्वेषां वाञ्छितं कृत्वा हरिरन्तर्हितोऽभवत् ।
तेनात्र त्रिविधा लोकाः स्थिताः पूर्वं न संशयः।
नित्यास्तल्लिप्सवश्चैव देवाद्याश्चेति भेदतः।

है ॥ २३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी यह रहस्य-लीला प्रकृतिसे परे है । वे जिस समय प्रकृतिके साथ खेलने लगते हैं, उस समय दूसरे लोग भी उनकी लीलाका अनुभव करते हैं ॥ २४ ॥ प्रकृतिके साथ होनेवाली लीलामें ही रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है । इस प्रकार यह निश्चय होता है कि भगवान्‌की लीला दो प्रकारकी है—एक वास्तवी और दूसरी व्यावहारिकी ॥ २५ ॥ वास्तवी लीला स्वसंवेद्य है—उसे स्वयं भगवान् और उनके रसिक भक्तजन ही जानते हैं । जीवोंके सामने जो लीला होती है, वह व्यावहारिकी लीला है । वास्तवी लीलाके बिना व्यावहारिकी लीला नहीं हो सकती; परन्तु व्यावहारिकी लीलाका वास्तविक लीलाके राज्यमें कभी प्रवेश नहीं हो सकता ॥ २६ ॥ तुम दोनों भगवान्‌की जिस लीलाको देख रहे हो, यह व्यावहारिकी लीला है । यह पृथ्वी और स्वर्ग आदि लोक इसी लीलाके अन्तर्गत हैं । इसी पृथ्वीपर यह मथुरामण्डल है॥ २७ ॥ यहीं वह व्रजभूमि है, जिसमें भगवान्‌की वह वास्तवी रहस्य-लीला गुप्तरूपसे होती रहती है । वह कभी-कभी प्रेमपूर्ण हृदयवाले रसिक भक्तोंको सब ओर दीखने लगती है ॥ २८ ॥ कभी अट्ठाईसवें द्वापरके अन्तमें जब भगवान्‌की रहस्य-लीलाके अधिकारी भक्तजन यहाँ एकत्र होते हैं, जैसा कि इस समय भी कुछ काल पहले हुए थे, उस समय भगवान् अपने अन्तरङ्ग प्रेमियोंके साथ अवतार लेते हैं । उनके अवतारका यह प्रयोजन होता है कि रहस्य-लीलाके अधिकारी भक्तजन भी अन्तरङ्ग परिकरोंके साथ सम्मिलित होकर लीला-रसका आस्वादन कर सकें । इस प्रकार जब भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं, उस समय भगवान्‌के अभिमत प्रेमी देवता और ऋषि आदि भी सब ओर अवतार लेते हैं ॥ २९-३० ॥

अभी-अभी जो अवतार हुआ था, उसमें भगवान् अपने सभी प्रेमियोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण करके अब अन्तर्धान हो चुके हैं । इससे यह निश्चय हुआ कि यहाँ पहले तीन प्रकारके भक्तजन उपस्थित थे; इसमें संदेह नहीं है ॥ ३१ ॥ उन तीनोंमें प्रथम तो उनकी श्रेणी है, जो भगवान्‌के नित्य 'अन्तरङ्ग' पार्षद हैं—जिनका भगवान्‌से कभी वियोग होता ही नहीं । दूसरे वे हैं, जो

देवाद्यास्तेषु कृष्णेन द्वारिकां प्रापिताः पुरा ॥३२॥

पुनर्मौशलमार्गेण स्वाधिकारेषु चापिताः ।

तल्लिप्सूंश्च सदा कृष्णः प्रेमानन्दैकरूपिणः ॥३३॥

विधाय स्वीयनित्येषु समावेशितवांस्तदा ।

नित्याः सर्वेऽप्ययोग्येषु दर्शनाभावतां गताः ॥३४॥

व्यावहारिकलीलास्थास्तत्र यन्नाधिकारिणः ।

पश्यन्त्यत्रागतास्तस्मान्निर्जनत्वं समन्ततः ॥३५॥

तस्माच्चिन्ता न ते कार्या वज्रनाभ मदाज्ञया ।

वासयात्र बहून् ग्रामान् संसिद्धिस्ते भविष्यति॥३६॥

कृष्णलीलानुसारेण कृत्वा नामानि सर्वतः ।

त्वया वासयता ग्रामान् संसेव्या भूरियं परा ॥३७॥

गोवर्द्धने दीर्घपुरे मथुरायां महावने ।

नन्दिग्रामे बृहत्सानौ कार्या राज्यस्थितिस्त्वया ॥३८॥

नद्यद्रिद्रोणिकुण्डादिकुञ्जान् संसेवतस्तव ।

राज्ये प्रजाः सुसम्पन्नास्त्वं च प्रीतो भविष्यसि॥३९॥

सच्चिदानन्दभूरेषा त्वया सेव्या प्रयत्नतः ।

एकमात्र भगवान्‌को पानेकी इच्छा रखते हैं—उनकी अन्तरङ्ग-लीलामें अपना प्रवेश चाहते हैं। तीसरी श्रेणीमें देवता आदि हैं। इनमेंसे जो देवता आदिके अंशसे अवतीर्ण हुए थे, उन्हें भगवान्‌ने व्रजभूमिसे हटाकर पहले ही द्वारका पहुँचा दिया था ॥ ३२ ॥ फिर भगवान्‌ने ब्राह्मणके शापसे उत्पन्न मूसलको निमित्त बनाकर यदुकुलमें अवतीर्ण देवताओंको स्वर्गमें भेज दिया और पुनः अपने-अपने अधिकारपर स्थापित कर दिया। तथा जिन्हें एकमात्र भगवान्‌को ही पानेकी इच्छा थी, उन्हें प्रेमानन्दस्वरूप बनाकर श्रीकृष्णने सदाके लिये अपने नित्य अन्तरङ्ग पार्षदोंमें सम्मिलित कर लिया। जो नित्य पार्षद हैं, वे यद्यपि यहाँ गुप्तरूपसे होनेवाली नित्यलीलामें सदा ही रहते हैं, परन्तु जो उनके दर्शनके अधिकारी नहीं हैं, ऐसे पुरुषोंके लिये वे भी अदृश्य हो गये हैं ॥ ३३-३४॥ जो लोग व्यावहारिक लीलामें स्थित हैं, वे नित्यलीलाका दर्शन पानेके अधिकारी नहीं हैं; इसलिये यहाँ आनेवालोंको सब ओर निर्जन वन—सूना-ही-सूना दिखायी देता है, क्योंकि वे वास्तविक लीलामें स्थित भक्तजनोंको देख नहीं सकते ॥ ३५ ॥

इसलिये वज्रनाभ! तुम्हें तनिक भी चिन्ता न करनी चाहिये। तुम मेरी आज्ञासे यहाँ बहुत-से गाँव बसाओ; इससे निश्चय ही तुम्हारे मनोरथोंकी सिद्धि होगी ॥३६॥ भगवान् श्रीकृष्णने जहाँ जैसी लीला की है, उसके अनुसार उस स्थानका नाम रखकर तुम अनेकों गाँव बसाओ और इस प्रकार दिव्य व्रजभूमिका भलीभाँति सेवन करते रहो ॥ ३७ ॥ गोवर्धन, दीर्घपुर (डीग), मथुरा, महावन (गोकुल), नन्दिग्राम (नन्दगाँव) और बृहत्सानु (बरसाना) आदिमें तुम्हें अपने लिये छावनी बनवानी चाहिये ॥ ३८ ॥ उन-उन स्थानोंमें रहकर भगवान्‌की लीलाके स्थल नदी, पर्वत, घाटी, सरोवर और कुण्ड तथा कुञ्ज-वन आदिका सेवन करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे तुम्हारे राज्यमें प्रजा बहुत ही सम्पन्न होगी और तुम भी अत्यन्त प्रसन्न रहोगे ॥ ३९ ॥ यह व्रजभूमि सच्चिदानन्दमयी है, अतः तुम्हें प्रयत्नपूर्वक इस भूमिका सेवन करना चाहिये। मैं आशीर्वाद देता हूँ; मेरी कृपासे

तव कृष्णस्थलान्यत्र स्फुरन्तु मदनुग्रहात् ॥४०॥
वज्र संसेवनादस्य उद्धवस्त्वां मिलिष्यति ।
ततो रहस्यमेतस्मात् प्राप्स्यसि त्वं समातृकः ॥४१॥
एवमुक्त्वा तु शाण्डिल्यो गतः कृष्णमनुस्मरन् ।
विष्णुरातोऽथ वज्रश्च परां प्रीतिमवापतुः ॥४२॥

भगवान्‌की लीलाके जितने भी स्थल हैं, सबकी तुम्हें ठीक-ठीक पहचान हो जायगी ॥ ४० ॥ वज्रनाभ! इस व्रजभूमिका सेवन करते रहनेसे तुम्हें किसी दिन उद्धवजी मिल जायँगे। फिर तो अपनी माताओंसहित तुम उन्हींसे इस भूमिका तथा भगवान्‌की लीलाका रहस्य भी जान लोगे ॥ ४१ ॥

मुनिवर शाण्डिल्यजी उन दोनोंको इस प्रकार समझा-बुझाकर भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करते हुए अपने आश्रमपर चले गये। उनकी बातें सुनकर राजा परीक्षित् और वज्रनाभ दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४२ ॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये शाण्डिल्योपदिष्टव्रजभूमिमाहात्म्यवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

यमुना और श्रीकृष्णपत्नियोंका संवाद, कीर्तनोत्सवमें उद्धवजीका प्रकट होना

ऋषय ऊचुः

शाण्डिल्ये तौ समादिश्य परावृत्ते स्वमाश्रमम् ।
किं कथं चक्रतुस्तौ तु राजानौ सूत तद्वद ॥ १ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी! अब यह बतलाइये कि परीक्षित् और वज्रनाभको इस प्रकार आदेश देकर जब शाण्डिल्य मुनि अपने आश्रमको लौट गये, तब उन दोनों राजाओंने कैसे-कैसे और कौन-कौन-सा काम किया? ॥ १ ॥

सूत उवाच

ततस्तु विष्णुरातेन श्रेणीमुख्याः सहस्रशः ।
इन्द्रप्रस्थात् समानाय्य मथुरास्थानमापिताः ॥ २ ॥
माथुरान् ब्राह्मणांस्तत्र वानरांश्च पुरातनान् ।
विज्ञाय माननीयत्वं तेषु स्थापितवान् स्वराट् ॥ ३ ॥
वज्रस्तु तत्सहायेन शाण्डिल्यस्याप्यनुग्रहात् ।
गोविन्दगोपगोपीनां लीलास्थानान्यनुक्रमात् ॥ ४ ॥
विज्ञायाभिधयाऽऽस्थाप्य ग्रामानावासयद् बहून् ।
कुण्डकूपादिपूर्तेन शिवादिस्थापनेन च ॥ ५ ॥

सूतजी कहने लगे—तदनन्तर महाराज परीक्षित्‌ने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) से हजारों बड़े-बड़े सेठोंको बुलवाकर मथुरामें रहनेकी जगह दी ॥ २ ॥ इनके अतिरिक्त सम्राट् परीक्षित्‌ने मथुरामण्डलके ब्राह्मणों तथा प्राचीन वानरोंको, जो भगवान्‌के बड़े ही प्रेमी थे, बुलवाया और उन्हें आदरके योग्य समझकर मथुरा-नगरीमें बसाया ॥ ३ ॥ इस प्रकार राजा परीक्षित्‌की सहायता और महर्षि शाण्डिल्यकी कृपासे वज्रनाभने क्रमशः उन सभी स्थानोंकी खोज की, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी गोप-गोपियोंके साथ नाना प्रकारकी लीलाएँ करते थे। लीलास्थानोंका ठीक-ठीक निश्चय हो जानेपर उन्होंने वहाँ-वहाँकी लीलाके अनुसार उस-उस स्थानका नाम-करण किया, भगवान्‌के लीलाविग्रहोंकी स्थापना की तथा उन-उन स्थानोंपर अनेकों गाँव बसाये। स्थान-स्थानपर भगवान्‌के नामसे कुण्ड और कुएँ खुदवाये। कुञ्ज और बगीचे लगवाये, शिव आदि

गोविन्दहरिदेवादिस्वरूपारोपणेन च ।
कृष्णैकभक्तिं स्वे राज्ये ततान च मुमोद ह ॥ ६ ॥
प्रजास्तु मुदितास्तस्य कृष्णकीर्तनतत्पराः ।
परमानन्दसम्पन्ना राज्यं तस्यैव तुष्टुवुः ॥ ७ ॥
एकदा कृष्णपत्न्यस्तु श्रीकृष्णविरहातुराः ।
कालिन्दीं मुदितां वीक्ष्य पप्रच्छुर्गतमत्सराः ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णपत्न्य ऊचुः

यथा वयं कृष्णपत्न्यस्तथा त्वमपि शोभने ।
वयं विरहदुःखार्तास्त्वं न कालिन्दि तद्वद ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा स्मयमाना सा कालिन्दी वाक्यमब्रवीत् ।
सापत्न्यं वीक्ष्य तत्तासां करुणापरमानसा ॥ १० ॥

कालिन्द्युवाच

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।
तस्या दास्यप्रभावेण विरहोऽस्मान् न संस्पृशेत् ॥ ११ ॥
तस्या एवांशविस्ताराः सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः ।
नित्यसम्भोग एवास्ति तस्याः साम्मुख्ययोगतः ॥ १२ ॥
स एव सा स सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका ।

देवताओंकी स्थापना की ॥ ४-५ ॥ गोविन्ददेव, हरिदेव आदि नामोंसे भगवद्विग्रह स्थापित किये । इन सब शुभ कर्मोंके द्वारा वज्रनाभने अपने राज्यमें सब ओर एकमात्र श्रीकृष्णभक्तिका प्रचार किया और बड़े ही आनन्दित हुए ॥ ६ ॥ उनके प्रजाजनोंको भी बड़ा आनन्द था, वे सदा भगवान्‌के मधुर नाम तथा लीलाओंके कीर्तनमें संलग्न हो परमानन्दके समुद्रमें डूबे रहते थे और सदा ही वज्रनाभके राज्यकी प्रशंसा किया करते थे ॥ ७ ॥

एक दिन भगवान् श्रीकृष्णकी विरह-वेदनासे व्याकुल सोलह हजार रानियाँ अपने प्रियतम पतिदेवकी चतुर्थ पटरानी कालिन्दी (यमुनाजी) को आनन्दित देखकर सरलभावसे उनसे पूछने लगीं । उनके मनमें सौतिया-डाहका लेशमात्र भी नहीं था ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णकी रानियोंने कहा—बहिन कालिन्दी ! जैसे हम सब श्रीकृष्णकी धर्मपत्नी हैं, वैसे ही तुम भी तो हो । हम तो उनकी विरहाग्निमें जली जा रही हैं, उनके वियोग-दुःखसे हमारा हृदय व्यथित हो रहा है; किन्तु तुम्हारी यह स्थिति नहीं है, तुम प्रसन्न हो । इसका क्या कारण है ? कल्याणी ! कुछ बताओ तो सही ॥ ९ ॥

उनका प्रश्न सुनकर यमुनाजी हँस पड़ीं । साथ ही यह सोचकर कि मेरे प्रियतमकी पत्नी होनेके कारण ये भी मेरी ही बहिनें हैं, पिघल गयीं; उनका हृदय दयासे द्रवित हो उठा । अतः वे इस प्रकार कहने लगीं—॥ १० ॥

यमुनाजीने कहा—अपनी आत्मामें ही रमण करनेके कारण भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं । और उनकी आत्मा हैं—श्रीराधाजी । मैं दासीकी भाँति राधाजीकी सेवा करती रहती हूँ; उनकी सेवाका ही यह प्रभाव है कि विरह हमारा स्पर्श नहीं कर सकता ॥ ११ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी जितनी भी रानियाँ हैं, सब-की-सब श्री-राधाके ही अंशका विस्तार हैं । भगवान् श्रीकृष्ण और राधा सदा एक दूसरेके सम्मुख हैं, उनका परस्पर नित्य-संयोग है; इसलिये राधाके स्वरूपमें अंशतः विद्यमान जो श्रीकृष्णकी अन्य रानियाँ हैं, उनको भी भगवान्‌का नित्य-संयोग प्राप्त है ॥ १२ ॥ श्रीकृष्ण ही राधा हैं और राधा ही श्रीकृष्ण हैं । उन दोनोंका प्रेम ही वंशी है ।

श्रीकृष्णनखचन्द्रालिसङ्गाच्चन्द्रावली स्मृता ॥१३॥
रूपान्तरमगृह्णाना तयोः सेवातिलालसा ।
रुक्मिण्यादिसमावेशो मयात्रैव विलोकितः ॥१४॥
युष्माकमपि कृष्णेन विरहो नैव सर्वतः ।
किन्तु एवं न जानीथ तस्माद् व्याकुलतामिताः॥१५॥
एवमेवात्र गोपीनामक्रूरावसरे पुरा ।
विरहाभास एवासीदुद्धवेन समाहितः ॥१६॥
तेनैव भवतीनां चेद् भवेदत्र समागमः ।
तर्हि नित्यं स्वकान्तेन विहारमपि लप्स्यथ ॥१७॥

सूत उवाच

एवमुक्तास्तु ताः पत्न्यः प्रसन्नां पुनरब्रुवन् ।
उद्धवालोकनेनात्मप्रेष्ठसङ्गमलालसाः ॥१८॥

श्रीकृष्णपत्न्य ऊचुः

धन्यासि सखि कान्तेन यस्या नैवास्ति विच्युतिः।
यतस्ते स्वार्थसंसिद्धिस्तस्या दास्यो बभूविम ॥१९॥
परन्तूद्धवलाभे स्यादस्मत्सर्वार्थसाधनम् ।
तथा वदस्व कालिन्दि तल्लाभोऽपि यथा भवेत्॥२०॥

सूत उवाच

एवमुक्ता तु कालिन्दी प्रत्युवाचाथ तास्तथा ।
स्मरन्ती कृष्णचन्द्रस्य कलाः षोडशरूपिणीः॥२१॥

तथा राधाकी प्यारी सखी चन्द्रावली भी श्रीकृष्ण-चरणोंके नखरूपी चन्द्रमाओंकी सेवामें आसक्त रहनेके कारण ही 'चन्द्रावली' नामसे कही जाती है ॥ १३ ॥ श्रीराधा और श्रीकृष्णकी सेवामें उसकी बड़ी लालसा, बड़ी लगन है; इसीलिये वह कोई दूसरा स्वरूप धारण नहीं करती। मैंने यहीं श्रीराधामें ही रुक्मिणी आदिका समावेश देखा है ॥ १४ ॥ तुमलोगोंका भी सर्वांशमें श्रीकृष्णके साथ वियोग नहीं हुआ है; किन्तु तुम इस रहस्यको इस रूपमें जानती नहीं हो, इसीलिये इतनी व्याकुल हो रही हो॥१५॥ इसी प्रकार पहले भी जब अक्रूर श्रीकृष्णको नन्दगाँवसे मथुरामें ले आये थे, उस अवसरपर जो गोपियोंको श्रीकृष्णसे विरहकी प्रतीति हुई थी, वह भी वास्तविक विरह नहीं, केवल विरहका आभास था। इस बातको जबतक वे नहीं जानती थीं, तबतक उन्हें बड़ा कष्ट था; फिर जब उद्धवजीने आकर उनका समाधान किया, तब वे इस बातको समझ सकीं ॥ १६ ॥ यदि तुम्हें भी उद्धवजीका सत्संग प्राप्त हो जाय, तो तुम सब भी अपने प्रियतम श्रीकृष्णके साथ नित्यविहारका सुख प्राप्त कर लोगी ॥१७॥

सूतजी कहते हैं—ऋषिगण ! जब उन्होंने इस प्रकार समझाया, तब श्रीकृष्णकी पत्नियाँ सदा प्रसन्न रहनेवाली यमुनाजीसे पुनः बोलीं । उस समय उनके हृदयमें इस बातकी बड़ी लालसा थी कि किसी उपायसे उद्धवजीका दर्शन हो, जिससे हमें अपने प्रियतमके नित्य-संयोगका सौभाग्य प्राप्त हो सके ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णपत्नियोंने कहा—सखी ! तुम्हारा ही जीवन धन्य है; क्योंकि तुम्हें कभी भी अपने प्राणनाथके वियोगका दुःख नहीं भोगना पड़ता। जिन श्रीराधिकाजीकी कृपासे तुम्हारे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हुई है, उनकी अब हम-लोग भी दासी हुईं ॥ १९ ॥ किन्तु तुम अभी कह चुकी हो कि उद्धवजीके मिलनेपर ही हमारे सभी मनोरथ पूर्ण होंगे; इसलिये कालिन्दी ! अब ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे उद्धवजी भी शीघ्र ही मिल जायँ ॥ २० ॥

सूतजी कहते हैं—श्रीकृष्णकी रानियोंने जब यमुना-जीसे इस प्रकार कहा, तब वे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी सोलह कलाओंका चिन्तन करती हुई उनसे कहने

साधनभूमिर्बदरी व्रजता कृष्णेन मन्त्रिणे प्रोक्ता ।

तत्रास्ते स तु साक्षात्तद्वयुनं ग्राहयँल्लोकान् ॥२२॥

फलभूमिर्व्रजभूमिर्दत्ता तस्मै पुरैव सरहस्यम् ।

फलमिह तिरोहितं सत्तदिहेदानीं स उद्धवोऽलक्ष्यः॥२३

गोवर्द्धनगिरिनिकटे सखीस्थले तद्व्रजःकामः ।

तत्रत्याङ्कुरवल्लीरूपेणास्ते स उद्धवो नूनम् ॥२४॥

आत्मोत्सवरूपत्वं हरिणा तस्मै समर्पितं नियतम् ।

तस्मात्तत्र स्थित्वा कुसुमसरःपरिसरे सवज्राभिः॥२५॥

वीणावेणुमृदङ्गैः कीर्तनकाव्यादिसरससङ्गीतैः।

उत्सव आरब्धव्यो हरिरतलोकान् समानाय्य ॥२६॥

तत्रोद्धवावलोको भविता नियतं महोत्सवे वितते।

यौष्माकीणामभिमतसिद्धिं सविता स एव सवितानाम्

सूत उवाच

इति श्रुत्वा प्रसन्नास्ताः कालिन्दीमभिवन्द्य तत् ।

कथयामासुरागत्य वज्रं प्रति परीक्षितम् ॥२८॥

लगीं ॥ २१ ॥ "जब भगवान् श्रीकृष्ण अपने परमधामको पधारने लगे, तब उन्होंने अपने मन्त्री उद्धवसे कहा—'उद्धव ! साधना करनेकी भूमि है बदरिकाश्रम, अतः अपनी साधना पूर्ण करनेके लिये तुम वहीं जाओ ।' भगवान्‌की इस आज्ञाके अनुसार उद्धवजी इस समय अपने साक्षात् स्वरूपसे बदरिकाश्रममें विराजमान हैं और वहाँ जानेवाले जिज्ञासुलोगोंको भगवान्‌के बताये हुए ज्ञानका उपदेश करते रहते हैं ॥ २२ ॥ साधनकी फलरूपा भूमि है—व्रजभूमि; इसे भी इसके रहस्योंसहित भगवान्‌ने पहले ही उद्धवको दे दिया था । किन्तु वह फलभूमि यहाँसे भगवान्‌के अन्तर्धान होनेके साथ ही स्थूल दृष्टिसे परे जा चुकी है; इसीलिये इस समय यहाँ उद्धव प्रत्यक्ष दिखायी नहीं पड़ते ॥ २३ ॥ फिर भी एक स्थान है, जहाँ उद्धवजीका दर्शन हो सकता है । गोवर्धन पर्वतके निकट भगवान्‌की लीलासहचरी गोपियोंकी विहार-स्थली है; वहाँकी लता, अङ्कुर और बेलोंके रूपमें अवश्य ही उद्धवजी वहाँ निवास करते हैं । लताओंके रूपमें उनके रहनेका यही उद्देश्य है कि भगवान्‌की प्रियतमा गोपियोंकी चरणरज उनपर पड़ती रहे ॥ २४ ॥ उद्धवजीके सम्बन्धमें एक निश्चित बात यह भी है कि उन्हें भगवान्‌ने अपना उत्सव-स्वरूप प्रदान किया है । भगवान्‌का उत्सव उद्धवजीका अंग है, वे उससे अलग नहीं रह सकते; इसलिये अब तुमलोग वज्रनाभको साथ लेकर वहाँ जाओ और कुसुमसरोवरके पास ठहरो ॥ २५ ॥ भगवद्भक्तोंकी मण्डली एकत्र करके वीणा, वेणु और मृदंग आदि बाजोंके साथ भगवान्‌के नाम और लीलाओंके कीर्तन, भगवत्सम्बन्धी काव्य-कथाओंके श्रवण तथा भगवद्गुणगानसे युक्त सरस संगीतोंद्वारा महान् उत्सव आरम्भ करो ॥२६॥ इस प्रकार जब उस महान् उत्सवका विस्तार होगा, तब निश्चय है कि वहाँ उद्धवजीका दर्शन मिलेगा । वे ही भलीभाँति तुम सब लोगोंके मनोरथ पूर्ण करेंगे" ॥ २७ ॥

सूतजी कहते हैं—यमुनाजीकी बतायी हुई बातें सुनकर श्रीकृष्णकी रानियाँ बहुत प्रसन्न हुईं । उन्होंने यमुनाजीको प्रणाम किया और वहाँसे लौटकर वज्रनाभ तथा परीक्षित्‌से वे सारी बातें कह सुनायीं ॥ २८ ॥

विष्णुरातस्तु तच्छ्रुत्वा प्रसन्नस्तद्युतस्तदा ।
तत्रैवागत्य तत् सर्वं कारयामास सत्वरम् ॥२९॥

सब बातें सुनकर परीक्षित्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वज्रनाभ तथा श्रीकृष्णपत्नियोंको उसी समय साथ ले उस स्थानपर पहुँचकर तत्काल वह सब कार्य आरम्भ करवा दिया, जो कि यमुनाजीने बताया था ॥ २९ ॥

गोवर्द्धनाददूरेण वृन्दारण्ये सखीस्थले ।
प्रवृत्तः कुसुमाम्भोधौ कृष्णसङ्कीर्तनोत्सवः ॥३०॥

गोवर्धनके निकट वृन्दावनके भीतर कुसुमसरोवरपर जो सखियोंकी विहारस्थली है, वहाँ ही श्रीकृष्णकीर्तनका उत्सव आरम्भ हुआ ॥ ३० ॥

वृषभानुसुताकान्तविहारे कीर्तनश्रिया ।
साक्षादिव समावृत्ते सर्वेऽनन्यदृशोऽभवन् ॥३१॥

वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी तथा उनके प्रियतम श्रीकृष्णकी वह लीलाभूमि जब साक्षात् सङ्कीर्तनकी शोभासे सम्पन्न हो गयी, उस समय वहाँ रहनेवाले सभी भक्तजन एकाग्र हो गये; उनकी दृष्टि, उनके मनकी वृत्ति कहीं अन्यत्र न जाती थी ॥ ३१ ॥

ततः पश्यत्सु सर्वेषु तृणगुल्मलताचयात् ।
आजगामोद्धवः स्रग्वी श्यामः पीताम्बरावृतः ॥३२॥
गुञ्जामालाधरो गायन् वल्लवीवल्लभं मुहुः ।
तदागमनतो रेजे भृशं सङ्कीर्तनोत्सवः ॥३३॥
चन्द्रिकागमतो यद्वत् स्फाटिकाट्टालभूमणिः ।
अथ सर्वे सुखाम्भोधौ मग्नाः सर्वं विसस्मरुः ॥३४॥

तदनन्तर सबके देखते-देखते वहाँ फैले हुए तृण, गुल्म और लताओंके समूहसे प्रकट होकर श्रीउद्धवजी सबके सामने आये । उनका शरीर श्यामवर्ण था, उसपर पीताम्बर शोभा पा रहा था । वे गलेमें वनमाला और गुंजाकी माला धारण किये हुए थे तथा मुखसे बारंबार गोपीवल्लभ श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंका गान कर रहे थे । उद्धवजीके आगमनसे उस सङ्कीर्तनोत्सवकी शोभा कई गुनी बढ़ गयी । जैसे स्फटिकमणिकी बनी हुई अट्टालिकाकी छतपर चाँदनी छिटकनेसे उसकी शोभा बहुत बढ़ जाती है । उस समय सभी लोग आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो अपना सब कुछ भूल गये, सुध-बुध खो बैठे ॥ ३२–३४ ॥

क्षणेनागतविज्ञाना दृष्ट्वा श्रीकृष्णरूपिणम् ।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुः प्रतिलब्धमनोरथाः ॥३५॥

थोड़ी देर बाद जब उनकी चेतना दिव्य लोकसे नीचे आयी, अर्थात् जब उन्हें होश हुआ तब उद्धवजीको भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपमें उपस्थित देख, अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेके कारण प्रसन्न हो वे उनकी पूजा करने लगे ॥ ३५ ॥

इति श्रीस्कन्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये गोवर्धनपर्वतसमीपे परीक्षिदादीनामुद्धवदर्शनवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतकी परम्परा और उसका माहात्म्य, भागवतश्रवणसे श्रोताओंको भगवद्धामकी प्राप्ति

सूत उवाच

अथोद्धवस्तु तान् दृष्ट्वा कृष्णकीर्तनतत्परान् ।
सत्कृत्याथ परिष्वज्य परीक्षितमुवाच ह ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—उद्धवजीने वहाँ एकत्र हुए सब लोगोंको श्रीकृष्णकीर्तनमें लगा देखकर सभीका सत्कार किया और राजा परीक्षित्‌को हृदयसे लगाकर कहा ॥ १ ॥

उद्धव उवाच

धन्योऽसि राजन् कृष्णैकभक्त्या पूर्णोऽसि नित्यदा।

यस्त्वं निमग्नचित्तोऽसि कृष्णसङ्कीर्तनोत्सवे॥ २ ॥

कृष्णपत्नीषु वज्रे च दिष्ट्या प्रीतिः प्रवर्तिता।

तवोचितमिदं तात कृष्णदत्ताङ्गवैभव ॥ ३ ॥

द्वारकास्थेषु सर्वेषु धन्या एते न संशयः।

येषां व्रजनिवासाय पार्थमादिष्टवान् प्रभुः ॥ ४ ॥

श्रीकृष्णस्य मनश्चन्द्रो राधास्यप्रभयान्वितः।

तद्विहारवनं गोभिर्मण्डयन् रोचते सदा ॥ ५ ॥

कृष्णचन्द्रः सदा पूर्णस्तस्य षोडश याः कलाः।

चित्सहस्रप्रभाभिन्ना अत्रास्ते तत्स्वरूपता॥ ६ ॥

एवं वज्रस्तु राजेन्द्र प्रपन्नभयभञ्जकः।

श्रीकृष्णदक्षिणे पादे स्थानमेतस्य वर्तते ॥ ७ ॥

अवतारेऽत्र कृष्णेन योगमायातिभाविताः।

तद्बलेनात्मविस्मृत्या सीदन्त्येते न संशयः॥ ८ ॥

ऋते कृष्णप्रकाशं तु स्वात्मबोधो न कस्यचित्।

तत्प्रकाशस्तु जीवानां मायया पिहितः सदा॥ ९ ॥

अष्टाविंशे द्वापरान्ते स्वयमेव यदा हरिः।

उत्सारयेन्निजां मायां तत्प्रकाशो भवेत्तदा॥१०॥

उद्धवजीने कहा—राजन्! तुम धन्य हो, एकमात्र श्रीकृष्णकी भक्तिसे ही पूर्ण हो! क्योंकि श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तनके महोत्सवमें तुम्हारा हृदय इस प्रकार निमग्न हो रहा है ॥ २ ॥ बड़े सौभाग्यकी बात है कि श्रीकृष्णकी पत्नियोंके प्रति तुम्हारी भक्ति और वज्रनाभपर तुम्हारा प्रेम है। तात! तुम जो कुछ कर रहे हो, सब तुम्हारे अनुरूप ही है। क्यों न हो, श्रीकृष्णने ही तुम्हें शरीर और वैभव प्रदान किया है, अतः तुम्हारा उनके प्रपौत्रपर प्रेम होना स्वाभाविक ही है ॥ ३ ॥ इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि समस्त द्वारकावासियोंमें ये लोग सबसे बढ़कर धन्य हैं, जिन्हें व्रजमें निवास करानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको आज्ञा की थी ॥ ४ ॥ श्रीकृष्णका मनरूपी चन्द्रमा राधाके मुखकी प्रभारूप चाँदनीसे युक्त हो उनकी लीलाभूमि वृन्दावनको अपनी किरणोंसे सुशोभित करता हुआ यहाँ सदा प्रकाशमान रहता है ॥ ५ ॥ श्रीकृष्णचन्द्र नित्य परिपूर्ण हैं, प्राकृत चन्द्रमाकी भाँति उनमें वृद्धि और क्षयरूप विकार नहीं होते। उनकी जो सोलह कलाएँ हैं, उनसे सहस्रों चिन्मय किरणें निकलती रहती हैं; इससे उनके सहस्रों भेद हो जाते हैं। इन सभी कलाओंसे युक्त, नित्य परिपूर्ण श्रीकृष्ण इस व्रजभूमिमें सदा ही विद्यमान रहते हैं; इस भूमिमें और उनके स्वरूपमें कुछ अन्तर नहीं है ॥ ६ ॥ राजेन्द्र परीक्षित्! इस प्रकार विचार करनेपर सभी व्रजवासी भगवान्के अङ्गमें स्थित हैं। शरणागतोंका भय दूर करनेवाले जो ये वज्र हैं, इनका स्थान श्रीकृष्णके दाहिने चरणमें है ॥७॥ इस अवतारमें भगवान् श्रीकृष्णने इन सबको अपनी योगमायासे अभिभूत कर लिया है, उसीके प्रभावसे ये अपने स्वरूपको भूल गये हैं और इसी कारण सदा दुखी रहते हैं। यह बात निस्सन्देह ऐसी ही है ॥८॥ श्रीकृष्णका प्रकाश प्राप्त हुए बिना किसीको भी अपने स्वरूपका बोध नहीं हो सकता। जीवोंके अन्तःकरणमें जो श्रीकृष्णतत्त्वका प्रकाश है, उसपर सदा मायाका पर्दा पड़ा रहता है ॥ ९ ॥ अट्ठाईसवें द्वापरके अन्तमें जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही सामने प्रकट होकर अपनी मायाका पर्दा उठा लेते हैं, उस समय जीवोंको उनका

स तु कालो व्यतिक्रान्तस्तेनेदमपरं शृणु ।
अन्यदा तत्प्रकाशस्तु श्रीमद्भागवताद् भवेत् ॥ ११ ॥
श्रीमद्भागवतं शास्त्रं यत्र भागवतैर्यदा ।
कीर्त्यते श्रूयते चापि श्रीकृष्णस्तत्र निश्चितम् ॥ १२ ॥
श्रीमद्भागवतं यत्र श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च ।
तत्रापि भगवान् कृष्णो बल्लवीभिर्विराजते ॥ १३ ॥
भारते मानवं जन्म प्राप्य भागवतं न यैः ।
श्रुतं पापपराधीनैरात्मघातस्तु तैः कृतः ॥ १४ ॥
श्रीमद्भागवतं शास्त्रं नित्यं यैः परिसेवितम् ।
पितुर्मातुश्च भार्यायाः कुलपङ्क्तिः सुतारिता ॥ १५ ॥
विद्याप्रकाशो विप्राणां राज्ञां शत्रुजयो विशाम् ।
धनं स्वास्थ्यं च शूद्राणां श्रीमद्भागवताद् भवेत् ॥ १६ ॥
योषितामपरेषां च सर्ववाञ्छितपूरणम् ।
अतो भागवतं नित्यं को न सेवेत भाग्यवान् ॥ १७ ॥
अनेकजन्मसंसिद्धः श्रीमद्भागवतं लभेत् ।
प्रकाशो भगवद्भक्तेरुद्भवस्तत्र जायते ॥ १८ ॥
सांख्यायनप्रसादात्तं श्रीमद्भागवतं पुरा ।
बृहस्पतिर्दत्तवान् मे तेनाहं कृष्णवल्लभः ॥ १९ ॥
आख्यायिकां च तेनोक्तां विष्णुरात निबोध ताम् ।
ज्ञायते सम्प्रदायोऽपि यत्र भागवतश्रुतेः ॥ २० ॥

बृहस्पतिरुवाच

ईक्षाञ्चक्रे यदा कृष्णो मायापुरुषरूपधृक् ।
ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चापि रजःसत्त्वतमोगुणैः ॥ २१ ॥

प्रकाश प्राप्त होता है ॥ १० ॥ किन्तु अब वह समय तो बीत गया; इसलिये उनके प्रकाशकी प्राप्तिके लिये अब दूसरा उपाय बतलाया जा रहा है, सुनो । अट्ठाईसवें द्वापरके अतिरिक्त समयमें यदि कोई श्रीकृष्णतत्त्वका प्रकाश पाना चाहे, तो उसे वह श्रीमद्भागवतसे ही प्राप्त हो सकता है ॥ ११ ॥ भगवान्‌के भक्त जहाँ जब कभी श्रीमद्भागवत शास्त्रका कीर्तन और श्रवण करते हैं, वहाँ उस समय भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात्‌रूपसे विराजमान रहते हैं ॥ १२ ॥ जहाँ श्रीमद्भागवतके एक या आधे श्लोकका ही पाठ होता है, वहाँ भी श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा गोपियोंके साथ विद्यमान रहते हैं ॥ १३ ॥ इस पवित्र भारतवर्षमें मनुष्यका जन्म पाकर भी जिन लोगोंने पापके अधीन होकर श्रीमद्भागवत नहीं सुना, उन्होंने मानो अपने ही हाथों अपनी हत्या कर ली ॥ १४ ॥ जिन बड़भागियोंने प्रतिदिन श्रीमद्भागवत शास्त्रका सेवन किया है, उन्होंने अपने पिता, माता और पत्नी—तीनोंके ही कुलका भलीभाँति उद्धार कर दिया ॥ १५ ॥ श्रीमद्भागवतके स्वाध्याय और श्रवणसे ब्राह्मणोंको विद्याका प्रकाश (बोध) प्राप्त होता है, क्षत्रियलोग शत्रुओंपर विजय पाते हैं, वैश्योंको धन मिलता है और शूद्र स्वस्थ—नीरोग बने रहते हैं ॥ १६ ॥ स्त्रियों तथा अन्त्यज आदि अन्य लोगोंकी भी इच्छा श्रीमद्भागवतसे पूर्ण होती है; अतः कौन ऐसा भाग्यवान् पुरुष है, जो श्रीमद्भागवतका नित्य ही सेवन न करेगा ॥ १७ ॥ अनेकों जन्मोंतक साधना करते-करते जब मनुष्य पूर्ण सिद्ध हो जाता है, तब उसे श्रीमद्भागवतकी प्राप्ति होती है । भागवतसे भगवान्‌का प्रकाश मिलता है, जिससे भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है ॥ १८ ॥ पूर्वकालमें सांख्यायनकी कृपासे श्रीमद्भागवत बृहस्पतिजीको मिला और बृहस्पतिजीने मुझे दिया; इसीसे मैं श्रीकृष्णका प्रियतम सखा हो सका हूँ ॥ १९ ॥ परीक्षित् ! बृहस्पतिजीने मुझे एक आख्यायिका भी सुनायी थी, उसे तुम सुनो । इस आख्यायिकासे श्रीमद्भागवतश्रवणके सम्प्रदायका क्रम भी जाना जा सकता है ॥ २० ॥

बृहस्पतिजीने कहा था—अपनी मायासे पुरुषरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने जब सृष्टिके लिये संकल्प किया, तब उनके दिव्य विग्रहसे तीन पुरुष प्रकट

पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरधिकारांस्तदादिशत् ।
उत्पत्तौ पालने चैव संहारे प्रक्रमेण तान् ॥२२॥

ब्रह्मा तु नाभिकमलादुत्पन्नस्तं व्यजिज्ञपत् ।

ब्रह्मोवाच

नारायणादिपुरुष परमात्मन् नमोऽस्तु ते ॥२३॥
त्वया सर्गे नियुक्तोऽस्मि पापीयान् मां रजोगुणः।
त्वत्स्मृतौ नैव बाधेत तथैव कृपया प्रभो ॥२४॥

बृहस्पतिरुवाच

यदा तु भगवांस्तस्मै श्रीमद्भागवतं पुरा ।
उपदिश्याब्रवीद् ब्रह्मन् सेवस्वैनत् स्वसिद्धये ॥२५॥
ब्रह्मा तु परमप्रीतस्तेन कृष्णाप्तयेऽनिशम् ।
सप्तावरणभङ्गाय सप्ताहं समवर्तयत् ॥२६॥
श्रीभागवतसप्ताहसेवनाप्तमनोरथः ।
सृष्टिं वितनुते नित्यं ससप्ताहः पुनः पुनः ॥२७॥
विष्णुरप्यर्थयामास पुमांसं स्वार्थसिद्धये ।
प्रजानां पालने पुंसा यदनेनापि कल्पितः ॥२८॥

विष्णुरुवाच

प्रजानां पालनं देव करिष्यामि यथोचितम् ।
प्रवृत्त्या च निवृत्त्या च कर्मज्ञानप्रयोजनात् ॥२९॥
यदा यदैव कालेन धर्मग्लानिर्भविष्यति।
धर्मं संस्थापयिष्यामि ह्यवतारैस्तदा तदा ॥३०॥
भोगार्थिभ्यस्तु यज्ञादिफलं दास्यामि निश्चितम्।

हुए। इनमें रजोगुणकी प्रधानतासे ब्रह्मा, सत्त्वगुणकी प्रधानतासे विष्णु और तमोगुणकी प्रधानतासे रुद्र प्रकट हुए। भगवान्‌ने इन तीनोंको क्रमशः जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेका अधिकार प्रदान किया।२१-२२। तब भगवान्‌के नाभि-कमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजीने उनसे अपना मनोभाव यों प्रकट किया।

ब्रह्माजीने कहा—परमात्मन्! आप नार अर्थात् जलमें शयन करनेके कारण 'नारायण' नामसे प्रसिद्ध हैं, सबके आदि कारण होनेसे आदिपुरुष हैं; आपको नमस्कार है ॥ २३ ॥ प्रभो! आपने मुझे सृष्टिकर्ममें लगाया है, मगर मुझे भय है कि सृष्टिकालमें अत्यन्त पापात्मा रजोगुण आपकी स्मृतिमें कहीं बाधा न डालने लग जाय। अतः कृपा करके ऐसी कोई बात बतायें, जिससे आपकी याद बराबर बनी रहे ॥ २४ ॥

बृहस्पतिजी कहते हैं—जब ब्रह्माजीने ऐसी प्रार्थना की, तब पूर्वकालमें भगवान्‌ने उन्हें श्रीमद्भागवतका उपदेश देकर कहा—'ब्रह्मन्! तुम अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये सदा ही इसका सेवन करते रहो' ॥२५॥ ब्रह्माजी श्रीमद्भागवतका उपदेश पाकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीकृष्णकी नित्य-प्राप्तिके लिये तथा सात आवरणोंका भंग करनेके लिये श्रीमद्भागवतका सप्ताह-पारायण किया ॥ २६ ॥ सप्ताह-यज्ञकी विधिसे सात दिनोंतक श्रीमद्भागवतका सेवन करनेसे ब्रह्माजीके सभी मनोरथ पूर्ण हो गये। इससे वे सदा भगवत्स्मरणपूर्वक सृष्टिका विस्तार करते और बारंबार सप्ताह-यज्ञका अनुष्ठान करते रहते हैं ॥२७॥ ब्रह्माजीकी ही भाँति विष्णुने भी अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये उन परमपुरुष परमात्मासे प्रार्थना की; क्योंकि उन पुरुषोत्तमने विष्णुको भी प्रजा-पालनरूप कर्ममें नियुक्त किया था ॥ २८ ॥

विष्णुने कहा—देव! मैं आपकी आज्ञाके अनुसार कर्म और ज्ञानके उद्देश्यसे प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वारा यथोचित रूपसे प्रजाओंका पालन करूँगा ॥ २९ ॥ कालक्रमसे जब-जब धर्मकी हानि होगी, तब-तब अनेकों अवतार धारण कर पुनः धर्मकी स्थापना करूँगा ॥ ३० ॥ जो भोगोंकी इच्छा रखनेवाले हैं, उन्हें अवश्य ही उनके किये हुए यज्ञादि कर्मोंका फल अर्पण करूँगा; तथा जो

मोक्षार्थिभ्यो विरक्तेभ्यो मुक्तिं पञ्चविधां तथा ॥३१॥
येऽपि मोक्षं न वाञ्छन्ति तान् कथं पालयाम्यहम् ।
आत्मानं च श्रियं चापि पालयामि कथं वद ॥३२॥
तस्मा अपि पुमानाद्यः श्रीभागवतमादिशत् ।
उवाच च पठस्वैनत्तव सर्वार्थसिद्धये ॥३३॥
ततो विष्णुः प्रसन्नात्मा परमार्थकपालने ।
समर्थोऽभूच्छ्रिया मासि मासि भागवतं स्मरन् ॥३४॥
यदा विष्णुः स्वयं वक्ता लक्ष्मीश्च श्रवणे रता ।
तदा भागवतश्रावो मासेनैव पुनः पुनः ॥३५॥
यदा लक्ष्मीः स्वयं वक्त्री विष्णुश्च श्रवणे रतः ।
मासद्वयं रसास्वादस्तदातीव सुशोभते ॥३६॥
अधिकारे स्थितो विष्णुर्लक्ष्मीर्निश्चिन्तमानसा ।
तेन भागवतास्वादस्तस्या भूरि प्रकाशते ॥३७॥
अथ रुद्रोऽपि तं देवं संहाराधिकृतः पुरा ।
पुमांसं प्रार्थयामास स्वसामर्थ्यविवृद्धये ॥३८॥

रुद्र उवाच

नित्ये नैमित्तिके चैव संहारे प्राकृते तथा ।
शक्तयो मम विद्यन्ते देवदेव मम प्रभो ॥३९॥
आत्यन्तिके तु संहारे मम शक्तिर्न विद्यते ।
महद्दुःखं ममैतत्तु तेन त्वां प्रार्थयाम्यहम् ॥४०॥

बृहस्पतिरुवाच

श्रीमद्भागवतं तस्मा अपि नारायणो ददौ ।
स तु संसेवनादस्य जिग्ये चापि तमोगुणम् ॥४१॥

संसारबन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, विरक्त हैं, उन्हें उनके इच्छानुसार पाँच प्रकारकी मुक्ति भी देता रहूँगा ॥ ३१ ॥ परन्तु जो लोग मोक्ष भी नहीं चाहते, उनका पालन मैं कैसे करूँगा—यह बात समझमें नहीं आती । इसके अतिरिक्त मैं अपनी तथा लक्ष्मीजीकी भी रक्षा कैसे कर सकूँगा, इसका उपाय भी बताइये ॥३२॥

विष्णुकी यह प्रार्थना सुनकर आदिपुरुष श्रीकृष्णने उन्हें भी श्रीमद्भागवतका उपदेश किया और कहा–'तुम अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये इस श्रीमद्भागवत-शास्त्रका सदा पाठ किया करो' ॥ ३३ ॥ उस उपदेशसे विष्णु-भगवान्‌का चित्त प्रसन्न हो गया और वे लक्ष्मीजीके साथ प्रत्येक मासमें श्रीमद्भागवतका चिन्तन करने लगे । इससे वे परमार्थका पालन और यथार्थरूपसे संसारकी रक्षा करनेमें समर्थ हुए ॥ ३४ ॥ जब भगवान् विष्णु स्वयं वक्ता होते हैं और लक्ष्मीजी प्रेमसे श्रवण करती हैं, उस समय प्रत्येक बार भागवतकथाका श्रवण एक मासमें ही समाप्त होता है ॥ ३५ ॥ किन्तु जब लक्ष्मीजी स्वयं वक्ता होती हैं और विष्णु श्रोता बनकर सुनते हैं, तब भागवत-कथाका रसास्वादन दो मासतक होता रहता है; उस समय कथा बड़ी सुन्दर, बहुत ही रुचिकर होती है ॥ ३६ ॥ इसका कारण यह है कि विष्णु तो अधिकारारूढ हैं, उन्हें जगत्‌के पालनकी चिन्ता करनी पड़ती है; पर लक्ष्मीजी इन झंझटोंसे अलग हैं, अतः उनका हृदय निश्चिन्त है । इसीसे लक्ष्मीजीके मुखसे भागवतकथाका रसास्वादन अधिक प्रकाशित होता है । इसके पश्चात् रुद्रने भी, जिन्हें भगवान्‌ने पहले संहार-कार्यमें लगाया था, अपनी सामर्थ्यकी वृद्धिके लिये उन परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की ॥ ३७-३८ ॥

रुद्रने कहा—मेरे प्रभु देवदेव! मुझमें नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत संहारकी शक्तियाँ तो हैं, पर आत्यन्तिक संहारकी शक्ति बिल्कुल नहीं है । यह मेरे लिये बड़े दुःखकी बात है । इसी कमीकी पूर्तिके लिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ ॥ ३९-४० ॥

बृहस्पतिजी कहते हैं—रुद्रकी प्रार्थना सुनकर नारायणने उन्हें भी श्रीमद्भागवतका ही उपदेश किया । सदाशिव रुद्रने एक वर्षमें एक पारायणके क्रमसे भागवतकथा-

कथा भागवती तेन सेविता वर्षमात्रतः ।
लये त्वात्यन्तिके तेनावाप शक्तिं सदाशिवः ॥४२॥

उद्धव उवाच

श्रीभागवतमाहात्म्य इमामाख्यायिकां गुरोः ।
श्रुत्वा भागवतं लब्ध्वा मुमुदेऽहं प्रणम्य तम् ॥४३॥
ततस्तु वैष्णवीं रीतिं गृहीत्वा मासमात्रतः ।
श्रीमद्भागवतास्वादो मया सम्यङ्निषेवितः ॥४४॥
तावतैव बभूवाहं कृष्णस्य दयितः सखा ।
कृष्णेनाथ नियुक्तोऽहं व्रजे स्वप्रेयसीगणे ॥४५॥
विरहार्त्तासु गोपीषु स्वयं नित्यविहारिणा ।
श्रीभागवतसन्देशो मन्मुखेन प्रयोजितः ॥४६॥
तं यथामति लब्ध्वा ता आसन् विरहवर्जिताः।
नाज्ञासिषं रहस्यं तच्चमत्कारस्तु लोकितः ॥४७॥
स्वर्वासं प्रार्थ्य कृष्णं च ब्रह्माद्येषु गतेषु मे ।
श्रीमद्भागवते कृष्णस्तद्रहस्यं स्वयं ददौ ॥४८॥
पुरतोऽश्वत्थमूलस्य चकार मयि तद् दृढम् ।
तेनात्र व्रजवल्लीषु वसामि बदरीं गतः ॥४९॥
तस्मान्नारदकुण्डेऽत्र तिष्ठामि स्वेच्छया सदा ।
कृष्णप्रकाशो भक्तानां श्रीमद्भागवताद् भवेत्॥५०॥
तदेषामपि कार्यार्थं श्रीमद्भागवतं त्वहम् ।
प्रवक्ष्यामि सहायोऽत्र त्वयैवानुष्ठितो भवेत् ॥५१॥

सूत उवाच

विष्णुरातस्तु श्रुत्वा तदुद्धवं प्रणतोऽब्रवीत् ।

का सेवन किया इसके। सेवनसे उन्होंने तमोगुणपर विजय पायी और आत्यन्तिक संहार (मोक्ष) की शक्ति भी प्राप्त कर ली ॥ ४१-४२ ॥

उद्धवजी कहते हैं—श्रीमद्भागवतके माहात्म्यके सम्बन्धमें यह आख्यायिका मैंने अपने गुरु श्रीबृहस्पतिजीसे सुनी और उनसे भागवतका उपदेश प्राप्त कर उनके चरणोंमें प्रणाम करके मैं बहुत ही आनन्दित हुआ ॥ ४३ ॥ तत्पश्चात् भगवान् विष्णुकी रीति स्वीकार करके मैंने भी एक मासतक श्रीमद्भागवतकथाका भलीभाँति रसास्वादन किया ॥४४॥ उतनेसे ही मैं भगवान् श्रीकृष्णका प्रियतम सखा हो गया । इसके पश्चात् भगवान्ने मुझे व्रजमें अपनी प्रियतमा गोपियोंकी सेवामें नियुक्त किया ॥ ४५ ॥ यद्यपि भगवान् अपने लीलापरिकरोंके साथ नित्य विहार करते रहते हैं, इसलिये गोपियोंका श्रीकृष्णसे कभी भी वियोग नहीं होता; तथापि जो भ्रमसे विरहवेदनाका अनुभव कर रही थीं, उन गोपियोंके प्रति भगवान्ने मेरे मुखसे भागवतका सन्देश कहलाया ॥ ४६ ॥ उस सन्देशको अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रहण कर गोपियाँ तुरंत ही विरह-वेदनासे मुक्त हो गयीं । मैं भागवतके इस रहस्यको तो नहीं समझ सका, किन्तु मैंने उसका चमत्कार प्रत्यक्ष देखा ॥ ४७ ॥ इसके बहुत समयके बाद जब ब्रह्मादि देवता आकर भगवान्से अपने परमधाममें पधारनेकी प्रार्थना करके चले गये, उस समय पीपलके वृक्षकी जड़के पास अपने सामने खड़े हुए मुझे भगवान्ने श्रीमद्भागवत-विषयक उस रहस्यका स्वयं ही उपदेश किया और मेरी बुद्धिमें उसका दृढ़ निश्चय करा दिया । उसीके प्रभावसे मैं बदरिकाश्रममें रहकर भी यहाँ व्रजकी लताओं और बेलोंमें निवास करता हूँ ॥ ४८-४९ ॥ उसीके बलसे यहाँ नारदकुण्डपर सदा स्वेच्छानुसार विराजमान रहता हूँ । भगवान्के भक्तोंको श्रीमद्भागवतके सेवनसे श्रीकृष्ण-तत्त्वका प्रकाश प्राप्त हो सकता है ॥ ५० ॥ इस कारण यहाँ उपस्थित हुए इन सभी भक्तजनोंके कार्यकी सिद्धिके लिये मैं श्रीमद्भागवतका पाठ करूँगा; किन्तु इस कार्यमें तुम्हें ही सहायता करनी पड़ेगी ॥ ५१ ॥

सूतजी कहते हैं—यह सुनकर राजा परीक्षित् उद्धवजीको प्रणाम करके उनसे बोले।

परीक्षिदुवाच

हरिदास त्वया कार्यं श्रीभागवतकीर्तनम् ॥५२॥
आज्ञाप्योऽहं यथा कार्यः सहायोऽत्र मया तथा।

सूत उवाच

श्रुत्वैतदुद्धवो वाक्यमुवाच प्रीतमानसः ॥५३॥

उद्धव उवाच

श्रीकृष्णेन परित्यक्ते भूतले बलवान् कलिः ।
करिष्यति परं विघ्नं सत्कार्ये समुपस्थिते ॥५४॥
तस्माद् दिग्विजयं याहि कलिनिग्रहमाचर ।
अहं तु मासमात्रेण वैष्णवीं रीतिमास्थितः ॥५५॥
श्रीमद्भागवतास्वादं प्रचार्य त्वत्सहायतः ।
एतान् सम्प्रापयिष्यामि नित्यधाम्नि मधुद्विषः ॥५६॥

सूत उवाच

श्रुत्वैवं तद्वचो राजा मुदितश्चिन्तयाऽऽतुरः ।
तदा विज्ञापयामास स्वाभिप्रायं तमुद्धवम् ॥५७॥

परीक्षिदुवाच

कलिं तु निग्रहीष्यामि तात ते वचसि स्थितः ।
श्रीभागवतसम्प्राप्तिः कथं मम भविष्यति ॥५८॥
अहं तु समनुग्राह्यस्तव पादतले श्रितः ।

सूत उवाच

श्रुत्वैतद् वचनं भूयोऽप्युद्धवस्तमुवाच ह ॥५९॥

उद्धव उवाच

राजंश्चिन्ता तु ते कापि नैव कार्या कथञ्चन ।
तवैव भगवच्छास्त्रे यतो मुख्याधिकारिता ॥६०॥

परीक्षित्‌ने कहा—हरिदास उद्धवजी ! आप निश्चिन्त होकर श्रीमद्भागवत-कथाका कीर्तन करें ॥ ५२ ॥ इस कार्यमें मुझे जिस प्रकारकी सहायता करनी आवश्यक हो, उसके लिये आज्ञा दें ।

सूतजी कहते हैं—परीक्षित्‌का यह वचन सुनकर उद्धवजी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और बोले ॥५३॥

उद्धवजीने कहा—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णने जबसे इस पृथ्वीतलका परित्याग कर दिया है, तबसे यहाँ अत्यन्त बलवान् कलियुगका प्रभुत्व हो गया है । जिस समय यह शुभ अनुष्ठान यहाँ आरम्भ हो जायगा, बलवान् कलियुग अवश्य ही इसमें बहुत बड़ा विघ्न डालेगा ॥ ५४ ॥ इसलिये तुम दिग्विजयके लिये जाओ और कलियुगको जीतकर अपने वशमें करो । इधर मैं तुम्हारी सहायतासे वैष्णवी रीतिका सहारा लेकर एक महीनेतक यहाँ श्रीमद्भागवतकथाका रसास्वादन कराऊँगा और इस प्रकार भागवतकथाके रसका प्रसार करके इन सभी श्रोताओंको भगवान् मधुसूदनके नित्य गोलोकधाममें पहुँचाऊँगा ॥ ५५-५६ ॥

सूतजी कहते हैं—उद्धवजीकी बात सुनकर राजा परीक्षित् पहले तो कलियुगपर विजय पानेके विचारसे बड़े ही प्रसन्न हुए; परन्तु पीछे यह सोचकर कि मुझे भागवतकथाके श्रवणसे वञ्चित ही रहना पड़ेगा, चिन्तासे व्याकुल हो उठे । उस समय उन्होंने उद्धवजीसे अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया ॥ ५७ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे तात ! आपकी आज्ञाके अनुसार तत्पर होकर मैं कलियुगको तो अवश्य ही अपने वशमें करूँगा, मगर श्रीमद्भागवतकी प्राप्ति मुझे कैसे होगी ॥ ५८ ॥ मैं भी आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ, अतः मुझपर भी आपको अनुग्रह करना चाहिये ।

सूतजी कहते हैं—उनके इस वचनको सुनकर उद्धवजी पुनः बोले ॥ ५९ ॥

उद्धवजीने कहा—राजन् ! तुम्हें तो किसी भी बातके लिये किसी प्रकार भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस भागवत-शास्त्रके प्रधान अधिकारी तो तुम्हीं

एतावत्कालपर्यन्तं प्रायो भागवतश्रुतेः ।
वार्तामपि न जानन्ति मनुष्याः कर्मतत्पराः ॥६१॥
त्वत्प्रसादेन बहवो मनुष्या भारताजिरे ।
श्रीमद्भागवतप्राप्तौ सुखं प्राप्स्यन्ति शाश्वतम् ॥६२॥
नन्दनन्दनरूपस्तु श्रीशुको भगवानृषिः ।
श्रीमद्भागवतं तुभ्यं श्रावयिष्यत्यसंशयम् ॥६३॥
तेन प्राप्स्यसि राजंस्त्वं नित्यं धाम व्रजेशितुः ।
श्रीभागवतसञ्चारस्ततो भुवि भविष्यति ॥६४॥
तस्मात्त्वं गच्छ राजेन्द्र कलिनिग्रहमाचर ।

सूत उवाच

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य गतो राजा दिशां जये ॥६५॥
वज्रस्तु निजराज्येशं प्रतिबाहुं विधाय च ।
तत्रैव मातृभिः साकं तस्थौ भागवताशया ॥६६॥
अथ वृन्दावने मासं गोवर्धनसमीपतः ।
श्रीमद्भागवतास्वादस्तूद्धवेन प्रवर्तितः ॥६७॥
तस्मिन्नास्वाद्यमाने तु सच्चिदानन्दरूपिणी ।
प्रचकाशे हरेर्लीला सर्वतः कृष्ण एव च ॥६८॥
आत्मानं च तदन्तःस्थं सर्वेऽपि ददृशुस्तदा ।
वज्रस्तु दक्षिणे दृष्ट्वा कृष्णपादसरोरुहे ॥६९॥
स्वात्मानं कृष्णवैधुर्यान्मुक्तस्तद्भुव्यशोभत ।
ताश्च तन्मातरः कृष्णे रासरात्रिप्रकाशिनि ॥७०॥
चन्द्रे कलाप्रभारूपमात्मानं वीक्ष्य विस्मिताः ।
स्वप्रेष्ठविरहव्याधिविमुक्ताः स्वपदं ययुः ॥७१॥
येऽन्ये च तत्र ते सर्वे नित्यलीलान्तरं गताः ।
व्यावहारिकलोकेभ्यः सद्योऽदर्शनमागताः ॥७२॥

हो ॥ ६० ॥ संसारके मनुष्य नाना प्रकारके कर्मोंमें रचे-पचे हुए हैं, ये लोग आजतक प्रायः भागवत-श्रवणकी बात भी नहीं जानते ॥ ६१ ॥ तुम्हारे ही प्रसादसे इस भारतवर्षमें रहनेवाले अधिकांश मनुष्य श्रीमद्भागवत-कथाकी प्राप्ति होनेपर शाश्वत सुख प्राप्त करेंगे ॥ ६२ ॥ महर्षि भगवान् श्रीशुकदेवजी साक्षात् नन्दनन्दन श्रीकृष्णके स्वरूप हैं, वे ही तुम्हें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायेंगे; इसमें तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है ॥६३॥ राजन्! उस कथाके श्रवणसे तुम व्रजेश्वर श्रीकृष्णके नित्यधामको प्राप्त करोगे। इसके पश्चात् इस पृथ्वीपर श्रीमद्भागवतकथा-का प्रचार होगा ॥ ६४ ॥ अतः राजेन्द्र परीक्षित्! तुम जाओ और कलियुगको जीतकर अपने वशमें करो।

सूतजी कहते हैं—उद्धवजीके इस प्रकार कहनेपर राजा परीक्षित्ने उनकी परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया और दिग्विजयके लिये चले गये ॥ ६५ ॥ इधर वज्रने भी अपने पुत्र प्रतिबाहुको अपनी राजधानी मथुराका राजा बना दिया और माताओंको साथ लेकर उसी स्थानपर, जहाँ उद्धवजी प्रकट हुए थे, जाकर श्रीमद्भागवत सुननेकी इच्छासे रहने लगे ॥६६॥ तदनन्तर उद्धवजीने वृन्दावनमें गोवर्धनपर्वतके निकट एक महीनेतक श्रीमद्भागवतकथाके-रसकी धारा बहायी ॥ ६७ ॥ उस रसका आस्वादन करते समय प्रेमी श्रोताओंकी दृष्टिमें सब ओर भगवान्की सच्चिदानन्दमयी लीला प्रकाशित हो गयी और सर्वत्र श्रीकृष्णचन्द्रका साक्षात्कार होने लगा ॥ ६८ ॥ उस समय सभी श्रोताओंने अपनेको भगवान्के स्वरूपमें स्थित देखा। वज्रनाभने श्रीकृष्णके दाहिने चरणकमलमें अपनेको स्थित देखा और श्रीकृष्णके विरहशोकसे मुक्त होकर उस स्थानपर अत्यन्त सुशोभित होने लगे। वज्रनाभकी वे रोहिणी आदि माताएँ भी रासकी रजनीमें प्रकाशित होने-वाले श्रीकृष्णरूपी चन्द्रमाके विग्रहमें अपनेको कला और प्रभाके रूपमें स्थित देख बहुत ही विस्मित हुईं तथा अपने प्राणप्यारेकी विरह-वेदनासे छुटकारा पाकर उनके परमधाममें प्रविष्ट हो गयीं ॥ ६९—७१ ॥ इनके अतिरिक्त भी जो श्रोतागण वहाँ उपस्थित थे, वे भी भगवान्की नित्य अन्तरङ्गलीलामें सम्मिलित होकर इस स्थूल व्याव-हारिक जगत्से तत्काल अन्तर्धान हो गये ॥ ७२ ॥

गोवर्धननिकुञ्जेषु गोषु वृन्दावनादिषु ।
नित्यं कृष्णेन मोदन्ते दृश्यन्ते प्रेमतत्परैः ॥७३॥

वे सभी सदा ही गोवर्धन-पर्वतके कुञ्ज और झाड़ियोंमें, वृन्दावन-काम्यवन आदि वनोंमें तथा वहाँकी दिव्य गौओंके बीचमें श्रीकृष्णके साथ विचरते हुए अनन्त आनन्दका अनुभव करते रहते हैं । जो लोग श्रीकृष्णके प्रेममें मग्न हैं, उन भावुक भक्तोंको उनके दर्शन भी होते हैं ॥७३॥

सूत उवाच

य एतां भगवत्प्राप्तिं शृणुयाच्चापि कीर्तयेत् ।
तस्य वै भगवत्प्राप्तिर्दुःखहानिश्च जायते ॥७४॥

सूतजी कहते हैं—जो लोग इस भगवत्प्राप्तिकी कथाको सुनेंगे और कहेंगे, उन्हें भगवान् मिल जायँगे और उनके दुःखोंका सदाके लिये अन्त हो जायगा ॥ ७४ ॥

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे परीक्षिदुद्धवसंवादे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतका स्वरूप, प्रमाण, श्रोता-वक्ताके लक्षण, श्रवणविधि और माहात्म्य

ऋषय ऊचुः

साधु सूत चिरं जीव चिरमेवं प्रशाधि नः ।
श्रीभागवतमाहात्म्यमपूर्वं त्वन्मुखाच्छ्रुतम् ॥ १ ॥
तत्स्वरूपं प्रमाणं च विधिं च श्रवणे वद ।
तद्वक्तुर्लक्षणं सूत श्रोतुश्चापि वदाधुना ॥ २ ॥

शौनकादि ऋषियोंने कहा—सूतजी ! आपने हमलोगोंको बहुत अच्छी बात बतायी । आपकी आयु बढ़े, आप चिरजीवी हों और चिरकालतक हमें इसी प्रकार उपदेश करते रहें । आज हमलोगोंने आपके मुखसे श्रीमद्भागवतका अपूर्व माहात्म्य सुना है ॥ १ ॥ सूतजी ! अब इस समय आप हमें यह बताइये कि श्रीमद्भागवतका स्वरूप क्या है ? उसका प्रमाण—उसकी श्लोकसंख्या कितनी है ? किस विधिसे उसका श्रवण करना चाहिये ? तथा श्रीमद्भागवतके वक्ता और श्रोताके क्या लक्षण हैं ? अभिप्राय यह कि उसके वक्ता और श्रोता कैसे होने चाहिये ॥२॥

सूत उवाच

श्रीमद्भागवतस्याथ श्रीमद्भगवतः सदा ।
स्वरूपमेकमेवास्ति सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥ ३ ॥
श्रीकृष्णासक्तभक्तानां तन्माधुर्यप्रकाशकम् ।
समुज्जृम्भति यद्वाक्यं विद्धि भागवतं हि तत् ॥ ४ ॥
ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वचः ।
मायामर्दनदक्षं च विद्धि भागवतं च तत् ॥ ५ ॥
प्रमाणं तस्य को वेद ह्यनन्तस्याक्षरात्मनः ।

सूतजी कहते हैं—ऋषिगण ! श्रीमद्भागवत और भगवान्‌का स्वरूप सदा एक ही है और वह है सच्चिदानन्दमय ॥ ३ ॥ भगवान् श्रीकृष्णमें जिनकी लगन लगी है, उन भावुक भक्तोंके हृदयमें जो भगवान्‌के माधुर्य भावको अभिव्यक्त करनेवाला, उनके दिव्य माधुर्य-रसका आस्वादन करानेवाला सर्वोत्कृष्ट वचन है, उसे श्रीमद्भागवत समझो ॥ ४ ॥ जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अङ्गभूत साधनचतुष्टयको प्रकाशित करनेवाला है तथा जो मायाका मर्दन करनेमें समर्थ है, उसे भी तुम श्रीमद्भागवत समझो ॥ ५ ॥ श्रीमद्भागवत अनन्त, अक्षरस्वरूप है; इसका नियत प्रमाण भला,

ब्रह्मणे हरिणा तद्दिक् चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता ॥ ६ ॥
तदानन्त्यावगाहेन स्वेप्सितावहनक्षमाः ।
त एव सन्ति भो विप्रा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥ ७ ॥
मितबुद्ध्यादिवृत्तीनां मनुष्याणां हिताय च ।
परीक्षिच्छुकसंवादो योऽसौ व्यासेन कीर्तितः ॥ ८ ॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो योऽसौ भागवताभिधः ।
कलिग्राहगृहीतानां स एव परमाश्रयः ॥ ९ ॥
श्रोतारोऽथ निरूप्यन्ते श्रीमद्विष्णुकथाश्रयाः ।
प्रवरा अवराश्चेति श्रोतारो द्विविधा मताः ॥१०॥
प्रवराश्चातको हंसः शुको मीनादयस्तथा ।
अवरा वृकभूरुण्डवृषोष्ट्राद्याः प्रकीर्तिताः ॥११॥
अखिलोपेक्षया यस्तु कृष्णशास्त्रश्रुतौ व्रती ।
स चातको यथाम्भोदमुक्ते पाथसि चातकः ॥१२॥
हंसः स्यात् सारमादत्ते यः श्रोता विविधाच्छ्रुतात् ।
दुग्धेनैक्यं गतात्तोयाद् यथा हंसोऽमलं पयः ॥१३॥
शुकः सुष्ठु मितं वक्ति व्यासं श्रोतॄंश्च हर्षयन् ।
सुपाठितः शुको यद्वच्छिक्षकं पार्श्वगानपि ॥१४॥
शब्दं नानिमिषो जातु करोत्यास्वादयन् रसम् ।

कौन जान सकता है ? पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके प्रति चार श्लोकोंमें इसका दिग्दर्शनमात्र कराया था ॥ ६ ॥ विप्रगण ! इस भागवतकी अथाह गहराईमें डुबकी लगाकर इसमेंसे अपनी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करनेमें केवल ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि ही समर्थ हैं; दूसरे नहीं ॥ ७ ॥ परन्तु जिनकी बुद्धि आदि वृत्तियाँ परिमित हैं, ऐसे मनुष्योंका हितसाधन करनेके लिये श्रीव्यासजीने परीक्षित् और शुकदेवजीके संवादके रूपमें जिसका गान किया है, उसीका नाम श्रीमद्भागवत है । उस ग्रन्थकी श्लोकसंख्या अठारह हजार है । इस भवसागरमें जो प्राणी कलिरूपी ग्राहसे ग्रस्त हो रहे हैं, उनके लिये वह श्रीमद्भागवत ही सर्वोत्तम सहारा है ॥ ८-९ ॥

अब भगवान् श्रीकृष्णकी कथाका आश्रय लेनेवाले श्रोताओंका वर्णन करते हैं । श्रोता दो प्रकारके माने गये हैं—प्रवर (उत्तम) तथा अवर (अधम) ॥ १० ॥ प्रवर श्रोताओंके 'चातक' 'हंस', 'शुक' और 'मीन' आदि कई भेद हैं । अवरके भी 'वृक', भूरुण्ड', 'वृष' और 'उष्ट्र' आदि अनेकों भेद बतलाये गये हैं ॥ ११ ॥ 'चातक' कहते हैं पपीहेको । वह जैसे बादलसे बरसते हुए जलमें ही स्पृहा रखता है, दूसरे जलको छूता ही नहीं—उसी प्रकार जो श्रोता सब कुछ छोड़कर केवल श्रीकृष्णसम्बन्धी शास्त्रोंके श्रवणका व्रत ले लेता है, वह 'चातक', कहा गया है ॥ १२ ॥ जैसे हंस दूधके साथ मिलकर एक हुए जलसे निर्मल दूध ग्रहण कर लेता और पानीको छोड़ देता है, उसी प्रकार जो श्रोता अनेकों शास्त्रोंका श्रवण करके भी उसमेंसे सारभाग अलग करके ग्रहण करता है, उसे 'हंस' कहते हैं ॥ १३ ॥ जिस प्रकार भलीभाँति पढ़ाया हुआ तोता अपनी मधुर वाणीसे शिक्षकको तथा पास आनेवाले दूसरे लोगोंको भी प्रसन्न करता है, उसी प्रकार जो श्रोता कथावाचक व्यासके मुँहसे उपदेश सुनकर उसे सुन्दर और परिमित वाणीमें पुनः सुना देता और व्यास एवं अन्यान्य श्रोताओंको अत्यन्त आनन्दित करता है, वह 'शुक' कहलाता है ॥ १४ ॥ जैसे क्षीरसागरमें मछली मौन रहकर अपलक आँखोंसे देखती हुई सदा दुग्ध पान करती रहती है, उसी प्रकार जो कथा सुनते समय

श्रोता स्निग्धो भवेन्मीनो मीनः क्षीरनिधौ यथा ॥१५॥
यस्तुदन् रसिकाञ्छ्रोतॄन् विरौत्यज्ञो वृको हि सः।
वेणुस्वनरसासक्तान् वृकोऽरण्ये मृगान् यथा ॥१६॥
भूरुण्डः शिक्षयेदन्याञ्छ्रुत्वा न स्वयमाचरेत्।
यथा हिमवतः शृङ्गे भूरुण्डाख्यो विहङ्गमः ॥१७॥
सर्वं श्रुतमुपादत्ते सारासारान्धधीर्वृषः।
स्वादुद्राक्षां खलिं चापि निर्विशेषं यथा वृषः ॥१८॥
स उष्ट्रो मधुरं मुञ्चन् विपरीते रमेत यः।
यथा निम्बं चरत्युष्ट्रो हित्वाम्रमपि तद्युतम् ॥१९॥
अन्येऽपि बहवो भेदा द्वयोर्भृङ्गखरादयः।
विज्ञेयास्तत्तदाचारैस्तत्तत्प्रकृतिसम्भवैः ॥२०॥

यः स्थित्वाभिमुखं प्रणम्य विधिव-
त्त्यक्तान्यवादो हरे-
र्लीलाः श्रोतुमभीप्सतेऽतिनिपुणो
नम्रोऽथ क्लृप्ताञ्जलिः।
शिष्यो विश्वसितोऽनुचिन्तनपरः
प्रश्नेऽनुरक्तः शुचि-
र्नित्यं कृष्णजनप्रियो निगदितः
श्रोता स वै वक्तृभिः ॥२१॥

निर्निमेष नयनोंसे देखता हुआ मुँहसे कभी एक शब्द भी नहीं निकालता और निरन्तर कथारसका ही आस्वादन करता रहता है, वह प्रेमी श्रोता 'मीन' कहा गया है ॥ १५ ॥ (ये प्रवर अर्थात् उत्तम श्रोताओंके भेद बताये गये, अब अवर यानी अधम श्रोता बताये जाते हैं।) 'वृक' कहते हैं भेड़ियेको। जैसे भेड़िया वनके भीतर वेणुकी मीठी आवाज सुननेमें लगे हुए मृगोंको डरानेवाली भयानक गर्जना करता है, वैसे ही जो मूर्ख कथाश्रवणके समय रसिक श्रोताओंको उद्विग्न करता हुआ बीच-बीचमें जोर-जोरसे बोल उठता है, वह 'वृक' कहलाता है ॥ १६॥ हिमालयके शिखरपर एक भूरुण्ड जातिका पक्षी होता है। वह किसीके शिक्षाप्रद वाक्य सुनकर वैसा ही बोला करता है, किन्तु स्वयं उससे लाभ नहीं उठाता। इसी प्रकार जो उपदेशकी बात सुनकर उसे दूसरोंको तो सिखाये पर स्वयं आचरणमें न लाये, ऐसे श्रोताको 'भूरुण्ड' कहते हैं ॥ १७ ॥ 'वृष' कहते हैं बैलको। उसके सामने मीठे-मीठे अंगूर हों या कड़वी खली, दोनोंको वह एक-सा ही मानकर खाता है। उसी प्रकार जो सुनी हुई सभी बातें ग्रहण करता है, पर सार और असार वस्तुका विचार करनेमें उसकी बुद्धि अंधी—असमर्थ होती है, ऐसा श्रोता 'वृष' कहलाता है ॥ १८ ॥ जिस प्रकार ऊँट माधुर्यगुणसे युक्त आमको भी छोड़कर केवल नीमकी ही पत्ती चबाता है, उसी प्रकार जो भगवान्‌की मधुर कथाको छोड़कर उसके विपरीत संसारी बातोंमें रमता रहता है, उसे 'ऊँट' कहते हैं ॥१९॥ ये कुछ थोड़े-से भेद यहाँ बताये गये। इनके अतिरिक्त भी प्रवर-अवर दोनों प्रकारके श्रोताओंके 'भ्रमर' और 'गदहा' आदि बहुत-से भेद हैं; इन सब भेदोंको उन-उन श्रोताओंके स्वाभाविक आचार-व्यवहारोंसे परखना चाहिये ॥ २० ॥ जो वक्ताके सामने उन्हें विधिवत् प्रणाम करके बैठे और अन्य संसारी बातोंको छोड़कर केवल श्रीभगवान्‌की लीला-कथाओंको ही सुननेकी इच्छा रक्खे, समझनेमें अत्यन्त कुशल हो, नम्र हो, हाथ जोड़े रहे, शिष्यभावसे उपदेश ग्रहण करे और भीतर श्रद्धा तथा विश्वास रक्खे; इसके सिवा, जो कुछ सुने उसका बराबर चिन्तन करता रहे, जो बात समझमें न आये पूछे और पवित्र भावसे रहे तथा श्रीकृष्णके भक्तोंपर सदा ही प्रेम रखता हो—ऐसे ही श्रोताको वक्ता

भगवन्मतिरनपेक्षः सुहृदो दीनेषु सानुकम्पो यः।
बहुधाबोधनचतुरो वक्ता संमानितो मुनिभिः ॥२२॥

अथ भारतभूस्थाने श्रीभागवतसेवने।
विधिं शृणुत भो विप्रा येन स्यात् सुखसन्ततिः ॥२३॥

राजसं सात्त्विकं चापि तामसं निर्गुणं तथा।
चतुर्विधं तु विज्ञेयं श्रीभागवतसेवनम् ॥२४॥

सप्ताहं यज्ञवद् यत्तु सश्रमं सत्वरं मुदा।
सेवितं राजसं तत्त बहुपूजादिशोभनम् ॥२५॥

मासेन ऋतुना वापि श्रवणं स्वादसंयुतम्।
सात्त्विकं यदनायासं समस्तानन्दवर्धनम् ॥२६॥

तामसं यत्तु वर्षेण सालसं श्रद्धया युतम्।
विस्मृतिस्मृतिसंयुक्तं सेवनं तच्च सौख्यदम् ॥२७॥

वर्षमासदिनानां तु विमुच्य नियमाग्रहम्।
सर्वदा प्रेमभक्त्यैव सेवनं निर्गुणं मतम् ॥२८॥

पारीक्षितेऽपि संवादे निर्गुणं तत् प्रकीर्तितम्।
तत्र सप्तदिनाख्यानं तदायुर्दिनसंख्यया ॥२९॥

अन्यत्र त्रिगुणं चापि निर्गुणं च यथेच्छया।
यथा कथञ्चित् कर्तव्यं सेवनं भगवच्छ्रुतेः ॥३०॥

लोग उत्तम श्रोता कहते हैं ॥ २१ ॥ अब वक्ताके लक्षण बतलाते हैं। जिसका मन सदा भगवान्‌में लगा रहे, जिसे किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न हो, जो सबका सुहृद् और दीनोंपर दया करनेवाला हो तथा अनेकों युक्तियोंसे तत्त्वका बोध करा देनेमें चतुर हो, उसी वक्ताका मुनिलोग भी सम्मान करते हैं ॥ २२ ॥

विप्रगण! अब मैं भारतवर्षकी भूमिपर श्रीमद्भागवत-कथाका सेवन करनेके लिये जो आवश्यक विधि है, उसे बतलाता हूँ; आप सुनें। इस विधिके पालनसे श्रोताकी सुख-परम्पराका विस्तार होता है ॥ २३ ॥ श्रीमद्भागवतका सेवन चार प्रकारका है—सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण ॥ २४ ॥ जिसमें यज्ञकी भाँति तैयारी की गयी हो, बहुत-सी पूजा-सामग्रियोंके कारण जो अत्यन्त शोभासम्पन्न दिखायी दे रहा हो और बड़े ही परिश्रमसे बहुत उतावलीके साथ सात दिनोंमें ही जिसकी समाप्ति की जाय, वह प्रसन्नतापूर्वक किया हुआ श्रीमद्भागवतका सेवन 'राजस' है ॥ २५ ॥ एक या दो महीनेमें धीरे-धीरे कथाके रसका आस्वादन करते हुए बिना परिश्रमके जो श्रवण होता है, वह पूर्ण आनन्दको बढ़ानेवाला 'सात्त्विक' सेवन कहलाता है। २६। तामस सेवन वह है जो कभी भूलसे छोड़ दिया जाय और याद आनेपर फिर आरम्भ कर दिया जाय, इस प्रकार एक वर्षतक आलस्य और अश्रद्धाके साथ चलाया जाय। यह 'तामस' सेवन भी न करनेकी अपेक्षा अच्छा और सुख ही देनेवाला है ॥ २७ ॥ जब वर्ष, महीना और दिनोंके नियमका आग्रह छोड़कर सदा ही प्रेम और भक्तिके साथ श्रवण किया जाय, तब वह सेवन 'निर्गुण' माना गया है ॥ २८ ॥ राजा परीक्षित् और शुकदेवके संवादमें जो भागवतका सेवन हुआ था, वह निर्गुण ही बताया गया है। उसमें जो सात दिनोंकी बात आती है, वह राजाकी आयुके बचे हुए दिनोंकी संख्याके अनुसार है, सप्ताह-कथाका नियम करनेके लिये नहीं ॥ २९ ॥

भारतवर्षके अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें भी त्रिगुण (सात्त्विक, राजस और तामस) अथवा निर्गुण सेवन अपनी रुचिके अनुसार करना चाहिये। तात्पर्य यह कि जिस किसी प्रकार भी हो सके श्रीमद्भागवतका सेवन, उसका

ये श्रीकृष्णविहारैकभजनास्वादलोलुपाः ।
मुक्तावपि निराकाङ्क्षास्तेषां भागवतं धनम् ॥३१॥
येऽपि संसारसन्तापनिर्विण्णा मोक्षकाङ्क्षिणः ।
तेषां भवौषधं चैतत् कलौ सेव्यं प्रयत्नतः ॥३२॥
ये चापि विषयारामाः सांसारिकसुखस्पृहाः ।
तेषां तु कर्ममार्गेण या सिद्धिः साधुना कलौ ॥३३॥
सामर्थ्यधनविज्ञानाभावादत्यन्तदुर्लभा ।
तस्मात्तैरपि संसेव्या श्रीमद्भागवती कथा ॥३४॥
धनं पुत्रांस्तथा दारान् वाहनादि यशो गृहान् ।
असापत्न्यं च राज्यं च दद्याद् भागवती कथा ॥३५॥
इह लोके वरान् भुक्त्वा भोगान् वै मनसेप्सितान् ।
श्रीभागवतसङ्गेन यात्यन्ते श्रीहरेः पदम् ॥३६॥
यत्र भागवती वार्ता ये च तच्छ्रवणे रताः ।
तेषां संसेवनं कुर्याद् देहेन च धनेन च ॥३७॥
तदनुग्रहतोऽस्यापि श्रीभागवतसेवनम् ।
श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं यत्तत् सर्वं धनसंज्ञितम् ॥३८॥
कृष्णार्थीति धनार्थीति श्रोता वक्ता द्विधा मतः।
यथा वक्ता तथा श्रोता तत्र सौख्यं विवर्धते॥३९॥
उभयोर्वैपरीत्ये तु रसाभासे फलच्युतिः ।
किन्तु कृष्णार्थिनां सिद्धिर्विलम्बेनापि जायते॥४०॥
धनार्थिनस्तु संसिद्धिर्विधिसम्पूर्णतावशात् ।

श्रवण करना ही चाहिये॥ ३० ॥ जो केवल श्रीकृष्णकी लीलाओंके ही श्रवण, कीर्तन एवं रसास्वादनके लिये लालायित रहते और मोक्षकी भी इच्छा नहीं रखते, उनका तो श्रीमद्भागवत ही धन है ॥ ३१ ॥ तथा जो संसारके दुःखोंसे घबराकर अपनी मुक्ति चाहते हैं, उनके लिये भी यही इस भवरोगकी ओषधि है। अतः इस कलिकालमें इसका प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये ॥ ३२ ॥ इनके अतिरिक्त जो लोग विषयोंमें ही रमण करनेवाले हैं, सांसारिक सुखोंकी ही जिन्हें सदा चाह रहती है, उनके लिये भी अब इस कलियुगमें सामर्थ्य, धन और विधि-विधानका ज्ञान न होनेके कारण कर्ममार्ग (यज्ञादि) से मिलनेवाली सिद्धि अत्यन्त दुर्लभ हो गयी है। ऐसी दशामें उन्हें भी सब प्रकारसे अब इस भागवतकथाका ही सेवन करना चाहिये ॥ ३३-३४ ॥ यह श्रीमद्भागवतकी कथा धन, पुत्र, स्त्री, हाथी-घोड़े आदि वाहन, यश, मकान और निष्कण्टक राज्य भी दे सकती है ॥ ३५ ॥ सकाम भावसे भागवतका सहारा लेनेवाले मनुष्य इस संसारमें मनोवाञ्छित उत्तम भोगोंको भोगकर अन्तमें श्रीमद्भागवतके ही सङ्गसे श्रीहरिके परमधामको प्राप्त हो जाते हैं ॥३६॥

जिनके यहाँ श्रीमद्भागवतकी कथा-वार्ता होती हो तथा जो लोग उस कथाके श्रवणमें लगे रहते हों, उनकी सेवा और सहायता अपने शरीर और धनसे करनी चाहिये ॥ ३७ ॥ उन्हींके अनुग्रहसे सहायता करनेवाले पुरुषको भी भागवतसेवनका पुण्य प्राप्त होता है। कामना दो वस्तुओंकी होती है—श्रीकृष्णकी और धनकी। श्रीकृष्णके सिवा जो कुछ भी चाहा जाय, यह सब धनके अन्तर्गत है; उसकी 'धन' संज्ञा है ॥ ३८ ॥ श्रोता और वक्ता भी दो प्रकारके माने गये हैं, एक श्रीकृष्णको चाहनेवाले और दूसरे धनको। जैसा वक्ता, वैसा ही श्रोता भी हो तो वहाँ कथामें रस मिलता है, अतः सुखकी वृद्धि होती है ॥३९॥ यदि दोनों विपरीत विचारके हों तो रसाभास हो जाता है, अतः फलकी हानि होती है। किन्तु जो श्रीकृष्णको चाहनेवाले वक्ता और श्रोता हैं, उन्हें विलम्ब होनेपर भी सिद्धि अवश्य मिलती है ॥४०॥ पर धनार्थीको तो तभी सिद्धि मिलती है, जब उनके अनुष्ठानका विधि-विधान पूरा उतर जाय। श्रीकृष्णकी

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१४	९	१४	११
१५	९	२१	७
१६	१०	१७	२०
१७	१०	३९	२२
१८	१०	५९	१९
१९	१०	८१	२३
२०	१०	८९	८
२१	११	९	१०
२२	११	२४	१५
२३	१२	१३*	२०

(४९) चतुर्विंशत्यहपारायण (चौबीस दिनका)

सान्राज्यकी प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	११
२	२	९	१७
३	३	१८	१९
४	३	३२	१४
५	४	८	९
६	४	१५	७
७	४	२६	११
८	५	१३	१८
९	६	८	२१
१०	७	८	१९
११	८	३	१०
१२	८	२३	२०
१३	९	७	८
१४	१०	५	२२
१५	१०	१३	८
१६	१०	२३	१०
१७	१०	३९	१६
१८	१०	५९	२०
१९	१०	७६	१७
२०	१०	८४	८
२१	११	८	१४
२२	११	२०	१२
२३	१२	४	१५
२४	१२	१३*	९

(५०) पञ्चविंशत्यहपारायण (पच्चीस दिनका)

सब प्रकारकी बाधाओंकी शान्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	८	८
२	१	१९	११
३	३	४	१४
४	३	११	७
५	३	२४	१३
६	४	१०	१९
७	४	२५	१५
८	५	११	१७
९	५	२०	९
१०	६	२	८
११	६	१३	११
१२	७	१३	१९
१३	८	९	११
१४	८	१८	९
१५	९	९	१५
१६	९	१६	७
१७	१०	४	१२
१८	१०	२२	१८
१९	१०	३७	१५
२०	१०	५४	१७
२१	१०	६२	८
२२	१०	७५	१३
२३	११	३	१८
२४	११	२०	१७
२५	१२	१३*	२४

(५१) षड्विंशत्यहपारायण (छब्बीस दिनका)

त्रिलोकीके मङ्गलके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१५	१५
२	२	७	११
३	३	१३	१६
४	३	२५	१२
५	३	३२	७
६	४	१२	१३
७	५	१	२०
८	५	१२	११
९	५	२५	१३
१०	६	९	१०
११	७	४	१४
१२	७	१३	९
१३	८	११	१३
१४	८	२२	११
१५	९	१६	१८
१६	१०	७	२५
१७	१०	१९	१२
१८	१०	३५	१६
१९	१०	४८	१३
२०	१०	५९	११
२१	१०	७२	१३
२२	१०	८४	१२
२३	११	१०	१६
२४	११	२१	११
२५	१२	२	१२
२६	१२	१३*	११

श्रीमद्भागवत-पाठके विभिन्न प्रयोग*

भागवत-महिमा

श्लोकार्द्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतं पठेत् ।
यः पुमान् सोऽपि संसारान्मुच्यते किमुताखिलात् ॥

आधा श्लोक या चौथाई श्लोकका भी नित्य जो मनुष्य पाठ करता है, उसकी भी संसारसे मुक्ति हो जाती है; फिर सम्पूर्ण पाठ करनेवालेकी तो बात ही क्या है ।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्यद् भागवतमादरात् ।
नित्यं पठेद् यथाशक्ति यतः स्यात् संसृतिक्षयः ॥

बुद्धिमानोंकी बुद्धिमत्ता यही है कि संसारभयनाशक श्रीमद्भागवतका आदरपूर्वक यथाशक्ति पाठ करे ।

अशक्तो नित्यपठने मासे वर्षेऽपि वैकदा ।
पालयन् नियमान् भक्त्या श्रीमद्भागवतं पठेत् ॥

यदि नित्य पाठ न कर सकता हो, तो महीने या वर्षमें एक बार नियमपूर्वक भक्तिसहित भागवतका पाठ अवश्य करना चाहिये ।

एकाहे नैव शक्तस्तु द्व्यहेनाथ त्र्यहेण वा ।
पञ्चभिर्दिवसैः षड्भिः सप्तभिर्वा पठेत् पुमान् ॥
दशाहेनाथ पक्षेण मासेन ऋतुनापि वा ।
पठेद् भागवतं यस्तु भुक्तिं मुक्तिं स विन्दते ॥

जो एक दिनमें पाठ न कर सकता हो वह दो, तीन, पाँच, छः, सात, दस, पंद्रह, तीस या साठ दिनमें श्रीमद्भागवतका पाठ करे । इससे भोग एवं मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति होती है ।

एषोऽप्यत्युत्तमः पक्षः सप्ताहो बहुसम्मतः ।
श्रीवासुदेवप्रीत्यर्थं पठतः पुंस आदरात् ॥
सर्वे पक्षाः सन्ति तुल्या विशेषो नास्ति कश्चन ।
विशेषोऽस्ति सकामानां कामनाफलभेदतः ॥

बहुत-से ऋषियोंने सप्ताहपारायणका भी उत्तम पक्ष माना है । केवल भगवान्‌की प्रीतिके लिये सम्पूर्ण पक्ष बराबर हैं । कोई न्यूनाधिक नहीं हैं । फल चाहनेवालोंके लिये फलभेदसे पारायणभेद कहा गया है ।

(१) निष्काम पारायण भगवत्प्रीत्यर्थ

पाठकर्ता ब्राह्मण १ या ५, पारायण-संख्या १०० या १०८

विशेष नियम—करानेवाला फलाहार या हविष्य भोजन करे ।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२०	४९
२	५	२३	६७
३	७	१५*	३७
४	९	२४*	४८
५	१०	१२	१२
६	१०	८२	७०
७	१२	१३*	५२

(२) सप्ताहपारायण (सात दिनका)

निष्कामपारायण भगवत्प्रीत्यर्थं

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२०	४९
२	५	२३	६७
३	७	१५*	३७
४	९	२४*	४८
५	१०	४२	४२
६	१०	९०*	४८
७	१२	१३*	४४

(३) सप्ताहपारायण (सात दिनका)

मोक्षप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१८	४७
२	५	८	५४
३	८	७	५९
४	१०	३	४४
५	१०	५३	५०
६	११	९	४६
७	१२	१३*	३५

(४) आरम्भ किये हुए कार्यमें विघ्ननाशके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ९, पारायण-संख्या १४०

विशेष नियम—प्रतिदिन चतुर्थ स्कन्धके उन्नीसवें अध्याय (पृथुविजय) का पाठ, पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें करना चाहिये ।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१९	४८
२	५	६	५१
३	७	१०	४९
४	९	२४*	५३
५	१०	४९÷	४९

---

* भागवताङ्कमें प्रकाशित 'श्रीमद्भागवतकी अनुष्ठान-विधि' शीर्षक दो लेखोंके आधारपर ।

* यह चिह्न स्कन्धकी समाप्ति और ÷ यह चिह्न दशमस्कन्धके पूर्वार्धकी समाप्तिका है ।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
६	१०	९० *	४१
७	१२	१३ *	४४

(५) सप्ताहपारायण (सात दिनका)

विघ्ननाशके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१९	४९
२	५	१६	६१
३	७	१०	३९
४	९	२४ *	५३
५	१०	४९	४९
६	१०	९० *	४१
७	१२	१३ *	४४

(६) सप्ताहपारायण (सात दिनका)

धनप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	९	७१
२	६	१३	६१
३	९	७	५२
४	१०	३४	५१
५	१०	७३	३९
६	१०	९० *	१७
७	१२	१३ *	४४

(७) सप्ताहपारायणके प्रयोग (सात दिनके)

बान्धवपीडानिवृत्ति और सङ्कटनाशके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ४, पारायण-संख्या १९६

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें षष्ठ स्कन्धकी देवस्तुति (अ० ९ श्लो० ३१–४५) का पाठ करना चाहिये। पाठविधि—

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	१० *	२९
२	४	३१ *	६४
३	६	१९ *	४५
४	८	२४ *	३९
५	१०	४९ ÷	७३
६	११	३१ *	७२
७	१२	१३ *	१३

(८) फंदेसे छुड़ानेके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ७, पारायण-संख्या १४३

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं अन्तमें दशम स्कन्धके १०।२९; १९।९; २५।१३; २७।१९; ४९।११ और ७०।२५—इन ६ श्लोकोंका पाठ करना चाहिये।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	३३ *	६२
२	५	२६ *	५७
३	७	१५ *	३४
४	९	२४ *	४८
५	१०	९० *	९०
६	११	३१ *	३१
७	१२	१३ *	१३

(९) शत्रुपराजयके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ६, पारायण-संख्या १९४

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके प्रारम्भ एवं समाप्तिमें अष्टम स्कन्धके 'यज्ञेश यज्ञपुरुष' (अ० १७ श्लो० ८) आदि ३ श्लोकोंका पाठ करे।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१९	४८
२	५	१५	६०
३	७	१५ *	४५
४	१०	१२	६०
५	१०	८४	७२
६	११	३१ *	३७
७	१२	१३ *	१३

(१०) रोगमुक्तिके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ३, पारायण-संख्या १५७

विशेष नियम—प्रतिदिन प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें पञ्चम स्कन्धके नारसिंह-मन्त्र (अ० १८ श्लो० ८) का पाठ करे।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२०	४९
२	५	६	५०
३	६	१९ *	३९
४	९	२०	५९
५	१०	३५	३९
६	१०	८५	५०
७	१२	१३ *	४९

(११) पुत्र और स्त्रीप्राप्तिके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ५, पारायण-संख्या १४५

विशेष नियम—प्रतिदिन प्रत्येक अध्यायके आरम्भ एवं अन्तमें पञ्चम स्कन्धके काममन्त्र (अ० १८ श्लो० १८) का पाठ करे।

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२४	५३
२	५	३	४३
३	७	८	५०
४	१०	४	५९
५	१०	५५	५१
६	११	६	४१
७	१२	१३ *	३८

(१२) निष्कण्टक राज्यके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण १०, पारायण-संख्या १९८

विशेष नियम—प्रतिदिन पाठके आरम्भ एवं समाप्तिमें

चतुर्थ स्कन्धकी ध्रुवस्तुति (अ० ९) का पाठ करे ।

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	९	७१
२	६	१३	६१
३	९	७	५२
४	१०	३४	५१
५	१०	७३	३९
६	१०	९० *	१७
७	१२	३३ *	४४

(१३) एकाहपारायण (एक दिनका)

हरिप्रेमप्राप्ति

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१२	१३ *	३३५

(१४) द्व्यहपारायण (दो दिनका)

पराभक्ति-प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	९	१३	१९०
२	१२	१३ *	१४५

(१५) द्व्यहपारायण (दो दिनका)

योग-सिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	७	१५ *	१५३
२	१२	१३ *	१८२

(१६) द्व्यहपारायण (दो दिनका)

चित्तनिवृत्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	८	१६	१६९
२	१२	१३ *	१६६

(१७) त्र्यहपारायण (तीन दिनका)

मोक्षप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	५	८	१०१
२	१०	१२	११२
३	१२	१३ *	१२२

(१८) त्र्यहपारायण (तीन दिनका)

ऐश्वर्य-प्राप्ति, संसार-बन्धन-मुक्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	७	१५ *	१५३
२	१०	९० *	१३८
३	१२	१३ *	४४

(१९) चतुरहपारायण (चार दिनका)

सङ्कट-निवारणके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१८	८०
२	६	११ *	५८
३	१०	५१	११४
४	१२	१३ *	८३

(२०) चतुरहपारायण (चार दिनका)

सब प्रकारकी कामनाओंकी सिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१८	८०
२	८	७	८०
३	१०	५२	९३
४	१२	१३ *	८२

(२१) चतुरहपारायण (चार दिनका)

पापनाशके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	२६	८८
२	८	१९	८४
३	१०	५३	८२
४	१२	१३ *	८१

(२२) चतुरहपारायण (चार दिनका)

सद्धर्मकी प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	१९	८१
२	८	१४	८६
३	१०	५१	८५
४	१२	१३ *	८३

(२३) पञ्चाहपारायण (पाँच दिनका)

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	४	६६
२	६	१५	६८
३	९	२१	६४
४	१०	६४	६७
५	१२	१३ *	७०

(२४) पञ्चाहपारायण (पाँच दिनका)

सकल कामना-प्राप्तिके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ९, पारायण-संख्या २४२

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	७	६९
२	६	१९ *	६९
३	९	२४ *	६३
४	१०	६९	६९
५	१२	१३ *	६५

(२५) षडहपारायण (छः दिनका)

धन-प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	४	९	७१
२	६	१३	६१
३	९	७	५२
४	१०	३४	५१
५	१०	९० *	५६
६	१२	१३ *	४४

(२६) षडहपारायण (छः दिनका)

धनलाभ, कृत्यानाश, उत्पात-शान्तिके लिये

पाठकर्ता ब्राह्मण ४, पारायण-संख्या १४४

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	३२	६१
२	५	१४	४६
३	८	२४ *	७०
४	१०	४९ ÷	७३
५	११	२९	७०
६	१२	१३ *	१५

(२७) अष्टाहपारायण (आठ दिनका)

दरिद्रता नष्ट करनेके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१५	४४
२	४	२१	३९
३	६	७	४३
४	८	२१	४८
५	१०	२३	५०
६	१०	५१	२८
७	११	३	४२
८	१२	१३ *	४१

(२८) अष्टाहपारायण (आठ दिनका)

रोगसे छुटकारा पानेके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	२०	४९
२	५	६	५०
३	६	१९ *	३९
४	९	२०	५९
५	१०	३५	३९
६	१०	८५	५०
७	११	६	११
८	१२	१३ *	३८

(२९) अष्टाहपारायण (आठ दिनका)

भयनिवृत्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	९	३८
२	४	१६	४०
३	६	१	४२
४	८	१०	४३
५	१०	१	३९
६	१०	४२	४१
७	१०	९० *	४८
८	१२	१३ *	४४

(३०) अष्टाहपारायण (आठ दिनका)

अकालमृत्युसे बचनेके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	८	३७
२	४	८	३३
३	५	२४	४३
४	८	९	४५
५	१०	१०	४९
६	१०	५५	४५
७	११	९	४१
८	१२	१३ *	३५

(३१) नवाहपारायण (नौ दिनका)

[illegible]

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	१०	३९
२	४	३	[illegible]
३	५	२०	४९
४	७	१२	३७
५	९	८	३५
६	१०	२०	३६
७	१०	६०	४०
८	११	८	३८
९	१२	१३ *	३६

(३२) नवाहपारायण (नौ दिनका)

कन्याप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	६	३५
२	४	११	३८
३	५	१६	३६
४	७	११	४०
५	९	४	३४
६	१०	२१	३९
७	१०	५८	३७
८	११	९	४१
९	१२	१३ *	३५

(३३) दशाहपारायण (दस दिनका)

[illegible]

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	६	३५
२	४	७	३४
३	५	९	३३
४	६	१९ *	[illegible]
५	८	२४ *	[illegible]
६	१०	११	[illegible]
७	१०	४०	[illegible]
८	१०	[illegible]	[illegible]
९	११	२३	[illegible]
१०	१२	१३ *	[illegible]

(३४) दशाहपारायण

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	३	६	३५
२	४	७	३४
३	५	९	३३

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
४	६	१९ *	३६
५	८	२४ *	३९
६	१०	११	३५
७	१०	४५	३४
८	१०	७९	३४
९	११	२३	३४
१०	१२	१३ *	२१

(३५) एकादशाहपारायण (ग्यारह दिनका)

मनोकामनाकी सिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१८	१८
२	३	२२	३३
३	४	२१	३२
४	५	२१	३१
५	७	८	३२
६	९	३	३४
७	१०	११	३२
८	१०	४८	३७
९	१०	८१	३३
१०	११	२३	३२
११	१२	१३ *	२१

(३६) द्वादशाहपारायण (बारह दिनका)

शान्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	३	२२
२	३	२२	२९
३	४	१६	२७
४	५	९	२४
५	६	१८	३५
६	८	१७	३३
७	९	२१	२८
८	१०	२३	२६
९	१०	४८	२५
१०	१०	८०	३२
११	११	२५	३५
१२	१२	१३ *	१९

(३७) त्रयोदशाहपारायण (तेरह दिनका)

ऋणसे छुटकारा पानेके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	२	२१
२	३	२०	२८
३	४	१३	२६
४	५	५	२३
५	६	१३	३४
६	८	११	३२
७	९	१४	२७
८	१०	१५	२५
९	१०	३९	२४
१०	१०	७०	३१
११	११	१४	३४
१२	१२	१	१८
१३	१२	१३ *	१२

(३८) चतुर्दशाहपारायण (चौदह दिनका)

सब प्रकारकी आपत्तियोंसे छुटकारा पानेके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	६	२५
२	३	२०	२४
३	४	१२	२५
४	५	५	२४
५	६	२	२३
६	७	९	२६
७	८	१८	२४
८	९	१६	२२
९	१०	१८	२६
१०	१०	४१	२३
११	१०	६७	२६
१२	११	२	२५
१३	११	२३	२१
१४	१२	१३ *	२१

(३९) पक्षपारायण (पंद्रह दिनका)

पक्ष, मास और ऋतुपारायण प्रतिपद् तिथिसे ही प्रारम्भ किया जाय—यह नियम नहीं है । केवल दिन-संख्याका नियम है ।

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	४	२३
२	३	१९	२५
३	४	२२	३६
४	५	१६	२५
५	६	१३	२३
६	८	२	२३
७	८	२४ *	२२
८	९	२३	२३
९	१०	२४	२५
१०	१०	४८	२४
११	१०	६८	२०
१२	१०	८९	२१
१३	११	६	७
१४	१२	५	३०
१५	१२	१३ *	८

(४०) पञ्चदशाहपारायण (पंद्रह दिनका)

सब प्रकारकी कामनाकी सिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	२	२१
२	३	१५	२३
३	४	४	२२
४	४	२७	२३
५	५	१८	२२
६	६	१५	२३
७	८	५	२४
८	९	६	२५
९	१०	४	२२
१०	१०	२६	२२
११	१०	४९ ÷	२३
१२	१०	७०	२१
१३	११	२	२२
१४	११	२५	२३
१५	१२	१३ ●	१९

(४१) षोडशाहपारायण (सोलह दिनका)

बाधाओंकी शान्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१८	१८
२	३	१३	२४
३	३	२९	१६
४	४	१९	२३
५	५	५	१७
६	६	५	२६
७	७	८	२२
८	८	१८	२५
९	९	१४	२०
१०	१०	१७	२७
११	१०	३८	२१
१२	१०	५२	१४
१३	१०	८१	२९
१४	११	१०	१९
१५	१२	१	२२
१६	१२	१३ ●	१२

(४२) सप्तदशाहपारायण (सत्रह दिनका)

आनन्दवृद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	२	४	२३
२	३	११	१७
३	३	२६	१५
४	४	१५	२२
५	४	३१ ●	१६
६	५	२५	२५
७	७	१	२१
८	८	१०	२४
९	९	५	१९
१०	१०	७	२६
११	१०	२७	२०
१२	१०	४०	१३
१३	१०	६८	२८
१४	१०	८६	१८
१५	११	१७	२१
१६	१२	२	१६
१७	१२	१३ ●	११

(४३) अष्टादशाहपारायण (अठारह दिनका)

भगवत्प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१९	१९
२	३	८	२१
३	३	२१	१३
४	४	८	२०
५	४	२३	१५
६	५	१३	२१
७	६	१	१४
८	७	२	२०
९	८	६	१९
१०	९	४	२२
११	९	२४	२०
१२	१०	१८	१८
१३	१०	४०	२२
१४	१०	५९	१९
१५	१०	७३	१४
१६	११	७	२४
१७	११	२५	१८
१८	१२	१३ ●	१९

(४४) ऊनविंशत्यहपारायण (उन्नीस दिनका)

निष्पापताके लिये

दिन	विश्रामस्थल—स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१५	१५
२	३	५	१९
३	३	१७	१२
४	४	४	२०
५	४	२३	१९
६	५	६	१४
७	५	२६ ●	२०
८	६	१३	१३
९	७	१३	१९
१०	८	१६	१८
११	९	१३	२१
१२	१०	८	१९
१३	१०	२५	१७
१४	१०	४५	२१

दिन	विश्रामस्थल–स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१५	१०	६४	१८
१६	१०	७७	१३
१७	११	१०	२३
१८	११	२८	१८
१९	१२	१३ *	१६

(४५) विंशाहपारायण (बीस दिनका)

इष्टसिद्धिके लिये

दिन	विश्रामस्थल–स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१३	१३
२	३	३	१९
३	३	१४	११
४	३	३२	१८
५	४	११	१२
६	५	१	२१
७	५	१८	१७
८	६	१२	२०
९	७	८	१५
१०	८	१५	२२
११	९	७	१६
१२	९	१६	९
१३	१०	१६	२४
१४	१०	३०	१४
१५	१०	४०	१०
१६	१०	६३	२३
१७	१०	८८	२५
१८	११	६	८
१९	१२	२	२७
२०	१२	१३ *	११

(४६) एकविंशत्यहपारायण (इक्कीस दिनका)

सब प्रकारके उपद्रवोंकी शान्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल–स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१२	१२
२	३	१	१८
३	३	११	१०
४	३	२८	१७
५	४	६	११
६	४	२६	२०
७	५	११	१६
८	६	४	१९
९	६	१८	१४
१०	८	५	२१
११	८	२०	१५
१२	९	४	८
१३	१०	१३	२३
१४	१०	१६	१३
१५	१०	२५	९
१६	१०	४७	२२
१७	१०	७१	२४
१८	११	२	२१
१९	११	२७	२५
२०	१२	३	७
२१	१२	१३ *	१०

(४७) द्वाविंशत्यहपारायण (बाईस दिनका)

ज्ञानप्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल–स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	११	११
२	२	९	१७
३	३	९	१०
४	३	२५	१६
५	४	१०	१८
६	४	१८	८
७	५	३	१६
८	५	१६	१३
९	६	९	१९
१०	७	४	१४
११	८	१०	२१
१२	८	२२	१२
१३	९	१८	२०
१४	१०	१	७
१५	१०	२४	२३
१६	१०	३३	९
१७	१०	५४	२१
१८	१०	७८	२४
१९	११	८	२०
२०	११	१७	९
२१	१२	२	१६
२२	१२	१३ *	११

(४८) त्रयोविंशत्यहपारायण (तेईस दिनका)

पापनाशके लिये

दिन	विश्रामस्थल–स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१०	१०
२	२	७	१६
३	३	५	८
४	३	२०	१५
५	३	२९	९
६	४	१४	१८
७	४	२८	१४
८	५	१४	१७
९	५	२५	११
१०	६	१८	१९
११	७	१२	१३
१२	८	६	९
१३	९	३	२१

दिन	विश्रामकाल-अवधि	मात्रा	[illegible]
१४	९	३४	३३
१५	९	२१	[illegible]
१६	१०	१५	२२
१७	१०	२९	३०
१८	१०	५१	११
१९	१०	८३	२३
२०	१०	८१	८
२१	११	९	१०
२२	११	२४	१५
२३	११	१३०	३०

दिन	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	११	१०
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
१०	[illegible]	[illegible]	[illegible]
११	[illegible]	११	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
१४	[illegible]	१८	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
१६	[illegible]	११	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	११
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	१३०	[illegible]

(४९) चतुर्विंशत्यहसाधन ([illegible])

[illegible]

दिन	विश्रामकाल-अवधि	मात्रा	[illegible]
१	१	११	१२
२	२	९	१२
३	३	१८	१९
४	३	२९	१४
५	४	८	[illegible]
६	४	३५	[illegible]
७	४	२६	११
८	५	११	१८
९	६	८	३१
१०	७	८	११
११	८	३	१०
१२	८	३३	३०
१३	९	[illegible]	८
१४	१०	५	३३
१५	१०	११	८
१६	१०	३३	३०
१७	१०	१९	११
१८	१०	५१	[illegible]
१९	१०	३५	[illegible]
२०	१०	[illegible]	८
२१	११	८	११
२२	११	२०	११
२३	११	८	१५
२४	११	११०	[illegible]

(५०) [illegible]

[illegible]

दिन	विश्रामकाल-अवधि	मात्रा	[illegible]
१	[illegible]	[illegible]	[illegible]
२	१	[illegible]	[illegible]
३	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४	[illegible]	११	[illegible]
५	[illegible]	[illegible]	[illegible]
६	[illegible]	[illegible]	[illegible]
७	[illegible]	[illegible]	[illegible]

दिन	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	१४
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	११
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	८	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

(५२) सप्तविंशत्यहपारायण (सत्ताईस दिनका)

सबमें एकीभावकी प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल–स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१८	१८
२	२	९	१०
३	३	१३	१४
४	३	२०	७
५	३	३३*	१३
६	४	१६	१६
७	४	२८	१२
८	५	१२	१५
९	५	२३	११
१०	६	६	९
११	६	१७	११
१२	७	८	१०
१३	८	५	१२
१४	८	२२	१७
१५	९	८	१०
१६	९	२४*	१६
१७	१०	९	९
१८	१०	२२	१३
१९	१०	३८	१६
२०	१०	४६	८
२१	१०	६५	१९
२२	१०	८०	१५
२३	१०	९०*	१०
२४	११	८	८
२५	११	२३	१५
२६	१२	२	१०
२७	१२	१३*	११

(५२) अष्टाविंशत्यहपारायण (अट्ठाईस दिनका)

किसीको वशमें करनेके लिये

दिन	विश्रामस्थल–स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	७	७
२	१	१८	११
३	३	१	१२
४	३	१५	१४
५	३	२३	८
६	४	३	१३
७	४	१८	१५
८	४	२४	६
९	५	६	१३
१०	५	१३	७
११	५	२३	१०
१२	६	१६	१९
१३	७	१३	१६
१४	८	१३	१५
१५	९	४	१५
१६	९	१३	९
१७	१०	१	१२
१८	१०	१५	१४
१९	१०	३२	१७
२०	१०	४६	१४
२१	१०	५४	८
२२	१०	६५	११
२३	१०	८५	२०
२४	११	८	१३
२५	११	१५	७
२६	११	२७	१२
२७	१२	४	८
२८	१२	१३*	९

(५४) ऊनत्रिंशदहपारायण (उन्तीस दिनका)

विद्या-प्राप्तिके लिये

दिन	विश्रामस्थल–स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	१	५
२	१	१६	११
३	२	१०*	१३
४	३	१२	१२
५	३	२३	११
६	३	३०	७
७	४	८	११
८	४	२२	१४
९	५	१	१०
१०	५	१२	११
११	५	१८	६
१२	६	६	१४
१३	६	१८	१२
१४	७	१०	११
१५	८	८	१३
१६	८	१७	९
१७	९	५	१२
१८	९	१६	११
१९	१०	४	१२
२०	१०	१५	११
२१	१०	२८	१३
२२	१०	४४	१६
२३	१०	५६	१२
२४	१०	६६	१०
२५	१०	७७	११
२६	११	१	१४
२७	११	१४	१३
२८	११	३०	१६
२९	१२	१३*	१४

(५५) मासपारायण (अर्द्धमासिक)

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	श्लोक-संख्या
१	१	११	११
२	१	११●	८
३	२	१०●	१०
४	३	१२	१३
५	३	२८	१२
६	३	३१●	२
७	४	१२	१३
८	४	२३	११
९	४	३१●	८
१०	५	२४	१४
११	५	२६●	१३
१२	६	१९	१३
१३	७	५	१३
१४	७	१५●	१०
१५	८	११	१३
१६	८	२४●	१७
१७	९	१३	१३
१८	९	२४●	११
१९	१०	२२	११
२०	१०	३१	१०
२१	१०	४३	१३
२२	१०	४९	१३
२३	१०	५७	१२
२४	१०	६९	१३
२५	१०	७९	१०
२६	१०	९०●	११
२७	११	१२	१३
२८	११	२६	१२
२९	१२	५	१०
३०	१२	१३●	८

(५६) मासपारायण (अर्द्धमासिक)

[illegible]

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	श्लोक-संख्या
१	१	५	५
२	१	१९	११
३	२	९	१३
४	३	१०	११
५	३	२३	१३
६	४	१	११
७	४	८	४
८	४	२२	१०
९	[illegible]	[illegible]	१०
१०	५	१९	४३
११	५	१७	९
१२	६	६	११
१३	६	१८	१२
१४	७	१०	११
१५	८	८	११
१६	८	१३	९
१७	९	५	१९
१८	९	१९	१९
१९	१०	६	११
२०	१०	१५	१३
२१	१०	२८	१९
२२	१०	४४	१३
२३	१०	५२	१३
२४	१०	७०	१४
२५	१०	८३	११
२६	११	१	१०
२७	११	१४	११
२८	११	२८	१४
२९	१२	९	१०
३०	१२	१३●	६

(५७) मासपारायण (अर्द्धमासिक)

[illegible]

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	श्लोक-संख्या
१	१	११	११
२	२	६	१०
३	३	७	१०
४	३	१९	१०
५	३	३३	११
६	४	९	१९
७	[illegible]	२०	९
८	४	३२	१२
९	५	९	१०
१०	५	२६	९
११	६	२०	१०
१२	६	९	१४
१३	६	३१	[illegible]
१४	७	९	१०
१५	८	९	९
१६	[illegible]	२५	१४
१७	[illegible]	८	१३
१८	[illegible]	२४	९
१९	१०	६	[illegible]
२०	१०	२७	[illegible]
२१	१०	३१	१३
२२	१०	४३	१२
२३	१०	५६	१६

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
२४	१०	६५	११
२५	१०	७८	१३
२६	१०	८७	९
२७	११	९	१२
२८	११	२१	१२
२९	१२	२	१२
३०	१२	१३	११

(५८) **ऋतुपारायण** (दो महीनेका)

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	६	६
२	१	११	५
३	१	१५	४
४	१	१९*	४
५	२	६	६
६	२	१०*	४
७	३	६	६
८	३	११	५
९	३	१६	५
१०	३	२०	४
११	३	२४	४
१२	३	२८	४
१३	३	३३*	५
१४	४	७	७
१५	४	१२	५
१६	४	१८	६
१७	४	२४	६
१८	४	३१*	७
१९	५	६	६
२०	५	११	५
२१	५	१५	४
२२	५	२०	५
२३	५	२६*	६
२४	६	७	७
२५	६	१३	६
२६	६	१९*	६
२७	७	५	५
२८	७	१०	५
२९	७	१५*	५
३०	८	४	४
३१	८	९	५
३२	८	१४	५
३३	८	१८	४
३४	८	२४*	६
३५	९	५	५
३६	९	१२	७
३७	९	१७	५
३८	९	२४*	७
३९	१०	६	६
४०	१०	११	५
४१	१०	१७	६
४२	१०	२३	६
४३	१०	२८	५
४४	१०	३३	५
४५	१०	३८	५
४६	१०	४४	६
४७	१०	४९÷	५
४८	१०	५५	६
४९	१०	६१	६
५०	१०	६८	७
५१	१०	७५	७
५२	१०	८१	६
५३	१०	८८	७
५४	११	५	७
५५	११	११	६
५६	११	१८	७
५७	११	२३	५
५८	११	२९	६
५९	१२	५	७
६०	१२	१३*	८

ऐसा माना जाता है कि निम्नलिखित स्कन्धोंके निम्नलिखित अध्यायोंपर विश्राम नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेवालोंके प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे।

स्कन्ध	अध्याय
१	१, ८, १०, ११, १६
२	३, ८
३	१, ७, १०, १८, २०, २३
४	१, ३, १०, १७, १८
५	५, १३
६	६, १०
७	१, ४, ६
८	१, २, ८, १०, २१
९	१, ४, १०, १५
१०	१, ९, १०, २२, २९, ३०, ६२, ७६
११	१०, २२, ३०
१२	

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
२४	१०	६५	११
२५	१०	७८	१३
२६	१०	८७	९
२७	११	९	१२
२८	११	२१	१२
२९	१२	२	१२
३०	१२	१३	११

(५८) ऋतुपारायण (दो महीनेका)

दिन	विश्रामस्थल-स्कन्ध	अध्याय	योग अध्याय
१	१	६	६
२	१	११	५
३	१	१५	४
४	१	१९*	४
५	२	६	६
६	२	१०*	४
७	३	६	६
८	३	११	५
९	३	१६	५
१०	३	२०	४
११	३	२४	४
१२	३	२८	४
१३	३	३३*	५
१४	४	७	७
१५	४	१२	५
१६	४	१८	६
१७	४	२४	६
१८	४	३१*	७
१९	५	६	६
२०	५	११	५
२१	५	१५	४
२२	५	२०	५
२३	५	२६*	६
२४	६	७	७
२५	६	१३	६
२६	६	१९*	६
२७	७	५	५
२८	७	१०	५
२९	७	१५*	५
३०	८	४	४
३१	८	९	५
३२	८	१४	५
३३	८	१८	४
३४	८	२४*	६

दिन	विश्रामस्थल स्कं०	अ०
३५	९	५
३६	९	१२
३७	९	१७
३८	९	२४*
३९	१०	६
४०	१०	११
४१	१०	१७
४२	१०	२३
४३	१०	२८
४४	१०	३३
४५	१०	३८
४६	१०	४४
४७	१०	४९÷
४८	१०	५५
४९	१०	६१
५०	१०	६८
५१	१०	७५
५२	१०	८१
५३	१०	८८
५४	११	५
५५	११	११
५६	११	१८
५७	११	२३
५८	११	२९
५९	१२	५
६०	१२	१३*

ऐसा माना जाता है कि निम्नलिखित लिखित अध्यायोंपर विश्राम नहीं करना करनेवालोंके प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे ।

स्कन्ध	अध्याय
१	१, ८, १०, ११, १६
२	३, ८
३	१, ७, १०, १८, २०,
४	१, ३, १०, १७, १८
५	५, १३
६	६, १०
७	१, ४, ६
८	१, २, ८, १०, २१
९	१, ४, १०, १५
१०	१, ९, १०, २२, २९, ३
११	१०, २२, ३०